श्रीराधावल्लभो जयति

श्री राधारससुधानिधिस्तवः

रसकुल्याख्यया संस्कृतव्याख्यया रसकलशाख्यया हिन्दी व्याख्यया

च

समन्वितः

1

★

भारत-शासन-दत्त-द्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितः

★

प्रकाशकः

राधावल्लभीय बाबा श्रीकिशोरी शरणः

(संवत् २०२४)

©

श्रीराधावल्लभो जयति

श्रीहितहरिवंशचन्द्रो जयति

अनन्तश्रीविभूषितः गोस्वामिश्रीहरिवंशमहाप्रभुप्रणीत-

श्रीराधारससुधानिधिस्तवस्य

प्रथमखण्डः

रसिकवर श्रीहरिलालव्यासमहाकवि

विरचितया रसकुल्याख्यया टीकया सनाथितः

रसकलशनामभाषानुवादेनसमलङ्कृतश्च,

•

भारतशासनदत्तद्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितः

मूल्य]
Rs 7 25

प्रकाशक :—

श्री किशोरीचरणरजलिप्सुः

श्रीराधावल्लभीय–बाबा श्रीकिशोरीशरणः

श्यामाकुञ्ज, वृन्दावन

मुद्रक:—

सम्राट् प्रेस

पहाड़ी धीरज, देहली-६

पूर्ण-प्रेमामृत - रस - समुल्लास - सौभाग्य- सारं
कुञ्जे-कुञ्जे नवरतिकलाकौतुकेनात्तकेलि ।
उत्फुल्लेन्दीवरनयनयोः कान्तिचोरं किशोरं
ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति ।।

॥ श्रीः ॥

भूमिका

(महामहोपाध्याय श्री परमेश्वरानन्द शास्त्री)

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का यह वचन जगत्प्रसिद्ध है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहमु।

इसका अभिप्राय भी लोग साधारणतया समझते ही हैं। परन्तु इस पद्य के चतुर्थ-पाद का अर्थ साधारणतया समझे जाने वाले अर्थ से भिन्न है—ऐसा भक्ति मार्ग के कुछ आचार्यों का मत है।

उपर्युक्त पद्य के आगे का पद्य है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

इस पद्य के और उपर्युक्त, पद्य के चौथे पाद को लोग साधारणतया समानार्थक ही समझते हैं। परन्तु एक जगह भगवान् ने कहा है—'आत्मानं सृजाम्यहम्=मैं आत्मा को उत्पन्न (प्रादुर्भूत) करता हूँ।' दूसरी जगह कहा है—'संभवामि=स्वयं प्रादुर्भूत होता हूँ, अवतीर्ण होता हूँ।' यदि दोनों को समानार्थक ही माना जावे तो यह पुनरुक्ति सी होगी। एक जगह सकर्मक धातु का और दूसरी जगह अकर्मक धातुका प्रयोग भी कुछ ऐसा ही संकेत देता है कि दोनों वाक्य समानार्थक नहीं हैं। तब फिर सकर्मक धातु प्रयोग वाले वाक्य का क्या अर्थ है ? अर्थ स्पष्ट है—मैं आत्मा को प्रादुर्भूत करता हूँ। यहाँ जिज्ञासा होती है कि भगवान् की वह कौन सी आत्मा है जिसे वे धर्म के ह्रास के और अधर्म के उत्थान के समय प्रकट करते में ? यह जिज्ञासा गीता का सातवाँ अध्याय पढ़ने से स्वयं शान्त हो जाती है। वहाँ भगवद्‌भक्तों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन भक्तों में तारतम्य बताते हुए भगवान् ने स्वयं कहा है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

यद्यपि ये सभी प्रकार के भक्त महान् हैं, तथापि इनमें ज्ञानी भक्त मेरी आत्मा ही है। इस प्रकार ज्ञानी भक्त को भगवान् ने अपनी आत्मा बताया है। इसलिए 'तदात्मानं सृजाम्यहम्'

का यही अर्थ समझा जाना चाहिये कि धर्म की अवनति और अधर्म की उन्नति के समय भगवान् धर्म की रक्षा के लिए किसी ज्ञानी भगवद्भक्त पुरुष को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि ज्ञानी भक्त, मुक्ति के योग्य माने जाते हैं, तथापि जब तक उनका अधिकार समाप्त नहीं होता, तब तक उनकी मुक्ति नहीं होती। वे भगवान् के पार्षदों के रूपमें अवस्थित रहते हैं, अधिकार-समाप्ति के अनन्तर ही मुक्त होते हैं। इसीलिए व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र में कहा है—'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्, अ. ३, पा. सू. ३२।' अर्थात् आधिकारिक ज्ञानी भक्तों की स्थिति अधिकार-समाप्ति तक बनी रहती है। इसी सूत्र के शाङ्कर भाष्य की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

विद्या-कर्मस्वनुष्ठान-तोषितेश्वरान्वोदितम्,
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्।

अर्थात् ये आधिकारिक पुरुष अपने ज्ञान और विधि विहित कर्मानुष्ठान से प्रसन्न परमेश्वर द्वारा बताये गए अधिकार को समाप्त करके ही परम पद में प्रवेश करते हैं। उदाहरण रूप में प्रातःस्मरणीय श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास जी को ही लीजिये। ये पूर्व जन्म में अपान्तरतमा नाम के ज्ञानी भक्त ऋषि थे। इन्होंने भगवान् विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की सन्धि में भागवत धर्मप्रचारार्थ जन्म-ग्रहण किया, और 'कृष्ण द्वैपायन' 'व्यास' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।

इसी प्रकार ईसा की चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में जब म्लेच्छों के अत्याचारों से भारत-धरा कराह रही थी, चारों ओर अधर्म का बोल बाला था, भारतीय राजे-महाराजे साहस और वीरता से सम्पन्न होते हुए भी पारस्परिक फूट के राजयक्ष्मा से जीर्ण-शीर्ण हो चुके थे, भय-त्रस्त जनता 'त्राहि त्राहि' कर रही थी, 'किसको पुकारें' 'किसकी शरण जावें' का आर्त स्वर चारों ओर गूँज रहा था, उसी अन्धकारमय युग में 'तदत्मानं सृजाम्यहम्' के अनुसार भगवान् की प्रेरणा से ही प्रातः स्मरणीय महाप्रभुश्रीहितहरिवंश रूपी प्रभाकर भूमण्डल की प्राची दिशा में, इस परम पवित्र भारत-धरा-धाम पर उतरे थे, और उन्होंने प्रेमरसमय भागवत धर्म का प्रचार किया था।

महाप्रभुश्रीहितहरिवंश जी के पिता श्री का नाम 'व्यास मिश्र' था। और माता श्री का नाम 'तारादेवी' था। यद्यपि श्री व्यास मिश्र आज के सहारनपुर जिले में देववन-नामक स्थान के निवासी थे, जहाँ उस समय के बिजनौर-नरेश श्री कीर्तिचन्द्र देव ने आपको अपना पूज्य गुरु होने के कारण एक अच्छी जागीर भेंट में दे रक्खी थी, जिससे आपका योगक्षेम भली प्रकार चलता था, तथापि वे महाप्रभुश्रीहितहरिवंश के जन्म के समय यात्रा विशेष के प्रसङ्ग से परमपवित्र ब्रजभूमि में भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा-पुरी के समीप ही बाद ग्राम में सपत्नीक ठहरे हुए थे। वहीं महा प्रभु श्रीहितहरिवंश का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी शैशवावस्था की विलक्षण चेष्टा, अनुपम शरीर-शोभा और अनोखी तेजस्विता से स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे भगवान् के कोई पार्षद ही थे, और जगत् का उद्धार करने के लिए और जनता को भगवत्-प्रेमरसामृतसरोवर में स्नान करा कर उसका अन्तःकरण निर्मल करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। जब वे छः ही मास के थे तब ही

उनके मुखारविन्द से प्रस्तुत राधारससुधानिधि स्तव की मधुर रसमयी धारा बहने लगी थी, जिसे स्वामी श्री नृसिंहाश्रम जी लिपि बद्ध करते जाते थे। स्वामी श्री नृसिंहाश्रम जी श्री व्यासमिश्र के बड़े भाई थे, उन्होंने विरक्ति के कारण संन्यास ले लिया था। 'नृसिंहाश्रम' यह उनका संन्यास आश्रम का नाम है। पूर्वाश्रम में उनका नाम 'केशवदास' था। श्री नृसिंहाश्रम जी को हित महाप्रभु के अवतीर्ण होने का ज्ञान पहले ही हो गया था, अतः वे उनके दर्शनों के लिए बाद ग्राम में आए हुये थे और उनके प्रादुर्भाव के बाद सदा उनके समीप ही रहते थे। श्री व्यासमिश्र अब बाद-ग्राम से देववन आगए थे।

महाप्रभुश्रीहितहरिवंश शुक्लपक्षीय विधु की तरह दिन-दिन बढ़ने लगे जिस समय वे पाँच वर्ष के हो गए, उस, अवस्था की बात है कि वे देववन में अपने उद्यान के एक सूखे कुएँ में कूद पड़े। इस दुर्घटना से श्री हरिवंश जी के माता पिता की क्या दशा हुई होगी — इसका यथार्थ वर्णन तो वे ही कर सकते थे, हाँ, हित संप्रदाय की परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि श्री व्यास जी और उनकी धर्मपत्नी श्री तारादेवी जी दोनों अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र की अनिष्ट की आशङ्का से उसी कूप में गिर कर प्राणत्याग के लिए उद्यत हो गये थे। परन्तु सौभाग्यवश तत्क्षण ही कूप में एक अद्भुत प्रकाश फैलता दीखा। लोग यह देखकर भौचक रह गए कि प्रसन्न-वदन पञ्चहायन श्री हरिवंश भगवान् श्यामसुन्दर की मञ्जुलमूर्ति छाती से लगाये कुए से ऊपर उठते चले आ रहे हैं, उनके बाहर आते ही कुआ निर्मल जल से भर गया। जनता में आनन्दोल्लास होने लगा। श्रीव्यास और श्रीतारा देवी के विस्मय और हर्ष की सीमा न रही। भगवान्‌का यह श्रीविग्रह रम्य भवन में लाया गया, जहाँ विधि पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गई। महाप्रभुश्रीहरिवंश इस श्रीविग्रह को 'नव रङ्गीलाल जी' कहा करते थे। अब महाप्रभुश्रीहरिवंश जी, तन मन धन से श्री नव रङ्गीलाल जी की सेवा शुश्रूषा में जुट गऐ। श्यामसुन्दर की उस अनन्य सपर्या और परिचर्या से प्रसन्न होकर श्री राधा जी ने उन्हें दर्शन दिये और अपना हित-अनन्य प्रेमी, परानुरक्तियुक्त भक्त समझ कर उनको हित से-प्रेम से मन्त्र-दीक्षा दी। गोस्वामी श्री जतनलाल जी महाराज ने अपने एक पद में इस घटना को प्रकट किया है—

'करत भजन इक दिवस लाड़िली-छवि मन अटक्यौ
रूपसिन्धु के माँझ पर्‌यौ कहुँ जात न भटक्यौ
विवश होइ तब गए भए तनु प्यारि हारि कैं
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरि कैं
कृपा करी श्री राधिका प्रगट होइ दर्शन दियौ
अपने हितकौं जानि कैं हित सों मन्त्र सु कह दियौ।'

---

[1]षाणमासिककृतश्रीमद्राधारससुधानिधिः।
बाल्योदेकेऽपि कांस्कान् स्वान् ज्योतियुग्मिं न दत्तवान्॥

[1]श्री हित प्रेमदास जी रचित 'श्री हित हरिवंशचन्द्रवर नाम रत्न माला' में लिखा है कि—

क्योंकि श्री राधिका जी ने अपने हित को जान कर हित से ही मन्त्र दीक्षा दी इसीलिए श्री हरिवंश महाप्रभु के प्रातः स्मरणीय नाम के पहले 'हित' शब्द जोड़ा जाता है—अर्थात् उन्हें 'हित हरिवंश' कह कर स्मरण किया जाता है। हित तत्त्व की विशेष चर्चा हम आगे करेंगे।

अपनी युवा अवस्था में ही श्रीराधिकाराधनानिरत श्री हितहरिवंश महा प्रभु वृन्दावन आ गए। जैसे भगवान् श्याम सुन्दर की वंशी ने गोपियों को मुग्ध कर लिया था और वे सुधारस वर्षी वंशीध्वनि के कान में पड़ते ही रस विभोर होकर, आनन्द में खोई सी घर बार सब कुछ छोड़ कर यमुना तट पर भगवान् के निकट आगईं थीं उसी प्रकार श्री हित महाप्रभु के वृन्दावन पहुँचते ही उनकी प्रेमामृत वाहिनी वाणी ने समस्त जनता को श्रीराधाकृष्णयुगलसरकार के नित्यलीला विहार रस में निमग्न कर दिया था। श्रीहित महाप्रभु के संपर्क में आकर अनेक अद्वैतवादी संन्यासी भी भगवान् के प्रेममय नित्य लीला विहार रस में ही अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगे थे।

रासेश्वरी श्री राधा जी ही हितसंप्रदायप्रवर्तित भगवदुपासनामार्ग की जीवातु है' श्रुति कहती है — 'एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्' अकेले रमण नहीं होना, अतः उस कृष्ण स्वरूप परब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की। वह दूसरा कौन है उनकी ह्लादिनी शक्ति श्री राधिका जी ही हैं। श्री राधा और श्री कृष्ण कभी एक दूसरे से जुदा नहीं होते। वैज्ञानिक दृष्टि से भी राधा और कृष्ण के इस नित्य लीला विहार को बुद्धि में बिठाया जा सकता है। श्री राधा जी स्वरूप से गौर वर्ण हैं और भगवान् कृष्ण स्वनाम और स्वरूप दोनों से ही कृष्ण हैं। राधा जी गौर वर्ण होने के कारण श्वेत प्रकाश के प्रतीक हैं, 'राधा' यह संज्ञा भी इस ओर संकेत करती है। 'राधा' शब्द 'राध' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'संसिद्धि—भली प्रकार सिद्धि'। प्रकाश में ही जगत् के सब कार्य भली प्रकार सिद्ध होते हैं। अंधेरा तो सुषुप्ति का हेतु है। अतः राधा गोर तेज है—श्वेतवर्णमय प्रकाश है। भगवान् कृष्ण श्याम वर्ण होने के कारण सूर्यमण्डल के प्रतीक हैं। सूर्य-मण्डल कृष्णवर्ण हैं। 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' इत्यादि वेद मन्त्र में मंडल को कृष्ण वर्ण ही बताया गया है। कृष्ण वर्णमय सूर्यमंडल का प्रकाश ही श्वेत वर्णमय राधा है। सूर्य और उसका प्रकाश कभी वियुक्त नहीं होते, इसी प्रकार कृष्ण और राधा भी कभी जुदा नहीं होते इसीलिए हित संप्रदायक में भगवान् श्री कृष्ण को 'राधा वल्लभ' यह संज्ञा दी गई है। ये दोनों अपने नित्य लीला विहार से जगत् को आनन्द मय बनाते हैं।

यद्यपि आमतौर पर यही कहा और माना जाता है कि जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं, जहां अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं। तथापि अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आपको प्रतीत होगा कि अन्धकार बिना प्रकाश के नहीं रहता। और प्रकाश बिना अन्धकार के नहीं रहता। उदाहरणार्थ आप अँधेरे में एक लैम्प बालिये, अँधेरा दूर हो जायगा, लोग समझेंगे अब अँधेरा नहीं रहा, परन्त वहां दूसरा लैम्प बालने पर और अधिक प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार तीसरा चौथा आदि लैम्प बालने पर उत्तरोत्तर प्रकाश बढ़ता जाता है, यह क्यों? जब एक लैम्प से ही अँधेरा दूर हो गया था, तो दूसरे तीसरे आदि लैम्पों से अधिक प्रकाश होने का कारण यही हो सकता है कि प्रथम लैम्प से सारा अँधेरा दूर नहीं हुआ था, इसी प्रकार दूसरा तीसरा बालने पर

भी कुछ न कुछ अँधेरा शेष रह ही गया था। एक उदाहरण और लीजिये —जहां अनेक दिये जल रहे हैं वहाँ किसी दिये के आगे कुछ ओट हो जाने पर मध्यम सी छाया प्रतीत होने लगती है, वह अन्धकार ही है, दूसरे दीपकों की विद्यमानता में वह अन्धकार रूप छाया प्रतीत नहीं होनी चाहिये, परन्तु होती है, इससे भी सिद्ध है कि प्रकाश बिना अन्धकार के नहीं रहता। घोर अन्धकार में भी आँखें अन्धकार को देख ही लेती हैं, इसलिए मानना पड़ेगा कि उस समय भी कुछ न कुछ प्रकाश है ही, बिना प्रकाश के नेत्र सर्वथा निकम्मे हैं, अतः अन्धकार भी प्रकाश के बिना नहीं रहता। फलतः मानना ही पड़ता है कि गौर तेज और श्याम तेज के प्रतीक श्री राधा और श्री कृष्ण परस्परालिङ्गित रूप में नित्य लीला विहार निरत रहते हैं। अतएव 'सम्मोहन तन्त्र' में और 'गोपालसहस्र नाम' में क्रमशः कहा गया है—

गौरतेजो विना यस्तु श्याम तेजः समर्चयेत्
जपेद् वा ध्यायते वा पि स भवेत् पातकी शिवे !
'सम्मोहन तन्त्र'।

तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधा माधवरूपकम्।
'गोपाल सहस्र नाम'

अर्थात् गौर तेज के बिना (श्री राधिका जी के बिना) श्यामतेजः स्वरूप श्री राधावल्लभ जी का जप, ध्यान आदि सब व्यर्थ है। एक ही ज्योति राधा और माधव के रूप में प्रकट हुई है। वेद में चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा गया है—चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः (शतपथ १३. २. १. ७) श्रीराधा जी के भी दो स्वरूप हैं—एक कृष्णप्राणा राधा, दूसरा रासेश्वरी राधा। कृष्णप्राणा राधा कृष्ण से कभी जुदा नहीं होती। देवीभागवत में (८. २. ४६) लिखा है—

कृष्णप्राणा हि देवी सा कृष्णप्राणाधिकप्रिया,
कृष्णस्य सङ्गिनी शश्वत् कृष्णवक्षस्थलस्थिता।

कृष्ण प्राणा राधा कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्रिय है, वह सदा कृष्ण की सङ्गिनी (सहचारिणी) है, सदा कृष्ण की छाती से लगी रहती है। अन्तरिक्ष गामी चन्द्रमा कृष्ण होने से भगवान् कृष्ण का प्रतीक है, चन्द्रमा की चाँदनी गौरवर्ण होने के कारण राधा जी का प्रतीक है जैसे राधा जी 'वृषभानुसुता' है वैसे ही चाँदनी भी 'वृषभानु सुता' है। 'वासवो वृत्रहा वृषा' इस अमर कोष वाक्य के अनुसार इन्द्र को वृषा (वृषन्) भी कहते हैं, यह 'वृषा' नामक इन्द्र सूर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'यथाग्निगर्भा पृथ्वी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इस शतपथ श्रुति में कहा गया है कि पृथ्वी के गर्भ में अग्नि है, इसी प्रकार द्युलोक के गर्भ में इन्द्र है। यह इन्द्र सूर्य के सिवाय कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि निरुक्त में सूर्यो द्युस्थानः' कह कर सूर्य को ही द्युलोकस्थ बताया गया है। इसलिए वृषा (वृषन्) नामक इन्द्र सूर्य ही है, इसमें सन्देह नहीं होना चाहिये। चन्द्रमा स्वतः प्रकाश नहीं है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सुषुम्णा नामक सूर्य रश्मि ही चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा की चाँदनी उसकी अपनी नहीं है, उसे वृषा नामक भानुने—अर्थात् वृषभानुने पैदा किया है। इसलिए सिद्ध हुआ कि चन्द्रमा रूपी कृष्ण से

आश्लिष्ट चाँदनी-राधा वृषभानु की पुत्री है—वृषभानुजा है। क्योंकि चाँदनी वृषभानु से राधित सिद्ध हुई है, अतः चाँदनी को राधा कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। पूर्णिमा के दिन राधा जी (चाँदनी) की गोद में कृष्णचन्द्र छिपे रहते हैं, अमावस्या के दिन कृष्णचन्द्र की गोद में राधा जी छिपी रहती हैं।

सर्वव्यापक युगल सरकार का यह नित्य लीला विहार अन्तरिक्षवर्ती नक्षत्रमंडल में भी देखा जा सकता हैं। क्योंकि वह ही तो समस्त ब्रह्मांड की उत्पत्ति का कारण हैं। कारण के धर्म कार्यों में, सब नहीं तो कुछ न कुछ, अनिवार्य रूप से अनुगत होते ही हैं।

श्री कृष्ण चन्द्र जैसे गोपियों के साथ रास करते हैं उसी प्रकार अन्तरिक्षवर्तीचन्द्र भी नक्षत्र माला के साथ नित्य रास किया करता है। नक्षत्र गिनती में सत्ताईस (२७) हैं। इनकी गणना अश्विनी से तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु कृत्तिका से भी होती है, कृत्तिका से नक्षत्र-गणना में 'विशाखा' नक्षत्र चौदहवाँ होता है, जो कि नक्षत्र माला का मेरु है—मध्यवर्ती नक्षत्र है। विशाखा का दूसरा नाम 'राधा' भी है, तभी तो विशाखा के बाद के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते हैं—अर्थात् राधा का अनुगामी नक्षत्र। विशाखा का 'राधा' नाम होने में एक और भी प्रमाण है, हिन्दू ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मासों के वैशाख आदि नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं। जिस मास में विशाखा-नक्षत्र-युक्त पौर्णमासी होती है, उसे 'वैशाख' कहते हैं। वैशाखो माधवो राधो' इस अमर कोष के वाक्य के अनुसार वैशाख को 'राध' भी कहते हैं, वह इसीलिए कहते हैं कि इस मास की पूर्णिमा राधा (विशाखा) नक्षत्र से युक्त होती हैं।

यही राधा (विशाखा) रासेश्वरी राधा जी की प्रतीक हैं। रासेश्वरी राधा जी के वर्णन में 'देवी भागवत' में लिखा है—

रासेश्वरी सुरसिका रासावासनिवासिनी।
गोलोकवासिनी देवी गोपीवेषविधायिका ।।
राध्नोति सकलान् कामाँस्तस्माद् राधेति कीर्तिता।

रासेश्वरी राधिका जी अत्यन्त रसिक हैं, वे गोलोक वासिनी (विष्णुदैवत परमेष्ठिमण्डल वासिनी) होकर भी गोपी वेष धारण करके रासावास (वृन्दावन) में निवास करती हैं। वे उपासक की सकल कामनाओं को सिद्ध कर देती हैं, अतः उन्हें 'राधा' कहते हैं।

ग्रह-मण्डल में केवल सूर्य ही स्वप्रकाश है, शेष ग्रह, उपग्रह नक्षत्र आदि सब परप्रकाश हैं—अर्थात् व्योमवर्ती ग्रह-मण्डल में सूर्य ही एक ऐसा ग्रह है जिसका अपना प्रकाश है, शेष चन्द्र आदि उपग्रह और भौम आदि ग्रह तथा अश्विनी आदि नक्षत्र मण्डल सब सूर्य के ही प्रकाश से प्रकाशवान् हैं। गोशब्द का अर्थ किरण भी होत है, सूर्य की गउओं का (किरणों का) रस (प्रकाश) पान करने के कारण चन्द्रना गोप है और अश्विनी आदि ताराएँ गोपियाँ हैं। जैसे भगवान् कृष्ण गोपेश्वर और गोपीवल्लभ हैं, उसी प्रकार चन्द्रमा भी गोपेश्वर और गोपीवल्लभ है। 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' इस पूर्वोक्त शतपथ श्रुति में चन्द्र को भी कृष्ण कहा गया है। जिस दिन कृत्तिका

पर सूर्य होता है उस दिन राधा (विशाखा) ठीक कृत्तिका के सामने होती है। कृत्तिका का सूर्य वृष-राशि का होता है—कृत्तिकाया स्त्रयः पादाः रोहिणी मृगशिरोऽर्धं वृषः। वृष राशि का सूर्य 'वृषभानु' है। अतः वृषभानु की किरणों से प्रकाशित होने वाली राधा (विशाखा) वृषभानुजा या वृषाभानुसुता कहलाती है। जब विशाखा (राधा) पर सूर्य तपता है और कृष्ण चन्द्र कृत्तिका पर होते हैं, उस दिन कार्तिकी पूर्णिमा होती है, उस दिन सूर्य की राधामय सुषुम्णा रश्मि कृष्ण चन्द्र से पूर्णतया आश्लिष्ट होती है, इसीलिए इतर पूर्णिमाओं की अपेक्षा कार्तिकी पूर्णिमा के दिन गोप-देवी श्री राधा कृष्ण चन्द्र की अर्धाङ्गिनी के रूप में सुधारसवर्षण करती है। रस को बरसाने वाला मण्डल रूप में परिभ्रमण ही रास शब्द का अर्थ है। जैसे भगवान् कृष्ण ने कार्तिकी पूर्णिमा के दिन गोपी मण्डल के साथ मण्डल रूप में भ्रमण करके दिव्य रस की वृष्टि की थी उसी प्रकार गगनवर्ती चन्द्र भी नक्षत्र मण्डल के साथ भूमण्डल-परिभ्रमण-द्वारा ओषधियों में रस की वृष्टि करता है। इस प्रकार स्थूल कार्य जगत् में नित्यलीला विहार को देखकर कारण जगत् का (युगल सरकार का) मधुर रसमय नित्यलीलाविहार कुछ समझ में आ सकता है। उसका साक्षात्कार तो रासेश्वरी श्रीराधिका जी की अनन्य उपासना से ही संभव है, ऐसा हित संप्रदाय का मन्तव्य है, जो कि सर्वथा शास्त्र सम्मत है।

हित संप्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ 'श्री राधा रस सुधानिधि स्तव' ही है। यह स्तोत्र रत्न श्रीहित महाप्रभु के शैशवकाल में ही उनके मुखारविन्द से प्रकट हुआ था—ऐसी हित संप्रदायानुगामी महापुरुषों की मानयता है—यह हम पहले लिख ही चुके हैं। यह स्तोत्र संस्कृतभाषा में है, इसमें विभिन्न छन्दों में कुल दो सौ सत्तर (२७०) श्लोक हैं। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ अतुलकान्ति मुक्तक-मोतियों की मञ्जूषा है, सहृदय रसिकों के लिए रसकलसों का संग्रह है, भगवद्भक्तों के लिए हित-हिमवत्-सानु-समुद्भूत भक्ति रसामृत वाहिनी भगवती भागीरथी है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, उन सब में श्री हरिलाल व्यास जी की 'रसकुल्या' सबसे अधिक विस्तृत और उत्तम है, यह केवल नाम से ही रसकुल्या नहीं है, परमार्थतो पिऽरसकुल्या ही है। यह भी संस्कृत में ही है। श्री हरिलाल जी हित संप्रदाय के रहस्यज्ञ और साहित्य विद्या के मर्मज्ञ थे।

प्रकृत स्तोत्र ग्रंथ रसमय काव्य ही नहीं है, किन्तु हितशास्त्र भी है। प्रत्येक शास्त्र का मर्म समझने के लिए उसकी अपनी परिभाषाएँ हुआ करती हैं। विद्वन्मुकुटमणि श्री हरिलाल जी ने रसकुल्या के प्रारम्भ में मङ्गला चरण और विनय प्रकाशन के अनन्तर इन परिभाषाओं को लिख दिया है। जिनके द्वारा शास्त्र प्रतिपाद्य हित तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। हित तत्त्व साध्य कोटिका दिव्य प्रेम है, स्त्री पुरुषों का जैसा साधारण प्रेम नहीं है। तपस्वी इसी प्रेम की प्राप्ति के लिए तप करते हैं, योगिजन निरन्तर योगाभ्यास निरत रहते हैं, नवधा भक्ति द्वारा अर्जनीय यही दिव्य-प्रेम है, वेदान्तियों का निरतिशयानन्द स्वरूप अत एव पर प्रेमास्पद आत्मतत्त्व भी हिततत्त्व से अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्री राधिका जी ही इस हिततत्त्व की मुख्य-अधिष्ठातृ-देवता मानी गई हैं, अत एव इस संप्रदाय में राधिका जी ही मुख्य उपास्य हैं। रसकुल्या का प्रवाह बहाने से पूर्व श्री हरिलाल जी

ने श्रीहित-महाप्रभु की वन्दना की है, उससे हित संप्रदाय के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है, वन्दना का पद्य इस प्रकार है—

राधैवेष्टं, संप्रदयैकर्ताचार्यो राधा मन्त्रदः सद्गुरुश्च,
मन्त्रो राधा यस्य सर्वात्मनैनं वन्दे राधापादपद्मप्रधानम् ।।

श्री राधा जी ही जिनके इष्ट हैं, जिनके संप्रदाय के मुख्य प्रवर्तक और आचार्य भी श्री राधा जी ही हैं, राधा जी ही जिनके मन्त्रदाता श्रेष्ठ दीक्षा-गुरु हैं, 'राधा' शब्द ही जिनका मन्त्र है, प्रधान रूप से राधा चरणार विन्द मधुप उन श्रीहित महाप्रभु की मैं (हरिलाल व्यास) सब प्रकार से वन्दना करता हूँ।

'हित' तत्त्व के संबन्ध में कुछ ऊपर लिखा गया है, यद्यपि श्री हित महा प्रभु ने 'हित-चौरासी तथा 'रस सुधा निधि' स्तव में हित' शब्दार्थ पर विशेष रूप से प्रकाश नहीं डाला, तथापि इस शब्द के यौगिक अर्थ को ध्यान में रख कर उस पर सूक्ष्म दृष्टि में विचार किया जाय तो हित महा प्रभु का हृदय स्पष्ट हो सकता है। 'हित' शब्द 'धा' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण और पोषण। इस विश्व का धारण और पोषण जिसके द्वारा होता है वही हित तत्त्व है। 'हित' तत्व का दूसरा नाम 'विश्वम्भर' भी है, 'विश्वं बिभर्ति—धारयति पोषयति 'च' विश्वम्भरः, प्रकरण, हित जस विलास' सेवक वाणी में स्पष्ट कहा गया है कि विश्वम्भर सब जग आभास, जस बरनो हरिवंश विलास, हरिवंशहि गाइहौं। विश्व को धारण और पोषण करने वाला तत्व ही विश्वम्भर है। 'धा' धातु के समान ही 'भृ' धातु का भी धारण और पोषण अर्थ है। धारक तत्व 'रस' तत्व है, और पोषक तत्व 'बल' नाम से उपनिषदों में व्यवहृत हुआ है। ये दोनों कभी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते। युगल सरकार—भगवान् कृष्ण और श्री राधा की जोड़ी—हो रस बल तत्व हैं। भगवान कृष्ण रस स्वरूप हैं। और श्री राधा बलस्वरूप यही युग्म 'विश्वम्भर' तत्त्व हैं। बल तत्त्व ही विभाव अनुभाव और संचारी रूपों में प्रकट होकर रस रूप में विकास उत्पन्न करता है। विज्ञान और आनन्द की समृद्धि ही रस का विकास है। इसी अभिप्राय को भरत मुनि ने विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः' इस सूत्र से प्रकट किया है—विभाव अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस का परिपोष होता है। समस्त विश्व विभाव अनुभव संचारी स्वरूप हैं और बलका वैभव है। कोई विरले लोग ही रसबलात्मक युगल सरकार में संयम द्वारा—धारणा-ध्यान-समाधि की सहायता से—हित महा प्रभु की तरह ही रसानन्द का अनुभव करते हैं। और तन्मय बन जाते हैं। तभी तो विद्वानों ने कहा है। भगवद् भक्तों की दुनियाँ ही निराली है, उनके चतुर्विध पुरुषार्थ दूसरे ही हैं। वैदिक कर्मठ लोग वेदोक्त याग आदि को ही धर्म कहते हैं, ऐहिक स्रक्चन्दनवनितादि की और पारत्रिक रम्भा-तिलोत्तकादि अप्सराओं की प्राप्ति ही उनका अर्थ है, तज्जन्यलौकिक और पारलौकिक सुख ही उनका काम है, और सुषुप्ति के समान कैवल्य ही उनकी मोक्ष है। परन्तु भक्त लोग ऐसा नहीं मानते श्री हित महाप्रभु ने रससुधा निधि स्तव के ८३ वें पद्य में स्पष्ट लिखा है—

'अलं विषयवार्तया नरक कोटि बीभत्सया
वृथाश्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः,
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किंततः
परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ।।'

भगवद् भक्तों के लिए स्वर्गादि विषय सुख करोड़ों नरकों के समान बीभत्स हैं, इसलिए वे स्वर्गादि प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म का विधान करने वाले श्रुतिवाक्यों की कथा को भी व्यर्थ श्रम-मात्र समझते हैं, सुषुप्ति के समान कैवल्य को भी वे महामोह ही समझते और उससे डरते हैं ।

श्री ईश्वर कृष्ण ने भी सांख्य कारिका में लिखा है—

'दृष्टवदानुश्राविकः सह्यविशुद्धि क्षयातिशय युक्तः ।

अर्थात् जैसे लौकिक उपाय त्रिविधताप निवृत्ति करने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार वैदिक कर्म भी, क्योंकि उनमें बीज बधादि द्वारा अवि शुद्धि हैं, उनसे प्राप्त होने वाला फल नश्वर है और सातिशय होने के कारण ईर्ष्या आदि दोषों को उत्पन्न करता है । इसके विपरीत भक्ति जन्य सुख निरतिशय है और अविनश्वर है ।

गीता में भी लिखा है—

एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्नागतागतंकामकामा लभन्ते ।

अर्थात् वेदोक्त सकाम कर्म करने वाले व्यक्ति आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं ।

भक्तों के चतुर्विध पुरुषार्थ कौन हैं इसकी चर्चा श्रीमद्भागवत के छटे स्कन्ध में वृत्र चतुष्टयी में की गई है ।

भगवद्-भक्तों का धर्म है—भगवद् भक्तों की संगति, वाणी से भगवद् गुणानुवाद, मन से भगवत् स्मरण और शरीर से उनकी सेवा ।

अहं हरे ! तव पादैकमूल दासानुदासो भवितास्मि भूयः :
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ।

वृत्र भगवान् से (युगल सरकार से) प्रार्थना करता है कि नाथ मैं पुनर्जन्म में आपके दासों का दास बनूं—सदा उनकी सङ्गति में रहूँ । मेरा मन आपके गुणों का स्मरण करता रहे, वाणी युगल सरकार के गुणों का कीर्तन करती रहे, और शरीर उनकी सेवा में तत्पर रहे । अर्थ काम और मोक्ष उनका एक ही है, उसमें कोई भेद नहीं । भक्ति दो प्रकार की होती है साधन रूपा और साध्य रूपा । साधन रूपा भक्ति ही धर्म और उसके द्वारा सिद्ध होने वाली पराभक्ति—अर्थात् साध्य रूपा भक्ति ही भक्तों का अर्थ काम मोक्ष है । उपर्युक्त प्रथम श्लोक में संक्षेप से साधन रूपा भक्ति का निर्देश हुआ है । साध्य रूपा अर्थ काम और मोक्षरूपा पराभक्ति का निर्देश निम्नलिखित तीन श्लोकों में दिया गया है—

'न नाक पृष्ठ्यं नच पारमेष्ट्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्'
न योगसिद्धि रपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ।
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः,
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वम् ।
ममोत्तम श्लोक जनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः,
त्वन्माययात्मात्माज दारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

अर्थात्—'सर्व सौभाग्य निधे। मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य रसातल का एक छत्र राज्य, योग की सिद्धियों तक की मोक्षा, भी नहीं—चाहता। जैसे पक्षियों के पङ्ख हीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं, और जैसे वियोगिनी अपते प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती हैं, वौसे ही हे कमलनयन मेरा मन आपके दर्शनों के लिए पटा रहा रहा है, प्रभो मैं मुक्ति नहीं चाहता, मेरे कर्मों के फलस्वरूप भले ही मुझे बराबर जन्म मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े, परन्तु मैं जहाँ जाऊँ जिस-जिस योनि में जन्मूं वहां भगवान् के प्यारे भक्तजनों से मेरी मैत्री बनी रहे। स्वामिनी मैं यही चाहता हूँ। कि जो लोग माया वश गृह पुत्रादारादि में आसक्तहो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न हो।'

श्रीहित महाप्रभु ने श्रीराधावल्लभभगवान् श्री कृष्ण और श्री राधिका जी के सम्बन्ध में ब्रजभाषा में भी बहुत से पद लिखे हैं, जो 'हित स्फुट वाणी' और 'हित चौरासी' इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है कि 'हित स्फुट वाणी' के निम्नलिखित पद्यों और पद्यांशों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीराधावल्लभभगवान्कृष्ण ही श्री हित महाप्रभु के इष्ट देव हैं—

'सब सों हित निष्काम मति वृन्दावन विश्राम
श्री राधावल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम।'
'तनहि राखि सत्सङ्ग में मनहि प्रेम-रस-भेव,
सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण-कल्पतरु सेव।'
'जिहि नामनि मंगल लोक तिहूँ
हरि पद भजि न विलम्ब कर।'
'तू बालक नहिं भर्‌यो सब सयानप, काहे कृष्ण भजत नहिं नी के'
'इहिं परलोक सकल सुख पावत
मेरी सौंह कृष्णगुण संचु।'
'मानुष को तन पाय भजौ ब्रजनाथ कौं।'
आरती मदन गोपाल की कीजिये,
देव ऋषि ,व्यास, शुक, दास सब कहत निजु
क्यों न बिनु कष्ट रस सिन्धु कौ पीजिये।'

परन्तु रसकुल्या के उपयुंक्त प्रारम्भिक पद्य से और 'राधा रस सुधानिधि स्तव' के अनेक पद्यों से विदित होताहै कि राधातत्त्व को ही श्रीहित महाप्रभु अपना ध्येय समझते थे। उदाहरणार्थ उपयुक्त स्तव के कुछ पद्यांश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

'तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेतिवर्णद्वयम्' ६४ पद्य
'सा राधेति सुधा सदा स्फुरतु मे विद्या परा द्व्यक्षरा ।९५ पद्य
'परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु' ६३ पद्य
'यत्प्रेमामृतमाधुरीरसमयं यन्नित्यकैशोरकं-
तद् रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ।'

इस प्रकार एक ही आचार्य्य के दो ग्रन्थों में दो प्रकार की बातें क्यों ? दोनों ही ग्रन्थ रसोपासनारीति के हैं, दोनों में भजनीय एक ही होना चाहिये ।

श्रीहितमहाप्रभु के उपासना-रहस्य को यथावत् न समझने के कारण ही यह शङ्का होती है । वस्तुतः दोनों ही प्रकार के वचनों में उपासनीय तत्व एक ही विवक्षित है, जो कि श्रीराधा जी ही हैं । ऋग्वेद का एक वाक्य है—'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' जिस का तात्पर्य्य यह है, कि यह दृश्यादृश्य समस्त विश्व एक ही तत्त्व का वैभव है । वह तत्त्व, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रसबलात्मक है । रसस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, और बलस्वरूप श्रीराधा जी । ये दोनों तत्त्व कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते—इसकी भी पहले चर्चा हो चुकी है । एक दूसरे से, किसी भी स्थिति में, पृथक् न रहने के कारण दोनों को एक ही माना जाता है । परन्तु ये एकात्मक दो तत्त्व अपनी दिव्यलीलाओं से विश्व का कल्याण करने के लिये, विशेष अवसर पर, अपने को, विशिष्ट (आनन्द मात्र स्वरूप)[1] शरीर धारण करके, पृथक्-पृथक् रूप में भी प्रकट करते हैं । पार्थक्य अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण में हितरूपप्रेमरसमयता की अभिव्यक्ति श्रीराधिका जी के बिना नहीं होती । अतः हितोपासनारीति के अन्तर्गत प्रधान उपासनीय तत्त्व श्रीराधा जी ही मानी गई हैं ।

श्रीहितस्फुटवाणी के 'श्रीराधावल्लभलाल को हृदय ध्यान मुख नाम', इस वाक्य में श्रीराधावल्लभ' पद का संकेत भी श्रीराधा जी की ही ओर है । श्रीराधैव वल्लभा यस्य [2]इस विग्रह के अनुसार यही सिद्ध होता है, कि श्रीराधा जी ही श्रीकृष्ण जी की भी इष्ट हैं । अपने इष्टदेव में भक्तिदाढर्य की प्राप्ति के लिये भक्तों का ध्यान और कीर्तन भी परमावश्यक है, अतः श्रीहिताचार्य्य ने श्रीराधाचरणचञ्चरीक श्रीराधावल्लभ जी का ध्यान और स्मरण करने के लिये उपदेश दिया है । 'श्रीराधारससुधानिधिस्तव' के द्वितीय पद्य की अवतरणिका में श्रीहरिलाल व्यास ने यह पंक्ति लिखी है -"तदेवं सर्वाराध्याराधनीयतोक्तावत्यन्तदुर्लभत्वे शरणागतानामाधुनिकानां तत्पदप्राप्तौ किमालम्बनम् ?···" इसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से जब श्रीराधिका जी सब देवताओं के आराध्य भूत भगवान् श्रीकृष्णजी की भी आराधनीया हैं, तब तो आधुनिक शरणागत भक्तों के लिये उनके (श्रीराधिका जी के) चरणों तक पहुँच पाना महा कठिन है, उनके लिये

[1]'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' इत्यादि वचनों के अनुसार, भगवान् का शरीर भौतिक नहीं होता, किन्तु दिव्य आनन्द स्वरूप होता हैं ।

[2]श्रीराधा जी ही जिन की प्रिय है ।

क्या अवलम्ब होगा............। इससे स्पष्ट सिद्ध है, कि श्रीहितोपासनारीति के अनुसार उपास्य तत्त्व श्रीराधा जी ही हैं। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट है कि श्रीराधिका जी भगवान् श्रीकृष्ण की भी उपास्य हैं।

कोई यह भी कह सकता है, कि यदि श्रीहितोपासनापद्धति में श्रीराधा ही आराधनीय हैं तो 'राधावल्लभ' इस पुल्लिङ्ग शब्द को देकर संदेह में डालने की क्या आवश्यकता थी, कोई ऐसा स्त्रीलिंग शब्द ही रखते, जिससे श्रीप्रिया जी (श्रीराधिका जी) की ही उपास्यता प्रतीत होती। इसका उत्तर यह है कि श्रीहिताचार्य्य जी ने [1]'राधाया वल्लभो राधावल्लभः' [2]'राधैव वल्लभा यस्य स राधावल्लभः' इन दो विग्रहों वाले शब्द के द्वारा यह बताया कि अन्योन्यप्रेमानुबद्ध ये दोनों तत्त्व अभिन्न हैं। रही पुंस्त्व और स्त्रीत्व की बात, सो यदि वह उपास्य तत्त्व परमार्थतः लिंगवान् है, तो फिर उसमें सभी लिंग हैं, वह पुमान् भी है तो स्त्री भी है। वेद वाणी तो यही कहती है—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'। इस श्रुति में परमेश्वर को स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी सभी कुछ बताया है। वस्तुतः स्त्रीत्व पुंस्त्व आदि तो शरीर के धर्म हैं, जो शरीर सम्बन्ध के कारण धर्मी में भी व्यवहृत हो जाते हैं। आत्मा तो लिंगशून्य होता है। अतः उपासक अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी पुरुष या स्त्री के रूप में अपने इष्ट की उपासना कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

जो भी भक्त मेरे जिस किसी भी स्वरूप की जिस श्रद्धा से अर्चना करना चाहता है, मैं उस भक्त की उस श्रद्धा को ही अचल (स्थिर) कर देता हूँ। उस उपास्य परम तत्त्व की परिभाषा के लिये किसी विशिष्ट लिंग की कोई उपयोगिता नहीं है।

श्रीरस्तु

प्रकाशकीय निवेदन

वृन्दावनेश्वरी श्रीप्रिया जी की अनुकम्पा ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन में वास्तविक कारण बनी है, इसमें अणुमात्र भी संदेह करना, अपने आप को भ्रान्ति में डालना होगा। अब तक कतिपय महानुभावों ने इस प्रकाशन के लिये प्रयत्न किये, किन्तु सर्वेश्वरी श्रीराधिका जी का विधान ही रहस्यमय है। मेरे मन में भी कई बार अभिलाषा हुई, परन्तु इस कार्य्य की महत्ता, आदि के कारण साहस नहीं हो पाता था। अब श्रीप्रिया जी ने किसी प्रकार इस ग्रन्थ के आधे कार्य्य को सम्पन्न करा दिया है, आशा है, शेष कार्य्य (जो हो रहा है) शीघ्र ही सम्पूर्ण हो जायगा। आज के युग में आर्थिकव्यवस्था कितनी जटिल है, यह बात विज्ञजनों से छिपी नहीं है। एवं अपनी साधनहीनता तो महान् टेढ़ी समस्या है, इन सभी बाधाओं को, "व्यास, भरोसे कुँवरि के सोवत पाँव पसार" इसी व्यासोक्ति का सहारा लेकर इस सम्पादन कार्य्य को सम्पूर्ण करने की चेष्टा की जा रही है। श्रीहितमाहप्रभुप्रणीत श्रीराधासुधानिधिस्तव की रसकुल्याख्या व्याख्या सानुवाद प्रकाशित हो, यह पहली समस्या थी। इस कार्य्य के लिए पं० अमीरचन्द्र जी शास्त्री से

[1]श्रीराधा जी के प्रिय।
[2]श्रीराधा जी ही जिन की प्रिया हैं।

कहा गया, उन्होंने सहर्ष इस कार्य्य को स्वीकार किया, एवं उन के परिश्रम रूप में रसकुल्या पर रसकलशनामक भाषानुवाद भी आप के समक्ष उपस्थित है। आप ने पाण्डित्यपूर्ण शैली से भाषानुवाद एवं ग्रंथ सम्पादन कार्य्य को सम्पन्न किया है।

श्रीहितमहाप्रभु ने अपने उपास्य स्वरूप की स्पष्ट रूप में घोषणा करते हुए अपनी वाणी में कहा :—

"रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।

मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा शपथ करों तृण छिये ।।.........इत्यादि। अपनी प्राणेश्वरी श्री श्यामा जी के लिये "मेरे प्राणनाथ" इस पुल्लिग शब्द का प्रयोग किया है। श्रीसेवक जी के सिद्धान्त के अनुसार 'दम्पति रस सम तूल', ये एकात्मक दो तत्त्व परस्पर न्यूनाधिक नहीं हैं, अपि तु समान हैं। हितोपासनारीति में अनन्योपास्यता का यथार्थ भाव यही है, कि श्रीप्रिया जी ही हमारी आराध्या हैं। श्रीध्रुवदास जी ने लिखा है :—

प्रगट प्रेम को रूप धरि श्री हरिवंश उदार।
राधावल्लभलाल को प्रगट कियो रस सार।।
निगम ब्रह्म परसत नहीं जो रस सब तें दूरि।
कियो प्रगट हरिवंश जू रसिकनि जीवन मूरि।।

भक्तमालकार स्वामी श्री नाभा जी महाराज ने एक ही पद में संक्षेप से श्रीहितमहाप्रभु की अनन्योपासनारीति का स्वरूप कह दिया है :—

श्रीराधाचरनप्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुञ्जकेलिदम्पती तहां की करत खवासी।।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधिनिषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्रीव्याससुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है।
श्रीहरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोऊ जानि है।। भक्तमाल।।

इस रसोपासनारीति में, काव्यात्मक परमोज्वल शृंगाररस का उपासना से समन्वय करना ही हित सिद्धान्त का रहस्य है। ऊपर कहा जा चुका है, कि इस रसोपासना परिपाटी को प्रगट करने के लिये प्रेम ही के विशिष्ट रूप में युगलस्वरूप का प्राकट्य होता है। भौतिक तत्वों का उस स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दार्शनिक भाषा में आनन्द शब्द से विख्यात तत्व ही यहां हित शब्द से कहा गया है। उसी परम तत्त्व को 'रसबलात्मक' रूप में युगलस्वरूप में स्थापित किया गया है। अनन्त काल से अभ्यस्त इस जीव को जिस प्रकार परब्रह्म में अध्यस्त इस विश्वप्रपञ्च के मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं हो रहा, इसी प्रकार इस अलौकिक, दिव्यातिदिव्य, युगल तत्त्व के विशुद्ध-प्रेमोल्लासपरिपूर्ण उपासना रस में काव्यात्मक रस की अनुभूति इसीलिये होती है, कि इस जीव की बुद्धि की गति सीमित है। यह रसोपासना रहस्य अनुभव मात्र का विषय है। इसी लिये श्रीनारद जी ने प्रेम की परिभाषा करते हुए कहा है "अनिवर्चनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्।" वाणी अथवा शब्द का सामर्थ्य नहीं कि यथार्थरूप में उस रहस्य की परिभाषा कर सके।

"यत्र वाचो निवर्तन्ते······"इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी यही तात्पर्य्य है। इसी प्रकार श्रीप्रियाजी के अनन्योपासक श्रीहितमहाप्रभु जी ने भी कहा है:—

"सुनि मेरो वचन छवीली राधा" इत्यादि पद के अन्त में कहा, "तेरो रूप कहत नहि आवै। जै श्रीहितहरिवंश कछुक यश गावै। 'इदमित्थम्' यह सर्वथा मन वाणी शब्द की सीमा से बाहर है। इस उपासना के मर्मज्ञ श्री ध्रुवदास जी ने कहा :—

"न आदि न अन्त विहार करैं दोऊ, लालप्रिया में भई न चिन्हारी ॥" अनादि काल से अनन्त कालावधि युगलतत्त्व प्रेममयविहारानन्द का, सदा अनुभव कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में भी परस्पर चिन्हारी आज तक नहीं हुई। कितना रहस्यमय विवेचन है, इसीलिये कहा है, "भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादतिसुन्दरम्"। इस प्रकार काव्यात्मक रस से सर्वथा भिन्न इस रस की रीति ही रहस्यमय है।

इस उपासना के कतिपय सिद्धान्त श्रीहरिलाल व्यास जी ने अपने परिभाषा प्रकरण में लिख दिये हैं। 'श्रीराधारससुधानिधि' स्तव एवं, उसकी व्याख्या 'रसकुल्या' के मनन में इन परिभाषाओं का समन्वय करते रहना परमावश्यक हैं, इन परिभाषाओं का पर्यवसान इसी तात्पर्य्य में होता है, कि यह उपासना रीति परम विशुद्ध प्रेममय है, उपासना पद्धति की चरम सीमा है। रसकुल्या का मनन पूर्वक स्वाध्याय ही इस रहस्यमय उपासना को हृदयंगम कराने में समर्थ है, रसिक महानुभाव अपने अनुभवद्वारा ही इसे प्रमाणित कर सकते हैं। श्रीहितमहाप्रभु ने '७२' वें पद में, तदनुसार रसकुल्या में इस उपासना को साधारण उपासना के रूप में मनन करने की भली भांति विवेचना की है। रसकुल्या के द्वारा सभी रहस्यों पर विस्तृत विचार किया गया है। इसीलिये रसकुल्या को श्रीहितसिद्धान्त का भाष्य कहा गया है। इस अद्भुत रसमय ग्रन्थ के प्रकाशन से रसोपासनारत रसिक महानुभाव, हितोपासनारीति के यथार्थ एवं चरमोपासनास्वरूप से अवगत हो सकेंगे, यही आशा इस ग्रंथ के प्रकाशन का यथार्थ लाभ है।

इस प्रकाशन में प्रधान प्रश्न पाण्डुलिपि का था। उस के लिये जिन-जिन महानुभावों ने इस हस्तलिखितसाहित्य की रक्षा की दृष्टि से आज तक प्रयत्न किये हैं, वे सभी महानुभाव धन्यवाद के भागी हैं। एवं इस प्रकाशन से उन महानुभावों के भावनास्वप्नों ने ही मूर्त्त रूप धारण करके इस प्रकाशन कार्य्य को सम्पन्न किया है। बाबा श्रीध्रुवअलीशरण जी वास्तव में श्रेयोभागी हैं, जिन्होंने बिहार प्रान्तान्तर्गत पटनास्थ, 'श्रीमदनमोहनमालवीय' पुस्तकालय से, श्रीहरिलालव्यास जी द्वारा अपनी लेखनी से लिपिबद्ध की हुई पाण्डुलिपि को प्राप्त किया। वह इतनी जीर्ण हो चुकी थी, कि उससे शुद्ध प्रतिलिपि करना सम्भव नहीं था। अतः अन्य हस्त लिखित प्रति के आधार पर शुद्धप्रतिलिपि की गई। राधावल्लभीय गोस्वामी श्रीललिताचरण जी से एक ऐसी पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई, जो प्राचीन भी थी, एवं शुद्ध भी थी। कतिपय अन्य पाण्डुलिपियों का भी आश्रय लिया गया। तात्पर्य्य यह है, कि इस विषय का पूर्ण रूप से ध्यान रखा गया कि मूल ग्रंथकार की रचना में किसी प्रकार विकृति न होने पावे।

रसिकवर श्रीहरिलालव्यास जी की यह 'रसकुल्याख्या व्याख्या' अपने नाम से ही अपने स्वरूप की स्वयमेव विवेचना करती है। हित महाप्रभु ने अपने मूल ग्रन्थ "श्रीराधारससुधानिधि" को रस सागर कहा है। उसी सागर के रस की कुल्या 'नहर' या 'नदी' के रूप में प्रवाहित

किया गया है। श्रीहरिलालव्यास जी हितसम्प्रदायाचार्य्यवर श्रीकिशोरीलाल जी के कृपापात्र थे। पुष्कर तीर्थ के पास के देश का नाम ही ढूँडार देश प्रतीत होता है। वहां जूनियां ग्राम के आप निवासी थे। श्रीप्रिया जी की प्रेरणा से आप ने श्रीवन में सम्वत् १८३५ वसन्तोत्सव में इस व्याख्या को प्रारम्भ किया। ग्रंथ के अर्धभाग तक लिखने के अनन्तर आप ने इस व्याख्यालेखन को विश्राम दे कर श्री सेवक वाणी की व्याख्या लिखी, सम्भवतः कोई विशेष रहस्य इस उपासना ग्रन्थ में निहित है, कि संयोग वश आप के समक्ष भी वही प्रथमखण्ड उपस्थित हो रहा है, जहां रसकुल्याकार जी ने भी कुछ समय के लिये इस कार्य्य को विश्राम दे दिया था। उनकी धर्मपत्नी का नाम श्री पानाबाई था। आप भी परम भक्ता थीं, एवं घर में श्रीठाकुर जी महाराज की सेवा विधिवत् आप के द्वारा ही सम्पन्न होती थी। इस प्रकार अनन्यरसिक श्रीहरिलाल जी ने इस व्याख्या को लगभग दो वर्ष में संवत् १८३७ मार्गशीर्ष शुक्ल दशवी तिथि के सुअवसर पर पूर्ण किया। सं० १८३६ माघ पूर्णिमा के दिन भी समाप्ति का उल्लेख मिलता है।

आप के परिचय के प्रमाणस्वरूप श्रीगोविन्दअली जी कृत रसिक अनन्यमाल के पद इस प्रकार हैं :—

रसानन्द में मग्न ह्वै कीनो हृदय रसाल।
पुन वन रज सों प्रीति करि रसिक व्यास हरिलाल।
समृति सार रस काढ़िकै रहसि सुनायो आनि।
तिलक कियौ सेवक गिरा श्रीमुख गिरा प्रमान।
दई किशोरी लाल हित माला गरै लसंत।
ढूंढार देस में जूनियाँ तहां सनातन संत ॥६६॥
"धनि रसिक व्यास जी पाना बाई महल में।
कर्म धर्म व्रत लोक वेद कुल की गति छांड़ी।
युगल भावना मत्त हृदै हित पद रुची गाड़ी।
हानि लाभ दुःख सुख सम निरदूषित वन में बसी।
भजन सुधा रस पान बल काल व्याल नाहिन डसी।
जब विवस प्रेम रस केलि कल छिन छिन दम्पति टहलमें।
धनि रसिक व्यास हरिलाल जी पानाबाई महल में ॥१०१॥

दोहा—सम्वत् अष्टादशशते सप्ततीस पुनि वर्ष।
अगहन दशमी शुक्ल में पूर्ण भई सहर्ष ॥१॥
श्री वृन्दावन धाम में लिखी व्यास हरिलाल।
श्री व्यासनन्द जू प्रेरिकै निज जन कियौ निहाल ॥२॥
कहां खारी तट जूनियां, कहां वृन्दावन धाम।
कहां वाणी कहां हित सरन, योग मिलौ अभिराम ॥३॥
श्री हितसरन प्रताप कौ काज यहै सुख साज।
तातें कीनी यथा मति, टीका सुखद समाज ॥४॥
परम भागवत मम जनक, नाम सु साहिब राम।
श्री प्रेमदास हित सरन लै भजन बिताये जाम ॥५॥

तिन सब परिकर हित सरन करवाये हित भीन ।
श्री गोस्वामी रूप सुत चरणाश्रित हम कीन ।।६।।
तिन की कृपा प्रसाद तें श्रीराधावल्लभ लाल ।
जोरी राजत सीस ग्रह पांवर करत निहाल ।।७।।
भयौ मनोरथ सुधा निधि टीका करन उपाय ।
श्री वृन्दावन धाम में वास भयौ सुखदाय ।।८।।
आधी टीका बीच में, भयो मनोरथ एह ।
सेवक वाणी अर्थ क्रम कछु लिखिये निज नेह ।।९।।
भाव बढ़ायौ रसिक जन निज अनमोदन काम ।
टीका लिखी द्वय मास में रसिक मेदिनी नाम ।।१०।।
श्रेय काज कलि बहु विघन ताते सत्वर कीन ।
घट बढ़ सबही छिमहुगे भावुक रसिक प्रवीन ।।११।।

यह पद स्वयं श्री हरिलाल जी व्यास ने अपनी सेवक वानी की टीका में लिखे हैं ।

आपकी रचनाओं से आपकी विद्वत्ता, एवं हितोपासनानन्यता, स्पष्ट रूप में प्रतीत होती है। विज्ञ जनों का मत है कि आपने काश्मीर प्रदेश में विद्याध्ययन किया था । आपने अपने विद्याध्ययन से सम्पन्न होकर, अपने पाण्डित्य का, अनन्यता पूर्वक इस रसोपासनारीति में पर्यवसान किया है, यही वास्तव में आपकी महत्ता है ।

श्रद्धेय श्री म० म० परमेश्वरानन्द जी ने महान् अनुग्रह किया, जो हमारे निवेदन को स्वीकार करके, इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य के अङ्गभूत भूमिका लेखन भार को स्वीकार किया है । आपने गवेषणा पूर्ण एवं युक्तिपूर्ण रीति से, सूत्र रूप में दुरूह सिद्धान्तों का निर्देश कर दिया है । हम आपके इस परिश्रम के लिये हृदय से आभारी हैं । हितकुलमण्डन गोस्वामी आचार्य्यपादों का सहयोग भी इस कार्य्य का एक विशिष्ट आधार रहा है ।

इस कार्य्य में मैंने क्या किया है, किस अंश की पूर्ति में किस रूप में मेरा सहयोग साकार हुआ है, जब मैं इस विषय पर विचार करता हूँ, तो मैं तो इसी निश्चय पर पहुँचता हूँ, कि रसिक-प्राणेश्वरी श्री वृन्दावनेश्वरी ही अपनी लीला का विस्तार कर रही हैं, मेरी तो यही अभिलाषा है:—

यद्गोविन्दकथासुधारसह्रदे चेतो मयाजृम्भितम्,
यद्वा तद्गुणकीर्तनार्चनविभूषाद्यैर्दिनं प्रापितम् ।
यद्यत्प्रीतिरकारि तत्प्रियजनेष्वात्यन्तिकी तेन मे,
गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्री राधिका तुष्यतु ।।

श्रीश्यामा कुञ्ज ।
श्री वृन्दावन
बसन्तोत्सव सं० २०२४ वि०

श्रीकिशोरीचरणरजोलिप्सुः—
बाबा किशोरीशरणः

अकारादिक्रमेण श्लोकानुक्रमणिका



दो॰ श्री अक्षर में त्रै तनू हित अलि राधा लाल। वाम अंस प्रीतम लसत दक्षण प्यारो बाल॥

शा अक्षर में श्याम रा अक्षर श्री राधिका। ई इक्षा अली नाम श्री गुरु त्रविधि सुरूप ध्रुव॥

दो शब्द

पुरुषकारों के प्रयोजक पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परमपुरुषार्थ भक्ति भी हमारे कुछ पुरुषकारों की प्रयोजक है। लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का विषय धर्म अर्थ और काम हैं। मुमुक्षा इनसे परे है उसका विषय मोक्ष है मुमुक्षा से भी परे भजनेच्छा है। जिसके लिये श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में—

सार्ष्टिसालोक्यसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न वाञ्छन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

इत्यादि सुभाषित कहे गये हैं।

वास्तव में पुरुषार्थों और परमपुरुषार्थ की भी प्रेरक सुखेच्छा है। सुख प्राणिमात्र के लिए कमनीय और रमणीय वस्तु है। वह दो प्रकार का है लौकिक और अलौकिक। इन्हीं दो प्रकार के सुखों को क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा गया है। इन्द्रियगम्य सुख प्रेय है और आत्मगम्य सुख श्रेय है। साधारणतया त्रिवर्ग का नाम प्रेय है और अपवर्ग का नाम श्रेय है। परम पुरुषार्थ भक्ति त्रिवर्ग और अपवर्ग दोनों से विलक्षण है क्योंकि उसमें प्रेय और श्रेय दोनों का सुन्दर समन्वय है। भक्ति दो प्रकार की है ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि तत्त्व का अनुसन्धान ज्ञानाश्रयी भक्ति का विषय है और 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि तत्त्व का आस्वादन प्रेमाश्रयी भक्ति का। भक्ति के इन दो प्रकारों के मूल में भजनीय की द्विरूपता भी कारण है—'द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च।' किन्तु मुख्यतया भक्तों की द्विरूपता ने ही भक्ति को यह दो रूप दिये हैं।

भक्त ही नहीं मानवमात्र दो प्रकार के हैं एक अद्रुतचित्त और दूसरे द्रुतचित्त। अद्रुतचित्त मानव संसार की रङ्गशाला के काष्ठपोठों, भित्तियों और पाषाणों के समान स्थित हैं वे भावों और मनोविकारों से अछूते-से रहते हैं उनके लिये ज्ञानाश्रयी भक्ति का विधान है। किन्तु द्रुतचित्त मानव इस रङ्गशाला में प्रेक्षकों के समान अवस्थित हैं जो कभी रो पड़ते हैं तो कभी हँसने लगते हैं उन्हें यहाँ के पात्रों के साथ समवेदना है, सहानुभूति है वे सहृदय, भावुक और रसिक आदि नामों से सम्बोधित होते हैं। इनका मार्ग प्रेमाश्रयी भक्ति है।

प्रेमाश्रयी भक्ति को एक सीमा निर्गुण तत्त्व का भी स्पर्श करती है। किन्तु मुख्यतया उसका विषय सगुण प्रभु ही हैं। सगुण को निर्गुण से अभिन्न मानकर यह भक्ति अग्रेसर होती है, गोस्वामी तुलसीदास के राम और सन्तशिरोमणि सूरदास के श्याम ऐसे ही हैं। गोस्वामी श्रीहितहरिवंशमहाप्रभु की रीति उक्त समस्त लक्ष्य और लक्षणों से विलक्षण है। तभी तो श्रीनाभादास जी ने अपनी भक्त माल में—

'श्रीराधाचरणप्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुञ्जकेलि दम्पती तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसुमहाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्रीव्याससुवन पथ अनुसरै सोई भलैं पहिचानि है।
श्रीहरिवंश गुसाईं-भजन कीरीति सकृत कोउ जानि है।'

इस छप्पय के द्वारा उनकी रसरीति को अगम्य नहीं तो दुर्गम अवश्य कहा है। अन्य

भक्तों न निर्गुण या सगुण से प्रेम किया है किन्तु श्रीहिताचार्य महाप्रभुने प्रेम को ही अपना प्रभु बना लिया है। उनकी राधा 'पूर्णानुरागरससागरसारमूर्ति' हैं और उनके श्याम 'रसघनमोहनमूर्ति' हैं। यहाँ प्रेम ही विषय और आश्रय भेद से दोनों आलम्बन बना हुआ है, विषय या आसज्य श्रीराधा हैं और आश्रय या आसक्त श्रीश्याम। प्रम का यह द्वैधीभाव स्वाभाविक नहीं है अपितु कल्पित है और कल्पनीय है—

अहो द्वैधीकर्तुं कृतिभिरनुरागामृतरस—
प्रवाहैः सुस्निग्धैः कुटिलरुचिरश्याम उचितः।
इतीयं सीमन्ते नवरुचिरसिन्दूररचिता,
सुरेखा नः प्रख्यापयितुमिव राधे विजयते॥

'अहो सुस्निग्ध कृतिजनों को चाहिये कि वे कुटिल होते हुए भी नित्यरुचिर श्याम को अनुरागामृत रूपी इसके प्रवाहों से दो रूपों में कल्पित कर लें।' इसी सिद्धान्त को हमें समझाने के लिये ही सम्भवतः श्रीराधे! आपने अपने कुटिल, रुचिर और श्याम केशपाश में नवीन और रुचिर सिन्दूर से सुन्दर रेखा बना ली है, यह सुरेखा इस द्वैत-कल्पना के सिद्धान्त को सम्बोधक होने के कारण भक्तिमार्ग में अन्य सभी सम्बोधकों की अपेक्षा सर्वोत्कर्ष से विराजमान है।' इत्यादि पद्य में श्रीहिताचार्य महाप्रभु ने इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। और जैसे उनके दीक्षागुरु स्वयं श्रीराधा हैं वैसे ही शिक्षा गुरु भी वे ही हैं यह भी निर्देश कर दिया है।

प्रेमाद्वैत का भजन करने के लिये यह द्वैत कल्पित है जो अद्वैत से अति सुन्दर है—'भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादति सुन्दरम्।' इस अति सुन्दरता के कारणों में निर्गुण सगुण ब्रह्म ते न्यारो' इत्यादि अनेक विशेषण मुख्य हैं। यही कारण है कि श्रीहिताचार्य महाप्रभु को रसरीति भरत आदि काव्यरसिकों और श्रीरूप आदि भक्तिरसिकों सभी से भिन्न है।

यहाँ पर—'दुकूलंविभ्रणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं
प्रसादं स्वामिन्या स्वकरतलदत्त प्रणयतः।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधपरिचर्यैकचतुरां
किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये॥'

इत्यादि श्रीमुखवचन के अनुसार अपने में श्रीराधापदकिङ्करी किशोरी की भावना स्थिर होने के साथ ही अखण्ड रसधारा बहने लगती है। जैसा कि

सत्प्रेमसिन्धमकरन्दरसौघधारा—
सारानजस्रमभितः स्रवदाश्रितेपु।
श्रीराधिके तव कदा चरणारविन्द
गोविन्दजीवनधानं शिरसा वहामि॥

इत्यादिमें निर्देश किया गया है। वहाँ अखण्डरसास्वाद के लिये नाट्य (रासलीला आदि) या काव्य (वाणी पाठ आदि) की अपेक्षा नहीं रहती। नाटय और काव्यद्वारा भी इस रस का आस्वाद होता है किन्तु उसमें भी किङ्करी भावापन्न रसिकों की रसस्थिति अन्य सामाजिकों से कुछ विलक्षण होती है।

श्रीरूप गोस्वामी आदि भक्तिरसिकों को रसप्रक्रिया में श्याम सुन्दर प्रीति का विषय होते हैं और श्रीराधासहित समस्त गोपीजन प्रीतिका आश्रय हैं। फिर वहाँ प्रेम

के कृष्ण की उपासना नहीं अपि तु कृष्ण के प्रेम की उपासना है अतः इनके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य नाम पाँचों भक्तिरसों से भी यह सर्वथा विलक्षणि है। श्रीरूप गोस्वामी के दास्य भक्तिरस के आश्रय अन्य हैं, सख्यभक्तिरस के अन्य। वात्सल्य भक्ति के कोई अन्य हैं तो माधुर्य भक्ति रस के कोई अन्य। किन्तु श्री हिताचार्य महाप्रभु की रसरीति में दास्य, सख्य और वात्सल्य तीनों का आश्रय समस्त किङ्करीभावापन्न किशोरी आत्माएँ हैं और विषय मुख्यतया श्रीराधाजी इनकी प्रियस्वामिनी हैं उन के सम्बन्ध से ही श्यामसुन्दर प्रियतम हैं अतः वे भी दास्य, सख्य और वात्सल्य के विषय बन जाते हैं। माधुर्य जो यहाँ परम रहो माधुर्य है उसका आश्रय केवल श्याम सुन्दर हैं और विषय केवल श्रीराधा।

श्रीहिताचार्यमहाप्रभु की इस रसरीति का दर्शन उनके संस्कृतमय और व्रजभाषामय वाङ मय में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। उनके संस्कृत वाङ्मय में श्रीयमुनाष्टक और श्रीराधारससुधानिधिस्तव (प्रस्तुत ग्रन्थ) उपलब्ध हैं तथा व्रजभाषा-वाङ्मय में श्रीमुखपत्रीद्वय (गद्य) स्फुट वाणी और श्रीमच्चतुरासी जी (पद्य) का समावेश होता है। श्रीयमुनाष्टक अति प्रसिद्ध है, बृहत्स्तोत्र रत्नाकर में भी इसका संकलन किया गया है।

श्रीराधारससुधानिद्धिस्तव भी श्रीहिताचार्य महाप्रभु की कृति है अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा। श्री राधारससुधानिधिस्तव में २७० पद्य हैं। यह स्तोत्र विभिन्न भावतरङ्गों का एक समुच्चय है। इन भावतरङ्गों केही कारण यह सुधानिधि बन गया है। अपने 'रस राधायामाभजति किल भावं व्रतमणौ' इस दृष्टि कोण के कारण श्रीहिताचार्य महाप्रभु श्रीराधा में रस का और श्री श्याम में भाव का भजन करने के अभ्यस्त हैं।

इसे अलङ्कारशास्त्री मुक्तककाव्य या गीति काव्य कहते हैं। रसिकभावुकजन इन मुक्तकों में भी सम्बन्ध योजना करते हैं जिससे कहीं कहीं प्रबन्धात्मकता आ जाती है, और वे पृथक् पृथक् प्रबन्ध भी निर्दिष्ट सम्बन्ध योजना द्वारा इसे प्रबन्ध काव्य का सा स्वरूप दे देते हैं। प्रबन्ध काव्य हो जाने पर यह दो भागों में बिभक्त हो सकता है, मेघदूत के पूर्वमेघ और उत्तरमेघ के समान इसमें भी पूर्वार्ध और उत्तराध नाम से दो भाग कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्वार्धमात्र है।

श्रीराधा रस सुधानिधिस्तव पर संस्कृत व्रजभाषा और हिन्दी में पद पदार्थ शैली पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं कुछ मुद्रित भी हुई हैं किन्तु रसिकवर श्रीहरिलाल व्यास की इस स्तोत्र पर लघु, मध्य, बृहद् भेद से तीन व्याख्याएँ सुनी जाती हैं। वस्तुतः शेष दोनों व्याख्याएँ बृहत् का ही संक्षेप अति संक्षेप हैं। इस व्याख्या का नाम रसकुल्या है। श्रीराधारससुधानिधि स्तव एक अगाध और अपार सिन्धु सा है, जो समर्थ रसिकों के लिये भी दुर्गम है इसे सुगम बनाने के लिये, इस रस को रसिकजनभोग्य बनाने के लिये श्रीहरिलाल व्यास जी ने इस व्याख्या की रचना की है, यह व्याख्या क्या है पूरा भाष्य है। स्वयं रसकुल्या व्याख्या ही स्वरूपतः, इस भाव को पुष्टि करती है।

श्रीहरिलालव्यासकृताया रसकुल्याया

मङ्गलाचरणम्

(आर्यादशकम्)

जयति श्रीहरिवंशः करुणावरुणालयः स्वशरणेषु ।
राधासुरससुधाब्धिः प्रादुर्भूतो हि यद्वदनचन्द्रात्[१] ॥१॥
जयति श्रीमद्वंशो युगलसुधासारवर्षिसन्नादा ।
प्रियकरलानाप्येषा दीव्यति राधामुखाब्जकलहंसी ॥२॥
श्रीवृषभानुकिशोरी-हितमयमूर्तिः सखीरूपा ।
सेवातत्परसचिवा ध्यायाम्यनुगतिमहं सदा तस्याः ॥३॥
श्रीमद्राधावल्लभभजनसुधामाधुरीधुरीणाय ।
श्रीमद्धितकुलमण्डनरूपसुताय गुरवे नमः सततम् ॥४॥
प्रेमरसामृतमूर्ती तादृशललितालिपुञ्जकुञ्जेषु ।
रममाणौ हितलब्धौ जयतस्तौ दम्पती नाथौ ॥५॥
व्रजबहुदलपरिपूर्णं वृन्दावनकर्णिकाधाम ।
सच्चित्सौख्यसरोजं मधुपतिलीलं सदा वन्दे ॥६॥
अङ्कीकृतवनराजां वन्दे कृष्णां समानरसराजाम् ।
स्मृतिरतिदायकसरितां[२] युगलक्रीडासुगन्धसंवलिताम् ॥७॥
श्रीवृन्दावनभावुकरसिकान्वन्दे ललामसदृशांस्तान् ।
यत्पदरजसः शुद्धिं भजते नीचोऽपि सरसतां मादृक् ॥८॥
राधावदनसुधाकरसमुदितकल्लोलमालया ललितः ।
कर्कशरसतिमिरहितो रसमयराधासुधानिधिर्जयति ॥९॥
तद्रसनिधिसन्दर्शनतजातद्रवपल्वलान्मम हृदयात् ।
स्रवतीयं रसकुल्या व्याख्या भूयात् सहृदयपानाय ॥१०॥

१—(कंजात्) २—(सलिलां)

श्रीराधारससुधानिधिस्तव की

रसकुल्या व्याख्या का

मङ्गलाचरण

(आर्यादशक)

१, अपनी शरण में आये हुए रसिकजनों के लिये करुणा के सागर श्रीहित हरिवंश महाप्रभु सब की अपेक्षा उत्कर्ष से विराजमान हैं, जिनके मुखचन्द्र से 'श्रीराधारससुधानिधि' प्रकट हुआ है।

२. युगल प्रेम के अमृत की फुहारें बरसाने वाली है मधुर ध्वनि जिसकी, ऐसी श्रीश्यामसुन्दर की वंशी भी सब की अपेक्षा उत्कर्ष से विराजमान है क्योंकि यह हरिवंशी प्रियतम के कर कमलों में रहती हुई भी श्रीराधा जी के मुख कमल में बैठी कल हँसी के समान क्रीड़ा करती है या सुशोभित होती है।

३. श्रीवृषभानु किशोरी जी के हित (मङ्गलमय प्रेम) की मूर्तिस्वरूपा हितसखी जी की सभी सचिवाएं प्रियाप्रियतम की सेवा में तत्पर हैं, अतः मैं सदा उन्हीं हितसखी जी की अनुगामिनी होने का चिन्तन करती हूँ।

४. श्रीराधावल्लभलाल जी के भजनामृत की मधुरता को धारण या वहन करने वाले श्रीहितकुलमण्डत श्रीकिशोरीलालजी महाराज (अपने) गुरुदेव को सदा नमस्कार हो।

५. प्रेम रसरूपी अमृत ही जिनकी मूर्ति है, वैसे अलौकिक और सुन्दर सखियों वाले कुञ्जपुञ्जों में लीला करते हुए, हित से सुलभ, वे मेरे प्राणनाथ प्रियाप्रियतम (दम्पती) सब की अपेक्षा उत्कर्ष से विराजमान हैं।

६. व्रजरूपी अनेक दलों से परिपूर्ण वृन्दावन धाम रूपी कर्णिका वाले सच्चिदानन्द कमल की मैं सदा वन्दना करता हूं जिसमें मधुपति (श्यामसुन्दर) नित्य भ्रमर के समान लीला कहते हैं।

७. वनराज श्रीवृन्दावन को गोद में ले लेने वाली, मान सहित रसराज (शृङ्गार) वाली, श्रीयमुना जी को मैं वन्दना करता हूँ जो प्रिय प्रियतम को स्मृति और प्रीति को देने वाली नदी है तथा जो युगल क्रीड़ा के कारण उनके श्रीअङ्गों की सुगन्ध से संवलित (युक्त) है।

८. मैं श्री वृन्दावन के भावुक रसिकों की वन्दना करता हूँ जो मुकुट के समान शिरोधार्य हैं, जिनके चरणों की रज से मेरे जैसा अधम पुरुष भी पवित्रता पा कर और सरलता प्राप्त कर लेता है।

९. श्रीराधा जी के मुखचन्द्र के संपर्क से उठ रही तरङ्गमालाओं से मनोहर यह रसमय राधासुधानिधि सब की अपेक्षा उत्कर्ष से विराजमान है जो समुद्र होता हुआ भी वीर करुणादि कर्कश रसरूपी तिमि, तिमिङ्गिल, तिमिङ्गिलगिल आदि से रहित है।

१०. उस रसनिधि के सम्यक् दर्शन से जिसमें द्रवीभाव उत्पन्न हो गया है अतएव जो एक झील बन गया है ऐसे मेरे हृदय से बहती हुई यह रसकुल्या (रस की नहर) नामक व्याख्या सहृदय भावुकों द्वारा पान करने योग्य हो।

अनुष्टुभामशीतिः (विनयः)

क्वाहं जडतुच्छमतिः[1] क्वचाद्भुतमहारसः ।
तं वाचा स्प्रष्टुमिच्छामि प्रेरकः कोऽपि दृश्यते ॥११॥
प्रेरकोऽपि समर्थोऽयं विवेकनिधिरेव च ।
मयि नीचे कृपाकार्यात्[2] स्वैश्वर्यं ख्यातुमुद्यतः ॥१२॥
अन्यथा वेदशास्त्रादिपरिष्कृतप्रतिभेषु किम् ।
न कृतं प्रेरणं बुद्धेर्मन्द एव हि मार्गितः ॥१३॥
यथा श्रीशुकचिन्नुन्ना अभिनेदुर्द्रुमास्तथा ।
न जडस्य मम प्रौढिर्यथातत्प्रेरणं ब्रुवे ॥१४॥
शकुनग्रहणे केचिद् बालबालिशमार्गिणः ।
तद्वाक्येनैव सदसद्बोधः किं स्यान्महत्स्वहो ॥१५॥
असत्कार्ये प्रवर्तन्ते स्वयं संसारिणो नराः ।
अनाद्यविद्यासंश्लिष्टा अप्येषामीशनोदनम् ॥१६॥
सत्प्रवृत्तिरहो जीवे स्वतन्त्रा कथमुच्यते ।
अतो नाहङ्कृतिर्मेऽस्ति प्रेरिते नैव दूषणम् ॥१७॥
तत्रापि श्रीगुरोराज्ञा जातौत्सुक्यकरा मम ।
निःसाधनफलख्यातिं सैव पुष्णातु चात्मनः ॥१८॥
बालमूढप्रमत्तानां वाक्ये सारैकभागिनः ।
नन्दन्तु सन्त एषोऽपि रससिन्धुदिशं श्रितः ॥१९॥
स्वमूढताज्ञानमपि जातं सत्कृपयैव हि ।
अतो जाने प्रमादेनायथावद् रसवर्णनम् ॥२०॥
किं कुर्यामस्थिरो बाल्यादशक्तो वाग्विडम्बकः ।
गृह्णीतः पितरौ हार्दं नाशुद्धि बालभाषिते ॥२१॥

---

१. जडस्तुच्छमतिः । २. कृपां कृत्वा ।

'विनयाशीति'

११. मैं तुच्छमति जड़ जीव कहाँ और अद्भुत महारस (रहोमाधुर्यरस) कहाँ ? तो भी मैं उस महारस को वाणी से छूना चाहता हूँ ऐसा ज्ञात होता है कि मेरे पीछे कोई प्रेरक है।

१२. वह प्रेरक भी समर्थ है और विवेक का सागर है जो मुझ नीच पर कृपा करके अपना ऐश्वर्य प्रकट करना चाहता है।

१३. अन्यथा वेदशास्त्र आदि का परिष्कार करने वाली जिनको प्रतीभा है, उनकी बुद्धि को प्रेरणा क्यों नहीं दी, मुझ मन्दमति को ही क्यों ढूँढा।

१४. जिस प्रकार श्रीशुकदेव के चैतन्य से प्रेरित हुए वृक्षों ने प्रतिध्वनि की थी, मुझ जड़ पुरुष को तो वैसी भी प्रौढि नहीं है, इसी से मैं उनकी प्रेरणा की बात कहता हूँ ?

१५. कई लोग शकुन का पता लगाने के लिये बालकों या बालिशों (मूर्खों) को ढूँढा करते हैं, और उनके वाक्य से ही सत्य या असत्य का ज्ञान पाते हैं, महान् पुरुषों के वाक्यों से नहीं ? ऐसे ही रसिक जन मेरे वाक्यों से रसास्वादन प्राप्त करेंगे।

१६. अनादि अविद्या से संश्लिष्ट हुए संसारी मनुष्य स्वयं ही असत् कार्यों (बुरे कामों) में प्रवृत होते हैं क्या उनको अदृष्ट ईश्वर की प्रेरणा प्राप्त है।

१७. असत् प्रवृति में मनुष्य स्वतन्त्र होते हैं, सत्प्रवृत्ति जीव में स्वतन्त्र कैसे कही जा सकती है अतः मेरे मन में कोई अहङ्कार नहीं है प्रेरित व्यक्ति में कोई दोष भी नहीं होता।

१८. उस पर भी श्रीगुरु (गोस्वामी श्रीहितकिशोरीलाल जी महाराज) की आज्ञा मेरे मन में उत्सुकता बढ़ाने वाली हुई है, वही गुरु-आज्ञा अपनी बिना साधन के फल की प्राप्ति कराने वाली कीर्ति को पुष्ट करे।

१९. बालकों, मूर्खो और पागलों के वाक्यों में से भी केवल सार-सार ले लेने वाले सत्पुरुष आनन्दित हों और मैं भी रससिन्धु (श्रीराधासुधानिधि) की दिशा में चलूँ।

२०. मुझे मेरी अपनी मूढता का ज्ञान भी सत्पुरुषों की ही कृपा से हुआ है, इसी लिये जानता हूँ कि प्रमाद से यथावत् रस नहीं वर्णन हो सकता।

२१. तो फिर मैं क्या करूँ ? बचपन के कारण मैं अशक्त हूँ, वाणी की विडम्बना करने वाला हूँ तो भी मैं एक बात जानता हूँ कि माता पिता बालक के कथन का अभिप्राय ले लिया करते हैं और उसकी अशुद्धियों पर ध्यान नहीं देते।

ननु पूर्वैरपि प्राज्ञैर्व्याख्या नैव कृता कथम् ।
प्रवृत्तैरपि चापूर्णा स्वामीच्छाऽत्र निवारणे ॥२२॥

करणेऽपि तदिच्छा स्यान्न प्रयोज्यो नियामकः ।
यदिच्छातोऽप्रवृत्तिः स्यात्प्रवृत्तिश्च तदिच्छया ॥२३॥

प्रवृत्तीच्छा कथं ज्ञेया यदि व्याख्यैति पूर्णताम् ।
कुर्वाणचित्तं विघ्नेभ्यश्चाश्लथं तत्प्रमाणकम् ॥२४॥

अतः सन्तो न कर्तव्या मयि निर्बन्धयुक्तयः ।
ज्ञेयमित्येष संलग्नो येन केन महद्रसे ॥२५॥

करुणासिन्धवः पूर्णाः परमार्थैकजीवनाः ।
वृन्दावनविहारीन्दुचकोरीकृतलोचनाः ॥२६॥

अमानिमानदातारः स्वरसे मग्नमानसाः ।
शरणागतकर्तव्ये यन्न्यूनं तत्प्रपूरकाः ॥२७॥

मलये पिचुमन्दादीन् सुगन्धयति चन्दनम् ।
प्रेक्षते नैव कटुतां तथा साम्यं चिकीर्षवः ॥२८॥

आश्वास्य च समुत्साह्य मनः संवर्द्ध्य भावतः ।
परीक्ष्य वीक्ष्य कृपया स्वरसं धर्तुमर्हत ॥२९॥

हा प्रिये करुणासिन्धो मयि दीने कृपां कुरु ।
येन त्वद्रसभावाब्धिलवमास्वादयाम्यहम् ॥३०॥

लोकरीत्यापि यद् वक्ष्ये शाखया चन्द्रमुद्दिशन् ।
अपि त्वत्कृपया स्फूर्तिः स्यान्मे किञ्चिन्न साधनम् ॥३१॥

जयति श्रीमती श्यामा कृपापूर्णार्द्रलोचना ।
श्रीकृष्णवल्लभा राधा राधिका कृष्णवल्लभा ॥३२॥

२२. यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तुम से पूर्व विद्वानों ने व्याख्या क्यों नहीं की, जिन महानुभावों ने प्रारम्भ भी की उनकी व्याख्या पूरी क्यों नहीं हुई, इसका एक-मात्र यही उत्तर है कि उनको व्याख्या से निवारण करने वाली स्वामी की ही इच्छा है।

२३. व्याख्या करने में भी उनकी ही इच्छा कारण होती है और उसे रोकने में भी, प्रयोज्य या दास को नियामक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस की इच्छा से अप्रवृत्ति या निवृत्ति होती है उसी की इच्छा से प्रवृत्ति भी होती है।

२४. उनकी प्रवृत्ति कराने की इच्छा है यह कैसे जाना जाए ? इसका उत्तर है कि यदि व्याख्या पूर्ण हो जाए तो समझा जाना चाहिये कि उनकी इच्छा थी। दूसरे व्याख्या करने वाले का चित्त भी प्रमाण है, यदि वह विघ्नों के आने पर भी शिथिल नहीं होता।

२५. अतः सत्पुरुषों को मुझ पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, इतना ही जानना चाहिये कि जिस किसी अदृष्ट की प्रेरणा से ही मैं इस महाबुद्धियों के रस की व्याख्या में संलग्न हुआ हूं।

२६. वे महाबुद्धि रसिक जन करुणा के सागर हैं, परिपूर्ण हैं और परमार्थ ही उनका जीवन है। श्री वृन्दावनविहारी के मुखचन्द्र के लिये उन्होंने अपने नेत्र चकोर बना रखे हैं।

२७. वे स्वयं मान नहीं चाहते दूसरों को मान देते हैं, वे इस अपने रस में ही मग्नमानस रहते हैं और शरणागत के कार्य में जो न्यूनता रह जाती है उसकी पूर्त्ति कर लेते हैं।

२८ मलयाचल पर नीम आदि वृक्षों को जिस प्रकार चन्दन सुगन्धित कर देता है वह उनके कड़वेपन आदि दोषों को नहीं देखता वैसे ही शरणागत को अपने समान बना लेने की इच्छा वाले ये सत्पुरुष भी शरणागतों के दोषों को नहीं देखते।

२९. ऐसे सत्पुरुष आप रसिकजन आश्वासन देकर मन को प्रोत्साहित करके और भाव (स्नेह) द्वारा बढ़ावा देकर, परीक्षा करके और कृपादृष्टि से देखकर इस व्याख्या में से अपने रस और भाव को ले सकते हैं।

३०. हे करुणासागर प्रियाजी, आप मुझ दीन पर कृपा करें जिससे आपके रस के भाव के सागर के लेशमात्र का स्वाद मैं भी ले सकूँ।

३१. लोकरीति से भी मैं जो कुछ कहूँगा उसको आप शाखा द्वारा चन्द्र का निर्देश करने के समान समझें क्योंकि आपकी कृपा से ही मेरे मन में कुछ स्फूर्ति होगी, मेरे पास आप की कृपा के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है।

३२. कृपा से परिपूर्ण होने के कारण जिनके लोचन कृपा-जल से आर्द्र हैं, वे लोकोत्तर शोभा और सौभाग्यशालिनी नित्यकिशोरी श्रीराधा (जो श्री श्यामसुन्दर द्वारा नित्य आराधित होती हैं अतएव जो) श्रीकृष्ण की वल्लभा हैं, और श्री राधिका (जो श्रीश्यामसुन्दर की नित्य आराधना करती हैं अतएव) श्रीकृष्ण जिनके वल्लभ हैं (आदि नामों वाली) सर्वोत्कर्ष से विराजमान हैं।

कृष्णहृत्कञ्जसद्भृङ्गी भृङ्गीकृतनिजप्रिया ।
कृष्णास्येन्दुचकोराक्षी चकोरीकृततद्दृशिः ॥३३॥

चञ्चच्चातकसच्चित्ता प्रियचातकपोषिका ।
घनकान्तोत्कशिखिनी शिखीभूतसदाप्रिया ॥३४॥

मिथ आसक्तिविषयौ मिथ आसज्यभावनौ ।
मिथः सौभाग्यभूषादिधरौ शुश्रूषणे रतौ ॥३५॥

मिथो विटौ च कितवौ धूर्तौ निलयने रतौ ।
मिथो मानैकनिपुणौ मिथोऽनुनयकोविदौ ॥३६॥

एवमैक्यरसत्वेऽपि विचित्रास्वादनाय हि ।
रूपाङ्गशीलवर्णश्रीकेलिलक्ष्मविलक्षणौ ॥३७॥

सदा हृदयसत्कञ्जे वृन्दारण्यैकभाविते ।
वसतां वृत्तिकुञ्जेषु न क्वचिद्गन्तुमिच्छताम् ॥३८॥

ललिता च विशाखा च चित्रलेखेन्दुलेखिका ।
तुङ्गविद्या चम्पलता रङ्गदेवी सुदेविका ॥३९॥

एता यूथेश्वरीयूथमुख्याश्च समवृत्तयः ।
सर्वविद्याधिकारेषु कुशलास्तत्सुखे पराः ॥४०॥

युगलेच्छानुसारिण्योऽप्रमत्तास्तद्रसोन्मदाः ।
युगलक्रीडना युग्मधनिका युग्मजीवनाः ॥४१॥

युग्माहम्ममताभारधुरीणा न्यस्तशङ्कनाः ।
अखण्डप्रेमरसधौ निमज्योन्मज्जितोभयाः ॥४२॥

उभावपि हि निःशङ्कमहोरात्रगतस्मृती ।
मत्तौ विहरतः स्वैरं मदनोन्मत्तमादकौ ॥४३॥

मत्तगुञ्जालिपुञ्जालिमत्तकुञ्जाजिरान्तरौ ।
मत्तबर्हिनटोन्मत्तशुककोकिलकूजितम् ॥४४॥

३३. जो श्रीकृष्ण के हृदय-कमल की एक मात्र भ्रमरी हैं और श्रीकृष्ण जिनके हृदयकमल के अनन्य भ्रमर है, जिनके नेत्र श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के चकोर हैं तथा श्रीकृष्ण के नेत्र जिनके मुखचन्द्र के चकोर बने हुए हैं।

३४ जिनका चमत्कृत चित्त श्यामरूपी श्यामघन का चातक बना हुआ है तथा स्वयं कादम्बिनी बन कर जो प्रियतम (श्याम) रूपी चातक का पोषण करती हैं। जो श्याम-रूपी श्याम घटा के दर्शन से उत्कण्ठित हो उठी मयूरी हैं तथा जिनके घनघटा रूप को देख कर श्याम सदा मयूर बने रहते हे।

३५. इस प्रकार जो आपस में एक दूसरे के आसज्य (प्रेमका विषय) हैं और आसक्त (प्रेम का आश्रय) हैं, जो एक दूसरे के सौभाग्यसूचक वस्त्र आभूषणों को धारण कर लेते हैं और एक दूसरे की सेवा में परायण रहते हैं।

३६. जो एक दूसरे के लिये अपनी समस्त सम्पत्ति वार देने वाले विट हैं, शर्त लगाकर केलिकौतुक करने वाले कितव (जुआरी) हैं एक दूसरे से छिपने में कुशल हैं, एक दूसरे से मान करने (रूठने) में निपुण हैं एक दूसरे को मनाने की कला में कोविद हैं।

३७. इस प्रकार एकतारस या एक रस के रहने पर भी इसके विचित्र (अलौकिक) आस्वादन के लिये रूप, अङ्ग, शील, वर्ण, श्री, केलि और लक्षणों से विलक्षण (एक दूसरे से भिन्न) हैं।

३८. वे दोनों वृन्दावन की अनन्य भावना से भावित मेरे हृदय-कमल में सदा निवास करें और मेरी मनोवृत्तियों के निकुञ्जों में सदा क्रीड़ा करते हुए अन्यत्र कहीं भी जाने की इच्छा न करें।

३९. ललिता, विशाखा, चित्रलेखा, इन्दुलेखा, तुङ्गविद्या, चम्पलता, रङ्गदेवी और सुदेवी।

४०. ये आठों यूथेश्वरियों के यूथों में प्रमुख सखियाँ श्रीराधाकृष्णयुगल के साथ समान वृत्ति वाली हैं सम्पूर्ण विद्याओं के अधिकारों का पालन करने में कुशल हैं और प्रियाप्रियतम के सुख में सदा तत्पर हैं।

४१. युगल सरकार की इच्छा का सदा अनुसरण करती हैं, सदा सावधान रहती हैं और युगलरस के आस्वादन से मदमत्त-सी हुई रहती हैं, युगल के साथ खेलती हैं, युगल को अपना धन मानती हैं और युगल को अपना जीवन-प्राण समझती हैं।

४२. युगल सम्बन्ध से अहन्ता और ममता के भावों का भार लिये रहती हैं, सभी शङ्काओं को त्यागकर अखण्ड प्रेमरस के सागर में स्वयं गोते खाती हुई युगल को उसमें से बाहर निकालती हैं (यदि युगल उस प्रेमरस सागर में मग्न ही रहें तो लीला कैसे हो)।

४३. तभी प्रियाप्रियतम (युगल) रात दिन निःशङ्कभाव से और सभी बातें भूले रहते हैं केवल प्रेम से मत्त और काम से उन्मत्त होकर समस्त परिकर को मदमत्त करते हुए स्वतन्त्र विहार करते हैं।

४४. (इसके वाद रसकुल्याकार श्री हरिलाल व्यास जी ने श्री वृन्दावन चन्द्र की वन्दना की है, वे लिखते हैं—) मदभरी गुञ्जन वाले भ्रमर पुञ्जों की पंक्तियों से मदमत्त से होरहे हैं कुञ्ज और उनके प्राङ्गणभाग जिस (वृन्दावन) में, मतवाले मोर जहाँ नट की भाँति विविध नृत्य करते हैं और जहाँ उन्मत्त हुए शुक-कोकिलों का मदभरा कूजन हो रहा है।

मत्तवल्लीवलद्वृक्षं मत्तपुष्पफलैर्वृतम् ।
मत्तकालिन्दिकल्लोलं मत्तमारुतसेवितम् ॥४५॥

मत्तेन्दीवरहेमाब्जपरागमधुसौरभम् ।
मत्तशब्दस्पर्शगन्धरसरूपज्ञताक्रियम् ॥४६॥

रसमत्तध्येयसेव्यगम्यगेयगुणाकरम् ।
महाश्चर्यमहोदारं महामाधुर्यवैभवम् ॥४७॥

यद् दृष्ट्वा माद्यतो मत्तौ साधुसाधुप्रशंसकौ ।
नवक्रीडाकलोदेति प्रेमवैचित्त्यसम्भवा ॥४८॥

तच्छ्रीवृन्दावनं वन्दे मत्तागमसमीडितम् ।
रूपक्रीडैकमाध्वीक-निपानाजिरमुत्तमम् ॥४९॥

वृन्दावनविधुं वन्दे यमुनापरिवेषिणम् ।
गौरश्यामसखीवृन्दलीलापीयूषवर्षिणम् ॥५०॥

तादृशांस्तद्रसोन्मत्तान् वन्दे सर्व्वसखीजनान् ।
उभयप्रेमकेलीच्छारससिद्धैकविग्रहान् ॥५१॥

तत्समष्टिस्वरूपं श्रीहितरूपं सदा भजे ।
एकं चैवानेकरूपं वाह्याभ्यन्तरसंस्थितम् ॥५२॥

सख्यदास्यस्निग्धमौग्ध्यवैदग्ध्यरसभावितम् ।
शृङ्गारवलितं यस्य वात्सल्यावलिशोभनम् ॥५३॥

दक्षिणं राधिका नेत्रं वामञ्च रसिकेश्वरः ।
समेऽपि रसवैचित्र्याद् गौरं पुष्णाति पक्षकम् ॥५४॥

यदाभिलाषवैचित्रीसिन्धुकल्लोलितं मनः ।
कदा ममैवं भविता हाहा हरिहरीत्यहो ॥५५॥

४५. जहाँ मतवाली लताओं से वृक्ष लिपट रहे हैं, और जो मदभरे पुष्पों और फलों से परिवेष्टित है। जहां श्रीयमुना की तरङ्ग भी मदमत्त सी प्रतीत होती हैं, और जो (श्री वृन्दावन) मदभरे शीतल, मन्द सुगन्ध पवन से सेवित है।

४६. जहाँ मतवाले नीलकमल और सुवर्ण कमल के पराग और मधु की सुगन्ध फैल रही है। जहाँ शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस और रूप के अनुभव से होने वाली क्रियाएं भी मतवाली हैं।

४७. जो (श्री वृन्दावन) प्रेम रस से मतवालों द्वारा ध्येय, सेव्य, गन्तव्य और गाने योग्य गुणों की खान है, जो महान् आश्चर्यों से भरा है परम उदार है तथा महा माधुर्य जिसका वैभव है।

४८. जिसको देख देखकर मतवाले प्रियाप्रियतम परम प्रमोद पाते हैं, और साधु साधु कह कर जिसकी स्तुति गाते हैं। जिस श्री वृन्दावन में प्रियाप्रियतम की नित्य नवीन क्रीड़ाएँ और कलाएँ प्रेमसे प्राप्त विचित्तता अवस्था के कारण प्रकट हुआ करती हैं।

४९. मैं उसी श्री वृन्दावन की वन्दना करता हूँ, जिसकी मतवाले आगम शास्त्र महिमा गाते हैं, जो प्रियाप्रियतम के रूप तथा क्रीड़ारूपी मद्य का पान करने के लिये एक उत्तम आँगन है।

५०. मैं श्री वृन्दावनरूपी चन्द्र की वन्दना करता हूँ जिसके चारों ओर यमुना का परिवेष (मण्डलक) है और जो गौर प्रिया, श्याम प्रियतम तथा उनके सखीवृन्द की क्रीड़ाओं का अमृत बरसाने वाला है।

५१. जैसा लीलापीयूषवर्षी वृन्दाबनधामरूपी चन्द्र है वैसे ही सखीजन भी हैं, जो प्रियाप्रियतम के प्रेमरस से उन्मत्त हैं, उन युगल सरकार की प्रेमकेलि की इच्छा के रस से सिद्ध या निष्पन्न स्वरूप वाले समस्त सखीजनों की मैं वन्दना करता हूँ।

५२. प्रिया प्रियतम, वृन्दावन और सखीजन के समिष्ट स्वरूप श्रीहितरूप महाप्रभु श्रीहरिवंश जी का मैं सदा भजन करता हूँ, जो एक होते हुए भी अनेक रूप हैं और बाहर अन्दर उभयत्र स्थित हैं।

५३. दास्य, सख्य, स्नेह, मोह और चातुर्य या वैदग्ध्य रस से भावित और शृङ्गार रस से आवेष्टित वात्सल्यादि भाव से अति सुन्दर—

५४. श्री राधिका जिनका दक्षिण नेत्र हैं और श्री रसिकेश्वर (श्यामसुन्दर) वामनेत्र हैं, दोनों के प्रति समभाव रखते हुए भी जो रसवैचित्र्य के कारण गौर पक्ष (श्री राधिका जी) का अधिक पोषण करते हैं।

५५. जिनका मन अभिलाषाओं की विचित्रता रूपी समुद्र की कल्लोलों से कल्लोलित है, अतएव जो कह उठते हैं 'हा हा ! हरि हरि !' मेरे लिये ऐसा अवसर कब होगा यहाँ तक आचार्य स्वरूप की वन्दना की।

क्वाहं मूढेति वदती प्रेमवैचित्यवैभवे ।
किं रे धूर्तेति माद्यन्ती प्राणप्रियतमौ रहः ॥५६॥

प्राणनाथप्रसादेऽपि नेच्छन्ती तत्कृतादरम् ।
केवलस्वामिनीपादपद्ममाध्वीमधुव्रता ॥५७॥

यस्यां चाटुप्रियो वक्ति काकुवाणीं सदा रहः ।
तत्सहायेन भविता मन्मनोरथपूरणम् ॥५८॥

संभ्रमे स्वामिनी यस्यै कुर्यात्सात्मनिवेदनम् ।
सा तदाश्वास्य हसति कदा त्यक्ष्यसि मुग्धताम् ॥५९॥

कदापि हठतो यायान्न प्रियाङ्के प्रिया यदा ।
अत्याग्रहेण तत्पाणिं प्रगृह्य शयनं नयेत् ॥६०॥

एवं या रसभारैकधुरीणा हितरूपिणी ।
उभयोर्धनसारैक-रसधारक-गुंजिका ॥६१॥

युग्म-कर्णावतंसैक-वचनामृत-वैभवा ।
वंशीरूपेण वदने संलग्ना रसवर्षिणी ॥६२॥

दम्पत्योरन्तरङ्गज्ञा निकुञ्जीकृतलोचना ।
निमेषविरहेऽपि स्यान्मूर्छिता तप्तमानसा ॥६३॥

सदा संयोगसुखिनी रसवैचित्र्यसाधिका ।
वृन्दावनेश्वरीमुख्यसचिवा सहचारिणी ॥६४॥

वन्दे गुरुतमां भावमूर्ति भाववनीयसीम् ।
सकृत्कुर्यात्कृपावृष्टिं यया भावाङ्कुरोदयः ॥६५॥

सदानन्दघनज्योतिर्द्वन्द्वैकहितमूर्तये ।
नमः श्रीहरिवंशाय कृपाव्यक्तिमुपेयुषे ॥६६॥

५६. जो प्रेमवैचित्य के प्रभाव में 'हितसखी' भाव से 'मैं मूढ़ा कहाँ' इत्यादि बोलने लगते हैं। प्राणों से भी प्यारे प्रियाप्रियतम को एकान्त में आनन्दित करती हुई हितसखी के भाव में जो 'अरे धूर्तशिरोमणि ! क्या तू ?' इत्यादि साधिकार वचन श्यामसुन्दर से कहने लगते हैं।

५७. जो (श्रीहितसखी) प्राणनाथ (श्यामसुन्दर) की प्रसन्नता के क्षणों में भी उनकी ओर से प्राप्त सत्कार पुरस्कार को न चाहती हुई केवल स्वामिनी (श्री राधिका) जी के ही चरणकमलों के मकरन्द की मधुकरी बनी रहती हैं।

५८. जिन श्री हितसखी जी के प्रति प्रियतम (श्यामसुन्दर) चाटु और काकु (प्रिय और दैन्यपूर्ण) वचन बोलते हैं और मानते हैं कि इनकी सहायता से ही मेरे मनोरथों की पूर्ति होगी।

५९. सम्भ्रम के समय स्वामिनी (श्री राधिका) भी जिनके सामने अश्रुपूर्ण नेत्र होकर निवेदन करती हैं, और वे (श्री हितसखी) उनको आश्वासन देती हुई कहती हैं—प्रिया जी, आप यह भोलापन कब छोड़ेंगी।

६०. यदि कभी प्रिया जी हठवश प्रियतम (श्यामसुन्दर) के पास नहीं जातीं तो बड़े आग्रह के साथ उनका हाथ पकड़ कर (जो हितसखी जी) उन्हें शयनकुञ्ज में ले जाती हैं।

६१. इस प्रकार जो वनविहार रस के समस्त भार को उठाए हुई हित (तत्त्व) स्वरूपा श्री हितसखी हैं जो प्रियाप्रियतम दोनों के घनसार (घने सार वाले या कपूर) जैसे एकरस को धारण करने वाली गुंजिका (कुञ्जी या लवग आदि साधन) हैं।

६२. जिनका वचनामृत रूपी वैभव प्रियाप्रियतम दोनों के कानों में एक अवतंस के समान सुशोभित होता है (यहाँ तक श्री हितसखी रूप की विनय की) जो प्रियतम के मुख कमल में वंशी रूप में लग कर अपूर्व रस की वृष्टि करती हैं (यह वंशी रूप का स्मरण किया)।

६३. (फिर श्री हितसखी रूप की ही वन्दना करते हैं) जो हितसखी प्रियाप्रियतम दोनों के मन की बात को जानती हैं, जिनके नेत्र प्रियाप्रियतम के केलि कौतुक के लिये कुञ्जनिकुञ्ज बन गये हैं, जो उनके एक पल भर के विरह में भी संतप्तचित्त होकर मूर्छित हो जाती हैं।

६४. जो सदा उनके परस्पर संयोग के सुख से ही सुखिनी हैं और उनके लिये रसवैचित्र्य की साधिका हैं, वृन्दावनेश्वरी (श्री राधा) जी की मुख्य मन्त्रिणी और सहचारिणी (सहेली) हैं।

६५. इन गुरुओं की गुरुभूता, भाव के कारण पूजनीया भावमूर्ति (श्री हितसखी जी) की मैं वन्दना करता हूँ। वे एक बार मुझ पर कृपा की वृष्टि कर दें, जिससे मेरे हृदय में भावांकुर उग आवे।

६६. (पुनः आचार्य स्वरूप की वन्दना करते हैं—) सदा आनन्दघन ज्योतिः-स्वरूप प्रियाप्रियतम युगल के मङ्गलमय प्रेम (हित) की एक मूर्ति श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की मैं वन्दना करता हूँ, जो कृपावश आचार्य रूप में प्रकट हुए हैं।

मत्समो नाधमो लोके नास्ति त्वत्सम उत्तमः ।
नीचेऽपि मयि सद्दृष्ट्या स्वैश्वर्यं ख्यातुमर्हसि ।।६७।।

हा-हा ममकदा भूयादार्तिप्रोज्जृम्भणं हृदि ।
अजातपक्षा[1] इति वत्तदभावे कथं कृपा ।।६८।।
नार्त्ति विना रुचेर्जन्म नासक्तिः प्रेमसम्भवः ।
न सेव्यध्येयककुभः स्फूर्तिर्नैव च नैव च ।।६९।।

अविद्यालोलुपं मूढमसत्तर्कपरायणम् ।
भवदीयत्यक्तसङ्गं कुर्व्वाणं नैव साधनम् ।।७०।।
संसारसिन्धुसम्मग्नं कामग्राहजिघृक्षितम् ।
मामुद्धर हरेवंश हरिवंश निजाश्रितम् ।।७१।।
त्वद्गीतश्रीसुधासिन्धुतरङ्गलवलेशकम् ।
देहि-देहि पुनर्द्देहि याचकं[2] दीनमानसम् ।।७२।।
किञ्चिद्दिग्देशतो येन हार्द जानामि तेऽद्भुतम् ।
गुञ्जया मन्दरं विद्याद् विद्योतेनेव तैजसम् ।।७३।।
यत्किञ्चित्त्वत्कृपास्फूर्तिर्मद्गीर्नैव हि कारणम् ।
अतस्त्वत्साररसदां शारदां धेहि मन्मतौ ।।७४।।
येन शीघ्रं भवेद् व्याख्या पूर्तिः प्रत्यूहवर्जिता ।
अन्यथा वाक्यवैकल्यात्सम्पन्ना नैव जायते ।।७५।।
रसस्ते वर्णितं तेऽस्ति कर्तृकर्मप्रयोक्तृता ।
यशस्ते मम चैकं स्यादिगरा साफल्य[3]जीवनम् ।।७६।।

१—अजातपक्षा इव मातरं खगाः २—'याचिने दीनचेतसे'
३—'स्यात्सफलं जीवनं गिरः'

६७. मेरे जैसा संसार में कोई अधम नहीं है पर आप जसा संसार में कोई उत्तम नहीं है। अतः आप अपनी कृपारूपी सद्दृष्टि से मुझ नीच पर भी अपना (रसमय) ऐश्वर्य प्रकट कर सकते हैं।

६८. हा ! हा ! मेरे हृदय में आर्ति (दीनता रूपी व्यथा) का उदय कब होगा, 'अजातपक्षा इव मातरं खगा' अजातपक्ष पक्षी की सी अनन्य और दैन्यभरी स्थिति प्राप्त हुए विना उनकी कृपा कैसे प्राप्त हो सकती है।

६९. उस व्यथा के विना रुचि उत्पन्न नहीं होती, आसक्ति नहीं होती, प्रेम नहीं होता, उस सेवनीय या ध्येय इष्ट की दिशा की भी स्फूर्ति तब तक नहीं होती, कभी नहीं होती ।

७०. मैं अविद्या (सांसारिक सुखों) का लोभी हूँ, मूढ़ हूँ, कर्कश तर्क करने में तत्पर हूँ, आपके उपासक रसिक भावुकजनों के सत्सङ्ग से मैं वञ्चित हूँ, कुछ साधन भी नहीं कर पा रहा हूँ ।

७१. मैं तो संसारसागर में डूबा पड़ा हूँ और कामरूपी ग्राह से निगला गया हूँ। हे हरि की वंशीस्वरूप श्रीहरिवंश, केवल आपके चरणोंके आश्रित हूँ, आप मेरा उद्धार करें।

७२. आप के द्वारा गाये गये श्री राधासुधानिधिस्तोत्र रूपी सिन्धु की सुधातरङ्गों का एक लवलेश मात्र ही आप मुझ दीनमानस याचक को वार-बार दें।

७३. जिससे मुझे कुछ भी दिङ्मात्र का निर्देश मिल जाये तो मैं आपके अद्भुत हार्द (हृद्गत अभिप्राय) को जान जाऊँ, जैसे गुंजाभर सुवर्ण से सुमेरु का और प्रकाश से तेजस्वी पदार्थ के स्वरूप का अनुमान कर लिया जाता है।

७४. जो कुछ भी लिख रहा हूँ, वह आपकी कृपा से ही स्फुरित हो रहा है, इसमें मेरी वाणी कारण नहीं है। इस लिए मेरी बुद्धि में आपके सारभूत रस को देने वाली शारदा को बैठा दें, स्थापित कर दें।

७५. जिससे इस व्याख्या की पूर्ति शीघ्र हो सके, विघ्नों के बिना हो सके। अन्यथा मेरी वाक्यविकलता (बोलने की अशक्ति) से तो वह कभी भी सम्पन्न न हो सकेगी।

७६. यह रस आपका है, सरस वर्णन आपके हैं। इतना ही क्यों ? इस स्तोत्र के कर्ता आप हैं, स्तोत्ररूप कर्म भी आप हैं, और कर्ता को इस कर्म में प्रेरित करने वाले प्रयोक्ता भी आप ही हैं। अतः इस व्याख्या से यश भी आपका ही होगा, मुझे तो केवल एक फल चाहिए और वही मिलेगा कि मेरी वाणी का जीवन सफल हो जाएगा।

दुर्लभं किञ्चिदिच्छामि भाग्यं नैतादृशं मम ।
गायं गायमतो जन्म जानीयेय मया धृतम् ॥७७॥
'सकृदेव प्रपन्नोऽस्मि तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥७८॥'
'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'
इति श्रीमुखसतया गीर्विश्रुतेति विचार्य च ॥७९॥
सर्वसाधनहीनोऽपि सर्वानौचित्यसंयुतः ।
शरणोऽस्मीतिमात्रेण प्रत्यूहं जेतुमुद्यतः ॥८०॥
सर्वभावाप्तकामस्य दीनवाक्कातरस्य च ।
स्निग्धशीलस्य भवतः किमशक्यं वनीयसः ॥८१॥
नहि देवे परा भक्तिर्न गुरौ न च साधुषु ।
कथितार्थाः कथं दृश्या अपि लोलुपचेतसः ॥८१॥
ततोऽनुकम्पालेशेन मामूरीकर्तुमर्हसि ।
भवदुक्तिसुधा-सिन्धुव्याख्यालेशं समारभे ॥८३॥
शब्दार्थभावव्यङ्ग्यादि प्रमादाद्यदुदीरितम् ।
शोधयिष्यन्ति सुधियो गुणज्ञा रसभावुकाः ॥८४॥
अथात्र परिभाषेयं वर्ण्यते हि यथामति ।
ग्रन्थं विमृश्यैव कृता यत्सङ्केतान्न सम्भ्रमः ॥८५॥
संयोगविरहौ मानभ्रमौ भावरसौ तथा ।
अन्तरङ्गबहिर्लीले नित्यनैमित्तिके तथा ॥८६॥
स्वरूपधाममाधुर्यैश्वर्यादिगौणमुख्यता ।
साध्यसाधननिष्ठा स्व-भावपर्यवसानता ॥८७॥
एवं रसनिधौ ज्ञेया अर्थास्तत्स्वादनाय हि ।
येन भ्रमो न बाधेत निःशङ्कं पिबतां[1] सताम् ॥८८॥

१–'पिबतः सतः'

७७. मैं कुछ दुर्लभ वस्तु प्राप्त करना चाहता हूँ किन्तु मेरा भाग्य ऐसा नहीं है। मैं तो यह समझूँ कि मैंने उनके गुण गाते-गाते ही जन्म प्राप्त किया है।

७८. 'मैं एक ही बार शरण में आया हू और मैं तेरा हूं, यह याचना करते हुए को सब प्राणियों से अभय दान दे दिया करता हूं यह मेरा व्रत है।'

७९-८०. 'जो जिस भाव से मेरी शरण में आते हैं मैं उसी भाव से उनका सेवन करता हूँ।' यह श्रीमुख से निकली सत्यवाणी विख्यात है, यह विचार करके सभी साधनों से हीन होता हुआ भी और सभी अनौचित्यों से संयुक्त होता हुआ भी मैं केवल 'शरणागत हूं' इतने मात्र से सब विघ्नों को जीतने के लिए उद्यत हूं।

८१. सर्वभाव से आप आप्तकाम हैं तथा दीन वचन सुनने से घबराते हैं, आपका स्नेहमय स्वभाव है ऐसे आराधनोयतर के लिए कौन सी बात अशक्य या असम्भव है।

८२. जिसको देव में परमभक्ति नहीं, गुरु पर और साधुजनों पर वैसी प्रीति नहीं उस लोभी मन वाले को कहे गये रहस्यभूत अर्थों का दर्शन कैसे हो सकता है।

८३. इसलिए आप अपने कृपालवलेश से मुझे स्वीकार करने योग्य हैं, मैं आपकी उक्तिरूपी सुधासिन्धु की लेशमात्र व्याख्या (रसकुल्या) प्रारम्भ कर रहा हूँ।

८४. इस व्याख्या में मैंने जो प्रमाद से शब्द, अर्थ, भाव या व्यङ्ग्यार्थ आदि कहे हैं उनको गुणज्ञ, रसिकभावुक, सुधीजन ठीक कर लेंगे।

८५. अब यहां इस स्तोत्र की परिभाषा अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूं, मैंने ग्रन्थ का विचार करके ही यह परिभाषा लिखी है, जिसके संकेत से कोई भ्रम सम्भ्रम नहीं हो सकता।

८६-८७-८८. संयोग और वियोग, मान और भ्रम, भाव और रस, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लीला, नित्य लीला और नैमित्तिक लीला, स्वरूप, धाम, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि की गौणता तथा मुख्यता, साध्यनिष्ठा और साधननिष्ठा तथा स्वभाव का पर्यवासन होना इत्यादि सभी पदार्थ रस के आस्वादन के लिए ही रससुधानिधि में हैं, ऐसा जानना चाहिए, ऐसा जानकर निःशंकभाव से रसपान करते हुए सत्पुरुषों को भ्रम बाधा नहीं पहुंचायेगा।

अन्यथाब्धे रसस्यापि भीत्या पानविवर्जिताः ।
आचार्यकृतमित्युक्त्वा सेवादर्शनतत्पराः ॥८६॥
यादसां पतिसादृश्यान्नात्र कार्य्या विभीषिका ।
तितीर्षवोऽन्यत्र सन्तोऽप्यत्र मज्जनमिच्छवः ॥६०॥

परिभाषाप्रकरणम्

(सप्तषष्टिश्लोकात्मकम् ।)

अहो श्रीमत्सुधासिन्धो भूयो भूयो नमाम्यहम् ।
मादृशोऽप्यधमो मन्दो रसमास्वादयेत्तव ॥६१॥
[अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हामोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि ।
शुद्धप्रेमैकलीलानिधिरहह महातङ्कमङ्कस्थिते च,
प्रेष्ठे बिभ्रत्यदभ्रस्फुरदतुलकृपास्नेहमाधुर्यमूर्तिः
प्राणालीकोटिनीराजितपदसुषमामाधुरी माधवेन,
श्रीराधा मामगाधामृतरसभरिते कर्हि दास्येऽभिषिञ्चेत् ।]
अङ्कस्थितेऽपि दयिते शुद्धप्रेमैकपद्ययोः ।
प्रेमवैचित्त्यविरहभ्रान्तिर्न विरहोद्भवः ॥६२॥
[विच्छेदाभासमात्रादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ
चञ्चत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद् बाह्यमाभ्यन्तरं च ।
गाढस्नेहानुबन्धग्रथितमिव ययोरद्भुतप्रेममूर्त्योः
श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्द्वयं धाम जाने ॥]
विच्छेदाभासमात्रेति संयोगविरहान्वयः ।
विचार्य्यो भावरसिकैः प्रतिपद्यं न मुह्यताम् ॥६३॥
प्रेम्णः सूर्यपरीभाषा वैचित्त्यं दिनमुच्यते ।
यत्र क्षणं युगशतं दिनैक्ये किमु सम्भ्रमः ॥६४॥

८९. अन्यथा रसाब्धि के भय से पान से वञ्चित हुए वे इस स्तोत्र को 'आचार्य की कृति' मात्र मानकर इसकी सेवा पूजा और केवल दर्शन ही करते रहेंगे।

९०. सिन्धु (भयङ्कर जल जन्तुओं का पति) होता है इस सादृश्य से इस रससिन्धु से भय नहीं करना चाहिए क्योंकि जो सत्पुरुष अन्यत्र (संसार सागर आदि से) तर जाना चाहते हैं वे भी इस रससिन्धु में डूब जाने के लिए इच्छुक या उत्सुक हैं।

परिभाषा प्रकरण (६७ श्लोक)

९१. हे आश्चर्यमय शोभाशाली सुधासिन्धु मैं तुम्हें वार-बार नमस्कार करता हूं। जिससे मेरे जैसा मन्दमति अधम पुरुष भी तुम्हारे रस का आस्वादन कर सके।' अब परिभाषायें समझाते हैं।

९२. 'प्रियतम अङ्क में स्थित हैं तो भी अकस्मात् 'हा मोहन' 'हा मोहन' इस प्रकार का कोई विलक्षण मधुर प्रलाप करती हुई अनुरागमद से विह्वल हैं मनोमोहक अङ्ग जिनके, ऐसी श्यामाशिरोमणि–अवर्णनीय श्रीश्यामा–निकुञ्ज के सीमा प्रदेश में सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं।' इस श्लोक में और :—

'जो विशुद्ध प्रेमलीला की निधि और अत्यधिक स्फुरित हो रहे अतुल कृपापूरे, स्नेह और माधुर्य की मूर्ति श्रीराधा प्रियतम के अङ्क में स्थित रहने पर भी महान् आतङ्क (भय) को धारण करती हुई श्री श्यामसुन्दर द्वारा प्राणप्रिय कोटि कोटि सखियों के समर्पण से परिपूजित चरणसुषमा और माधुर्य वाली हैं, वे मुझे अगाध अमृतरस से भरे हुए अपने चरणों के किङ्करीभाव में कब अभिषिक्त करेंगी अर्थात् मुझे अपनी चरणकिङ्करी के रूप में कब स्वीकार करेंगी।' इस श्लोक में विरह नामक विप्रलम्भ शृङ्गार की सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह वास्तव में प्रेम के कारण वैचित्य-बेभान-सी-अवस्था है. जिसमें विरह की भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार :—

९३. 'अहहा! गात्रविस्रसन आदि के समय की प्रतीति सी होने से ही एक निमेष भर में जलती हुई प्रलयकाल की अग्नि के समान वियोग जिनका बाहर (शरीर) और अन्दर (हृदय) भी जल-सा जाता है। प्रगाढ़ स्नेहरूपी बन्धन में गुथे हुए उन अद्भुत प्रेममूर्ति श्रीराधा और माधव नाम वाले परम मधुर दो अवयवों वाले उस धाम को मैं जानता हूं।' इस श्लोक में भी वनविहार रस में संयोग और वियोग का सम्बन्ध प्रतीत होता है, किन्तु इसका भी रसिक भावुकों को विचार पूर्वक प्रतिपादन करना चाहिए, व्यामोह में या मिथ्याज्ञान में नहीं पड़ जाना चाहिए।

९४. श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की वाणी में सूर्य शब्द का अर्थ प्रेम है और उस प्रेमके उद्रेक में प्रिया प्रियतमके वैचित्त्य या बेभान स्थितिविशेष का हो जाना ही दिन है, जहाँ वियोग का एक क्षण ही सौ युगों के समान हो जाता है, वहां एक दिन में तो कितना सम्भ्रम न हो जायगा।

वैकल्यं प्रेमलहरी न दुःखं तत्र भावयेत् ।
प्रेमसिन्धुमयभ्रान्तौ का भ्रान्तिर्बहुवीचिषु ॥९५॥

शीतरश्मी रसो ज्ञेयः प्रेमोष्णकिरणस्तथा ।
रसोदयस्तदा रात्रिव्यवहारो न रात्रिता ॥९६॥

सदा रुचेर्न्नूतनता नवसङ्ग इतीरितः ।
पाणिग्रहानुकरणोत्सवान्तेऽपि नवीनता ॥९७॥

प्रियनिर्मिततल्पादि कुञ्जाभिगमनं यदा ।
अभिसारोऽत्र न प्रोक्तो न च विच्छेदसम्भ्रमः ॥९८॥

श्वस्तत्रैव हि रंस्यावो मनोज्ञे निभृते स्थले ।
इति दम्पतिसङ्केतः स सङ्केत इतीरितः ॥९९॥

विटो महालम्पटोऽत्र प्रियास्वादैकजीवनः ।
धूर्त्तेति कितवेत्यत्र वाम्यसख्यैकपोषकः ॥१००॥

[दृष्ट्या यत्र क्वचन विहिताम्रेडने नन्दसूनोः
प्रत्याख्यानच्छलत उदितोदारसङ्केतदेशा ।
धूर्तेन्द्र त्वद्भयमुपगता सा रहो नीपवाट्यां
नैका गच्छेत्किकतव कृतमित्यादिशेत्कर्हि राधा ॥
सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपञ्च तन्मोहनं
तत्तत्केलिकलाविलासलहरीचातुर्यमाश्चर्यभूः ।
नो किञ्चित्कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो नवा सम्भ्रमो
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः ॥]

सा लावण्येति पद्येऽस्मिन् दम्पत्योः प्रेमलक्षणम् ।
संयोगानन्द आस्वादो गौरोत्कर्षो रसः स्मृतः ॥१०१॥

९५. प्रिया प्रियतम की विकलता का अर्थ प्रेम में विशेष प्रकार को लहरों का उठना ही समझना चाहिए, वहाँ दुःख के लेश की भी भावना न करनी चाहिए। ऐसे ही भ्रम का अर्थ प्रेमसिन्धु का उल्लास समझना चाहिए, फिर प्रेम की लहरों में भ्रम का होना कहां सम्भव है।

९६. श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की वाणी में 'चन्द्र' शब्द का अर्थ 'रस' समझना चाहिए और 'सूर्य' का अर्थ 'प्रेम'। 'दिन' का अर्थ जैसे 'प्रेम से वैचित्त्य' बेभान-अवस्था है। वैसे ही 'रात्रि शब्द का अर्थ भी 'रस का व्यवहार या विस्तार' है, यहां रात्रि रात्रि (काल) नहीं है।

९७. 'नवसङ्गम' का तात्पर्य प्रथम समागम न समझ कर, प्रिया प्रियतम की नित्य नवीनता, समझना चाहिए अथवा जब जब सखियां प्रियाप्रियतम के पाणिग्रहण का उत्सव मनाती हैं तब तब उस उत्सव के बाद के विहार में नवसङ्गम शब्द का प्रयोग किया जाता है।

९८. ऐसे ही जब जब प्रियतम के द्वारा अपने करकमलों से तल्प आदि की रचना करके कुञ्ज सुसज्जित किये जाते हैं और प्रिया जी उन कुञ्जों में पधारती हैं तब तब 'अभिसार' शब्द का प्रयोग होता है वहाँ अभिसार से पूर्व प्रिया प्रियतम परस्पर वियुक्त थे, बिछुड़े हुए थे; ऐसा भ्रम मन में नहीं लाना चाहिए।

९९. इसी प्रकार 'कल भी इसी रमणीय और निभृत (एकान्त) स्थान में क्रीड़ा करेंगे।' ऐसा संकेत ही प्रिया प्रियतम का सकेत समझना चाहिए। संकेत से पूर्व या पश्चात् उनके बिछुड़ जाने की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

१००. श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की वाणी में 'विट और महालम्पट' शब्दों का अर्थ 'प्रियतम का प्रियाप्रीति–आस्वादन ही जीवन है' यह जानना चाहिए और 'धूर्त तथा कितव' आदि शब्दों का तात्पर्य प्रिया जी की बाह्य प्रतिकूलता के समय भी प्रियतम को एक मात्र सख्य का पोषण करने वाला चतुर समझना चाहिए।

'हे नन्दनन्दन, तुम्हारे बार बार कहने पर प्रत्याख्यान (अस्वीकृति) के छल से दृष्टि द्वारा जिस किसी स्थान पर उन (श्रीराधा जी) ने उदार सङ्केत स्थान का निर्देश किया था। हे धूर्तराज, तुम से भयभीत हुई वह श्रीराधा अकेली उस एकान्त कदम्ब-वाटिका में नहीं जायेंगी, इसलिये हे कितव, जाने दो। ऐसी आज्ञा वे मुझे (श्यामसुन्दर केपास सन्देश पहुंचाने के लिए) कब देंगी।'

१०१. 'वह लावण्य का चमत्कार, वह नवीन यौवन, वह मोहित करने वाला रूप और वह क्रीड़ा कलाओं के विलासों की लहरों का चातुर्य सब कुछ आश्चर्यों की भूमि है। जहाँ न कुछ किया गया है, न स्तुति है, न अपराध है, और न सम्भ्रम है, ऐसा श्रीराधा-माधव का कोई स्वाभाविक प्रेमोत्सव आप लोगों की रक्षा करे।'

इत्यादि पद्य में दम्पती (श्री श्यामाश्याम) के प्रेम का स्वरूप दिखाया गया है संयोगानन्द को 'आस्वाद' तथा गौर (श्रीराधा जी) के उत्कष को 'रस' कहा गया है।

[एकं काञ्चनचम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं
कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः ।
किञ्चैकं बहुमानभङ्गि रसवच्चाटूनि कुर्वत्परं
वीक्षे क्रीडति कुञ्जसीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम् ॥]

एकं काञ्चनचम्पेति स्वभावध्रुवतोदिता ।
अन्यथा मानवाम्यादौ न स्याद् वाक्यसमन्वयः ॥१०२॥

[न जानीते लोकं न च निगमजातं कुलपर-
म्परां नो जानात्यहह न सतां चापि चरितम् ।
रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ
रहस्येतद्यस्य स्थितिरपि न साधारणगतिः ।]

न जानीत इति श्लोके रसभावविवेचनम् ।
रसोपसर्जनीभूतो भावो मुख्यो रसः स्मृतः ॥१०३॥

भावः श्यामे रसो गौरे यस्य साधारणो न सः ।
इति सम्यग्विचार्यो हि प्रष्टव्यो रसिकैः सह ॥१०४॥

[दूरे सृष्टयादिवार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः ।
किन्तु प्रेमैकसीमां परमरससुधासिन्धुसारैरगाधां,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥
न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरिभक्तैर्न सुहृदा-
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम् ।
तयोर्दासी भूत्वा तदुपचितकेलीरसमये
दुरन्ताः प्रत्याशा हरहर दृशोर्गोचरयितुम् ॥]

दूरे सृष्ट्यादिवार्तेति न वेदैरिति पद्ययोः ।
नित्यायामन्यलीलानां ध्रुवेणैतेन चान्वयः ॥१०५॥

१०२. एवम्–'एक (श्रीराधा) सुवर्ण चम्पक के समान गौर कान्ति हैं तो दूसरे (श्रीकृष्ण) नील मेघ के समान श्याम हैं। एक (श्रीकृष्ण) काम से अतिचञ्चल हैं तो दूसरे (श्रीराधा) बाहर कभी अनुकूल नहीं है। एक (श्रीराधा) बहुत मानचेष्टा वाले हैं तो दूसरे (श्रीकृष्ण) रस युक्त चाटूक्तियाँ कहते रहते हैं। मैं देख रही हूँ अहो! वह महा-मोहन युगल कुञ्जसीमा में क्रीडा कर रहे हैं।'

इत्यादि पद्य में युगल के स्वभाव की ध्रुवता (निश्चितता) कही गई है। अन्यथा मानलीला और प्रतिकूल भाव में वाक्यों का समन्वय न हो सकता।

१०३. ऐसे ही–'जो न लोक की परवाह करता है, न श्रुतियों की और न ही कुल परम्परा की, अहो !जो सत्पुरुषों के चरित (सदाचार) की भी चिन्ता नहीं करता। श्रीराधाबिषयक रस का भजन करता है तथा श्रीश्याम-विषयक भाव का सेवन करता है इस प्रकार जिसकी यह एकान्त स्थिति है वह रसिक कोई साधारण गति वाला या लोक-सामान्य नहीं है, वह तो असाधारण है।'

इत्यादि श्लोक में रस और भाव का विवेचन (उनकी विविक्तविषयता का निरूपण) किया गया है। जहां कोई भाव रस के प्रति गौण हो जाता है वहां वह 'भाव' कहलाता है और यदि मुख्य रहता है तो 'रस' कहा जाता है।

१०४. जिसे श्याम में भाव और गौर में रस प्राप्त हो गया वह साधारण पुरुष नहीं है। इसका यहां भली भांति विचार करना चाहिए, जो बात समझ में न आवे वह रसिकों से पूछ लेनी चाहिए, उस पर उनसे शङ्का-समाधान कर लेना चाहिए।

१०५. 'सृष्टि आदि की बात दूर रही, वे तो नारद आदि भक्तों की भी कुछ परवाह नहीं करते, श्रीदामा आदि मित्रों से भी नहीं मिलते, अपने माता पिता की भी स्नेहवृद्धि नहीं चाहते। किन्तु प्रेम की एक मात्र सीमा श्रीराधा जी को परम रसरूपी सुधा के सिन्धु के सारों से अगाध जानकर मधुपति रात दिन कुञ्जवीथी की ही उपासना करते हैं।' और

राधा और मधुपति का रहस्य 'न वेदों द्वारा, न ब्रह्मा आदि देवों द्वारा, न हरिभक्तों द्वारा और न ही मित्रादियों द्वारा किसी के द्वारा भी भली भांति नहीं जाना गया। उन राधा और मधुपति की दासी होकर असमय में उनके द्वारा की गई क्रीडाओं को अपने नेत्रों का विषय बनाने के लिए हरहर, मेरे मनमें कैसी दुरन्त आशाएँ हैं।'

इन पद्यों में नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की लीलाओं का इन ध्रुव (नित्य) प्रियाप्रियतम युगल के साथ सम्बन्ध बताया गया है।

बाल्यकौमारलीलासु नित्यलीलावयःश्रिया ।
जातावेशेत्यकस्माद्धि कैशोरैकसमुद्भवः ॥१०६॥

[श्रीमद्राधे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदाकुमारे
प्राप्ते कैशोरकमतिरसाद्वलगसे साधुयोगम् ।
इत्थं बाले महसि कथया नित्यलीलावयः श्री-
र्जातावेशा प्रकटसहजा किन्तु दृश्या किशोरी ।]

इत्यादौ नित्यलीलस्य किशोरमिथुनस्य च ।
नैमित्तिकान्या संप्रोक्ता ह्यनित्या नैव कथ्यते ॥१०७॥

तयोः सर्वापि सल्लीला नित्या सद्भिर्निषेविता ।
इति मद्रुचिरेवात्र कैशोर इति दर्शितम् ॥१०८॥

स्वेनापि बहुधा प्रोक्तं विचित्रानन्दलाभतः ।
पारिबर्हानुगमनं सम्बन्धास्वादनाय हि ॥१०९॥

वात्सल्यरसमूर्त्येककीर्तिश्रीवृषभानुजा ।
नन्दनन्दनजीवातुर्व्रजेशमहिषीस्नुषा ॥११०॥

इत्येवोभयवंशीयनित्यनैमित्तिकोत्सवैः ।
उदेति कीदृगानन्दास्वादमाधुर्यवैभवः ॥१११॥

अन्तर्लीलानिकुञ्जैकरहोभावसमन्विता ।
बहिर्लीला च श्रीभानुनन्दसाम्बन्धिकान्वया ॥११२॥

[पीतारुणच्छविमनन्ततडिल्लताभां
प्रौढानुरागमदविह्वलचारुमूर्तिम् ।
प्रेमास्पदं व्रजमहीपतितन्महिष्यो-
र्गोविन्दवन्मनसि तां निदधामि राधाम् ॥

तज्जीयान्नवयौवनोदयमहालावण्यलीलामयं
सान्द्रानन्दघनानुरागघटितश्रीमूर्ति सम्मोहनम् ।

१०६. बाल्य और कौमार अवस्था की लीलाओं में जो नित्य लीला और नित्य यौवन की श्री से सम्बन्ध हैं जैसे—

स्हे श्रीराधे तुम किशोव अवस्था को प्राप्त हुए श्री यशोदा कुमार के प्रति अति अनुरागरस के कारण यधुर और सुन्दरु योग प्राप्त करती हो। बाल्यावस्था में इतना इतना कहने से हो सिनका आवेश हो आया है और जिसका सहजरूप प्रकट हो गया है ऐसी नित्य लीला के स्वरूप थौवन श्री वाली किशोरी जी क्या मुझ से देखी जायेगी। यहां पर म्यामा सौर श्याम दोनों में हा अकस्मात कैशोर का आविर्साव हो हो जाता है।

१०७. इत्यादि में नित्य लीला करने वाले किशोरी और किशोर (युगल) की नैमित्तिकी और नित्या दोनों लीलाएँ एक साथ कही गई हैं किन्तु कोई अनित्य लीला नहीं कही गई।

१०८. श्यामा श्याम (प्रिया प्रियतम) की सभी लीला सत्स्वरूपा हैं अतः सत्पुरुषों द्वारा नित्य मान कर ही उनका सेवन किया गया है। किन्तु मेरी रुचि तो कैशोर रूप में ही है, यह दिखाया हैं।

१०९. स्वयं भी विचित्र आनन्द के लाभ से कई बार कहा है। पारिबर्ह और अनुगमन आदि का सम्बन्ध तो आस्वादन के लिए ही है।

११०. वात्सल्यरस की मूर्ति, अद्वितीय कीर्ति श्री वृषभानुनन्दिनी नन्द नन्दन की जीवातु और नन्द यशोदा की स्नुषा (पुत्रवधू) हैं।

१११. अत एव दोनों (पिता और पति) के वंशों के नित्य नैमित्तिक उत्सवों से कैसे अलौकिक आनन्द के आस्वाद के माधुर्य का वैभव उदय होता है।

११२. अन्तरङ्ग लीला निकुञ्ज के एकमात्र एकान्तभाव से सम्बन्धित है और बहिरंग लीला श्री वृषभानु जी और श्रीनन्द जी के सम्बन्ध से सम्बन्धित है।

'पीली और लाल अर्थात् गौर कान्ति, अनन्त विद्युल्लताओं की सी आभावाली, प्रौढ अनुराग के मद से विह्वल सुन्दरमूर्ति वाली, नन्द और यशोदा का गोविन्द जैसी प्रेमपात्री उन श्री राधाजी को मैं मन में धारण करता हूँ।' और

'नवीन यौवन के उदय से महालावण्यमय तथा लीलामय, सान्द्र आनन्दघन अनुराग से बनी हुई सुन्दर मूर्ति वाला, और चर अचर सबको मोहित करने वाला।

वृन्दारण्यनिकुञ्जकेलिकलितं काश्मीरगौरच्छवि
श्रीगोविन्द इव व्रजेन्द्रगृहिणीप्रेमैकपात्रं महः ॥]

पीतारुणेति तज्जीयादत्र भावः स्नुषामयः ।
एवं भावैकलग्नानि त्रपा भीतिः कुलं दिनम् ॥११३॥

लालनं पालनं बाल्यकौतुकञ्च गमागमौ ।
गालिगीतपरीहासाः सङ्गच्छन्ते स्नुषारसे ॥११४॥

सर्वाण्यन्यानि कुञ्जैकरहोभावमयानि च ।
रसवैचित्र्यलाभार्थं भेदाभेदौ समीरितौ ॥११५॥

वर्णितं सर्वमेवास्ति ह्यविरोधसमन्वयात् ।
अपि यत्र मनो लग्नं तद्बहूक्तं हि दृश्यताम् ॥११६॥

वक्तृनिष्ठा स्थिता कुत्र सा ज्ञेयात्र विवेकिभिः ।
सर्वलीलैकसाङ्कर्यान्न मुह्यात कदाचन ॥११७॥

तौ तु माधुर्यसन्मूर्तौ ऐश्वर्यञ्च बहिःप्रभा ।
लोकवत्केवलं लीलेत्यतर्क्या व्यासवर्णिता ॥११८॥

तत्रापि च स्ववाक्येषु कृता पर्यवसानता ।
वृन्दावननिकुञ्जेषु नित्यकेलिमये रसे ॥११९॥

सैव ज्ञेयः स्वसिद्धान्तो[1] यत्परः सैव मूलकः ।
अन्ये शाखाप्रशाखादिफलपल्लवशोभनाः १२०॥

---

१. 'तस्तन्मूलो यत्परस्तु सः ।'

वृन्दावन केनिकुञ्जों में क्रीडाओं से परिपूर्ण, कुङ्कुम के समान गौरद्युति, ऐसा श्री यशोदा जी के प्रेम का गोविन्द जैसा एकमात्र पात्र (श्रीराधानामक) तेज सदा विजयशील हो।

इत्यादि श्लोकों में स्नुषामयभाव है। ऐसे ही भाव के अनुकूल हैं-लज्जा, भय, कुल और दिन।

११४. इसी प्रकार लालन-पालन, बचपन के कौतुक, गमन और आगमन, गाली देना, गीत गाना, परिहास करना आदि भाव स्नुषा (पुत्रवधू) रस में सभी सगत हो जाते हैं।

११५. श्री राधारससुधानिधिस्तोत्र में अन्य सभी बातें भी केवल निकुञ्ज-लीला के ही रहोमाधुर्य भाव (एकान्त माधुर्य) से परिपूर्ण हैं। रसों की विचित्रता प्राप्त कराने के लिये व्रजलीला और निकुञ्जलीला में भेद और अभेद दोनो का वर्णन किया गया है

११६. किन्तु सम्पूर्ण वर्णन परस्पर विरोधरहित समन्वय से किया गया है। हाँ, जहाँ मन विशेषरूप से मग्न है उसका अधिक मात्रा में कथन है यह समझना चाहिए।

११७. विवेकी रसिकों को यह जान लेना चाहिए कि इस स्तोत्र में वक्ता का निष्ठा किस लीला में स्थिर है या स्थित है। रसिक भावुक जनो! समस्त लीलाओं का यहाँ एक स्थान में साँकर्य हो गया है, आप ऐसे मोह में कभी न पडें।

११८. प्रिया प्रियतम तो माधुर्य की ही सुन्दर मूर्ति हैं, ऐश्वर्य तो उनकी कुञ्ज-निकुञ्ज से बाहर प्रकट हो रही श्री अंगकान्ति है। जिस अतर्क्य ऐश्वर्य रूप अंगकान्ति का वर्णन श्रीभागवतादि में भगवान वेदव्यास ने केवल लोकवत् लीला या नटवत् लीला के रूप में किया है।

११९. वहाँ पर भगवान् वेदव्यास ने भी अपने वाक्यों में उस लीला का पर्य-वसान वृन्दावन निकुञ्जों में नित्य लीलामय माधुर्यरस में किया है।

१२०. अतः वृन्दावन निकुञ्जों की उस नित्य लीला को ही परम सिद्धान्त समझना चाहिए, वही मूल है। अन्य लीलाएँ तो शाखा, प्रशाखा, अनुशाखा हैं जो फलों और पल्लवों से सुशोभित हैं।

बहिर्लीलानुकरणकामः स्यादुभयोर्यदा ।
सार्व्वकामिककुञ्जैश्च बाल्यादिक्रीडनान्वितः ।।१२१।।
वसन्ताद्यतु लीलाढ्यैस्तादृक्प्रकृतिकारकैः ।
तत्तद्रसमयैस्तत्र सिद्धेर्नित्यसमन्वयः ।।१२२।।
[कर्म्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा,
गूढाश्चर्य्यरसाः स्रगादिविषयान् गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा ।
कैर्वा भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः
किञ्चिज्ज्ञैरनुयुज्यतां बहिरहो ग्राभ्यद्भिरन्यैरपि ।।
अलं विषयवार्त्तया नरककोटिबीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः ।
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ।।]
कर्म्माणि श्रुतिबोध्यानीत्यलं विषयवार्तया ।
इत्यादौ कर्मविषयत्यागात्यागौ समीरितौ ।।१२३।।
[राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति ।
किञ्च श्यामरसप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो विन्दुं परं प्राप्नुयुः ।।
पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं,
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे
तत्किङ्करीभवितुमेव ममाभिलाषः ।।]
राधादास्यमपास्येति ज्योतिर्भगवतः परम् ।
इत्यत्र पूर्णसिद्धान्तः सोपपत्तिक ईरितः ।।१२४।।

१२१-१२२ जब प्रिया प्रियतम दोनों की इच्छा बाह्यलीला या व्रज लीला का अनुकरण करने की होती है तब बाल्य (बचपन) आदि के योग्य क्रीडाओं से युक्त, बसन्त आदि ऋतुओं की लीलाओं से सम्पन्न, वैसी वैसी प्रकृति को प्रस्तुत कर देने वाले, उन उन रसों से परिपूर्ण, सार्वकामिक (सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले) निकुञ्जों द्वारा वाह्य लीला की भी सिद्धि कर दी जाती है और इस प्रकार व्रज लीला का निकुञ्ज-लीला से समन्वय हो जाता है।

१२३. 'जिन रसिकभावुकों को गूढ और आश्चर्यमय रस प्राप्त होगया है वे श्रुतियों (वेदों) द्वारा समझाये गये कर्म भली भांति करें या बिल्कुल न करें। वे माला आदि विषयों को स्वीकार करें या त्याग दें। किन्तु जो रसिक अनन्य श्री राधिकावल्लभ जी के भाव रहस्य के बुद्धि द्वारा पारंगत हो चुके हैं उन का केवल रसलेश को जानने वाले अतएव बाहर ही भटक रहे ऐसे अन्य लोग कैसे अनुयोग (रोकटोक) या अनुकरण कर सकते हैं, इत्यादि श्लोकों में और

'कोटि नरकों से घृणा उत्पन्न कराने वाली विषयवार्ता से क्या प्रयोजन ? वदिक कर्मों की चर्चा का परिश्रम भी व्यर्थ है, कैवल्य या मोक्ष से तो मैं डरता हूँ और यदि शुकदेवादि परमेश्वर के भजन रस से उन्मत्त हैं तो मुझे उनसे क्या ? मेरा मन तो केवल श्री राधिका जी के श्री चरणों के प्रीतिरस में मग्न हो जाए।' इत्यादि श्लोकों में कर्मो और विषयों के त्याग और अत्याग (स्वीकार) का वर्णन किया गया है किन्तु--

१२४. 'जो उपासक श्री राधा जी के प्रति दास्यभाव को न रख कर गोविन्द का संग पाने की आशा से प्रयत्न करता है वह तो पूर्णिमा के बिना ही पूर्ण चन्द्र का परिचय प्राप्त करना चाहता है क्योंकि जो उपासक श्यामरस के प्रवाह की लहरियों के बीजभूत श्री राधा जी को नहीं जानते वे महान् अमृतसिन्धु को प्राप्त करके भी केवल एक बिन्दु का ही लाभ प्राप्त कर सके हैं, ऐसा जानना चाहिए।' इन श्लोकों में और—

'जो पूर्णानुराग रसस्वरूप, विद्युल्लता के समान कान्ति से युक्त, भगवान् की प्रीतिपात्र रहस्यरूप परम ज्योति है' जो कृपा करके श्री वृषभानु जी के भवनों में प्रगट हुई है उसी की किंकरी बनने की ही अभिलाषा मेरे मन में है।' इन श्लोकों में युक्ति पूर्वक सम्पूर्ण सिद्धान्त कह दिया गया है।

श्रुत्यादिगोपीलीलापि राधापादरजःश्रयात् ।
सिद्धा निरोध्यभक्तैकगोप्यङ्गीकरणा यदि ।।१२५।।

सिद्धा दासीत्वमापन्ना नान्यभावस्ततः परम् ।
आधायेत्यत्र यत्पादपद्मेत्यत्र समीरितम् ।।१२६।।

महारासो जवनिका व्रजगोपीसमुद्भवः ।
मध्ये सखीभिर्वलये प्रियया सह नर्तनम् ।।१२७।।

[कदा रासे प्रेमोन्मदरसविलासेऽद्भुतमये
दिशोर्मध्ये भ्राजन्मधुपतिसखीवृन्दवलये ।
मुदान्तः कान्तेन स्वरचितमहालास्यकलया
निषेवे नृत्यन्तीं व्यजननवताम्बूलशकलैः ।।]

कदा रासेत्यत्र पद्ये राससिद्धान्त ईरितः ।
तत्रापि स्वरुचिर्भिन्ना दर्शिता न समन्वये ।।१२८।।

रसः स्यात्समदम्पत्योर्नोत्तमाधयोः क्वचित् ।
अतः स्वप्नेऽप्यन्यगन्धो ज्ञेयो न रसिकेश्वरे ।।१२९।।

सर्व्वलीलास्वधिष्ठात्री वामाङ्गे रसिकेश्वरी ।
यत्कृपादृष्टितः कृष्णलीला सर्वापि सिद्ध्यति ।।१३०।।

ललितादिसखीनाममात्राकथनहेतुता ।
स्वाभिलाषार्त्तिकथनकल्लोलोज्जृम्भविस्मृतेः ।।१३१।।

सख्यः समष्ट्यभिमतेः साचिव्यैकस्वभावतः ।
न भिन्ना दर्शिताः स्वस्माज्ज्ञायते तत्स्वबुद्धितः ।।१३२।।

१२५. श्रुति आदियों का गोपीभाव प्राप्त करना भी और गोपी रूप से लीला में प्रवेश करना भी श्रीराधाजी के चरणरज के आश्रय से ही सिद्ध होता है।

१२६. यदि प्रत्येक निरोध्य (साध्य) को एक गोपी अंगीकार किया जाए और सिद्ध हो जाने पर वह भक्त दासीभाव को प्राप्त हो जाए (तब गोपीलीला यहाँ स्वीकार की जाती है) क्योंकि यहां दासीभाव से भिन्न (गोपी) भाव नहीं है। ऐसा ही तो–

'जिस चरण धूलि को सिर पर धारण करके उदार गोपीगण प्रिय गुणों के साथ श्री श्यामसुन्दर के कमनीय पद या चरणों को प्राप्त कर गये। भावोत्सव से भजन करने वालों के लिये रस की कामधेनु उस श्रीराधाचरण-रेणु (धूलि) का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ।' इस श्लोक में और–

'जिन श्री राधिका जी के चरणकमलों के नखरूपी चन्द्रमणि की झलक का कोईएक विलास गोपीजनों में दिखाई देता है। वे पूर्ण अनुराग रस के सागर की सार-स्वरूपा श्रीराधिका मुझ पर कभी कृपा करें।' इस श्लोक में कहा गया है।

१२७. व्रजगोपियों द्वारा किया गया महारास तो जवनिका या पर्दा है जिसके अन्दर सखीमण्डल के मध्य में प्रियतम श्रीप्रिया जी के साथ नृत्य करते हैं।

१२८. 'प्रेम से उन्मद विलास वाले, आश्चर्यमय, रास में, दोनों दिशाओं में विराजमान श्रीमधुसूदन और सखीसमूह के मण्डल में अपने द्वारा विरचित महालास्य कला से आन्तरिक आनन्दपूर्वक नृत्य करती हुई श्रीराधिकाजी की व्यजन और नवीन ताम्बूलखण्डों से मैं कब सेवा करूंगी।' इत्यादि श्लोकों में राससिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसमें भी अपनी रुचि भिन्नरूप में दिखाई गई है, समन्वय रूप में नहीं।

१२९. समान दम्पति में ही रस हो सकता है एक उत्तम हो और दूसरा अधम हो तो रस नहीं होता। अतः रसिकेश्वर श्रीश्याम के विषय में स्वप्न में भी अन्य स्त्रीसंग का कल्पना नहीं करनी चाहिए।

१३०. समस्त लीलाओं की अधिष्ठात्री रसिकेश्वरी श्रीराधिका श्रीश्यामसुन्दर के वामभाग में विराजमान रहती हैं उनकी ही कृपादृष्टि से श्रीश्यामसुन्दर की सब लीलाएँ सिद्ध होती है।

१३१. ललिता आदि सखियों के नाम जो इस स्तोत्र में नहीं कहे गये उसका कारण यह है कि यहाँ अपनी व्यथा के कथन रूपी कल्लोलों के उत्थान में 'श्री हित महाप्रभु' उन नामों को भूल जाते हैं।

१३२. समष्टि में अभिमान होने के कारण और सब सखियों का साचिव्य (मन्त्रित्व) के अनुकूल स्वभाव होने के कारण श्री हितमहाप्रभु ने सखियों को अपने से भिन्न रूप में नहीं दिखाया, यह बात भी यहाँ अपनी बुद्धि से जानी जाती है।

[लीलापाङ्गतरङ्गितैरिव दिशो नीलोत्पलश्यामला
दोलायत्कनकाद्रिमण्डलमिव व्योम स्तनैस्तन्वतीम् ।
उत्फुल्लस्थलपङ्कजामिव भुवं रासे पदन्यासतः
श्रीराधामनुधावतीं व्रजकिशोरीणां घटां भावये ।।]

स्वरूपं दृश्यते अत्र किशोरीणां घटोक्तितः ।
लक्ष्मीकोटिविलक्ष्येति सखीवलयशब्दतः ।।१३३।।

[लक्ष्मीकोटिविलक्ष्यलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतै-
राराध्यं व्रजमण्डलेऽतिमधुरं राधाभिधानं परम् ।
ज्योतिः किञ्चन सिञ्चदुज्ज्वलरसप्राग्भारमाविर्भव-
द्राधे चेतसि भूरिभाग्यविभवैः कस्याप्यहो जृम्भते ।

यथा षड्जः स्वरो ग्रामे नीचीनोऽपि निषादगः ।
एवं दास्यं यदा पूर्णं सख्यादुपरि वर्तते ।।१३४।।
वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमसु सदा स्वानन्दरङ्गोत्सवै-
र्माद्यत्यद्भुतमाधवाधरसुधामाध्वीकसंस्वादनैः ।
गोविन्दप्रियवर्गदुर्गमसखीवृन्दैरनालक्षिता
दास्यं दास्यति मे कदा नु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी ।।

वृन्दारण्येति गोविन्दप्रियवर्गेति दृश्यताम् ।
दास्योत्कर्षस्य मर्मात्र प्रियकाम्यान्तमीरितम् ।।१३५।।

शृङ्गारः श्यामवर्णश्चानुरागोऽरुणरङ्गकः ।
पीतः प्रेमा सितो हासो निर्मलं रूपमुच्यते ।।१३६ ।।

[उन्मीलन्मिथुनानुरागगरिमोदारस्फुरन्माधुरी ।
धारासारधुरीणदिव्यललितानङ्गोत्सवैः खेलतोः ।
राधामाधवयोः परं भवतु नश्चित्ते चिरार्तिस्पृशोः
कौमारे नवकेलिशिल्पलहरीशिक्षादिदीक्षारसः ।]

'लीलाकटाक्ष की तरङ्गों से ही मानो सभी दिशाओं को नील कमलों से श्यामल और स्तनों से आकाश को भूलते हुए सुवर्णाचलों के मण्डल वाला तथा रासलीला में चरणन्यास से भूमि को खिले हुए स्थल कमलों वाली बनाती हुई श्रीराधा जी का अनुधावन करती हुई व्रजकिशोरियों की घटा की मैं भावना करती हूँ।

१३३ यहां पर किशोरियों की घटा के कथन से और 'लक्ष्मीकोटिविलक्ष्य' आदि श्लोकों में सखीवलय (सखियों का मण्डल) शब्द से निज रूप प्रकट किया जाता है।

'कोटि कोटि लक्ष्मियों को लज्जित करने वाले लक्षणों से शोभायमान लीलामयी शतशः किशोरियों द्वारा आराध्य, वृजमण्डल में अतिमाधुर्यमय, राधा नामक कोई परम ज्योति है जो श्रृङ्गार रस की बौछारों से सींच रही है। यह परमज्योति परम सौभाग्य के वैभव से किसी (भाग्यशाली) के उसी हृदय में प्रकाशमान होती है, जिस हृदय में श्री राधाजी के स्वरूप का अविर्भाव हो रहा हो।

१३४. जिस प्रकार षडज स्वर ग्राम में नीचीन (नीचे रहने वाला) होता हुआ निषादगामी होने पर ऊपर रहने वाला हो जाता है उसी प्रकार जब दास्यभाव पूर्णता को प्राप्त हो जाता है तब वह सख्यभाव से भी उत्कृष्ट हो जाता है।

'वृन्दावन के निकुञ्जों की सीमाओं में सदा ही परमानन्द रङ्गोत्सव, जिनमें अद्भुत माधव की अधरसुधारूपी माध्वीक का आस्वादन होता है-के द्वारा गोविन्द प्रियवर्ग के दुर्गम सखीवृन्दों से भी न देखी गई वृन्दावनाधीश्वरी मदमत्त हो रही हैं। व कब कृपा करके मुझे दासीभाव प्रदान करेंगी।'

१३५' ईस वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमसु' इत्यादि श्लोक में देखिये जहां दास्यभाव के उत्कर्ष का मर्म प्रिय द्वारा भी कांक्षणीय (अर्थात् प्रियतम भी दास्यभाव की लालसा रखते हैं यहाँ तक) कहा गया है।

१३६. श्रृंगार का रंग श्याम है और अनुराग का लाल। प्रेम का रंग पीला है और हास्य का धवल (श्वेत) एवं प्रिया प्रियतम का रूप निर्मल कहा जाता है।

'प्रकट होते हुए युगल के अनुराग के गौरव की उदारभाव से स्फुरित होती हुई मधुरता की धाराओ के आसार से श्रेष्ठ दिव्य और भव्य अनंगोत्सवों क्रीडा करते हुए, तो भी चित्त में चिरकाल की सी तृषा धारण करते हुए श्रीराधा और श्रीमाधव को कुमारावस्था में नवीन क्रीडाशिल्प की लहरियों की शिक्षा दीक्षा देने का अथवा देखने का रस हमारे चित्त में हो।'

प्रीतिं कामपि नाममात्रजनितप्रोद्दामरोमोद्गमां
राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्ज्वलाम् ।
वृन्दारण्यनवप्रसूननिचयानानीय कुञ्जान्तरे
गूढं शैशवखेलनैर्बत कदा कार्यो विवाहोत्सवः ।।

कौमारे नवकेलीति कदा चेति च पद्यके ।
प्रीतिं कामपि चेत्यादौ वात्सल्यं स्फुटमीरितम् ।।१३७।।

अलं विषयवार्तया नरककोटिबीभत्सया
वृथाश्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः ।
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ।।]

अलं विषयवार्तेति प्रभृतौ शान्त ईरितः।
अन्यनिर्वेदतः स्वेष्टपादाब्जरसमज्जनम् ।।१३८।।

अन्ये सर्वत्र शृङ्गारदास्यसख्या रसाः स्फुटम् ।
कथिताः स्वाभिलाषैकद्वारैव ग्रन्थसङ्गतिः ।।१३९।।

बहिरभ्यन्तरोक्ती द्वे सख्याचार्यविभेदतः।
क्व च भिन्ने क्व मिश्रे च यथा ज्ञेये मनीषिभिः ।।१४०।।

बोध्यानुभूयमानैव या निकुञ्जविलासवाक् ।
किं कदेत्यभिलाषोक्तिर्निजसाधकसंग्रहा ।।१४१।।

प्रचेतःप्रार्थनीयोक्तिं शिवः स्वास्यादुपादिशत् ।
जिज्ञास्वर्थं निजं दैन्यं श्रीहितस्तत्तथोक्तवान् ।।१४२।।

अन्यसाधनसाध्योक्तौ सादरानुररीकृतिः ।
धर्माद्यर्थेति चेशानी शचीत्यत्र निदर्शिता ।।१४३।।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम् ।
इत्येतद्ध्रुववाक्येन कलाकेशांशिसम्भ्रमाः ।।१४४।।

'वृन्दावन के नवीन पुष्प समूह को लाकर गुप्तभाव से बचपन के खेल ही खेल में किसी कुन्ज के अन्दर नाममात्र से ही जिसने अत्यन्त रोमांच उत्पन्न कर दिया है ऐसी किसी प्रीति । जो कुमारावस्था में ही शृंगारमयी है। को प्राप्त करते हुए श्रीराधा और श्रीमाधव का विवाहोत्सव अहा ! मेरे द्वारा कब रचाया जायगा ।

१३७. 'कौमारे नवकेलि' इत्यादि श्लोकों में स्पष्ट रूप से वात्सल्य भाव कहा गया है और 'कदा रासे' इत्यादि, तथा 'प्रीतिं कामपि' इत्यादि श्लोकों में स्पष्ट रूप से वात्सल्य भाव कहा गया है ।

'कोटि कोटि नरकों के कारण भयङ्कर विषय वासना की वार्ता को जाने दो । वेदों की चर्चा का श्रम भी व्यर्थ है । अहो कैवल्य या मोक्ष से तो मैं डरता हूँ । यदि शुक आदि परमेश्वर के भजन में मदमत्त हैं तो मुझे उनसे क्या ? मेरा मन तो श्रीराधिका के चरणों के अनुराग रस में मग्न हो ।'

१३८. 'अलं विषयवार्तया' इत्यादि में शान्तभाव कहा गया है । जहाँ अन्य वस्तुओं से निवद या वैराग्य है तथा अपने इष्ट के चरणकमलों के रस में मग्न होना बताया गया है ।

१३९. दूसरे शृंगाररस, दास्यरस, और सख्यरस भी सर्वत्र स्फुट रूप में व्यञ्जित हैं, उनके विषय में अपनी अभिलाषा के कथन द्वारा ग्रन्थ की संगति बताई गई है ।

१४०. बहिरंग लीला और अन्तरंग लीला दोनों का कथन सखी और आचार्य स्वरूप के भेद से किया गया है । यह कथन कहीं पृथक् पृथक् भी है और कहीं मिला जुला हुआ भी है । ऐसा बुद्धिमानों को समझना चाहिए ।

१४१. निकुञ्जविलास से सम्बन्धित (प्रिया प्रियतम और सखीजन) की वाणी (श्री हिताचार्य द्वारा) अनुभव की जा रही है ऐसा ही जानना चाहिये । फिर 'क्या ?' और 'कब' शब्दों द्वारा जो अभिलाषा प्रकट की है वह अपने चरणानुगत साधकों के संग्रह (लोक संग्रह या सिखाने) के लिये है ।

१४२. जिस प्रकार शिवपुराण में शिवजी ने वरुण की अभिलाषाएँ अपने श्रीमुख से कहीं हैं, ऐसे ही यहाँ जिज्ञासु जनों की सहज दीनता श्रीहिताचार्य महाप्रभु ने कह दी है ।

१४३. अन्य साधन और साध्यों की चर्चा में आदरपूर्वक उनको अस्वीकार किया गया है । 'धर्माद्यर्थचतुष्टयं' इत्यादि में साधनों और 'ईशानी च शची' इत्यादि में साध्यों की अस्वीकृति दिखाई गई है ।

१४४. जैसे यह सब परमपुरुष के अंश कलावतार हैं श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान हैं' इत्यादि सिद्धान्तवाक्य में कला, ऐश्वर्य और अंशी आदि सम्भ्रमों का निराकरण पूर्वापर विरोध का समन्वय करके कर दिया गया है ।

निरस्यन्ते समन्वेत्य पौर्वापर्याविरोधतः ।
एवमेतैर्ध्रुवैरत्रापरवाक्यसमन्वयः ॥१४५॥

उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्व्वफलार्थवाक् ।
युक्त्याद्यैरत्र राधैकदास्यं तात्पर्यलिङ्गितम् ॥१४६॥

रहोभावैकसत्स्तोत्ररूपोऽयं न च शास्त्रता ।
चर्च्चा विवादः संवादो न कार्य्यः क्वापि कुत्रचित् ॥१४७॥

गौरश्यामरसः सिद्धो न शास्त्रौषधिसम्भवः ।
वैकुण्ठाद्यन्तदुष्प्राप्यो वृन्दारण्यैकसंश्रयः ॥१४८॥

रसः स्वामिकृपालभ्यः स्वामी वृन्दावनाश्रयात् ।
अतो वृन्दावनं सेव्यं मनोदेहै रसेच्छुभिः ॥१४९॥

तच्च भावैकरसिकैः सङ्गात्स्फुरति नान्यथा ।
सन्तस्ते सम्प्रसीदन्तु निकुञ्जीकृतमानसाः ॥१५०॥

पाठोऽत्र निश्चितो भ्रान्त्वा सर्व्वत्रैव यथामति ।
अथार्थः सङ्गतो यत्स्यात्तथा कार्य्यो मनीषिभिः ॥१५१॥

य एतद्रसभावज्ञास्तेषां भाषापदान्यहम् ।
धृतवांस्तत्र नो तर्क्यं ममेष्टं तद्वचः प्रमा ॥१५२॥

एतद्रसप्रातिकूल्यात्संस्कृते किं प्रयोजनम् ।
अङ्गीकृतं यत्प्रभुणा तदेवोत्तमतां गतम् ॥१५३॥

न यद्वचश्चित्रमिति तद्वाक्सर्गेति पश्यताम् ।
भावानुकूल्याप्तवाक्ये संस्कृतप्राकृते समे ॥१५४॥

मद्ध्येयमन्त्रैतद्ग्रन्थव्याख्यायामपरं वचः ।
धृतं स्वानन्दसिद्ध्यर्थं मूलप्रमितये न च ॥१५५॥

१४५. ऐसे ही यहाँ पर भी पूर्वापर के अविरोध से इन सिद्धान्तवाक्यों या परिभाषाओं द्वारा पूर्वापर वाक्यों का समन्वय किया गया है ।

१४६. उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्व, फल और अर्थवाद इन सब प्रकार के युक्ति प्रमाणादि द्वारा यहां पर केवल श्रीराधादास्य में ही तात्पर्य दिखाया गया है ।

१४७.१४८यह श्रीराधासुधानिधिस्तव रहोमाधुर्यभाव का एकमात्र उत्तम स्तोत्रात्मक ग्रन्थ है यह शास्त्र नहीं है । अतः इसमें चर्चा, विवाद और संवाद कभी भी, कहीं भी नहीं करना चाहिए । गौररस और श्यामरस सिद्धरस है वह किसी शास्त्ररूपी औषधि से निकाला गया नहीं है। वैकुण्ठादि में अथवा उनके भी आगे यह रस कहीं प्राप्त नहीं किया जा सकता । यह तो एकमात्र वृन्दावन में ही बहता है ।

१४९. यह रस इस रस के स्वामी की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है, वृन्दावन के आश्रय से ही वह स्वामी इस रस का स्वामी है अतः इस रस की लालसा रखने वालों को तन, मन से वृन्दावन का ही सेवन करना चाहिए ।

१५०. वृन्दावन का यह रसमय स्वरूप, भाव के एकमात्र रसिकों के सत्सङ्ग से ही स्फुरित होता है, अन्यथा नहीं । वे रसिक सन्त हम पर प्रसन्न हों, जिन्होंने अपने मन को निकुञ्ज बना लिया है ।

१५१. सर्वत्र घूम फिर कर अपनी बुद्धि के अनुसार इस पावन ग्रन्थ का पाठ निश्चित किया गया है । अतः जहां जो अर्थ संगत हो, बुद्धिमानों को वहाँ वैसा ही अथ करना चाहिए ।

१५२. जो महानुभाव इस रस के और इस भाव के मर्मज्ञ हैं मैंने उनके ब्रजभाषा के पदों का भी यहां उद्धरण दिया है, उसके विषय में तर्क वितर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि मुझे उनके वचन प्रमाणरूप में इष्ट हैं ।

१५३. इस रस के प्रतिकूल होने पर हमें संस्कृत भाषा या उसके पद्यों से भी क्या प्रयोजन है ? हम तो यही मानते हैं कि महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्राचार्य जी ने ब्रजभाषा और संस्कृत जिसको भी स्वीकार कर लिया, वही भाषा श्रेष्ठ हो गई ।

१५४. श्रीमद्भागवत के 'न यद्वचश्चित्रपदं मुरारेः' इत्यादि श्लोक और 'स वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः' इत्यादि श्लोक को देखने वालों के लिए भाव के अनुकूल आप्त पुरुषों के वचन में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ समान हैं ।

१५५. मेरे ध्येयभूत और मन्त्रभूत इस ग्रन्थ की व्याख्या में मैंने जो जो अन्य ग्रन्थों के वचन रखे हैं, वे केवल अपने आनन्द के लिए रख दिए हैं उन वचनों द्वारा मूल ग्रन्थ को प्रमाणभूत बताने के लिये नहीं (क्योंकि यह ग्रन्थ स्वतः प्रमाण हैं) ।

वागीशाद्या निजसुरगणा यद्वशाः संस्तुवन्ति
प्राणा बुद्धीन्द्रियचितिमनःशक्तयो यच्चिदिद्धाः ।
स श्रीकृष्णः सकलरसधिर्यत्कृपां शंसमानः
सा श्रीराधा स्वरसलिखने शक्तिमस्त्वं ददातु ।।१५६।।

प्रतिभादृक्करलेखिन्यञ्जनपत्रेषु निजशक्तिम् ।
तद्भानं कृतिवृन्दावनयमुनाद्याः प्रयच्छन्तु ।।१५७।।

इतिश्रीसुधानिधिटीकादौ मङ्गलविनयपरिभाषादिप्रकरणम्

-०-

१५६. बृहस्पति आदि सहज देवगण जिसके वश होकर स्तुतियां गाते हैं, और प्राण, बुद्धि, इन्द्रियगण, आत्मा और मन रूप शक्तियां जिसके चित्सम्बन्ध से समृद्ध हैं। वे सकल रसों के सागर श्रीकृष्ण भी जिनकी कृपा की अभिलाषा करते रहते हैं, वे श्रीराधा मुझे अपने रस की व्याख्या लिखने की शक्ति प्रदान करें।

१५७. महाप्रभु श्रीहिताचार्य की यह कृति, श्रीवृन्दावन और श्रीयमुना आदि मेरी प्रतिभा में, दृष्टि में, हाथों में, लेखनी में और पत्रों (कागजों) में अपनी अपनी शक्ति तथा श्रीराधारस का भान (अवभास) भरदें।

श्रीराधारससुधानिधिस्तोत्र की व्याख्या के आरम्भ में मङ्गलाचरण विनय और परिभाषाप्रकरण समाप्त हुआ।

———

श्रीराधावल्लभो जयति ।

श्रीराधारससुधानिधिस्तवः

रसकुल्याख्या व्याख्या

राधैवेष्टं सम्प्रदायैककर्ताऽऽचार्यो राधा मन्त्रदः सद्गुरुश्च ।
मन्त्रो राधा यस्य सर्वात्मनैनं वन्दे राधापादपद्मप्रधानम् ॥१॥

अथ सकलश्रुतिशिरोगोपनीयतममपि प्रस्तूयमानरहोमाधुर्यरसं सकललोकानुग्रहिष्णुश्रीवृन्दावनेश्वरीकृपाविर्भूतः श्रीहरिवंशाख्यो व्यासनन्दनः सहृदयरसिकभावुकानास्वादयितुं तत्कृपैकलब्धं तन्नामपूर्वकसुधानिधिनाम स्तोत्रमाविश्चकार । इदानीं कश्चिदपि तत्प्रयोज्यो जनस्तन्निधिद्विशतसप्ततिपद्यतरङ्गव्याख्यालेशं सजातीयाशयानन्दार्थं स्वमनोऽनुरञ्जनाय च समारभते । तत्रादौ प्रथमपद्ये स्तोत्रकृत्स्वेष्टभावनार्त्यानन्दोल्लासजमुक्तकश्लोकवृन्दत्वेऽपि यदृच्छानिबद्धग्रन्थाद्यङ्गभूतं प्रतिपाद्यहार्दं वस्तु निर्दिशन्नमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति यस्या इति ।

हिन्दीभाषानुवाद श्रीराधारसकलश

'श्रीराधा ही जिनके इष्ट देव हैं, श्रीराधा ही जिनके सम्प्रदाय के एकमात्र प्रवर्तक आचार्य हैं, जिनके मन्त्रदाता सद्गुरु भी श्रीराधा ही हैं । जिनका मन्त्र भी श्रीराधा ही हैं, मैं श्रीराधाचरणकमलप्रधान इन श्रीहितहरिवंशचन्द्राचार्य महाप्रभु की सर्वात्मना वन्दना करता हूँ ।'

अब समस्त श्रुतिशिरों (वेदान्त वाक्यों) द्वारा भी अत्यन्त छिपाकर रखने योग्य, इस प्रस्तूयमान, रहोमाधुर्य रस का समस्त लोकों पर अनुग्रह करने वाली श्री वृन्दावनेश्वरी (श्री राधिका जी) की कृपा से अविर्भूत (प्रकट हुए) श्रीव्यास (मिश्र) के नन्दन (सुपुत्र) श्रीहरिवंशमहाप्रभु ने सहृदय रसिक भावुकों को आस्वादन कराने के लिये केवल उन की कृपा से प्राप्त हुए उनके नाम से युक्त सुधानिधि (श्रीराधारससुधानिधि) नामक स्तोत्र का आविष्कार किया । अब उनका ही कोई सेवक (दास) उस निधि (सुधानिधि) के दो सौ सत्तर पद्य रूपी तरंगों की व्याख्या के लवलेश मात्र को अपने सजातीय आशय (समान भाव) वाले भावुक जनों के आनन्द (अद्भुतानन्द) के लिये और अपने मन का अनुरञ्जन(अनुराग से रंगने अथवा आह्लादित) करने के लिये प्रारम्भ करता है । इस स्तोत्र के प्रारम्भ में प्रथम पद्य में स्तोत्रकार (श्रीहितहरिवंशचन्द्राचार्य महाप्रभु) अपने इष्ट के प्रति भावना, आर्ति, आनन्द और उल्लास से स्फुरित हुए मुक्तक श्लोकों का समूहरूप होने पर भी यदृच्छा (भगवदिच्छा) से विरचित ग्रन्थ के आदिम अङ्ग के रूपमें प्रतिपादनीय हृदय की वस्तु का निर्देश करते हुए नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण करते हैं--

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि,
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ।।१।।

यत्तच्छब्दौ परमोत्कर्षज्ञापकौ । वृषभानोर्भवतीति तस्याः । पितृनाम्ना नित्यलालनमाधुर्यं द्योतयति । अत्र कीर्तिदा प्रेमलालनास्पदत्वं कैमुत्यलभ्यमेव । दिशेऽपीति धामनामानुक्त्या वाङ्मनसातीतप्रभावत्वं व्यज्यते । अपीत्यनेन साक्षात्कृतिर्धामवसतिश्च परमदुर्लभा, परन्तु यत्रासौ राजते तस्यै दिशेऽपि नमनमेव महाभाग्यमित्येवं लोकापेक्षयोक्तम् । गूढन्तु सा दिङ्मन्मनोगम्यैव कस्मै वच्मीति भावः ।

रसकलश

'जिनके कभी वसनाञ्चल के खेलन से उठी हुई धन्य अतिधन्य पवन के लगने से योगीन्द्रों के लिए दुर्गमगति मधुसूदन भी अपने आपको कृताथ मानने लगते हैं, उन श्रीवृषभानुनन्दिनी जी से अधिष्ठित दिशा को भी नमस्कार हो' ।१।

'जो' या 'जिन' और 'वह' या 'उन' शब्द परम उत्कर्ष के बोधक हैं। 'वृषभानु जी' से प्रादुर्भूत होने के कारण श्रीराधा जी का नाम 'वृषभानुभू' है। पिता के नाम से उनका नाम नित्य दुलार प्यार की मधुरता को प्रकट करता है। जब उन पर पिता वृषभानु जी का इतना दुलार प्यार है तब माता कीर्तिदा जी के दुलार प्यार का क्या कहना ? 'उन वृषभानुनन्दिनी की दिशा को भी नमस्कार हो' इस वाक्य में धाम का नाम न कहने से प्रकट होता है कि धाम का प्रभाव मन वाणी से परे है। 'दिशा को भी' इस कथन में 'भी' शब्द से उनके धाम का दर्शन और धाम में निवास तो परम दुर्लभ हैं, परन्तु जिस दिशा में वे विराजमान हैं, उस दिशा को भी नमस्कार करना महाभाग्य का सूचक है, यह साधारण लोगों की अपेक्षा (दृष्टि) से कहा। इसका गूढ अभिप्राय तो यह है कि वह दिशा केवल मेरे ही मन से गम्य या प्राप्य है, यह बात किसे कहूँ ?

यद्वा अन्तरङ्गहितसखीरूपापेक्षया स्वेष्टसम्बन्धिमात्रस्य परमेष्टत्वात्सर्वं संगृह्य दिशेऽपि नमोऽस्त्विति समुच्चयोऽपिना प्रतिपाद्यते । दिशि प्रियतोदयसमये वक्तरि सात्त्विकोदयो भावनीयः। अन्यच्च यत्र भानुरुदेति सैव नमनीया दिगिति कर्मिष्ठप्रसिद्धेरितिवत् श्रीवृषभानुनन्दिन्याविर्भावस्थलमेवोदयाचल इति वक्तुः सर्वदा सर्वबुद्ध्यवस्थासु तन्नमनैकसम्मुखत्वाभ्यस्तचरत्वात्स्वस्य दायप्राप्तममतास्पदतया श्रीवरसानुः श्रीवृन्दावनञ्चेति स्वतः सहृदयैर्ज्ञास्यत एवेति धामनामानुक्त्या व्यञ्जयति। अभ्यस्तचरत्वमग्रेव्क्ष्यति-'जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिषु' इति । उत्कर्षं ज्ञापयति 'तस्याः' कस्या 'यस्या' इति ।

कदाप्यनियतसमये, वक्तृमनोनिहितभावगम्ये नियतसमये वा वसनप्रान्तस्य खेलनं यादृच्छिकं वा निजोद्देश्यकं तस्मात्प्रकटितेन अतएव

रसकलश

अथवा अन्तरंग हितसखी के स्वरूप की दृष्टि से अपने इष्ट के प्रत्येक सम्बन्धी के परम इष्ट होने के कारण 'दिशा को भी नमस्कार हो' इस वाक्य -'भी' शब्द द्वारा उनसे सम्बन्धित सभी पदार्थों का समुच्चय (करके नमस्कार करना) बताया गया है। दिशा के प्रति प्रियभावना का उदय होने के समय वक्ता को सात्विकभाव (स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि) हुए होंगे, यह समझ लेना चाहिए। और भी एक बात है जैसे कर्मकाण्डी लोग जिस दिशा से भानु (सूर्य) का उदय होता है उस दिशा को नमस्कार करने योग्य मानते हैं वैसे ही वक्ता के लिए श्रीवृषभानुनन्दिनी जी के आविर्भाव का स्थान ही उदयाचल पर्वत है क्योंकि वक्ता स्वयं सदा सभी बौद्धिक अवस्थाओं में उसी दिशा को नमस्कार करने की सम्मुखता के पहले से अभ्यस्त हैं। (दाय भाग के रूप में) प्राप्त होने के कारण श्रीराधाजी की ममता के पात्र 'बरसाने' को और वृन्दावन को तो यहाँ सहृदयजन स्वयं ही जान लेंगे यह भाव धाम का नाम न लेने के द्वारा प्रकट किया गया है। 'वक्ता के पहले से अभ्यस्त' होने की बात तो आगे 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे' इत्यादि श्लोक में कहेंगे ही। उन श्रीराधाजी का उत्कर्ष 'उनके' इस शब्द से, किनके ? इस प्रश्न पर 'जिनके' इन शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है।

'कभी' का अर्थ है अनियत समय में अथवा वक्ता के मन में निहित भाव से गम्य किसी नियत समय में। वसनाञ्चल का खेलन आकस्मिक भी हो सकता है अथवा अपने ('श्रीमधुसूदनके') लिये भी होसकताहै। उस वसनाञ्चलके खेलनसे प्रकट हुए, अतएव

धन्यातिधन्येतिपदवी श्लाघ्यत्वपरमकाष्ठापन्नेन प्रियानुगतत्वाल्लब्ध-याथार्थ्येन पवनेन मधुसूदनः श्रीकृष्णोऽपि कृतः साधितः अर्थो यस्येति सिद्धार्थोऽस्मीति मानी भवति ।

अपीत्यसम्भावनाभासमुद्दीपयन्विशिनष्टि योगीन्द्राणां शिवसनक-नारदशुकादीनां दुर्गमा गतिर्यस्येति उपायखिन्नत्वेऽपि तद्दौर्ल्लभ्यद्योतनेन मृग्यानुग्रहत्वं स्वसाहसालभ्यत्वं भावमात्रैकप्राप्तिकृतार्थीकरणं च व्यनक्ति । अत्र कृतार्थपदेन सन्मृग्यानुग्रहोऽप्येतदनुग्रहं वाञ्छति इति दुर्ल्लभोऽप्येत-द्दुर्ल्लभमानीति तत्कृतार्थीकरणोऽप्यत्र कृतार्थमानीत्यासक्त्युत्कर्षेण मधु-सूदनपदेन च प्रसिद्धैश्वर्य्योऽपि तल्लघूकृत्य स्वसंवेद्यसुखप्राप्त्या माधुर्य्यमग्न इति रसिकशेखरत्वं ज्ञापयति। तेन श्रीमत्याः परमसौभाग्योत्कर्षोऽनुज्ञाप्यते।

रसकलश

धन्य अतिधन्य की पदवी को प्राप्त होने से श्लाघनीयता या प्रशंसनीयता की परम सीमा पर पहुँचे हुए, प्रिया के अनुगत होने के कारण 'पवित्र करने वाला' इस अपने नाम के वास्तविक अर्थ को प्राप्त कर लेने वाले 'पवन' से, मधुसूदन 'श्रीकृष्ण' भी अपने आपको कृत अर्थात् सिद्ध हो गया है अर्थ जिसका ऐसा कृतार्थ या सिद्धार्थ मानने लगते हैं ।

'मधुसूदन (श्रीकृष्ण) भी' में 'भी' शब्द के द्वारा असम्भावना के आभास को उद्दीपित करके 'मधुसूदन' का विशेषण बताते हैं–योगीन्द्रों-शिव, सनक, नारद, शुक आदियों के लिए भी दुर्गम है गति (प्राप्ति) जिनकी ऐसे मधुसूदन । अर्थात् शिवादि योगीन्द्रों के लिए उपायों से खिन्न होने पर भी उनकी दुर्लभता कहने से यह प्रकट हुआ कि वे यदि अनुग्रह करें तो ही वे मिल सकते हैं, अपने साहस से वे लभ्य नहीं हैं और भाव-मात्र की प्राप्ति से ही कृतार्थ कर देने वाले हैं । ऐसे मधुसूदन भी यहाँ कृतार्थमानी हो जाते हैं, यह कहने का यह तात्पर्य हुआ कि योगीन्द्र जिनका अनुग्रह चाहते हैं वे भी इन (श्रीराधाजी) के अनुग्रह की अभिलाषा किया करते हैं अर्थात् वे दुलर्भ मधुसूदन भी इनको दुर्लभ मानते हैं, उन योगीन्द्रों को कृतार्थ करने वाले भी यहाँ अपने आपको कृतार्थ मानते हैं । इससे आसक्ति का उत्कर्ष सूचित होता है और मधुसूदन शब्द से वेदप्रसिद्ध ऐश्वर्य वाले भी उस ऐश्वर्य को तुच्छ मानकर स्वसंवेद्य सुख की प्राप्ति के निमित्त से माधुर्य में मग्न हो जाते हैं, यह कथन मधुसूदन की रसिकशेखरता को प्रकट करता है और उससे श्रीमती (राधिका जी) का परम सौभाग्योत्कर्ष जाना जाता है ।

उक्तार्थं विशदयति कदापीत्यनियतत्वकथनेन साधारणसमये-ऽप्येवं तदास्वोद्देश्यसमये तु किं वाच्यम् । तादात्विकानन्दस्य मद्धृदयमेव साक्षीति नियतसमयमाह । वनविहारे सौगन्ध्यलुब्धागतभ्रमरनिवारणार्थं वसनाञ्चलखेलनं, क्वचिन्निलयनादिक्रीडावशेन सखीसन्निधानाभावात्स्वयमेव श्रमापोहार्थं वा, पुष्पावचयादिप्रसादवशेन श्रान्तप्रियसुखार्थमिति वा तस्य च तादात्विकशोभैकमग्नतया सेवाविस्मरणं ज्ञेयम्, तदानीं तत्कृतवातेन वाञ्छिताधिकसिद्धिप्राप्त्या धन्यातिधन्यमननं प्रभुकृतप्रसादस्य दासैकजीवातुत्वात् ।

रासे च सम्मुखनृत्यपराया लास्यगतावभिनयशोभनभङ्ग्याञ्चलेपरावृत्य शिरसि धारिते पुनस्तद्भङ्गीविशेषेण गतिग्रहणे करेणाञ्चलखेलनं तज्जवाते रूपगतिभङ्ग्यादिश्लाघनवशेन

रसकलश

इसी कही हुई बात को स्पष्ट करते हैं 'कभी' शब्द के 'अनियत समय में' इस अर्थ से अर्थात् जब साधारण समय में यह बात है तब श्रीकृष्ण के अपने उद्देश्य से जब ऐसा अनुग्रह होता है तब का क्या कहना ? उस समय के आनन्द का तो मेरा ही हृदयही साक्षी है । अब नियत समय कहते हैं–**वन विहार में**–प्रिया जी के सहज सौगन्ध्य पर लुब्ध होकर आए हुए भ्रमर के निवारण करने के लिये जो वसनाञ्चल का खेलन हुआ, कहीं लुकना-छिपना आदि क्रीडा के कारण किसी अन्य सखी के पास न होने पर स्वयं ही श्रम-क्लम को हटाने के लिए जो वसनाञ्चल हिलाया गया, पुष्प चुनने आदि की सेवा से प्रसन्न हो कर श्रान्त प्रिय (श्याम) के सुखके लिए जो वसनाञ्चवल का ही व्यजन बनाया गया और उस समय श्याम श्रीप्रियाजी की शोभा के दर्शन में ऐसे मग्न रहे कि उन्हें सेवा का विस्मरण हो गया, तब उन (श्रीराधाजी) के द्वारा किए गये पवन से मनोरथ से भी अधिक सिद्धि प्राप्त होने के कारण अपने आपको धन्य अतिधन्य मानना सम्भव हुआ, क्योंकि प्रभु की प्रसन्नता ही दास के जीवन का एक आधार है ।

रास में–सामने ही नृत्य करती हुई प्रियाजी ने नृत्य की गति में अभिनय की शोभनीय चेष्टा के साथ वसनाञ्चल को घुमा कर सिर पर धारण किया, फिर उसी चेष्टाविशेष के साथ नृत्य गति को अपनाते हुए हाथ से वसनाञ्चल का खेलन हुआ और उससे उत्पन्न पवन के विषय में रूप, गति और भंगी (चेष्टा) आदि की प्रशंसा से

पुनः पुनस्तच्छलाघनातृप्तया धन्यातिधन्येति प्रियप्रोक्तं श्रीहितेनात्रानूक्तं ज्ञेयम्, अन्यथा खेलनोत्थपवनेत्युक्तावेव चरितार्थत्वात् ।

सुखासनस्थितौ च किञ्चिल्लीलावशेन तद्भ्रामणं कौतुकत्वात्खेलनमेव, यद्वा कदापीत्युक्तेः सर्वदा तु सन्निकृष्ट एवेति परन्तु कदाचित्प्रेमवैचित्यमपि सङ्गतं स्यात् यथा—

"अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापम्"

इति वक्ष्यमाणवत्प्रियस्य तस्या विप्रकृष्टव्यवहितत्वमनने ध्यानाविष्टस्य समीपस्थायास्तदानीं पवनेन वसनाञ्चलपरिशीलितचरपरिमलप्राप्त्या घ्राणज्ञानेन 'अहो दूरस्थाया वसनवातो मद्भाग्येनैवायं प्राप्तो धन्योऽस्ति मां विरहिणं कृतार्थयतीति' तदनन्तरं प्रियया सप्रसादद्रवं तत्सावधानीकरणार्थं स्ववसनाञ्चलचालनं कृतम् तेन समागतां ज्ञात्वा वातेऽतिधन्यत्वमननम् ।

रसकलश

बार २ प्रशंसा करने पर भी तृप्ति न होने से 'धन्य अतिधन्य' यह शब्द जो पहले प्रियतम ने कहे थे, उन्हीं का श्रीहितमहाप्रभु ने अनुवाद किया है ऐसा जानना चाहिए, अन्यथा खेलन से उत्पन्न पवन से' इतना ही कहने पर भी बात बन जाती ।

आराम से विराजमान होने की स्थिति में—किसी लीला के वश वसनाञ्चल को घुमाना ही कौतुक से खेलन करना है । अथवा 'कभी' कहने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सदा तो समीप ही रहते हैं किन्तु कभी प्रेमवैचित्य भी हो जाता है जैसे—

"अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापम्"

इस श्लोक में कहा जाएगा । उस समय प्रियतम प्रियाजी को अपने से दूर या ओझल मानकर ध्यानाविष्ट हो जाते हैं तब पास में विराज रही प्रियाजी के वसनाञ्चल में पवन के द्वारा पहिले से अनुभव की हुई सुगन्धि को पाकर घ्राणसम्बन्धी ज्ञान से 'अहो मुझे दूरस्थ प्रिया के वस्त्र का पवन सौभाग्य से प्राप्त हो गया है यह पवन धन्य है, जो मुझ विरहीको कृतार्थ कर रहा है' ऐसा कहते हैं । तब प्रियाजी ने कृपा से द्रवित होकर उन्हें सावधान करने के लिए अपने वसनाञ्चल का चालन किया, उससे प्रियाजी को समीप में आई हुई जानकर प्रियतम ने पवन को अतिधन्य माना ।

विलासे च आरम्भे वक्षोजाञ्चलग्रहणादिलौल्ये वाम्यसहिताधिक्षेपजाञ्चलोत्थे धन्यत्वं, विलासान्ते च प्रियश्रमाम्बु दृष्ट्वा सघृणप्रसादाञ्चलोत्थेऽतिधन्यत्वं, तादृशवातेन कृतार्थमानीति किञ्चैवंरीतिकप्रसादपवनः कदापि वातीति न सर्वदेति । सदा तु श्रीमत्या आसज्यत्वात्प्रियस्य दास्यैकनिष्ठत्वान्न तत्कृतवातावसर इत्येवं यथा सहृदयैकभावनीयावसरे तादृशभङ्गिकाञ्चलचलनोत्थवाते तादृक्सप्रिया-सखीमनोहारि धन्यातिधन्यत्वं ज्ञेयम् ।

धन्यपदस्य यौगिकत्वे तु धनयोग्यं धन्यमिति निरुक्त्या लाभकारी-त्यर्थः, तादृशस्य सर्वस्पृहणीयत्वात् श्रेष्ठपुण्यशीलाद्यर्थप्रसिद्धेः, यथा कुशलेत्यस्य विवेचकत्वार्थबाधेन निपुणार्थरूढिः । लाभोऽत्र स्वजीवातु-तद्वक्षोरुहादिसङ्गस्मरणम् ।

रसकलश

विलास में—आरम्भ में प्रियतम द्वारा कुच और वसनाञ्चल आदि ग्रहण करने की चञ्चलता में बाह्य प्रतिकूलता के कारण प्रियाजी ने जो अधिक्षेप किया उससे वसनाञ्चल में से उत्पन्न होने के कारण पवन में धन्यता आई, उस पवन से प्रियतम (मधुसूदन) ने अपने आपको कृतार्थ माना । फिर ऐसा कृपापवन कभी ही बहता है न कि सदा । सदा तो श्रीमती (प्रियाजी) के आसज्यता (प्रीतिपात्रता) के कारण प्रियतम दास्यभाव की निष्ठा में रहते हैं, तब प्रियाजी द्वारा की गई पवन का अवसर नहीं आता, इस प्रकार जैसी सहृदयों की भावना हो उसके अनुरूप अवसर पर उसी प्रकार से प्रियाजी के सहित सखीजन के मन को हरने वाली धन्यातिधन्यता का भान होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

यदि धन्य शब्द को यौगिक माना जाए तो 'धन योग्य धन्य होता है' इस निर्वचन से धन्य का अर्थ होगा लाभकारी और लाभकारी वस्तु सबके लिए स्पृहणीय या वाञ्छनीय होने के कारण अवश्य ही श्रेष्ठ और पुण्यशील है यह बात सिद्ध होती है, जैसे कुशल शब्द की विवेचकत्व सम्बन्ध से 'निपुण' अर्थ में रूढि है । यहाँ पवन से प्रियतम को लाभ है, अपने जीवनाधायक प्रियाजी के श्रीअंगों का स्मरण ।

किञ्च तदीयैकपटावृतिशयने तत्सौगन्ध्याभ्यस्तत्वात्तदनिर्वचनीयाऽऽनन्दस्य तद्धृदयैकसाक्षित्वम् ।अतो धन्यस्तद्दिश्यस्तदङ्गपरिमलयुतोऽतिधन्य-इति प्रियोक्तिपक्षः । सखीवक्तृकत्वे च वरवशीकरणकार्मणसिद्धेः सहचरी-परमाभीष्टत्वं लोके प्रसिद्धम्, तथात्र कृतार्थमननं दृष्ट्वा पवनकृतकार्मण साहाय्यं मत्वेव तं प्रस्तौति, धन्यादप्यतिधन्योऽसि यदस्मत्तोऽपि कार्यकुशल इति। यद्वा यादृच्छिकश्रीवनजन्यत्रिविधसुस्पर्शवत्तया धन्यः । प्रियासेवार्थ-मागत इत्यतिधन्यः । वसनाञ्चलखेलनेन प्रियं प्रति करधूननचन्द्रिका-वल्गनादियुतविलासविशेषस्मृतिपोषदानात् । यद्वा व्यजनादिना प्रिया-सेवापराणां धन्यानामस्माकमपि कस्मिंश्चिद्विहारविशेषे नैव गतिः, तत्रापि तव सेवनपरत्वादतिधन्यत्वमित्यादि संवादभङ्गीगर्भितवाक्यं तत्रासामपि श्लाघनानुवादः पद्ये कविकृत इति हि ज्ञेयम् ।

रसकलश

और उन (श्रीराधाजी) के एक वसनरूपी आस्तरण पर शयन के समय उसकी सुगन्ध के अभ्यस्त होने के कारण उस अनिर्वचनीय आनन्द का तो उन (प्रियतम) का हृदय ही एकमात्र साक्षी है । अतः उनकी दिशा से आने वाला पवन धन्य है तथा उनके श्रीअङ्गों की परिमल (सुगन्धि) से युक्त होने के कारण अतिधन्य है यह प्रियतम द्वारा 'धन्य अति धन्य' कहने के पक्ष में तात्पर्य है । सखीजन के कहने के पक्ष में वर क वशीकरण रूप कार्मण (टोने टोटके) की सिद्धि सहचरीजन को परम अभीष्ट होती है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है । वैसे ही यहां पर भी प्रियतम का अपने आप को कृतार्थ मान लेना देखकर पवन ने हमारे कार्मण (टोने टोटके) में सहायता की है, ऐसा मान कर पवन की स्तुति की है कि यह पवन धन्य से भी अति धन्य है क्योंकि हमसे भी अधिक कार्यकुशल है । अथवा श्रीवन में उत्पन्न होने और शीतल, मन्द, सुगन्ध तीन गुणों के साथ सुखदस्पर्श होने के कारण यह पवन धन्य है, प्रियाजी की सेवा के लिए आया है अतः अति धन्य है क्योंकि वसनाञ्चल के खेलने से प्रियतम के प्रति प्रियाजी के करधूनन (हाथ झिटकना) चन्द्रिकावलन, (चन्द्रिका का हिलना) आदि से युक्त विलास विशेष की स्मृति का पोषण होता है । अथवा 'व्यजन आदि के द्वारा प्रियाजी की सेवा में तत्पर हम लोग धन्य हैं, किन्तु किसी विहारविशेष में हमारा भी प्रवेश नहीं है, वहाँ भी पवन, तुम सेवापरायण रहते हो अतः अति धन्य हो इत्यादि सखीपवन संवाद-सम्बन्धी चेष्टाओं से पूर्ण वाक्य है और उसमें भी सखियों द्वारा की गई पवन की श्लाघा का अनुवाद पद्य में कवि ने कर दिया है, ऐसा जानना चाहिए ।

कव्युक्तौ च तल्लीलास्थलजन्यत्वाद्धन्यस्तद्वसनसङ्गादतिधन्य इति यथासहृदयगम्योऽर्थः । 'यस्या इति वसनेति पवनेति' एषु पदेषु पूर्व्व-पूर्व्वकैमुत्यं कृतार्थमनने ज्ञेयम् । अनेन कृतार्थपदेन सदारुचिनूतनता दर्शिता न तु लोकवत्प्राप्त्यनन्तरशैथिल्यमिति ।

अत्रैव प्रस्तुतानुकूल्येन मधुसूदनस्य नायकशिरोमणेरनन्यज्ञातृत्वेनै-तद्भिन्नशीलत्वं व्यावृत्तं ग्रन्थप्रतिपाद्यं हार्दं च दर्शितम् (निर्दिष्टम्) किञ्च प्रियाया आसक्तेर्विषयत्वं प्रियस्याश्रयत्वमेव । मधुसूदन इत्यत्रापीत्यस्या-न्तरङ्गौचित्यानन्दापेक्षया किमसम्भाव्यं चेत्तत्राह मधुग्रहणार्थेन नित्यप्रिया-हृत्कञ्जवासी वा तदधरमध्वास्वादलम्पटो वा प्रत्यङ्गकमलोपमानेन-

रसकलश

कवि की उक्ति होने पर प्रियाप्रियतम के लीलास्थल में उत्पन्न होने के कारण 'धन्य' है, श्रीप्रिया जी के वसनसंग से अतिधन्य है। इस प्रकार जो जितना अधिक सहृदय होगा वह उतना अधिक (अर्थ) भाव समझेगा। 'जिनके' 'बसन' और 'पवन' इन शब्दों में पूर्व पूर्व का कैमुतिकन्याय अपने आप को कृतार्थ माननेमें जानना चाहिए। अर्थात् प्रिय-तम तो प्रियाजी की दिशा से आए पवन से ही अपने आपको कृतार्थ मानते हैं फिर वह पवन उस दिशा के किसी वसन से उत्पन्न हुआ हो तो उनकी कृतार्थता का क्या कहना, फिर वह वसन भी यदि प्रियाजी का हो तब तो प्रियतम की कृतार्थता का क्या ही कहना। इस कृतार्थ शब्द से प्रियतम की रुचि की सदा नवीनता दिखाई गई है। सामान्य पुरुषों के समान प्राप्ति के बाद प्रियतम की रुचि में शिथिलता नहीं आाता है।

यहां पर ही प्रस्तुत प्रसङ्ग की अनुकूलता से मधुसूदन नायकशिरोमणि हैं इसके एकमात्र अनन्य ज्ञाता होने से इससे भिन्न शील (अनेक चित्त होने के स्वभाव) का निवारण किया गया है तथा ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य आशय भी दिखाया गया है। और भी एक बात है कि प्रिया जी आसक्ति का विषय हैं और प्रिय आसक्ति का आश्रय हैं। 'मधुसूदन भी' इस कथन में 'भी' इस शब्द के अन्तरङ्ग (रहस्यमय) औचित्य के आनन्द की अपेक्षा से क्या नहीं हो सकता? इस पर कहते हैं कि मधुग्रहण करने के लिये यह नित्य ही के हृदयकमल में निवास करते हैं, अथवा उन (प्रियाजी) के अधरमधु के आस्वादन के लोभी हैं अथवा उनके प्रत्येक अङ्ग से कमल की उपमा दिये जाने के कारण

प्रियैव रूपलावण्यादिमधुसम्भृतं कमलं तदेकानन्यमधुपोऽप्यद्य सिद्धार्थोऽस्मीति मानीत्यत्र नित्ययोगेऽपि परमतृषितत्वद्योतनेन परमासक्तिर्ध्वनिता। सिद्धिरत्रानुकूल्याभिलाषिणोऽङ्गीकृतिमननम्, अहो एतद्दिग्वातोऽप्यनुकूलो मामङ्गीकरोतीति धन्योऽहं, त्वञ्च तदङ्गसेवापरत्वादतिधन्योऽसि किं वच्मि त्वद्भाग्यमिति। तत्तदनुभूतानन्दस्मृतिदानात्त्वद्द्वारेणैव मदर्थसिद्धिरित्यासक्तिविवशौचित्योक्तिभङ्गीगर्भितत्वमुक्तम्।

अपिशब्दस्य मधुसूदनैकपदनिबद्धत्वं चेत्तदा कृतार्थमानीति वाक्यानन्तरं योगीति विशेषणव्यङ्ग्यमाह—अतएव योगीन्द्राणामपि दुर्व्विवेचनीया गतिः स्वरूपं रीतिर्वा यस्य, अहो तादृशैश्वर्योऽपि तादृशमानीति परमविस्मापक इति सूक्ष्मातिसूक्ष्म

रसकलश

वे (श्रीप्रियाजी) ही रूप और लावण्य आदि मधु से भरे हुए कमल हैं और प्रियतम उस एकमात्र कमल के ही अनन्य मधुप (मधुपान करने वाले भ्रमर) हैं तो भी आज ही अपने आपको सिद्धार्थ मान रहे हैं। 'कृतार्थमानी' शब्द से नित्य संयोग में भी बहुत प्यासे हैं, यह प्रकट होता है, जिससे प्रियतम की प्रियाजी में अत्यन्त आसक्ति ध्वनित या प्रतीत होती है। सिद्धि (सिद्धार्थता या कृतार्थता) यहां यही है कि प्रियाजी की नित्य अनुकूलता चाहने वाले प्रियतम को आज ऐसा अनुभव हो रहा है कि मुझे अङ्गीकार कर लिया गया है, "अहो! प्रियाजी की दिशा का पवन भी अनुकूल होकर आज मुझे स्वीकार कर रहा है इसलिए मैं धन्य हूँ।" उस अनुभव किए गये आनन्द का स्मरण करा देने के कारण "हे पवन! तेरे द्वारा ही मेरे मनोरथ की सिद्धि होगी" इस प्रकार अपने आपको कृतार्थ मानने के साथ साथ अत्यन्त आसक्ति से विवश होने के योग्य वचन और चेष्टा से परिपूर्ण होना भी कहा गया है।

यदि 'अपि' या 'भी' शब्द केवल 'मधुसूदन' शब्द के साथ सम्बद्ध हों तो 'कृतार्थमानी' इस वाक्य के बाद 'योगीन्द्रदुर्गमगति' इस विशेषण का व्यङ्ग्य अर्थ क्या होगा? अब यह बताते हैं–'इसीलिए योगीन्द्रों के लिए भी जिनकी गति या रीति या स्वरूप का विवेचन करना कठिन है, अहो', वैसे ऐश्वर्य वाले भी अपने आपको इस प्रकार से कृतार्थ मानते हैं, यह परम विस्मयजनक है। इस प्रकार सूक्ष्म अति सूक्ष्म मर्म

ज्ञानामपि प्रस्तुतानन्दरहस्याज्ञानाद् महाजितेन्द्रियनिष्कामपरि-ग्रहाणामपि, अपि चास्य बुद्धिपूर्व्वकृतार्थमननेन क्रीडामृगत्वदर्शना-द्दुर्वितर्क्य इति । अतो योगीन्द्रेत्यनेन तद्धेयमायिककामादिप्रतीतविलासाः स्वत एव निरस्तास्ततश्च शुद्धप्रेमविलासा अत्र व्यञ्जिताः ।

अथवा योगिनां संयोगिनां शृङ्गार्यभिमानिनां महाविषयिणामिन्द्राः परमभोगिनो विलासिप्रभवस्तेषामपि दुर्गमा दुरूहा दुष्प्राप्या गतिर्विलास-रीतिर्वा रसिकता यस्येति । किञ्च ते तु नायिकां स्वसुखार्थमेव मन्यन्ते । अत्र पतित्वेऽपि तत्सुखसुखित्वासक्तिदास्यादिनियतबुद्ध्या परमसेव्यत्वमनना-दुत्तरोत्तरनिरतिशयाखण्डानन्दैकपर्य्यवसानात्तृप्त्यनुपरमाच्च गतेर्दुष्प्राप्यत्वं

को जानने वालों को भी प्रस्तुत (श्रीनिकुञ्जलीला) के रहस्य का ज्ञान न होने के कारण तथा परम जितेन्द्रिय, निष्काम और अपरिग्रही सत्पुरुषों को भी इन (मधुसूदन) के बुद्धिपूर्वक अपने आपको कृतार्थ मानने से और श्रीप्रियाजी के क्रीडामृग के जैसे दीखने से यह (मधुसूदन) सचमुच उनके लिए भी दुर्वितर्क्य अर्थात् अचिन्त्य हैं। इसलिए 'योगीन्द्रदुर्गमगति' इस विशेषण से योगीन्द्र जन जिन मायामय कामादि से सम्बन्ध रखने वाले विलासों को हेय मानते हैं वे यहाँ (श्रीनिकुञ्जलीला में) से अपने आप ही दूर कर दिये गए हैं अतएव यहाँ विशुद्ध प्रेम के ही विलास प्रकट होते हैं, यह भी सिद्ध होता है।

अथवा योगियों अर्थात् संयोगियों के या अपने आपको शृंगारी मानने वालों के अर्थात् महाविषयी लोगों के भी जो इन्द्र या मुख्य हैं, जो भोगी और विलासी लोगों के स्वामी हैं उनके लिये भी जिन (मधुसूदन) की गति परम रति, विलासरीति या रसिकता दुर्गम-दुरूह और दुर्लभ-है, ये ऐसे हैं। दूसरी बात यह है कि वे तो नायिका को अपने सुख का ही साधन मानते हैं। किन्तु यहाँ (श्रीनिकुञ्जलीला) में पति होते हुए भी श्रीप्रियाजी के सुख में ही सुखी होना, आसक्तभाव, दास्यभाव आदि में नियत बुद्धि के कारण श्रीप्रिया जी को परमसेव्य मानना और उत्तरोत्तर अधिकाधिक अखण्ड आनन्दमात्र में उस भावना का पर्यवसान होने के कारण और कहीं भी तृप्ति के कारण उपराम न होने के कारण, इन (मधुसूदन) की गति की दुर्गमता का

विस्मापकत्वमुचितमेवेति शृङ्गारविलासमात्रापेक्षयोक्तम् । ऐश्वर्ये तु कैमुत्यमेवेति । यद्वा योगीन्द्रपदमन्तरङ्गसख्युक्तौ बहिरङ्गमिति मन्यमानभावकानुमोदनार्थमन्यदप्याह-द्विदलात्मक शृङ्गारे विप्रलम्भलवाभासमसहमानत्वात् । योगः संयोगरसस्तत्सिद्धान्तनिष्ठत्वात्तत्सम्प्रदायिनः सखीजनास्तदाचार्यत्वादिन्द्राः प्राप्तैश्वर्या यूथेश्वर्यो ललिताद्या वा अतितृषितप्रियस्य योजनमेव योगस्तत्रासाधारणगुणकुशलत्वादिन्द्रास्तत्राप्यशक्यकरणेन प्राप्तप्रियप्रशंसनोत्कर्षाच्चेन्द्राः, यथा कविरेव कवीन्द्र इतिवत्, तेषामपि दुर्गमरहस्य इति ।

किञ्च तेऽपि नित्ययोगे कृतार्थमननेन विस्मयं कुर्वन्ति । अत्राशक्यकरणं काकुचाटुनत्यादिरपि प्रियस्य न सिद्ध्येत्तत्रैते प्रियावाम्यं शमयित्वा संयोजयन्ति,

रसकलश

विस्मयजनक होना उचित ही है । ऐसा केवल शृङ्गार विलासों या माधुर्य की दृष्टि से कहा जाता है । जब माधुर्यभाव से मधुसूदन योगीन्द्रदुर्गमगति हैं तब ऐश्वर्यभाव का क्या कहना ? अथवा 'योगीन्द्र' शब्द से तो अन्तरङ्ग सखी (श्रीहितसखी) की उक्ति में बहिरङ्ग की चर्चा होगी, ऐसा मानने वाले भावुकों के भाव का अनुमोदन करने के लिये इसका दूसरा भाव भी बताते हैं— द्विदलात्मक श्रृंगार में विप्रलम्भ या वियोग के तो लेशमात्र का भी आभास नहीं सहा जाता है अतः 'योग' का अर्थ 'संयोगरस' होगा, संयोग रस के सिद्धान्त में निष्ठा होने के कारण उस सम्प्रदाय के सखीजन उस रस के आचार्य होने के कारण योगीन्द्र कहे जाएँगे अथवा जिन्हें ऐश्वर्य प्राप्त है ऐसी ललिता आदि यूथेश्वरी अत्यन्त तृषित (प्यासे) प्रिय का प्रियाजी से योग (मिलन) सम्पन्न करती हैं, इस योग (मिलन) में असाधारणगुणों के कारण वे कुशल हैं, अतः इन्द्र या श्रेष्ठ कहलाती हैं। उसमें भी अशक्य वस्तु (न हो सकने वाली बात) क सम्भव कर देने के कारण प्रिय द्वारा प्रशंसा का उत्कर्ष प्राप्त करती हैं, अतः इन्द्र हैं। जैसे कवि ही कवीन्द्र कहलाता है, ऐसे ही योगी ललितादि सखीजन ही योगीन्द्र कहलाते हैं। उनके लिये भी मधुसूदन का रहस्य दुर्गम है।

वे भी नित्य संयोग में भी 'वसनाञ्चल के खेलन से उत्थित पवन के लगने से अपने आप को कृतार्थ मानने के कारण मधुसूदन पर आश्चर्य करती हैं। अशक्य वस्तु को सम्भव करना इस प्रकार है कि जहाँ प्रिय के काकु (दीनवचन) चाटु (प्रियवचन) और नति (प्रणाम) आदि भी सफल नहीं होते वहाँ भी ये ललितादि सखीजन प्रिया जी की प्रतिकूलता को शान्त करके इन (प्रिया प्रियतम) को आपस में मिला देते है ।

तदा प्रियप्रशंसाप्राप्तिरिति कदाचित्तादृश्योऽपि मानाधिक्येऽनुनेतुं न शक्नुवन्ति, तदा प्रियो दुर्घटघटनोपायानेवं करोति यत्पश्यन्तीनामपि मनोवागतीतं प्रियावशीकरणकौशलं चित्रमुत्पादयेत् तदास्य रसिकगतिं दुर्गमां मन्यन्त इत्यादि सहृदयगम्योऽर्थः ।

एवं श्रीहितः स्ववस्तूत्कर्षातिशयमनुभूतं स्मरन् धन्यासौ दिग् यस्यां सा राजते इति दिशं प्रति प्रसद्य त्वत्सदृशी त्वमेवेत्यपि नमनभङ्ग्या व्यञ्जयन्, सूक्ष्मसम्बन्धपर्यन्तस्यापि नमस्कारेण सजातीयाशयानभिमुखीकरोति शिक्षयति चेति ।

अनन्यमधुपं नौमि प्रियाकञ्जैकजीवनम् ।
तत्कञ्जं यत्र वसति तस्यै चापि दिशे नमः ॥१॥

रसकलश

तब प्रियतम से प्रशंसा प्राप्त करती हैं । इस प्रकार कभी ऐसी कुशल होती हुई भी अधिक मान की अवस्था में प्रिया जी को मनाने में समर्थ नहीं होतीं, तब प्रिय कठिन से कठिन उपाय करते हैं, जिन को देखती हुई सखीजनों को भी मनवाणी से परे प्रियाजी को वश में करने की श्यामसुन्दर की चतुराई आश्चर्यचकित कर देती है, तब वे उनकी रसिक गति को दुर्गम मानती हैं इत्यादि सहृदयों द्वारा ही समझा जाने वाला व्यङ्ग्य अर्थ है ।

इस प्रकार श्रीहितमहाप्रभु अपनी वस्तु के अत्यन्त उत्कर्ष का स्मरण करते हुए कहते हैं कि वह दिशा भी धन्य है, जिसमें वे (श्रीराधा) विराजमान हैं । दिशा के प्रति प्रसन्न होकर 'तुझ जैसी तू ही है' यह भाव नमस्कार के द्वारा व्यक्त करते हुए, सूक्ष्म सम्बन्ध तक भी नमस्कार करने के द्वारा सजातीय आशय वाले सहृदयों को श्रीप्रियाजी और उनसे सम्बन्धित वस्तुमात्र के प्रति अभिमुख करते हैं और उन्हें अपने आचरण द्वारा उपदेश देते हैं ।

'श्रीप्रिया रूपी कमल ही जिनका एकमात्र जीवनाधार है उन अनन्य मधुप 'प्रियतम' की मैं स्तुति करता हूँ । वह श्रीप्रियारूपी कमल जिस दिशा में विराजमान है, उस दिशा को भी नमस्कार है ॥१॥'

तदेवं सर्वाराध्याराधनीयतोक्तावत्यन्तदुर्ल्लभत्वे शरणागतानामाधुनिकानां तत्पदप्राप्तौ किमालम्बनम्, तत्रैश्वर्यतोऽपि कृपातिरेकेण महिमानं नमति—ब्रह्मेति ।

ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहपदारविन्द—
श्रीमत्परागपरमाद्भुतवैभवायाः ।
सर्व्वार्थसाररसवर्षिकृपार्द्रदृष्टे—
स्तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो महिम्ने ॥२॥

ब्रह्मा शिवश्च आदिशब्देन सर्वे सनकनारदाद्या भक्तिवशीकृतभगवच्चरणास्तेषां दुरूहं कृष्ण-पदारविन्दं सुतरां दुरूहं तस्याः पदारविन्दं तस्य यः प्रसिद्धः परागादपि विशेषशोभाढ्यः श्रीमत्परागस्तस्य परमाद्भुतवैभवं यस्याः

रसकलश

'इस प्रकार सब के आराध्य (श्याम) की भी आराधनीया (श्रीराधा) हैं, यह कह कर उनके अत्यन्त दुर्लभ होने पर शरण में आये हुए आधुनिक आराधकों के लिये उनके चरणों की प्राप्ति के लिये क्या आलम्बन या क्या सहारा है? इस जिज्ञासा में ऐश्वर्यभाव की दृष्टि से भी कृपातिरेक (अत्यन्त कृपा) करने के कारण श्रीराधा जी की महिमा को नमस्कार करते हैं—

'जिनके चरण कमलों के शोभाशाली पराग (रजकणों) का अत्यन्त अद्भुत (आश्चर्यजनक) वैभव (व्यापक ऐश्वर्य) ब्रह्मा, शङ्कर आदि के लिये भी सुदुरूह या सुदुस्तर्क्य (समझना बहुत कठिन) है और जिनकी कृपा से आर्द्र (सजल) दृष्टि सब पुरुषार्थों के सारभूत (भक्ति) रस की वृष्टि करने वाली है, उन श्री वृषभानुनन्दिनी जी की महिमा को नमस्कार हो।२।'

ब्रह्मा, और शङ्कर आदि शब्द से अन्य सब सनत्कुमार, नारद आदि महात्मा जिन्होंने भक्ति द्वारा भगवान के चरणों को वश में कर लिया है अर्थात् अपने चित्त में स्थिर कर लिया है, उन सबके लिये श्रीकृष्णजी के ही चरण कमल दुरूह या दुस्तर्क्य (समझने कठिन) हैं फिर श्रीराधा जी के चरणकमल तो अत्यन्त दुरूह (समझने कठिन) हैं फिर उन चरणकमलों का जो जगत्प्रसिद्ध पराग से विशेष शोभाशाली पराग है उस श्रीमान् पराग का अत्यन्त अद्भुत वैभव या ऐश्वर्य तो बहुत ही दुरूह है।

यद्वा श्रीमदिति श्रीनिवासत्वं यथा "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसाद" इति वाक्यात् श्रिया अप्यभिलाषो गोपीपदरजसि जात इति गम्यते, तत्र गतयापि तासामपि तत्कदम्बचूडामणिश्रीस्वामिनीपादरेण्वाधानं मूर्द्धनि दृष्टम् "आधाय मूर्द्धनि यदापुरुदारगोप्यः" इति वक्ष्यत्येव। श्रियापि निजानपायिनीत्वेन कमलात्वविश्रुतयापि तत्परागे स्थितिः कृता, अतः श्रीमत्त्वं परागस्येत्यर्थः।

अथ परमाद्भुतवैभवेति पदत्रयं विव्रियते। पाद्मे "षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा। भक्त्या नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धय" इति, "यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्" इत्यादिशतैर्व्रजगोपीजनपादरजोदुर्ल्लभत्वम्, तदीदृशीनां प्रेमभक्त्याराध्यः श्रीकृष्णस्ततस्तत्पदरजोदुर्ल्लभतरत्वम्, अथ तस्यापि स्वेष्टतया समाराध्या श्रीराधा

रसकलश

अथवा पराग के श्रीमान् होने का अर्थ यह भी हो सकता है कि इस पराग में श्री (लक्ष्मी) का निवास है—'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः' इत्यादि श्रीमद्भागवत के वाक्य से श्री (लक्ष्मी) की भी अभिलाषा गोपियों की चरणरज प्राप्त करने की हुई थी, यह समझा जाता है, जब वे लक्ष्मी गोपियों में गईं तो उन्होंने देखा कि वे गोपियाँ भी गोपीवृन्द में शिरोमणि श्रीस्वामिनी जी की चरणरज को अपने मस्तक पर धारण करती हैं जैसाकि—'आधाय मूर्धनि यदापुरुदारगोप्यः' इत्यादि श्लोक में कहेंगे ही। तब कमला नाम से अथवा कमलवासिनी रूप से प्रसिद्ध लक्ष्मी ने भी सहजभाव से अन्यत्र कहीं न जाते हुए श्रीराधा जी के चरणकमलों की पराग (रज) में स्थान (निवास) कर लिया, अतः पराग श्रीमान् या श्रीनिवास है यह व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है।

अब परम, अद्भुत और वैभव इन तीन शब्दों की व्याख्या करते हैं—पद्मपुराण में लिखा है कि—(ब्रह्मा जी बोले) 'मैंने पहले नन्द गोकुल की स्त्रियों की चरणरज पाने के लिये साठ सहस्र (हजार) वर्षों तक तपस्या की थी' और श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि—'जो गोकुल में भी किसी भी गोपी की चरणरज से अभिषेक प्राप्त कराने वाला जन्म है, वह भूरिभाग्य या बड़भागी है' इसी प्रकार के सैकड़ों वचनों से व्रज के गोपीजनों की चरणधूल को दुर्लभ बताया गया है, अब उन गोपीजनों की भी निज इष्टदेवता होने के कारण श्रीराधा आराधनीया हैं,

ततोऽतिदुर्ल्लभतमत्वमित्यत उच्यते । ब्रह्मेश्वराद्यपेक्षया परमाद्भुत-वैभवत्वं, गोप्यपेक्षयाद्भुतत्वं, श्रीकृष्णापेक्षया वैभवत्वमिति । किञ्च श्रीकृष्णस्य परमरसिकत्वेन शिरोधार्यपरागत्वात्प्रियायाः सौभाग्याधिक्य-मिति वैभवम्, "सद्यो वशीकरणचूर्णम्" इति वक्ष्यत्येव । गोपीदृष्ट्याऽद्भुत-त्वम् 'अहो सौभाग्यं कृष्णोऽप्येवम्' इति ततश्च ब्रह्मादीनान्तु कैमुत्येन परमाद्भुतत्वमिति । एवं पूर्व-पूर्व कैमुत्यं ज्ञेयम् । यद्वा हितसख्युक्तिपक्षे यूथेश्वरीललितादिवन्दनीयत्वाद् वैभवं सानुनयपतिधार्यत्वादद्भुतम्, इष्टव-दाराध्यत्वाद् वशीकरणचूर्णत्वात्परमत्वमिति । तदान्तरङ्गोक्तौ ब्रह्मे-श्वराद्युक्तिस्तत्र शिवनारदादीनामपि सखीवेषेण गमनं तत्र श्रूयते,

रसकलश

अत: उनकी चरणधूलि अत्यन्त दुर्लभ हुई, इसलिये उस चरणधूलि को ब्रह्मा शङ्कर आदि के लिये सुदुरूह और श्रीमती कहा गया है तथा उसके वैभव को परम, अद्भुत बताया गया है। यहाँ ब्रह्मा और शङ्कर आदि की दृष्टि से वैभव को परम अद्भुत और गोपीजन की दृष्टि से अद्भुत तथा प्रियतम (श्याम) की दृष्टि से वैभव कहा गया है। ऐसे ही श्रीकृष्ण के लिये परमरसिक होने के कारण यह चरणधूलि शिरोधार्य है और इससे श्रीप्रियाजी का परम सौभाग्यशालिनी होना ही वैभव है। 'सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिम्' इत्यादि द्वारा श्रीप्रियाजी की चरणरेणु (चरणधूलि) को आगे शीघ्र ही श्याम को वश में कर लेने वाला चूर्ण कहेंगे ही। गोपीजन की दृष्टि से इस चरणधूलि के अद्भुत होने का आशय है, वे कहती हैं कि—'इस चरणधूलि के लिये श्रीकृष्ण भी ऐसे आतुर हैं, अहो प्रियाजी का सौभाग्य लोकोत्तर है।' तब ब्रह्मा आदि की दृष्टि से क्या कहना ? उनके लिये तो यह चरणरज परम अद्भुत ही है। इस प्रकार पूर्व पूर्व के लिये चरणरज का अद्भुत होना अधिकाधिक समझना चाहिये। अथवा यह वचन श्रीहितसखी जी का है इस दृष्टि से यूथेश्वरी श्रीललितादि जी के प्रति वन्दनीय होने के कारण यह चरणरज वैभव है, अनुनय विनय करने वाले प्रियतम (श्रीश्याम) के प्रति शिरोधार्य होने के कारण अद्भुत है और इष्टवत् आराध्य होने के कारण एवं वशीकरण चूर्ण होने क कारण परम हैं। तब अन्तरङ्गलीलाविषयक उक्ति में ब्रह्मा ईश्वर इत्यादि के साथ सनत्कुमार नारद आदि का भी यहाँ पर सखीवेष में आना सुना जाता है,

रसकुल्या

अतस्तद्दृष्ट्योक्तम् । यद्वा सखीनान्तादृशनामसंकेतश्चक्रवर्तिहट्टपण्यादिनामवत्, तदा दुरूहत्वन्नाम शिवब्रह्मादिरूपेणेति, तत्रापि कृपैकलभ्यत्वं ज्ञेयम्, तया किञ्चिन्न स्यादित्याधुनिकसमाश्वासः ।

अतएव यदादिवैभवान्तपदानि समस्य ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहमिति वाक्यं बहुव्रीहित्वेन योजनीयम्, अन्यथा दुरूहपदारविन्दसमासे वैभवन्तु न दुरूहं परमाद्भुतन्तु दुरूहमित्यपि तर्कः स्यात् । नन्वेतस्यागोचरवस्तुनः प्राप्तिः कथमन्येषाम् ? तत्राह—सर्वार्थानां भुक्तिमुक्ति-पर्यन्तानामपि साररूपा भक्तिस्तस्या अपि सारो रसत्वेन वा रसराजत्वेन ख्यातः पूर्णशृङ्गाररसस्तं वर्षयितुं शीलं यस्या एतादृशी कृपा, तत्रान्तरङ्गत्वेनाधिदैविकत्वेनेव नित्यस्थायिनी, तयार्द्रा दृष्टिर्यस्याः । वृष्टिधर्मस्तु कृपायां स्थितः, दृष्टौ कथनेऽवलोकनान्तरायः स्यात्, अतो रसवृष्टिधर्मकृपावासत्वेन सार्द्रत्वम्, अर्थात् परमाद्भुतवैभवापि प्रणतजनेषु कृपाशीलैव, अतः श्रीवृषभानुनन्दिनीमहिम्ने नमोऽस्तु ।

रसकलश

अतः उनकी दृष्टिसे(परम अद्भुत) कहा है । अथवा सखीजनके लिये ब्रह्मा ईश्वर आदि नाम संकेतरूप हैं जैसे चक्रवर्ती, हट्टपण्य आदि व्यक्तिगत संकेत होते हैं । तब दुरूहता ब्रह्मा, शिव आदि के रूपसे रहेगी, क्योंकि उनके लिये भी श्रीप्रियाजी की चरणरज केवल कृपा से ही सुलभ हो सकती है, फिर उस कृपा से क्या क्या नहीं हो सकता, यह आधुनिक आराधक जनों को आश्वासन दिया गया है ।

इसीलिये 'जिनके पदारविन्द के श्रीमतपराग का परमाद्भुत वैभव ब्रह्मा, ईश्वर आदि के लिये सुदुरूह है' यह वाक्यार्थ बहुव्रीहिसमास से प्राप्त करना चाहिये । अन्यथा पदारविन्द के दुरूह होने पर भी वैभव दुरूह नहीं है, वैभव का परमअद्भुत होना दुरूह है इत्यादि तर्क उपस्थित होगा । अब प्रश्न होता है कि ऐसी अगोचर वस्तु की प्राप्ति औरों (आधुनिक आराधकों) को कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि—भोग और मोक्ष पर्यन्त सभी पुरुषार्थों की सारभूत भक्ति है, भक्ति का भी सार रस नाम से विख्यात पूर्ण श्रृंगार है, उसकी वृष्टि करना जिसका शील (स्वभाव) है ऐसी कृपा है । यह कृपा अन्तरङ्ग होने के कारण आधिदैविक-सी है अतः नित्यस्थायिनी है उस कृपा से आर्द्र है दृष्टि जिन (प्रिया जी) की (उनकी महिमा को नमस्कार हो) । यहाँ पर वृष्टि धर्म कृपा में स्थित है, दृष्टि में वृष्टिधर्म कहने से देखने में बाधा होगी । दृष्टि तो इस वृष्टि धर्मवाली कृपा के निवास के कारण आर्द्र है । अथवा श्रीप्रियाजी इस प्रकार परम अद्भुत वैभव की स्वामिनी होती हुई भी प्रणतजनों के प्रति तो कृपाशील ही हैं । अतः उन श्रीवृषभानुनन्दिनी जी की महिमा को नमस्कार हो ।

धन्योऽयं महिमा यदेवमपि जानानानेवं कृपाजलदेन रसमयीकरोति, कृत्वा च स्वनिजानन्दं प्रापयिष्यतीति किमाश्चर्य्यम् । यथा "अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्द" इति वन्महिमार्थः ॥२॥

परागपरमाद्भुतवैभवमाह—

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा, पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
श्रीराधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ॥३॥

य इति तमित्यैश्वर्य्यद्योतकम् । एवन्तस्येत्यपि ज्ञेयम् । ब्रह्माद्यैरैश्वर्येण सर्व्वभावनिष्ठैः, माधुर्यमपि च तेषां भक्तवात्सल्यार्थमेवेति तत्तत्प्रकरणप्रसिद्धमेव न विव्रियते ।

तैः सहसा मनोवेगेनाञ्जसा योगवीर्येणेति यावन् नालक्षितः । आ इति तपोरूपभक्त्या प्रादुर्भावितोऽपि व्रजभक्तवन्नेति माधुर्य्योत्कर्षेण याथार्थ्येन चेत्यर्थः ।

रसकलश

धन्य है यह महिमा जो इस प्रकार भी प्रणतजनों को कृपारूपी मेघ से रसमय बना देती है, रसमय बना कर निजानन्द प्राप्त करा देगी इस में क्या आश्चर्य है ? जैसा कि 'अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः' द्वारा कहा गया है, वैसा ही यहाँ महिमा पदार्थ है ।

श्रीप्रियाजी की चरणरज के परम अदभुत वैभव का वर्णन करते हैं—

'जो ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म आदियों द्वारा सहसा नहीं देखे गये, उन पुरुष या पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) के लिये तत्काल वशीकरण चूर्णरूप, अनन्तशक्तियों वाली, श्रीराधिका जी की चरणधूलि का मैं स्मरण करता हूँ ।'

यहाँ प्रयुक्त 'जो' और 'वह' शब्द ऐश्वर्य के द्योतक हैं । ऐसे ही तस्य--'उस (पुरुष) के' शब्द भी ऐश्वर्य का द्योतक है ऐसा जानना चाहिये । ब्रह्मा आदि ऐश्वर्य के कारण 'उस पुरुष के' प्रति सम्पूर्ण भावनिष्ठा वाले हैं, उन ब्रह्मादियों की निष्ठा में माधुर्य भ है जो कि उस पुरुष की-भक्तों के प्रति-वत्सलता की प्राप्ति के लिये है । यह वस्तु उन-उन कथाप्रकरणों में प्रसिद्ध ही है अतः यहाँ उसकी व्याख्या नहीं करते ।

उन ब्रह्मादियों द्वारा मनोवेग से या योगबल से वे नहीं देखे गये, तपःस्वरूपिणी भक्ति से तत्काल प्रकट किये गये हैं, न कि वैसे, जैसे व्रजभूमि के भक्तों के द्वारा माधुर्य के उत्कर्ष से और यथार्थ रूप से प्राप्त किये जाते हैं ।

रसकुल्या

यद्वा 'आ' ईषदपि स्वैरं नेति, दैन्येन कृपया च लक्ष्यत एवेति तदपि यथाभावनमेव न सर्व्वांशेन। तस्य पुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य रसिकनायक-शिरोमणेः, पुरि वसतीत्यर्थे वृन्दावनैकवासिन इति। एवं वश्यत्वाभावेऽपि सद्योवशीकरणोपायत्वेन विशिनष्टि—'सद्य' इत्यादि। किञ्च प्रियापादरेणु-सेवनलग्नाय जनाय वश्यः प्रियः स्वात्मदायी स्यात्—"संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्योत्सुका" इति वक्ष्यत्येव। अतो ब्रह्माद्यलक्षितोऽपि यत्सेवकवशो भवतीति किं भण्यते रेणुमहिमेति भावः। अत एवानन्तसामर्थ्यमिति। यद्वा न केवलं वशीकरणमेव, किन्तु प्रियाविलासावलोकन—सेवा-सातत्याधिकार—दानाद्यनन्तशक्तिकमिति।

अथवा केन तस्मिन् पुरुषे कामिकचूर्णं पातितं ग्राहितं वेत्यस्मिंस्तर्के बहिरङ्गास्तवसम्भवा एवेति स्फुटमेव। अतोऽन्तरङ्गपक्षे स्वयमेव वा सखीभिरिति पक्षद्वयमाह।

रसकलश

अथवा थोड़ी सी भी स्वतन्त्रता से वे प्राप्त नहीं होते, अपने में दैन्यभाव की भावना से प्राप्त कृपा द्वारा ही वे लक्षित होते हैं, वह भी भावना के अनुसार ही न कि सर्वांशरूप से। उस पुरुष को अर्थात् पुरुषोत्तम को—रसिकनायक शिरोमणि को—शीघ्र ही वश में कर लेने वाले चूर्ण स्वरूप (श्रीराधिकाजी की चरणधूलि का मैं स्मरण करता हूँ)। यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ है कि 'पुर में रहता है' अर्थात् वे केवल प्रियाजी की राजधानी श्रीवृन्दावन में ही रहते हैं। इसलिये यद्यपि उन्हें वशमें करने की आवश्यकता नहीं है तथापि श्रीप्रिया जी की चरणधूलि शीघ्र वशीकरण का उपाय है इस कारण विशेषण लगाते हैं कि 'सद्यो वशीकरणचूर्णम्' इसका यह भी भाव है कि श्रीप्रियाजी की चरणरज की सेवा में संलग्न भक्तजन के लिये प्रियतम वश्य (वशीभूत) हो जाते हैं और अपने आपको दे देते हैं—'संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्योत्सुकाः,' 'जिन श्रीराधाजी के चरणकमलों के आश्रय से गोविन्द के प्रति सख्यभाव की इच्छा करने वाले जन परमसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं' ऐसा आगे कहेंगे ही। अतः ब्रह्मा आदि द्वारा न देखे गये श्यामसुन्दर भी जिन श्रीप्रियाजी के सेवकों के वश में हो जाते हैं उनके श्रीचरणों की धूलि की महिमा का क्या कहना? अत एव वह चरणधूलि अनन्त-सामर्थ्य वाली है। अथवा यह चरणधूलि केवल वशीकरण करने वाली ही नहीं है अपितु श्रीप्रियाजी के विलासों का अवलोकन और सेवा का निरन्तर अधिकार देना इत्यादि अनन्त शक्तिशाली भी है।

अथवा किसने उस पुरुष (पुरुषोत्तम श्रीश्यामसुन्दर) पर यह वशीकरण चूर्ण डाला है या ग्रहण कराया है? इस प्रकार के तर्क में बहिरङ्ग व्यक्ति तो आ नहीं सकते। इसलिये अन्तरङ्ग पक्ष में दो पक्ष कहे जा सकते हैं—

तत्र स्वयङ्ग्रहणमाह—स्वयमेव वशीभवनकामुकेन रेणुः श्रुतप्रभावो गृहीतस्तदा सद्य एव तादृशमनोरथः सिद्धो न विलम्बेनेति बुद्धिपूर्वकं ग्रहणान्मन्त्रदैवादिसाधितचूर्णादज्ञानस्य वशीभवनं तदुत्कीलने च तदभावोऽपि दृश्यते, अस्य स्वदास्ययोग्यत्व-साधनार्थग्रहणेन तदानीं पुलकानन्ददर्शनात्सद्यः प्रभावदर्शनेन 'सद्य' इत्युक्तम् । पूर्व्वमेव वशत्वेऽप्यधुना किमाधिक्यञ्चेत्तत्र स्वबुद्धिपूर्वकग्रहणे हेतुरेवं स्वस्य धवत्वेन नियन्तृभोक्तृत्वादिभाव-दुःपरिहार्य्यत्वान्न जाने कदाचित्सेवेतरभावोऽप्युदियादित्यादिभियैवेति भावः ।

वशीकरणस्यान्यधर्मत्वात् सखीदानेऽर्थः क्रियते चेदेवम्-विवाहोत्सवे वशीकृतेर्ल्लोकगीतसिद्धत्वात्तदनुकरणार्थन्ताभिः कृतं रजोदानमिति तत्त्वत्रेष्टमेव जातम् ।

रसकलश

एक तो अपने आप (श्रीश्याम ने) वह श्रीराधिकाचरणधूलिरूपी वशीकरण चूर्ण अपने ऊपर डाल लिया हो अथवा सखियों ने उनके ऊपर डाल दिया हो । उनमें से अपने आप अपने ऊपर डाल लेने के पक्ष का प्रथम विचार करते हैं--अपने आप वश में होने के लिये इच्छुक श्रीश्याम ने वह चरणधूलि रूपी वशीकरण चूर्ण अपने ऊपर डाल लिया, जिसका कि प्रभाव सुन रखा था। तब शीघ्र ही उस प्रकार (प्रियाजी के वश में होने) का मनोरथ सिद्ध हो गया, देर नहीं लगी। इस प्रकार जानबूझ कर उसे लेने का फल हुआ। वैसे तन्त्रशास्त्र में मन्त्र आदि के द्वारा अभिमन्त्रित चूर्ण से तो अनजान का ही वश में होना और उत्कीलन (मन उखड़ जाने का प्रयोग) करने पर वश में न रहना, देखा जाता है। श्रीराधिकाचरणधूलिरूपी चूर्ण को तो उनके दास्यभाव की योग्यता सिद्ध करने के लिये जैसे ही ग्रहण किया गया वैसे ही शरीर में पुलक (रोमाञ्च) और मन में आनन्द-उल्लास देखा गया, तत्काल प्रभाव देखने के कारण श्लोक में 'सद्यः' शब्द दिया गया, जिसका अर्थ है तत्काल। श्रीश्याम तो पहले से ही श्रीराधिका जी के वश में हैं फिर भी अब क्या अधिकता या विशेषता हो गई? इसका उत्तर यह है कि जानबूझ कर इस चरणधूलिरूपी चूर्ण को लेने का यह कारण है—श्रीश्याम सोचते हैं कि पति होने के कारण नियन्ता (नियम में रखने वाला) भोक्ता (उपभोग करने वाला) होना इत्यादि भावों का परित्याग करना कठिन है इससे न जाने मनमें कब सेवा के सिवाय अन्य कोई भाव उदय हो जाए इस भय से ही यह चरणरजरूपी चूर्ण स्वयं धारण कर लिया है।

और यदि वशीकरण का प्रयोग तो दूसरे ही किया करते हैं यह समझ कर सखीजन ने ही श्रीप्रियाजी की चरणधूलिरूपी चूर्ण का श्रीश्याम पर यह प्रयोग किया है यह अर्थ किया जाए तो उसकी सङ्गति ऐसे बैठेगी। विवाहोत्सव के समय वशीकरण का प्रयोग लोकगीतों में प्रसिद्ध होने के कारण उसका ही पालन करने के लिए सखीजन ने यह धूलिदान (श्रीश्याम पर श्रीराधिका चरणधूलि डालने का प्रयोग) किया, तो वे (श्याम) जो चाहते थे वही हो गया।

यद्वा कुञ्जे वा नन्दगृहे प्रियपक्षस्थाभिः श्रीकृष्णशिक्षणे कृते "मा वन्द स्थलदैवतं भवति किं वश्यं स्फुटं ब्रूहि मे, तत्र त्वद्वरवर्णिनीपदरजः श्रुत्वातिहृष्टः प्रियः । न प्राप्तं सुचिरं मया तदनया दैवात्स्वयं वारणे साधूक्तं त्विदमेव मृग्य इति याद्ध हा वशः स्यां कदा ।" इत्येवं तेन वाञ्छितं, तत्र श्वाशुर्ये गृहे प्रियापक्षस्थाभिःस्तथैव कौतुकेन दत्तमेवेति स्मृत्वैवमुक्तम् ।

यद्वा कदाचिदन्यदा निजनायकनियन्तृत्वाद्यधिकारधूर्निर्वहणेन सौख्यातिशयाभावालोचनं कृत्वा 'सखि दुर्निवार्यस्वातन्त्र्यरुजं कदा विस्मरे कदा च श्रीमत्यायत्त एव निःशङ्कं विवशः सुखं विलसेयम्, इत्यादि निदानं ज्ञात्वा किञ्चित्त्वमेवोपदिश' इत्युक्तवति प्रिये तद्रेणुरेवादिष्टोः

रसकलश

अथवा कुञ्ज में 'नन्दभवन में' प्रिय के पक्ष की सखियों ने कहा-- 'श्याम ! तुम स्थल देवता की वन्दना न करना ।' तो श्याम ने पूछा--'वन्दना करने से क्या होगा ?' सखियों ने उत्तर दिया—'तुम श्रीराधा के वश में हो जाओगे ।' तब श्रीश्याम बोले--'मुझे साफ साफ बताओ ।' तब सखियों ने कहा—'श्याम ! वहाँ तुम्हारी परिणीता राधा की चरणधूलि डाली गयी है ।' यह बात सुन कर तो प्रियतम (श्याम) बहुत प्रसन्न हुए और मन में कहने लगे कि मैं तो बहुत दिन से उसे ही प्राप्त करना चाहता था पर वह (चरणधूलि) नहीं मिली थी, आज सौभाग्य से इस (सखी) के द्वारा निवारण करते समय मिल गई और सखी से बोले --'तुम ने बहुत अच्छी बात कही इसी बात को ही तो मैं ढूँढता था—'मैं कैसे प्रिया जी के वश में हो जाऊँ ।' इस प्रकार श्यामसुन्दर स्वयं चाहते थे । अथवा श्रीश्यामसुन्दर की ससुराल (बरसाने) में श्रीवृषभानु जी के भवन में प्रियाजी के पक्ष की सखियों ने वैसे ही कौतुक से खेल-खेल में इन पर प्रियाजी की चरणधूलि डाल दी थी, उसी बात का स्मरण करके यहाँ यह कहा गया है ।

अथवा किसी अन्य दिन अपने नेतृत्व और नियन्तृत्व आदि के अधिकारभार को धारण करने से परमसुख का अभाव देख कर श्रीश्याम सखी से बोले—'हे सखी, मैं न टलने वाली स्वतन्त्रता की भावना को कब भूलूँगा और कब श्रीप्रिया जी के ही अधीन होकर, निःशङ्कभाव से विवश हो कर, परमसुखमय लीलाविलास प्राप्त करूँगा ?' मेरे इस भावनात्मक रोग का निदान करके सखि ! तू ही कोई उपाय बता दे ।' इस प्रकार प्रियतम के कहने पर सखी ने इस का उपाय श्रीप्रिया जी की चरणधूलि को ही बताया ।

यद्वा सस्मितं समक्षस्थप्रियापदपराग एवाकस्मादङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गृहीत्वा दत्तस्तदा सद्य एव प्रत्युत्तरलाभात्प्रसन्न'स्त्वां केन प्रसादयामि, त्वदृण्येवास्मि प्रियां प्रति, आवयोः साध्विङ्गितं ज्ञेयम्' इत्यादिप्रसाददानादेवं सखीकृत-वशत्वं चेति सहृदयवेद्यम् ।।३।।

पुनश्चरणरेणुशक्तिं स्मरति--

आधाय मूर्धनि यदापुरुदारगोप्यः,
काम्यं पदं प्रियगुणैरपि पिच्छमौलेः ।
भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुं,
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ।।४।।

तमित्युदारत्वद्योतकम्, स्मरामीति अहो धन्योऽयं रेणुमहिमा अन्येषां श्रोतुमपि दूरस्तमहं मननविषयीकरोमि । तं कम् ? यदित्यनिर्वचनीयेऽर्थेऽव्ययं, यमित्यर्थः । उदारगोप्यो यं मूर्धन्याधाय पिच्छमौलेरपि काम्यमभिलषनीयं पदं प्रियादास्यरूपं प्रियगुणैरपि सह आपुरित्यन्वयः ।

रसकलश

अथवा मुस्कराती हुई सखी ने सामने ही स्थित प्रियाजी के चरणों की धूलि अकस्मात् अगूठा और तर्जनी (अगूठे के पास वाली अंगुली) से उठा कर श्यामसुन्दर को दे दी या उन पर डाल दी, तब तो तत्काल ही उत्तर मिल जाने से वे प्रसन्न हो गये और बोले—'तुझे मैं क्या देकर प्रसन्न करूँ, मैं प्रिया जी के विषय में तुम्हारा ऋणी ही हू, अच्छा तुम हम दोनों के संकेतों और मनोभावों को भलीभाँति जान सको ।' सखी को इस प्रकार का प्रसाद या वरदान दिया । इस भाँति से सखी के द्वारा किया गया वशीकरण का प्रयोग समझना चाहिये ।

फिर उसी चरणधूलि की शक्ति का स्मरण करते हैं—

'जिस (प्रियाजी की चरणधूलि) को मस्तक पर धारण करके उदार गोपियों ने मोरमुकुट श्रीश्यामसुन्दर के प्रियगुणों के साथ कमनीय या वाञ्छनीय पद (गौरव)को प्राप्त किया । भावरूपी उत्सव से भजन करने वालों के लिये रस देने वाली कामधेनु स्वरूप, उस श्रीराधिकाचरणरेणु (श्रीप्रियाजी की चरणरज) का मैं (आचार्य रूपमें) निरन्तर स्मरण करता हूँ या (श्रीहितसखी रूप में) मैं उसका स्मरण करती हूँ ।'

'तम्' या 'उस को' यह शब्द चरणधूलि की उदारता का द्योतक है । 'स्मरण करता हूँ' यह कहने का भाव यह है कि अहो चरणरेणु की महिमा धन्य है, जो वस्तु दूसरों को सुनने के लिये भी दुर्लभ है, मैं उसी का मनन चिन्तन कर रहा हूँ । उसको, किसको ? 'यत्' यह, अनिर्वचनीय अर्थ को बताने वाला अव्यय है । जिस 'यत्' का अर्थ है जिसको । 'उदार गोपियों ने जिस(चरणधूलि) को मस्तक पर धारण करके पिच्छ-मौलि (मोर मुकुट वाले श्यामसुन्दर)के लिए भी वाञ्छनीय पद (प्रियाजी के दास्यभाव की पदवी) को प्रिय गुणोंके साथ प्राप्त किया' यह अन्वय (अर्थसङ्गति) है ।

अपीति देहलीदीपकवत् । पिच्छेति मयूरासक्तिं समीक्ष्य स्वस्यासक्तिकेतनार्थं तत्सिद्ध्यर्थं च पिच्छमेव भूषणत्वेन धृतवानिति आसक्तिबद्धकङ्कणस्येत्यर्थः ।

उदाराः श्रीकृष्णे पूर्णरूढभावाः, संवृश्चितलोकवेदशृङ्खलाः, महारासादौ तन्मयतापन्नाः, ब्रह्मादिकाम्यपादरजस्काः, स्मृतमात्रेण प्रेमदा इत्यादिप्रभावा इति । तास्त्रिविधाः श्रुतिमुनिपरिकराश्च । तत्र परिकरास्त्वञ्जसैव सेवारताः, श्रुतिमुनिरूपास्तु प्रकटलीलायां कृष्णं प्राप्य निरस्तकामाशया "भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यत" इत्युक्तमेव, शुद्धाः सत्यः स्वामिनीपदरजः सेवितवत्यस्ततो दास्यं प्राप्ता इति । यद्वा तत्रापि या उदारा इति श्रीकृष्णचन्द्रस्य पूर्णषोडशकलासहितत्वस्वादेच्छवः यथा "राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया, सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति ।" इत्यादिभाववत्यो गोप्यः, आसु साम्बन्धिकमाधुर्यद्योतनमपि लभ्यते ।

रसकलश

'अपि' या 'भी' शब्द देहलीदीपकन्याय से दोनों ओर लगता है । इस श्लोक में पिच्छमौलि का यह भाव है कि श्यामसुन्दर ने मयूर की आसक्ति को देख कर अपने में भी आसक्त होने का संकेत करने के लिये और विशेष आसक्ति प्राप्त करने के लिये मयूर के पिच्छ को ही भूषण के रूप में धारण किया है अर्थात् एक प्रकार से आसक्ति का कङ्कण (मंगल सूत्र) बाँध लिया है ।

गोपियों को उदार कहने का यह तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण में पूर्णतया जिनका भावरूढ (बद्धमूल) हो चुका है इसी कारण जिन्होंने लोकमर्यादा के बन्धनों को काट दिया है, महारास आदि में जो तन्मय भाव को प्राप्त हो चुकी हैं । ब्रह्मा आदि भी जिनकी चरणधूलि की कामना करते हैं और जो स्मरण करने मात्रसे श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम दान देती हैं, वे इस प्रकार के प्रभाव वाली हैं । वे गोपियाँ तीन प्रकार की हैं श्रुतिरूपा, मुनिरूपा और परिकररूपा । उनमें परिकररूप गोपियाँ तो सहज से ही सेवापरायण हैं, श्रुतिरूपा, मुनिरूपा भी प्रकटलीला में श्रीकृष्ण को प्राप्त करके समस्त कामवासनाओं को निकाल कर 'भूने और उबल हुए धान प्रायः बीज के काम के नहीं रहते,' इस वचन के अनुसार शुद्ध होकर श्रीस्वामिनी जी की चरणरज का सेवन करके दासीभाव को प्राप्त हो गईं । अथवा उन गोपियों में भी जो उदार हैं अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र के पूर्ण षोडशकलासम्पन्न भाव का आस्वाद प्राप्त करना चाहती हैं, 'श्रीराधा जी के प्रति दासीभाव के बिना जो गोविन्द के सङ्गलाभ की आशा से प्रयत्न करता है वह पूर्णिमा के बिना ही पूर्ण चन्द्र से परिचय प्राप्त करना चाहता है' इत्यादि में वर्णित भाव वाली गोपिकाएँ हैं । उनमें सम्बन्धकृत माधुर्य का प्रकाशन पाया जाता है । वे प्रियगुणों के साथ पिच्छमौलि के भी वाञ्छनीय पद को प्राप्त हो गईं ।

प्रियगुणः सहेति प्रियाश्च ते गुणाश्च स्वेष्टप्रसादनार्थकाः सर्वे सद्गुणाः, येन प्रिया प्रतिक्षणं प्रसन्ना स्यात्तानप्यापुः। किञ्च "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।" इतिवदकिञ्चनत्वं पूर्वं न सङ्गतं, स्वसुखसुखित्वं यदा सन्त्यज्य दास्येच्छा जाता तदैवौचित्यादसाधारणाः प्रियगुणाः प्राप्ताः। अन्यथा "क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टा" इति, "गोप्यः कामा" दिति ख्यातिमाश्रित्य "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो, वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः" इति सर्वसाधारण्यं प्राप्तम्। इदानीं प्रियादास्यप्राप्तौ तु परमसख्यत्वम्, "यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकुवाणी" त्याद्यसाधारणसौभाग्यञ्च प्राप्तम्।

औचित्ये उपपत्तिश्च अपूर्वं निजसमानत्वाभावाद् भगवद्भोग्यत्वेन शोभां प्रापुः।

रसकलश

प्रिय गुणों का अर्थ है जो प्रिय गुण हैं अर्थात् अपने इष्ट को प्रसन्न करने वाले हैं वे सभी सद्गुण, जिन से श्रीप्रिया जी प्रतिक्षण प्रसन्न होती हैं उनको तो प्राप्त हो ही गईं क्योंकि 'जिनको भगवान् में अकिञ्चन-भाव वाली भक्ति है उनमें सभी सद्गुणों के साथ देवता आ विराजते हैं या दिव्य भाव उपस्थित हो जाते हैं। यह अकिञ्चनभाव पहले उन्हें प्राप्त नहीं था किन्तु जब अपने सुख से सुखी होने की भावना को छोड़कर दास्यभाव प्राप्त करने की इच्छा हुई तभी उस दास्य भाव के लिये उचित या आवश्यक असाधारण और प्रिय गुण भी प्राप्त हो गये। नहीं तो जो 'कहाँ ये व्यभिचार से दूषित वनचरी (जगंली) स्त्रियाँ,' 'गोपियाँ कामवासना से' इस प्रकार की प्रसिद्धि को प्राप्त हुईं और जिन्हें 'नागराज के शरीर जैसी भुजाओं में आसक्त बुद्धि वाली यह सब स्त्रियाँ आपके चरणकमलों को भली भाँति धारण करने वाली हैं' इस प्रकार सर्वसाधारण भाव प्राप्त हुआ था। वे अब श्रीप्रियाजी के दासीभाव की प्राप्ति हो जाने पर श्रीश्यामसुन्दर के परम-सख्य को प्राप्त हो गईं 'जिन श्रीराधाजी की किङ्करियों के सामने परमपुरुष शिखण्डलौलि की नित्य काकु (दीनता भरी) वाणी होती है' इत्यादि असाधारण सौभाग्य भी प्राप्त है। जिस औचित्य (उचित होने) से इन्हें असाधारण गुण प्राप्त हुए उसके (उचित) होने में युक्ति यह है कि अपनी समानता के अभाव के कारण ये भगवान् की भोग्या हैं और भगवद्भोग्या होने के कारण इन्होंने अपूर्व शोभा प्राप्त की।

रसकुल्या

किञ्च दम्पतित्वं समानयोरेवार्हम्, एता हर्य्यङ्गीकृता अपि भक्तत्वे पर्यवसिताः, पश्चाद्वामभागे गौरतेजः प्रियशुद्धप्रेमासक्तिविषयमेकरसं परमैश्वर्य्यं दृष्ट्वा तच्चरणरेणुं मूर्धन्याधाय स्वयाथार्थ्यस्वरूपं दास्यं प्रापुस्तदा कामाभावात्सर्वे गुणा अपि तदैव प्राप्ताः। नन्वेतासां सापत्न्यगन्धाभासत्वे कथं सा प्रसन्ना। तत्राह—भावोत्सवेनेति भजतां जनानामिति सर्वजीवसमाश्वासः, न तु भजतीनां गोपीनामेव, किञ्च भावोत्सवेन कोऽपि भजतु तस्य यथा भावोत्सवस्तथा तथैव रसस्याभिलाषस्यानन्दस्य वा पूरकमित्यर्थः। यद्वा पूर्व्वन्तु भाव एवोदेति, पश्चादुत्सवतां प्राप्तो भजननैरन्तर्येण वृद्धिं प्राप्तो रसो विगलितवेद्यान्तरता, सैव भजतः कामपूरणम्, अत्र रसो दम्पतिपरमविलासालोकनसेवासातत्यानन्दमज्जनं दास्य एव, श्रीकृष्णभजने तु सर्व्वेऽपि भावाः सङ्गच्छन्ते, अत्र त्वेक एव सर्वोत्कृष्टत्वादिति भावः।

रसकलश

और यह बात भी है कि दाम्पत्य (पति-पत्नी भाव) दो समान व्यक्तियों में ही उचित होता है, ये गोपियाँ उस समानता के कारण हरि द्वारा स्वीकार कर ली गईं तो भी सहचरी न रह कर अनुचरी हो गईं, भक्त रूप में परिणत हो गईं। फिर वामभाग में प्रियतम की शुद्ध प्रेमासक्ति के विषयभूत एकरस और परम ऐश्वर्यमय श्रीराधिकास्वरूपी गौर तेज को देख कर उनकी चरणधूलि को मस्तक पर धारण करके वास्तविक स्वरूप से ये गोपियाँ दास्यभाव को प्राप्त हो गईं, तब कामभाव का सर्वथा अभाव हो जाने के कारण इन को तत्काल सभी गुण प्राप्त हो गये। यहाँ यह प्रश्न होता है कि इन गोपियों में तो सपत्नी भाव (सौतपने) का आभास था फिर श्रीराधाजी इन पर कैसे प्रसन्न हो गईं। उस का कारण बताते हैं कि—भावोत्सव से भजन करने वाले जनों के लिये श्रीराधा जी की चरणरेणु रसकामधेनु है। यहाँ पर 'भजन करने वाले जन' कह कर जीवमात्र को आश्वासन दिया है केवल भजन करती हुई गोपियों को ही नहीं। अतः भावोत्सव से कोई भी भजन करे उसका जैसा भावोत्सव होता है वैसे ही रसकी अभिलाषा को और आनन्द को इस चरणरेणु का भजन पूरा कर देता है। अथवा पहले तो भाव ही उत्पन्न होता है, बाद में वह उत्सव रूप को धारण कर लेता है, निरन्तर भजन करते रहने से वृद्धि को प्राप्त हुआ रस ही—अन्य अनुभव से रहित हो जाना ही—भजन करने वाले की कामना की पूर्ति है। यहाँ पर रस शब्द से दास्य रस ही लिया गया है जो प्रिया प्रियतम के परमविलास के दर्शन से, सेवा की निरन्तरता से आनन्द में मग्न हो जाना ही है। श्रीकृष्ण के भजन में तो सभी भाव सङ्गत बैठते हैं किन्तु श्रीराधा जी के भजन में एक दास्यभाव ही विशेष सङ्गत बैठता है क्योंकि यह सर्वोत्कृष्ट-सबसे ऊँचा-भाव है।

यद्वा पिच्छमौलेः काम्यं, तद्गुणैरपि काम्यं, तेऽपि दास्यं वाञ्छन्ति, किञ्च गुणानां परप्रसादनधर्मत्वात्कमन्यं कृष्णादपि अतिमधुरं प्रसादयाम, योऽस्मान् परीक्ष्य हार्दं जानीयात्तदात्युदारां प्रियामेव प्रसादयाम । अन्यथा 'जीर्णमङ्गे सुभाषितम्' इतिवन्न कोऽप्यस्मान् भोक्ष्यति, कृष्णस्य तु गुणित्वमेव, ततो बलादेव तं नियोजयन्ति । प्रियवाञ्छातिशयेऽपि गुणानामुत्कण्ठातिरेको ध्वनितः ।

अथ केचिद्रेण्वाधानेन कमनीयं कृष्णपदमापुरित्यन्वयं कुर्वन्ति । तत्रैवं ज्ञेयम्-महारासकौतुकमप्येतद्रेणुप्रभावेणैवेति, किञ्च शृङ्गारलीलाधिष्ठात्र्यनुमतिं विना न कापि लीला सिद्ध्येत्तत्र प्रियगुणैर्नृत्यगीतवाद्याभिनयरूपलावण्यमाधुर्यौदार्यसाकूतादिभिः कृष्णवशकारणत्वेन स्वस्मिन्वर्तमानैरपि तत्पदरजः शिरस्याधायैव कृष्णं प्रापुर्नात्र गुणसाधकत्वमित्यपि शब्दो द्योतयति । आधायेत्यत्र ल्यप्प्रत्ययः पूर्वकालार्थश्च,अपिपदं प्राप्त्युत्तरत्वं सूचयति ।

रसकलश

अथवा पिच्छमौलि–मोर मुकुट वाले–का वाञ्छनीय यह दास्य पद, उनके गुणों द्वारा भी वाञ्छनीय है, श्यामसुन्दर के गुण भी इस दास्य पद को चाहते हैं । फिर गुणों का तो धर्म ही है दूसरों को प्रसन्न करना तब वे सोचते हैं कि कृष्ण से बढ़ कर और कौन अतिमधुर है जिसको प्रसन्न करें जो हमारे हृदय का भाव भी जान सके तो अति उदार प्रियाजी का ही प्रसादन या आराधन करें नहीं तो 'सुन्दर-सुन्दर बातें शरीर में ही जीर्ण (क्षीण) हो गईं' के समान हमारा (हम गुणों का) कोई उपभोग या उपयोग न करेगा । श्रीकृष्ण तो गुणी हैं ही । उन्हें ये गुण बलात् नियुक्त करते हैं ही, प्रियतम की तो अत्यन्त इच्छा है ही, पर उनके गुणों की तो उनसे भी अत्यधिक उत्कण्ठा प्रकट होती है ।

और जो कुछ विद्वान् यह अन्वय करते हैं कि श्रीराधा जी की चरणरेणु को धारण करने के द्वारा उदार गोपियों ने कमनीय या वाञ्छनीय श्रीकृष्ण-पद प्राप्त किया । वहाँ यह समझना चाहिये कि महारास का कौतुक भी श्रीराधा जी के चरणरेणु के आधान (धारण करने) से ही हुआ । क्योंकि शृंगार लीला की अधिष्ठात्री (श्रीराधा जी) की अनुमति के विना कोई भी लीला सिद्ध नहीं हो सकती । वहाँ प्रिय के गुणों–नृत्य, गीत, वाद्य, अभिनय, रूप, लावण्य, माधुर्य, उदारता और साभिप्रायता आदि–से, जो श्रीकृष्ण को वश में करने का कारण हैं और जिन्होंने गोपियों में रहते हुए भी श्रीकृष्ण का कमनीय पद (चरण) तभी प्राप्त किया जब श्रीप्रिया जी की चरणरेणु मस्तक पर धारण कर ली गई । 'प्रियगुणैरपि' प्रिय गुणों से भी' इस 'भी' शब्द के प्रयोग से भी यही भाव निकलता है कि गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण का कमनीय पद प्राप्त करने में गुण साधक नहीं हुए । 'धारण करके' इस प्रयोग से यद्यपि यह अर्थ निकलता है कि पहले गोपियों ने श्रीराधा जी की चरणरेणु धारण की, किन्तु 'अपि' या 'भी' शब्द सूचित करता है कि चरणरेणु धारण करने के बाद उन्हें श्रीकृष्ण के कमनीय पद की प्राप्ति हुई ।

न चात्र स्वयं श्रृङ्गाररसभोक्त्री, कथमन्याभ्यः प्रयच्छेदिति क्षतिः शङ्कनीया। यत्र पूर्णरसनिधित्वं जलतरङ्गवदेकरसस्वरूपात्मकत्वं, तत्र न कोऽप्यन्यनायिकानायकवद्रसाभाससंशयः। किञ्च भावोत्सवेन भजतां व्रजभक्तानां सर्वेषामपि यथाभावं श्रीकृष्णसकाशादत्युदारतया रसेन पोषणं कृतं भक्तवात्सल्यादेव, न च श्रीमत्यां स्वामिन्यां काचिदसूया जातेति सर्वलीलास्वामिनीत्वेन पूर्णतमत्वं ध्वनितम्। प्रियसम्बन्धिनी या काचिल्लीला साऽस्याः प्रसादादेवेति स्वस्या आह्लादरूपत्वात् लीलाया आह्लादान्यथानुपपत्तेः। अथ कृष्णपदप्राप्तिसमयेऽपि तासां दास्यत्वावेश एवाभवन्न सपत्नीत्वं, स्वासां भक्तत्वेनैव यत्र तत्र स्तोतृत्वात्, यथा—"भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्" इति, "शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्" इति भक्तत्वमेव पर्य्यवसितमिति दिक्। क्वचिद् 'बरविटेन्द्र' इति पाठस्तु यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाभावादर्थसङ्गतेरुपेक्ष्यः ॥४॥

रसकलश

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जब श्रीराधाजी स्वयं श्रृङ्गाररस की भोक्त्री (आस्वाद लेने वाली) हैं तब वे दूसरी गोपियों को श्रृङ्गाररस का आस्वाद कैसे लेने दे सकती हैं ? क्योंकि जब श्रीराधा पूर्ण रसनिधि हैं और जलतरङ्ग न्याय से एकमात्र रसस्वरूपा हैं तब वहाँ अन्य लौकिक नायक नायिकाओं की भाँति रसाभास का संशय उपस्थित नहीं हो सकता। और फिर भक्तवत्सलता के कारण जब भावोत्सव से भजन करने वाले सभी व्रजभक्तों का भी उनके भाव के अनुसार श्रीकृष्ण के पास से ही श्रीराधाजी की चरणरेणु ने अति उदारता के कारण रस से पोषण किया है। और इससे श्रीमती स्वामिनी (श्रीराधा जी) के मन में कोई असूया उत्पन्न नहीं हुई, इससे यह प्रकट हुआ कि वे सभी लीलाओं की स्वामिनी होने के कारण पूर्णतम हैं। प्रियतम से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक लीला इन (श्रीराधा जी) की ही कृपा से सम्पन्न होती है, प्रियाजी के आह्लाद स्वरूप होने के कारण लीला का आह्लाद(आनन्द)भी उनके बिना सङ्गत नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि श्रीकृष्ण के कमनीय पद की प्राप्ति के समय में भी उन (गोपियों) के मन में दासीभाव का ही आवेश हुआ सपत्नीभाव का नहीं। अतएव इन्होंने भक्तरूप में हो जहाँ तहाँ स्तुति की है। जैसे—'हम भक्ताओं को स्वीकार करो, हे दुराग्रही हमारा त्याग मत करो।' और 'हमारे सिर पर अपना वह करकमल रख दो जिस से आपने श्रीराधा जी के करकमल को ग्रहण किया था।' इत्यादि सभी स्तुतियों में उन गोपियों का भक्त होना ही प्रकट होता है अर्थात् उनके सभी भाव भक्ति में ही परिणत हो गये हैं। किसी प्रस्तुति में 'वरविटेन्द्र' यह पाठ आता है किन्तु यत् और तत् के नित्य सम्बन्ध का निर्वाह न होने के कारण उस पाठ की उपेक्षा कर देनी चाहिये।

तदेवं दिङ्महिम–चरणरेणुक्रमोक्ति "स्तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मम्" इतिवत्सामान्योत्तरविशेषदर्शनवज्ज्ञेया, इदानीं यत्पदसम्बन्धि-रेणुरप्येवंप्रभावस्तस्याः स्वरूपमाह––

दिव्यप्रमोदरससारनिजांगसंग–
पीयूषवीचिनिचयैरभिषेचयन्ती ।
कन्दर्प्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसूनु–
सञ्जीवनी जयति कापि निकुञ्जदेवी ।।५।।

कापीति बहिरनुपलक्षितस्वरूपविशेषा, कार्यद्वारा प्रकाशितैश्वर्य्यैव निकुञ्जे श्रीवृन्दावनीययथेष्टलतादिनिर्मितरहोमन्दिर एव दीव्यतीति प्रियेणानिशं क्रीडति ।।१।। विजिगीषति प्रियमक्षादिनिलयनादिष्विति ।।२।। व्यवहरति तत्रैव नान्यत्रेति ।।३।। द्योतते निजरुचिभिः सखीवर्गेण सहेति ।।४।। स्तूयते सप्रियसखीभिर्वा भ्रमरकोकिलादिभिरिति ।।५।। ।

रसकलश

इस प्रकार दिशा, महिमा और चरणरेणु की क्रमोक्ति से सूचित किया गया है कि क्रम-क्रम से 'सूक्ष्म वस्तु का दर्शन होता है' इस न्याय से पहले सामान्य और बाद में विशेष का साक्षात्कार जैसा होता जा रहा है । अब जिन (श्रीराधाजी) के चरणरेणु का ऐसा प्रभाव है उन (श्रीराधाजी) का स्वरूप बताते हैं—

'दिव्य आनन्द स्वरूप रस के सारभूत अपने श्रीअङ्गों के संगरूपी अमृत की लहरियों के समूहों से अभिषेक करती हुई, कोटि-कोटि काम के शरों से मूर्छित हुए नन्द-लाल को सञ्जीवित करने वाली कोई (अनिर्वचनीय) निकुञ्जदेवी सब से उत्कर्ष में विराजमान है, उस निकुञ्जदेवी की जय हो ।'

'कोई' (कहने का तात्पर्य है कि) जिनका विशेष स्वरूप बाहर कहीं नहीं देखा गया, केवल कार्यों द्वारा ही जिनका ऐश्वर्य प्रकाशित है । और (निकुञ्जदेवी का अभि-प्राय है कि) जो स्वयं तो निकुञ्ज में अर्थात् श्रीवृन्दावन के यथेष्ट लतापुञ्ज आदि द्वारा बने हुए एकान्त मन्दिर में ही देदीप्यमान हैं वह निकुञ्ज देवी । (देवी शब्द दिवु धातु से बना है उसके अनेक अर्थ हैं, वे सभी अर्थ इन में संगत होते हैं जैसे) प्रियतम के साथ अहर्निश क्रीड़ा करती हैं ।१। प्रियतम को अक्ष (जुआ खेलना) आदि में और निल-यन (लुकना छुपना) आदि में जीतना चाहती हैं ।२। निकुञ्ज में ही व्यवहार करती हैं, अन्यत्र नहीं ।३। सखी समूह के साथ अपनी रुचियों (इच्छाओं और शोभाओं) से विद्यो-तमान हैं ।४। प्रिय सहित सखीजनों से तथा भ्रमर (भौंरे) कोकिल (कोयल) आदि से स्तूयमान हैं, उन भ्रमरों और पक्षियों द्वारा अपने अपने कलरवों से इनकी स्तुतियाँ गाई जाती हैं ।।५।। ।

मोदते तं दृष्ट्वेति ॥६॥ माद्यति तन्मधुना वा रूपासवेन ॥७॥ स्वपिति तत्र सुखेन किशलयादिशयने ॥८॥ काम्यति, इच्छति शब्दं पक्षिणां रहोगानञ्च, स्पर्शं त्रिविधसमीरजं पल्लवपुष्पादिभूषणसुस्पर्शास्तरणादि च, रूपं यथेच्छति तथैवाविर्भावम्, रसं सुस्वादुमधुफलादिभवं, गन्धं पुष्पादिजमिति पञ्च, मनः प्रसादजञ्च ॥९॥ गच्छति नानाभावैर्हंसगजादिगञ्जनैर्वा नृत्यादिभिरिति सहृदयहृदयङ्गमैरित्यादिभिः ॥१०॥ निकुञ्ज एव पर्य्यवसितैर्दीव्यतीति निरुक्तोऽर्थः । रूढिस्तु निकुञ्जाधिष्ठात्री देवी । तत्कृपां विना नात्र कस्याप्यागमनं स्यादिति पुनरमानुजाद्भुतसेचनकार्यादिचमत्कारत्वेन सेव्यतया च देवीति जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

तदेव सेचनाद्भुत-कार्यमाह कीदृशी ? कन्दर्प्पेति । ननु 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' इति, अनङ्ग एव साङ्गानां देवादीनामुन्मथनकर्ता तत्र यदा साक्षादिति तस्य मूर्तिमत्त्वं तदा किं वाच्यम् ।

रसकलश

उन (प्रियतम) को देख कर हर्षित होती हैं ॥६॥ उन के [दिये हुए] मधु से या रूप-आसव (सौन्दर्य की मदिरा) से मदमत्त होती हैं ॥७॥ निकुञ्ज में किसलय शयन आदि पर सुखपूर्वक सोती हैं ॥८॥ पक्षियों के कलरव और एकान्त में संगीत के शब्द को, शीतल मन्द सुगन्ध पवन के और कोमल पत्र पुष्प आदि द्वारा रचित आभूषणों के तथा कोमल स्पर्श वाले आस्तरण (बिछौना) आदि के स्पश को, इच्छानुसार प्रकट होने वाले प्रियतम आदि के सुन्दर रूप को, अत्यन्त स्वादिष्ट और मिष्ट फल आदि से होने वा लेरस को, और पुष्प आदि की मनोहर गन्ध इन पाँचों को और मन की प्रसन्नता से उत्पन्न विषयों को चाहती हैं ।९। अनेक हाव भावों से,हस, गज आदिको लज्जित करने वाली, नृत्य आदि से युक्त, सहृदयों (प्रिय और सखीजन) के हृदयङ्गम गतिविशेषों से चलती हैं । १०। इस प्रकार निकुञ्ज में ही परिणत होने वाले दसों यौगिक अर्थों से दीप्यमान हैं अत एव 'निकुञ्ज देवी' हैं यह अर्थ कहा गया है । निकुञ्ज देवी की रूढि तो निकुञ्ज की अधिष्ठात्री देवी में है ही । उनकी कृपा के बिना यहाँ किसी का आगमन नहीं हो सकता । और फिर मनुष्यलोक में जो सम्भव नहीं ऐसे अलौकिक अद्भुत सेचन आदि कार्य के चमत्मकार वाली होने से सेवनीय (सेवा करने योग्य) देवी निकुञ्ज देवी हैं जो सबसे उत्कर्ष में वर्तमान हैं ।

उसी अद्भुत सेचन आदि कार्यों का वर्णन करते ह, वे निकुञ्ज देवी कैसी हैं ? कोटि-कोटि काम के शरों से मूर्छित नन्दलाल को सञ्जीवित करने वाली हैं ।

यहाँ प्रश्न होता है कि श्रीमद्भागवत के :

'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥'

इत्यादि वचनों के अनुसार जो अनङ्ग (अङ्गरहित होता हुआ भी काम देव) साङ्ग (सुन्दर शरीरधारी) देव आदि सभी (के मन) का मन्थन कर देता है, वह यदि साक्षात् मूर्तिमान् हो कर आ जाए तब तो उस का क्या कहना ।

नन्दसूनुस्तु तस्यापि मन्मथ इति । किञ्च इन्दिराभिलषितरूप-गुणसौभाग्यगोपीजनभावानुभावस्थायिसंचारिपूर्णरसाविर्भावेनापि 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः', 'आत्मारामः' स्वयमक्षुब्धोऽविकृत एवं तासां यथेष्टकाम-पूरकस्तदा कथं कन्दर्प्पेति ? कथन्तरां शरेति ? कथन्तमां कोटीति? चेत्तत्राह—एतन्मूर्च्छकः कोऽप्यनिर्वचनीयः स्वसीजनीयानन्यद्वन्द्वयोधी प्रस्तुतदेवीसेवनप्रसादलब्धैश्वर्य्यो निजनिमित्तक एव कथं विफलविक्रमः स्यादिति तस्य कोटिशरा इति पञ्चशराद्वैलक्षण्यमुक्तमेव । अतिमूर्च्छितत्वे तात्पर्यम्—प्रत्यङ्गप्रतिरोमसु तद्दुःसहाभिलाषविरुद्धत्वेन शरजर्ज्जरत्वं प्रियतमस्यापि शूरधीरत्वख्यापनं च एकेनापि तन्निमित्तहेतोर्मूच्छितः स्यादिति सिद्धान्ते कोटिभिर्वैवश्यं तच्छिक्षाभियैव ।

रसकलश

किन्तु यह नन्दलाल तो उस साक्षात् मन्मथ (के मन) को भी मथ डालने वाले हैं,' ऐसा कहा गया है । और लक्ष्मी जी द्वारा भी चाहे गये रूप, गुण, सौभाग्य वाली गोपियों के भाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव से परिपूर्ण रस का आविर्भाव होने पर भी जो 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः,' अपने आप में ही सुरतरूप चित्तवृत्ति का अवरोध या निरोध किये हुए हैं तथा 'आत्माराम.' अपनी आत्मा में रमण करने वाले होने के कारण अपने आप किसी क्षोभ या विकार को प्राप्त न होते हुए ही उनकी यथेष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाले हैं, वे आज काम के द्वारा और उसके शरों या वाणों द्वारा उस पर भी कोटि कोटि वाणों द्वारा कैसे मूर्छित किये जा सके ? इस पर कहते हैं कि इनको मूर्छित करने वाला काम कोई अनिर्वचनीय ही है जो अपने सत्कार करने योग्य (श्रीश्यामसुन्दर) के साथ एकमात्र द्वन्द्वयुद्ध करने वाला है, जिसने इन्हीं निकुञ्जदेवी की सेवा और कृपा से ऐश्वर्य प्राप्त किया है तथा जो इन्हीं निकुञ्जदेवी के लिये ही है । वह निष्फल पराक्रम वाला कैसे हो सकता है । उसके पास कोटि (करोड़) बाण हैं यह कहने से वह पञ्चबाण (पाँच वाण वाले कामदेव) से विलक्षण ही है यह भाव भी सूचित होता है । नन्दलाल के अतिमूर्छित होने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक रोम में नन्दलाल को उनकी दुःसह अभिलाषाओं का विरोधी होने के कारण काम ने बाणों से जर्जर कर दिया है, यहाँ प्रियतम (नन्दलाल) के भी शूरवीर होने को प्रकट किया गया है, वे तो निकुञ्जदेवी (श्रीराधा जी) के निमित्त से एक ही वाण से मूर्छित हो जाते हैं इस सिद्धान्त के रहते कोटि (करोड़) बाणों से तो उन्हें विवश कर दिया गया है क्योंकि इस काम को ऐसा न करने पर शिक्षा या दण्ड दिये जाने का भय है ।

यद्वा 'लीलापाङ्गतरङ्गितैदभरुवन्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्प्पाः पुरुदर्पटङ्कृतमहाकोदण्डविस्फारिणः ।' इति कन्दर्पकोटयस्तत्कटाक्षैक-कारणजन्या इति तन्निजत्वं वक्ष्यत्येव। तदा मूर्च्छायां कैमुत्यम्। नन्देति प्रवयसि दुर्ल्लभजातत्वेन व्रजजनमात्रस्यापि परमप्रेमास्पदत्वेन श्रीमन्नन्दस्य कैमुत्यम् । तन्मूर्च्छितसञ्जीवनं परमाद्भुतकार्य्यमिति नान्यशक्यत्वद्योतनम् । सञ्जीवनीममृतपूर्वकनाम्नीमिति वदंस्ततोऽपि वैलक्षण्यमाह—दिव्येति । दिव्यौ प्रमोदरसौ तयोः सारभूतानि निजाङ्गानि तेषां सङ्ग एव पीयूषं तस्य वीचीनां निचयास्तैरभिषिञ्च-न्तीति वक्तव्ये स्वान्तर्द्रवत्वाधैर्यं ज्ञायेत, अतः स्वासज्यधर्मनिर्वाहिद्योतनम्, अङ्गामृतैः पोषयन्तीति प्रयोजकत्वं कथनमात्रं मुख्यन्तु दयाद्रवच्चित्तत्वेन दयितसेचनं परस्परविगलितवेद्यान्तरतैव ।

रसकलश

अथवा- श्रीराधा जी के लीलापूर्वक कटाक्ष के हिलाने मात्र से एक एक कटाक्ष में से कोटि कोटि कामदेव प्रकट हो जाते है जो कन्दर्प (थोड़ गर्व वाले) नामक होते हुए भी बड़े गर्व के साथ टंकारे गए बडे बड़े धनुषों पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उन्हें खींचते हैं। इत्यादि श्लोक में कहे गये उन निकुञ्जदेवी के ही कटाक्ष से प्रकट हुए कोटि कामदेव हैं। यह कामदेव अपने ही हैं यह भी कहेंगे ही। तब नन्दलाल का मूर्छित हो जाना कौन बड़ी बात हैं। यहाँ नन्दसूनु अर्थात् नन्दलाल कहने का यह भाव है कि नन्द बाबा के बुढ़ापे में बड़े दुर्लभ रूप में उत्पन्न होने के कारण समस्त व्रजवासी जनों के परम प्रेम पात्र हैं फिर नन्द बावा के प्रेम का क्या कहना ? उन नन्दसूनु को मूर्छित अवस्था से सञ्जीवित करना परम अद्भुत कार्य है और यह कार्य श्रीनिकुञ्जदेवी जी के बिना और किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता, यह भाव भी यहाँ सूचित किया गया है। अब उन निकुञ्जदेवी को सञ्जीविनी अमृतपूर्वक नाम वाली कह कर मूर्छित करने की अपेक्षा भी सञ्जीवित करने में उनकी विलक्षणता बताते हैं—दिव्य या अलौ-किक जो प्रमोद (आनन्द) और रस (प्रीति) उनके सारभूत जो श्रीराधा जी के निज श्रीअङ्ग, उनका सङ्ग या स्पर्श ही अमृत है, उस अमृत की तरङ्गों के समूहों से अभिषेचन (चारों ओर से सिंचन) करती हुई (निकुञ्जदेवी की जय है) यह कहने में (प्रियाजी का) अपना हृदय द्रवित हो जाने से अधीर हो उठना' जाना जाता है। इसोलिये आसज्य (प्रीति के विषय) के धर्म का निर्वाह न हो सकना भी सूचित होता है। अङ्गरूपी अमृत से पोषण कराती हुई यहाँ प्रयोजक कर्ता के रूप का कथनमात्र है, मुख्यतया तो दया से चित्त द्रवित होने के कारण प्रियतम का सेचन स्वयं किया जा रहा है और इस समय आसक्त (प्रियतम) और आसज्य (प्रिया जी) दोनों को परस्पर दूसरी किसी भी बात का ज्ञान नहीं है।

परन्तु देवोत्वनिर्वाहोऽत्र, अतएव दिव्येति, अमृतेति प्रसिद्ध-प्रमोदरसयोरधिदैवतयोरपि सारेत्यलौकिकत्वम् । यद्वा प्रमोदविशिष्टो रस इति, प्रमोदः प्रहर्ष आन्तरोपि बहिः प्रादुर्भूत उल्लासरूपः, यथा पयसोऽग्निसंयोगे उत्फाणितादिशोभनमेव, एवमेवाङ्गानां सोल्लासरसरूपत्वं प्रतिक्षणविलक्षणरूपलावण्योज्जृम्भमाणत्वं, तत्रापिसङ्गे-ति चन्द्रसङ्गात्सिन्धुरित्येकदेशदृष्टान्तः । अतएव वीचिनिचयत्वमङ्गाना-ममृतसिन्धुत्वम् ।

यद्वा मथनोपायसङ्गादमृतं जातं, तद्वदङ्गेषु रसमयेष्वपि प्रियतम-सङ्ग एवामृतंजातं तस्योल्लसमानस्योत्तरोत्तरवीचिनिचयपरम्परा जाता तैरभितः सर्व्वावयवप्रतिरोमसु पुनः पुनः सेचयन्ती वा आभिमुख्येन परम-सानुकूल्येनयथेष्टमित्ति भावः कृपाविषयसहृदयैकवेद्यो नेतरवाच्यः ॥५॥

रसकलश

यहाँ तो प्रिया जी के देवीभाव का ही निर्वाह हो रहा है अतएव 'दिव्य और अमृत' कहा गया है । तथा जो आधिदैविक प्रसिद्ध प्रमोद और प्रसिद्ध रस हैं उनके भी सारभूत अङ्ग हैं इस कथन द्वारा उनकी अलौकिकता कीर्तित होती है । अथवा 'प्रमोद-युक्त रस' को यहाँ प्रमोदरस कहा गया है । प्रमोद या प्रहर्ष आन्तरिक धर्म है जो बाहर उल्लास रूप में प्रकट हो गया है । जैसे दूध में अग्नि के सयोग से उफान आता है और वह भी शोभाशाली ही होता है इसी प्रकार अङ्गों में भी सोल्लास रसरूपता है जिससे प्रतिक्षण विलक्षण से विलक्षण रूप और लावण्य उल्लसित हो रहे हैं, फिर प्रियतम के अङ्गों के सङ्ग का तो कहना ही क्या वहाँ तो चन्द्र के सङ्ग से समुद्र ही इन का दृष्टान्त हो सकता है और वह भी एकदेशीय दृष्टान्त होगा क्योंकि यहाँ अङ्गों का वीचि निचय (तरङ्गसमूह) होना और अमृतसिन्धु होना कहा गया है ।

अथवा मथन के उपाय के सङ्ग से अमृत उत्पन्न हुआ था वैसे ही (प्रियाजी के) रसमय अङ्गों में भी प्रियतम के सङ्ग से ही अमृत हुआ, उसी उल्लसित होते हूए अमृत में अधिक अधिक तरङ्गसमूहों की परम्परा उत्पन्न हुई, उन तरङ्गसमूहों से सभी अङ्गों में रोम रोम में बार बार सेचन करती हुई, परम अनुकूलता से यथेष्ट सेचन करती हुई (निकुञ्जदेवी सब से अधिक उत्कर्ष से विराजमान है) यह भाव केवल उन के कृपापात्र सहृदयों द्वारा ही जाना जा सकता है, दूसरा कोई क्या कह सकता है ?

तदेवमनुपलक्षितविशेषस्वरूपमुक्तम्, इदानीं पीयूषसेचनीत्वं स्मरन् स्वतापशान्तिमाशंसमानो विरहकातर्य्यविवशः प्रलपन्निव गोपनीयमपि साक्षान्नाम कथयंस्तथा स्वलोचनविलसितचरमप्याननं साक्षाद्द्रष्टुमभिलषति—

तन्नः प्रतिक्षणचमत्कृत-चारुलीला-
लावण्यमोहन-महामधुराङ्गभंङ्ग ।
राधाननं हि मधुराङ्गकलानिधान-
माविर्भविष्यति कदा रससिन्धुसारम् ॥६॥

तदिति यस्या दिव्यप्रमोदादिमयाङ्गिनीत्वमुक्तं स्वेन पूर्वानुभूतञ्च यत्तद्राधाननं मधुराङ्गकलानिधानं हि नः अस्मभ्यं कदा आविर्भविष्यतीति सम्बन्धः। मधुरेति कलानिधानमिति प्रसिद्धचन्द्रादतिशीतकलङ्कक्षयादिधर्मवत्त्वाद् वैलक्षण्यमुक्तम्। अत्र शाखाचन्द्रवदुपमा ज्ञेया। चन्द्रस्तु कस्यापि सुखदः

रसकलश

इस प्रकार जो समीप से लक्षित नहीं हुआ था ऐसा विशेषस्वरूप कहा। अब प्रियाजी के अमृतसेचन करने वाले स्वरूप का स्मरण करते हुए अपने तापों की शान्ति की कामना से विरहकातरता से विवश होकर प्रलाप-सा करते हुए (अपने इष्टके) गोपनीय साक्षात् नाम का भी स्पष्ट उच्चारण करते हुए अपनी आँखों में झलक चुके प्रियाजी के मुखचन्द्र को प्रत्यक्ष देखने की अभिलाषा करते हैं—

'प्रतिक्षण चमत्कार से युक्त, सुन्दर लीलाओं और लावण्य के कारण मोहक तथा अतिमधुर अङ्गों की भाव भङ्गिमा वाला, मधुर अङ्गों की कलाओं का निधान, रससिन्धु का सार, वह श्रीराधाजी का श्रीमुख हमारे समक्ष कब प्रकट होगा ।६।

'वह श्रीराधाजी का श्रीमुख' कहने का यह तात्पर्य है कि अभी जिन श्रीराधाजी के दिव्य प्रमोदादि से युक्त श्रीअङ्गोंवाली होने का वर्णन किया है उन श्रीराधाजी का पहले ही स्फुरणकाल में अनुभव किया गया, वह मधुर अङ्गों की कलाओं का निधान, श्रीमुख हमारे लिये कब प्रकट होगा। मधुर तथा कला-निधान कहने से अधिक शीतल, कलङ्क और क्षय आदि धर्मों वाले चन्द्र की अपेक्षा श्रीमुख की विलक्षणता कही गई है। यहाँ शाखाचन्द्रन्याय से उपमा समझनी चाहिये (अर्थात् जैसे किसी को चन्द्रमा का दर्शन कराने के लिये वृक्ष की किसी शाखा का आश्रय ले लिया जाता है और कहा जाता है इस शाखा के ठीक एक हाथ ऊपर देखो, किन्तु जब उसे चन्द्रमा का दर्शन हो जाता है तब कह दिया जाता है कि चन्द्रमा शाखा से एक हाथ नहीं हजारों लाखों मील दूर है वैसे ही यहाँ चन्द्रमा की उपमा से श्रीराधाजी के श्रीमुख का परिचय करा दिया गया है और फिर मधुर कला-निधान आदि विशेषणों द्वारा व्यतिरेक (विलक्षणता) दिखाकर उस उपमा का निषेध कर दिया गया है) क्योंकि चन्द्रमा तो किसी के लिये सुखदायक है

कस्यापि दुःखद इदन्तु केवलं मधुराङ्गमेव सुखदमित्यर्थः । निधानमिति पूर्णत्वम् । यद्वा मधुराण्यङ्गान्येव कलास्तासां महानिधिवद्विषयम्, यद्वा मधुरो मूर्तिमान् यत्र राजते यथा तेजसो मूर्तिः सूर्य इति । सोऽप्यङ्गमंशो यासां तादृश्योऽङ्गिभूताः परमांशिरूपाः कलास्तासामाश्रयमिति हि निश्चितं निरपेक्ष्यैश्वर्यमित्यर्थः । नः अस्मभ्यमिति बहुत्वं सजातीयसहृदयाभिप्रायेण सप्रेमाभिमानममत्वातिशयबोधनार्थञ्च ।

कदेति कृपार्थे, महाविरहभरेण दुर्ल्लभत्वद्योतनं वा प्राप्तव्येऽर्थेऽपि तन्मध्यपातिक्षणविलम्बमसहमानः कदेति वदति । आविर्भविष्यति उदेष्यति । सदा यथास्थितमेव श्रीवृन्दावने सप्रियसखीमण्डलोदितमेव लोकप्रतीत्यगोचरं यथा चन्द्रः पर्वतादिदेशान्तरच्छायावरणेन यथास्थितोऽप्यदृश्यस्तथेदमपि यान् कृपयाङ्गीकरोति तदर्थमेवाविर्भवतीति । एवमस्मदर्थमेव कदा कृपयाविर्भविष्यति ।

तो किसी के लिये दुःखदायक भी है, यह श्रीमुख तो मधुराङ्ग ही है अतः केवल सुखदायक ही है । 'कलाओं का निधान' कहने का तात्पर्य है कि कलाओं से पूर्ण है। अथवा मधुर अङ्ग ही कलाएँ हैं और उनकी महानिधि के जैसा यह श्रीमुख एक आधार है, अथवा मधुर (शृङ्गाररस) जहाँ मूर्तिमान् होकर विराजमान हैं, जैसे तेज की मूर्ति सूर्य है । वह मूर्तिमान् मधुर (शृङ्गार) भी जिनका अङ्ग या अंश है ऐसी अङ्गी या परम अंशी बनी हुई कलाओं का यह श्रीमुख एक आश्रय है अतएव निश्चित रूप से दूसरे से निरपेक्ष ऐश्वर्य वाला है, यह अर्थ स्फुरित होता है । 'हमारे लिये' या 'हमारे समक्ष' में बहुवचन का प्रयोग अपने सजातीय सहृदयों के अभिप्राय से और प्रेम-सहित अभिमान और ममता की अधिकता बताने के लिये किया गया है ।

ऐसा श्रीमुख 'कब' प्रकट होगा, यहाँ 'कब' का तात्पर्य 'कृपा' में है, अत्यन्त विरह के भार से उस श्रीमुख की दुर्लभता प्रकट की गई है, अथवा उसकी प्राप्ति के बीच में जो क्षणभर का विलम्ब हो रहा है उसे न सहते हुए कहते हैं कि 'कब' (प्रकट होगा)। कब 'प्रकट होगा' कहने का अर्थ है कि कब उदय होगा । वैसे तो वह सदा ही श्रीवृन्दावन में स्थित है और प्रियतम सहित सखीमण्डल में उदित भी है ही किन्तु लोक प्रतीति का विषय नहीं है, जैसे चन्द्रमा पर्वतादि के या दूर देश के व्यवधान के आवरण से रहता हुआ भी नहीं दीखता, वैसे ही यह श्रीमुख भी कृपा करके जिनको अङ्गीकार कर लेता है, उन्हीं के लिये प्रकट होता है, उदय होता है । (यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः) 'ऐसे ही केवल हमारे लिये ही कब कृपा करके प्रकट होगा' यह कहा गया है ।

चन्द्रोपमत्वात्सिन्धुजन्यत्वमाह–रसेति । रस एव सिन्धुस्तस्मिन् सारं श्रेष्ठमुत्तमाङ्गत्वात् । प्रथमन्तु सारात्सारो रसस्तस्य सिन्धुरिति श्रीमदङ्गानि तेष्वपि सारं श्रेष्ठम् । अत्र तारतम्यं न शक्यम् । एकवस्तुन्यपि पूर्वापरभागः कथनमात्रमेवेतिवत् । यद्वा रससिन्धुमुन्मथ्य सारवदुद्धृतं परात्परो 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इत्यादि–प्रसिद्धो रसस्तस्य सिन्धुस्तलस्पर्शानन्त्यं तत्सारभूतोऽयमाननचन्द्र इति । रसानन्दघनस्याप्यानन्दकत्वादिति भावः ।

पुनरपि वैलक्षण्यमाह प्रतिक्षणेति । चमत्कारादिषड्विशेषणविशिष्टाङ्गभङ्गी यस्मिंस्तत्प्रतिक्षणमिति तदुपादानकनवाभिनवत्वमिति प्रतिपदमन्वेतव्यम्, चमत्कृतं प्रसरत्प्रभापुञ्जमञ्जरीकमाश्चर्याधायकञ्च ॥१॥ चारुमनोदृष्टिहरयथोक्तलक्षणसूक्ष्मविशालतीव्रचक्रवृत्ताद्यङ्गवर्णादिसौन्दर्यम् ॥२॥ लीलामुग्धविदग्धकौतुककार्यारम्भसूचनम् ॥३॥ लावण्यं रोचकत्वं यथातिमिष्टे रोचकं व्यञ्जनादि ॥४॥

जब श्रीमुख को चन्द्रमा की उपमा दी तो उसका समुद्र से उत्पन्न होना भी कहते हैं– रस ही समुद्र है और श्रीमुख उसका सार है, उत्तमाङ्ग होने के कारण वह श्रेष्ठ है । पहले तो सार का भी सार रस है उसका समुद्र श्रीअङ्ग हैं उनमें भी सार या श्रेष्ठ श्रीमुख है । वास्तव में तो यहाँ तारतम्य–श्रेष्ठता का क्रम-निर्धारित नहीं किया जा सकता । एक ही वस्तु में पूर्वभाग अपरभाग तो केवल कहने के ही लिये है । अथवा रससमुद्र का मन्थन करके उसमें से सार के समान यह श्रीमुख निकाल लिया गया है । परात्पर तत्त्व 'वह रस ही है, उस रस को ही प्राप्त करके यह (जीवात्मा) आनन्दवान् होता है' इत्यादि श्रुतिवचनों में प्रसिद्ध रस का समुद्र-जिसका न तल छुआ जा सकता है न पार पाया जा सकता है–उसका भी सारभूत यह मुखचन्द्र है क्योंकि यह रसरूप आनन्दघन को भी आनन्द देने वाला है ।

फिर श्रीमुख की और विलक्षणता बताते हैं– जिस श्रीमुख में चमत्कृत, चारु, लीला, लावण्य, मोहन, महामधुर इन छः विशेषणों से युक्त अङ्गभङ्गी है उस श्रीमुख में फिर प्रतिक्षण विशेषण से नित्य नवता और अभिनवता पद-पद पर आनी चाहिये । यहाँ 'चमत्कृत' का अर्थ है फैलते हुए प्रभापुञ्जरूपी मञ्जरी वाले अतएव आश्चर्य में डाल देने वाले ।१। 'चारु' से तात्पर्य है मन और नेत्रों को आकर्षित करनेवाले, जैसे-सामुद्रिकादि शास्त्रों में कहे गये हैं वैसे लक्षणों वाले सूक्ष्म, विशाल, तीव्र, चक्राकार, वृत्ताकार आदि अङ्गों का वर्णादि के कारण सुन्दर होना ।२। 'लीला' का भाव है मुग्ध और विदग्ध (ग्राम्य और नागर) सभी के लिये कौतुक उत्पन्न करने वाले कार्यों के प्रारम्भ की सूचक चेष्टाएँ ।३। लावण्य का अभिप्राय रोचकता है जैसे अत्यन्त मधुर में व्यञ्जन आदि रोचक होते हैं (ऐसे ही माधुर्य में लावण्य है) ।४।

मोहनं सजातीयविजातीयेतरस्मृतितिरोधानम् ।५। महामधुरं मधुराङ्गेषु विशेष्येष्वपि प्रोज्जृम्भमाणभङ्गीनामत्यन्तमधुरत्वं दृष्टिरसनालाम्पट्यग्राहकं सशिरश्चालनप्रशंसनीयञ्च ।६।

एतैर्विशिष्टा वा एतादृशाङ्गानां भ्रू नयनपलककनीनिकापाङ्गनासिकोष्ठाधरचिबुककपोलादीनां भङ्गी सहजा साकूता वा यस्मिस्तत् । यद्वा प्रतिक्षणादिविशिष्टलीलालावण्याभ्यां मोहनी महामधुराङ्गभङ्गी यस्मिन् । वा क्रमेण लीलया मोहनी वैचित्त्योत्पादिका,लावण्येन रूपेण महामधुरा सर्वबाह्यान्तर्वृत्तिषु परमानन्दस्वाददायिनीत्यङ्गभङ्गी यत्रेति समासार्थः ।

अयम्भावः——आन्तराधिकारमन्तरा नेत्थं वक्तुं शक्नुयादिति यथा समीचीनानुभूतवदनविधुमाधुरी सर्वसद्गुणविलक्षणविशिष्टा कदा मम लोचनगोचरा स्यादिति वदतीति भावः । सर्व्वेष्वेव पद्येषु द्विधा वर्णनं यथासम्भवं ज्ञेयम् । कुञ्जे प्रेमलीलाज्ञापिनी सख्युक्तिः । कृपाभिलाषद्योतिन्याचार्योक्तिरिति सर्वत्र विस्तरभिया नातिवितायते सहृदयगोचरैवेति ।।६।।

रसकलश

मोहन कहने से प्रयोजन है कि सजातीय और विजातीय सभी प्रकार की अन्य स्मृतियों का तिरोधान या निवारण करना ।५। महामधुर का अभिप्राय है विशेष्यभूत मधुर अङ्गों में भी उल्लसित होती हुई चेष्टाएँ अतिमधुर हैं जो नेत्रों की रसना की लम्पटता की ग्राहक हैं और जो सिर हिलाते हुए प्रशंसा करने योग्य हैं ।६।

इन विशेषणों से विशिष्ट अथवा ऐसे अङ्गों की—भ्रकुटि, नेत्र, पलक, पुतली, नयनकोर, नासिका, ओष्ठ, अधर, चिबुक, कपोल आदि की जो स्वाभाविक या अभिप्रायविशेष से की गई हावभावादि चेष्टाएँ हैं वे जिस (श्रीमुख) में हैं वह श्रीमुख (हमारे लिये कब उदय होगा) । प्रतिक्षण चमत्कारयुक्त और चारु लीला तथा लावण्य से मोहन एवं महामधुर है अङ्गभङ्गी जिसमें । अथवा प्रतिक्षण चमत्कारयुक्त लीला से मोहिनी (वैचित्यको उत्पन्न करने वाली) तथा प्रतिक्षण चारु लावण्य से महामधुर सभी बाह्य और आन्तरिक वृत्तियों में परमानन्दमय आस्वाद देने वाली है अङ्गभङ्गी (आङ्गिक चेष्टा) जिसमें, यह समास का अर्थ है ।

इस का यह भाव है कि आन्तरिक अधिकार के विना ऐसा नहीं कह सकते। भली भाँति जिन के मुखचन्द्र की माधुरी का मैंने अनुभव प्राप्त किया है और जो समस्त सद्गुणों से सुशोभित है हा ! वह कब मेरे नेत्रों का विषय होगी ? ऐसा कहते हैं । सभी पद्यों में जहाँ तक सम्भव हो दो प्रकार से वर्णन जानना चाहिये, कुञ्ज में प्रेमलीला को ज्ञापित करने वाली उक्ति श्रीहितसखी जी की है और कृपा की अभिलाषा प्रकट करने वाली उक्ति श्री हिताचार्य महाप्रभु की है । यह बात सर्वत्र है और सहृदय रसिक भावुकों को ज्ञात ही है, अतः ग्रन्थविस्तार के भय से अधिक विस्तार से नहीं कही जाती ।।६।।

ननु तादृशमाधुर्यैश्वर्यपूर्णतमायास्तादृशमुखचन्द्रसाक्षाद्दर्शनं तन्निरन्तरकैङ्कर्यं तत्कृपां विनात्यन्तदुर्ल्लभमित्याशङ्क्य स्वस्य तादृशनित्याधिकारेऽपि तत्किङ्करीपरममहत्त्वं स्मरन् 'नमन्ति फलिनो वृक्षा' इतिवत्स्वदैन्यातिरेकमेवाभिलषति—

यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकुवाणी
नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्डमौलेः।
तस्याः कदा रसनिधेर्वृषभानुजाया-
स्तत्केलिकुंजभवनाङ्गणमार्जनी स्याम् ॥७॥

अहं तस्या वृषभानुजायास्तत्केलिकुञ्जभवनाङ्गणमार्जनी कदा स्यामित्यन्वयः। तस्या निरतिशयसौभाग्याया वृषेति परमकृपाविर्भावमाधुर्यामृतपोषितनिजपरिजनायाः प्रतिक्षणजनकजननीपरमविविधविचित्रवात्सल्य-लालन-लाल्यमान-ललनायास्तदिति तादृशविशिष्यानिर्वचनीय-

रसकलश

अब इस प्रकार के माधुर्य और ऐश्वर्य से परिपूर्ण श्रीराधा जी के उस प्रकार के मुखचन्द्र का साक्षात् दर्शन और उनका निरन्तर किङ्करीभाव उनकी कृपा के विना अत्यन्त दुर्लभ है, यह आशङ्का करके स्वयं (श्री हिताचार्य महाप्रभु के) उस प्रकार के नित्य अधिकार के रहते हुए भी उनको किङ्करियों (दासियों) के परम महत्व को स्मरण करते हुए 'फलयुक्त वृक्ष झुक जाते हैं' के अनुसार अपने दैन्यभाव की ही अभिवृद्धि की कामना करते हैं—

'जिन की दासियों के प्रति परम पुरुष शिखण्डमौलि (मोर मुकुट वाले) की भी नित्य अनेक प्रकार की काकु (दीनता भरी) बाणी होती है, उस रसनिधि श्री वृषभानुनन्दिनी के उन केलिकुञ्जरूपी भवनों के आँगन में मैं झाड़ू या झाड़ू लगाने वाली दासी कब होऊँगी ? ।७।

मैं उन श्री वृषभानुनन्दिनी के उन केलिकुञ्जरूपी भवनों के आंगन में झाड़ू या झाड़ू लगाने वाली दासीकब होऊँगी, वह मुख्य वाक्य का अन्वय या सम्बन्ध है। यहां पर 'उस' या 'उन' शब्द से श्रीराधा जी का निरतिशय सौभाग्यशालिनी होना सूचित किया गया हैं और 'वृषभानुजा' शब्द से उन का परम कृपा द्वारा आविर्भूत होने। और माधुर्यरूपी अमृत से अपने परिजन को पोषित करने वाली होना तथा प्रतिक्षण पिता (वृषभानु) माता (कीर्तिदा) के परम और विविध प्रकार के विचित्र वात्सल्य और लालन से लालित होने वाली लाडिली होना ज्ञात होता है। ऐसे ही 'तत्केलिकुञ्ज' में 'तत्' या 'उन' शब्द से उस प्रकार की विशेषतः अनिर्वचनीय

रसकुल्या

स्रोत्तरङ्गकेलीनां सम्बन्धि कुञ्ज-भवनं लतादिसहजसौष्ठवयथाकाम निकामनिर्मित-गृहं तस्याङ्गणं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च तस्य मार्जनी शोधि नी कोमलसरलतृणनिचयरूपा कदेति महाभाग्यद्योतनं विरहतोकण्ठाधिक्यञ्च। तदुपभुक्तावशेष-ताम्बूलरसमाल्य-गन्धाङ्गरागविलासपरिमर्दित शयनपतितकिसलयकुसुमचरणपरागादिशोधने स्वत एव तत्सङ्गिनी स्यामिति किं ब्रुवीय भाग्यवैभवमिति भावः। केलीत्युक्तेः श्रृङ्गाररसानुपपत्तिरतस्तदाधारत्वेन विशिनष्टि रसनिधेरिति। श्रृङ्गारो रसनायक इत्यत्रास्यैव मुख्यत्वात्सर्वेऽपि हास्यादयस्तदुपयोगिनस्तद्योग्याङ्गीभूय तत्पोषका एवं विरोधं परिहृत्य यथासमयमेव स्वसेवां दर्शयन्तस्तदनुगा एव। सदैकीभूय तिष्ठन्तीति रस शब्द-सामान्योक्त्या सूचितम्। अगाधानाद्यनन्तपारावारत्वं रसस्येति निधेस्तद्रूपतदाधाराया इत्यर्थः। तदेव विवृणोति तस्याः कस्याः ?

रसकलश

रस के कारण उल्लसित तरङ्गों वाली क्रीडाओं से सम्बन्धित होने की प्रतीति होती है। 'कुञ्जभवन, इत्यादि कहने का तात्पर्य है कि लता आदि के स्वाभाविक सौष्ठव से इच्छानुसार भली भाँति बने हुए गृह और उसके आँगन में अर्थात् बाहर और भीतर भी लगाई जाने वाली मार्जनी कोमल और सरलतृणों की समूहस्वरूपा, झाडू 'कब' बनूँगी। 'कब से महाभाग्य का द्योतन होता ही है, साथ ही विरहोत्कण्ठा की अधिकता भी स्पष्ट होती है। क्योंकि मार्जनी बनकर उन (श्रीराधाजी) के द्वारा उपभोग करके छोड़े हुए ताम्बूल, रस, माला, गन्ध, अङ्गराग तथा विलासों से मसले गये शयन पर पड़े पत्र,पुष्प और चरणपराग आदि का शोधन करते समय अनायास ही उनका सङ्ग प्राप्त करने वाली हो जाऊँगी, मैं अपने इस भाग्यवैभव का क्या वर्णन करूँ ? यह भाव है। 'केलिकुञ्ज' में केलिशब्द के कहने मात्र से श्रृङ्गाररस की उपपत्ति या सिद्धि नहीं होती अतः श्रृङ्गाररस के आधार (विषय) होने के कारण एक विशेषण देते हैं कि रसनिधि '(श्रीराधाजी) के'। श्रृङ्गार रसों का नायक या राजा है इसलिये यहाँ इसकी ही मुख्यता से हास्य आदि सभी रस उसके उपयोगी हैं अर्थात् उसके यथायोग्य अङ्ग बनकर पोषक हैं और इसप्रकार निरन्तरता, एकाश्रयता आदि के कारण होने वाले पारस्परिक विरोधों (रसविरोधों) को छोड़कर यथासमय ही अपनी अपनी सेवा दिखाते हुए उस (श्रृङ्गाररस) के अनुगामी होकर ही सदा एकीभाव से स्थित रहते हैं सामान्य 'रसनिधि में' रसशब्द कहकर यह भाव सूचित किया गया है। रसनिधि का यह अर्थ है कि वे जिसका तल आदि और अन्त तथा पार और अवार न पाया जासके, ऐसेरस की निधि हैं अर्थात् रसरूपा हैं और रस का आधार हैं। इसी बात को विशद रूप से कहने के लिये 'जिनके' यह शब्द कहा है। इसीकी व्याख्या करते हैं उनके, 'किनके ?

यत्किङ्करीष्विति किङ्करीमात्रेषु वा ललितादिषु परस्य पुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य सकलावतारावतारिणः पूर्णतमस्वयम्भगवतः शिखण्डमौलेर्नन्द-नन्दनस्य वा परस्य दास्यक्रियालिप्साद्यानुकूल्यपरमकाष्ठापन्नस्य रसिक-नायकशिरोमणेः शिखण्डेति आसज्यकृताघटितस्वभावनिर्वहनपरमासक्ति-बद्धकङ्कणस्येत्यर्थः । नित्यमिति विलासस्य नित्यत्वात्तत्रापि बहुश इत्यहो-रात्रं तन्निकुञ्ज एव स्थायित्वान्न बहिरङ्गकार्यगन्धोऽपीति भावः । तथा च वक्ष्यत्येव ।

'दूरे सृष्टयादिवार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्,
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति च हरेत्स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः ।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधाम्,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ।।'

इत्यादि । तत्रापि खलु निश्चयेन सत्यमेवान्तरङ्गतया बुद्धि-पूर्वकेण नतु वैदग्ध्यस्वार्थनिर्वापणव्याजेनेत्यर्थः ।

रसकलश

जिनकी किङ्करियों के सामने, किङ्करी मात्र के सामने या ललिता आदि मुख्य किङ्करियों के सामने परमपुरुष पुरुषोमम-सभी अवतारों के अवतारी, पूर्णतम स्वयं भगवान्-शिखण्डमौलि (मोरमुकुट वाले) नन्दनन्दन की (दीनताभरी उक्तियाँ होती हैं।) अथवा 'पर' शब्द से दास्यभाव के अनुकूल कार्य प्राप्त करने की लालसा आदि के अनुरूप परम भावावस्था को प्राप्त हुए रसिक नायकों के भी शिरोमणि शिखण्डमौलि या मोरमुकुट वाले की (दीनताभरी उक्तियाँ होती हैं) यहाँ 'शिखण्डमौलि' कहने का अर्थ है कि आसक्ति की पात्र (श्रीराधाजी) के द्वारा प्रकट किये गये अघटित (सदा ही बाहर से प्रतिकूल रहने के) स्वभाव का निर्वाह करने के लिये परम असक्ति के कारण जिन्होंने कङ्कण (मङ्गल तन्तु) बाँध रखा है। उनकी नित्य ही (ऐसी उक्तियाँ होती हैं) इस कथन में नित्य शब्द द्वारा विलास की नित्यता प्रकट होती है, उसमें भी 'बहुत बार' कहने का तात्पर्य है कि दिनरात उस कुञ्ज में ही स्थायी रूप से रहने के कारण उन्हें बाहर के कार्यों की तो गन्ध ही नहीं लग पाती है। ऐसा ही आगे कहेंगे भी—

'सृष्टि आदि की बात तो दूर रही, अपने प्रियभक्त नारद आदियों को भी तनिक अवसर नहीं देते, श्रीदामा आदि मित्रों से नहीं मिलते, अपने माता (यशोदा) पिता (नन्द) की स्नेहवृद्धि की भी अपेक्षा (परवाह) नहीं रखते। केवल प्रेम की एकमात्र सीमा श्रीराधाजी को ही मधुर रसरूपी सुधा के सिन्धु के सारों के कारण अगाधा जानते हुए मधुसूदन रातदिन कुञ्जगली के पास में ही बैठे रहते हैं अथवा उसकी ही उपासना करते रहते हैं। इत्यादि।' उसपर भी निश्चय के साथ सचमुच ही हृदय से, बुद्धिपूर्वक ही, न कि अपनी विदग्धता (नागरता) और स्वार्थ को पूरा करनेके बहाने से।

रसकुल्या

काक्विति दैन्यवाक् सा तु परमकृपापात्रसहृदयैकभावनीयापि किञ्चिद्दृश्यते । प्रियस्य परमतृषितवैवश्यलौल्यलीलाशीलत्वात्तस्याश्च लज्जातिरेकस्वान्तर्भावाप्रकाशनलाडिलात्वशीलाया वाम्यावश्यकत्वमेवाप-तेदिति तदा लौल्ये मानोत्तरङ्गभ्रूभङ्ग्यां जायमानायां तत्प्रसादनबहु-धानुनयनिपुणोऽपि न शक्नोति तदेङ्गितज्ञत्वादिदर्प्पहानात्स्वाधिकारसाव-धानाः सखीराश्रयते केनोपायेन प्रसादयामि भवतीरेवान्तरङ्गमर्मज्ञाः प्रार्थये न युष्मानन्तरा मां शिक्षयेद्येन श्रीमती प्रसन्ना स्यात्तत्कुरुतेति प्रार्थितवति प्रिये तदिङ्गितज्ञाभिः प्रतिभूभूय दम्पतिरसवर्धनं कृतम्, ततोऽपि दास्येन प्रियानभिलषितेन पादसंवाहनादिना पुनर्भ्रूभङ्गतरङ्गत्वं

रसकलश

काकु अर्थात् दीनताभरी वाणी उसकी भावना परम कृपापात्र बने हुए सहृदयजन ही कर सकते हैं तथापि कुछ निर्देश यहाँ पर दिया जाता है। प्रियतम के परम तृषित, विवश, चञ्चल और लीलाशील या क्रीडाप्रिय होने के कारण प्रियाजी का अतिलज्जा के कारण अपने आन्तरिक भाव को प्रकाशित न करना तथा लाडलेपन के स्वभाव से प्रतिकूल रहना आवश्यक होता ही है। तब प्रियतम (श्यामसुन्दर) की चञ्चलता पर मान (प्रणय कोप) से भृकुटि के तरङ्गित हो जाने या तन जाने की चेष्टा के होने पर उन्हें मनाने के लिये अनेक प्रकार के अनुनय विनय में निपुण होते हुए भी मना नहीं पाते हैं। अतएव उनका यह अभिमान जाता रहता है कि 'मैं प्रियाजी के इङ्गितों को जानता हूँ', तब वे अपने-अपने कार्य में सावधान रहने वाली सखियों का आश्रय लेते हैं, उनसे पूछते हैं "मैं प्रियाजी को कैसे मनाऊं, आप उनकी अन्तरङ्ग सखी हैं उनके मनके भाव को जानती हैं, अतः आप सब से प्रार्थना करता हूँ। आप लोगों के विना मुझे कोई नहीं बतायेगा या सिखाएगा कि श्रीमती (श्रीराधा) कैसे प्रसन्न होंगी, सो ऐसा उपाय करो" इस प्रकार प्रियतम के द्वारा प्रार्थनाएँ करने पर उन (श्रीराधा और श्रीश्यामसुन्दर दोनों) के अभिप्राय और इङ्गितों को जानने वाली उन किङ्करियों के द्वारा मध्यस्थ (जामिन) बनकर दम्पतिरस प्रिया‌प्रियतम के (प्रीतिरस) का संवर्धन किया। 'रस' की अभिवृद्धि की जाती हैं। उसपर भी 'दास्य'-जिसे प्रियाजी नहीं चाहतीं-से चरण संवाहन आदि के द्वारा फिर भ्रूभङ्ग के तरङ्गित हो उठने पर

कोऽयमघटितनिसर्ग इत्यादि तदा स्वाभिलषितापूरणात्खिन्नः पुनरप्येवमेव सखीषु दैन्यमिति न भवदुपकारं कदापि विस्मरे, परिजनगणेषु सेवापरेषु किञ्चित्सेवापरं मामपि कुरुत, तदा ता अपि परस्परकौतूहलरसातिशय-वृद्ध्यर्थमनेककौतुकव्याजेन निजसाचिव्याधिकारगौरवं वर्द्धयन्ति नास्मद-विकारश्चाटुपटुवार्तादिभिर्लभ्यो बहुसेवाप्रकारेण सुचिरं साधितेनाहंभा-वस्मृतितिरोधान-स्वसेवासातत्य-दर्पनिरसनादिसनोमर्द्दनानन्तरभीतिस्था-यित्वैकलभ्य इत्यादि ।

तदा प्रियः स्वगतं व्यनक्ति यथोक्तमेव करिष्येऽवधारयत विज्ञापनामेकामिति मञ्जन-कबरोप्रसाधन-यावकरनाङ्गरागचित्रश्रृ-ङ्गारादि मदीयहस्तेनैव सम्दायितव्यमिति श्रुत्वा ता ऊचुः नोपालम्भपात्रा भवदर्थे भवाम । किञ्च अत्यसन्तोषोऽपि न वरः । सर्वरसभोक्तृत्वेऽप्य

रसकलश

'यह कैसा अघटित (बाहर सदा प्रतिकूल) स्वभाव है इत्यादि सोचते हुए तब भी अपनी अभिलाषा के पूर्ण न होने से खिन्न हुए फिर भी इसी प्रकार ही सखीजन के प्रति दीनता प्रकट करते हैं—'मैं आप लोगों के उपकार को कभी नहीं भूलूँगा, जब दासीजन सेवा में लगे हों तब किसी सेवा में मुझे भी लगा देना'। इसपर वे भी परस्पर कुतूहलरस की अतिशय वृद्धि के लिये अनेक कौतुकों के बहाने अपने सखीत्व या मन्त्रित्व के अधिकार का गौरव बढ़ाती हैं—हमारा अधिकार इन मीठी मीठी बातों से नहीं मिलता, अनेक प्रकार के सेवा प्रकारों से जो चिरकाल तक किये गये हों - जब अहङ्कार और स्मृति का निराकरण हो जाता है तथा अपने द्वारा निरन्तर सेवा करने का दर्प भी जब निकाल दिया जाता है, मन को मसल दिया जाता है, भीति या भय को स्थायी भाव की भाँति मन में रख लिया जाता है तब हमारा-सा अधिकार मिलता है' इत्यादि बातें कहती हैं ।

तब प्रियतम अपने मनकी बात प्रकट करते हैं और कहते हैं—'जैसा आप कहेंगी मैं वैसा ही करूँगा मेरी एक प्रार्थना पर तो ध्यान दे दो, मेरे ही हाथ से 'श्रीप्रियाजी' के मज्जन, केश प्रसाधन, महावर लगाना, अङ्गराग और चित्र रचना द्वारा श्रृङ्गार 'आदि सेवा का सम्पादन करा दो' इत्यादि । इसे सुनकर वे कहती हैं—'हम तुम्हारे लिये प्रियाजी के उपालम्भ का पात्र नहीं होना चाहतीं, फिर तुम्हार इस प्रकार अति असन्तोष भी अच्छा नहीं है । सभी रसों के उपभोक्ता होते हुए भी

पूर्तेरलन्ते ज्ञातं कैतवमिति । किञ्च परोत्कर्षासहनं न यशोदायकम् परम क्षेमं प्रथमन्तु सखीत्वं विना नान्तरङ्गसेवाप्राप्तिरित्युक्ते साधु साधु मामपि वेषयत यथा प्रिया न जानीयान्मुग्धैव तिष्ठेदहमपि सेवन-क्रिया-कौशलेन परमचतुरां प्रसादयाम्येव भवतीयशं एवायास्यति नबिभेतेत्यादि। एवङ्कृते मन्मनोरथपूर्तौ भविष्यति मदुपर्य्युपकाराङ्कनमेव कुरुतेत्यादि प्रियोक्ते ततो विहस्य ताभिः परमतत्सुखिनीभिः पुलकाश्रुकम्पगद्गादादि निरुध्य निजं धन्यम्मन्यते तास्तदेवानुमन्यमानाश्च तादृशकौतुकाडम्बरं कुर्वन्ति तदा प्रियेण तद्वेषेण बुद्ध्यगोचरं सुखं लभ्यते । ततः प्रसद्य कृतज्ञतया स्तौति धन्या भवत्योऽत्युदारा यत्कृपात एवंधनिक एवाभवमिति मानातिशयदानेन नित्यं बहुशः खलु दैन्य-वचनचञ्चुरत्वं तादृशपुरुषोत्तमस्येति किं भण्यते सहचरीसौभाग्यमहिमेति भावः ॥७॥

रसकलश

तुम्हारी कभी पूर्ति नहीं होती, बस, जान ली तुम्हारी धूर्तता' इत्यादि । तथा यह भी कहती हैं कि-दूसरे के उत्कर्ष को न सहना यशस्कर नहीं होता । पहली बात यह है कि सखीभाव के विना अन्तरङ्ग सेवा की प्राप्ति ही नहीं हो सकती' इतना कहने पर वे कहने लगते हैं—'ठीक है, ठीक है, मुझे भी अपने जैसे वस्त्र पहना दो जिससे प्रियाजी मुझे पहिचान न सकें, अज्ञात या भोली ही बनी रहें, मैं भी सेवा करने की कुशलता से परमचतुर प्रियाजी को प्रसन्न कर ही लूंगा और आप लोगों को भी यश ही मिलेगा, आप लोग डरें नहीं' इत्यादि । ऐसा करने से मेरे मनोरथकी पूर्ति होने पर परम कल्याण होगा, आप मेरे ऊपर इतना उपकार अवश्य करें। इस प्रकार प्रिय के कहने पर हँस कर उन प्रिया प्रियतम के सुख से सुखी होने वाली सखियाँ रोमाञ्च, अश्रु, कम्प, गद्गद आदि को रोक कर अपने आपको धन्य मानती हैं वे श्यामसुन्दर की इच्छा का अनुमोदन करती हुई वैसा ही कौतुक करने का आडम्बर रचने लगती हैं। तब प्रियतम भी सखी रूप धारण करके बुद्धि से भी अगोचर परम सुख प्राप्त करते हैं । और प्रसन्न होकर कृतज्ञता के कारण उन की स्तुति करने लगते हैं—धन्य हैं आप सब अत्यन्त उदार हैं, जिनकी कृपा से मैं ऐसा धनी बन सका। इस प्रकार अत्यन्त मान प्रदान करने के द्वारा वैसे परम पुरुषोत्तम को भी नित्य अनेक दीनता के वचन कहने की कुशलता जिन सखियों के समक्ष प्रकट होती है उन सखियों के सौभाग्य की महिमा का क्या वर्णन किया जाय; यह तात्पर्य है । ७ ।

तदेवं केलिकुञ्जोक्तेर्वृन्दावनस्मरणोल्लसितमनाः सकलोक्तानुक्त-लीलारसनिधेरप्यास्पदत्वेन स्मारं स्मारं कृतपुलककम्पशिरोधूननः कमन्यं कथयामीति स्वचेत एवाभिसम्बोध्योपदिशति—

वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद्,
वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः ।
सत्तारणीकृतसुभावसुधारसौघं,
राधाभिधानमिह दिव्यनिधानमस्ति ।।८।।

हे चेतस्त्वं सर्वमहतां वृन्दानि दूरादपहाय प्रणयेन वृन्दाटवीमनुसरेत्यन्वयः । सर्वेषां चतुर्व्वर्गाणां कर्म्मधर्म्मतपोज्ञानवैराग्याद्युक्तानुक्तसमस्तसाध्यसाधनानां तत्सिद्धजीवन्मुक्तानाञ्च महतामिति विश्वविविध-जीवमात्रकृतार्थीकरणान्महत्त्वमेतेषां वृन्दानि प्रत्येकं यूथशो नत्वेकैकमेव

रसकलश

इस प्रकार केलिकुञ्ज की चर्चा करने से वृन्दावन के स्मरण से उल्लास युक्त मनवाले श्रीहिताचार्य महाप्रभु सभी कही गई और न कही गई लीला के रस की निधिकी आधार-भूता श्रीराधा जी का आवासस्थान होने के कारण उसे स्मरण कर करके रोमाञ्च और कम्प के साथ सिर हिलाते हुए 'और किसको कहूँ'; यह सोचकर अपने चित्त को ही सम्बोधन करके कहते हैं—

हे चित्त ! तू सभी महान् (साध्य साधनों) के समूहों को दूर से छोड़ कर प्रेम-पूर्वक श्रीवृन्दावन की ओर चला चल । सत् (साध्य और साधनों] के तारण के उपाय-भूत हैं सुन्दर भावरूपी सुधा और रस के प्रवाह जिसके, ऐसा श्रीराधानामक दिव्य निधान इस (श्रीवृन्दावन) में ही तो है ।

हे चित्त ! तुम सभी बड़ों के समूहों को दूर से छोड़कर प्रेम से श्रीवृन्दावन का अनुसरण करो' यह अन्वय या वाक्य-सम्बन्ध है । सभी बड़ों के समूह अर्थात् चारों वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) तथा कर्म, धर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य आदि कहे गये या न कहे गये सभी साध्य और साधनों के और उनके द्वारा सिद्ध हो गये जीवन्मुक्तों के संसार के अनेक प्रकार के जीवों को कृतार्थ करने के कारण जिनकी महत्ता प्रसिद्ध है उनके समूहों को अर्थात् प्रत्येक के झुण्ड के झुण्डों को न कि एक को एक,

रसकुल्या

दूरान्न तु तत्सङ्गमनुभूय किञ्च परतो दूरतः श्रुत्वैव विश्रभ्य मनसि सङ्कुच्य तद्गन्धमात्रमप्यसहमानः, अपहाय श्रवणमननतस्त्यक्त्वा वृन्दाटवीं पूर्व्वविलक्षणतममहद्वृन्दभूतानां शिवविधिसनकनारदोद्धवादि-दुर्ल्लभप्रार्थनीयतरुगुल्मादीनामटवीमेवानुसर आनुकूल्येन चलेति वृन्दसनामार्थः। मुख्योऽर्थस्तु प्रसिद्ध एव वृन्दायास्तदधिष्ठातृदेव्या वा श्रीराधाया वनं तत्र प्रणयेन स्नेहेन नतु किञ्चिन्माहात्म्यज्ञानकृतार्थी-करणधर्म्मत्वेनेत्यर्थः। अन्विति यत्र पूर्वन्तव चेतनं नित्यसंज्ञानं दम्पतिरस-लीलास्थलेषु तत्रैवानुसर, नात्र लोकगतं साध्यसाधनादि।

ननु सर्व्वं त्यक्त्वात्रानुसरणे का महत्तमार्थसिद्धिस्तत्राह-इह वृन्दा-टव्यां राधाभिधानं दिव्यनिधानमस्ति निधानं निधिः प्रसिद्धाष्टसिद्धिनव

रसकलश

दूर से ही न कि उनके सत्सङ्ग का अनुभव करके, और फिर दूसरे लोगों से दूर से उनके विषय में सुनकर ही उन पर विश्वास करके भी मन में सङ्कोच कर उनकी गन्ध को भी न सहते हुए उनको छोड़कर अर्थात् उनके विषय में और कुछ सुनने और सोचने का भी त्याग करके वृन्दाटवी-अर्थात् पहले के विलक्षणतम महासाध्य साधनों के समूह बने हुए शिव, ब्रह्मा, सनक, नारद, उद्धव आदि के लिए भी दुर्लभ अतएव प्रार्थनीय तरुलता आदि की अटवी (वनपंक्ति) का ही अनुसरण कर, अनुकूलभाव से चला चल, यहाँ वृन्द के समान नाम का अर्थ कहा गया है। इसका मुख्य अर्थ तो प्रसिद्ध ही है वृन्दा (तुलसी) अथवा उसकी अधिष्ठात्री देवी श्रीराधा की अटवी या वन, उसमें प्रणय या स्नेह से चला चल, न कि कोई माहात्म्य जान कर उसको सफल करने के धर्म के विचार से' यह अर्थ है। 'अनु' 'पीछे' या 'अनुकूलता से' कहने का तात्पर्य है कि जहाँ पहले तेरा चेतन या नित्य संज्ञान है, उस प्रिया प्रियतम के लीलास्थलों पर उस नित्यसंज्ञान के पीछे चल या अनुकूलता से चल। वहाँ न तो लोकगत साध्य हैं, न साधन, न और कुछ।

अब प्रश्न होता है कि सब कुछ छोड़ कर श्रीवृन्दाटवी का अनुसरण करने में किस महत्तम अर्थ की सिद्धि होगी! उस पर कहते हैं—कि इस वृन्दाटवी में राधा-नामक दिव्य निधान है निधान नाम निधिका है जो प्रसिद्ध आठ सिद्धियों और नौ

निधित्वव्यावृत्त्यर्थं दिव्येति। तत्रापि राधाभिधानकथने तु परमानिर्व्वच नायता।

ननु तत्किंसत्ताकं वस्तु किंवा स्वादं पारमार्थिकं किंवा नित्यनिरतिशयपरमावधि तत्राह-सत्तेति। सतां निर्मत्सरेत्याद्युक्तलक्षणानां वृन्दाटवीशरणं प्राप्यमाणानां तारणीकृतः सुष्ठु निजभावो भक्तिरनुरागस्तेन सुधारसौघा आप्यायनकृत्य-रसास्वादरूपाः स्रवमाणा यस्मिन् अभूततद्भावार्थं तु तरणोपायास्त्वन्येऽपि बहुशः सन्ति, अयन्तु सर्व्वविलक्षण एव। तथापि सर्व्वत्यजनपूर्व्वकानन्याश्रितानां रसिकभावुकानां देहादिसङ्गेन तितीर्षाभासोऽपि कदाचित्स्यात्तेनोक्तं तरणोपायोऽप्ययमेवास्वादश्चाप्ययमेवेति ध्वनिः। अतएव प्रथमं भाव उक्तः पश्चात्सुधारस इति। यद्वा सुभाव एव रसः,तारणीकृतत्वन्तु भावमात्रेणानुषङ्गिकम्, किञ्च तावद्देवादिविषयकरतिवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वको भावो जायते, पश्चात्स एव सुष्ठुतां प्राप्नोति निरन्तरसेवनवृद्धो

निधियों से भिन्न है अतएव उसे दिव्य या अलौकिक कहा गया है। उस पर भी 'राधा' नाम कहने से उस निधि की परम अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है।

अब प्रश्न होता है कि इस राधा नामक निधि की सत्ता क्या है? क्या वह कोई पारमार्थिक स्वाद है या नित्य निरतिशय परम अवधि वाली वस्तु है? इस पर कहते हैं 'सत्तारणीकृत' इत्यादि। 'निर्मत्सर' इत्यादि में कथित लक्षणों वाले, वृन्दाटवी की शरण में लाए जा रहे सहृदयों के लिए तारण का उपाय बनाये गये हैं सुन्दर निज भाव अर्थात् भक्ति या अनुराग के द्वारा सुधारस के प्रवाह जिसमें-तृप्ति करने वाले रस के आस्वादस्वरूप बहते हुए ओघ जिसमें, यह प्रयोग अभूत-तद्भाव (जो वस्तु वास्तव में जो नहीं है उसको वैसा बना देने) के अर्थ में है तो इसका यह भाव है कि वैसे तो तरने के उपाय अन्य भी बहुत से है किन्तु यह उपाय उन सबसे विलक्षण ही है। सब कुछ त्यागने के साथ अनन्यभाव से आश्रय लेने वाले रसिक भावुकों के देहादिसङ्ग से भी तरने की इच्छा का आभास कभी हो भी जाए इसलिए ऐसा कहने से यह तात्पर्य है कि तरने का उपाय भी यही है और आस्वाद भी यही है इसीलिए पहले भाव कहा गया और बाद में सुधारस। अथवा सुभाव ही रस है, तरने का उपाय बना दिया जाना तो भाव के साथ आनुषङ्गिक है। एक और बात भी है कि देवादिविषयक रति के समान माहात्म्यज्ञान से भाव होता है फिर वही भाव शोभन या सुन्दर हो कर 'सुभाव' हो जाता है। निरन्तर सेवन करते रहने से बढ़ कर वही सुभाव

रसरूपः सन् सुधारूपः स्यात्तस्यौघा इत्यनायासप्लाव्यमानत्वं ध्वनितम्। रसो लीलाविलोकनजातप्रेमतन्मयतादि। यद्वा सत्ता महत्ता तस्या अप्यरणीकृतः शरणीकृत आश्रयरूपो यः सुष्ठु निजभावो भक्तिः, सर्वमहत्त्वमत्रैवाश्रयत इति यद्वा सत्स्वपि सद्भावः कृष्णस्यैव, अतस्तत्सत्ताया अप्यरणीकृतः सुभावो राधासत्ता सैव सुधारस इति। किञ्चैतस्याः प्राधान्येनैव माधुर्य्यरसद्रवो भवति, अन्यथा केवलं कृष्णरसो न शोभां प्राप्नोति। यद्वा भाव आसक्तत्वं रस आसज्यत्वं दम्पत्योर्मध्ये सा चासज्यरूपेण नित्यापि कदाचिदासक्ताभिलाषपोषणौत्कण्ठ्यादासक्तापि भवेद्, यथा नादेवो देवमर्च्चयेदिति। तदा क्षणं पलकान्तरमप्यसहमाना परमविह्वला 'हा प्रिय क्वासि क्वासी' ति विवशा वदेत्, तथा वक्ष्यत्येव—

रसकलश

'रस' रूप होता हुआ 'सुधा' अमृतरूप हो जाता है उसके प्रवाह कहने से उस सुभाव सुधारस में अनायास बाढ़ आना ध्वनित होता है। रस का अर्थ है लीला दर्शन से उत्पन्न प्रेम और तन्मयता आदि। अथवा सत्ता का अर्थ है महत्ता, उसके लिए भी अरण अर्थात् शरण बना दिया गया है, आश्रयरूप जो सुन्दर निज भाव या भक्ति। अर्थात् सब की अपेक्षा अधिक महत्त्व को भी यहीं आश्रय मिलता है। अथवा सत् पदार्थों में भी सद्भाव श्रीकृष्ण का ही है अतः उस (श्रीकृष्ण) की सत्ता के लिए भी शरण बना दी गई सुन्दर सत्ता (सुभाव) श्रीराधा हैं और वे ही उन (श्रीकृष्ण) के लिए सुधारस का प्रवाह भी हैं। एक बात और भी है कि इस (श्रीराधा सत्ता) की प्रधानता से ही माधुर्यरस का द्रव होता है, अन्यथा केवल कृष्णरस शोभा को प्राप्त नहीं होता। अथवा भाव का अर्थ है आसक्त होना और रस का अर्थ है आसज्य होना, यद्यपि प्रिया प्रियतम के मध्य में प्रियाजी नित्य आसज्यरूप से स्थित हैं तो भी कभी आसक्त की अभिलाषा का पोषण करने की उत्कण्ठा से वे आसक्त भी हो सकती हैं जैसे कहा है कि 'देव बने बिना देव का पूजन न करे'। तब क्षण भर के लिये पलक भर का भी अन्तर न सहती हुई परम विह्वल होकर 'हा प्रियतम, कहाँ हो कहाँ हो' इत्यादि वचन विवश होकर बोल सकती हैं। जैसा कि कहेंगे ही—

सरकुल्या

अङ्कस्थितेऽपि दयित किमपि प्रलापं, हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी, श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि ॥

इति। तदा प्रियपरमानन्ददायिनी स्यादिति अत एवास्य भावे सुष्ठुत्वमासज्यत्वसंवलितमेवेति, यदा प्रकृता तदासज्यात्वलाडलात्वनिस्पृहसहजदर्पौदार्यधैर्य्यौन्नत्यादिलक्षणाविर्भावा स्यादिति। किञ्च रसस्थितिस्तु तस्याः प्राधान्य एव तस्य चानुगतत्व एव, अन्यथा रसविच्युतिः स्यादिति हेतो रसाधारत्वेन रसौघा यस्मिन्नत एव सुधात्वम्, ओघत्वेन बाहुल्यात्प्रकृतत्वं सूचितम्, तथैवाग्रे वक्ष्यति-रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणाविति।

अर्थात् कदाचिद् भावात्मिका कदाचिद् रसात्मिका सा स्यादित्येवममृतौघा यत्र तत्रैवानुसरेति। अस्मिन्पक्षे तारणीकृतत्वं नाम सतां रसिकभावुकानां मुक्त्यनपेक्षाणां न किञ्चित्संसारतरणमेवार्थः।

रसकलश

'अङ्क में प्रियतम स्थित हैं तो भी' हा! मोहन; इस प्रकार अकस्मात् कुछ प्रलाप करती हुई श्याम के प्रति अनुराग के मद से विह्वल हैं मोहन (मोहक) अङ्ग जिन के ऐसी कोई श्यामाओं (षोडशियों) में शिरोमणि (श्रीराधा) निकुञ्ज की सीमा में सब से अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं।'

ऐसी अवस्था में वे प्रिय को परम आनन्द देने वाली होती हैं। अतएव इनके भाव में सुष्ठुता या सुन्दरता आसज्यभाव से संवलित (युक्त) ही रहती है। जब सहज अवस्था में होती हैं तब आसज्य होना, लाडली होना, निःस्पृह होना, सहज दर्प, उदारता, धीरता और औन्नत्य आदि लक्षणों के आविर्भाव से युक्त होना पाया जाता है। एक बात और भी है कि रसस्थिति तो उनकी प्रधानता में और प्रियतम के अनुगामी होने में ही होती है। अन्यथा रसविच्युति (रस की क्षति) हो जाएगी। इसी लिये रसाधार (रस का आधार) होने से जिसमें रस के प्रवाह हैं और सुधा (अमृत) का भाव है। ओघ या प्रवाह शब्द से बहुधा प्रियाजी का प्रकृत (आसज्य) होना सूचित होता है। ऐसा ही आगे कहेंगे—'रस का तो श्री राधाजी में और भाव का व्रजशिरोमणि (श्रीकृष्ण) में भजन करता है।' अर्थात् कभी वे भावात्मिका और कभी रसात्मिका हो जाती हैं इसलिये जहाँ ऐसे अमृत के प्रवाह हैं, हे मेरे मन, तू वहीं चला चल। इस पक्ष में तरने का उपाय बनाने में सन्तों रसिक भावुकों के लिये—जो मुक्ति की अपेक्षा नहीं रखते उनके लिए—संसार सागर को तरने की बात नहीं कही गई है।

किञ्च केषाञ्चिन्मते श्रीमत्याः प्रसिद्धव्रजलीलानुगतासक्तभावमहा-विरहभ्रममानाद्यनेकासह्यभावाः सन्ति, तद्दुःखपारावारे निमज्योन्मज्य-मानानामनेनोद्धरणं कृतमिति । अन्यथा कथमगाधासाधारणरसाधारराधा-रसप्राप्तिरभविष्यत् । यथा—

अनाराध्य राधापदाम्भोजरेणूननाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम् ।
असम्भाव्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कथं श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः ।।

अत्रैवाग्रे वक्ष्यति—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया,
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति ।
किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः ।।

रसकलश

एक बात और है किन्हीं के मत में श्रीमती (श्रीराधा जी) को प्रसिद्ध व्रजलीला के अनुकूल आसक्तभाव, महाविरह, भ्रम और मान आदि अनेक असह्य भाव होते हैं उनके द्वारा दुःखपारावार में डूबकर उतराने वालों का राधानामक दिव्यनिधान) ने ही किया है । अन्यथा इन को किस प्रकार अगाध, असाधारण श्रीराधा के रस की प्राप्ति होती । जैसा कि—

'श्रीराधा जी के चरणकमलों की पराग की आराधना किये बिना, उनके श्रीचरणों से अङ्कित वृन्दावन का आश्रय लिये बिना, उनके भाव से गम्भीर चित्त वाले रसिकभावुकों की सम्भावना किये विना श्यामसिन्धु के रस का अवगाहन कैसे हो सकता है ।' इत्यादि वचनों द्वारा कहा गया है और यहाँ पर भी आगे कहेंगे—

'श्रीराधाजी के प्रति दासीभाव को छोड़ कर जो कोई श्रीगोविन्द का सङ्ग पाने की आशा से प्रयत्न करता है वह तो पूर्णिमा के बिना ही पूर्णचन्द्र का परिचय प्राप्त करना चाहता है । एक बात और भी है कि जो श्यामरस के प्रवाह की लहरियों की बीजभूता श्रीराधा को नहीं जानते, वे महा अमृत के सागर को प्राप्त करके भी अहो ! केवल एक बिन्दु को ही प्राप्त कर पाते हैं ।'

इति। अत्र निधाने रसौघमिति यथा चिन्तामण्यादावचिन्त्यशक्तित्वं तथात्र चतुरचिन्तामणौ रसौघबाहुल्यं प्रतिक्षणयथासम्भवप्रस्रवणं येन श्याम-सिन्धावपि सुधारसविशिष्टत्वमलमिति सहृदयैकवेद्यम् ॥८॥

तदेवमुपक्षिप्तमासक्तिविषयाश्रयरूपं किञ्चिन्निर्दिशन्नेकपद्येन भाव-रसौ विवृणोति—

केनापि वागरवरेण पदे निपत्य
सम्प्रार्थितैकपरिरम्भरसोत्सवायाः।
सभ्रू विभङ्गमतिरङ्गनिधेः कदा ते
श्रीराधिके नहि नहीति गिरः श्रृणोमि ॥९॥

अत्र पूर्वार्द्धे भावरूपं परार्द्धे रसरूपमिति। अग्रेऽपि रसभावरूपं वक्ष्यत्येव—

रसकलश

यहाँ निधान में रसप्रवाह कहना ऐसा ही है जैसा कि चिन्तामणि आदि में अचिन्त्य शक्ति का होना। वैसे ही यहाँ चतुरचिन्तामणि मे रस के प्रवाह की अधिकता,-प्रतिक्षण यथासम्भव रस का बहते रहना-है, जिससे श्यामसिन्धु में भी सुधारस से पर्याप्त विशिष्टता आ जाती है, यह बात केवल सहृदय ही जान सकते हैं। ८।

----X----

इस प्रकार प्रारम्भ किये गये आसक्ति के विषय और आश्रय के स्वरूप का निर्देश करते हुए (श्री हितसखी रूप में) एक पद्य से भाव और रस का विवरण करते हैं—

'श्रीराधिके, किसी (लोकोत्तर) नागरवर (श्यामसुन्दर) ने चरणों में पड़ कर भली भाँति माँगा है एक आलिङ्गन के रूप में रस का उत्सव जिससे, उस अतिरङ्ग की निधिभूता तुझ (श्रीराधा) की भ्रूभङ्ग के साथ कही गई 'नहीं नहीं' इस प्रकार की बाणी को मैं कब सुनूंगी ?

यहाँ पूर्वार्ध में भावरूप का और उत्तरार्ध में रसरूप का निरूपण है। आगे भी रस और भाव का रूप कहेंगे ही—

रसकुल्या

एकं काञ्चनचम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं,
कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः ।
किञ्चैकं बहुमानभङ्गि रसवच्चाटूनि कुर्व्वत्परं,
पश्य क्रीडति कुञ्जसीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम् ।।

इति । हे श्रीराधिके, केनापि नागरवरेण पदे निपत्य सम्प्रार्थितैकपरिरम्भ-रसोत्सवायाः, अतिरङ्गनिधेश्चेत्येतद्विशेषणद्वयविशिष्टायास्ते सभ्रू विभङ्गं यथा स्यात्तथा नहि नहीति गिरः कदा श्रृणोमीत्यन्वयः ।

अज्ञाते कुत्सिते चैव संज्ञायामनुकम्पने ।
तद्युक्तनीतावप्यल्पे ह्रस्वे वाच्ये तु कः स्मृतः ।।

इति सप्तस्वर्थेषु भावुकैर्यथासम्भवं कल्प्योऽर्थः, यथा पूर्व्वं कापि निकुञ्जदेवीत्युक्तं तथात्राप्यनिर्वचनीयमाधुर्य्यैश्वर्य्यत्वेनानूहनीये (१) ।

रसकलश

'एक सुवर्ण चम्पक के समान कान्ति वाली (गौरी) हैं और दूसरे नील मेघ के समान श्याम हैं, एक काम से उत्कण्ठित अतएव चञ्चल हैं तो दूसरी बाहर से अनुकूल नहीं ही हैं । और फिर एक बहुत मानभरी चेष्टाओं वाली हैं तो दूसरे रस भरे प्रियवचन ही बोलते रहते हैं अहो! देखो कुञ्जसीमा में वह अतिमोहक युगल क्रीडा कर रहे हैं ।' इत्यादि ।

हे श्रीराधिके, किसी नागरवर के द्वारा चरणों में गिर कर आग्रह पूर्वक माँगा गया है एक आलिङ्गन रूप रस का उत्सव जिससे, और जो अतिशय रङ्ग (राग) की निधि हैं इन दो विशेषणों से विशिष्टा (युक्ता) ऐसी तुम्ह श्री राधा की विशेष भ्रूभङ्ग के साथ जिस प्रकार हो उस प्रकार से कही गई 'नहीं नहीं' यह वाणी मैं कब सुनूँगी ? यह अन्वय है ।

यहाँ श्रीराधा को श्रीराधिका कहने से—'अज्ञात, कुत्सित, संज्ञा, अनुकम्पा, उससे युक्त नीति, थोड़ा और छोटा' यह सात अर्थ 'क' के निकलते है उनमें से भावुकजनों को चाहिये कि जो जहाँ सम्भव हो वहाँ वही अर्थ लगा लें, जैसे पहले 'कापि निकुञ्जदेवी' में देवी शब्द के अर्थ कहे थे, वैसे ही यहां भी अनिर्वचनीय माधुर्य और ऐश्वर्य भाव के कारण कल्पना का विषय न होने के कारण न जानी जा सकने वाली (१)

अतिवदान्यरससागरत्वादिविश्रुतकीर्तेस्तव न यशस्यं नेतिनेति प्रत्याख्यानमिति किंनिसर्गे (२) राध्यते प्रियेण वा राधयति प्रियं या सर्वसिद्धिर्यदाश्रयमात्रेणेति निरुक्ता राधा सैव राधिकेतिसंज्ञे (३) अप्रौढरसेयं मुग्धा कथं विदग्धनागरवरसङ्गे विलासक्षमा भविष्यतीति परजनानुकम्पनीये (४) पादपतनावधीरणाद्यासज्यधर्म्मो युक्त एवेति रसवृद्ध्यर्थनीतिनिपुणे (५) पादपतितेदृशनागरवरे प्राणनाथे प्रिये किमेकपरिरम्भदानमशक्यमित्यल्पज्ञापितनिजवैभवे (६) विविधान्तर्निहितवैदग्ध्यरसाभिलाषस्फुटप्रार्थितैकपरिरम्भादिलक्षितप्रौढवयःप्रियात्किञ्चिदूनवयस्त्वलज्जातिरेकभावाप्रकाशनशीले (७)। इत्यादिसहृदयहृदयहारिभावार्थवैचित्र्यतरङ्गित नाम्निपरमाद्भुतवैभवपदपद्मपरागोपलक्षितसकलनिरतिशयानवरतगुणशोभायुक्ते श्रीराधिके।

रसकलश

अति उदार, रस सागर होना आदि के कारण बताता है कि तुम कीर्ति स्तुति और विख्याति वाली हो, तुम्हारा ही 'नहीं नहीं' इस वाणी से प्रत्याख्यान (निषेध) करना कुत्सित स्वभाव है। (२) प्रिय द्वारा आराधित होती हो अथवा प्रियका आराधन करती हो, तुम्हारा आश्रय लेने मात्र से सब सिद्धियां प्राप्त होती हैं, संसिद्धि अर्थ वाली 'राध' धातु से जिस का निर्वचन किया गया है, वह राधा है, वही राधिका इस नाम या संज्ञा वाली। (३) यह अप्रौढ रस वाली मुग्धा है यह भला चतुर नागरवर के संग में विलास करने में समर्थ कैसे हो सकेगी इस प्रकार परिजन की अनुकम्पनीया अर्थात् दया पात्र। (४) चरणों में पड़ने पर भी परवाह न करना इत्यादि आसज्य (प्रीति के पात्र) का धर्म उचित ही है इस प्रकार रसवृद्धि के लिये नीति में निपुण (५) चरणों में पड़े हुए ऐसे नागरवर प्राणनाथ प्रिय को क्या एक आलिङ्गन भी नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार अपने वैभव को अल्पज्ञात बना रखने वाली। (६) मन में रखे हुए अनेक विदग्धता (चतुरता) के रसों में से अभिलाषा से स्पष्ट रूप में एक आलिङ्गन माँगना आदि चेष्टाओं से जान ली गई है कुछ प्रौढ किशोरता जिनकी ऐसे प्रियतम से कुछ छोटी वयस (उम्र) के कारण अत्यन्त लज्जावश अपने मनोभाव को प्रकाशित न करने वाली (७)। इत्यादि 'सहृदयों के हृदयों को मनोहर लगने वाले भावार्थों के वैचित्र्य की तरङ्गों से तरङ्गित ('श्रीराधिका' इस) नाम वाली, परम अद्भुत वैभव वाले चरण कमलों के पराग से उपलक्षित समस्त अनुपम और अखण्ड गुणों की शोभा से परिपूर्ण श्रीराधिके!' यह सम्बोधन का तात्पर्य है।

रसकुल्या

केनापि अदृष्टाश्रुतचरैतादृशप्रभावासक्तरसिकशेखरेण अपीति निरन्तराङ्गसेवाधिकारिणः परिरम्भदौर्लभ्याभावेऽपि प्रियाछन्दानुगामितया शङ्कितत्वद्योतनम् नागरेति परिरम्भचतुरशिरोमणिना एवं कृते एवं रसवृद्धिरित्याद्युपायोत्करविदग्धेनेत्यर्थः, पदे निपत्येत्युक्तिः स्वाश्रयीभूतमध्यस्थजनमिव सहायीकृत्य क्षीणस्वतन्त्रोपायान्तरानन्यगतिक एव शरणोऽस्मीति पाल्योऽहं चेति दैन्यार्थं व्यञ्जयति समिति शपथादिना नान्यलोभं न चैव साहसादि कुर्यामिति प्रार्थितो दासेनेवैकः केवलः परिरम्भस्योत्सवो यस्याः, मम त्वत्कृपास्पदस्यायमेवोत्सवो यच्छ्रीमदङ्गसङ्गीभवामीत्यन्यथा लोकप्रसिद्धोत्सवा ममाकिञ्चित्करा एवेत्यर्थः ।

रसकलश

किसी अदृष्टचर (जैसा पहले नहीं देखा गया) अश्रुतचर (जैसा पहले नहीं सुना गया) ऐसे प्रभाव वाले तथापि नित्य आसक्त रसिकशेखर (रसिकशिरोमणि) के द्वारा भी अर्थात् नित्य अन्तरङ्ग सेवा के अधिकारी होते हुए आलिङ्गन की दुर्लभता के अभाव में भी प्रियाजी की इच्छा के अनुगामी होने के कारण शङ्कित होना प्रकट किया गया है। 'नागर' शब्द का अर्थ यह भी है कि वे आलिङ्गनकला में चतुरशिरोमणि हैं, ऐसा करने पर इस प्रकार की रसवृद्धि होती है इत्यादि उपाय समूहों के विषय में विदग्ध या विशेषज्ञ हैं 'प्रियतम ने चरण में गिर कर' यह कथन अपने आश्रयभूत मध्यस्थ सखी जनों के प्रति ही अधिकारयुक्त कार्य के कारण स्वतन्त्र उपायों के क्षीण हो जाने पर अनन्यगति हो कर भी मैं शरण में आया हूँ और आप मेरी रक्षा करें इस प्रकार की दीनता के अर्थ को व्यक्त करता है। 'सम्' उपसर्ग का में अर्थ है कि शपथ खाकर तथा इसी प्रकार के अन्य उपाय करके 'मैं और किसी बात का लोभ नहीं करूँगा, न ही कोई साहस आदि का कार्य करूँगा' इस प्रकार से जिसने दासजन की भाँति केवल एक आलिङ्गन के उत्सव की याचना की है और कहा है कि कृपापात्र का तो यही उत्सव है कि किसी प्रकार श्रीमती के अङ्गसङ्ग को प्राप्त करूँ, अन्य लोक में प्रसिद्ध सभी उत्सव मेरे लिये अकिञ्चित्कर ही हैं।

रङ्गनिधेः (रञ्ज रागे) निःसीमानुरागसिन्धोस्तदाधारतन्मूर्तेर्वा तादात्विकसदनशय्याभरणरूपगुणादिचमत्कारातिविस्मापकमृदुमधुरालापश्रवणोत्कण्ठितधन्यम्मन्यप्रियतदुपायवञ्चकस्मितापत्रपदृष्टित्वादिरङ्गनिधिस्तु वर्तत एव यदा परिरम्भः प्रार्थितस्तदा रुद्धजलसमीरवेगवदित्यभिलाषवर्धकनिषेधादतिशयरङ्गनिधेस्तेन वोढ्हन मुग्धवरवर्णिन्याः पादस्पर्शत्रपाभररभसवसनाञ्चलप्रतीकावगुण्ठनपरायाः सभ्रूविभङ्गमिति साहसोदर्कस्मृतिजभीत्या कोपहुङ्कारापाङ्गनर्तनप्रियविविधावस्थासम्पादकभ्रुकुटिकौटिल्यं यत्र कर्मणि यथा स्यात्तथा नहिनहीति सकरशिरोधूननानुभावकिञ्चिद्भीतिप्रणयक्षामाक्षरबोधका गिरो निगीर्णमनोदृष्टिसृष्टीरिति वीप्साबहुत्वञ्च प्राञ्जलिदैन्याधैर्यप्रणत्यादिभिः प्रतियाचननिषेधस्य मुञ्चमुञ्चेत्याद्युपलक्षणस्य च सूचकौ ।

रसकलश

'रङ्गनिधि' में रागात्मक रञ्जधातु से रंग शब्द बना है अतः उसका अर्थ है असीम अनुराग का सागर अर्थात् असीम अनुराग का आधार या असीम अनुराग की मूर्ति अथवा श्रीराधिका तात्कालिक भवन, शय्या, आभूषण, रूप, गुण आदि के चमत्कार के कारण और अत्याश्चर्यजनक कोमल तथा मधुर सम्भाषण के श्रवण से उत्कण्ठित होकर अपने आप को धन्य मान लेने वाले प्रिय और उसके उपायों के वञ्चक मुस्कान और सलज्ज दृष्टि आदि के कारण तो रङ्गनिधि (अभिनय कलासागर) हैं ही। अब जब उनसे आलिङ्गन की याचना की गई तब रुके हुए जलवेग और समीरबेग के समान, अभिलाषा को बढ़ाने वाले निषेधात्मक वचन से वे और अधिक रङ्गनिधि (अभिनय कलासागर) हो गईं। अथवा प्रियतम ने जो इन का उद्वहन किया उसके समय वे मुग्ध थीं अब वरवर्णिनी (श्यामा-षोडशी) हैं जब इनके चरणों का स्पर्श किया तो वे लज्जा के भार और आवेग से अपने वस्त्र के अञ्चल को उलटी तरफ से लेकर विशेष भ्रूभङ्ग के साथ घूंघट निकालने लगीं तथा प्रिय के साहस के परिणाम की स्मृति से उत्पन्न भय से कोप, हुङ्कार, अपाङ्गनर्तन (कटाक्ष) तथा प्रिय की अनेक अवस्थाएँ कर देने वाले भ्रूकुटि का कौटिल्य (चढ़ाना) जिस कर्म में हो इस प्रकार के 'नहीं नहीं' यह वचन जो करकमल और मस्तक हिलाने आदि अनुभाव (कार्य) कुछ भय, प्रणय, क्षमाक्षरों के बोधक हैं और जिनमें मन की दृष्टि सृष्टि (कल्पना शक्ति) लीन हो जाती हैं—बार-बार बहुत बार कहना, हाथ जोड़ना, दीनता, अधीनता और प्रणाम आदि के द्वारा की गई प्रतियाचना के निषेध-'छोड़ दो, छोड़ दो' इत्यादि के उपलक्षण को भी सूचित करते हैं।

कदेत्युत्कण्ठातिशये, अहं निकुञ्जग्रथितलताजालरन्ध्रविनिहितभ्रूभ-ङ्गादिसूचितरसास्वादनलम्पटमधुपाक्षी सखीरूपा शृणोमि शृणुयामिति वा श्रोष्ये इति वक्तव्ये तादात्विकानन्दलयप्रेमावस्थावेगातिशयविस्मृतक्रम-तया नित्यतत्प्राप्तिविद्यमानस्मृतिसंस्कारेण च वर्तमानत्वमानन्दाश्रुभर-प्लुतिजातलोचनप्रसरतिरोधाना किमशक्ता करोम्येवेति महद्भाग्यमेवेति भावः। एवं सङ्क्षेपेणासज्यासक्तभावो निरूपितः।

ननु गोपीष्वपि रसो दृश्यतेऽत आसज्यत्वं किं न कल्प्यम्। आसा-मासक्तत्वभक्तत्वमेव यत्र तत्र ख्यातं कृष्णाङ्गीकरणमपि रासादौ तन्नखच्छ-टाप्रभावेणेत्याह—

रसकलश

'कदा' या 'कब सुनूंगी' में ऐसे वचन सुनने की अत्यन्त उत्कण्ठा सूचित होती है। 'मैं' निकुञ्ज में परस्पर उलझे हुए लताजाल के छिद्रों में से किये गये 'भ्रूभङ्ग' आदि से सूचित रस का आस्वादन करने में लम्पट भौंरे जैसे नेत्रों वाली सखी के रूप में सुनती हूँ। यहाँ 'सुनूँ या सुनूँगी' कहने के स्थान पर उस समय के आनन्द में लीन होने और प्रेमावस्था के अत्यन्त वेग से सब क्रम भूल जाने के कारण नित्य वस्तु के विषय में उस समय की प्राप्ति में विद्यमान की स्मृति के सँस्कार से वर्तमान काल 'सुनती हूँ' का प्रयोग किया गया है आनन्द के अश्रुओं के प्रवाह के उमड़ पड़ने से हो गये नेत्रों के प्रसार के तिरोधान के कारण मैं दर्शन में असमर्थ होकर केवल 'नहि नहि' सुनती हूँ और क्या करूँ ? यह भी बहुत ही बड़ा भाग्य है, यह भाव है। इस प्रकार संक्षेप से आसज्य और आसक्त भाव का निरूपण किया गया है।

----X---

अब यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसा रस तो श्रीमद्भागवतादि द्वारा गोपियों में भी देखा जाता है, तो उनमें आसज्य होने की कल्पना क्यों न की जाय। इस का उत्तर यह है कि गोपियों का तो श्रीकृष्ण पर आसक्त होना ही जहाँ तहाँ प्रसिद्ध है, श्रीकृष्ण द्वारा रासादि में उनका स्वीकार किया जाना भी श्रीराधिका जो के श्रीचरणनख की छटा के प्रभाव से है, यही भाव दिखाते हैं—

यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया
विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु ।।१०।।

स्वयन्तु पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिरस्तीति सम्बन्धः । सा तटस्थलक्षणानुमितविलक्षणस्वरूपा राधिका अनिर्वचनीयनिजासमोर्द्ध्वविभवदर्शितान्यहेयमात्रसिद्धार्थाभिधानानुकम्पाधारबाह्याभ्यन्तरलीलायुक्तिनीतिवैदग्ध्यप्रेमिसुलभमुग्धेत्यादिगुणगणविशिष्टनाम्नी मयि मदीयत्वकृपामात्रानन्यगतिकनिर्देशवर्ति विरहानुभवजने कदापि इति सम्भावनाया दुर्लभत्वं सूचितम्, साधकजनविश्रम्भप्रोत्साहनार्थं स्वस्य च लवान्तरायेऽपि चिरकालदुर-

रसकलश

'जिनके चरण कमल के नखरूपी चन्द्रमणि की छटा का कुछ विलास गोपियों में भी देखा गया है । वे पूर्ण अनुरागरस के सागर की सारभूत मूर्ति वाली श्रीराधिका मुझ पर कभी कृपा करें ।'

यहाँ 'स्वयं तो श्रीराधिका पूर्ण अनुरागरस के सागर की सारभूत मूर्ति हैं' यह विशेष वक्तव्य है । तटस्थ लक्षणों से जिनके विलक्षण स्वरूप का अनुमान किया जाता है । वे राधिका अनिर्वचनीय हैं जब उनके समान ही कोई नहीं तब उनसे बढ़कर तो कौन हो सकता है ? इस प्रकार के लोकोत्तर वैभव के द्वारा जिसने दिखा दिया है कि अन्य सब वस्तुएँ हेय हैं । जिनका नाम स्वतः सिद्ध है, जो कृपा की आधार हैं, जो बाह्यलीला और अन्तर्लीला की युक्ति से, नीति से, चतुरता से, प्रेमी (श्रीकृष्ण) के लिये सुलभ होने से और मुग्धता (भोलापन) आदि गुणगणों से विशिष्ट नाम वाली हैं । मुझ पर जो केवल श्रीराधाजी की इतनी ही कृपा चाहती हूँ कि वे कह दें कि यह मेरी किङ्करी है । मैं अनन्यगतिक हूँ, आज्ञाधीन हूँ विरह से व्याकुल हूँ ऐसे मुझ दासीजन पर 'कभी' कृपा करें । यहाँ 'कभी' कहने से दुर्लभता बताई गई है । साधकजनों के विश्वास को प्रोत्साहन देने के लिये और अपने लवमात्र समय को भी सुदीर्घकाल के समान बड़ कष्ट

तिवाहतादर्शिता, कदेति कस्मिन् सुचरितपरिपाककाले इत्यर्थः, कृपां निजसाधारणाकारिणीं करोत्विति स्वाभिलाषपूरिणाशाशंसनं स्वयमेव कृतं तदीयप्रेमदास्यसख्यवात्सल्यगर्वेण प्रेरणञ्च कृपाढ्यस्य कृपादाननिजजन-पोषणं परमोचितयशोवर्धकमिति परस्मैपदार्थं विवक्षितत्वेन विशिनष्टि— पूर्णेति। पूर्णयोर्निरपेक्षयोरनुरागरसयोर्वा प्रेमैव रसस्तस्य सागरस्तमुन्मथ्य सारवदुद्धृतो रसो यथा दध्नो नवनीतं तस्माद्घृतं ततः परमुपायप्राप्यसा-राभावात् यथा तावल्लोकेऽपि सच्चिदानन्दमयत्वमस्त्येव तदप्यंशकला-बतारिभेदतारतम्यमंशिकृतमेव, अंशी तु पूर्णतमः सर्वेषां परमस्वरूपपर्यव-सानत्वात्ततः परं प्राप्यभावस्तद्वदत्रापि पूर्णनुरागरससागरसारत्वम्।

रसकलश

से बिता सकना दिखाया है, 'कभी' का यह भाव भी है कि किस भलीभाँति जाने गये पुण्यपरिपाक के समय में। 'कृपा करें' में कृपा का भाव है अपना असाधारण या विशेष कृपा पात्र बना देने वाली कृपा करें। यहाँ पर अपनी अभिलाषा की पूर्ति की आशा से स्वयं ही आशंसन या सम्भावना कर रहे हैं। अथवा उन (श्रीराधाजी) के प्रेम, दास्य, सख्य और वात्सल्य के गर्व से प्ररणा भी करते है कि कृपा के धनी को कृपादान द्वारा निज जनों का पोषण करना परम उचित है, और उसके यश को वढ़ाने वाला है, यह बात यहाँ 'करोतु' (करें) में परस्मैपद का प्रयोग करने से ज्ञात होती है। श्रीहिताचार्य महाप्रभु आज हम जैसे अन्य साधकजनों पर श्रीस्वामिनी जी को कृपा करने की प्रेरणा देते हैं और इसीलिये उनका विशेषण कहते हैं।

'पूर्ण अनुराग और रस के सागर की सारभूत है मूर्ति जिसकी।' पूर्ण अर्थात् निर-पेक्ष अनुराग और निरपेक्ष रस के अथवा निरपेक्ष अनुरागरूपी रस के सागर को मथन करके उसमें से सार अर्थात् दही में से माखन के समान निकला हुआ रस ही है मूर्ति या स्वरूप जिनका ऐसी श्रीराधिका, यहाँ सार का तात्पर्य है कि उनसे परे किसी भी उपाय से प्राप्त होने वाला कोई अन्य सार नहीं है—जैसे कि लोक में भी सच्चिदानन्दमयता तो है ही, उसमें भी अंशकला आदि और अवतार अवतारी आदि भेद के कारण तार-तम्य अंशी की अपेक्षा है ही, परन्तु अंशी तो पूर्णतम है सभी रूपों को उसी परम स्वरूप में पर्यवसान होने के कारण उससे परे किसी भी वस्तु की प्राप्ति का अभाव ही रह जाता है वैसे ही यहाँ पर भी पूर्ण अनुरागरस के सागर का सार होना कहा गया है।

ननु प्रेमानुरागकेतुरूपा व्रजगोप्यः श्रूयन्ते—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां यदनुगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥ इति।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

इत्यादौ स्वयमृणित्वेन भगवतः संस्तुतानां किंजातीयं प्रेम कियद्वा श्रीमत्याश्चेति तत्र सिन्धुमानजिज्ञासुमण्डूकप्लुत्येव गरुडवदुपहस्य वदति। यस्याः प्रेमरससारावयवायाः पादपद्मयोर्नागरवरसेव्ययोर्ये नखचन्द्रा आह्लाद-शीतभास्वरत्वात्त एव मणिभूताश्चिन्तामणिवदचिन्त्यशक्तियुक्ता वा चन्द्र-कान्तमणय इव वा प्रसिद्धचन्द्रस्यापि मणयः शिरोधार्यभूषणानि श्रेष्ठत्वे

रसकलश

अब यहाँ प्रश्न होता है कि प्रेम या अनुराग की केतुरूप तो ब्रजगोपियाँ सुनी जाती हैं—

'अत्यन्त अनुरागशालिनो श्री को भी यह कृपा प्राप्त नहीं है फिर कमल के समान कान्ति वाली देवाङ्गनाओं को यह कृपा कहाँ से प्राप्त हो सकती है ऐसी अवस्था में अन्य स्त्रियों को तो यह कहाँ से प्राप्त होगी ? जो कृपा रासोत्सव में प्रियतम श्याम-सुन्दर के विशाल भुजदण्डों से आलिङ्गित कण्ठवाली सर्व मनोरथों की पूर्ति को प्राप्त हुई व्रजगोपियों के प्रति उदित हुई है।'

और 'निर्दोष प्रेम वाली तुम गोपियों के शुभ उपकारमय कार्यों का प्रत्युपकार मैं देवताओं की आयु (प्राप्त कर लूँ तो उस) के द्वारा भो नहीं कर सकता है। जिन आप लोगों ने न तोड़ी जा सकने वाली गृह-बन्धन की श्रृङ्खलाओं को भी तोड़कर अनन्यभाव से मेरा भजन किया है, आपका यह शुभ उपकार केवल साधुवाद से प्रतिकृत हो।' इत्यादि श्रीमद्भागवत में अपने आपको ऋणी मानते हुए भगवान् ने जिन गोपियों की बहुत-बहुत स्तुति की है। उन गोपियों का प्रेम कैसा है और श्रीराधिका जी का प्रेम कैसा है ? इसका विचार करने के विषय में सिमुद्र की गहराई जानने के लिये उत्सुक मेंढक की कूद उछल पर उपहास करते हुए गरुड़ के समान श्रीहिताचार्य महाप्रभु कुछ कहते हैं। जिन प्रेम रस के सारभूत श्रीअङ्गों वाली श्रीराधा के नागरवर श्रीकृष्ण द्वारा भो सेवनीय चरणकमलों के जो नख आनन्दजनक, शीतल और भास्वर होने के कारण चन्द्र हैं वे ही चिन्तामणि के समान अचिन्तनीय शक्ति से युक्त होने के कारण मणिभूत हैं और जिनके चरणकमलों के नख चन्द्रमणि (चन्द्रकान्तमणि) के समान हैं, अथवा जिन

तात्पर्यम् । वक्ष्यत्येव—

राकाचन्द्रो वराको यदनुपमरसानन्दकन्दाननेन्दो—
स्तत्तादृक्चन्द्रिकाया अपि किमपि कलामात्रकस्याणुतोऽपि ।
यस्याः शोणाधरश्रीविधृतनवसुधामाधुरीसारसिन्धुः
सा राधा कामबाधाविधुरमधुपतिप्राणदा प्रीयतां नः ।।इति।।
राकानेकविचित्र चन्द्र उदितः प्रेमामृतज्योतिषां,
वीचीभिः परिपूरयेदगणितब्रह्माण्डकोटिं यदि ।
वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमनि तदाभासः परं लक्ष्यसे
भावेनैव यदा तदैव तुलये राधे तव श्रीमुखम् ।। इति च ।।

इत्यादौ तेषां छटा स्वत एव वा गत्यर्थत्वात्पादयोर्लीलागमनादौ प्रसरत्प्रभावचमत्कृतिस्तस्या विस्फूर्जितम् 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'तिवत्तेजोलेशत्वं गोपीनां रूपगुणसम्पन्नत्वं सर्वसंस्तुतत्वञ्च जातं वा यदुपादानकं वस्तु तत्तेजोऽपि तत्संवलितमेवेत्यनुरागरसलेशः किञ्चित्स्वल्पोऽपि गोपवधूषु—

रसकलश

चरणकमलों के नख प्रसिद्ध चन्द्रके भी शिरोधार्य भूषणभूत मणि हैं अर्थात् चन्द्र से भी श्रेष्ठ हैं । आगे कहेंगे ही—

'जिनके अनुपम रस के कारण आनन्द कन्द (सुखमूल) मुखचन्द्र की उस वैसी अवर्णनीय चन्द्रिका (चाँदनी) की किसी (अचिन्तनीय) अणुमात्र कला के समक्ष भी पूर्णिमा का चन्द्र 'वराक' बेचारा ही रह जाता है और जिनके गुलाबी अधरोष्ठों की सौन्दर्य-शोभा ने नवीन सुधा के मिठास के सार के समुद्र धारण किये हुए हैं वे कामबाधा से पीडित मधुपति (श्रीश्यामसुन्दर रूपी मधुकर) को प्राणदान देने वाली, सञ्जीवित कर देने वाली श्रीराधा हम (किङ्करियों) पर प्रसन्न हों ।'

और 'यदि पूर्णिमा के अनेक चन्द्र एक साथ उदय होकर प्रेमरूपी अमृत की जगमगाहटों के तरंगों से असंख्य ब्रह्माण्डकोटियों को भर दें और उसका एक आभास भाव (परम अनुराग) द्वारा श्रीवृन्दावन के निकुञ्जों की सीमा में दिखाई देने लगे तब श्रीराधे ! मैं आपके श्रीमुख की उससे तुलना करूँ ।'

उन चरणकमलों के नखरूपी चन्द्रशिरोमणियों की छटा अपने आप ही अथवा गतिशील होने के कारण चरणों की लीलापूर्ण गति आदि में फैलती हुई कांति की चमत्काररूप छटा का कोई एक विलास ही 'जैसे अग्नि से क्षुद्र (छोटे छोटे) स्फुलिंग विशेष रूप से ऊपर को उठते हैं' उसी प्रकार गोपियों में तेजोरूपता या रूपगुणशोलता के जगद् विख्यात रूप में देखा गया । जो वस्तु जिस उपादान कारण से उत्पन्न होती है उसका तेज भी उसी उपादान कारण से संवलित या सम्बन्धित हुआ करता है अतः अनुराग रस का जो कोई लेश किंचित्मात्र स्वल्पमात्रा में गोधवधूटियों में—

आधाय मूर्धनि यदापुरुदारगोप्यः
काम्यं पदं प्रियगुणैरपि पिन्छमौलेः।
भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुं
श्रीराधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ।।

इत्युक्तसादररेणुसेवननिष्ठासु दृष्टं सद्भिर्भावुकैरिति वा तादात्विक-सामीप्यवर्तिना पूर्णानुरागरससाराश्रयप्रभावप्राप्तदुर्घटसामर्थ्येन वक्तृभूतेन मया इत्यध्यहारः। किंवा अन्यथानुपपत्त्यापि दृश्यते स्वसंवेद्यलीलाधिष्ठात्रीं विना लीलामात्रासिद्धेर्यत्तल्लीलासु तत्सम्बन्धोऽपेक्ष्य एव निजरसाधारासाधारणकारणरूपा प्रिया द्विदलात्मैकरसमयत्वात्। यत्र यत्र यस्या यावदंशस्तत्र

रसकलश

'जिस चरणधूलि को सिर पर धारण करके उदार गोपीगण प्रिय गुणों के साथ श्रीश्यामसुन्दर के कमनीय पद या चरणों को प्राप्त कर गये । भावोत्सव से भजन करने वालों के लिये रस की कामधेनु श्रीराधिका जी के चरणों की उस धूलि का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ। इत्यादि में कहे गये आदरपूर्वक चरणधूलि के सेवन की निष्टा से सुदृढ़ हुए सन्तों भावुकों के द्वारा देखा गया है। अथवा उस समय समीपवर्ती होने के कारण पूर्ण अनुराग रूपी रस के सार के आश्रय (श्रीराधाजी) के प्रभाव से प्राप्त हो गई है दुर्लभ शक्ति जिसको ऐसे वक्ता के भाव में आपन्न मुझ (श्रीहित हरिवंश से अर्थात् मेरे द्वारा भी देखा गया, यह अध्याहार कर लेना चाहिये। अथवा अन्यथानुपपत्ति अर्थात् जिसके बिना जो बात नहीं हो सकती, उस बात से उसका होना जाना जाता है इस नियम के अनुसार भी देखा जाता है कि श्रीहितहरिवंश महाप्रभु जिस लीला का अनुभव कर रहे हैं उसकी अधिष्टात्री के बिना लीला हो ही नहीं सकती, प्रत्येक लीला में उनका सम्बन्ध आवश्यक ही है। निज रस (वनबिहार रस) की आधारभूत और असामान्य कारण श्रीराधाजी हैं क्योंकि आश्रय और विषय दोनों दलों के रूप में एक ही रस रहता है अथवा संभोग और विप्रलम्भ दोनों भेदों में एक रस शृंगार ही रहता है।

जैसा कि 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य' में लिखा है। काव्य शास्त्र में शृंगार-रस के दो भेद माने गये हैं—संभोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार। प्रेमोपासकों ने भी शृंगार-तरु को द्विदल माना है। उसका एक दल (पत्ता) संयोग है और दूसरा वियोग। शृंगार रस के दो भेद, पक्ष किंवा दल सबको स्वीकार हैं किन्तु इन दोनों दलों के स्वरूप, प्रभाव एवं पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग शृङ्गार रस की पुष्टि संयोग में मानते हैं और कुछ वियोग में। वे दोनों यह भूल जाते हैं कि संयोग और वियोग में कोई एक यदि अपने आप में पूर्ण होता तो शृङ्गार को द्विदल होने को आवश्यकता न थी; उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति किसी

एक के द्वारा हो जाती शृङ्गार ने दो पत्ते धारण किये हैं, इसका अर्थ ही यह है कि उसके पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति इन दोनों के द्वारा होती है, एक के द्वारा नहीं। यह दोनों मिलकर ही सम्पूर्ण प्रेम को प्रकाशित करते हैं। श्री हिताचार्य ने चकई और सारस के दृष्टान्त से संयोग और वियोग की अपूर्णता को प्रकट किया है। प्रकृति में सारस नित्य-संयोग का प्रतीक है और चकई वियोग का। सारस वियुक्त होने पर जीवित नहीं रहता और चकई प्रति-रात्रि वियोगज्वाला का पान करती रहती है। चकई की यह स्थिति देखकर सारस के मन में उसके प्रेम के प्रति संदेह होता है और वह उससे कहता है—

चकई प्राण जु घट रहैं पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर अरु काल निसि तरफ तेज, घन गज्ज ॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल विहूनि करि नैंन मोर किहि भाय बतावै ॥
हित हरिवंश विचारि बाद अस कौन जु बकई।
सारस मन संदेह प्राण घट रहैं जु चकई ॥

'प्रियतम से वियुक्त होने पर तेरे प्राण तेरे शरीर में बेकार रहे आते हैं; और वह ऐसी स्थिति में, जब तुम दोनों के बीच में सरोवर का अन्तर, अन्धकार-पूर्ण रात्रि, बिजली की चमक और घन की गर्जन रहती है! समझ में नहीं आता कि यह सहन कर लेने के बाद प्रातःकाल तू प्रेम-जल-विहीन नेत्रों को लेकर कैसे अपने प्रियतम के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करती है! श्रीहित हरवंश कहते हैं 'बुद्धिमानों को सारस के उपरोक्त वचनों पर विचार करना चाहिये। अधिक कहने से तो क्या लाभ है, सारस के मन में यह सन्देह है कि परम दुःखदायी वियोग की स्थिति में चकई के शरीर में प्राण कैसे रहे आते हैं।

सारस के बचनों को सुनकर वियोग-रस में निमग्न रहने वाली चकई को उसके ऊपर तरस आता है और वह कहती है—

सारस सर बिछुरन्त कौं जो पल सहै शरीर।
'अगिन-अनंग जुतिय भखै तौ जानैं परपीर ॥
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकै वज्र तन।
मरत सारसहिं फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन ॥
हित हरिवंश विचार प्रेम विरहा विन वारस।
निकट कंत नित रहत मरम कहा जानैं सारस ॥

'हे सारस' अपनी प्रिया के वियोग को यदि एक क्षण के लिये भी तेरा शरीर सहन कर सकता और तेरे वियोग में यदि तेरी प्रिया को कामाग्नि-पान करना पड़ता तब तू हमारी पीर को समझ सकता था। यदि वैसी स्थिति में तू अपने शरीर को वज्र का बनाकर धैर्य धारण कर सकता तब तेरी बात थी। तुम तो वियुक्त होने पर तत्क्षण मर जाते हो; तुम्हारा मन वियोग के प्रभाव का अनुभव ही नहीं कर पाता'। श्रीहित हरिवंश कहते हैं—विरह के बिना शृङ्गार रस की स्थिति शोचनीय है, सदैव प्रिय के पास रहने वाला सारस प्रेम के मर्म को क्या जान सकता है?

इस प्रकार, संयोग और वियोग दोनों के अपूर्ण होने के कारण, रस की वही स्थिति आदर्श मानी जा सकती है जिसमें संयोग और वियोग एक साथ उपस्थित रहकर अपने भिन्न प्रभावों के द्वारा, प्रेम के एकान्त अनुभव को पुष्ट बनाते हों। 'वृन्दावन रस' में इसी स्थिति का ग्रहण किया गया है। संयोग की परावधि तो यह है कि एक क्षण के लिये भी दोनों वियुक्त नहीं होते और वियोग की सीमा यह है कि नित्य संयुक्त होने पर भी अपने को अनमिले मानते हैं। भजनदास जी कहते हैं—'युगल किशोर के अंग-अंग मिले हुए हैं, फिर भी वे अपने को अनमिले मानकर अकुलाते रहते हैं। जहाँ का संयोग ही विरह रूप है उस रस का वर्णन नहीं किया जा सकता।

मिले अनमिले रहत विवि अंग अंग अकुलाँई।
प्रेमहि विरह स्वरूप जहाँ यह रस कह्यो न जाइ ॥

ध्रुवदास जी कहते हैं, जहाँ देखना ही विरह के समान है, वहाँ के प्रेम का वर्णन कोई क्या करे! प्रेमो कभी बिछुड़ता नहीं है और न वह कभी मिला ही रहता है। प्रेम की यह अद्भृत एकरस स्थिति है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता'।

देखिबौ जहाँ विरह सम होई, तहाँ की प्रेम कहा कहि कोई। [रहस्य मंजरी]
प्रेमी बिछुरत नाहिं कहुं मिल्यौ न सो पुनि आहि।
कोन एकरस प्रेम कौ कहि न सकत ध्रुव ताहि ॥ [प्रेमावली]

मोहन जी प्रेम की इस एकत्र संयोग-वियोगमयी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'प्रियतम की खोज में मेरा मन जब अत्यन्त अधीर होने लगा और किसी प्रकार उसका पता लगता ही न था, तब अनुभवियों ने मुझे बताया कि इस प्रेमदेश में अपनी चाह की छाया के अतिरिक्त अन्य कोई रहता ही नहीं है जिनसे तुम कुछ जान सको। मैंने यह सुनकर, अपनी चाहों से पूछा कि तुम ही बताओ कि प्रियतम (प्रेम) का स्वरूप क्या है? उन्होंने मुस्करा कर जवाब दिया कि नित्य-मिलन में अन-मिलन हा उसका स्वरूप है।'

सुनियत यहाँ दूसर कोउ नाहीं।'
बिना एक चाह परिछाहीं ॥
चाहनि सों पूछी में बाता, प्रीतम कहौ कौन रंग राता।
तिनि मुसकाइ बात यह कही, नित्य-मिलन अनमिलनौं सही।
[केलि कल्लोल]

अन्यत्र वे कहते हैं, प्रेम में जैसे प्रेमी और प्रेम-पात्र एक प्राण, दो देहवाले होते हैं, शृङ्गार-रस में वैसी ही स्थिति संयोग और वियोग की है'। बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने नायक को विरह-रूप और नायिका को संयोग रूप बतलाया है। 'श्याम विरह है और गोरी संयोग है। विचित्रता यह है कि श्याम और गौर-वियोग और संयोग—अदल-बदल होते रहते हैं। कभी संयोग विरह-जैसा प्रतीत होता है, और कभी विरह संयोग-जैसा प्रतीत होता है। दृष्टि न आने पर 'श्याम' कहलाते हैं और जब दृष्टि में आने लगते हैं तब 'गोरी' कहलाते हैं। गौर-श्याम इस प्रकार मिलकर रहते हैं कि न तो उनको संयुक्त कहा जा सकता है और न वियुक्त ही। श्री वृन्दावन

शृङ्गार-रस है और गौर-श्याम संयोग-वियोग हैं। ये दोनों हित-मत्त होकर वहाँ विहार करते रहते हैं, इनकी अद्भुत क्रीड़ा मुझ से कही नहीं जाती'।

त्यौं सिंगार बिछुरन मिलन एक प्राण दो देह।

× × × ×

बिरह नाम नायक को धर्‍यौ, नाम संयोग नायिका कर्‍यौ।
स्याम विरह गोरी संजोग'न, अदल-बदल तिहिं सकै न कोउ गनि।।
डीठि न आवै श्याम कहावै, डीठि परे गोरी छवि पावै।
गौर श्याम ऐसे मिलि रहे, बिछुरे भेंटे जाहिं न कहे।।
वृन्दावन सिंगार, गौर श्याम बिछुरन मिलन।
तिहि ठां करत विहार, हित मोते कहत न बनें।। [केलि-कल्लोल]

संयोग और वियोग की यह स्थिति अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीव्र प्रेम में ही संभव है। प्रेम का जहाँ स्थूल स्वरूप होता है, वहाँ संयोग और वियोग भी स्थूल प्रकारों में व्यक्त होते हैं। श्री हिताचार्य ने वियोग के स्थूल एवं सूक्ष्म स्वरूपों के उदाहरण अपनी रचनाओं में दिये हैं। स्थूल-गति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि—

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां ता-माधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षै-र्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेऽस्तु राधा।। (रा० सु० ४८)

'मधुर रस एवं मधुर स्वरों वाली वीणा को गोद में रखकर वियोगवती श्रीराधा नागर-शिरोमणि श्री श्यामसुन्दर की भावमयी लीलाओं का गान करती हैं और अश्रु-वर्षा से अपार बने हुए दुःख के साथ दिनों को बिताती हैं। अहो! ऐसी श्री राधा मेरे हृदय में विराजमान हों। (रा० सु० ४८)

यहाँ श्री राधा-माधव के बीच में देश और काल का अंतर पड़ा हुआ है। जिस वियोग दशा का अनुभव इस समय श्री राधा को हो रहा है, उसका कारण केवल प्रेम ही नहीं है, उसके साथ देश और काल का अंतर भी है। प्रेम के साथ देश और काल के अंतर के योग के कारण ही यहाँ पर विरह का रूप स्थूल बन गया है। देश और काल का अन्तर जितना कम हो जाता है, उतना ही विरह सूक्ष्म होता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है जहाँ विजातीय पदार्थ का अंतर शून्य हो जाता है और एक-मात्र प्रेम ही अत्यन्त तीव्र बन कर सूक्ष्म विरह में परिणत हो जाता है। विरह की सूक्ष्म स्थिति का वर्णन करते हुए श्री हितप्रभु कहते हैं—

विच्छेदाभासमात्रादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ
चञ्चत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद्वाह्यमभ्यन्तरं च।
गाढस्नेहानुबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुतप्रेममूर्त्योः।
श्रीराधामाधवाख्यं परमिहमधुरं तद्द्वयं धाम जाने।। सु० नि० १७३

'जिन श्री राधा-माधव का वाह्य एवं अन्तर एक क्षण के वियोग के आभास-मात्र से कोटि कल्पाग्नियों के दाह का अनुभव करता है, गाढस्नेहानुबन्ध में गुथे हुए-से उन दोनों अद्भुत प्रेम मूर्तियों को मैं परम-मधुरआश्रय जानता हूँ। (सु० नि० १७३)

तत्र तावदेव लीलयाङ्गीकरोति कृष्णः, किञ्चिच्छटालेशदानमपि व्रजलीला-सिद्ध्यर्थमेव प्रियोऽपि तच्छटालेशलुब्धस्तासामनुरागं रसं च महारासादा-वङ्गीकृतवांस्तन्मात्रेणैव ब्रह्मादिकाम्यपादरजस्का जाताः, गोपानां वधूनां संशयश्चेन्महत्तमसिद्धान्तलिखितमप्यत्र किञ्चिद् द्रष्टव्यम् । श्रुतिरूपाणान्तु गोपा भगवदङ्गभूतकारणदेवा न जीवाः काश्यपात्रेयादिवाच्यास्तदा श्रुतयो-ऽङ्गस्था दृश्यमानाः अङ्गिन्येव निष्ठां प्राप्ता यथा 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां'

रसकलश

जहाँ जहां जिस लीला का जितना अंश अपेक्षित होता है वहाँ वहाँ श्री श्यामसुन्दर उतना लीला द्वारा स्वीकार कर लेते हैं । यहाँ पर भी कुछ छटालेश का दान भी व्रजलीला की सिद्धि के लिये ही हुआ है । श्रीश्यामसुन्दर ने भी उसी प्रियाजी के छटालेश के लिये लुब्ध होकर उन गोपियों के भी अनुराग रस को महारास आदि में स्वीकार कर लिया और श्रीराधाजी के उतने छटालेश से ही वे गोपियाँ ब्रह्मा आदि के लिये भी वाञ्छनीय चरणरज वाली हो गईं । ये गोपियाँ (गोपवधू) गोपों की बहुएँ थी यदि ऐसा संशय हो तो महत्तम सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थ इस विषय में देखने चाहिये । श्रुति रूप गोपियों के तो गोप भगवान् के अंगभूत कारणदेव ही हैं, जीव नहीं है । जो काश्यप, आत्रेय आदि पदवाच्य हों अर्थात् कश्यप आदि गोत्रों में उत्पन्न हुए हों । तब श्रुतियाँ अंग रूप में देखी जा सकती हैं, तथा वे अंगी पर ही निष्ठा को प्राप्त हुई है, जैसे—श्रुति मेरा ही विधान करती है, मुझे ही कहती है ।' यदि परिकर हैं तो वे भगवान् की अंशभूत साकार मूर्तियाँ ही है इस प्रकार उनके लौकिकत्व और अलौ-किकत्व में कोई दोष नहीं है ।

इससे भी अधिक सूक्ष्म विरह का उदाहरण श्रीहितप्रभु ने हित चतुरासी में दिया है जहाँ चन्द्र-चकोर की भांति परस्पर रूप देखते-देखते पलक ओट होने से महा-कठिन दशा हो जाती है और जहाँ अपनी देह भी न्यारी सहन नहीं होती । श्रीश्याम सुन्दर के नेत्रों की करुण स्थिति का वर्णन करती हुई एक सहचरी कहती हैं—'मैं इन नेत्रों की बात क्या कहूँ ! यह भ्रमर के समान प्रिया के मुख-कमल के रस में अटक रहे है और एक क्षण के लिये भी अन्यत्र नहीं जाते । जब-जब यह पलकों के संपुट में रुक जाते हैं, तब-तब अत्यन्त आतुर होकर अकुलाने लगते हैं । निमेषपात के एक लव के अन्तर को भी यह सैकड़ों कल्पों के अन्तर से अधिक मानते हैं । कानों के आभूषण, आंखों के अंजन एवं कुचों के बीच का मृगमद बनकर भी इनको चैन नहीं मिलता । इसलिये श्री श्याम-सुन्दर अपनी एवं प्रिया की देहों को एक करने की अभिलाषा करते रहते हैं ।

(चतु० ६०)

-मित्यादिवत्, परिकरास्तु भगवदंशभूतसख्यरसमूर्तय एवेति लौकिकालौकिकत्वे निर्दोषतैव ।

यद्वा गोपवधूष्विति जातिरूढ्या गोपीष्वेवेति तात्पर्यम् तदनुरागच्छटा-लेशेनासां पूर्णासक्तताख्यातिः । रसच्छटालेशेन रूपलावण्यविलासादि तदेवं गुञ्जामेरुन्यायेन श्रीमत्यां तु पूर्णानुरागरससारत्वं कदाचिदासक्तत्वं कदाचिदासज्यत्वम्, युगपदेव वा पूर्णमाविर्भवेद्विरुद्धधर्माश्रयाचिन्त्यशक्तित्वात् । सारत्वं नाम 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' इतिवत्प्रेक्षावत्परम्परायां सिद्धान्तपरम्परा क्रियमाणा ह्यबाधितान्ते प्रतिष्ठिता स्यात्ततोऽपि परः सार इति, लोके पूर्णानुरागरसत्वमपि न श्रूयते कुतस्तरां सागरः, कुतस्तमां सार इत्यलौकिकानिर्वचनीयानुमितिरेव किञ्चिद् गोपीषु सम्बन्धलक्षणैवेत्येवं दुर्लभापि कृपां करोत्विति येनाघटितमपि सर्वं सिद्ध्येदित्यनेन लोकख्याता-नुरागरसपूर्णत्वश्रवणमननसंकुचितेनेव पूर्णानुरागरसानुभवः प्रार्थित इति ।

रसकलश

अथवा गोपवधू शब्द का अपनी जातिगत रूढि से गोपियों में ही तात्पर्य हैं । उस अनुराग की छटा के लेश से इन्हें रूप, लावण्य, विलास आदि प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार गुञ्जामेरु न्याय (जैसे एक रत्ती भर सोना दिखा कर कह दिया जाय कि सुमेरु ऐसे ही सोने का एक विशाल पर्वत है, और उस रत्ती भर सोने के द्वारा सुमेरु का ज्ञान करा दिया जाए उस प्रकार) से श्रीमती (श्रीराधा) जी में तो पूर्ण अनुराग और रस की सारता है कभी आसक्तता भी और कभी आसज्यता भी अथवा दोनों ही एक साथ भी पूर्णतया प्रकट हो जाती है, अचिन्त्य शक्ति शालिनी होने के कारण वे परस्पर विरोधी (आस-क्तता और आसज्यता) धर्मों का एक आश्रय हैं । यहां पर सारता से तात्पर्य है कि 'वह स्थित होता हुआ भी अन्य दौड़ते हुए तत्त्वों का अतिक्रमण करता है ।' इत्यादि वचनों के समान बुद्धिमानों की परम्परा में की जा रही सिद्धांत परम्परा बाधित नहीं होती, अन्त में प्रतिष्ठित रहती है, उससे भी परम साररूपा (श्रीराधा) हैं ऐसा तो अनुराग और रस भी कहीं नहीं सुना गया फिर उनके सागर का तो कहीं क्या पता ? फिर उस सागर के भी सार का कहीं होना कहाँ सम्भव है ? इस प्रकार अलौकिक अनिर्वचनीय अनुमिति ही कुछ गोपियों के विषय में सम्बन्ध रूपा है । इस प्रकार दुर्लभ होती हुई भी वे कृपा करें, जिससे सब असम्भव भी सिद्ध हो जाए । इस कथन से लोक में प्रसिद्ध अनु-राग और रस की अपूर्णता के श्रवण और मनन से संकुचित से होकर पूर्ण अनुराग और रस के अनुभव के लिये प्रार्थना की गई है ।।१०।।

ननु पूर्णानुरागरसानुभवः किञ्चिदनिर्वचनीयसुकृतपरिपाकजनितभाग्य-वभवेन लभ्यत इत्यतस्तद्भाग्यनिदानमभिलषति—

उज्जृम्भमाणरसवारिनिधेस्तरङ्गै-
रङ्गैरिव प्रणयलोलविलोचनायाः ।
तस्याः कदा नु भविता मयि पुण्यदृष्टि-
र्वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः ॥

नु अहो दुर्लभमनोरथवितर्के, तस्याः पूर्वोक्तानुरागरससारमूर्तेः, निकुञ्जगृहमधिदीव्यतीति क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगत्यन्तार्थदशकं यथासम्भवं वाच्यम् । गृहेति गृहिणी गृहेश्वरी पतिपूर्ण-प्रेममतास्पदा निरन्तरक्रीडाव्यवहारादिव्यापृतातिच्छन्दानुगतपतिका परमसौभाग्योभयकुललालनीयदर्पवती वरवर्णिनीत्यादिसहृदयोद्दीपनीया-

रसकलश

'अब यहाँ प्रश्न होता है कि पूर्ण अनुराग और रस का अनुभव तो किसी अनि-र्वचनीय पुण्य के परिपाक से उत्पन्न हुए भाग्य वैभव से ही प्राप्त किया जाता है, अतः उस भाग्य वैभव के मूल कारण की अभिलाषा करते हैं—

'उभरते हुए रससागर की तरंगों जैसे अंगों से उपलक्षिता और प्रेम (प्रणय) से चञ्चल लोचनों वाली उन वृन्दावन के नवनिकुञ्जरूपी गृह की अधिष्ठात्री देवी (श्रीराधिका) जी की मुझ पर पुण्य दृष्टि कब होगी ?'

इस पद्य में 'नु' अहो के अर्थ में प्रयुक्त है, जिस का अर्थ दुर्लभ मनोरथ के विषय में वितर्क है, उन (श्रीराधिका जी) की पुण्यदृष्टि, जो पूर्वोक्त अनुराग और रस की सारमूर्ति (सारस्वरूपा) हैं। निकुञ्ज गृह में देवन करती हैं—खेलती हैं, विजय की इच्छा रखती हैं, व्यवहार चलाती हैं, चमकती हैं, प्रशंसा करती हैं, आनन्दित होती हैं मस्त होती हैं, सोती हैं, इच्छा करती हैं, जाती हैं, देवन के यह दसों अर्थ यथासम्भव कहे जाने चाहियें । गृहाधिदेवी कहने से श्रीराधा जी गृहिणी या गृहेश्वरी हैं और पति (श्री श्यामसुन्दर) के पूर्ण प्रेम और ममता की पात्र हैं, क्रीडा व्यवहार आदि में व्यस्त हैं और सदा पति (श्रीश्यामसुन्दर) इन की इच्छा का अनुगमन करते हैं अर्थात् इनकी इच्छा पर चलते हैं अतएव परम सौभाग्य शालिनी हैं दोनों कुलों (पितृकुल ओर पति-कुल) की लाडली होने के कारण अभिमानिनी (गर्वीली) हैं और वरवर्णिनी (षोडशी, श्यामा) हैं । इत्यादि सहृदयों के हृदय में उद्दीपनीय अर्थों वाला उनका नाम है । 'नव-

र्थाभिधाना, नवेति नित्यत्वं तादृशरूपेण निकुञ्जगृहाणामधिदेव्याश्चापि प्रतिक्षणविलक्षणानन्ददायित्वं च प्रवाहरूपवदिति, अधिकृत्येति तद्गृह-गमनदर्शनादिव्यापारस्य तदिच्छान्यथानुपपत्तिः सूचिता, निकुञ्जेति सकल-नित्यभुवनाधिपेतरविलक्षणयथेष्टाभिलषितानन्दपूरकसर्वर्तुसुखदकामतरुगुल्म-वीरुल्लतावल्लीकिसलयकुसुमादिस्वैरविरचित-गवाक्ष-द्वाराजिरान्तरवितान-जवनिकास्तरणादिमयत्वम्, अटवीति हृदयावकाशदवैशद्यसविश्रम्भरहस्यो-द्दीपनविस्मृतेतरकार्यत्वसूचिनी वृन्देति पुराणोक्तनैःश्रयसादिवनेभ्योऽपि परमत्वं तन्नाम्नः प्रसिद्धमेव वेदरहस्यत्वात्तदधिष्ठात्र्याश्चेति ।

पुण्यदृष्टिश्चारुदृष्टिरिति यावत् 'पुण्यं तु चार्वपी' त्यमरः । यद्वा सद्दृष्टेः सहजचारुधर्मत्वेऽपि पुण्यत्वाशंसनमपूर्वफलवत्स्वस्यैतद्दृष्टिविलासवैभवविलस-

रसकलश

निकुञ्ज' शब्द में 'नव' का तात्पर्य नित्यता बताने से है, उस रूप से निकुञ्जगृहों की अधिदेवी के भी प्रतिक्षण विलक्षण आनन्ददायक रूप अर्थात् प्रवाह जैसे रूप की प्रतीति होती है। अधिदेवी शब्द से अधिकार पूर्वक उस नवनिकुञ्ज गृह में सर्वत्र जाने और देखने आदि का व्यवहार उनकी इच्छा के विना संगत नहीं हो सकता यह सूचित किया गया है। निकुञ्ज को गृह कहने का यह तात्पर्य है कि जो सकल और नित्य भुवनों के अधिपति हैं उनके ऐश्वर्य रूप से भिन्न माधुर्य रूप के कारण विलक्षण और यथेष्ट अभिलषित आनन्द के पूरक, सब ऋतुओं में सुखद, कामनाओं को देने वाले वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, पल्लव, पुष्प आदि द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक रचे गए गवाक्ष (खिड़कियाँ) द्वार (दरवाजे) अजिर (आंगन) आन्तर वितान (भवन के अन्दर का छाजन) जवनिका (पर्दे) और आस्तरण (गलीचा दरी) आदि से परिपूर्ण होना। वृन्दाटवी पद में अटवी शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि हृदय को अवकाश देने वाली विशदता–विशालता और स्वच्छता-के कारण विश्वासपूर्वक रहस्यभाव का उद्दीपन करने वाली तथा अन्य कार्यों के भुला दिये जाने की सूचना देने वाली यह गहन वनी है। वृन्दा शब्द से पुराणों में कहे गये नैःश्रेयस आदि वनों से भी परम श्रेष्ठ होना कहा गया है, वृन्दाटवी की अधिष्ठात्री के वेदों के लिये भी रहस्यभूत होने के कारण वृन्दा नाम का परमश्रेष्ठ होना प्रसिद्ध ही है।

पुण्य दृष्टि से तात्पर्य है चारु (सुन्दर) दृष्टि क्योंकि 'पुण्य और चारु' यह दोनों शब्द अमरकोष में समानार्थक कहे गये हैं। अथवा उनकी दृष्टि के स्वभावतः चारुधर्मत्व (सौन्दर्य) के रहते हुए भी उसके पुण्यत्व की आशंसा या कामना करना अपूर्व फल के लिये होगा। अपने लिये उस दृष्टि के विलास वैभव से विलसित होने

नार्हभाग्योत्कर्षोत्पादनार्थम्, किञ्च सुखं तु पुण्यं विना न स्यात् साधारण-पुण्यादिनाऽहैतुको भगवद्भक्तिर्न जायते तदा तद्रहस्यदर्शनं त्वति-दुर्लभं यथा वक्ष्यति 'न वेदैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरिभक्तै'रित्यादि। तदशक्यविचारे किं करणीयमिति विचार्य वदति सैव वनीयसी यदा निजानिर्वचनीयपुण्योत्पादिकां दृष्टिं दधातु, तदैव तत्सुखप्राप्तिरिति, अत्र कृपैव पुण्यं साध्यमपि तदेव साधनमपि तदेवेत्यर्थः, नान्यहेतुस्तत्प्राप्ताविति भावः।

मयीति शरणानन्यगतिके कदा भविता साधकापेक्षयेदमुक्तं लौकिक-प्राकटचरूपस्यान्तरायत्वाच्चेति तन्निरन्तररसविहारसिन्धुकल्लोलान्दोलनं कदाऽनुभविष्यामीत्याशंसनं श्वस्तनेनाचिरमेवागामिदिने भूयादिति आत्म-गामिफलं तु प्रसिद्धमेव दातुर्दानान्महाफलमिति परस्मैपदत्वात्सख्यार्थश्च

रसकलश

योग्य भाग्य के उत्कर्ष का उत्पादन करने के लिये होगा। एक बात और है कि सुख तो पुण्य के विना न होगा और साधारण पुण्यादि से अहैतुकी भगवद्भक्ति नहीं होती, तब उस रहस्य का दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ है, जैसा कि कहेंगे—'जो राधा और मधुपति का रहस्य न वेदों से, न ब्रह्मा आदियों से न हरिभक्तों से और नहीं मित्रादियों से जाना जाता है। हरहर! आश्चर्य है कि मेरे मन में उन युगल की दासी बनकर उनके द्वारा पोषित क्रीडाओं को असमय में ही नेत्रों से साक्षात् देखने की दुर्लभ आशाएँ हैं।' इस लिये असम्भव को सम्भव बनाने के विचार में क्या करना चाहिये? यह सोच-कर कहते हैं कि वही वन्दनीया श्रीराधा जब अपनी अनिर्वचनीय पुण्यों को उत्पन्न करने वाली दृष्टि डालें, तभी इस सुख की प्राप्ति हो सकती है। यहां पर पुण्य रूप साधन भी कृपा है और उस पुण्य का साध्य भी कृपा ही है, उनकी प्राप्ति का और कोई हेतु या साधन नहीं है।

ऐसी पुण्य दृष्टि मुझ पर कब होगी? यहाँ 'मुझ पर' कहने का तात्पर्य है कि शरणा-गति को ही अपनी एकमात्र गति समझने वाले ऐसे मुझ पर वह दृष्टि कब होगी? यह बात साधक की दृष्टि से कही है। लोक में प्रकटरूप होने के कारण जो अन्तराय (श्री युगल से वियोगरूपी विघ्न) पड़ गया है उससे भी ऐसा कहा गया है। उस निरन्तर रस विहार सागर की कल्लोलों में आन्दोलन का अनुभव कब करूँगी इस प्रकार का आशंसन (अनद्यतने लुट्-कल के भविष्य के लिये लुट् लकार-के प्रयोग द्वारा) शीघ्र-ही आगामी दिन में ही-ऐसा सौभाग्य हो इस अभिप्राय से किया है। महाप्रभु जी को इस प्रार्थना से जो आत्मगामी (स्वनिष्ठ) फल प्राप्त है वह तो प्रसिद्ध ही है 'दाता को तो दान से ही महा-फल की प्राप्ति हो जाती है।' किन्तु यहाँ (भविता पद में) आत्मने पद का प्रयोग न करके जो

उपक्षिप्तानुरागरूपत्वेन विशिनष्टि प्रणयेत्यादि सर्वाङ्गानां प्रणयमयत्वेऽपि नेत्रयोरेव लोलत्वेन तदुज्जृम्भमाणवेगातिशयो दर्शितः । यथा यौवनभरेण लोलत्वं यथा चासवादिना वस्त्वतिशयराभस्यात्तस्यादिति लसल्ललाटमन्तर्धनं कथयतीतिवत् ।

अथ रसत्वेन विशिनष्टि उज्जृम्भेत्यादि चन्द्रोदयाद्यथा सिन्धुरुज्जृम्भितः स्यात्तथा नित्यं सोल्लासरससागरतरङ्गैरिवाङ्गैरुपलक्षिताया इवेति न केवलतरङ्गरूपत्वं किञ्च प्रत्यङ्गप्रतिरोम सुरसनिधित्वमेव परन्तु निधिशब्दनिर्वाहार्थमवयवायविभेदेन तरङ्गैरिवेति अङ्गेषु नवनवभावरूपलावण्योदयपरम्परापि तरङ्गत्वेनोक्ता नेत्रयो रसमयत्वेऽपि वक्तुः परिजनत्वनित्यस्थायिनः प्रणयद्वारैवाभिलाषसिद्धेर्लोचनयोः प्रणयलोलत्वख्यापनं तद्द्वारैव पुण्यदृष्टयाशंसनञ्च । रसदृष्टिलोलत्वं तु दम्पत्यनुगतमेव तद्रसविलसनदर्शननिमज्जनाप्लवनप्रसादाशंसनमप्यायतौ गूढाशयेन प्रार्थितं

रसकलश

परस्मैपद का प्रयोग किया है उससे परगामी अर्थात् सखीजननिष्ठ क्रियाफल का उपक्षेप कियागया है । अब पूर्वोक्त अनुराग रूपता के कारण से श्रीराधा जी का विशेषण लिखते हैं—'प्रणय से लोलविलोचना के' यद्यपि उनके सभी श्रीअङ्ग प्रणयमय हैं तथापि नेत्रों की चञ्चलता द्वारा उस उभरते हुए या उमड़ते हुए प्रणय का अतिवेग दिखाया गया है। जैसे जवानी के भार से या मदिरा आदि से वस्तु या भाव में अतिशय आ जाता है और जैसे 'चमकता हुआ माथा छिपे धन का पता बताता है' इत्यादि के समान यहाँ पर भी समझना चाहिये ।

अब रसभाव से विशेषण लिखते हैं—'उज्जृम्भमाण रसवारिनिधि के' जैसे चन्द्रोदय से समुद्र उभरता या उमड़ता है वैसे ही नित्य उछलते हुए रससागर की तरङ्गों जैसे अङ्गों से उपलक्षित-सी श्रीराधा जी के श्रीअङ्गों को केवल तरङ्ग रूप ही नहीं कहा गया अपितु प्रत्यङ्ग और प्रतिरोम का सुरसनिधि होना भी सूचित किया गया है। यहां पर केवल निधि शब्द का निर्वाह करने के लिये अङ्गाङ्गिभाव से उन श्रीअङ्गों को तरङ्गरूप में कहा गया है । तरङ्गों जैसे अङ्ग कहने से अङ्गों में नवीन-नवीन भाव, रूप, लावण्य के उदय की परम्परा भी कही गई है । नेत्रों के रसमय होने में भी वक्ता (श्रीहितमहाप्रभु) के परिजनभाव में नित्यस्थायी होने के कारण प्रणय के द्वारा ही अभिलाषा की सिद्धि होने के कारण नेत्रों का प्रणय या प्रेम से चञ्चल होना ख्यापित किया गया है और उसके द्वारा ही पुण्यदृष्टि की आशंसा की गई है। रसदृष्टि की चञ्चलता तो दाम्पत्यभाव के अनुकूल ही है, उस रस के विलासों का दर्शन, उस में मग्न होना, तैरना कृपा की कामना करना भी उस के उत्तर भाग में होने के कारण भविष्य

तदुत्तरभागत्वात् अत्र पूर्णानुरागरससागरसारानुवाद एव कृतः, पूर्णेति सारेत्यनुक्तिः प्रतिपद्यशब्दगौरवभिया दिङ् निर्देशात् ।

भावनया साक्षात्कृतां जातामेव तादृशदृष्टिं विभाव्य तत्प्रसादनिर्भरं नमन्ननुभूततादात्विकलीलाविनोदं कथयंस्तच्चरणं समाश्रयते—

वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्दं
प्रेमामृतैकमकरन्दरसौघपूर्णम् ।
हृद्यर्पितं मधुपतेः स्मरतापमुग्रं
निर्वापयत्परमशीतलमाश्रयामि ॥१२॥

हे वृन्दावनेश्वरि अहं तवैव पदारविन्दमाश्रयामीत्यन्वयः । सकलधामातिशायिप्रभावपरममाधुर्यविलासविलसत्प्रेमरसाधारसच्चिदानन्दमयविधीशादिप्रार्थनीयतरुवरादिभवश्रीमुखप्रशंसितरहोधाम श्रीवृन्दावनं तस्येश्वरी तन्नाम-

रसकलश

काल में गूढ़ अभिप्राय से प्रार्थित है । पूर्ण अनुराग और रस के सागर के सार का केवल अनुवाद ही किया गया है । पूर्ण और सार विशेषणों का जो यहाँ विचार नहीं कहा गया वह प्रत्येक श्लोक में शब्दाडम्बर के भय से यहाँ संक्षेपमात्र में निर्देश किया गया है ।

भावना द्वारा साक्षात्कार हो जाने से वैसी पुण्य दृष्टि की सम्भावना करके उन की कृपा से निर्भरभाव से नमस्कार करते हुए अनुभव में आये उस समय के लीला-विनोद का वर्णन करते हुए श्रीचरण का आश्रय लेते हैं—

'हे वृन्दावनेश्वरी, प्रेमामृतरूपी एकमात्र मकरन्दरस के प्रवाह से पूर्ण ऐसे तुम्हारे ही चरणकमल का आश्रय लेता हूँ, जो परम शीतल हैं और जो मधुपति के हृदय पर रखे जाने पर उनके तीव्र स्मरताप को शान्त कर देते हैं ।'

'मैं तुम्हारे ही चरणकमल का आश्रय लेता हूँ' यह अन्वय है । सभी धामों का अतिशय करने वाला प्रभाव, परम माधुर्यमय विलास से विलसित प्रेम रस का आधार, सच्चिदानन्दमय तथा ब्रह्मा शङ्कर आदि भी जहाँ के तरुलता गुल्मादि होने की प्रार्थना करते हैं, स्वयं श्री श्यामसुन्दर ने अपने श्रीमुख से जिस के एकान्त स्थलों की प्रशंसा की है ऐसा श्री वृन्दावन है । उसकी ईश्वरी, अर्थात् वृन्दावन के नाम के साथ संवलित है

सम्वलितविश्रुतैश्वर्यं यस्याः। राधा वृन्दावनेश्वरी वृन्दावनविलासिनीति तत्सम्बोधनमैश्वर्योक्त्या सकलपरिजनशरणाश्रितमनोरथदुःसाध्यसाधनपटीयसीत्वसूचनं सर्वदा कति न शरणागततती: पालयसीति परमसेव्यत्वं च अहं त्वदीयत्वबलदूरापहृतसाध्यसाधनमहद्वृन्दो विरहतप्तस्तवैव प्रेमामृतद्रुतचित्ताया एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः।

पदारविन्दं सकलशोभासौकुमार्यशीतलसौरभ्यादिगुणविशिष्टमाश्रयामि सेवयामि नान्याधारो ममेत्यर्थः। तत्र किञ्जातीयो मकरन्द इत्यत्राह—प्रेमामृतेत्यादि नित्यानन्तानन्दमाधुर्याप्यायनमङ्गलामृतगुणविशिष्टः प्रेमैवैको मुख्यो मकरन्दः पुष्परसो विलक्षणसौगन्ध्यस्वादुद्रवस्तस्यौघैः पूर्णं प्रसिद्धारविन्दाद्वैलक्षण्यम्, अयं भावः—सेवकानां परमप्रेमदायि

रसकलश

ऐश्वर्य जिन का ऐसी श्रीराधा हैं। उनके श्रीराधा, वृन्दावनेश्वरी, वृन्दावनविलासिनी इत्यादि सम्बोधन ऐश्वर्योक्ति के अवसरों पर होते हैं। तथा ऐश्वर्योक्ति द्वारा सकल परिजन के तथा शरणागतों के असाध्य से असाध्य मनोरथों को भी सिद्ध करने में उनके परमपटु होने की सूचना दी जाती है और उस सूचना से 'सदा ही कितने शरणागतों के ताँतों का तुम पालन नहीं करतीं ?' यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है तथा उससे श्रीराधा जी के परमसेवनीय होने की प्रतीति होती है। मैं तो तुम्हारा (शरणागत) होने के बल पर सभी साध्य और साधनभूत महत् पदार्थों या तत्त्वों के वृन्द का परित्याग कर चुका हूँ, किन्तु तुम्हें भी न पाकर विरहताप से सन्तप्त हूँ, प्रेमामृत से सदा द्रुत चित्त वाली (श्रीराधे) मैं तुम्हारा ही शरणागत हूँ (इस कथन के द्वारा अन्य सभी देवी देवताओं का निवारण हो गया)।

अतएव तुम्हारे ही पदारविन्द जो सभी शोभा, सुकुमारता, शीतलता, सुगन्धि आदि गुणों से परिपूर्ण हैं उनका आश्रय लेता हूँ या उनकी सेवा करता हूँ अर्थात् मेरा दूसरा कोई आश्रय नहीं है। उस पदारविन्द या चरणकमल में मकरन्द या पराग कैसा है ? इस पर कहते हैं—प्रेमामृतैक स्वरूप अर्थात् नित्य, अनन्त, आनन्द और माधुर्य से आप्यायित (तृप्त) करने के कारण मङ्गलमय अमृतस्वरूप गुणों से परिपूर्ण प्रेम ही एकमात्र मुख्य मकरन्द या पुष्परस है विलक्षण सुगन्धि युक्त और स्वादिष्ट द्रव है उसके प्रवाहों से परिपूर्ण ऐसे पदारविन्द हैं, ऐसे पदारविन्द लोक में प्रसिद्ध अरविन्द या कमल से अत्यन्त विलक्षण हैं यह अर्थ ध्वनित होता है। यह भाव है कि

यदाश्रयं विना नैतादृशप्रेमप्राप्तिरिति प्रेमरूपोऽपि प्रियस्तद्वत्तासिद्ध्यै तत्सेवनं करोतीति किं भण्यते पूर्णानुरागरसमूर्तेः पादपद्मे प्रेमैव मकरन्दः स्यादिति योग्यमेव, यद्वा कार्यद्वारा कारणज्ञानं लक्ष्यते यद्दर्शनादेव नयनहृदय-द्रवमाणतासाश्रुकम्पपुलकान्युद्भवन्तीति कार्यं प्रियकृतयावकचित्रसेवासंवाहन मञ्जीरादिसंनिवेशसमयस्पर्शजसात्त्विकतापि दर्शिता।

सखीजनस्य वा प्रियस्याभिलाषवशतो वनविहारनिकुञ्जादिविलासजल-क्रीडाद्यर्थं प्रार्थनया यत्र तत्र पदारविन्देन गच्छत्येवेति परप्रेमवश्यतापि प्रेमरूपं कार्यं च सर्वाङ्गीणसंभृतोत्तरबहिःपतनप्रवहणकार्यदर्शनात् प्रेमाश्रये-ष्वोघत्वं नित्यदाप्येवमेवेत्यखण्डत्वादाद्यन्तनिर्वाहात्पूर्णत्वमिति यज्जन-नात्साध्यसाधनदशादिषु निःसीममङ्गलास्वाददायि सर्वातिशयतमविलक्षण-क्षुत्तृङ्जननाप्यायनत्वादमृतत्वं दास्यधर्मसिद्धयेऽपि पदयोः प्रेमाश्रयविषयत्वं

रसकलश

जो चरणकमल सेवकों को परमप्रेम देने वाले हैं, जिनका आश्रय लिये विना प्रेम का ऐसा अपूर्व लाभ नहीं हो सकता। जो प्रेमरूप होता हुआ भी प्रिय है। उस प्रेमवत्ता या प्रेमशालिता की सिद्धि के लिये ही यहाँ उनकी सेवा करते हैं, यह क्या कहा जाय। उन पूर्ण अनुराग और रस की मूर्ति श्रीराधा के तो पादपद्म (चरणकमल) का प्रेम ही मकरन्द है यह उचित ही है। अथवा कार्य द्वारा कारण का ज्ञान होता है। जिस के दर्शन से ही नेत्र और हृदय में द्रवितभाव पाया जाता है, नेत्रों में अश्रु हृदय में कम्प और शरीर में पुलक (रोमाञ्च) प्रकट हो जाते हैं यह कार्य है। इस कथन से प्रियतम (श्रीश्यामसुन्दर) के द्वारा की गई महावर रस से चित्र रचना की सेवा और संवाहन तथा मञ्जीर (वीछुए) आदि पहिनाते समय स्पर्श के कारण उनके शरीर में उत्पन्न सात्त्विक (स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि) भी दिखा दिये गये हैं।

अथवा सखीजन की या प्रियतम की अभिलाषा वश वनविहार अथवा निकुञ्जादि विलास से सम्बन्धित क्रीडाओं के लिये प्रार्थना इन्हीं पदपद्मों से की जाती हैं अतः परम प्रेम की अधीनता भी दिखाई गई है। और प्रेमरूपी कार्य भी जो श्रीराधा जी के सभी अङ्गों में भरा हुआ है, अधिक होने के कारण बाहर बिखर रहा है, वह रहा है, यह उसका कार्य देखा जाता है। प्रेमाश्रयों में यह प्रवाहरूपता नित्य ही बनी रहती है इसलिए उस प्रेम की अखण्डता और उससे आदि से अन्त तक उस प्रेम का निर्वाह (निभावा) होने के कारण उसकी पूर्णता भी जानी जाती है। जो प्रेम जन्म से ही साध्य दशा और साधन दशा आदि स्थितियों में असीम मङ्गल और अनन्त आस्वाद देने वाला है, सबसे बढ़कर है, विलक्षण क्षुधा और पिपासा में प्राप्त होने के कारण आप्यायनकारी होने से उसकी अमृतरूपता है दास्यधर्म की सिद्धि के लिये भी श्रीचरणों में

स्वस्य विषयत्वमन्येषामाश्रयत्वमिति।

अथ कान्तापेक्षया रसदायित्वेन तापोपशमनशीतलधर्म्मत्वेन च विशिनष्टि—मधुपतेर्हृद्यर्पितं सदुग्रं स्मरतापं निर्व्वापयत्परमशीतलं चेति मधुभोक्तृत्वेन चरणमधुनो वा सर्व्वाङ्गीणस्य परममता-श्रयत्वख्यातस्य यद्वा वसन्तपतेः कामरूपस्य प्रियाभिलाषघनीभूतमूर्ते-रित्यर्थः। वसन्तोऽभिलाषजनकस्तत्पूरणात्पतिस्तस्य हृदि पूर्वत एव हरण-धर्मवति ततोऽपि साक्षादर्पितं प्रियेणात्यादरेण बहुप्रसादजननोपायप्रार्थना-दिभिः कथञ्चिदनुरोधनेन करेण हृद्यर्पितं यद्वा प्रसाददयाद्रवच्चित्तया सर्वस्वं त्वदीयमेवेति सम्प्रदानकवदर्पितं सदुग्रं स्मरतापं—'लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभव-न्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्पाः इति तत्कटाक्षबहुलजनितोत्कटत्वं स्मृतिमात्र-

रसकलश

प्रेमाश्रयता और प्रेमविषयता हैं अथवा श्रीचरण प्रेम का विषय हैं और उपासक जन प्रेम का आश्रय हैं, यह उपासकों या आराधकों की दृष्टि से विचार किया गया।

अब कान्त (प्रियतम) की अपेक्षा से विचार करें तो श्रीचरण उनके लिये रस-दायी हैं तापों के उपशामक हैं और शीतल हैं अतः इन्हीं विशेषणों से उन्हें विशेषित करते हैं—मधुपति (श्री श्यामसुन्दर) के हृदय पर अर्पित होने पर उनके उग्र काम-सन्ताप को शान्त कर रहे और परमशीतल (ऐसे चरणों का मैं आश्रय लेती हूँ)। मधु-पति मधु के भोक्ता हैं, वे चरणकमलों के मधु के प्रति भी या सर्वाङ्गीण रूप मधु के प्रति भी परम ममता के आश्रयरूप में प्रसिद्ध हैं। अथवा मधु (वसन्त) के पति काम (स्वरूप) हैं प्रिया के प्रति अभिलाषा की घनीभूत मूर्ति हैं, तभी कामरूप होते हुए भी अनङ्ग नहीं अपितु सुभगसर्वाङ्ग हैं, यह तात्पर्य है। वसन्त तो अभिलाषा को उत्पन्न करता है उसके पूरक होने से श्यामसुन्दर वसन्त के पति हैं उनके हृद् (हृत्-हरण कर लेने वाले, हृदय) में साक्षात् अर्पित हुए चरण—जो प्रिय ने अत्यन्त आदर से कृपा प्राप्ति के लिये अनेक उपाय प्रार्थना आदि के द्वारा किसी प्रकार अनुरोध करके अपने हाथ से अपने हृदय पर रख लिये हैं वे चरण, अथवा प्रसादन (मनाने) के समय अद्भुत दया से चित्त द्रवित होने से 'मेरा सर्वस्व तो श्याम! तुम्हारा ही है' यह कहकर जैसे दानपात्र को कुछ दिया जाता है, ऐसे अर्पण किया गया है श्यामसुन्दर के अतितीव्र काम ताप को (शान्त करने वाले उस चरण का मैं आश्रय लेता हूँ)।

लीलापूर्वक किये गये अपाङ्गों के तरङ्गितों से (कटाक्षों से) एक-एक से अनेक-अनेक कोटि कामदेव उद्भूत होते हैं।' इस प्रकार अनेक कटाक्षों से उत्पन्न होने के कारण वे काम भी उत्कट हैं, स्मरणमात्र से अनेक प्रकार की असह्य अवस्थाओं को

विविधदुःसहावस्थापादककन्दर्पस्य तापं क्षुत्तृषातिशयजनकवह्निवत्संतापं परमसुकुमारतयाभिलाषभरस्य दुःसहता ध्वनिता निर्वापयदुपशमयद् वर्तमाने-नोपशमनानन्दस्य स्थायिता, अतएव परमशीतलं शीतलोपचाराश्चन्दन कमलचन्द्रादयस्तदप्राप्तावत्यन्ततापातङ्कापादका अत एतत्तापोपशमनात्परम-त्वं शीतलस्येति तद्विलासदर्शनात्परिजनस्यानन्दजननत्वं ध्वनितम् ।

प्रियाभिलाषतापदर्शनतन्मयतापन्नस्य विगलितवेद्यान्तरस्य सहचरीमन-सोऽपि तदुपशमने तच्छीतलमपि बुध्यते साधकत्वापेक्षया वक्तुर्विरहतापोपशा-न्त्यापादनाशंसनमपि ध्वनितम्,अत्र भ्रमरपरागावनुक्तावपि ज्ञेयौ तद्रसलम्पट-त्वान्मधुपतेरित्युक्तेर्भ्रमरत्वं प्रियस्योक्तमेव दास्येन तदास्वादत्वात्सख्योऽपि भ्रमरा इति सद्योवशीकरणचूर्णेति ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहेति परमाद्भुतवैभ-

रसकलश

उत्पन्न कर देने वाले कामदेव के दिये हुए सन्ताप को जो सन्ताप क्षुधा और पिपासा के अतिशय को जन्म देने वाले अग्नि के समान है, ऐसे सन्ताप को (शान्त करने वाले चरण का मैं आश्रय लेता हूँ ।) यहाँ परम सुकुमार होने के कारण अभिलाषा का भार नहीं सहा जा रहा है यह ध्वनित होता है । ताप को निर्वापित करते हुए या शान्त करते हुए (चरण का आश्रय लेता हूँ) यहाँ वर्तमान काल के प्रयोग से ताप का उपशान्ति का आनन्द स्थायी है, यह प्रकट होता है । अतएव परमशीतल हैं । शीतल उपचार चन्दन, कमल, चन्द्र आदि श्री प्रिया जी की अप्राप्ति की अवस्था में श्रीश्याम सुन्दर के लिये परम सन्ताप और आतंक उत्पन्न करने वाले हैं, किन्तु श्रीचरण उस ताप को भी शान्त करते हैं अतः उन में परम शीतलता है। श्रीप्रिया जी के विलासों के दर्शन से उनके किङ्करीजन को आनन्द प्राप्त होता है यह ध्वनित होता है ।

प्रिया जी के प्रति अभिलाषा, उससे सन्ताप, सन्ताप में दर्शन और दर्शन में तन्मयता को प्राप्त हो गये, जिन को दूसरे किसी जानने योग्य पदार्थ का अनुभव होना समाप्त हो गया है ऐसे सखीजन के मन का भी ताप मिट जाने से उन चरणों का शीतल होना जाना जाता है। साधकगण की दृष्टि से भी वक्ता के विरहताप की उपशान्ति भी हो ही गई होगी, ऐसा प्रतीत होता है । यहाँ पर यद्यपि भ्रमर और पराग स्पष्ट रूप में नहीं कहे गये तो भी उन्हें भी समझ लेना चाहिये । उस रस के प्रति लम्पट होने के कारण श्यामसुन्दर को मधुपति कहने के कारण उन का भ्रमर होना तो कहा ही गया है, दास्यभाव से उस मधु या रस का आस्वादन करने के कारण सखीजन भी भ्रमर हैं । और सद्योवशीकरणचूर्ण (शीघ्र वश में कर लेने वाला चूर्ण) ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह (ब्रह्मा शङ्कर आदि के लिये भी अत्यन्त दुरूह) परमाद्भुत वैभव (परम आश्चर्यकारी वैभव शाली) इत्यादि विशेषणों

वेति सर्वत्र प्रसरत्प्रभावगन्धवाहवहनेन प्रख्यातश्रीमत्सद्यशस्यतया परागत्वं ज्ञेयमिति निजसाधकशिक्षार्थं तद्गामिफलत्वेन परस्मैपदं कमलाश्रयेणात्म-स्वार्थेनापि भ्रमरत्वमननान्मुखरितावलीढादितच्छोभा स्वत एव भविष्य-तीति चरणार्थमिति वा ।

वृन्दावनेश्वरीत्युक्ते स्वहृदि तद्वनस्वरूपस्फूर्त्या तादृशतच्चरणारविन्द-विलासाधारस्थलं तदेकप्रवणं वर्णयति—

राधाकरावचित पल्लववल्लरीके
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ।।१३।।

मे मनो राधाविहारविपिने रमतामिति मे तत्र सखीरूपेण स्थित-स्यापि तत्तद्द्रुमवल्लीस्थलीखगावल्यादीनां युगपत् पूर्णास्वादमननार्थं-

रसकलश

द्वारा सभी स्थलों पर बढ़ते हुए प्रभावरूपी पवन द्वारा पहुंचाया जाने के कारण श्रीमती (श्रीराधिका) के प्रसिद्ध और निर्मल यश के कारणभूत चरणरज को ही यहाँ पराग समझना चाहिये । इस प्रकार अपने चरणानुगत साधकों को शिक्षा देने के लिये और उन साधकों को प्राप्त होने वाले फल के अभिप्राय से (आश्रयामि, इस पद में) परस्मैपद का प्रयोग किया गया है । अथवा चरणरूपी कमल का आश्रय लेने के कारण अपने में भी भ्रमरता का मनन करने के कारण मुखरता (बोलना, गुनगुनाना) और रसास्वाद करना आदि विशेषताएँ और वैसी शोभा आदि विशेषण अपने आप ही आ जायेंगे इसलिये पदारविन्द या चरण कमल के लिये ऐसा कहा है ।

अब 'वृन्दावनेश्वरी !' ऐसा कहने पर अपने हृदय में श्री वृन्दावन की स्फूर्ति होने से वैसे चरणकमलों के विलास की आधार भूमि श्री वृन्दावन का अनन्यभाव से वर्णन करते हैं—

'श्रीराधा जी के करकमलों से चुने गये हैं पल्लव जिनके ऐसी लताओं वाले, श्री राधा जी के चरणकमलों के चिह्नों से सुशोभित हो रही मधुर स्थलियों वाले, श्रीराधा जी के यशोगान से मुखर और मदमत्त विहगावली वाले, श्री राधा जी के विहारवन में मेरा मन रमण करे ।'

'मेरा मन श्री राधा जी के विहारवन (श्रीवृन्दावन) में रमण करे' यह अन्वय है । यद्यपि मैं श्रीहितसखीरूप से वहाँ स्थित हूँ तो भी उन वृक्षों और लताओं, स्थलियों और खगावलियों के एक साथ परिपूर्ण आस्वाद का मनन करने के लिये अत्यन्त

मत्युत्कण्ठस्य यथा 'विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वर' इति यथा च 'निदिध्यासो-रात्ममायां हृदयं निरभिद्यते'तिवत् स्वकरणविलसितस्यापि निदिध्यासं विना न तादृशतदास्वाद इति मननात् मन इति अवबोधपूर्णावकाशसर्व-व्यवहितादिस्फूर्तिप्रवणत्वदत्ताधिकारं राधेति आराध्याराधनीया प्रियसफल-सिद्धिरूपा दास्येऽपि जने परमानुरागसहजेन सख्यव्यवहाराङ्गीकरणशीलेति साक्षान्नामबहुलोक्तिः सख्यबलाद्धि तस्या विविधविहारस्य विपिने कुञ्ज-निकुञ्जनिभृतकुञ्जाद्याक्रीडस्थले रमतां निरन्तरगमनसामर्थ्यात्सर्वविला-साभिज्ञानानन्दहृष्टं क्रीडताम् ।

तत्क्रीडास्थले चैतत्क्रीडनमसम्भाव्यमित्याशङ्कायां तस्याः क्रीडासमये स्वतन्मयतापन्नतया दास्येन क्रीडानुभवं करोतु अन्यदा पुष्पावचयादि-सेवायां तत्करावचयस्पर्शप्रत्यभिज्ञानेन शुकसारिकाहंसादिखगमुखतन्नाम-

रसकलश

उत्कण्ठित हूँ जैसा कि 'मेरे दस हजार कान बना दो, बस मैं यही वरदान माँगता हूँ' इत्यादि में, और जैसा कि 'आत्म माया का निदिध्यासन करने पर हृदय निर्भिन्न हुआ' इत्यादि में, अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले को भी निदिध्यासन के विना उसका वैसा आस्वाद नहीं मिलता, तभी मनन करने के कारण ही अन्तःकरण का नाम मन हुआ है। अवबोध से पूर्ण अवकाश वाला होने के कारण जिस को व्यवहित या अन्तरित आदि स्थितियों में स्थित पदार्थों या भावों को स्फूर्ति में प्रवणता के लिये अधिकार दिया जा चुका है। ऐसा (मेरा मन श्रीराधा जी के विहार वन में रमण करे।) 'राधा' नाम से, आराध्य (श्री श्याम) की भी आराधनीया, प्रिय (श्री श्याम) के लिये सकल सिद्धि स्वरूपा, दास्यभाव में भी किङ्करी जन के प्रति परम अनुरागमय स्वभाव के कारण सख्यभाव का व्यवहार करके उन्हें अङ्गीकार करने के शील वाली, यह भाव प्रकट होता है और साक्षात् नाम का बार-बार कहना सख्यभाव अर्थात् सहचरी-भाव के कारण हैं यह भी ज्ञात होता है। उन श्रीराधा जी के विविध विहारों के आधार-भूत वन में—कुञ्ज, निकुञ्ज और निभृत निकुञ्ज आदि क्रीडास्थलों में—रमण करे, वहाँ सदा पहुँच जाने की सामर्थ्य के कारण सभी विलासों के अभिज्ञान के आनन्द से हर्षित होता हुआ क्रीडा करे।

अब यहाँ यदि कोई शङ्का करे कि श्री राधाजी के क्रीडावन में इस मन का क्रीडा करना सम्भव नहीं है? तो उसका समाधान करते हैं कि श्रीराधा जी के क्रीडा-काल में यह मन तन्मय अवस्था को प्राप्त करने के कारण किङ्करीभाव से उन क्रीडाओं का अनुभव करे। ऐसी आशंसा की गई है। दूसरे समय पुष्पावचयन (फूल चुनना) आदि सेवाओं के अवसर पर श्रीराधा जी के करकमलों द्वारा किये गये पत्रपुष्प के अवचयन के स्पर्श का प्रत्यभिज्ञान (संस्कारोद्बोध) होने से, शुक सारिका हंस आदि पक्षियों के मुख से

श्रवणेन च तत्क्रीडैव स्फुरतु मुकुरमिव तत्क्रीडासङ्क्रमितं क्रीडादिवद् दृश्यमानं स्यात्, यदानन्दातिशयनिविष्टस्तदेवाशास्तेतमामिति भावः।

सर्वत्र सैव स्फुरतीत्याशयेन विशिनष्टि। राधाकरेति राधायाः कराभ्यामवचिताः पल्लवा यासां तादृश्यो वल्लर्यो यस्मिंस्तत् स्वविलासरहः-स्थले निजकृतावचयेन नैश्वर्यक्षतिः शङ्कनीया यद्वा वल्लर्य एव वल्लरीका वाऽज्ञाताद्यर्थविशिष्टा वल्लर्य एव वल्लरीकाः पश्चाद्‌बहुव्रीहिरित्येवमग्रेऽपि स्थल्य एव स्थलीकाः आवल्य एवावलीका इति कन्प्रत्ययश्चमत्कारार्थः। वल्लरीषु निजकरामृतसेचनादिबहुयत्नपोषितासु पूर्णवात्सल्यतो बाल्यत एव तारुण्य-मागतास्वपि मृदुलतन्वीषु पुनर्नवाङ्कुरवृद्ध्यर्थकतत्स्पर्शमपेक्षमाणासु पल्लवोपलक्षणेन पुष्पाण्यपि ज्ञेयानि प्रसरदग्रभागगतकुसुमस्तबकमृदुतर-स्निग्धपल्लवगुच्छान्यभ्युदयोद्दीपनान्यतमोपहाराण्येव ददतीषु स्वकरेणैवानु-कम्पया तदवचयेन ममताधिक्यं बोध्यम्, अत एवानुकम्पने कः प्रत्ययः यथैव

रसकलश

उनका नाम श्रवण होने पर यह क्रीडा ही मन में स्फुरित हो, तब दर्पण के समान यह मन उनकी क्रीडाओं से संक्रान्त हो जाने से क्रीडा आदि से युक्त ही दिखाई दे, इस प्रकार की आशा जब आनन्दातिशय से आविष्ट होते तब करते हैं यह भाव है।

अब इस वन में सर्वत्र श्रीराधा ही स्फुरित होती हैं इस अभिप्राय से उस वन के विशेषण बताते हैं—श्रीराधा के करों से अवचित (चुने गये हैं) पल्लव (पत्र) जिन के ऐसी हैं वल्लरियाँ या लताएँ जिस (विहार वन) में। अपने विलास के एकान्तस्थल में अपने आप अवचयन करने पर भी ऐश्वर्यभाव की क्षति की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। अथवा स्वार्थ में 'क' होने के कारण वल्लरी ही यहाँ वल्लरीक है अथवा 'क' के अज्ञात इत्यादि अर्थों से युक्त होने के कारण यहाँ की वल्लरी वल्लरीक हैं। ऐसे ही यहाँ की स्थली ही स्थलीक हैं और खगावली ही खगावलीक है और इन्हीं शब्दों के साथ बहु-व्रीहि समास हुआ है। अथवा कन् प्रत्यय है जिस का अर्थ चमत्कारी होना है। इन अपने करों से अमृत के सेचन आदि बहुत से बलवत् उपायों से पोषित हुई पूर्णवात्सल्य के कारण, बाल्यभाव से तारुण्यभाव को प्राप्त हुई, सुकुमार और छोटी-छोटी फिर नवीन अंकुरों की वृद्धि हो इसलिये श्री राधा जी के करकमलों के स्पर्श की अपेक्षा करती हुई लताओं में पल्लवों या पत्रों के अवचयन को उपलक्षण मानना चाहिये और उससे पुष्प भी चुने गये ऐसा जानना चाहिये। बढ़ रहे अग्रभाग में लगे हुए पुष्पों के कलाप और अतिकोमल, चिकने पत्रों के गुच्छे जो अभ्युदय के उद्दीपक हैं उन्हें प्रिया प्रियतम में से किसी के प्रति उपहार दे रही लताओं से अपने हाथ से हो कृपापूर्वक उन्हें चुन लिया गया है, इससे उन लताओं के प्रति अतिममता समझनी चाहिये। इसी लिये अनुकम्पा अर्थ में

श्रीप्रबोधानन्देनोक्तौ द्वितीयशतके—

राधाकृष्णौ परमकुतुकाद्यल्लतापादपानां
चित्वा पुष्पादिकमुरुविधं श्लाघमानौ जुषाते ।
स्नानाद्यं यत्सरसि कुरुतः खेलतो यत्खगाद्यैं
र्वृन्दारण्यं परमपरमं तन्न सेवेत को वा ॥१॥
आबाल्यञ्जलसेचनेन वरणेनावालनिर्माणतः
स्वेन श्रीकरपल्लवेन मृदुना श्रीराधिकामाधवौ ।
यान्संवर्ध्य विवाह्य नव्यकुसुमाद्यालोक्य सन्नर्मभि-
र्मोदेते सुलतातरूनहह तान्वृन्दावनीयान्नुमः ॥२॥

तत्करावचयज्ञानं तादात्विकसखीदृष्ट्या हि यद्वा तच्छीलज्ञतया तत्स्पर्शजरोमाञ्चाश्रुपुलककम्पादिविकारो नवपुष्पपल्लवाद्युद्गमेन सहृदयतया ज्ञात इति, अथवा कदाचिद् वल्लरीशब्देन सख्योक्तम्—

कदा मधुरसारिकाः स्वरसपद्यमध्यापयत्प्रदाय करतालिकाः क्वचन नर्तयत्केकिनम् ।
क्वचित्कनवल्लरीवृततमाललीलाघनं विदग्धमिथुनं तदद्भुतमुदेति वृन्दावने ॥ इति ॥

रसकलश

वल्लरी आदि शब्दों से 'क' प्रत्यय किया गया है। जैसा कि श्री प्रबोधानन्द जी ने द्वितीय शतक में दो श्लोक कहे हैं—

'श्री राधा और श्रीकृष्ण परमकौतूहल से जिस श्री वृन्दावन के लता वृक्षों के अनेक प्रकार के पुष्प आदि को चुनकर उनकी श्लाघा करते हुए सेवन करते हैं। जिस के सरोवर में वे स्नानादि करते हैं, जिसके पक्षी आदियों से खेलते हैं, कौन उस परात्पर श्रीवृन्दावन का सेवन न करेगा ।१।'

'श्री राधिका और श्रीमाधव अपने सुकोमल श्रीकरपल्लवों से जल सींचने के द्वारा बाड़ बाँधने के द्वारा और आलवाल बनाने के द्वारा वृन्दावन के जिन लता–वृक्षों को बढ़ाकर उनका विवाह करके नवीन पुष्पादि देखकर सुन्दर परिहास वचनों से आनन्द लेते हैं, हम श्रीवृन्दावन के उन लताबृक्षों की वन्दना करते हैं ।२।'

उनके करपल्लवों द्वारा लताओं के पत्रपल्लव चुने गये हैं इस बात का परिपूर्ण ज्ञान तो उस समय सखीगण की दृष्टि से ही होता है। अथवा उनके शीलस्वभाव को जानने के कारण उनके स्पर्श से उत्पन्न हुए रोमाञ्च, अश्रु, पुलक, कम्प आदि विकारों को नये पुष्पों और पत्रों को उमंग से सहृदयता के कारण जान लिया है। अथवा कभी वल्लरी शब्द से सखी द्वारा कहा गया है।

'कभी मधुर स्वर वाली मैनाओं को अपने (वनविहार रस से या) अभिप्राय से पूर्ण पद्य पढ़ाता हुआ कहीं तालियाँ बजा बजा कर मोर को नचाता हुआ, कभी स्वणलता से आलिङ्गित तमाल वृक्ष की लीला से घनीभूत या संश्लिष्ट वह अद्भुत नागरनागरी का मिथुन (श्री राधाकृष्णयुगल) श्री वृन्दावन में उदित होता है।'

यथा च 'वल्लवी सुकनकवल्लरी' इत्यादि चतुरशीतिपदावल्याद्युक्तरीतिकं बहुकृत्वो मानादौ कनकवल्लरीव वल्लवि वनमालितमालमलङ्कुरु पश्य पश्य त्वदीयवनलता अपि कथं स्वतरुकान्तालिङ्गिता मनो हरन्तीत्यादिवाक्य-स्मरणमनुभूय क्रीडन्ती विहस्य नर्मसखीरिव भर्त्सनाभिनयेन नखक्षतैः पल्लवानवचिनोति। अर्थात् कथं निर्व्रीडा मत्कोपायैव सखीमुखकाव्य-कल्पनार्थं वल्लरीशब्दवाच्या जाताः स्थेति कुत्सिते कप्रत्ययोऽत्र सखीपरि-हासाद्यनन्तरं प्रसादवनविहारगमनमाह—राधापदाङ्केति यवचक्रच्छत्रकमल-ध्वजपताकोर्द्ध्वरेखाङ्कुशैर्वामाङ्कैः शङ्खमत्स्यवेदिरथशैलकुण्डलगदाशक्ति-

रसकलश

इत्यादि में और जैसे—

'वल्लवी सुकनक वल्लरी तमाल श्याम संग,
लागि रही अंग अंग मनोभिरामिनी।
वदन जोति मनो मयंक अलक तिलक छवि कलंक,
छपति श्याम अंक मानो जलद दामिनी॥'

सोने की कोमल बेलि जैसी वल्लवी (गोपकन्या-श्रीराधा) श्याम रूपी तमाल के अंगसंग लगी हुई मन को परमरमणीय लगती हैं, श्री मुख कान्ति से चन्द्र है अलकें और कस्तूरी का तिलक कलङ्क की छबि दे रहे हैं और वे मेघ श्याम के अङ्क में ऐसे छिप रही हैं जैसे आम मेघ के अंक में सौदामिनी (बिजली) छिप रही हो।'

इत्यादि श्रीमच्चतुरासी जी की पदावली में तथा 'हे गोपकन्ये! वनमाली रूपी तमाल को अलङ्कृत करो, देखो देखो तुम्हारे वन की लताएँ भी किस प्रकार अपने तरुकान्तों से आलिंगित होती हुई मनोहर लग रही हैं। इत्यादि वाक्यों की स्मृति का अनुभव करके क्रीडा करती हुई बिहँसती हुई परिहास करने वाली सखियों की भर्त्सना के अभिनय द्वारा नखक्षतों से (इन लताओं के) पल्लवों या पत्रों को चुनती हैं। अर्थात् 'हे लताओ! तुम कैसी निर्लज्ज हो जो सखियों के मुख से कविता कराने के लिये और मुझे चिढ़ाने के लिये तुम वल्लरी नामधारिणी बनी हो। इस निन्दा अर्थ में यहाँ वल्लरी में 'क' प्रत्यय किया गया है।

सखी परिहास के बाद 'प्रसादवन' (प्रिया जी प्रसन्न होकर श्री श्यामसुन्दर और सखीपरिकर सब पर कृपा करने के लिये जिन वनभाग में पधारती हैं उस) में विहार के लिये जाने का वर्णन करते हैं 'श्री राधा जी के चरणचिन्हों से शोभायमान हैं मधुर स्थलियाँ जिसकी' इस विशेषण में 'जौ, चक्र, छत्र, कमल, ध्वजा, पताका, ऊर्ध्वरेखा और अंकुश, तो वामचरण के तथा 'शंख, मत्स्य, वेदि, रथ, शैल, कुण्डल, गदा, शक्ति'

भिर्दक्षिणाङ्कैः पारमैश्वर्यसौभाग्यद्योतकैः सूक्ष्ममृदुपरागरजोदृश्यमानमुद्रैर्वालक्तकरसावृतैः स्वैरं लसन्त्यपि विशेषेण लसन्ती दीव्यन्ती वा हर्षेण विलासं प्राप्नुवन्ती मधुरा स्थली यत्र शृङ्गाररसात्मिका भूमिर्वा हृदयनयनादिपरममादकमोहकासवरसेव विभाव्यमाना वा दृग्रसनालाम्पट्यजनकमिष्टरसा वा संज्ञार्थे कः प्रत्यय इति मधुरस्थलीत्यभिधेयेत्यर्थः, अथवा अज्ञातार्थत्वात् अनिर्वचनीयस्वरूपा परमप्रेमास्पददम्पत्योरपि प्रेमास्पदतया अहो न जाने किंस्वरूपं तत्त्वमस्या इति चित्रं—

किं ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरीं वेत्ति राधा।
वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा
तद्द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीभ्यः।

इति पद्ये वक्ष्यत्येव। अथ पादारविन्दगमनानन्तरं तद्दर्शनैकजीवन-

रसकलश

दक्षिण चरण के, चिन्हों से—जो श्रीराधा जी के परम ऐश्वर्य के द्योतक हैं, जिसकी मुद्रा सूक्ष्म और कोमल पराग-रज में दिखाई दे रही है और जो आलक्तक रस से रंगे हुए हैं उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक विलसित होती हुई या सुशोभित होती हुई, हर्ष के कारण विलास को प्राप्त हो रही हैं मधुर स्थलियाँ जहाँ की, अथवा जहाँ की भूमि शृङ्गार रसात्मक अथवा हृदय और नयन आदि अन्तःकरण तथा बाह्यकरणों को परम मद और परममोह प्रदान करने वाले आसव जैसे रस वाली प्रतीत होती है अथवा दृष्टि और रसना में चञ्चलता उत्पन्न कर देने वाले मिष्ट (मधुर) रस वाली है। अथवा 'क' प्रत्यय संज्ञा अर्थ में है अर्थात् मधुरस्थली यह स्थली का नाम है। अथवा 'क' का अर्थ अज्ञात होना है, यह मधुरस्थली अनिर्वचनीय स्वरूप वाली है क्योंकि परमप्रेम पात्र दम्पति (श्री राधामाधव) के लिये भी परम प्रेमपात्र होने के कारण 'अहो! मैं नहीं जानती कि इस स्थली के तत्त्व का क्या स्वरूप है? आश्चर्य है—

जब श्रीवैकुण्ठ भी श्रीराधामाधव युगल के बिना कुण्ठित प्रदेश बन गया है तब अन्य धामों की क्या बात कहें? श्रीराधा के माधुर्य को मधुपति (श्रीश्यामसुन्दर) जानते हैं और श्रीश्यामसुन्दर की माधुरी को श्रीराधा जानती हैं। यह वृन्दावनस्थली परमरसरूपी सुधा के माधुर्यों का भार धारण करने वाली है। जिस वृन्दावनस्थली ने वह सम्पूर्ण स्वादनीय युगल श्री राधापदकिङ्करियों को प्रदान किया है।'

इस पद्य में कहेंगे ही। अब चरणकमलों द्वारा उस मधुर स्थली में जाने के बाद युगल दर्शन ही जिनका एकमात्र जीवन है उन पक्षियों के समूह द्वारा किये गये मनोहर

खगकुलकृतकलकूजितं श्रुत्वा विशिनष्टि-राधायश इति—'वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तय' इत्युक्तलक्षणा वन्दिजना इव स्वप्रभुं बहिर्निर्गतं दृष्ट्वा यशोवर्णनघटितसरसच्छन्दःकाव्यैः स्तुवन्ति गायन्ति यद्यदान्दोलनरासगाननृत्यवाद्यनिलयनपुष्पावचयादिविविध-भोगिविलासा अदृष्टाश्रुतचरा अनुभूतास्तानेव गायन्ति। एते खगरूपपरि-कराः सच्चिदानन्दमया दम्पतिरसविलासानन्दार्थका एव द्रुमवल्लीमव-लम्ब्य तादृशविलासदर्शनासवघूर्णायमाना अन्तःस्वादं भजन्त्यपि यशः स्वादातिरेकदुःसहप्रेरणपराधीना मिथस्तदेव गायन्ति। यूथशः सजातीया मिलित्वा तत्कथनानुवादानन्दमनुभवन्तीति मुखरार्थः। पुनश्च यश इति मत्तेति गायं गायं श्रवणकथनानन्दमत्ताः स्तम्भवैवर्ण्यस्वरभङ्गरोमाञ्चितादि प्रेमदशाविष्टास्तिष्ठन्ति, ततोऽव्यक्तशब्दा अपि मध्ये मध्ये क्वचित्किञ्चि-च्छ्रूयमाणाक्षरैकदेशज्ञापनेन सर्वलीलायशः सखीः प्रत्यभिज्ञापयन्तः 'राधे

रसकलश

कूजन को सुनकर एक और विशेषण लगाते हैं—'श्री राधा जी के यशोगान में मुखर और मत्त हैं खगावली जहाँ की।' जैसे—'निर्मल बुद्धि वाले बन्दी जन प्रकरण के अनुरूप वचन बोलते हैं।' इस प्रकार के बन्दीजनों के समान अपने प्रभु को बाहर निकला हुआ देखकर यशोवर्णन के लिये बनाए गये सरस छन्दों वाली कविताओं द्वारा स्तुति करते हैं, गाते हैं। जो जो झूला झूलना, रास करना, गाना, नाचना, बजाना, छिपना, फूल चुनना, आदि अनेक प्रकार के भोगी पुरुषों के से विलास है, जैसे कभी न देखे गये न सुने गये किन्तु यहाँ अनुभव किये गये हैं उनको ही गाते हैं। ये पक्षीरूप में प्रियाप्रियतम युगल के परिकर सच्चिदा-नन्दमय हैं, दम्पति को रसविलास और आनन्द देने वाले ही हैं, वृक्षों तथा लताओं का आश्रय लेकर वैसे विलास के दर्शनरूपी आसव के पान से झूम रहे हैं, मन में स्वाद लेते हुए भी यशोगान के स्वाद की अधिकता की प्रबल प्रेरणा के कारण पराधीन से हुए परस्पर उसी का गान करते हैं। झुण्ड झुण्ड में एक जाति के मिल कर उन (प्रिया-प्रियतम) की उक्तियों का अनुवाद करने का आनन्द अनुभव करते हैं यह 'मुखर' शब्द का अर्थ है। फिर 'यशोमुखरमत्त' का यह भी तात्पर्य है कि प्रियाप्रियतम के यश को गाते-गाते कथन श्रवण के आनन्द में मस्त होकर स्तब्धता, विवर्णता, स्वरभङ्ग, रोमाञ्च आदि प्रेमदशाओं से आविष्ट हुए रहते हैं। यद्यपि इनकी बोलियां अव्यक्त हैं अस्पष्ट हैं तथापि बीच-बीच में कहीं कोई सुने जा रहे किसी अक्षर के एक अवयव से ही सब रहस्य का ज्ञान कराने के द्वारा सभी लीलाओं का यश सखी के समक्ष प्रकट करते हैं।

राधे, इति तु तत्रत्यानां सर्वेषामनवरतं सार्वदिको विश्रुत एव मन्त्रः श्रूयते जयेति धन्येति श्लाघनीयमहिमार्थवाक्यविशिष्टं यश इति खगशब्देन स्वतन्त्रगानदर्शननिरवरोधत्वम् अत एव मत्तमुखरतादि धार्ष्ट्यमपि सख्यानन्दकं यथाग्रे वक्ष्यति—

मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहं, मैवं पीडां कुरु कुचतटे पूतना नाहमस्मि ।
इत्थं कीरैरनुकृतवचः प्रेयसा सङ्गतायाः प्रातः श्रोष्ये तव सखि कदा केलिकुञ्जे व्रजन्ती ॥

इत्यादि पैशुन्यमपि यश एवेदं प्रियाया इति परिहसन्ति सख्य इति पारावतान्यभृतसारसचक्रवाकदात्यूहहंसशुकसारिकातित्तिरिर्बर्हिकुक्कुटाद्याः खगा यूथशः प्रतिजाति विविधवर्णगुणविशिष्टा द्वन्द्वशो दम्पतिक्रीडनकास्तेषामावली पंक्तिकरणस्थितिर्लतादिषु जले स्थले चाकाशे च केवलं निविष्टा एव पङ्क्त्या शोभन्ते मधुररावं कुर्वन्ति तदा नितरां यशोऽक्षरं सूचयन्ति

रसकलश

'राधे-राधे' यह तो सभी वृन्दावनवासियों का निरन्तर चलते रहने वाला मन्त्र सदा के लिये विख्यात ही सुना जाता है। 'जय हो' इस प्रकार के सराहनीय महिमा के अर्थ वाले वाक्यों से विशिष्ट यश को गाते हैं। खगशब्द से स्वतन्त्र रूप से गाने और दर्शन करने में इनको कोई रुकावट नहीं पड़ती, इसीलिये मत्तता और मुखरता आदि कहे गये हैं तथा इनको धृष्टता भी जो सखीजन को आनन्द देने वाली है प्रकट होती है। जैसा कि आगे कहेंगे—

प्रिया जी ने कहा—'प्रियतम, मेरे कण्ठ में नखाग्र क्यों लगाते हो' तो एक पक्षी बोला—'मैं दैत्यराज हिरण्यकशिपु नहीं हूँ।' प्रिया जी ने कहा—'स्तन तटों में ऐसी पीडा मत दो।' तो दूसरा पक्षी बोला—मैं पूतना नहीं हूं। इस प्रकार शुकों द्वारा प्रियसङ्गता (श्री राधा जी के) तुम्हारे वचन के पीछे जो वचन बोले गये हैं उन वचनों को हे सखि, प्रातःकाल तुम्हारे केलिकुञ्ज में जाती हुई मैं कब सुनूँगी।' इस प्रकार रहस्योद्घाटन रूप पिशुनता भी प्रियाजी का यश ही है ऐसा कहती हुई सखियाँ परिहास करती हैं। इसी प्रकार परेवा (कबूतर) कोयल, सारस, चकवा, दात्यूह, हंस, शुक (तोता) सारिका (मैनां) तीतर मोर, मुर्गा आदि पक्षी झुण्ड के झुण्ड प्रत्येक जाति के अनेक रंगों और गुणों से युक्त, जोड़े जोड़े प्रियाप्रियतम के क्रीडनक (खिलौने) बने हुए हैं, उनको आवली अर्थात् पंक्ति बाँधकर बैठे समूह लता आदियों पर, जल में, स्थल में और आकाश में केवल बैठे हुए ही पंक्तियों में शोभा पाते हैं, मधुर कलरव करते हैं तब

तदा नितमामिति एतादृशादद्भुतकार्यदर्शनादनिर्वचनीयप्रभावेणाज्ञातार्थे कः प्रत्ययः । केचित्प्रियाकृतलालनपालनाः पारावतशुकसारिकाहंसादिशावा निजकरबद्धमणिलघुपदमंजीराः सूक्ष्मकनकसूत्रस्तबकमणिचञ्चच्छिरोग्रीवा अयातयामाभ्यासा वटव इव तद्यशः पाठ्यमानाः पठन्ति तद्दर्शनश्रवणाभ्यां महामोहोदयेनानुकम्पार्थे कः प्रत्ययः । एतादृशे वने मन्मनो रमतामिति यत्र तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् पश्यन् शृण्वन्नपि सर्वदैव बाह्याभ्यन्तरे राधैव स्फुरतीत्यनुभवेदिति भावः । अत्र हितसख्याचार्यत्रिधोक्तिर्यथासम्भवं योज्या ।

येन साक्षान्नामकथनमर्मनर्मोक्तिव्यवहारसिद्धिस्तमेव सख्यरसं निर्दिशति—

कृष्णामृतं चल विगाढुमितीरिताहं
तावत्सहस्व रजनी सखि यावदेति ।
इत्थं विहस्य वृषभानुसुते ह लप्स्ये
मानं कदा रसदकेलिकदम्बजातम् ।।१४।।

रसकलश

अधिक सुशोभित होते हैं और जब प्रियाप्रियतम के यश के अक्षर बोलते हैं तब तो बहुत ही सुन्दर लगते हैं, ऐसे अद्भुत कार्यों के दर्शन के कारण अनिर्वचनीय प्रभाव द्वारा अज्ञात रहने के कारण 'क' प्रत्यय हुआ है । कुछ प्रिया जी द्वारा लालित पालित हुये परेवा, शुक, सारिका, हंसादियों के बच्चे हैं जिनके पैरों में प्रिया जी ने अपने कर कमलों से मणि जटित छोटे छोटे मंजीर (नूपुर) बाँधे हैं सूक्ष्म वर्ण सूत्रों के गुच्छों में बँधी हुई छोटी छोटी मणियों द्वारा जिनके सिर और ग्रीवा शोभा पा रहे हैं । जिनका अभ्यास अयातयाम है (ताजा है) ऐसे ब्रह्मचारियों जैसे हैं जिन्हें श्री राधामाधव (युगल) का यश पढ़ाया जाता है तो पढ़ते हैं उनके दर्शन और श्रवण से महामोह का उदय हो जाने के कारण अनुकम्पा अर्थ में 'क' प्रत्यय किया गया है । ऐसे वन में मेरा मन रमण करे, जहाँ रहते, जाते, सोते, देखते, सुनते हुए सदा ही बाहर भीतर श्री राधा जी की ही स्फूर्ति हो रही है यह अनुभव हो यह भाव है । यहाँ पर हितसखीरूप से, वंशीरूप से और आचार्य रूप से तीनों प्रकार से कथन की यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिये ।।१३।।

जिसके द्वारा साक्षात् नाम कथन और मर्म (रहस्य) तथा नर्म (परिहास) कथन के व्यवहार की सिद्धि प्राप्त होती है उसी सख्यरस का निर्देश करते हैं—

'कृष्णामृत (यमुना जल और श्रीकृष्णरूपी अमृत) को अवगाहन (मज्जन और उपभोग) करने चलो, मुझे जब यह वचन कहे जाएँगे तो मैं कहूँगी 'हे सखि ! तब तक धैर्य धारण करो जब तक रात आती है ।' हे वृषभानुनन्दिनि ! इस प्रकार परिहास करके मैं तुम्हारे हाथ से रसप्रद केलिकदम्ब (क्रीडार्थ धारण किये हुए कदम्ब पुष्प) से (ताडनरूप) मान कब प्राप्त करूँगी ?'

ह इति हर्षे। हे वृषभानुसुते त्वया इतीरिताहम् इत्थं विहस्य रसद-केलिकदम्बजातं मानं कदा लप्स्य इतीति किम्, त्वं कृष्णामृतं विगाढुं चल, अहं तत्र यास्य इत्यर्थः। इत्थं कथमिति हे सखि यावद्रजनी एति तावत्सहस्वेत्यन्वयः।

कृष्णा यमुनानामान्तरं गौण्यापि श्यामवर्णेन कृष्णेति गर्भितेऽर्थे तु 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।' केवलसदानन्दप्रवाहरूपेत्यर्थः। तस्या अमृतं तद्रूपं जलम् अवगाहयितुं स्नानादिक्रीडार्थं चल त्वमितीरिता कथिता प्रेरिता तदा मया कृष्णशब्दश्लेषार्थमनुसृत्य हसितं हे सखि हितप्रियसत्यवादिनि प्रायोऽनिह्नुतसकलसहकृतक्रीडे अहमप्येवं यथार्थं वच्मीति यावद्रजनी परस्परा-नुरागविलासविश्रम्भगाढमनोरञ्जनी रात्रिरागच्छति तावत्क्षमस्व, किमि-दानीमेव त्वरयसीत्यर्थः विविधकेलिप्रियरसयथेष्टावगाहनार्हा रात्रिरेवेति

रसकलश

यहाँ पर (ह) अव्यय का प्रयोग अतिहर्ष अर्थ में किया गया है। हे वृषभानु नन्दिनि! तुम्हारे द्वारा यह कहे जाने पर मैं यूँ परिहास करके कब रसप्रद क्रीडार्थ धारण किये गये कदम्ब पुष्प से (ताडन किये जाने का) मान प्राप्त करूँगी? क्या कहे जाने पर? 'तू कृष्णामृत (यमुना जल और कृष्णरूपी अमृत) का अवगाहन (मज्जन और उपभोग) करने चल, मैं वहाँ जा रही हूँ' इत्यादि। किस प्रकार परिहास करके?' 'हे सखि, जब तक रात्रि आती है तब तक धैर्य धारण करो' यह अन्वय है।

'कृष्णा' यह यमुना जी का एक नाम है, गौणी वृत्ति द्वारा भी श्याम वर्ण के कारण वे कृष्णा कही जा सकती हैं। छिपे हुए अर्थ में तो' कृष् सत्ता वाचक शब्द है और 'ण' आनन्दवाचक। उन दोनों का एक समन्वय स्थल परब्रह्म है क्योंकि वह सत्स्वरूप और आनन्दरूप है अतः उसको ही कृष्ण कहा जाता है।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रीयमुना भी सदानन्दप्रवाहरूपा होने के कारण 'कृष्णा' कही जाती हैं। उसका अमृत अर्थात् अमृतस्वरूप जल, उसमें अवगाहन या स्नान आदि क्रीडा करने के लिये चल, इस प्रकार आदिष्ट या प्रेरित हुई मैं कृष्ण शब्द के श्लेषार्थ (यमुना और श्रीकृष्ण) रूप अर्थ को लेकर हँसी और कहने लगी—हे हित प्रिय एवं सत्य वचन बोलने वाली सखि, प्रायः तुम मुझ से किसी भी सहक्रीडा का रहस्य नहीं छिपाती, मैं भी तुम्हारे समक्ष सदा सत्य ही बोलती हूँ, इसलिये जब तक रात्रि-परस्पर अनुराग, विलास और विश्वास के कारण प्रगाढ मनोरंजन करने वाली रजनी—नहीं आ जाती तब तक तुम धैर्य धारण करो या सहन करो, क्यों अभी से जल्दी मचाती हो।' इस अभिप्राय से उक्त वचन कहे। 'अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करने वाले प्रिय के रस का यथेष्ट अवगाहन करने योग्य

लोकख्यातिमाश्रित्य हासार्थमुक्तं न चात्र दिवसस्य विलासानर्हता सूचिता। यदेत्थं विहसितं तदा किं जातमित्याह रसदेति—किं निर्व्रीडे कवितां कल्पयसि, तव किं शीलं श्लेषार्थव्यङ्ग्यं विना कदापि किमपि न वदसि। सदैवादान्तमनसि विलास एव स्फुरति। इति सस्मितभ्रूभङ्गक्रीडाकमलसंताडनावहेलनपरिहासप्रत्युत्तरकौतुकरसास्वादखेलावैविध्यजातं सख्यरसफलीभूतं मानं न कापि मत्समेति चित्तसमुन्नयनसमानं हर्षं प्रेमदर्पमिति यावत्। कदेति साधकरूपापेक्षया निजानुभूतस्मरणोत्कलिकातिरेकेण दुर्लभत्वद्योतनं लप्स्ये प्राप्स्य इति? अयं भावः, एकदा अपराह्णोत्थापनसमय इयमुक्तिस्तदा ग्रीष्मर्तुगुणोपान्त्ये जलक्रीडासमय एव तत्र किञ्चिदुष्णतायामेव क्रीडारुच्यतिशयादमृतोक्तिः।

अथवा प्रातःशयनोत्थिता विविधविलसितरात्रिविलासरसरतोपमर्द्दचिह्नयुत-व्यत्यस्तवसनभूषणाङ्गराग-सालस-जृम्भितवदनपरिमलोद्गार-

रसकलश

समय रात्रि ही है।' इस लौकिक व्यवहार के आश्रय से परिहास के लिये ऐसा कहा है न कि श्रीनिकुञ्जलीला में भी दिन का समय विलास के लिये अयोग्य या निषिद्ध है इस विचार से। जब इस प्रकार का परिहास हुआ तब क्या हुआ उसका उल्लेख करते हैं—'अरी निर्लज्ज, क्यों कविता ही करती रहती है, तेरा कैसा स्वभाव है जो श्लेषार्थ और व्यङ्ग्य के विना कभी और कुछ भी नहीं बोलती, सदा ही तेरे असंयत मन में विलास ही सूझता है। इस प्रकार मुस्कान और भ्रूभंग के साथ क्रीडाकमल के द्वारा अवहेलना, परिहास का प्रत्युत्तर, कौतुक रस का आस्वाद और क्रीडा की विविधता जो सख्यरस के फलभूत थे ऐसा मान मैं कब प्राप्त करूँगी अर्थात् मेरे समान कोई भी न होगी इस विचार से चित्त में एक प्रकार का औन्नत्य (ऊँचापन) हर्ष और प्रेमदर्प (प्रेमाभिमान) कब प्राप्त करूँगी। 'कब' प्राप्त करूँगी यहाँ 'कब' शब्द का प्रयोग साधक के स्वरूप की दृष्टि से किया गया है जो अपने श्रीहितसखीरूप में अनुभूत सख्यभाव के स्मरण से उत्कण्ठा का उद्रेक हो आने के कारण उस प्रकार के सुअवसर की दुर्लभता द्योतित करता है। यह भाव है कि एक बार अपराह्ण में उत्थान के समय यह वचन प्रिया जी के श्रीमुख से निकले, उस समय ग्रीष्म ऋतु के कारण गुणमय या रमणीय है उपान्त्य अवसान जिस का ऐसे अपराह्ण में जलक्रीडा के समय में ही अर्थात् कुछ-कुछ उष्णता में ही क्रीडा के प्रति अतिरुचि के कारण केवल 'कृष्णा' (यमुना) न कहकर 'अमृत' (जल या सुधा) भी साथ में कहा।

अथवा प्रातःकाल शयन से उठी हैं, सुन्दर और अनेक प्रकार की क्रीडाओं वाली रात्रि के विलास रस और सुरत के उपमर्द के चिह्नों से युक्त हैं, वस्त्र, आभूषण, अंगराग सभी अस्तव्यस्त हैं, आलस्ययुक्त जंभाई लेते समय श्रीमुख की सुगन्ध के

सुरभितवासगृहपरिजन-परमानन्ददायिसौभाग्यभूमि-तत्समसमयविलक्षणप्रेक्ष-णीया झटित्यागतमत्समीकृतयथावद्वसनरसनालका रसनाशक्यपरमानन्द प्रापिका प्रिया परमान्तरङ्गहितप्रियविश्रम्भास्पदां सकलरजनिविलासय-थार्हाव्यवहिताऽप्रमत्तस्थित्यधिकारां मां हितसहचरीमुवाच प्रिये यावत्सख्यागमनं तावद्वञ्चनकौतुकाय क्वचिद्यमुनानुकूलकूलपुष्पावचयनाय नवीनकुसुमभूषां विरचय्य शीघ्रं मण्डयामीत्येतदर्थं गते सति वाक्यमाह-कृष्णामृतमिति किशोरवयोवशप्रादुर्भूतसकलविद्यादिवैदग्ध्यगुणकथित-मात्रज्ञातशब्दश्लेषार्थभावा नागरी सर्वेषां स्वाभिलषितसङ्केतितनामान्तरा-ण्येव वदति किं च परमकरुणा कृपाद्रवचित्ततया शब्दकार्कश्यवचन-श्रुतिभीरुसुकुमारी सकलदुःखदकृतान्तभगिन्यर्थद्योतकं नाम यमुनेति पूर्ववन्नाभिदधाति-यमुनेति क्वचित्प्रत्यक्षपलकान्तरप्रेमवैचित्त्ये कथयति

रसकलश

उद्गार से सम्पूर्ण वासगृह सुवासित हो गया है, किङ्करी जन को परम आनन्द देने वाले सौभाग्य की भाजन हैं और उस सम (सुन्दर) समय में विलक्षण सी दीख रही हैं, मैं शीघ्र ही उनके पास आई और मैंने ठीक-ठीक उनके वस्त्र, मेखला, अलक (केशपाश) बराबर किये, जिसका रसना द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसा परम आनन्द प्राप्त कराने वाली प्रियाजी ने परम अन्तरंग हितकारिणी और प्रिया होने के कारण विश्वास-पात्र बनी हुई, सम्पूर्ण रात्रि के विलासों के समय यथायोग्य समीप रहते और सावधानतापूर्वक रसस्थिति रखने के अधिकार को प्राप्त हुई मुझ 'हित-सखी' को कहा। उस समय प्रियतम, जब तक अन्य सखियाँ आती हैं तब तक उन्हें बहकाने के कौतुक के लिए यमुना जी के तट पर कहीं फूल चुनने के लिए 'पुष्पों के नए आभूषण बनाकर सजाऊँगा।' यह कहकर चले गये थे। तब प्रिया जी ने 'कृष्णामृतम्' कृष्णा यमुना के अमृतस्वरूप जल में और कृष्ण रूपी अमृत में अवगाहन मज्जन या उपभोग करने चल' इत्यादि वचन कहा। किशोर अवस्था के कारण सम्पूर्ण विद्या आदि की विदग्धता के गुणों के प्रगट हो जाने से कथन-मात्र से ही जिनको शब्द-श्लेष का अर्थ और भाव ज्ञात हो गया, ऐसी नागरी (श्रीराधा) सभी वस्तुओं के मनचाहे सांकेतिक नामों का उच्चारण करती हैं। फिर परम करुणा शालिनी वे कृपा से द्रवित चित्त होने के कारण कर्कश शब्द बोलने और सुनने में भीरु हैं, सुकुमारी हैं। वे सब को दुःख देने वाले यमराज की बहन का अर्थ बताने वाले यमुना शब्द का उच्चारण नहीं करतीं। यदि कभी प्रकट लीला में प्रेमवैचित्य के कारण पलक भर का प्रिय से अन्तर प्रतीत होता है उस समय इसे 'यमुना' कहती हैं। वैसे तो ये

मिथो भानुजात्वजातसख्येन सेवनधर्मानुगततत्सुखतामयदास्येन च प्रियतास्पदसहचरीत्वसिद्धौ तदमृतसलिलनिमज्जनक्रीडैव परमेष्टा अतः केलिश्रमनवर्तनार्थमेतदुक्तिः परममतास्नेहमयी कृष्णामृतमिति ।

यद्वा कृष्णरसावेशवैवश्येनेयमुक्तिः अन्तर्यत्प्रेमास्पदं तदेव वैवश्ये बहिः स्फुरेदिति व्यत्यस्तक्रममपि सारदा (शारदा) सख्यन्तर्वर्तिनी यथारसपोषार्थं मेलयत्येवेति ज्ञेयम् । प्रियपक्षेऽमृतमधरसुधासवास्वादं नित्यपरमाप्यायनजीवातूत्सवरूपममृतं विगाढुमिति प्रियेण सह करिकरिणीवद् विगाहनार्थं वा सखीयूथगताञ्जलिसेचनमज्जनतरणादिक्रीडार्थं च वृषभानुसुते इति बाल्यत एव स्वस्य तत्क्रीडानुगतिगतिरेव वक्ष्यति च—

रसकलश

वृषभानुजा हैं और यमुना भानुजा हैं, इस 'भानुजा' नाम के कारण उनके साथ प्रियाजी का सख्य है। प्रिया जी की सेवा करने के धर्म के अनुकूल उनके सुख में सुखी होने के कारण उनका प्रिया जी के प्रति दास्यभाव है। इस सख्य और दास्य के कारण प्रेमास्पद सहचरी का भाव सिद्ध होने पर उन (भानुजा) के अमृत जैसे जल में मज्जन-क्रीडा प्रिया जी को परम अभीष्ट है, अतः रात्रि की क्रीडाओं के श्रम का निवारण करने के लिये प्रिया जी ने परम ममता और स्नेहमयी वाणी में 'कृष्णामृतम्' इत्यादि कहा।

अथवा कृष्ण-प्रेम के आवेश की विवशता से 'कृष्णामृतम्' कहा गया है। क्योंकि जो प्रेमपात्र हृदय में होता है प्रेम की विवशता में वही बाहर भी स्फुरित होता है। इत्यादि प्रकारों से यदि कहीं कोई शब्द व्यत्यस्तक्रम (अस्त-व्यस्त क्रम वाला) भी हो जाता है सखियों के मध्य में रहने वाली सारदा (सारभूत वस्तु देने वाली अथवा शारदा) सखी उसे रस परिपोष के लिए मिला ही देती है, ऐसा समझना चाहिए। प्रिय के पक्ष में 'कृष्णामृतम्' में से 'अमृत' का अर्थ अधर सुधा के आसव का आस्वाद होगा, जो प्रिया जी के लिये नित्य परम तृप्तिदायक और संजीवन-प्रद है तथा उत्सव रूप है। उस 'अमृत में अवगाहन करने के लिए' इस कथन का यह तात्पर्य है कि जैसे करि-करिणी जल क्रीड़ा करते हैं वैसे ही सखियों के समूह में अञ्जलियों से जल सींचते हुए मज्जन करना, तैरना इत्यादि, जल क्रीड़ा के अर्थ में 'विगाहन' का प्रयोग है।

'वृषभानुसुते', हे वृषभानु नन्दिनी!—इत्यादि सम्बोधन बाल्यावस्था से ही श्रीहितसखी जी का उनकी क्रीड़ाओं में अनुगमन करने को प्रकट करता है। आगे कहेंगे भी—

कदा वा खेलन्तौ व्रजनगरवीथीषु हृदयं हरन्तौ श्रीराधाव्रजपतिकुमारौ सुकृतिनः ।
अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवौ प्रपश्यन् पूर्णः स्यां रहसि परिहासादिनिरतौ ।।
प्रीतिं कामपि नाममात्रजनितप्रोद्दामरोमोद्गमां राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्ज्वलाम् ।
वृन्दारण्यनवप्रसूननिचयानानीय कुञ्जान्तरे गूढं शैशवखेलनैर्बत कदा कार्यो विवाहोत्सवः ।।

इति च अतः स्वयं तल्लालनशीलाभिज्ञा श्रीमत्यपि कदाचिदप्यनुल्लङ्घितत्तद्वचनाऽत एव मिथो नर्मव्यवहारसिद्धिः ह इति कदेति सेव्यसेवकभावेन गौरवार्थं दत्ताधिकारेऽपि दास्याप्रमादार्थम् अन्तरङ्ग-त्वेऽपि नित्याभिलाषाविरतिदर्शनार्थं च परिहासस्तु दास्येऽपि सख्यपरमोत्तम-भूमिकारोहनिष्ठो हि ।

अथवा 'रसदकेलि' इत्यर्थान्तरम् इत्थं विहसनानन्तरं प्रतिज्ञातयमुनोद्देशतश्चलिता मार्गे केलिकदम्बाख्यवाटयां वा केल्यर्थक-कदम्बवाट्यां कृष्णेङ्गितमिलितालीकृतविविधप्रशंसाहेतुकनिरीक्षणकौतुक-

रसकलश

'वह कौन सा दिन होगा जब व्रज नगर की वीथियों में क्रीड़ा करते हुए और पुण्यात्माओं का हृदय हरते हुए श्रीराधा और नन्दनन्दन कुमारावस्था में ही अकस्मात् नवीन किशोरावस्था के रूप वैभव के प्रकट हो आने से एकान्त में परिहास-रास-विलास आदि में तत्पर होंगे और मैं उनका दर्शन करते हुए पूर्ण (कृतार्थ) होऊँगी।' ऐसे ही—

'विवाह के नाम-मात्र से जिन को अति उद्दाम रोमांच हो आया है ऐसी अनिर्व-चनीय और उज्ज्वल प्रीति को कुमारावस्था में ही सदा प्राप्त करते हुए श्रीराधा और माधव के विवाह का उत्सव गुप्त-रूप में शैशव की क्रीडाओं में ही वृन्दावन के नवीन पुष्प समूह को लाकर कुञ्ज-निकुञ्ज में मेरे द्वारा कब रचाया जायगा।'

इसलिये स्वयं श्रीहितसखी के लालन (लाड प्यार) के स्वभाव को जानने वाली श्रीराधा भी कभी भी उनकी बात का उल्लङ्घन नहीं करतीं। तभी तो आपस में परि-हास व्यवहार सिद्ध हो सका है। 'ह' (निश्चय) और 'कदा' (कब) यह दोनों शब्द सेव्यसेवक भाव से गौरव के लिये हैं और दिए हुए अधिकार में भी दासीभाव में कोई भूल न हो तथा अन्तरङ्ग होते हुए भी नित्य अभिलाषा की कभी विरति (समाप्ति) नहीं होती यह दिखाने के लिए है। परिहास तो दासीभाव में भी सख्यभाव की परमउत्तम भूमिका में आरोहण कर जाने पर ही निर्भर है।

अथवा 'रसप्रद क्रीडा' का यहाँ और अर्थ है, जब इस प्रकार परिहास हुआ और यमुना जी की ओर चलीं तो मार्ग में केलि-कदम्ब नाम की वाटिका में अथवा क्रीडार्थ कदम्ब वाटिका में श्रीकृष्ण के संकेत से आई हुई सखी के द्वारा की गई अनेक प्रकार की प्रशंसाओं के कारण उस (वाटिका को) देखने के कौतूहल से उसमें प्रविष्ट हुईं, वहाँ

प्रविष्टा तत्रागतिं प्रतीक्षमाणेन प्रियेण सह रसदसङ्गमोऽकस्माज्जातस्तदा हितसखी प्रार्थयतीत्येतादृशदम्पतिविलासावलोकनानन्दं मानं कदा प्राप्स्ये । यद्वा तत्र अकस्मात्प्रिये मिलिते भुजापीडं परिरभ्यमाणे च सति साटोपं च हसति सचकितहसितया प्रियया तदानीं प्रणयकोपेनोक्तं साधुसाधु सखि सङ्गिनीपरिपन्थिन्यसि प्रियतमेङ्गितमिलितासि किलवप्रशंसितवञ्चकत्व-प्राप्तोत्कर्षासीत्येवम्भूतं केलिकदम्बजातं सख्यरसात्मकं मानं वा तत्रत्यकदम्ब-पुष्पेण पतितेन वाऽवचितेन ताडनात्मकं पूर्ववत्कमलताडनवन्मानं पूजनं ममत्वे-तदेव परमपूजनं वा प्रियेण निजाभिमतपूरणहेतुकप्रशंसनं प्रसादानतदृष्टि-सूचितं त्वत्सहायप्राप्तैतादृशानन्दोऽहमिति मानम् ।

अथवा इत्थं यदा मया हसितं तदा श्लेषार्थेन रात्रिगतसर्वरसदकेलिः स्फुरिता तदा परमरसमूर्तौ रोमाञ्चितान्यञ्चितानि यथा कदम्बपुष्पेषु सूत्रसूत्रकेसराः कण्टकिता इव दृश्यमाना भवन्तीति रोमाञ्चोपमा कदम्बपुष्पे यत्र तत्र काव्ये प्रसिद्धा यथाह शतके—

वाचैवाद्भुतदम्पती नवनवाभङ्गकरङ्गाकुली
गौरश्यामलदिव्यमोहनतनू कैशोर एव स्थितौ ।

रसकलश

उनके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे प्रिय से उनका रसप्रद समागम अकस्मात् ही हो गया, तब हितसखी जी प्रार्थना करती हैं कि इस प्रकार के दम्पति के विलासदर्शन का आनन्दरूपी सन्मान मैं कब प्राप्त करूँगी । अथवा वहाँ अकस्मात् प्रिय के मिल जाने पर, भुजयुगल में लेकर आलिंगन करने पर और खिलखिला कर हँसने पर आश्चर्य सहित हँस उठी प्रिया ने तब प्रणय कोप से कहा—अच्छा, अच्छा सखी, तू अपनी संगिनी सहेली की विरोधिनी है । प्रियतम के संकेत पर ही तू आ मिली है और छल से प्रशंसा करके वञ्चना करने में तूने उत्कर्ष (विशेष कुशलता) प्राप्त की है, इस प्रकार का 'केलि कदम्ब' में हुआ सख्यरसरूप मान मैं कब प्राप्त करूँगी, वहाँ के भूमि पर पड़े कदम्ब पुष्प से अथवा चुने गये कदम्ब पुष्प से ताडना किये जाने का मान मैं कब प्राप्त करूँगी । अथवा प्रिय के द्वारा अपने अभीष्ट की पूर्ति के कारण की गई प्रशंसा के मान को, अथवा जब मैंने इस प्रकार परिहास किया तब श्लेष द्वारा प्रतीत दूसरे अर्थ से रात्रि की सम्पूर्ण रसप्रद क्रीडा स्फुरित हो उठी, याद आने लगी, तब प्रेमरस मूर्ति श्रीविग्रह में रोमाञ्च हो आया जैसे कदम्ब पुष्पों में सूत्र और सूत्रकेसर कण्टकित से (ऊपर उठे से) दिखाई देते हैं इस प्रकार रोमाञ्च की उपमा कदम्ब पुष्प से जहाँ तहाँ काव्यों में देखी जाती है। जैसा कि श्रीवृन्दावनशतक में—

'वाणी (श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की श्रीराधारससुधानिधिस्तवरूपी वाग्वि-भूति) द्वारा ही (मैं दम्पति का) स्मरण करता हूँ जो नवीन नवीन काम के अद्वितीय रंग से आकुल हैं, गौर और श्यामल, दिव्य और मोहन श्रीविग्रह वाले हैं, नित्य किशोर

श्रीवृन्दावनमण्डलेऽतिनिभृतं श्रीकुञ्जपुञ्जे मुहुः
प्रेमौत्कण्ठ्यभरात्स्मरामि पुलकोद्भेदैः कदम्बायितौ ।।

अत उच्यते रसदकेलिहेतुककदम्बो रोमाञ्चितं तज्जातं पुष्पं वा रोमाञ्चं रोमाञ्चवद्भासमानत्वेन सखीभिः संकेतितं वा तेषां जातं समूहमपि तदेवार्थकं मानमिति रसोद्दीपकयाथार्थ्यप्राप्तस्ववचनोत्कर्षं साध्वी मदुक्तिचातुरी सिद्धेत्येवं हर्षं कदा प्राप्स्ये यथा बाणोत्कर्षो लक्ष्यवेधस्तथा यादृशरसोक्तिस्तादृशरतिहासदयाश्रुरोमाञ्चादिसात्त्विकभावोद्गम एव वाक्योत्कर्ष इति अथवा मानं मनसि प्रसद्य तद्रोमाञ्चगोपनच्छलेन सख्यकौतुकेन परिष्वङ्गात्मकं मानमिति प्रीता परिष्वजतु मां वृषभानुपुत्रीत्युक्तमेव ।

विहस्य तत्रैव स्थितिपक्षे तदनन्तरं प्रियतमागममाह, यद्वा केलिकदम्बादागत्य यमुनास्नानानन्तरं प्रियस्तत्रैव कूलेऽन्यविलासकुञ्जद्वार आकारणाभिलाषुकः स्थितो गौरवात्कथयितुमशक्तस्तदिङ्गितं ज्ञात्वा सैवाभ्यागच्छत्कृपयेत्याह—

रसकलश

अवस्था में स्थित हैं। श्रीवृन्दावन मण्डल में अत्यन्त एकान्त श्रीकुञ्जपुञ्ज में अतीव प्रेम और उत्कण्ठा के अतिशय से रोमाञ्चों द्वारा कदम्ब पुष्प से बने हुए हैं।'

अतएव कहा जाता है कि 'रसप्रद क्रीडा निमित्तक कदम्ब' का अर्थ रोमाञ्चित हुआ कदम्ब का पुष्प है अथवा रोमाञ्च ही है। रोमाञ्च जैसा प्रतीत होने के कारण सखियों ने रोमाञ्च का संकेत वाचक शब्द कदम्ब को बना रखा है, रोमाञ्च समूह भी कदम्ब का अर्थ हो सकता है। यहाँ मान से 'रस को उद्दीपित करके यथार्थता को प्राप्त हो गये अपने वचनों का उत्कर्ष' विवक्षित है। 'मेरी उक्तिचतुरता अच्छी रही जो सिद्ध हो गई' इस प्रकार का हर्ष कब प्राप्त करूँगी। जैसे लक्ष्य का वेधन करना ही बाणविद्या का उत्कर्ष होता है वैसे ही जैसी रसोक्ति की जाय वैसे रति, हास, दया से जनित अश्रु-रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों का उदय हो जाय तो वह वाक्य या उक्ति का उत्कर्ष समझना चाहिये। अथवा 'मान' का अर्थ यह है कि मेरी इस सेवा से मन में प्रसन्न होकर प्रिया जी जो रोमाञ्च गोपन के लिये सख्यभाव के कुतूहल से मुझे आलिङ्गन करेंगी वह मान मैं कब प्राप्त करूँगी, कहा ही है कि—'प्रसन्न हुई श्रीवृषभानुनन्दिनी मुझ दासी को आलिङ्गन दें।'

परिहास करके प्रिया जी वहीं रहीं, तब वहाँ प्रियतम के आ पहुँचने का वर्णन करते हैं, अथवा 'केलिकदम्ब' से आकर यमुना स्नान किया, प्रियतम वहीं यमुना तट पर किसी अन्य विलास कुञ्ज के द्वार पर प्रिया जी को बुलाने के इच्छुक होकर खड़े थे किन्तु प्रिया जी के गौरव (गरिमा) के कारण उन्हें बुला नहीं पा रहे थे तब उन (प्रियतम) का संकेत जानकर श्रीप्रिया जी ही कृपावश प्रियतम के पास आ गईं इसका वर्णन करते हैं—

पादाङ्गुलीनिहितदृष्टिमपत्रपिष्णुं
दूरादुदीक्ष्य रसिकेन्द्रमुखेन्दुबिम्बम् ।
वीक्षे चलत्पदगतिं चरिताभिरामां
झङ्कारनूपुरवतीं बत कर्हि राधाम् ॥१५॥

इति खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बतेत्यमरः, बतेत्यनुकम्पाशंसने पादेत्यादिविशिष्टरसिकेन्द्रमुखेन्दुबिम्बं दूरादुदीक्ष्य चलदित्यादिविशिष्टां राधां कर्हि वीक्षेऽहमित्यन्वयः ।

स्वपादाङ्गुलीनिहितदृष्टिमिति लज्जानुभावः । लज्जा सापत्रपान्यतः अपत्रपिष्णुं इति 'कदम्बवाट्या' मचिरमेवाधुना विलासो वृत्तः कथं पुनरद्य वासन्तोषं व्यनज्मीत्याशयेन वाम्यभियाऽभिलाषाऽश्ववल्गनाकर्षादिव नतदृष्टिं प्रियातो लज्जाशीलम्, अतएव रसिकेन्द्रपदप्राप्तिरस्य स्वनायकोत्कर्ष-त्यागपूर्वकसेवनोत्तमधर्मानुगतित्वं तदिन्द्रत्वं तस्मिन्नेव बुद्धिपूर्वकस्वोत्कर्ष-

रसकलश

'चरणों की अंगुलियों पर दृष्टि लगाये हुए, सलज्ज, रसिक शिरोमणि श्रीलाल जी के मुख चन्द्रमण्डल को दूर से देखकर चञ्चलपद गतिवाली, चरित (प्रीति प्रधान चरित्र और कृपा भाव से चलित-चलने) से रमणीया, झंकारते हुए नूपुरों वाली श्रीराधा जी को भला मैं कब देखूँगी ।'

खेद, दया, सन्तोष, विस्मय और आमन्त्रण इन अर्थों में बत शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा अमरकोष में कहा है । यहाँ पर 'बत' का प्रयोग अनुकम्पा या दया का भाव सूचित करने के लिये है । 'पादांगुलीनिहितदृष्टि' और 'अपत्रपिष्णु' यह दोनों रसिकशिरोमणि के मुखरूपी चन्द्रमण्डल के विशेषण हैं, ऐसे मुखचन्द्रमण्डल को दूर से देखकर 'चलत्पदगति', 'चरिताभिराम' 'झंकारनूपुरवती' (श्रीराधा जी के विशेषण हैं ऐसी) श्रीराधा जी को मैं कब देखूँगी यह वाक्य का अन्वय है ।

'अपने चरणों की अंगुलियों पर दृष्टि लगा रखी है' यह लज्जा का कार्य है । अपत्रपा और दूसरे से लज्जा दोनों शब्द समानार्थक हैं । कदम्बवाटी में अभी-अभी कुछ देर पहिले विलास हुआ है । फिर अभी से कैसे असन्तोष प्रकट करूँ इस अभिप्राय से, और प्रिया जी की रतिवामता (सहज बाह्यप्रतिकूलता) के भय से, अभिलाषारूपी अश्व की लगाम खींचने के कारण झुकी हुई दृष्टि वाले, प्रिया जी से लज्जा-शील (शरमा रहे) अतएव इनको 'रसिक शिरोमणि' पद की प्राप्ति हुई है, क्योंकि

मननमिति तेन प्रसरत्कीर्त्यैवाल्हादकचन्द्रिकास्वैरजातमण्डलम् एतादृशम-मतास्पदशोभाप्रसादकसौशील्यगाम्भीर्याद्यनुकम्पनीयतोद्दीपकं मुखचन्द्रं दूरा-द्यावदनुभावदर्शनं तावद्व्यवहितप्रदेशादुदीक्ष्य समीक्ष्य किमिदमद्यैव चको-रायमाणैकाग्रदर्शनप्रवणनयनयोर्नमनमिति चतुरचूडामणित्वात्तद्गतलाल-सावैदग्धीं ज्ञात्वापि स्फुटं तु किमशक्यविचारपरोऽसि प्राणाधिकसर्वस्वं कथय गोप्यहार्द्दमप्यगोपनीयं निजजन इति खेदानुकम्पासंतोषदानविस्मया-मन्त्रणसाङ्कर्येण चलत्पदगतिं तद्बहुविधिप्रशंसितप्रार्थितचरहंसगजादिगञ्ज-नगत्या तदभिलषितवरदानार्थमिव पदा चलन्तीं तत्रापि चरितैर्लाडला-त्वसलावण्यवलितभुजकराञ्चलसमीकरणवक्षोऽनिर्वचनीयशोभादर्शननासा-मुक्ताकुण्डलग्रैवेयां मदचलनभ्रून्नयनसस्मितस्मयभङ्गीपूर्वकादि सहृदयगम्यै-

रसकलश

अपने नायकपन के उत्कर्ष को त्याग कर सेवा करने के उत्तम धर्म के अनुगामी होना, तथा ऐसे सेवाधर्मानुगामियों में इन्द्र या मुख्य होना, और इसी में अपना उत्कर्ष मानना तथा इससे फैलती हुई कीर्तिरूपी आनन्दप्रद चन्द्रिका (चाँदनी) से आवेष्टित मण्डल वाला-सा होकर इस प्रकार की ममता की पात्र, शोभा की प्रसादक सुशीलता और गम्भीरता आदि से अनुकम्पनीयता (कृपापात्रता) के उद्दीपक मुखचन्द्र को दूर से इतनी दूर से कि जिस में मुखचन्द्र के अनुभावों का दर्शन भी हो सके उतने व्यवहित प्रदेश से भली भाँति देखकर (ऊर्ध्व दृष्टि से देखकर क्योंकि लालजी प्रिया जी से सहज ऊँचे है) 'अहो यह क्या बात है कि आज ये चकोरायमाण (चकोर के समान) एकाग्रभाव से दर्शन करने में तत्पर रहने वाले नयन झुक रहे हैं। इस जिज्ञासा के साथ स्वयं चतुर चूडामणि होने के कारण श्री प्रिया जी प्रियतम के हृदय में स्थित लालसा की विदग्धता (निपुणता) को जानकर भी—प्रकट में किसी असम्भव वस्तु के विचार में पड़े हों, प्राणों से भी अधिक प्रिय सर्वस्व जैसे छिपाने योग्य अपने मनोरथ को कह दो, अपने जनों के आगे कोई बात छिपाने योग्य नहीं होती'—इस प्रकार से खेद, दया, सन्तोष, दान-विस्मय और आमन्त्रण का सांकर्य हो जाने से चञ्चल चरणों से गतिवाली, अर्थात् पहले अनेक प्रकार से प्रशंसित और प्रार्थित हंस, गज आदि को लज्जित करने वाली गति से प्रियतम को मनचाहा वरदान देने के लिये ही मानों श्रीचरणों से चलती हुई, उस पर भी अपने लाडलेपन के कारण विशेष शोभा लावण्य के साथ भुजाओं और कर-कमलों को घुमाकर, वस्त्रांचल को बराबर करके वक्षःस्थल की अनिर्वचनीय शोभा के दर्शन, नासिका की मुक्ता, कानों के कुण्डल, कण्ठ के ग्रैवेयक से युक्त (श्रीराधा की) मदमत्त चाल, भृकुटि के उन्नयन (तनाव) मुसकान सहित गर्वपूर्ण चेष्टा आदि जितनी वस्तुएँ और

र्दृष्टसशिरोधूननसपुलककम्पविस्मयश्लाघापादननिदानैरभिरामां प्रियसम्मुख-क्रीडाकौतुकागमनां सर्वतो मनोहरां झङ्कारमधुररवविशिष्टश्रेष्ठनूपुरां राधां प्रिय-परमानन्दसिद्धिरूपाम् अयाचितभजनोत्तरफलरूपामिव कर्हि भाग्योदये दौर्लभ्ये कदा वीक्षे चरितदर्शनानन्दस्थगितनिर्निमेषदृष्टया कदा पश्यामीत्यर्थः ।

अथवा प्रियां पादाङ्गुलीनिहितदृष्टिं पूर्वं नागरवरेण परिरम्भरसोत्सवे प्रार्थिततया नहि नहीत्युक्तं तद्भियाऽवचनेनैव प्रार्थितम् किञ्चेयं याचकरीतिर्दैन्यमेव दातृमनो द्रावयति । मम चरणावेव शरणमेतत्कृपयैव सर्वं सेत्स्यतीति द्योतकं पाददृष्टित्वं मुखदर्शने लज्जितं वा अपेति गतलज्जं स्वाभिलाषभावनाकृतिपरम्पराजातवैवश्येन सखीजनपरिहासविस्मृतिः. ईदृङ् मुखेन्दुं दृष्ट्वा चलदिति वाम्यकौतुकेन पादहत्यनुभावेन ज्ञातपादस्पर्शतदभिलाषस्य प्रत्याख्यानमिव कृतम् इति ।

रसकलश

क्रियाएँ सहृदयों को यहाँ प्रतीत होती हैं उन सबसे–जो कि देखने वाले सखीजन द्वारा सिर हिलाने, रोमाञ्च, कम्प प्राप्त करने, विस्मय तथा प्रशंसा करने का कारण हैं–अभिराम (अति सुन्दर) बनी हुई, प्रिय के सम्मुख क्रीडा कौतुक से आ गईं, सब प्रकार से मनोहारिणी, झंकारते हुए मधुर शिञ्जन से युक्त श्रेष्ठ नूपुरों वाली श्रीराधा को—जो प्रियतम के लिये परमानन्द सिद्धिरूपा हैं—बिना माँगे ही भजन के बाद प्राप्त हो जाने वाले फल के स्वरूप में विराजमान सी हैं, उनको-दुर्लभ होने के कारण-कब भाग्योदय होने पर देखूँगी अर्थात् उनके चरितदर्शन से प्राप्त आनन्द के कारण स्थगित हो गई अतएव निर्निमेष (बेपलक) दृष्टि से कब दर्शन करूँगी।

अथवा यहाँ प्रिया जी अपने चरणों की अंगुलियों पर दृष्टि लगाये हुई हैं। पहिले नागरवर (श्री श्यामसुन्दर) ने परिरम्भरसोत्सव (आलिङ्गन के आनन्द का एक क्षण) माँगा था। तब प्रिया जी ने 'नहीं नहीं' कहकर उसका प्रत्याख्यान (अस्वीकार) कर दिया था। उसी भय से आज प्रियतम ने बिना बोले ही उस उत्सव की पुनः माँग की, क्योंकि माँगने का यही सही तरीका है, प्रत्याशी की दीनता ही दाता के मन को द्रवित कर देती है। 'मेरे चरण ही शरण हैं, इनकी कृपा से ही सब मनोरथ सिद्ध होंगे, इस भाव को सूचित करने वाला यह प्रिया जी का चरणों पर दृष्टि लगाना है, अथवा प्रियतम प्रिया जी के मुखदर्शन से लज्जित होकर चरणों पर दृष्टि लगाये हुए हैं, अथवा अपत्रप का अर्थ लज्जा दूर करके अपनी अभिलाषा और भावना तथा प्रियतम की दैन्य भरी आकृतिपरम्परा से जाग उठी विवशता से प्रियाजी सखीजन के परिहास को भी भूल गईं और प्रियतम के वैसे मुखचन्द्र को देखकर चलत्पदगति अर्थात् स्वभाव से ही रति में वामता या प्रतिकूलता के कौतुक से पादाघात के अनुभाव से, पादस्पर्श के द्वारा जानी गई प्रियतम की अभिलाषा का प्रत्याख्यान किया यह भी तात्पर्य हो सकता है।

आहोस्वित्प्रमत्तदुर्घटदास्याधिकारचिकीर्षोः सखीसमक्षमेवं गतलज्जतया स्थितिरित्यस्थाने इति भावः। अतएव झङ्कारनूपुरवतीं तदानीं यद्भङ्ग्या झङ्कारः स सहृदयैकगम्य एव किं च चरितैः सस्मितभ्रू-भङ्गपादचलनक्रियावैदग्ध्यरूपैरभितो मनो हरन्तीम् पादाङ्गुलीति पादगौरवेण स्वदैन्याधिकारम्मन्यतया अर्वागेवाङ्गुलीषु निहिता दृष्टिर्येन दूरादिति नैकट्ये तु नैवमभिलाषव्यञ्जने शक्तिर्न च मुखचन्द्रावलोका-न्तरायं सोढुं शक्त इत्यतः किंचिद् दूरत एव स्वलालसाव्यञ्जनं कृतं पुनरपि पादचालनेऽपि तदेव बहुकृपां मन्यमानं तत्रैव निहितदृष्टिं वीक्ष्य तदनन्तर-मासक्तानुग्रहणोयशीलविवशा स्वयं ललितगत्या प्रियाभिमुखमाजगामेत्य-वगन्तव्यमिति भावः।

दयातः स्वयमागमनानन्तरं विलासस्तत्कुञ्जोदर एव वृत्त इत्याह—

रसकलश

अथवा प्रमादी जनों के लिये दुर्लभ दासीत्व के अधिकार के अनुरूप कार्य करने के लिये उत्सुक श्री श्यामसुन्दर की सखीजनों के समक्ष ऐसी लज्जाहीन सी स्थिति है, यह अनुचित है यह भी भाव हो सकता है। अतएव प्रिया जी को झंकारते हुए नूपुरों वाली कहा गया है, जिस चेष्टा में यह नूपुर झंकार हुई उसे केवल सहृदय ही जान सकते हैं—और भी एक बात है कि मुस्कान के साथ भृकुटि को बाँका करना, चरणों का चलना आदि क्रिया की निपुणता से जो मन को हर रही हैं ऐसी श्री राधा जी को मैं कब देखूँगी। पादाङ्गुलीनिहितदृष्टि से तात्पर्य है कि प्रिया जी के चरणों के प्रति गौरव (आदरभाव) से और अपने आप में दीनता का अधिकार मानने के कारण श्रीचरणों की अंगुलियों के समीप ही जिन्होंने दृष्टि लगाई है ऐसे श्यामसुन्दर। 'दूर से' कहने का अर्थ है कि समीप में ऐसी अभिलाषा व्यक्त करने की प्रिय की शक्ति नहीं है, प्रिया जी के मुखचन्द्र के दर्शन में किसी प्रकार के विघ्न को सहन करने में भी वे असमर्थ हैं। इसलिये उन्होंने कुछ दूर से ही अपनी अभिलाषा को व्यक्त या प्रकट किया। इस पर प्रिया जी ने श्रीचरण हिलाये, उनके श्रीचरण हिलाने को भी बड़ी कृपा मानते हुए उन पर ही दृष्टि लगा लेते हैं, प्रियतम की यह दशा देखकर उन (आसक्त श्री श्यामसुन्दर) पर अनुग्रह करने के स्वभाव से परवश हुई प्रिया जी स्वयं रमणीय गति से प्रिय की ओर आईं, ऐसा समझना चाहिये।

दया से स्वयम् आगमन के अनन्तर जो विलास उसी कुञ्ज में हुआ। उसका वर्णन करते हैं—

उज्जागरं रसिकनागरसङ्गरङ्गैः
कुञ्जोदरे कृतवती नु मुदा रजन्याम् ।
सुस्नापिता हि मधुनैव सुभोजिता त्वं
राधे कदा स्वपिषि मत्करलालिताङ्घ्रिः ।।१६।।

इति । नु इति पृच्छायां समक्षं वा भावनायाम्, हे राधे इत्यभिमुखीकृत्य परमाराध्याराधनीये बाल्यत एवोरीकृतमत्कृतप्रणयोपलालनसेवासातत्ये-नु इति विकल्पे चेत् अन्यदा त्वन्यरीत्या एकदा तु एवं मत्करलालिताङ्घ्रिः कदा स्वपिषि त्वमित्यन्तरङ्गे मर्मनर्मवात्सल्यसख्यपारस्पर्यध्वनितं तदेवाभेदं विवृणोति रसिकेति रसिको रसवेत्ता रसग्राही तद्विवेचने भोजने स्वादे च निपुणः । रसोऽत्र रसात्मकासज्यप्रियानिष्ठः स्वस्य तद्रूपत्वेपि तत्सेवकभावनिष्ठता तदास्वादानन्दानन्दित इत्यर्थः ।

रसकलश

'हे श्रीराधे ! ऐसा लगता है, जैसे कुन्ज के मध्य में रसिक नागर (श्री श्याम सुन्दर) के संग रंगों (रति रंगों) में आनन्द से रात्रि भर जागरण करती रही हो । अब मैंने तुम्हें भली भाँति स्नान करा दिया है और मधु द्वारा अच्छी तरह भोजन भी करा दिया है । अब मेरे हाथों द्वारा जिनके चरण कमल संवाहित (चाँपे गये) हों, ऐसी तुम कब शयन करोगी ?'

इस श्लोक में 'नु' शब्द प्रश्नवाचक है या प्रत्यक्ष भावना में है । हे श्रीराधे ! इस सम्बोधन द्वारा उन्हें अपने सम्मुख करके अर्थात् यह कहकर कि हे परम आराध्य (श्रीलाल जी) की भी आराधनीय, बचपन से ही तुमने मेरे द्वारा किये गए प्रेमपूर्वक लालन-पालन और सेवासातत्य (सेवा की निरन्तरता) को स्वीकार किया है । 'नु' यह विकल्प में है । और अवसरों में तो और प्रकार की सेवा स्वीकार की हैं । किन्तु एक बार ऐसा कब होगा कि इस प्रकार मेरे हाथों द्वारा संवाहित (चाँपे गए) चरणों वाली तुम शयन करोगी । इस प्रकार अन्तरङ्ग परिहास वचन और रहस्य, वात्सल्य और सख्य, की परम्परा ध्वनित होती है । उसी अन्तरंगपने या अभेदभाव को प्रकट करती हैं । रसिक अर्थात् रसज्ञ या रसग्राही, जो रस के विवेचन और आस्वादन में निपुण है । यहाँ रस या रसात्मिका, आसज्य (प्रीति विषय) रूपा प्रिया में रहने वाला है । यद्यपि रसिक (श्याम) रस रूप ही हैं तथापि उनमें सेवक भावनिष्ठता पाई जाती है, अर्थात् वह भी रस के आस्वादानन्द से ही आनन्दित हैं ।

नागरेति येन येन यो यो रसो नवनवास्वाददायी समुल्लसेत्तत्तदुपायचतुरः सत्यसङ्कल्पः संकल्पजलीलाकल्पः कलाकुशलस्तस्य सङ्गे ये रङ्गास्तैर्जलमपि पवनसङ्गादुत्तरङ्गं भवति यथा चैको रसो नानारसक्रियासङ्गेन रसान्तरास्वादं जनयेदिति, यथा चाम्लादिना हरिद्रारुण्यमेवं निर्देशेन तादृशप्रियायास्तादृशप्रियसङ्गे ये विशिष्यानिर्वचनीया रङ्गा रागा यैश्चित्तवृत्तीनां रञ्जनं रसमयत्वेपि रागान्तरजननात्तन्मयतापादनं पुनरपि तद्रागे सत्यप्यन्यरागानुरञ्जनं श्यामे पीतं तस्मिन्नारुण्यं तस्मिन्किञ्चिदन्यदिति रतिहर्षप्रमोदहासकरुणावीराद्भुतभयकौतुकवीरायितस्वभावविनिमयादिभिः सहृदयगम्यै रङ्गैः, अत एव रजन्यामित्यनुरागवत्यां रङ्गरजन्याख्यायां मुकुरवत्तत्कालेऽपि दम्पतिसङ्गरङ्गभानं सङ्क्रमितं कुञ्जस्योदरे निःप्रत्यूहद्योतनं वा बाह्यभागापेक्षयाभ्यन्तरस्य सौकुमार्यशोभावर्णवैचित्र्यभूमिरचनासौष्ठवं सूचितं ।

उज्जागरमिति-जागरे तु जागर्म्यहं, बहुरात्रिर्गतेति भानसाहित्यम्, उदिति को जागर्ति कः स्वपिति कियान्काल इति भानाभावेन

रसकलश

'नागर' का यह भाव है कि जिस-जिस प्रकार से जो जो रस नवीन से नवीन आस्वाद देने वाला उल्लसित होता है उस-उस प्रकार का उपाय करने में चतुर हैं, सत्य संकल्प हैं, उनके संकल्प से ही लीला योग्य नेपथ्य (वेष) उत्पन्न हो जाता है, कलाओं में कुशल हैं। उनके संग में श्री प्रिया जी विलक्षण रस का आस्वाद प्रकट करेंगा जैसे अम्ल (खट्टे) पदार्थ के संयोग से हल्दी का रंग लाल हो जाता है, इसी प्रकार उस प्रकार की प्रिया जी के उस प्रकार के प्रियतम के संग में जो विशेष रूप से अनिवचनीय रंग या राग हैं, जिनसे चित्त वृत्तियों का रंजन होता है। रसमय होने पर भी अन्यान्य रागों को उत्पन्न करने के कारण तन्मय कर देने वाले हैं, फिर भी उस राग के रहते हुए भी अन्य राग से अनुरञ्जन होता है। श्याम से पीत मिलने पर लाल, उसमें श्याम मिलने पर कुछ और (नीला), इसी प्रकार रति, हर्ष, प्रमोद, हास, करुणा, वीर, अद्भुत, भय, कौतुक, वीरायित, (विपरीत-रति) और स्वभावविनिमय आदि सहृदयों को प्रतीति का विषय होने वाले रंगों से भी होता है। इसीलिये रजनी(रात्रि) में, रजनी का अर्थ भी रंगों वाली या अनुरागवती होता है, इस रजनी का तो नाम ही रंग रजनी है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे ही रजनीकाल में प्रिया प्रियातम के संग से जनित रंगों की प्रतीति संक्रान्त होती है।' कुञ्ज के उदर (मध्य) में' कहने से निर्विघ्नता द्योतित होती है, यहाँ बाहरी भाग की अपेक्षा भीतरी भाग की सुकुमारता, शोभा, वर्णों की विचित्रता और भूमि की रचना में सुन्दरता सूचित होती है।

'उज्जागर' या उज्जागरण का यह भाव है कि जागरण में तो जागने वाले को ध्यान रहता है कि मैं जाग रहा हूँ बहुत रात बीत गई है, किन्तु उज्जागरण में कौन जाग रहा है, कौन सो रहा है, कितना समय बीत गया है इत्यादि प्रतीति का अभाव

रसानन्दतन्मयतया परमहर्षेण विविधविलासैरपर्याप्तैर्दिनमेवोदितमित्यर्थः । कालस्याप्यत्र सेवानुकूलता ज्ञेया, लोकवल्लीलत्वान्माधुर्येण सौकुमार्य-पोषार्थं लीलान्तरोद्दीपनार्थं च नागरसङ्गेति ।

सुकुमार्यतदर्हापि तत्सङ्गादेवं श्रान्तेति वक्तुर्हृदि वात्सल्यसंवलित-सख्यनिष्ठा मुदेति कृतवतीत्यत्र उज्जागरे स्वस्यापि परमानन्दास्वादप्राप्त-फलत्वात्कर्तृत्वं तदनन्तरं सुस्नापिता शयनोत्थापनवसनालङ्कारसमीकरण-मङ्गलनीराजनमञ्जनाद्यनुक्तमपि ज्ञेयं प्रियस्यान्यसहचरीकृतसेवनं च ध्वनितं स्वस्य प्रियाचरणानुचरणैकप्रधानत्वं प्रतिपद्येषु व्यक्तमुक्तमेवेति ज्ञेयम् ।

हि एव निश्चयेन मयैव स्वहस्ताभ्यां सुष्ठुतया कस्तूरीकुङ्कुमश्रीखण्ड-

रसकलश

होने से रसानन्द में तन्मयता के कारण परम हर्ष से अनेक प्रकार के विलास भी पर्याप्त न लगे और उन्हीं में दिन निकल आया । काल को भी यहाँ सेवा के अनुकूल चलना पड़ता है ऐसा जानना चाहिये । लीला तो लोकवत् ही होती है । अतः माधुर्य द्वारा सौकुमार्य की पुष्टि करने के लिये और अन्य लीला का उद्दीपन करने के लिये यहाँ 'नागर-सङ्ग' की चर्चा की गई है ।

श्री प्रिया जी सुकुमारी हैं, जागरण करने योग्य नहीं हैं इतना श्रम सहने योग्य भी नहीं है तथापि प्रियतम के संग से ऐसी श्रान्त हो गई हैं। यह कथन वक्ता के हृदय में वात्सल्य भाव से युक्त सख्य भाव की निष्ठा को प्रकट करता है। 'मुदा' या आनन्द से उज्जागरण किया । इस वाक्य में उज्जागर में अपना कर्तृत्व (कर्तापन) भी परमानन्द-मय आस्वाद का फल प्राप्त करने से सूचित किया गया है । इसके बाद 'सुस्नापिता' भली भाँति स्नान कराया गया है इस कथन से शयन, उत्थापन, वस्त्र और अलंकारों का समीकरण (ठीक किया जाना) मंगला आरती, मंजन इत्यादि जो सेवाएँ नहीं कही गई हैं वे भी जान लेनी चाहियें । जैसे प्रिया जी की ये सब सेवाएँ स्वयं (श्रीहित सखी जी ने) कीं ऐसे ही किसी अन्य सखी द्वारा श्री श्यामसुन्दर की भी सब सेवाओं का किया जाना भी सूचित होता है तथा ऐसा प्रतिपादन करके अपनी-श्रीप्रिया जी के चरणों का अनुसरण करने की--प्रधानता प्रत्येक पद्य में स्पष्ट रूप से कह ही दी है ।

'हि' शब्द निश्चय अर्थ में है । मैंने ही अपने ही हाथों से भली भाँति कस्तूरी, कुङ्कुम, श्रीखण्ड (चन्दन) कपूर, इत्र फुलेल आदि अनेक सुगन्धित, चिक्कण, निर्मलता-

घनसारसुकुसुमसारादिबहुसुगन्धमसृणनैर्मल्यप्रभाकारकमञ्जनद्रव्यैर्मञ्जनीकृता तदनन्तरमानन्दद्रवरूपेण कृष्णातोयेन स्नापिता ततो यथासमयर्तु वसनकुसुम-भूषणाङ्गरागैर्मण्डितेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । मधुना मधुररसप्रधानेन तत्प्रचुरेण भोजनेन वा मकरन्दार्थत्वादायतौ तद्भोग्यरसस्याहेयांशता दर्शिता मधुर-रससारेण परमोत्तमेनेत्यर्थः । किञ्च तत्र वृक्षाः सर्वे यथेष्टपूरकास्तत्फल-पुष्पाणि च तन्मधुद्रवश्च परमाधिदैविकामृतमयान्येवेति नाश्चर्यं, यद्वा तच्छ्रम-निवृत्तिहेतुकामृतासवेनैव नान्येनेत्यर्थः । सुष्ठुतया भोग्यमधुवस्तुनः प्रशंसया भूयः परिवेषणपूर्वकं रुच्युत्पादनेन मयैव भोजिता, अत्र हि एवेत्वनयोः सम्बन्धः स्नानभोजनप्रयोजकास्मच्छब्देनैव ज्ञेयः स्वस्यैव तत्र क्रियायां पार्श्ववर्तिता-पेक्षिता । मयैव सुस्नापिता मयैव सुभोजितेत्यर्थः । तदनन्तरमाचमनताम्बूलनी-राजनाद्यनुक्तमपि सहृदयगम्यमेव । सुस्पर्शसुपेशलशयने स्वापिता मया कराभ्यां लालितेति पादसंवाहनेऽपि पादाङ्गुलीनखतलपार्ष्णितत्तत्समयोद्भवकुसुम-

रसकलश

कारक, प्रभाकारक मंजन द्रव्यों से जिनको मंजन कराया है। तदनन्तर आनन्द-द्रव रूप कृष्णा (श्री यमुना) जी के जल से स्नान कराया गया है और उसके बाद समय और ऋतु के अनुसार वस्त्र, पुष्प, भूषण, अंगराग से जिनको मण्डन (शृङ्गार) कराया गया है, यह न कही गई बात भी यहाँ समझ लेनी चाहिये । मधु से अर्थात् मधुरस जिसमें प्रधान है अथवा मधु (शहद) की जिसमें प्रचुरता है ऐसे भोज्य पदार्थों से जिन्हें भोजन करा दिया गया है अथवा मधु शब्द का अर्थ मकरन्द होने के कारण उत्तर काल में उनके भोग्य रस की अहेयांशता दिखाई गई है अथवा मधु का अर्थ है मधुर रस के सार परम उत्तम भोज्य पदार्थ । एक और बात भो है कि श्रीवृन्दावन के सभी वृक्ष मनोवाञ्छित फल के पूरक हैं उनके फल, पुष्प और मधु द्रव भी परम आधिदैविक अमृतमय हैं, अतः कोई आश्चर्य नहीं है । अथवा 'मधु से' का अर्थ श्रम की निवृत्ति का कारणभूत अमृत-मय आसव से समझना चाहिये । भली भाँति भोजन करने से तात्पर्य है कि जो भोग्य मधुर वस्तु है उसकी प्रशंसा कर करके बार-बार परोसते हुए रुचि उत्पन्न करके मैंने ही जिन्हें भोजन कराया है, यहाँ पर 'हि' और 'एव' इन दोनों निश्चयार्थक अवयवों का सम्बन्ध स्नान और भोजन के प्रयोजक कर्ता 'मया' अर्थात् 'अस्मद्' शब्द के साथ समझना चाहिये । स्नान और भोजन क्रिया के समय केवल अपनी ही समीपस्थता अपेक्षित है । 'मैंने ही भली-भांति स्नान कराया है, मैंने ही भली-भाँति भोजन कराया है' यह तात्पर्य है । भोजन कराने के बाद आचमन कराना, ताम्बूल देना, आरती करना आदि न कही हुई सेवाएँ भी सहृदयों द्वारा स्वयं जान ली जानी चाहियें । इसके बाद सुखदस्पर्श वाले, सुकोमल शयन पर शयन करा कर मैंने ही अपने हाथों से लालन किया है जिनके चरणों का अर्थात् मैंने ही जिनका चरण संवाहन किया है । चरण

प्रियकृतोपलालनानन्दलीलाप्रशंसापूर्वकप्रभावस्मारणसस्नेहस्वनेत्रस्पर्शादिभि-र्लालितेऽङ्घ्री यस्याः सा त्वमेतादृशी परमप्रेमास्पदजीवनाधारानन्यगतिः कदा स्वपिषि कबेति सख्यव्यङ्ग्योक्तिरपि, अन्यथा स्वाग्रहैकशीललाडिला कौतुकाभिनिवेशा कथं स्वपेदिति किञ्च मद्गौरवं संरक्षन्त्येव स्वपिषीति, अत एवं ज्ञेयं सुभोजितानन्तरकलविहंगमशावककुसुमकौतुकाद्यावेशं दृष्ट्वा वदति हे राधे! आदितः कलभाषणादारभ्यापरिहार्यकौतुकशीले कदा स्वपिषि अनेन तत्सुखपरतया विश्रामानन्दोऽपेक्षितः। आयतौ विलासकुतू-हलकल्पनार्थमपि च संभावने वक्तव्ये वर्तमानोक्तिस्तन्मयतापन्नतया साधकतां विस्मृत्य स्वस्थायिभावविवशः करसंवाहनं कुर्वन्निव वदति, इति सूचिनी। प्रियस्यानुक्तमपि शयनमविच्छिन्नतमत्वाज्ज्ञेयं वक्ष्यत्यपि—

रसकलश

संवाहन (पग चाँपने) में भी चरणों की अंगुलियों, नखों, तलवों, एड़ी आदि में उस-उस समय उत्पन्न पुष्पों के द्वारा प्रिय से किये गये उपलालन (संवाहन) के आनन्द की लीला की प्रशंसा करते हुए प्रभाव का स्मरण कराना, स्नेहपूर्वक अपने नेत्र स्पर्श आदियों के द्वारा संवाहित हुए हैं चरण जिनके, ऐसी तुम परम प्रेमास्पद जीवनाधार की अनन्य गति कब शयन करोगी। 'कब' के द्वारा सख्यभाव से व्यङ्ग्योक्ति भी की गई है। अन्यथा अपने आग्रह मात्र शील वाली, लाडली, कुतूहलों में अभिनिवेश रखने वाली तुम कैसे सोओगी, हाँ, मेरे गौरव की रक्षा करती हुई ही सोओगी।

इसलिये यहाँ यह समझना चाहिये कि भली-भाँति भोजन कराने के बाद सुन्दर पक्षिशावक और पुष्पों के द्वारा कौतुक (क्रीडा) आदि का आग्रह देखकर कहती हैं—हे श्रीराधे! प्रारम्भ से बालपन के सुन्दर भाषण से लेकर तुम्हारा यह कौतुक (क्रीड़ा) प्रिय स्वभाव कभी न हटाया जा सका, तुम कब सोओगी? इससे उनके सुख में ही अपना सुख समझने के कारण उनके विश्राम का आनन्द श्रीहिताचार्य महाप्रभु को अभीष्ट है, यह प्रतीत होता है। उत्तरकाल में विलास कुतूहल की कल्पना करने के लिए यद्यपि यहाँ सम्भावना में लिङ् लकार का प्रयोग करना चाहिये था, तथापि वर्तमान काल में लट् लकार का प्रयोग किया गया है। श्रीहिताचार्य महाप्रभु तन्मयावस्था को प्राप्त हो जाने के कारण साधकता को भूलकर अपने श्रीराधापदकिङ्करीभाव रूपी स्थायिभाव को विवश होकर जैसे अपने हाथों से श्रीप्रिया जी के चरणों का संवाहन कर ही रहे हैं इस प्रकार कहते हैं—तुम कब सोती हो। यहाँ पर प्रियतम के शयन का वर्णन नहीं किया गया तथापि प्रियाप्रियतम के सदा अविच्छिन्न रहने के कारण वह समझ ही लेना चाहिए। आगे कहेंगे भी—

सान्द्रानन्दोन्मदरसघनप्रेमपीयूषमूर्तेः,
श्रीराधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे ।
कुर्वाणाहं मृदु मृदु पदाम्भोजसंवाहनानि,
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम् ।

इति तदप्यत्र प्रियाया एव कैङ्कर्यस्य विवक्षितत्वान्न तदनुक्तेर्दोषः । अत्र साहित्यमसाहित्यं वा समयानुरूपं भावुकगम्यमेव' ॥१५॥

शयनानन्तरमगाधतद्गुणानेव स्मरन्स्तौति—

वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः ।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः ॥१७॥

वैदग्ध्यं नैपुण्यं चातुर्यं ज्ञानक्रियादीनामिति । ज्ञानं बाह्याभ्यन्तरं, क्रिया सर्वाङ्गानां, प्रत्येकमनेकभेदा उदाहरणानि तु तदीयकृपापात्रसहृदयैकगम्या-न्यप्यत्रत्यानि किञ्चिन्निर्दिश्यन्तेऽपि । सर्वाङ्गवैदग्धी यथा—

रसकलश

निबिड आनन्द से उन्मत्त रस से घनीभूत प्रेमामृत ही जिनका स्वरूप है ऐसी श्रीराधा और ऐसे ही श्री मधुपति (लाल जी) जब कुञ्जशय्या में सो जायेंगे, तब मैं कोमल कोमल भाव से उनके चरण कमलों का संवाहन करती हुई उनकी शय्या के पास ही पड़कर क्या कुछ तन्द्रा को प्राप्त हो जाऊँगी ।'

तथापि यहाँ पर श्रीराधापदकिङ्करीभाव ही प्रधान रूप से कहना है अतः मधुपति के शयन का वर्णन करना कोई दोष नहीं है । इस स्तोत्र में प्रियाप्रियतम का सहभाव या असहभाव दोनों ही समयानुसार भावुक जन के द्वारा समझ ही लिये जाने चाहियें ।१६।

शयन के बाद उनके अगाध गुणों का स्मरण करते हुए उनकी स्तुति करते हैं—

'विदग्धता या नागरता की सिन्धु, अनुराग और रस की एक सिन्धु, वात्सल्य की सिन्धु, अतिघन कृपा की एक सिन्धु, लावण्य की सिन्धु, अमृतमयी छबि और रूप की सिन्धु, केलिक्रीडाओं की सिन्धु श्रीराधिका मेरे हृदय में स्फुरित हों ।'

विदग्धता का अर्थ है निपुणता या चतुरता, ज्ञान क्रिया आदि का बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का ज्ञान ज्ञान है तथा सभी अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग की क्रियाओं के अनेक भेद हैं, इन ज्ञान और क्रियाओं के उदाहरण तो श्री प्रिया जी के कृपापात्र बने हुए सहृदयों द्वारा ही जाने जा सकते हैं । इस स्तोत्र में कहे हुए उदाहरणों का निर्देश मात्र करते हैं । सभी अङ्गों की विदग्धता या चतुरता जैसे—

सा भ्रूनर्तनचातुरी निरुपमा सा चारुनेत्राञ्चले,
लीलाखेलनचातुरी वरतनोस्तादृग्वचश्चातुरी ।
सङ्केतागमचातुरी नवनवक्रीडाकलाचातुरी,
राधाया जयतात्सखीजनपरीहासोत्सवे चातुरी ।

वाग्वैदग्धी यथा—

दिष्ट्या यत्र क्वचन विहिताम्रेडने नन्दसूनोः
प्रत्याख्यानच्छलत उदितोदारसङ्केतदेशा ।
धूर्तेन्द्र त्वद्भयमुपगता सा रहो नीपवाट्यां,
नैका गच्छेत्कितव कृतमित्यादिशेत्कर्हि राधा ।

इति—

त्वयि श्यामे नित्ये प्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ,
प्रिये भूयो भूयः सुदृढमतिरागो भवतु मे ।
इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण मम चित्ते तव वचो
वदन्तीति स्मेरा मम मनसि राधा विलसतु ।

इति च, क्रियावैदग्धी यथा पादाङ्गुलीनिहितदृष्टिमिति, वाक्क्रियेङ्गितानां स्वकीयानां स्वप्रियसखीषु ज्ञापनं तदीयानां च झटिति ज्ञानमिति

रसकलश

परमसुन्दरी श्रीराधा की भ्रुकुटियों के नर्तन में वहअनुपम चतुरता, सुन्दर नेत्राञ्चल (कटाक्ष) के लीलापूर्वक खेलन में वह निपुणता, वैसी वचन प्रवीणता, सङ्केत स्थान और सङ्केतकाल में आगमन में कुशलता, नवीन-नवीन क्रीडाओं और कलाओं में पटुता, तथा सखीजन के साथ परि- हास के उत्सव में दक्षता सर्वोत्कर्ष से विराजमान हो ।' में कहीं गई है । ऐसे ही वाणी सम्बन्धी नागरता भी—

"सौभाग्य से नन्द-नन्दन के बारम्बार कहने पर प्रत्याख्यान (अस्वीकृति) के बहाने जहाँ कहीं सुख-सुविधा पूर्ण संकेत स्थान जिन्होंने बता दिया था, वे श्रीराधा मुझे आज्ञा देगी कि मैं नन्द-नन्दन को जाकर कह दूँ—'हे धूर्तराज, कपटनिपुण (श्याम) बस रहने दो, तुमसे डरी हुई वे श्रीराधा एकान्त कदम्बवाटिका में अकेली नहीं जायेंगी ऐसे ही—

"प्रियतम ने कहा हे नित्या, प्रणयिनी, चतुरा प्रिया श्यामा, तुम रस निधि में मेरा अति अनुराग अधिकाधिक सुदृढ हो ।' तो प्रिया जी बोलीं—हे रमण, तुम्हारे चित्त में तो मेरी ही बात आ गई 'तुम नित्य प्रणयी चतुर, रसनिधि प्रिय श्याम में मेरा अति अनुराग अधिकाधिक सुदृढ हो । 'ऐसा कहती हुई मुस्कराती श्रीराधा मेरे हृदय में स्फुरित हों । इत्यादि पद्यों में प्रकट है । क्रिया सम्बन्धी चतुरता भी—पूर्वोक्त पादाङ्गु-निहितदृष्टिम्, इत्यादि श्लोक में वर्णित है । इस प्रकार अपने वाचिक, आङ्गिक इङ्गितों को सखीजन और प्रियतम के प्रति प्रकाशन करना तथा उनके वाणी, क्रिया, इङ्गितों को समझना ही वैदग्ध्य या चतुरता है । अतः श्रीराधा वैदग्ध्यसिन्धु हैं ।

वैदग्ध्यम्, अनुरागः प्रेमासक्तिः, स्नेहः प्रणय इति यावत् यथा—

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां तामाधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम् ।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रु वर्षैर्दुःखान्नयन्त्यहह, सा हृदि मेऽस्तु राधा ।।

इति—

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि ।।

रसः परात्परः परमानन्दः परमास्वाद आसज्यत्वमिति यावत् यथा एकं काञ्चनचम्पकच्छवी'ति गौरश्यामयोराद्यं स्वरूपलक्षणं—

बलान्नीत्वा तल्पं किमपि परिरम्याधरसुधां
निपीय प्रोल्लिख्य प्रखरनखेरण स्तनभरम् ।
ततो नीवीं न्यस्ते रसिकमणिना त्वत्करधृते
कदा कुञ्जच्छिद्रे भवतु मम राधेऽनुनयनम् ।।

इति—

श्यामे चाटुरुतानि कुर्वति सहालापान् प्रणेत्री मया
गृह्णाने च दुकूलपल्लवमहो हुङ्कृत्य मां द्रक्ष्यसि ।

रसकलश

वे अनुराग रस की एक सिन्धु भी हैं अनुराग का अर्थ है प्रेमासक्ति, स्नेह या प्रणय। जैसा कि—

मधुर स्वर वाली मधुमती नाम की उस वीणा को हाथ में लेकर नागर शिरोमणि (श्रीश्याम सुन्दर) की भावलीला को गाती हुई अहो ! अपार-से दिन को विवश हो अश्रुपूर्ण दृष्टियों द्वारा दुःख से बिताती हुई वे श्रीराधा मेरे हृदय में प्रकट हों ! और 'प्रियतम के अङ्क में स्थित रहते भी अकस्मात् 'हामोहन इस प्रकार कुछ प्रलाप करती हुई श्याम के अनुराग के मद से विह्वल और मोहन (मनोहर) अङ्गों वाली कोई श्यामा-शिरोमणि निकुञ्ज सीमा में सर्वोत्कर्ष से विराजमान है। इस पद्य में प्रतिपादित है। रस परात्पर परमानन्द परम आस्वादस्वरूप है जो आसक्ति विषय (श्रीराधा) निष्ठ है। जैसा कि 'एकं काञ्चनचम्पकच्छवि' इत्यादि पद्य में गौर और श्याम युगल का प्रथम स्वरूप-लक्षण प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ही—

बलात् कुसुम शयन पर ले जाकर, कुछ आलिङ्गन करके अधर सुधा पीकर, नखाग्र से स्तन मण्डल पर नखक्षत करके जब रसिक-शिरोमणि (श्रीश्याम सुन्दर) के द्वारा नीवी पर रखा जाता हुआ हाथ तुम्हारे कर कमलों द्वारा रोका गया तब हे राधे कुञ्जरन्ध्र में से मेरा अनुनय प्रिय का पक्ष लेकर मनाना, या नेत्र लगा कर दर्शन करना इसका अवसर कब होगा ? ऐसे ही—

'जब श्याम चाटुकारों के से शब्द बोल रहे होंगे तो तुम मेरे साथ बातें करने लगोगी, जब वे वसनाञ्चल पकड़ने लगेंगे तब तुम हुँ कह कर मेरी ओर देखोगी, जब

विभ्राणे भुजवल्लिमुल्लसितया रोमस्रजालङ्कृताम्
दृष्ट्वा त्वां रसलीनमूर्तिमथ किं पश्यामि हास्यं ततः ।

इति—

चकोरस्ते वक्त्रामृतकिरणबिम्बे मधुकर-
स्तव श्रीपादाब्जे जघनपुलिने खञ्जनवरः ।
स्फुरन्नीन्मो जातस्त्वयि रससरस्यां मधुपतेः
सुखाटव्यां राधे त्वयि च हरिणस्तस्य नयनम् ।

इत्यादि । वात्सल्यं पोष्यवर्गेषु स्वनाथमननपूर्वकसदयाद्रवोपलालन-पालनादि पोषणवैचित्र्यं यथा—

लुलितनवलवङ्गोदारकर्पूरपूरं प्रियतममुखचन्द्रोद्गीर्णताम्बूलखण्डम् ।
घनपुलककपोला स्वादयन्ती मदास्येऽर्पयतु किमपि दासीवत्सला र्काह राधा ।

इति—

विचित्रवरभूषणोज्ज्वलदुकूलसत्कञ्चुकैः
सखीभिरतिभूषिता तिलकगन्धमाल्यैरपि ।
स्वयं च सकला कलासु कुशलीकृता नः कदा
सुरासमधुरोत्सवे किमपि वेशयेत्स्वामिनी ।

रसकलश

वे तुम्हारी भुजा हाथ में लेने लगेंगे तब तुम उल्लसित हो उठी रोमावली से अलङ्कृत हो जाओगी, इसके बाद रस में लीन हुए श्री विग्रह वाली तुम को देख कर क्या मैं हास्य मुस्कान को देखूँगी ।' इत्यादि पद्य में और 'श्रीश्याम सुन्दर के नेत्र तुम्हारे मुखचन्द्र के चकोर, चरण कमल के भ्रमर, जघनपुलिन के खञ्जन, नाभि-सरसी के मत्स्य और तुम (राधारूपी) सुखाटवी के मृग बन गये हैं ।' इत्यादि पद्य में भी प्रिया जी के आसज्यभाव के प्रतिपादन द्वारा रस का निरूपण किया गया है ।

श्रीराधा वात्सल्य की सिन्धु हैं । पोष्य वर्गों पर अपने स्वामित्व का ध्यान रखते हुए दया पूर्वक द्रवित होकर उनके लालन-पालन आदि के द्वारा पोषण की विविधता ही वात्सल्य का व्यक्त स्वरूप है । जैसे—'जिसमें नवीन लवङ्ग और कपूर का पूर घुल मिल गया है ऐसे प्रियतम के मुखचन्द्र से उद्गीर्ण हुए ताम्बूल खण्ड का आस्वादन करती हुई कपोलों पर घनपुलक धारण कर रही दासी वत्सला श्रीराधा मेरे मुख में उसका कुछ अंश कब प्रदान करेंगी । इत्यादि पद्य में और 'सखीजनों द्वारा विचित्र और सुन्दर भूषणों उज्ज्वल दुकूलों और मनोहर कञ्चुकों से एवं तिलक चन्दन मालाओं से अत्यन्त विभूषित (शृङ्गारित) की गई स्वामिनी श्रीराधा यद्यपि स्वयं सकला (समस्त कलाओं से संवलिता) हैं तथापि हमारे द्वारा (स्नेह से) कलाओं से कुशल बना दी गई । वे हमको अपने महारास के मधुर उत्सव में कब कुछ प्रवेश प्रदान करेंगी ।' इत्यादि-पद्यों में वर्णित है ।

इति कृपाननुभूतचरप्रसादस्तस्मिन्सान्द्रत्वमविरलच्छिद्रं घनीभूतत्वं यथा 'दिव्यप्रमोदे'ति, अतीति केनाप्यमेयमनन्तं प्रतिक्षणनवास्वादवर्द्धमानत्वमिति एकदैवाङ्गीकृतौ नतमां कदाप्युपेक्षाभास इति। लावण्यं दृङ्मनो रोचकसौन्दर्यं यथा—

गौराङ्गे म्रदिमा स्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौ मन्दिमा।
श्रोण्यां च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमा बिम्बाधरे शोणिमा
श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः॥

इति—

'लज्जान्तः पटमारचय्य रचितस्मायप्रसूनाञ्जलौ,
राधाङ्गे नवरङ्गधाम्नि ललितप्रस्तावने यौवने।
श्रोणीहेमबरासने स्मरनृपेणाध्यासिते मोहने,
लीलापाङ्गविचित्रताण्डवकलापाण्डित्यमुन्मीलति॥

रसकलश

श्रीराधा अतिसान्द्र कृपा की एक सिन्धु हैं। कृपा का अर्थ है पहले कभी अनुभव न किया गया प्रसाद या अनुग्रह। उस कृपा की सान्द्रता या घनता यही है कि उस में कहीं कोई क्षण खाली नहीं जाता विरलता, या सावकाशता नहीं आती। जैसे 'दिव्यप्रमोदरसंसार' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्णित है। इस सान्द्र कृपा में 'अति' विशेषण का तात्पर्य है कि उस सान्द्र कृपा का कोई परिमाण नहीं बता सकता क्योंकि वह अनन्त है और प्रतिक्षण नवीन आस्वाद देने वाली होने से बढ़ती जा रही प्रतीत होती है। फिर जिसको एक बार किङ्करीभाव में स्वीकार कर लिया जाता है उसकी कभी भी उपेक्षा करने का आभास तक भी नहीं मिलता।

श्रीराधिका लावण्य की सिन्धु हैं। दृष्टि और मन को अत्यन्त रुचिकर लगने वाले सौन्दर्य को लावण्य कहते हैं। जैसे—'हे श्रीराधे तुम्हारे अङ्गों में सुकुमारता, मुस्कान में मधुरता, नेत्र प्रान्त में विशालता, स्तन मण्डल में गुरुता, मध्य भाग में कृशता, गति में मन्दता, भ्रुकुटि में कुटिलता, बिम्बोष्ठों में अरुणता, और हृदय में रस के कारण जडता ध्यान काल में मेरे समक्ष स्फुरित हो!' इत्यादि पद्य में तथा—

'लज्जा रूपी अन्तः पट (पर्दा) करके नवीन रङ्ग क्रीडाओं के धाम श्रीराधा जी के श्री विग्रह पर जब ललित प्रस्तावना वाले यौवन ने मुस्काते पुष्पों की अञ्जलि अर्पण की और कामरूपी नृप जब श्रोणी रूपी मनोहर सुवर्ण सिंहासन पर विराजमान हो गया तब लीलामय नेत्रप्रान्तों में विचित्र ताण्डव नृत्य की कला का पाण्डित्य (कौशल) उन्मीलित हो रहा है, प्रकट हो रहा है।' इत्यादि पद्य में एवम्—जिनके कटाक्ष रूपी वाण के

इति—

'वेणुः करान्निपतितः स्खलितं शिखण्ड
भ्रष्टं च पीतवसनं व्रजराजसूनोः।
यस्याः कटाक्षशरपातविमूर्च्छितस्य
तां राधिकां परिचरामि कदा रसेन'।

इति, छविः प्रभा भूषणजाङ्गजा च, यथा—

रूपं शारदचन्द्रकोटिवदने धम्मिल्लमल्लीस्रजा—
मामोदैर्विकलीकृतालिपटले राधे कदा तेऽद्भुतम्।
ग्रैवेयोज्ज्वलकम्बुकण्ठि मृदुदोर्वल्लीचलत्कङ्कणे
वीक्षे पट्टदुकूलवासिनि रणन्मञ्जीरपादाम्बुजे।

इति प्रथमा।

स्निग्धाकुञ्चितनीलकेशि विदलद्बिम्बोष्ठि चन्द्रानने
खेलत्खञ्जनगञ्जनाक्षि रुचिमन्नासाग्रमुक्ताफले।
पीनश्रोणि तनूदरि स्तनतटीवृत्तच्छटात्यद्भुते
राधे श्रीभुजवल्लिचारुवलये स्वं रूपमाविष्कुरु।।

इति,

गात्रे कोटितडिच्छवि प्रविततानन्दच्छवि श्रीमुखे
बिम्बोष्ठे नवविद्रुमच्छवि करे सत्पल्लवैकच्छवि।

रसकलश

लगने से अतिमूर्छित हुए— व्रजराज नन्दन के 'हाथ से वंशी छूट पड़ी, मोर मुकुट खिसक गया और पीताम्बर भी नीचे गिर गया। उन श्रीराधिका जी की मैं रस पूर्वक परिचर्या कब करूँगी। इत्यादि पद्य में वर्णित है। और श्रीराधा अमृतमय छवि और रूपी सिन्धु हैं। छवि नाम प्रभा का है वह दो प्रकार की होती है—भूषणजा और अङ्गजा उनमें से भूषणजा छवि का वर्णन—'हे शरत्कालीन कोटि चन्द्रों के समान मुख वाली, अपने केशपास की मल्लिकाओं की सुगन्ध से अलिपटल (भ्रमरा वली) को या अलिपटल (सखी समूह) को उत्कण्ठित कर देने वाली, गैवेयक से देदीप्यमान शङ्ख समान ग्रीवा वाली, कोमल भुजलताओं में चञ्चल कङ्कनों वाली, कौशेय वस्त्र धारिणी' शिञ्जन कर रहे मञ्जीरों से सुशोभित चरण कमलों वाली, श्रीराधे! मैं तेरा अद्भुत रूप कब देखूँगी।' इत्यादि पद्यों में है तथा दूसरी अङ्गजा छवि का वर्णन—

'हे चिक्कण और घुंघराले नीले केशों वाली, परिपक्व बिम्ब फल के समान अधरोष्ठ वाली, चन्द्र के समान मुख वाली, खेलते हुए खञ्जनों का तिरस्कार करने वाले नेत्रों वाली नासाग्र में शोभाशाली मुक्ता फल धारण करने वाली, पृथुलनितम्बे, कृशमध्ये, स्तनतट की मण्डलाकार छटा से अत्यद्भुत दीखने वाली, श्री भुजलता में सुन्दर वलय (चूडियाँ) धारण करने वाली श्री राधिका अपना स्वरूप प्रकट करो।' इत्यादि पद्य में और

'श्री विग्रह में कोटि विद्युतों की सी छवि वाले, श्री मुख में विस्तृत आनन्द की ध्वनि वाले, बिम्ब फल के-से ओष्ठों में नवीन विद्रुमलता की सी छवि वाले, कर-

हेमाम्भोरुहकुड्मलच्छवि कुचद्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं
वन्दे तन्नवकुञ्जकेलिमधुरं राधाभिधानं महः ॥

इति च द्वितीया। रूपमङ्गाकृतिसौष्ठवं यथा—

चन्द्रास्ये हरिणाक्षि देवि सुनसे शोणाधरे सुस्मिते
चिल्लक्ष्मीभुजवल्लि कम्बुरुचिरग्रीवे गिरीन्द्रस्तनि ।
भज्यन्मध्यबृहन्नितम्बकदलीखण्डोरु पादाम्बुजे,
प्रोन्मीलन्नखचन्द्रमण्डलि कदा राधे मयाराध्यसे ।

इति, छविरूपयोरमृतत्वं नित्यनिरवधि मधुराप्यायनकमनीयालौकिकादिधर्म्मत्वं यथा—

यदि कनकसरोजं कोटिचन्द्रांशुपूर्णं
नवनवमकरन्दस्यन्दि सौन्दर्यधाम ।
भवति लसितचञ्चत्खञ्जनद्वन्द्वमास्यं
तदपि मधुरहास्यं दत्तदास्यं न तस्याः ।

इति—

राकाचन्द्रो वराको यदनुपमरसानन्दकन्दाननेन्दो-
स्तत्तादृक्चन्द्रिकाया अपि किमपि कलामात्रकस्याणुतोऽपि ।

रसकलश

कमलों में कोमल पल्लव की सी छवि वाले, कमल के समान नेत्रों वाले, नवीन कुञ्ज केलियों से मधुर किसी राधा नामक तेज की मैं वन्दना करता हूँ।'

इत्यादि पद्य में किया गया है। रूप का अर्थ है अङ्गों की आकृति का सौष्ठव या सुघड़पन। जैसा कि—

'चन्द्र से मुख वाली, हरिण के से नेत्रों वाली, सुन्दर नासिका, अरुण अधर और मोहक मुस्कान वाली, चिन्मय शोभा शाली भुजलताओं वाली, शङ्ख के समान मनोहर ग्रीवा वाली, गिरिराज के समान स्तनों वाला, कृशतर मध्य, पृथुलतर नितम्ब, कदली खण्ड से ऊरु वाली और कमल से चरणों में खिल रही नखछविरूपी चन्द्रमण्डली वाली हे राधे! मेरे द्वारा कब आराधित होगी।' इत्यादि पद्यों में वर्णित है।

छवि और रूप नित्य निरवधि रूप से मधुर तृप्तिकर, कमनीय और अलौकिक आदि विशेषणों या धर्मों वाले हैं। जैसा कि—

'यदि कोई स्वर्णकमल कोटि चन्द्रों की किरणों से पूर्ण हो तथा नवीन मकरन्द को स्यन्दन करने वाले सौन्दर्य का धाम हो तो भी उन(श्रीराधा जी)का चञ्चल लोचनरूपी खञ्जन युगल से सुशोभित मधुरहास्य वाला श्रीमुख उस कमल को अपनी दासता भी नहीं देता। सखिता या समानता तो भला कैसे दे सकता है।' इत्यादि पद्य में और

'पूर्णिमा का चन्द्रमा जिस अनुपम रस और आनन्द के कन्दभूत मुखचन्द्र से और जिनको उस वैसी चन्द्रिका की किसी कला मात्र के अणु से भी दीन है, बेचारा है। वह

यस्याः शोणाधरश्रीविधृतनवसुधामाधुरीसारसिन्धुः
सा राधा कामबाधाविधुरमधुपतिप्राणदा प्रीयतां नः ।

इत्यत्रामृतत्वं, केलयो विविधा वनविहाररासगाननृत्याभिनयवाद्य-कुसुमपक्षिसम्बन्धिनिलयनशृङ्गारविलाससुरतोत्सवाद्याः यथा—

विपञ्चितसुपञ्चमं रुचिरवेणुना गायता,
प्रियेण सह वीणया मधुरगानविद्यानिधिः ।
करीन्द्रवनसम्मिलन्मदकरिण्युदारक्रमा,
कदा नु वृषभानुजा मिलतु भानुजारोधसि ।

इति—

कदा सुमणिकिङ्किणीवलयनूपुरप्रोल्लस—
न्महामधुरमण्डलाद्‌भुतविलासरासोत्सवे ।
अपि प्रणयिनो बृहद्‌भुजगृहीतकण्ठ्यो वयं
परं निजरसेश्वरीचरणलक्ष्म वीक्षामहे ।

इत्याद्याः । वैदग्ध्यादिनवानामनन्तपारावारागाधत्वात्सिन्धुत्वमेकेत्यनन्यत्वं नाममात्रनिर्देशेन विशिष्यानिर्वचनीयासाधारणानन्यापेक्षिकप्रत्येकपूर्णतमत्वं

रसकलश

अरुण अधरोष्ठ की शोभा से धारण की हुई नवीन सुधा की माधुरी के सार की सागर और काम बाधा से व्याकुल मधुपति (श्रीश्याम सुन्दर) को जीवन देने वाली वे राधा हम पर प्रसन्न हों ।' इत्यादि पद्यों में छवि और रूप का अमृतमय होना भी प्रतिपादन किया गया है।

श्री राधा केलि सिन्धु हैं । केलि या क्रीड़ाएँ अनेक प्रकार की हैं वन विहार, रास गान, नृत्य, अभिनय, वाद्य, कुसुमसम्बन्धी, पक्षिसम्बन्धी, शृङ्गारसम्बन्धी विलाससम्बन्धी और सुरतसम्बन्धी तथा उत्सवसम्बन्धी इत्यादि, जैसा कि–'पञ्चम स्वर का विस्तार करत हुए सुन्दर वंशी द्वारा गीत गाते प्रिय के साथ वीणावादन के सहित जो मधुर संगीत विद्या की निधि हैं। वे मत्त गज राज से वन में मिलती हुई मदमत्त करिणी के समान मतवाली चाल वाली श्रीवृषभानुनन्दिनी (राधा) मुझे भानु-नन्दिनी (श्रीयमुना) के तट पर कब मिलेंगी ।' इत्यादि पद्य में और

'सुन्दर मणि जटित किङ्किणियों, चूड़ियों, और नूपुरों से उल्लसित होते हुए महामधुर मण्डल में अदभुत विलासों वाले रासोत्सव के अवसर पर प्रियतम की बड़ी-बड़ी भुजाओं द्वारा आलिङ्गित कण्ठों वाली होकर भी हम अपनी रासेश्वरी(श्रीराधा जी) के चरण चिन्हों को कब देखेंगी ।' इत्यादि पद्य में वर्णित हैं ।

इस प्रकार विदग्धता आदि नौ गुणों का अनन्त अपार, अगाध आधार होने के कारण श्री राधा जी को सिन्धु कहा गया है, एक शब्द से उनको इन गुणों का अनन्य या अद्वितीय आधार बताया गया है । इन गुणों के नाम मात्र के निर्देश से विशेष रूप से अनिर्वचनीय, असाधारण और अनन्यापेक्षी होना (दूसरे की अपेक्षा न रखना) और प्रत्येक गुण का पूर्णतम होना जानना चाहिये । प्रिया जी को सिन्धु कहने से प्रियतम का

ज्ञेयम् सिन्धुरित्युक्तेः प्रियस्य महामीनवन्मग्नतदेकजीवनतदास्वादलम्पटता स्वत एवायातेति । एवमनेकगुणसिन्धुविशिष्टानपायनी श्रीमती आराध्याराधनीया परमसंसिद्धिरूपनाम्नी सकलश्रुत्यनिर्वचनीयस्वरूपाप्यनुग्रहपरवशा श्रीराधिका मे तदेकजीवनममताङ्गीकृताया हृदि तन्निवासस्थाने स्फुरतु सचमत्कृतिर्वसतु वा विद्युल्लेखेवापि चाञ्चल्येन सैव स्फुरतु नान्यद्वस्तु यथा केषांचिन्निर्मले चित्ते चिदेकाकारं ब्रह्म स्फुरति मम त्वियमेव स्फूर्तिमायात्विति।

लोटा स्वकृततन्निष्ठया स्वयमेव प्रसीदन्नाशिषमभिवदति वा स्वसख्यबलात्प्रियां प्रेरयति परस्मैपदेन स्वस्य हितसखीरूपयोरहङ्कारेण हृदयस्य ममतास्पदतया परगामिवत्फलदानं करोतीति भावः ॥१७॥

तदेवं वैदग्ध्यादीनां दम्पतिनिष्ठत्वेऽप्यासक्तासज्यापेक्षया चैते गुणा आसज्यैकशोभनाहृत्वातिप्रियायामेवोक्ता अनुरागस्यासक्तैकशोभनत्वेऽप्यति-

रसकलश

उसमें महामीन के समान मग्न होना, उन्हें ही एकमात्र जीवन मानना और उनके आस्वाद का लोभी या लम्पट होना अपने आप ही आ जाता है । इस प्रकार से अनेक गुण सिन्धुओं से विशिष्टा, अनपायिनी (श्री श्याम से कभी अलग न होने वाली) श्रीमती आराध्या परमसंसिद्धि रूपा अर्थात् परमसंसिद्धि रूप नाम वाली, समस्त श्रुतियों के लिए अनिर्वचनीय स्वरूप वाली होती हुई भी अनुग्रह के अधीन हुई श्री राधिका मेरे—जिसने उनको ही एकमात्र जीवनाधार माना है और जो उनके द्वारा ममता से अङ्गीकार की गई है ऐसी मुझ दासी के—हृदय में—जो उनका ही एकमात्र निवास स्थान है उसमें—स्फुरित हो—चमत्कार करती हुई निवास करे अथवा बिजली की रेखा के समान चञ्चलता के साथ वे श्रीराधा ही स्फुरित हों अन्य कोई वस्तु नहीं । जैसे किसी के निर्मल चित्त में चिन्मयस्वरूप ब्रह्म स्फुरित होता है वैसे ही मेरे हृदय में तो यह मूर्ति ही स्फूर्ति प्राप्त करे ।

यहाँ 'स्फुरतु' के लोट् (आज्ञार्थक) लकार से अपनी निष्ठा से अपने आप ही प्रसन्न होते हुए आशीर्वाद देते हैं अथवा अपने सखीभाव के बल से प्रिया जी को प्रेरित करते हैं । परस्मैपद प्रयोग द्वारा अपने हितरूप और सखीरूप दोनों के अहंकार से हृदय की ममता का पात्र होने के कारण परगामी सा क्रियाफल प्रदान करती हैं, यह भाव निकलता है ।

इस प्रकार वैदग्ध्य-विदग्धता या नागरता—आदि गुण यद्यपि प्रिया प्रियतम दोनों में हैं तथापि आसक्त या आश्रय की अपेक्षा ये गुण आसज्य अर्थात् विषयमात्र में विशेष शोभाधायक हैं, अतः श्रीप्रिया जी में ही कहे गये हैं । अनुराग यद्यपि आसक्त या आश्रय मात्र में शोभा पाता है तथापि अतिसान्द्र कृपा का एक सिन्धु होने के कारण

सान्द्रकृपासिन्धुत्वात्कदाचिदासक्तापि भवतीत्याशयेन प्रियानुरागं निर्दिशति अन्यथानुरागसिन्धुरित्यनर्थकः स्यादिति—दृष्ट्वेति ।

दृष्ट्वैव चन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गी
वेणुध्वनिं क्वच निशम्य च विह्वलाङ्गी ।
सा श्यामसुन्दरगुणैरनुगीयमानैः
प्रीता परिष्वजतु मां वृषभानुपुत्री ॥१८॥

क्वचेति चकारात्क्वद्वयं कस्मिन्काले कस्मिन्स्थाने वा शृङ्गारनवनिर्माणनिकुञ्जं कौतुकदर्शनार्थं स्वयमागता, तत्र वा मयूरं नृत्यन्तं भ्रमन्तमुत्पतन्तं वा पश्यति वा । वनविहारे भूमौ मयूरपिच्छात्पतितं चन्द्रकं तन्मात्रं दृष्ट्वैव झटिति प्राणातिप्रियतमस्फूर्त्या चन्द्रदर्शनाच्चन्द्रकान्तेव चमत्कृताङ्गी अतीवेति प्रकर्षेण ससात्त्विककम्परोमाञ्चिताङ्गी एवेति यत्र कुत्रापि दृष्टमात्रेणैवेत्यर्थः सम्पन्नमुकुटचन्द्रिकादिखचितं किमुततराम्, आसक्तचिन्हधारणबद्धकङ्कणप्रियशिरःस्थं किमुततमामिति भावः ।

रसकलश

कभी अनुराग आसक्त या विषय में भी रह सकता है इस आशय से यहाँ प्रिया जी के अनुराग का निर्देश करते हैं अन्यथा अनुराग सिन्धु कहना निरर्थक हो जायेगा—

'कहीं मोर पंख को देखकर ही अत्यन्त चमत्कृत (चौंक गये) श्रीविग्रहवाली और कहीं वंशी की ध्वनि को सुनकर विह्वल अंगों वाली श्री श्यामसुन्दर के गुणों के गाये जाने से प्रसन्न हुई वे वृषभानुनन्दिनी मुझ दासी को कब अपने हृदय से लगाएँगी ।'

'क्वच' में च का प्रयोग होने से क्व (कहीं) का दोनों वाक्यों में सम्बन्ध होता है, तथा उसके किसी समय में और किसी स्थान में यह दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं । किसी स्थान से तात्पर्य है कि शृङ्गार नव-निर्माण निकुञ्ज में कौतूहलवश कौतुक देखने के लिये स्वयं आ गईं अथवा वहाँ मयूर को नृत्य करते, भ्रमण करते, उछलते देखती हैं अथवा वन विहार में भूमि पर मयूरपिच्छ में से गिरे हुए मयूरपक्ष (चन्द्रक) मात्र को देखकर ही शीघ्र प्राणों से भी अति प्रियतम की स्फूर्ति हो जाने से जैसे चन्द्र दर्शन से चन्द्रकान्तमणि द्रवित हो जाती है वैसे ही श्री राधा जी भी अतीव चमत्कृत हो जाती हैं (बहुत चौंक जाती हैं) अर्थात् उनके श्रीअङ्गों में सात्विक भाव-कम्प, रोमाञ्च आदि हो जाते हैं । जब जहाँ तहाँ पड़े हुए मयूरपिच्छ के चन्द्रक के दर्शन मात्र से यह दशा है तब बहुमूल्य मुकुट और चन्द्रिका आदि में खचित हुए चन्द्रक को देखने पर तो कहना ही क्या है और आसक्त (प्रीति का आश्रय) होने के चिह्न को धारण करने के लिये जिनने कङ्कण बाँध रखा है उन प्रियतम (श्री श्यामसुन्दर) के सिर पर स्थित चन्द्रक को देखकर तो और भी अनिर्वचनीय दशा होती होगी, यह भाव है ।

इवेत्येवार्थे वा उपमार्थे तदा चमत्कृतेः कतिपयक्षणस्थायित्वं ध्वनितं सखीपरिहासाश्चर्यप्रश्नशङ्कयेत्यर्थः, चम्पकलतेति पाठः कर्मापेक्ष्योपेक्ष्यः सहृदयसम्मतश्चेत्प्रियमिति कर्म्म कल्प्यं वा वेणुध्वनिमिति साक्षात्प्रयुक्तत्वाद्ध्वनेर्दर्शनक्रियानर्हत्वाद्वेणुं क्वच दृष्ट्वैव चमत्कृताङ्गी तद्ध्वानिं क्वच निशम्य चेति चम्पकलता यथावीर्यमन्मणिमन्त्रौषधादिवत्सद्यःप्रभूतविकलनकारणदोहदसङ्गं प्राप्येव सद्यो युगपदेव पुष्पिता चमत्कृता शोभते तद्वद्दृष्ट्वैव रोमाञ्चविकस्वराङ्गी जातेत्यर्थः। इवेति लतायां क्वेदृगनुभाववर्णादिसौन्दर्यप्रभावो निरुपम इति भावः।

पुनश्च कुत्राचिद् वाद्यनाट्यशिक्षार्थं निकुञ्जे समागता वा दूरादेव सखीकृतं वा तदास्वादकौतुकार्थं प्रियकृतं वेणुध्वानिं निशम्यैव श्रुतमात्रेणात्यर्थसङ्केतज्ञाने किमुततरामुद्दीपनस्थाने किमुततमामिति भावः। तदाकर्षणमोहनमहाप्रेमोदवैवश्यतत्तत्समयस्फूर्त्या विरहिप्रत्यभिज्ञातप्रियतत्सुखपूरणानुकम्पावेगेन तद्दशास्फूर्त्या च विह्वलाङ्गी समुज्जृम्भितानुरागकल्लोलमालीव सर्वावयविनी जातेत्यर्थः।

रसकलश

'अतीव' शब्द में इव एव अर्थ में है उसका अर्थ 'बहुत सी नहीं' अपितु 'बहुत ही' होगा। अथवा बहुत सी इस उपमा अर्थ में भी इव का प्रयोग हो सकता है। इससे चमत्कृति या चौंकना कुछ क्षणों तक स्थायी रहता है ऐसा ध्वनित या व्यञ्जित होता है, सखी जन परिहास करेंगे या आश्चर्य करेंगे, प्रश्न करेंगे इस आशङ्का से यह चमत्कृति कुछ क्षण रहती है, अन्यथा निरन्तर ही बनी रहती यह भी तात्पर्य है।

'दृष्ट्वैव चन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गी' के स्थान पर कुछ पुस्तकों में 'दृष्ट्वैव चम्पकलतेव चमत्कृताङ्गी' यह पाठ देखा जाता है, वहाँ 'किसको' देखकर यह प्रश्न बना रहता है, और वाक्य साकांक्ष रह जाता है। अतः वह पाठ छोड़ देना चाहिये। हाँ, यदि कुछ सहृदयों को वही पाठ इष्ट हो तो वहाँ पर 'प्रियतम को' देखकर ऐसी वाक्य रचना करने के लिए 'प्रियतम को' का अध्याहार कर लेना चाहिये। अथवा दूसरे वाक्य में जो 'वेणुध्वनिम्, वंशी की धुन को' यह शब्द लिखा है उसमें ध्वनि का तो दर्शन नहीं हो सकता अतः उसमें से 'वेणुम्' 'वंशी को' इतना अंश यहाँ ले लेना चाहिये जिससे वाक्य रचना होगी कि कहीं वंशी को देखते ही चम्पक लता के समान श्रीराधा चमत्कृत श्री अङ्गवाली हो जाती हैं और कहीं वंशी की ध्वनि को सुनकर विह्वल या व्याकुल श्रीअङ्गवाली हो जाती हैं। जैसे चम्पक लता विशेष शक्तिशाली मणि, मन्त्र, औषधि के द्वारा तत्काल ही प्रचुर विकास करने वाली चिकित्सा का सम्बन्ध प्राप्त करके तत्काल पुष्पित और चमत्कृत हो कर शोभा पाती है उसी प्रकार वंशी को देखकर ही रोमांच से विकसित अङ्गों वाली हो जाती हैं। चम्पक लता के साथ उपमा देते हुए भी यह भाव व्यञ्जित किया गया है कि चम्पक लता में ऐसे अनुभाव (चेष्टाएँ) और वर्ण आदि क सौन्दय का प्रभाव कहां ह, अतः श्रीराधा निरुपम अर्थात् अनुपम हैं।

पुनश्च गाननिकुञ्जे वा दूरादेवेति श्यामसुन्दरगुणैः सुन्दरस्य गुणा वा सुन्दरा गुणाः सौन्दर्यमुभयनिष्ठं वैदग्ध्यलालित्यलावण्यमार्दवार्जवगाम्भीर्यसौशील्यौदार्यतदेकप्रवणरसानुरागप्रेमासक्तिच्छवि निधिविश्रब्धविनीतवीरधीरचाटुपटुकाकुचटुलविचक्षणविलासिवशीभवनदक्षसकल कला कुशलमोहनाकर्षकाद्यद्भुतगुणैरपि तत्समयदेशस्वमुखप्रियश्रवणानुकूलैरनुगीयमानैरसमोद्ध्र्वमोहनप्रियतास्पदाकर्षकप्रियगुणान्प्रति प्रसद्य स्वयमेव नवकाव्यरागनिबद्धैर्मह्यमन्तरङ्गकृपापात्रसख्यै शिक्षितचरैस्ततः परीक्षणार्थं मयापि यदृच्छया गीयमानैर्वा नित्यपार्श्वस्थत्वात्तादात्विकतदीयचमत्कृति-

रसकलश

एक और बात भी है कि कहीं वाद्य या नाटच की शिक्षा के अभ्यासार्थ निकुञ्ज में प्रिया जी आईं तब दूर से ही किसी सखी ने या (प्रिय श्यामसुन्दर) ने उनके आस्वाद कौतुक के लिये वंशी बजाई जिसे सुनकर ही वे चमत्कृत हो गईं। यहाँ पर यदि वंशी की ध्वनि सुनते ही संकेत स्थान का ज्ञान हो गया तो क्या आश्चर्य? और यदि यह वंशीवादन उद्दीपन स्थान पर किया गया तब तो क्या कहना? उस समय वंशी ध्वनि के आकर्षण, मोहन, महाप्रेमोदय और विवशता के उन उन समयों का स्फुरण या स्मरण हो आने से विरही के रूप में जाने गये प्रियतम (श्याम सुन्दर) के उस सुख को पूर्ण करने की कृपा के वेग से और प्रियतम की दशा को स्फूर्ति या स्मृति हो आने से विह्वल श्रीअङ्गों वाली श्रीराधा ऐसी हो गई मानों अनुराग का सागर उमड़ पड़ा हो अर्थात् उनका अङ्ग अङ्ग अनुराग से आप्लुत हो गया था।

यह भी हो सकता है कि गान निकुञ्ज में अथवा दूर कहीं श्रीराधा गाये जाते हुए श्यामसुन्दर के सुन्दर गुणों से प्रसन्न हो गईं। वे सुन्दर गुण इस प्रकार हैं—सौंदर्य गुण तो प्रिया प्रियतम युगल में है। विदग्धता या नागरता, लालित्य, लावण्य, मार्दव, आर्जव, गम्भीरता, सुशीलता, उदारता, प्रिया जी के प्रति एकभाव से परायणता (मृदुता) सरलता, रस और अनुराग, प्रेमासक्ति, छवि, विश्रब्धता (विश्वास) विनय, वीरता, धीरता, चाटुपटुता (प्रिय वचन बोलने में दक्षता) काकु (दैन्य भरे वचन बोलना) चटुलता (भिन्न भिन्न रस चखने की रुचि, चटोरापन) विचक्षणता, विलासिता, वशीभाव (अधीनता) दक्षता, सभी कलाओं में कुशलता, मोहकता, आकर्षकता आदि अद्भुत गुणों से—जो श्रीश्यामसुन्दरनिष्ठ हैं—और उस समय, उस स्थान पर अपने मुख से कहने तथा प्रिय सखीजन से सुनने में अच्छे लगते हैं—के गाये जाने पर (उनके समान कोई नहीं तो बढ़ कर तो कहाँ होगा ऐसे मोहक, प्रेमास्पद, आकर्षक प्रिय गुणों के प्रति प्रसन्न होकर स्वयं ही नवीन कविता और गीतों में बाँधे गए और मुझ अन्तरङ्ग कृपापात्रभूता सखी को स्वयं सिखाये गये थे, परीक्षण के लिये मैंने भी अकस्मात् जिन्हें गाना प्रारम्भ कर दिया था उनसे प्रसन्न हो श्रीराधा मुझ दासी को कब अपने चरणों पर से

वैकल्यज्ञातप्रियरसभावानुभावया तद्रसपोषार्थं समयानुकूलं तत्प्रियतान तरङ्गितगानैः प्रेमाभिनयसाङ्गार्थं सहायभूतैरिव प्रश्नमर्मसमोत्तरलाभैरिव प्रीता सती सा पूर्वोक्ताऽऽसज्यप्रभुत्वाप्यनुरागरससिन्धुरासक्तरूपा वृषभानुपुत्री तत्कुलमणिः परमसुकुमारी राजकुमारी लाल्यमानप्रतिक्षणललना प्रेमोष्ण-किरणानन्दिनी मां तत्पदप्रेमासन्तोषां परिष्वजत्विति बाल्यत एव लघुवय-स्यक्रीडनसहचरीं श्रीव्रजनवयुवराजविवाहे कीर्तिदया श्रीभानुना च वात्सल्येन मनोनुवर्तित्वज्ञातशीलतया च सहैव दत्तां लाडलया ज्ञातमीनवत्स्वैक-जीवनां स्वमुखेन याचित्वापि नीतां परमप्रेमास्पदां भूयो नवनवगानादि-वैदग्ध्यगुणसम्पन्नां पुनश्च प्रियगुणैर्गीयमानैः कृपया वात्सल्येन सख्यदानेन परिरभ्यतु ।

रसकलश

उठा कर हृदय से लगाएँगी । अथवा नित्य पास में स्थित रहने के कारण उस समय के उनकी चमत्कार और विकलता से जान लिये हैं प्रिय के प्रति रस और भाव के अनुकूल अनुभाव या कार्य जिसने और इसीलिए उस रस का पोषण करने के लिए समय के अनुसार उनको प्रिय लगने वाली तान तरङ्गों वाले गीत गाने के द्वारा प्रेम के अभिनय को सांगोपाङ्ग प्रस्तुत करने में सहायक बने हुए से, प्रश्न के मर्म के अनुरूप उतर की प्राप्तियों जैसे प्रियतम के गीयमान गुणों से प्रसन्न हुई, पूर्वोक्ता, आसज्य (प्रीति का विषय) बना हुआ है प्रभुत्व जिसका, ऐसी अनुराग और रस की सिन्धु आसक्त (प्रेम का आश्रय) रूप धारण किये हुई वृषभानुनन्दिनी (श्रीराधा) जो श्रीवृषभानु कुल की प्रकाशक मणि हैं, परम सुकुमारी राजकुमारी हैं। लाड लड़ाते रहने के कारण प्रति-क्षण लाडलेपन के प्रेमरूपी सूर्य (भानु) को आनन्दित करने वाली मुझ किङ्करी को—जो मैं उनके चरणों के प्रेम से कभी भी तृप्त नहीं होती ऐसी को—कब अपने हृदय से लगाएँगी । मैं बचपन से ही उनकी छोटी सखी के रूप से उनके साथ खेलती रही जब श्री व्रजमण्डल के नवीन युवराज (श्री श्याम सुन्दर) के साथ श्रीराधा जी का विवाह हुआ तब श्री कीर्तिदा जी और श्री वृषभानु जी ने वात्सल्यभाव के कारण 'श्रीराधा को यह सखी सदा उसके मन के अनुकूल चलती रही है' मेरे इस स्वभाव को जानते हुए मुझे भी श्रीराधा जी के साथ ही दहेज में दे दिया, श्री लाडली जी को भी ज्ञात था कि मछली का जीवन जल है और इसका जीवन मैं (श्री राधा) हूँ । अतः उन्होंने मुझे श्रीकीर्तिदा और श्रीवृषभानु जी से स्वयं ही माँग लिया और साथ ले आईं, मैं उनके परम प्रेम की पात्री हूँ फिर नवीन नवीन गान आदि नागरता के गुणों से सम्पन्न भी हूँ अतः मेरे द्वारा प्रिय के गुणों के गाये जाने पर मुझ पर कृपा करके वात्सल्यभाव से मुझे सखी भाव देकर आलिगन करें ।

लोटा सख्यबलादनुरागदानप्रेरणमुक्त्वा निजैतत्साधकरूपविषयकम-मतयाहङ्कारास्पदसहचरीरूपमाशीर्वदतीति वा प्रियविषयकानुरागातिशय-द्योतनेन प्रियागामियशोरूपफलदानेन परस्मैपदार्थश्चेति ॥१८॥

अनुरागोद्दीपनानन्तरं प्रियमिलनानन्दरससिन्धुत्वं निर्दिशति—

श्रीराधिके सुरतरङ्गिनितम्बभागे
काञ्चीकलापकलहंसकलानुलापैः ।
मञ्जीरशिञ्जितमधुव्रतगुञ्जिताङ्घ्रि-
पङ्केरुहैः शिशिरय स्वरसच्छटाभिः ॥१९॥

हे श्रीराधिके सकललावण्यशोभायुतानिर्वचनीयसिद्धिरूपे आदित एव सख्याधिकृतमदगोपितरहोलीलेऽङ्गीकृतमत्प्रार्थने दर्शितप्रियपूर्णानुरागे अधुना त्वं स्वरसच्छटाभिर्मा शिशिरयेति भावनायामभिमुखस्थितत्वात्प्रस्तुताद्वान्य-सखीप्रियाभिप्रायेण वा मामित्यनुक्तिः ।

रसकलश

यहाँ पर 'परिष्वजतु' 'आलिंगन करें' इस वाक्य में लोट् लकार द्वारा सखीभाव क बल से अनुराग दान की प्रेरणा करते हैं अथवा अपने आप साधक होने से उनकी साधक विषयक ममता से अपने आप को अहङ्कार का पात्र बनी हुई सहचरी होने का आशीर्वाद भी देते हैं। यहाँ प्रिय विषयक अनुराग की अगाधता प्रकट करने के साथ-साथ ही प्रिया जी को यश रूपी फल देने के द्वारा परस्मैपद का अर्थ भी प्रकट होता है ॥१८॥

इस प्रकार अनुराग का उद्दीपन करने के बाद श्रीराधा प्रियमिलन के आनन्द-रस का भी सिन्धु हैं यह बताते हैं—

'हे श्रीराधिका आप तो सुरतरंगिनितम्बभागा—(सुरत केलिकला के आश्रय बने हुए हैं नितम्ब भाग जिसके) ऐसी हैं, सुवर्णमय काञ्चीकलाप रूपी कलहंस के मनोहर आलापों वाले, मंजीरों के शिञ्जन रूपी भ्रमरों के गुञ्जन से प्रतिध्वनित हुए अपने चरण कमलों से इस की छटाओं द्वारा शिशिर या शीतल कर दो। दर्शनोत्कण्ठा का ताप मिटा कर शान्ति प्रदान करो।'

हे श्राराधिके, सम्पूर्ण लावण्य और समग्र शोभा से युक्त अनिर्वचनीय सिद्धि-स्वरूपे, आरम्भ से ही सखी आदि द्वारा की गई मुझ से न छिपाई गई लीलाओं वाली, मेरी प्रार्थनाओं को सदा स्वीकार करने वाली, अपना पूर्ण अनुराग दिखा (प्रकट कर) देने वाली, अब तुम अपनी रसच्छटाओं से मुझे शीतल कर दो। भावना में सामने स्थित होने के कारण, प्रस्तुत होने के कारण, अथवा अन्य सखी या प्रियतम के आश्रय से 'मुझ को' यह कहा गया।

स्वरसेति स्वस्या वा निजासाधारणो यो रस आनन्दः श्रवणदर्शन-विषयकलीलामाधुर्यास्वादरूपो विगलितवेद्यान्तरताधायकस्तस्य च्छटाश्चमत्कारा वा नदीरूपकेण शीतशीकरा इव मनोदृष्टिप्लावकास्ताभिस्त्वत्प्रियसह-विलाससौभाग्यदर्शनलालसातप्तां मामिति शिशिरक्रियाप्रक्षिप्तस्तापवि-शिष्टोऽर्थः, तदनुकूलं पुनः सम्बोधयति हे सुरतरङ्गिनितम्बभागे दर्शनमात्रेण प्रियमनसि सुरतरञ्जनं यस्माद् रूपानन्दादप्याकृष्य विलासेच्छायां प्रेरयतीत्यर्थः,सुरतरङ्गी कटिपश्चाद्भागो यस्याः। यद्वा सुष्ठु-रतक्रीडाया रङ्गभूमिमन्नितम्बप्रदेशो यस्याः। यद्वा काञ्चीत्यादिकलानुलापैः कृत्वा सुरतरङ्गसूची नितम्बप्रदेशो यस्याः। आगमनगमनभावनार्थे तु प्रियः पृष्ठशोभां पश्यन्ननुगच्छति तदपेक्षया सुरतरङ्गकारत्वं नितम्बस्य चलने काञ्चीमञ्जीरशब्दभवनं घटत एव, विलाससमयश्चेत्तदपि तन्निनादो घटते, विलासानन्तरार्थश्चेत्केलिकुञ्जान्तर्गमने सखी पृष्ठशोभां वदति, काञ्ची-

रसकलश

यहां स्वरस या अपने रस से तात्पर्य है कि श्री राधाविषयक असाधारण रस, जो रस आनन्द स्वरूप है जो श्रवण और दर्शन विषयक लीला माधुर्य का आस्वाद रूप है। अन्य ज्ञेयों के ज्ञान को विचलित या विच्छिन्न कर देने वाले उस रस की छटाओं या चमत्कारों से-श्री राधा जी पर यहां नदी का आरोप होने से शीतल जल कणों के जैसे मन और नेत्रों को आप्लावित कर देने वाली उन छटाओं या उन छींटों से-प्रियतम के साथ तुम्हारे विलासों के सौभाग्यमय दर्शन की लालसा से सन्तप्त हुई मुझको शिशिर या शीतल कर दो। यहाँ शिशिरीकरण या शीतलीकरण की क्रिया से ताप विशेष का आक्षेप होता है। उसी शीतलीकरण क्रिया के अनुरूप सम्बोधन करती हैं—हे सुरतरङ्गि-नितम्बभागे, दर्शन मात्र से प्रियतम (श्री श्याम) के मन में सुरतरञ्जन कर देने वाले हैं नितम्ब भाग जिसके, इसका तात्पर्य है कि तुम रूपानन्दों से आकर्षित करके श्रीश्याम सुन्दर को विलास की इच्छा में प्रेरित कर देती हो। अतः सुरतरङ्गी है कटि का पश्चाद्-भाग जिनका तुम ऐसी हो, अथवा सुष्ठु या सुन्दर रत क्रीड़ा की रङ्गभूमि वाला है नितम्ब प्रदेश जिसका, अथवा काञ्ची इत्यादि के मनोहर आलाप के द्वारा सुरतरङ्ग की सूचना देने वाला है नितम्ब प्रदेश जिनका, अथवा आने जाने की भावना में प्रियतम श्रीप्रिया जी की पृष्ठ शोभा देखते हुए पीछे पीछे चलते हैं, अतः उनके प्रति नितम्ब का सुरत-रङ्ग करने वाला होना कहा गया है क्योंकि चलने के समय काञ्ची और मञ्जीर की ध्वनि का होना उचित ही है। और यदि विलास का समय हो तब तो यह काञ्ची और मञ्जीर का शिञ्जन उचित ही है। यदि विलास के अनन्तर का प्रसङ्ग हो तब केलिकुञ्ज के अन्दर कोई सखी प्रिया जी की पृष्ठ शोभा का वर्णन करती है। काञ्ची-

सूत्रनीवीविमर्दितकबरीविगलितलम्बमानकुसुमस्रगादिशोभां पश्यन्ती सुरतरङ्गीति वक्ति । अथवा तृतीयान्तस्य भिन्नसम्बन्धः, कीदृशीत्वं काञ्चीति मञ्जीरेति तृतीयान्ताभ्यामुपलक्षिता वा तैश्च स्वरसच्छटाभिश्च शिशिरयेति भिन्नकरणपदानां शिशिरीकरणे युगपदेव समन्वयाच्चमत्कारानुक्तिः ।

यद्वा काञ्चीमञ्जीरशब्दैरुद्दीपिता या रसच्छटास्ताभिः शीतलत्वं श्रवणचक्षुर्भ्यां मनसोऽत्यानन्दस्तेन सर्वाङ्गीणाप्यायनम्, अत्र कलहंसकलमधुपकरम्बितपङ्केरुहैर्नदीरूपकं दृश्यते। उपमानो लुप्तो वाग्रिमश्लोकात्समाकर्षणीयः, तदा नितम्बेति तत्तटप्रदेशः, सुरतेति सुष्ठुरतक्रीडनरङ्गवानतिशयरमणीय इत्यर्थः । कलहंसा अपि तत्रैव क्रीडन्ति कूजन्ति, कमलान्यपि तत्रैव जलोपान्ते भ्रमरयुतानि शोभन्ते इति जलमयत्वात्समीरजकल्लोलतटाघातोच्छलितजलच्छटा उदयन्तीति शीतोपचारः कमलरसच्छटाभिस्तु साक्षात्, कल-

रसकलश

सूत्र और नीवी का विमर्दन (छीना झपटी से विशृङ्खल होना) केशपाश में से लटकती हुई पुष्पमालाओं का खिसक जाना आदि शोभा को देखती हुई कहती है कि हे सुरतरङ्गि-नितम्ब भागे !' अथवा काञ्चीकलापकलहंसकलानुलापैः, और मञ्जीरशिञ्जित मधुव्रतगुञ्जिताङ्घ्रिपङ्केरुहैः' में तृतीया विभक्तियों के साथ उनका पृथक् सम्बन्ध है। श्रीराधा जी कैसी हैं ? का उत्तर है कि काञ्ची कलाप आदि से तथा मञ्जीरशिञ्जित आदि से उपलक्षिता या युक्त हैं । अथवा उनके द्वारा और अपनी रसच्छटाओं द्वारा शिशिर कर दो इस रूप से तीन भिन्न करणों के वाचक पदों का शिशिरीकरण के साथ एक साथ समन्वय हो सकता है किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं कहा जाता ।

अथवा काञ्ची और मञ्जीरे के मञ्जुल शिञ्जितों से उद्दीपित हुई जो रसच्छटाएँ उनके द्वारा शीतलीकरण अर्थात् कानों और नेत्रों के द्वारा मन में आनन्द उत्पन्न हुआ और उससे समग्र अङ्गों को परम तृप्ति प्राप्त हुई । यहाँ पर कलहंसों और कल-मधुपों से आवेष्टित कमलों के द्वारा श्रीप्रिया जी में नदी का रूपक वर्णन किया गया है । यहाँ उपमान लुप्त है, अथवा अग्रिम श्लोक 'श्रीराधिके, सुरतरङ्गिणि दिव्य केलि कल्लोल-मालिनि लसद्वदनारविन्दे' इत्यादि में से सुरतरङ्गिणी रूपी उपमान का यहाँ पर भी प्रत्याकर्षण कर लेना चाहिये । तब नितम्ब में तट प्रदेश का आरोप हो जायेगा । और सुरतरङ्गि के दो अर्थ हो जाएँगे, 'सुष्ठु भली भाँति रत क्रीड़ा का रङ्ग' अथवा 'अनिर्वच-नीय रमणीय' । कलहंस भी वहीं खेलते हैं, कूजन करते हैं, कमल भी वहीं जल के समीप भ्रमरों से युक्त होकर शोभा पाते हैं । इस प्रकार जलमय होने के कारण पवन से उत्पन्न कल्लोलों का तट पर आघात होने से जल के छींटे उछलते हैं यह सब शीतल उपचार है । कमल के रस की छटाओं से तो साक्षात् ही शीतोपचार

हंसकलं श्रुत्वा प्रभूतस्वच्छसौगन्धिकमण्डितगम्भीरजलाशयनियतवासस्मृत्यु-द्गमान्निर्मलमनस्त्वं शिशिरत्वं साक्षात्क्रियते, तद्द्वारैव सर्वाङ्गीणाप्यायनं भवति, काञ्चीकलाऽपेपि मणिरणत्कृतलघुतरघण्टिकासमूह एव कलस्वरा हंसास्तेषां कलाः श्रवणमनोहरा अनुलापा मुहुर्ध्वनितपरम्परास्तैस्तत्स-मसमयमेव मञ्जीरौ नूपुरौ तयोः शिञ्जितमेव मधुव्रतगुञ्जितं ययोस्तावङ्घ्री एव कमलानि तैर्यत्र तत्र गमने पदन्यासबाहुल्यात्कमलायमानस्थलदर्शना-द्द्वित्वेऽपि बहुत्वम्, मधुन्येव व्रतं येषामिति तत्प्रवणत्वं नान्यत्र गमनमिति नूपुरयोः प्रियेण परमप्रीत्याऽलङ्कृतयोरास्वादनियतलाभार्थं तयोर्विषये भाव-नया स्वत्वमावेश्येवेत्यर्थः ।

पङ्केरुहेति प्रियकरभावस्मृतिजातस्तम्भत्वं सूचयति सुजातारुणवर्णमा-र्दवशीतलसुगन्धश्रीमत्त्वं तु स्फुटमेव गमनार्थे चरिताभिरामत्वं स्मारितं, अत एव रसो भावानुभावोद्दीपनादिभिरुदितस्तस्य च्छटा हावभावलीलाला-

रसकलश

हो जाता है। कल हंस के कलकूजन को सुनकर बहुत अधिक स्वच्छ और सुगन्ध भरे कमलों से मण्डित (सुशोभित) गम्भीर जलाशय के निकट रहने की स्मृति आ जाने से निर्मल मन वाला हो जाना ही शिशिर या शीतल होना देखा जाता है उसके द्वारा ही सभी अङ्गों को परम तृप्ति प्राप्त होती है। काञ्चीकलाप अर्थात् मणिगणों से युक्त छोटी-छोटी घुंघरियों के समूह ही कलहंसों या राजहंसों के श्रुतिसुखद अनुलाप या ध्वनि परम्पराएँ हैं उनसे और उसी समय मञ्जुल नूपुरों के शिञ्जित रूपी मधुकरों के गुञ्जितों से युक्त चरण कमलों से मुझे शीतल करो। यहाँ दो चरण कमलों के लिए बहुवचन के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि यहाँ वहां जाने में कई बार चरण विन्यास करने के कारण कमलों से युक्त स्थल का दर्शन होने के कारण अनेक कमल प्रतीत हो रहे हैं। मधु में ही जिनका व्रत है वे मधुव्रत, मधुव्रत शब्द' तन्मात्र परायण अन्यत्र न जाने वाले के अर्थ को बताता है। नूपुरों के विषय में आस्वाद के अवश्यलाभार्थ भाव-मय स्वत्व का आवेश सा करके कहा गया है क्योंकि ये नूपुर प्रियतम के द्वारा परमप्रीति से अलङ्कृत किये गये हैं।

श्री चरणों को पङ्केरुह (कमल) कहने से यह सूचित होता है कि प्रियतम के कर कमलों से नूपुर पहनाते समय जो भाव अनुभूत हुआ उस भाव की स्मृति से इन चरणों में अब भी स्तम्भ या स्तब्धतासी आ रही है। चरणों को कमल कहने से जाना जाता है कि उनमें सुन्दरता, अरुणता, कोमलता, शीतलता, सुगन्ध और श्रीशालिता तो स्पष्ट रूप में है ही। गमन या जाने के अर्थ की प्रतीति होने पर चरिताभिरामता का स्मरण कराया गया है। इसीलिए यहाँ भाव, अनुभाव और उद्दीपन आदि द्वारा जो रसो-

लित्यादयस्ताभिरिति, अथवाऽत्र काञ्चीमञ्जीरशब्दैर्वीरायितविलास-सूचनाद् वक्तृद्रष्टृसख्या दास्यसंवलितसख्यरसात्परमानन्दजननाभिलाष इति ।

अवशिष्टनदीरूपकमाह—

श्रीराधिके सुरतरङ्गिणि दिव्यकेलि-
कल्लोलमालिनि लसद्वदनारविन्दे ।
श्यामामृताम्बुनिधिसङ्गमतीव्रवेगि-
न्यावर्तनाभिरुचिरे मम शं निधेहि ॥२८॥

श्रीराधिके प्रियसङ्गमसुखदाननीतिनिपुणे याचकानुकम्पने सुरतेति सुष्ठुक्रीडनरङ्गवति वा सुरेति दिव्यालौकिकाद्भुतचमत्कृततरङ्गिणि नदीरूपे । दिव्येति क्रीडा स्थलजलशयनविषया नानाविधा, विजिगीषा तृषिततत्तद्विला-सवीराभिमानिकान्तविजयेच्छा, व्यवहारोऽन्योन्यमनोदानादानचुम्बनपरि-

रसकलश

दय हुआ है, हाव, भाव, लीला और लालित्य आदि उसी रस की छटाएँ हैं उन रसच्छ-टाओं के द्वारा श्रीराधिके ! तुम मुझे शीतल करो यह प्रार्थना है । अथवा यहाँ काञ्ची (मेखला) मञ्जीर (नूपुर) आदि के कल अनुलाप और मञ्जु शिञ्जितों द्वारा वीरायित विलास (विपरीतरति) की सूचना होने से कहने वाली और देखने वाली सखी के द्वारा दास्य से संवलित सख्यरस से परम आनन्द उत्पन्न करने की अभिलाषा की गई है ।

(यहाँ आंशिक रूप से और व्यङ्ग्य रूप से श्रीराधिका में नदी का आरोप किया गया है) अब वाच्य रूप से नदी रूपक का निरूपण (करके अपने हृदय में उनके मङ्गल-मय सन्निधान) के लिये शान्ति आधान हेतु निवेदन करते हैं—

'दिव्य केलिरूप कल्लोल मालाओं वाली, शोभायमान मुखरूपी कमल वाली, श्याम रूपी अमृत सिन्धु के साथ सङ्गम के लिए तीव्र वेग वाली आवर्त (भंवर) जैसी नाभि से मनोज्ञा, सुरतरङ्गिणी (सुरत क्रीड़ा द्वारा श्री श्याम तथा सखी वृन्द का मनोरंजन करने वाली अथवा देवनदीरूपा) श्रीराधिका, आप मेरे हृदय में मङ्गलमय सन्निधान करो, मेरे हृदय में शान्ति आधान करो ।

हे श्रीराधिके, प्रियतम को सङ्गम सुख देने की नीति में निपुणा, याचक जन पर अनुकम्पा करने वाली, सुन्दर क्रीडा के रङ्ग वाली, अथवा दिव्य अलौकिक, अद्भुत एवं चमत्कार युक्त तरङ्गों वाली नदी स्वरूपिणी दिव्यक्रीडारूपी कल्लोलों की माला वाली । दिव धातु के क्रीडा आदि अनेक अर्थ हैं, १. क्रीडा स्थलमें जलमें, शयन में अनेक प्रकार की हो सकती हैं, २. विजिगीषा नित्य तृषित और उन विलासों में अपने आपको वीर मानने वाले प्रियतम को जीतने की इच्छा, ३. व्यवहार परस्पर अपना मन देना,

रम्भरतादिसंघर्षकुसीदविनिमयतत्तदनुकरणनिर्वाहः, द्युतिर्दीप्तिमण्डलितसकलप्रतीकता, स्तुतिस्तत्तद्विलासविजयपराभवान्यतमसस्मेरस्तुतिकर्तृकारयितृत्वम्, मोहो हर्षपरिहासकूर्दनादिः, मदो निजधनवपुर्वयोरूपाभिजात्यगुणादिगर्वो मत्तता वा, स्वप्नं प्रियहृदयबाह्याभ्यन्तरनियतशयनं वा स्वप्नावस्थायां तत्तन्मनोरथक्रीडास्फूर्तिः, कान्तिस्तत्तदिष्टपूरणाभिलाषः, गतिर्हंसगजादिनीराजितलीलाभिसरणरासलास्यचरणन्याससङ्केतकुञ्जप्रापणमित्याद्या वा दिव्येति सकललौकिककविविलासिमनोवागतीतरूपाश्च केलय एव कल्लोलाः साटोपमहावीचयस्तेषां माला निरवध्यहमहमिकापरम्परा विद्यते यस्यां, तदपि लसदव्याकुलशोभमानं सहसितस्फुरत्कटाक्षहावभावादीनलीलोदारमलकभ्रूमधुकरनिकुरम्बकरम्बितं विकस्वरं वदनमेवारविन्दं यस्याः, पुनश्च श्यामेति अनवगाह्यागाधगम्भीररसामृतसिन्धुप्रियसमागमे तीव्रो वेगो यस्याः, दूरतो मन्दगमनमेव नैकटयागमने तु तत्क्षणं धीरायाा

रसकलश

दूसरे का मन लेना, चुम्बन, आलिङ्गन, रति आदि संघर्ष, कुसीद (व्याज) विनिमय (लेन देन) उस-उस वस्तु का अनुकरण और निर्वाह, ४. द्युति सभी अङ्गों का दीप्ति से मण्डलित रहना, ५. स्तुति–उस-उस विलास में विजय और पराजय के समय किसी एक द्वारा मुस्कराते हुए स्तुति किया जाना या स्तुति कराना- ६. मोह-हर्ष या परिहास से कूदने लगना आदि मद अथवा अपने धन, तन, यौवन, रूप, कुलीनता आदि गुणों के गर्व से उन्मत्त होना, ७. स्वप्न प्रिय के हृदय में—बाहर और अन्दर सदा सोना, अथवा, स्वप्नवस्था में उन-उन मनोरथमयी क्रीडाओं की स्फूर्ति होना, ८. क्रान्ति उस-उस मनोरथ को पूरा करने की अभिलाषा, ९. गति-हंस और गज आदि के समान चलना, नीराजित लीला (आरती की सी गति) अभिसरण (प्रिय के पास जाना अथवा उन्हें अपने पास बुलाना) रासलीला, लास्य (नृत्य) लीला, चरणविन्यास, सङ्केतकुञ्जगमन इत्यादि अथवा दिव्य केलि का अर्थ है समस्त लौकिक कवियों और विलासियों के मन, वचन से अगम्य स्वरूप वाली क्रीडाएँ ही कल्लोल या तरङ्गें हैं क्योंकि उनमें भी बड़े आटोप या आडम्बर के साथ बड़े २ परिवर्तन आते हैं उनकी माला एक असीम परम्परा जिस में प्रत्येक क्रीडा' मैं पहले मैं पहले' कहती हुई उदभूत होती है ऐसी दिव्यकेलिरूपी कल्लोलों की माला जिसमें है उसको सम्बोधन में दिव्यकेलिकल्लोलमालिनि !' कहा गया। इसी प्रकार अव्याकुल भाव से शोभायमान, मन्द मुस्कान चञ्चल कटाक्ष, हाव भाव, असीम लीलाओं से उदार अलकावली और भ्रुकुटि रूपी भौरों के समूह से आवेष्टित विकासशाला श्रीमुख ही है कमल जिसमें, उसके सम्बोधन में लसद्वदनारविन्दे' कहा गया। फिर श्याम रूपी अवगाहन न किया जा सकने वाला अगाध, गम्भीर रस रूपी अमृत का सागर उसके समागम के समय तीव्र हो गया है वेग जिसका, उसको

अप्यधीरत्वं प्रियाभिलाषपूरणदानवीरत्वं ध्वनितं, स्वस्या अपि यथेष्टविलासकामुकीत्वं च कदेयमपि लज्जालुः स्वाभिलाषं प्रकाशयेदिति सखीवाञ्छितचरत्वादपि नदीवेगे सिन्धुरपि स्वकल्लोलातिशयेनाभिमुखं क्षिप्रमागत्य सम्भिन्नो भवति न पृथग्जलविवेकस्तद्वत्प्रियसम्मुखमागत्य भुजापीडालिङ्गनैकीभावं प्राप्नोति, सापि स्वत्वं विस्मृत्य तद्रसमिलने तन्मयतां गच्छतीति ध्वनिः। तीव्रेति पूर्वमेव तन्मनोवेधनकर्तृत्वं वेगस्येति, आवर्तेति अम्भोभ्रमवद् दृश्यमाननाभितो रुचिरे इत्यनेन विलाससमये विश्लथन्नीवीत्वं ध्वनितम्, एवं नदीरूपकेण विलासभरो दर्शितः, मम तदभिलाषवत्याः शं सुखं निजविलासानन्दं निधेहि निधिवन्मम हृदयकोशे स्थापयेत्यर्थः। न्यासीभूतवद्वा यथा समये पुनर्दास्याम्येवेति प्रतिदानं ध्वनितम्। तस्या नदीत्वात्तस्य सिन्धुत्वाद् दाम्पत्यार्हता नतु तारतम्यं ज्ञेयम्, आसक्तरूपत्वमप्यङ्गीकृतं च

रसकलश

सम्बोधन में श्यामामृताम्बुनिधिसङ्गमतीव्रवेगिनि' कहा गया। इससे प्रतीत होता है कि दूर से तो श्रीराधा मन्दगति से ही आती हैं किन्तु समीप आने पर तत्क्षण परमधीरा भी अधीर हो जाती हैं और उनमें प्रियतम की अभिलाषा को पूर्ण करने की दानवीरता उमड़ पड़ती है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि श्री प्रिया जी स्वयं भी यथेष्ट विलासों को चाहती हैं। सखीजन भी कहते हैं कि कब ये लज्जाशीला (श्रीराधा) अपनी अभिलाषा को प्रकट करेंगी। नदी के वेग म सागर भी अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गों से सामने आता है और नदी से मिलकर अभिन्न या एक हो जाता है, वहाँ पृथक् रहने वाले लोगों को इस का विवेक नहीं हो पाता कि नदी कौन है और सागर कौन है? उसी प्रकार प्रियतम भी सामने आकर भुजाओं द्वारा आपीडन और अलिङ्गन करते हुए एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वे (श्रीराधा) भी अपने स्वत्व को भुला करके उस रसमय मिलन में तन्मयता को प्राप्त हो जाती हैं यहाँ यह ध्वनि है। तीव्र वेग कहने का तात्पर्य यह है कि पहले ही यह वेग श्री श्याम के मन का वेधन कर देता है।

आवर्त (भँवर) पानी के चक्रसी दीखती हुई नाभि से रुचिरा अर्थात् रमणीया उसके सम्बोधन में 'आवर्तनाभिरुचिरे' कहा गया। इससे ध्वनित होता है कि विलास समय में नीवी शिथिल हो जाने से नाभि दृश्यमान है। इस प्रकार नदी के रूपक द्वारा विलासों का उद्रेक दिखाया गया है। मुझ उस दर्शन की अभिलाषा वाली दासी को सुख-अपने विलासों का आनन्द—निधि की भांति प्रदान करो अर्थात् मेरे हृदय कोश में निज विलासानन्द निधिवत् स्थापित कर दो। अथवा न्यास (धरोहर) की भाँति मेरे पास रख दो मैं फिर वापस लौटा दूँगी, इस रूप म प्रतिदान या प्रति समर्पण भी ध्वनित होता है।

श्री प्रिया जी के नदीस्वरूप होने से प्रियतम का सिन्धुस्वरूप होना अर्थात् नदी-सिन्धुरूपक द्वारा दोनों की दाम्पत्य योग्यता की प्रतीति होना स्वाभाविक है। दोनों में समतुलता है कोई तारतम्य या अन्तर नहीं है। इसके द्वारा प्रिया जी के कादाचित्क (कभी-कभी होने वाले) आसक्त स्वरूप को भी अङ्गीकार किया गया है। तुम मुझ में

त्वं मम शं निधेहीति स्वसुखदाने प्रियैव कर्त्री, किञ्च सिन्धुजलैकीभावेऽपि शृङ्गीमत्स्यो गङ्गानीरधारां विविच्यास्वादयति, तद्वत् प्रियसङ्गं क्येऽपि मम तु त्वदानन्दसम्बन्ध एव प्रयोजनम्, त्वामेव याचयामीति प्रियसङ्गेषु त्वं शं प्राप्नुहीति परस्मैपदार्थ आशीश्च सखीसुखदाने प्रेरणं चेति ।।२०।।

उपक्षिप्तं वात्सल्यसिन्धुत्वं कृपैकसिन्धुत्वं च निर्दिशति—

सत्प्रेमसिन्धुमकरन्दरसौघधारा-
सारानजस्रमभितः स्रवदाश्रितेषु ।
श्रीराधिके तवकदा चरणारविन्दं
गोविन्दजीवनधनं शिरसा वहामि ।।२१।।

श्रीराधिके सर्वाङ्गरूपसम्पद्वत्यप्यज्ञातेऽवस्थिते सकलसंसिद्धिरूपे सख्यदानवनीयसि तवात्युदारपरमरमणीयचरितायाश्चरणारविन्दं प्रियतमासक्तिकिरणमालिसंप्राप्तयथार्हहर्षविकसनं तदभिलषितपरम्, कदेति भाग्योदये शिरसा तद्धारणसौभाग्येच्छानुसर्त्रा वहामि चूडामणिवद् दधामीत्यर्थः, प्रत्यक्षं तु दास्येन प्रणमामीत्यर्थो ज्ञेयः । भावनायां कमलरूपोक्त्या भूषणवद्धारणम् ।

रसकलश

सुख आधान करो इस प्रार्थना द्वारा 'मुझ दासी को सुख देने वाली श्री प्रिया जो ही हैं' यह भी सूचित है। और यह भी सूचित है कि गङ्गाजल के सागर में मिलकर एकीभाव को प्राप्त हो जाने पर भी शृङ्गीमत्स्य तो विचार पूर्वक गङ्गाजल का धारा का ही आस्वादन करता है वैसे ही प्रियतम के सङ्गम में एकत्व हो जाने पर भी मेरा तो श्रीराधा सुख स ही सम्बन्ध रखने में प्रयोजन है। मैं तो श्रीराधा जी से ही याचना करती हूँ। श्रीराधे ! तुम अपने प्रियतम के सङ्गमों में सुख प्राप्त करो यह निधेहि के परस्मैपद द्वारा सूचित होता है अतः यह एक आशीर्वाद भी है तथा सखीजन को सुख देने की प्रेरणा भी है ।।२०।।

अब पूर्व श्लोक में वर्णित वात्सल्यसिन्धुता तथा कृपैकसिन्धुता का निर्देश करते हैं–

'हे श्रीराधिके ! विशुद्ध प्रेमसागर का मकरन्द (सारभूत) जो रस उसके प्रवाह की धाराओं की बौछारों को सदा सभी ओर से आश्रित जनों पर बहाने वाले और श्रीगोविन्द के जीवन धन ऐसे तेरे चरणारविन्द को मैं सिरसे कब वहन (धारण) करूँगी।'

श्रीराधिके ! सर्वाङ्गीण रूप सम्पत्ति से परिपूर्णा होती हुई भो अज्ञात सी अवस्थित, समस्त समीचीन सिद्धि स्वरूप सख्यभाव देने के कारण विशेष वन्दनीयचरित्र ऐसे तेरे चरणारविन्द को जो प्रियतम की आसक्ति रूपी सूर्य से समुचित हर्षरूपी विकास का प्राप्त करने वाले हैं उनकी समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने में तत्पर हैं कब भाग्योदय होने पर उन चरणों को धारण करने के सौभाग्य की पान की इच्छा का अनुसरण करने वाले अपने सिर से वहन करूँगी, चूडामणि की भांति धारण करूँगी। प्रत्यक्ष में दास्यभाव से उन (चरणारविन्दों) के आगे कब प्रणाम करूँगी। भावना में कमल का रूपक कहने का यह तातपय है कि भूषण की भाँति इन चरण कमलों को कब धारण करूँगा।

मकरन्दित्वमाह-सदिति, सकलप्रसिद्धान्यप्रेमत उत्कृष्टं त्रिकालाबाधितं स्थिरकार्यकरणं यत्प्रेम तस्य सिन्धुरतिगम्भीराक्षुभितोत्तरङ्गितपूरातिमोदि-गुणयुक्तो यो मकरन्दरसश्चिन्तामणिचन्द्रकान्तादिवदचिन्त्यशक्तिमयो, यस्मिन्मकरन्दलेशे प्रेमसिन्धुर्महानपि लीन इव दृश्यते, अर्थाद्यद्रसच्छटयाऽखण्डगम्भीरप्रेमसिन्धुर्भक्तहृदि कल्लोलितः स्यात्तादृशो मकरन्दः पुष्परसो रस इति विशिष्य कथनेन परात्परो' रसो वै स' इति मूर्तिमान् रसरूपो निर्दिष्टः ।

यद्वा शृङ्गाररसस्तस्यौघाः प्रवाहास्तेषां धाराः साराः श्रेष्ठ-धारा वा धाराणामासारा धारासम्पातास्तान् आश्रितेषु अजस्रं निरन्तरम् अभितः सर्वतः स्रवत् ओघास्तु पदकमलविशदसंलग्नास्तन्मध्यादुद्गिरन्तो दृश्यमानाः पश्चात्किञ्चिन्मध्येऽम्बरदेशविशेषे धारा जातास्तत आसारा आश्रितविषये प्राप्यमाणा इति भेदः । आश्रितेति नित्यपरिकराः कृपया यूथे नवप्राप्यमाणाः साधकतमाश्चेति त्रयः स्रवदिति कमलमध्ये तु स्रवदिव भासमाना आश्रितदृष्टौ धारासम्पाता इवेति ।

रसकलश

जब चरणों को कमल कहा तो कमल में मकरन्द भी होना चाहिये अतः मकरन्दशाली होने का वर्णन करते हैं—सत् या अन्य सभी प्रसिद्ध प्रेमों की अपेक्षा उत्कृष्ट, तीनों कालों से अबाधित, स्थिर काय करने वाला जो प्रेम, उसक सागर—अतिशय गम्भीर, कभी क्षुब्ध न होने वाला, उत्तुङ्ग तरङ्गों वाले पूर से अति सुरभित (सुगन्धित) गुणों से युक्त जो मकरन्दरस चिन्तामणि और चन्द्रकान्तमणि के समान अचिन्त्य शक्ति से परिपूर्ण, जिस मकरन्द के लेशमात्र में प्रेम का बड़ा सागर भी लीन हुआ सा दीखता है, अर्थात् जिस रस की छटा से अखण्ड, गम्भीर, प्रेम सागर भक्तों के हृदय में लहराने लगता है उस प्रकार का मकरन्द या पुष्परस ही रस है, यहां मकरन्द कहने का तात्पर्य है कि यह रस परात्पर है, 'रसो वै सः इत्यादि श्रुतियों द्वारा वर्णित मूर्तिमान रस स्वरूप का निर्देश किया गया है। अथवा यह रस शृङ्गाररस है। उसके प्रवाह, उनकी धाराएँ, उनके सार अर्थात् श्रेष्ठ धाराएँ अथवा धाराओं के आसार (बौछारें) धारासम्पात, उनको आश्रित जनों पर निरन्तर चारों ओर से बहाते हुए चरणारविन्द को मैं सिर से कब धारण करूँगी। ओघ या प्रवाह तो पद कमल में संलग्न हैं और उनके बीच में से उछलते हुए दीखते हैं, बाद में वे ही बीच में—आकाश या अवकाश देश में—धारा रूप में परिणत हो जाते हैं फिर उन में से आसार या बौछारें आश्रित जनों को प्राप्त होती हैं ओघ, धारा और आसार में यह क्रमिक भेद है। आश्रितजन एक तो नित्य परिकर हैं दूसरे कृपापूर्वक यूथ में नए-नए लाये जा रहे हैं और तीसरे साधकतम हैं इस प्रकार तीन वर्गों के हैं। स्रवत् या बहाते हुए से तात्पर्य है कि कमल में से तो बहते या चूते हुए ही प्रतीत होते हैं किन्तु आश्रित के पास पहुँचते पहुंचते धारासम्पात या बौछार जैसे हो जाते हैं।

आश्रितेषु तद्दर्शनजातपुलककम्परोमोद्गमगद्गदाश्रुभरभ्रमस्नेहोदयस्य निरवधि दृश्यमानानुभावेनेयमुक्तिः। चरणे मकरन्दित्वं सुषमालावण्यभर आनन्दोद्गारश्च यद्यदानन्दकं वस्तु तस्मिञ्ज्ञेयम्। स च मकरन्दः स्रवति, अभित इति चरणाग्रपार्श्वपार्ष्णितलोपरिभागेषु यत्र दृष्टिः पतति तत्र लावण्यौघनिःसीमत्वं दृश्यते, अजस्रमिति केनापि देशेन कालेन प्रेमाभावो न सम्भाव्यते, सर्वदैव प्रेममधुस्रवणम्, आश्रितेत्यनेन वात्सल्यसिन्धुत्वमुक्तम्।

कृपासिन्धुत्वमाह—गोविन्देति, प्रियायाः सकलेन्द्रियस्पर्शरूपरसगन्धादीन् विन्दति लभते प्राप्नोति परमलाभं मन्यत इत्यर्थः। तस्य जीवनं धनं च, यद्वा—

'दिग्दृष्टि दीधिति स्वर्गसूर्यवाग्वाणवारिषु भूमौ पशौ च गोशब्दो विद्वद्भिर्दशधा मतः।'

इत्यर्थानुसारेण प्रिया दिशं प्राप्ताऽस्येति, कामदिगेव प्रेष्ठा यस्येति, दृष्टिमिति एकाग्रदृष्टिमनिमेषायमाणां प्राप्तस्य तज्जीवस्येति, तदानीं तस्यामेव जीववासात्प्रियामुखकिरणं प्राप्तस्येति, चन्द्रार्थे चकोरायमाणनेत्रत्वम्, आह्लादित्वं च, सूर्यार्थे तदुदयदीधितिस्पर्शमात्रतः स्वावयवारविन्दानां प्रहर्ष-

रसकलश

उन आश्रितजनों में दशनमात्र से ही पुलक, कम्प, रोमाञ्च, गद्गद, अश्रु प्रवाह, भ्रम और स्नेह की उत्पत्ति के निःसीम भाव से दीख रहे अनुभावों से ऐसा कहा गया है। चरण में मकरन्द सुषमा और लावण्य का अतिशय और आनन्दोद्गार या सुख का उद्रेक है। जो-जो आनन्ददायक वस्तु है उसमें मकरन्द का सम्बन्ध ऐसे ही समझना चाहिये। और वह मकरन्द बहता या चूता है चारों ओर बहना या चूना कहने का यह तात्पर्य है कि चरणों के अग्रभाग, पाश्वभाग पार्ष्णि या एड़ी भाग और चरण तल तथा चरणों का उपरिभाग सभी में जहां दृष्टि पड़ती है वहीं लावण्य के प्रवाह की असीमता दिखाई देती है। 'अजस्रम्' या निरन्तर कहने का तात्पर्य है किसी भी देश और किसी भी काल में प्रेम के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। सदा ही प्रेममधु बहता रहता है। इस प्रकार आश्रित जन के प्रति श्रीप्रिया जी के वात्सल्यसिन्धु होने का वर्णन किया है।

अब कृपा सिन्धु होने की बात कहते हैं (श्री गोविन्द के जीवन धन बने हुए चरणारविन्द को मैं सिर से कब धारण करूँगी इत्यादि श्री प्रिया जी से सकल (गो) इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदियों को प्राप्त करते हैं और इसी को परमलाभ मानते हैं अतः वे गोविन्द कहलाते हैं। उनके जीवन और धन श्री प्रिया जी के चरणारविन्द हैं। अथवा दिशा, दृष्टि, किरण, स्वर्ग, सूर्य, वाणी, बाण, पानी, भूमि और पशु इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग विद्वानों ने माना है। इसके अनुसार प्रिया जिसकी दिशा को (ओर) प्राप्त हुई हों, या काम दिशा ही जिनको अधिक प्रिय हो जो एकाग्र या निर्निमेष दृष्टि को प्राप्त हों, जो उनका जीवन हो क्योंकि उस समय उसमें ही जीवन का वास है। श्री प्रिया जी के मुख चन्द्र की किरणों को प्राप्त हुई, क्योंकि श्री प्रियामुखचन्द्र के लिये चकोरायमाण नेत्रों वाले, आह्लादकारी होने के कारण भी उनके मुखचन्द्र की किरणों का पान करते रहते हैं। सूर्य अर्थ में श्री राधा जी के उदय (समक्ष आनेके) काल की किरणों के स्पर्शमात्र से ही अङ्ग-अङ्ग रूपी कमलों में हर्ष से विकास को प्राप्त हुए, प्रियाजी

फुल्लनं प्राप्तस्येति, प्रियावाचं प्राप्तस्येति, तच्छन्दानुर्वातत्वेन तद्वचनस्थित-स्येति, कन्दर्पकोटिशरं प्राप्तस्येति तदोयानिर्वचनीयकटाक्षजातकामशरक्षतस्य, प्रत्यक्षविरहाश्रुजलं प्राप्तस्येति वा स्वनेत्रमीनापेक्षया प्रियारूपं नीरमिति, तदेकविहरणशीलस्य वा सात्त्विकजलमग्नस्येति, भूमिं प्राप्तस्येति स्वाभि-लाषावहित्थापूर्वकं प्रियासमक्षं नीचीनदृष्टेरिति वा तच्चरणास्तरणी-कृतनेत्रत्वमिति पशुमिति पशुत्वं प्राप्तस्येति यद्'भ्रू विलासरश्मिबद्धो मोहितो जड इव स्थगितस्तिष्ठति, इत्याद्यर्थेषु यथार्हं प्राप्तस्येति, गोविन्दस्य जीवन-धनमिति वा, प्रसिद्धगोवर्धनलीलार्थे देवेन्द्रवन्दितपदारविन्दस्यापि तत्पदपङ्कजं जीवनं धनं चेति तस्याः परमसौभाग्यँ, जीवनं यथा क्षुधितस्य परमान्नं तृषितस्यामृतजलं प्राणाप्यायनवद्वर्तमानं कञ्जोपमया गोविन्दस्य मधुपत्वं तादृशमकरन्द एव तस्य दैवनिर्मितनियतभोग्यं सर्वस्वं धनमिति सर्वव्यवहारपोषकं यावकभरणसम्वाहननूपुराद्यधारणादिरासलास्यन्यास-हंसगजादिगञ्जितगतिरतकालिकस्पर्शादिर्व्यवहारः चरणेति दाम्पत्येऽपि दास्यासक्तिनिष्ठत्वम् ।

रसकलश

की वाणी को प्राप्त हुए, अथवा उनके मनोऽनुकूल व्यवहार शील होने के कारण उनके वचन में सदा तत्पर, कामदेव के कोटिशरों को प्राप्त हुए, उनके अनिर्वचनीय कटाक्ष से उत्पन्न काम के बाणों से क्षत विक्षत हुए अतएव प्रत्यक्ष में विरह वाष्प को प्राप्त हुए, अथवा इनके नेत्र रूपी मत्स्य की अपेक्षा प्रिया जी का रूप जल है उसमें ही केवल विहार करने के स्वभाव वाले, अथवा सात्त्विक भाव के स्वेदजल में मग्न हुए, भूमि को प्राप्त हुए, अपनी अभिलाषा को छिपा ने के साथ-साथ श्री प्रिया जी के सामने नीची दृष्टि किये रहते हैं, अथवा प्रियतम ने अपने नेत्रों को उनके चरणों का आस्तरण बना दिया है। जिन श्रीराधा जी की भ्रुकुटि के विलास रूपी रज्जु में बँधे हुए मोहित हुए जड-से (अचेतन से) स्तब्ध हुए रहते हैं उनके सामने 'जाकी भ्रू विलास वश पशुरिव दिन विथकित, के अनुसार पशुभाव को भी प्राप्त हैं, इस प्रकार गो शब्द के दसों अर्थों की संगति को प्राप्त होने के कारण गोविन्द कहे जाने वाले श्री श्याम सुन्दर के जीवन धन अथवा प्रसिद्ध गोवर्धन लीला के कारण देवराज इन्द्र द्वारा भी जिनके पदारविन्दों की वन्दना की गई थी उन श्याम सुन्दर के भी, जीवन और धन श्रीराधा जी के चरणारविन्द हैं, अतः श्रीराधा जी का सौभाग्य अनिर्वचनीय है ! जीवन का अर्थ है जैंसे भूखे को उत्कृष्ट अन्न, प्यासे को अमृतसा मधुर जल प्राणों का आप्यायन-तर्पण करने वाला होता है वैसे ही श्री श्याम सुन्दर के लिए श्रीराधा जी के चरणारविन्द जीवन साधन हैं। चरणों को कमल की उपमा देने के द्वारा गोविन्द को भ्रमर की उपमा और उस प्रकार का मकरन्द ही उनके लिए दैव द्वारा विधान किया गया निश्चित भोग्य पदार्थ है, सर्वस्व है। धन है क्योंकि श्री श्याम सुन्दर के सभी व्यवहारों का पोषक है, आलक्तक रस, आभरण, चरण संवाहन, नुपुर आदि धारण कराना, रासलीला, चरण विन्यास, हंस और गज आदि की गति का तिरस्कार करना और सुरतकालीन स्पर्श आदि सभी व्यवहार हैं। चरणारविन्द शब्द के प्रयोग द्वारा दाम्पत्य होते हुए भी श्री श्याम सुन्दर की दास्य भाव में अधिक आसक्ति और निष्ठा स्फुरित होती है।

प्रियस्येति प्रियापि तदभिलाषजदयाद्रवकातरचित्ततया प्रसादमेव करोति स च स्वजीवनं मनुते धनमिति प्रियस्याढ्याभिमानगर्विष्ठत्व-सूचनं ममैतादृशं धनमिति सापि स्वचरणधनं वाम्यत्यागेन धनिकः साक्षादेव करोति तवेदमिति अत एव प्रियाकृतोरीकृत्यैव प्रियस्य जीवनधन-मित्युक्तं ननु स्वमननेनैव अनेन कृपासिन्धुत्वं निर्दिष्टम् ॥२१॥

उपक्षिप्तं केलिसिन्धुत्वं निर्दिशति, पूर्वं गोविन्दजीवनधनमिति यदुक्तं चरणेन नित्यमुपजीविकयेव प्रियपोषणं करोतीति परमकृपया तत्सुखित्वेन तत्पोषमेव प्रपञ्चयति—

सङ्केतकुञ्जमनुकुञ्जरमन्दगामि-
न्यादाय दिव्यमृदुचन्दनगन्धमाल्यम् ।
त्वां कामकेलिरभसेन कदा चलन्तीं
राधेऽनुयामि पदवीमुपदर्शयन्ती ॥२२॥

रसकलश

श्री प्रिया जी भी प्रियतम की अभिलाषा से उत्पन्न दया से चित्त के द्रवित और कातर (घबराये हुए) हो जाने से प्रसाद या कृपा ही करती हैं और वे अपना जीवन ही मानते हैं, धन ही मानते हैं। श्रीराधाचरणारविन्द को धन मानने से प्रियतम (श्रीश्यामसुन्दर) का धनी होने के अभिमान से गर्वीला होना भी सूचित होता है 'मेरे पास ऐसा धन है।' वे श्रीराधा भी अपने चरणरूपी धन का प्रतिकूलता छोड़ कर धनिक (श्री श्यामसुन्दर) को उसका साक्षात्कार करा देती हैं 'यह तुम्हारे ही है।' इसीलिये प्रियाजी के द्वारा स्वीकृति से ही प्रियतम को ये चरणारविन्द जीवनधन प्रतीत होते हैं, केवल अपने मन से मान लेने से नहीं। इसके द्वारा श्रीप्रिया जी की कृपा सिन्धुता का निर्देश किया गया है ॥२१॥

अब पूर्वोक्त श्री राधा जी की केलिसिन्धुता का निर्देश करते हैं, साथ ही जो उनके चरणारविन्द को गोविन्द का जीवनधन कहा गया है और श्रीराधा जी जैसे उस चरणारविन्द से प्रियतम का पोषण करती हैं यह जो कहा गया हैं, अर्थात् परम कृपा द्वारा श्रीश्यामसुन्दर के सुख से सुखिनी होने के कारण जो उनका पोषण करती हैं उस पोषण का ही विस्तार से वर्णन करते हैं—

'हे मत्तगज के समान मन्दगामिनी श्रीराधे! संकेत-कुञ्ज की ओर दिव्य और मधुर तथा कोमल चन्दन, गन्ध, मालाएँ लेकर कामकेलि के आवेग से चलती हुई आपको रास्ता दिखाती हुई मैं आपके पीछे-पीछे कब चलूँगी।'

सर्वनित्यविलासकुञ्जानुरूपकुञ्जेष्वपि तादात्विकर्किचिल्लीलाविशेष-निमित्तसंकेतितकुञ्जमिति, प्रियामनःप्रसादार्थं प्रियेण वृन्दाद्वारा विविध-कौतुककेलिसाधकनवनिकुञ्जनिर्माणं कृतं प्रशंसातिशयेन चिरं रुचिर्वर्द्धिता तत्सिद्धिसमये प्रथमतः प्रियः किञ्चित्स्वकरनैपुण्यश्लाघ्यशय्याजलाशय पुष्पास्तरणान्दोलादिनवरचनाविशेषार्थं गतः प्रिये शीघ्रमागम्यतां तत्राहं प्रथमतो गच्छेयमिति अभिमन्त्र्य संकेतितं तदनन्तरं सा प्रियमनोरथानु-ध्यानस्यापरिहार्यतया तन्मयतापन्ना तन्मनोगुणास्तस्यां प्रादुर्भूता, अतः कामकेलिरभसेनेत्युक्तिः। किं च 'कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहि'-रिति कन्दर्पोत्तरलं प्रियमनोरथतरङ्गध्यानावेशवैवश्येन बहिरपि प्रसादद्रवा-त्कामराभस्यमस्फुरदित्यर्थः। कामेति यथेष्टनिरवरोधरहोविविधरतक्रीडा-स्मृतिपारवश्याज्जातावेगेन भविष्यत्तत्तद्विलासार्थं सङ्केतकुञ्जम् अनु प्रति

रसकलश

समस्त नित्य विलासों के अनुरूप कुञ्जों में से भी उस समय की किसी विशेष लीला के लिये संकेतित कुञ्ज में,—श्रीप्रियाजी के मनोरञ्जन के लिये प्रियतम ने वृन्दाजी के द्वारा अनेक कौतुकों और क्रीडाओं के साधक नवीन निकुञ्ज का निर्माण कराया और चिरकाल तक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके उसमें विलास की रुचि को बढ़ा दिया। अब विलास की सिद्धि के समय पहले प्रियतम अपने हस्तकौशल से श्ला-घनीय शय्या, जलाशय, पुष्पास्तरण (फूलों का बिस्तरा) झूला आदि की विशेष रचना के लिये वहाँ गये, जाते समय 'प्रिये, शीघ्र आना, मैं वहाँ चलता हूँ' ऐसा आमन्त्रण करके संकेत दे गये। उसके बाद वे (श्रीप्रियाजी) प्रिय के मनोरथों का ध्यान न छोड़ सकने के कारण तन्मयभाव को प्राप्त हुईं, तब प्रियतम के मनोऽनुकूल सभी गुण श्री प्रियाजी में प्रकट हो गये। अतएव 'मत्तगजगामिनी भी कामक्रीडा के वेग से चलने लगी।' यह कहा गया है 'वास्तव में तो एक (श्रीश्याम) काम से अति चञ्चल हो जाते हैं और दूसरे (श्रीराधा) कभी भी बाहर से अनुकूल नहीं होते' किन्तु आज प्रियतम के मनोरथों की तरङ्गों के ध्यान के समय जो आवेश हुआ उसकी विवशता से प्रियाजी भी काम से अति चञ्चल हो उठीं, बाहर भी कृपावश चित्त द्रवित हो जाने से काम का रभस (वेग) स्फुरित हो उठा। कामकेलिरभस (कामक्रीडा के वेग) से यह भी तात्पर्य है कि यथेष्ट भाव से बिना रोकटोक एकान्त में अनेक प्रकार का सुरत क्रीडा के स्मरण की अधीनता से उत्पन्न हुए आवेग द्वारा भविष्य के उन-उन विलासों के लिये सङ्केत कुञ्ज की ओर या सङ्केत कुञ्ज के लिये चलती हुई, अथवा 'अनु' शब्द 'ओर' या 'हेतु' अर्थ

हेतोर्वा चलन्तीं यद्वा सादृश्यार्थे यादृग्रुचिबाहुल्येन कुञ्जनिर्माणं तथैव प्रीत्यतिशयेन चलन्तीं, यद्वा पश्चादिति तदनुकूलमित्यर्थः, यादृक्समये यत्सुखं यत्प्रियप्रतिज्ञातं तत्सङ्केतमनुसृत्येति परस्परप्रतिज्ञाभङ्गसमयातिपातभिया यथोक्तसमयमेव रभसेन चलन्तीं स्वतस्तु आसज्यात्वेन लज्जालुत्वेन च कुञ्जरमन्दगामिनीति सम्बोधनम्, स्तनजघनश्रोणिलाडलात्वोभारेण स्वरूपासवमत्ताया लाल्यमानशीलत्वेन च कुञ्जरवन्मन्दगमनं प्रियविषयककृपापारवश्येन तु रभसचलनं, तत्राहं लघुवयस्या प्रेमास्पदा नित्यसङ्गिनी त्वां तादृशप्रसादविवशसत्वरगामिनीं मार्गविस्मृतिस्खलनविलम्बसौकुमार्यभिया पदवीं संकेतकुञ्जमार्गमुपेति समीपे सादरवचोहस्तनिर्देशेन दर्शयन्ती सती कदानुयामि त्वं तु तत्केलिराभस्येन रसावेशविवशा तत्रैतादृशमार्गनिदर्शनाधिकारं कदा प्राप्स्य इत्यर्थः ।

रसकलश

को न बताकर सादृश्य अर्थ को बताएगा तब उसका अर्थ होगा रुचियों की अनेकता के कारण जैसा कुञ्ज निर्माण किया गया है प्रीति के अतिशय से वैसे ही चलती हुई, अथवा 'अनु' का अर्थ अनुकूल होगा तब जैसे समय में जो सुख प्रिय को देने की प्रतिज्ञा की थी उसी संङ्केत के अनुकुल आपस की प्रतिज्ञा के भङ्ग होने और समय बीत जाने के भय से जो समय कहा था उसी समय बड़े वेग से चलती हुई, स्वयं यद्यपि आसज्य (प्रीति का विषय) होने के कारण तथा लज्जाशील होने के कारण मतगजगामिनी हो हैं, वैसा ही यहाँ सम्बोधन भी किया गया है तथापि स्तन, जघन, नितम्ब और लाडलेपन के भार से अपने सौन्दर्य के आसव (मदिरा) से मत्त हुई और श्रीराधा का लाड प्यार किये जाते रहने के स्वभाव के कारण मत्तगज के समान मन्दगति से चलना है किन्तु प्रिय के प्रति कृपा की अधीनता से वेगपूर्वक चलना है, ऐसी अवस्था में मैं छोटी सखी उनकी प्रेमपात्री और सदा सङ्ग रहने वाली उस प्रकार की कृपा से विवश होकर शीघ्र जाने वाली (श्रीराधा) को मार्ग भूल जाने, पैर फिसल जाने, देर हो जाने और सुकुमारता के भय से संकेत कुञ्ज का मार्ग बड़े आदर के साथ हाथ का निर्देश करती हुई दिखाती हुई कब पीछे-पीछे चलूँगी। तुम (श्रीराधा) तो उस समय काम क्रीडा के वेग से रसावेश से विवश हुई रहोगी, तब इस अवस्था में मार्ग दिखाने का अधिकार मैं कब प्राप्त करूँगी, यह भाव है।

स्वस्य सवैदग्ध्यस्मृतिसेवेङ्गितसावधानतां दर्शयति—किं कृत्वा दिव्यमृदुचन्दनगन्धमाल्यमादायेति, दिव्यान्यलौकिकनित्यश्रेष्ठस्वरूपगुणानि मृदूनि परमसुकुमाराङ्गसुस्पर्शाणि यानि चन्दनं तद्द्रवश्च गन्धाः सुरभिकुसुमसारस्नेहा वा कुङ्कुमोशीरघनसारमृगमदादिद्रवाणि च माल्यानि स्थलजलरुहमल्लिकाकुन्दजातिप्रभृतीनि ताम्बूलमनुक्तमपि समाहारे ज्ञेयम् ।

तत्रापि दिव्येति मन्दारजानि यथेष्टाद्भुतसुरभीणि कुसुमानि तद्रचितमालाङ्गदापीडकङ्कणावतंसकन्दुकादीनि तेषां समाहारश्चन्दनगान्धमाल्यम् अर्थात्सर्वां स्तादात्विकप्रियविलासार्हप्रियासेवौपयिकान् समाहृत्येत्यर्थः । चन्दनेति गन्धेति चित्रमकरिकाङ्गरागव्याजेन स्तनोन्मर्दनकपोल(चुम्बन)कौतुकसर्वाङ्गयथेष्टस्पर्शेषु लज्जालुवामाया अपि हस्ताद्यनिरोधजप्रियाज्ञातप्रियलालसपूरणं माल्येति सर्वाङ्गभूषणकरणेन रूपसौन्दर्यवर्द्धनलोभसिद्धावपि तत्तदङ्गव्याजस्पर्श एव मुख्यो लोभ इत्यादिभावनाकारणान्यादाय गृहीत्वा शीघ्रम् । अन्विति न्सङ्गे लग्ना यामीत्यर्थः ।

रसकलश

अब अपनी चतुरता, स्मरणशीलता, सेवा और इङ्गित (इशारे) के विषय में, सावधानता दिखाते हैं—क्या करके मैं श्री प्रिया जी का अनुगमन करूँगी ? दिव्य मृदु, चन्दन, गन्ध और माला लेकर । दिव्य अर्थात् अलौकिक, नित्य, श्रेष्ठस्वरूप और श्रेष्ठ गुणों वाले, मृदु अर्थात् परम सुकुमार (प्रिया प्रियतम के श्री) अङ्गों को भी सुखद स्पर्श प्रतीत होने वाले, जो चन्दनपङ्क और चन्दन के द्रव, सुगन्धि पुष्प और उनके सारभूत स्नेह (इत्र फुलेल) अथवा केसर, खस, कपूर, कस्तूरी आदि के द्रव या इत्र और सुगन्धित मालाएँ जो स्थल में और जल में लगने वाले मल्लिका, कुन्द, जाति (चमेली) आदि पुष्पों की बनी हुई हैं, यद्यपि यहाँ ताम्बूल (पान) नहीं कहा गया है तो भी सहचारी वस्तुओं के साथ उसे भी समझ लेना चाहिये । उनमें भी दिव्य मन्दार (कल्प वृक्ष विशेष) के यथेष्ट अद्भुत सुगन्धि वाले पुष्प उनकी बनी हुई मालाएँ, केयूर, आपीड (मुकुट) कंगन, कर्णाभरण और कन्दुक (गेन्द) आदि उन सबका समाहार होने पर 'चन्दनगन्धमाल्यम्' शब्द बना अर्थात् उस समय के प्रियतम के सभी विलासों के योग्य और प्रिया जी की सेवा के लिये उपयोगी पदार्थों को एकत्रित करके, चन्दन और गन्ध शब्द से चित्र के रूप में मछली आदि के आकार वाले अङ्गराग के बहाने स्तनमर्दन, कपोलचुम्बन और कौतूहल के साथ सभी श्री अङ्गों के यथेच्छ स्पर्शों में लज्जाशील और प्रकृति से प्रतिकूल होती हुई भी प्रिया जी द्वारा हाथ आदि को न रोकने से सम्पन्न हुई, (प्रिया जी द्वारा) अज्ञात रूप में प्रियतम की लालसाओं की पूर्ति प्रतीत होती है । माल्य शब्द से सभी श्री अङ्गों को भूषित करने के द्वारा रूप और सौन्दर्य की वृद्धि के लोभ की सिद्धि हो जाने पर भी अमुक अमुक श्रीअङ्ग के स्पर्श में ही मुख्यतया लोभ है यह प्रतीत होता है, इत्यादि भावनामय साधनों या कारणों को लेकर शीघ्र ही श्रीप्रिया जी के पीछे-पीछे मैं जाऊँगी ।

त्वं तु सङ्केतकुञ्जमनुचलन्ती, अहं त्वामनुचलन्तीति द्वयोरन्वोरर्थः। कुञ्जरेति कामुकत्वे गजजातिमाश्रित्योक्तम्। मन्दगत्युपमा तु प्रसिद्धैव, परन्तु सङ्केतस्मृतिजकामजाड्येन (अन्यस्मृत्यभावेन) स्तम्भितगतित्वान्मन्दगमनं किञ्चित्क्षणस्थायी क्षोभः। पश्चात्तत्प्राबल्योद्दीपितस्वौत्सुक्यसाहसेन राभस्यं तदपि मत्तकरिण्याः सत्वरगमनं पुष्करभुजकुम्भोच्चलनादि तादात्विकदर्शनीयमेवेति स्वस्यापि तदनुगामित्वं चालेख्यमिव कृतं सहृदयैर्भावनीयम्। हे राधे! एवं प्रियमनोऽभिलाषसाधिके कामकेलीत्यनेन केलिसिन्धुत्वं निर्दिष्टम्। किञ्च यत्कल्लोलमालित्वं तत्र स्वोद्भटतां विना न तत्सिद्धिः। अत्र केलीनामेव मुख्योऽर्थः, राभस्यं सहृदयैकवेद्यम्। एवं प्रियमङ्कीकरोम्यङ्कयाम्येवं तदभिलाषसर्वाङ्गमनुपूरयामि, सोऽपि मनोगतं वक्तुमशक्तस्तत्तत्कलाकौशलकर्तृत्वकारयितृत्वादि सर्वं जानामि यथेष्टं केलिसम्पदं, विलसत्विति विचारपरेण मनसा सम्भाव्येति भावः।

रसकलश

'श्रीराधे! तुम तो सङ्केत कुञ्ज की ओर चलोगी और मैं तुम्हारे पीछे चलूँगी। इस प्रकार 'संकेत कुञ्जमनु' और 'राधेऽनुयामि' इन दोनों अनु शब्दों का अन्वय हो हो जाता है। कुञ्जरमन्दगामिनी, यह सम्बोधन काम भाव के विषय में गज जाति का आश्रय लेकर किया गया है। वैसे मन्द गति के लिये तो मत्त गज की उपमा प्रसिद्ध है ही। परन्तु सङ्केत की स्मृति हो आने पर जो काम भाव के कारण जड़ता आई और अन्य किसी प्रकार की भी स्मृति न रहने के कारण जो गति में स्तब्धता आई उसके कारण मन्द गति हुई तथा कुछ क्षणों तक क्षोभ रहा। बाद में प्रबलता के साथ जब अपनी उत्सुकता और साहस उद्दीपित हुए तब उनसे वेग आया और वह वेग भी मत्तकरिणी के शीघ्र गमन के समय पुष्कराकार भुज और कुम्भाकार स्तन मण्डल के उच्चलन आदि तत्काल दर्शन योग्य हाव-भाव होंगे, फिर उनके पीछे अपना (श्रीहित सखी जी का) चलना तो एक चित्र ही उपस्थित कर देता है उसको सहृदय भावना द्वारा देख सकते हैं।

हे राधिका! इस प्रकार तुम प्रियतम के मन की अभिलाषाओं को परिपूर्ण करने वाली (मनोरथ साधिका) हो। कामकेलि रभस (कामक्रीडा के वेग) के द्वारा उनका केलिसिन्धु होना बताया गया। 'दिव्य केलिकल्लोलमालिनी!' इत्यादि पूर्वोक्त सम्बोधन भी प्रिया जी की अपनी उद्भटता के विना सङ्गत नहीं बैठ सकते। यहाँ पर मुख्य प्रतिपाद्य 'केलि' या 'क्रीडा' ही है। उनके लिये वेग को सहृदय अपने हृदय से ही जान सकते हैं। इस प्रकार प्रिय को अङ्क में लेती हूँ उनके अङ्क में बैठती हूँ उनकी सर्वाङ्गीण अभिलाषाओं को पूर्ण करती हूँ। वे भी अपने मन की बात कह नहीं सकते, मैं उनकी अमुक अमुक कलाकुशलता प्रकट करना, और कुशलता प्रकट कराना आदि सभी बातों को जानती हैं। जैसी वे चाहते हैं वैसी क्रीडा सम्पत्तियाँ विलसित हों इस प्रकार के विचार से मन से उनकी अभिलाषाओं की सम्भावना करके उन्हें पूर्ण करती हूँ यह तात्पर्य है।

अत्र सङ्केताभिसरणमेवोक्तं तत्रानुक्तमपि तदनन्तरजकाम-केलिभवनं ज्ञेयम् । अत्र साधकत्वापेक्षया कदेत्युक्तौ विधिरिष्टोऽपि विरहभरेण स्वस्य तत्रत्यनित्यतादृशसिद्धस्वरूपस्फूर्त्या वर्तमान एव वचनेऽस्फुरदिति ॥२२॥

उपक्षिप्तं लावण्यसिन्धुत्वं निर्दिशति पूर्वं प्रियायाः प्रियविषयकासक्त्या तत्सुखित्वेन तत्कामपूरणमुक्तमिदानीं विलासोपमर्द्दश्रमक्लिन्नरागाङ्गोद्वर्तनाय तन्निकुञ्जाव्यवहितावतारे यमुनास्नानार्थं गता, तदानीं प्रियः क्षणं स्नानोद्वर्त्तनादि क्रियान्तरमपि न सहते इति तद्रूपलावण्यासक्तिं वर्णयति—

गत्वा कलिन्दतनयाविजनावतार-
मुद्वर्त्तयन्त्यमृतमङ्गमनङ्गजीवम् ।
श्रीराधिके तव कदा नवनागरेन्द्रं
पश्यामि मग्ननयनं स्थितमुच्चनीपे ॥२३॥

रसकलश

यहाँ सङ्केताभिसार का वर्णन है अतः यहाँ न कहे गये किन्तु सङ्केताभिसार के बाद होने वाले कामकेलि कौतुकों का होना जाना जाता है । श्रीहितसखी रूप में इन समस्त लीलाओं में सदा सन्निहित होते हुए भी साधक भाव की अपेक्षा से 'कब अनुगमन करूँगी' यह कहा गया है । इस कथन में आकांक्षित सेवाविधि विरह की अधिकता के कारण अपने वहाँ रहने वाले नित्य उस प्रकार के (श्रीहित सखी रूप) के सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति हो आने के कारण भविष्य अर्थ के लिये भी वर्तमान काल ही स्फुरित हुआ है ।२२।

पूर्व श्लोक में जो प्रिया जी की लावण्यसिन्धुता का निर्देश किया गया था उसका प्रतिपादन करते हैं । पहिले प्रिया जी का प्रियतम के विषय में आसक्तभाव तथा उनके सुख से सुखी होने के कारण उनका कामनाओं को पूर्ण करना कहा गया । अब विलास-काल में उपमर्द से हुए श्रम से क्लिन्न अङ्गराग वाले श्री अङ्गों में उद्वर्तन (उबटन) लगाने के लिये उस निकुञ्ज के अत्यन्त निकटवर्ती घाट पर यमुना जी में स्नान करने गईं । किन्तु प्रियतम क्षण भर स्नान उबटन आदि क्रियाओं के कारण होने वाले अन्तर को भी सहन नहीं कर सकते । उनकी इस रूप लावण्य के प्रति आसक्ति का वर्णन करते हैं—

'हे श्रीराधिके ! श्री यमुना जी के निर्जन घाट पर जाकर अनङ्ग को जीवित कर देने वाले आपके अमृतमय श्रीअङ्गों को उबटन लगाती हुई मैं ऊँचे कदम्ब वृक्ष पर बैठे हुए मग्न नेत्रों वाले तुम्हारे नव नागरशिरोमणि (श्री श्यामसुन्दर) को कब देखूँगी ।'

श्रीराधिके प्रियविविधाभिलाषसिद्धिरूपेऽनिर्वचनीयलावण्यादिसिन्धुरूपे मत्सेवावशगृहीतलाघवे तव प्रियजीवातुवरवर्णिन्या नागरेन्द्रं सकलैश्वर्यसौभाग्यवैदग्ध्यादिगुणविशिष्टमपि सर्वोपरिचरत्वदीयताप्राप्तोत्कर्षम्, नवेति पूर्वं त्वन्यरसविदग्धम् इदानीं त्वत्पाणिग्रहणप्रभावेण शृङ्गारनागरत्वं प्राप्तं तत्रापीन्द्रमिति त्वदधीनशीलशालितया वशित्वख्यातं परमविदग्धाया वाम्यलज्जाशीलाया लाडलाया यच्छन्दानुगामित्वेन स्वच्छन्दगामित्वकरणं महोत्कर्ष इति अत्रानादिनित्यदाम्पत्येऽपि लोकवन्माधुर्य्यादियमुक्तिः। नित्यार्थे तु नवत्व मलौकिकत्वादलुप्तप्रभावत्वं (प्रकटप्रभावत्वं) प्रतिक्षणविलक्षणतया दृश्यमानत्वमस्त्येवेति। उच्चनीपे स्थितं मग्ननयनमित्यादिविशिष्टं कदा पश्यामि।

कीदृश्यहम् कलिन्देत्यादि यमुनातीरे निर्जनस्थाने गत्वा, अङ्गमिति त्वदङ्गम् उद्वर्तयन्ती सुगन्धमञ्जनादिद्रव्यैरुद्वर्तनं कुर्वती, कलिन्देति

रसकलश

हे श्रीराधिके! प्रियतम की विविध अभिलाषों की सिद्धि स्वरूपिणी, अनिर्वचनीय लावण्य आदि गुणों की सिन्धुरूपिणी, सेवा के वश होकर लाघव को भी स्वीकार कर लेने वाली, तुम अपने प्रियतम की जीवातु (जीवनाधायिका) वरवर्णिनी (षोडशी श्यामा) हो तुम्हारे (प्रियतम) नागर शिरोमणि जो सब प्रकार के ऐश्वर्य, सौभाग्य, चातुर्य आदि गुणों से परिपूर्ण है तो भी सबसे अधिक तुम्हारे सम्बन्ध से ही जिन्होंने उत्कर्ष प्राप्त कर रखा है। 'नव' नागरेन्द्र शब्द में 'नव' शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि वे पहिले तो अन्य रसों में भी चतुर थे किन्तु अब तुम्हारे पाणिग्रहण के प्रभाव से शृङ्गार रस में निपुण हो गये हैं, केवल निपुण ही नहीं अपितु निपुणों में भी श्रेष्ठ हो गये हैं क्योंकि वे निरन्तर तुम्हारे ही अधीन स्वभाव वाले हो जाने पर भी 'वशित्व'—दूसरों को वश में रखने के लिये विख्यात हैं। परमविदग्धा या परम निपुणा और स्वभाव से ही प्रतिकूल तथा लज्जाशील लाडली जी के मन के अनुकूल चलने पर भी स्वच्छन्द गामी होना यह उनका परम उत्कर्ष है। इस प्रकार अनादि और नित्य दाम्पत्य-सम्बन्ध के रहते हुए भी लोक के समान माधुर्य भाव से रहने के कारण ऐसा कहा गया है। नित्य होते हुए भी नवता या नवीनता का अर्थ यह समझना चाहिये कि अलौकिक होने के कारण उनका प्रभाव कभी लुप्त नहीं होता (प्रभाव सदा प्रकट रहता है) तथा प्रतिक्षण विलक्षण होने के कारण उनकी रमणीयता या दर्शनीयता अखण्ड बनी रहती है। ऊँचे कदम्ब पर बैठे हैं, मग्न नेत्र हैं इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट उन नवनागर-शिरोमणि को कब देखूँगी?

मैं कैसी हूँ? कलिन्दतनया श्री यमुना जी के तीर पर विजन अवतार (निर्जन घाट) वाले स्थान पर जाकर अङ्ग अर्थात् तुम्हारे श्रीअङ्ग को सुगन्धित मञ्जनादि द्रव्यों से उबटन करती हुई। कलिन्द पर्वत का नाम है, जो एकान्त, गौरव, स्वच्छता आदि

पर्वतशब्दोऽपि एकान्तगौरवस्वच्छत्वद्योतकस्तत्तनयेति कन्यात्वद्योत तत्र मज्जने नास्ति त्रपासङ्कोच इति पर्वत पितुः पुत्रीत्यपि सङ्कोचाभावश्च, तस्या-अपि विगतं जनावतरणं यत्र तत्स्थानं वा निर्जनं यदवतारं घट्टं रहोविला-सकुञ्जान्तःपुरीणमेव स्वच्छमणिशिलाभिः खचिताभिरुपवेशनपीठायित-सोपानजवनिकायितभित्तिकं लतावृततीरकमिति मज्जनादावपङ्कतया मनः-प्रसादकरम् ।

कीदृशमङ्गम् अमृतम् उद्वर्त्तनश्रुतिजसामान्यदेहादिवत् समलत्वा-दिशङ्कानिवारणार्थं जडाद्यंशरहितं केवलानन्दरूपं प्रियसर्वेन्द्रियमनःपरमा-प्यायनास्वाद्यजीवनं पुनरनङ्गजीवं तस्य कामोद्बोधकं (चैतन्यकरं) निरङ्ग-स्यापि जीवनं महाशक्तिः साङ्गस्य श्यामसुन्दरस्य किमुतेति । नास्त्यङ्गं यस्येति अर्थात् प्रियस्य दाम्पत्येऽपि शुद्धदास्यनिष्ठत्वान्निष्कामत्वेनाहैतुक-सप्रेमरूपासक्तिरेव हृदि स्थिता, अतोऽत्र निरङ्गः कामः अतस्तादृशधीर-

रसकलश

गुणों का द्योतक है, उनकी तनया कहने से श्री यमुना जी का कन्यात्व या कुँवारापन प्रकट होता है। वहाँ मज्जन करने में कोई लज्जा संकोच का कारण नहीं है। पर्वत पिता की पुत्री होना भी संकोच के अभाव का कारण है। फिर उसका भी विजन-जहाँ से लोग दूर चले गये हैं—ऐसा अवतार-अवतरण (घाट)। यह निर्जन घाट एकान्त विलास के लिये उपयुक्त कुञ्जरूपी अन्तःपुर (रनवास) का ही है जो स्वच्छ मणि-शिलाओं से खचित है तथा जिसमें बैठने की चौकियों से युक्त सीढ़ियां और पर्दों के लिए दीवारें बनी हुई हैं, लताओं से जिसके तट भाग ढके हुए हैं। मज्जन आदि के समय पङ्क रहित (कीचड़ से रहित) होने के कारण मन को प्रसन्न कर देने वाला है ऐसे घाट पर जाकर तुम्हारे (श्री प्रिया जी के) श्रीअङ्ग को उबटन करती हुई वैसे नव नागरेन्द्र को कब देखूँगी।

कैसे अङ्ग ? अमृतरूप हैं। उद्वर्तन या उबटन का विधान करने वाली श्रुति में कथित सामान्य शरीरादि के समान मलसहित होने की शङ्का का निवारण करने के लिये अमृतरूप कहा है। अर्थात् यह अङ्ग जड आदि अंशरहित, केवल आनन्द-रूप है। प्रियतम की सभी इन्द्रियों को और मन को परम तृप्ति देने वाला, आस्वादनीय तथा जीवन का आधान करने वाला है, फिर अनङ्गजीव है उनके काम का उद्बोधक है, अर्थात् चैतन्यदायक है। जब यह श्रीअङ्ग अनङ्ग (अङ्गहीन) को भी जीवन देने की महाशक्ति रखता है तब सुन्दर अङ्गों वाले श्याम को जीवन देना तो सहज प्राप्त है।

जिसके पास अङ्ग नहीं है उस अनङ्ग को जीवन देने वाले श्री राधा जी के अङ्ग हैं यह कहने से सिद्ध होता है कि प्रियतम के हृदय में दाम्पत्य (पतिपत्नीभाव) सम्बन्ध होने पर भी शुद्ध दास्यभाव की निष्ठा होने के कारण निष्कामता और अहैतुक

स्या। तादृशतदङ्गदर्शनेन हठादेवानङ्गः साङ्गो भवति मूर्तिमानिव क्षोभं जनयति । तदङ्गमहमुद्वर्तयन्ती परमकृपास्पदाऽतिधन्येत्यर्थः ।

अत्रामृतेति, अनङ्गजीवेति परमलावण्यभरो दर्शितस्तत्राप्युद्वर्तने उपावृतत्वे सर्वाङ्गलावण्यनिरवरोधदर्शनं तत्रापि कृष्णामृतमज्जनेऽत्यन्तप्रभाचाकचिक्य-मुज्जृम्भितं तद्दर्शनार्थं प्रियः अत्यासक्तस्तद्वाम्यभियोच्चकदम्बे स्थितो मग्न-नयनश्च निरन्तरसर्वावयवरसविलासे यथेष्टप्राप्तेऽपि निलीय दर्शनं किमर्थं चेत् तत्रैवं ज्ञेयम् । साक्षान्निकटप्राप्तौ स्पर्शरसगन्धशब्देन्द्रियाणां-प्राबल्येन न मम केवलरूपभजनावकाशः, रूपस्यापि सर्वाङ्गेषु निर्भर-गम्भीरत्वाद् युगपदेव मनोधावनं तत्रैकैकमङ्गं रूपरससागरं यत्र मनो लगति तत्रैव मज्जति ।

रसकलश

रूप से प्रेम सहित रूप में आसक्ति ही केवल विद्यमान है अतएव यहाँ पर काम निरङ्ग है। यही कारण है कि वैसे धीर होते हुए भी उनके मन में श्री प्रिया जी के वैसे अङ्गों के दर्शन से हठात् अनङ्ग साङ्ग हो जाता है और मूर्तिमान् सा होकर क्षोभ उत्पन्न करने लगता है। ऐसे उस श्रीअङ्ग पर उबटन करती हुई मैं श्री प्रिया जी की परम कृपापात्री हूँ और अतिधन्या हूँ यह भाव व्यङ्ग्य है।

इस श्लोक में 'अमृत', 'अनङ्ग जीव' आदि विशेषणों द्वारा श्रीअङ्गों के परम-लावण्य का आधिक्य दिखाया गया है। उस पर भी उबटन के समय अनावृत होने के कारण समस्त श्रीअङ्गों का बेरोकटोक दर्शन होना उस पर भी कृष्णामृतमज्जन में अत्यन्त प्रभा की चकाचौंध का उल्लसित होना, उसके दर्शनार्थ अति आसक्त प्रियतम का श्री प्रिया जी को प्रतिकूलता के भय से ऊँचे कदम्ब वृक्ष पर चढ़ बैठना और मग्न-नयन होकर दर्शन करना, सदा ही सभी श्री अङ्गों के रस विलास के यथेच्छ प्राप्त होने पर भी फिर छिप कर उन्हें देखना इत्यादि सभी अलौकिक व्यङ्ग्यार्थ के द्योतक हैं। किन्तु यह छिपकर देखना क्यों है? इसका कारण यह जानना चाहिये कि साक्षात् निकटता की प्राप्ति हो जाने से स्पर्श, रस, गन्ध, और शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की प्रबलता हो जाती है और मुझे केवल रूप के भजन का अवकाश नहीं मिलता। रूप भी सभी अङ्गों में पूर्ण और गम्भीर रूप से विद्यमान है अतः एक साथ मन को दौड़ना होता है। वहाँ एक-एक अङ्ग के रूप और रस का सागर होने के कारण जहाँ मन लगता है वहीं मग्न हो जाता है।

कुबेरकोषगतचौर इव मन्मनश्चक्षुः किमादद्यात् किं नादद्यादिति तत्रापि लज्जाशीलत्वादपावृताङ्गत्वं दुर्लभम् अतः स्वस्य रूपासक्ति-व्यसनसिद्धयर्थं नीपस्थायित्वम् । तत्रोच्चेति न कापि मां पश्येदिति सर्वाङ्ग-लावण्यं लताद्यनवरोधं पश्येयं तत्र स्थित्वा मग्न-नयनं लावण्यामृतवारिधौ मग्नम् । तत्र स्वस्य तदिङ्गितसेवासावधानातां वर्णयति । कदा पश्यामि, मम दृष्टिपथं कदा यातीत्यर्थः । अहं तस्यापीङ्गितज्ञा । कुत्राप्यधुना स संसक्तो निलीय पश्यति नैतावद् दर्शनान्तरायं सोढुं शक्त इति चकितदृशा मद्दृष्टि-पथं कथं नागच्छेदेवेति । वर्त्तमानेन नित्यतादृशप्राप्तसमयलाभो दर्शित इति ॥२३॥

उपक्षिप्तच्छविरूपसिन्धुत्वं निर्दिशति पूर्वं प्रियस्य मग्नतां दृष्ट्वा तत्कारणभूतं प्रियामुखं श्लाघयन्त्युभयत्र विहितदृष्टिर्हितसहचरी वक्ति—

रसकलश

जैसे कुबरे के खजाने में कोई चोर चला जाए तो निश्चय नहीं कर सकता कि क्या लूँ ? क्या छोड़ूँ ? वैसे ही श्यामसुन्दर सोचते हैं कि मेरा मन मेरे नेत्र क्या लें और क्या न लें। उस पर भी लज्जाशील होने के कारण अपावृत (आवरण रहित) श्री अङ्गों का दर्शन दुर्लभ है अतः अपने रूप में आसक्ति के व्यसन को पूरा करने के लिये (श्री श्यामसुन्दर) कदम्ब वृक्ष पर जा बैठे हैं। वहाँ भी ऊँचे कदम्ब पर, जिससे मुझे कोई देख न ले और मैं सभी श्रीअङ्गों के लावण्य को लता इत्यादि की ओट के बिना देख सकूँ । ऊँचे कदम्ब पर बैठे होने के कारण मग्ननयन हैं, लावण्य के अमृत सागर में मग्न हैं। उस समय प्रिया जी के इंगित के अनुसार या प्रियतम के इङ्गित के अनुसार की जाने वाली सेवा में अपनी सावधानता का वर्णन करते हैं—मैं उन्हें कब देखूँगी, वे मेरे दृष्टि पथ में कब आयेंगे। इससे यह सूचित किया गया है कि मैं उनके इङ्गित को भी जानती हूँ, और जानती हूँ कि कहीं न कहीं वह अब भी संसक्त होकर छिपकर देख रहे होंगे, इतना ही नहीं दर्शन के विघ्न को सहन न कर पा रहे होंगे। इस प्रकार चकित दृष्टि से देखते हुए वे मेरी दृष्टि के मार्ग में कैसे नहीं आयेंगे। यहाँ पर 'पश्यामि' देखती हूँ इस वर्तमान काल के प्रयोग द्वारा मुझे नित्य ही ऐसे समय का लाभ प्राप्त होता है यह दिखलाया है ॥२३॥

अब पूर्वोक्त छवि और रूप की सिन्धुता का निर्देश करते हैं तथा पहले प्रिय की मग्नता को देखकर उसके कारणभूत श्रीप्रिया जी के मुख चन्द्र की श्लाघा करती हुई, दोनों ओर दृष्टिपात करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—

सत्प्रेमराशिसरसो विकसत्सरोजं,
स्वानन्दसीधुरससिन्धुविवर्द्धनेन्दुम् ।
तच्छ्रीमुखं कुटिलकुन्तलभृङ्गजुष्टं,
श्रीराधिके तव कदा नु विलोकयिष्ये ।।२४।।

श्रीराधिके परमसुषमायुतप्रियतपःसिद्धिभूते । तव च्छविरूपसिन्धुश्रीविग्रहायास्तदित्यनिर्वचनीयं परमप्रभावं सकलपरिवारप्रेमास्पदजीवातुजैवातृकं सौभाग्यश्रीयुतं मुखं कदेति तादृशभाग्योदये । अन्विति पूर्वं विलोकितमेव पश्चात्प्रियदर्शनादनुविलोकयिष्ये । अनेनास्मिन् विलोकने प्रियतृषातुरतासंवलनं दृश्यते, तद्द्वारात्यन्तरुचिरुज्जृम्भिता । वा नु इति विकल्पे क्षणं तं पश्यामि,क्षणं तस्याः श्रीमुखं पश्यामीत्यर्थः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् विलोकयिष्ये विलोकयामीत्यर्थः ।

यद्वा पूर्वं नागरेन्द्रं त्वेवं पश्यामि क्षणान्तरे तवैव श्रीमुखं विलोकयिष्ये, इति नु विकल्पः । किञ्चेयं नागरी ममोद्वर्तयन्त्याः सचकितदृष्टिं परीक्ष्य ज्ञातमेव तच्छीलं, ततो मनसि तदातुरतां स्मृत्वा

रसकलश

'हे श्रीराधिके, सत्प्रेम (विशुद्ध प्रेम) के सिन्धु रूपी सरोवर के नित्य विकासशील कमल और स्वानन्दरूपी सीधुरस (मदिरा रस) के सिन्धु को बढ़ाने वाले चन्द्र, घुँघराले कुन्तल (केश) रूपी भ्रमरों से घिरे हुए तुम्हारे उस श्रीमुख को मैं पुनः कब देखूँगी ।'

श्रीराधिके ! परम शोभा से युक्त प्रिय की तपःसिद्धिस्वरूपा, छवि और रूप का सागर बना हुआ है श्रीविग्रह जिसका ऐसी तुम्हारे उस अनिर्वचनीय परम प्रभावशाली, सम्पूर्ण परिवार के प्रेमास्वाद और जीवन के आधायक, चन्द्र रूपसौभाग्य और शोभा से युक्त पहले देखे हुए श्रीमुख को कब (वैसा भाग्योदय होने पर) प्रियतम के दर्शन के बाद देखूँगी । इससे इस दर्शन में प्रिय का भी दर्शन के लिये तृष्णातुर होना कारण रूप से मिश्रित है । उसके द्वारा दर्शन रुचि बहुत अधिक बढ़ गई है । अथवा अनु पश्चात् या पुनः अर्थ न करके विकल्प अर्थ करेंने तब क्षण भर कदम्ब पर बैठे प्रियतम को देखूँगी और क्षण भर प्रिया जी के श्रीमुख को देखूँगी । यह अर्थ होगा ।

अथवा पहिले इस प्रकार कदम्ब पर बैठे हुए नवीन नागर वर को देखूँगी और उसे देखने के बाद तुम्हारे ही श्रीमुख को देखूँगी । नु का अर्थ विकल्प भी हो सकता है । एक और भाव भी हो सकता है कि वह नागरी (श्रीराधा) मेरे उबटन करते समय चकित दृष्टि से चारों ओर देखकर श्रीश्यामसुन्दर के जाने बूझे शील स्वभाव

किञ्चित् क्षुभिते, चलद्भ्रूभङ्गे च सति संवीताम्बरा पश्चात् प्रसादभरेण किञ्चिदुत्तम्भितकमलवदनेन कुत्र कथं स्थितो निलीय तृषितश्चौरशिरोमणि-रित्युक्त्वा ज्ञातसखी चकितदृग्दिश्येवोन्नतदृष्ट्या पश्यन्ती वीक्ष्य वक्तीति ।

एवं भावश्रीविशिष्टं मुखं कदा विलोकयिष्ये—इति भावः । तदनुप्राणित-(अनुकूल) विशेषणमाह-सदिति श्रेष्ठं नित्यं सत्यमबाधितं परमकारणसत्ताकं यत्सल्लेशाभासेन लोकेष्वपि प्रेम सद्वत्प्रतीयते तादृशालौकिकं प्रेम तस्य राशिः समुद्ररूपं यत्सरः अगाधपारावारत्वादम्बुराशित्वं कमलसौकुमार्यार्हतया सरोजार्थसंभावनया सरस्त्वम् अद्भुतेऽद्भुतवर्णनम्—तस्य सरसः सम्बन्धि-विकसत्फुल्लसरोजं—अर्थात् यज्जन्यं वस्तु तत्तादृशगुणकमेवेति तत्रापीदं तस्यापि सारभूतं तद्राजकं तद्राजितं(सरसःसरोजेन सरोजस्य सरसा अन्योऽन्य-शोभा भवति) चेत्यर्थः । किञ्च लौकिककमलेष्वनेकानर्हतादोषदर्शनात् सरोजोपमानियतदित्सयेदमभूतोपमानं, अनेन प्रसादभरो दर्शितः । प्रेम-सरोजे रूक्षताभासनामापि न सीमां स्पृशति । यद्भ्रूभङ्गादिभवनं तत् प्रेम-मूलकमेवेति ज्ञेयम् ।

रसकलश

को और उनके मन में स्थित आतुरता को याद करके कुछ भ्रूभङ्ग होने पर वस्त्र से शरीर को आवृत कर लेती हैं । बाद में कुछ कृपातिरेक के कारण मुख के कमल जैसे कुछ खिल जाने पर कहा कि वह तृषातुर चौरमणि (श्यामसुन्दर) यहाँ पर कहाँ छिपा बैठा है, कैसे छिपकर बैठा है अर्थात् वह यहाँ कहीं नहीं है । यह कहकर मर्म को जानने वाली श्रीहित सखी ने प्रियाजी की चकित दृष्टि वाली दिशा में ही ऊपर दृष्टि करके जब देखना प्रारम्भ किया तो श्यामसुन्दर को देखकर कहती हैं ।

यहाँ इस प्रकार के भावों की शोभा वाले श्रीमुख को कब देखूँगी यह तात्पर्य है । उसी के अनुकूल विशेषण कहते हैं—सत्प्रेम श्रेष्ठ प्रेम, प्रेम की श्रेष्ठता इसी में है कि वह नित्य है, सत्य है, अबाधित है, परमकारण सत्तात्मक है जिसके लेशमात्र के अभ्यास से सभी लोकों में भी प्रेम सत्-सत्य और नित्य-सा प्रतीत होता है, वैसे अलौकिक प्रेम को राशि समुद्र रूप जो सरोवर । अगाध पारावार होने के कारण तो वह अम्बुराशि या समुद्र है किन्तु कमलों की सुकुमारता के योग्य होने से एवं कमलार्थ की सम्भावना या उत्प्रेक्षा के कारण सरोवर हैं । 'अद्भुत का वर्णन भी अद्भुत ही होता है ।' उस सरोवर से सम्बन्धित खिल रहा कमल । जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उसके गुणों वाली होती है । उस पर भी कमल तो सरोवर का सारभूत है, अतएव वह कमल सरोवर की शोभा बढ़ाता है और सरोवर कमल की इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं । और भी एक बात है कि लौकिक कमलों में तो अनेक अयोग्यताएँ भी होती हैं क्योंकि उनमें दोष देखे जाते हैं । अतः कमल की, उपमा अवश्य देने की इच्छा से एक अभूत उपमान के रूप में उसे प्रस्तुत करते हैं, इसके द्वारा प्रसाद या प्रसन्नता का अतिशय दिखाया गया है । प्रेम सरोज में रूक्षताभास नाम का दोष भी उसकी सीमा तक को नहीं छूता । यहाँ पर जो भ्रूभङ्ग आदि होते हैं वे भी प्रेममूलक ही होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

एवमेव चन्द्रोपमानमाह स्वानन्देति स्वो निजोऽसाधारणो य आनन्दो वा सुष्ठु आनन्दः परमानन्द इति यद्वा स्वकर्तृकानन्दो वा स्वीयस्य प्रियस्यानन्दः स एव सीधुर्मादकता मूर्तिमती वारुणी रत्नरूपा यस्मिन् स रसः सिन्धुस्तस्य विशेषवर्द्धनायेन्दुं चन्द्रं यद्दर्शनाह्लादादेव प्रियरससिन्धुर्वर्द्धित इति तत्र मुख्यतयोन्मत्तताविशेषेणाग्रभागस्थता दृश्यते, नेत्रयोर्घूर्णायमानत्वादित्यर्थः। अत्र रसः शृङ्गारो रतिस्थायिकोऽनङ्गनेतृक उज्जृम्भितः अनङ्गजीवमित्युक्तमेव आनन्दो हर्षो मत्ततारूपस्तत्सहित इति। यद्वा स्वानन्दः प्रियया स्वेन प्रसादभरेण वीक्षणात् स्वप्रेरित आनन्दो नागरेन्द्रे मद्य एवाभूत् प्रियकृतवीक्षणे तु रस एवेति भेदः, अतएव रत्नत्वमानन्दस्य। अथवा स्वानन्द एव सीधुरसस्तस्य सिन्धुस्तद्वर्धकः मादकतावर्द्धन इत्यर्थः। यद्वा स्वानन्दसीधिवति पृथग्विशेषणम्। कञ्जस्य सीधुर्मकरन्दात्मकः। अग्रे-

रसकलश

इसी प्रकार चन्द्र को भी श्री मुख का उपमान कहा है—'स्वानन्दसीधुरससिन्धु विवर्धनेन्दु' का तात्पर्य यह है कि स्व या निज अर्थात् असाधारण जो आनन्द, अथवा सु सुन्दर जो आनन्द परमानन्द अथवा स्वकर्तृक (अपने द्वारा किया गया जो) आनन्द अथवा स्व या स्वीय अर्थात् अपने प्रियतम का जो आनन्द, वह आनन्द ही सीधु है मूर्तिमती मादकता है। वारुणी नामक रत्न है जो समुद्र मन्थन के समय चौदह रत्नों में से एकतम प्रकट हुआ था। वह सीधु या वारुणी ही रस है और वह रस ही सिन्धु है, उसको विशेष रूप से बढ़ाने के लिये श्रीमुख इन्दु या चन्द्र है, जिसके दर्शन से प्राप्त आह्लाद से ही प्रिय रूपी रससिन्धु बढ़ता है। इस प्रकार यहाँ मुख्यतः उन्मत्तता विशेष रूप से अग्रभाग में स्थित प्रतीत होती है क्योंकि नेत्र घूर्णायमान (भूमते) रहते हैं। यहाँ पर शृङ्गार रस जिसका रति स्थायिभाव है और अनङ्ग जिसका नेता है वह उज्जृम्भित या उद्दीपित हो रहा है। श्री प्रिया जी के श्री अङ्गों को अनङ्गजीव कहा ही गया है। आनन्द नाम हर्ष या मत्तता (मस्ती) का है उसके सहित होने के अर्थ में 'स्वानन्द' शब्द का प्रयोग है। अथवा स्वानन्द का अर्थ है श्री प्रियाजी के द्वारा अपने कृपाकटाक्ष से प्रेरित हुआ आनन्द नागरेन्द्र के लिये सीधु या मद्य हो गया, उसके उत्तर में जब प्रियतम ने श्री प्रिया जी की ओर देखा तो वह रस हो गया यही सीधु और रस में भेद हैं। तभी इस आनन्द को रत्न रूपता भी प्राप्त हुई। अथवा स्वानन्द ही सीधु रस है उसके सिन्धु को बढ़ाने वाला उसमें मादकता की वृद्धि करने वाला इन्दु (चन्द्र) श्री प्रियाजी का श्रीमुख हैं। अथवा 'स्वानन्दसीधु' यह एक विशेषण है और 'रससिन्धुविवर्धनेन्दु' यह दूसरा (स्वानन्द सीधु का सम्बन्ध सत्प्रेम राशि सरोवर के प्रफुल्ल कमल के साथ होगा) क्योंकि कमल का सीधु मकरन्द या पुष्प रस ही होता है।

रसेत्यादि स्पष्टमेव । इन्दुमित्यनेन सिन्धुजन्यत्वमपि निर्दिष्टम् तद्भवोऽपि तद्वर्द्धकश्चेति धर्मद्वयं रससिन्धुजन्यत्वाद्रससारभूतमाह्लादकचन्द्रं लौकिकविलक्षणमिति प्रेमसरोजवत् । वर्धनार्थे तस्याः प्रेमदृग्दानेन तस्य विशेषरसवर्द्धनम् । इन्दुमिति व्यवहितदेशस्थमपि नियतहर्षेण तादृशस्थूलसिन्धुवर्द्धनमित्युत्कर्षः । सरोजोपमत्वाद् भृङ्गरूपकमाह । कुटिलेलि सहजवक्रान्यलकान्येव भृंगास्तैर्जुष्टं प्रीत्या सेवितं दर्शनीयमित्यर्थः । कुटिलसेवितमित्युक्त्या न सरलसेवितमिति ध्वनिः । अर्थात्सरलतया गते प्रिये लज्जानीचीनतया कथं सेवितं स्यात् । अतो निलीनतया वा कुञ्चितापाङ्गदृष्ट्यैव पार्श्वेऽपि सेवनीयं यद्वा त्रिभङ्गिसेवितं वा यथा बहुमोल्यं वस्तु कुटिलजागरूकसेवितं प्राप्तं दुष्प्रधर्षं स्यादेव ते कुटिलं प्रथमत आगतं स्वयमेव बघ्नन्ति, एवं तत्कुटिलावर्तशोभाभरे मग्नस्य नान्यत्र गमनमिति भावः ।

रसकलश

आगे 'रस सिन्धु को बढ़ाने वाला चन्द्र' यह विशेषण तो स्पष्ट ही है । यहाँ 'इन्दु' शब्द से उसका सिन्धुजन्य (समुद्र से उत्पन्न) होना भी दिखा दिया गया है । उसमें से उत्पन्न होता है और उसे बढ़ाता है, यह दोनों धर्म रस सिन्धु से उत्पन्न होने के कारण उसे प्राप्त हैं । यह रस का सारभूत आह्लादक चन्द्र है अतः प्रेम सरोज की भाँति लौकिक चन्द्र से विलक्षण है । रस को बढ़ाने के लिये जब वे (श्रीप्रियाजी) प्रेम भरी दृष्टि का दान करती हैं तब उस रससिन्धु का रस विशेष बढ़ जाता है । इन्दु या चन्द्र कहने का तात्पर्य यह है कि प्रियाजी का श्री मुख व्यवहित (दूर या ओट वाले) देश में स्थित हो तो भी नियत रूप से हर्ष द्वारा वैसे सिन्धु को बढ़ाता है उसमें यह उत्कर्ष है ।

अब श्रीमुख को जो कमल की उपमा दी गई है उसके अनुरूप भ्रमर का भी रूपक बाँधते हैं 'कुटिलकुन्तलभृङ्गजुष्टम्' स्वभाव से ही बाँके या घुंघराले कुन्तल या अलक ही भ्रमर हैं उनके द्वारा यह श्रीमुख प्रीतिपूर्वक सेवित है अतएव दर्शनीय है यहाँ कुटिलसेवित कहने से यह भी ध्वनित होता है कि यह सरलसेवित नहीं हैं । अर्थात् यदि प्रियतम सरलता से जायेंगे तो लज्जा के कारण नीची दृष्टि होने से इस श्रीमुख का सेवन न कर सकेंगे । इसलिये छिपकर या टेढ़ी दृष्टि से देखकर ही पास में भी सेवन किया जा सकता है । अथवा त्रिभङ्गी ललित से खड़े रहकर इसका सेवन करते हैं जैसे कोई बहुमूल्य वस्तु किसी कुटिल (चालाक) और 'जागरूक (सावधान) पुरुष से सेवित हो तो वह दूसरों को कठिनता से ही प्राप्त होगी । ये प्रियाजी के कुटिल कुन्तल कुटिल (श्याम) को आते ही स्वयं बाँध लेते हैं, अर्थात् इन कुन्तलों के कुटिल आवर्तों (टेढ़े घेरों) की शोभा के भार में मग्न हुए वे अन्यत्र नहीं जा सकते ।

अत्र सरोजोपमया रूपसिन्धुत्वं यथार्हफुल्लतारक्ततास्यामतागौरताऽऽयतताद्याकृतिसौष्ठवात् । चन्द्रोपमया छविसिन्धुत्वं दर्शितं, प्रभामण्डलाह्लादकचमत्कृतिधर्मत्वात् । अत्र प्रतिपद्यभिन्नार्थेप्यर्थमेलनं सहृदयैरवधारणीयम् । अन्यदर्थसौष्ठवं चेत्तद्धार्यं लेख्यं च यथा तत्कृपाभावनाप्रेरणं तथार्थबुद्धिप्रसरणं न त्ववधिः । एवं सप्तभिः श्लोकैर्वैदग्ध्याद्युपक्षिप्तमर्थं यथावत् सङ्गतं कारणतया किञ्चित् निर्दिष्टम् । २४॥

उपसंहारमाह । प्रियस्य वैदग्ध्यादिसिन्धुत्वाद्यैः समानस्यापि मम तु तादृशसिन्धोरपि सारभूते राधानाम्न्येव पदार्थे मनो वर्तते आनन्दघनस्याप्यानन्दकरत्वादिति स्वनिष्ठामाह—

रसकलश

यहाँ पर श्रीमुख को सरोज की उपमा देकर श्रीप्रियाजो की रूपसिन्धुता का वर्णन किया गया है क्योंकि यथोचित विकास, रक्तिमा, श्यामता, गौरता, विस्तार आदि आकृतिसौष्ठव कमल की उपमा से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे ही चन्द्र को उपमा द्वारा श्रीप्रिया जी की छविसिन्धुता का दर्शन होता है क्योंकि प्रभामण्डल के द्वारा आह्लादजनक चमक चन्द्र में होती है। इस स्तोत्र में प्रत्येक पद्य मुक्तक होने के कारण एक-दूसरे से पृथक् है अतः उसका अर्थ भी एक-दूसरे से पृथक् है तो भी अर्थों में जो मेल बैठता है उसका सहृदयों को अवधारण (निश्चय) करना चाहिये। जो यहाँ कहा गया है उससे भिन्न भी यदि कोई अर्थसौन्दर्य प्रतीत हो तो उसे धारण करना चाहिये और लिख लेना चाहिये क्योंकि श्रीस्वामिनी जी कृपा से जैसी-जैसी भावना को प्रेरणा मिलती जाती है वैसे-वैसे अर्थबोध का प्रसार होता जाता है ऐसी प्रेरणा और ऐसे प्रसार की कोई अवधि या सीमा नहीं है। इस प्रकार सात श्लोकों द्वारा 'वैदग्ध्यसिन्धु' इत्यादि श्लोक में कहे हुए वैदग्ध्य आदि अर्थों की यथावत् संगति कारणरूप में कुछ दिखाई गई है। २४।

अब उपसंहार (सिन्धु रूपकों के अन्तिम निष्कर्ष) का निरूपण करते हैं, प्रिय भी विदग्धता आदि के सिन्धु होने आदि में समान हैं तो भी मेरा मन तो विदग्धता आदि के सिन्धु के भी सारभूत राधा नामक पदार्थ में ही नित्य वर्तमान है क्योंकि वह आनन्द घन (श्रीश्यामसुन्दर) को भी आनन्द देने वाला है अपनी इस निष्ठा का भी वर्णन करते हैं—

लावण्यसाररससासुखैकसारे
कारुण्यसारमधुरच्छविरूपसारे ।
वैदग्ध्यसाररतिकेलिविलाससारे
राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे ॥२५॥

अखिलानां सारः श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दस्तस्याराधनीयत्वादखिलसार-सारे वा लावण्यादिप्रसिद्धगुणानां सारादपि सारे गुणित्वं किमुच्यते, गुणरूपत्वं चापि न श्लाघ्यम्—अतस्तत्साररूपे इति । किं तन्नामेत्याह, राधाभिधे विशिष्य नामकथनेन नानामतविलसितमतीनां यन्मनसि यत्सारभूतं वस्तु निश्चितं तस्य पर्यवसानं सच्चिदानन्द एव भवति तदधिष्ठातृसकलसद्गुणगणालङ्-कृतो लीलापुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः, तदाह्लादसंसिद्धचर्थाद् राधा नामैव-तस्य सारस्येति । नान्यन्नामसंशयः कार्यः यन्नाम्ना यद्वस्त्वाकार्यते, तदेवाभिमुखी-भवति अतस्तन्नामोक्त्या तस्मिन्नेव मनो निदधातीति । अर्थान्मन्मनो नान्य-

रसकलश

'लावण्य के सार, रस के सार, सुख के एक मात्र सार, कारुण्य के सार, मधुर छवि और रूप के सार, विदग्धता या नागरता के सार, रति केलि और विलास के सार, समस्त सारों के सार श्रीराधा नामक तत्त्व में अथवा श्रीराधा नाम में मेरा मन सदा वर्तमान है ।'

समस्त वस्तुओं का सार श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप हैं उनकी भी आराधनीया होने के कारण समस्त सारों का सार श्रीराधा हैं । अथवा जो लावण्य आदि प्रसिद्ध गुणों के सार के भी सारभूत तत्त्व हैं उनकी उन गुणों से गुणशालिता के विषय में क्या कहा जाए ? गुणरूपता का कथन भी वहाँ श्लाघनीय नहीं हैं । अतः उन गुणों के सार रूप तत्त्व में (मेरा मन नित्य वर्तमान है, ऐसा कहा है) अब प्रश्न होता है कि उस समस्त सारों के सार भूत तत्त्व का नाम क्या है ? तो उसका उत्तर देते हैं 'राधाभिधे' अर्थात् राधा नाम के । विशेष रूप से नाम कहने का तात्पर्य यह है कि अनेक प्रकार के मतों में जिनकी बुद्धियाँ विलास कर रही हैं उनके मन में भी सारभूत वस्तु जो निश्चित है उसका पर्यवसान (सिद्धान्त रूप में निष्कर्ष) 'सच्चिदानन्द में' ही है । उस सच्चिदानन्द तत्त्व के अधिष्ठाता समस्त सद्गुणों के गणों से अलङ्कृत, लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं । उनकी भी आह्लादमयी

त्सारं जानातु, न च सारशब्दे निर्विशेषे तात्पर्यम्—न वा नामान्तरसंश्लिष्टे-यद् राधानाम्नाभिधीयते सारः तस्मिन्नेवास्तु, अतः सर्वं सारावधित्वेन वर्णयति ।

अत्र श्रीकृष्णानुमित्या निरूपयति । शब्दार्थेनापि चेति यल्लावण्यं दृष्टमिवा कोटिकन्दर्पलावण्योऽपि मुह्यतेऽतो लावण्यसारे वा समुद्रेऽमृतं दध्नि-नवनीतं, तत्र ततः परं प्राप्याभावो लोके दृष्टस्तादृशदृष्टान्तेनानुमेयं लावण्यो-दधिसारमिति लावण्यं रूपसौन्दर्ये रोचकत्वं, मुक्ताफले जलवत् । रसोत्पत्तिं विना केवलं तदपि न शोभते । न च कविश्लाघ्यमिति चेत्तत्राह रससारे परात्परो रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति—इति रसोदधिरूपः श्रीकृष्णस्तस्यापि विवर्द्धनकारणेन्दुत्वाद्रससार इति वा उभयोः समरसा-लम्बनत्वेऽपि रसे मुख्या लोके रसशास्त्रे नायिकाप्राधान्यस्य दृश्यमान-त्वात्तस्यास्तु व्रजनवतरुणीकदम्बचूडामणेः का वार्त्तेति रसशब्दस्यानन्दार्थे

रसकलश

संसिद्धि राधा नाम है अतः राधानाम उनका सार है। अन्य किसी नाम के विषय में संशय नहीं करना चाहिये। जिस नाम से जिस वस्तु को बुलाया जाता है, उससे वही वस्तु सामने उपस्थित होती है, अतः राधा नाम से श्रीराधा में ही अपना मन लगाए रहते हैं यह सिद्ध हुआ। अर्थात् मेरा मन अन्य वस्तु को सार न जाने। मेरा निर्विशेष सार शब्द में भी तात्पर्य नहीं है किसी अन्य नाम से संश्लिष्ट (मिले हुए) सार में भी मेरी रुचि नहीं है, जो सार राधा नाम से कहा जाता है मेरा मन तो उसी में वर्तमान रहे। अतः सब सारों की सीमा के रूप में राधा नामक तत्त्व का वर्णन किया है।

यहाँ श्रीकृष्ण के आश्रय से अनुमान के द्वारा निरूपण करते हैं तथा शब्दार्थ द्वारा भी निर्देश करते हैं कि जिनके लावण्य को देखकर 'कोटिकामकमनीय लावण्य वाले 'श्रीकृष्ण भी मोहित हो जाते हैं, अतः श्रीराधा लावण्य का सार हैं। अथवा क्षीर समुद्र से सारभूत अमृत और दधि से सार भूत नवनीत(माखन) प्राप्त होता है लोक में उससे आगे प्राप्तव्य वस्तु का अभाव देखा गया है इस दृष्टान्त के द्वारा यहाँ 'लावण्य के सागर के सार' का अनुमान किया जा सकता हैं लावण्य का अथ है रूपगत सौन्दर्य का रोचक होना, जैसे मोती में पानी या चमक।

रसोदय के बिना वह लावण्य भी शोभा नहीं पाता। न ही रसोदय के बिना वह लावण्य कविजनों द्वारा श्लाघनीथ होता है अतएव कहते हैं रस के सार में'। रस का सार परात्पर तत्त्व है जिसको श्रुति-'निश्चय ही वह रस रूप है, क्योंकि रस को ही प्राप्त करके यह जीव आनन्दमय होता है। इस रूप में वर्णन करती है। इसलिये रस के सागर रूप श्री कृष्ण हैं उनको भी बढ़ाने का कारण-इन्दु होने के कारण रस का सार श्रीराधा हैं। अथवा दोनों के समान रूप से रस का आलम्बन विभाव होने पर भी लोक में भी प्रिया ही रस में मुख्य होती है तथा रस शास्त्र में भी नायिका की ही प्रधानता देखी जाती है फिर 'व्रजनवतरुणि कदम्बमुकुटमणि श्रीराधाजी' का तो क्या कहना ?

पर्यवसानमतो रसत्वेऽप्यानन्दं विना न सुखसार्थक्यमिति चेत्तत्राह—सुखेति सुखानां शब्दादिविषयाणां मध्येऽन्तःकरणानन्दः सारस्तत आध्यात्मिकस्ततः परमात्मीयः सर्वोपरिचरस्ततस्तद्धर्मिण आनन्दघनस्याप्यानन्दकत्वात् सुखसारे यद्वा लोकेऽपि गार्हस्थ्यमाधुर्ये आदौ बाल्यतएवोभयकुलसम्बन्धसम्पूर्णपरिवार-लालनसुचरितदर्शनप्रतिक्षणप्राणधननीराजनादिमातृपितृश्वश्रूश्वशुरादिपरम-प्रेमास्पदायत्तपतित्वादि सौभाग्यभरोज्जृम्भितसुखकारणं प्रियैव, अन्यथा केवलगोविन्दे वात्सल्यैकरीतिकं सुखं सम्पन्नं न सर्वरीतिपूर्णत्वम् अतः सुखैकसारे सकलवात्सल्यदास्यसख्यशृङ्गारादिनिष्ठभावानां दृङ्मनःपरमा-नन्दजनके इति सर्वतो, लाडलात्वे सुखैकरूपे परदुःखानभिज्ञता चेदन्येषां तदेकजीवनानां का गतिरिति तत्राह ।

कारुण्यसारे—अत्र पूर्वोपक्रमपद्यस्थसान्द्रकृपावात्सल्यार्थयोः कारुण्ये-ऽन्तर्भावः । सखीजने वात्सल्यं, कान्ते कृपेति कारुण्यभेदो ज्ञेयः । कारुण्येन

रसकलश

रस शब्द का भी आनन्द अर्थ में ही पर्यवसान होता है अतः रस के होते हुए भी आनन्द के बिना सुख की सार्थकता नहीं है । अतः कहते हैं कि सुखैकसार—सुखों-शब्द आदि विषयों-के बीच में अन्तःकरण का आनन्द सार है उससे भी आध्यात्मिक सुख सार भूत है और उस से भी परमात्म-भाव सम्बन्धी सुख सब से बढ़ कर है । अतः उस सुख रूप धर्म वाले आनन्द (श्री श्याम सुन्दर) को भी आनन्द देने वाली होने के कारण श्री राधा को सुख का सार' कहा । अथवा लोक में भी गृहस्थ जीवन के माधुर्य से और आरम्भ से बचपन में ही दोनों कुलों के सम्बन्ध के कारण सम्पूर्ण परिवार द्वारा लाड-प्यार किये जाने से, सुन्दर चरित्र के देखने से, प्रतिक्षण प्राणधन के नाराजन आदि करने से माता-पिता, और सास-ससुर आदि के परम प्रेम की पात्री होने से और पति (श्री श्याम सुन्दर) के आयत्त या अधीन होने से इसी प्रकार के सौभाग्यातिशय के कारण उद्दीप्त सुखों का कारण श्री प्रिया जी ही हैं, अन्यथा केवल श्याम सुन्दर में तो 'वात्सल्य' के प्रकार का ही सुख सम्पन्न होता सब प्रकार के सुख की परिपूर्णता उनमें नहीं हो पाती, अतः श्री राधा सुखों का एक मात्र सार हैं, क्योंकि वे सम्पूर्ण वात्सल्य, दास्य, सख्य और शृंगार आदि में रहने वाले भावों का विषय हैं और दृष्टि मन आदि के लिये परम आनन्द-जनक हैं । इस लिये सब प्रकार से लाडली होने के कारण उन्हें सुखों का एक-सार कहा गया है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि श्री राधा लावण्य का सार, रस का सार और सुख का एकमात्र सार हैं, किन्तु यदि वे दूसरे के दुःख को नहीं जानतीं तो जो रसिकभावुक भक्त जन केवल उन पर ही अपना जीवन भार छोड़े हुए हैं उनकी क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं कि श्री राधा कारुण्यसार भी हैं । यहाँ पर पहले जो उपक्रमपद्य 'वैदग्ध्य-सिन्धु' इत्यादि में सान्द्रकृपैकसिन्धु और वात्सल्यसिन्धु कहा गया है उनमें से कृपा और वात्सल्य दोनों का अन्तर्भाव कारुण्य में हो जाएगा । सखीजन के प्रति प्रिया जी को

सखीकान्तयोरुल्लासयोर्मनोवागतीतसुखप्रापणमिति तत्सारः । सदा रसवर्षि-कृपार्द्रदृष्टित्वमित्यर्थः । यद्वा प्रियस्तुदीनोक्ततादृशदुःखनिवारणवरदानेन करुणापरः । इयं तु परमोदारा स्वसदृशकरणीयकृपावरदानेन तत्परत्वात्, कारुण्यसारे सर्वोपरिचरफलप्रापकत्वादित्यर्थः । सदा करुणाकातरत्वाद्दैन्यावे-शाकृतिरिति चेत्तत्र महाप्रसादगुणमाह मधुरच्छविरूपसारे-ऐश्वर्यमपि पराभूय यन्माधुर्यप्रशंसा सहृदयैः क्रियते, तादृशी मधुरा मनोनयनोल्लादिनी छविर्द्युतिः, रूपमङ्गाकृतिलक्षणसौष्ठवं तयोरपि सारे, अर्थात् तादृशत्वं प्रियेऽपि परन्तु तस्य मोहनस्यापि मोहनीत्वात्सारोक्तिः । वक्ष्यत्येव—

गात्रे कोटितडिच्छवि प्रविततानन्दच्छवि श्रीमुखे, बिम्बोष्ठे नवविद्रुमच्छवि करे सत्पल्लवैकच्छवि ।
हेमाम्भोरुहकुड्मलच्छवि कुचद्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं, वन्दे तन्नवकुञ्जकेलिमधुरं राधाभिधानं महः ॥

स्निग्धाकुञ्चितनीलकेशि विदलद्बिम्बोष्ठि चन्द्रानने,
खेलत्खञ्जनगञ्जनाक्षि रुचिमन्नासाग्र मुक्ताफले ।

रसकलश

वात्सल्य है और प्रियतम के प्रति कृपा है, पर इस प्रकार कारुण्य दोनों में भिन्न-भिन्न रूप से स्थित है ऐसा जानना चाहिये । अतः श्री राधा जी के करुणाशील स्वभाव के कारण सखीजन और प्रियतम दोनों की ही लालसा सदा तीव्र हुई रहती है और प्रिया जी उन दोनों को मन और वाणी से अतीत सुख प्राप्त कराती हैं तभी वे कारुण्य का सार हैं । अथवा प्रियतम तो दीन जनों द्वारा कहे हुए उस प्रकार के दुःखनिवारक वरदानों के कारण करुणाशील हैं ही, किन्तु श्री राधा जी भी परम उदार हैं अपने समान बना लेने वाले कृपामय वरदान देने के कारण करुणापरायण हैं अतः वे सब से अधिक कृपाफल प्राप्त कराने के कारण कारुण्यसार हैं ।

अब यहां प्रश्न होता है कि तब तो सदा ही करुणा भाव से कातर होने कारण दीनता के आवेश वाली सी आकृति बनी रहती होगी ? उसका उत्तर देते हैं कि अपनी करुणाशीलता के कारण वे जो महाप्रसाद करती हैं बड़ी कृपा करती हैं उसका यह फल होता है कि वे 'मधुरच्छविरूपसार' मधुर छवि और मधुर रूप का सार बनी रहती हैं तभी तो उनके ऐश्वर्य को भुलाकर सहृदयजन उनके माधुर्य की ही प्रशंसा करते हैं। ऐसी मधुर अर्थात् मन और नेत्रों को आह्लाद देने वाली छवि द्युति और रूप अर्थात् अंगों की आकृति और लक्षणों का कारण सौष्ठव है । अतः उन दोनों का सार मधुर-च्छविरूपसार श्रीराधा जी हैं । यद्यपि यह मधुरच्छवि और मधुर रूप श्री श्यामसुन्दर में भी विद्यमान है तथापि श्रीराधा तो उस मोहन की भी मोहनी हैं अतः उन्हें मधुर छवि और मधुर रूप का सार कहा गया है । आगे कहेंगे ही—

'जिनके श्रीविग्रह में कोटि-कोटि विद्युतों (बिजलियों) की छवि है, श्रीमुख में आनन्द की छवि छाई हुई है, बिम्बफल जैसे अधरोष्ठ में नवीन विद्रुम की (प्रबालमणि की) छवि है, कर कमल में सुन्दर पल्लव की अद्वितीय छवि है, कुचयुगल में स्वर्ण कमल की कलियों की छवि है, नेत्रों में कमल की छवि है, नवीन कुञ्ज में क्रीड़ा के द्वारा जो माधुर्यमय है मैं उस श्रीराधा नामक तेज की वन्दना करता हूँ ।'

पीनश्रोणि तनूदरि स्तनतटीवृत्तच्छटात्यद्भुते,
राधे श्रीभुजवल्लिचारुवलये स्वंरूपमाविष्कुरु ।।इति च ।।

सौन्दर्यंमाधुर्यादि मुग्धेऽपि भवति, नैपुण्यं विना न चमत्कृतिर्न च स्वसदृशगुण-विशिष्टकान्तभावानुभावकेलिकलाकौशलास्वादबोधस्तत्र चातुर्यमाह—वैदग्ध्य-सारे मनोवागिन्द्रियाङ्गानां नैपुण्यं नागरीत्वं वैदग्ध्यम् अनेकगुणकला-दक्षिणत्वं तत्रापि सार इति ।

"चतुर चौसठिकला तदपि भोरी" इति वा वैदग्ध्योद्भवकारणं वा तद्वतः प्रियस्यापि मोहने वशीकरणत्वात् सार इति च केवलचातुर्यातिशयेऽप्यास्वाद-विषयाश्रयतां विना 'क्षुधितस्य यथेतरे' इतिवन्न मनस्तोषः, अतो भोगास्पद-तामाह—रतिकेलिविलाससारे । रतिः शृङ्गाररसस्थायी भावः, पत्युः प्रिया-निष्ठो बीजवत्, तस्याः केलय आलिङ्गनास्वादरतबन्धाद्या वा अन्ये भेदा

रसकलश

'हे चिक्कण और घुंघराले काले केशों वाली, हे परिपक्व बिम्बफल के समान अधरोष्ठों वाली, हे चन्द्र के समान सुन्दर मुख वाली, हे चञ्चल खंजन को भी मात करने वाले नेत्रों वाली, हे अत्यन्त शोभाशाली नासाग्र में मुक्ताफल धारण करने वाली, हे पृथुलकटितटे, हे कृशोदरि, हे स्तनतटों की गोलाकार छटा से अति विचित्रे, हे शोभा युक्त भुजलताओं में सुन्दर कङ्कण धारण करने वाली, श्रीराधे, मेरे समक्ष अपने स्वरूप का आविष्कार करो ।'

अब प्रश्न होता है कि सौन्दर्य माधुर्य आदि तो मुग्ध या मूढ़ व्यक्ति में भी होते हैं किन्तु निपुणता के बिना सौन्दर्य माधुर्य का चमत्कार नहीं होता, और न ही उस सौन्दर्य माधुर्य के अनुरूप गुणों से विशिष्ट मनोहर भावों, अनुभावों, केलिकलाओं और कौशलों के आस्वाद का ही अनुभव होता है अत एव अब श्रीराधा जी के चातुर्य का वर्णन करते हैं-वे वैदग्ध्यसार हैं। मन, वाणी इन्द्रियों और अङ्गों की निपुणता या नागरता को वैदग्ध्य कहते हैं। अनेक गुणों और कलाओं में दक्षिण या विचक्षण होना भी वदग्ध्य या विदग्धता कहलाता है, उसमें भी सार श्रीराधा हैं। जैसा कि 'चतुर चौसठि कला तदपि भोरी'—आदि पदों में वर्णन किया गया है। अथवा विदग्धता के उद्भवका कारण 'वैदग्ध्यसार' कहा जाता है। अथवा वैदग्ध्यशाली अर्थात् नागरवर प्रियतम को भी मोहित करके वश में कर लेने के कारण श्रीराधा वैदग्ध्यसार हैं।

केवल चातुर्य की अधिकता के होते हुए भी यदि कोई आस्वाद का विषय या आश्रय नहीं है तो 'क्षुधितस्य यथेतरे' 'स्वयं भूखे के आश्रित रहने वाले दूसरे भी भूखे रहते हैं' के अनुसार मन को आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अतः उनकी आस्वादविष-यता का वर्णन करते हैं—वे रतिकेलिविलास सार—रति तो शृङ्गार रस का स्थायी भाव ही है जो पति (श्री श्याम सुन्दर) के मन में इन (प्रिया श्रीराधा जी) के प्रति बीज की भांति स्थायी रूप में स्थित है। उसकी क्रीडाएं आलिङ्गन, चुम्बन, रतबन्ध आदि अथवा

वनविहार जलक्रीडानिलयनपुष्पावचयपरस्परश्रृङ्गारचन्दनादिचित्रचर्चान्दोले-रासाद्या अपि रत्यास्पदप्रियाप्रसादनार्थकाः कामोद्बोधका एवेति पुष्पफलपल्लवादिसमृद्धवृक्षवत्, तासां विलासो विलसनमास्वादो भोग इति यावत् रसमयफलवत्, तत्रापि सार इत्यनावृतरसवत्, अर्थात् बीजस्थानीया रतिर्वृक्षस्थानीयाः केलयः, फलस्थानीयो विलासः, आवरणभङ्गिरसस्थानीयः सार इति भेदः, यद्वा तादृशतद्वतः प्रियस्यापि जीवनत्वात् सार इति । लावण्यरससुखकारुण्यमधुरच्छविरूपवैदग्ध्यरतिकेलिविलासादीनाधिदैविकानिक्षुदण्डवन्निपीडय यत्सारभूतो रस एकीभूय परमपात्रे तिष्ठति, तदेव घनीभूतं सविशेषं सत् प्रियारूपं वस्तु प्रादुर्भूतमिति सारार्थः । एतादृशेऽखिलसारसारे राधाभिधे मम मनो वर्तते, नान्यन्मननविषयीकरोमीति हा किमनीदृशे मनो दधामीति भावः । लावण्यसारश्च रससारश्च सुखैकसारश्चेति समा-

रसकलश

अन्य अनेक क्रीडाभेद जैसे वनविहार, जलक्रीडा, निलयन [छिपना], पुष्प चुनना, परस्पर श्रृङ्गार [एक दूसरे को सजाना] चन्दन आदि द्वारा चित्रों की रचना करना, भूला-भूलना, रासलीला आदि भी रति केलि ही कहे जाते हैं । रति की विषय या पात्र भूता प्रिया का प्रसादन करने के लिए और काम का उद्बोधन करने के लिए ही की गई क्रीडाएँ भी रतिकेलि कहलाती हैं जो रति नामक बीज में से पुष्प, फल, पत्र आदि के समृद्ध वृक्ष की भांति उत्पन्न हुई होती हैं । उन रतिकेलियों के विलास—विलसन या आस्वाद-उस वृक्ष के रसमय फल के समान है । उनका भी सार—जिनमें न छिलका है, न गुठली है, केवल रस ही रस है वह श्री राधा हैं । इस प्रकार बीज के स्थान पर यहां रति है, वृक्ष के स्थान पर केलियाँ या क्रीडाएं हैं, फल के स्थान पर विलास है और आवरण भंग हो जाने पर प्राप्त होने वाले रस के स्थान पर सार है, यह रति, केलि विलास और सार में भेद है ।

अथवा वैसे उन रतिकेलि विलासों वाले प्रियतम के भी जीवातु या जीवन होने के कारण श्रीराधा 'सार' हैं । यहाँ पर लावण्य, रस, सुख, कारुण्य, मधुर छवि, रूप, वैदग्ध्य, रति, केलि, विलास, आदि जो आधिदैविक हैं उनको इक्षुदण्ड (गन्ने) के समान निचोड़ कर जो सारभूत रस निकला वह एकत्रित होकर परमपात्र में स्थित है । वही घनीभूत होकर सविशेष हो गया (अनेक विशिष्टताओं से युक्त हो गया) बस, वही वस्तु श्रीप्रिया जो के रूप में प्रादुर्भाव को प्राप्त हुई है, यह इन सबका सार कहने का प्रयोजन है । ऐसे सभी सारों के सार श्रीराधा नामक तत्त्व में मेरा मन वर्तमान है । मैं अन्य किसी वस्तु को अपने मनन चिन्तन का विषय नहीं बनाता । 'हाँ ! जो तत्त्व ऐसा नहीं है, उसमें मैं अपना मन क्यों लगाऊँ ? यह भाव है । लावण्यसार, रससार और

हारे चैकवद्भाव एवमग्रेऽपि प्रवर्तते इत्यध्याहारः। यद्वा गुणकथन-परम्परया प्रेमावेशेन साक्षात्तत्स्फूर्त्या गद्गदरुद्धकण्ठतया वाक्यान्ते 'प्रवर्तते' इति वा 'वर्तते' वेति क्रियापदं वक्तुं न शक्तो वक्तेति गम्यते मम मन इत्युक्ते वा स्तम्भित इति भावः ॥२५॥

लावण्यादिगुणानां या कारणं परमं स्मृता।
उपादाने ह्यसन्तोषाच्छक्त्याचिन्त्यत्वमुच्यते ॥

कारणं विनैव कार्यदर्शनमचिन्त्यत्वं, मणिकल्पवृक्षादौ स्मृतिमात्रेण यथेष्टचिन्त्यफलदानदर्शनात् अलौकिकतया त्वचिन्त्यशक्तित्वं निर्दिशति—

चिन्तामणिः प्रणमतां व्रजनागरीणां,
चूडामणिः कुलमणिर्वृषभानुनाम्नः ॥
सा श्यामकामवरशान्तिमणिर्निकुञ्ज-
भूषामणिर्हृदयसम्पुटसन्मणिर्नः ॥२६॥

रसकलश

सुखैकसार का समाहार करने पर और एकवद्भाव करने पर 'लावण्यसार-रससार-सुखैकसारे' शब्द निष्पन्न हुआ। 'विशेषणं विशेष्येण वहुलम्' विशेषणों का विशेष्यों के साथ अनेक प्रकार से समास होता है इस नियम के अनुसार लावण्यसार और रससार इन दो विशेषणों का सुखैकसार इस एक विशेष्य के साथ कर्मधारय समास होने पर भी यह रूप निष्पन्न हो सकता है) ऐसे ही आगे (कारुण्यसार-मधुरच्छविरूपसारे, वैदग्ध्यसार-रतिकेलि-विलाससारे में) भी समझना चाहिये। इस श्लोक में 'प्रवर्तते' पद का अध्याहार किया जाता है, जिससे मेरा मन राधा नामक सब सारों के सार में प्रवृत्त होता है।' यह वाक्यार्थ होगा। अथवा गुण कथन की परम्परा में प्रेमावेश से साक्षात् उसकी स्फूर्ति होने और गद्गदता से कंठ रुँध जाने के कारण वाक्य के अन्त में 'प्रवर्तते' या 'वर्तते' इस क्रिया पद का उच्चारण करने की वक्ता में शक्ति न रही, यह प्रतीत होता है अथवा 'मम म .अखिलसारसारे' कहने पर वक्ता को स्तम्भ सात्त्विक हो गया है ऐसा जाना जाता है ॥२५॥

लावण्यादि गुणों की जो परमकारण कही गई है वह किसी अन्य उपादान में संतोष न होने के कारण श्री स्वामिनी की शक्ति है, इस सिद्धान्त में उनकी शक्ति की ही अचिन्त्यता जानी जाती है। कारण के विना ही कार्य का होना यही उस शक्ति की अचिन्त्यता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष आदि का स्मरण करते ही उनके द्वारा यथेप्सित चिन्तित फल का दिया जाना देखा जाता है। अतः अलौकिक तत्त्व होने के कारण श्रीराधा जी की अचिन्त्य शक्तिमयता का निर्देश करते हैं—

'जो प्रणाम करने वालों के लिये चिन्तामणि, व्रजनागरियों में चूड़ामणि, वृषभानु नामक गोपराज की कुलमणि, श्याम के कामवरों के लिये शान्तिमणि, और निकुञ्ज की भूषामणि हैं। वे हमारे हृदय सम्पुट की नित्य और शोभन मणि हैं ॥२६॥

प्रकर्षेण नमतां सर्वात्मना शरणैकनिष्ठानां चिन्तामणिर्यथा चिन्त्यते तथैव सकलमनोरथपूरकः।

'अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।'

इतिबलिवाक्यवत्, ये प्रणाममात्रं कुर्वन्ति। तेषां भावफलदानेन रसाधिकारप्राप्तिः पर्यवस्यति। यद्वा प्रियस्यापि विलासलालसतया प्रणमनं वा सखीनां मानमोचनोपाये किञ्चिदाग्रहनिबन्धमोचने च प्रणमनन्तदा तन्मनोरथपूरणाच्चिन्तामणिरिति यथाभावुकगम्योऽर्थः। अत्र चिन्तेत्युक्तेः केवलचिन्तकपराधीनतैव नास्तीति चतुरचिन्तामणित्वं निर्दिशति।

व्रजनागरीणां चूडामणिः। 'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसाद' इति तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेक'मित्याद्यैर्व्रजजनप्रशंसा, ततोऽपि तत्रत्यनागरीणां वैदग्ध्यानुरागरसलावण्याद्यद्भुतगुणगणशालिनीनां परमश्लाघा तासां चूडामणित्वेन परमस्वा-

रसकलश

विशेष रूप से नमस्कार करने वालों अर्थात् सर्वभाव से एकमात्र शरण की निष्ठा रखने वालों के लिये वे चिन्तामणि हैं, वे जैसा सोचते हैं वैसे ही सभी मनोरथों को पूर्ण कर देती हैं। 'अहो प्रणाम के लिये किया गया उद्यम ही शरणागत भक्तों के वाञ्छित अर्थों को पूरा करने में समर्थ हो जाता है' इत्यादि बलिवाक्य के समान जो भावुक जन श्रीराधा जी को केवल प्रणाम करते हैं,उनका भाव ही फलदान के द्वारा रस के अधिकार की प्राप्ति में पर्यवसित या परिणत हो जाता है। अथवा प्रियतम का भी विलास की लालसा से प्रणाम करना देखा जाता है, अथवा सखीजनों का भी मान छुड़ाने के उपाय में और किसी आग्रह का निर्बन्ध छुड़ाने में प्रणाम करना पाया जाता है, तब उनके मनोरथ को पूर्ण करने के कारण श्रीराधा चिन्तामणि हैं इस प्रकार से भावुकों को अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार अर्थ समझ लेना चाहिये। यहाँ पर चिन्तामणि कहने पर भी चिन्ता शब्द से केवल चिन्तक की ही अधीनता नहीं है, अर्थात् प्रणाम करना ही पर्याप्त है फिर चिन्ता करने को आवश्यकता नहीं है ऐसी चतुर चिन्तामणि श्रीराधा हैं यह दिखाया गया है।

व्रजनागरियों में वे चूड़ामणि हैं। 'अत्यन्त रति (प्रीति) रखने वाली श्री (लक्ष्मी) पर भी यह कृपा नहीं है।' और 'वह तो बड़ा भारी सौभाग्य है कि इस श्रीवृन्दावन में या गोकुल में भी किसी गोपी की चरणधूलि से अभिषेक प्राप्त करने वाला कोई भी जन्म प्राप्त कर लिया जाए।' इत्यादि श्रीमद्भागवतीय वचनों द्वारा सामान्य व्रजजनों की भी प्रशंसा की गई है, उनमें भी वहाँ की रहने वाली नागरियों की तो परम श्लाघा की गई है जो चतुरता, अनुराग, रस, लावण्य आदि अद्भुत गुणगणों से शोभायमान हैं। उन परम श्लाघनीय व्रजनागरियों की भी चूडामणि परमस्वामिनी होने से श्रीराधा विराज-

मिनीत्वेन विराजमाना अनेन माधुर्यैश्वर्यरूपगुणाद्यास्पदता, सजातीयता स्वत एवायाता, तथापि चूडामणित्वेन भिन्नतत्त्ववस्तुता निरूपिता, किंच— 'आधाय मूर्द्धनि यदापुरुदारगोप्यः काम्यं पदं प्रियगुणैरपि पिच्छमौलेः।' इति 'यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया, विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।इति। 'यो वृन्दावननागरीपशुपतिस्त्रीभावलभ्यः परम्' इत्यादि चोक्तम्। तत्कथमिति तासामपि भावैकलभ्यमिति। वक्ष्यति च श्रीचतुराशीतिपदावल्याम्— 'व्रजनवतरुणिकदम्बनागरी निरखि करत अधग्रीवाँ' इत्यपि, 'मुकटमणिश्यामा आजु बनी' इतिच।

चूडामणिरिति सौभाग्यलक्षणमतः सर्वासां नागरीणां सखीजनानामित्यर्थः तासां स्वामिन्यैव सौभाग्यं न भिन्नतया, यथा नृपमहिषीदासीनां तत्सौभाग्येनैव सौभाग्यम् मातृपितृलालनादि विना न माधुर्य्यसौभाग्यपूर्तिरत आह—वृषभानुनाम्नः कुलमणिः—रूढार्थे यन्नाम्नो गोपराजस्य कुलयशोवितानेन प्रकाशेन हेतुना मणिरूपा।

रसकलश

मान हैं। इस कथन से श्रीप्रियाजी का माधुर्य, ऐश्वर्य, रूप, गुण आदि का आस्पद(आधार) होना और उन व्रजनागरियों का सजातीय होना तो स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। उन में भी चूडामणि होने से भिन्न तत्त्व वाली वस्तुस्थिति का निरूपण किया गया है। यहाँ 'जिस चरणरज को सिर पर धारण करके उदार गोपियों ने प्रिय गुणों के साथ शिखण्ड मौलि (मोर पंख वाले श्री श्यामसुन्दर) के कमनीय या काङ्क्षणीय पद (स्थान और चरणों) को प्राप्त कर लिया' और 'जिनके चरण कमल के नखरूपी चन्द्रकान्तमणि की एक छटा का अलौकिक विलास गोपियों में देखा गया है।' और 'जो वृन्दावन की नागरी गोपी के भाव से ही प्राप्त किया जा सकता है।' इत्यादि कहा गया है, वह यहाँ कैसे संगत होता है? वह गोपीभाव वालों को भावमात्र से मिल जाता है यह बात श्रीमच्चतुरासी जी के पद में कही गई है। श्रीमच्चतुरासी जी की पदावली है कि—

'व्रजनवतरुणि कदम्ब नागरी निरखि करत अधग्रीवा।' और 'मुकुटमणि श्यामा आज बनी'। इत्यादि।

चूडामणि सौभाग्य का लक्षण हैं। अतः समस्त नागरियों या सखीजनों का सौभाग्य स्वामिनी से ही है पृथक् कोई सौभाग्य नहीं, जिस प्रकार महारानी की दासियों का उसके सौभाग्य से ही सौभाग्य होता है। माता पिता के द्वारा लालन-पालन (लाड़प्यार) आदि के बिना माधुर्य या सौभाग्य की पूर्ति नहीं होती। इस विचार से कहते हैं कि वृषभानु नामक गोपराजा की कुलमणि। 'वृषभानु' यह प्रसिद्ध गोपराज का रूढ नाम है उनके कुल के यश का विस्तार करने से अर्थात् जगत में इस कुल का प्रकाश करने के कारण 'श्री राधा' मणिस्वरूपा है। श्री राधाजी के जन्म से ही इस कुल का प्रकाश हुआ। जैसे श्रीमद्भागवत में—

अर्थात् तज्जन्मनैव तत्प्रकाशो, यथा 'के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः। भवतो दर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितु, रिति दृष्टान्तेनैतत् कुलस्य न्यूनता न शङ्कनीया, देहरूपं विना केवलमात्मापि न शोभते, प्रकाश्यं विना प्रकाशिता कं प्रकाशयेत् इति प्रकाश्येनैव प्रकाशकोत्कर्षः—अतः श्रीवृषभानु-कुलकाञ्चनखचनसम्बन्धेनैतन्मणिशोभा जातेति। अन्यच्च लौकिके कुल-मणित्वं पुत्रे श्रूयते, अत इयं श्रीदामपुत्रादप्यतिवल्लभा। यथा पदं या कन्या के आगे कोटिक बेटन को अवमाने' इति। यद्वा कुलं परिवारस्थसकलनरनारी-गणपरमप्रेमाह्लादद्योतकत्वात्तदेकजीवत्वाद् वा कुलेति। अतः परं न संतति-परम्परास्पृहा जातेति—एतया श्रीमत्यैव वंशस्थितिमननं पुत्रसद्भावेऽपि परमस्नेहभरो दर्शितः, तादृशरूपेणैव नित्यलीलास्थायित्वात्।

यद्वा यौगिकेऽर्थे वृषराशिगतभानुश्लेषार्थे महाप्रतापतापितसकलभुवन-मण्डलत्वं वृषभानोरेवेत्यन्यभानुभ्यो भ्रातृभ्यः परमोत्कर्षः। तेजस्विन उत्कर्ष-

रसकलश

'यादवों के सहित हम पाण्डव नाम और रूप से क्या हैं जब तक हमारे मध्य में आपका दर्शन न हो। जैसे ईशिता-परमात्मा या आत्मा-के बिना इन्द्रियों का नाम और रूप से क्या अस्तित्व है।' कहा गया है। किन्तु इस दृष्टान्त से श्रीवृषभानु कुल की न्यूनता न समझनी चाहिये, देहरूप के बिना आत्मा भी शोभा नहीं पाती, प्रकाश्य के बिना प्रकाशक किसको प्रकाशित करेगा, अतः प्रकाश्य (जिसे प्रकाशित किया जाता है उस) के द्वारा ही प्रकाशक (जो प्रकाशित करता है उस) का उत्कर्ष होता है। इसलिये श्रीवृषभानुकुल रूपी सुवर्ण में खचित होने के सम्बन्ध से इस श्रीराधा रूप) मणि की शोभा हुई है। एक और बात भी है लौकिक व्यवहार में कुलमणि होने का महत्त्व पुत्र को दिया जाता है, उस को ही कुलमणि कुलदीपक आदि कहा जाता है, यहाँ श्रीराधा जी को कुलमणि कहने का तात्पर्य यह है कि 'श्रीदामा नामक पुत्र से भी श्रीवृषभानु-कुल को यह अधिक प्रिय हैं। जैसा कि पद भी है कि – या कन्या के आगे कोटिक बेटन को अवमानें।' इत्यादि अथवा परिवार में रहने वाले सभी नर-नारीगण भी कुल कहलाते हैं उनके परमप्रेम और आनन्द के द्योतक होने के कारण तथा उनका एकमात्र जीवन (जीवनाधायक) होने के कारण श्रीराधा कुलमणि हैं। श्रीराधा जी के जन्म के बाद इस कुल को सन्तान परम्परा की इच्छा नहीं रही, इस परम सौभाग्यमयी (श्रीमती) मे ही अपने वंश की उत्तम स्थिति मान ली गई, यहाँ पुत्र के होते हुए भी पुत्री (श्रीराधा) के प्रति अत्यन्त स्नेह का उद्रेक दिखाया गया है। इसी अत्यन्त स्नेहास्पद रूप से ही श्रीराधा नित्य लीला में स्थित है।

अथवा वृषभानु इस नाम का यौगिक (व्युत्पत्ति से मिलने वाला) अर्थ करने पर वृषराशि में आया हुआ सूर्य (ज्येष्ठ का सूर्य) है। इस अर्थ में श्री वृषभानु ने अपने महान् से महान् प्रताप से समस्त भूमण्डल को प्रतापमय बना दिया है, अतः वे अन्य भानुओं (चैत्र आदि के सूर्यों और अपने भाइयों से) परम उत्कृष्ट हैं। तेजस्वी का उत्कर्ष तो

स्तेजोऽतिशयेनैव न तापार्थकार्कश्यं शङ्कनीयम् । आयतौ वर्षादिभिः परमसुखदत्वात् यद्वा यशःप्रतापदयौदार्य्यवात्सल्यसौजन्यसौशील्यमहाभाग्यसंपत्तिज्ञानभक्त्यादिगुणगणकिरणालङ्कृतत्वं ज्ञेयम् । योऽन्यान् प्रकाशयति तस्यापि मणिरिति किमुच्यते कुलमणिरिति । महीभान्वादिपूर्वजैः सहाल्हादप्रकाशकेति मणिरिति स्थूलतानिरासार्थम्—अन्यथा प्रकाशकप्रकाशकत्वे ततोऽपि स्थूलताधर्मः स्यात्, अतः अचिन्त्यशक्तिमयलघुतरहस्तगतलालनीयमाणभर्नोर्वात्सल्यास्पदेत्यर्थः ।

अथवा वृषेति धर्मवाचकः सोऽपि भानुरूपः परमधर्मः तस्य कुलमणिः शिरोधार्यमणिः भगवद्धर्मेऽपि रहस्यरूपेयमतो वृषभानुर्भगवद्धर्मरूपस्तस्य रहस्यं प्रेमरसरहस्यं वस्तुजातं यथा—'रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं निगूढ मे वाणी जपतु,सततं जातु न पर' मिति श्रीविठ्ठलोक्तेः ।

रसकलश

तेज की ही अधिकता से होता है, अतः यहाँ श्री वृषभानु में सन्ताप देने वाली कठोरता की आशङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि सूर्य के तेज की अधिकता ही बाद में वर्षा आदि का कारण होने से परम सुख देने वाली होती है ।

अथवा यश, प्रताप, दया, उदारता, वात्सल्य, सज्जनता, सुशीलता, महाभाग्यशालिता, सम्पत्ति ज्ञान, भक्ति आदि गुणगणरूपी किरणों से अलंकृत होना ही श्रीवृषभानु जी को वृषराशि के भानु के समान तेजस्वी बनाता है और वे सम्पूर्ण जगत् को अपनी इन किरणों से प्रकाशित करते हैं । किन्तु जो दूसरों को प्रकाशित करते हैं उनको भी प्रकाशित करने वाली मणि श्रीराधा हैं । फिर समस्त कुल के लिये इनके मणि होने का क्या प्रतिपादन किया जाए ? अब यहाँ शङ्का हो सकती है कि अपने पूर्वज महीभानु आदियों के साथ यदि श्रीराधा आह्लाद की प्रकाशक मणि हैं तो वे भी उन्हीं के समान बहुत बड़ी होंगी ? इस शङ्का का निराकरण करना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने से प्रकाशकों की प्रकाशक होने से श्रीराधा जी में स्थूलता महाकायता) रूपी धर्म की सम्भावना होगी । अतः समझना चाहिये कि श्रीराधा अचिन्त्य शक्तिमय हैं, लघुतर हैं और वृषभानु कुल के हाथों में लाड प्यार से लालित होने वाली मणि हैं, श्रीवृषभानु रूपी भानु के वात्सल्य का आस्पद (विषय) हैं ।

अथवा वृष शब्द धर्म का वाचक है वह वृष (धर्म) भी परम धम होने पर भानु (सूर्य) रूप है, उस परमधर्म की श्री राधा कुलमणि हैं शिरोमणि (सिर पर धारण करने योग्य मणि) हैं । भगवद्धर्म में भी यह रहस्यरूपा हैं अतः वृषभानु हुए भगवद्धर्म रूप, उनका रहस्य-प्रेमरस रहस्य भूत वस्तु हुई श्रीराधा । जैसा कि गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने कहा भी है—'समस्त वेदशास्त्रों के निगूढ धन जैसा रहस्य, जो श्रीराधा नाम है उसको मेरी वाणी सदा जपा करे, कभी भी दूसरा नाम न ले । श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेव जी ने भी कहा है—

"निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः"

इति द्वितीये शुकोक्तौ च ।

मणावप्यनेके सन्मंगलधर्मा भवन्तीति प्रतापधर्ममुक्त्वा शान्तिधर्ममाह-श्यामेति षोडशवर्षार्थत्वात् पूर्णकिशोर आरब्धयौवनस्तस्य वा कृष्णशब्द-पर्यायः । सदानन्दघनाख्यातश्यामसुन्दरमूर्त्तेः कामोऽभिलाषो विलासतृषा तस्य वरशान्तिः श्रेष्ठशान्तिरूपो मणिर्नान्यन्मम तापोपशमकमित्यतिशयसमानाभा-वालोचनम् प्रियस्य बुद्धिपूर्वकं वा शान्तिः परमसुखमिति वरार्थः—यद्वा कामवरः प्रियापाङ्गजनिताद्भुततदर्हकामस्तस्य शान्तिः पूरकमणिर्यदा लालसोदयस्तदा तदोपशमका । अर्थात् तादृशश्यामस्यापि कामवरदेत्यर्थः ।

रसकलश

'जिनकी समता निरस्त (दूर की जा चुकी) है उनसे बढ़कर कहीं कोई कैसे हो सकता है ऐसी 'श्रीराधा' जी के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप धाम (श्री वृन्दावन) में क्रीड़ा करने वाले 'श्री श्याम' को नमस्कार हो ।

मणि में भी अनेक शोभन और मङ्गलमय धर्म होते हैं, इसलिए प्रतापमय धर्मों को कहकर अब शान्तिमय धर्मों का वर्णन करते हैं—श्यामकामवरशान्तिमणि—श्याम अर्थात् सोलह वर्ष के, पूर्ण किशोर, जिनकी यौवनावस्था अभी प्रारम्भ हुई है ऐसे अथवा श्याम शब्द 'कृष्ण' का पर्याय भी है अतः पूर्ण किशोर श्रीकृष्ण जो सदानन्दघन ('कृषि-र्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इत्यादि वचनों के अनुसार कृष् अर्थात् सत् और ण अर्थात् आनन्द उन दोनों का घन अर्थात् एक; इस) रूप में विख्यात हैं, श्याम सुन्दरमूर्ति हैं—उनकी कामना-अभिलाषा या विलास तृष्णा—की श्रेष्ठ शान्ति रूपी मणि श्रीराधा हैं । क्योंकि वे 'श्रीराधा के अति-रिक्त दूसरी कोई भी वस्तु मेरे ताप को उपशान्त करने वाली नहीं है' इस रूप में उन से बढ़कर भला कोई वस्तु कैसे हो सकती है जब उनके समान ही कोई नहीं है इस प्रकार का चिन्तन करते रहते हैं । अथवा प्रिय बुद्धिपूर्वक श्रीराधा को शान्ति या परम सुख मानते हैं अतः वे उनकी वर या श्रेष्ठ शान्ति हैं । अथवा कामवर वह काम है जो प्रिया जी के कटाक्ष से उत्पन्न हुआ है अतएव अद्भुत है और इसीलिये वह काम श्याम के योग्य भी है उस कामवर-अलौकिक काम-की शान्ति या पूर्ति करने वाली मणि श्री राधा हैं, क्योंकि जब जब लाल के मन में विलास-लालसा का उदय होता है तब तब लाडली जी उसकी उपशामक होती है अर्थात् वैसे श्याम को भी कामानुरूप वरदान देने वाली श्रीराधा हैं ।

यद्वा कामविलासोद्दीप्तावपि तद्विस्मृत्य रूपचाकचिक्ये एव चकोरवत् स्थगितस्तिष्ठतीति केवलनिष्कामरूपासक्तो भवतीति शान्त्यर्थः। यथा—'इच्छापिधानं निजपादपल्लव' मित्यत्र पिधाने दत्ते इच्छाङ्कुरीभावानुपलब्धेरितिवन्नायकधर्मत्वात् कामोऽपि स्यात् परन्तु तच्छविरूपमणिप्रभावाद् रूपासक्तिरेव पर्यवस्यतीत्यर्थः।

अस्य तस्य मणेर्नित्यभूषणपात्रं वर्णयति—निकुञ्जेति। तादृशवृन्दावन-निकुञ्जानां भूषणरूपो मणिः राकानेकविचित्रचन्द्राह्लादगौरच्छविरूपच्छटाभिर्निकुञ्जाः शोभन्ते—तैश्च सा शोभते—वक्ष्यति 'श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नी'ति—'कन्दर्पकोटिशरमूर्छितनन्दसूनुसंजीवनी जयति कापि निकुञ्जदेवी'तिभूषणोक्तेर्नित्यं तन्मण्डनत्वं ध्वनितम्।

रसकलश

अथवा मन में कामविलास के उद्दीपित हो उठने पर भी श्याम सुन्दर उसे तो भूल जाते हैं और श्रीश्यामा के रूप चाकचिक्य (चकाचौंध) में चकोर के समान चकित हुए रहते हैं, केवल निष्काम रूप हो जाते हैं यही कामवर शान्ति हैं। जैसे कि श्रीमद्-भागवत के—'इच्छाओं पर ढकना डाल देने वाले अपने चरणपल्लव' इत्यादि वचनों में पिधान या ढकना लगा देने पर इच्छाओं का अङ्कुरित होना नहीं पाया जाता, ऐसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। अथवा नायक का धर्म होने के कारण श्याम को काम भी हो परन्तु वह काम भी श्रीराधा जी की छविरूपी मणि के प्रभाव से रूपासक्ति (रूप में आसक्ति) के रूप में ही परिणत हो जाता है। अर्थात् काम न रह कर रूपासक्ति हो रह जाती है।

अब उस ऐसी मणि की भूषणपात्रता का वर्णन करते हैं—निकुञ्जभूषामणि—वैसे विलक्षण वृन्दावन-निकुञ्जों की भूषणरूप मणि श्रीराधा हैं। उनकी पूर्णिमा में उदय हुए अनेक चन्द्रमाओं के समान आह्लाद देने वाली गौरच्छवि और गौर रूप की छटाओं से निकुञ्ज शोभायमान होते हैं और उनसे वह शोभायमान होती हैं। आगे कहेंगे भी—'षोडशवर्षीया श्यामाओं में शिरोमणि भूता कोई अनिर्वचनीया निकुञ्ज सीमा में सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं।' और 'कोटिकन्दर्पों के बाणों से या कन्दर्प के कोटि बाणों से मूर्छित हुए नन्दनन्दन को सञ्जीवन देने वाली कोई अनिर्वचनीया निकुञ्ज देवी सर्वोत्कर्षेण विराजमान है।' यहाँ पर निकुञ्ज की भूषणमणि कहकर उनका निकुञ्ज का नित्य मण्डन होना प्रतीत होता है। निकुञ्ज की शोभा के लोभ से वे अपने द्वारा भूषित निकुञ्ज के ही वश में हुई रहती हैं यह भी ध्वनित होता है।

निकुञ्जचछविलोभेन भूषितपारवश्यं चेति महार्घ्यमणिसंपुटे यत्नतस्तिष्ठतीत्याशङ्कायामाह नो हृदयेति। तादृशोक्तमणिर्नोऽस्माकम् सखीजनानां हृदयसंपुटे समुद्गके सत्समोचीनो मणिर्वा सदिति नित्यं सद्रूपतया तिष्ठतीति न चिन्तादिधर्मविशिष्टः, बहुत्वं सखीपरिकरापेक्षया वा मणिधारणगौरवाभिमानात्।

किञ्च चिन्तामणिचूडामणिकुलमणिशान्तिमणिभूषामणित्वादिव्यवहारोऽस्मात्सम्पुटादेव सिद्ध्यति यथा-'व्यासचित्तस्थिताकाशादवच्छिन्नानि कानिचित्। अन्ये व्यवहरन्त्येतान्यूरीकृत्य गृहादिवे' तिवद्भावः। अनेन नित्यं सखीवृन्दे स्थितिर्दर्शिता, तासां बहुयत्नतः सेवापरायणता चेति प्रणमदादीनां चिन्तामण्याद्यकैकधर्माभिमानः। अस्मद्धृदयोत्कर्षस्तु किमुच्यते, उक्ता अनुक्ता अपि धर्माः स्वत एव तत्रायातास्तदपि यथा कल्पतरुं प्राप्य सारंगोऽन्यन्न सेवत'—इतिवन्न तच्छक्तिधर्मादौ किञ्चित्प्रयोजनम्, तादृशमणेर्यत्नतः परिपालनं परमलाभं मन्यामहे, अत एव सर्वेभ्य एते विशिष्टाः सखीजनास्तस्मात्सन्मणित्वं निरपेक्षो धर्मः, अन्येषां चिन्तादिसापेक्ष इति भावः।

रसकलश

अब यहाँ शङ्का होती है कि तब तो श्रीराधा बहुमूल्य मणि सम्पुट (समुद्गक या मणिमञ्जूषा) में बड़े यत्न से सुरक्षित करके रखी हुई हैं, उनकी प्राप्ति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। उस पर कहते हैं कि पूर्वोक्त मणि (श्रीराधा) तो हमारे हृदय सम्पुट में नित्य वर्तमान सुन्दर मणि हैं वह चिन्ता आदि धर्मों से युक्त नहीं है। मेरे न कह कर 'हमारे हृदय सम्पुट' कहने में बहुवचन सखी परिवार की दृष्टि से कहा गया है। अथवा मणिगत साधारण गौरव के अभिमान से ऐसा कहा गया है।

और फिर चिन्तामणि, चूडामणि, कुलमणि, शान्तिमणि, भूषामणि, होना इत्यादि व्यवहार हमारे हृदय सम्पुट की मणि होने से ही सिद्ध होते हैं। जैसे—

'श्री वेदव्यास जी के चित्त में स्थित आकाश से अवच्छिन्न कई भाव हैं जिसका अन्य लोग ऐसे ही व्यवहार करते हैं जैसे अपने घर से कोई वस्तु लेकर व्यवहार में लाई जाती है।' इसके समान ही यह भाव है। इसके द्वारा सखी समाज के मध्य में प्रियाजी की नित्य स्थिति दिखाई गई है, तथा उनकी बड़े यत्न के साथ सेवा परायणता भी दिखाई गई है। यहाँ पर प्रणाम करने वाले आदियों के लिये चिन्तामणि आदि होने से एक-एक धर्म का अभियान प्रकट होता है। हमारे हृदय का उत्कर्ष क्या कहा जा सकता है, वहाँ तो कहे गये न कहे गये सभी धर्म अपने आप ही आ गये हैं। तो भी जैसे मृग कल्पवृक्ष को पाकर फिर अन्यत्र कहीं नहीं जाता वैसे ही हमें उनके शक्ति धम आदि से कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसी मणि का यत्नपूर्वक पालन करना ही हम परम लाभ समझते हैं। इसी लिये इन सबसे विशिष्ट यह सखी जन हैं। इसी से इनके हृदय सम्पुट की सन्मणि होना एक निरपेक्ष धर्म है, औरों के लिये तो चिन्ता आदि की अपेक्षा है यह भाव है। इस प्रकार—

'दृष्ट्वा दृष्ट्वा जीवनं मन्यमाना, दृष्टेर्भीत्या हृत्समुद्गे दधानाः । चिन्ता-चूडाकीर्त्तिशान्त्यादिधर्मैः पुष्णन्त्योऽन्या मद्गतिस्ता हिताल्यः ।।२६।।

तदेव पुनरपि अचिन्त्यशक्तित्वं वर्णयति । मणित्वेऽगाधप्रेमसिन्धु-स्मरणाश्चर्य्यात्, यद्वा हृदयसंपुटस्थत्वेऽपि सावधानतया तदेकप्रवणता एव योग्या न निश्चिन्ततेति—अतो हृदयाधिकृतचित्तमेवाभिमुखीकरोति ।

मञ्जुस्वभावमधिकल्पलतानिकुञ्जं
व्यञ्जन्तमद्भुतकृपारसपुञ्जमेव ।
प्रेमामृताम्बुधिमगाधमबाधमेतं,
राधाभिधं द्रुतमुपाश्रय साधु चेतः ।।२७।।

हे चेत इति यदि त्वं सम्यक् ज्ञानवदसि चैतन्यमसीत्याक्षेपः तदा त्वं राधाभिधमेतं पदार्थमिति प्रत्यक्षदृष्टत्वेन वक्ति । द्रुतं शीघ्रं न विलम्बः

रसकलश

'अपने हृदय सम्पुट की सन्मणि श्रीराधा को देख-देखकर उन्हें ही अपना जीवन मानने वाली, किसी की नजर न लग जाए इस भय से उन्हें हृदय सम्पुट में रखने वाली श्रीहितसखी ही मेरी शरण हैं जो उस मणि के चिन्ता, चूडा, कीर्ति, शान्ति आदि धर्मों से अन्य सखियों का पोषण करती हैं वे हित सखी ही मेरी शरण हैं, गति हैं ।।२६।

फिर भी श्री राधाजी की उसी अचिन्त्य शक्ति का वर्णन करते है । मणि होते हुए भी 'वे अगाध प्रेम की सिन्धु हैं' इसके स्मरण से आश्चर्य से, तथा हृदय सम्पुट में रहते हुए सावधानता पूर्वक उनमें ही एक मात्र परायण रहना उचित है, निश्चिन्त हो जाना उचित नहीं इस विचार से, हृदय आदि नाम वाले चित्त को ही अनुकूल या सावधान करते हैं—

'हे चित्त, मञ्जुल स्वभाव वाले, कल्पलता के समान सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले निकुञ्ज में अद्भुत कृपारस के पुञ्ज को ही व्यक्त करने वाले, श्री राधा नाम के इस अगाध और अबाध प्रेमामृत के सागर का तू द्रुत (द्रवित होकर अथवा शीघ्र ही) भली भाँति आश्रय ले लें ।'

हे चित्त, यदि तू भली भाँति ज्ञानवान् है चेतन है, ('चेतस्' शब्द से यह अर्थ प्रतीत होता है ।) तो तू इस राधा नामक पदार्थ का आश्रय ले ले । यहाँ 'एतम्'-'इस' शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष में दर्शन का विषय होने के कारण किया गया है । 'द्रुतम' अर्थात् शीघ्र—किसी भी प्रकार का विलम्ब न करके—विलम्ब करने पर सन्देह करने

कार्यः, विलम्बे संदेहशंकायां संज्ञानार्थंहानिः स्यात् । यद्वा प्रेम्णा द्रवीभूतं सत्—न तु केवलरूक्षतया संज्ञानमात्रेणेत्यर्थः, साधु यथा स्यात् तथा सत्हृदयेषु प्रशंसा स्यात्तथैवोपाश्रय, उपेति समीपतो निरन्तरतया सेवय न तु दूरतया ज्ञानमात्रेणेत्यर्थः ।

ननु राधा त्वभिधा वर्ततेऽपि च किं तद्वस्तु तत्राह—प्रेमामृताम्बुधिम् अलौकिकप्रेमैकसारमूर्त्तिताद्दृशतदर्हरत्नाकरताप्याताता, अगाधमति-गम्भीरमक्षयञ्च । ननु तिमिंगिलवाडवाग्न्याद्युपाधिरपि सिन्धौ शंक्यते । तत्राह-अबाधम् केनाप्यंशेन तत्र बाधा नास्ति, यथा च वक्ष्यति "सालावण्येति" पद्ये—

> नो किञ्चित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो
> राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः' ॥ इति ॥

ननु क्षीरोदादिरपि माधुर्य्यादिप्रकृतिकः श्रूयते-तदयं किंप्रकृतिकस्तत्राह-मंजिवति । शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्येतिवत् मानप्रेमवैचित्त्यादौ वाम्ये दृश्यमानेऽपि मञ्जुता तत्राप्यपरिहार्य्या, सुन्दरे किं न सुन्दरमिति ।

रसकलश

पर और शङ्का करने पर सम्यक् ज्ञान में हानि होगी । अथवा द्रुतम् का अर्थ 'प्रेम से द्रवित होकर' यह भी होता है, न कि केवल रूखे भाव से या ज्ञानमात्र से । साधु अर्थात् भली भाँति जिससे सत्पुरुषों के हृदय में तुम्हारी प्रशंसा हो इस प्रकार समीप जाकर किसी प्रकार का आधार न रखता हुआ आश्रय ले, सेवा कर । दूर से या केवल ज्ञान से नहीं ।

अब प्रश्न होता है कि राधा तो नाम है वह क्या पदार्थ या वस्तु है ? इस पर कहते हैं—प्रेमामृत का अम्बुधि या सागर । अलौकिक प्रेम का एक मात्र सार ही जिसकी मूर्ति है वैसा प्रेमामृताम्बुधि । यहाँ पर सागर में वैसी योग्य रत्नाकरता भी आ गई । यह सागर अगाध है अति गम्भीर है और अक्षय है । सागर में तिमिंगल आदि महामत्स्य और वडवानल आदि बाधाजनक उपाधियों की भी आशङ्का होती है अतः कहते हैं कि यह सागर अबाध है, किसी अंश में भी इसमें कोई बाधा नहीं है । जैसा कि आगे—'सा लावण्य चमत्कृति' इत्यादि पद्य में कहेंगे भी—'जहाँ न कुछ किया ही गया न-जहाँ स्तुति है न अपराध है और नहीं सम्भ्रम (घबराहट या भ्रान्ति) है वह कोई अनिर्वचनीय श्रीराधा माधव का सहज प्रेमोत्सव हमारी रक्षा करे ।'

अब प्रश्न होता है कि क्षीर समुद्र आदि भी मिठास आदि स्वभाव वाले सुने जाते हैं यह प्रेमामृत सागर कैसा है ? किस प्रकृति का है ? इस पर कहते हैं कि—मञ्जुस्वभाव - मञ्जुल स्वभाव वाला है । जैसे 'यह जो शीतलता है यह तो जल का स्वभाव ही है, इसी प्रकार मान और प्रेमवैचित्त्य— प्रेम के कारण बेभानसी अवस्था—आदि में प्रतिकूलता दीखने पर भी मञ्जुलता या सुन्दरता दूर नहीं की जा सकती । 'सुन्दर में क्या वस्तु सुन्दर नहीं होती ।' प्रेम में वक्रता अत्यन्त शोभायमान होती है ।

प्रेम्णि वक्रिमातीव शोभते । यथा नन्ददासकृते, पदे—

"तेरे री मनायवे तें नीको लागत मान" इत्यादि ।

यदा प्रसादोज्जृम्भस्तदा किमुच्यतेतराम् ।

ननु अगाधकल्लोलमालित्वेऽपरिच्छिन्नतया दुःसाध्यत्वप्रतीतावैश्वर्य्यमेव पर्यवसितम् । सौकुमार्य्यमाधुर्य्यसुसेव्यता तु न सम्पन्ना–तत्राह–अधीति। तादृशदुःसाध्यमपि वस्तु कल्पलतानिकुञ्जमधिकृत्य अद्‌भुतकृपारसपुञ्जमेव व्यञ्जत्—अनेन परिच्छिन्नतया सुसेव्यता दर्शिता । अत्र पूर्वपद्योक्तनिकुञ्जभूषामणित्वं नित्यस्थायित्वेन दर्शितम् । अन्यदपि प्रेमामृतांबुधिमित्यनेन व्रजनागरीचूडामणित्वं, कृपारसपुंजमित्यनेन प्रणमच्चिन्तामणित्वं, श्यामकामवरशान्तिमणित्वं चापि मञ्जुस्वभावमित्यनेन भानुकुलमणित्वं मञ्जुस्वभावतया क्षणशो लालनप्रियतातिशयो-

रसकलश

जैसा कि नन्ददास जी के पद में भी कहा है—'तेरे री मनायवें तें नीको लागत मान ।' इत्यादि । और जब प्रसाद या कृपाभाव उमड़ पड़ता है, तब तो कहा ही क्या जा सकता है ।

कोई कह सकता है कि सागर में तो अगाध कल्लोलों की मालाएँ होने से उसका पार अपार ही नहीं पाया जाता अतः उसमें दुःसाध्यता की प्रतीति होने पर यह सम्पूर्ण वर्णन ऐश्वर्य अर्थ में ही परिणत हो जाता है, सुकुमारता और मधुरता इत्यादि के कारण होने वाली सुसेव्यता या सुखपूर्वक सेवा करने की पात्रता तो सम्पन्न नहीं होती तो इस पर कहते हैं कि—अधिकल्पलतानिकुञ्जम्—अर्थात् वैसी दुःसाध्य वस्तु भी कल्पलता के समान समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले निकुंज में विराजमान होकर अद्‌भुत कृपारस के पुंज को ही व्यक्त कर रही है । इसके द्वारा श्रीराधा जी की परिच्छिन्नता और सुसेव्यता—सुख पूर्वक सेवा करने की पात्रता—दिखाई गई । यहाँ ही पूर्व पद्य में निकुञ्जभूषामणि होना नित्यस्थायी होने के रूप में दिखाया गया है । और यहाँ श्रीराधा को प्रेमामृत की सागर कहने के द्वारा उनके ब्रजनागरीसमूह में शिरोमणि होने का अभिवादन किया गया है । 'कृपारस के पुञ्ज को व्यक्त करना' कहकर प्रणाम करते हुए भावुकों के लिए चिन्तामणि होने का तथा श्याम के कामवर की शान्ति मणि होने का समर्थन किया गया है । ऐसे ही मञ्जुल स्वभाव के कथन द्वारा वृषभानुकुल की मणि होने का हेतु कहा गया है । और मञ्जुल स्वभाव वाली होने के कारण तात्कालिक शोभा के लालन से अत्यन्त प्रियता का उदय हो आने से तथा कृपाभाव का

दयात् कृपाविर्भूतत्वाच्च हृदयसम्पुटसन्मणित्वमपि च तादृग्वैभवापि सख्यप्रेम्णा प्रसह्य सदा हृदयसम्पुटस्थैव विराजते इति स्वभावे मञ्जुता ।

अन्यच्च-अभिधाव्यञ्जनानिर्देशेन वर्णयति-राधेत्यभिधया संसिद्धिवाच्यार्थो बोधितः । मञ्जुस्वभावप्रेमामृतसिन्धुत्वं च लक्षितम् । किञ्च मञ्जुप्रेमादीनां सिन्धूपमायाश्चापि गौण्या प्रवृत्तिः, राध संसिद्धावित्यत्र सिद्धिस्त्वणिमादिप्रसिद्धसामान्यवाचका, तत्र सं शब्देन विशेषार्थो लक्षितः अर्थादुपासनासिद्धान्ते सर्वसिद्धोरणिमादीन् मुक्त्यादींश्चावगणय्य भक्तिः सिद्धान्तिता, तत्रापि प्रेमैकप्रयोजनं 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति ततोऽत्र तु प्रेमामृताम्बुधित्वं तदा किमुच्यते, प्रेमास्पदस्यापि प्रेमास्पदत्वादिति । अतः सिद्ध्यर्थेऽपि सं शब्देन विलक्षणत्वं प्रेमामृतमञ्जुस्वभावत्वं च विशेषः । अन्येऽपि विशेष-

रसकलश

आविर्भाव हो जाने से हृदय सम्पुट की नित्य सुन्दर मणि होना सिद्ध होता है । फिर ऐसे वैभव (ऐश्वर्य) वाली होती हुई भी श्रीराधा सखीभाव के अनुकूल प्रेम से हठात् सदा ही हमारे हृदय सम्पुट में ही स्थित होकर विराजमान हैं यह भी स्वभाव की मञ्जुलता ही है ।

अभिधा व्यञ्जना आदि शब्दशक्तियों के अनुसार और भी वर्णन किया जाता है— राधा इस नाम से अभिधा द्वारा संसिद्धि रूप वाच्यार्थ का बोध हुआ, मञ्जु स्वभाव और प्रेमामृतसिन्धुता लक्षित हुई और प्रेमादियों को सिन्धु आदि के साथ उपमा से गौणी वृत्ति की भी प्रवृत्ति हुई । 'राध' संसिद्धौ (राध धातु संसिद्धि अर्थ में है) इस के अनुसार सिद्धि शब्द तो प्रसिद्ध सामान्य अणिमा आदि आठ सिद्धियों का वाचक है वहाँ शब्द से विशेष अर्थ लक्षित होता है । अर्थात् उपासना के सिद्धान्त में समस्त सिद्धियों— अणिमा आदियों और मुक्ति आदियों–की भी अवहेलना करके भक्ति को 'संसिद्धि' नाम से सिद्धान्तित किया गया है । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे, ईश्वर के विषय में जो परम अनुराग है उसे ही भक्ति कहा जाता है—इस शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार वहाँ भी प्रेम ही उस भक्ति का एकमात्र प्रयोजक है । फिर यहाँ पर तो प्रेमामृत का सागर होना कहा गया है तब इसकी महिमा क्या कही जा सकती है । क्योंकि यह (श्री राधा) प्रेमास्पद श्री कृष्ण की भी 'प्रेमास्पद' हैं । अतएव 'सिद्धि' अर्थ में भी 'सम्' उपसर्ग से विलक्षण सिद्धि होना, प्रेमामृत और मञ्जु स्वभाव का होना यह विशेषता प्रतीत होती है ।

गुणाः सहृदयैकवेद्या अनिर्वचनीयास्तत्र लक्ष्यन्त इति लक्ष्योऽर्थः, कृपारसपुञ्जं व्यञ्जन्तमित्यनेन व्यंग्यार्थो बोधितः ।

किञ्चैतादृशमनिर्वचनीयं वस्तु, एतमिति प्रत्यक्षतयाविर्भूतं तत्कृपयैव कृपाधिक्यं विना दर्शनानुपपत्तिः । नात्र साधनापेक्षेति । यद्वा यदा कल्पलतानिकुञ्जस्थितिरधिकृता, तदैवास्मन्मनसि व्यक्तं यत्कृपारसपुञ्जमेव वर्षिष्यत्येवेति व्यञ्जना । यथा भोजनशालास्थितिर्भोजनं शय्यास्थितिः शयनमितिवत् । कल्पलतेत्यनेन यथा यथा सखीजनानां प्रियस्य चाभिलाषस्तथा कृपा, तत्रापि रस इति । आनन्दमास्वाद्यरूपं च पुञ्जेति—अनन्तमव्ययत्वं च अद्भुतेति—अननुभूतचरत्वम् ।

प्रथमं तु नामैव संसिद्धिरूपं, ततो वस्तु प्रेमामृतरूपं, ततोऽपि मञ्जुप्रकृतिकं, तादृगपि कल्पलतानिकुञ्जे स्थितं, तत्रापि स्वयम् अद्भुतकृपारसपुंजं व्यञ्जन्तमित्यहो प्रणमतां भाग्यवैभवं नैतादृशं दृष्टं श्रुतञ्च, येषामयं

रसकलश

अन्य विशेष गुण भी लक्षित होते हैं जिनको केवल सहृदय ही जान सकते हैं और जो अनिर्वचनीय हैं यह लक्ष्य अर्थ है। कृपारसपुञ्ज को व्यक्त करते हुए (प्रेमामृत के सागर का आश्रय लो) इसके द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराया गया है।

और भी एक बात है कि ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु को 'एतम्' या 'इसको' शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में आविर्भूत बताया गया है और यह प्रत्यक्ष रूप में आविर्भाव उन की कृपा से ही होता है। कहा भी है कि—'कृपा की अधिकता के बिना दर्शन नहीं हो सकते। दर्शन पाने के लिये साधना की अपेक्षा या आवश्यकता नहीं है। अथवा जब कल्पलता निकुञ्ज में विराजमान होना स्वीकार कर लिया तभी हमारे मन में यह बात व्यक्त हो गई है कि अब कृपारस पुञ्ज की वृष्टि करेंगी ही 'यह व्यञ्जना है। जैसे भोजनशाला में स्थिति से भोजन और शय्यासन पर स्थिति से शयन की प्रतीति होती है। इस निकुञ्ज को कल्पलता निकुञ्ज कहने का यही भाव है कि यहाँ सखीजन की और प्रियतम की जैसी जैसी अभिलाषा हुई वैसी वैसी कृपा की, कृपा भी रस अर्थात् आनन्दमयी होने के कारण आस्वाद्यरूप है। फिर उसका भी पुञ्ज अर्थात् अनन्त और अव्यय कृपा रस, जैसा कि पहले कभी किसी ने अनुभव नहीं किया।

पहले तो श्रीराधा नाम ही संसिद्धि रूप है फिर वह प्रेमामृत रूप तत्त्व है, वह भी मञ्जुल प्रकृति का और फिर वह भी कल्पलता निकुञ्ज में स्थित है, उस पर भी स्वयं ही अद्भुत कृपा रस पुञ्ज का होना। अहो ! इसे प्रणाम करने वालों के भाग्य वैभव का क्या वर्णन किया जाए क्योंकि ऐसा भाग्य वैभव न तो कभी देखा गया है और न कभी सुना गया है, धन्य हैं वे—जिनको यह सेव्य रूप में दाय भाग या सम्प्रदाय

सेव्यत्वदायः संप्रदायादागत इति। अतो हे चेतः स्वनामार्थसाफल्यं विचार्य्यै-तमेवोपाश्रय, तदेव, साधु परमयशस्यम्। अत्रैनमिति पुनर्भाषणान्वादेशो न कृतस्तन्नैतादृशतया वर्णितचरत्वाद्वा यदायदा पश्यामि तदातदा नवनवा-द्भुतमेव लगति, अतो मयैतादृशमिदानीमेव प्रथमतो दृष्टं तदुक्तम्, अतो नोक्तं पुनर्भाषणम्।

अथ चित्ताभिमुखीकरणार्थमाह-ननु कथं दुःसाध्यमुपाश्रयामीति निरा-करोति-मञ्जिवति। सेवाप्रमाददोषाज् क्षमिष्यत्येवेति। कल्पलतेत्यनेन यथेष्टाभिलाषं पूरयिष्यत्येवेति। दुःसाध्यत्वशंकां मा कुर्विति। प्रेमामृता-म्बुधिमिति—प्रेमसावधित्वं मा शंकयेति प्रोत्साहं वर्द्धयति तदाश्रयणे न कोऽपि साधनश्रम इति। द्रुतमिति न जाने विलम्बे किं भवेदिति, द्रवार्थे तु—

रसकलश

के रूप में प्राप्त हुआ है। अतः हे चेतस्! तुम अपने नाम की सफलता का विचार करके इसका ही आश्रय लो, इसकी ही सेवा करो। यही तुम्हारे लिये ठीक होगा, परम यश देने वाला होगा। यहाँ पर 'एतम्' के स्थान पर 'अन्वादेश' अर्थ में 'एनम्' प्रयोग नहीं किया गया, क्योंकि इस वस्तु का इस रूप में पहले कभी आदेश या उपदेश, वर्णन या प्रतिपादन नहीं किया गया। तब अन्वादेश कैसा? अथवा इस वस्तु को जब जब देखता हूँ, तब तब नई नई और अद्भुत ही लगती है। अतः मैंने इस रूप में तो इसे अभी ही पहली बार देखा है। तभी कहा गया है कि यहां पुनर्भाषण या अन्वादेश नहीं किया गया है।

अब चित्त को अभिमुख करने के लिए कहते हैं—तुम यह मत सोचो कि ऐसे दुःसाध्य या दुर्लभ तत्त्व का मैं कैसे आश्रय लूं या उसकी कैसे सेवा करूं? क्योंकि यह मञ्जु स्वभाव है मञ्जु स्वभाव के कारण तुझ से सेवा में प्रमाद वश यदि कोई दोष हो जायेगा तो उसे भी क्षमा ही कर देंगी। 'कल्पलता निकुञ्ज में स्थित' होने से तेरी यथेष्ट अभिलाषाओं को पूर्ण कर देगी, इसके विषय में दुःसाध्य या दुर्लभ होने की शङ्का मत कर। प्रेमामृताम्बुधि—प्रेम रूपी अमृत का सागर—कहने से यह तात्पर्य है कि इनके प्रेम को सावधि या ससीम मत समझना। अब उत्साह बढ़ाते हैं कि इनका आश्रय होने या इनकी सेवा करने में कोई साधन सम्बन्धी परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। 'द्रुतम्' शीघ्र कहने का यह तात्पर्य है कि न जाने तू ने देर की तो क्या हो जाएगा। 'द्रुत का अर्थ' द्रवित होकर किया जाए तो 'देव बन कर ही देव की उपासना करनी चाहिये' इस नियम के अनुसार (प्रेम रूपी अमृत के सागर श्रीराधा जी का द्रवित होना तो ज्ञात ही है। अतः चेतस् तू भी द्रवित होकर उनकी उपासना कर) कहा भी है कि

देवो भूत्वा देवं यजेदितिवत्। 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाशय' इत्यादि प्रेमामृताम्बुधिसमाश्रयस्तु द्रवेणैव लभ्य इति सूचितम्।

सिन्धुपक्षे कृपारसपुञ्जव्यञ्जनं यथा चन्द्रामृतादिरत्नानि सिन्धुर्व्यनक्त तथैवायं कृपारसमिति तत्रापि पुञ्जं न घटमात्रं, तत्राप्यद्भुतं न तामसराजसादितुच्छव्यवहारः। निकुञ्जे सिन्धुमानं वृन्दावनीयकल्पलतानिकुञ्जाचिन्त्यशक्तित्वं कल्पतरौ सर्वं यथेष्टं दुर्घटमपि संभवत्येवेति ॥२७॥

आश्रयानन्तरं भावनामाह, तत्र पूर्वं तु लावण्यादिमाधुर्यैश्वर्य्यादि सौभाग्यं प्रियाया उक्तमिदानीम् प्रियसंगे यादृग्भाव उदयति तादृगुपदेशं स्वचेतसे वा सजातीयान् प्रति करोति, यद्वात्यासक्तितापितं प्रियं प्रति कृपारसपुञ्जव्यञ्जनमेवाह—

रसकलश

'रोमाञ्च के विना, द्रवित हो रहे चित्त के विना, आनन्दमय अश्रुकणों के उद्गम के विना और भक्ति के विना हृदय कैसे शुद्ध हो सकता है।' प्रेम रूपी अमृत के सागर का आश्रय तो द्रव के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है यह सूचित किया है।

श्रीराधा जी को प्रेमामृत का सिन्धु कहा गया अतः कृपारस पुञ्ज को व्यञ्जित करना ऐसे ही समझना चाहिये जैसे सिन्धु ने चन्द्र अमृत आदि रत्न व्यक्त किये थे वैसे ही यहाँ कृपारस व्यक्त किया गया है उस कृपारस का भी यहाँ एक कलश नहीं अपितु उसके पुञ्ज (समूह) व्यक्त हैं, और वह समूह भी अद्भुत है, तामस, राजस आदि लौकिक पदार्थों जैसा तुच्छ नहीं, अपितु लोकोत्तर है। निकुञ्ज में अगाध और अबाध सिन्धु कैसे समा गया ? इसका कारण श्री वृन्दावन के कल्पलतामय निकुञ्ज की शक्ति की अचिन्तनीयता समझनी चाहिये, कल्पतरु में सब कुछ दुर्घट (असम्भव) भी इच्छा के अनुसार ही सुघट (सम्भव) हो जाया करता है।२७।

× ×

इस प्रकार आश्रय लेने के बाद भावना का प्रतिपादन करते हैं। पहिले तो लावण्य आदि के रूप में प्रिया जी के माधुर्य और ऐश्वर्य आदि सौभाग्य का वर्णन किया गया है, अब प्रियतम के सङ्ग में जैसे भाव का उदय होता है, वैसा उपदेश अपने चित्त के प्रति और सजातीय सहृदयों के प्रति करते हैं। अथवा अत्यन्त आसक्ति से सन्तप्त प्रिय के प्रति कृपारस पुञ्ज के अभिव्यञ्जन (प्रकाशन) का वर्णन करते हैं—

श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्तीं,
शोणाधरप्रसृमरच्छविमञ्जरीकाम् ।
सिन्दूरसंवलितमौक्तिकपंक्तिशोभां,
यो भावयेद्दशनकुन्दवतीं स धन्यः ॥२८॥

य इति उपाश्रयतां मध्ये यो भावयेदिति, यद्वा य इति वृन्दानि सर्वमहतामित्युक्तरीत्या सर्वविस्मृतिपूर्वकतच्छविलग्नमनाः श्रीराधिकां नवकिशोरीं प्रथमतो नवविवाहमहोत्सवेन परमभाग्यजन्मफलं मन्यमानैर्नन्द-यशोदादिभिर्बहुशो लाल्यमानां वात्सल्यानुकम्पनीयां ललनामार्यगोपी-भ्योऽतित्रपाशीलां केनापि मिषेण कौतुकहर्षौत्सुक्येन निकुञ्जे प्रियेण निली-य ज्ञातवन्मिलितां मूकनूपुरकिंकिण्यादिप्राप्तलाघवामत्यातुरप्रियरुचि-पोषार्थं कृपाजलदसिद्धिनाम्नीं द्विदलात्मकैकरसमूर्त्तित्वेन पत्नीत्वेन च नीत्या प्रियार्द्धांगं, दायरूपामित्यादि यथाभावं सहृदयैर्भावनीयां, निज-

रसकलश

'अपने विट (सर्वस्व हार देने वाले प्रियतम) के साथ वार्तालाप करती हुई, अरुण अधरों की फैलती हुई छवि रूपी मञ्जरी वाली, अतएव जिसको सिन्दूर से आवेष्टित मोतियों की पंक्तियों की सी शोभा प्राप्त है ऐसी कुन्दकलिका जैसी दन्तावली वाली श्रीराधिका जी की जो भावना (भावना द्वारा अन्तःकरण में साक्षात्कृति) करता है वह सहृदय साधक धन्य है।'

'जो' कहने का यह तात्पर्य है कि श्रीराधा जी का आश्रय लेने वालों या उनकी सेवा करने वालों में जो भावना करता है, अथवा जो 'वृन्दानि सर्वमहताम्' इत्यादि श्लोक में कहे हुए प्रकार से सब कुछ भुला कर उनकी शोभा में लग्न या मग्न मन वाला है वह सहृदय। सर्व प्रथम श्याम सुन्दर के नवीन विवाह के महोत्सव से परमभाग्य और जन्म का फल मानने वाले नन्द, यशोदा आदि द्वारा अनेक प्रकार से जिनका लालन पालन (लाड प्यार) किया जा रहा है और वात्सल्य भाव से जो उनके द्वारा अनुकम्पनीया (कृपा की पात्र बनाई जाने योग्य) हैं ऐसी ललना (लाडली जी) जो बड़ी-बूढ़ी आर्य गोपियों में अत्यन्त लज्जाशील हैं जो किसी बहाने से कौतुक, हर्ष और उत्सुकता मे छिपकर निकुञ्ज में प्रिय से अज्ञात रूप में मिली हैं मूक (नीरव) नूपुर और किङ्किणी आदि के द्वारा जिन्होंने लाघव (क्षिप्रकारिता) प्राप्त करली है और जो अति आतुर प्रिय की रुचि का पोषण करने के लिये कृपाजलद (कृपा के जल को बरसाने वाले मेघ) रूपी सिद्धि के नाम वाली है, विषय और आश्रय भेद से द्विदल होते हुए भी एक ही रस की मूर्ति होने के कारण या पत्नी होने के कारण नीति से भी प्रियतम के अर्द्धाङ्ग को दायरूप में प्राप्त कर चुकी हैं ऐसी श्रीराधिका जी की भावना करता है इत्यादि

विटेनेति—असाधारणानन्यलम्पटेनार्यव्रीडया प्रच्छन्नकामुकेन यत्र तत्र तदावेशे तन्मार्गनिरीक्षकेणाकस्मान्मिलितेन, तन्मात्रेण परमसिद्धि मन्यमानेन सहालपन्तीं, यथा च परस्परालपनं वक्ष्यति—"त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ, प्रिये भूयोभूयः सुदृढमतिरागो भवतु मे।' इत्यादि। केनचिदुक्तं यथा—

"मुष्णन्मद्धृदयं प्रिय त्वमनयस्तत्रैव संराजसे दत्से नैव मम त्वदीयहृदये तृष्णैव संक्रामिता। स्वं शील परिगृह्य मामकमनो देहीत्यमत्रागता, साधूक्तं त्विदमेव वच्मि ललने मुष्णासि किं मे मनः।" इति। "जोई जोई प्यारो करै" इत्यादिरीत्या मधुरभाषिणीं, तादृशालापकालिकच्छविं वर्णयन् विशिनष्टि-शोणेति। सहजसुशोभननिरुपमरक्ताधरे प्रसरणशीलाछविमञ्जर्यो यस्या दशनान्येव कुन्दानि तद्वतीं कुन्दकलिकासदृशोज्वलदशनवतीमित्यर्थः।

रसकलश

अपनी अपनी भावना के अनुरूप सहृदयों द्वारा जो भावना करने योग्य हैं। अपने विट-असाधारण और अनन्य लम्पट, बड़े-बूढ़ों की लज्जा से छिपकर आए हुए कामुक से, जहाँ तहाँ उन्ही के प्रति भावावेश के कारण उनका रास्ता देखते रहने वाले, अकस्मात् मिल गये, केवल उन को ही परमसिद्धि मानने वाले विट के इन सभी लक्षणों से युक्त होने के कारण विट कहलाने वाले—श्री श्यामसुन्दर से वार्तालाप करती हुई—जैसे परस्पर वार्तालाप का वर्णन आगे करेंगे—'हे श्यामा, हे नित्यप्रणयिनी, हे नागरी, हे प्रिया, तुझ रसनिधि में मेरा अनुराग प्रतिदिन अधिकाधिक सुदृढ़ हो, प्रियतम के यह वचन सुनकर प्रिया जी ने कहा, तुमने तो मेरे मुँह की बात छीन ली।' श्याम, नित्य प्रणयी, नागरवर, प्रिय रसनिधि तुम में मेरा अति अनुराग अधिकाधिक सुदृढ हो' यही तो मैं कहना चाहती थी। किसी अन्य कवि ने भी कहा है कि—

'हे प्रियतम! तुम मेरे हृदय को चुराकर ले गये हो और तब से वहीं विराज रहे हो, मेरा हृदय लौटाते नहीं हो, तुम्हारे हृदय में सदा तृष्णा या लोभ ही भरा रहता है। अपने शील सदाचार को धारण करके मेरा मन मुझे लौटा दो इसी के लिये मैं यहाँ आई हूँ।' ललना के इतने कथन पर लाल जी ने कहा—'हे ललना, तुम ने यह ठीक ही कहा है मैं यही तो कह रहा हूँ कि तुम मेरा हृदय क्यों चुरा रही हो।' इसी प्रकार 'जोई जोई प्यारो करे' इत्यादि रीति से भी वे मधुरभाषणकलानिधि हैं ही। उस प्रकार के वार्तालाप के काल की छवि का वर्णन करते हुए विशेषण लगाते हैं—'शोणाधरप्रसृमरच्छविमञ्जरीकाम्'—सहज स्वभाव से ही परम शोभन, निरुपम अरुण अधरोष्ठ में प्रसरणशील हैं छविमञ्जरियाँ जिसके, और दन्त ही कुन्द हैं उनको धारण करने वाली अर्थात् कुन्द की कलियों जैसी उज्ज्वल दन्तावली वाली।

अत्राधरगतमारुण्यं दशनगतं तु श्वेतत्वं तयोः परस्परं भास्वरतया वर्णसंक्रमणं जातं तदनुरूपोपमामाह-सिन्दूरेति । सिन्दूरेण संवलिता रंजिता या मौक्तिकानां पंक्तिर्माला वा तद्वत् शोभा यस्याः । अत्र पङ्क्तिः कनककमलकोशगतेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । दशनोद्दीप्त्या साभिप्रायं साकूतं स्मितं हास्यं चापि ज्ञेयम् ।

एतादृशीं श्रीमतीं प्रियां यो भावयेद्-भावनाविषयां कुर्यात् स एव धन्यो नेतर इत्यर्थः । य इति सखीजनस्तद्भावानुगतांतरंगभाववान् भावुको वेति न सामान्यवाचको यच्छब्दः । अत्र प्रियपर्यन्तोऽपि धन्यशब्दः यस्य भाग्ये चैतादृशी प्रियेति, तस्यापि सौन्दर्यभावनहेतुकैव श्लाघा न केवलं कामुकत्वेनेतिसिद्धान्तः । विटेत्यनेन निजात्यन्तपरमासक्तया विश्रुतानुकूलदक्षिणादिपरिहासः कृतस्तेषां तु लोकवेदशृंखलितं नायकत्वं स्वेष्टं चान्यत् । श्री-

रसकलश

यहाँ पर अधरोष्ट में लाली और दाँतों मे शुभ्रता है उन दोनों की आपसी चमक से एक दूसरे में रंग की संक्रान्ति हो गई है अतः उसके अनुकूल ही उपमा देते हैं—'सिन्दूरसवलितमौक्तिकपंक्तिशोभाम्' सिन्दूर से रंगी हुई मोतियों की माला की शोभा जैसी शोभा है जिसकी । यह मोतियों की पंक्ति सुवर्णमय कमल के कोश में विद्यमान है यह बात यद्यपि नहीं कहा गई तथापि जान लेनी चाहिये । यहाँ पर दन्तावली की चमक से आकूत या अभिप्राय विशेष के साथ स्मित या हास्य भी है ऐसा जानना चाहिये ।

ऐसी श्रीमती प्रिया जी की जो भावना करे अर्थात् उनको जो अपनी भावना का विषय बनाये वही धन्य है दूसरा नहीं । यहाँ पर 'जो' (पुंलिङ्ग) शब्द को सखीजन (पुंल्लिग) का प्रतिनिधि सर्वनाम समझना चाहिये (क्योंकि यहाँ श्री श्यामसुन्दर से अतिरिक्त पुरुष का प्रवेश नहीं है, और वे प्रिया जी के साथ वार्तालाप में व्यस्त हैं, अतः उनके पास भावना करने का अवसर नहीं है । अथवा साधन अवस्था में सखा भाव से अनुगत अन्तरङ्ग भाव वाला भावुक भी यत् या जो शब्द का वाच्यार्थ हो सकता है, यह जो शब्द सामान्य व्यक्ति का वाचक नहीं है। यह धन्य शब्द प्रियतम श्री श्याम सुन्दर तक भी जाता है जिनके भाग्य में ऐसी प्रियतमा हैं । उनके द्वारा भी श्री प्रियाजी के सौन्दर्य को भावना की जाती है इसीलिये वे भी श्लाध्य और धन्य हैं तभो उनकी यहां श्लाघा प्रशंसा की जाती है केवल कामुकता के कारण नहीं । यह वनविहार रस का सिद्धान्त है ।

'विट' शब्द से श्री श्यामसुन्दर के साथ उनकी सहज अत्यन्त आसक्ति के कारण प्रसिद्ध अनुकूल दक्षिण नायक होने आदि हेतुओं से परिहास किया गया है। दूसरों को तो लोकवेद की शृंखला में बँधा हुआ ही नायकत्व प्राप्त होता है। और उनका प्रीतिपात्र भी लोकवेद की शृंखला में बँधा होता है । श्रीरामचन्द्र आदि में भी

रामादावपि केवलासक्तनायकत्वं न सम्पन्नम्, ततो लोकवेदत्यागे केवल-लाम्पट्ये स्त्रैणत्वे च दोषातिशयश्रवणादानुकूल्यादि कलङ्कितं स्यात् अत्र तु तदेवेष्टं—'लोक वेद मर्याद भंजि क्रीडन्त रंग रस' इति। 'स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः'—इति।

'श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते।'

इति च विटानां न धर्मकर्माद्यैहिकपारलौकिकशंका तद्वदत्यन्तप्रियतमाधीनत्वाद्। 'विट इति लोकप्रातीतिकवाक्येन वक्तुर्हृदि परमास्वादगौरवं ज्ञेयम्। यथा' स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्ते'त्यैहिकपारत्रिकचिन्ताशून्यतापूर्वकतन्मयतायां दृष्टान्तः—अन्यथा श्रीशुकस्य राज्ञश्च तादृशसंवादे तत्समये कथमेतदुक्तिर्घटते। नान्यदृष्टान्तस्तत्सदृशो लब्ध इति गम्यते।

अन्यच्च केषाञ्चिन्मते प्रच्छन्नकामुकत्वे रसातिशयो वर्ण्यते, तदनुसारेणात्र स्वकीयात्वेऽपि परमतृषातुरतायाः क्षणश उदयाल्लाम्पट्योद्घोषेण विटेति

रसकलश

केवल आसक्त नायकत्व सम्पन्न नहीं हुआ। वहाँ तो लोकवेद का त्याग करके केवल लम्पट होने पर और स्त्री परायण होने पर अत्यन्त दोष सुना जाता है और पुरुषत्व आनुकूल्य आदि दोषों से कलंकित हो जाता है। किन्तु यहाँ तो वही अभीष्ट है।

'लोकवेद मर्याद भंजि क्रीडन्त रंगरस' इत्यादि में और 'यहाँ गजेन्द्र के समान लीला करने वाला स्वरति (आत्माराम) है' इत्यादि में एवं 'श्रीराधा जी को ही एक जानते हुए मधुसूदन रातदिन कुञ्ज गली की ही उपासना करते रहते हैं। इत्यादि में जैसे विटों को धर्मकर्म इत्यादि ऐहिक या पारलौकिक शङ्का फल देने वालों के विषय में कोई नहीं होती वैसे ही यहाँ श्यामसुन्दर भी प्रियतमा (श्री राधा जी) के अत्यन्त ही अधीन हैं। 'विट' इस शब्द को लौकिक प्रतीति वाले (सम्भोगहीन सम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः'—सम्भोग में जिसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट कर दी हो, कला के एक देश को जानने वाले उस धूर्त को विट कहते हैं)—वाक्य से वक्ता के हृदय में परमआस्वाद की गरिमा जाननी चाहिये। जैसे 'स्त्रियों के साथ धूर्तों की सी भली बात' इत्यादि वाक्यों में वक्ताओं ने परिहास का आस्वाद लिया है। वास्तव में विट (धूर्त) ऐहलौकिक और पारलौकिक चिन्ता से शून्य रहते हुए जिससे प्रेम करता है उसी में तन्मय हुआ रहता है, यहाँ श्याम सुन्दर की भी यही दशा है अतः उनके लिए विट (धूर्त) का दृष्टान्त दिया गया है। अन्यथा श्री शुकदेव जी जैसे वक्ता और परीक्षित् जैसे श्रोता के श्रीमद्भागवत जैसे संवाद के समय उपर्युक्त उक्ति कैसे संगत हो सकती है। अतः यही प्रतीत होता है कि श्याम सुन्दर के लिये विट (धूर्त) जैसा दूसरा दृष्टान्त और नहीं मिला।

एक बात और भी है कुछ रसिकों के मत में प्रच्छन्न कामुक (छिप छिप कर मिलने वाले कामी) के वृत्तान्त में रस का उद्रेक वर्णन किया जाता है उनके अनुसार यहाँ श्री राधा जी के स्वकीय होने पर भी क्षण क्षण परम तृष्णा से आतुरता का उदय

वक्ति। न चान्यभावः स्वप्नेऽपि शङ्क्यः। अग्रिमपद्ये वक्ष्यति नन्दस्नुषात्वं, 'व्रजमहीपतितन्महिष्योः गोविन्दवन्मनसि तां निदधामी'ति। अत एव निजेत्युक्तिः अग्रेऽप्येवमेव ज्ञेयं, "नेष्ये विटेन्द्रशयन" मित्यादि।२८।

पुनर्बाधितानुवृत्तिवत् संदेहाभासं निराकुर्वन् पूर्णसांबन्धिकमाधुर्य्यं वर्णयति, यद्वा पूर्णानुरागप्रेममूर्त्तेः श्रीमत्याः पित्रोः प्रेमास्पदता स्वयं नित्यसहचर्यनुभूतापि तादृशविदितवात्सल्यविग्रहयोः श्वश्रूश्वशुरयोर्नन्दयशोदयोः स्नुषायां प्रेमाधिक्यं स्मरन् नवलवधूटीछ्विं वर्णयति।

पीतारुणच्छविमनन्ततडिल्लताभां,
प्रौढानुरागमदविह्वलचारुमूर्त्तिम्।
प्रेमास्पदां व्रजमहीपतितन्महिष्यो—
र्गोविन्दवन् मनसि तां निदधामि राधाम् ॥२९॥

रसकलश

होने के कारण लम्पटता की प्रसिद्धि हो जाने से इनको विट कहा गया है। यहाँ किसी अन्य भाव की तो स्वप्न में भी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। अग्रिम पद्य में श्रीराधा जी को नन्दजी की स्नुषा (पुत्रवधू) कहेंगे—श्री गोविन्द के समय व्रजमहीपति नन्दजी और उनकी पटरानी यशोदा जी के प्रेम की आस्पद (पात्री) उन श्री राधा जी को मैं मन में धारण करती हूँ।' इसीलिये इस श्लोक में भी श्याम सुन्दर को केवल विट नहीं कहा गया अपितु 'निजविट' श्री राधाजी का विट केवल अपना विट कहा गया है। आगे भी—'नेष्ये विटेन्द्रशयनं वृषभानुपुत्रीम्, वृषभानु पुत्री श्रीराधा जी को (उनके अपने विटेन्द्र) के शयन पर कब ले जाऊँगी।' इत्यादि में भी यही भाव समझना चाहिये।२८।

फिर बाधितानुवृत्ति (कुम्भार मिट्टी के पात्र बनाता हुआ काम पूरा हो जाने पर अपने चक्र को छोड़ देता है, काम हो चुकने पर भी चक्र कुछ देर चलता रहता है इसको बाधितानुवृत्ति कहते हैं उस) के अनुसार सन्देह के आभास का निराकरण करते हुए पूर्णतया सम्बन्ध रखने वाले माधुर्य का वर्णन करते हैं अथवा पूर्णानुराग और पूर्णप्रेम की मूर्ति श्रीमती राधिका जी माता (कीर्तिदा) और पिता (वृषभानु) जी की प्रेमपात्रा हैं यह बात तो स्वयं ही नित्य सहचरियों ने अनुभव की हुई है किन्तु जिनका वात्सल्यमय स्वरूप उतना प्रसिद्ध हो चुका है उन श्वश्रू (श्री यशोदा) और श्वशुर (श्री नन्द जी) का भी पुत्र वधू (श्रीराधा) के प्रति जो अत्यधिक प्रेम है उस प्रेम का स्मरण करते हुए नव वधू की सुन्दर छवि का वर्णन करते हैं—

'पीत (पीलो) और अरुण (लाल) अर्थात् गौर छवि वाली, असंख्य और अखण्ड विद्युल्लताओं के जैसी आभावाली, प्रौढ अनुराग के मद से विह्वल हुई सुन्दर आकृतिवाली, श्री गोविन्द के समान व्रजमहीपति (नन्दजी) और उनकी पटरानी (यशोदा) जी के प्रेम की आस्पद (पात्री) उन श्री राधाजी को मैं मन में धारण करती हूँ।' २९।

पीतारुणसंवलिता छविर्यस्यास्ताः शुद्धकनकगौराङ्गीमित्यर्थः। पीतत्वं कनके प्रसिद्धमप्यारुण्येनोत्तमता तत्र भास्वरतया दिव्योपमामाह—अनन्तेति। अनेकास्तडिल्लता एकत्र संभूय युगपद् भान्ति, तद्वदाभा यस्याः। अत्र पीतारुणत्वेऽपि भास्वरताविशेषेण कान्तिचमत्कृतिमत्त्वमुक्तम्। लतेति। झटिति नमनलाघवं सौकुमार्य्यं च नवलवधूत्वेन क्षणशो लज्जयांगानां नमनम्। पीतेति। सहजगौरवर्णः, आरुण्यन्तु कैशोरभरस्तत्र पुनः कान्तरागोदयादेवारुण्यमाह।

प्रौढः स्वतो वर्द्धिततमोऽनुरागो नित्यत्वात्—लोकवत्त्वे च बाल्यत एव तत्तत्क्रीडासु मिलितयो रागभर आसीत्। पाणिग्रहानन्तरं किं भण्यतेऽतोऽनुरागो रागानन्तरं पुनः पुनर्दिनेदिने क्षणशः प्राप्तवृद्धित्वात् प्रौढस्तस्य यो मदः। अर्थात् पानं तु रागासवस्य प्रथमत एव कृतं, साम्प्रतं तन्मादकतावृद्धिस्तेन विह्वला घूर्णायमाना चारुमूर्त्तिर्यस्याः। विह्वलत्वेऽचारुता

रसकलश

जिनकी पीली और लाल दोनों रंगों की मिली हुई छवि है अर्थात् जो शुद्ध स्वर्ण के समान गौराङ्गी हैं। स्वर्ण का पीलापन तो प्रसिद्ध ही है किन्तु लाली से उसकी उत्तमता जानी जाती है। अत्र भास्वरता-चमकदमक-के कारण एक अलौकिक उपमा देते हैं—लताओं जैसी बिजलियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक साथ चमकें तो उनकी आभा (कान्ति) जैसी कान्ति है जिसकी यहाँ पर पीलेपन और लालपन के मिश्रण में भी भास्वरता की विशेषता से कान्ति के चमत्कार से युक्त होना कहा गया है। लताओं जैसी बिजलियाँ कहने का यह भाव है कि नव वधू होने के कारण श्री राधा जी में नमनशीलता, लघुता और सुकुमारता समझे जायें। क्यों कि वे नव वधू होने के कारण क्षण में तो लज्जा के कारण श्री अङ्गों को झुका लेती हैं। (कृशतनु होने के कारण लघुता-हलकापन और सुकुमारता तो प्रसिद्ध ही है) पीतछवि तो स्वाभाविक गौरवर्ण के कारण है, और अरुणछवि किशोरावस्था के कारण है, फिर किशोरावस्था मे प्रियतम के प्रति अनुराग का उदय होने के कारण भी अरुणछवि का वर्णन किया गया है।

'प्रौढानुरागमद विह्वलचारुमूर्तिम्'—तात्पर्य यह है कि प्रिया प्रियतम के नित्य होने के कारण स्वयं ही अनुराग बहुत अधिक बढ़ चुका है, लोकवत् लीला होने पर भी बचपन से ही उन उन क्रीडाओं के अवसरों पर आपस में मिले श्यामाश्याम युगल में अत्यन्त अनुराग हो गया। फिर पाणिग्रहण के बाद तो अनुराग का क्या कहना! अतः अनुराग-राग के अनन्तर होने वाली प्रेम का स्थितिविशेष-बारबार दिन प्रतिदिन क्षण क्षण वृद्धि को प्राप्त होकर प्रौढ हो चुका है उस प्रौढ अनुराग का जो मद है अर्थात् रागरूपी आसव का पान तो पहले ही कर लिया था किन्तु अब उसके मद की वृद्धि हो रही है उस मद से विह्वल हो रही है या झूम रही है सुन्दर मूर्ति (आकृति) जिसकी

शङ्क्यते चेदतस्तत्र सौन्दर्यमपरिहार्य्यम्, किमुच्यते विशेषतः सौन्दर्यमुदितमिति। अलौकिकत्वाद् अत्र वैह्वल्यं सर्वाङ्गेष्वपि मुख्यतो नेत्रयोरेव। रसशास्त्रेऽरुणरागोऽनुरागस्योक्तः, अतोऽनुरागमत्तमूर्त्तित्वमित्यारुण्ये हेतुः।

पीतच्छविहेतुमाह, व्रजमहीपतिः श्रीनन्दः, तन्महिषी राज्ञी श्रीयशोदा तयोर्यथा गोविन्दः प्रेमास्पदः तथा प्रेमास्पदां, उत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः प्रेम्णो वर्णः पीतः अत उत्प्रेक्षते—नन्दयशोदयोः प्रेमैवास्यां संभृत इति मुकुरपात्रे सुगन्धिस्नेह इवेति। गोविन्दे तयोः प्रेममहित्वं विश्रुतम्।

"नैनं विरिञ्चो न भवः" इत्यादौ।

"नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय" इत्यादौ॥

एवमेव पूर्णप्रेमा निजस्नुषायाम्। तत्राप्यपरितुष्यन्नाह—गोविन्दवत् किञ्च ततोऽप्यधिकेत्यर्थः। तस्यापि प्रेमास्पदत्वात्, तौ तु प्रेम्णा गोविन्दमयौ, स च राधामयः, इति तत्प्रेरकत्वात् स्वतो यदृच्छयैव प्रेम लग्नमिति कथं तदुपमा चेत्तत्राह—अस्ति तु ततोऽधिका प्रेमास्पदा, परन्तु तत्रोपमान्या

रसकलश

विह्वल अवस्था में वह चारुता या सुन्दरता नहीं रही होगी यदि कोई ऐसा शङ्का करे तो उसे कहना चाहिए कि यह तो चारुमूर्ति है, जिसकी सुन्दरता कभी कम भी नहीं हो सकती अपितु इस प्रौढ अनुराग के मद से तो वह सुन्दरता और बढ़ गई है श्री राधा जी के अलौकिक होने के कारण भी ऐसा हुआ है। यहाँ पर विह्वलता सभी अङ्गों में भी है किन्तु मुख्यतया वह नेत्रों में है। रसशास्त्र में अनुराग का रंग अरुण या लाल कहा गया है अतः अनुराग से मदमत्त मूर्ति होना भी पूर्वोक्त अरुण छवि का कारण है।

अब पीतछवि का कारण बताते हैं—व्रजमहीपति श्रीनन्द जी और उनकी महिषी महारानी श्रीयशोदा जी, उन दोनों के जैसे गोविन्द प्रेमपात्र है वैसी ही श्री राधा भी प्रेमपात्री हैं। यहाँ इस बात में उत्प्रेक्षा छिपी हुई है। प्रेम का रंग पीत या पीला है अतएव उत्प्रेक्षा की जाती है कि इन (श्रीराधा जी) में नन्द-यशोदा का ही प्रेम भरा हुआ है, जैसे किसी शीशे के पात्र में सुगन्धित स्नेह (तेल आदि) भरा हो। गोविन्द में तो नन्द यशोदा के प्रेम का महत्त्व—विख्यात ही है। जैसा कि

'इस प्रेमस्थिति को न ब्रह्मा पा सके न शङ्कर और

'हे ब्रह्मदेव! यह बताओ कि नन्द ने कौन सा शुभ कर्म किया था।

इत्यादि वचनों में है। ऐसा ही पूर्णप्रेम उन दोनों को अपनी स्नुषा या पुत्र वधू में है। इतने से भी सन्तुष्ट न होते हुए कहते हैं कि गोविन्दवत्। अर्थात् श्री राधा गोविन्द से भी अधिक प्रेमास्पद हैं। क्योंकि नन्द यशोदा तो प्रेम के कारण गोविन्दमय बने हुए हैं और गोविन्द प्रेम के ही कारण राधामय। अतः उसके प्रेरक होने के कारण स्वयं अनायास ही इन पर प्रेम हो गया है, यहाँ गोविन्द की उपमा क्यों दी गई है?

नोपलब्धा, किञ्चित्तारतम्येऽपि गोविन्द एवार्हतेऽतो गोविन्दवदिति। तं तु लोकवल्लीलया वनान्तरे गोचारणायापि प्रेषयति शिक्षयति च, एनान्तु परमगोप्यरङ्कनिधिवद् रक्षति।

किञ्च कीर्त्तिदासकाशात् स्वपुत्रं विनिमय्य (समर्प्य) तत्पुत्री नीता। यथा च लोकव्यवहारे "त्वत्सुता मत्सुतः कीर्ते कृतो विनिमयो मया। प्रेमाधिक्यं क्व मे ब्रूहि विचार्य हिताह्वये" इति। अतः प्रथमं तु प्रेमा गोविन्द एव भृतस्ततोऽप्युत्फणितः, अर्थात् समयुगलं विना कथं नन्दयाम किं गार्हस्थ्यसौख्यं किमस्यापि सुखमिति मनसि लालसा तत्पूर्तिर्दैवतः सर्वात्मसदृशतमः सम्बन्धः—वृषभानोरेव लब्धा, अतस्तादृशप्रेमात्र तादृशवधूट्यामेव समीचीनतया स्थित इति तामेतादृशीम् राधाम् अवबोधात्मके (ज्ञानात्मके) चित्ते निदधामि धारयामीति। तत्सहचरं गोविन्दं दधामि, एनां तु निदधामीति।

रसकलश

उत्तर देते हैं कि वास्तव में तो श्री नन्द और श्री यशोदा को श्रीराधा श्रीकृष्ण से भी अधिक प्रेम की पात्री हैं किन्तु उनके लिये दूसरी उपमा नहीं मिली। यद्यपि गोविन्द और राधा के प्रति नन्द यशोदा के प्रेम में कुछ तारतम्य है तो भी उपमा के योग्य तो गोविन्द ही हो सकते हैं अतः गोविन्द के समान कहा। गोविन्द को तो लोकवत् लीला' से वन-वनान्तर में गौएँ चराने के लिये भेजते हैं और गोचरण सिखाते हैं। इन (श्री राधा जी) को तो परम रहस्यभूत रंक की निधि की भाँति रखते हैं।

एक और बात भी कि श्री यशोदा जी ने श्रीकीर्तिदा जी को अपना पुत्र (श्रीकृष्ण) देकर उसके बदले में उन की पुत्री (श्रीराधा) को लिया है। जैसा कि लोक व्यवहार में—'तेरी पुत्री है मेरा पुत्र है। हे कीर्ति—दा! मैंने अपने पुत्र के बदले में तेरी पुत्री ले ली है।' अब हे हिता! (हितानामवाली) तू ही विचार कर और बता कि मेरा प्रेम किस पर अधिक है।' इत्यादि श्लोकों में प्रसिद्ध है। अतः पहले तो प्रेम गोविन्द में ही भरा था किन्तु जब वह प्रेम वहां उफन पड़ा, उछल पड़ा और सोचने लगे कि समान युगल (श्याम सुन्दर के समान बहू) के बिना हम श्याम सुन्दर को कैसे आनन्दित कर सकेंगे और स्वयं भी कैसे आनन्दित होंगे, समान जोड़ी के बिना हमें गार्हस्थ्य जीवन का क्या सुख होगा और इस श्याम सुन्दर को भी क्या सुख होगा ऐसी लालसा मन में उदय हुई, दैवयोग से उस लालसा की पूर्ति भी हो गई कि सब प्रकार से सदृशतम सम्बन्ध हो गया, श्रीवृषभानुजी की पुत्री बधू रूप में प्राप्त हो गई। अतः वैसा प्रेम इस अलौकिक वधू पर ही आकर भली भाँति स्थिर हुआ। ऐसी इस राधा को मन में अर्थात् अवबोधात्मक चित्त में नित्य धारण करती हूँ। उनके सहचर गोविन्द को तो (दधामि) धारण ही करती हूँ किन्तु श्री राधा को तो (निदधामि) नित्य धारण करती हूँ।

यद्वा श्रवणमननयोरनन्तरं निदिध्यासनम्—अहो किं मण्यते प्रेमास्पदादपि प्रेमास्पदेति निदिध्यासमाह—पीतारुणच्छविमिति । नन्वलौकिकं वस्तु कथं गोचरीकरोमीति शंकितमुपदेश्यं प्रति श्रीहिताचार्य्यौ निश्चयक्रमवदुत्तरोत्तरसूक्ष्मस्वरूपं लोकविश्रुतवस्तुनिर्देशेनोपदिशतीति-पीतारुणेति । नास्त्यन्तो यासां, स्थिरदामिनीनां लतावद्भासमानानामाभेवाभा यस्याः, सहजमौग्ध्यम्, साकूतवैदग्ध्यं चेत्तत्र मदविह्वलता लोकविश्रुता दर्शिता, तद्वदनुरागासवमदः स्वस्य प्रियस्य चेति स्वानुरागेणासक्तोदयः प्रियानुरागेण कृपाद्रवचित्तता तत्सौभाग्यमदश्चेत्यासज्यता, एवं मदद्वयसांकर्य्येण विह्वला, विरुद्धधर्माश्रयसामर्थ्येऽपि कस्मैचिदानन्दविशेषायानुरागोज्जृम्भणेन घूर्णायमानत्वमारुण्यञ्च तादृशमत्तचारुता स्मर्तव्येति वैदग्ध्यभावरतिकृपास्पदतोक्ता ।

रसकलश

अथवा श्रवण और मनन के बाद निदिध्यासन किया जाता है । अहो ! क्या कहा जाय ? श्रीप्रिया जी प्रेमास्पद (श्रीकृष्ण) से भी बढ़कर प्रेमास्पद हैं अतः उनका निदिध्यासन करने का प्रकार बताते हैं—'पीत और अरुण छवि वाली' इत्यादि श्लोक द्वारा । अब प्रश्न होता है कि अलौकिक वस्तु का साक्षात्कार कैसे करूँ ? ऐसी शङ्का वाले उपदेश-पात्र के प्रति श्रीहिताचार्य महाप्रभु निश्चय क्रम वाले उत्तरोत्तर सूक्ष्म स्वरूप का लोक में विख्यात वस्तुओं के निर्देश द्वारा उपदेश करते हैं—'पीत और अरुण छवि वाली' इत्यादि । पहले वर्ण या रंग बताया, उस रंग का भी किस उपमा या तुलना द्वारा निश्चय किया जाए ? तब 'अनन्त विद्युल्लताएँ दिखा दीं । उन विद्युल्लताओं में चञ्चलता की शङ्का हो तो कहते हैं कि वे विद्युल्लताएँ अनन्त हैं । अनन्त अर्थात् जिनका अन्त नहीं है ऐसी स्थिर रहने वाली बिजलियां जो लता-सी प्रतीत होती हैं उनकी आभा जैसी आभा है जिसकी । यहाँ स्वाभाविक मुग्धता और अभिप्राय विशेष सहित विदग्धता या नागरता है तथा इनमें जगद् विख्यात मदविह्वलता दिखाई गई है । वैसे ही अपने और प्रियतम के अनुराग रूपी आसव से मद का भी वर्णन किया गया है । अपने अनुराग से तो प्रिय में आसक्त भाव का उदय हुआ और प्रिय के अनुराग से अपने में कृपा से द्रवितचित्तता का उदय हुआ । फिर सौभाग्यमद भी हुआ है जिससे प्रिया जी में आसक्तता का उदय हुआ है । इस प्रकार दो मदों के मिश्रण या सांकर्य से विह्वला हैं, विरुद्ध धर्मों का आश्रय होने की सामर्थ्य के रहते हुए भी किसी आनन्द विशेष के लिये अनुराग के उमड़ पड़ने से झूमने लगना, अरुणता और वैसे मद से सुन्दरता का स्मरण करना चाहिये । इस प्रकार वैदग्ध्यभाव, रति और कृपा की पात्रता का वर्णन किया गया।

तत्र माधुर्ये प्रियताश्रयत्वं कयोरिवेति शङ्कितं प्रति पूर्णस्वादानुभाविनावाह—व्रजमहीपतीति । भवता श्रीभागवते नन्दयशोदयोर्गोविन्दे श्रुतमेव प्रियत्वं तद्वत् । यद्वा व्रजमहीपतिः श्रीवृषभानुस्तन्महिषी श्रीकीर्तिदेति श्लेषो गोवर्द्धनोद्धरणानन्तरं गोविन्दपदप्राप्तौ निजजामाता यथात्यन्तप्रेमास्पदस्तथा नन्दयशोदयोरियं प्रेमास्पदा त्रपारूपशीलगुणैश्वर्यनमनादिना सर्वव्रजचित्तमाकृष्टम् । यशोदोक्तिर्यथाहं श्वश्रूगृहे कुलवधूत्तमगुणैर्यशोदानाम लब्धवती तथाऽनया तु मत्तोऽप्यत्यन्तयश उज्जृम्भितमित्यादि तत्तद्गुणवर्णनं व्रजेश्वरीमुखाच्छ्रुत्वाऽत्यन्तप्रियतोदिता, अतो भानुकीर्त्योरेवं प्रेमास्पदामिति लाडिलात्वमतिर्वर्णितमित्युपदिश्य निश्चायकोऽर्थः, स्वयं तु यत्साक्षादनुभूतं तदेव स्मृत्वा वक्ति ।

यद्वा गोविन्दवदिति गोविन्दाह्वयकालिकार्थेन पुनराह श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेन व्रजपालकत्वं तेनात्यन्त प्रेमास्पदता स्वत एव जाता येन गोविन्दा-

रसकलश

यहाँ माधुर्य में श्रीराधा जी का नन्द यशोदा की प्रियता का आश्रय होना किन की प्रियता का आश्रय होने जैसा है ? ऐसी शङ्का करने वाले के प्रति पूर्ण आस्वाद का अनुभव करने वालों का वर्णन करते हैं—'व्रजमहीपति' इत्यादि । आपने श्रीमद्भागवत में नन्द और यशोदा की गोविन्द में प्रियता सुनी ही है, बस वैसी ही प्रियता श्रीराधा जी में भी है । अथवा व्रजमहीपति श्रीवृषभानु जी हुए और उनकी महारानी श्रीकीर्तिदा जी हुईं इस प्रकार द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग है । गोवर्द्धन गिरिराज का उद्धार करने के बाद गोविन्द पद की प्राप्ति हुई तब अपना जवाई जितना प्रेमास्पद होता है उतनी ही प्रेमास्पद श्रीराधा नन्द यशोदाजी को हुईं । फिर उन्होंने अपनी लज्जा, रूप, शील, गुण ऐश्वर्य और नमस्कार आदि द्वारा सम्पूर्ण व्रज को आकर्षित कर लिया । जैसा कि यशोदा जी ने कहा कि मैं अपनी सासु जी के घर में कुलवधुओं के उत्तम गुणों से 'यशोदा' नाम को प्राप्त हुई थी, इसने तो मुझ से भी अधिक यश बढ़ाया इत्यादि उन उन गुणों का वर्णन व्रजेश्वरी के मुख से सुनकर अत्यन्त प्रेम उदय हो आया, अतः श्रीवृषभानु और कीर्तिदा की इस प्रकार परम प्रेमपात्री हुई इससे श्रीराधा जी के लाडलीपन का वर्णन करके निश्चायक अर्थ के रूप में स्वयं जो कुछ साक्षात् अनुभव किया था उसी का स्मरण करके कहते हैं ।

अथवा 'गोविन्दवत्' शब्द के द्वारा जब श्री श्याम सुन्दर का नाम गोविन्द रखा गया था उस समय के अर्थ का ध्यान रखकर फिर कहते हैं श्री गोवर्धन गिरिराज को धारण करने से व्रजपालक होना और उससे अत्यन्त प्रेमास्पद हो जाना अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है । जिस हाथ से श्रीश्याम सुन्दर ने गोविन्दनाम प्राप्त किया उसी हाथ

ह्वयं प्राप्तस्तं पाणिमियं गृहीतवतीति वामभागस्थितप्रभावो दर्शितस्ततः प्रभृतेरेव पुत्रास्थितिशङ्का निराकृता, किञ्च गिरिधरणैश्वर्यं देवेन्द्रवन्दनं दृष्ट्वं तादृशप्रभावः सुतो नास्माकं गोपानां गृहे स्थातुमर्हतीति यशोदानन्द-मनसि चिन्ता यदा वृषभानुनन्दिनोपाणिग्रहो जातस्तदा शङ्का नष्टा। यथोक्तं जयदेवेन—

'कंसारिरपि संसारवासनाबन्धशृङ्खलाम्' इति। ततो गोविन्दवत्प्रेमास्पदाम् धन्येयं मत्कुलवधूटी लक्ष्मीर्यया सर्वव्रजपालनं कृतम्, येनाहं सुप्रजावत्यस्मि, अत एव महीपतीत्युक्तम्। व्रजनवयुवराजेन वंशो रक्षितः तन्महिषीति कृताभिषेका महिषीत्यर्थविशिष्टत्वं गृहीतं तेन स्वसादृश्याभिषेके एव प्रमोदोदयो भवतीति श्रीमत्या विवाहमङ्गलाभिषेको द्योतितः। स्नुषायां पुत्रादतिस्नेहो जात इति ॥२६॥

रसकलश

को विवाह काल में—पाणि ग्रहण के समय श्रीराधा जी ने ग्रहण किया था, इसके द्वारा राधा जी की वाम भाग में स्थिति का प्रभाव दिखाया गया है, तब से ही पुत्र की स्थिति के सम्बन्ध में शङ्का श्रीनन्द यशोदा ने छोड़ दी। और भी बात है कि गोवर्धन को उठाने का ऐश्वर्य और देवराज इन्द्र द्वारा वन्दना को देखकर 'ऐसे दिव्य प्रभाव वाला पुत्र हम गोपों के यहाँ रहने योग्य नहीं है' ऐसी श्रीयशोदा जी के मन में चिन्ता हुई थी, किन्तु जब श्री वृषभानुनन्दिनी जी के साथ पाणि ग्रहण हो गया तब वह शङ्का जाती रही। जैसा कि जयदेव ने कहा भी है—

'श्रीकृष्ण भी संसार की वासनाओं में बाँधने की जंजीर जैसी श्रीराधा को प्राप्त करके तन्मय हो गये।' इत्यादि। तब श्रीराधा भी गोविन्द के समान ही प्रेम की पात्री हो गईं। श्री यशोदा जी ने भी कहा—धन्य है यह मेरी कुलवधू रूपी लक्ष्मी जिसने सारे ब्रज का पालन कर लिया, जिससे मैं श्रेष्ठ पुत्रवाली हूं। इसीलिए व्रजमहीपति कहा गया क्योंकि अब तो ब्रज के नये युवराज हरि ने वंश की रक्षा कर ली श्रीयशोदा जी को व्रजमहीपति की महिषी कहने से तात्पर्य है कि श्री यशोदा जी का भी राज्याभिषेक किया गया होगा यह एक विशेष अर्थ लिया जाता है। उस से अपने समान के साथ अभिषेक होने पर प्रेम का उदय होता है, इससे श्रीमती के भी विवाह मङ्गल की सूचना दी गई है और पुत्र वधू में पुत्र से भी अधिक स्नेह है ऐसा जाना गया है।२६।

तत्र श्वाशुर्यस्थितो प्रौढानुरागं स्वस्य च श्रीमतीरुचितकार्यतृ त्वमाह—

निर्माय चारु मुकुटं नवचन्द्रकेण,
गुञ्जाभिरारचित हारमुपाहरन्ती ।
वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः,
श्रीराधिके तव कदा भवितास्मि दासी ॥३०॥

वृन्दाटवीत्यादौ प्रकृत्या वृन्दावनं श्रीराधाया एव प्रसिद्धं नैसर्गिकमेव, परन्तु किञ्चिल्लौकिकमाधुर्यपोषार्थमपि वर्ण्यते । विवाहानन्तरं श्रीमन्नन्देन यशोदया च परमप्रेमास्पदतया महाराजात्मजानन्दार्थं परमाद्भुतं कुञ्ज-निकुञ्जनिभृतनिकुञ्जादिनवपल्लवपुष्पफलकोकिलहंसादिद्विजरमणीयं भ्रम-रगुञ्जितसौगन्धिकसुरभितयमुनावृतरहःस्थलं कमले मध्यकर्णिकावद् देहे जीवमर्मस्थानस्थानीयवत् नैःश्रेयसोपवनाधिपादिध्येयं चेत्यादि बहुविध-लौकिकालौकिकप्रशंसितं श्रीवृन्दावनं शयनीयरमणहर्म्यवद्दत्तं तत्परिकराः

रसकलश

अब श्रीहिताचार्य हितसखी रूप में श्रीराधा जी के सुराल में रहते समय उनके प्रति प्रौढानुराग का वर्णन करते हैं और साथ ही श्रीमती राधिका जी की रुचि के अनुसार कार्य करने के अपने स्वभाव का निर्देश करते हैं –

'हे श्रीराधिके, नये चन्द्रक (मोर पंख) के द्वारा सुन्दर मुकुट बना कर और गुञ्जाओं द्वारा सुन्दर हार की रचना करके उपहार देती हुई मैं तुम वृन्दावन के नवीन निकुञ्ज महल की अधिष्ठात्री देवी की कब दासी बनूँगी' ।३०।

'वृन्दाटवी' इत्यादि शब्दों से स्वभाव से ही वृन्दावन श्रीराधा जी का एक नैसर्गिक तथा प्रसिद्ध स्थान है ऐसा जाना जाता है । परन्तु उसकी कुछ बातें लौकिक माधुर्य की पुष्टि के लिए भी वर्णन की जाती हैं । जैसे—

विवाह के अनन्तर श्रीमान नन्द जी और श्रीमती यशोदा जी ने परम प्रेमपात्री होने के कारण श्री वृषभानु जी महाराज की पुत्री के आनन्द के लिए परम अद्भुत कुञ्ज निकुञ्ज और निभृत निकुञ्ज आदियों के नए पल्लव (पत्र), पुष्प और फलों से तथा कोकिल हंस आदि पक्षियों से रमणीय, भ्रमरों के द्वारा गुञ्जन से मुखरित और कमलों से सुगन्धित, एवं श्री यमुना जी से आवेष्टित एकान्त स्थान जो कमल में कर्णिका के समान और शरीर में जीव के रहने के मर्मस्थान के समान है, जो नैश्रेयस (मोक्ष-धाम-सम्बन्धी) उपवनों के अधिपति आदियों द्वारा भी ध्यान करने योग्य है इसी प्रकार की अनेक लौकिक अलौकिक विशेषताओं द्वारा प्रशंसित है ऐसा शयन करने योग्य विहार

श्रीललिताद्या अपि तत्रैव नित्यनैमित्तिकसर्वर्तुसेवारतास्तत्रैव नन्दयुवराजः कुञ्जविहारी विहरते ।

बहिरङ्गकार्याण्यपि गोचारणादीनि सख्यवात्सल्यदास्यशान्तादिरस विषयाश्रयाणि यथार्हमन्यूनतया बहिर्दलेषु समीचीनं प्रकाशन्ते, तत्तद्रसपरिपोषार्थं तत्रैव नित्यं प्रकाशभेदेन पूर्णं रमते सर्वसुखदो यावत्सकलनित्यलीलः श्रीकृष्णः अन्तरङ्गशृङ्गारविषयाश्रयकार्याणि तु मध्यकर्णिकायामेव नित्यमविच्छिन्नतया कुर्वन् रमते । यथा च वक्ष्यत्येव–'दूरे सृष्ट्यादिवार्ते'ति । इत्येवं व्रजनिकुञ्जान्तरबाह्यभेदाभेदस्थितेर्विविधराजकीयबिहाराजिरनिबद्धराजधानीवत् ।

तत्र श्रीनन्दस्य व्रजाधिपत्वेऽपि शुद्धग्राम्यव्यवहारप्रसिद्धिः । तादृशाधिपत्वेपि श्रीवृषभानोर्नृपत्वोचितं विश्रुतं वैदग्ध्यं च तदीयानामपि च तथैवेति ज्ञेयम् । प्रस्तुतव्याख्यामाह—'श्रीराधिके, सकलपुरन्ध्रीवरवर्णिनीवरिष्ठ

रसकलश

भवन या रंगमहल जैसा श्रीवृन्दावन दे दिया । उनके परिकर ललिता आदि भी वहीं नित्य नैमित्तिक सभी ऋतुओं के अनुकूल सेवा में तत्पर रहते हैं वहीं पर नन्द जी के युवराज कुञ्जविहारी भी विहार करते हैं ।

बहिरंग (बाहर के) कार्य गोचारण आदि—जो सख्य, वात्सल्य, दास्य, शान्त आदि रसों के विषय (पात्र भूत श्री श्यामसुन्दर) के आश्रय से होते हैं—यथायोग्य किसी भी प्रकार की न्यूनता या कमी के विना बाहर के दलों में भली भाँति प्रकाशित होते हैं और उस उस रस के परिपोषण के लिए वही वहाँ नित्य प्रकाश भेद से पूर्णतया विहार करते हैं । सबको सुख देने वाले, जिनकी सभी लीलाएँ नित्य हैं, ऐसे श्रीकृष्ण अन्तरङ्ग (रहोमाधुर्य नामक) शृङ्गार रस के विषय (पात्रभूत श्रीराधा जी के संग) के आश्रय से होने वाले कार्यों को तो मध्यस्थ कर्णिका में ही नित्य अखण्ड रूप से करते हुए रमण करते हैं । जैसा कि कहेंगे ही—'सृष्टि आदि की बात तो दूर' इत्यादि । इस प्रकार व्रज (बहिरंग) और निकुञ्ज (अन्तरङ्ग) के भेद और अभेद की स्थिति अनेक प्रकार के राजकीय विहारों वाले प्राङ्गणों से युक्त अन्तःपुर के समान है । (अर्थात् जिस प्रकार राजाओं की कुछ लीलाएँ बाहर प्राङ्गणों में होती हैं और कुछ महलों के अन्दर ऐसे ही यहाँ व्रज और निकुञ्ज की लीलाएँ हैं ।)

यहाँ श्रीनन्द जी व्रजराज हैं तो भी उनके विशुद्ध ग्रामवासियों के-से व्यवहार प्रसिद्ध हैं । जब कि व्रजराज होते हुए भी श्रीवृषभानु जी की नागरता एक राजा के अनुरूप विख्यात है, न केवल श्रीवृषभानु जी की अपितु उनके परिवार के अन्य सभी व्यक्तियों की भी ऐसा जानना चाहिये । अब प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या करते हैं—

सौभाग्यश्रीयुते जननीमन्दिरे लालनापेक्षया श्वाशुर्योपलालनेन विलक्षणललनात्वेनाप्येवं विभाव्यमाने' इत्यज्ञा। तार्थे कः प्रत्ययः, 'तव सर्वव्रजजीवातोरपि वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः कदा दासी भवितास्मीति श्वस्तनोऽन्हि वृषभानुपुरात् सहसैवागाता तादृशपूर्वलीलासाधकसहचरी सती अधुना दम्पतिसाहचर्य्यलीलाधिकारप्राप्तौ वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहेश्वरीत्वख्याताया-यास्ते दासीति न चात्र स्वस्याः प्रथमत एवाधुनिकत्वं नित्यहितसखीत्वादिति वृन्देति सर्वगोलोकधामस्वपि प्रस्तुतत्वात् ख्यातिसूचिन्युक्तिः। अटवीति स्वत एवाकृत्रिमत्वं कुञ्जनिकुञ्जादिभेदस्य यदृच्छयैव यथार्होदयाद् गहनाच्च कृत्रिमादप्यकृत्रिमेऽत्यन्यन्तप्रियता रसोद्दीपनं च भवतीति।

रसकलश

'हे श्री राधिका, सम्पूर्ण सौभाग्यवती षोडशवर्षीया नववधुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ सौभाग्य और शोभा को धारण करने वाली, अपनी माता (श्रीकीर्तिदा जी) के महल में किये जाने वाले लाड प्यार की अपेक्षा ससुराल (श्री यशोदा जी के महल) में अधिक लाड प्यार के कारण कोई अलौकिक बहू समझी जाने वाली, (श्रीराधा से श्रीराधिका शब्द में जो 'क' अधिक है वह श्रीराधा की अज्ञेयता या अचिन्त्यता को प्रकट करता है) तुम समस्त व्रज को जीवन देने वाली हो तथापि श्री वृन्दावन के नवीन निकुञ्ज रूपी महल की तो अधिष्ठात्री देवी ही हो, मैं तुम्हारी दासी कब बनूँगी? यहाँ पर भवितास्मि' प्रयोग द्वारा आज नहीं तो आने वाले कल तो मैं दासी बन ही जाऊँ यह भाव सूचित किया गया है। मैं 'बरसाने' से अकस्मात् ही आ गई होऊँगी और आपकी वैसी अपूर्व लीलाओं की साधक सहचरी होती हुई भी आज प्रिय प्रियतम के साहचर्य में होने वाली लीलाओं में अधिकार प्राप्त होने पर वृन्दाबन के नवीन निकुञ्ज रूपी महलों की महारानी के रूप में विख्याता ऐसी तेरी दासी बनूँगी। यहाँ पर अपनी (श्री हिताचार्य महाप्रभु की) आधुनिकता नहीं समझनी चाहिये क्योंकि वे तो नित्य हितसखी रूप में यहाँ विराजमान हैं। यह बात वृन्दाटवी शब्द के वृन्द शब्द द्वारा कही गई है क्योंकि समस्त गोलोक धामों में भी यह वृन्दाटवी ही आज प्रस्तुत है इसी की ख्याति को यह उक्ति सूचित करती है। वृन्दाटवी में भी 'अटवी' शब्द का प्रयोग इसकी स्वाभाविक अकृत्रिमता (सहजता) को सूचित करता है जिसमें कुञ्ज, निकुञ्ज और निभृतनिकुञ्ज आदि भेद अकस्मात् ही यथायोग्य उदय हुए हैं और जो गहन गम्भीर है, कृत्रिम की अपेक्षा अकृत्रिम (स्वाभाविक) सम्भोग स्थलों में अत्यन्त प्रियता होती है और वहाँ रस का उद्दीपन भी अधिक होता है।

नवेति यदा पश्येत्तदा नवनवास्वाददतयाऽद्भुततया पूर्वस्मादन्यादृशवद्विभाव्यमानत्वान्नवत्वम् । गृहेति तत्तद्विरंसासिद्धेश्चित्तावेशान्निकुञ्जान्येव तत्तद्व्यवहारोचितगृहाणि मन्येते दम्पती नन्दराजस्य व्रजाधिष्ठातृत्वं तदाऽस्या बध्वा निकुञ्जगृहाधिदेवीत्वं युवराजकुमारस्थितिमन्दिरोपवनवन्निकुञ्जगृहमधिकृत्य दीव्यति क्रीडति द्योतते स्तूयते मोदते माद्यति स्वपिति काम्यति गच्छतीत्यादिसरसव्यवहारव्यापृता स्वामिनी तस्याः ।

अथाटवीयोग्योपहारकैङ्कर्यं वर्णयति—नवचन्द्रकेण तत्कालपतितविलक्षणदिव्यमत्तबर्हिभास्वच्छिखण्डसमूहेन मुकुटं निर्माय प्रियस्य वन्यभूषणप्रियतां दृष्ट्वा तत्पोषणार्थं प्रियापि प्रेरयति । किञ्च पूर्वं बर्हापीडादौ वनौको

रसकलश

'नवनिकुञ्ज' में नव शब्द का यह भाव है कि जब देखो तब ये निकुञ्ज नयानया ही आस्वाद देने के कारण, अपनी अद्भुतता के कारण पहले न देखे हुए से कुछ और जैसे ही प्रतीत होते हैं, इसलिये इनमें नवीनता है । 'नव निकुञ्ज' को भी गृह या महल कहने का यह तात्पर्य है कि रमण की या उपभोग की वे वे सभी इच्छाएँ यहाँ पूर्ण हो जाती हैं । दूसरी बात यह भी है कि प्रिया प्रियतम के चित्त में यहाँ ऐसा भावावेश हो आता है कि वे इन नवीन निकुञ्जों को ही उन उन व्यवहारों के लिये योग्य महल समझने लगते हैं । श्री नन्दराजा स्वयं तो व्रज के अधिष्ठाता हैं किन्तु उनकी यह बहू (श्रीराधा) निकुञ्जगृह की अधिष्ठात्री देवी हैं । उनके युवराज कुमार (श्री श्यामसुन्दर) के महल और उपवन के जैसे इस निकुञ्ज गृह पर अधिकार करके श्रीराधा देवन करती है अर्थात् खेलती हैं शोभा पाती हैं, प्रशंसित होती हैं, आनन्दित होती हैं, मत्त होती हैं, सोती हैं, इच्छा करती हैं और इसमें ही जाती आती हैं इत्यादि अनेक रसानुकूल व्यवहारों में लगी रहती हैं, वे निकुञ्ज गृह की स्वामिनी हैं, मैं उनकी दासी कब बनूँगी ?

अब 'अटवी' या वन के योग्य उपहार लाने के लिये दासीभाव का वर्णन करते हैं—नव चन्द्रक से अर्थात् उसी समय मयूरपिच्छ में से गिर पड़े विलक्षण और दिव्य मत्तमयूर के चमकते हुए शिखण्ड समूह से मुकुट बनाकर क्योंकि प्रियतम को वन्य पुष्पादियों के भूषण बहुत प्रिय हैं ऐसा देखकर उन पर अनुग्रह करने के लिये प्रियाजी भी दासीजनों को ऐसी ही वस्तुएँ लाने की प्रेरणा देते हैं ।

मौग्ध्यसंवलितत्वम्, अधुना महाराजात्मजया परमविदग्धया चारुतया निर्मापितम्। मयापि तत्सङ्गप्रभावाच्चञ्चुरयाश्चर्याधायकं श्लाघ्यं निर्मित-मितिअत एव चार्विति पूर्वतो गोपकृतेर्वैलक्षण्यं पुनस्त्र चारुत्वं यथायथानुभवं सहृदयैर्भावनीयम्। सौवर्णसूत्रग्रथितमरकतमुक्तादियथार्हविनिवेशप्रसृमरचञ्च-

णावलीमण्डलमित्यादि।

विकिरपुनश्च गुञ्जाभिरिति तटवीजन्याभिरेव प्रियारमणस्थलीत्वात् प्रियस्य बहुमान्याभिः पुनश्च 'श्यामश्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्तीं'ति श्रुतिः परमरसदेति मत्वा अहो गुञ्जानां प्रियाटवीजन्यानामनुरागबीजानां मुखे मदीयः श्यामवर्णो वर्तते, मामप्येता आसक्तमङ्गीकुर्वन्तीति तादृशीभि-रारचितं सर्वतो नैपुण्येन सूक्ष्मदृशा रचितम्-'आई'ति गोपैरनुभूतचरम्। अत्रापि पूर्ववन्मण्यादिसंवलितत्वं चारुत्वं यद्यपेक्षते चेद् भावनीयम्। अन्यथा

रसकलश

दूसरी बात यह भी है कि यद्यपि श्रीकृष्ण पहले से ही वही आपीड या मोर-मुकुट धारण किये हुए हैं किन्तु उनका वह मुकुट वनवासियों की सहज मुग्धता या भोलेपन से संवलित है, अब तो महाराज (श्री वृषभानुजी) की पुत्री जो परमनागरी परम चतुरा हैं उन्होंने यह मोर मुकुट विशेष सौन्दर्यशाली बनवाया। मैंने भी उनके सङ्ग के प्रभाव से चतुरा बन कर आश्चय धायक और सराहनीय ही बनाया। इसीलिये 'चारु मुकुट' कहा है। चारू का यही अर्थ है कि पहले गोपगणों द्वारा बनाये गये मुकुट की अपेक्षा इस मुकुट में कुछ बिलक्षणता है। फिर यहाँ के मुकुट की चारुता या सुन्दरता की यथायोग्य अनुभव के अनुसार भावना सहृदयों को कर लेनी चाहिये। जिसमें सुवर्ण के सूत्रों से गुंथे हुए मरकत (नीलमणि) और मुक्ता (मोती) आदि के यथायोग्य लगाने से फैलती हुई छवि वाली किरणावली का मण्डल है इत्यादि।

फिर 'गुञ्जाओं द्वारा' इत्यादि वाक्य का यह तात्पर्य है कि वृन्दाटवी में ही उत्पन्न होने वाली—प्रिया जी की रमणस्थली में उत्पन्न होने के कारण प्रियतम द्वारा बहुत सम्मानित होने वाली तथा 'श्याम श्याम इस प्रकार के अनुपम रस से परिपूर्ण वर्णों का जाप करती हुई, इत्यादि श्रुति से परम रस देने वाली है ऐसा मानकर, अहो प्रिया जी की अटवी में जन्म लेने वाली अनुराग की बीजभूता इन गुञ्जाओं के मुख में भी मेरा श्याम वर्ण वर्तमान है, मैं आसक्त हूँ किन्तु यह गुञ्जाएँ मुझ आसक्त को भी स्वीकार करती हैं इसलिये जो गुञ्जाएँ प्रियतम से बहुत सम्मानित होने वाली हैं उनके द्वारा आरचित (आ समन्तात्) सब प्रकार से बड़ी निपुणता और बारीकी से रचे गये। अथवा 'आ' यह उपसर्ग गोपों के द्वारा जिस प्रकार के हार की रचना का अनुभव किया गया है उसका स्मरण हो जाता है। यहाँ पर मुकुट की भाँति हार का भी मणि आदि से युक्त होकर सुन्दर होना आदि यदि अपेक्षित हो तो उसकी भावना कर लेनी चाहिये।

तादृशकल्पवल्लीजातानां गुञ्जानामनिर्वचनीयसुखमेव किं भण्यते ? हारमिति जातावेकवचनम् । तादृशविविधहारमुपाहरन्ती प्रियासमीपमर्पयन्ती, किञ्च पूर्वमुक्तमेव—"दृष्ट्वैव चन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गी" तिप्रियसम्बन्धिवस्तुन्यस्याः प्रेमातिशयः, अतस्तद्रसपोषार्थं तदेवोपाहरन्तीत्यर्थः। पश्चात्तस्मै ददाति, तदेव 'तत्तत्प्रसादमभितः खलु संवरीतु' मिति वक्ष्यत्येव ।

यथा स्वभूषाकरणे प्रीतिर्नैतादृशी प्रियतमभूषायाम् । प्रौढकैशोरत्वं प्रौढानुरागत्वं चोक्तम् । अत्रानुक्तापि पुष्पपरागाङ्गरागनवपल्लवादिवन्यभूषणरचना ज्ञेया । प्रियेणापि पीतनीलवर्णसंयोगोद्दीपनार्थं स्वासक्तिकेतनार्थं च चन्द्रमुकुटं धार्यते । गुञ्जायामपि श्यामगौरारुणच्छविरस्ति, अतस्तत्रोत्प्रेक्षैव स्थायिनी । किं शृङ्गारानुरागप्रेमरूपादीनेव धारयत उभाविति एवमुभयोद्दीपनविचक्षणदासी कदा भवितास्मीति सख्यकौतुकादि ॥३०॥

रसकलश

अन्यथा वैसी कल्पलता से उत्पन्न होने वाली इन गुञ्जाओं (घुंघचियों) के अनिर्वचनीय सुखका कोई क्या वर्णन कर सकता है। 'आरचितहारम्' में 'हार' के साथ एकवचन का प्रयोग जाति-अर्थ में किया गया है, अतः उस प्रकार के अनेक प्रकार के हार प्रियतम के पास ले जाकर अर्पण करती हुई यह अर्थ समझना चाहिये। तथा पहले कहा ही है कि—'चन्द्रक को देखकर ही अत्यन्त चौंक उठे अङ्गों वाली' इत्यादि श्लोक में प्रिय सम्बन्धी वस्तु में श्री प्रियाजी का अत्यन्त प्रेम है, अतएव उनके रसपोषण के लिये वही वस्तु उपहार में अर्पण करती हुई, यह अर्थ है। बाद में वे इसी को दे देते हैं। यही बात 'तत्तत्प्रसादमभितः खलु संवरीतुम् – दोनों ओर से प्राप्त हुए उस उस प्रसाद को छिपाने के लिये' इत्यादि में कहेंगे ही।

श्री प्रिया जी को अपनी भूषण रचना में जैसी प्रीति है वैसी प्रीति प्रियतम की भूषण रचना में नहीं है। इसके द्वारा प्रौढ़ किशोरता और प्रौढ़ अनुराग कहा गया है। यद्यपि यहाँ कही नहीं गई तथापि पुष्पों की पराग का अङ्गराग और नवीन पत्र आदि वन्य पदार्थों से अन्य भूषणों की रचना भी जान लेनी चाहिये। प्रियतम भी पीले और नीले वर्णों के संयोग द्वारा गौर श्याम के मिलन की तृष्णा के उद्दीपनार्थ और अपनी आसक्त भावना के प्रकाशनार्थ चन्द्रक-मोर पंख-मुकुट धारण करते हैं। गुञ्जा में भी श्याम गौर और अरुण छवि होती है, अतः वहाँ पर उत्प्रेक्षा ही स्थायिनी है। इस प्रकार प्रिया प्रियतम दोनों ही शृङ्गार, अनुराग, प्रेम और रूप आदि को ही धारण करते हैं, इस प्रकार मैं भी उन दोनों की भावनाओं का उद्दीपन करने में कुशल दासी कब बनूँगी यह सख्य भाव के कौतूहल आदि हैं ॥३०॥

पुनरपिस्वकैङ्कर्यं ब्रुवंस्तत्कुञ्जकौतुकं वर्णयति—

सङ्केतकुञ्ज मनुपल्लवमास्तरीतुं,
तत्तत्प्रसादमभितः खलु संवरीतुम्।
त्वां श्यामचन्द्रमभिसारयितुं धृताशे,
श्रीराधिके मयि विधेहि कृपाकराक्षम् ॥३१॥

हे श्रीराधिके ! तादृशसौभाग्यश्रीयुते प्रियसकलसिद्धिरूपनाम्नि आबाल्यमल्लालितमौग्ध्यभावे प्रियप्रौढानुरागभरमदेनान्येव विभाव्यमाने इत्यज्ञाते। संकेतेत्यादि कर्तुं धृताशे मयि कटाक्षं विधेहीति मयि सखीजने इति सामान्योक्तेः। साधकरूपपक्षे स्वाभिलाषद्योतिनी दैन्योक्तिः स्पष्टैव। आन्तरे तु पूर्वं सख्यमन्तरङ्गवृत्तमेवेदानीं पाणिग्रहे पारिबर्हदाने श्रीकीर्तिराज्ञास्निग्धाप्रमत्तेङ्गितज्ञेयमिति ज्ञात्वा सहैव दत्ताहमिति परमान्तरङ्गत्वेऽपि

रसकलश

फिर भी अपने दासी भाव का निर्देश करते हुए उस कुञ्ज के कौतुक का वर्णन करते हैं—

संकेत कुञ्ज में पल्लयमय आस्तरण (किसलय-शयन, अर्थात् नये नये पत्तों का विस्तरा) बिछाने के लिये और मुझ पर किये गये उस उस कृपा प्रसाद को छिपाने के लिये तथा तुम को श्यामचन्द्र के प्रति अभिसार कराने (ले जाने) के लिये आशाएं धारण किये हुए मुझ पर हे श्रीराधि के, कृपा दृष्टि करो।' ॥३१॥

उस प्रकार के विलक्षण सौभाग्य और शोभा से परिपूर्ण, प्रियतम की सम्पूर्ण सिद्धि स्वरूप नाम वाली, बचपन से ही मेरे द्वारा जिनके भोलेपन के साथ लाड प्यार किया गया है, प्रिय के प्रौढ (प्रबल) अनुराग के अतिशय के मद से कुछ और सी प्रतीत होने वाली अतएव अज्ञात स्वरूप, हे श्रीराधिके, संकेत कुञ्ज में पल्लवमय अस्मरण बिछाने आदि के लिये आशाएँ धारण किये हुए मुझ पर कृपा दृष्टि करो' इस उक्ति में 'मयि' या 'मुझ पर' का तात्पर्य सखीजन पर' हैं। साधकों के पक्ष में यह अपनी अभिलाषा को प्रकट करने वाली दीनता भरी उक्ति है यह स्पष्ट ही हैं। आन्तरिक तात्पर्य में पहिले अन्तरङ्ग सखी भाव तो था ही अब पाणि ग्रहण हो जाने पर जब (श्री वृष भानु जी के द्वारा) दहेज दिया जाने लगा तब श्री कीर्तिदा जी ने यह सोच कर कि यह आज्ञा पालन में प्रीति रखती है, प्रमाद नहीं करती और इङ्गितों (इशारों) को जानती है इस लिये मुझे भी साथ ही दे दिया इसलिये मैं श्री वृषभानु नन्दिनी जी की

श्रीमत्या अभिसारे लज्जावाम्याग्रहभरेण वचनानुनयानादरात् साधारणमननं हि कृपाशंसनम् ।

संख्यभङ्ग्या वक्रोक्तिसूचनं कटाक्षमिति साधु सामर्षभ्रूभङ्ग्यैव पश्येति स्वचिकीर्षामाह, त्वां श्यामचन्द्रं प्रति अभिसारयितुं वा श्यामचन्द्रमभिमुखे गमयितुमित्यपि स एवार्थः । धृताशा येन तस्मिन् त्वां महाराजात्मजां त्रपालाडलात्ववशतया पदमपि गन्तुमशक्तां नववधूटीं, 'श्यामचन्द्रमिति श्यामोऽप्याल्हादकश्चन्द्रवदिति इंगितानुवर्तितया विनयशाली परमानन्दमेव दास्यतीति मा भैषीरिति यत्त्वमपि गवाक्षादिषु निलीयात्यासक्त्या चन्द्रवद् दृष्टवतीत्येताद्दृशत्वदासक्तिविषयं पूर्वं तु द्वितीयाचन्द्रमिवेदानीं त्वदुद्वाहेन राकापतित्वख्यातं प्रति पूर्णकलाचन्द्रिकेवानुसरे' त्यभिसारयितुं धृताशां पूरयेति कृपाशंसनम् अभिसरणस्थानकैङ्कर्यमाह—

रसकलश

परम अन्तरङ्ग हूँ तथापि श्रीमती को अभिसार के समय लज्जा और प्रतिकूलता में ही विशेष आग्रह रहता है अतः वचन और अनुनय के अनादर से अपने आपको (परम अन्तरङ्ग सखी होते हुए भी) साधारण मानना ही श्रीस्वामिनी की कृपा के लिये आशंसन करने का बीज है ।

सख्य भाव की विशेष चेष्टा से वक्रोक्ति द्वारा मनोगत भाव को सूचित करना कटाक्ष कहलाता है अतः 'मुझ पर कृपा कटाक्ष करो' का यही तात्पर्य है कि 'भली भाँति कोप सहित भ्रूकुटि के संकेत से ही देखो' इसी प्रकार अपनी सेवा करने की इच्छा का वर्णन करते हैं—'तुम्हें श्यामचन्द्र की ओर अभिसार कराने के लिये' अथवा 'श्यामचन्द्र के सम्मुख ले जाने के लिये' इसका भी वही अर्थ है । धारण की है आशा जिसने उस 'धृताश' पर । महाराजाधिराज की पुत्री (तुम) जो लज्जा और लाडलेपन के कारण एक पग भी चलने में असमर्थ नई बहू हो श्याम होते हुए भी चन्द्र के जैसे आह्लादक श्याम चन्द्र की ओर यह कहकर कि वे इङ्गितों का अनुसरण करने वाले हैं और विनयी हैं वे परम आनन्द ही देंगे, भय मत मानो, क्योंकि तुम भी गवाक्ष आदि से छिपछिप कर अत्यन्त आसक्ति के कारण चन्द्रमा के समान उनको देखती रही हो, तुम्हारी वैसी अत्यन्त आसक्ति के पात्र जो पहले द्वितीया के चन्द्र के समान थे अब तुम्हारे साथ विवाह हो जाने से जो पूर्णिमा के चन्द्र के रूप में विख्यात हैं, उनके प्रति तुम पूर्ण कला-वाली चन्द्रिका-सी अनुसरण करो ।' इस प्रकार अभिसरण कराने के लिये मैंने जो आशा धारण कर रखी है उसे पूरा करो इस रूप में कृपा की सम्भावना की है । अभिसार के स्थान पर अपने दासीभाव का वर्णन करते हैं—

सङ्केतकुञ्जमनुपल्लवमास्तरीतुं,
तत्तत्प्रसादमभितः खलु संवरीतुम्।
त्वां श्यामचन्द्रमभिसारयितुं धृताशो,
श्रीराधिके मयि विधेहि कृपाकटाक्षम् ॥३१॥

तत्रैव रमणस्थले विविधकुञ्जेषु यः कश्चिद् विलक्षणरचनाविशिष्ट-रहःकुञ्जः प्रसह्य प्रियेण रिरंसयोरीकृतः—'अत्राद्य विहरिष्याम' इति 'हितसखि मद्विज्ञप्तिस्त्वयि त्वद्दास्यसख्यवशगां प्राणप्रियां येन केनाप्युपायेना-नुनीयात्रानयेत्यहमिहास्मी'ति संकेतितं पुनश्च मयापि बहुधानीय मनोनुवृत्या प्रियमौग्ध्यं गोपत्वं शृङ्गारानभिज्ञत्वमुक्त्वा तस्याश्च वैदग्ध्यं ज्ञापयित्वो-त्सुक्यं वर्द्धितं,पूर्वपद्योक्तं 'चारु मुकुटं गुञ्जादिहारं तस्मै प्रसादीकृत्य देहि' वैदग्ध्योत्कर्षं प्रकाशय, निजलोचनं तच्छविदर्शनसुखगोचरीकुर्वि'ति पश्चा-

रसकलश

'सङ्केत कुञ्ज में नवीन पल्लव बिछाने के लिए, दोनों ओर के उस उस कृपा प्रसाद को छिपाने के लिये तुम्हें श्यामचन्द्र के प्रति अभिसार कराने के लिये आशा धारण किये हुए ऐसे मुझ पर हे श्रीराधिके, कृपाकटाक्ष करो ॥३१॥

उस विहार भूमि में अनेक कुञ्जों में जो कोई विचित्र रचना से युक्त एकान्त कुञ्ज है उस कुञ्ज को तुमने हठात् प्रिय के साथ रमण करने की इच्छा से स्वीकार किया, था कि आज यही विहार करेंगे।' फिर प्रियतम ने मुझे संकेत देते हुए कहा— हे हित सखि तुम्हारे प्रति मेरी यह प्रार्थना है कि तुम्हारे दास्य भाव और सख्य भाव से मेरी प्राणप्रिया श्रीराधा तुम्हारे अधीन हुई हैं, तुम जिस प्रकार भी हो सके उसी प्रकार उनसे अनुनय विनय करके उन्हें यहाँ ले आओ मैं यहाँ हूँ।' तब मैंने भी अनेक प्रकार से अनुनय विनय करके प्रियाजी के मन का अनुसरण करते हुए प्रियतम के भोलेपन, ग्वालपन और शृंगार के विषय में अजानपन का वर्णन किया और प्रियाजी की विदग्धता (चतुरता) का ज्ञापन करके उनकी उत्सुकता बढ़ाई और पूर्व पद्य में कहे गये 'सुन्दर मुकुट और गुञ्जा आदि के हार को श्यामसुन्दर के लिये प्रसाद रूप में प्रदान करो, चतुरता के उत्कर्ष या अतिशय को प्रकाशित करो, अपने नेत्रों को उनकी शोभा के दर्शन के सुख का पात्र बनाओ' इत्यादि कहा। तब उन्होंने (श्री प्रिया

तयाऽपि कौतुकौत्सुक्येन 'साधु तथोमि'ति वचनेन संकेतितम् प्रियस्तत्रैव कुञ्जे शय्यादिरचनाविशेषं कुर्वन् स्थितः अहन्तु तत्कुञ्जमनु तदारभ्य यावत् प्रियास्थिति धृताशः पल्लवसमूहमास्तरीतुमासमंतादाच्छादयितुमिति । किञ्च राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीत्वेऽपि प्राणप्रियातत्पादरेणुतत्सुखसुखित्वेन परमसुकुमारपदोपलालनार्थमास्तरणं कृतम् ।

यद्वा अनोः सादृश्येऽर्थे यथा घनपल्लवावृतः कुञ्जस्तथा मार्गे घनपल्लवास्तरणम्—अर्थात् पल्लवं बिना भूमिप्रदेशान्तरं तत्र न विविक्तं दृश्यते, पल्लवेनान्वयश्चेत् तदा पल्लवादनुपल्लवं ग्रथनवदेकीभूय दृश्यमानमविरलमिति किञ्च प्रमादवैदग्ध्येन दंतुरितं स्यात् ।

प्रसादमिति प्रियादास्यकृपाहेतुकमनिर्वचनीयतदात्विकपरमानन्दं प्रियभिया संवरीतुं संगोपयितुमिति—अभित इति प्रियासकाशादपि प्रसादं च

रसकलश

जी) ने भी कौतुक और उत्सुकता से 'ठीक, है, ऐसा ही हो, हाँ हाँ' इत्यादि वचनों से संकेत दिया । प्रियतम तो उसी कुञ्ज में किसलय शयन (पत्र पुष्पों द्वारा बनी हुई शय्या) की विशेष रूप से रचना करते रहे । और मैंने उस कुञ्ज तक अर्थात् प्रियाजी से अधिष्ठित कुञ्ज से लेकर उस (श्याम से अधिष्ठित) कुञ्ज तक पल्लव समूह बिछाने के लिये आशा धारण की हुई थी तदनुसार पल्लव समूह का आस्तरण किया, यद्यपि यह श्रीराधा विहारवन श्रीराधाजी के चरणचिन्हों से विराजमान मधुरस्थली वाला है तथापि उनकी प्राणप्रिय चरणरेणु के प्रति तत्सुखसुखिता की भावना से परम सुकुमार चरणों की उपलालना के लिये यह आस्तरण (पल्लवों द्वारा श्याम कुञ्ज से श्यामा कुञ्ज तक के मार्ग का आच्छादन) किया गया है ।

अथवा अनु शब्द का प्रयोग सादृश्य अर्थ में भी किया जाता है अतः जैसे घने पल्लवों से कुञ्ज तल आच्छादित है वैसी ही मार्ग पर भी घने पल्लवों से आच्छादन किया गया है, अर्थात वहाँ कोई भी भूमि प्रदेश पल्लवों के बिना (अनावृत) दिखाई नहीं देता । जब एक पल्लव का दूसरे पल्लव से सम्बन्ध या सम्पर्क हुआ तब पल्लव के अनुपल्लव हुए अर्थात् जैसे परस्पर गूंथे गये हों ऐसे एक होकर घने घने दीखने लगे । एक बात और भी है कि प्रमाद-अन्य मनस्क होने से हुई असावधानी —से (प्रियतम के द्वारा) किया गया पल्लवास्तरण कुछ दन्तुरित (उन्नतानत) भी होगा ।

'उस उस प्रसाद को सर्वतः (सब ओर से) छिपाने के लिये' यहाँ पर प्रसाद से तात्पर्य है कि प्रियाजी के प्रति दास्यभाव से प्राप्त कृपा के कारण अनिर्वचनीय जो उस समय का परम आनन्द उसको प्रियतम के भय से छिपाने के लिये । यहाँ पर 'अभितः'

प्रियकाकुविज्ञप्तिरूपम् परमादरदानं प्रियाविषयकपरमासक्तिपरमप्रियतो-दर्शनोदितप्रेमाश्रुपरमानन्दसंवरणमत्र—अपि मन्मनोरथसाधनधुरीणे तत्त-द्विलासवैवश्यसहायीभूते कथं तावत्त्वमप्यधीरासीति प्रियोक्तिशंकयेति मदधैर्यं न जानीयाद् ज्ञाते च महाप्रेममयोऽयं त्रुटियुगायमानत्वात् तत्तद्द्रा-वद्रववैकल्यविवशः स्यात्तदा तत्समाधानं कुर्य्याम् ।

वा प्रस्तुतसत्वरतदभिसरणार्थकमास्तरणमिति गोपनम् अत एवाभित इति उभयतः प्रसादोज्जृम्भणमुभयतः शङ्कनञ्च अतः खल्विति निश्चयेन गोपनमेवार्हम्—खल्वित्यस्य जिज्ञासार्थश्चेत्तदा त्वमेव कथय एवमेवार्हं वा नेतीत्यर्थः यद्वा तत्तदिति पूर्वोक्तचारुमुकुटहारादिप्रसादमिति तत्र यास्याम-स्तच्चातुर्यमुपहसिष्यामः स्वकरेण तम् भूषयामो दर्पणे दर्शयिष्याम इत्यौत्सु-क्यं तु क्रीडान्तरव्याजेनाभिसारांगीकरणं मद्हृदि निहितं प्रियाय कथयितुम्—हृदयमुच्छलितमपि गोपायितुम् ।

रसकलश

का अर्थ है कि दोनों ओर से अर्थात् उस प्रसाद को प्रियतम से भी और प्रिया जी से भी छिपाने के लिये । प्रियतम ने जो दानता भरी प्रार्थना करने के रूप में प्रसाद दिया था, परम आदर दिया था, और प्रियतम की प्रियाजी के प्रति परम आसक्ति और परम प्रेम के दर्शन से जो प्रेमाश्रु उमड़ पड़ने का परम आनन्द मिला था उसको छिपाना भी अभीष्ट है, प्रियाजी कहीं न कहने लग कि मेरे मनोरथों के मुख्य साधक, उन उन विलासों की विवशता के समय के सहायक के विषय में तुम क्यों इतनी अधीर हो रही हो प्रियाजी मेरी अधीरता को न जान जायें, अतः उनसे भी छिपाना अभीष्ट है । क्योंकि यदि मेरी आधीरता को जान लेंगे तो यह महा प्रेममय तो है ही इनको एक त्रुटि का समथ युग के समान हो जाता है, यह उस उस भाव के कारण होने वाली द्रुति को जान जाएंगे तो विकलता से विवश हो उठेंगे तब उनका समाधान करूँगी ।

अथवा प्रस्तुत प्रकरण में श्याम चन्द्र की ओर अभिसरण के लिये आस्तरण (मार्ग का आच्छादन) किया जा रहा है वह गोपन होता है । अतएव अभितः अर्थात् उभयतः दोनों ओर प्रसाद का प्रकट हो जाना सम्भव हैं अतः दोनों ओर से शङ्का है, तभी 'खलु' शब्द के द्वारा निश्चय ही उस उस प्रसाद का गोपन या छिपाया जाना ही ठीक है यह अर्थ होता है । यदि 'खलु' शब्द का अर्थ जिज्ञासा हो तब 'तुम्हीं' कहो कि ऐसा ही करना (छिपाना) उचित है वा नहीं । अथवा 'उस उस प्रसाद' का अर्थ वे ही पूर्वोक्त मुकुट हार आदि प्रसाद होंगे और 'हम वहाँ जाएँगी, श्यामसुन्दर के चातुर्य का उपहास करेंगी और अपने हाथों से उसका शृङ्गार करेंगी तथा दर्पण में उन्हें दिखायेंगी; इस उत्सुकता को किसी और खेल के बहाने 'अभिसार' का अङ्ग बना लेने का विचार जो मेरे हृदय में निहित है, उसे प्रियतम से कहने के लिये एक बार हृदय उछल आया था तो भी उसको छिपाने के लिये मैंने आज्ञा धारण कर रखी है ।

किञ्च मद्विश्रम्भिततदागमनसंभावनानन्देनैव प्रियः कदाचित् सत्वरतया तल्परचनोद्यमं करोति, कदाचिद् भावनास्फूर्त्या रसजाड्येन स्तम्भितोऽपि दास्यप्रेमस्मृत्या समाहितमनसा शूरतया तल्पं रचयति—औत्कण्ठ्यात् पदभ्यामपि पल्लवानास्तारयति यदा स्वकरेण भूषयिष्यतीत्यादि तत्प्रसादं ज्ञापयामि तदा नु हर्षद्रवेण विह्वलः स्यादिति तद्धैर्य्यासक्तिशीलभिया न किञ्चिद्वक्तुमर्हम्—अतो गोपनम्—खलु निश्चयेनेत्यर्थः तन्नियतेंगितज्ञत्वात्-अभितः इत्युक्तेः प्रियाभीत्यापि संगोपनम् । किञ्च परोक्षतया कस्मात् क्रियते तदन्याश्चर्यास्वाददम्—अन्यथा सखि त्वद्हृदये मन्मन्त्र एतावानपि न स्थित इत्युपालम्भः स्यात् ।

अथवा प्रसादो विशदार्थकस्तदा यद् यत् प्रसादस्थलं कुञ्जच्छिद्रं द्वारान्तरं वा तत्र लतादिपिधानं जवनिकाछादनञ्च कर्तुं यथा बहिःस्थैः

रसकलश

एक और बात भी है मेरे द्वारा जिसका विश्वास दिला दिया गया है ऐसे उन (श्रीराधा जी) के आगमन की सम्भावना के आनन्द से ही प्रियतम सम्भवतः भावना की स्फूर्ति हो जाने से रसजनित जडता के कारण स्तम्भित भी हो जाते हैं फिर दास्यभाव के अनुरूप प्रीति का स्मरण हो आने पर समाहित चित्त होकर शीघ्रता से तल्परचना करते हैं । उत्कण्ठा में ही मार्ग पर भी पल्लव या कोमल पत्र बिछा देते हैं । किन्तु मैं यदि उन (श्रीश्यामसुन्दर) को यह प्रसाद या कृपा का रहस्य बता दूँगी कि यदि तुम अपने हाथों से पल्लव शयन को सजाओगे तो प्रियाजी भी उत्कण्ठावश अनेक प्रकार के कौतुकों से तुमको आनन्दित करेंगी तब तो वे हर्ष के कारण द्रवित हो कर विह्वल हो जायेंगे अतः उनकी अधीरता और आसक्ति के स्वभाव के भय से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसी लिये प्रसाद या कृपा का गोपन करना कहा गया है । प्रसाद के गोपन में निश्चयार्थवाचक 'खलु' शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि 'श्री हितसखी' श्रीराधा जी के इङ्गितो को निश्चित रूप से जानती है । 'अभितः' का अर्थ है 'दोनों ओर से ।' अतः प्रसाद का गोपन केवल श्यामसुन्दर के भय से ही नहीं, अपितु प्रियाजी के भय से भी करना अभीष्ट है । एक और बात भी तो है कि जब यह समग्र लीला परोक्ष ही है तब यह गोपन अन्य जनों को आश्चर्य का या अद्भुतरस का आस्वाद देने वाला है । यदि गोपन न किया जाएगा तो यह उपालम्भ मिलेगा कि 'सखी भाव से तुम्हारे हृदय में मेरी मन्त्रणा रहनी चाहिये थी, तुम इतनी भी स्थिति (मर्यादा) न रख सकी ।'

अथवा यहाँ पर प्रसाद शब्द का अर्थ कुछ विस्तृत है अतः जो जो प्रसाद के स्थल कुञ्जों के छिद्र या अन्य द्वार हैं उनको लता आदि के द्वारा पिधान (बन्द) करके, जवनिका (पर्दा) डाल कर जिससे कि बाहर खड़े सखीजन भी न देख सकें इस प्रकार

सखीजनैरपि द्रष्टुं न शक्यते तथा सर्वतो निकुञ्जस्योच्चनीचपार्श्वान्तरेषु सान्द्रपल्लवपुष्पाद्यावरणं कर्तुमित्यर्थः । यद्वा मिलनानन्तरं तत्तत्प्रसादं तादात्विकनिधुवनमणितादौ मत्ततायाम्—वा अनिर्वचनीयवाक्यश्रवणं विहारदर्शनं कस्मैचिदपि न वक्ष्यामीति निगूहयितुं यथा रंकवद्धनमिति ।

अथवा वृञ् वरणे धातुः सम्यग् वरीतुम्—तत्तद्रहस्यदर्शनं निर्माल्यवीटिकाग्रहणं गण्डूषपात्रोपरक्षणं व्यजनेन श्रमनिवर्तनम्, सुगन्धमाल्यार्पणं वैवश्यसमयवसनसमीकरणं निद्रार्थं कथानककौतुकहासान्योक्तिप्रहेलिकाकथनमित्यादि प्रसादं संग्रहीतुं संगृह्य हृदि कोशे निधातुमित्यर्थः ।

अत्राभिसारैकार्थोपयोगित्वेन तु मुंत्रये चकारानुक्तिः संकेताभिसरणे कैश्चित् शंक्यते । तत्राह लोकानुभवेन यत्र नित्या स्थितिस्तत्स्थलं तु गृहवदावेशविषयं भवति, तत्र परिकरसंघट्टोऽपि स्यात् तस्मादन्यत्र रहःस्थलं मनः

रसकलश

निकुञ्ज के सभी ओर से ऊपर नीचे ओर पार्श्व देशों में घने पत्र पुष्प आदि के द्वारा आवरण करना ही 'गोपन' करना है। अथवा मिलन के अनन्तर उस उस प्रसाद—तात्कालिक सुख के मणित (शब्द) आदियों में जैसे मत्तास्वथा में प्रिया प्रियतम के अनिर्वचीय वाक्यों के श्रवण और विहार दर्शन इन प्रसादों को जैसे रङ्क धन को छिपाता है ऐसे ही उस उस प्रसाद का छिपाने के लिये किसी को भी न कहूँगी ।

अथवा वृञ् धातु वरण करने अर्थ में है अतः संवरीतुम्' का अर्थ भलीभाँति वरण या स्वीकार करने के लिये' यह होगा। अतः उन उन रहस्यों का दर्शन, निर्माल्य और वीटिका आदि का ग्रहण, गण्डूष पात्र (पीक दान) का संरक्षण, व्यजन (पंखे) से श्रम निवारण, सुगन्धित मालाओं का समर्पण, विवशता के समय वस्त्रों का समीकरण (ठीक करना) निद्रा लाने के लिये कथा कहानी कहना कौतुक और हास के लिये अन्योक्ति, प्रहेलिका (पहेली) कहना इत्यादि प्रसाद या कृपा को संग्रह करके अपने हृदय कोष में सुरक्षित रखने के लिये आशा धारण किये हुये मुझ पर (श्रीराधिका कृपाकटाक्ष करें।)

इस पद्य में अभिसार रूपी एक प्रयोजन में उपयोगी होने के कारण तीन 'तुमन्' (के लिये) के प्रयोगों में चकार (और) का प्रयोग नहीं किया गया है। संकेत पर अभिसार के सम्बन्ध में कुछ लोग शंका किया करते हैं (कि नित्य लीलामें यह संकेताभिसार कैसा ?) उस शंका पर कहते हैं कि लौकिक अनुभव के अनुसार जहाँ दम्पती की नित्य स्थिति होती है वहाँ वह स्थल गृह (घर) के समान आवेश या भावावेश का स्थान होता है, वहाँ परिकर (दास दासीजन) की भीड़ भी हो सकती है, अतः वहाँ

प्रसादाय मृग्यते विलासिभिरिति । अहो प्रभुभिस्तत्रैव सर्वान्निवार्य कथं रहो न क्रियते चेत्तत्राह परमैकान्तिनस्तु योगिनो भवन्ति, तेषां गहनवनगिरिद्रोण्यादौ यत्र स्थले बहुकालं स्थितिस्तत्र ममत्वाविष्टगृहवद्भवति । तत्सजातीयाः साधकाः सिद्धास्तत्सङ्गिनो भवन्ति तदा पुनरपि ते निर्ममस्थलेऽन्यत्र रहो अपि मन्ये स्थित्वा भावनां कुर्वन्ति । एवं मानसरुचेर्नवनवोदयो योगिनां, तदा विलासिनां किमु र—एवं रुचिविशेषग्रहणादन्यकुञ्जाभिसरणम् । अत्र तु सर्वाण्येव नौदासीन्यदायीनि, तदपि विलासिकौतुकिप्रभूणां स्वभाव एव सर्वाण्येव पृथक् स्वस्वकाले भुनक्तीति भोगास्पदता त्वत्र मन्यत एव । न रंकवदनीशोऽकिंचित्करः स्वप्रभुर्भावनीयः । अतोऽन्यकुञ्जाभिसरणमदोषः । प्रियं प्रत्यभिसरणमत्रासज्यप्रभुवन्न त्वासक्तनायिकावत् ।

रसकलश

विलासियों द्वारा कोई अन्य एकान्त स्थान मनोरञ्जन के लिये ढूंढा जाता है। आश्चर्य है कि प्रभुजन वहीं पर से ही सबको दूर हटा कर एकान्त क्यों नहीं बना लेते ? इस पर कहते हैं कि परम एकान्तप्रिय तो योगी होते हैं, उनको गहन वन और गिरि द्रोणी आदि स्थलों मे बहुत दिनों तक रहना होता है अतः उन्हें उसी स्थान में घर के समान ममता का आवेश हो जाता है । जब उनके सजातीय साधक और सिद्ध उनके सङ्गी हो जाते हैं तब फिर भी वे जिससे ममता नहीं है ऐसे अन्यत्र किसी एकान्त माने जाने वाले स्थल में बैठकर भावना करते हैं । ऐसे जब योगियों के भी मन की रुचि का नवीन नवीन रूप में उदय हुआ करता है तब विलासी पुरुषों का क्या कहना ? इस प्रकार विशेष प्रकार की रुचि के द्वारा स्वीकार किये जाने के कारण प्रिया प्रियतम भी अन्य कुञ्ज का अभिसरण करते हैं । इतनी विशेषता है कि यहाँ के सभी स्थल सच्चिदानन्दमय ही हैं और प्रिया प्रियतम की उस उस रमणेच्छा के अभिलाषुक ही हैं उदासीनता का भाव उत्पन्न करने वाले नहीं हैं । तो भी विलासी और कौतुकी प्रभुओं (स्वामियों) का स्वभाव ही होता है कि वे सभी स्थलों का पृथक् पृथक् उपभोग करते हैं इस प्रकार इन कुञ्जों की भोगास्पदता (भोग भोग्यता और भोगस्थानता) मानी ही जाती है । जो रंक के समान अनीश (प्रभुता से रहित) हो अतएव अकिञ्चित्कर (कुछ न कर सकता) हो ऐसे व्यक्ति को प्रभु नहीं मानना चाहिये । अतः अन्य कुञ्ज में अभिसरण करना कोई दोष नहीं है । यहाँ पर प्रियाजी का प्रियतम के प्रति अभिसार आसक्ति के पात्र प्रभु की भाँति है न कि आसक्त नायिका की भाँति ।

किञ्च पूर्वं प्रियस्तत्र गत्वा तदिंगितप्रकृतिसुखरहःस्थलं विचार्य्य तस्यै विज्ञापयेत्तदा सा तत्स्नेहार्थमङ्गीकरोति । ततः स तदर्हपुष्पपल्लवशयनमकरदादिसिद्धिं कृत्वा तां सखीभिरभिसारयति स्वयं दास्यभावनिष्ठस्तदागमकाङ्क्षी मार्गे कृतेऽपि पल्लवाद्यास्तरणे सस्नेहं दृगास्तरणं करोति, तदागमनं स्वेष्टपरमसिद्धिं मन्यते, न चात्र स्वस्यनियन्तृनायकत्वाहंकृतिः, अतो यथारुच्य भिसरणमेव, नान्यनियम्यनायिकावत् साधारण्यम् ।

संकेतस्तु—अद्य तत्रस्थले एवं कुर्य्याम, वा श्वस्तत्कुञ्जे एवं रंस्यामः परश्वो वेत्युभयोः कृतः संकेत एव संकेतः सखीनां प्रियस्य च प्रार्थनैः कुञ्जगमनमेवाभिसार इति सिद्धान्तः । नाभिसाररेति त्यागेऽपि स्व संकेतेतिनाम्ना भेतव्यम्—न चात्र दृष्टयन्तरकुञ्जान्तरविरहो मन्तव्यः ।

किञ्च वृन्दावनमुभयोरेकमेव विहारस्थलं श्रीविग्रहरूपमेव कुञ्जान्तरगमनतन्निर्माणनिलयनादिक्रीडाजलमज्जनावृतस्नानपुष्पावचयादिलीला दंपत्या

रसकलश

एक बात और है कि प्रियतम पहले वहाँ जाकर उनके इङ्गित, स्वभाव और सुख के अनुकूल एकान्त स्थल का विचार करके उनके प्रति विज्ञप्ति भेजते हैं, तब प्रियाजी प्रियतम के स्नेह के प्रति अनुरोध से उसे स्वीकार कर लेती हैं। तब प्रियतम उनके योग्य पुष्प, पल्लव शय्या और मकरन्द (मधु) आदि की सज्जा करके उन (प्रियाजी) को सखियों के द्वारा अभिसरण करवाते हैं और स्वयं दास्यभाव की निष्ठा रखते हुए उनके आगमन की आकाङ्क्षा वाले (श्याम सुन्दर) मार्ग पर भी पल्लवों (नवीन पत्रों) को बिछाकर उस पर स्नेह पूर्वक अपने नेत्र बिछाते हैं, प्रियाजी के शुभ आगमन को अपने मनोरथों की परमसिद्धि मानते हैं, यहाँ श्याम सुन्दर के मन में अपने नियन्ता या नायक होने का अहंकार नहीं होता। अतः अपनी रुचि से ही प्रियाजी का अभिसार असाधारण होता है। किसी के नियन्त्रण में पड़ी हुई नायिका के समान साधारण नहीं।

संकेत का तात्पर्य यह है कि 'आज उस स्थल पर इस प्रकार की सुरत क्रीडा करेंगे और कल उस कुञ्ज में इस प्रकार रमण करेंगे तथा परसों उस निकुञ्ज में इस प्रकार प्रिया प्रियतम दोनों के ही द्वारा किया गया संकेत ही यहाँ संकेत है। सखीजन के और प्रियतम के निवेदन पर एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज में जाना ही अभिसार है यह सिद्धान्त है। अत अभिसार और संकेत के नाम से डरना नहीं चाहिये और नही यहाँ किसी अन्य दृष्टि से किसी अन्य कुञ्ज में प्रिया प्रियतम का विरह मानना चाहिये।

एक बात यह भी तो है कि वृन्दावन दोनों का एक ही विहार स्थल है जो श्रीविग्रह रूप ही है। यहाँ पर एक कुञ्ज से अन्य कुञ्ज में जाना, वहाँ शय्यादि रचना करना, निलयन (छिपना) आदि क्रीडा, जलकेलि, आवृत (पर्दे में) स्नान और और पुष्पावचयन (फूल चुनना) आदि लीला सभी दम्पति (प्रिया प्रियतम) के आनन्द

नन्दमय्येव वनस्वरूपाभिन्ना, एवं सहृदयैर्हितोक्तं यथायथं भावनीयम्। येषां निर्निमेषसिद्धान्तस्तेषाम्—कुञ्जवृन्दावनशय्याविहारस्नानभोजनशृङ्गारशयनहिन्दोलनवसन्तजलक्रीडादिलीला कापि न सिद्ध्येत्तत्र यत्किञ्चित् सर्वं नेत्रयोरेव संपद्यते यदा काचिल्लीला मन्येत तदैव निमेषाद्यन्तरायः स्यान्मनोवृत्तिश्च स्वरूपादन्यत्र पतेत्ततो ब्रह्मसायुज्यवद् दंपत्यो रससायुज्यं मन्यते। येषां नेत्रजीविकैकजीवनम्, तेषां मते सर्वलीलानिर्मुक्तौ दम्पती तद्भावबद्धौ, तथैव तद्रसं पोषयतः, अनयोरचिन्त्यभावयोर्विषये तु शुद्धान्तर्भावुकरसिककृता सर्वे भावाः संगच्छन्ते। यथोक्तं श्रीभागवते—

"यदंघ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया, धिया नु पश्यन्ति हितत्वमात्मनः।
वदन्ति चैवं कवयो यथारुचि, स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्।"

इति प्रस्तुते रहःकुञ्जनित्यनैमित्तिकलीला न निवारिता। तौ यथा लीलां कुरुतः, तथा तत्सुखपरतया स्वरसानुगतं सर्वं ग्राह्यम् स्वाचार्योक्त-

रसकलश

से ही परिपूर्ण हैं वे वन के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। ऐसा सहृदयों को श्रीहिताचार्य महाप्रभु के वचनों में जैसा कहा गया है वैसा ही समझना चाहिये। जो निर्निमेष सिद्धान्त को मानते हैं उनके मत में कुञ्ज, वृन्दावन, शय्या, विहार, स्नान, भोजन शृङ्गार, शयन, हिन्दोला, वसन्त, जलक्रीडा आदि लीलाओं में से कोई भी लीला सिद्ध न होगी, वहाँ जो कुछ होता है सब कुछ नेत्रों में ही सम्पन्न होता है। जब कोई लीला मानी जाती है तभी निमेष (पलक) आदि के द्वारा विघ्न हुआ और मनोवृत्ति स्वरूप से भिन्न पदार्थ में पड़ गई यह समझा जाता है तथा ब्रह्मसायुज्य की भाँति दम्पति (प्रिया प्रियतम) का रससायुज्य मान लिया जाता है। जिनका नेत्रजीविका ही एक मात्र जीवन है उनके मत में सब प्रकार की लीलाओं से निर्मुक्त दम्पति (प्रिया प्रियतम) उसी भाव में बँधे हुए हैं उसी प्रकार उस रस का पोषण करते हैं। इन अचिन्तनीय भाव वाले प्रिया प्रियतम के विषय में शुद्ध हार्दिक भावना वाले रसिकों के द्वारा भावित या प्रकाशित सभी भाव सङ्गत ही बैठते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी कहा है —

"जिनके चरणों के निरन्तर ध्यान से और समाधि से घुली हुई बुद्धि के द्वारा भावुक जन आत्मा के हितत्व हित स्वरूप को) अथवा तत्त्व (वस्तु-स्वरूप) को देख लेते हैं, और वैसे भावुक कविजन अपनी अपनी रुचि के अनुसार ऐसा (यथार्थ ही) कहते हैं। वे भगवान् मुकुन्द मुझ पर प्रसन्न हों।"

मिति सिद्धान्तः। स्वीयरसो विरोधिरसाद्रक्षणीयः अविरुद्धलीलारसास्तु संगता एवेत्यलं विस्तरेण ॥३१॥

तदेवं स्वसिद्धविग्रहहितसहचरीरूपेणैव कृपाशंसनं कुर्वन् जातबाह्यदशः स्वसाधकतामपि विश्रब्धकृपास्पदां स्मृत्वा वदति किञ्च प्रेम्णस्तरङ्ग एव कदाचिदान्तरः कदाचिद्बाह्य इत्युच्चनीचतां भजति नात्र तारतम्यम्। तदेवाह—

दूरादपास्य स्वजनान् सुखमर्थकोटिं,
सर्वेषु साधनवरेषु चिरं निराशः।
वर्षन्तमेव सहजाद्भुतसौख्यधारां,
श्रीराधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ॥३२॥

रसकलश

इस लिये प्रस्तुत पद्य में एकान्त कुञ्ज की नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की लीला का निवारण नहीं किया गया। वे (प्रिया प्रियतम) जिस प्रकार लीला करते हैं उसी प्रकार 'उनके सुख से सुखी होने के कारण' अपने रस के अनुकूल सभी लीला आदि वस्तुएँ स्वीकार कर लेनी चाहिये विशेषतः जिनका अपने आचार्यश्री ने प्रतिपादन किया हो यह सिद्धान्त है। अपने रस की विरोधी रस से रक्षा करनी चाहिये, किन्तु जो लीलाएँ और रस विरोधी नहीं हैं वे तो अपने रस के साथ संगत या समन्वित होने के कारण ग्राह्य ही हैं। बस, इस विषय में विस्तार का क्या प्रयोजन? ॥३१॥

इस प्रकार स्वयंसिद्ध विग्रहा श्रीहितसहचरी जी के स्वरूप से ही कृपा की आशंसा (सम्भावना) करते हुए जब बाह्यदशा प्राप्त हो गई और विश्वस्त रूप से कृपाभाजन बनी हुई अपनी साधकता का भी स्मरण हो आया तब कहते हैं। एक और भी बात है कि प्रेम की ही तरङ्ग कभी आन्तरिक भाव बनकर और कभी बाह्य भाव बन कर (कभी ऊँची उठ जाती है कभी नीचे चली जाती है इस प्रकार) ऊँची नीची होती रहती है इससे कोई तारतम्य या अन्तर नहीं पड़ता। इसी वस्तु का यहाँ प्रतिपादन करते हैं—

'भलीभाँति अपने जनों अथवा अच्छे जनों को और कोटि-कोटि अर्थों (सम्पत्तियों) को तथा सुख को सुख दूर से छोड़ कर सभी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ साधनों के विषय में चिरकाल निराश रह कर सहज में ही अद्भुत आनन्द की धारा को बरसा रही श्रीराधिका जी के तक चरण कमलों की रेणु (धूलि) का मैं स्मरण करता हूँ ॥३२॥'

सुष्ठु जनानिति व्यवहारदशायां स्त्रीपुत्रबान्धवपरिजनान् से ष्ठुवमत्र यथार्हसेवापरायणानुत्तमगुणाधिकान् वा यद्वान्यान् धर्मार्थकाममोक्षनिष्ठान् लोकश्लाघ्यान् पृथक् पृथक् वर्गेषु प्रकटितपुरुषार्थान् यान् लोकः समीचीनतया मन्यते तान् दूरत इति—उच्यमानचरणरेण्वपेक्षया दूरतो निश्चित्यै-तद्गन्धमप्यसहमानो घृणाकुल इत्यर्थः। अपास्य त्यक्त्वा अपेति भूयः संगाभावायेत्यर्थः अद्भुतसौख्यापेक्षया किमेषु संग इति भावः न केवलमेता-वदेव किञ्च सुखमैहिकं पारत्रिकं च सर्वजनसङ्गसुखत्यागोऽत्यन्तदुष्कर-स्ततः सुखं त्यक्त्वेति ततोऽप्यर्थत्यागो दुष्करः।

"यं क्रीणात्यसुभिस्तस्करः सेवको वणिक्"—इति श्रीप्रह्लादेनोक्तम् अतोऽर्थकोटिं प्राप्तामपि त्यक्त्वा तत्रापि धर्माशात्यागो दुष्करस्ततोऽपि पर-मधर्मत्यागः परमदुष्करः किञ्च व्यवहारत्यागस्तु सर्वसम्मत एव परन्तु सर्वं

रसकलश

भली भाँति जो जन हैं, व्यवहार दशा में स्त्री, पुत्र, बान्धव, परिजन ही तो भली-भाँति अपने जन हैं। यहाँ पर 'सु' भली-भाँति से यह तात्पर्य है कि वे यथोचित रूप से सेवा परायण हैं, उत्तम गुणों से विशिष्ट हैं, उनको (दूर से छोड़कर) अथवा अन्य जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में निष्ठा रखने वाले हैं, लोक में श्लाघनीय हैं तथा भिन्न-भिन्न वर्गों में जिन्होंने अपने पौरुष को प्रकट किया है जिनको लोग भली-भाँति मान सन्मान देते हैं उन सुजनों को भी दूर से छोड़कर अर्थात् आगे जिस चरण रेणु का वर्णन किया जा रहा है उसकी अपेक्षा से निश्चय करके दूर से ही इनको गन्ध को भी न सहता हुआ अर्थात् उनके प्रति भी घृणा से ब्याकुल हुआ उनको त्याग कर। यहाँ पर 'अपास्य' शब्द द्वारा त्याग करने की बात कही गई है। 'अप' और 'अस्य' शब्द से 'अपास्य' बना है इसमें 'अप' का तात्पर्य है कि उनसे फिर कभो न मिलने के लिये। जिसे अद्भुत आनन्द की अपेक्षा है उसे इनसे क्या आसक्ति क्या लगाव? केवल इतना ही नहीं अपितु सुख को भी दूर से ही त्याग कर। सुख दो प्रकार का है ऐहलौकिक और पारलौकिक। सभी आत्मीयजनों या सज्जनों के संग का त्याग करने पर भी अपने सुख का त्याग करना अत्यन्त कठिन होता है अत कहा गया कि सुख को भी त्याग कर। वर्तमान सुख का त्याग कर भी दिया जाये किन्तु (भावी सुख के साधन भूत) अर्थ का त्याग करना बहुत कठिन है। जैसा कि—

'जिस अर्थ या धन को चोर सेवक और व्यापारी प्राणों की बाजीं लगा कर कमाते हैं।' श्री प्रह्लाद ने कहा है। अतः प्राप्ति हो रही हो तो भी अर्थ कोटि को त्याग कर, उसमें भी धर्म की आशा का त्याग दुष्कर है और उससे भी धर्म का त्याग परम दुष्कर है। फिर व्यवहार का त्याग तो सभी को इष्ट है किन्तु सब कुछ त्याग कर हरि का

त्यक्त्वा हरिं भजेदिति । 'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याता' इति त्यागनन्तरं साधनेष्वपि श्रेष्ठा भगवद्धर्मास्तेष्वपि निराशः नास्ति आशा यस्य चिरमादितः प्रियाचरणाश्रितत्वात्तदेव वक्ष्यति- "भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः"—"धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा-वार्तया, सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि" इति ।

न च स्वस्य तत्साधनानन्तरमेतादृशभावो जातः, अतश्चिरमिति—अत्र भगवद्धर्मस्य निन्दा न कृता ज्ञेया किञ्च सा त्वेकस्मिन् सुस्थिरा स्यात्—इदं रेण्वाश्रयणं भगवद्धर्मादपि रहस्यम्—तदा तदुपेक्षायामपि दोषो नास्ति किञ्च "ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यमिति" "श्रीराधे श्रुतिभिर्बुधैर्भगवताप्यामृग्यसद्वैभवे, जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम् ।" इत्यादि

रसकलश

भजन करे, इस सूक्ति के अनुसार और 'जो स्त्री, घर, पुत्र, आप्तजन, अपने प्राण, धन, इहलोक और परलोक को त्याग कर मेरी शरण में आए हैं।' इत्यादि सुभाषित के अनुसार उनका भी त्याग करके तथा इस त्याग के बाद साधनों में श्रेष्ठ साधन भगवत्प्राप्ति कराने वाले भागवद्धर्म या भगवत धर्म उनके विषय में भी निराश हुआ, नहीं है आशा जिसको ऐसा होकर । चिरकाल से कहने का तात्पर्य है कि जीवन के प्रारम्भ से ही जब से श्रीप्रियाजी के चरणों के आश्रित हो गया है तब से ही उन सब का त्याग कर और इन सबसे निराश होकर । यही बात आगे को भी कहेंगे—

'भगवद्-धर्मों या भागवत धर्मों के विषय में भी जो निर्मम हो चुके हैं । और 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों की जय हो, किन्तु उनकी बात मेरे लिये व्यर्थ है अतः उससे क्या ? और उस एकान्त भाव वाली ईश्वर के भक्ति योग की पदवी को तो (आदर पूर्वक त्याग करने के लिये हमने) सिर पर ही चढ़ा लिया है।' इत्यादि :

एक बात और भी है कि अपने (श्री हिताचार्य महाप्रभु के) मन में इन सब का साधन करने के बाद ऐसा (इनको त्यागने का) भाव नहीं आया । अतः यहां चिरकाल से कहा है । यहाँ पर भगवद्धर्म की निन्दा की गई है ऐसा नहीं जानना चाहिये किन्तु वह तो एक में ही सुस्थिर होगी [अतः श्रीराधा जी के चरणों की धूलिका आश्रय लेना भगवद् धर्म से भी रहस्यमय और श्रेष्ठतम है । अतः (उस धूलि का आश्रय लेने के लिये) भगवद् धर्मों की उपेक्षा करने पर भी कोई दोष नहीं है । क्योंकि—

'वह भगवान् की रति या प्रीति से युक्त परम रहस्य भूतज्योति है ।'

'श्रीराधा वेदों, विद्वानों, यहाँ तक भगवान् के लिये भी अन्वेषण करने योग्य सत्ता रूप वैभव वाली हैं ।'

'अश्रुओं से आप्लुत मुख श्री हरि बोलते रहते हैं कि श्री राधा मेरा जीवन हैं ।'

वक्ष्यमाणत्वात् । यथा—"नेमं विरिञ्चो न भवो नो श्रीरिप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदा" दित्यत्र यशोदापेक्षया तु ब्रह्मभव-श्र्यादयो न न्यूना एवेति न दोषः अन्यापेक्षया तु कथनानर्हतैव, एवं श्रीकृष्णप्रियाचरणरजोऽपेक्षया भगवद्धर्मिभिर्न क्षुभितव्यम् । ये चैतद्भावान-भिज्ञास्तेषु किमेतादृशः संवादः कार्य्यो यथा "किं वा नस्तैः सुशास्त्रैरिति" किञ्च येन परमधर्मेण भगवान् साध्यते, स तु भ्रू विक्षेपलक्ष्मीलवक्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः संभ्रमः—इति श्रीजयदेवेन ।

अत्रैवोपक्रमे वसनाञ्चलपवनेन कृतार्थमानीति, परस्य पुरुषस्य सद्योव-शीकरणचूर्णमित्यादि श्रीकृष्णजीवातुरेव तच्चरणरेणुस्तदा तद्दास्यलाभे सति अन्यसाधनोत्तमोपेक्षायाम्—कः संकोचः । अत्र सुजनसुखार्थादिषु, इष्टप्राप्तेषु तु त्याग उक्तः, साधनवरेषु तु नैराश्यमादित एव जातम्, श्रीहिताचार्य्यस्य

रसकलश

इत्यादि सुवचन आगे कहेंगे । जैसा श्रीमद्भागवत में भी कहा है ।

ब्रह्मा, शङ्कर और प्रभु के श्रीअङ्गों के आश्रित रहने वाली श्री लक्ष्मीजी भी इस कृपा को प्राप्त नहीं कर सकीं जो कृपा श्री यशोदाजी ने विमुक्ति के दाता भगवान् से प्राप्त की" इत्यादि वचनों में यशोदाजी की अपेक्षा ब्रह्मा, शङ्कर, श्री आदि न्यून या कम हैं ही इसमें कोई दोष नहीं है, दूसरों की अपेक्षा तो उन्हें कम कहना अयोग्य ही होगा । ऐसे ही श्री कृष्णप्रिया (श्री राधाजी) की चरण धूलि की अपेक्षा से न्यून होने पर भगवद् धर्मों या भागवत धर्मों को क्षोभ नहीं होना चाहिये । यहाँ प्रश्न होता है कि जो लोग इन भावों को नहीं जानते हैं क्या उनके सामने यह संवाद (चर्चा) करनी चाहिये कि 'हमें उन श्रेष्ठ शास्त्रों से भी क्या जिन में हमारी श्री राधाजी नहीं है" फिर इन परम धर्मों से तो भगवान् प्रसन्न किये जाते हैं और वे भगवान् श्री राधाजी के भ्रू विक्षेप की शोभा के लव लेश में बिके हुए दास जैसे हो जाते हैं फिर उनके द्वारा आराधित श्री राधाजी के चरण कमलों में किसी प्रकार का सम्भ्रम कैसा ? ऐसा श्री जयदेव कवि ने भी सूचित किया है ।

यहाँ स्तोत्र के प्रारम्भ में ही जिनके वसनाञ्चल के पवन से वे अपने आपको कृतार्थ मानते हैं", जो श्री राधाजी की चरण धूलि परमपुरुष को शीघ्र ही वश में कर लेना वाला कार्मिक चूर्ण है ।' इत्यादि कथन द्वारा श्री राधाजी की चरणरेणु का श्री कृष्णजी के लिये जीवनाधायक होना कहा गया है, तब यदि उन (श्री कृष्णजी) की दासी होने का अवसर प्राप्त हो जाए तो अन्य उत्तम साधनों को उपेक्षा करने में किस बात

नित्यं पूर्वमीदृशसंस्कारत्वादिति । अथ यदर्थमेवं त्यागस्तदेव सर्वोत्कृष्टं प्रतिपादयति श्रीराधिकाचरणरेणुमिति ।

सकलानिर्वचनीयसौभाग्यश्रीयुतप्रियपरमानन्दसिद्धिरूपायाः कप्रत्ययेन परिजनविषयककृपावशगृहीतप्रादुर्भावायाः सुकुमारकिशोर्याः चरणयोः श्रीवृन्दावनपरागरंजितमृदुलस्थलीषु क्रीडतो रेणुं यो ब्रह्मरुद्रशुकेत्याधाय-मूर्द्धनीत्यादि प्रसिद्धम् । अहं तदनन्यगतिकः शरणार्हः स्मरामि—अहो किमेतद्दुस्तर्क्यप्रभावोऽस्य, स रेणुर्यदेवं तदा तस्याः श्रीमत्याः किं वच्मीत्यर्थः ।

यद्वा स्मरणं तत्तत्समयक्रीडानन्दसूचकं तदेव विशिनष्टि सहजेति अकृत्रिमानागंतुकस्येति, अद्भुतेत्याश्चर्यजनकस्य सौख्यस्य सुखशब्दप्रवृत्ति-निमित्तस्य सुखसारभूतस्येत्यर्थः । धारामित्यविच्छिन्नपरंपरां, निरवधिमिति,

रसकलश

का संकोच ? यहाँ सुजन, सुख और अर्थ आदि हैं जो प्रिय और प्राप्त हैं उनके तो त्याग का निर्देश किया गया किन्तु उत्तम साधनों की ओर से निराशा तो आरम्भ से ही है क्योंकि श्री हिताचार्य महाप्रभु के नित्य ऐसे ही संस्कार हैं । अब जिसके लिये ऐसा त्याग किया गया है उस सर्वोत्कृष्ट वस्तु का प्रतिपादन करते हैं वह है श्री राधिका-चरणरेणु ।

सभी अनिर्वचनीय सौभाग्य शोभाओं से युक्त प्रियतम (श्री श्यामसुन्दर) के लिये परम आनन्दमय सिद्धिस्वरूपा श्री राधा हैं उनको श्रीराधिका नाम से कहने में जा 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है उससे परिजन (दासीजन) के प्रति कृपा के वश होकर जिन्होंने प्रादुर्भाव या प्राकट्य को स्वीकार किया है उन सुकुमारी किशोरीजी के श्री चरणों की जो श्री चरण श्री वृन्दावन की पराग से रंजित कोमल स्थलियों में क्रीडा करते हैं उनको–धूलिका मैं स्मरण करता हूँ । जिसकी कीर्ति 'यो ब्रह्मरुद्रशुकनारद' इत्यादि और 'आधाय मूर्धनि' इत्यादि श्लोकों में कीर्तित है । मैं उनके प्रति अनन्य गति हूँ अतः शरण लेने योग्य उन्हीं श्री चरणों की धूलिका स्मरण करता हूँ । अहो ! उसका यह कैसा दुस्तर्क्य अचिन्तनीय-प्रभाव है, जब वह धूलि ऐसो है तब उन श्रीमति (राधिकाजी) के विषय में क्या कहूँ ?

अथवा स्मरण उस उस समय की क्रीडाओं के आनन्द का सूचक है, अतः वैसा ही विशेषण देते हैं सहज अद्भुत आनन्द की धारा को बरसाते हुए । सहज का अथ है अकृत्रिम या अनागन्तुक (स्वाभाविक) और अदभुत का अर्थ है आश्चर्यजनक । ऐसे सौख्य, सुख शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तभूत सुख का भी सारभूत जो सुख या आनन्द

वर्षन्तमेवेत्यचिन्त्यशक्तित्वं रेणो धारावर्षणम् एवेति निर्द्धारणे कालत्रयेऽपि शंसनीयम् ।

सौख्येति रासादौ प्रियाद्भुतनृत्यं प्रति प्रसह्य प्रियस्तत्पादरेणुं वन्दते, तदा सखीनां किंजातीयः परमानन्द उदेति । निलयनादौ चरणचिन्हेषु विह्वलो लुठीत तदा को भावो रसश्चेति सहृदयगम्य एवेति, इदमेवान्यत्राद्भुतं, यत्सकलवन्दितपदारविन्दोऽपि तच्चरणरेणुं वन्दतेऽत्र तु सहजमेव । अथवा चरणसेवकसाधकरसिकभावुकेषु सौख्यधारां वर्षन्तमेवेत्यपि स एवार्थः ।

किञ्चात्र मुक्तभक्तादिसाध्यसाधनसुखादित्यागानन्तरं सौख्यशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते, ततो नित्यविहारानन्दविलसनार्हताप्राप्तिरेवाद्भुतत्वम्, अन्यथा गणितानन्दवत् साधारण्यं स्यात्–अथवा रेणुमिति श्रीवृन्दवनरजो

रसकलश

उसकी धारा अर्थात् अखण्ड परम्परा जिसका कहीं अन्त नहीं, कोई अवधि नहीं, उसको बरसाती हुई चरण धूलि (का स्मरण करता हूं) यहाँ पर चरण धूलि की अचिन्तनीय शक्ति का निर्देश किया गया है क्यों कि धूलिका धारा बरसाना नितान्त असम्भव है (वह यहाँ पर घटित हो रहा है, यह उस धूलिका अघटितघटनापटीयान् होना है ।) 'वर्षन्तमेव'–'बरसाते हुए ही' में 'ही' का प्रयोग निर्धारण अर्थ में हैं अर्थात् यह चरण-धूलि सहज अदभुत आनन्द की धारा को बरसाती ही रहती है, तीनों कालों में यह सम्भावना की जानी चाहिये ।

यहाँ पर सौख्य कहने का तात्पर्य है कि रास आदि के समय में प्रियाजी के अदभुत नृत्य के समय प्रियतम उनकी चरणधूलि की वन्दना करते हैं, तब सखियों को किस प्रकार का (अनिर्वचनीय) परम आनन्द प्राप्त होता है ? निलयन (लुकना-छिपना) आदि क्रीडाओं के अवसर पर वे श्रीराधाजी के चरणचिन्हों पर व्याकुल होकर लोटते हैं तब वे अनिर्वचनीय भाव और रस सहृदयों के ही हृदय से आस्वादनीय हैं यही अन्यत्र रहने वाले के लिये अदभुत बात है कि सबके द्वारा जिनके चरण कमलों की वन्दना की जाती है वे (श्री श्यामसुन्दर) भी यहाँ उन (श्री राधाजी) के चरणों की धूलि की वन्दना करते हैं, किन्तु श्री वृन्दावन में रहने वालों के लिये यह बात सहज या स्वाभाविक है अतः सौख्य को सहज और अद्भुत कहा । अथवा चरणों के सेवक बने हुए साधकों-रसिकभावुकों पर सौख्य की धारा को बरसाती हुई ही चरण धूलि का स्मरण करता हूँ यहाँ पर वही सब भाव समझना चाहिये ।

और भी एक बात है कि मुक्त और भक्त आदियों के साध्य और साधन तथा सुख आदि का त्याग तो करने के अनन्तर इस सौख्य शब्द का क्या अर्थ किया जाता है (अर्थात्) अब कौन सा सुख शेष है जो इस 'सौख्य' शब्द के द्वारा कहा जा रहा है ।

राधा पदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके इति नित्यतद्विहारस्थलत्वात् किञ्च वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा, तद् द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्कराणामिति, एतद्व्रजःप्रभावेण पूर्वोक्तसहजाद्भुतसौख्यधाराप्राप्तिरेवावश्यं भाविन्येवेति—अत्र चरणयोरेव तादात्विकरेणुस्मरणोपलक्षणेन चरणशोभामञ्जीरादियावकादिशोभापि स्मर्यमाणैवेति ज्ञेयम् ॥३२॥

तदेवं चरणस्मरणे पुनरप्यावेशेन क्रमतो नखचन्द्रादारभ्योत्तरांगभावनापरंपरायां क्रियमाणायां प्रियतमपरमप्रेमास्पदतया वक्षोजावेव स्मृत्वा नोर्ध्वं गन्तुं शक्तं, तत्रैव लग्नं मनः संबोध्य वदति साध्वत्रैव ते परमस्मृतिनिष्ठा, तदेवंस्मरति ।

वृन्दाटवीप्रकटमन्मथकोटिमूर्त्तेः,
कस्यापि गोकुलकिशोरनिशाकरस्य ॥

रसकलश

तो इसका यह उत्तर है कि यह सौख्य या सुख सहज होता हुआ भी अद्भुत है। उन सुखों का त्याग करने के बाद नित्य विहार के आनन्द के विलसन की योग्यता प्राप्त करना इस सौख्य का अद्भुत होना है, नहीं तो पहिले गिनाए गये आनन्दों के समान यह सुख का सार सौख्य भी साधारण आनन्द ही रह जायेगा। अथवा 'रेणु' यहाँ श्री वृन्दावन की ही रज है क्योंकि राधाजी के चरण चिन्हों से सुशोभित मधुर स्थली इत्यादि के अनुसार श्री वृन्दावन उनके नित्त विहार का स्थल है। तथा 'परम रस रूपी सुधा माधुरी के भार को वहन करने वाली इस वृन्दारण्य की स्थली ने श्री राधिकाजी की किङ्करियों (दासियों) को उस अनिर्वचनीय सम्पूर्ण स्वादनीय युगल (प्रिया-प्रियतम) का दान दिया है।' इस वृन्दावन रज के प्रभाव से पूर्वोक्त सहज अदभुत सौख्य की धारा की प्राप्ति अवश्य होने वाली ही है। यहाँ श्री चरणों की उस समय की रेणु के स्मरण के उपलक्षण (सम्बन्ध) से चरणों की शोभा और उनमें मञ्जीर (नूपुर) आदि तथा यावक (अलक्तकरस) आदि की शोभा भी स्मरण की जा रही है ऐसा जानना चाहिये ॥३२॥

इस प्रकार चरणों के स्मरण में फिर आवेश से क्रमशः नखचन्द्र से लेकर मूर्धा तक की भावना की परम्परा करते करते प्रियतम के परम प्रेमास्पद होने के कारण वक्षोजों का ही स्मरण करके उनसे ऊपर न जा सकते हुए, उनमें ही लगे हुए मन को सम्बोधन करके कहते हैं।

हे मेरे मन, तेरी श्री वृन्दावन में ही जो स्मरण निष्ठा है वह बहुत अच्छी है, अच्छा तो तू ऐसे स्मरण कर।

सर्वस्वसम्पुटमिव स्तनशातकुम्भ-
कुम्भद्वयं स्मर मनो वृषभानुपुत्र्याः ॥३३॥

हे मनः, मन् ज्ञाने, यदि त्वं ज्ञानरूपमसि तदा ते ज्ञानार्थस्यसाफल्यं वच्मीत्यर्थः। वृषभानुपुत्र्या बाल्यत एव लाडलमूर्त्तेस्तत्कुलमणिरूपनिधेः, पुत्रीति यौगिकार्थेन व्रजराज्ञीकृतगर्भसम्बन्धप्रतिज्ञासंशयसंकटतारकाया इति क्रमतः प्राप्तनवकैशोरश्रियः, नववरवर्णिन्याः स्तनावेव कनककुम्भद्वयं स्मरेति किमाधेयं तत्र निहितं तदेव विशिनष्टि।

वृन्दाटव्यां प्रकटो न तु विलीनो, यद्वास्यामेवैवं प्रकटोऽन्यत्रानधिकारित्वात्तादृशत्वे गोप्य इति। 'साक्षान्मन्मथमन्मथः, लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धमित्यादिभ्यो मन्मथानां कोटेः अनन्तस्यैकीभवनमेव मूर्त्तिर्यस्य, कंदर्प-

रसकलश

'हे मेरे मन, वृन्दावन में है प्रकट कोटि मन्मथों जैसी (सुन्दर) मूर्ति जिसकी ऐसे किसी (अनिर्वचनीय) गोकुल किशोर चन्द्र के सर्वस्व सम्पुट जैसे श्री वृषभानु नन्दिनी के स्तनरूपी सुवर्णमय कलश युगल का तुम स्मरण करो ॥३३॥'

ऐसा मन कहने का तात्पर्य है कि 'मन्' धातु ज्ञान अर्थ में है अतः यदि तू ज्ञान रूप है तो तेरे ज्ञान अर्थ की सफलता के लिये मैं कहता हूँ। वृषभानुपुत्री जो बचपन से ही लाडली हैं, उनके कुल की मणि रूप निधि हैं। 'पुत्री' इस शब्द के यौगिक अर्थ से व्रजरानी श्री कीर्तिदाजी के गर्भ के सम्बन्ध से अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने वाली हैं तथा संशयों और शङ्काओं का निवारण करने वाली हैं और क्रम क्रम से उन्होंने नवीन किशोरावस्था की शोभा प्राप्त की है, नई वरवर्णिनी हैं। उनके दोनों स्तन हो दो सुवर्णकलश हैं, हे मन, तू उन दोनों का स्मरण कर। उन सुवर्ण कलशों में क्या आधेय (धारणा योग्य वस्तु) निहित है? यह बताने के लिये उन दोनों का ही विशेषण बताते हैं।

वृन्दावन में प्रकट हैं छिपे हुए नहीं हैं। अथवा केवल वृन्दावन में स्थित हैं अन्यत्र अधिकारियों के अभाव से वैसी वस्तु न होने के कारण उनको गोपनीय बताया गया है। साक्षात् मन्मथ के भी मन्मथ हैं, 'लावण्यसार हैं असम अनूर्ध्व हैं अर्थात् उनके समान ही जब कोई नहीं है तब उन से बढ़ कर कोई कैसे हो सकता है और वे अनन्य सिद्ध या स्वतः प्रमाण हैं। इत्यादि वचनों से कोटि या अनन्त मन्मथों का

कोटिलावण्यस्येत्यर्थः । आरूढस्वभावेन दृढप्रेम्णा विशेषमाहगो । कुलेति—

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्"

इत्यादि प्रख्यातमहिम्नो धाम्नः सम्बन्धी किशोरो नन्दयुवराजो बाल्याद्यवस्थानां धर्मी नित्यकिशोर इति । निशाकरेति—आह्लादप्रकाशकस्तस्येति । यद्वा गोकुलकिशोरेषु श्रीदामसुबलार्जुनस्तोककृष्णादिपरमरमणीयनर्मसखिषु, उडुगणेषु चन्द्रवत् राजमानस्येत्यर्थः । यद्वा गवां कुलानि यस्य नन्दस्येति, तदपि कस्यापीति निश्चितेऽपि सम्भावनोक्तिः प्रतिक्षणविलक्षणरूपमाधुर्यादिगुणसूचिनी अज्ञातस्वरूपवैभवस्य न जानेऽत्रैव गोकुलेवाऽनिर्वचनीयस्थलेऽस्य हृदयनित्यस्थितिरिति तदेव रहस्यं गोकुलोदि तस्य वृन्दावननिकुञ्जस्थायिन इत्यर्थः । वक्ष्यतीदमेव 'श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति, हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः । किन्तु प्रेमैकसीमां परमरससुधासिन्धुसारैरगाधा श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ।।" इति

रसकलश

एकीभाव ही जिनकी मूर्ति है अर्थात् कोटि कन्दर्पों के समान जिनका लावण्य है। आरूढ स्वभाव वाले दृढ प्रेम से इन विशेषणों से विशिष्ट विशेष्य का निर्देश करते हैं 'गोकुल किशोर निशाकर' से 'वह बड़ा भारी सौभाग्य है कि श्री वृन्दावन में और गोकुल में भी किसी प्रकार का भी जन्म प्राप्त हो जाए' जहाँ पर जन्म प्राप्त होने से किसी परम सुख स्वरूपा (श्री राधाजी) की चरणरेणु से अभिषेक प्राप्त होता है।' इत्यादि सुवचनों में जिसकी महिमा विख्यात है। उस धाम के किशोर, श्री नन्दबाबा के युवराज, बाल्यादि अवस्थाओं के धर्मी नित्य किशोरों श्रीदामा, सुबल अर्जुन, स्तोककृष्ण आदि परम रमणीय नर्म सखाओं में तारक गणों में चन्द्रमा के समान विराजमान (श्रीकृष्ण) के। अथवा गौओं के कुल (समूह) जिनके पास हैं वे गोकुल हैं अर्थात् श्रीनन्द बाबा के चन्द्र जैसे आल्हादक और प्रकाशक किशोर के। उस पर भी 'कस्यापि' अर्थात् किसी गोकुल किशोर चन्द्र के 'कहने का यह तात्पर्य है कि यद्यपि गोकुल किशोर चन्द्र निश्चित हैं तो भी उनके विषय में सम्भावना (अनिश्चय) की उक्ति प्रतिक्षण विलक्षण रूप और माधुर्य आदि गुणों में रुचि रखने वाले धाम में उनके अज्ञातरूप वैभव की सूचक है। मैं नहीं जानता कि इसी गोकुल में या किसी अन्य अनिर्वचनीय स्थल में इसके हृदय की नित्य स्थिति है अतः वही रहस्य गोकुल में उत्पन्न होने वाले और वृन्दावन निकुञ्ज में नित्य स्थायी रूप से रहने वाले (गोकुल-किशोर चन्द्र) के। यही बात आगे कहेंगे भी—'श्रीदामा आदि मित्रों से नहीं मिलते, माता पिता के स्नेह की वृद्धि का भी परिहार करते हैं; किन्तु श्रीराधा को ही प्रेम की एकमात्र सीमा, परम रसरूपी सुधा के सिन्धु के सारों से अगाधा जानते हुए मधुपति (श्याम सुन्दर) निरन्तर कुञ्जवीथी की ही उपासना करते हैं।'

निशाकरेति । राधा दास्येत्यादिप्रोक्तपूर्णकलाप्रियानिष्ठचन्द्रस्य सर्वस्वममृतं तदुपादानधर्मत्वात्तस्याह्लादहार्दस्य संपुटमिव निधानकुम्भत्वं पूर्वमुक्तमेव दुर्लभनिधेरिव कंचुक्यादिसंवरणम् इवेति न केवलं बाह्याभ्यन्तरभेदवत् संपुटं किन्तु रसं फलमितिवत् सर्वं सर्वस्वमेवेति सूचितम् ।

अन्यच्च मन्मथलावण्येत्याद्यासज्यधर्मः स तु अन्येषां व्रजनागरीनराणामेवमेव परन्तु तस्याप्यासक्तत्वं येन स्तनद्वयेन कृतं, एवं निशाकरेति योऽन्येषां चन्द्रः सोऽत्र चकोरवदासक्तो जात इत्युपमाद्वयेन मोहनाह्लादधर्मयोस्तदुपादानीभूतयोर्निधानार्थं कुम्भद्वयमेवार्हम्—एकवचनेन समानधर्मत्वम्—लावण्यमोहनयोरपि मिश्रणं न पार्थक्यञ्च संपुटेन चिन्तामण्यादिवदचिन्त्यशक्तिमय-

रसकलश

निशाकर या चन्द्र कहने का यह तात्पर्य है कि 'राधादास्यमपास्य' इत्यादि श्लोक में कही गई जो पूर्णकला स्वरूप प्रिया उनमें नित्य निष्ठा रखने वाले 'चन्द्र' यह गोकुल किशोर हैं इनके सर्वस्व सम्पुट अर्थात् चन्द्र का सर्वस्व अमृत होता है ऐसे ही श्रीकृष्ण का सर्वस्व प्रेम है। उस प्रेम के उपादान धर्म वाले होने के कारण उनके आह्लाद और हार्दिक भावों के सम्पुट जैसे, ये सुवर्णमय कलश हैं, इनका निधि रखने योग्य कलश होना पहले ही कहा जा चुका हैं। जैसे कोई दुर्लभ निधि को छिपाता है ऐसे ही इन्हें भी कुञ्चुकी आदि से छिपाया जाता है।' सर्वस्वसम्पुटमिव, सर्वस्व सम्पुट जैसे में जैसे शब्द का यह भाव है कि यह केवल बाह्य और आन्तरिक भेद वाले सम्पुट नहीं हैं अपितु 'पिबत भागवत' रस मालयम्' के रसरूप फल के समान यहाँ सब कुछ सर्वस्व ही है यह सूचित किया है।

एक और बात है कि श्यामसुन्दर के मन्मथ लावण्य-काम से अधिक लावण्य आदि धर्म तो आसज्य (प्रीति के विषय) के होने चाहियें नकि आसक्त थे, और यहाँ आसज्या प्रियाजी हैं तथा आसक्त प्रियतम है, किन्तु वे भी दूसरी व्रज नागरियों और व्रज वासी नरों के लिये आसज्य ही हैं। तथापि यहाँ उनको भी प्रियाजी के जिस स्तन द्वयने आसक्त बना दिया है। ऐसे ही निशाकर शब्द का भी यह तात्पर्य है कि जो श्यामसुन्दर औरों के लिये चन्द्र के समान आसज्य हैं वे भी यहाँ चकोर के समान आसक्त हैं। इस प्रकार इन दो उपमाओं द्वारा मोहन और आल्हादन के धर्मों के उपादान भूत निधान को रखने योग्य दो कलशों का होना उचित ही है। 'कुम्भद्वय' शब्द में एक वचन द्वारा दोनों की परस्पर समान धर्मता का निरूपण होता है, लावण्य और मोहन

सर्वकामपूरकानन्दसिद्धिजनकरत्नानां गोपनीयसर्वादृश्याधृतिपात्रत्वं स्वयं रहसि भूयोभूयः शङ्कितवत् तमुद्घाट्य निरीक्षणविलसनादि चोक्तं गृहिण्याः सर्वस्वधुरीणात्वं च सूचितम्—कोटीति। न केवलमैश्वर्यादेव किन्तु 'विधत्स्व-कर्णायुतमेष मे वर' इतिवदत्यन्ताभिलाषमयमूर्त्तित्वं कामोऽभिलाषस्तर्षा चेति मन्मथशब्देनाभिलाषार्थश्च अन्येषामभिलाषजनकत्वात् स्वीयायां जाताभिला षित्वाच्चेति भेदः। अनेनासक्तधर्मो ज्ञेयः।

निशां करोतीति गूढार्थेन प्रियाभिसरणकालो दर्शितः, नित्यविहारित्वेऽपि लोकप्रसिद्धिमाश्रित्योक्तम्। अर्थाद्यदातदा रहः कुञ्जादावेव स्थिति-प्रियत्वात्तमोविलासित्वात् सखीभिर्निशा करेति नाम रूकेतितम्। प्रियानुगामित्वातिशयाद् गोकुलकिशोरेति च हास्ये गवां कुले किशोरस्य मत्तवर्ष्मण इत्यर्थः। किशोरेति कुम्भद्वयोक्तौ वयःकैशोरसाम्यमुभयोरुक्तम्, शातकुम्भे-तिकनकवद् गौरत्वम्।

रसकलश

का भी आपस में मिश्रण है, पृथक् पृथक् रहना नहीं। संपुट के द्वारा चिन्तामणि के समान अचिन्त्य शक्तिमय समस्त कामनाओं के पूरक और आनन्द की सिद्धि के जनक रत्नों की गोपनीयता, सब के लिये अदृश्यता (देखना सम्भव न होना) और अधृति (धारणा करना सम्भव न होना) की पात्रता, तथा स्वयं एकान्त में बारंबार शङ्कित सा होकर उसे खोल खोल कर देखना, उससे खेलना आदि भी कहा गया है। गृहिणी का (पति के) उस सर्वस्व को धारणा करना भी सूचित होता है। मन्मथ कोटि में कोटि शब्द का तात्पर्य केवल श्याम सुन्दर के ऐश्वर्य का सूचक नहीं है अपितु मेरे दस सहस्र कान बना दो बस मैं यही वरदान चाहता हूँ, इस महाराज पृथु के वचन के समान श्यामसुन्दर की अत्यन्त अभिलाषाओं से परिपूर्ण मूर्ति होने को भी सूचित करता है। जैसे काम शब्द का अर्थ अभिलाषा हैं ऐसे ही अभिलाषा के लिये मन्मथ शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है जो लाक्षणिक होगा। श्यामसुन्दर दूसरों के मन में अपने प्रति अभिलाषा उत्पन्न कर देते हैं और उनकी स्वय स्वीया श्रीराधा में नित्य अभिलाषा उद्भूत रहती है यह अन्तर है। इससे श्याम सुन्दर का आसक्त धर्म जानना चाहिये।

निशाकर का अर्थ निशा या रात्रि को करने वाला भी है, इस गूढ अर्थ से प्रिया जी के अभिसार का काल भी दिखा दिया गया है। यद्यपि श्याम श्यामा नित्य बिहारी है तथापि यह अभिसार काल लोक प्रसिद्धि का आश्रय लेकर कहा गया है। इसका भाव यह है कि जब तब एकान्त कुञ्ज आदि में ही रहना श्याम सुन्दर को प्रिय है इस प्रकार कुञ्ज के सहज अन्धकार में विलासकौतुकी होने के कारण सखियों ने उनका सांकेतिक नाम निशाकर रख दिया है। और प्रिया जी के निरन्तर अनुगामी होने के कारण इन का नाम गोकुलकिशोर रखा गया है। हास परिहास में 'गौओं के समूह में

अन्योऽपि श्लेषार्थश्चिन्त्यः, शर्मशातसुखानि चेति सुखकुम्भमित्यर्थः, यद्वा सुखस्य कुं भूमिमुत्पत्तिस्थानं, प्रियांगं तं प्रतिभातीति-उत्प्रेक्षाद्योतनम्। सर्वस्वमित्यत्र न रिक्तघटवत्तेन प्रियसर्वस्वेन पश्चात् संभृतं किञ्च पूर्वमेव रससागरसारमूर्ते रसमयान्येवाङ्गानीति ततो बहुयत्नतोऽनुनयेन मनोऽनुवृत्त्या कृपाशंसनेन प्रियो याचते। पश्चात् प्रसादेनैव लभ्यते—इति प्रियैवास्य सर्वस्य धनिका, प्रियस्य तु दास्यप्रसादेन जीवनधनं जीवनं तदाश्रयं विना स्थातुमशक्तत्वमत एव सर्वस्वमननम्।

प्रियस्य प्रियायाश्च परस्परमभिन्नत्वेऽपि वाक्यविलासार्थमेतत् न च सर्वस्वभेदः। यथा 'जोई जोई प्यारो करै' इत्यत्र। "मेरे तन मन प्राणहूं ते प्रियतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण प्रीतम मो सों हारे" इत्यादि। अनयाऽपि

रसकलश

किशोर मत्त शरीर' होने से तात्पर्य रहता है। श्याम सुन्दर को किशोर और श्रीप्रिया जी के कुम्भद्वय कह कर दोनों की किशोरावस्था की समानता कही गई है, शातकुम्भ (स्वर्णमय) कुम्भद्वय कहकर प्रिया जी को सुवर्ण के समान गौरी बताया गया है।

यहाँ पर एक और श्लेषार्थ भी समझना चाहिये—'शर्म, शात और सुख' यह तीनों नाम सुख के हैं अतः शातकुम्भ का अर्थ सुखकुम्भ हुआ। अथवा सुख का कुम्भ अर्थात् सुख का उत्पत्ति स्थान प्रिया जी में ही प्रतीत होता है ऐसा उत्प्रेक्षा द्वारा द्योतित किया गया है। 'सर्वस्व सम्पुट जैसा' कहने से शून्य घट जैसा नहीं जो बाद में प्रिय के सर्वस्व से भर दिया गया है यह भी सूचित होता है। अपितु पहले ही रस के सागर के सार से मूर्ति घटित होने के कारण प्रिया जी के सभी अङ्ग रसमय हैं तभी तो अनेक प्रकार के अनुनय मनोऽनुवर्तन (मन के अनुकूल चलना) कृपा की आशंसा करना आदि प्रयत्नों से प्रियतम उनकी याचना करते हैं। और बाद में उनकी प्रसन्नता या कृपा से ही, उन्हें प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रिया ही इस समस्त धन की धनिक हैं प्रिय का तो दास्यभाव के प्रसाद से प्रिया जी ही जीवन धन और जीवन हैं, क्योंकि उनके आश्रय के बिना प्रिय रह नहीं सकते। अतएव उन्हीं को वे अपना सर्वस्व मानते हैं।

प्रिया प्रियतम के परस्पर अभिन्न होते हुए भी वाक्य-विलास के लिये यह सभी व्याख्याएँ कही गई हैं वास्तव में दोनों के सर्वस्व में कोई भेद नहीं है। जैसा कि— 'जोई जोई प्यारो करै' इत्यादि पद के 'मेरे तो तन मन प्राणहू तें प्रियतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण प्रीतम मो सों हारे, इत्यादि अंशों में कहा गया है। इसके द्वारा भी उनके

तत्सम्बन्ध्येवेदं कुम्भद्वयमिति मनसि निश्चितम् । अनेनापि ममत्वाधिक्यम् तत्रैव कृतम्, अतः सम्बन्धे षष्ठी । मन्मथचन्द्रोपमाद्वयेन लोके प्रशंसाधिक्यम् प्रियस्य तत्सर्वस्वत्वे परमाधिक्यञ्च लावण्यमोहनाभिलाषाह्लादजीवातुपीयूषादिधर्माः स्वत एवायाताः प्रियपोषका इति ।।३३।।

संपुटकुम्भोपमानयोः सरसतामुक्त्वा कमलोपमाया विलक्षणसरसतामाह ।

सान्द्रानुरागरससारसरःसरोजं
किं वा द्विधा मुकुलितं मुखचन्द्रभासा ।
तन्नूतनस्तनयुगं वृषभनुजायाः
स्वानन्दसीधुमकरन्दघनं स्मरामि।।३४।।

रसकलश

सम्बन्धी ही यह कलशद्वय हैं ऐसा मन में निश्चय किया गया है। इससे भी ममता की अधिकता उन्हीं में ही है इसीलिए यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है। श्याम सुन्दर को मन्मथ और चन्द्र की उपमा देने से लोक में अधिक प्रशंसा प्रकट होती है। और प्रिय का सर्वस्व होने पर इनकी परम अधिक प्रशंसा प्रकट होती है और इससे लावण्य, मोहन, अभिलाषा, आह्लाद सभी को जीवित करने वाले अमृत आदि के धर्म जो प्रिय के पोषक हैं वे सब यहाँ स्वयं प्रकट हो जाते हैं ।।३३।।

सम्पुट और कुम्भ इन दोनों उपमानों की सरसता का वर्णन करके अब कमल की उपमा की विलक्षण सरसता का प्रतिपादन करते हैं—

"सान्द्र (निबिड) अनुराग और रस के सार रूप सरोवर का कमल हो क्या मुखचन्द्र की कान्ति से दो भागों में मुकुलित (संकुचित होकर कलिकाकार) हो गया है। श्री वृषभानुनन्दिनी के स्वानन्द रूपी सीधु (मद्य) मकरन्द से घनीभूत उस नूतन स्तनयुगल का मैं स्मरण करती हूँ ।।३४।।

श्री वृषभानुनन्दिनी जो परिपूर्ण वात्सल्य रस से परिपोषित हुई हैं अवस्था के क्रम से किशोरता के आने पर युवराज के समान उस उप भाव साम्राज्य पर जिनका अभिषेक किया गया गया है, जिनकी अङ्ग कान्ति अतिभास्वर है इस बात को तो मेरा हृदय ही जानता है कि क्रम से रूप और छवि के घनीभाव के कारण उनके श्री अङ्गों

वृषभानुजायाः पूर्णवात्सल्यरसपोषितायाः वयःक्रमेण कैशोरागमे युवराजवत् तत्तद्भावसाम्राज्याभिषिक्तायाः भास्वराङ्गच्छटायास्तदिति मद्हृदयमेव जानाति, यत् क्रमतो रूपेण छव्या च घनीभूततयासौष्ठवं नान्यत् किंचाहं बाल्यत एव तत्तत्क्रीडोपयोगसंगिनी कथं न जानामीति नूतनं नवोद्गतं स्तनयुगं स्मरामीति पूर्वानुभूतमेव स्मर्यते अन्यथा कथमननुभूते मनोगतिरिति हितान्तरङ्गसखीत्वेन वक्ति। स्मरणे यादृग्भाव उदितस्तादृशत्वेन विशिनष्टि।

अहो स्तनद्वयं सरोजत्वेनोपमीयते तदत्रैवंरीत्या सरः स्यात्तदा घटेत सान्द्रः स घनो दृढोऽविरलो योऽनुरागः प्रेमरसः आनन्दस्तयोरपि सारः—अबाधितरसो दध्नो घृतवत् तस्य तादृशं यदि सरः स्यात्तदा सरोजत्वमुपमानीक्रियतेऽतो रूढमपि यौगिकं कृत्वा निरुक्तं, अत्रैतादृशसरसः सरोजं नान्यत् इत्यन्यसरोव्यवच्छेदार्थम् एकवचनेनाद्वितीयत्वम् तदा स्वयमपि द्वयं कथं प्रतायते, तत्राह--किंवा मुखचन्द्रभासा द्विधा मुकुलितम्, एकं यथार्थंरविबन्धुत्वेनविकसितमपि समानसूत्रनिपातेन मध्ये द्विधा कुड्मलीभूतम्। अनेन द्वयो

रसकल

में शोभनता ही है और कुछ नहीं। फिर मैं तो बचपन से ही उस उस क्रीडा के समय की सङ्गिनी हूँ भला मैं क्यों न जानूँगी ? मैं उनके नये-नये उद्भूत स्तन युगल का स्मरण करती हूँ इस कथन द्वारा पहिले अनुभव की हुई वस्तु का हो स्मरण किया गया है। अन्यथा जिसका अनुभव नहीं किया, उस तक मन की गति कैसे हो सकती है ? अन्तरङ्ग होने के कारण श्री हित सखो उस स्मरण का वर्णन करती हैं और स्मरण के समय जैसा भाव उदय हुआ वैसे ही विशेषण देती हैं—

अहो यदि (श्री राधा के) स्तन युगल की कमल से समानता की जाए, तो वहाँ ऐसा सरोवर होगा तभी उपमा (समानता) ठीक बैठेगी। सान्द्र अर्थात् धना (दृढ और अविरल) अनुराग अर्थात् प्रेम और रस अर्थात् आनन्द उन दोनों का भी सार—अखण्डित और अबाधित रस जैसे दही का सार घी होता है ऐसा) तत्त्व. उसका यदि सरोवर हो और उस सरोवर में कोई कमल लगे तो उस कमल को इस स्तनयुगल का उपमान बनाया जा सकता है। यहाँ सरोज शब्द कमल अर्थ में रूढ है तो भी उसका (सरोवर में उत्पन्न होने वाला यह) यौगिक अर्थ लिया गया है, ऐसे सरोवर का ही सरोज हो अन्य सरोवर का नहीं ? यह अन्य सरोवर की निवृत्ति के लिये ही ऐसा कहा गया है। 'सरोजम्' में एक वचन का प्रयोग उसकी अद्वितीयता बताने के लिये है। तब प्रश्न होना है कि यदि एक कमल है तो वह दो स्तनों के रूप में क्यों दिखाई देता है तो उस पर कहते हैं कि क्या मुख चन्द्र की कान्ति पड़ने से वह एक ही कमल दो भागों में मुकुलित हो गया है। एक ही कमल यथार्थ में रविबन्धु होने के कारण खिला हुआ था

नैरन्तर्य्यम्–उक्तं, नूतनेन कुड्मलत्वं दृढमृदुसुजातत्वं चोक्तम्। अनुराग-रसोल्लासप्रकृतिकत्वेन विकाससत्वरतैव नियता, परन्तु मुखचन्द्रेति लज्जानुभावेन मुकुलितमेत्र स्थितम् भासेति नीचीनप्रसरच्छटया मुखस्य नम्रत्वं लज्जापि रसोल्लासेनैव ज्ञेया।

प्रियामूर्त्तेः सान्द्रानुरागरससारसरस्त्वं, तज्जन्यत्वादेतयोः सरोजत्वं तादृशमेवेति मकरन्दमाह स्वानन्दो निजानन्दः—असाधारण इत्यर्थः। यद्वा स्वीयस्य प्रियस्यानन्द आलिंगनस्पर्शजो वा निजाभिलाषेण प्रसादेन च स्वस्य आनन्दस्तस्य सिन्धुरचिन्त्यशक्तितया यत्रान्तर्भूयते तादृशो मकरन्दः पुष्परसः सुगन्धसुधासुस्वादामृतद्रववत्तस्य घनवद् वर्षिष्ठं सखीनां नयन-क्षेत्रेषु रूपसौभाग्यसमृद्धिदर्शनदानेन सर्वाङ्गानन्दसिन्धोर्मकरन्दः पुष्परसवत्

रसकलस

किन्तु उस पर दो समान भागों के ठीक मध्य में मुखचन्द्र की कान्ति पड़ने से वह दो मुकुलों या कलियों के रूप में संकुचित हो गया है। इससे इन दोनों के बीच में कोई अवकाश नहीं है वे निरन्तर हैं यह भी कहा गया। नूतन स्तन युग नूतन कुड्मल हैं ऐसा कहने से कुड्मलों की दृढ़ता, मृदुता और सुजातता (सुडौलपन) भी स्तन युगल में वर्णित हो जाता है। अनुराग और रस के उल्लास की प्रकृति होने से श्रीराधा विकास रूप सत्त्व में निरत ही हैं यह निश्चित है। परन्तु मुख चन्द्र में अति लज्जा के अनुभाव (नत मुखी होने) से इस सरोज में मुकुलित अवस्था ही रही। मुखचन्द्रभासा में 'मुख चन्द्र की भास या कान्ति से' अर्थात् नीचे की ओर फैलती हुई छटा से मुख का नत होना और मुख के नत होने से रस के उल्लास के कारण ही लज्जा भी जाननी चाहिये।

श्रीप्रिया जी की मूर्ति में घन अनुराग और रस के सार का सरोवर होना, और उनमें उद्भूत होने के कारण स्तन युग का सरोज होना वैसा ही है। अब इस सरोज का मकरन्द बताते हैं—'स्वानन्द' या निजानन्द अर्थात् एक असाधारण आनन्द। अथवा स्वीय अपने प्रियतम का आनन्द जो उनके आलिङ्गन के स्पर्श से उत्पन्न हुआ है, अथवा अपनी अभिलाषा और प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ है। अपने आनन्द का सिन्धु या सागर अचिन्त्य शक्ति के कारण जिसमें छिपा हुआ है ऐसे मकरन्द या पुष्परस सुगन्धित, सुस्वादु अमृतद्रव जैसे उस मकरन्द के मेघ जैसे वर्षा करने वाले, सखियों के नेत्र रूपी क्षत्रों में रूप सौभाग्य और समृद्धि का दर्शन देने पर समस्त अङ्गों के आनन्द-सिन्धु का मकरन्द पुष्परस जैसा सारभूत अमृत जो समुद्र मन्थन से प्रकट हुआ सा है।

सारभूतममृतम् मथनोद्भूतवत्, सीधुपाठे आसवार्थेनयोर्दर्शऽनस्पर्शनान्माद-कतोज्जृम्भते। मकरन्देन सखीनां च यथार्हंमधुपत्वमागतम्—अथवा मक-रन्दो घनीभूतो यत्रेति द्रवत्वस्तुतिशङ्कानिरासार्थम् अत्र स्तनयोर्दृढत्वकथन-मेव तात्पर्यम्।

अन्यच्च अनुरागो भाव आसक्तधर्मः, रस आसज्यधर्मः, दम्पत्योः समाना-रागनुसत्वेऽपि तत्प्रकृतिकत्वेपि च प्रियायां मुख्यो रसः प्रियेऽनुरागश्च तदप्य-त्र प्रतिमुकुरवत्तन्मयतयानुरागरसयोर्विषयाश्रयता प्रियायामेवोक्ता—अतो धर्मद्वयापेक्षया स्तनद्वयमेव जातमित्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः। अत्र श्रीहितोक्तौ रस एव तात्पर्यम्, नोपमालंकृतिकाव्यत्वे। किञ्च भावनायां विचार्य्यमाणायां वा रहः समक्षं तन्मयतया स्वदृष्ट्या वाकृतिसौष्ठवं यादृङ्मनस्यागतं तदेव सारूप्याकृति कमलफलादिनाम्नोक्तम्—तदनु काव्याद्यपि सिद्धयेत्, न प्रयत्नो यथा महतां वाचमर्थोऽनुधावति, अन्येषामर्थं वागनुधावति—इत्येव भेदः। अत्र प्रेमावेशाद्—शब्दार्थादिविस्मृतिरेव शोभनकाव्यत्वं तदेव रस

रसकलश

यदि सिन्धु के स्थान पर सीधु पाठ हो तो उसका अर्थ आसव या मद्य होने से इनके दर्शन स्पर्शन से मादकता उल्लसित होती है। मकरन्द से प्रियतम और सखीमण्डल को यथायोग्य मधुपता और मधुपीत्व प्राप्त हो जायेगा। अथवा मकरन्द घनीभूत है यहाँ पर यह विग्रह मकरन्द के द्रव रूप से बहने की शङ्का का निराकरण करने के लिए होगा। यहाँ स्तनों की दृढता कहने में तात्पर्य है।

एक बात और भी है अनुराग नाम भाव का है जो आसक्त का धर्म है और रस आसज्य का धर्म है। प्रिया प्रियतम में अनुराग और रस की समानता होने पर भी और दोनों के अनुरागप्रकृति तथा रसप्रकृति होने पर भी प्रियाजी में मुख्य रस है तथा प्रियतम में मुख्य अनुराग है। तो भी यहाँ पर दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब की भाँति तन्मयता के कारण अनुराग और रस का विषय और आश्रय दोनों का होना प्रियाजी में ही कहा गया है। अतः दोनों धर्मों की अपेक्षा से ही दो स्तन उद्भूत हो गये हैं यह उत्प्रेक्षा से गर्भित अर्थ है। यहां श्रीहितसखी की उक्ति में रस में ही तात्पर्य है, उपमालङ्कार युक्त काव्य में तात्पर्य नहीं है। ऐसे ही भावना का विचार करने पर अथवा एकान्त में या सामने तन्मयता के कारण स्वयं देखी, अथवा जैसा आकृति का सौष्ठव (स्वरूप सौन्दर्य,) मन में आया, वही समानरूपता और समान आकृति के कारण कमल फल आदि नामों से कह दिया गया है। उसके बाद उपमालङ्कार युक्त काव्य आदि का होना भी सिद्ध हो सकता है किन्तु उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं, जैसा कि कहा भी है कि 'महापुरुषों की वाणी के पीछे अर्थ अनुधावन (गमन) किया करता है। औरों की वाणी अर्थ के पीछे दौड़ा करती है।' बस यही भेद है। यहाँ प्रेम के आवेश के कारण शब्द अर्थ आदि की विस्मृति हो जाना ही काव्य सौन्दर्य समझा जाता है, यही

इति तदा किमु वक्तव्यम् एवमन्यत्रापि काव्यवैलक्षण्यं ज्ञेयम् ।।३४।।

तयोरेव पुनः कुड्मलफलोपमानेन क्रीडाकालिकस्वरूपमाह—

क्रीडासरःकनकपङ्कजकुड्मलाय

स्वानन्दपूर्णरसकल्पतरोः फलाय ।

तस्मै नमो भुवनमोहनमोहनाय,

श्रीराधिके तव नवस्तनमण्डलाय ।।३५।।

हे श्रीराधिके परमप्रियसौभाग्यश्रीयुते सकलसंसिद्धिरूपनाम्नि तव सप्रियसखीविषयकप्रसादोन्मुखायाः, तस्मै प्रसिद्धमहिम्ने, अभूतोपमाय उक्ताय वा उच्यमानलक्षणाय, नवौ तस्यास्तस्य च यथार्होत्सुक्योदयहेतू नवकैशोरकभरत्वात् प्रथमतः अपूर्वानन्ददत्वाच्च नवीनौ यद्वा सदैव क्षणशो नवनवानन्दतया नवत्वेनैव विभाव्यमानौ स्तनौ तयोर्मण्डलाय वर्तुलाकाराय नम इति नैतादृशस्वरूपं दृष्टं श्रुतमस्तीति धन्या त्वमप्येतन्मण्डलेश्वरी यद्भुवनमोहनचक्रवर्तिनमपि मोहयतीति सख्यात्सवितस्ति नमनमपि लभ्यते । तदेव विवृणोति ।

रसकलश

तो रस का प्रभाव है। तब इस स्तोत्र के लिये क्या कहा जाए । ऐसो ही अन्यत्र भी अद्भुतकाव्यता समझ लेनी चाहिये ।३४।

फिर उन दोनों (स्तन कलशों) के कुड्मल और फल उपमान से क्रीडा काल के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

'हे श्रीराधिके, परम प्रिय सौभाग्य और श्री से सम्पन्न, समस्त संसिद्धि स्वरूप नाम वाली, प्रियतम सहित सखीजन के प्रति प्रसादोन्मुखी (कृपा करने के लिये उद्यत) तुम्हारे उन प्रसिद्ध महिमाशाली, अद्भुत उपमा वाले कहे गये और कहे जाने वाले लक्षणों वाले नए प्रिया और प्रियतम की यथायोग्य उत्सुकता को उत्पन्न करने के कारण भूत, नई किशोरावस्थाके अतिशय से और प्रारम्भ से ही अपूर्व आनन्द देने वाले होने से नवीन, अथवा सदा ही क्षण-क्षण करके नवीन-नवीन आनन्द देने के कारण नए ही नए प्रतीत होने वाले स्तनों के मण्डल-वर्तुल आकार वाले परिवेष—को नमस्कार हो। क्योंकि ऐसा स्वरूप न कभी देखा है न सुना है इसलिये इस स्तनमण्डल की अधीश्वरी तुम भी धन्या हो, जो भुवन को मोहित करने वालों में चक्रवर्ती भुवन मोहन (श्यामसुन्दर) को भी मोहित करता है, इस प्रकार सखीभाव के कारण हाथ जोड़कर (वितस्ति या विलस्त के साथ) साक्षात् नमस्कार करना भी लक्षित होता है, उसी को स्पष्ट करते हैं—

क्रीडा विविधा निजलीला सैब सरस्तस्मिन् तत्सम्बन्धि वा कनकपङ्कज-कुड्मलं तस्मै, क्रीडेत्यनेन लीलामयी प्रियामूर्तिरेव वा क्रीडाकमलवत् प्रिय-हस्तगतक्रीडनं सूचितम् । पङ्कजेति यौगिकीमाश्रित्य क्रीडासरसि पङ्को यद्गर्तान्न मनोगजस्य निष्कासनं स्यात्, यं दृष्ट्वा प्रियस्य क्रीडैवोदेति । कनकेति गौरच्छविसूचनम् । कुड्मलायेति पूर्ववत् कैशोरेण नवोद्गत्युपच-योन्मुखमृदुकठिनत्वं सूचितम् । पूर्वपद्ये तु कमलोक्त्या सहजस्वरूपशोभावर्ण-नम् । अस्मिन् क्रीडासामयिकमिति भेदः । क्रीडासर इति तल्पं तस्मिन् प्रियाङ्गानि सर्वाण्येव कमलानि यथा नेत्रमिन्दीवरम् मुखहस्तपादादि कोक-नदं विकस्वरमेव शोभमानम्, स्तनयोर्विकसनवाच्यतानर्हत्वात् कुड्मलेत्यु-क्तम् । सरसः क्रीडामयोक्तेर्जनकसमानप्रकृतित्वं स्तनकुड्मलयोः सूचितम्, अतः क्रीडनकाविवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः, कनकेत्यनावृतच्छविदर्शनादुक्तिः ।

रसकलश

क्रीडा अनेक प्रकार की सहज लीला ही सरोवर है । उसमें या उसके सुवर्णवर्ण कमल की कलिका या कुड्मल रूप उस को (नमस्कार हो ।) क्रीडा इत्यादि के द्वारा लीलामयी श्रीप्रियाजी की मूर्ति को ही क्रीडासरोवर कहा गया है अथवा क्रीडाकमल के समान इस स्तन मण्डल) का प्रियतम के हाथों में जाकर क्रीडा करना भी सूचित होता है । पङ्कज इसकी यौगिक व्युत्पत्ति को लेकर क्रीडा के सरोवर में क्रीडा ही पङ्क है, जिसके गर्त में से मन रूपी गज कभी निकाला ही नहीं जा सकता, और जिसको देखकर प्रिय के मन में क्रीडा का ही उदय होता है । 'कनक' या सुवर्ण शब्द से स्तनमण्डल की गौर कान्ति सूचित होती हैं । 'कुड्मलाय' कहने से पूर्व श्लोक के समान कली के समान नया-नया उद्भूत होना, वृद्धि के लिये उन्मुख होना, कोमल और कठोर होना सूचित होता है । पूर्व पद्य में स्तनमण्डल को कमल कहने के द्वारा उसके स्वाभाविक स्वरूप और शोभा का वर्णन किया गया था । यहाँ पर उनके क्रीडा के समय का स्वरूप और शोभा कहे जा रहे हैं यह अन्तर है । क्रीडा सरोवर यहाँ शय्या ही है वहाँ प्रियाजी के सभी अङ्ग कमल हैं, जैसे नेत्र नीलकमल हैं, मुख, हस्त, चरण आदि रक्त कमल हैं और यह सब खिले हुए ही शोभायमान होते हैं । किन्तु स्तनों का विकास कहना अनुचित और अयोग्य है अतः इन्हें कुड्मल या कली कहा गया है । सरोवर को क्रीडामय कहने से कुड्मल की प्रकृति अपने उत्पादक के समान समझी जाती है जैसे वह सरोवर क्रीडामय है, ऐसे ही उसमें उत्पन्न यह कुड्मल भी क्रीड़ामय या क्रीडनक ही हैं, यह उत्प्रेक्षा इस पद्य के व्यङ्ग्यार्थ में छिपी हुई है । 'कनक' इसलिये कहा है कि श्रीराधाजी के स्तनमण्डल का दर्शन आवरणशून्य हुआ है ।

कौतुकस्वरूपमुक्त्वाप्यपरितुष्यन्निदमेवास्वाददतया भोक्तृभोग्यसम्बन्धेन प्रियस्यानन्दार्थं पुनर्विशिनष्टि-स्वानन्दः पूर्वपद्योक्तः, स्वस्या वा स्वीयस्य च असाधारणो वा समीचीनो य आनन्दस्तेन पूर्णो रस एव कल्पतरुस्तस्य फलाय रस्यमानतया मनसि सर्वेन्द्रियेष्वास्वाद्यमानतया चेति रसस्तत्सम-कालमेव य आनन्दस्तद्धर्मः, अत उच्यते धर्मेण पूर्णो धर्मी यः, यथा चन्द्रो धर्मी, अमृत आह्लादो धर्मः द्वितीयादौ धर्मोऽपूर्णः पूर्णिमायां पूर्ण एवमेव पूर्णतापेक्ष्यते, तत्र तु सदैव पूर्णतैव, परन्तु श्रोतॄणां ज्ञापनाय कथनम् । श्रुत्यर्थमपि स्वानन्दार्थम् धाष्टर्येन विकत्थ्यते । परात्परो रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इति परात्पुरुषोत्तमात् नायकशिरोमणेः श्रीकृष्णात् परो रसः श्रीराधाख्यः पूर्वोत्तरदलद्वयवत् तमेवोत्तरदलरूपं प्रिया-रसं लब्ध्वा अयं प्रिय आनन्दीभवति, अति आनन्दमयत्वात् । रसस्य कल्प-तरुरिति प्रिययथेष्टकामपूरिका प्रियैव तस्य फलाय स्वानन्दरसप्रकृतिकाये-त्यर्थः, यदुपादानकम् तत्तदेव जानीयात् । अन्यत्र कैश्चिच्छ्रीफलादिनोपमीयते,

रसकलश

कौतुक का स्वरूप कहकर भी सन्तुष्ट न होते हुए यह स्तनमण्डल ही आस्वाद देने के कारण भोक्ता और भोग्य के सम्बन्ध से प्रियतम को आनन्द देने के लिये है अतः फिर विशेषण लगाते हैं—स्वानन्द की व्याख्या इससे पूर्व पद्य में कर चुके हैं, अपनी (श्रीराधा-जी का) का अथवा अपने (श्री श्यामसुन्दर) का अथवा असाधारण (विशेष प्रकार का) समीचीन (सब प्रकार से परिपूर्ण) जो आनन्द उस आनन्द से पूर्ण जो रस, वह रस ही कल्पतरु है उसके फल को । मन में स्वाद लिये जा रहे (आस्वाद्यमान) होने के कारण सब इन्द्रियों में भी आस्वाद्यमान (स्वाद लिये जा रहे) होने के कारण, रस वही है जो तत्काल ही आस्वादित है, आनन्द उसका एक धर्म है । अतः कहा जाता है कि जो धर्म से परि-पूर्ण हो वह धर्मी कहलाता है जैसे चन्द्रमा धर्मी है । अमृत और आह्लाद उसका धर्म है । द्वितीया आदि तिथियों में चन्द्रमा का धर्म अधूरा होता है, पूर्णिमा के दिन पूरा । इसी प्रकार पूर्णता अपेक्षित होती है, यहाँ तो सदा पूर्णता है । परन्तु श्रोताओं को समझाने के लिये यह सब कहा गया है । इसी भाव को बताने वाली श्रुति का अर्थ भी अपने आनन्द के लिये धृष्टता वश अपने मुख से कहा जा रहा है । पर से पर रस है, रस को ही पाकर आनन्दवान् होता है, यहाँ पर परात् अर्थात् पर से, पुरुषोत्तम से, नायकशिरोमणि से, श्रीकृष्ण से पर रस हैं श्रीराधा रस । जैसे अङ्कुर में दो दल होते हैं पूर्व दल और उत्तर दल । उसी उत्तर दल रूप प्रिया रस को प्राप्त करके यह प्रियतम आनन्दवान् होते हैं अत एव वे आनन्दमय कहलाते हैं । प्रियाजी को रस की कल्पतरु कहने का यह भाव है प्रियतम के प्रत्येक वाञ्छित मनोरथ को पूर्ण करने वाली प्रिया ही हैं। उस (कल्पतरु)

तदत्रासङ्गतिं मत्वा एवमेतादृशं तरुफलं स्यात्तदोपमा योग्या स्यादतस्तादृश-त्वाभावात् स्वसदृशं स्वयमेवेति गर्भितोऽर्थः एवमेव क्रीडासर इत्यादि ।

एतस्य कार्यमाह— भुवनेति । सकलभुवनमोहनः श्रीकृष्णस्तस्यापि मोहनाय वैचित्त्यकारकायेति यद्वा मोहकं किमुच्यते मोहनधर्म एवानेन कौतुकमपीदमेवास्वादोऽपीदमेवासवोऽपीदमेव, किञ्च विलासिप्रभूणामयमेव स्वभावः क्रीडास्वादासवरागादिभोगवैवश्यमेव सर्वस्वं मन्यन्त इति सर्वस्व-सम्पुटत्वं साधु विवृतं त्रिभिः । श्रीराधिके इति भूयो भूयः सम्बोध्यान्तरङ्ग-हितसखी सख्यान्नित्यसङ्गिनीतयैव सङ्गितयैवं वदति, नामसंसिद्धयर्थमपि विवृणोतीतिज्ञेयम् ॥३५॥

एवं स्तनमण्डलस्वरूपमहिमानमुक्त्वा तद्भावनातन्मयतया तत्सेवायाम-भिलषितायां स्फुरितं सर्वाङ्गकैङ्कर्यमभिलषति—

पत्रावलीं रचयितुं कुचयोः कपोले
बद्धुं विचित्रकबरीं नवमल्लिकाभिः ।

रसकलश

का फल स्वानन्द प्रकृति वाला है, जो जिस उपादान कारण से उत्पन्न होता है वह वही (धर्म धारण करने वाला) होता है ऐसा जानना चाहिये । अन्यत्र कुछ लोग स्तन-मण्डल की श्रीफल आदि से उपमा देते हैं, उस उपमा को यहाँ असङ्गत मान कर इस भाँति ऐसे कल्पतरु का फल हो तो स्तनमण्डल उपमा योग्य हो सकता है अतः वैसे फल के अभाव के कारण अपने जैसा यह स्तनमण्डल आप ही है यह अर्थ छिपा रहता है। ऐसे ही क्रीडासर इत्यादि को भी अनुपमेय ही समझना चाहिये ।

अब इस कुड्मल और फल (स्तन मण्डल) का कार्य कहते हैं—भुवन इत्यादि ।— समस्त भुवनों को मोहित करने वाले श्रीकृष्ण हैं, उनको भी मोहित करने वाले अर्थात् उनके भी वैचित्य (बेभान अवस्था) का कारण यह स्तनमण्डल हैं अथवा मोहक क्या कहें ? यह तो मोहन धर्म ही हैं। क्योंकि यहाँ कौतुक भी यह ही है, आस्वाद भी यह ही है, आसव या मद्य भी यह ही है। एक और बात है कि विलासी प्रभुओं का यही स्वभाव होता है कि वे क्रीडा के आस्वाद के, आसव (मद्य) के और राग आदि के भोग के कारण होने वाली विवशता को ही सर्वस्व मानते हैं इसलिये इन तीनों विशेषणों द्वारा इस स्तन मण्डल का सर्वस्व सम्पुट होना स्पष्टतया वर्णन किया गया है। 'श्रीराधिके' इस सम्बोधन द्वारा बार बार बुला कर अन्तरंग हितसखी सख्य भाव से उनकी नित्य सङ्गिनी हैं उसी नित्यसङ्गी होने के सम्बन्ध से ऐसा सम्बोधन करती हैं तथा यह नाम संसिद्धिमूल है इसलिये भी बार बार इस नाम का उच्चारण करती हैं ऐसा जानना चाहिये ॥३५॥

इस प्रकार स्तनमण्डल का स्वरूप और उसकी महिमा कह कर उसकी भावना में तन्मयता के कारण उसकी सेवा की अभिलाषा में स्फुरित हुए सम्पूर्ण श्री अङ्गों के दास्य की अभिलाषा करते हैं—

अङ्गञ्च भूषयितुमाभरणैर्धृताशे,
श्रीराधिके मयि विधेहि कृपावलोकम् ।३६।

हे श्रीराधिके, सर्वाङ्गलावण्ययथार्हाद्भुतरूपच्छविश्रीमति, निजपरिजनकृपासख्यदानसंसिद्धिनाम्नि मयि अन्तराधिकृतकिङ्करीरूपे कृपावलोकं विधेहि । निजाङ्गसेवाश्रृङ्गारकृत्यभिलाषपूरकसुदृष्टिं कुरु, तदेवाभिलाषत्वेन विशिनष्टि । कीदृशे मयि पत्रावलीमित्यादि धृताशे कुचयोरिति कनकवद् गौरवर्णे प्रियवर्णस्य मृगमदचित्रस्यात्यन्तशोभनत्वान्मुख्यं मृगमदेनेति ज्ञेयम् । पत्रेति तमालपत्राकारां वा कमलदलाकारां वा तत्पत्राकारां रचनामाह-कर्णिकास्थाने स्तनाग्रं परितः पत्रावलीति नीलेन्दीवराकृतिर्दम्पत्योर्यथार्हप्रीतिजनकवर्णसंयोग-संयोगभावोद्दीपिका च, अथवा कुम्भलाग्रस्थाने स्तनाग्रे शिवोपमा कदाचिद्दीयते यथा—'शंकर शिर शशिटोल' इति । तदा परितो बिल्वपत्रावली मध्ये भास्वरकाश्मीरचन्द्राकृतिरिति यथाभावनं

रसकलश

'स्तनों पर कपोलों पर पत्रावली की रचना करने के लिये, नवीन मल्लिकाओं से विचित्र केशपाश को बाँधने के लिये, और आभूषणों से अङ्गों को भूषित करने के लिये आशा धारण किये हुए मुझ सखीजन की ओर हे श्री राधिके, कृपा से अवलोकन करो ।३६।'

हे श्रीराधिके, सभी अङ्गों के लावण्य और यथोचित रूप तथा छवि से शोभाशालिनी, अपने परिजनों पर कृपा करके उन्हें सख्यदान देने वाली संसिद्धिरूप नाम वाली मुझ अन्तरङ्ग अधिकारिणी दासी के रूप में अपनाई हुई पर कृपा दृष्टि से अवलोकन करो । मुझ पर आपके श्री अङ्गों की सेवा, और शृंगार रचना के लिये मेरी अभिलाषा को पूर्ण करने वाली दृष्टि करो । उसी पर अभिलाषा के रूप में विशेषण लगाते हैं—कैसे मुझ पर ? पत्रावली की रचना आदि के लिये आशा धारण किये हुए पर । 'कुचों पर' इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्ण के समान गौर वर्ण वाले और प्रियतम के वर्ण वाले मृगमद (कस्तूरी) के चित्र की रचना (के अत्यन्त सुन्दर होने के कारण मुख्य रूप से मृगमद से ही पत्रावली की रचना) करने के लिय आशा है ऐसा जानना चाहिये । पत्रावली में पत्र शब्द से तमाल पत्र के आकार को, कमल दल के आकार की अथवा कमल पत्रों के आकार की रचना कहते हैं । कर्णिका के स्थान में तो स्तन का अग्रभाग रख लिया गया और चारों ओर पत्रावली की रचना की गई वह पत्रावली नीलकमल के आकार की है, और प्रिया प्रियतम के यथा योग्य प्रीति उत्पन्न करने वाले रंगों के संयोग से संयोगभाव को उद्दीपन करने वाली है अथवा कभी-कभी कुम्भाकार स्तन के अग्रभाग से शिव की उपमा दी जाती है जैसे—शङ्कर शिर शशिटोल' इत्यादि श्रीमच्चौरासी के पद में दी गई है । तब शिवोपम स्तनाग्र के चारों ओर बिल्व पत्रों की पङ्क्तित और मध्य में देदीप्यमान केसर के द्वारा चन्द्रमा के आकार की रचना की बात कही गई है इस प्रकार भावना के अनुसार भाव समझ

ज्ञेयम् । कुम्भोपमासूचनेन वसन्तोत्सववन्दने स्मरात्मककलशपूजने परितो यवाङ्कुरचूतदलावलीमध्ये मञ्जरी वा तत्सम्पुटशिखरस्थानीयं स्तनाग्रं चक्रवाकाद्युपमितं परितः पक्षततिर्मध्ये चञ्चुरित्यादि सहृदयगम्यां सख्यरससम्भावनीयां पत्रावलीं रचयितुं विचित्रतया नैपुण्येन रचनां कर्तुं यथा प्रिया प्रसन्ना स्मितास्या च स्यादिति ।

कपोले इति जातावेकवचनम्, कपोलयोरित्यर्थः । पुष्परागमणिदर्पणाकारयोर्वा सिन्दूरसम्भृतकनकसमुद्गकाकारयोर्यथार्हंवर्णरञ्जने पत्रावलीं मकरिकापत्रिकां वा तमालपत्राकृतिं वा भ्रमरिकावलितालकावल्याकारां काश्मीरेण वा मृगमदेन यथाशोभनं भावनीयां वा लिखितपत्राकृतिकौतुकार्थपद्याक्षरान्वितां रचयितुमित्यर्थः ।

पुनश्च नवमल्लिकाभिर्विचित्रकबरीं स्वत एव विचित्रामाश्चर्यजनकां वा विहारसमयविस्रंसितां मुक्तादाममाल्यादिभिः परिमर्दितैः, यथावल्लग्नै-

रसकलश

लेना चाहिये । अथवा स्तन के साथ कुम्भ या कलश की उपमा से सूचित होता है कि वसन्तोत्सव की वन्दना में कामदेवरूपी कुम्भ या कलश की पूजा में चारों ओर जौ के अङ्कुर, आम के पत्र और उनके बीच में मञ्जरी की रचना करने के लिये आशा धारण कर रखी है । अथवा सम्पुट के शिखर के समान स्तन के अग्र भाग की चक्रवाक से उपमा दी जाती है उसके चारों ओर पंखों की और बीच में चोंच की रचना इत्यादि सादृश्यों के द्वारा जानी जा सकने वाली, सख्य भाव और शृङ्गार रस के लिये सम्भावना करने योग्य पत्रावली की रचना करने के लिये—विचित्रता के साथ निपुणता द्वारा पत्रावली का आलेखन करने के लिये—(आशा धारण किये हुए हैं) जिससे श्रीप्रिया जी प्रसन्न हों और मुस्करा उठें ।

'कपोले' कपोल पर इस शब्द में एक वचन से कपोल जाति को समझना चाहिये अर्थात् प्रियाजी के 'दोनों कपोलों पर' यह अर्थ लेना चाहिये । जो दोनों कपोल पुष्पों के रंग से रंगे हुए मणिमय दर्पण के आकार के हैं अथवा सिन्दूर से भरे हुए सुवर्णमय डबले के आकार के हैं उन पर भी यथा योग्य रंगों से रंगी हुई पत्रावली या मकरो के आकार की पत्रिका या तमालपत्र की आकृति या भ्रमरिका (घुंघराले पन) से मुड़ी हुई अलकावली के आकार की पत्रावली केसर से या कस्तूरी से बनाने के लिये (आशा धारण किये हुए हैं) जो सुन्दर लगने वाली हो या भावना करने योग्य हो या लिखे गये पत्र की आकृति के कौतूहल जनक अर्थ को बताने वाले पद्यों के अक्षरों से युक्त हो ऐसी रचना करने के लिये मैं आशा धारण किये हुई हूँ ।

और फिर नए मल्लिका के पुष्पों से विचित्र केशपाश को जो केशपाश स्वयं ही विचित्र या आश्चर्यकारक है अथवा विहारके समय खुल गया है मोतियों की लड़ियों और पुष्पों की माला आदि जो मसल गए हैं, जो आज भी केशपाश में लगे

स्त्रुटितैर्वा विलासस्मारकैश्चित्तचित्रोत्पादिकां वेणीं प्रसाधनीयद्रव्यैः कङ्कतिकादिभिः परिष्कृत्य बद्धुं, यद्वा वैचित्र्यविशिष्टां कबरीं बद्धुं यथा विचित्रा स्यात्तथा बद्धुमित्यर्थः। प्रान्तभागे परितो माला मध्ये यथा–वल्लहरी, पृष्ठे वेणी, दण्डप्रान्ते माल्यस्तबकमित्यादिविचित्राम्, अङ्गं श्रीविग्रहं यद्वा जातावेकवचनमङ्गानीत्यर्थः। चकारः सर्वत्र सम्बध्यते। भरणैश्चन्द्रिकाचूडामणिताटङ्कभालमुक्तामणिनासामणिग्रैवेयपदिकहारआमा-लाकेयूरकङ्कणोर्मिकाकरपत्रकिङ्किणीनूपुरहंसकादिभिर्विविधैर्मणिमुक्ताहाट-कखचितैर्यथर्तु शोभनोपसंव्याननिचोलकञ्चुक्यादिभिस्ताम्बूलतिलककज्ज-लाङ्गरागयावकादिभिः क्रीडाकमलेन च भूषयितुमित्यादि धृताशे कृताशे इति किं वच्मि धृता चिरं स्थापिता आशा येन तस्मिन् सखी-जने मयीत्यर्थः, येनावलोकेनादिष्टा सती सेवां कुर्यामित्याभ्यन्तरोऽर्थः। साधकपक्षे स्फुट एव सेवायोग्यः कदा स्यामिति।३६।

रसकलश

हुए हैं अथवा टूट गये हैं अथवा सभी विलासों की स्मृति कराने वाले हैं, चित्त में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले इस प्रकार के श्रीप्रियाजी के केशपाश को सजाने के साधनों कंघी आदि के द्वारा परिष्कार करके बाँधने के लिये, अथवा स्वभाव से ही विचित्रता से युक्त केशपाश को जिससे वह और अधिक विचित्र हो जाए इस प्रकार बांधने के लिये मैं आशा धारण किये हुई हूँ, यह अर्थ है। केशपाश के चारों ओर माला, बीच में केशों की लहरों से सजाना, पीठ पर वेणी (चोटी) और वेणी के मूल में मालाओं का गुच्छा बाँधना इत्यादि द्वारा विचित्र बनी हुई वेणी को बाँधने के लिये आशा धारण किये हुई हूँ।

अङ्ग शब्द का अर्थ श्रीविग्रह है या जाति में एक वचन मान कर सभी अङ्गों को भी अङ्ग शब्द से कहा जाता है। 'च' अर्थात् 'और' का सभी वाक्यों में सम्बन्ध है। अङ्ग को आभूषणों चन्द्रिका, चूडामणि, ताटङ्क, भालमुक्तामणि, नासा मणि, ग्रैवेयक, पदिक हार, माला, केयूर, कङ्कण, अङ्गूठी, करपत्र, घुंघरियाँ, नूपुर, और हंसक आदि से, अनेक प्रकार की मणियों, मुक्ताओं और सुवर्ण आदि से खचित ऋतु ऋतु के अनुकूल लहँगा, निचोल, कञ्चुकी आदि वस्त्रों से, पान, तिलक, काजल, अङ्गराग और यावकरस (महावर) आदि से, लीला कमल से, विभूषित करना इत्यादि के लिये आशा धारण किये हुए (मुझ दासीजन पर वे कृपावलोकन करें) यह क्या कहूँ? चिरकाल से यह आशाएँ चित्त में धारण कर रखी हैं या स्थापित कर रखी हैं जिसने, ऐसे मुझ सखीजन पर ऐसी कृपा दृष्टि करें जिससे आदेश पाकर मैं सेवा करूँ यह आन्तरिक या हार्दिक तात्पर्य है। साधकों के पक्ष में तो स्पष्ट ही है कि मैं श्रीस्वा-मिनीजी की सेवा के योग्य कब होऊँगा?।३६।

अग्रे मुक्तकश्लोकत्वेऽपि किञ्चित्पूर्वापरान्वयेन व्याख्यायते । पूर्वं श्रीहितसखीनिजकरकृतसेवाभिलाषे श्रीमत्या वात्सल्यसख्यसिन्धुत्वान्नाल्पोऽपि विलम्बः कृत इति ज्ञेयम्, तद्धस्तेनैव सेवा कारिता तदानीं किञ्चिज्जवनिकाया वा पलकस्यान्तरो वा जातः किंचैतावानपि लालनानन्दपोषार्थम् । अन्यथा तु विच्छेदाभासमात्रादित्यत्र दोप्यत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमपि भवेद् बाह्यमाभ्यन्तरं चेति वक्ष्यति हि तावन्मात्रेणैव प्रेमवैचित्र्यमुज्जृम्भितं तदेवाह —

'श्यामेति सुन्दरवरेति मनोहरेति,
कंदर्पकोटिललितेति सुनागरेति ।
सोत्कण्ठमह्नि गृणती मुहुराकुलाक्षी,
सा राधिका मयि कदा नु भवेत् प्रसन्ना ।३७।

किञ्च पूर्वमुक्तम्, अनुरागसिन्धुः प्रेमसिन्धुरित्यादि तौ यथा स्वस्व

रसकलश

यद्यपि 'श्रीराधारससुधानिधिस्तव' में सभी पद्य मुक्तक हैं, अर्थात् प्रत्येक श्लोक स्वतन्त्र है तथापि कुछ न कुछ पहले और पीछे वाले पद्यों का परस्पर सम्बन्ध मान कर व्याख्या की जाती है क्योंकि एक भाव-तरङ्ग के उठने के बाद दूसरी भाव तरङ्ग के उठने में पूर्व तरङ्ग की प्रेरणा अवश्य रहती है आगे भी ऐसी ही व्याख्या की जा रही है। पहले श्रीहितसखी जी की अपने हाथों से सेवा करने की अभिलाषा को श्रीराधाजी ने वात्सल्य और सख्यभाव का सिन्धु (सागर) होने के कारण पूर्ण करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया ऐसा जानना चाहिये अर्थात् उनके हाथों से ही सेवा स्वीकार की। तब जो पर्दे का या आँखों की पलकों का व्यवधान पड़ा और वह भी केवल लालनीय के आनन्द पोषण के लिये अन्यथा यहाँ तो 'विच्छेद या वियोग के आभास मात्र से ही अन्दर और बाहर देदोप्यमान कोटि कोटि प्रलयाग्नियों से जलने सा लग जाता है। ऐसा आगे कहेंगे ही उतने व्यवधान में ही प्रेम के कारण वैचित्य या बेभान-सी अवस्था उमड़ पड़ी, यही बात यहाँ कहते हैं।

'हे श्याम, हे सुन्दरवर, हे मनोहर हे कोटि कामदेवों से ललित, हे नागर वर, इस प्रकार से दिन भर उत्कण्ठापूर्वक प्रियतम के नामों का उच्चारण करती हुई बारबार अश्रुओं से आकुल नेत्रों वाली वे श्रीराधिका मुझ पर कब प्रसन्न होंगी।३७।'

पहले कहा गया है। कि श्रीराधिका अनुराग सिन्धु हैं प्रेम सिन्धु हैं इत्यादि वे दोनों सिन्धु अपने अपने समय में प्राप्त हुई भाव तरङ्गों को बढ़ाते हैं, ऐसे ही कभी संयोग में

समयप्राप्ततरङ्गान् वर्द्धयन् एवं कदाचित् संयोगे रसवैदग्ध्यकृपावात्स-ल्यादिसिन्धुरुदेति तत्तदत्र सर्वं पूर्णतया नित्यस्थायि वर्तते, इति ज्ञेयम्। यत्राशुपाठस्तदा—'अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं, हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।' इतिवत् प्रेमवैचित्त्येन पार्श्वस्थितेऽपि प्रिये—आशु चमत्कृत्य श्यामेत्यादि प्रलपितवती, यदाह्नीति पाठस्तदात्र दीप्यत्कल्पाग्निकोटि-ज्वलितेतिवक्ष्यमाणत्वात् प्रेम्णस्तापात्मकत्वादुष्णत्वं ज्ञेयम्। यदा प्रेमतरङ्गस्तदैव तत्र निकुञ्जादिषु दिनव्यवहारः सखीसंकेतितः। यदा च रसोदयः रसः शृङ्गारः संयोग इति तदाह्लादानन्दशीतधर्मत्वात् शीतकिरणत्वम्, तदा रजनीव्यवहार इति मुख्योऽर्थः। यथा च चतुरशीतिपदेषु "अधर अरुणे" ति पदे, 'रवि शशि शंक भजन किये अपवशे' ति।

अथवा अन्यदपि स्नुषैकलालनजीवातुव्रजराज्ञीसदनस्थितिपक्षे कुलवधू-

रसकलश

रससिन्धु, वैदग्ध्य (चतुरता) सिन्धु, कृपासिन्धु और वात्सल्यसिन्धु आदि भी उमड़ पड़ते हैं और वे सभी भाव यहाँ पूर्णतया नित्य स्थायी रहते हैं ऐसा जानना चाहिये। इस पद्य में सोत्कण्ठमह्नि के स्थान पर यदि 'सोत्कण्ठमाशु' पाठ हो तो-प्रियतम अङ्क में स्थित हैं तो भी अकस्मात् श्रीराधा 'हा! मोहन! ऐसा मधुर प्रलाप करती हैं। इत्यादि पद्य के समान प्रेम वैचित्त्य (प्रेम से बेभान सी अवस्था) के कारण प्रियतम के पास में स्थित रहने पर भी शीघ्र ही चौंक कर 'हे श्याम' इत्यादि प्रलाप करने लगीं यह अर्थ करना चाहिये। और जब 'सोत्कण्ठमह्नि' यह पाठ हो तब यहाँ देदीप्यमान कोटि कोटि प्रलयाग्नियों से अन्दर और बाहर जल उठता है' ऐसा जो आगे कहेंगे उससे प्रेम को तापात्मक होने के कारण सूर्य समझना चाहिये। जब जब प्रेम की तरङ्गे उठती हैं तभी तभी निकुञ्ज आदि की लीला में सखीजनों ने 'दिन' शब्द का व्यवहार करने का संकेत कर रखा है। और जब रस का उदय कहा है, वहां रस संयोगात्मक शृङ्गार है और रसास्वाद जनित आल्हाद आनन्द स्वरूप है तथा शीत धर्म वाला है अतः रस को चन्द्रमा माना गया है और रसरूपी चन्द्रोदय के समय के लिये रजनी या रात्रि पद का व्यवहार किया गया है जैसा कि श्रीचतुरासी जी के पदों में 'अधर अरुण तेरे कैसे कै दुराऊँ' पद के 'रवि शशि शङ्क भजन किये अपवश' इत्यादि में।

अथवा अन्य तात्पर्य भी है। स्नुषा या पुत्रवधू का एक मात्र लालन ही जिनका जीवन हेतु है उन श्री व्रजरानी यशोदा जी के भवनों में रहने के समय कुल वधू के लिये समुचित लज्जा आदि अवरोध का कारण दिन ही है ऐसे दिन के कुछ

त्रपाद्यवरोधकारिदिनजकिञ्चित्क्षणविरह इति ज्ञेयम् । युवराजदायप्राप्त व-द्रहःकुञ्जादिषु दिनस्याप्यबाध्यत्वादपि प्रियायास्त्रपाजनितक्षोभभिया—नर्मसखीपरिहासचंडनादिभिया च प्रियस्यापि तत्र संकोचागमनं तदपि फणिमणिवद्रक्षणम् दृष्टिजागरूकव्यवधानेन कुर्वंस्तिष्ठति । तदानीं मत्कृत-श्रृङ्गारानन्तरं दर्पणदर्शनावश्यकत्वात् प्रियकृतश्रृङ्गारसमयस्मृत्या वा स्व-लावण्यदर्शनस्मारितप्रियलावण्योद्दीपनजवैवश्येनाकस्मात् सोत्कण्ठं श्यामे-त्यादिगृणती, किञ्च प्रियसम्बन्धी यद्रूपगुणकर्मस्वभिनिवेशो मनसस्तदेव प्रेमवैचित्ये स्फुरेदिति प्रसिद्धमेव ।

अनिर्वचनीयाद्भुततदीयवर्णाभिनिवेशात् स्वस्या अपि नेत्रभ्रूचिकुरति-लकादि मृगमदं वा मुकुरे दृष्ट्वा श्यामेति । स्वसौन्दर्यं दृष्ट्वा प्रियसौन्द-र्य्यस्मरणं, स्वस्मात् प्रियस्योत्कृष्टप्रेमसौन्दर्य्यस्फुरणं प्रेमधर्म एव, अतो हे सुन्दरवरेति, नातः परं सौन्दर्य्यमिति प्रसह्योक्तं 'विस्मापनं स्वस्य च सौभ-गर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्ग' मितिवत् ।

रसकलश

क्षणों का विरह ही वहाँ विरह है ऐसा जानना चाहिये । युवराज को दायभाग में प्राप्त होने के कारण एकान्त कुञ्ज निकुञ्जादि में दिन में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती, किन्तु प्रियाजी के लज्जा से उत्पन्न क्षोभ के भय से तथा रहस्य भूत सखियों के परिहास और चिढ़ाना आदि के भय से प्रिय का भी वहाँ संकोच के साथ ही आना संभव है, तो भी वे सर्प की मणि के समान श्रीराधाजी की रक्षा अपनी दृष्टि से और जागरू-कता से व्यवधान में भी (अलग रहने के क्षणों में भी) करते रहते हैं । तब मेरे द्वारा किये गये श्रृङ्गार के बाद दर्पण देखना आवश्यक है और दर्पण देखने से प्रियतम के द्वारा किये जाने वाले श्रृङ्गार के समय को याद कर के अथवा अपने लावण्य के दर्शन से प्रियतम के लावण्य का स्मरण हो आनेके उद्दीपन से उत्पन्न विवशता के कारण अक-स्मात् उत्कण्ठा के साथ 'हे श्याम !' इत्यादि नामों का उच्चारण करती हैं और प्रिय के रूप गुण कर्मों में जो प्रियजी के मन का अभिनिवेश है वही प्रेम से होने वाले वैचित्य या बेभानसी अवस्था में स्फुरित होता है, ऐसा प्रसिद्ध ही है तथा जो अनिर्वचनीय और अद्भुत प्रियतम का श्याम वर्ण है उसमें अभिनिवेश के कारण अपने भी नेत्रों, भ्रूकु-टियों, केशों और कस्तूरीतिलक आदि में या अन्यत्र कस्तूरी को दर्पण में देखकर 'हे श्याम ।' यह सम्बोधन करती हैं । अपना सौन्दर्य देखकर प्रिय के सौन्दर्य का स्मरण हो आने से, अपने से प्रिय के प्रेम की उत्कृष्ट सुन्दरता का स्फुरण हो आने से जो कि प्रेम का धर्म ही है, 'हे सुन्दर वर' ऐसा सम्बोधन करती हैं । इससे बढ़कर दूसरे किसी में सौन्दर्य नहीं है यह बल पूर्वक कहा गया है जैसा कि 'परम विस्मयकारी' सौभा-ग्य समृद्धि के एकमात्र आश्रय और भूषणों के लिये भी भूषण अङ्गों वाले वे परम सुन्दर हैं' इत्यादि श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है ।

स्वस्वरूपे मनोहरणं ज्ञात्वा तत्स्मरणं हे मनोहरेति । एताहृश्या रूपगर्वितायाः कठोराया अपि मे मनो हरसि, नात्र मयि मन्मन इति । स्वलावण्यं दृष्ट्वा प्रियस्मरणे स्वस्याः स्मरोद्दीपनं बुद्धा वा दर्पणद्वयन्यायेन मन ऐक्यात् तस्यापि क्षोभं ज्ञात्वा पश्चात् स्मृतं, किं कामेन मत्कान्तनखच्छटामात्रपराजितेनेति स्मृत्या, हे कन्दर्पकोटिललितेति । स्वबुद्धिलक्षणरूपच्छविवैदग्ध्येन तद्वैदग्ध्यं स्मृत्वा हे सुनागरेति रसिकचतुरचूडामणे इत्यर्थः । यद्वा गौरवर्णसंयोगे श्यामोऽहं इत्यपूर्णवन्नित्यसंयोगस्फूर्त्या श्यामेति । एवं सुन्दरस्य सुन्दर्यर्हा, वरस्य वरवर्णिन्यर्हा, हरस्य हारयित्र्यर्हा, ताहृशकन्दर्पस्य ताहृशरतिरेवार्हा । नागरस्य नागरीत्यादि ।

यद्वा मुकुरं स्वस्वरूपाभिनिवेशं च विनैव वक्ति, केवलतन्मयता वर्णस्मृत्या श्यामेति, सौन्दर्य्येण सुन्दरेति, स्वमनःप्रत्यादानाभावान्मनश्चौरेति,

रसकलश

अब अपने स्वरूप में मनको हर लेने की सामर्थ्य जान कर श्रीश्याम सुन्दर की मनोहरता का भी स्मरण हो आया तब बोलीं 'हे मनोहर! यद्यपि मैं ऐसी रूप गर्वीली और बाहर से प्रतिकूल रहने के कारण कठोर हूँ, तथापि तुम मेरा मन हर लेते हो, मेरा मन यहाँ नहीं रहता।' फिर अपने लावण्य (सलोनेपन) को देखकर प्रिय के लावण्य का स्मरण हो आया, उससे अपने मनमें भी स्मर (स्मरण जनित कामभाव) का उद्दीपन होता देखकर दो दर्पणों में एक प्रतिबिम्ब दीखने के दृष्टान्त के लिये प्रसिद्ध 'दर्पण द्वयन्याय' से मन की एकता के कारण उस के क्षोभ को जानकर फिर स्मरण हो आया' अरे, मेरे प्रियतम के चरणनख की छटा से ही पराजित हो जाने वाले काम से हमें क्या काम?' इस स्मरण से बोली 'हे कन्दर्प कोटिललित!' अब अपनी बुद्धि की विलक्षण छटा रूपी विदग्धता या चतुरता से श्रीश्याम सुन्दर की विदग्धता का स्मरण करके हे सुनागर अर्थात् हे रसिक चतुर चूडामणि! (रसिकों और चतुरों के शिरोमणि सरदार) अथवा गौर वर्ण के साथ योग के लिये श्याम योग्य है अतः पूर्व में कहे गये प्रकार से नित्य संयोग की स्फूर्ति हो आने से 'श्याम' यह सम्बोधन किया। ऐसे ही सुन्दर के लिये सुन्दरी योग्य है वर के लिये वरवर्णिनी योग्य है, हर (चोरी करने वाले) के लिये हारयत्री (चोरी करने देने वाली) योग्य है। वैसे कन्दर्प के लिये ऐसी रति योग्य है ओर नागर के लिये नागरी योग्य है, इत्यादि (योग्यताओं के स्मरण से वे वे सम्बोधन किये)।

अथवा दर्पण के और अपने स्वरूप के अभिनिवेश के विना ही कहते हैं-केवल तन्मय होने के कारण प्रियतम के श्रीअङ्गों के वर्ण का स्मरण हो आने से हे श्याम!

ततः स्वकरणक्षोभात् सहायाशंसनेन कन्दर्पेति स्ववैकल्यतद्वीरतास्मृत्या सुनागरेति । यद्वा वैचित्ये एवमर्थः स्मृत्यभावात् प्रसिद्धोभयकुलजनमुखलालनोक्तबहुवारप्रशंसनीयप्रियनामानि श्रुतिचराणि संस्कारेण तदानीं गृणतीत्यर्थः ।

यद्वा प्रेम्णो वक्रोक्तिरपि । हे श्यामेति कृष्णकलुषसुन्दररूपगर्वित निस्पृहमत्तेति मनोहरेति परस्वहरणप्राप्तैश्वर्यख्याते, कन्दर्पेति महाकामिन् मन्मथमन्मथेति सुनागर केवलचतुर परदुःखानभिज्ञ स्वार्थपरायणेत्यादि । सोत्कण्ठम् अद्यैवागच्छ, परिरभ्य दर्शनं देहीत्यन्तर्गूढो ध्वनिः उत्कण्ठाशब्देन सर्वनामसु स्वलालसामि ण्णं किञ्चिदुच्यते, प्रथमं तु स्वकान्तनामस्मरणमेव रुद्धमपि मनोगतमुत्फणितम्—श्यामेति वक्त्रौत्सुक्यम्, ततः सुन्दरेति दृगौत्सुक्यम्, मनोहरेति मानसौत्सुक्यम्, कन्दर्पेति विविधरतादिस्पर्शबन्धौत्सुक्यम्,

रसकलश

यह सम्बोधन किया, सौन्दर्य से सुन्दर, अपने मनको वापिस न लौटवा सकने के कारण मनोहर (मन का चोर) सम्बोधन किया है। तब अपनी इन्द्रियाँ में क्षोभ होने के कारण सहायक की आशंसा (सम्भावना) से 'कन्दर्प कोटि ललित' इस सम्बोधन द्वारा अपनी विकलता या निर्बलता और प्रियतम की वीरता का स्मरण किया। अथवा वैचित्य अर्थात् प्रेमाधिक्य के कारण बेभान की सी अवस्था में स्मरण न रहने के कारण प्रसिद्ध दोनों कुलों के मुखों द्वारा लाड से कहे गये, बहुत बार प्रशंसा के पात्र बने प्रियतम के नाम जो पहिले सुने हुए थे, उस समय में स्मरण आजाने के कारण इन नामों का उच्चारण करती हैं, यह अर्थ है।

अथवा प्रेम के कारण वक्रोक्ति भी हो सकती है—हे श्याम, काले कलूटे होते हुए भी सुन्दर, रूप से गर्वित, निःस्पृह, मत्त (मस्त) यह सभी भाव श्याम सम्बोधन में छिपे हैं, मनोहर, दूसरों का मन चुराने से प्राप्त हुए ऐश्वर्य से विख्यात हुए, कन्दर्प कोटि ललित, महाकामी और मन्मथ को भी मथ देने वाले, सुनागर, केवल चतुर, दूसरे के दुःख को न जानने वाले, स्वार्थपरायण इत्यादि सोत्कण्ठम्-अर्थात् उत्कण्ठा के साथ (दिन भर प्रियतम के नामों का उच्चारण करने) का गूढ व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि अभी आजाओ, आलिङ्गन करके दर्शन दो। उत्कण्ठा शब्द से सभी नामों से सुख की लालसाओं का कुछ मिश्रण कहा जाता है, पहले तो अपने कान्त (प्रियतम) के नामों का स्मरण ही इस बात का सूचक है कि मन की बात रोकी गयी किन्तु वह उछल ही आई। श्याम नाम से वाणी की उत्सुकता, सुन्दर नाम से नेत्रों की उत्सुकता, मनोहर नाम से मनकी उत्सुकता, कन्दर्प कोटि ललित नाम से

ततः साहसशंकासौकुमार्य्याभिज्ञतापूर्वकविलसनौत्सुक्येन मण्डनरागप्रियवार्ताविश्रमाद्यौत्सुक्येन च सुनागरेति ।

मुहुर्गृणतीत्यनेन पूर्वोक्तपक्षान्तरार्था उक्ता अनुक्ताः सहृदयगम्याः, अन्येऽपि संगता एव । कदा श्यामेत्याद्येवमौत्कण्ठ्येन, एकदा पुनरेवमौत्सुक्येनेति पुनः पुनरावृत्तिः, मुहुरिति पूर्वपूर्वगृणने सावधानता उत्तरोत्तरे वैवश्यवर्द्धनं, ततः पूर्णवैवश्ये, आकुलाक्षी—अश्रुपूर्णाक्षीत्यर्थः, मुहुराकुलाक्षीत्यर्थे, पूर्वं तु गवाक्षजालरन्ध्रादिषु तदवलोकनं, ततो रसनिर्भरभारेणाशक्तावाकुलाक्षीत्यपि तादृशार्थः नात्रान्यसाधारण्यं प्रेम्णः किन्च पूर्णरूपम् । अहो तादृशराजकुमारीकुलवधूत्वत्रपास्वासज्यात्वनिर्वाहाग्रहवाम्यादिकुलपर्वतानप्याप्लुत्य प्रेमसमुद्रोच्छलनं किं भण्यते, अत एवानुराग-

रसकलश

और स्पर्शोतिथा बन्धों (सुरय बन्धों) की उत्सुकता, और उसके बाद साहस, शङ्का, सुकुमारता, अभिज्ञता के साथ विलास करने की उत्सुकता से, मण्डन (नेपथ्यरचना-आदि) राग (अङ्गराग आदि) प्रिय से वार्तालाप और विश्राम आदि की उत्सुकता से भी 'सुनागर' सम्बोधन किया जा सकता है ।

'बार बार उच्चारण करती हुई' इस विशेषण के पहले ही अनेक पक्षों के आन्तरिक अर्थ कहे जा चुके हैं जो नहीं कहे गये किन्तु सहृदयगम्य हैं वे भी यहाँ सङ्गत होते हैं; एक बार उत्कण्ठा से श्याम, इत्यादि नामों का उच्चारण किया, एक बार फिर उत्सुकता से उन्हीं नामों की आवृत्ति की इस प्रकार बार बार आवृत्ति की । मुहुः-अर्थात् फिर कहने से प्रत्येक उच्चारण में सावधानता प्रतीत होती है । उत्तरोत्तर विवशता बढ़ती जाती है, अन्त में पूर्ण रूप से विवशता बढ़ जाने पर 'आकुलाक्षी' अश्रुओं से पूर्ण नेत्रों वाली हो गई, यह समझना चाहिये । 'मुहुराकुलाक्षी' शब्द का अर्थ है कि गवाक्ष (रोशनदान) जालरन्ध्र (खिड़की) आदि में से देखने से जो रसनिर्भरता हो गई । यहाँ प्रीति अन्य प्रीतियों के जैसी (साधारण) नहीं रही अपितु प्रेम परिपूर्ण रूप में है । अहो, वैसी राजकुमारी और वैसी कुलवधू को जो लज्जा और अपनी प्रीतिपात्रता के निर्वाह करने के आग्रह के कारण प्रत्यक्ष में प्रतिकूलता आदि कुलपर्वतों के समान सामने रखने पड़ते हैं आज उन को भी आप्लुत (जलमग्न) कर देने वाला प्रेमसमुद्र उछल पड़ा है क्या कहा जाए । अतएव जो प्रियाजी को अनुराग और प्रेम को सिन्धु कहा गया था आज वह सिद्ध हो गया या

सिन्धुरित्युक्तं सत्साधुप्रैविवृतम्, सा प्रोज्जृम्भितप्रेमरूपा राधिका सखीजनदयनीयान्येव विभाव्यमानत्वेनाज्ञातस्वरूपा।

नु इति विस्मये, हा किमद्य जातं, कदा प्रसन्ना प्रहसितमुखी भवेदिति। यद्यपि प्रियतमस्मरणं रसोद्दीपकं रसदमेव तदपि तदेकजीवजनीनानां सखीनामाकुलाक्षीत्वं न वाञ्छनीयम्। यद्यपि दम्पतिविषये प्रेमवैचित्यच्छटया विप्रलम्भः स्फुरतुतास्तु संयोगानन्देच्छव एव, अत एव योगीन्द्रा इति। मयीति साधु मदपेक्षयैव प्रसन्ना भवेति किमन्याः सख्यो मां वक्ष्यन्ति, कीदृशी पत्रावल्यादिशृङ्गाररचना त्वया कृता यथाधुना लाडलेयमेवमाकुलाक्षी जातेत्युपालभिष्यन्ति, कदापि मां न विश्वसिष्यन्ति, अतः प्रसन्ना भवेति स्वस्य नित्याङ्गसङ्गिनीसखीत्वपक्षे एवाभ्यन्तरोऽर्थः।

साधकपक्षे तु एतादृश्युज्जृम्भमाणप्रियानुरागा मयि प्रसन्नेति, प्रसादेन स्वानुरागदानं करोतु। यत्प्रेमदर्शनान्मयि प्रेमावश्यंभावीत्याशंसनम्। अहह

रसकलश

स्पष्ट हो गया। वह प्रोच्छलित (उछल पड़े) प्रेम की मूर्ति श्रीराधिका आज सखीजन की दया का पात्र बनी हुई, कुछ और सी प्रतीत होने के कारण अज्ञात स्वरूपा हैं।

यहाँ पर 'नु' यह अव्यय विस्मय के अर्थ को बताता है। 'हा ! आज यह क्या हो गया ? प्रिया जी कब प्रसन्न होकर मुस्करायेंगी।' यद्यपि प्रियतम (श्री श्याम सुन्दर) का स्मरण प्रिया जी के लिये रस का उद्दीपक होने के कारण रसदायक ही है तथापि प्रिया जी ही जिनका एकमात्र प्राण जीवन हैं उन दैन्यभावाविष्ट सखियों को उनका (प्रियाजी) का आकुलाक्षी होना कभी भी वाञ्छनीय नहीं है। भले ही प्रिया प्रियतम में प्रेम के कारण वैचित्य (बेभानसा होने) की छटा से विप्रलम्भ स्फुरित हो, किन्तु सखियाँ तो उनके संयोग सुख की ही इच्छुक रहती है अतएव उन्हें यहाँ योगीन्द्र कहा है 'मुझ पर प्रसन्न हो जाओ' यह कहने का तात्पर्य है कि और किसी पर नही तो मुझ अत्यन्त अन्तरङ्ग सखी (हित सखी) पर ही प्रसन्न हो जाओ। अन्यथा अन्य सखियाँ मुझे क्या कहेंगी कि तुमने पत्रावली आदि द्वारा कैसी शृङ्गार रचना की कि जिससे इस समय लाडलीजी इस प्रकार आकुलाक्षी हो गईं ? इस प्रकार के वचन कह कर वे मुझे उपालभ्भ देंगी और फिर कभी भी मेरे ऊपर विश्वास नहीं करेंगी, अतः 'मुझ पर प्रसन्न हो जाओ' इस प्रार्थना से अपने नित्य अङ्गसङ्गिनी सखी होने के पक्ष में ऐसा आन्तरिक अर्थ कहा गया है।

साधक पक्ष में तो ऐसी प्रियाजी जिनके हृदय में प्रियतम के प्रति अनुराग उमड़ रहा है वे मुझ पर प्रसन्न हों और प्रसन्न होकर मुझे अपने चरणों का अनुराग

एकरसमूर्त्तौ विहाराभावेऽपि कीदृशं प्रेमबैचित्यमिति । यद्यपि श्रीहिताचार्य्यस्योभयरूपयोरप्यनुरागन्यूनत्वाभाव एव तदपि दैन्यमेवातिरिच्यते—इति प्रेमगतिरिति ॥३७॥

एवमेव प्रियतमासक्तिदशामाह—

वेणुःकरान्निपतितः स्खलितं शिखण्डं,
भ्रष्टं च पीतवसनं व्रजराजसूनोः ।
यस्याः कटाक्षशरपातविमूर्च्छितस्य,
तां राधिका परिचरामिकदारसेन ॥३८॥

एककुञ्जासनस्थितिपक्षार्थमाह, अत्रोभयोर्लौकिककविख्यातं, पूर्वानुरागवन्न पूर्वोत्तरसमयरागवृद्धितारतम्यं, किञ्चादावेव पूर्णकाष्ठाप्राप्तस्य मानरागस्थितिस्तदपि वैचित्र्वं, यत्सदेव पूर्वानुरागवदौत्कण्च्यम्, दुर्लभमननं च स्थितमिति पानेऽपि न तृषाशान्तिरि-त्यनिर्वचनीयत्वम् ।

रसकलश

प्रदान करें क्यों कि उनके प्रेम का दर्शन करने से मुझ में भी प्रेम का उदय अवश्य हो आएगा' यह सम्भावना की गई है—अहह एक रसमूर्ति श्रीप्रियाजी में बिना विरह के ही कैसा प्रेम वैचिन्य है । यद्यपि श्रीहिताचार्य महाप्रभु को सखी रूप और साधकरूप दोनों रूपों में ही श्री प्रियाजी के चरणों में अनुराग की कोई कमी नहीं है तथा दीनता का भाव ही उमड़ रहा है, प्रेम की गति ही ऐसी है ।३७।

जैसे श्री प्रियाजी की प्रियतम (श्रीश्यामसुन्दर) के प्रति आसक्ति के कारण वैचित्य दशा का वर्णन किया, वैसी ही प्रियतम की भी प्रियाजी के प्रति आसक्ति के कारण प्रेम वैचित्य की दशा हो जाती है यह वर्णन करते हैं—'जिनके कटाक्षरूपी बाण के पड़ने से विशेष मूर्छित हुए श्री व्रजराज (नन्द) जी के सूनुलाल) के हाथ से वंशी गिर पड़ी, मुकुट से मोरपंख खिसक गया, और कमर से पीताम्बर ढलक गया, उस श्रीराधिका जी की मैं रसपूर्वक सेवा कब करूँगी ॥३८॥'

यहाँ प्रिया प्रियतम की एक ही कुञ्ज में एक ही आसन परिस्थिति के पक्ष में यह बर्णन किया गया है । यहाँ प्रिया प्रियतम दोनों में लौकिक कवियों में प्रसिद्ध पूर्व राग या पूर्वानुराग को सी बात नही है कि पूर्व समय से उत्तर समय में राग की वृद्धि अधिक अधिक हो रही है। क्यों कि प्रिया प्रियतम का अनुराग तो आरम्भ से ही पूर्ण काष्ठा को प्राप्त करने वाली स्थिति में है । तो भी वैचित्य की दशा ऐसी ही है जैसी कि पूर्व राग के समय उत्काण्ठा के कारण परस्पर को दुर्लभ माना जाता है और एक-दूसरे के रूपासव का पान करने पर भी दर्शन पिपासा शान्त नहीं होती । अतः यहाँ के अनुराग में अनिर्वचनीयता है ।

अत्र पूर्वपद्योक्ते दिने, स श्यामेत्यादि तन्मुखतः श्रुत्वा निजबहुभाग्यं मन्यमानः प्राणप्रियां वैचित्त्याकुलाक्षीं वीक्ष्य किमद्य जातं, हा प्रिये निदेशार्हो दासो निकटे स्थित इत्युक्तवांस्तदा प्रिया सप्रसादद्रववैलक्ष्यत्रपाकुलतयापाङ्गकूणितेनापश्यदिति तदा पूर्वप्रसादभरद्रुते, तदनुरागस्मारितस्वीयमुख्यप्रेमिधर्मजनितशौर्य्ये प्रिये तस्यास्ताद्दशानेकाद्भुतभावयुतः कटाक्षशरवल्लग्नः तद्घातेन विशेषमूर्च्छितत्वम् । वीति आसक्तस्यासज्यकृतकटाक्षाघातो वा वाम्योक्तिघातः परमार्हस्तद्वाञ्छनीयो मूर्च्छाजनक एव । यदा सैवासक्तीभूय, तदासक्तिमुद्घाटयेत्तदासक्तहृदि कीदृशं हर्षप्रेममूर्च्छाजननं स्यादिति सहृदयगम्यमेवेति मूर्च्छायां विशेषार्थः । तदानीं वेणुः करान्निपतितो दूरे पतितः, शिखण्डं स्खलितम्, कचबन्धनश्लथं पीचपटमधः पतितमिति मर्मभेदे किमपि न सावधानत्वं प्रियस्य । तां ताद्दशानिर्वचनीयरूपच्छविसीमां राधिकां स्वीयविषयानुकम्पनीयशीलां स्वविक्रमसंसिद्धि-

रसकलश

यहाँ पूर्व पद्य में संकेतित दिन में श्रीप्रियाजी के श्रीमुख से श्याम ! सुन्दर वर ! इत्यादि सम्बोधन सुन कर अपना बड़ा सौभाग्य मानते हुए प्रेम वैचित्य के कारण आकुल नेत्रों वाली प्रियाजी को देखकर – 'प्रिये, आज क्या हो गया, यह आज्ञावर्ती सेवक तो निकट ही स्थित है' यह बोले ! तब प्रियाजी ने प्रसन्नता के साथ द्रवित होकर आश्चर्य और लज्जा से व्याकुल होने के कारण उनकी ओर तिरछी चितवन से देखा । तब तो प्रियाजी की प्रसन्नता से द्रवित हुए और उनके अनुराग से स्मरण हो आये अपने मुख्य प्रेमिधर्म के कारण जिनको रतिरण शूरता जागरित हो आई है ऐसे प्रियतम के मन में उन (श्रीराधा) का वह वैसा अनेक अद्भुत् भावों से भरा हुआ कटाक्ष बाण के समान लगा, उसके आघात से वे विमूर्छित—विशेष मूर्छित—हो गये हैं । यहाँ 'कटाक्ष शरपात विमूर्च्छित' शब्दों में 'वि' का अर्थ है कि आसक्त पर आसज्य का कटाक्षपात अथवा प्रतिकूलता की उक्ति का आघात परम उचित है, आसक्त का वाञ्छनीय है और मूर्छाजनक तो है ही । जब वह आसज्य ही आसक्त होकर उस अपनी आसक्ति को प्रकट करे तब आसक्त के हृदय में हर्ष और प्रेम के कारण कैसी मूर्छा हो सकती है यह सहृदयों के हृदय से ही जाना जा सकता है अतः मूर्छा में 'वि' के द्वारा विशेष का विशेषण लगाया गया । उस विशेष मूर्छा की अवस्था में वंशी हाथ से गिर गई, दूर जा पड़ी, मोरपंख खिसक गया केश बन्धन शिथिल हो गया, पीतपट नीचे फिसल गया इस प्रकार मर्म में आघात होने पर प्रिय में कोई भी सावधानता न रही । ऐसी उस अनिर्वचनीय रूप और छवि की सीमा श्री राधिका जी की—जिनका अपने जनों पर दया करना स्वभाव है, जो अपने

रूपां वा स्वासक्तशौर्य्यसिद्धि रसेन कदा परिचारामीति, रसेन 'रसं राधाया-माभजतीति' वक्ष्यमाणत्वाद् आसज्यात्वेन स्वस्वामिन्युत्कर्षेण प्रकृतिस्थितेन रसेन कदा सेवे। पूर्वन्तु श्यामेत्यादौ प्रेमरूपेण भावेन परिणतो रसइति भावः।

यद्वा अहह किं सौभाग्यं प्रियायाः प्रियस्य च, किं प्रेम, का वा रूपासक्तिः, किं वैदग्ध्यम् इत्यास्वादेन रसेन, न त्वैश्वर्यमाहात्म्यज्ञानेनेत्यर्थ इति बाह्यदशायां परिचर्य्याशंसनं साधकपक्षोऽर्थः। आन्तरे तु सख्यरसेनेति मूर्च्छायां जातायाम्, 'हा प्रिये पश्य प्राणप्रियदशां, किमिदानीं मोहनं कृतं, कानि वा सुकुमार्य्या मृदुहृदयार्द्रदृष्ट्या अपाङ्गतरंगितानि वाणा इव दृश्यमानान्यद्यैव प्रकाशितानि, किमेतावत्कालमस्मच्छद्मना गोपितानीति-को विश्रम्भस्ते, त्वदुपलालनैकप्राणव्रजराजस्य प्रवयसो बहुपुण्यपरिपाकज सूनौ, सकलव्रजजीवातौ नृशंसतैतावती नार्हा। निजामृतेन पोषयेत्यादि। पुनश्च वेणुस्त्वद्धानार्थे धृतः शिखण्डं स्वासक्तिचिन्हार्थं, पीतपटं

रसकलश

विक्रम की संसिद्धि रूपा हैं और जो अपने प्रति आसक्त (श्री श्याम) के शौर्य की सफलता हैं उन श्री राधिका जी की—मैं रस से कब सेवा करूँगी ? आगे श्रीराधाजी में रस का और व्रजमण्डन में भाव का सेवन करना कहेंगे, अतः यहाँ रस से सेवा करने की कामना करते हैं। श्रीस्वामिनी के आसज्या होने के उत्कर्ष के कारण प्रकृति में स्थित रस से कब सेवा करूँगी। हे श्याम ! हे सुन्दरवर' इत्यादि पूर्व श्लोक मे जो प्रेमरूप भाव था वह यहाँ रस रूप में परिणत हो गया है यह तात्पर्य है।

अथवा 'अहह ! प्रिया जी का कैसा सौभाग्य है और प्रियतम का भी ? क्या प्रिया जी प्रेमस्वरूपिणी ही हैं क्या प्रियतम प्रेमासक्ति ही हैं, कैसी नागरता है ? इस प्रकार के आस्वाद का नाम भी रस है, उस रस से (कब सेवा करूँगी) न कि उनके ऐश्वर्य और माहात्म्य के ज्ञान से, यह भाव है। इस प्रकार बाह्य अवस्था में सेवा की संभावना करना साधक के पक्ष में अभीष्ट है) आन्तरिक अवस्था में तो सख्यरस से तब सेवा करने की कामना है जब वैसी मूर्छा हो जाये। 'हा प्रिया जी, प्राणप्रिय (श्याम सुन्दर) की दशा देखो, इस समय तुमने इन पर क्या मोहन या सम्मोहन का प्रयोग कर दिया है अथवा अपनी अतिकोमल, मृदुहृदयता के कारण प्रेमार्द्र दृष्टि से बाण जैसे दीखने वाले किन कटाक्षों को आज ही प्रकाशित किया है ? क्या इतने समय से हम लोगों से छल करके वे छिपा रखे थे, अहो ! तुम्हारा क्या पता, क्या विश्वास ? तुम्हें प्रसन्न रखना ही जिनका प्राण है ऐसे व्रजराज जो बहुत बूढ़े हो चुके हैं उनके अनेक पुण्यों के परिपाक से उत्पन्न हुए 'सूनु' सुकुमार पुत्र पर—सम्पूर्ण व्रज के जीवन-दाता पर इतनी निष्ठुरता उचित नहीं है। इन्हें अपने अमृत से जीवित करो पुष्ट करो। फिर इनकी वंशी तो तुम्हें ही बुलाने के लिये है, मोरपंख भी तुम्हारे प्रति आसक्ति को

त्वदङ्गवर्णसूचकं स्वाङ्गपरिधानार्थमित्येवमनन्यत्वदासक्तिबद्धकंकणम्, किं निर्दयत्वेन वेण्वादि त्याजयसि यथा तव सौभाग्यचिन्हानि पतिमाङ्गल्यहेतूनि, तथायमपि त्वत्सौभाग्यधारको, यथा "अति अनुराग सुहाग परस्परे'' ति सहृदयवेद्यसख्यरसार्द्रवाक्येन कदा परिचरामीति तत्समये सैव परिचर्या, यत् परस्परयोरानन्दकौतुकं वर्द्धते । प्रिया मृदुहृदया सस्मिता स्यान्निजाङ्गसङ्गपीयूषसेचनं कुर्य्यात्, प्रियः स्वसाहाय्यं हितसखीकृतं साधु मन्यते, इत्येवं रसेनेति ।

व्यवधानपक्षे श्रीव्रजराजसदनस्थितिर्ज्ञेया, नवपरिणीतयोर्वर्णिनीवरयोः कुलसंघट्टे स्वस्वविविधलालनेन गुणरूपच्छविदर्शनसहजगाढतरानुरागवात्सल्यतनुमनोधननीराजनादिना क्षणमपि पार्श्वं हातुमशक्ते, तदपि हर्म्यवलभीषु स्वानुरागमर्मान्तरङ्गसखीभिर्नानातदेकप्रयत्नप्रवणं प्रिय-

रसकलश

सूचित करने के लिये ही है, पीताम्बर भी तुम्हारे श्रीअङ्गों के रंग की सूचना देने वाला होने के कारण अपने अङ्गों का आच्छादन करने के लिये है, इस प्रकार जिन्होंने अनन्य-भाव से तुम्हारे प्रति ही आसक्ति का कँकण बाँध रखा है, उन पर निष्ठुरता करके उनको वंशी आदि क्यों छुड़वाती हो। जैसे तुम्हारे सौभाग्य चिन्ह पति के मङ्गल के साधक हैं वैसे ही यह भी तुम्हारे सौभाग्य के चिन्हों को धारण करते हैं तभी तो 'अति अनुराग सुहाग परस्पर' इत्यादि कहा गया है। इसी प्रकार के सहृदयों द्वारा जाने जा सकने वाले सख्य रस से आर्द्र वाक्य द्वारा कब सेवा करूँगी ? इस कथन द्वारा सूचित किया है कि उस समय श्रीराधा जी की ही सेवा करनी चाहिये जिससे आपस में प्रिया-प्रियतम का आनन्द कौतुक बढ़े। प्रिया जी कोमल हृदय वाली होने के कारण सस्मित मुख से अपने श्रीअङ्गों के सङ्ग रूपी अमृत का सेवन करें और प्रियतम श्रीहित सखी द्वारा की गई अपनी सहायता को श्लाघनीय मानें इस प्रकार के रस से मैं प्रिया जी की कब सेवा करूँगी ?

साधक रूप और सखी रूप से सेवा की कामना का अभिप्राय बताकर अब व्यवधान—दूर रहने—के पक्ष में तात्पर्य लिखते हैं, तब ऐसा समझना चाहिये कि श्रीराधा और श्रीश्याम व्रजराज नन्द बाबा के महलों में हैं, नव वधू और नवीन वर हैं अभी-अभी परिणय विधि-विवाह मङ्गल—सम्पन्न हुआ है, परिवार के लोगों की भीड़ में इन्हें अनेक प्रकार से लाडप्यार दिया जा रहा है, परस्पर गुण रूप, और छवि के दर्शन से सहज अनुराग और गाढ गाढतर होता जा रहा है, वात्सल्य के कारण तन, मन, धन से इनकी आरतियाँ उतारी जा रही हैं इस समय दोनों एक क्षण के लिये भी एक दूसरे का पास छोड़ने में असमर्थ हैं, उस समय महल के छज्जों में अपने अनुराग मर्म का जानने वाली

मक्षिकोणेनापश्यत्तदानीं वेणुपतनादिश प्रियमूर्च्छा जाता, ततोऽत्र रसेन परिचरणमाह। प्रियं सावधानीकृत्य प्रियासमीपं नीत्वा परस्परविलासानन्दं कदा कारयिष्ये-इति परिचरामीति, स्वाकर्तृत्वांहितसख्वा यदुक्तं तस्यार्थः। एवं पद्यद्वयेन परस्परानुरागासक्तिर्दर्शिता ॥३८॥

ततो दम्पतिरसविलासस्मृतिः कृता, तदनन्तरं बाह्यदशायां, तत्स्मारं स्मारं दुर्लभतामाह—

तस्या अपाररससारविलासमूर्ते-
रानन्दकन्दपरमाद्भुतसौख्यलक्ष्म्याः।
ब्रह्मादिदुर्गमगतेर्वृषभानुजायाः
कैङ्कर्यमेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात् ॥३९॥

तस्याः पूर्वोक्तानुरागरसप्रभावाया उच्यमानायास्तदेवाह, रसानां विविधानां मध्ये सारः शृंगारः, सोऽपारोऽनन्तोऽव्यय

रसकलश

अन्तरङ्ग सखियों द्वारा अनेक प्रकार से निकटस्थ होने के प्रयत्न में लगे हुए प्रियतम को प्रिया जी ने कटाक्ष बाण से देखा, तब वंशी आदि गिर गये, प्रियतम को मूर्छा आ गई, उस समय यहाँ रस से सेवा करने के लिये कहते हैं। प्रियतम को सावधान (होश में ला) करके प्रिया जी के पास ले जाकर परस्पर विलासों द्वारा कब आनन्द प्रदान करूँगी यह तात्पर्य है।' सेवा करूँगी, इस कथन में श्रीहित सखी अपने आपको परिचारिका के रूप में कहती है उसका यही भाव है। इस प्रकार दो पद्यों द्वारा प्रिया प्रियतम के परस्पर अनुराग और आसक्ति का निर्देश किया गया।३८।

इससे प्रिया प्रियतम के रसविलास की स्थिति कही गई, इसके बाद बाह्य अवस्था में उसका स्मरण स्मरण कर करके उनकी दुर्लभता का वर्णन करते हैं—

'अपार रस के सार का विलास ही जिनकी मूर्ति (स्वरूप) है, जो आनन्दकन्द (श्रीश्याम सुन्दर) के परम अद्भुत सौख्य की लक्ष्मी (शोभा) हैं, ब्रह्मा आदि के लिये भी जिनकी गति दुर्गम (अज्ञेय) है, उन श्री वृषभानुनन्दिनी की किङ्करी होना ही मुझे जन्म जन्म में प्राप्त होता रहे।३९।

यहाँ पर 'तस्या' या 'उनकी' इस शब्द द्वारा पहले कही गई अद्भुत अनुराग और रस के प्रभाव वाली, तथा आगे कही जा रही (श्री वृषभानु नन्दिनी) की, किङ्करी होना ही मुझे प्राप्त हो। यह कहा गया है। अनेक रसो के मध्य में शृङ्गाररस सार है, यह शृङ्गार रस अपार अर्थात् अनन्त और अव्यय है, और नित्यहै, उस के विलास

एकरसो नित्य इति तस्य विलासा अन्तरङ्गपरिजनालीगम्यास्तेषामेकीकृत्य मूर्त्तिरेव रचितेत्यर्थोवा। 'रसो वै सः' तस्य सारो घनीभूतो वा तदंशी पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः, "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्युक्तेस्तस्य विलासार्थं वा तन्मयी मूर्त्तिर्यस्याः, यद्वा—अपारेत्युक्तेः—रससमुद्रस्तमुन्मध्य सार उद्धृतोऽमृतवत् सामान्यरसस्तस्य विलासा विशेषतां प्राप्ता विविधास्वादास्तन्मूर्त्तेर्लीलारूपाया इत्यर्थः, इति तादात्विकविलासस्य स्मर्यमाणस्योक्तिः।

पुनश्च, आनन्दकन्दः—आनन्दमयं ब्रह्मेत्युक्तेः—तस्य कन्दो मूलभूतः सविशेष आनन्दघनस्तस्यापि परमद्भुतसौख्यसंपत्तेरिति। अद्भुतेति—विस्मयजननं नैतादृशं क्वचिदस्तीति वा नवनवत्वेन चमत्कृतियुक्तम्। तत्र तु द्रष्टुर्ज्ञातुः पदस्थितिः परमत्वे तु विस्मयेन हर्षमूर्च्छित एव स्यादिति, परमाद्भुतं वैचित्यजनकमित्यर्थः। तादृशसुखस्य भावस्तत्प्रवृत्तिनिमित्तं सारभूतं सुखं, तत्सम्पत्तेर्वैभवरूपाया इत्यर्थः। यद्वा एका प्रसिद्धा लक्ष्मीरनपायिनी विष्णुहृदयस्थैव श्रूयते साऽपि पदोपलालनं करोति

रसकलश

जिनको अन्तरङ्ग सखीजन ही जान सकते हैं उन सबको एकत्र करके ही उनकी मूर्ति (श्री वृषभानुनन्दिनी) बनाई गई हैं, यह तात्पर्य है। 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व रस है, उसके सार या घनीभूत स्वरूप, अथवा उसके अंशी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा या आधार हूँ श्रीमद्भगद्गीता के इस वचन के अनुसार रससार श्रीकृष्ण हैं, उनके अपार विलास के लिये अथवा अपार विलासों से परिपूर्ण मूर्ति है जिसकी (ऐसी श्रीवृषभानु नन्दिनी हैं) अथवा अपार कहने का तात्पर्य यह है कि रस के समुद्र को मथकर उसका जो सार निकाला गया है वह अमृत के समान है उसके विलास विशेषता को प्राप्त हुए अनेक प्रकार के आस्वाद हैं उनकी मूर्ति लीलारूपिणी श्री वृषभानुनन्दिनी हैं यह भावार्थ है। यह उस समय के विलासों का स्मरण आने पर कहा गया है।

फिर आनन्द कन्द'—'आनन्दमय ब्रह्म' इस श्रुतिवचन के अनुसार आनन्द के कन्द या मूलभूत सविशेष रूप से आनन्द घन श्री श्याम सुन्दर हैं उनके भी परम अद्भुत सौख्य की सम्पत्ति (श्री वृषभानु नन्दिनी) हैं। यहाँ पर 'अद्भुत' का तात्पर्य है कि ऐसा विस्मय जनक और कहीं नहीं है, अथवा नवीन से नवीन होने के कारण चमत्कारयुक्त और कुछ नहीं है। अद्भुत वस्तु में तो द्रष्टा या ज्ञाता की पदस्थिति बनी रहती है परन्तु परम अद्भुत वस्तु में तो विस्मय और हर्ष के कारण द्रष्टा मूर्छित ही हो जाएगा, अतएव परम अद्भुत वैचित्य (प्रेम के कारण बेमान अवस्था) का जनक है। ऐसे परम सुख का भाव या उस सुख का प्रवृत्ति निमित्त सारभूत सुख है, उस सौख्य की सम्पत्ति अर्थात् वैभवरूपा श्रीवृषभानु नन्दिनी हैं। अथवा एक प्रसिद्ध लक्ष्मी हैं जो अनपायिनी कहीं न जाने वाली हैं और विष्णु के हृदय में स्थित हैं ऐसा सुना जाता है। वह भी

तस्यास्तु "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" इति स्थित्या गोपीनामद्भुतत्वम्। यथा च वक्ष्यति,:—

'लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतै-
राराध्यं व्रजमण्डलेऽतिमधुरं राधाभिधानं परम्।'

इति तदास्यास्तु परमाद्भुतत्वं यदस्याः पदोपलालनं प्रियः स्वेष्टतया करोति, यद्वा अद्भुतं स्वविस्मयं स्वस्वरूपलक्ष्म्यामेव स्थितं 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदमिति' तादृशविस्मयरूपवतोऽपि विस्मापनात् परमाद्भुतत्वमित्यपि तादात्विकानन्दघनसौख्यातिशयस्मृत्योक्तम्।

अथ तदेव बाह्ये वक्तुं सजातीयाशयेभ्यो हृदयमुज्जृम्भितं, तेषु तादृशो न कोऽपि दृष्टः। किञ्च लोके किमुच्यते, वेदमूर्त्तीनां ब्रह्मादीनामपि दुर्लभत्वं दृष्टं, ततः शिरो धुन्वान आह, ब्रह्मादीनां दुर्गमा गतिर्यस्याः। किञ्च, "यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेक" मित्युक्तेः साधारणव्रजप्राणभृत एवं

रसकलश

विष्णु के चरणों को सहलाती रहती हैं, नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, 'यह प्रसाद या कृपा नितान्त प्रीति रखने वाली लक्ष्मी जी को भी प्राप्त नहीं है। इस प्रकार की स्थिति के कारण उसकी अपेक्षा गोपीजन को अद्भुत कहा गया है जैसा कि कहेंगे—

'कोटि कोटि लक्ष्मियों को भी लज्जित करने वाले लक्षणों से सुशोभित लीला वाली शतशत किशोरियों द्वारा आराधनीय ऐसी श्रीराधा नामक अति मधुर ज्योति व्रजमण्डल में है।'

तब श्रीराधा का परम अद्भुत होना स्वतः सिद्ध है क्योंकि अपनी इष्ट देवी मानकर प्रियतम इनके चरण सहलाते हैं। अथवा अद्भुत तो निजस्वरूप लक्ष्मी में ही विस्मय के कारण स्थित होता है जैसा कि विस्मापन स्वस्य चसौभगर्द्धेः परं पदम्, अपने आप को विस्मित कर देने वाले सौभाग्य समृद्धि के परम आस्पद' इत्यादि में कहा गया है, वैसे विस्मापक स्वरूप वाले को भी विस्मित कर देने के कारण श्रीराधा जी में परम अद्भुतत्व है यह बात भी तात्कालिक आनन्दघन के सौख्य के अतिशय का स्मरण करके कही है।

अब उसी को बाहर के सम्बन्ध से अपने समान भावना वाले भावुकों को कहने के लिये हृदय उमड़ पड़ा, किन्तु उनमें ऐसा कोई दिखाई नहीं दिया। अथवा लोक में कहाँ से कोई मिलता जब कि यह तत्त्व वेदमूर्ति ब्रह्माआदियों के लिये भी दुर्लभ देखा गया है तब सिर हिलाते हुए कहने लगे कि 'ब्रह्मा आदियों के लिये भी दुर्गम है गति जिनकी'। क्योंकि ब्रह्मस्तुति में 'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्', वह इस लोक में बड़ा सौभाग्य है कि श्रीवृन्दावन में कोई सा भी जन्म प्राप्त हो जाये या गोकुल में भी कोई सा भी जन्म हो जाए, जिस जन्म से किसी भी गोपी की चरण रज से अभिषेक प्राप्त हो सकता हो' इत्यादि उक्ति में साधारण

दुर्लभा यदा गोपा गोप्यः किमुततरां ततोऽपि—

"न दैवैर्ब्रह्माद्यैर्नखलु हरिभक्तैर्नसुहृदादिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम् ।"

इत्युक्ते श्रीमत्यास्तु किमुततमां दुर्गमत्वं, तदा लोके जनैः कथं प्राप्यते, चेत्तत्र कृपया साधकसजातीयान् प्रति शिक्षयितुम् "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते ।" इति वत्स्वदैन्यं दर्शयति, एतादृश्या दुर्गमाया अपि लोके कृपया वृषभानुगेहे प्रादुर्भूतायाः ।

ननु तत्समयस्था जनाः साधु पश्यन्तु किमस्माकम् । तत्राह मम जन्मनि जन्मनि तस्याः कैङ्कर्य्यमेव स्यादित्याशंसामि, अन्ये भवन्तोऽपि कैङ्कर्य्याशंसनं तु कुर्वन्तु,'किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपीति' वक्ष्यमाणत्वात् । साक्षाद्दर्शनं मा भवतु, कैङ्कर्य्येऽपि सेवास्वरूपविग्रहादौ, अहह कियदनिर्वचनीयं सुखम्, किञ्चात्र तादृशानां महाविरहोद्दीपनार्त्या प्रेमाश्रु

रसकलश

व्रजवासी प्राणी भी दुर्लभ हैं तब गोप और गोपियों की दुर्लभता का तो क्या कहना, उस पर भी—

'न ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा न हरिभक्तों द्वारा और नही मित्र (श्रीदामा, सुदामा) आदियों द्वारा' जो श्रीराधा और श्रीमधुसूधन का रहस्य किसी के द्वारा भी भली भाँति नहीं जाना गया है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार श्रीराधाजी का अत्यन्त दुर्लभ होना सिद्ध ही है, तब संसार के जनों से उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है जब ऐसी बात है तब वहाँ कृपा करके अपने साधकों सजातीयों को समझाने के लिये 'जो जो काम श्रेष्ठ पुरुष करते हैं दूसरे छोटे पुरुष भी वही वही काम किया करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जिस आचार मर्यादा को प्रमाण बना देते हैं लोक उसका अनुरक्षण या अनुगनन किया करते हैं।' इसके अनुसार दीन भाव के साथ बताते हैं– ऐसी दुर्लभ होती हुई भी जो (श्रीराधा) कृपा करके श्रीवृषभानुजी के महलों में प्रादुर्भुत है उनकी (मैं जन्म जन्म किङ्करी बनूँ)

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो उस समय के लोगों ने उनका भली भाँति दर्शन किया होगा, वे दर्शन करें हमें इनसे क्या प्रयोजन, तो उस पर कहते हैं— कि मुझे जन्म जन्म में उनकी किङ्करी होने का अवसर प्राप्त हो बस यही सम्भवना या आशा करता हूँ। आप सब भी उनकी ही किङ्करी होने की अभिलाषा करें। आगे कहेंगे भी कि 'वृन्दावन भूमि में कोटि कोटि जन्मो के बाद भी निवास प्राप्त करने की मधुर आशा तो हो'।

अर्थात् भले ही साक्षात् दर्शन नहों, किङ्करी भाव प्राप्त होने परभी जो स्वरूप विग्रह आदि की सेवा का सुअवसर है वह भी प्राप्त न हो किन्तु श्रीवृन्दावन में वास प्राप्त करने की आशा तो हो। अहहा, यह कितना परम है !' यह कहने से क्या अनिर्वचनीय सुख है। यहाँ वैसे भावुकों के लिये महाविरह के उद्दीपन की आर्ति (व्यथा)

पुलकगद्गदादिदशानुभवनं सजातीयसमागमादि च महानन्ददम्, एतावदेव दुर्लभम्, किञ्च जन्मान्तरायान्न जाने किंशीलं स्यादिति कैङ्कर्यमेव, स्यान्नान्यदिति स्वेष्टात्प्रार्थनं साधकापेक्षार्थकं यच्चोक्तं सनकाद्यैः—"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदनु ते पदयो रमेत । वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः"। इति पश्चात्कृपयाङ्गीकरिष्यत्येव सा करुणासिन्धुरिति, किञ्चायमपि 'विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः, इत्युक्तेः कैङ्कर्याशंसनमेव श्रेष्ठमिति ।

अथ तन्मुखोक्तिपक्षे बाह्यदशैव जन्ममननं यथा 'उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम' आविर्भावस्तु सम्भव' इति श्रीतृतीयोक्तिवत् यदान्तरङ्गदशायां भावनानिष्ठता तदा तु तद्धितालोविग्रहतयैव नित्याङ्गसङ्गिनीत्वं तत्र कैङ्कर्यमपि तादात्विकार्हं यदा बाह्यदशा तदालोकदर्शने पुनर्जन्ममननमित्याधुनिकार्हं कैङ्कर्य मिति जन्मवीप्सार्थः ।।३९।।

रसकलस

से प्रेमाश्रु, पुलक, गद्गद आदि दशा का अनुभव करना सजातीयों का समागम आदि भी महा आनन्द देने वाला होता है। इतना ही दुर्लभ है। फिर मैं जन्म के विघ्न से नहीं जानता कि क्या शोल हो ?' 'केवल किङ्करीभाव ही प्राप्त हो और कुछ नहीं' इतनी अपने इष्ट देव से प्रार्थना करना साधक की अपेक्षा के लिये कहा गया है । जैसा कि श्रीसनकादियों ने कहा है—

'भले ही अपने पापों के कारण हमारा जन्म नरक लोक में हो किन्तु हमारा चित्त तो भ्रमर की भाँति आपके चरण कमलों में ही रमण करता रहे और हमारी वाणी तुलसी के समान उसके चरणों की शोभा हो और हमारे कर्णविवर आपके गुणगणों से परिपूर्ण हो ।'

बाद में वे करुणा सिन्धु कभी कृपा के द्वारा अङ्गीकार करेंगे ही । और फिर यह भी 'जिससे रसग्रह हो उसको छोड़ना न चाहे ।' इस उक्ति के अनुसार किङ्करी भाव की आशंसा या कामना करना ही श्रेष्ठ है ।

अब उनके श्रीमुख की उक्ति होने के पक्ष में बाहरी दशा को ही जन्म मानना चाहिये जैसा कि 'द्रव्यों का दर्शन होना ही उत्पत्ति है और सम्भव या प्रकट भाव हो आविर्भाव है ।' इस तृतीय स्कन्ध की उक्ति के अनुसार जब अन्तरङ्ग दशा में भावनानिष्ठ हो जाते हैं तब तो श्रीहित सखी जी के श्रीविग्रह के द्वारा ही नित्य अङ्ग-सङ्गिनी होना उस समय के योग्य समझा जाएगा । जब बाहरी दशा होती है और लोक का दर्शन होता है तब फिर जन्म माना जाता है इस प्रकार आधुनिक जन के योग्य किङ्करी भाव है यह 'जन्म' शब्द को दो बार कहने का तात्पर्य है ।३९।

एवं लोकापेक्षया दुर्गमोक्तावपि स्मृतकण्ठमणिवत् पुनः स्वानुभवेन तन्नेत्रगोचरतया नित्यमेव विराजमानां श्रीवृषभानुगृहलीलां दृष्ट्वा ज्ञात्वा चाह—

पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं,
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे,
स्यात् किङ्करीभवितुमेव ममाभिलाषः ॥४०॥

यद्भगवतः परं ज्योतिस्तद्वृषभानुगेहे कृपया प्रादुरस्तीति सम्बन्धः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति निरवधिकातिशयसकलकल्याणगुण निलयस्य श्रीकृष्णस्य नन्दनन्दनस्य परं ज्योतिरिति 'नमो नमस्ते' इत्यत्र निरस्तसाम्यातिशयेन राधसेति साम्यातिशयनिषेधात्तस्यापि परं पूर्वोत्तर-दलवत् । किञ्च सर्वेषां पर्यवसानस्थितिः प्रेमास्पदे भवति । अत आह रतिमत्

रसकलश

इस प्रकार लोक की अपेक्षा से दुर्गम कहे जाने पर भी याद आ गई कण्ठ की मणि के अनुसार फिर अपने अनुभव से तभी उनके नेत्रों की गोचरता के कारण नित्य ही विराजमान श्रीवृषभानु जी के घर की लीला को देखकर और जानकर कहते हैं—

'पूर्ण अनुराग और रस की मूर्ति, तडिल्लता के समान आभावाली भगवान् की रति युक्त रहस्य भूत परम ज्योति है जो कृपा करके श्रीवृषभानु जी के घर में किङ्करी होने के लिये ही मेरी अभिलाषा हो ।४०।'

जो भगवान् की परम ज्योति है वह वृषभानु जी के घर में कृपा से प्रादुर्भूत हुई है यह अन्वय है । 'कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं । इत्यादि वचनों के अनुसार जिसकी कोई अवधि नहीं जिनसे कोई अधिक नहीं ऐसे सभी कल्याणमय गुणों के आश्रय नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की परम ज्योति हैं जैसा कि 'नमो नमस्ते' इत्यादि पद्य में जिसने 'साम्य और अधिकता दोनों को दूर कर दिया है ऐसे राधस् या राधा नामक ज्योति के साथ' इत्यादि द्वारा उनके साम्य और अतिशय का निषेध होनेके कारण उनकी पर ज्योति जैसे अङ्कुर में पूर्व दल और उत्तर दल दो दल होते हैं उसी प्रकार वे एक दल है । एक बात और भी तो है कि सभी का पर्यवसान अन्त में प्रेमास्पद में ही होता है । इसीलिये यहाँ कहा गया है कि रतिमत् अर्थात् परमात्मा के समान प्रेमास्पद का भी प्रेमस्पदा

परमात्मवत् प्रेमास्पदस्यापि प्रेमास्पदमिति धर्मित्वकथनम् आधाराधेयभावेन द्वितीयमहंभावं विना रमणासम्भवः, अतस्तदधीनत्वात्परं तत्रापि रहस्यम् किञ्च प्रेमास्पदास्तु अन्ये भक्तसुहृदादयोऽपि तत्र तत्रोक्ता यथा 'नाहमात्मानमाशासे नैवात्मा च यथा भवान्' इत्यादि अपीदं तु तेभ्योऽपि गोप्यं यथा—'दूरे सृष्टयादिवार्ता' इत्यादौ अत्र स्वासक्तत्वैकमुख्यत्वम्, अत्यत्र स्वास्यमिति बहुभेदः ।

ननु भवादृशैरपि तु ज्ञायते, अतो रहोयोग्यं रहस्यं न तु रहः । किञ्च तदर्हपरिजनानां तु न रहः । अन्येषामनधिकारिणां गोप्यमेवेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् ।

परमित्यनेन ज्योतिरवरमपि किञ्चिदस्तीत्यपेक्षायां ब्रह्मज्योतिर्निगुणं निर्विकारमित्यवरम्, मध्यं भगवानपरं श्रीराधेत्यर्थादुपलब्धं ज्योतिः कथनेऽपि तात्पर्यम्, किं चेत् तत्र बहुशः शास्त्रैश्वर्यताडि-

रसकलश

इस प्रकार दोनों का धर्मी होना कहा गया और उनमें आधार आधेय भाव सम्बन्ध बताया गया। जब तक कोई दूसरा न हो और जब तक दोनों में अहंभाव न हो तब तक रमण नहीं हो सकता, अतः श्रीश्याम सुन्दर के श्रीराधा के अधीन होने के कारण श्री राधा परम ज्योति हैं और उस पर भी वे रहस्य भूत हैं। भगवान् के प्रेमास्पद तो और भी भक्त, सुहृज्जन आदि हैं जो उन उन प्रसङ्गों में कहे गये हैं जैसे कि मैं अपने को उतना नहीं चाहता, मुझे अपना आप उतना प्रिय नहीं है जितने आप प्रिय हैं। इत्यादि में। किन्तु श्री राधा नामक यह ज्योति उनसे भी गोपनीय है जैसा 'सृष्टि आदि की वार्ता दूर है।' इत्यादि में कहा है। यहाँ श्री श्याम सुन्दर का आसक्त होना ही प्रधान है जब अन्य लीला धामों में उनका स्वामिभाव है इस प्रकार परस्पर बहुत भेद है।

यहाँ प्रश्न होता है कि श्रीराधा नामक पर ज्योति गोप्य हो पर आप जैसे महानुभाव तो उसे जानते हैं, अतएव उन्हें रहस्य या दुर्गम अर्थात् एकान्त के योग्य कहा है एकान्त या अगम नहीं कहा, क्योंकि अधिकारी जनों के लिए वह अगम नहीं है। अन्य अनधिकारियों से तो वह गोपनीय हो है ऐसा न कहने पर भी जान लेना चाहिये। यहाँ पर परज्योति है।' यह कहने से क्या।

कोई ज्योति अवर भी है? इस जिज्ञासा में कहते हैं कि ब्रह्मज्योति जो निर्गुण और निर्विकार कही जाती है वह अवर है और भगवान् मध्यम हैं, अपर ज्योति श्रीराधा हैं यह अर्थात् स्वयं जान लिया जाता है। यहाँ उन्हें ज्योति कहने में भी विशेष तात्पर्य है, लोक में अनेक शास्त्रों में वर्णित ऐश्वर्य से जिनके कान अनेक बार टकराये हैं।

तेकर्णानामेतद्रसोन्मुखानां साधकानां स्वेष्टे यथार्होत्कर्षबोधनं माहात्म्य-ज्ञापनेन भावोत्कर्षदार्ढ्यर्थम्, अन्यथा स्वस्य वा तादृशसहृदयानां तु नैश्वर्यज्ञानं साधकम् अपि चाप्तवाक्यं प्रमाणमितिन्यायेन यादृशं वस्तु तत्सत्यं कथनीयमेव,तदपि माधुर्यपोषकम् तदेव माधुर्यमाह–वृषभानुगेहे प्रादुरस्तीति । यथा सूर्यो निजमण्डलस्थ उदेतीतिवज्ज्योतिः प्रादुर्भाव एवं मण्डलवत् सूर्य-सहकारित्वाद् वृषभान्वादीनामपि नित्यत्वम् । अन्यथा लोकवल्लीलामाधुर्यस्य नित्यताक्षतिः स्यात् । अस्तीति वर्तमानेनाद्यापि श्रीवरसान्वादिषु वात्सल्यादिलीला नित्यैव राजते तत्तु कृपयेति नेदं कर्मज्ञानादिसाधनेन लभ्यम् । किञ्च ब्रह्मादिदुर्गममपि कृपया किं किं न कुर्य्यात्, साधारणाधुनिक-लोकानामपि मत्कृपयैव ज्ञानं न साधनादिना । स्वत इति पोषणार्थम् यथा 'पोषणं तदनुग्रह' इति निःसाधनफलात्मत्वं स्वस्य दर्शितम् ।

रसकलश

किन्तु आज वे भी इस रस के लिये उन्मुख या उत्सुक हो उठे हैं, ऐसे साधनों को अपने इष्ट का यथायोग्य उत्कर्ष समझाता है और माहात्म्यज्ञान द्वारा उनके भावोद्रेक को दृढ करता है अतः यहाँ ज्योति कहा । अन्यथा अपने आपको और अपने सहृदयों को ऐवश्यंज्ञान कोई सिद्धि देने वाला नहीं है । दूसरी बात यह भी है आप्त पुरुषों के वचन प्रमाण होते हैं इस न्याय से जो वस्तु सत्य है उसे कहना ही चाहिये । उसमें भी जो है माधुर्य का पोषक है उसे तो अवश्य ही कहना चाहिये । अतः यहाँ उसी माधुर्य का वर्णन करते हैं—वह श्रीवृषभानुजी के महल में प्रकट है । जैसे सूर्य अपने मण्डल में ही स्थित हुआ उदय होता है वैसा ही उदय होने के कारण प्रादुर्भाव शब्द का प्रयोग किया है । ऐसे ही मण्डल के समान सहकारी होने के कारण वृषभानु आदि भी नित्य हैं । नहीं तो लोक के समान लीला माधुर्य की नित्यता की क्षति हो जाएगी । 'प्रादुरस्ति' में 'अस्ति' शब्द के वर्तमान काल (के वाचक प्रत्यय) से आज भी श्री बरसाना आदि धामों में वात्सल्य आदि भावों के अनुकूल लीलाएँ नित्य रूप में ही विराजती हैं । किन्तु यह प्रादुर्भाव या प्राकट्य कृपा के द्वारा हुआ है, यह कर्मानुष्ठान या ज्ञान आदि साधनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता । एक बात और भी है कि ब्रह्मा आदि के लिये दुर्गम होती हुई भी ज्योति कृपा के द्वारा क्या क्या नहीं कर सकती, साधारण आधुनिक लोगों को भी जिनकी कृपा से उनका कुछ ज्ञान (परिचय) प्राप्त हो सकता है साधन आदि से नहीं । कृपा से प्रादुर्भूत है यह कथन का तात्पर्य है कि स्वयं प्रकट है, यह स्वयं प्रकटता निज किङ्करीजनों के पोषणार्थ है, पोषण के अनुसार ही उनका अनुग्रह जाना जाता है इसका तात्पर्य है कि उनका स्वरूप साधन के बिना प्राप्त होने वाला फल है ।

ननु जीवा अत्र चिन्तया मुक्ताः शिथिलाः स्युस्तत्राह कैङ्कर्य्याभिलाष-स्तु न निवारितः। तदाशैकार्तिस्तु नित्यस्थायिन्येवार्हा ततः पोषणं किं न भवेदिति सिद्धान्तः। परज्योतिर्दर्शनाभावादिह माधुर्येण प्रादुर्भूतम् ज्योति-र्लौकगोचरोपमानेन विशिनष्टि—तडिल्लताभम् अनेन भास्वरगौरवर्णसचम-त्कृतिलज्जानिलयनचाञ्चल्यकौतुकिशीलकृपावर्षोन्मुखता घनश्यामाङ्कशोभ-नता च दर्शिता। लतयाङ्गसौकुमार्य्यवलनादि माधुर्य्यम्—अनेन भगवतो घनत्वं स्वत एवायातम् पूर्वं घन उदेति, पश्चात् परतया तडिदुदय. एवं पूर्वं श्रीकृष्णोदयः पश्चात् प्रियाया इत्यपि। तडिदित्यग्निशङ्कया यत्प्रकृतिकं ज्योतिस्तदेवाह—पूर्णयोरनुरागरसयोर्वा तावेव मूर्त्तिर्यस्य तत्। अनुरागः प्राकृतिकप्रेमा, प्राकृतिकासक्तिररिति रस आस्वाद आनन्दो, विगलितवेद्यान्तरता। दम्पत्योरेकरूपत्वेऽपि मुख्योऽनुरागः प्रिये, प्रियायां

रसकल

अब प्रश्न होता है कि ऐसा होने पर जीव चिन्ता से मुक्त हो जाएँगे और साधन में शिथिल हो जायँगे इसका उत्तर देते हैं कि किङ्करी होने की अभिलाषा तो नहीं छोड़ी, या उसका तो निषेध नहीं किया। उस आशा में एक अतिया आतुरता तो नित्य स्थायी रूप में रहनी ही चाहिये, यदि ऐसी आतुरता बनी रहेगी तो पोषण क्यों नहीं होगा अर्थात् पोषण होगा ही यह सिद्धान्त है। परमज्योति का दर्शन नहीं होता अतः वह यहाँ माधुर्यभाव से प्रादुर्भूत या प्रकट हुई है, लोक गत उपमान द्वारा उस ज्योति का विशेषण बताते हैं—'तडिल्लताभम्' विद्युत्-रूपी लता के समान आभा या कान्ति-वाली इस उपमान से भास्वर गौरवर्ण और चमक के साथ लज्जा के कारण छिप जाना, चञ्चलता, कौतुकी स्वभाव, कृपादृष्टि की वृष्टि करने की उत्सुकता और घनश्याम (श्याम घन के समान घनश्याम) के अंक में सुशोभित होना सभी बातें दिखा दी गई हैं। केवल विद्युत् न कह कर विद्युत् रूपी लता कहने से अङ्गों की सुकुमारता, लचक के साथ अङ्गों का मुड़ना आदि माधुर्य भी प्रकट किया गया है। श्रीराधा जी को तडिल्लता कहने से भगवान् श्यामसुन्दर का घन या मेघ स्वरूप होना स्वतः सिद्ध हो गया। पहले मेघ छाते हैं बाद में बिजली चमकती है, ऐसे ही पहिले श्रीकृष्ण का आवि-र्भाव हुआ और बाद में प्रिया जी का प्रादुर्भाव हुआ यह बात भी 'विद्युत्' उपमान से प्रकट होती है। तडित् या विद्युत् कहने से उनका अग्नि स्वरूप होना प्रतीत न हो अतः जिस प्रकृति या स्वभाव की यह ज्योति है उसका वर्णन करते हैं - पूर्ण अनुराग और रस की मूर्ति, या पूर्ण अनुराग और रस ही हैं मूर्ति जिसकी (ऐसी ज्योति वह है)। यहाँ प्राकृतिक प्रेम को अनुराग और प्राकृतिक आसक्ति को रस कहा गया है। आस्वाद आनन्द है जिसमें अन्य किसी ज्ञेय पदार्थ का स्पर्शलेश भी नहीं है। यद्यपि प्रिय प्रियतम

रसस्तदपि प्रेमवैचित्योदयात् पूर्णतयैव द्वयमेकत्र स्थितं राजते पूर्णेत्युक्तेर-न्यत्र श्र्यांशेषु नैताद्दशत्वमिति—अतएव परत्वम्, तस्याः किङ्करीभवितुमेव ममाभिलाषः स्यादिति साधकार्थः स्पष्ट एव। कदा तद्दास्येन तामुपलालयामि, तामनुव्रजामि, तद्विविधसेवामनुशीलयामीति दासीभवनं विना नान्तरङ्ग-सेवाधिकार इति प्रसिद्धमेव। आन्तरे तु स्यादिति सम्भावनार्थश्चेत् प्रेमवैचि-त्यवत् किं वा स्वप्नो वा साक्षादितिवत्ताद्दशीत्वे किङ्करीभवनाभिलाषो मम किं स्यादिति कल्पनम्, किं च लोके कैङ्कर्यं कुतस्तमामभिलाषमात्रमपि न द्दष्टम् इत्याशयरूढेन मनसोक्तं कल्पनं विधिश्चेन्ममायमेवाभिलाषः स्यादेव नान्य इत्यनन्यतयाऽवश्यकत्वान्नित्यविधिरेव। ननु ताद्दशकिंकरीणां पुनस्तदभिलाषे को हेतुस्तत्र वस्तुस्वभाव एव, न तत्र वस्तुस्वादनेन ताद्दशानां रुचिक्षय

रसकलश

(दम्पति) एक रूप हैं तथापि उनमें मुख्यतया अनुराग प्रियतम में है और रस प्रिया जी में है, वे अनुराग और रस भी प्रेमवैचित्य की अवस्था का उदय हो जाने से पूरी तरह दोनों एक ही पात्र में स्थित होकर बिराजमान हो रहे हैं। पूर्ण कहने से अन्य अंशों में अनुराग और रस की ऐसी स्थिति नहीं है यह प्रतीत होता है। अतएव इस (अनुराग और रस) में परता या परमता भी है।

ऐसी (श्री राधा जी) की किङ्करी होने की ही अभिलाषा मेरे मन में हो, यह साधक पक्ष में अर्थ है जो स्पष्ट ही है। मैं कब उनके दासी होकर उनका उपलालन-लाडप्यार, दुलार—करूँगी, कब उनके पास जाऊँगी, उनकी अनेक प्रकार की सेवाएँ बार-बार करूँगी क्योंकि दासी हुए बिना तो अन्तरङ्ग सेवा का अधिकार मिल ही नहीं सकता यह बात प्रसिद्ध ही है। आन्तरिक या सखीपक्ष में तो 'स्यात्' का सम्भा-वना अर्थ यदि किया जाए तो प्रेम वैचित्य के समान होगा क्या यह स्वप्न है या साक्षात् है इस प्रकार की अनेक कोटि वाली प्रीतिति में होगा। क्योंकि जब मैं इतनी अन्तरंङ्ग हूँ तब केवल दासी बनने की अभिलाषा न देखी गई। और ऐसा होने पर दासी होने की अभिलाषा मेरे मन में क्यों होगी यह कल्पना करनी पड़ेगी, और भी एक बात है लोक में तो श्रीराधा जी की किङ्करी होना तो कहाँ, किङ्करी होने की अभिलाषा भी नहीं देखी गई इस अभिप्राय से रूढ मन से कहा गया है कि यदि कल्पना ही करनी हो तो मेरी यही अभिलाषा हो, इसके अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं। इस प्रकार अनन्यता के कारण आवश्यक होने पर नित्य विधि ही है। अब प्रश्न होता है कि जो वैसी किङ्करी हैं उनके मन में वैसी अभिलाषा होने का क्या कारण है? उस पर कहते हैं कि यह वस्तु का स्वभाव ही है क्योंकि यहाँ वस्तु का स्वाद लेते हुए उस स्थिति को प्राप्त हुए सिद्धजनों की भी रुचि का नाश कभी नहीं होता, अतः कोई अनिर्वचनीय

इत्यनिर्वचनीय एव व्यवहारो यत्तृष्णा पुनर्नवैव, न शान्तिमुपैष्यतीति ॥४०॥

प्रादुर्भावस्मरणानन्तरं तावत् परमाह्लादमयं वदनं हृदि स्वयमनुभूय चन्द्रतया स्मरति, यद्वा पूर्णमङ्गवर्णचाञ्चल्यसाम्यात्तडिदाभं ज्योतिरित्युक्तम्, ततो वदने चन्द्रज्योतिरुपमार्हतया तादृशं स्मरति—

प्रेमोल्लद्रसविलासविकाशकन्दं
गोविन्दलोचनवितृप्तचकोरपेयम् ।
सिञ्चन्तमद्भुतरसामृतचन्द्रिकौघैः
श्रीराधिकावदनचन्द्रमहं स्मरामि ॥४१॥

परात्परश्रीमत्या जनकजननीमुखभूषणबहुलालनीयनाम्न्या लाडलाया वदनचन्द्रं रूढ्यामपि सकलमनोदृगाह्लादकं योगिकेऽपि तादृशसंलापामृतवर्षिणं श्रवणाह्लादकं स्मराभि । अहमिति विशेषोक्तिः स्वतदीयत्वप्रेमगर्वसूचिनी

रसकलश

ही व्यवहार है जिसमें तृष्णा फिर नई ही होती जाती है जो कभी भी शान्ति प्राप्त न करेगी ॥४०॥

प्रादुर्भाव का स्मरण करने के बाद हृदय में सर्व प्रथम परम आल्हादमय श्रीमुख का स्वयं अनुभव करके चन्द्ररूप से उसका स्मरण करते हैं। अथवा सम्पूर्ण अङ्गों के वर्ण और चञ्चलता के सादृश्य से ही उस ज्योति को बिजली के समान कान्ति वाली ज्योति कहा है तब मुख में चन्द्र ज्योति के समान रूप होने के कारण उसी रूप में उसका स्मरण करते हैं—

'प्रेम के कारण उल्लसित हो रहे रस के विलासों के विकास का कन्द या मूलभूत, श्री गोविन्द के नेत्ररूपी अतृप्त चकोरों द्वारा पिये (देखे) जाने के योग्य और अद्भुत रस रूपी अमृत (बरसाने) वाली चन्द्रिका के प्रवाहों से (अपनी कृपापात्र किङ्करियों और श्यामसुन्दर को) सींच रहे श्रीराधिका जी के मुखचन्द्र का मैं स्मरण करता हूँ ॥४१॥

परात्पर तत्त्व स्वरूप श्रीमती (राधा जी) का नाम माता (कीर्तिदा जी) और पिता (वृषभानु जी) के मुख का भूषण बना हुआ है अतएव बहुत ही लालनीय (लाड-प्यार से लिया जाने वाला है, ऐसी लाडली (श्री राधा जी) का वदन (मुखरूपी) चन्द्र वदन चन्द्र रूढि (प्रसिद्धि) से भी सब के मन और नेत्रों को आह्लादित करने वाला है योग (व्युत्पत्ति) से भी उस प्रकार के वचनामृतों की वृष्टि करने के कारण श्रोत्रों को आनन्द देने वाला है मैं उस वदन चन्द्र का स्मरण करती हूँ। यहाँ पर 'अहं'

परस्मैपदेन स्वाश्रितजनपरगामिफलमुक्तं, मद्रीत्या भवन्तः स्मरन्त्वितिवर्तमानेन तादृशस्मरणनित्यानुभूयमानता च चन्द्रसाधर्म्यमपि वैलक्ष्यण्येनाह ।

प्रेम्णा उल्लासं प्राप्नुवन् यो रसः, यथाग्निसंयोगात् पय उत्फणितं स्यात्, अत एव प्रेम्णस्तापात्मकत्वम्, अत्यन्तसंमोहाभिलाषजो मनःक्षोभधर्मस्तस्य कार्यं सात्त्विकादि रसस्तु आनन्द आस्वादो बिगलितवेद्यान्तरता सुखमयः स यदा प्रीत्या संवलितस्तदैवोज्जृम्भितः स्यादित्यनेन शुद्धासक्तिमयः श्रृंगाररसस्तस्य विलासाः प्रेमवैचित्यमयविविधकेलयस्तत्प्रकाशकं प्रियस्य यद्दर्शनात् प्रेमरसोदयः स्यादिति—अत एव प्रेमोल्लसदिति ।

तस्य विलासा विविधतरङ्गास्तेषां विकासस्य कन्दं मूलं मुख्यहेतुमिति यद्वा उक्तरसविलासा एव कैरवरूपास्तेषां फुल्लनहेतुं, यथा चन्द्रो घटपटादेः

रसकलश

या 'मैं' यह एक विशेष कथन है जो अपने आपके तदीय (श्रीराधा जी की) होने और उनकी प्रेमपात्री होने के गर्व को सूचित करतो है किन्तु स्मरण क्रिया का परस्मैपद यह सूचित करता है कि श्रीहितसखी जी का यह 'श्रीराधिका जी के वदनचन्द्र का स्मरण' उनके चरणाश्रित शरणागत जनों को फल देने वाला है कि जैसे मैं स्मरण करती हूँ वैसे हो आप लोग भी स्मरण करें। 'स्मरामि' का वर्तमान काल उस प्रकार के स्मरण के द्वारा वदनचन्द्र का नित्य अनुभव किया जाना और एक बिलक्षण प्रकार से चन्द्रमा के समान होना भी बताया गया है।

प्रेम के कारण उल्लास को प्राप्त होता हुआ जो रस,-जैसे अग्नि के संयोग से दूध उफनता है—अतएव प्रेम का तापात्मक होना भी सङ्गत होता है। अत्यन्त संमोह और अभिलाषा के कारण उत्पन्न हुआ मन का क्षोभ रूपी धर्म ही प्रेम है उसके कार्य सात्त्विक भाव 'स्तम्भ, स्वेद. रोमाञ्च, कम्प, विवर्णता, अश्रु और मूर्छा' आदि हैं। और रस तो आनन्दमय आस्वाद का नाम है जिसके अनुभव के क्षणों में अन्य सभी ज्ञान के विषय छूट जाते हैं वह सुख स्वरूप है। वह रस जब प्रीति से संवलित या युक्त होता है तभी उमड़ पड़ता है इससे शुद्ध आसक्तिमय श्रृङ्गार रस ही यहाँ रस है उसके विलास हैं, प्रेम के कारण वैचित्र्य (बेमान अवस्था) से पूर्ण अनेक प्रकार की क्रीडाएँ हैं, उन क्रीडाओं या विलासों के प्रकाशक प्रियतम हैं जिनके दर्शन से प्रेम और रस का उदय होता है अतएव कहा गया है कि 'प्रेम के कारण उल्लसित हो रहे रस के विलास इत्यादि।

उस रस के विलास हैं विविध प्रकार के तरङ्ग और उनके विकास का कन्द या मूल अर्थात् मुख्य कारण है श्रीराधाजी का वदनचन्द्र। अथवा उक्त रस विलास ही कुमुद हैं उनको खिलाने वाला चन्द्र श्रीराधिकावदन है। जैसे चन्द्रमा घट पट आदि

प्रकाशं कुर्यादेवमत्र स्वरसं प्रेम च प्रकाशयति नान्यमिति । यद्वा चन्द्रोऽपि-रसविलासोद्दीपको मनसि, एवमयं प्रेम रसविलासोद्दीपको, यद्दर्शनात् प्रियतोदेत्येवेति सखीनां प्रियस्य च मनसि तदीयतत्तद्यथार्हप्रेमर-सधर्मप्रकाशकोमनस आधिदैविकत्वात्प्रसादगुण प्रकाशक इति । अथस्वगत-धर्मप्रकाशेऽपि वदन चन्द्रे विलासनेत्रापांगतरंगितानि विविधानि भ्रू विलास श्च स्मितहासपरिहासभेदाः कपोलचिबुकाधरोष्ठनासादिषु सहजसाकूता नवोद्भवाश्च सर्वे रसमयाः प्रेममयाः सहृदयगम्या एव तान् प्रकाशयतो-त्यर्थः । चकोरासक्तिविषयत्वमाह—गां दृष्टिं प्राप्नोतीति गोविन्दस्य केवलदर्शनैकजीवनस्य रूपासक्तस्य यद्वा गोष्ठाध्यक्षस्येन्द्रादिपूजितस्य सर्वासक्तिविषयस्येत्यर्थः लोचने एव विचित्रौ चकोरौ वितृप्तेतिपाठेऽतृप्तौ, तादृशबहुलामृतसेच-नेऽप्यतितृषिताविति ताभ्यां पेयम्—सादरावलोकनोयम्,

रसकलश

को प्रकाशित करता है वैसे ही यहाँ वदनचन्द्र अपने रस और प्रेम को प्रकाशित करता है, अन्य किसी वस्तु को नहीं । अथवा चन्द्रमा भी मनमें रस विलासों का उद्दीपन करता है ऐसे ही यह वदनचन्द्र भी प्रेम रस विलास का उद्दीपक है, जिसके दर्शन से प्रियता का उदय होता ही है सखीजनों के और प्रियतम के मनमें उनके उप यथोचित प्रेम और रस के धर्मों का प्रकाशक भी यह वदन चन्द्र है क्यों कि उनके मनका यही अधिदैवत है और प्रसाद (प्रसन्नता तथा निर्मलता) नामक गुण का प्रकाशक है । जैसे लोक मनका अधिदैवत चन्द्र होता है । एक बात और भी है कि अपने धर्मों का प्रकाश करने के साथ साथ वदनचन्द्र में अन्य विलास भी हैं जैसे नेत्रों का अपाङ्ग की ओर अनेक प्रकार से तरङ्गित होना (कटाक्ष से देखना) भ्रुकुटि का विलास और स्मित, हास, परिहास आदि हास के भेद, कपोल, चिबुक, अधरोष्ठ, नासिका आदि में सहज साभिप्रायता का नवीन नवीन उद्गम सभी रसमय और प्रेममय अनुभाव या कार्य जो भी सहृदयगम्य हैं उनको यह मुखचन्द्र प्रकाशित करता है यह तात्पर्य है ।

अब चन्द्र का चकोर की आसक्ति का विषय या पात्र होना बताते हैं—गोविन्द नाम में गो शब्द का एक अर्थ दृष्टि भी है उसे प्राप्त करने के कारण श्रीश्यामसुन्दर गोविन्द कहलाते हैं क्यों कि श्रीराधिकाजी का दर्शन ही उनका जीवन है वे उनके रूप में नित्यासक्त या अत्यासक्त हैं । अथवा गोविन्द शब्द का अर्थ गोष्ठ का अध्यक्ष भी है, जो गोवर्धन धारण के बाद इन्द्रादियों से भी पूजित हुए और सभी व्रजवासियों की आसक्ति का विषय बने हुए थे । उन गोविन्द (श्रीश्यामसुन्दर) के लोचन ही विचित्र चकोर हैं; 'वितृप्त' पाठ वाले पक्ष में उसका अर्थ होगा अतृप्त चकोर, यद्यपि ये लोचन रूपी चकोर उस प्रकार के अमृत पूर से नित्य सींचे जा रहे है तो भी अत्यन्त प्यासे हैं

अर्थादन्येषामा सज्योऽप्यजासक्त एव प्रिय इति "है व्रजचन्द पै तेरो चकोर री" इति चकोरोक्त्यार्त्तिभरेण परमप्रेमिता दर्शिता ।

पोषकधर्ममाह, अद्भुतो यो रस एवामृतः, रसेऽद्भुतत्वं सर्वलौकिकालौकिकविलक्षणत्वम् । अमृतमक्षय्यमाधुर्य्यं, तस्य चन्द्रिकौधैः सिञ्चन्तमित्यनेनाप्यायनधर्म उक्तः । प्रियपोषणं सखीजनपोषणं व्रजजनौषधिसस्यसम्पत्तिनिष्पत्तिस्तत्किरणप्रसरच्छय्यैवेति ज्ञेयं सर्वत्र रूपछविप्रवाहयशोविस्तरणमिति ।।४१।।

इदानीं प्रियस्य विचित्रतृषितचकोरत्वं प्रियायाश्चामृतसिञ्चनकृपालुत्वं व्यंजयंस्तत्रापि चन्द्रस्य नववधूत्वलज्जाकाशान्तरायतः पोषणं वर्णन्ती हितसखी तन्मेलने स्वमुख्यसाचिव्यं दर्शयति—

रसकंलश

इसीलिये इनके द्वारा (श्रीराधिकाजी का वदनचन्द्र) पेय है पिये जाने योग्य या दर्शन करने रहने योग्य है और आदर पूर्वक दर्शन करते रहने योग्य है। इसका भाव यह है कि जो गोविन्द के लोचनों को विचित्र या अतृप्त चकोर कहने से आर्तिकी अधिकता के द्वारा परम प्रेमी होना दिखाया गया है।

अब पोषक धर्म का वर्णन करते हैं —अद्भुत रस ही अमृत है, रस में अद्भुतता उसकी सभी लैलिक अलौकिक रसों से विलक्षणता को बनाती है। अमृत की मिठास कभी नष्ट नहीं होती अतः अक्षय्य माधुर्य को अमृत कहते हैं 'उसकी चन्द्रिकाओं के प्रवाहों से सिंचन करते हुए' इस कथन से आप्यायित था तृप्त करने वाले धर्म का वर्णन किया गया है। प्रियका पोषण करना, सखीजन का पोषण करना, ब्रजजनों, ब्रजकी औषधियों ब्रजकी धान्य सम्पत्ति सभी की निष्पत्ति या सभी का पोषण श्रीराधिकाजी के मुखचन्द्र की किरणों को फैलाती हुई छटा से ही होता है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये और यह भी जानना चाहिये कि सभी ओर श्रीराधिकाजी के मुखचन्द्र की रूप छटा के प्रवाह के यश का विस्तार हो रहा है।४१।

अब प्रियका विचित्र और अतृप्त चकोर होना तथा प्रियाजी का अमृत सिंचन करने में कृपालु होना प्रकट करती हुई–उस में भी विशेषरूप से वदन चन्द्र का यश गाती हुई श्रीहितसखी प्रियाजी के नई बहू होने के कारण लज्जा के कारण आकाश के अन्तराय से पोषण का वर्णन करती हुई, उनको मिलाने में अपने आपको मुख्य सहकारिणी होना बताते हैं—

संकेत कुञ्जनिलये मृदुपल्लवेन,
क्लृप्ते कदापि नवसङ्गभयत्रपाढ्याम् ।
अत्याग्रहेण करवारिरुहे गृहीत्वा,
नेष्ये विटेन्द्रशयने वृषभानुपुत्रीम् ॥४२॥

वृषभानुपुत्रीमिति । अत्र पूर्वोक्तं—यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे इत्यनेन प्रियाजन्मोक्तं, तत्रैव स्वस्या दासीत्वमाशंसितम् । किञ्चाबाल्य-संगं विना तादृशममत्वमोहो, मिथो नवीनागताया न स्यादित्यतः स्वयं तद्वाञ्छितेन दासीजातैव यथास्वामिनी पितुः पुत्री जाता, तद्वन्नित्याङ्गसंगिन्यपि तत्रान्वितैवेति ॥

ततो लोकवल्लीलात्वात् पूर्वानुरागरीत्यापि प्रियस्य प्रियायां दर्शनम्, चन्द्रवज्जातम् । तथैव वक्ष्यति "प्रीतिं कापि नाममात्रजनितप्रोद्दामरोमोद्गमां । सापि च पूर्वानुरागवती तं स्वदर्शनामृतेन पोषयामास ।

रसकलश

'सङ्केत कुञ्ज रूपी गृह में कोमल किसलयों द्वारा रचे गये, विटेन्द्र (श्रीश्यामसुन्दर) के शयन पर कभी नवीन समागम के भय और लज्जा से परिपूर्ण श्रीवृषभानु पुत्री को अत्यन्त आग्रह के साथ कर कमल में पकड़ कर ले जाऊँगी ।' ४२ ॥

वृषभानुपुत्री कहने का तात्पर्य है जो पहले कहा गया है कि 'जो (श्रीराधा) कृपा करके श्रीवृषभानु के घर में कृपावश प्रादुर्भूत हुई हैं' । इससे प्रियाजी का जन्म सूचित किया गया है और वहाँ पर भी अपने दासी भाव की आशंसा की गई है। इसका भाव है कि बचपन का साथ हुए बिना ऐसी ममता और ऐसा मोह नहीं हो सकता, नई नई आई हुई को इतनी ममता कहाँ ? अतः श्रीहित सखीजी उन की इच्छा से ही स्वयं उनकी दासी बनी है, जैसे स्वामिनि अपनी इच्छा से श्रीवृषभानुजी की पुत्री बनी हैं। अर्थात् उनकी नित्य अङ्ग सङ्गिनी होती हुई भी प्रादुर्भाव होने पर वहाँ पर भी अनुगामिनी हुई हैं ।

फिर लोकवत् लीला होने के कारण पहिले की अनुराग रीति से प्रियतम को प्रियाजी का दर्शन ऐसे ही हुआ जैसे किसी को चन्द्रका दर्शन हो जाए । ऐसा ही कि 'नाम मात्र से ही जिसमें अत्यन्त रोमाञ्च हो आया है ऐसी किसी प्रीति को धारण करते हुए। इत्यादि में कहेंगे ही । श्रीराधाजी भी पूर्ण अनुराग वाली हैं, अतः उन (श्रीश्यामसुन्दर) को अपने दर्शन रूपी अमृत से पुष्ट करती हैं। फिर नन्द और वृषभानु

ततो नन्दभान्वोः सम्बन्धस्ततः कुञ्जभवनादिप्रवेशे, अथवा—"अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवाविति" वत्—"शैशवखेलनैवर्त कदा कार्य्यो विवाहोत्सव" इतिवन्मयैवरहोद्वयोर्विवाहः कृतः। किञ्च वृषभानुपुत्रीत्युक्ते राजपुत्र्या यथार्हसंपादनमेवार्हम्, अन्यथा नित्यकैशोरे तु निकुञ्ज लीलायां न कदाचिद् अपेक्षा सदा संयोगएव। कुञ्जवीथीमुपास्ते—इति वक्ष्यमाणात्, अतोऽहं विश्रब्धा दासी यथार्हमेव कुर्वतीति। प्रियोऽपि चकोर, अत्यासक्त लम्पटमणिः विटेषु इन्द्र इति परमैश्वर्यप्रशंसां प्राप्नोतीति विटेन्दः, तेन काकुवाण्या भूयो भूयो याचिताहं, हे घनसार मद्रसाधार-गुञ्जे सा तु मुग्धा नववर्णिनी मद्भिया नागच्छति, मन्मनोरथसाधनसर्वस्व-भारधुरीणा त्वमेव तां त्वद्वशगामानय, अहं च तस्मिन् कुञ्जे गच्छामि, तद्रचनां कुर्वे, एतच्छीघ्रानयने त्वां प्रार्थयामीत्येवमुक्त्वा, स्वयं कुञ्ज तल्पा-दिरचनां करोति, तादृशतन्माधुरीधुरीणवृन्दावनीयनवमृदुपल्लवसमूहेनेति

रसकलश

जी का सम्बन्ध तथा कुञ्जभवन आदि में प्रवेश होने पर—'अकस्मात् कुमारावस्था में जिनमें नवीन किशोरावस्था रूपी वैभव प्रकट हो गया है'—इत्यादि के अनुसार और 'शैशव की क्रीडाओं द्वारा ही उन दोनों का विवाहोत्सव कब कराया जाएगा।' इत्यादि के अनुसार मैंने ही एकान्त में दोनों का विवाह कर दिया। और भी एक बात है कि वृषभानु पुत्री कहने के कारण एक राजपुत्री के योग्य हो सभी साधन सामग्रियों का सम्पादन करना उचित है, अन्यथा नित्य किशोरावस्था में जहाँ निकुञ्ज लीला होती हैवहाँ तो कभी भी विवाहादि की अपेक्षा ही नहीं है, वहाँ नित्य संयोग जो ठहरा। जैसा कि आगे कहेंगे कि श्यामसुन्दर कुञ्ज वीथी या कुञ्जगली की ही उपासना करते रहते हैं। अतएव मैं दासी विश्वास पूर्वक यथा योग्य ही काम करती हुई (उनके प्रियतम के शयन पर ले जाने की अभिलाषा करती हूँ प्रिय भी चकोर हैं क्योंकि अत्यासक्त हैं लम्पटोंके शिरोमणि हैं विटों या धूर्तों में इन्द्र हैं। विटेन्द्र होने के कारण वे परम ऐश्वर्य की प्रशंसा को प्राप्त होते हैं उनके द्वारा मुझसे काकु (दीनता भरी) वाणी से बार-बार प्रार्थना की जाती हैं 'हे घन सार जैसे मेरे रस को बनाए रखने वाली गुञ्जा, वे (श्री राधा) तो नव वधू हैं और मुग्धा या भोली भाली हैं मेरे भय से आती ही नहीं हैं। मेरे मनोरथ को सिद्ध करने के सर्वस्वभार को वहन करने वाली तू ही है, अतः तू उसको ले आ क्योंकि वे तेरे वश में हैं। मैं उस कुञ्ज में चलता हूँ, अतः ऐसी रचना या प्रयत्न करो। उन्हें शीघ्र ले आने के लिये मैं तुझ से प्रार्थना करता हूँ।' ऐसा कहकर स्वयं शय्या आदि की रचना उस प्रकार के उस माधुर्य का भार वहन करने वाली वृन्दाटवी के नवीन और कोमल पल्लवों के समूह से करने लगते हैं; अर्थात् यहाँ श्री वन में पल्लव

अर्थात् पल्लवबहुत्वेऽपि स्वकौशलेनैवं विरचितः कुञ्जो यत्र द्वितीयपल्लवयोजनभानं न स्यात्, एकपल्लवरचितमेव दृश्यते । मृद्विति स्वप्राणातिप्रिया परमसुकुमारी मनस्याविष्टा राजते, तन्मार्द्दवज्ञानावेशेन कोमलपल्लवानेव मार्गयित्वा संगृह्य रचयति ।

क्लृप्तः इति–स्वयावत् कौशलसामर्थ्येन रचिते—इति संकेतः । प्रियेण सख्या सह कृतः स एव कुञ्जः । निलयेति-नितरां लयो, रससिन्धौ विगलितवेद्यान्तरतापूर्वकमज्जनं यत्रेति वा निलयनादिक्रीडाप्येकान्ता यत्र सिद्धयेत् तादृशनिलये स्थाने निभृते–इति कदापीति, कदाप्येवंरीत्या, अन्यदान्यरीत्येति वा, कदापि न सर्वदेत्यर्थ । किञ्च सदा तु संयोगानन्दे स्वैकरस मग्नावेवोभौ तिष्ठतः, अतः सखीकृतकुञ्जविवाहानुकरणे नववधूसदनप्रवेशोत्सवस्तु कदाचिदेव स्यात्, इति तत्समयास्वादवैचित्रीलाभोऽत्र, ततस्तादृशसमयानुकूल्यम् प्रियाया अपि वर्णयति । नवसंगस्य भयं मुग्धनव किशोरीत्वेनप्रथमसङ्गमजं त्रपेति कथमहं यायां स्वयं गमने वा सखीकृतेकवाक्यमात्रेण गमने च मदौत्सुक्यं जानीयुरेताः सख्य इति तादात्वि-

रसकलश

बहुत हैं तो भी अपने कौशल से श्याम सुन्दर ने ऐसा कुञ्ज बनाया जिसमें दूसरे प्रकार के पल्लव को लगाने की प्रतीति न हो, सम्पूर्ण निकुञ्ज एक जाति के पत्तों से ही बना हुआ प्रतीत होता है । उन पल्लवों की कोमलता के ज्ञान का आवेश ही जाने से कोमल कोमल पल्लवों को ही ढूंढ़कर और संग्रह करके शय्या की रचना करते हैं ।

क्लृप्त का अर्थ है अपने सम्पूर्ण कौशल श्रौर सामर्थ्य से रचे एग । प्रिय ने सखी के साथ जो कुञ्ज सजाया है वही निलय या घर है । अथवा निलय शब्द का श्रर्थ है कि जिसमें नितान्त लय हो जाए अर्थात् रस सागर में अन्य क्षयि पदार्थों के श्रनुभव से रहित होकर मग्न हो जाए, लीन हो जाए । श्रथवा निलयन (छुपा छुपो) श्रादि क्रीडा भी एकान्त भाव से जहां सिद्ध होती हो, ऐसे निलय श्रर्थात् स्थान में परम एकान्त निकुञ्ज में । कदापि या कभी का यहाँ यह तात्पर्य है कि कभी इस प्रकार, कभी अन्य प्रकार से श्रयवा कभी न कि सदा । क्योंकि सदा तो संयोगानन्द में श्रपने एक रस में ही दोनों प्रियाप्रियतम मग्न रहते हैं अतः सखी के द्वारा किये गये कुञ्ज में विवाह के अनुकरण पर तो नववधू के गृह प्रवेश का उत्सव तो शायद ही हो सके, श्रतः इस श्रनुकरण का लाभ तो तात्कालिक श्रास्वाद मात्र है ।

अब श्रीप्रियाजी की भी वैसे समय में अनुकूलता का वर्णन करते हैं—नव सङ्ग का भय श्रर्थात् मुग्धा और नवीन किशोरी होने के कारण प्रथम सङ्गम के समय भय श्रौर लज्जा के कारण, अपने श्राप प्रियतम के पास चले जाने से श्रथवा सखीजन के एकाध वाक्य से चले जाने से सखीजन जानेंगे कि मैं प्रियसमागम के लिये उत्सुक

कावेशेन भयत्रपाभ्यामाढ्या पूर्णा तदवे धनं संचिन्वती, नेति नेति कुर्वती, चण्डनभर्त्सनाद्यपि सखीभ्यः कुर्वती प्रिया तत्र प्रियस्यापि वहुविधप्रार्थंनासाधनभारधुरीणाप्रियायाश्च मौग्ध्यलाडलात्वराजकुमारीत्वममेङ्गित-प्रसादानुगतिप्रस्तुतसुखायतिकसाधनकुञ्जनयनादिसर्वदुरूहासाध्यसाधनभार-धुरोणेत्येवमुभयविधदत्ताधिकृतिरहं श्रीभानुनापि मत्स्नेहं ज्ञात्वा शिक्षयित्वा तत्सेवायां नियुक्ता अतोऽत्याग्रहेण वाक्यानुनयेन कौतुकदर्शनौत्सुक्यवर्द्धनेन धर्मोद्देशेनौचित्योपदेशेन च यदा न मानितवती तदा बाल्यसख्यात्—'हे तादृशातितृषितचातकविषयकृपणे, हे तादृशशोत्कण्ठासह्यदुःखांगारभक्षकचातकनिर्दयेत्येवं हासयित्वा करवारिरुहे—इति कोमले करे कोमलतयैव प्रगृह्य वारिणोऽपि धर्मो दर्शितो यत्राग्रहः सेतुकर्त्तुस्तन्मार्गेणैव यातीति तद्वारिणि रोहात् जननात् मृणालविशिष्टकंज-

रसकलश

थी, अतः उस समय के आवेश से वे भय और लज्जा से पूर्ण हैं और इस भय और लज्जा रूपी धन का संचय करती हुई, नहीं नहीं कहती हुई श्रीप्रियाजी सखीजन पर रुष्ट होकर भी उनकी भर्त्सना आदि भी करती हैं। और मैं (हितसखी) प्रियतम की भी अनेक प्रकार की प्रार्थनाओं और अनेक प्रकार के उपायों के भार को वहन करती हुई तथा प्रियाजी के भी भोलेपन, लाडलेपन, राजकुमारी होने के अनुरूप इङ्गितों और अनुकूलता या प्रसन्नता का अनुगमन करने में प्रस्तुत जो भावी सुख के लिये उपयुक्त उपाय जैसे कुञ्ज में ले जाना आदि सभी दुरुह (जिनकी कल्पना भी न की जा सके और असाध्य ऐसे उपायों के भार को वहन करती हुई इस प्रकार दोनों ओर से अधिकार प्राप्त हूँ। श्री वृषभानु जी ने भी मेरा स्नेह जानकर मुझे समझा बुझा कर श्रीप्रियाजी की सेवा में नियुक्त किया है अतः अत्यन्त आग्रह से अनेक वाक्यों द्वारा किये गये अनुनय विनय के द्वारा, कौतुक देखने की उत्सुकता को बढ़ाने के द्वारा; धर्म के उद्देश्य से ऐसा ही करना उचित है, इत्यादि उपदेश देने के द्वारा भी जब श्रीप्रियाजी को न मना सकी तब बचपन के सखीभाव से—अहो ऐसे अत्यन्त प्यासे चातक के विषय में तुम इतनी कृपण हो, अहोऐसे उत्कण्ठा के कारण असह्य दुःखों के अङ्गारों को खा रहे चातक पर भी तुम्हें दया नहीं आती इत्यादि वचनों से श्रीप्रियाजी को हँसाकर करकमल अर्थात् कोमल कर को कोमलता के साथ पकड़ कर (उन विटेन्द्र—श्रीश्याम सुन्दर के शयन पर ले जाऊँगीं) यहाँ कर- वारिरुह शब्द द्वारा श्री प्रियाजी में वारि अर्थात् जल का भी धर्म दिखा दिया गया है, सेतु बनाने वाले का जल को जिधर ले जाने का आग्रह होता है, जल उधर ही जाता है। श्रीप्रियाजी वारि या जल हैं उनके श्री विग्रह में से रोहित या जनित होने के कारण उनके कर मृणाल से युक्त कमल के समान हैं यहाँ रसावेश के कारण रोमाञ्च

त्वेन रसावेशात कण्टकितापि अत्याग्रहेण गम्यमाना, किञ्चैवं नववध्विंगितं यत्तत्र गमने न मन्मनोऽस्ति, सखीयमेव मां हठान्नयतीति, तादृशराजकुमारीं तादृशप्रियशयने कदा नेष्ये, प्रापयिष्यामीति स्वस्योभयपूर्णाधिकारसाचिव्यं पितृकुलदासीत्वं च दर्शितम् ॥४२॥

तदेवं नेष्य इत्यनेन भविष्यन्निर्देशेनाभिलाष उक्तः, इदानीं करकञ्जग्रहणे मादृग्दासीजनमहादानदायिनी कारुण्यद्रुता दानवनीयो वीरव्रताचलितैव तदनुगत्यर्हंपरिचारिकात्वमाशंसते, अथवा कदापीत्युक्तेऽरेकदा त्वेवमन्यदिनाभिसरणमाह—

सद्गन्धमाल्यनवचन्द्रलवङ्गसङ्ग
ताम्बूलसम्पुटमधीश्वरि मां वहन्तीम् ।
श्यामं तमुन्दरसादभिसंसरन्ती
श्रीराधिके करुणयानुचरीं विधेहि ॥४३॥

हे श्रीमती राधिके परमसौभाग्यसम्पद्वति, आराध्यपरमसिद्धिरूपे सख्यदानवनीयसि, हे अधीश्वरि स्वामिनि, अघटिनघतनापटीयसि, अर्थात्

रसकलश

ही मृणाल के कण्टक हैं। अत्यन्त आग्रह से ले जाई जा रही श्रीप्रियाजी नववधू होने के कारण ऐसा भाव दिखला रही हैं कि 'सखी मुझे जिधर ले जा रही है उधर जाने को मेरा मन नहीं है, यह सखी ही मुझे हठात् ले जा रही है' इस प्रकार की उन विलक्षण राजकुमारी को उन विलक्षण प्रियतम के शयन पर कभी ले जाऊँगी या पहुँचाऊँगी इस प्रकार अपने दोनों ओर पूर्ण अधिकार युक्त मन्त्रित्व और पितृकुल से प्राप्त दासीत्व का निर्देश किया।४२।

इस प्रकार 'ले जाऊँगी' इस भविष्य काल के निर्देश द्वारा अपनी अभिलाषा कहीं है। अब कर कमल पकड़ने पर मुझ जैसी दासीजन को महादान देने वाली श्रीप्रियाजी करुणा से द्रवित हो गई हैं अब वे दान देने में निपुण वीरव्रत से विचलित नहीं हो सकती हैं अतः उनके अनुगमन के लिये अपेक्षित परिचारिका भाव—किङ्करीभाव की आशंसा करते हैं। पूर्व श्लोक में कदापि 'कभी' कहा है अतः किसी दिन उन्हें ले जाने का ऐसा अवसर और किसी दूसरे दिन उनके अभिसरण काल में परिचारिका बनकर उनके साथ जाने का अवसर पाने की आशंसा की गई है—

हे मेरी स्वामिनी श्रीराधिका उन्मद रस से उन श्यामसुन्दर का अभिसरण करती हुई। तुम मुझको कृपा करके दिव्य सुगन्ध वाली मालाएँ, नवीन कर्पूर और लवङ्ग के साथ ताम्बूल सम्पुट (पान दान) ले जाने वाली अनुचरी बनालो।४३।

हे श्रीमती राधिका, परमसौभाग्व सम्पत्ति शालिनी, आराध्य परम सिद्धि स्वरूपा, सख्यदान देने में उदार, हे अधीश्वरी (स्वामिनी), हे अघटित घटनापटीयसी

पूर्वमेतत् चलनं दुर्घटं लगतिस्म, अधुना प्रसन्ना चलिता करुणयेति बाह्यार्थः स्पष्ट एवं सद्गन्धाद्युपकरणधारणानुगमनाधिकृतकिङ्करीत्वाधिकारो मे कदा स्यादिति । आन्तरे तु नवोढात्वात् सखीमग्रतः कृत्वा हठेन तत्स्कन्धे हस्तं निधाय सत्रपां गच्छन्तीं प्रति सख्युक्तिः—

करुणां कुरु मामनु पश्चाच्चरन्तीं विधेहि त्वमग्रतश्चलेति । किञ्च श्यामो मार्गमवलोकते, त्वदागमने चरिताभिरामझंकारनूपुरकिङ्किण्यादिघोषमनुशुश्रूषुर्हंसगजादिगंजनगतिसुषमां दिदृक्षुः स्वदृगास्तरणं करोत्यतस्त्वमग्रे गच्छेतिध्वनिः ।

त्वमपि कीदृशी, तं श्यामं श्यामेति सुन्दरवरेति मनोहरेति कन्दर्पकोटिललितेति सुनागरे'तीत्येवमासक्तिविषयम्, 'वेणुः करान्निपतितः स्खलितं शिखण्डं, स्रस्तञ्च पीतवसनं व्रजराजसूनो' रित्यासक्त्याश्रयम्, परमविचित्रतृषितचकोरमित्यादिविश्रुतप्रभावम्, तं श्यामं शृङ्गाररसमूर्त्तिमिति त्वन्नेत्रवासात्

रसकलश

(असम्भव को सम्भव कर देनी वालो) अर्थात् पहले तो प्रिय की ओर चलना भी अति दुष्कर प्रतीत होता था, अब प्रसन्न होकर कृपा करके चल दी हैं । यहाँ बाह्य अर्थ तो स्पष्ट ही है कि दिव्य गन्ध (केसर चन्दन) आदि उपकरणों को धारण करके अनुगमन करने के लिये अधिकारिणी बनाई गई दासी होने का अधिकार मुझे कव मिलेगा । आन्तरिक अर्थ में नववधू होने के कारण सखीको आगे करके हठ से उसके कन्धे पर हाथ रखकर लज्जासहित जाती हुई श्रीस्वामिनी के प्रति यह सखी की उक्ति है । कृपा करो, और मुझे अपने पीछे चलने वाली दासी बनालो तुम आगे चलो क्योंकि श्रीश्याम सुन्दर मार्ग देखरहे हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं । तुम्हारे आगमन के समय होने वाले मनोहर झंकार वाले नूपुर और किङ्किणी आदि के घोष को सुनने की इच्छा वाले हंस, गज आदि का तिरस्कार करने वाली तुम्हारी गति (चाल) की परम शोभा देखने की इच्छा वाले अपनी आँखों को आगे बिछाये हुए हैं अत। तुम आगे चलो यह अर्थ ध्वनित होता है ।

तुम भी कैसी हो ? 'हे श्याम' हे सुन्दरवर, हे मनोहर, हे कन्दर्पकोटिललित हे सुनागर' इत्यादि सम्बोधनों से तुम्हारी आसक्ति का विषय बने हुए और 'बंशी हाथ से गिर गई, मोरपंख खिसक गया, पीताम्बर फिसल गया, व्रजराज सूनु (श्रीनन्दनन्दन) का' इत्यादि द्वारा तुम्हारे प्रति आसक्ति का आश्रय प्रकट हुए, 'परम विचित्र, नित्य, तृषित, चकोर' इत्यादि रूप में जिन का प्रभाव जाना गया है । उस शृङ्गार रस की मूर्ति श्रीश्यामसुन्दर, तुम्हारे नेत्रों में नित्य निवास के कारण काजल लग जाने

कज्जलेन श्यामीभूतं प्रति उन्मादरसान्नतु शैथिल्यरसात् । किञ्च तवापि हृदये रस उन्मत्तो दृश्यते, अतः परमौत्सुक्येन तस्याभिमुखे सम्यग्गच्छन्ती, 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिके'त्यमरः । अतो मामेव कथमग्रतः करिष्यतीति कथंभूतां मां सद्गन्धेत्यादि वहन्तीं धारयन्तीं, ताम्बूलस्यैव विशेषणे सदिति सर्वेषु सम्बद्धयते । श्रेष्ठगन्धः कस्तूरीकुंकुमादि, श्रेष्ठमाल्यम् जातीफलपुष्पादि, सत्चन्द्रः कर्पूरो, नवीनस्तज्जन्मस्थानोद्धृतः, अयातयामः शीतशीलो लवंग उष्णशीलः, एवं मिश्रितत्वेन वस्तुस्वभावमार्द्दवं जातमुग्रत्वं मन्दीभूतमेवमादीनि वस्तूनि अन्यान्यपि क्वाथचूर्णानितदर्हाणि संगे येषां तादृशानि ताम्बूलानि परमोत्तमनागवल्लीदलानिकौशलरचितवीटिकारूपाणि तेषां सम्पुटं समुद्गकं हस्ते वहन्ती । अथवा पृथक् पृथक् सद्गन्धेति स्थलकंजादिजनितपरमोत्तमसारोद्धृतस्नेहरसादिनिर्घर्षितकस्तूरीकुङ्कमघनसारचन्दनागुरुमृदुद्रवादिमाल्यम्, मल्लिकाजाति-

रसकलस

से श्याम बने हुए—के प्रति उन्मद रस से, शिथिल रस से नहीं (अभिसरण करती हो) क्योंकि तुम्हारे हृदय में भी रस उन्मत्त हुआ दीखता है अतः परम औत्सुक्य से उनकी ओर भली भांति जाती हो (जो प्रियतम से मिलने की कामना से दिये हुए संकेत स्थान पर जाती है वह अभिसारिका कहलाती है' कोषकार अमरसिंह ने ऐसा लिखा है) हाँ तो ऐसी स्थिति में मुझे ही क्यों आगे करने लगीं । मैं कैसी हूँ ? श्रेष्ठ गन्ध वाले कस्तूरी केसर आदि को धारण करती (पीछे पीछे चलती हूँ) 'सद्गन्धमाल्य' इत्यादि में 'सद्' शब्द का मुख्यतया सम्बन्ध ताम्बूल के साथ ही विवक्षित है किन्तु 'द्वन्द्व के आदि में और अन्त में सुना जाने वाला पद द्वन्द्वसमास के अन्तर्गत प्रत्येक शब्द से सम्बन्धित होता है' इस नियम के अनुसार 'सद्' विशेषण का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ 'गन्ध, माल्य' इत्यादि से भी हो जाता है। इस से श्रेष्ठ गन्ध कस्तूरी कुङ्कम आदि, श्रेष्ठ माल्य जातिफल पुष्प आदि, नव चन्द्र नया कपूर, अभी अभी उसके जन्मस्थान से निकाला गया, आयातयाम (एक दम नया) शीतप्रभाव वाला और लवंग उष्णप्रभाव वाला, इन सब के मिश्रित होने से प्रत्येक वस्तु के स्वभाव में मृदुता आ गई और उग्रता मन्द पड़ गई, इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी जो क्वाथ रूप में या चूर्ण रूप में हैं जो उस समय के योग्य हैं वे जिनके साथ हैं ऐसे ताम्बूल परम श्रेष्ठ नागवल्ली के पत्र जो बड़े कौशल के साथ बीड़े के रूप में रचे गये हैं उनके सम्बपुट या समुद्गक (पानदान) को हाथ में धारण करती हुई ।

अथवा पृथक् पृथक् सद्गन्ध अर्थात् गुलाब आदि के बनाए हुए परम उत्तम सार में से निकाले हुए स्नेह रस (इत्र) आदि में घिसे गये कस्तूरी, केसर, कपूर, चन्दन, अगर के कोमल द्रव आदि और माल्य अर्थात् मल्लिका, चमेली, जूही, आदि उत्तम

यूथिकाद्युत्तमसौरभ कुसुमनिर्मितमालाहारस्तवककंकरणकेयूरावतंसादि । अथ चन्द्रलवंगादि संगे येषां तादृशानि ताम्बूलानि तेषां संपुटम् ।

अनेन विहारानन्दोपकरणेषु येन येन यद्यदानन्दः सेत्स्यतीति किं वर्ण्यते सहृदयैर्वेद्यम् । अत्र कुञ्जात्कुञ्जान्तरगमनमेव सर्वसंकेतेषु ज्ञेयम् न भिन्न-देशत्वम, नित्यसंयोगेऽन्यत्सर्वमनुकरणमात्रम्, लौकिककौतुकवैचित्र्या-नन्दार्थमिति ।।४३।।

तत्र गमने स्वदृगानन्दकारि तद्रूपं प्रियस्याधारात्तद्दर्शनजपरमहर्ष-परवशतां ज्ञात्वा सखी मनस्येव सम्बोध्य किञ्चिच्छ्रावयन्ती तद्वयः सौन्दर्य्यं प्रशंसति–

श्री राधिके तव नवोद्गमचारुवृत्त-
वक्षोजमेव मुकुलद्वयलोभनीयम् ।
श्रोणीं दधद्रसगुणैरुपचीयमान
कैशोरकं जयति मोहनचित्तचोरम् ।।४४।।

रसकलश

सुगन्धिवाले पुष्पों की बनाई हुई मालाएँ, हार, गुच्छे, कंगन, केयूर, और कर्णावतंस आदि । अब चन्द्र (कपूर) लवङ्ग (लौंग) आदि है साथ में जिनके ऐसे ताम्बूल (पानों) के सम्पुट को वहन या धारण करती हुई । इससे विहारकाल के आनन्द की सामग्रियों में से जिस जिससे जो जो आनन्द सिद्ध होगा उसका क्या वर्णन किया जा सकता है, उसे तो सहृदय जन ही जान सकते हैं । यहाँ पर एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज में जाना ही सभी संकेत स्थानों में जानना चाहिये किसी अन्य स्थान में नहीं । नित्य संयोग में और सभी बातें अनुकरण मात्र हैं जो लैकिक कौतुकों की अपेक्षा विचित्रता के आनन्द के लिये हैं ।४३।

वहां जाने पर अपने नेत्रों को आनन्द देने वाला श्रीप्रियाजी का रूप जो प्रियतम का आधार है, उसके दर्शन से उत्पन्न परमहर्ष पराधीन होना जानकर श्री हित सखी मन में ही सम्बोधन करके कुछ वयसू सुनाती हुई उनके (किशोरावस्था) के द्वारा किये गये सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं—

हे श्रीराधिका, कमल की दो कलिकाओं के समान लोभनीय या सुन्दर और नवीन उद्गम या उत्थान के कारण मनोहर तथा गोलाकार स्तन और श्रोणी भाग को धारण करने वाली रस गुणों से युक्त तथा मोहन के चित्त को चुराने वाली तुम्हारी किशोरावस्था सर्वोत्कर्षेण विराजमान है । (अतः मैं उसे प्रणाम करती हूँ)

हे श्रीराधिके ! आबाल्यतो मदनुभूतपरमसुषमवति परमप्राणात्प्रिय-वयस्ये स्वामिनी तव सौभाग्यसाम्राज्यफलाभिषिक्तायाः कैशोरकं किशोरत्वं जयति सर्वोत्कृष्टं स्त्रस्यालाल्यतः सेवनपरं परयास्वेष्टवयोलाभादेवेत्यव-धारणोक्तिः । वयःकैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रस इति प्राचामुक्तेः ममेदं बहु यत्नतो दृष्टिप्राप्तमिति ।

यद्वा तवैवेति सम्बन्धःनैतादृशं क्वचिद्दृश्यते—इत्यर्थः । अत्र मुख्याङ्ग-सूचनमाह कीदृशं कैशोरकं, नवेति विशिष्टं वक्षोजं तथा श्रोणीञ्चदधत् एवेतिवक्षोजशब्दसन्निधानादत्रापि सम्बध्यते । वक्षोजमेवेति, किञ्चवक्षोजा-वेव कैशोरराज्याः स्वप्रधानत्वसूचकौ, अतोऽवधारणमत्रापि पुनः कीदृशं रसगुणैरुपचोयमानं रसमयमूर्त्ते रसमयान्येवाङ्गानिन भौतिकानीति ।

पूर्वं तु नित्यकैशोरमेव स्थितं, ततो लीलावशतो नवाविर्भावाद्बाल्ये तु कुह्वां चन्द्रमसो यथेतिवद्रसगुणानां नाविष्कारः सामन्यतो रसमयमूर्त्तिः

रसकलश

हे श्रीराधिका, बचपन से ही मैंने तुम्हारी परम शोभा का साक्षात्कार किया है तुम मेरी परम प्राणप्रिय स्वामिनी हो, तुम सौभाग्य साम्राज्य के सिंहासन पर अभिषिक्त (प्रतिष्ठित महारानी) हो । तेरी किशोरावस्था ही सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं । यहाँ पर अपनी लाडली होने के कारण सेवाओं की परम्परा से अपनी अभीष्ट अवस्था का लाभ हो जाने से 'एब' या 'ही' इस अवधारणार्थक पद का प्रयोग हुआ है । 'किशोर अवस्था का ध्यान करना चाहिये क्योंकि वहाँ आदिम रस शृङ्गार का आविर्भाव होता है जो परम रस है. ऐसा पूर्वाचार्यों का कथन है । मुझे यह किशोरावस्था का दर्शन बहुत यत्नों से प्राप्त हुआ है ।

अथवा यहाँ पर तुम्हारी 'ही' किशोरावस्था सर्वोत्कर्षेण विराजमान है, ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये । क्योंकि ऐसी किशोरावस्था कहीं नहीं देखी जाती । अब यहाँ किशोरावस्था के मुख्य अङ्गों का निर्देश करते हैं । कैसी किशोरावस्था ? उसके विशेषण बताते हैं कि जो नवीन' इत्यादि विशेषणों से युक्त स्तन और जघन को धारण कर रही है । एव या 'ही' श्लोक में वक्षोज या स्तन के साथ है अतः उसका सम्बन्ध स्तन से भी होता है । अर्थात् स्तन हो धारण करने वाली किशोरावस्था, क्योंकि स्तन ही तो किशोरावस्था रूपी अवस्थाओं की रानी की प्रधानता के सूचक है, अतः 'एव' या 'ही' का सम्बन्ध स्तनों के साथ भी ठीक बैठता है । फिर किशोरावस्था कैसी है ? रस गुणों से बढ़ रही है, रसमय मूर्ति के अङ्ग भी रसमय ही हैं वे भौतिक या पाञ्च भौतिक नहीं है ।

पहले तो नित्य किशोर अवस्था ही थी । तब लीला वश नया अविर्भाव हुआ तो बल्यावस्था में अमावस्वा में चन्द्रमा के समान रसगुणों का आविष्कार या प्रकाशन

स्थिता तत्रपि बाल्यादिगुणाद्भुतचमत्काराणान्तु किं भण्यतेऽपि च श्रृङ्गार-रसाविर्भावस्तत्र नास्ति। अत्र कैशोरे रहस्यहावभावलीलाविलासविद्या-कलाकौशलादिगुणानमुपचयो यथा राकयां कलाभिश्चन्द्रस्येति। अत्र तु अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवावितिवत् स्वातन्त्र्यं तथापि वैचित्र्यानन्दार्थं क्रमोऽप्यङ्गीकृत इति।

अत एव नवोद्गमत्वं कैशोरधर्मश्चारुता यथोक्तलक्षणता सौन्दर्य्यं किञ्च शोभैकमूर्त्तेः प्रकृतिमेव यथा लक्ष्मीकोटिविलक्षेत्यादि वृत्तं वर्तुलं वक्षस एकत्वाद्—जातवेकवचनं वक्षोजद्वयमित्यर्थः एवमैक्यं तु दृष्टिमेति। मुकुलेति कमलकलिकाद्वयवल्लोभनीयं मत्तमांसलसंलग्नसहस्रदलकमलकुड्मलद्वयमिव दृष्टेलोभनीयं, यद्वा स्वासाधारणलावण्यशोभया द्वयस्यापि लोभोत्पादकम् यद्वा समवृत्य निरन्तरत्वात्, एकीभूतमेवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः।

रसकलश

नहीं हुआ। साधारणतया लाडली जो रसमय मूर्ति रहीं, वैसे वहाँ भी बाल्य (बचपन) आदि गुणों के अद्भुत चमत्कारों की क्या व्याख्या की जाए किन्तु शृंगार रस का आविर्भाव नहीं हुआ। अत्र यहाँ किशोरावस्था में रहस्यमय हाव भाव, लीला विलास, विद्याओं और कलाओं में कौशल आदि गुणों की वृद्धि हुई जैसे पूर्णिमा में कलाओं द्वारा चन्द्रमा की वृद्धि होती है। यहाँ पर अकस्मात् कुमारावस्था में ही जिनका नवीन किशोरावस्था के वैभव प्रकाशित हो गया है। इत्यादि कथनों के अनुसार किशोरावस्था के प्रकट होने में स्वतन्त्रता है। तो भी विलक्षणता के साथ आनन्द के अनुभवार्थ क्रम भी स्वीकार किया गया है।

इसीलिये नवीन उद्गम होना यह किशोरावस्था का लक्षण है। चारुता का अथ है जैसे लक्षण इस स्तोत्र में या सामुद्रिक शास्त्र में कहे गये हैं उनसे युक्त सौन्दर्य। एक और बात भी है कि शोभा की एक मात्र मूर्ति की तो यह प्रकृति ही है। जैसा कि 'लक्ष्मी कोटि विलक्ष्यलक्षण लसल्लीला किशोरी शतैः, कोटि-कोटि लक्ष्मियों के मन में लज्जा उत्पन्न कर देने वाले लक्षणों से सुशोभित शतशत लीला किशोरियों से, इत्यादि पद्य में कहा गया है। वृत्त का अर्थ है। वर्तुल या गोल। वक्षः स्थल की एकता के कारण वक्षोज या स्तन में भी एक वचन का प्रयोग किया गया है उसे जाति में एक वचन मानना चाहिये वैसे तो वक्षोज या स्तग वर्तुल और मांसल हैं अतः ऐसे लगते हैं जैसे दो सहस्र दल कमल की कलिकाएँ आपस में एक-दूसरे से संलग्न या सटी हुई हों। वक्षोज दृष्टि के लिये लोभनीय या आकर्षक हैं- अथवा अपने असाधारण लावण्य और शोभा के कारण कमल की दो कलिकाओं के लिये भी लोभोत्पादक हैं। अथवा, सम और वृत्त [वर्तुल] होने के कारण निरन्तर [घनीभूत] हैं अतः एक से हो गये हैं यह उत्प्रेक्षा-गर्भित अर्थ है।

अहो केन सुकृतेन एवमावामपि भवेव, अर्थात्तसादृश्येऽपि तदुपमानार्हत एतावितिति । यदि एवेति पदमत्रैव क्रियते, तदा वक्षोजमेव काठिन्यदार्ढ्यात् कलिकालोभनीयमन्यानि मुखनेत्रकरपदादीन्यङ्गानि तु फुल्लकमलोपमान्येव । दधदिति, दर्शयति श्रोणीमिति नितम्बमण्डलम् । अत्रोपमानुक्तिर्निरुपमतां द्योतयति किञ्चरसगुणैरुचीयमानोक्तेः अनयोर्वक्षोजश्रोण्योरेव कैशोरे वृद्धिर्मुख्यं दर्शनम् । क्वचित्फलकोपमापि क्रियते, अपि अत्र समचीनतया न धृता, केवलरसगुणोपचय एव गृहीतः, अत एवकैशोरकं मोहनस्यापिचित्तस्य चैतन्यस्य चोरं, स्वरूपसौन्दर्य्यदर्पाढ्यस्यापि वैवश्यकारकत्वम् ।

चोरेति हठादादानं वा लुटनन्तु प्रखरप्रौढत्वे संभवति, अत्र तु कुलत्रपावगुण्ठितनववध्वा किशोर्या राजकुमार्य्या रहस्येवादानंघटत इत्येव नीतिः, तत्रापि प्रियो न जानीयात्, किञ्च स्वनिस्पृहता सूचनार्थं नैवानुकूलं बहि-

रसकलश

कमल की दो कलिकाएँ सोचती हैं कि किस पुण्य से हम दोनों भी ऐसी ही हो जावें, अर्थात् भले ही उनके साथ वक्षोजों का सादृश्य कह दिया गया है किन्तु वास्तव में कलिकाएँ इनकी उपमा के योग्य नहीं है । यदि यहाँ 'एव' या 'ही' शब्द वक्षोज के साथ ही लगाया जाता है तो तात्पर्य होगा कि वक्षोज या स्तन ही अपनी कठोरता और दृढ़ता के कारण कमल कलिकाओं के लिये या उनके समान लोभनीय या आकर्षक हैं अन्य अङ्ग मुख, नेत्र, कर, चरण आदि तो खिले हुए कमलों के ही समान हैं । दधत् अर्थात् धारण कर रही किशोरावस्था इस कथन से यह दिखाया गया है कि वक्षोज को और श्रोणी को धारण करती हुई । श्रोणी का अर्थ है नितम्बमण्डल । नितम्ब मण्डल के लिये किसी उपमा का न कहा जाना उनका निरुपम होना सिद्ध करता है । एक और बात भी है कि किशोरावस्था को जो रसगुणों से उपचीयमान कहा गया है उससे इन दोनों—स्तन और जघन—अङ्गों का बढ़ना किशोरावस्था में मुख्य रूप से दिखाई देता है । कहीं कहीं श्रोणी के साथ 'फलक' की उपमा भी दी जाती है किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से वह उपमा नहीं दी गई केवल रसगुणों से बढ़ाना ही ले लिया गया है । अतएव यह किशोरावस्था मोहन के भी चित्तया चैतन्य को हर लेने वाली है । जो मोहन स्वरूप और सौन्दर्य के दर्प (घमण्ड) से सम्पन्न हैं उनको भी विवश कर देने वाली है ।

चौर शब्द का भाव है कि हठपूर्वक लेलेना या लूटना तो यौवन के प्रखर रूप में पौढ हो जाने पर सम्भव हो सकता है । यहाँ नो कुललज्जा से अवगुण्ठित (पर्दा किये हुए) श्री किशोरीजी—राजकुमारीजी—के द्वारा एकान्त में ही मोहन के चित्त को ले लिया जाना ठीक बैठता है, यही नीति हैं । वहाँ प्रिय को भी पता नहीं चलता । एक बात और है, इस कथन द्वारा प्रियाजी की निःस्प्रहता सूचित होती है क्योंकि वे 'बाहर

रित्युक्तेः, हठादाने-अनुकूल्यज्ञानं स्यात् । चौर्य्यमपि कौतुकेन समानस्य प्रतिद्वन्दिनो रूपगुणवयोलावण्यादिगर्विष्ठस्य दर्पोद्घोषनिरासार्थम् । अर्थात् घोषे किमन्येषां कातराणां मनांसि मोहयसि मान्त्रिकतान्त्रिक इव, अहं तु विनामोहनाकर्षणादिनापि तद्दर्पप्रमत्तस्यते चित्तं सर्वस्वभूतं चोरयामीति, पश्येति ध्वनिः ।।४४।।

एवं सप्रशंसमनुवर्णयन्त्यनुगच्छन्ती कान्तानुरागपरम्परास्तृतपदवीं तां नयन्ती कुञ्जे प्राप्ता, ततो रंकनिधिवज्जलमीनवत् परमानन्दादरेण स्वजीवन सर्वस्वं प्रियः स्वकौशलनिर्मि । किसलयतल्पे करकञ्जेन करपल्लवे प्रगृह्य सहसाश्लिष्य सहसं निविष्टो मधुरालापं करोति, तद्दूरे स्थितान्तरङ्गिणी परमविश्वब्धा स्निग्धा हितसखी स्वामिन्यालापश्रवणमाशंसते ।

"संलापमुच्छलदनंगतरंगमाला-
संक्षोभितेन वपुषा व्रजनागरेण ।
प्रत्यक्षरं क्षरदपाररसामृताब्धिं,
श्री राधिके तव कदानुशृणोम्यदूरात् ।।४५।।

रसकलश

से कभी भी अनुकूल नहीं होती ऐसा कहा गया है । हठपूर्वक मोहन का चित्त लूटतीं तो इनकी अनुकूलता प्रतीत होती । चोरी भी कुतूहल से अपने समान प्रतिद्वन्द्वी की ही की है जो रूप, गुण, अवस्था, लावण्य आदि से गर्वीला है उसके दर्प या घमण्ड की घोषणा का निराकरण करने के लिये है । अर्थात् 'मोहन होने की घोषणा करके मान्त्रिकों या तान्त्रिकों की भक्ति क्यों अन्य कातर या कायर लोगों का मन मोहित करते हो में तो मोहन या आकर्षण का कोई प्रयोग न करके भी उस रूपादि दर्प से मदमत्त तुझ मोहन के सर्वस्वभूत चित्त को चुराती हूँ तू देख ले' यह ध्वनि निकलती है ।४४।

इस प्रकार प्रशंसापूर्वक वर्णन करती हुई और उनका अनुगमन करती हुई प्रियतम के अनुराग की परम्परा से छाये हुए मार्ग पर प्रियाजी को लेजाती हुई श्रीहितसखी कुञ्ज में आ पहुँचीं, तब रङ्क की निधि के सम्मान, जल को मछली के समान, परम आनन्द और परम आदर के साथ अपने जीवन सर्वस्व (श्रीराधाजी) को प्रियतम अपने कौशल से बनाई हुई किसलय (पल्लवों या पत्रों की) शय्या पर कर कमल से उनके कर पल्लव को पकड़ कर सहसा आलिङ्गन करके हँसते हुए आ बैठे तथा मधुर वार्तालाप करने लगे, वहाँ से कुछ दूर बैठी अन्तरङ्ग सखी-जो परम विश्वासपात्र और परम प्रिय हैं ऐसी श्रीहितसखी स्वामिनी के प्रिय आलाप को सुनने की कामना करती हैं—

'हे श्रीराधिका, उछलते हुए अनङ्गसागर की तरङ्ग माला से संक्षोभित हुए शरीर से युक्त ब्रजनागर के साथ तुम्हारे प्रत्येक अक्षर से बह रहा है अपार रसामृत का सागर जिसमें, ऐसे मधुर सम्भाषण को मैं कुछ दूर से कब सुनुँगी ?' ।।४५।।

हे श्री राधिके प्रियपरमानन्दसाधिके किशोरशोभासंपद्वति, तवकान्तसंगमितायाः, व्रजनागरेण विश्रुतविदग्धेन, चटुलपटुवाग्विशारदेन वा, व्रजो निज परिकरो ग्राह्यः प्रेमाश्रयस्तस्य सर्वस्य प्रेमविषयाः स्वयमेव व्रजे तत्तत् प्रेमभागे विचिन्वन्निश्चितवान्, श्रीमत्यामे साधारणप्रेमेति नान्यत्र यथोक्तं, किन्तुप्रेमैकसीमा । अन्यत्र दूरे इत्यारभ्य स्नेहवृद्धि स्वपित्रोरित्युक्तमित्यत एव रसिकमौलिपदप्राप्तिरिति व्रजे नागरसमूहे श्रेष्ठेन सर्वोत्तमनागरेण-संलापमिति कुञ्जवीथ्युपासकेनेति सह संलापः मिथः सम्भाषणं कदेति प्रेम्णोरीतिरेव ।

सदायोगेऽपिदुर्लभतां मन्यते । अदूराच्च शृणोमीति लतामात्रान्तरादेवेत्यर्थः । नु इति पृच्छायामत एव श्रीराधिके इति सम्बोधनम् । कीदृशेन उच्छलदनंगतरंगमालासंक्षोभितेन वपुषोपलक्षिते न पर्वन्तु नसन्त्यङ्गानि गत्यर्थकानि यस्येति केवलप्रियैकाभिलाषेणार्तिरूपेण निर्विशेषतया स्थितोऽगंराहि-

रसकलश

हें श्रीराधिका, प्रियतम के परम आनन्द की साधिका, किशोरावस्था की शोभा सम्पत्ति से युक्त और प्रियतम से मिली ऐसी तुम्हारा व्रजनागर के जो प्रसिद्ध चतुर किशोर हैं और प्रियवचन कहने में कुशल वाणि के विषय में विशारद या कोविद हैं उनके साथ मधुर सम्भाषण मैं कब सुनूँगी ? यहाँ पर श्यामसुन्दर को व्रजनागर कहने का विशेष तात्पर्य है । यहाँ पर व्रज अपने परिकर का नाम है जो प्रेम का आश्रय है उन सबके प्रेम का विषय व्रज में स्वयं श्रीश्यामसुन्दर हैं, वहां उस उस प्रेम भाग का चयन करते हुए उन्होने निश्चय किया उि श्रीप्रियाजी का मुझ पर असाधारण प्रेम है, जैसा अन्यत्र कहा गया वैसा नहीं, अपितु श्रीराधा प्रेम की एकमात्र अवधि हैं । जन्यत्र भी 'दूरे सृष्टचादिवार्त्ता' और 'स्नेह वृद्धि स्वपित्रोः' इत्यादि में यही बात कही है । अतएव श्रीश्यामसुन्दर को रसिक मौलि होने की परवी प्राप्त है अतः वे व्रज या नागरद समूह में श्रेष्ठ होने के कारण सर्वोत्तम नागर कहे गये हैं तभी तो वे सब कुछ छोड़कर कुञ्जवी थी के उपासक हैं उनके साथ संलाप या पारस्परिक सम्भाषण को मैं कब सुनूँगी । यहाँ पर 'कब' कहना प्रेम की एक रीति है ।

सदा उनके साथ रहदे हुए भी प्रेमालाप को दुर्लभ समझते हैं । कुछ देर से या निकट से सुनूँ कहने का तात्पर्य है कि केवल एकाध लता का हो अन्तर हो । यहाँ पर 'नु' या 'भला' यह प्रश्न के अर्थ में प्रयुक्त है अतएव हे श्रीराधिका, यह सम्बोधन किया गया है । किस प्रकार के नव नागार के साथ ? उछलते हुए अनङ्गसागर की तरङ्गमाला से बिचलित कर दिये गये शरीर से उपलक्षित, या युक्त, पहले तो नहीं है अङ्ग 'गत्यर्थक' जिसके अर्थात् केवल प्रियाजो के प्रति अभिलाषा की आर्ति के स्वरूप में निर्विशेष भाव से स्थित अङ्ग रहित होने के कारण पङ्ग -से अनङ्ग से उपलक्षित अब तो प्रियाजी के

त्येन पंगुरिवेति । इदानीं प्रियागमनेन उच्छलनं जातं, सिन्धोर्वायुनेव तदा तरङ्गानां माला परंपराजाता, तया संक्षोभः । अत्रानंगस्य प्रेमरूपतैव तस्यापि निराकारतैव, अतएव वपुषि स्थितिरन्यथा सांगस्य न सम्भावनम्, वपुस्तु तत्तरंगपरंपरोच्छलनेन सम्यगतिशयेन क्षुब्धम्, कम्पसात्विकस्वर-भंगादिवैचित्र्येण परतन्त्रं स्वयं तत्संलापे रत इंत्यनेन तस्य वाक्य वर्णेषु श्लथकम्पना यथावत्तापि शृण्वन्त्या मया निश्चितेत्यर्थः ।

अहो इदं नागरस्येव कार्यं यत्तरंगक्षोभेऽपि संलपति अत एव वपुषोप-लक्षणं कृतम्, अन्यथा साक्षाद्विशेषणं स्यात्, यथा देहस्थोऽपिन न देहस्थ इति वत् किञ्चित् संभाषणस्मृतिः । वपुरित्युक्तेः प्रतिरोमसु तत्तरंगव्याप्तिः, अङ्गेषु तु यथा नेत्रयो रूपसुधापानलालसोच्छलनेन व्याकुलता, किञ्च नैकदात्यन्ताधीरता स्यादेवं श्रवणयोः स्तवनसुधापाने, भुजयोरालिंगने, करयोस्तत्करग्रहणे, मुखस्य तदधरपाने संभाषणे च, नासिकायास्तदंगराग-

रसकलश

आ जाने से उस अनङ्ग में उछाल आ गया, जैसे वायु के लगने से समुन्द्र में उछाल आ जाता है इससे तरङ्गों की माला या परम्परा बन गई, उससे शरीर में क्षोभ या चञ्चलता उत्पन्न की गई । यहाँ पर अनङ्ग प्रेम रूप ही है वह भी निराकार ही है अतएव 'वपुष' या शरीर में उसकी स्थिति बताई गई है अन्यथा यदि वह साङ्ग होता तो शरीर में उसकी स्थिति की सम्भावना न थी । श्री श्यामसुन्दर का शरीर तो उस तरङ्ग परम्परा के उछलने से भली भाँति क्षुब्ध या विचलित कर दिया गया । सात्विक-भाव कम्प, स्वरभङ्ग आदि की विचित्रता से परतन्त्र से होकर प्रियतम स्वयं उन श्री राधाजी से संलाप करने में तत्पर हो गए । इससे श्याम सुन्दर के वाक्यों के अक्षरों में शिथिलता कँपकँपीं आदि है कि मैंने उन्हें सुनते हुए भी निश्चय कर लिया ।

'अहो ! वह नवनागर का ही काम है कि इस प्रकार तरङ्गों के क्षोभ में भी वार्तालाप कर रहे हैं अतएव तरङ्गों से संक्षोभित होना या विचलित होना शरीर का विशेषण बनाया गया है अन्यथा 'शरीर में रहता हुआ भी शरीर में नही रहता' इत्यादि के समान साक्षात् नवनागर का ही वह विशेषण होता । यहाँ कुछ सम्भाषण की स्मृति भी प्रतीत होती है । वपु या शरीर कहने से प्रत्येक रोम पर उन तरङ्गों का व्याप्त होना जाना जाता हैं । अङ्गों में तो जैसे नेत्रों में रूप सुधा के पान की लालसा से उछलने के कारण व्याकुलता ही है । एक बात और भी है कि एक ही बार अत्यन्त अधीरता भी नहीं होती । इसी प्रकार कानों में स्तुति रूपी सुधा के पान की, भुजाओं में अलिङ्गन की, हाथों में उनका हाथ पकड़ने की, मुख मैं उनके अधरपान की, और वार्तालाप करने की, नासिका में उनके अङ्गराग की परम सुगन्धि प्राप्त करने की,

परमसौरभे, एवं सर्वाङ्गानां यथायथं तरङ्गमालासंक्षोभ, अत्र कंदर्पोत्तरलमिति शीलध्रुवतोक्ता ।

यद्वा पदैक्यं संक्षोभित इव रूपं वपुर्यस्य । इनः स्वामी ईशो गुणानर्दितोऽपि वपुर्यस्य, अनेव प्राकृतानंगत्वं निरस्तम् । प्रियासंगजनितस्त्वस्त्येवेति तद् दृष्ट्वा कृपासिन्धुतामाह, प्रत्यक्षरमिति, न केवलं वाक्यरूप एव क्षरन् प्रस्रवन्नपारो रसामृताब्धिर्यत्र । अपार इति तादात्विके तु किमुच्यते, यदा तद्वाक्यैकाक्षरं क्वचिदपि स्मरामि तत्रैव तादृशास्वादसिन्धुरुज्जृम्भत इति न समयातिक्रमे किञ्चिदपि यातयामत्वं स्यादिति ।

रस इति उभयोः संयोगानन्दस्तत्र, आस्वादविगलितवेद्यान्तरता, अमृतेति तादृशमाधुर्य्यास्वादनित्यता, सिन्धुरित्यक्षय्यता । एतद्यल्लाडलात्वेन प्रसादेन परमौत्सुक्येन, स्वानन्दसिन्धुवर्धनेन सस्मितेन प्राणातिप्रेयसं प्रतिसंलपति । हस्तेन हस्तं गृहीत्वा साभिनयेन तत्प्रश्नोत्तरे सहजं यथार्थं वा किञ्चिदवृत्तान्तनिर्माणं यद्वदति तदानन्दरसामृतसिन्धुप्रत्यक्षरस्रवणस्य

रसकलश

लालसा से इसी प्रकार सभी अङ्गों का यथायोग्य तरङ्गमाला से संक्षोभ होना समझना चाहिये । इसी स्तोत्र में—'कन्दर्पोत्तलं तथैकम्,' एक काम से अतिचञ्चल हैं' इत्यादि द्वारा इनके स्वभाव की यही निश्चित स्थिति कही गइ है ।

अथवा "उच्छलदनङ्ग तरङ्ग माला संक्षोभितेनवपुषा" यह एक ही पद है जिसका विग्रह होगा कि संक्षोभित और इन' रूप है जिसका । 'इन कहते हैं स्वामी या ईश को, जिसका अर्थ होगा कि प्रकृति के सत्त्वरजतम आदि गुणों से पीड़ित न होता हुआ भी इससे संक्षोभित है शरीर जिसका । ऐसा अर्थ करने पर इस अनङ्ग का प्राकृत अनङ्ग होना निरस्त या खण्डित हो जाता है । यहाँ प्राकृत अनङ्ग का प्रवेश नहीं है किन्तु प्रियाजी के संग से जनित अनङ्ग तो है ही । श्याम सुन्दर की यह स्थिति देखकर प्रियाजी की कृपा सागरता का वर्णन करते हैं—प्रत्येक अक्षर से न केवल वाक्यसे बह रहा है अपार रसामृत का सागर जिस (संलाप या सम्भाषण) में । यहाँ अपार का यह अर्थ है कि उस समय की क्या बात कही जाए, जब उस वाक्य के अक्षर का भी मैं कहीं स्मरण करती हूँ तो वहीं उस वाक्य के आस्वाद का सागर उमड़ पड़ता है । समय बीत जाने पर भी उस सम्भाषण में यातयामता या बासापन नहीं आता ।

यहाँ पर 'रस' का अर्थ है प्रिया प्रियतम दोनों का संयोगानन्द, उस आनन्द के आस्वाद में अन्य सभी ज्ञेय वस्तुओं की प्रतीति का अभाव हो जाना, अमृत का अर्थ है वैसे माधुर्यमय आस्वाद की नित्यता और सिन्धु का अर्थ है उसकी अक्षय्यता या अखण्डता । यह है वह लाडलेपन के कारण प्रसन्नता, परम उत्सुकता, निज आनन्द

तन्मन्मनःश्रवणावेव साक्षिणौ नान्ये । संलापो यथा सहृदयवेद्य एव तथापि किञ्चिदुद्दिश्यते । तावत् प्रियस्य हे लाडिले प्राणवल्लभे गुणनिधे क्व किमेतावद्विलम्बितं त्वयेति, मया तु संकेतकुञ्जः सद्य एव नवपल्लवैं रचितः सखीसहायेनेति । तदा प्रियाया वाक्यं, अहो रमणनिकुञ्जनवनागर, अनुराग-सागर, मज्जलमीन,त्वत्करकौशलनिर्मितपल्लवखचितपदव्यासु अहमागच्छन्ती त्वत्प्रेमासक्तिस्मृत्या स्थगिता, किं मदर्थमेवं श्रान्तो भवान् प्राणनाथ पुनरपि मार्गे त्वद्गुणगानकुशलाः शुकसारिकाहंसशावा नवबटवो गायमाना-मयि शिक्षां निवेदितवन्त उच्चैः कूजंति, तेषां तादृशावलिं गृह्णन्ती, पुनस्त-दुद्गायनेन स्थगिताभवमिति ततोऽपि लता आवयोः करवर्द्धिता वर्द्धितानु-रागाः कीदृश्यो निजकान्ततरुवरालिंगिता दृश्यन्ते, ता अपि प्रणत्या पदान्ते प्रसृताः, नवपल्लवसुमनांसि करयोः स्पर्शितवत्यस्तदुपहारं कथं निर्दयेव नादद्यां, यत्र तत्र तवानुराग एवोज्जृम्भतेऽस्मिन वनकुञ्जे, इत्यादिरीत्या स्थगितापि हितसखीसहायेन कथं कथमत्र प्राप्तेत्यादिसहृदयसाक्षिकं संलापं कदा नु शृणोमि, रसामृतसिन्धुमज्जिता भवेयमिति ध्वनिः ॥४५॥

रसकलश

सागर को बढ़ाना और मुस्कान के साथ प्राणों से भी अधिक प्यारे (श्रीश्यामसुन्दर) से वार्तालाप करना । हाथ से हाथ पकड़ कर अभिनय पूर्वक उनके प्रश्न के उत्तर में सहज और यथार्थ रूप से कुछ वृत्तान्त की रचना करके प्रियाजी जो कछ कहती हैं उस आनन्द रस रूपी अमृत के सागर का प्रत्येक अक्षर स्नुत(बहाहुआ)होने के विषय में मेरा मन और मेरे कान ही साक्षी हैं और कोई नहीं । वह वार्तालाप सहृदयजनों से ही जाना जा सकता है जैसा यहाँ कुछ निर्देश करते हैं । पहले प्रियतम ने कहा–हे लाडलीजी हे प्राण वल्लभा, हे गुणनिधि, आपने कहां इतनी देर की, सखीजन की सहायता से मैंने तो सङ्केत कुञ्ज को तत्काल ही नवीन पल्लवों से सजा दिया था ।' तब प्रिया जी ने कहा—अहो रमण निकुञ्ज के नव नागर, अनुराग के सागर, मुझ जल के मीन, तुम्हारे कर कौशल से निर्मित पल्लव रचना वाले रास्ते से आती हुई मैं तुम्हारी प्रेमासक्ति का स्मरण आ जाने से सहम गई, क्यों मेरे लिये तुम इतने श्रान्त होते हो, प्राणनाथ, फिर मार्ग में तुम्हारे गुण गाने में कुशल शुक, सारिका और हंसों के बच्चे नवीन विद्यार्थियों के समान गाते हुए मेरे सिखाये हुए पाठ सुनाते हुए ऊँचे स्वर से कूजने लगे उनकी पंक्ति को देखती हुई फिर उनके ऊँचे स्वर के गीतों से रुक गई । फिर लताएँ भी जो हम दोनों के द्वारा अपने हाथों से पाली पोसी गई हैं जिनका अनुराग बढ़ गया है अपने प्रियतम तरुवरों से आलिङ्गित होकर कैसी दिखाई देती हैं, वे भी प्रणाम करने के लिये चरणों में पड़ गईं और अपने नए पत्र और पुष्प मेरे हाथों में छुआने लगीं, उनके उस उपहार को मैं निष्ठुर सी होकर कैसे स्वोकार न करती, जहाँ देखती हूँ वहाँ सब स्थलों पर इस वन कुञ्ज में तुम्हारा ही अनुराग उमड़ता दिखाई देता है इस प्रकार मैं स्थान स्थान पर रोकी गई तथापि श्रीहित सखी की सहायता से किसी किसी तरह यहाँ आ पहुँची हूँ' इत्यादि सहृदयों के हृदयों की साक्षी से अनुमोदित प्रिया प्रियतम का सम्भाषण मैं कब सुनूँगी ? और रस रूपी अमृत के सागर में कब मग्न होऊँगी' यह ध्वनित होता है ।४५।

एवं परस्परानुरागप्रेमरसालापं कुर्व्वतोः प्रेमा वर्द्धितः प्रियस्य प्रेमासक्ति-बद्धकंकणतादर्प्पोऽधिकतमोऽस्ति, तत्रापि स तु प्रियागमने तदपांगजनित-कामेन संक्षोभोऽपि स्यात्, अतो यावत् प्रियाप्रेमदिवाकरो नोदेति तावदेव तस्य बलवत्ताधिक्यं दृश्यतेऽथ यदास्या आसज्यायाः प्रेमोदयस्तदा सर्वोऽपि प्रेमकामक्षोभादिः प्रियेण विस्मर्य्यते, तदेवं संलापपरंपरां कुर्वत्या एव प्रेम-मूर्त्तेः प्रेमवैचित्त्यमुदितं तदेवाहः—

अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं,
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनांगी,
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि ॥४६॥

अंकस्थितेऽपीतीदं पद्यं प्रेमवैचित्यस्य मुख्यपरिभारिषात्मकम्, अनेनैव सर्वविरहवैकल्यपद्यानि समन्वेतव्यानीति । अत्र सिद्धान्ते एवंजातीयो विरहोऽस्तीति ज्ञेयम् ।

रसकलश

इस प्रकार परम अनुराग और प्रेम के रस से परिपूर्ण वार्तालाप करते हुए प्रिया प्रियतम का प्रेम बढ़ चला, प्रिय को तो प्रेमासक्ति का कंकण बांध रखने का दर्प अधिकाधिक है ही, उसमें भी प्रियाजी के आगमन पर उनके कटाक्ष से जनित काम से संक्षोभ भी होता ही है। अतः जब तक प्रियाजी के प्रेम का सूर्य उदय नहीं होता तब तक श्रीश्यामसुन्दर के संक्षोभ की अधिकता देखी जाती है, जब प्रियतम की प्रेम विषया-आसज्या-श्रीराधाजी के प्रेम का उदय हो जाता है तब प्रियतम सम्पूर्ण प्रेम और काम से जनित संक्षोभ को भूल जाते हैं। सो इस प्रकार वार्तालाप या संभाषण को परम्परा को चलाती हुई प्रेममूर्ति को प्रेमवैचित्य की दशा प्राप्त हो गई, उसीका वर्णन करते हैं –

"प्रियतम के अङ्क में स्थित रहते हुए भी अकस्मात् हा मोहन !' इस प्रकार का कुछ मधुर प्रलाप करती हुई श्याम के प्रति अनुराग के मद से विह्वल और मोहन हैं अङ्ग जिनके, ऐसी कोई श्यामाओं (जोडशियों) में शिरोमणि निकुञ्ज की सीमा में सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं, अतः मैं उनको नमस्कार करती हूँ।"

'अङ्कस्थितेऽपि' इत्यादि पद्य प्रेमवैचित्य की परिभाषा स्वरूप है इसी से विरह व्याकुलता के सभी पद्यों का समन्वय कर लेना चाहिये। इस (श्रीराधावल्लभीय सम्प्र-दाय के) सिद्धान्त में इसी प्रकार का ही विरह है ऐसा जानना चाहिये।

प्रस्तुतमाह, एवं प्रियया संलापे कृते प्रियोऽत्यधीर उक्तवान्हा प्रिये त्वां विना क्षणमप्यन्तरायं न सोढुं शक्तः, अन्तर्हृदयनिहितायामपि बाह्यांगानां नेत्रादीनामप्रसक्तिरतः कथं कुर्य्यां, त्वद्द्वारेणाहं समर्थः, किञ्च धारककृतप्रयत्ने धार्य्यस्य ते परीक्षणसाहसदुर्ल्लीलता स्यात्पश्ये कथं धारयिष्यतीति कुञ्जान्तरे निलीना स्याद्हृदयादप्यपसरेदित्यतो मां त्वमेव धारयेति निःशंकं त्वदास्वादं कुर्य्यामित्युक्ते स्मयमाना प्रिया दृढमालिंग्योत्संगेऽत्यन्तस्नेहेन धृतवती तदा तत्प्रेमासक्तिदर्शनतः स्वासज्यतासेतुर्लुप्तो मुकुर इव प्रेमविरहानन्दः संक्रान्तः । अत आह, अंके उत्संगे संश्लिष्य स्थिते दयिते परमकृपाविषये सत्यपि किमप्यनिर्वचनीयं प्रिय एव जानाति वाऽहमेव जाने, इति हा मोहनेति मधुरं प्रलापम् अकस्माद् विदधती, एभिश्चाटुवाक्यैरेव मन्मनो मोहयसीति मोहनेति, अहह कस्ते प्रेमातिशयो यस्य न मर्य्यादां प्राप्नोमीति । हा इति महानिष्ठुराहं क्व मे प्रेमातिशय इति प्रेम्णो रीतिरेव स्वप्रेमाधिक्येऽपि प्रियप्रेमातिशय एव लगति, एवं स्मृतिपरंपरां कुर्वत्या अनिष्ट-

रसकल

अब प्रस्तुत वस्तु कहते हैं—प्रियाजी के द्वारा इस प्रकार का प्रलाप किया गया तो अति अधीर होकर प्रियतम बोले—हा प्रियाजी, मैं तो तुम्हारे विना एक क्षण भर का भी अन्तराय या दूरी नहीं सह सकता । तुम मेरे हृदय में सदा सन्निहित हो ही किन्तु बाहर के अङ्गों-नेत्र आदियों को जो व्यवधान या दूरी अनुभव होती है तब क्या करूँ ? कैसे करूँ ? मैं तो तुम्हारे द्वारा ही समर्थ हूँ । एक बात और भी तो है कि धारण करने वाले के प्रयत्न में धारण किया जाने वाला यदि परीक्षा करने के साहस की अनुचित लीला करे तो भला वह उसे कैसे धारण करे तब तो तुम द्रुम कुञ्ज में छिप जाओ, या हृदय से ही निकल जाओ । अतः अब मुझे तुम ही धारण करो जिससे निर्भय होकर तुम्हारा रसास्वादन कर सकूँ, ऐसा कहने पर मुस्कराती हुई प्रियाजी ने दृढ़ आलिङ्गन करके श्याम को अत्यन्त स्नेह से अपनी गोदी में धारण कर लिया तब उनकी प्रेमासक्ति का दर्शन होने से प्रियाजी का अपना आसज्यता-प्रेम विषय होने का पुल टूट गया और जैसे दर्पण में हो ऐसे प्रेम विरह का आनन्द संक्रान्त हो गया । अतएव कहा है कि अङ्क या गोदी में आलिङ्गन करके प्रियतम स्थित हैं, परम कृपा के पात्र बने हुए हैं तो भी कुछ अनिर्वचनीय जिसको या तो प्रियतम ही जानते हैं या मैं ही जानती हूँ—ऐसा 'हा मोहन !' इस रूप में मधुर प्रलाप अकस्मात् करती हैं । 'इन प्रिय वाक्यों से ही मेरा मन मोहित करते हो अतः मोहन हो अहह, तुम्हारा यह प्रेम का उद्रेक कैसा है जिसकी मैं अवधि नहीं पाती । हा' मैं अत्यन्त निष्ठुर हूँ, मेरा प्रेमातिशय (प्रेम की अधिकता) कहाँ है । इस प्रकार प्रेम की रीति ही है कि अपने प्रेम की अधिकता होने पर भी प्रिय का प्रेम अधिक प्रतीत होता है । इस प्रकार स्मरण

शंकीनि बन्धुहृदयानि, इतिवत् प्रियस्य कुञ्जान्तरनिलयनं स्मृतिमागतं, किञ्च यस्य पलकविच्छेदेऽपि युगशतं बहुकालं मन्यते इति पलकान्तराय-व्याकुलता प्रेमवैचित्ये पौर्वापर्य्यं विस्मृत्य वर्द्धिता यथा जाग्रति यद्वस्तुनः प्रत्यूहनिवारणपूर्वकसिद्धिप्रयत्नस्तस्य स्वप्ने प्रत्यूहपूर्वकैव वस्तुस्फूर्त्तिर्न केवल-सिद्धेरेवं वैचित्ये जाग्रत्पलकान्तरव्याकुलतास्फूर्त्तिः, अतो निलयनशंकया हा मोहनेति पदम्, क्वासि क्वासीति–अध्याहारो, व्याकुलत्वादपूर्णवाक्यता ज्ञेया।

मधुरमिति, मन्मनःसाक्षिकं ननु हा इति कष्टोक्तिः कथं हितसख्या मधुरेति तत्र नित्यान्तरंगिण्याः प्रेमवैचित्यज्ञानमस्त्येव। तत्रापि प्रियोङ्क-स्थितस्तदा त्वनन्वयाद्धास्यमेवायाति अकस्मादिति सचमत्कृतियद्वा हा मोह-नेति पदं कष्टं मधुरं मादकं विदधतो विधानं कुर्वती मधु आसवं राति ददा-तीति तच्छ्रुत्वा प्रेममत्तता श्रोतुर्हृदि समुज्जृम्भते इति।

रसकलश

की परम्परा करती हुई को 'बन्धुओं के हृदय अनिष्ट को आशङ्काओं वाले होते हैं' इसके अनुसार प्रियतम का कुञ्ज के अन्दर स्मरण हो आया। फिर जिसके पल भर के विच्छेद में भी सौ युगों जितना अधिक काल प्रतीत होता है, पलक गिरने के समय के अन्तराय की व्याकुलता प्रेम वैचित्य (प्रेम के कारण बेभान सी अवस्था) में पहले-पीछे के क्रमको भूल जाने से और बढ़ गई, जैसे जाग्रदवस्था में जो वास्तव में विघ्न निवा-रण पूर्वक सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न होता है उसके स्वप्न में विघ्न के साथ ही वस्तु की स्फूर्ति होती है केवल सिद्धि ही नहीं होती। ऐसे वैचित्य (बेभान अवस्था) में जाग्रदवस्था के पलक गिरने के अन्तर में व्याकुलता स्फूर्ति हुई, अतः छिप जाने की शङ्का में 'हा मोहन!' पद कहा गया, इसके साथ 'कहाँ हो! कहाँ हो' का अध्याहार किया जाता है क्योंकि व्याकुलता के कारण पूरा वाक्य नहीं कहा जा सका।

प्रलाप को मधुर कहने का यह तात्पर्य है कि मेरा मन ही उस प्रलाप के मधुर होने का साक्षी है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि प्रियाजी ने जो 'हा मोहन!' कहा उसमें 'हा!' तो कष्ट को बताता है तब श्री हितसखीजी ने इस कष्टोक्ति को मधुरोक्ति क्यों कहा! इसका उत्तर यह है कि श्रीहितसखीजी प्रियाजी की नित्य अन्तरङ्ग सखी हैं उन्हें ज्ञात है कि प्रियाजी इस समय प्रेमवैचित्य से ऐसा प्रलाप कर रही है, प्रियतम तो उनके अङ्क में ही स्थित हैं तब तो हा मोहन! इस उक्ति के अनन्वय या असङ्गत होने के कारण हँसी ही आती है। अकस्मात् या अचानक कहने में एक चमत्कार है जो हा हा मोहन! इस कष्टोक्ति को भी मधुरोक्ति में परिणत कर देता है। मधुर या मादक प्रलाप का विधान करती हुई (श्याम मणि सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं) में मधुर शब्द का विग्रह-''मधु' मदिरा या आसव को (दानार्थक राधातु से 'र') देने वाला' करने से इसका अर्थ 'मादक' निकलता है, ऐसा मादक आलाप सुनकर श्रोता के हृदय में प्रेम से मत्त होने की अवस्था उमड़ पड़ती है यह भाव है।

प्रलापोऽनर्थकं वच इति अनर्थकमनन्वयं हा इति क्वासीति अंकस्थिते इत्यादौ न संबंधस्तदपि मधुरं मधुरमूर्तिमुखोक्तित्वात् किं च श्यामानुराग-मदविह्वलमोहनांगी साक्षात्स्वसौभाग्यशृंगारमूर्तेर्वा स्वलोचनांजनवन्निरं-तरस्थायिनः श्यामस्य योऽनुरागस्तस्य मदस्तद्दृष्टिपानेन वा तन्मुखोक्ति-श्रवणपानेन मादकतावृद्धिस्तेन विकलानि व्याकुलानि वा घूर्णयमानानि पुन स्ताद्दशत्वेनैव मोहनान्यंगानि यस्या मदो निजसौभाग्यानुरागश्रवणं प्रियमुख-तोऽत्यंतमादकतोत्पादकं हर्षविशेषः ।

मोहनत्वमंगेषु स्वत एव परंतु अधुना मत्तताविशिष्टमिति अतः श्यामानुरागमदपानात् श्यामानां मणिर्जातेति । यद्वर्णरागं पिबति ताद्दगेव स्वयं भवतीति अत्र श्यामवर्णस्तु नास्ति परंतु तदनुरागतन्मयतयोक्तिः अर्थादासक्त-त्वं प्रियस्यात्र संक्रांतं तत एवासक्तिवाक्यं हा मोहनेति अन्यथासज्ज्ये कथं

रसकलश

यद्यपि प्रलाप शब्द का अर्थ है निरर्थक वचन, तथापि यहाँ अनन्वय या असंगति होना ही निरर्थकता का हेतु है क्यों कि 'हा मोहन' का 'क्वासि' (कहां हो) के साथ सम्बन्ध है 'अङ्कस्थिते' (अङ्क में स्थित होने पर भी) इसके साथ सम्बन्ध नहीं है । प्रलाप को निरर्थक या असंगत होने पर भी मधुर कहा गया है क्योंकि वह मधुर-मूर्ति (श्रीराधा) जी के मुख से निकला है । श्याम के अनुराग के मद से विह्वल अङ्गों वाली अथवा साक्षात् सौभाग्य और शृंगार की मूर्ति के अपने नेत्रों में काजल के समान निरन्तर स्थायी रूप से रहने वाले श्याम सुन्दर का जो अनुराग है उसके मद से विह्वल रंगों वाली) यह मद श्यामसुन्दर के दृष्टिपात से अथवा उनके मुख की उक्ति के श्रवणों द्वारा पान करने से मादकता का बढ़ जाना है । उससे विकल या व्याकुल अर्थात् घूम रहे हैं फिर ऐसे होने के कारण मोहक हैं अंग जिसके (ऐसी श्याम शिरोमणि कुन्ज सीमा में सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं) । मद का अर्थ प्रिय के मुख से अपने सौभाग्य और अनुराग का श्रवण है जो अन्यन्त मादकता उत्पन्न करने वाला एक प्रकार का हर्ष है । यह हुई श्याम के अनुराग के मद से विह्वलता की व्याख्या ।

अब मोहनता या मोहकता की व्याख्या करते हैं । श्रीप्रियाजी के अङ्गों में मोह-कता तो स्वभाव से ही है, परन्तु आज वह मोहकता मत्तता से युक्त है, इसीलिये श्याम के अनुराग के मद का पान करने से वे श्यामाओं (षोडशी वरवर्णिनियों) में मणि या शिरोमणि हो गई हैं । प्रियतम के जिस रंग के राग या अनुराग का पान करती हैं स्वयं भी वैसी ही हो जाती हैं । यहाँ श्याम वर्ण तो नहीं है परन्तु श्याम के अनुराग की तन्मयता के कारण इन्हें श्यामामणि कहा गया है । अर्थात् प्रिय की आसक्तता आज इनमें संक्रान्त हो गई है तभी तो आसक्ति सूचक वाक्य बोला गया कि 'हा मोहन !

घटते । बहिरननुकूलशीलध्रुवत्वात्तदपि मणित्वं श्रेष्ठत्वं किं च प्रभुत्वात् सुंदरे किं न सुंदरमितिवत् श्यामा षोडशवार्षिकी पूर्णकिशोरीति स्पष्टमेव अत्रापि षोडशत्वं चंद्रे षोडशकलाभिरिव गुणगणैः प्रेमानुरागरसवैदग्ध्य मौग्ध्यादिमाधुर्य्यैः पूर्णता न तु केवलवर्षसूचक एव श्यामाशब्दः श्यामानुरागबाहुल्यात् तन्मयतया च श्यामेति यथा कृष्णनामेति अत्र कर्मधारय समासः श्यामानामिति तत्पुरुषस्तदा ब्रजनवतरुणिकदंबमुकुटमणिरित्यर्थः ।

मणित्वं रूपसौंदर्य्यादिगुणैरुत्कृष्टत्वं तद्वृंदे शोभनत्वं यथोडुमध्यऽउडुराज इति स्वामिनीत्वेन मणित्वं कापीत्यनिर्वचनीया न कुत्रापि दृष्टा श्रुतास्तीति निकुंजानां सीम्नि अवधौ इमे एवावधिस्तद्विहारस्य स्थितेश्च नान्येति यथा दूरे इति पद्ये कुंजवीथीमुपास्ते इति वाक्यान्नातः परं क्वचिद् गच्छतीत्यवधिः कुंज एव यथा पांथः स्वशरणं यथेतिवत् जयतीति हितसखीमनसि प्रसद्य तत्सौभाग्यमनुरागं दृष्ट्वा श्रुत्वा च हर्षाश्रुपूर्णा जयजयेति वक्ति अयमीदृशः

रसकलश

तुम कहाँ हो ।' अन्यथा आसक्ति के पात्र में ऐसे वाक्य बोलना कैसे संगत होता, क्योंकि आसक्ति का पात्र तो स्वभाव से ही बाहर से प्रतिकूल रहता है । इस प्रकार आसक्त हो जाने पर भी आसक्ताओं श्यामाओं में शिरोमणि या श्रेष्ठ ही हैं । यह बात भी तो है कि प्रभु होने के कारण अथवा सुन्दर की कौन सी बात सुन्दर नहीं होती इसके अनुसार भी वे श्यामाओं में श्रेष्ठ हैं । श्यामा षोडशी या पूर्ण किशोरी हैं यह तो स्पष्ट ही है । यहाँ पर भी षोडश सख्या चन्द्रमा में षोडश कलाओं के समान गुण गणों प्रेम, अनुराग, रस, विदग्धता, मुग्धता आदि माधुर्यों से परिपूर्णता है । न कि केवल श्यामा शब्द वर्ष सूचक ही है । श्याम के प्रति अनुराग की अधिकता के कारण और तन्मयता (श्यामाकार मनोवृत्ति) के कारण श्रीप्रियाजी का नाम श्यामा है जैसा 'कृष्ण नाम इस शब्द में 'कृष्ण ही नाम 'इस अर्थ में कर्मधारय समास होता है वैसे ही यहाँ पर भी 'श्यामामणि' शब्द में भी' श्यामा ही मणि' इस अर्थ में कर्मधारय समास होगा और जब 'श्यामाओं में मणि' यह अर्थ होगा तब तत्पुरुष समास होगा जैसा कि ब्रजनवतरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आज बनी' इत्यादि श्रीमच्चतुरासी जी के पद में कहा है ।

'श्यामाओं में मणि' कहने का भाव यह समझना चाहिये कि वे रूप, सौन्दर्य आदि गुणों से श्यामाओं के वृन्द या समूह में उत्कृष्ट हैं, शोभनतम हैं जैसे तारामण्डल में चन्द्रमा है इसी प्रकार यहाँ स्वामिनी होने के कारण मणिभूता है । 'कापि' या कोई शब्द उनकी अनिर्वचनीयता को बताता है अर्थात् जैसी न कहीं देखी गई हैं और न कहीं सुनी गई हैं । निकुञ्जों की सीमा या अवधि में उनके बिहार और अवस्थान की यही अवधि है दूसरी नहीं । जैसे 'कुञ्जगली के बाहर कहीं नहीं जाते अर्थात् कुञ्ज ही उनकी अवधि है यह अर्थ समझा जाता है और जैसे पथिक मार्ग द्वारा अपने निवास स्थान तक जाता है यहाँ पथिक के जाने की अवधि उसका निवास स्थान है ऐसे ही श्रीराधा जी का निवास स्थान निकुञ्ज ही है । 'जयति' शब्द द्वारा श्री हितसखी मन

प्रेमात्रैव सीम्नि वर्त्तते नान्यत्रेति सर्व्वोत्कर्षेण वर्त्तते परस्मैपदमस्माकमेतादृशी स्वामिनी धन्या वयं धन्येयं सीमा धन्यः प्रिय इति परगामिफलं तदुत्कर्षस्य यतो धन्याः स्मस्तस्यास्तु किमुच्यत उत्कर्षधन्यत्वमिति ध्वनिः ॥४६॥

एवं प्रेम वैचित्यं श्रुत्वा चकितः प्रिय आह अहो प्रेमनिधे प्राणप्रिये मुग्धे किमेवं संशयापन्नासि त्वदीयदयितस्त्वदंक एवस्थितोऽस्मि त्वदंकादन्यत्किमपि न मे यथेष्टाश्रयोस्ति समाहिता भवेति सचिवुकस्पर्श्यमाश्लिष्य स्थानप्रभावाद्भीत इव कुंजाभ्यंतरशय्याया विनिवेश्य रमितवांस्तत्रहितसखी रहोधिकृतापि कुंजद्वारस्थितोभयकौतुकसस्मितोत्सुका सर्वकरणमनोवृत्तीः संभूय श्रवणे निधाय तद्वारैव तदानंदमभिलषतीत्याह—

रसकलश

में प्रसन्न होकर उनके सौभाग्य और अनुराग को देख सुनकर हर्ष के अश्रुओं से पूर्ण नयना होकर 'जय जयकार करती हैं और कहती हैं कि यह ऐसा प्रेम यहाँ निकुञ्ज की सीमा में ही है अन्यत्र कहीं नहीं है अतएव यहाँ पर श्यामामणि (श्रीराधा) सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं। 'जयति इस पद में परस्मैपद का तात्पर्य है कि हम जिन किङ्करीजनों की ऐसी स्वामिनी हैं, वे धन्य हैं, यह सीमा भी धन्य है, प्रियतम (श्यामसुन्दर) भी धन्य हैं। इस प्रकार परगामी फलहै अर्थात् श्यामामणि (श्रीराधा) जी का निकुञ्ज की सीमा में विराजमान होना इन सभी को सफल करने वाला है और जब उनके निकुञ्ज सीमा में विराजमान होने से हम सब धन्य हैं तब उनके अपने उत्कर्षक और धन्य होने का तो क्या कहना यह व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है। ।४६।

इस प्रकार प्रेम के कारण वैचित्य या वेमान सी अवस्था को सुनकर चकित हुए प्रियतम (श्यामसुन्दर) कहने लगे-'अहो प्रेमनिधि, भोली भाली प्राण प्रिया तुम क्यों ऐसे सन्देह में पड़ गई हो, तुम्हारा दयित (दयापात्र) मैं तो तुम्हारे अङ्क में या पास में ही स्थित हूं, तुम्हारे अङ्क से अतिरिक्त मेरा कोई दूसरा मनोनुकूल आश्रय ही नही है, तुम निश्चिन्त हो जाओ, इत्यादि वचन चिबुक या ठोड़ी को छूते हुए, आलिङ्गन करते हुए कहे, और उस स्थान के प्रभाव से भयभीत से होकर कुञ्ज के अन्दर शय्या पर प्रियाजी को विराजमान करके विविध केलियां करते रहे, वहाँ पर श्रीहितसखी जो एकान्त लीलाओं में भी अधिकृत होती हुई भी कुञ्ज के द्वार पर स्थित होकर प्रिया प्रियतम दोनों के कौतुक देखकर मन्द मन्द मुस्करा रही हैं जिनके सभी बाह्य करणों की वृत्ति अत्यन्त उत्सुक हैं, वे कान लगाकर कुञ्ज के द्वार पर ही स्थित होकर उस आनन्द की अभिलाषा करती हैं—

कुञ्जान्तरे किमपि जातरसोत्सवायाः
श्रुत्वा तदालपितशिञ्जितमिश्रितानि ।
श्रीराधिके तव रहः परिचारिकाहं
द्वारस्थिता रसहृदे पतिता कदा स्याम् ॥४७॥

हे श्रीराधिके प्रियप्रेमसिद्धिदायिनी विलक्षणासक्तिशीले आसज्यभावादन्याज्ञातेव विभाव्यमाने कुंजस्यान्तरे मध्ये कुंजादपि रहः स्थाने निभृते कुंजे इति किंच कुंजो बहिरंगणः समस्तस्थानवाची च निकुंजोमध्यांगणः पूर्वस्माद्रहस्यं निभृताभिमुखवितानरूपस्ततोप्याभ्यंतरः कुटीरः शयनीयएव निभृतनामेति एकस्मात्कुंजादन्य इति कुंजान्तर इत्यपि संगतं मध्येन्तरात्मनिचेत्यमर इति मध्यार्थोऽपि ।

किमपीत्यनिर्वचनीयं सहृदयवेद्यं प्रियकृतसावधानताप्रियमधुरभाषणादिभिर्जातो रसस्य शृंगारसंयोगानन्दबिहारस्योत्सवउत्सुकता वा वा अल्यं यस्यास्तव किंच पूर्वं प्रेमोदय आसीदिदानीं रसोदय इतिउद्भट रूचिपूर्वक-

रसकलश

'हे श्रीराधिके, जिनके मन में कुन्ज के अन्दर कुछ रसोत्सव हो आया है ऐसी तुम्हारे आलापों और नूपुरशिञ्जनों की मिश्रित ध्वनियों को सुनकर द्वार पर खड़ी हुई मैं तुम्हारी एकान्त परचारिका रस के हूँदय में कब जा पड़ूगी ?' ॥४७॥

हे श्रीराधिके ! तुम प्रियतम को प्रेमरूपी सिद्धि देने वाली ही विलक्षण आसक्ति युक्त स्वभाव वाली हो, अपने आसज्यभाव (प्रीति का विषय होने) के कारण दूसरों से अज्ञाता सी हो एसी प्रतीत होती हो, कुन्ज के मध्य में अर्थात् कुन्ज की अपेक्षा भी एकान्त स्थान निभृन निकुन्ज में क्योंकि कुन्ज तो बाहर के आंगन का नाम है अथवा वह सभी स्थानों का वाचक है और निकुन्ज बीच का आंगन है जो कुन्ज की अपेक्षा एकान्त हैं, यह निकुन्ज एकान्त होता हुआ भी सामने ही स्थित वितान सा है, उसके भी अन्दर जो कुटीर या शयनगार है वह निभृत निकुन्ज है । अथवा एक कुन्ज से भिन्न दूसरा कुन्ज कुन्जान्तर यह अर्थ भी संगत होता है । 'मध्य और अन्तर शब्द का प्रयोग होता है' अमर कोष के अनुसार कुन्ज के मध्य के अर्थ में भी' कुन्जान्तरे' कहा जा सकता है ।

'किमपि' या 'कुछ' शब्द अनिर्वचनीय या सहृदयों द्वारा ही जानने योग्य अर्थ को बताता है । प्रियतम के द्वारा की गई सावधानता तथा प्रिय और मधुर भाषण आदि के द्वारा हुआ है संयोगात्मक शृङ्गार रस के आनन्दमय बिहार का उत्सव या औत्सुक्य जिनको ऐसी श्रीराधा के । पहले तो प्रेमोदय ही था अब रसोदय है । उद्भट रुचि के

मुत्सव आरब्धे जातेऽतिरसस्तु मूर्त एव परन्तु तदानीमुत्सवे अत्यंतोज्जृम्भणं यथा दुग्धस्योत्सिच्यमानत्वं साटोपशोभनरूपत्वं तदाबह्वालापवाद्य भूषणरवादीन्युत्सवज्ञापकानीत्याह यदोत्सवो जातस्तदा प्रियस्यापि लौल्या- वकाशस्तादात्विकस्पर्शजशीत्कारमणितमुंचमुंचनेतिनेतीत्यादि वा तादा- त्विकानन्दानिवर्चनीयमिथोभाषणाद्यालपितेन रंजितानि मिश्रितानि यथा वसनं श्वेतमपि पीतारुणादिरंगेण रंजितं तन्मयं स्यात्तथोदात्तानुदात्तलय- स्वरसमतापन्नानि भूषणनूपुरकिंकिणीबलयरवाणि श्रुत्वा अथवा किमप्यत्र संवध्यते तदा किमप्यव्ययं त्वस्त्येव अनिर्वचनीयं तादात्विकं सचुंबनसहास- साहसोद्भवानि श्रुत्वेति क्वचित् शिंजितमिश्रितानि किमपि ध्वनिविशेषाणि वर्णात्मकध्वन्यात्मकमयानीति श्रुत्वेत्यर्थः ।

उत्सवे परिचारिकापोष्यते । अतोऽहं रहःपरिचारिका वसनभूषण समीकरणताम्बूलासवामृतव्यजनादिपरिचर्य्यार्हापि निःसंकोचतापादनार्थं

रसकलश

साथ उत्सव आरम्भ हुआ है । रस तो यहाँ मूर्तिमान् ही है, परन्तु आज उसके उत्सव में रस का अत्यन्त उल्लास हुआ है जैसे दूध में उफान आने पर होता है ऐसे ही आज रस आटोप के साथ शोभायमान है । उस समय के बहुत आलाप और वाद्यभूत भूषणों के शब्दादि इसी उत्सव के ज्ञापक हैं, अतएव कहते हैं कि जब प्रियाजी को रसोत्सव हुआ तब प्रियतम को भी चञ्चलता चपलता करने का अवकाश मिल गया, उस समय के स्पर्श से शीत्कार और मुंच मुंच आदि तथा नेति नेति आदि आलाप-जो उस समय के आनन्द के कारण अनिर्वचनीय वार्तालाप से रञ्जित और मिश्रित हैं, जैसे शुभ्र या सफेद वस्त्र पीले लाल आदि रंग से रंगने पर पीला या लाल ही हो जाता है वैसे ही उदात्त अनुदात्त लय और स्वर को समता को प्राप्त हुए, भूषणों, नूपुरों, मेखला की घुंघरियों तथा कङ्कणों के शब्दों को सुनकर, अथवा 'किमपि' शब्द का भी सम्बन्ध यहाँ है तब किमपि का अर्थ होगा जिसका कभी अन्त नहीं होता ऐसे अनिर्वचनीय उस समय के चुम्बन और हास से युक्त साहस से उत्पन्न हुए शब्दों को सुनकर, कहीं भूषणों के शिञ्जित (शिञ्जारव) से मिश्रित ध्वनिविशेषों को सुनकर इस प्रकार वार्तालाप के वर्णात्मक और भूषणों के ध्वन्यात्मक शब्दों को सुनकर यह अर्थ हुआ ।

अब उत्सव में परिचारिका या दासी की भी आवश्यकता होती है, इसलिये मैं एकान्त की दासी वस्त्रों और आभूषणों को ठीक करना, ताम्बूल, आसवामृत, (मधु) व्यजन (पंखा) आदि करने की सेवा के योग्य होती हुई भी प्रिया प्रियतम को किसी प्रकार का संकोच न हो इसलिये द्वार पर खड़ी रह कर उन शब्दों को सुनकर रस के

निभृतस्य कुञ्जस्य द्वारस्थिता सती श्रुत्वा रसह्रदे पतिता कदा स्याम् । अनेनारब्धे रसोत्सवोत्कर्षो ध्वनितः । किंचोत्सवे सूतरंगितरससिंधूज्जृंभणमेव तत्र किमुच्यते मज्जनं द्वारेऽपि रसनदाबहुशो भरितास्तत्रैकस्मिन्नेवभ पतिता कदा स्यामित्या शंसनं रहःपरिचर्ययाधिकारादपि वाह्ये ऽनुभूतस्मरणरूपे किंचिद् विजातीया नन्दः समुल्लसत्येतदर्थम् ।

किंच तत्र तु रहःसेवनधर्मेऽप्रमत्तत्वैवार्हा विगलितवेद्येतरता न शोभना अतस्तदास्वादमज्जनं वहिरेवाशासे इति दास्यरीतिपराकाष्ठा दर्शिता कुंजांतर इति सर्व्वत्रासंकोचेपि अनिष्टशंकानि वन्धुहृदयानीति च प्रियस्य शंकासादृश्योद्भवः किमेतत्स्थानप्रभाव एव किंच सर्वेपि श्रीवृंदावनकुंजाः प्रेममयाः केचिद्रसमया दृष्टमहिमान एव । अतोऽतः परवैवश्यातिशये मुग्धाया दुःसाध्यत्वं स्यादिति माधुर्य्येणान्यत्कुंजे तत्रैव यथेष्टकल्पवल्लीनवदलखचितास्तरणतल्पवितानादिसुंदरे गृहीतभुजौ प्रविष्टाविति ज्ञेयम् ।

रसकलश

सरोवर में कब पड़ूँगी ? इससे आरम्भ किये गये रसोत्सव का उत्कर्ष सूचित किया गया है। और भी एक बात है कि उत्सव तो लहराते हुए सागर के उमड़ पड़ने पर ही होगा, तब उसमें मज्जन या स्नान करने का क्या कहना, द्वार पर खड़ी हुई भी उस सागर में ऐसी मग्न होऊँगी कि मेरा अङ्ग अङ्ग, रस से आप्लुत हो जाएगा, उस एक मात्र रस सरोवर में ही कब पड़ जाऊँगी ? यह आशंसा एकान्त सेवा के अधिकार से भी है। बाहर तो अनुभव किये हुए उत्सव के स्मरण की स्थिति में कुछ विजातीय आनन्द उल्लास होता है यह अर्थ है।

और भी एक बात है वहाँ एकांत सेवा रूपी धर्म में सावधानता ही उचित है जिसकी अन्य किसी बात का अनुभव न होने से ही शोभा होती है, अत एव उस आस्वाद में मग्न हो जाना मैं बाहर ही चाहती हूँ, इस प्रकार दास्यरीति की पराकाष्ठा दिखाई गई है। यहाँ पर कुञ्ज के भीतर कहने का तात्पर्य है कि वैसे तो श्रीवृन्दावन में सर्वत्र संकोच का अभाव ही है तथापि बन्धुओं के हृदय स्वभाव से ही अनिष्ट की आशंका से आशंकित रहा करते हैं अतएव प्रियतम के हृदय में शङ्कासी उत्पन्न होती है कि आज जो सदा प्रतिकूल रहने वाली प्रियतमा को रसोत्सव हुआ है यह क्या इस स्थान विशेष का प्रभाव है; क्योंकि श्रीवृन्दावन के तो सभी कुञ्ज प्रेममय ही हैं, उनमें कुछ रसमय हैं जिनकी ऐसी महिमा देखी गई है इसलिये इतना होने के बाद विवशता के बढ़ जाने पर मुग्धा (प्रियतमा) को अनुकूल करना या मनाना प्रियतम के लिये कष्ट साध्य हो जाता है अतः मधुर वचनादि द्वारा वहीं अन्य कुञ्ज में—जो मन के अनुकूल कल्पलता में नवीन पल्लवों से रचे गये आस्तरण वाली शय्या और वितान (चन्दोबा) आदि के द्वारा सुन्दर सजा हुआ है—उसमें एक दूसरे की भुजा का आश्रय लिये प्रियाप्रियतम दोनों ने प्रवेश किया ऐसा जानना चाहिये।

जातरसेति पूर्व्वं धर्मास्वादे जात एव चंद्रोदयास्वादोत्कर्ष एवं प्रेमदिनाकरोपतापानुभव एव रसचन्द्रास्वादवृद्धिः स्यादिति दर्शितं नत्वन्यनायक इव प्रेमरसागंतुकत्वम् अत्र तु द्वयोर्नित्यमूर्तिस्थितिरेव परन्तु यथासमयस्वस्वोदय इति ज्ञेयम् । यद्वा मुक्तकश्लोकार्थपक्षे तु कुञ्जान्तर इति कस्मिन् कुञ्जे एवं कस्मिन्नेवं चेति स्पष्ट एव । अथ सम्बन्धमुक्तमालाग्रथनाग्रहश्चेदुक्त एव मुक्तक पक्षे किमपि कथं कथं कृत्वा अस्माकं दासीजनानां भाग्येन वा प्रियस्य भाग्योदयेन तस्या जातरसोत्सवात्वं किञ्च नैवानुकूलं वहिरिति वक्ष्यमाणशील ध्रौव्यात् अतएव श्रीराधिके अल्पार्थकः कः प्रत्ययोऽपि नित्यमाबाल्यतो मदनुभूतहठलाडलात्वशीले मुग्धे इत्यर्थः रहःपरिचारिकेत्यनेन रससिन्धुपारावारज्ञानं दंपत्योस्तन्मज्जने उन्मज्जनकारिवहित्रत्वं स्वस्य समाहितत्वं चोपदर्शितं रसह्लदपतनाशंसने मज्जनस्वातन्त्र्यं च सूचितं इषित्वैव मज्जन्तीति सख्य

रसकलश

'जातरसोत्सवा' शब्द से यह दिखाया गया है कि पहले धूपका अनुभव किया हो तभी चन्द्रोदय के विशेष सुख का अनुभव होता है ऐसे ही प्रेमरूपी सूर्य के ताप का अनुभव होने पर ही रसरूपी चन्द्र के आस्वाद की वृद्धि होती है कि यहाँ अन्य नायिकाओं के समान प्रेम और रस को आगन्तुक समझना चाहिये । अतएव यहाँ प्रेम और रस दोनों की नित्यमूर्ति स्थिर ही रहती है, हाँ समय समय के अनुसार उनसे एक एक का उदय होता है । अथवा जब ये मुक्तक श्लोक हैं, प्रत्येक श्लोक पृथक् प्रथक् अपना भाव रखता है तब 'कुञ्जान्तरे' का अर्थ है किसी कुञ्ज में ऐसा विहार होता है तो किसी में वैसा, यह भी स्पष्ट ही है । और यदि कोई यह आग्रह रखते हो कि इस स्तोत्र में परस्पर सम्बन्ध से मुक्त पुष्पों की माला के समान श्लोकों का ग्रथन किया है तब तो इसका भाव कह ही दिया है । हाँ मुक्तक पक्ष में किमपि' का तात्पर्य है कि कैसे कैसे करके हम दासी जनों के भाग्य से अथवा प्रियतम के भाग्योदय से उन (श्री राधा जी) को रसोत्सव हुआ और वे कभी अनुकूल होती ही नहीं' यह आगे कहे जाने वाला स्वाभाव भी ध्रुव या उचित है, इसी लिये यहाँ 'श्रीराधा के' इस सम्बोधन में अल्पार्थ (थोड़े अर्थ) में 'क' प्रत्यय किया गया है जिसका तात्पर्य है कि बचपन से ही मैंने आपके हठ और लाडलेपन के स्वभाव का अनुभव किया हुआ है, आप बहुत भोली है । यहाँ अपने आपको रहः परिचारिका' या 'एकान्त दासी' कह कर अपना इस सिन्धु के पार अवार को जानना और प्रियाप्रियतम के रससिन्धु में मग्न हो जाने पर उनको बाहर निकालने वाली नौका का काम करना' दिखा दिया है, और उस समय अपना सावधान रहना भी बता दिया है, फिर रसह्लद में पड़ने की शुभाकांक्षा द्वारा उसमें गोता लगाने और निकल आने के विषय में अपनी स्वतन्त्रता भी सूचित कर दी है तभी कहा गया है

इति अतएव पतितेत्युक्तं न मज्जनं किं च पतित्वोत्तिष्ठंति मग्नास्तु उत्थाने संशयिता एव ।

यद्वाश्चर्याधायकत्वं दर्शितम् अहो सिंधुतरणा ह्रदपतनमिच्छन्तीति फलितार्थस्तु रहःपरिचर्याप्राप्तरसदायादत्वेन द्वारस्थितावपि तददायं तत्रैव प्रापयदित्यर्थः । ह्रदेरस इत्यत्र ह्र प्रेवादीर्घ इति पिंगलसूत्रेण शकार इव लघु पाठादोषः एवं संकेतकुंजनिलय इत्यारभ्य षड्भिः पद्यैरेकसम्बन्धः ।।४७।।

वीणामित्यस्य भावार्थस्तु रसे मुक्तकश्लोकत्वे च स्पष्ट एव, संदर्भार्थे तु विहारानन्तरं प्रियस्य निजमर्मेङ्गितज्ञतापूर्वकविलासतत्सुखतानन्दवर्द्धकतां प्रति प्रसह्य तत्रैव स्वौत्सुक्यसहायीभूतां वीणां गृहीत्वा तदासक्तियशोघटित-लीलाप्रबन्धं गायन्ती तन्मयतामापन्नेत्याह—

रसकलश

कि 'सखियाँ तो इच्छा करके ही उस रसह्रद में मग्न होती हैं, इसलिये रसह्रद में मज्जन की बात न कहकर पड़ने की बात कही गई है । एक और बात है कि ह्रद आदि में पड़ गये तो उठ भी जाते हैं किन्तु मग्न हुए या डूबे हुए का उठना तो सन्दिग्ध ही है ।

अथवा यहाँ रसह्रद का आश्चर्यजनक होना दिखाया गया है कि सिंधु को तर जाने वाले भी इस ह्रद में पड़ जाना चाहते हैं । इसका फलित अर्थ यह है कि एकान्त सेवा से प्राप्त रसरूपी दाय भाग को लेने वाली होने के कारण द्वार पर स्थित रहती हुई भी उस दाय भाग को वहीं प्राप्त कर गई . इद्य में 'रसह्रदे' शब्द में 'संयोगाद्य गुरू' संयोग से पहला स्वर गुरु हो जाता है छन्दःशास्त्र के इस नियम के अनुसार 'रस' का 'स' गुरू हो जाना चाहिये और उस के गुरु हो जाने पर वसन्ततिलका छन्द के नियम का भङ्ग होने से छन्दोभङ्ग या हतवृत्त दोष मानना चाहिये किन्तु 'ह्र प्रे वादीर्घः' ह्र और प्र के संयोग से पहला स्वर विकल्प करके गुरु होता है पिङ्गलमुनि के छन्दः शास्त्र के इस नियम के अनुसार यहाँ इसका 'स' लघु ही रहेगा गुरु या दीर्घ नहीं माना जाएगा । इस प्रकार 'संकेतकुञ्जनिलये' इस श्भोक से लेकर यहाँ तक छः श्लोकों का एक अन्वय या सम्बन्ध है ।।४७।।

'वीणां करे' इत्यादि श्लोक का भावार्थ स्नुषारस में और मुक्तक श्लोक की स्थिति में तो स्पष्ट ही है । सन्दर्भ या प्रकरणबद्ध अर्थ करने पर यह पूर्वापर प्रसङ्ग होगा कि विहार के बाद प्रियतम की अपने हार्दिक भाव (मर्म) के अनुकुल इङ्गितों को जानने की निपुणता के साथ विलास और प्रियाजी के सुख से सुखी होने के आनन्द को बढ़ाने की प्रवृत्ति के प्रति विवश होकर वहीं पर अपनी उत्सुकता के समय की सहायक वोणाको लेकर उन (श्यामसुन्दर) की आसज्यता के यश के लिये बनाए गये लीलामय प्रबन्ध (पद्य या गीत) को गाती हुई श्रीराधाजी तन्मय भाव को प्राप्त हो गई हैं, यही बात कहते हैं—

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां ता-
मादाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रु वर्षै-
र्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेऽस्तु राधा ॥४८॥

पूर्वं हितसख्या स्वस्या रसह्रदपतनमुक्तं तद् ज्ञात्वैव वात्सल्यात् स्वामिन्यान्यलीलाप्रकाशनेनोन्मज्जनमिव कृतं तदानीमाह, अहहेति कष्टे सा राधा मे हृद्यस्तु। कीदृशी सा, तां मधुमतीनाम्नीं वीणां करे आधाय नागरशिरोमणिभावलीलां गायन्ती सती, अहो इति आश्चर्य्ये, दिनम् अश्रु वर्षैरपारमिव दुःखान्नयन्ती तामिति पूर्वनिर्दिष्टत्वेनानिर्वचनीयस्वरूपां वा, तत्स्वरूपं मनसि हितसख्या निहितमेव प्रेमवैवश्येनानुक्तमप्यत्र निर्दिष्टं ज्ञेयम्, अर्थान्मधुमतीमिति यत्सभायां यत्संकेतेन, येन वादनोत्कर्षेण मधुमतीति नाम धृतं, मधु मद्यं मादकता विद्यते यस्यामिति। अस्यास्तुम्बयोः कथं मद्यमेव सम्भृतं

रसकलश

'अहो, मधुर स्वर वाली मधुमती नाम की प्रसिद्ध वीणा को हाथ में लेकर नागर शिरोमणि (श्रीश्यामसुन्दर) की भावमयी लीला को गाती हुई अहह, अपार जैसे दिन को अश्रुवर्षा के साथ दुःख से बिताती हुई राधा मेरे हृदय में (स्फुरित) हों।४८।

पहले श्रीहितसखी ने 'अपना रसह्रद में पड़ना' कहा, यह जानकर ही वात्सल्य वश श्रीस्वामिनीं ने और लीला का प्रकाशन करके मानों उन (श्रीहितसखी) को ऊपर निकाल लिया तब वे कहती हैं—'अहह', (इसका अर्थ कष्ट है) वे राधा मेरे हृदय में हों। कैसी वे राधा? उस मधुमती नाम की वीणा को हाथ में लेकर नागर शिरोमणि की भाव लीला को गाती हुई, अहो! (यह आश्चर्य अर्थ में है) दिन को जो अश्रु वर्षाओं के कारण अपार सा हो रहा है, दुःख से बिताती हुई (श्रीराधा मेरे हृदय में हों)।

यहाँ पर 'तां वीणां' अर्थात् उस वीणा को कहने का यह तात्पर्य है कि जो वीणा पूर्व निर्दिष्ट हैं तथा अनिर्वचनीय स्वरूप वाली है। उसको श्रीहितसखी ने अपने मन में रखा हुआ है ही यहाँ प्रेम की विवशता के कारण कहा नहीं तो भी उसे यहाँ निर्दिष्ट ही समझना चाहिये—जिस सभा में जिस संकेत के कारण और जिस बजाने के उत्कर्ष से उसका नाम मधुमती रखा गया था (वही उसका स्वरूप है)। मधु का अर्थ है मद या मादकता, वह मधु जिसमें है उस वीणा का नाम है मधुमती। इसके तुम्बों में क्या

यत् स्वरमूर्च्छनेन श्रवणद्वारा घूर्णायमानत्वं भवति । श्रोतृवादयतृजनानां सर्वेषामेवेति । प्रियेणैव धृतं नामेति ज्ञेयम् ।

पुनश्च मधुरस्वरां, प्रियमिष्टस्वरां, स्वराः षड्जादयो वा उदात्तानुदात्त-स्वरिताः । मत्ता अपि चषकं हस्ते निधाय गायन्ति पिबन्ति चेतिवत्करे आधाय, आदरेण दृष्टप्रभावेण ख्यातनामैश्वर्य्येण हर्षेण धृत्वा, अहं प्रियं मादयामि, सखीर्मादयाम्यहमपि मत्ता भवेयमित्याधाय नागरेति । सर्वेङ्गित-विलासमर्मकुशलशिरोमणिः सर्वरसिकनायकप्रशंसनीयः सेव्यश्चेति स्वप्रिय-स्तस्य भावस्तत्ता यया नागरशिरोमणित्वं प्राप्तम्, यथा—"प्रीति की रीति रंगीलोई जानैं, यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि, दीन अपनपौ मानैं" इति । "प्रीति न काहू की कानि विचारै" इत्यादि स्वमुखेन गायन्ती वा नागरमणौ, स्वस्या भावः प्रेमा यथा "जोई जोई प्यारो करै, सोई मोहि भावै" इत्यादि । प्रियप्रेमोत्कर्षलीलां स्वयं गायन्ती यद्वा भाव आसक्तिर्यथा च वक्ष्यति—

रसकलश

मद्य ही भरा हुआ है क्योंकि इसके स्वरों की मूर्छना के सुनने और बजाने से सुनने वाले और बजाने वाले सभी झूमने लगते हैं। इस वीणा का मधुमती नाम प्रियतम ने ही रखा है ऐसा जानना चाहिये ।

फिर यह वीणा मधुर प्रिय और मीठे स्वर वाली भी है, स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद अथवा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । मतवाले लोग भी हाथ में प्याले लेकर गाते हैं और मद्य पीते हैं वैसे ही श्रीराधा भी वीणा को हाथ में लेकर—देखे गये प्रभाव वाले, विख्यात (मधुमती) नाम और (मादकता रूप) ऐश्वर्य के कारण आदर के साथ उठाकर—मैं (श्रीराधा) इस से प्रियतम को मतवाला बनाती हूँ सखीजनों को मदमत्त करती हूँ और स्वयं भी मत्त हो जाती हूँ इस विचार से हाथ में लेकर, नागर शिरोमणि सभी इङ्गितों, विलासों और मर्मों को जानने वाले परम चतुरों के शिरोमणि, सभी रसिक नायकों द्वारा प्रशंसनीय, और सेवनीय ऐसे अपने प्रियतम के भाव को गाती हुई, जिस भाव के कारण उनको नागर शिरोमणि का पद प्राप्त हुआ है जैसे—'प्रीति की रीति रंगीलोई जानै । यद्यपि सकल लोक चूडामणि, दीन अपनपौ मानैं ।' इत्यादि और 'प्रीति न काहू की कान विचारै ।' इत्यादि । अपने श्रीमुख से गाती हुई अथवा नागरमणि के प्रति अपने भाव या प्रेम को गाती हुई, जैसे—जोई जोई प्यारो करै, सोई मोहि भावै । इत्यादि—प्रिय के प्रेम के उत्कर्ष की लीला को स्वयं गाती हुई । अथवा यहाँ भाव का अर्थ आसक्ति है जैसा कि आगे कहेंगे भी—

"रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ" इति स्वयं रसिकशेखरो रस-मूर्त्तिरासज्योऽपि रसास्वादनशिक्षया मदर्थं रसोपसर्जनीभूत इवासक्तो जात-स्तस्य तादृशनिजविषयिकात्यन्तासक्त्याधीनत्वदैन्यप्रसादपात्रताद्यानुकूल्यगुणा-यत्ता या लीला, तां यद्यत् करोति तत्तन्मत्प्रसादनार्थमेवायं करोति नान्यदर्थे। कुञ्जतल्पादिनिर्माण—मार्गपल्लवास्तरण-यावकभरण-सखीवेषकबरीग्रथन-वेषा कल्परचनादि सर्वं मदर्थकमेव यस्मिन्। भावे स्वस्य गौणत्वं तदुत्कर्षस्तादृशीं लीलां गायन्ती सती प्रियासक्तिभावतन्मयत्वमागता।

एकतो वीणैव मधुमती प्रमादिका, ततोऽप्यासक्तलीलागानं, ततोऽपि-स्वविषयिकप्रियप्रेमसौभाग्योत्कर्षस्तदा वैचित्र्ये कः सन्देहः। अतः प्रेम-मूर्त्तेर्गानमात्रेणातिप्रेम्णा वैचित्र्यमुदितम्। दिवाकरोदयेन दिनमिवेति, अत-एव परिभाषासंकेतितं दिनम्। यथा—

रसकलश

रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमसौ' इत्यादि। स्वयं रसिक शेखर भी रसमूर्ति और आसज्य (व्रज की प्रीति का विषय) होते हुए भी रसास्वादन की शिक्षा देने के लिये मेरे (राधा के) लिये रस के समक्ष गौण-से होकर आसक्त (प्रीति का आश्रय) हो जाते हैं, उन उस प्रकार की निज (श्रीराधा) विषयक अत्यन्त आसक्ति की अधीनता, दीनता, और कृपापात्रता आदि के अनुकूल गुणों के अधीन जो लीला है, उस लीला को वे जो कुछ करते हैं मुझे प्रसन्न करने के लिये ही करते हैं और किसी प्रयोजन से नहीं करते। कुञ्जों में शयनसज्जा, मार्गों पर पल्लवास्तरण (कोमल पत्ते बिछाना) चरणों में महावर लगाने के लिये सखीवेष धारण करना, केशों का शृङ्गार (बाल सँवारना और गूंथना), वेष और अलङ्कारों की रचना आदि सब कुछ मेरे लिये ही है जिसमें ऐसे भाव में अपनी गौणता और प्रियतम का उत्कर्ष सूचित करने वाली वैसी लीलाओं को गाती हुई श्रीराधा प्रिय के प्रति आसक्ति के कारण तन्मय अवस्था को प्राप्त हुई हैं।

एक तो वीणा ही अत्यन्त मादक है, उससे भी अधिक मादक आसक्त लीला का गान है, उससे भी अधिकतर मादक अपने प्रति प्रियतम के प्रेमरूपी सौभाग्य का उत्कर्ष है, इतनी बातों के रहते वैचित्त्य में क्या सन्देह है। अतः प्रेममूर्ति (श्रीराधा) को नागर शिरोमणि की भावलीला के गाने मात्र से अति प्रेम के कारण वैचित्त्य (बेमान सी अवस्था) प्राप्त हो गई जैसे सूर्योदय से दिन हो जाता है, अतएव यहाँ परिभाषा प्रकरण में जिस दिन का सङ्केत दिया गया है वही दिन समझना चाहिये। जैसा कि कहा है—

"लंपट लव निमेष अंतर तैं, अल्प कल्प सत सात" इतिवद् गानसमये प्रियस्य कादाचित्कनिमिषस्वविरहव्याकुलतां स्मृत्वा तत्क्षणमात्रं वृहद्दिनमिव जातं, प्रियसमीपेऽपि प्रेमासक्तिरूपमेवं जातं, यस्मिन् स्वासज्यभावविस्मृतिरश्रुवर्षैर्बहुलैरश्रुभिर्हा प्रिये प्राणवल्लभे क्वगतासि, किमेवं त्वदधीनं त्यजसीति, क्वासि क्वासीति—आलपन्ती, प्रियभावापन्ना, दुःखाद्वैचित्य-समयरूपं दिनम् अपारमिव नयन्ती व्यतीतं कुर्वती, किञ्च प्रियोऽपि सावधानतां करोति, हा प्रिये किमिदानीं गायन्त्येव स्वभावविस्मृत्या मद्भावापन्ना कथमेवं मुकुरस्वरूपेव परस्वभावाक्रान्तासि, त्वत्समीपस्थितोऽहं दासः किमेव विकल्पयसे इत्यादि। दुःखादिति यथा—

"विच्छेदाभासमात्रादहह निमिषतो, गात्रविस्रंसनादौ,
दीप्यत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद् बाह्यमाभ्यन्तरञ्च।

इत्यादिवद् दुःखम्। कदाचित् प्रियस्य स्वविरहेणार्त्तिरुज्जृम्भिता,

रसकलस

'लम्पट लवनिमेष अन्तर तें, अल्प कल्प सत सात' इसी के समान गान के समय में प्रियतम की कभी निमेष भर के लिये अपने विरह के समय की व्याकुलता को याद करके वह निमेष या क्षणमात्र का समय भी बहुत बड़ा दिन सा हो गया, प्रिय के समीपस्थ रहते हुए भी प्रेमासक्ति का ऐसा स्वरूप हो गया, जिसमें अपने आसज्यभाव (प्रेम का विषय होने की स्थिति को भूल गईं और बहुत अश्रु वर्षा के साथ 'हा प्रिय, हा प्राणवल्लभ, तुम कहाँ गए मुझ अपने अधीन जन को क्यों छोड़ गए, कहां हो? इस प्रकार का आलाप करती हुई, प्रियभाव को प्राप्त हुई दुःख से उस वैचित्त्य के समय रूपी अपार दिन को बिताती हुई (के श्रीराधा मेरे हृदय में कब स्फुरित होंगी) एक और बात है कि प्रिय भी उन्हें सावधान करते हैं, हे प्रिये क्यों अभी गाती गाती ही तुम अपने (आसज्य) भाव को भूलकर मेरे (आसक्तभाव) को प्राप्त हो गईं, क्यों इस प्रकार दर्पण के समान स्वच्छ स्वरूप वाली तुम दर्पण के समान दूसरे के स्वभाव या स्वरूप से आक्रान्त हो गई हो। मैं तो तुम्हारा दास तुम्हारे पास हो खड़ा हूँ, क्यों इस प्रकार विकल्प करती हो इत्यादि।'

यहाँ पर दुःख से दिन को बिताती हुई यह जो कहा गया है वह ऐसे ही है, जैसा कि—

'अहह, निमेष या गात्रविस्रंसन आदि के समय बिछोह के आभासमात्र से ही जलती हुई प्रलयकाल की कोटि कोटि अग्नियों से जैसे बाहर अन्दर सब जल उठा हो।' इत्यादि में कहा गया है। कभी प्रिय को श्री प्रियाजी के विरह से व्यथा उमड़ पड़ती है जैसे—

"जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्"

इति तद्दुःखमश्रूणि च स्वस्यामाक्रान्तानि, ततो वैचित्यं, प्रियकृतसावधानतादिभिर्बहुकालविलम्बेन व्यतीतम्, यद्वा श्यामेति, सुन्दरवरेति, मनोहरेति, कंदर्प्पकोटिललितेति सुनागरेतीत्यादि वैचित्येन प्रलपन्तो ज्ञेया।

अत्र प्रेमोदयो ज्ञेयः, पूर्वं रसोदय उक्त एव, तच्छ्रुत्वा हितसखी वक्ति अहो आश्चर्य्यं, अद्यैव प्रियरमिताधुनैव प्रसन्ना गायन्ती प्रेमविचित्ता जातेत्यद्भुतत्वम्। स्वयं रसह्लदपतिता रसास्वादं कुर्वन्ती, मग्नाऽपि वैचित्यवाक्यवैकल्यश्रुत्या, अहहेति कष्टे, किमदानीं जातम्, एवं प्रेमरसमूर्त्तिः सा राधा मे हृद्यस्तु। हृदि तु सदैवास्ति, परन्तु रसह्लदपतने विस्मृतवेद्यान्तरतायां स्वादस्मृतिरपि कदाचित्स्यादित्यतो रसह्लदान्निष्क्रमणं प्रेमवैचित्यवाक्यश्रुत्यैव स्यादिति। राधारूपं कदापि न विस्मरेयमित्यत्र स्वसावधानतापराकाष्ठा तत्पर्य्यन्ताशंसिता ज्ञेया ।।४८।।

रसकलश

'अश्रुओं से आप्लुत मुख वाले श्रीहरि 'राधा, राधा' इन दो अमृतमय वर्णों का उच्चारण करने लगते हैं।'

इस प्रकार के उनके दुःख और अश्रु अपने (श्रीप्रिया जी) में संक्रान्त हो गये इससे वैचित्र्य अवस्था प्राप्त हो गई। फिर प्रिय के द्वारा कराई गई सावधानता आदि से बहुत देर के बाद वैचित्र्य अवस्था दूर हुई। अथवा 'हे श्याम, हे सुन्दर वर, हे मनोहर, हे कन्दर्पकोटिललित, हे सुनागर, इत्यादि प्रलाप भी प्रेम वैचित्र्य के कारण ही करती है ऐसा जानना चाहिये।

यहाँ प्रेमोदय जानना चाहिये, पहिले पद्य में रसोदय ही कहा गया था। उसे सुन कर श्रीहितसखी कहती हैं—'अहो, आज ही तो प्रिय के साथ विहार किया, अभी तो प्रसन्न थीं, अभी गाती हुई प्रेम के कारण वैचित्र्य अवस्था को प्राप्त हो गईं, बड़े आश्चर्य की बात है।' यद्यपि श्रीहितसखी स्वयं रससरोवर में पड़ी हैं, मग्न हुई हैं तथापि प्रेम के कारण वैचित्र्य की अवस्था के वाक्यों की विकलता को सुन कर कहने लगीं—'अहह, बड़े कष्ट की बात है अभी यह क्या हो गया।' ऐसी प्रेम और रस की मूर्ति श्रीराधा मेरे हृदय में हों। हृदय में तो वे सदा ही हैं परन्तु रससरोवर में पड़ने पर और सब कुछ भूल जाने के कारण स्वाद की स्मृति भी कभी हो सकती है अतः रससरोवर से निकलना भी इस प्रेमवैचित्र्य के वाक्य को सुनने पर हो सकता है। तथापि श्रीराधाजी के रूप का तो कभी भी विस्मरण न हो इस लिये यहाँ तक अपनी सावधानता की पराकाष्ठा की आशंसा की गई है ऐसा जानना चाहिये।४८।

ततो गानानन्तरं प्रिया प्रियपरिरब्धा समाहिता, तत उभौ हासपरिहासादिलीलां कुर्व्वन्तौ श्रीवनान्यकुञ्जनिकुञ्जादिषु विजह्रतुस्तदाह—

अन्योन्यहासपरिहासविलासकेली-
वैचित्र्यजृम्भितमहारसवैभवेन ।
वृन्दावने विलसतापहृतं विदग्ध-
द्वन्द्वेन केनचिदहो हृदयं मदीयम् ॥४९॥

अहो इत्याश्चर्य्ये, केनचिद्विदग्धद्वन्द्वेन मदीयं हृदयमपहृतम्, केनचिदनिर्वचनीयेन, प्रतिक्षणविलक्षणस्वरूपेण विदग्धद्वन्द्वेन सर्वगुणगणविशारदेन युगलेन मदीयमिति पूर्वं तु मद्धृदि तदतिष्ठत्, किञ्च विहारसमये द्वारस्थिता भावनानिष्ठा तद्द्वन्द्वं हृदि निधाय मदीयमिति ज्ञानं स्थितम् इदानीं श्रीवृन्दावने विलसता यत्र तत्र कुञ्जादिषु विहरता विलासबाहुल्याद्विहरदनुचरति न मद्धृदयं मयि वर्तते अत आह मदीयं हृदयं यत्पूर्वं तद्ध्यानहरणशीलं तदपहृतमिति वैदग्ध्यकार्यं कृतं कृते प्रतिकृतमिति यदि मुग्धेन हृतं

रसकलश

इसके बाद संगीत के अनन्तर प्रिय के द्वारा आलिङ्गित होने पर प्रिया समाहित हो गई (होश में आ गयी) और उसके बाद प्रिया प्रियतम दोनों हास-परिहास आदि लीला करते हुए श्रीवन के अन्य कुञ्जनिकुञ्जों में विहार करने लगे उसी का वर्णन करते हैं—"

"अहो ! परस्पर हास-परिहास, विलास और क्रीडाओं के वैचित्र्य से उमड़ पड़ा है महारस रूपी वैभव जिसका ऐसे और वृंन्दावन में नित्यविहार करते हुए किसी विदग्ध (चतुर) युगल के द्वारा मेरा मन हर लिया गया है" ॥४९॥

अहो ! यह शब्द आश्चर्यवाचक है। किसी विदग्ध युगल ने मेरा मन हर लिया है इस वाक्य में 'किसी' का अर्थ अनिर्वचनीय है। अतः प्रतिक्षण विलक्षण स्वरूप वाले सभी गुण गणों से पूर्ण, युगल ने मेरा मन—जिसमें वे पहले से ही रह रहे थे और विहार के समय द्वार पर खड़ी रह कर भावनामयी होकर मैंने उस युगल को अपने जिस हृदय में धारण किया था। तब मुझे यह मेरा मन है यह ज्ञान बना रहा था। किन्तु अब—श्री वृन्दावन में जहाँ तहाँ कुञ्जनिकुञ्ज आदि में विलास करते हुए उन दोनों ने हर लिया है। विलासों की बहुलता के कारण उस नित्य विहारी युगल का अनुसरण करता हुआ मेरा मन मुझमें नहीं रहा। अतः मैं कहती हूँ कि मेरा मन जो पहले उनको ध्यान के द्वारा हर लेता या आकर्षित कर लेता था उसको आज उन्होंने हर लिया है। इसी लिये मैं उन्हें विदग्ध या चतुर कह रही हूं क्योंकि चतुरता का कार्य उन्होंने किया है। मेरे

स्यात्तदा प्रत्याशापि स्याद् विदग्धहृतं न प्रत्यागमिष्यतीति ध्वनिः। अहो इत्याश्चर्योक्तिर्मदोयोक्तिश्च युगलाकर्षणशक्तिप्रौढताख्यापिनी पुनश्च पूर्व-पद्योक्तं सा राधा मे हृद्यस्त्विति।

इदं हृदयं तु राधाया एव धाम अपि च सा प्रियेण द्वन्द्वीभूय कौतुकेन मद्धृदयमपहृतवतीति साधु किञ्चिद्विलासे तदपि सहायीभविष्यति यथा कुतूहले कस्यचित्सख्याद्वस्त्वपहरति तद्वदिति अन्योन्यहासेत्युक्तमेव अहो सापि प्रियायत्ताऽस्मत्सख्यं विस्मृतवती अहो आश्चर्यं।

कीदृशेन अन्योन्येत्यादिवैभवेन वृन्दावने विलसता वा पृथग्विशेषणं तथापि वैभवं विना विलासो न संपद्यते अतो वैभवेन विलसतेति स्पष्टम्। अन्यो-

रसकलश

किये का मुझे बदला दिया है। यदि किसी भोले भाले ने मेरा मन हरा होता तो उस मन के वापिस लौटने की भी आशा होती पर चतुर युगल द्वारा हरा गया यह मन तो लौट कर भी नहीं आयगा यह व्यंग्यार्थ निकलता है। 'अहो' यह आश्चर्योक्ति है और मेरी वह उक्ति तो है जिसमें मैंने युगल को अपने हृदय में आकर्षित करने की अपनी शक्ति का वर्णन किया था जैसा कि पूर्व—पद्य में भी कहा था कि "वे राधा मेरे हृदय में हों।"

वास्तव में मेरा यह हृदय तो श्री राधा का धाम ही है। और फिर उसी राधा ने श्याम सुन्दर के साथ मिलकर युगल रूप में कौतूहल से मेरा हृदय हर लिया है। यह सोचकर कि किसी विलास में यह (श्री हित सखी का) मन भी हमारा सहायक होगा। जैसे कोतूहल से कोई किसी के प्रति सख्य भाव के कारण उसकी वस्तु को हर लेता है उसी प्रकार उन्होंने मेरा मन हर लिया है। किन्तु सख्यभाव से हरी हुई वस्तु फिर अपनी सखी आदि को लौटा दी जाती है किन्तु परस्पर हास परिहास, विलास और क्रीड़ा आदि जो कि यहीं कहे गये हैं में मग्न हो कर श्री राधा उस हमारे प्रति सख्य-भाव को भी संभवतः भूल गयी हैं। अहो! अत्यन्त आश्चर्य है।

कैसे युगल के द्वारा मेरा मन हर लिया गया है इसके लिये दो विशेषण दिये गये हैं। एक तो परस्पर हास परिहास विलास और क्रीड़ाओं की विचित्रता द्वारा जिन्होंने महारस का वैभव बढ़ा दिया है और दूसरा जो वृन्दावन में नित्यविलास कर रहे हैं। इन विशेषणों का यह तात्पर्य स्पष्ट है कि वैभव के बिना विलास कर रहे हैं यहाँ अन्योन्य या परस्पर शब्द का तात्पर्य यह है कि जब प्रियाजी का वैचित्य (बेभान होना) शान्त हो गया अर्थात् वे सावधान हो गयीं तब श्याम सुन्दर ने उन्हें उनके प्रमाद से कहे

न्येति प्रथमवैचित्यशांतौ प्रिय आह हे श्याम दयित मोहन क्व गतोऽसीति पूर्वं प्रमादोक्तं प्रियां श्रावयित्वानुवदति तदा प्रिया संकुच्य हसति । किमिदं मत्परिहासं करोषि, त्वयैव छद्मरचितकुञ्जे किञ्चिन्मोहनतन्त्रं धृतं येन वसतिमात्रेणाहं विचित्ता भ्रांता च जातेति कितवशिरोमणे धन्योऽसि साध्वीनामेवमधीरतां मुधैव ख्यापयसि, पश्चादपि सावधानदशायां स्मारयसीति महाधृष्टतास्तीत्यलं चातुर्येण, सहजश्रीवृंदावनीयकुञ्जेष्वेव रंस्ये त्वन्निर्मिते कामिकमवश्यंभावीति । तदा प्रियः स्मित्वाह प्रिये मुग्धे विदग्धे राजकुमारि नीतिज्ञे किमेवं मत्कृतिमेव दूषयसि त्वन्मधुमत्या वीणाया एव कर्मेदं यत्स्वरालापमात्रेण सकुञ्जपक्षिसखीगणोऽहं मूर्छामेव प्राप्नोमि तत्फलं वादयित्रैव भुनक्तीति न जडेयं वीणा त्वयाप्यस्याः प्रभावं ज्ञात्वैव करे धृता न कस्यापि दोष इति श्रुत्वा भृशं विहस्य अहो महामोहनगुणगणाढ्य न कुञ्जे दोषो न वीणायाम् इयं त्वल्लीलैव नमनीया महाधृष्टा यद्गानं तु दूरेऽस्तु स्मृतिमात्रेणैव

रसकलश

हुए "हे श्याम ! हे दयित ! हे मोहन ! कहाँ गये हो !" इत्याहि शब्द सुनाये । तब प्रिया जो संकोच में आकर हँसने लगी और बोलीं—"मेरा परिहास क्यों करते हो ? तुम्हारे द्वारा दलों से रचे हुए इस कुञ्ज में कोई मोहनतंत्र रख दिया गया है जिससे इस कुञ्ज में निवास करते ही मैं विचित्तता (बेभानसी) और भ्रान्त सी हो गयी । हे धूर्त शिरोमणि ! तुम धन्य हो जो सीधी साधी साध्वी स्त्रियों की भी मिथ्या अधीरता ख्यापित (प्रकट) करवाते हो और फिर सावधान होने पर उनकी अधीरता उनको याद दिलाते हो । सचमुच तुम बड़े ढीठ हो । अब मैं तुम्हारी चतुराई में नहीं आऊँगी और श्रीवृन्दावन के सहज कुञ्जों में ही रमण या बिहार करूँगी । क्योंकि तुम्हारे द्वारा कल्पित कुञ्जों में कोई न कोई कामिक या तांत्रिक प्रयोग अवश्य होगा ।" तब मुस्कराते हुए श्यामसुन्दर ने कहा—"हे प्रिये ! हे मुग्धे ! हे चतुरे ! हे राजकुमारी ! हे नीतिज्ञे क्यों मेरे कार्यों को ही दोष देती हो ये तो तुम्हारी मधुमती नामक वीणा का ही कार्य या प्रभाव है जिसके स्वरों के आलापमात्र से कुञ्ज के पक्षियों और सखीगणों सहित मैं मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता हूँ और उसका फल उसे बजाने वाली तुम भी भोगती हो । यह वीणा जड नहीं है । तुमने इसके प्रभाव को जान बूझ कर ही इसे हाथ में लिया है । इसमें और किसी का कोई दोष नहीं है । यह सुनकर और खिलखिला कर हँसती हुई श्रीराधा ने कहा—"अहो महामोहन ! गुणों के आयतन ! (भण्डार) प्रियतम ! न तो यह कुञ्ज का दोष है और नहीं वीणा का यह तो तुम्हारी लीला है जिसको दूर से ही नमस्कार करना चाहिये । ढिठाई का क्या कहना । तुम्हारी लीला तो स्मरण मात्र से ही मन को

विक्लेदयतीति ज्ञातं निदानं कदापि धीरया न गेया तदा प्रियः शिरो धुन्वा-नोऽयं त्वत्प्रभाव एवेत्याह ततो हितसखी विहस्य सोत्प्रासमाह—

चिरं जीव्यान्मधुमती वीणा वेणुश्च मोहनः ।
यद्ध्वनिस्पर्शमात्रेण चराचरविपर्ययः ।।

इत्यादि हासपरिहासादि अन्यदपि सहृदयहृदययथाभावगम्यं परस्परं कृत्वान्यकुञ्जादिषु परीक्षणार्थमिव गतौ तत्र तत्र विलक्षणानन्दं प्राप्यमाणौ प्रेमरसयोः स्वयंमूर्ती अपि श्रीवृन्दावनवैभवं प्रशशंसतुस्तत्र हासपरिहासा उक्ता एव विलासाः शब्दस्पर्शरूपरसमया विविधार भोगविशेषाः केलीति खेला निलयनधावननृत्यकौतुकमयी यथा—

"वृन्दारण्ये नवनवरसानन्दपुञ्जे निकुञ्जे,
गुञ्जद्भृङ्गीकुलमुखरिते मञ्जुमञ्जुप्रहासैः ।
अन्योन्यक्षेपणनिचयनप्राप्तसंगोपनाद्यैः,
क्रीडज्जीयाद्रसिकमिथुनं क्लृप्तकेलीकदम्बम् ।"

रसकलश

विकल देती है । मैं इस कारण को जान गयी हूँ । किसी भी धीर स्त्री को तुम्हारी वह लीला कभी भी गानी नहीं चाहिये ।" तब प्रियतम ने सिर हिलाते हुए कहा यह सब तुम्हारा ही प्रभाव है । तब श्री हितसखी ने हँसकर बड़े भा से कहा—

"श्री राधाजी की मधुमती वीणा और श्याम सुन्दर की मोहक वंशी दोनों युग युग तक जीती रहें जिनकी ध्वनि के स्पर्श मात्र से चर अचर हो जाते हैं और अचर चर ।"

इत्यादि अन्य भी अनेक प्रकार के हास परिहास होते हैं जो सहृदयों के हृदय द्वारा भावानुसार अनुभव किये जा सकते हैं । इस प्रकार परस्पर हास-परिहास आदि करके परीक्षा के लिये प्रिया-प्रियतम दूसरे कुञ्जो में गये, वहाँ पर विलक्षण आनन्द प्राप्त करके प्रेम और रस को स्वयम् मूर्ति होते हुए भी श्री वृन्दावन के वैभव की प्रशंसा करने लगे ।

यहाँ कुछ हास-परिहास कहे गये हैं । शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धमय अनेक प्रकार के भोग विलास समझे जाने चाहिये तथा छिपाना, भागना, नाचना आदि कौतुकों से पूर्ण खेल यहाँ केलि हैं । जैसा कि—

श्री वृन्दावन में नवीन नवीन रस और आनन्द के कुञ्जों वाले, गुञ्जार करते हुये भृङ्गी समूह से और मनोहर हास-परिहास की कलरव से प्रतिध्वनित निकुञ्ज में परस्पर के प्रति कन्दुक फेंकने लेने पकड़ने और छीन लेने आदि द्वारा अनेक प्रकार के खेल समूह की कल्पना करने वाले खिलाड़ी रसिक-युगल की जय हो ।"

इत्यादि केलीनां वैचित्र्यं क्वचिद्वैचित्यपाठे तु पूर्व्वं वैचित्त्यमपि संगतं स्यादिति अथ च वैचित्र्येऽपि तदेवायातीति स एवार्थः तेन जृम्भितः प्रकाशितो महान् रसस्य वैभवस्तेन विलसता यथा पुञ्जीभूत कंचनरत्नादिसामान्यद्रव्यस्य निधेर्वा परिच्छदभोगश्रृंगारगायकनाटकवादकध्वनिकोलाहलितहर्म्यादिवाह-नादिभिः सविशेषस्वरूप स्फूर्त्तिः सगता स्यात् तथैव रससामान्यस्यापि हास परिहासविलासकेलिवैचित्र्येणैव वैभवो द्योतते, तदैव रसः स्थायिसंचारिभावा-नुभावादिभिः संगोपांगमूर्तिमान् सालंकारः शोभते । तदेवाह-महारसस्य अलौ-किकाप्राकृतस्य सर्वोत्तमस्य वा महता रसस्य वैभवेन वृन्दावने विलसता अत्र रसस्यापि पूर्णत्वं देशकालपाकपात्रादीनामपि परमसौष्ठवमुक्तम् वृंदावन इति देशस्य, विलसतेति वर्त्तमानेन नित्यत्वं कालस्यहासपरिहासादिवैभवे-नेति पाकस्य, विदग्धद्वन्द्वेनेति पात्रस्य च परमोत्तमतोक्ता हृदयं हृतमित्युक्तं न तु हरतीति किञ्च हरणे समयो मया न ज्ञातो न जाने कदा हृतमिति विदग्धयोर्हरणलाघवतोक्ता, अपेति न पुनः प्रत्यादानाशाऽस्तीति ॥४६॥

रसकलश

इत्यादि क्रीड़ाओं की विचित्रता और कहीं वैचित्य पाठ हो तो क्रीड़ाओं से पूर्व का वैचित्य भी संगत हो सकता हैं और वैचित्र्य इस पाठ में भी वही तात्पर्य आ जाता है। इस प्रकार परस्पर हास-परिहास, विलास, क्रीड़ा के वैचित्र्य द्वारा प्रकाशित किया है रस के महान् वैभव को जिसने उस युगल ने विलास करते हुए (मेरा मन हर लिया है) जैसे ढेर लगा कर रक्खे हुए सुवर्ण रत्न आदि सामान्य द्रव्यों कौं निधि से अनेक प्रकार की सामग्रियाँ भोग और श्रृंगार के सामान गायकों नर्तकों ,वादकों की ध्वनि से प्रतिध्वनित महल और सवारियों आदि अनेक प्रकार के विशेष स्वरूपों की स्फूर्ति संगत होती है। ऐसे ही इस महारस वैभव से भी हास, परिहास, विलास, केलि आदि का वैचित्र्य घोषित होता है और उक्त निधि के समान ही रस भी स्थायी, संचारी और अनुभाव आदि के द्वारा सांगोपाग स्वरूप वाला और अलंकारों वाला होकर सुशोभित होता है। यहां आलौकिक और अप्राकृत सर्वोतम महारस का स्वरूप है। रस के महान् वैभव से वृन्दावन में विलास करते हुए इस कथन में रस की पूर्णता और देश काल परिणाम और पात्र आदि का परम सौष्ठव कहा गया है। 'वृन्दावन' यह देश का निर्देश है 'विलास कर रहे इस वर्तमान काल द्वारा विलास की नित्यता अथवा काल का निर्देश है। वैभव शब्द से परिणाम का निर्देश है और विदग्ध युगल द्वारा पात्र की परम उत्तमता का निर्देश किया गया है। मेरा मन हर लिया है न कि वह युगल मेरा मन हर रहा है इस कथन द्वारा मन के हरे जाने के समय का भी मुझे पता न चला कि उन्होंने मेरा मन कब हर लिया इससे उस विदग्ध युगल की हरण करने में कुशलता का तो निर्देश किया ही गया है साथ ही 'अहो !' कहकर उस मन के फिर लौटने की आशा भी नहीं है यह भी सूचित कर दिया गया है। ॥४६॥

एवं श्रीवृन्दावने विहरद्धृदयहारि युगलमुक्त्वा प्रसद्य च पुनर्यत्र स्वहृदयदास्यनिष्ठा तद्गौरतेज एव माधुर्यविशिष्टं पुनराशिषाभिवादयते द्वाभ्याम्—

महाप्रेमोन्मीलन्नवरससुधासिन्धुलहरी
परीवाहैर्विश्वं स्नपयदिव नेत्रान्तनटनैः।
तडिन्मालागौरं किमपि नवकैशोरमधुरं
पुरन्ध्रीणां चूडाभरणनवरत्नं विजयते।५०।

पुरन्ध्रीणां चूडाभरणनवरत्नं विजयते किमपीत्यनिर्वचनीयमसाधारणम् कुटुम्बिनी पुरंध्री स्यादित्यमरः। इत्यनेन पूर्णोभयकुलपरिवारलाडलात्वमुक्तं श्रीमद्वृषभानुनन्दमुख्यप्रसिद्धसंबन्ध उद्योतितश्च यथा चोक्तम्—

पितामह्यार्यश्वश्र्वादि सर्वं सौभाग्यमद् भवेत्।
स्वस्याः सर्वेश्वरीत्वं तत्पूर्णसौभाग्यमुच्यते।

रसकलश

इस प्रकार वृन्दावन में विहार करते हुए, हृदय को हरण करने वाले युगल का वर्णन करके और प्रसन्न होकर फिर जहाँ अपने हृदय के दास्य भाव की निष्ठा है उस विशेष माधुर्य वाले गौर तेज का ही आशीर्वाद के साथ अभिवादन करते हैं—

"महा प्रेम से उन्मीलित होते हुये" नवीन रस रूपी सुधा सिन्धु की लहरियों के प्रवाह जैसे अपने कटाक्षों के नर्तन से विश्व (श्यामसुन्दर) को स्नान सा करा रहा बिजलियों की माला सा गौर, नई अवस्था के कारण मधुर, सुन्दरियों के चूड़ाभरण में विराजमान कोई नवीन रत्न सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान है" ।।५०।।

कोई पुरन्ध्रियों के चूड़ा भरण का नव रत्न सब से अधिक उत्कर्ष से विराजमान है' इस वाक्य में 'कोई' यह विशेषण अनिर्वचनीय या असाधारण अर्थ को बताता है। कुटुम्बिनी और पुरन्ध्री ये समानार्थक शब्द हैं ऐसा अमरकोश का मत है। इसलिये पुरन्धियों के चूड़ाभरण का नवरत्न कहकर श्री राधाजी को पूर्णतया दोनों कुलों के परिवार की लाड़ली होना बतलाया गया है और श्रीमान् वृषभानु जी तथा महाराज नन्द जी आदि मुख्य व्यक्तियों का प्रसिद्ध पितृकुल, श्वशुर कुल का सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। जैसा कि कहा भी गया है—

"पितामही और सासु आदि सभी सौभाग्यशालिनी हों और स्वयम् भी सर्वेश्वरी हों तो इसको पूर्ण सौभाग्य कहते हैं।"

अथ च यन्माधुर्य्यास्वादो लोके प्रकाशते तन्नित्यालौकिकानन्दलीलाया-श्छटामात्रम् अत्र लोकानुभवेन दिग्देशो व्याख्यायते। पुरन्ध्रीणां यावतीनां लक्ष्म्यादीनां सौभाग्यशिरोभूषणेष्वपि नवं विलक्षणं रत्नं सर्वांशिपुरुषोत्तमप-रमाह्लादरूपवधूत्वात् व्रजेऽपि लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतै-राराध्यमिति वक्ष्यत्येव । पुरंध्रीत्यनेन सर्व्वकुटुम्बसमुदायपूर्णप्रेमास्पद-तोक्ता। तदेव माधुर्यं विशिनष्टि-नवकैशोरमधुरं नित्यकिशोरत्वेऽपि प्रतिक्षणा-नन्ददायित्वेन सदा नवीनमेव भासमानम् यद्वा व्रजमाधुर्ये तु स्पष्टमेव बाल्या-दिक्रमतः कैशोरप्राप्तेर्नवत्वं तेन मधुरम् अतिप्रियं दृगास्वाददं कैशोरत्वात्क-टाक्षोद्भवमाह-नेत्रांतनटनैरपांगनर्तनैः सरसोकुर्व्वत् कटा क्षैर्महाप्रेमादि-विशिष्टप्रवाहैरिव विश्वं स्नपयत् सरसीकुर्व्वद् यथा महावातेन सिन्धुरुत्त-

रसकलश

और भी एक बात है जो माधुरी का आस्वाद लोक में प्रकाशित होता है वह तो इस नित्य अलौकिक आनन्दमयी लीला की एक झलकमात्र है । यहाँ पर लौकिक अनुभव द्वारा लेशमात्र की ही व्याख्या की जाती है। पुरन्ध्री, श्रीलक्ष्मी आदि जो भी हैं उनके सौभाग्य सूचक चूड़ाभरणों (सिर के भूषणों) पर भी एक विलक्षण रत्न के रूप में श्रीराधा विराजमान हैं। क्योंकि वे सब अवतारों के अवतारी सब अंशों के अंशी पुरुषोत्तम श्री श्याम सुन्दर की परम आह्लाद स्वरूप वधू हैं। व्रज में भी—

कोटि-कोटि लक्ष्मियों को भी चकित कर देने वाले लक्षणों से सुशोभित लीलामयी शत शत किशोरियों द्वारा व्रज मण्डल में जो अति मधुर राधा नामक परम ज्योति आराधनीय हैं वह अनन्त भाग्य के वैभव से किसी पुण्यात्मा के ही आविर्भूत राधा स्वरूप वाले, चित्त में उज्ज्वल रस के प्रागभाव का सिंचन करती हुई स्फुरित होती है इत्यादि कहेंगे ही।

पुरन्ध्री इस शब्द के द्वारा सम्पूर्ण कुटुम्ब समुदाय के पूर्ण प्रेम का पात्र होना कहा गया है। अब उसी माधुर्य का विशेषण बताते हैं 'नव किशोर मधुर' अर्थात् नित्य किशोर होते हुये भी प्रतिक्षण आनन्ददायी होने के कारण सदा नवीन ही प्रतीत होते हैं अथवा व्रज के माधुर्य भाव में तो बचपन आदि के क्रम से किशोर अवस्था की प्राप्ति स्पष्ट ही है। किन्तु निकुञ्ज के माधुर्य भाव में एक नवीनता है इसी से यहाँ किशोर भाव की प्राप्ति में भी नवीनता है। उस नव किशोर भाव के कारण मधुर होने का तात्पर्य है कि वे अति प्रिय हैं और नेत्रों को परम आस्वाद देने वाले हैं । किशोर अवस्था के कारण ही कटाक्षों का उद्गम भी कहा गया है। नेत्र प्रान्तों के नर्तन द्वारा वे विश्व को ऐसे ही सरस बना रही हैं जैसे महाप्रेम उन्मीलित होते हुये नवीन रस रूपी सुधा सिन्धु की लहरियों के प्रवाह से स्नान करा रही हों। जैसे—महापवन से समुद्र

रङ्गितः स्यात्तथा स्वविषयिकप्रियविषयिकात्युत्कटप्रेम्णा उन्मीलन्त्यो या नवरससुधासिन्धोर्लहर्य्यस्तासां परीवाहैः। प्रेमरसयोर्मूर्तिस्तु स्वयमेवास्ति परन्तु वाल्ये तु कुह्वां चंद्रमसो यथेतिवन्न पूर्णस्पष्टता।

इदानीं कैशोरागमे शृङ्गाररससिन्धुरुत्तरङ्गितस्तस्य तरंगा नेत्रकटाक्ष-द्वारोपलक्षिताः विश्वमित्यनेन सर्व्वं तत्रत्यकुलत्रयनिजपरिकरं वा सखी-परिकरं सर्व्वमित्युक्त्या प्रेमरसबाहुल्यमियत्सूचितं येन गणितलोकान् किमु सर्व्वं विश्वमेवाप्लावयेदिति। यद्वा विश्वशब्देन सर्व्वोत्तमसर्वाधिष्ठातृ-सर्व्वव्रजैकजीवातुसर्वगुणगणाढ्यत्वेन श्रीकृष्णमित्यर्थः। अत्र कटाक्षाणां न केवलमुपमैव ज्ञेया किंच 'लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्पाः पुरुदर्पटङ्कृतमहाकोदण्डविस्फारिणः।' इत्यग्रे वक्ष्यत्येव यच्छटालेशतः सर्व्वविश्वस्मिन् रसप्रेमाणौ प्रकाशेते तदा तन्मूर्तेरेव किमुच्यते पुनस्तडि-

रसकलश

महामारुत के संयोग से समुद्र में लहरं उठती हैं ऐसे ही अपने प्रति और प्रियतम के प्रति अति उत्कट प्रेम के कारण उन्मीलित हो रही नवीन रस रूपी सुधा सिन्धु की लहरियों के प्रवाह से श्रीराधा भीं तरगित हो रही हैं। वे ही तरगे नेत्र प्रान्तों के नर्तन द्वारा प्रगट हैं। प्रेम ग्रौर रस की मूर्त्ति तो श्री राधा स्वयम् ही हैं किन्तु बाल ग्रवस्था में कुहरे के चन्द्रमा के समान पूरी स्पष्टता नहों थी अब किशोरावस्था के आने पर शृंगार रस का सागर उमड़ पड़ा है और उसकी तरंगें नेत्रों के कटाक्षों द्वारा उपलक्षित या प्रतीत हो रही हैं।

यहाँ पर विश्व को स्नान करा रही हैं इस कथन में विश्व शब्द सर्व ग्रर्थ का वाचक है जिससे वृन्दावन में स्थित या दोनों कुलों में स्थित ग्रपने परिकर या सखी परिकर सब की प्रतीति होती है ग्रथवा यह भी सर्व शब्द का थोड़ा ही ग्रर्थ सूचित किया गया है इसलिये गिने चुने लोगों के नहीं ग्रपितु सम्पूर्ण विश्व को ग्राप्लावित कर रही है यह अर्थ भी समझा जा सकता हे। ग्रथवा विश्व शब्द सबसे उत्तम सब के ग्रधिष्ठाता सम्पूर्ण व्रज के एक जीवनाधार, सम्पूर्ण गुणों से पूर्ण श्रीकृष्ण अर्थ को बतलाता है।

यहाँ कटाक्षों के नतंन की केवल लहरी प्रवाह से उपमा ही नही समझनी चाहिये ग्रपितु —

जिन श्री राधा को तरुण ग्रवस्था के प्रथम प्रवेश के समय लीलायुक्त ग्रपांशों के एक एक तरंगितों में से ग्रत्यन्त दर्प के साथ टंकारे गये महा धनुषों का विस्फारण करने वाले कोटि-कोटि कन्दर्प उत्पन्न हो गये वे महा माधुर्य की ग्रनन्त धाराग्रों से चमत्कृत हुई श्रीराधा हमारी स्वामिनी हों ऐसा ग्रागे कहेंगे ही जिनके छटा लेश से सम्पूर्ण विश्व में रस और प्रेम प्रकाशित होते हैं तब वे रस ग्रौर प्रेम की तो मूर्त्ति ही हैं उनके लिये ग्रधिक क्या कहा जाय।

न्मालागौरमित्यनेनचाञ्चल्य सर्व्वाङ्गचमत्कारगौरभास्वरवर्णलज्जाङ्गभ्रूटितिनमनास्थिरकांतिदर्शनबहुललावण्यत्वादिधर्मा उक्ताः सहृदयगम्याः। नववधूटीत्वं चोक्तं तडिदिति कर्कशतेजःशंकानिरासार्थं नवकैशोरमधुरमित्युक्तं मालेति प्रत्यंगप्रतिरोमसु प्रतिक्षणगौरज्योतिरुज्जृम्भणमुक्तम् लहरीपरीवाहैरितिलहर्य्य उद्गच्छंति परंतु नेत्रयोरेव सिंधुवेलामर्य्यादायामिव स्थगिता भवन्ति तद्बलवशान्नेत्रांता नृत्यन्ति तदा लज्जानिरुद्धाउच्चलन्ति उद्गत्याप्लाव्य च पुनर्ल्लहरीष्वेव प्रत्यवगच्छन्ति ते प्रवाहाः कटाक्षा इति भेदः ॥५०॥

एतद्वस्तु प्रेमैकलभ्यं न चोपनिषज्ज्ञानादिभिरपीत्याह—

अमंदप्रेमांकश्लथसकलनिर्बन्धहृदयं
दयापारं दिव्यं छविमधुरलावण्यललितम् ।
अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमैरप्यतितरां
रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते ॥५१॥

रसकलश

बिजलियों की लता के समान गौर इस विशेषण के द्वारा चंचलता, सर्वांगों में चमत्कार, गौर तथा भास्वर वर्ण लज्जा के अंगभूत मुखनमन तथा अस्थिर कान्ति के दर्शन से चमकते हुए लावण्य आदि धर्म जिनको सहृदय ही समझ सकते हैं कहे गये हैं और राधा का नव वधू होना भी सूचित किया गया है। तड़ित शब्द में जो कुछ कर्कशता की आशंका आ जाती है उसके निराकरण के लिये नव किशोर मधुर कहा गया हैं। तड़ितों की माला कहने में यह तात्पर्य है कि प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक क्षण में गौर कांति उमड़ रही है। लहरी परिवाह शब्द द्वारा यह सूचित होता है कि जैसे सिन्धु में लहरें उठती हैं और तह तक जाकर रह जाती हैं ऐसे हो श्री राधा के अपाँग तरंगित नेत्रों में ही स्थगित हो जाते हैं और इस व्यंग्य के बल से यह ध्वनित होता है कि श्री राधा के नेत्रप्रान्त नृत्य तो करते हैं किन्तु लज्जा से रुक जाते हैं जैसे समुद्र की लहरें लौटकर लहरों में ही मिल जाती हैं। ऐसे ही ये कटाक्ष भी कटाक्षों में हो समा जाते हैं यह तात्पर्य है ॥५०॥

यह वस्तु केवल प्रेम मात्र से प्राप्त की जा सकती है न कि उपनिषदों के ज्ञान आदि से भी। अतः कहते हैं—

"तीव्र प्रेम के अंक में जिनके हृदय के सभी निर्बन्ध (आग्रह) शिथिल पड़ गये हैं, जो दया के कारण अपार है। दिव्य छवि वाला मधुर, और लावण्य के कारण ललित है। समस्त निगम आगमों के द्वारा भी जो अत्यन्त अलक्ष्य है वह कोई राधा नामक सुकुमार इस सागर का सार सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान है।"

किमपि राधाख्यं वस्तु विजयते इति किमप्यनिर्वचनीयं तदाह-निखिल-
निगमैः सांगोपांगोपनिषद्वेदैर्भगवच्छ्वासभूतैरपि अतितरामलक्ष्यं—अलक्ष्यं तु
ब्रह्म, यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति नेतिनेतीत्यादिवाक्यैस्तदपि
लक्षणादिभिः पर्यवसानं ब्रह्मणि गमयन्तीत्यलक्ष्यम् अतः परमत्यलक्ष्यं ब्रह्मणो
हि प्रतिष्ठाहमित्यनेन ब्रह्मणोऽपि रहस्यं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनस्ततोऽप्यतितरामलक्ष्यम्
तस्यापि प्रेमास्पदं रतिमद्रहस्यं परंज्योतिरित्युक्तमेव भगवताप्यामृग्यसद्वैभवे
इत्यादि वक्ष्यति च। अतोऽति तरामित्यर्थं अतएव रसाम्भोधेः सारं परात्परो
रसो वै स इत्यनेन वेदै रसानंदशब्दादिभिस्तु वर्ण्यत एव परं त्विदं तु तद्रस-

रसकलश

कोई राधा नामक वस्तु सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं इस वाक्य में कोई शब्द अनिर्वचनीय अर्थ को बताता है। यही बात कहते हैं—वह वस्तु समस्त निगमों अर्थात् सांगोपांग उपनिषदों और वेदों द्वारा-जो कि भगवान् के निःश्वासभूत हैं—भी अत्यन्त अलक्ष्य है। अलक्ष्य तो ब्रह्म भी है "जिसको मन सहित वाणी प्राप्त न करके वापिस लौट आती है और जिसके विषय में श्रुति नेति नेति के वाक्यों द्वारा अनिर्वचनीयता प्रगट करती है तो भी लक्षणा आदि द्वारा अन्त में वेदवाणियों का पर्यवसान ब्रह्म में ही सूचित होता है इसलिये ब्रह्म अलक्ष्य है। ब्रह्म से भी अधिक अलक्ष्य—

"मैं अमृत और अव्यय ब्रह्म की, शाश्वत धर्म की और एकान्त सुख की प्रतिष्ठा अर्थात् आधारशिला हूँ।"

इत्यादि श्री भगवद्गीता के वाक्यों द्वारा ब्रह्म के भी रहस्य रूप में कथित श्री नन्द-नन्दन हैं। उनसे भी अत्यन्त अलक्ष्य उनके भी प्रेम की विषयभूता, प्रीति से युक्त रहस्यरूप परमज्योति श्री राधा हैं यह कहा ही गया है। और आगे भी।

"हे श्री राधे! आपका वैभव वेदों विद्वानों और स्वयम् भगवान् से भी अन्वेषणीय है।" इत्यादि कहेंगे। अतः अतितराम् का अर्थ अत्यर्थ या अत्यन्त है और इसीलिये इस तत्व को रस सागर का रससार कहा गया है। "वह परात्पर रस है" इत्यादि वाक्यों द्वारा वेदों में रस आनन्द आदि शब्दों द्वारा केवल उसकी चर्चा की जाती है पर यह तत्व तो उस रस सागर का भी सार है, उस घनीभूत रसमूर्ति का भी ध्येय है अत

पारावारस्यापि सारं घनीभूतरसमूर्तेरपि ध्येयम् अतो गोप्यम् अर्थान्नकेवलं वेद दौर्ल्लभ्यादैश्वर्य्यमदेव किंतु रसमयं तत्रापि लोकवेदप्रसिद्धरसत्वमायात्येव चेत्ततो रससागरमप्युन्मथ्य सार उद्धियते तद्रूपं महामाधुर्य्यविशिष्टमिति एवं चेत् कस्यापि न लभ्यं तत्राह-दयापारं दया कृपा अपारा यत्र तया कृपया किं किं न भवेद्दुर्लभापि सुलभा स्यादित्याधुनिकानां, समाश्वासः यथा नेति नेतीत्याद्युक्तावपि भक्त्याहमेकया ग्राह्य इति यमेवैष वृणुते तेन लभ्य इतिवत् ।

अन्यच्च सिंधुत्वेऽपरिमितत्वं संभवति सारे लघुतयामृतकलश इव परिमितावपि च दया त्वगाधैवास्तीत्यप्यद्भुतगुणत्वं दयाकार्यमाह-अमंदेत्यादि अमन्दाः प्रचुरा ये प्रेम्णोङ्काश्चिह्नानि गद्गदपुलककंपाश्रुप्रलयवैचित्य-स्तंभवैवर्ण्यस्वरभंगाद्यास्तैः श्लथाः सकला ऐहिकामुष्मिकवासनाविधि-

रसकलश

एव गोपनीय है—अर्थात् न केवल वेदों के लिये दुर्लभ होने के कारण ऐश्वर्यशाली ही है अपितु रसमय है और रसमय होने पर भी लोक तथा वेद में प्रसिद्ध रसत्व उनमें नहीं आता क्योंकि यह रस सागर को भी मथकर उसमें से सार रूप में उद्धृत कर लिया गया तत्व है। रस सागर का सार रूप है अर्थात् महामाधुर्य से विशिष्ट है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि तब तो उसे कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इस पर आधुनिक लोगों के लिये आश्वासन की बात कहते हैं वह तत्त्व दया में अपार है क्योंकि उसमें अपार दया है, अनन्त कृपा है अतः उस दया-कृपा से क्या-क्या नहीं हो सकता। वह दुर्लभ तत्व भी सुलभ हो सकता है। जैसे-जिस ब्रह्म का नेति नेति द्वारा निरूपण किया गया है वह भी "एकमात्र भक्ति से ही मैं गृहीत होता हूँ" और "ज़िसको वह वरण कर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है" इत्यादि वचनों द्वारा सुलभ बताया गया है।

एक बात और भी है कि सिंधु में तो अपरिमितता हो सकती है पर उसके सार में लघुता के कारण अमृत कलश के समान परिमितता सम्भव है और परिमित होते हुए भी इस रस-सागर के सार में दया तो अगाध ही है। यह इसकी अद्भुत गुणशालिता है। अब दया का कार्य बताते हैं—अमन्द या प्रचुर प्रेम के चिह्नों—"गद्गद पुलक, कम्प, अश्रु, मूर्च्छा, वैचित्य, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वरभंग आदि—से शिथिल हो गये हैं सभी ऐहिक और पारलौकिक वासनाएं और विधि निषेध के निर्बन्ध (आग्रह) जिनके उनके हृदयभूत या हृदय से प्राप्त ऐसा यह तत्व है जैसाकि—

निषेधनिर्बन्धा हठाः यथा—कर्माणि श्रुतिबोधितानीत्याद्युक्ताग्रहनाशो वा नितरां बन्धाः शृंखला येषां तेषां परमभावुकानां न च ज्ञानादिमुक्तबंधनानां किञ्च तेषां मूलतोऽहंममतामोहनाश एषां तु श्लथ इत्यनेन स्वेष्टे मोहः प्रेमा सखीदेहेऽहंकारममते अतो विलक्षणनिर्बन्धनत्वम् एकतः प्रायिकादौ निर्बन्धत्वमन्यतः साध्ये बन्धनमिति हृदयं हार्दं रहस्यं वस्तु वा कृपया तादृशानां हृदि अयते प्राप्नोतीति तन्नान्येषामित्यर्थः ।

ननु भवद्भिः कथं ज्ञातं यद्वेदैरलक्ष्यमिति चेत्तत्रैवं ज्ञेयं प्रेमश्लथनिर्बन्ध हृदयमेवास्माकं साक्षीति अहो वेदेषु न स्पष्टमुक्तं प्रेम हृदये च स्फुरितं तत्किमाश्चर्याधायकं वस्तु अतो ज्ञायते तैरपि निषेधशेषतया नेति नेतीत्युक्तं तत्सत्यं यदैष वृणुते तदैव लभ्यो भवतीति तद्वरणमपि च प्रेम्णैव स्यादिति ।

ननु प्रेमांकसाधनसाध्यत्वे किं कृपयेति न शंकनीयम् प्रेमापि तत्कृपादत्त

रसकलश

"वेदोदित कर्म करें सर्वथा न करें माला आदि विषयों को ग्रहण करें या छोड़ द गूढ़ आश्चर्यमय रस का आस्वाद करने वाले रसिक इस विषय में स्वतन्त्र हैं अतएव श्रीराधिकावल्लभ के भाव रहस्य का पार प्राप्त कर लेने वाली बुद्धि वाला बहिर्मुख होकर भ्रमण करने वाले अन्य किन्हीं अल्पज्ञ व्यक्तियों के साथ कैसे मेल खा सकता है'

इत्यादि वचनों द्वारा जिनके आग्रह का नाश कहा गया है अथवा निर्बन्ध का अर्थ निःशेष बन्ध या शृंखलाओं के शिथिल हो जाने के कारण जो परम भावुक हैं। न कि ज्ञानादि के कारण मुक्तबन्घन हैं, । इसका तात्पर्य है कि ज्ञानादि के कारण मुक्त बन्धनों का तो मूल से ही अहंकार ममत्व मोह नष्ट हो जाता है किन्तु इन परम भावुकों का संसार से अहंकार आदि शिथिल होकर अपने इष्ट देव में प्रेम रूप से मोह सखी देह में अहंकार और ममता रहते हैं। इसीलिये इनको विलक्षण निर्बन्ध की प्राप्ति होती है एक ओर लौलिक पदार्थों में निर्बन्धता होती है और दूसरी ओर साध्य में बन्धन होता है ऐसा हृदय या हृद्गत रहस्यमय वस्तु जिन्हें कृपा से प्राप्त हो जाती है उन्हीं के हृदय में यह राधा नामक सार स्फुरित होता है दूसरों के नहीं, यह तात्पर्य है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब यह सार वेदों के लिये भी अलक्ष्य है तब आपने इसे कैसे जान लिया ? तो इसका यह समाधान जानना चाहिये कि इस विषय में प्रेम से शिथिल निर्बन्धों वाला हमारा हृदय ही साक्षी है। अहो वेदों में स्पष्ट नहीं कहा गया है किन्तु प्रेमियों के हृदय में स्फुति हो गया है। ऐसी यह आश्चर्याधायक वस्तु क्या है ? अतः जाना जाता है कि वेदों में भी निषेध शेष के रूप में नेति नेति द्वारा इस तत्व का निर्देश किया गया है यह सत्य है। जब यह वरण करता है तभी सुलभ होता है। यह चरण भी प्रेम से ही होता है। तब कोई यह प्रश्न करे कि यदि यह सार प्रेमाङ्क

एव स्वागमनयोग्यतार्थं ज्ञेयं पश्चात्स्वयमागच्छत्येवेति एवं गम्यत्वे लोकवल्लीलत्वेऽपि दिव्या अलौकिक्यद्भुता छविर्यस्य तत्तदा प्रभामंडलचाकचिक्ये आभ्यन्तररूपगुणप्रकाशसंशयश्चेत्तत्राह-मधुरलावण्याभ्यां ललितं दृग्रसनालांपटयग्राहकं माधुर्यं स्वादु प्रियं च मिष्टं च । वा मधु मादकतां रातीति मधुरं लावण्यं रोचकता माधुर्यरुचिवर्द्धकता ताभ्यां ललितं मनोहरम् अथवा मधुरं च लावण्यललितं च, वा दिव्येत्याद्येकपदम् अम्भोधिसारमिति स्थूलकारणजन्यकार्येऽपि स्थूलता चेत्तत्राह-सुकुमारं परममृदुलमित्यङ्गमार्द्दवता दयापारमित्यनेनाभ्यन्तरमार्द्दवता तदा वाङ्मार्द्दवता त्वायातैव अमन्देत्यत्र प्रेमकृतज्ञताप्रसादगुणाः । अधिकारिणोपि चात्र प्रेमिणो निर्दिष्टाः । दिव्येत्यादौ स्वच्छच्छविमधुरलावण्यलालित्याद्या गुणा अपि रसेत्यत्र रसमार्गीयभक्तिसेव्यत्वम् इत्याद्यन्तं पूर्णमाधुर्यमुक्तम् अलक्ष्यमित्यत्र पूर्णैश्वर्यमुक्तम् एवं माधुर्यैश्वर्यमयं किमप्यनिर्वचनीयं राधानाम विशेषेण जयतीति हितसख्याशीः ।

रसकलश

रूपी साधनों से साध्य है तो कृपा की क्या उपयोगिता ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उनकी कृपा से दिया हुआ ही प्रेम भी उनकी प्राप्ति की योग्यता के लिये समर्थ हो पाता है। उस प्रेम के आ जाने पर वह सार हृदय में स्वयम् आ जाता है। इस प्रकार प्रेमगम्य होने पर भी और लोकवत् लीला का सिद्धान्त होने पर भी उस सार की छवि या छटा दिव्य अर्थात् अलौकिक है। यहाँ प्रभामण्डल की चकाचौंध में इसके अन्तर्गत रूपादि गुणों के प्रकाश में सन्देह हो सकता है। अतः कहते हैं कि वह सार मधुर और लावण्यललित है। दृष्टि रूपी रसना की लम्पटता । सकी ग्राहक है। माधुर्य का तात्पर्य स्वादिष्ट और प्रिय वस्तु है अथवा मधु या मादकता को "र" देने वाला भी मधुर कहलाता है। लावण्य सौन्दर्य का वह स्वरूप है जो माधुर्य के प्रति रुचि को बढ़ाता है। इस प्रकार माधुर्य और लावण्य दोनों के द्वारा ललित अर्थात् मनोहर वह सार है। अथवा मधुर और लावण्य ललित ये दोनों अलग अलग विशेषण हैं। अथवा 'दिव्यच्छविमधुर लावण्यललित' पद।

अम्भोधिका सार कहने से कुछ स्थूलता प्रतीत होती है। अतः सुकुमार इस विशेषण से परम मृदुल होना कहा गया है। सुकुमार और दयापार विशेषणों द्वारा क्रमशः बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकार की मृदुता के साथ वाणी की मृदुता भी स्वतः आ जाती है। अमन्द-प्रेमाङ्क इत्यादि विशेषणों द्वारा अधिकारी प्रेमियों में प्रेम कृतज्ञता और प्रसाद आदि गुणों का निर्देश किया गया है तथा दिव्यच्छवि इत्यादि विशेषणों द्वारा श्रीराधा की स्वच्छ छवि, माधुर्य, लावण्य और लालित्य आदि गुणों का निरूपण किया गया है। रसाम्भोधिसार इस विशेषण द्वारा रसमार्गीय भक्ति से सेव्य होना और पूर्ण माधुर्य का होना कहा गया है। 'अलक्ष्य' विशेषण द्वारा पूर्ण ऐश्चर्य सूचित हुआ है। इस प्रकार माधुर्य और ऐश्वर्यमय कोई अनिर्वचनीय राधा नामक सार विशेष रूप में जय को प्राप्त है। यह श्रीहितसखीजी का आशीर्वाद है।

अथवा पूर्व्वं पुरन्ध्रीत्यादौ पूर्णसौभाग्यमुक्तमिदानीं प्रियांकस्थिति-सौभाग्यमाह-अमंदप्रेमा प्रियस्तस्यांके श्लथाः सकला वाह्याभ्यंतरा निर्बन्धा लज्जामानवाम्यासज्यादिनियमा यस्मिंस्ताहृशं हृदयं यस्याः अर्थादंकं विना सर्वे आग्रहास्तिष्ठन्ति यदाङ्कप्राप्तिस्तदा सर्वे आग्रहाः पलायन्तेऽत एव दयापारम्, किञ्चात्रोत्कर्षः प्रियाया एव प्रियं प्रति प्रसद्य श्लथताङ्गीकृता ज्ञेया, प्रियस्य तु प्रेमासक्तिरेव बलं न च मदनादिना क्षोभयितुं शक्नोतीति दयार्थः ।

यद्वा अमन्दप्रेम्णोऽङ्काः स्वस्यां प्रियकृता वा निजोद्भवा एव तैः श्लथाः सकलनिर्बन्धा यत्र तादृशं हृदयं यस्याः, किञ्च दयापारं यदा प्रिय-विषयिकासक्तिप्रसादोज्जृम्भस्तदा सर्वे निर्बन्धाः श्लथा भवन्तीति तदैव दयादानवीरत्वोदयेन दिव्या साहसोद्दीप्ता छविर्यस्य, पूर्वं तु निर्बन्धसमये मानादौ तु निखिलनिगमैर्वाक्यैः काकुचाटुलचाटुभिरनुनयवाक्यैरलक्ष्यं न

रसकलश

अथवा 'पूर्व श्लोक में पुरन्ध्री जन के चूड़ाभरण का नवरत्न कह कर श्रीराधा जी के पूर्ण सौभाग्य का निर्देश किया गया था। इस पक्ष में उनके प्रियतम के अङ्क में स्थित होने के सौभाग्य का वर्णन करते हैं—

अमन्द प्रेमा हैं प्रियतम श्यामसुन्दर उनके अङ्क में शिथिल हो गये हैं सभी बाहर और अन्दर के निर्बन्ध, लज्जा, मान, प्रतिकूलता और आसक्ति का विषय होना आदि नियम जिस में ऐसा है हृदय जिन का अर्थात् प्रियतम के अङ्क में जाने से पूर्व सब आग्रह रहते हैं किन्तु जब प्रियतम का अंक प्राप्त हो जाते हैं तब सब आग्रह भाग जाते हैं। इसी लिये श्रीराधा को दयापार भी कहा गया है। इससे उत्कर्ष श्रीराधा का ही है जिन्होंने प्रियतम के प्रति प्रसन्न होकर निर्बन्धों की शिथिलता स्वीकार की है ऐसा जानना चाहिये। प्रिय की भी प्रेमासक्ति ही शक्ति है कामादि विकारों से वे श्रीराधा को क्षुब्ध नहीं कर सकते यह दया शब्द का अर्थ है।

अथवा अमन्द प्रेम के अङ्क या चिन्ह जो श्रीराधा के शरीर में नखक्षतादि रूप में प्रियतम ने कह दिये हैं अथवा जो गद्गदादि सात्विक भाव उनके विग्रह में स्वयम् उत्पन्न हो गये हैं उन से जिसके सब निर्बन्ध शिथिल हो गये हैं ऐसा जिनका हृदय है और दया पर अर्थात् जब प्रिय विषयक आसक्तिरूपी प्रसाद या कृपा उमड़ती है तब सभी आग्रह शिथिल हो जाते हैं और दयावीर तथा दानवीर आदि भाव का उदय होने से साहस के कारण एक दिव्य छवि उद्दीप्त होती है। पहले तो आग्रहों के समय में मान आदि होने के कारण श्यामसुन्दर के निखिल निगम सभी वाक्य जो काकूक्तियों और चाटूक्तियों से पूर्ण अनुनय के वचन थे उनसे भी श्रीराधा अलक्ष्य थीं अर्थात् मुख ऊँचा

मुखमुन्नमय्य दर्शितं यदा रसाम्भोधिसारत्वं स्मृतं तदातिनिर्बन्धस्य नीरसत्वात् प्राणप्रियस्यामन्दप्रेमवैकल्यस्मृत्या स्वस्यां तद्वैकल्यप्रतिबिम्बितत्वाद्दया कृता, अतः श्लथो निर्बन्धस्तदैव सुकुमारमतिकोमलत्वख्यातमिति ततो मधुरलावण्यललितमिति दिक् ॥५१॥

तदेवमुक्तवस्तुनोऽमन्दप्रेमाङ्कश्लथबन्धनाः प्रेमिणो दयापात्रा अधिकारिण उक्तास्तत्र भगवद्भक्तेऽवतिव्याप्तिशङ्कया साधकदशायां भावनायामपि पुम्भावविस्मृतिपूर्वकवक्ष्यमाणसखीभावैकसाध्यत्वमाह द्वाभ्याम्—

दुकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरतलदत्तं प्रणयतः ।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधपरिचर्यैकचतुरां
किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये ॥५२॥

रसकलश

करके दर्शन न देती थी। जब रसाम्भोधि का सार होना स्मरण किया गया तब अति निर्बन्ध या अति आग्रह के नीरस होने के कारण प्राण प्रियतम के तीव्र प्रेम के कारण विकलता की स्मृति हो आने से अपने आप में भी वह बिकलता प्रतिबिम्बित हो गयी जिससे दया की गयी। और जब आग्रह शिथिल हो गया तब श्रीराधा की बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकार की अति कोमलता प्रगट हूई। और उस से उनके दिव्य छवि वाले मधुर और लावण्य ललित स्वरूप का दर्शन हुआ यह इस पद्य का संक्षिप्त व्याख्यान है ॥५१॥

इस प्रकार उक्त वस्तु के तीव्र प्रेमाङ्क (प्रेमचिन्हों) से शिथिल हो गये हैं बन्धन जिनके ऐसे प्रेमी दया के पात्र ही अधिकारी कहे गये हैं। अब यहाँ शंका होती है कि भगवान् के भक्त भी तो तीव्र प्रेमाङ्कों से शिथिल बन्धन वाले हो जाते हैं तो क्या वे भी इस वस्तु के अधिकारी माने जायेंगे। इस अतिव्याप्ति दोष का निवारण करने के लिये कहते हैं कि साधक अवस्था में भी भावना काल में अपने पुरुषभाव की विस्मृति के साथ आगे कहे जाने वाले केवल सखीभाव से ही यह वस्तु साध्य है। यही बात आगे के दो श्लोकों द्वारा कहते हैं।

"स्वामिनी का प्रसाद-जो प्रीतिपूर्वक अपने ही करकमलों से दिया गया है— दुकूल वस्त्र और कुचतट पर कञ्चुक पट (चोली) धारण करती हुई सदा उनके पास ठहरी हुई हूं। अनेक प्रकार की सेवाओं में एक मात्र चतुर सुकुमारी किशोरी के रूप में क्या मैं यहाँ (श्री वृन्दावन में) अपने आपको पाऊँगी" ॥५२॥

अहमात्मानं किशोरीं सुकुमारीं किं कलये सखीवेषामित्यर्थः। कीदृशीं दुकूलमित्यादिविशिष्टाम्, अन्यत्स्पष्टम्।

अथवा सिद्धदशापक्षार्थमाह-पूर्वं प्रेमांकोक्तौ हितसख्या स्वप्रेमव्यवस्थोक्ता तदा प्रिया प्रेम्णा प्रसद्य निजप्रसादं दुकूलादि दत्तवती ततस्तद्धृत्वा परमहर्षेण नित्यप्राप्तावपि कृपापात्रतां वर्णयति। नु इति विकल्पे हर्षसम्भ्रमवशाद्विकल्पयति अहंरहः श्रीवृन्दावने आत्मानं स्वं हितरूपं संधिगतमंतरंगं स्वस्वामिन्याः प्रसादं दुकूलं बिभ्राणां पुनश्च नित्यं पार्श्वेस्थितां पुनश्च विविधपरिचर्यैकचतुरां किशोरीं सुकुमारीं सहचरीं किं कलये। नित्यैताहृशीत्वेपि स्वमात्मानं अहो भाग्यमिति चित्रमिव मन्यते दास्यां प्रसादपराकाष्ठा दर्शिता, स्वमुखेन स्वं प्रशंसयति। स्वामिन्याः प्रसादमिति नित्यमहोरात्र प्रसादनार्थं तत्सुखार्थं यत्परिचर्याभिनिवेशः सैव यदा प्रसीदेत्तदा हर्षपरावधिः स्यादिति स्वामिन्यां पूर्णममत्वं तस्याश्च स्वस्यामिति किं भण्यते

रसकलश

मैं अपने आपको सखी वेश में सुकुमारी किशोरी के रूप में क्या कभी देखूँगी यह तात्पर्य है। कैसी किशोरी? दुकूल धारण करती हुई इत्यादि विशेषणों से युक्त ये सब स्पष्ट ही हैं। अथवा सिद्ध अवस्था के पक्ष में कहते हैं—पहले प्रेम के अंक (गद्गद आदि) कहने पर श्रीहितसखी ने अपने प्रेम की व्यवस्था कही तब प्रियाजी ने प्रेम से प्रसन्न होकर अपना प्रसाद दुकूल आदि के रूप में दिया। तब उसको धारण करके परम हर्ष से नित्य प्रसन्नता या प्रसाद के प्राप्त होने पर भी कृपापात्रता का वर्णन करती हैं 'नु' यह शब्द विकल्प में प्रयोग किया जाता है। हर्ष जनित सम्भ्रम के कारण विकल्प करती हैं—मैं एकान्त वृन्दावन में अपने आपको अर्थात् अपने सन्धिगत अन्तरङ्गहित रूप को अपनी स्वामिनी के प्रसादभूत दुकूल वस्त्र धारण किये हुई तथा कुचतट में कन्चुक पट को भी उनके प्रसाद के रूप में ही धारण किये हुई और नित्य पास में ठहरी हुई तथा अनेक प्रकार की सेवाओं में एकमात्र चतुर किशोर अवस्था वाली सुकुमारी सहचरी के रूप में क्या कभी देखूँगी?

यद्यपि श्रीहितसखी रूप में वे नित्य ऐसी ही हैं तो भी "मैं अपने आपको" इस कथन द्वारा अपने भाग्य की सराहना करती हैं—अहोभाग्य कह कर आश्चर्य मानती हैं और दासीजन पर प्रसाद (कृपा) की पराकाष्ठा दिखाती हैं। अपने मुख से अपने ऊपर स्वामिनी के प्रसाद या अनुग्रह की प्रशंसा करती है। इससे रात दिन श्रीस्वामिनी को प्रसन्न करने के लिये ही और उन्हें सुख पहुँचाने के लिये ही उनकी सेवा करने का अभिनिवेश या आग्रह सूचित होता हैं और यह भी सूचित होता है कि वे ही जब प्रसन्न हों तभी यह हर्ष की परम अवधि प्राप्त हो सकती है। इसके द्वारा स्वामिनी पर अपनी और अपने पर स्वामिनी की पूर्ण ममता भी प्रगट की जाती है। यह तो क्या कहना?

तत्रापि केवलं सेवावेशनकरुणयैव न प्रसादः किन्तु प्रणयतो बाल्यसख्यात्परमस्नेहे तत्क्षणं सन्मुखे तथैव न तु प्रभुत्वादन्यसखीहस्तेनेति परमांतरंगत्वं स्वकरतल इति स्वस्याः करतलेन मम करतले दत्तं सखि नीयतामिति परिधेहीति तदा मया दास्यरीत्या नत्वा गृहीतं परिहितं चेति ।

प्रसादमित्यनेन दुकूले कञ्चुकपटे च श्रीविग्रहांगरागपरिमलपरिमर्द्दत्तत्समयविलासभावोद्दीपनानि परमरसाधायकानि । सख्याः किमुच्यतेऽनिर्वचनीयप्रेमानंदः अग्रेपि वक्ष्यति ।

कदा गोविन्दाराधनललितताम्बूलशकलं
मुदा स्वादं स्वादं पुलकिततनुर्मे प्रियसखी ।
दुकूलेनोन्मीलन्नतकमल किञ्जल्करुचिना
निवीताङ्गी सङ्गीतकनकलाः शिक्षयति माम् ॥

इति तनुरूप पक्षार्थे ज्ञेयम् । अन्यच्च दुकूलं प्रसादमित्युक्तेऽपि पुनः कञ्चुकपटमिति कृपा बाहुल्यं वक्ष्यमाणानुसारेण

रसकलश

अपितु उस समता में भी केवल हमारी सेवा के आग्रह से उत्पन्न करुणा के कारण ही श्रीस्वामिनी की हम पर कृपा नहीं है किन्तु प्रणय अर्थात् प्रीति जो बचपन से सखीभाव के कारण मेरे प्रति परमस्नेह है उससे उसी समय सामने ही न कि प्रभुतावश अन्य किसी सखी के हाथ से अपितु अत्यन्त अन्तरंग मानकर अपने ही करकमलों से मेरे हाथों में प्रसाद दिया और कहा—ले सखी पहन ले। तब मैंने भी दासीभाव के अनुकूल सिर झुकाकर प्रसाद को ले लिया और पहन लिया।

यहाँ पर वस्त्रों को भी प्रसाद कहने का तात्पर्य यह है कि दुकूल और कञ्चुक यह श्री स्वामिनी के श्रीविग्रह के अंगराग की परिमल और परिमलजनित सुगन्ध के कारण उस समय के विलास भावों का उद्दीपन करने वाले तथा परम रसाधायक थे। उस समय सखी के अनिर्वचनीय प्रेमानन्द का क्या वर्णन किया जा सकता है ? आगे भी कहेंगे—

"वह कौन सा दिन होगा जब गोविन्द के द्वारा आराधनाकाल में समर्पित ललित ताम्बूल खण्ड का आनन्दपूर्वक स्वाद लेते लेते पुलकित श्री विग्रह वाली नवीन कमल के केशरों की कान्ति जिसमें प्रगट हो रही है ऐसे दुकूल वस्त्र से आवृतांगी होकर मेरी प्यारी सखी श्री राधा मुझे संगीत सम्बन्धी अपनी कलाओं की शिक्षा प्रदान करेंगी ?" इत्यादि तनरूप (छोटी) सखी के पक्ष में जानना चाहिये। और भी एक बात है। दुकूल को प्रसाद कहने पर भी जो फिर कञ्चुक पट के विषय में कहा गया है वह कृपा और वात्सल्य का स्वरूप है जैसा कि आगे कहा जाने वाला है।

अथेति पदमाश्चर्य्यद्योतनार्थम् । तादृशप्रसादलाभेऽपि प्रमादाभावमाह-नित्यं पार्श्वे स्थितां पार्श्व इति प्रियास्थितिदिशि समीपे हि नित्यमित्यनेन रहः समयादप्यनिवृत्तिः । ततोऽपि विदग्धसमीपे मुग्धस्थितिरप्रसादकारिणो चेत्तत्राह विविधपरिचर्य्यासु एकसेवाया अप्यनेके प्रकारास्तेष्वप्येकैव चतुरेति नान्यैतत्सदृशी विशारदेति स्वामिनीमुखोक्तं प्रसादवाक्यं श्रुत्वा स्वयं वदति तदेव प्रसादमित्युक्तं अत एव पूर्वमपि विदग्धद्वन्द्वमित्युक्तम् ।

पुनश्च सेवाकुशलत्वेऽपि स्ववयसः सख्या वयोगौरवे सति सख्ये मत्यैक्ये च संशयस्तत्राह किशोरीमिति स्वसमानवयस्त्व एव विलासिप्रभूणामानंदः स्यादित्यत एव सुकुमारीमिति सुकुमाराणां दृष्टौ पार्श्वस्थतनुमनोवाक्क्रियाणां कार्कश्यं न प्रसादकार्यतस्तदनुसारेणैव भवितव्यं स्वसुकुमारतां विना परमसौकुमार्यशीतोष्णमृदुकठिनकालविलम्बक्षुतिपपासावनविहार-

रसकलश

इस श्लोक में अर्थ शब्द आश्चर्य प्रकाशन के लिये है। अर्थात् उस प्रकार की दया प्राप्त हो जाने पर भी प्रमाद या असावधानता नहीं आयी। अतएव कहते हैं कि कि "सदा ही पास में रहती हुई।" युगल रूप में जिस ओर श्री राधा हैं उसी ओर उनके ही समीप सदा रहने का अर्थ यह है कि एकान्त लीलाओं के समय में भी मुझे वहां से नहीं हटाया जाता। ऐसे समय विदग्ध युगल के पास मुग्ध सखीजन की स्थिति विशेष सुख कारक नहीं हो सकती। अतएव कहती हें कि मैं अनेक प्रकार की सेवाओं में एकमात्र चतुर हूँ। एक एक सेधा के अनेक अनेक प्रकार होते हैं उन सब में मैं एक चतुरा हूँ यह कहने का तात्पर्य है कि "इस जैसी सेवा विशारद दूसरी नहीं है।" 'श्री स्वामिनी के मुख से कृपापूर्वक कहे हुए' इस वाक्य को सुनकर श्री हितसखी स्वयम् उसका अनुवाद करती हैं और तभी दुकूल आदि को प्रसाद भी कहती हैं। इस प्रकार प्रिया प्रियतम विदग्ध या चतुर युगल हैं।

फिर सखी भी सेवा कुशल है यह वात कहने पर भी समान वयस् (अवस्था) सखी भाव और एकभाव होने में संदेह हो सकता है। अतः कहते हैं कि जैसे प्रियाजी नित्य किशोरी हैं ऐसे ही में भी अपने आपको किशोरी देखूँगी। क्योंकि अपने समानवयस परिकर में ही विलासी प्रभुओं को विशेष आनन्द हुआ करता है और इसीलिये अपने आपको सकुमारी भी कहा है क्योंकि सुकुमारों की दृष्टि में समीपस्थ जनों के शरीर-मन-वचन की क्रियाओं में किसी भी प्रकार की कर्कशता उहें प्रसन्नता नहीं देती। अतः सकुमारों के निकटस्थजन भी उनके अनुरूप ही सुकुमार होने चाहिये। फिर अपनी सकुमारता के बिना उन परम सकुमार प्रिया प्रियतम के शीत उष्ण, कोमल कठोर, विलम्ब, (भोज्यपेय-आदि वस्तुओं की प्राप्ति में देर) भूख प्यास और वन विहार के परिश्रम आदि का ठीक ठाक भान

श्रमादि यथावज्ज्ञातं न स्यात्तदा स्वसाधारण्येनामर्मज्ञतया सेवानवधानता स्यादित्यतस्तत्समशीलांगप्रकृत्यैव भाव्यम् अत एव पूर्वश्लोकेऽप्युक्तं किमपि सुकुमाररमिति किशोरीमिति कौतुकिदंपत्योः कौतुक एव मनःप्रसादो यदा नित्यसंगिन्यपि समवयस्का भवेत्तदैव तत्तत्कौतुकलीलोज्जृम्भपोषः स्यादन्यथोक्तकर्तृत्वेऽनभिनिवेशो ज्ञायेत समवयस्त्वे नवनवप्रकारं लीलायां कृत्वा दर्शयति ।

अन्यच्च प्रसाददुकूलकञ्चुक्यादिदानमपि समवयस्त्वं विना न परिमितमंगेषु स्यान्न चेंगितवयःस्वभावावश्यकताज्ञानं स्यान्न च वयोनन्वये समीपशोभा स्यादित्यतः किशोरीमिति । अतएव पूर्वश्लोके नवकैशोरमधुरमित्युक्तमिति नित्यं पार्श्वे इति नित्यसामीप्यं विना सेव्येंगितपौर्वापर्य्यज्ञानाभावात्कथं सेवावैदग्ध्यं स्यात् तयोः प्रेमरसलीलातरंगपरंपराणां

रसकलश

नहीं हो सकता । अपने साधारणीकरण के बिना मर्मज्ञ न होने के कारण सेवा में असाबधानता भी हो सकती है । इसलिये युगल के समान ही शील स्वभाव अङ्गस्थिति और प्रकृति का होना आवश्यक है इसीलिये पूर्व श्लोक में भी कहा है कि कोई सुकुमार रत्न सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान है । यहाँ पर किशोरी कहने का यह भी तात्पर्य है कि कौतुकी दम्पति (प्रिया-प्रियतम) को कौतुक में ही मनः प्रसाद प्राप्त हो सकता है । जब अपनी नित्य संगिनी भी समान अवस्था की हो तभी उस उस प्रकार के कौतुक से उस प्रकार की लीला का उजृम्भण (उमड़ पड़ना) सम्भव होगा । अन्यथा उक्त कौतुकों के करने में अभिनिवेश या आग्रह का अभाव जाना जायगा । समान अवस्था होने से नये नये प्रकार की लीलाएं भी करके दिखायी जायेंगी ।

एक और बात भी है प्रसाद के दुकूल और कञ्चुक आदि का देना भी समान अवस्था के बिना संगत नहीं बैठता । क्योंकि असमान अवस्था वाली सखी के शरीर में वे दुकूल कञ्चुकादि पूरे भी नहीं आयेंगे । फिर इंगितों अवस्था जनित स्वभावों और तात्कालिक आवश्यकताओं का तो समान अवस्था के बिना ध्यान ही नहीं आ सकता और समान अवस्था के बिना समीप रहने से शोभा भी नहीं होगी । ये सब बातें सोच कर अपने आपको भी किशोरी कहा गया है। और इसीलिये पूर्व श्लोक में श्रीराधाजी को नव कैशोर मधुर बताया गया है ।

'नित्य पास में ठहरी हुई' यह कहने का तात्पर्य भी यही है कि नित्य पास में रहे बिना सेव्य के इंगितों और पहले क्या हुआ, अब क्या होना है, आगे क्या होगा इत्यादि का ज्ञान न होने से सेवा में चतुरता प्रगट नहीं हो सकती । प्रिया प्रियतम की प्रेम और रस की लीला को तरंगों की परम्परा का जोकि क्षण क्षण में अनेक अनेक

क्षणशो बहुविधोदितानां संपूर्णदर्शनादेव लोलाज्ञानं स्यात्तनुदसारेणैव सखी-मनसि तादात्विककर्त्तव्यतारुचिवर्धकवचनता स्यादित्यतो नित्यं पार्श्व इत्युक्तम् ।

प्रसादप्रणयदत्तोक्त्या स्वामिनीधामातिवैभववशादभुक्तानाहतवसन-भूषादिधारणेन सर्व्वसाधारण्यं नाशंसितं तदुत्तीर्णमेव धारयिष्य इति कृपापात्रविलक्षणता निष्ठाप्रौढिश्च दर्शिता दत्तमेव परिदधातीत्यनेन विविध-परिचर्य्यापरमावेशेन न स्वपरिधानभूषादिस्मृतिर्यदा स्वामिन्येव स्मारयति यथासमयर्त्तु लोलाशृङ्गारादि ममेव त्वमपि कुर्व्विति वा परिमर्दितं परि-भुक्तं ज्ञात्वेति कृपया यदा दद्यात्तदेव परिदधातीति सेवावेशो दर्शितः बिभ्राणामिति वर्त्तमानेन नित्यं प्रसादपरिधानतोक्ता न च कादाचित्कमिति-प्रसादशब्देनान्यदपि कुसुममालाताम्बूलगन्धभूषणोच्छिष्टभोजनादि सर्व्वमनुक्त-

रसकलश

प्रकार से वुदित हो रही हैं नित्य पास में रहने से ही सम्पूर्णतया दर्शन हो सकता है और उस सम्पूर्ण दर्शन से ही लीला का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है तथा उसके अनु-सार ही सखी के मन में उस-उस समय के कर्त्तव्य करना और प्रिया प्रियतम की रुचि को बढ़ाने वाले वचन बोलना सम्भव हो सकता। इसलिये 'नित्य पास में ठहरी हुई। इत्यादि कहा गया है। 'दुकूल कञ्चुक आदि का प्रसाद प्रणय के साथ दिया गया हैं यह कहने से स्वामिनी के धाम के अति वैभवशाली होने के कारण वहाँ नित्य अभुक्त और अखण्डित वस्त्र भूषण आदि धारण किये जाते हैं। इससे धाम की असाधारणता या सर्वसाधारणता का अभाव आशंकित होता है।' मैं प्रियाजी के उतरे हुए ही वस्त्र आभू-षण धारण करूँगी' इस कथन द्वारा उनके विलक्षण कृपा पात्र होने की तथा निष्ठा की दृढ़ता की सूचना दी जाती है। 'स्वामिनीजी के करकमलों से दिये हुवे को ही धारण करती हुई' इस कथन से यह सूचित होता है कि अनेक प्रकार की सेवाओं में परम आविष्ट रहने के कारण मुझे अपने वस्त्र आभूषण आदि की स्मृति ही नहीं रहती। जब श्री स्वामिनी स्मरण कराती हैं तथा समय और ऋतु के अनुरूप लीला शृंगारादि मेरे समान ही तुम भी धारण करो यह मुझे आज्ञा देती हैं और यह वस्त्र आभूषण हमारे द्वारा परिमर्दित या परिभुक्त हो चुके हैं ऐसा जानकर जब स्वयम् कृपा करके मुझे देती हैं तभी मैं उन्हें धारण करती हूँ। इस प्रकार का सेवा आवेश भी दिखाया गया है। 'दुकूल और कञ्चुक पट आदि को धारण करती हुई' इस कथन में वर्तमान के द्वारा नित्य प्रसाद धारण करना कहा गया है न कि कभी कभी। प्रसाद शब्द से अन्य वस्तुएँ पुष्पमाला, ताम्बूल, गन्ध, (इत्र फुलेल) भूषण और उच्छिष्ठ भोजन इत्यादि सभी न कही हुई वस्तुएँ भी उसी प्रकार समझ लेनी चाहियें। इस प्रकार

मपि तादृशमेव ज्ञेयम् एवं सहचरीरूपं यथानुभूतं हर्षवशेन किमिति कलये विचारयामि पश्ये वा सिद्धदशायां साधकदशायां यथासंभवं योजनीयम् साधकदशायां पूर्वप्रेमांकदर्शनात्स्वपार्श्वयोग्यतादानार्थं दुकूलकंचुक्यादि दत्तमित्येवं कृपास्पदं सखीवेषं कदा भावयामीति ।

आत्मशब्देन आत्मा शुद्ध एव तादृशसखीरूपपरिणत्यहंकारतां प्राप्त इति ज्ञेयं न मायिकत्वं यथा चाग्रे वक्ष्यति 'तेजोरूपनिकुंज एव कलयन्नेत्रादि पिण्डस्थितं तादृश्योचितदिव्यकोमलवपुः स्वीयं समालोकय, इति साधक लोकशिक्षार्थः । सिद्धार्थे तु आत्मानं स्वं हितरूपं वा सखीरूपमुक्तमेव ।।५२।।

पूर्व्वं स्ववेषमुक्त्वादेवो देवमर्चयेदित्यादिवत् ततः स्वामिनीवेशं वक्तुं विविधपरिचर्य्याकौशलमाह ।

विचिन्वन्ती केशान् क्वचन करजैः कञ्चुकपटं
क्वचाप्यामुञ्चन्ती कुचकनकदीव्यत्कलशयोः ।

रसकलश

सिद्ध अवस्था में अनुभव के अनुरूप सखी का स्वरूप धारण करूँगी या विचारती हूँ अथवा देखती हूँ इत्यादि अति हर्ष से कहते हैं। अथवा साधक अवस्था में पूर्व प्रेम के अङ्ग (चिन्ह) देखकर अपने पास रहने की योग्यता देने के लिये दुकूल कञ्चुकी आदि प्रसाद मुझे दे दिये हैं। इस प्रकार की कृपा की पात्रभूत सखी के वेष की भावना कब करूँगी ?

आत्मा शब्द से यह सूचित किया है कि 'आत्मा तो स्वतः शुद्ध ही है। उसे इस प्रकार के सखी भाव की परिणति के अहंकार को प्राप्त हुआ कब अनुभव करूँगी यह जानना चाहिये। यह सखीभाव भावनात्मक है। मायिक नहीं है जैसा कि आगे भी कहेंगे कि "अपने शरीर में स्थित नेत्रादि की तेजो रूप निकुञ्ज में ही भावना करता हुआ वैसे ही उचित दिव्य और कोमल निज देहको कब देखूंगा" इत्यादि रूप में साधक जन को शिक्षा देने के लिये कहा गया है। सिद्ध अर्थ में अपने आपको हितरूप और सखीरूप में कह ही चुके हैं ।।५२।।

"अदेव रूप में देव का अर्चन न करे" इस शास्त्रीय आदेश के अनुसार पहले अपने वेष या स्वरूप को कहकर अब श्री स्वामिनी के वेष या स्वरूप का वर्णत करने के लिये अपनी विविध प्रकार की परिचयाओं में कुशलता का वर्णन करते हैं— "अहो ! कहीं अपने नखों से श्री स्वामिनी के केशों को सवाँरती हुई और कहीं देदीव्यमना

सुगुल्फे न्यस्यन्ती क्वचन मणिमञ्जीरयुगलं
कदा स्यां श्रीराधे तव सुपरिचारिण्यहमहो ।५३।

हे श्रीराधे अहो—आश्चर्ये वा संबोधने अहं तव सुपरिचारिणी कदा स्यामिति श्रीमति परमाराध्ये स्वामिनि तव विदग्धायाः परमकृतज्ञप्रसादाश्रयतादिगुणविशिष्टायाः सुष्ठु परिचारिणीति ।

जीवभावेनात्र दीनतां न करोमि यथा तथा कथंचित्किञ्चित्स्यामिति किञ्च त्वत्प्रसादनकर्त्रीत्वमाशंसे अत एव दौर्ल्लभ्यादहो इत्याश्चर्यं अहमेवं स्यामिति संभावना साधकार्थे । कीदृशी केशान् करजैर्विचिन्वन्ती क्वचनेति केशप्रसाधनं सुकौशलतां विना न घटतेऽतः कंकतिकां विनापि विरलान् करजैः कुर्वंती शोधयंती क्वचन समये मंजनादौ वा स्नानांते सुगंधस्नेहचैक्कण्यं त्याजयंती शोषयंती अथ क्वचापि कंचुकपटं कुचयोरेव कनकस्येव

रसकलश

कनक कलशों जैसे उनके कुचों पर कुञ्चुक पट पहनाती हुई कहीं उनके सुन्दर गुल्फों पर मणिमय मञ्जीरयुगल धारण कराती हुई मैं हे श्री राधे ! तुम्हारी अच्छी दासी कब बनूँगी ?" ॥५३॥

'हे श्री राधे ! "अहो !" (आश्चर्य बोधक है या सम्बोधन के लिये प्रयोग किया गया है) मैं तुम्हारी सुपरिचारिणी (अच्छी दासी) कब बनूँगी ? यह अन्वय है। श्री राधे में "श्रीमती राधा" कहने का तात्पर्य है कि हे परमाराध्य स्वामिनी ! आप परम चतुरा हैं परम कृतज्ञा हैं और प्रसन्नता, वत्सलता आदि गुणों से पूर्ण हैं।

अत: मैं आपकी अच्छी दासी कब बनूँगी ? यहाँ जीव भाव से मैं दीनता नहीं दिखाती अपितु जैसे तैसे किसी प्रकार भी मैं कुछ बन जाऊँ, यह इच्छा प्रगट करती हूँ। तथा तुम्हें प्रसन्न करने वाली हो जाऊँ, ऐसी आशंसा करती हूँ। इसी लिये दुर्लभता के कारण अहो यह आश्चर्य बोधक शब्द कहा है। मैं ऐसी हो जाऊँ ?" कहीं नखों से सवाँरती हुई,' इस वाक्य में बिना विशेष कौशल के केश नहीं सवाँरे जा सकते अतः अपना कौशल दिखाती हूँ कि कंघी के बिना ही केवल नखों से केशों को सवाँरने का कौशल मुझ में हैं। स्नान के बाद सुगन्धित तेल फुलेल के कारण केशों की चिकनाहट छुड़ाने के लिये नखों से उन्हें फैलाकर सुखाना भी केश सवाँरने में आ जाता है। और कहीं स्वर्ण के देदीप्यमान कलशों जैसे कुचों पर कञ्चुक पट धारण कराती हुई अर्थात् केश सवाँरने के शृंगार समय के अतिरिक्त भिन्न काल में कहीं शृंगार की पूर्ति हो जाने पर या वन बिहार में जाने की इच्छा हो आने पर सुन्दर गुल्फ में मणि मञ्जीर

दीव्यत्कलशयोरामुंचंती परिधाययंतो क्वचेति शृङ्गारसमये पूर्व्वस्मात्पृथक्कालत्वात् । क्वचन शृङ्गारपूर्तौ वा वनविहारजिगमिषादौ सुष्ठुगुल्फे जात्यैकवचनं आशंसाकथनसमये भावनायां सौष्ठवस्फूर्त्त्यां प्रसद्य सुष्ठूक्तिः । मणिमञ्जीरयुगलमिति यथा लोके रजतादौ यदिच्छादत्तध्वनिविशेषो दृश्यते तथैव मण्यादावपि महामनोहरमधुरध्वनिर्ज्ञेयः कश्चिन्मणिनुपूरादिः केवलपदशोभार्थकोऽप्यत्र तु मंजीरशब्देन ध्वन्यर्थक एव वा मणि कंचनजटित इति ज्ञेयम् । न्यस्यंती स्थापयंतीति रूपवर्णच्छविलावण्यमोहितकरदृष्टिस्थगिते एव न चिरं गुल्फात्पृथग्भूते इति ध्वनिः । अत्र शृङ्गारत्रयकार्य्येऽपि समस्तनखशिखापर्य्यंतान्यशृङ्गाराद्यपि ज्ञेयम् । एवं शृङ्गारपरिचर्याकुशला कदा स्यामित्याशंसनम् ।

अथवा क्वचनेति समयविशेषार्थमाह क्वचन विलाससमये सामान्यतः कचसंयमनैकग्रन्थिनिबद्धकबरविशेषे झटिति श्लथे सति नित्यपार्श्व

रसकलश

धारण करती हुई, इस वाक्य में जातिवाचक गुल्फ में एक वचन वाचक मानकर किया गया है और आशंसा के समय भावना में गुल्फों की सुन्दरता के स्फुरित हो आने के कारण प्रसन्न होकर उन्हें सु-गुल्फ कहा गया है । मणि मञ्जीर मुगल का तात्पर्य यह है कि जैसे लोक में चान्दी आदि की घु घुरियों में यथेच्छ रूप से विशेष प्रकार की ध्वनि होती है वैसे ही मणि आदि में भी महा मनोहर और मधुर ध्वनि का होना जानना चाहिये । कोई मणिनूपुर आदि केवल चरणों की शोभा के शोभा के लिये ही धारण किये जाते हैं किन्तु यहाँ मञ्जीर शब्द से ध्वनि कारक अर्थ हो लिया जाता हैं। इसका अर्थ है कि यह मञ्जीर मणियों और स्वर्ण आदि से जड़े हुये हैं ऐसा जानना चाहिये । धारण कराती हुई कहने का तात्पर्य यह है कि रूप, वर्ण, छवि और लावण्य से हाथ और नेत्र मोहित होकर स्तब्ध ही हो गये हैं । इसीलिये बहुत देर तक वे गुल्फों से पृथक नहीं हो सके । यहां पर शृ ंगार (सजावट) के तीनों कार्यों में अन्य सभी अंगों के भी नख से लेकर शिखा पर्यन्त अन्य शृ ंगारादि भी किये गये ऐसा जानना चाहिये । यहाँ पर शृ ंगार के तीनों कार्यों में समस्त-नखों से लेकर शिखा पर्यन्त अन्य-अंगों का भी शृ ंगार करना जान लेना चाहिये। इस प्रकार मैं शृ ंगार सेवा में कब कुशल होऊँगी यह आशंसा की गयी है । यहाँ वचन या कहीं का तात्पर्य किसी समय विशेष में है अर्थात् किसी विलास के समय सामान्यतः जब केशों का संयमन एक ग्रन्थि में किया जायगा तब वह शीघ्र शिथिल हो जायगा और उसके शिथिल हो जाने पर नित्य पास में रहती हुई मैं अपने नखों से हो उन्हें सँवार दू ंगा इस कथन द्वारा दूसरी बार केशों का सँवारना जानना चाहिये।

स्थाहं करजैर्विचिन्वन्तीत्यनेन पश्चात्संयमनं ज्ञेयम् । यद्वा प्रियस्य कबरग्रथनाकांक्षा जाता तदा तत्समये किञ्चित्पूर्व्वसाधनमहमपि कुर्व्वती विचिन्वंती क्वचेत्युद्भटविलासविशेषे नखक्षतादिविशीर्णायां कञ्चुक्यामन्यकञ्चुकपटं परिधापयन्तीति क्वचन मुखरतासंकोचत्यक्तकिंकणीनूपुरसमये श्यामातिप्रियपोषार्थं स्वकर्णपूरायमाननिनदार्थं कौतुकेन गुल्फे न्यस्यंती अत्र स्वामिन्यनिंगितेऽपि प्राखर्य्यं लीलापोषि शोभनं च तत्समये प्रिया तु न्यक्कुर्व्वती तदपि सखी गुल्फेति स्वमुखेन गुल्फं प्रसंशयति । अहो मरकतमणिमयमंजीरौ गौरशोभनगुल्फे कीदृशौ शोभेते इति मुख्यं तु गोरश्यामसंयोग एव विलक्षणानंददायीति वाक्यं विस्तार्य्य प्रियसहायेन न्यस्यंती दृढं कीलयन्तीति ततो निकुंजात् बहिर्भवामीत्यर्थः ।

रसकलश

अथवा प्रियतम की इच्छा हो आई कि आज प्रियाजी के केश मैं (प्रियतम) सँवारू । उस समय उन से पहले नखों द्वारा केशों को सँवारने जितना प्रसाधन मैं (हितसखी) ने कर दिया । अथवा कहीं का अर्थ किसी उद्भट विलास विशेष में समझना चाहिये । वहाँ नखों का सम्बन्ध कञ्चुक पट से होगा । अर्थात् प्रियतम के नखक्षतादि से पहली कञ्चुकी के विशीर्णा हो जाने पर दूसरा कञ्चुक पट मैं धारण करूँगी यहीं श्याम का अतिप्रेम साधन करने के लिये मुखरता (कोलाहल) के संकोच से प्रियाजी के द्वारा किंकिणी और नूपुर उतार देने के समय श्याम के अतिप्रिय विलास का पोषण करने के लिये अपने (हितसखी के) कानों में कर्णपूर के समान प्रिय लग रही उस ध्वनि को फिर से प्राप्त करने के लिये कौतुक से श्रीहितसखी प्रियाजी के गुल्फों में फिर मणिमञ्जीर युगल धारण कराती हैं । यहाँ स्वामिनी के संकेत के बिना ही श्रीहितसखी की प्रखर उत्सुकता लीला का पोषण करने वाली और सुन्दर प्रतीत होने वाली है । उस समय प्रियाजी तो मञ्जीरों को दूर करती हैं किन्तु सखी गुल्फों में मञ्जीर धारण कराने के लिये उन्हें सुगुल्फ कह कर उनकी प्रशंसा करती है । अहो ! ये मरकत (नील) मणि के बने हुये मंजीर इन गोरे और सुन्दर गुल्फों में कितने भले लगते हैं । यहाँ पर मुख्य भाव तो गौर और श्याम का संयोग कराने में ही है जो सबको विलक्षण आनन्द देने वाला है । इसी अभिप्राय से गुल्फों की प्रशंसा में अनेक प्रकार के वचनों का विस्तार करके प्रियतम की सहायता से प्रियाजी के सुन्दर गुल्फों में मणिमय मंजीर धारण कराती हुई अर्थात् उन्हें दृढ़तापूर्वक पहनाती हुई मैं (श्रीहितसखी) उस निकुञ्ज से बाहर आ जाऊँगी । अब मंजीरों की निनाद से ही सम्पूर्ण लीलाओं के साक्षात्कार का सुख प्राप्त कर सकूँगी यह तात्पर्य है ।

अथवा शतृप्रत्ययत्वाद्वर्त्तमानेन पुनः पुनः करणं प्रेमवशादिति अत्र प्रेमवशसेवाविस्मृतिरेब प्रेमपत्तने सेवाचातुर्य्यं ज्ञेयम् आगुल्फात्तु न लंबमाऽश्लक्ष्ण सूक्ष्मचिकुरान् श्रृङ्गारच्छटावयवान् प्रसाधयन्ती शोभामग्ननयना स्थगिता एते मया शोधिता अनन्तरं स्नेहमेलनमुक्ताकुसुमादिग्रथनसंयमनं कुर्यामिति विस्मृतवती विचिन्वंत्येव स्थितेति ध्वनिः क्वच समये कुचावेव कनकस्य दीव्यदिति क्रीडार्थद्युत्यर्थविशिष्टौ कलशौ यत्क्रीडार्थं भवति तदत्यंतशोभनमेव भवतोति सौरूप्यं द्युत्या हृक्चाकचिक्यप्रदत्वम् कनकेति गौरवर्णता कलशेति स्थौल्यमुभयनिरंतरतावर्तुलतेत्यादिशोभावेशे मनः प्रवेशात् । एवं क्वचन सुगुल्फे इत्येकवचनं गुल्फसौष्ठवमोहेन प्रेमवशाद्विस्मृत्य मंजीरयुगलं एकस्मिन्नेव गुल्फेन्यस्यंतीत्येवं सुपरिचारिणी अर्थात् आत्मानं स्वयमेवोपहसित्वा मुग्धात्वं ख्यापयति । एवं प्रेमांकश्लथसेवानैयत्त्यनिर्बन्धा सखी कदा स्यामित्यर्थश्चापि पूर्वतरपद्योक्तस्मारकः ।।५३।।

रसकलश

अथवा विचिन्वन्ती, आमुञ्चन्ती और न्यस्यन्ती इन तीनों शब्दों में शतृ प्रत्यय का प्रयोग वर्तमान अर्थको बताता है जिससे प्रेमवश पुनः पुनः बालों का सेवारना कञ्चुकपट पहनाना और मणि-मंजीर धारण कराना प्रतीत होता है । यहाँ प्रेमवश सेवा से विस्मृति हो जाना ही इस प्रेम पतन में सेवा की चतुरता समझनी चाहिये । इस वर्तमानार्थ शतृ प्रत्यय के प्रयोग से यह भी प्रतीत होता है कि श्री राधा जी के सूक्ष्म और श्लक्ष्ण केश गुल्फों तक लटक रहे थे । उन श्रृंगार छटा के अवयवभूत केशों का प्रसाधन करती हुई उनको शोभा में मग्ननेत्रभा होकर मैं स्तब्ध रह गयी । इन्हें मैंने सँवार लिया है अब इनमें तेल फुलेल लगा कर मोती और फूल आदि गूँथने हैं इसको मैं यह भूल गई और उन्हें सवारती ही रह गयी । इसलिये विचिन्वन्ती कहा है । ऐसे ही किसी समय दीव्यत् (देदीप्यमान) स्वर्ण कलशों जैसे कुचों पर कञ्चुकपट पहनाती ही रह गयी । दीव्यत शब्द क्रीड़ार्थक भी है और द्युत्यर्थक भी है । श्याम सुन्दर के क्रीड़ार्थक होने से ये कनक कलश अधिक द्युतिमान हैं । अपनो सुरूप द्युति के कारण आँखों में चकाचौंध करने वाले स्वर्णमय होने के कारण गौर वर्ण के और कलश जैसे होने के कारण पीनता वर्त्तलता और दोनों को निरन्तरता आदि शोभा के आवेश में मन का प्रवेश हो जाने के कारण कंचुक पट पहना चुकने के वाद की सेवा को एकदम भूलगई ऐसे ही किसी समय सुन्दर गुल्फ में मणि मञ्जोर युग धारण कराती रह गयी । यहाँ पर गुल्फ में एक वचन इस बात का भी सूचक है कि एक ही गुल्फ की सुन्दरता के लोभ में प्रेमवश भूलकर दोनों मंजीर एक ही गुल्फ में धारण काराती रही । फिर भी अपने आपको सुपरिचारिणी (अच्छी दासी) कहती हुयी अपना भोलापन प्रकट करती है । इस प्रकार प्रेम के चित्त गद्गद रोमाञ्च आदि के कारण शिथिल होती हुयी भी सेवा के लिये दृढ आग्रह रखने वाली सखी कब बनूँगी यह बात भी पूर्व पद्य में कहे गये अर्थं की स्मारक है ।।५३।।

तदेवं श्रीस्वामिनीपरिचारिणीत्वमेव निजाभिलाषपराकाष्ठामुक्त्वेदानीं साधकदेहे सिद्धस्वरूपे च स्वामिनीपददास्याखंडनिष्ठामाह क्रमेण द्वाभ्यां तत्रादौ ननु प्रियपरिचारित्वं कथं नासशंसितं वाह्ये'पि भगवद्धर्मसाधनं दृश्यते यस्य यच्छ्रद्धापूर्व्वकं साधनं तस्य तादृशमेव साध्यं भाव्यं तत्राहः—

अतिस्नेहादुच्चैरपि च हरिनामानि गृणत-
स्तथा सौगन्धाद्यैर्बहुभिरुपचारैश्च यजतः ।
परानंदं वृन्दावनमनुचरंतं च दधतो
मनो मे राधायाः पदमृदुलपद्मे निवसतु ॥५४॥

मे मनो राधायाः पदमृदुलपद्मे निवसत्विति । यद्यपि वाह्ये लोकसंग्रहार्थं साधनमन्यद् दृश्यते यथा न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनामिति लोक-संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसीतिवत् । किञ्च सहसैव सर्व्वानेवापरीक्ष्य रहस्यं कथमुपदिशेदित्यपि न भगवद्धर्मत्यागस्तदपि भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममा इति

रसकलश

इस प्रकार श्री स्वामिनी की परिचारिका होने में ही अपनी अभिलाषा की पराः काष्ठा कह कर अब साधक सिद्ध दोनों स्वरूपों में श्री स्वामिनी के चरणों की दासी होने की अखण्ड निष्ठा का क्रमशः दो श्लोकों में निर्देश करते हैं । उनमें प्रथम श्लोक में यह प्रश्न होता है कि श्याम सुन्दर का सेवक होने की अभिलाषा क्यों नहीं की । और फिर निकुञ्ज से वाहर भी तो भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्मों का अनुष्ठान देखा जाता है किन्तु जिसकी जिस श्रद्धा और निष्ठा के साथ जैसी साधना होती है उसका वैसाही तो साध्य होना चाहिये । इसलिये कहते हैं—

"अत्यन्त स्नेह से और ऊँचे स्वर से हरि के नामों का उच्चारण करते हुए भी तथा सुगन्धित तिलक चन्दनादि अनेक उपचारों से उनकी पूजा करते हुए भी एवम् वृन्दावन में विचरते हुए उन परमानन्द स्वरूप का ध्यान धरते हुए भी मेरा मन श्री राधा जी के चरण रूपी कोमल कमल में ही निवास करता रहे ।" ॥५४॥

इसका यह तात्पर्य है यद्यपि बाहर भी लोकसंग्रह के लिये ,श्रीहिताचार्य महाप्रभु द्वारा की जाती हुई साधना देखी जाती है क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—"कर्म में आसक्त रहने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भेद उत्पादन न करे" और लोक संग्रह को देखते हुए भी कर्म करना ही योग्य है, इत्यादि वचनों के अनुसार तथा सहसा विना परीक्षा किये सबको रहस्य का उपदेश भी कैसे कर दिया जाय,इसलिये भी भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्मों का त्याग नहीं किया जाता तो भी भगवत्प्राप्ति-कराने वाले धर्मों में भी अनन्य रसिक निर्मम रहते हैं—ऐसा आगे कहेंगे । इसलिये जिस वस्तु में पूरी ममता

वक्ष्यमाणत्वाद्यत्र पूर्णममत्त्वेन निजान्तर्मनो लग्नं तत्सजातीयान्सर्वान् श्रावयित्वाह कीदृशस्य मे अतिस्नेहात् च पुनरुच्चैरपि हरिनामानि गृणत इत्यनेन मानसिकवाचिकभावौ श्रीकृष्णे दर्शितौ।

पुनश्च सौगंधाद्यैर्बहुभिरुचारैर्यजत इत्यनेन कायिकधनिकौ दर्शितौ साधनमपि सर्व्वमानंदार्थं करोति तत्र वृन्दावनमनुचरंतं परानंदं दधत इति श्रीकृष्णं वा परानंदरूपं साक्षान्मूर्तिमानेवात्र स चरति तमपि स्नेहाद् हृदि-दधामीति सर्वसाधनफलप्राप्तावपि मम निष्ठां शृणुत राधापदकमल एव मनो नितरां वसत्विति। तदा परमानंदप्राप्त्यंतमपि सर्वसाधनमेव जातं न त्वन्यमनस्त्वे सति नामगृणनमप्यश्रद्धितं कुरुषे तत्राह किञ्चिदपि न्यूनं न कुर्व्वे अतिस्नेहादिति किञ्च कर्मादि तु वेदवर्णाश्रमवाक्यबन्धात् स्नेहं विनापि स्यात् भक्तिस्तुस्नेहमार्गिण्येव ततोऽपि पूर्णस्नेहं विना

रसकलस

के साथ अपना अन्तःकरण संलग्न है उस वस्तु की अपने सजातीय सभी उपासकों को सुनाते हुये कहते हैं (मेरा मन तो श्री राधाजी के चरणरूपी कोमल कमल में ही निवास करे) मैं कैसा हूँ जो अत्यन्त स्नेह से और ऊँचे स्वर से श्री हरि के नामों का उच्चारण भी करता हूँ, इस कथन द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अपने मानसिक और वाचिक भावों का प्रकाशन किया गया। फिर सुगन्धित चन्दन केशर आदि अनेक उपचारो से उनका पूजन भी करता हूँ इस कथन से शरीर और धन से सम्बन्धित भाव भी दिखाये गये अर्थात् अभी साधन भी आनन्द के लिये करते हैं। वहाँ वृन्दावन में विचरते हुए परमानन्द स्वरूप को भी धारण करता हूँ अथवा साक्षात् परमानन्द स्वरूप श्री कृष्ण जो वृन्दावन में विचरते हैं उनको स्नेह से हृदय में धारण करता हूं इस कथन से सब साधनों के फल की प्राप्ति भी हो गयी है यह भी सूचित किया है तो भी मेरी निष्ठा सुनो—मेरा मन तो श्रीराधा के चरण रूपी कोमल कमल में ही एकान्त और अत्यन्त भाव से निवास करे।

इस प्रकार परमानन्द प्राप्ति पर्यन्त सब सिद्धियाँ भी उनके लिये साधन हो गयीं। अतः अन्यमना होकर विना श्रद्धा के श्रीहरि के नामों का उच्चारण करते हो इस शंका को अवकाश नहीं है। अतएव कहते हैं कि श्रीहरि के नामों के उच्चारण में मैं मानसिक या वाचिक कोई न्यूनता नहीं करता इसलिये अति स्नेहात् अर्थात् अत्यन्त स्नेह से यह शब्द कहा है। एक बात और भी है कि वेदों में कहे हुए वर्णाश्रमो सम्बन्धित विधिबाधाओं के बन्धन से भी नैमित्तिक आदि धर्म तो बिना स्नेह के भी किये जा सकते हैं। किन्तु भक्ति तो स्नेह मार्गिणी ही है। उसमें भी पूर्ण स्नेह के विना कुछ कपट ही भासित होता है। पूर्ण स्नेह भी इष्ट के वास्तविक प्रभाव और स्वरूप को जाने बिना

किञ्चित्कापट्यमेवा भासते । पूर्णस्नेहोऽपि यथार्थप्रभावस्वरूपज्ञानं विना न स्यादतो हरिनामानि स्वरूपप्रभावपराकाष्ठाज्ञानाज्जीवैकपरमसाध्यत्वाद-तिस्नेहादिति प्रेमाश्रुगद्गदकण्ठेन स्वहृद्द्रवेणगृणामीति एवमान्तरे सत्यपि बाह्यवर्त्तनं विना न पूर्णाङ्गता तत्राह-उच्चैरपि 'विलज्ज उद्गायति नृत्यते च हतत्रपः पठन्नितिवत् हरेर्मनोहरस्य त्रिविधतापहारिणो वा 'कृष्णस्य' नामानि यानि सहस्रशो वृंदावनमनुचरन्तमिति वक्ष्यमाणत्वात् । तादृशानि श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकुञ्जविहारिमुरलीधर-राधावल्लभेत्यादीनि गृणतः ।

नन्वेवमपि पूर्णानुरागं विना देहधने न लगतस्तत्राह । सौगन्धाद्यै र्बहुभिरुपचारैर्धूपदीपभोगनीराजनवसनभूषणाद्यै रर्चनं कुर्व्वतः ननु परानंदाप्राप्तौ मनस्तोषो न स्यादित्यपि साधनेऽपूर्णता फलान्ता सर्व्वा क्रियेति वचनात् तत्राह यत्र वसामि तद्वृन्दावनमीदृशं यपृष्ठतो

रसकलश

नहीं हो सकता अतः श्री हरि के नामों का उच्चारण उनके स्वरूप और प्रभाव को परा-काष्ठा के ज्ञान से और जीव मात्र के परम साध्य होने के ध्यान से अत्यन्त स्नेह से प्रेमाश्रुओं से गद्‌गद कण्ठ और द्रवित हृदय से करता हूँ यह बात कही गयी है। और इस प्रकार श्री हरि में आन्तरिक भाव होने पर भी बाह्य व्यवहार के विना पूर्णाङ्गता नहीं आ सकती अतः कहते हैं कि ऊँचे स्वर से लज्जा रहित होकर, उन्मत्त होकर नाचता है गाता है इत्यादि कथित प्रकार से हरि के अर्थात् मन को हर लेने वाले के तथा तीनों तापों को दूर कर देने वाले के ऐसे श्री कृष्ण के जो सहस्र नाम हैं उनका उच्चा-रण करता हूँ। यहाँ पर आगे श्री कृष्ण का वृन्दावन में विचरण करते हुए यह एक विशेषण दिया गया है इसलिये यहाँ पर नाम श्री वृन्दावन से सम्बन्धित ही उच्चारण किये जा रहे हैं यह समझना चाहिये। वैसे नाम है श्री व्रजेन्द्र नन्दन कुञ्जबिहारी, मुरली धर, राधा वल्लभ इत्यदि ।

अब यह प्रश्न होता है कि विना पूर्ण अनुराग के इष्ट की सेवा में शरीर और धन भी नहीं लगाए जाते अतः कहते हैं कि सुगन्धित केशर चन्दनादि अनेक उप-चारों से अर्थात् धूप, दीप, भोग, आरती वस्त्र, आभूषण इत्यादि द्वारा मैं उनका पूजन भी करता हूँ। अब शंका होती है कि जब तक किसी साधना आराधना में परम आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक मन को संतोष नहीं होता और तब तक साधना में अपूर्णता भी रहती है क्योंकि सभी क्रियाओं का अन्त फल की प्राप्ति होने पर होता है ऐसा कहा गया है। इस पर कहते हैं कि मैं जहाँ रहता हूँ वह वृन्दावन ऐसा है कि जहाँ रहने वालों के पीछे पीछे परम आनन्द घूमता रहता है जिसका सभी सम्प्रदायों के

गामी परानन्दो यः सामान्यतः सर्व्वमार्गसिद्धांतिनिष्पादितः परमपुरुषार्थ-स्तमपि हृदि दधतः अर्थादेतद्वासपरानन्दचमत्कारं प्राप्तोऽहं यथा पक्षितरु भूमिश्रीयमुनादीनामलौकिकत्व साक्षाद्दर्शनानंदमग्नोऽपि सेवाविस्मृति-भिया तत्पदपद्मवासमेवाशासे इति ।

अन्यथा 'राधाकरावचिते' त्यादि 'किन्न मोन्यत्र कुण्ठीकृतेत्यादि न संपद्यते विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाश इति वत्स्वयमेव हठेन प्रविष्टं नामप्रभावत्वाद्वा अनुचरंतं कृष्णमिति साक्षाद् दृष्टि पथमत्रागतं तदा दृग्द्वारा प्रविष्टं हृदिदधतस्तदपि तं प्रत्यप्येवं याचे त्वत्कृ-पयापि मन्मनो राधा पदकंजे वसतु । अत्रान्येषामनन्वितमिव दृश्यते स यत्स-र्व्वपुरुषार्थशिरोमणिप्राप्तावपि किमतः परं वाञ्छतीति परन्तु श्रीकृष्णहृदयं पश्यतां यथाग्रे वक्ष्यति-'अनुलिख्यानन्तानपि सदयराधान्मधुमतिर्महाप्रेमा-

रसकलश

सिद्धान्तज्ञ व्यक्तियों ने प्रतिपादन किया है और जो परम पुरुषार्थ स्वरूप है उस परम आनन्द को भी मैं हृदय में धारण करता हूँ अर्थात् श्री वृन्दावन वास के परम आनन्द रूपी चमत्कार को भी मैं प्राप्त कर चुका हूँ । जिससे अपेक्षित वृक्ष, भूमि और यमुना आदि की अलौकिकता के साक्षात्कार के आनन्द में मग्न होकर भी कहीं सेवा में विस्मृति न हो जाय इस भय से श्री राधा जी के चरण कमलों में ही निवास की आशा करता हूँ ? अन्यथा श्री राधा के कर कमलों से चुने गये हैं पल्लव जिनके ऐसी लताओं वाले इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट श्री राधा जी के विहार वन में मन के रमाने की कामना और कुण्ठित कर दिये गये अर्थात् मुक्ति प्राप्त जीवों के निवास स्थान भूत वैकुण्ट धाम में भी जब हमारा मन नहीं लगता तब और धर्मों की क्या बात कहें इत्यादि उक्तियाँ संगत नहीं बैठती अतः विवशता से भी नाम लेने पर पाप समूह का नाश करने वाले श्री हरि साक्षात् रूप में जिसके हृदय को नहीं छोड़ते इत्यादि श्री भद्भगवत वचनकेअनुसार स्वयम् ही हठ पूर्वक हृदय में प्रविष्ठ हुए और नाम के प्रभाव से पीछे पीछे चलते हुए अर्थात् साक्षात् दृष्टि पथ में आकर दृष्टि के द्वारा ही हृदय में प्रविष्ट होकर स्थित हुए श्री कृष्ण को धारण करता हुआ भी मैं उनसे भी यही याचना करता हूँ कि तुम्हारी कृपा से मेरा मन श्री राधा के चरणारविन्दों में निवास प्राप्त करे।

यहाँ अन्य भावना रखने वाले भक्तों को कुछ असंगति सी प्रतीत होती है कि समस्त पुरुषार्थों के शिरोमणिभूत श्री कृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर भी उनसे से भी परे यह किस तत्व की अभिलाषा करते हैं। परन्तु श्री कृष्ण के हृदय को देखने वालों की बात ही और है जैसा कि आगे कहेंगे—

विष्टस्तव परमदेयं विमृशति । तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं महिम्नः कः सीमां स्पृशतु तव दास्यैकमनसामिति ।'

अत्र दैहिकावश्यकत्वात् स्वस्यापि भगवद्धर्मसाधनाविरोधितोक्ता किञ्च साधने तु न कापि क्षतिः अथ च स्वाभिलषितसाध्यान्यत्वे व्यभिचारी स्यात् । आंतरेऽर्थेऽपि अतिस्नेहादिति बुद्धिपूर्व्वकं पूर्ण स्नेहो यथा वरसानु सम्बन्धेमदीय राजकुमार्य्या लाडलाया अयं जामाता परमप्राणवल्लभः कोटि प्राणधननीराजितरूपलावण्यः सर्व्वसौभाग्यादिगुणाश्रयः यदा गमनेन श्रीभानुधामसु महोत्सवानंदो वर्द्धते अतोतिस्नेहं कः संशयस्तदा वैवश्येन सर्व्व प्राणजीवातोर्नामान्युच्चैरपि गृणनं स्यात् अन्यच्च परीहासे गालिगानेप्यु-च्चैर्नार्य्योऽसंकोचं कुर्वंतीति हरिशब्दपर्य्यायद्वय निदधिनवनीतहरो

रसकलश

"मधुपति ! (श्री कृष्ण !) सत्पुरुषों के प्रति किये गये अनन्त अपराधों की भी उपेक्षा करके तुम्हारे (श्री राधा के) महाप्रेम में आविष्ट होकर हे श्री राधे ! एक मात्र तुम्हारे ही नाम रूपी अमृत रस का उच्चारण करने वाले के लिये परम दातव्य वस्तुका विचार करने लगते हैं। वास्तव में अनन्य भाव से तुम्हारी दासी होने में जिनका मन संलग्न है उनकी महिमा की सीमा को कौन छू सकता है ।"

इत्यादि श्लोकों में भगवद्धर्मों के देह मात्र के लिये आवश्यक होने से अपना (श्री हित हरिवंश महा प्रभुका) भी भागवत धर्मों की साधना के प्रति विरोध भाव कहा गया है । यद्यपि उनके साधन से कोई क्षति नहीं है तथापि अपने अभीष्ट साध्य से भिन्न होने के कारण अनन्य भाव नहीं रहेगा वह व्यभिचारी हो जायगा ।

आन्तरिक अर्थ में भी 'अत्यन्त स्नेह में भी संगत होता है क्योंकि बरसाना के सम्बन्ध से यह जामाता हमारी राजकुमारी लाड़ली जी के अत्यन्त प्राण वल्लभ हैं । उनके लावण्म पर कोटि कोटि प्राण धन वारे जाते हैं । वे समस्त सौभाग्यादि गुणों के आश्रय हैं जिनके आने पर श्री वृषभानु जी के महलों में सुमहान उत्सवानन्द—की वृद्धि होती है अतः उनके प्रति अति स्नेह में कोई संदेह नहीं है और उस स्नेह की विवशता से सब के जीवन उन श्याम सुन्दर के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण भी होता है। दूसरी बात यह भी है कि जामाता के प्रति हास परिहास में स्त्रियाँ गालियाँ गाने में संकोच नहीं करती अतः हरि शब्द के पर्याय-भूत दही चोर, माखन चोर, मन चोर,

मनोहरोवसनहरःसंदेश हरो वेषहरश्चांचल्ये मंडूकमर्क्कटाद्यपि यथा संभवार्थं योजनीयाः 'अर्वकर्मर्कटमण्डूकविष्णुवासववायवः तुरंगसिंह-शीतांशुयमाश्च हरयो दशेति तदपि नमे मनसो राधापदादन्यत्र गमनं किञ्च तत्पादश्रयानन्द एव पुष्टोऽत्र पुनश्च रङ्गहर्म्यसेवायां बहुसुगन्धताम्बूलानु लेपभोगासवकुसुमासन व्यजनतिलकाक्षताशीर्भिरूपचारैः पूजयतोऽपि अतएव रस राधायामाभजति किल भावं व्रजमणाविति। रतिर्देवादि विषया भाव इत्यभिधीयते। इति जामातुः पूज्यबुद्धित्त्वेन प्रीतिः स्वस्वा-मिन्यनुगामिनीति तादृशसखी जनस्य में उक्तानंद एव पुष्टः।

पुनश्च श्रीवृन्दावनक्रीडायां दम्पत्योरनुचरणे श्रीकृष्णक्रीडायां परमा-नन्दं दधामि, तदपि नम्मनो न लुभ्यतु किञ्च वसत्वपि नितरां तु तत्रैव व सत्वित्यर्थः आशीःप्रेरणयोरर्थमाह अतिस्नेहनामकोर्त्तनसकलोपचार पूजनस्मरणानन्दादिपरमोत्तमधर्मसाध्यपुण्य प्रभावबलेन मन्मुखादप्या-

रसकलश

वस्त्र चोर संदेश हर, वेशहर आदि नाम तो बोले ही जाते हैं उनकी चंचलता के कारण मण्डूक वानर आदि नाम भी यथा सम्भव जोड़ लिये जाते हैं क्योंकि हरि शब्द के "सूर्य, वानर, मण्डूक, विष्णु, इन्द्र, वायु, अश्व, सिंह, चन्द्र और धर्म ये दश अर्थ हैं। तो भी मेरा मन श्री राधा के चरणाविन्द के सिवाय अन्यत्र नहीं जाता क्योंकि उन्हीं के चरणों के आश्रय से ही तो यहाँ यह आनन्द प्राप्त हुआ है। फिर रंग महल की सेवा से सुगंधित इलायची, लवंग, ताम्बूल, चन्दन केशर के लेपन, राजभोज, आसव, पुष्प, आसन, व्यजन, कस्तूरी आदि तिलक अक्षत और आर्शीवाद आदि उपचारों से उनका पूजन करते हुए भी मेरा मन तो श्रीराधा जी के चरण रूपी कोमल कमल में ही लगा रहे यह कामना की गयी है। इसीलिये—

"श्री राधा ने रस को और ब्रजमणि (श्री श्याम सुन्दर) में भाव को प्राप्त करता है इत्यादि श्री मुख वचन हैं। देवादि विषया रति को ही भाव कहा जाता है और जा-माता के प्रति पूज्य भावना से ही प्रीति की जाती है। वह प्रीति अपनी स्वामिनी (श्रीराधा जी) की अनुगामिनी ही होती है अतः उनकी वैसी सखी होने के कारण ही श्यामसुन्दरके नामों का उच्चारण करने और (सुगन्धित) पदार्थो से उनका पूजन करने से मेरे उक्त आनन्द की पुष्टि हुई है। फिर श्री वृन्दावन लीला में प्रिया प्रियतम का अनुसरण करने में भी वही प्रीति है। अब आशीर्वाद और प्रेरणा परक अर्थ कहते हैं। अत्यन्त स्नेह से नाम कीर्त्तन और सभी उपचारों से पूजत तथा स्मरण जनित आनन्द आदि परमश्रेष्ठ धर्म से प्राप्त पुण्यों के प्रभाव से ही सम्भव होते हैं। अतः मैं

शिषै कुर्व्वे वा स्वामिनं प्रार्थनया प्रेरयामि चेति ।

पदपद्म इत्युक्तावपि मार्द्दवं त्वायात्येव तदपि मृदुलेति परममार्द्दवत्वम् अथवा वृन्दावनमनुचरन्तमित्युक्तत्वात्तस्य तु व्रजलीलादौ बहुविपिनविचरणं घटते सामर्थ्यवन्नायकासक्तदास्यनिष्ठादिधर्मवत्त्वात् अस्यास्तु ततोऽपि महामार्द्दवसौकुमार्य्यं ज्ञेयम् यदर्थं किशलयास्तृतमार्गेऽप्युपरिदृगास्तरणं प्रियः करोतीति किं भण्यते ।

ननु परानन्दधारणेऽपि कथं तदनादृतवांस्तत्रैवं ज्ञेयम् कदाचिदेतदानन्दे मज्जेयमपि परन्तु परानन्दस्तु तत्पदरसे निमग्नो दृष्टस्तदा किं कुर्य्यां तदाश्रयं विना न कापि गतिः ।

अन्यच्च सोऽपि तत्पदरसमग्नेषु काकुवाणीं करोति । पद्मवासेति प्रियादपि स्वस्य सखीजनस्य परमनिष्ठोक्ता । किंच वृन्दावनमनुचरन्तमिति तस्य वृन्दावनेश्वरत्वात् भ्रमणबाहुल्यात्स्वस्य केवलप्रियापदकमलैकवासा

रसकुल्या

(श्रीहिताचार्य) अपने मुख से भी आशीर्वाद देता हूँ, तथा स्वामी को प्रार्थना द्वारा प्रेरित करता हूँ ये दोनों भाव सूचित होते हैं ।

यद्यपि पदपद्म कहने से भी चरणों की कोमलता की प्रतीति होती है अथवा वृन्दावन में विचरण करते हुए यह कहने से व्रज लीला आदि में भी अनेक वनों में विचरण करना संगत होता है किन्तु सामर्थ्य शाली नायक की भी आसक्त भाव तथा दास्य भाव में निष्ठा आदि धर्मशीलता के कारण श्री राधा जी में उनसे भी अधिक मार्दव (कोमलता) और सुकुमारता जाननी चाहिये । जिसके लिये कोमल किसलयों से आश्रित मार्ग पर भी जहाँ श्रीराधाचरण कमल रखना चाहती हैं वहाँ प्रियतम अपनी आँखें बिछा देते हैं अतः उनकी सुकुमारता का क्या वर्णन किया जा सकता है ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि परम आनन्द धारण करने पर भी उसका अनादर क्यों किया गया है तो इसका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि कभी मैं इस आनन्द में मग्न हो भी जाऊँ, तो भी परम आनन्द (श्याम सुन्दर) को तो श्रीराधा जी के चरणों (के दास्य) के रस में निमग्न देखा गया है तो मैं क्या करूँ? उनके आश्रय के बिना कोई गति ही नहीं है ।

एक बात और भी है कि वे परमानन्द स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर भी उनके (श्री राधा जी के) चरण रस में निमग्न दासी जनों के प्रति काकु वाणी (अनुनय) विनय पूर्ण वाणी) बोलते हैं । पद्म में वास या निवास का तात्पर्य यह है कि प्रिय की अपेक्षा सखीजन की अपनी परम निष्ठा श्री राधाचरणारविन्द में ही है । वृन्दावन में विचरण करते हुये इस कथन द्वारा श्री श्यामसुन्दर का वन्दावन के अधिपति

शंसनादनन्यमधुकरीत्वं सख्यप्रौढिरपि कृता विज्ञेया ।। ५४ ।।

तदेवं श्रीकृष्णातिस्नेहभजनमारभ्य तत्प्राप्त्यन्तमपि साधनमुक्त्वेदानीं साध्यश्रीराधापददासीत्वप्राप्त्यनन्तरमपि पूर्णस्वेष्टकृपापात्रत्वेऽपि दास्यनिष्ठायां प्रत्यूहानभिभूयमानतापरोक्षां ददत्याह:—

निजप्राणेश्वर्या यदपि दयनीयेयमिति मां
मुहुश्चुम्बत्यालिङ्गति सुरतमाध्व्या मदयति ।
विचित्रां स्नेहर्द्धिं रचयति तथाप्यद्‌भुतगते-
स्तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः ।।५५।।

अन्वयार्थस्तु स्पष्ट एव । विशेषार्थमाह यदपीत्यसंभाव्यं सम्भावयति पूर्वं यद्भजनमुक्तं प्रस्तुतत्वात्स इति वा निजप्राणेश्वरीत्युक्तावेव श्रीकृष्ण एवायाति कर्त्ता निजेति ममत्वाहंकृतिविशिष्टाः

रसकलश

होने के कारण वहाँ भ्रमण करना प्रगट है और अपना अर्थात् श्री हित सखी जी का केवल श्री प्रियाजी के चरण कमलों में निवास करने की अभिलाषा से अनन्य मधुकरी या भ्रमरी होना तथा सख्यभाव की दृढ़ता होना भी जानना चाहिये ।।५४।।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का अतिस्नेह से भजन प्रारम्भ करके उसकी प्राप्ति के बाद भी पूर्णतया अपनी इष्ट (श्री राधा) के कृपा पात्र होने पर भी दास्य भाव की निष्ठा में विघ्नों से अभिभूत न होती हुई मानों श्रीहितसखी परीक्षा देती हुई कहती है–

'यद्यपि यह अपने प्राणों की ईश्वरी (स्वामिनी श्री राधा) की दया पात्र है, यह सोचकर (श्रीश्यामसुन्दर मुझे बारबार चूमते हैं, आलिङ्गन करते हैं और सुरत की माध्वीक (द्राक्षा) या माधुरी से मुझे मद मत्त भी करते हैं, मेरे प्रति विचित्र स्नेह-समृद्धि के अनुकूल व्यवहार करते हैं, तथापि हे श्री राधे ! मेरा मन तो अद्भुत गति वाली तुम्हारे (श्री राधा के) ही श्रीचरणों के रस विलास में संलग्न है ।५५।

'निजप्राणेश्वर्या:' इत्यादि श्लोक का अन्वयार्थ तो स्पष्ट ही है विशेष अर्थ कहते हैं—यदपि या यद्यपि शब्द द्वारा असम्भव वस्तु की सम्भावना करते हैं। पहिले जिनका भजन कहा है प्रस्तुत होने के कारण वे ही इस वाक्य में कर्ता हैं अथवा 'अपने प्राणों की ईश्वरी स्वामिनी) कहने से ही श्रीकृष्ण इस वाक्य के कर्ता के रूप में उपस्थित हो जाते हैं यहाँ निज 'या' अपने शब्द से ममता और अहंकार से विशिष्ट प्राण अर्थात् उनके

प्राणा यावच्चेष्टारूपाः सर्वज्ञानक्रियेच्छाकार्याणि तेषामोश्वरी नियमन कर्त्री यद्वशं वा यदर्थमेव सर्वं चेष्टादिकं प्रियस्येत्यर्थः तत्प्राणवल्लभायाः स्वामिन्याः ईश्वरीत्यनेन सेव्यत्वमासज्यत्वं च तस्यास्तस्य चासक्तत्वं दास्यनिष्ठत्वं चेति ।

तस्या इयं दयनीया नित्यान्तरंगिणी कृपास्पदा तदा ममापि कृपास्पदा किं न स्यादिति नरदेवमिवानुगा इतिवत् स्नेहेन मां तत्प्रसादधारिणीमनन्यमानसां सेवानुरतां प्रसद्य मुहुरिति प्रतिकार्यं सेवाकौशलचमत्कारं दृष्ट्वा चुम्बति वात्सल्यात् मुखेन शब्दमात्रं वा यथा हस्तकौशलं प्रतिप्रसद्य हस्तं चुम्बतीत्यादि अथवा माध्वीति वक्ष्यमाणत्वात् तद्वैवश्यमाध्व्योज्जृंभितमद्वात्सल्येन चुम्बतिमात्रम् अत्यानन्देन मुखतः प्रशंसाकरणसमानापरकार्यं चुम्बनं ज्ञेयं ततोऽप्यालिंगति हृदयानंदाधिक्यवशादालिंगनं मन्मनोहारिहार्द्दानुगतकार्यकारिणी त्वमसीति द्योतनम् । ततोऽपि सुरतमाध्व्येति किमहं

रसकलश

कारण जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सभी ज्ञान, क्रिया और इच्छा के कार्यों की ईश्वरी—नियामिका—अर्थात् जिनके वश में होकर और जिनकी आराधना के लिये ही प्रियतम की सभी चेष्टाएँ हैं। उन प्राण वल्लभ श्री स्वामिनी को 'ईश्वरी' कहने से वाम-भाग में स्थित होना (बाहर से अनुकूल न होना) और आसज्य (प्रीति का विषय) होना तथा श्री श्यामसुन्दर का आसक्त (प्रीति का आश्रय) होना और दास्य भाव की निष्ठा वाला होना सूचित होता है।

उनकी यह दयनीया या दया की पात्र है, नित्य अन्तरङ्ग परिकर है अतः उनकी कृपास्पद हैं अतः मेरी कृपास्पद क्यों न होगी 'राजा को सेवक प्रिय होते हैं, इत्यादि-वाक्यों के अनुसार श्री राधा के प्रसाद भूतदुकूल कञ्चुकपट आदि को धारण करने वाली, अनन्यमन से उन्हीं की बनी हुई, सदा सेवा में तत्पर रहने वाली मुझ को स्नेह के साथ प्रसन्नतापूर्वक बार बार चूमते हैं। यहाँ बार बार से तात्पर्य है कि प्रत्येक सेवा कार्य में कौशल और चमत्कार देखकर जैसे वात्सल्य भाव से मुखचुम्बन का-सा शब्द मात्र किया जाता है, अथवा चुम्बन शब्द का अर्थ मुख चूमना ही नहीं है किसी का कौशल देखकर प्रसन्न होकर हाथ भी चूम लिया जाता है इत्यादि भाव यहाँ समझना चाहिये। अथवा 'माध्वी' या 'माधुरी' आगे कहेंगे ही। उस माध्वी की विवशता के समय मेरे प्रति उमड़ पड़े वात्सल्य भाव से मुझे वे चूम लेते हैं, अत्यन्त आनन्द से मुख द्वारा प्रशंसा करने के समान दूसरा कार्य चुम्बन को जानना चाहिये। फिर आलिङ्गन करते हैं अर्थात् हृदय में आनन्द की अधिकता से विवश होकर आलिङ्गन करते हैं और उसके द्वारा सूचित करते हैं कि तू मेरे मन को हर लेने वाले—मेरे मनोभाव के अनुकूल कार्य करती हैं। फिर सुरत-माध्वी से मुझे मतवाली बना देते हैं, अर्थात् मुझसे पूछते हैं कि मैं तुम्हें

दद्यां येन मम च त्वत्स्वामिन्याश्च विहारानन्दो वर्द्धते अनेनैवोपनेत्रेण सर्वेतरविस्मृतिपूर्वकसुरतविलासवैचित्र्यसूक्ष्मतरविशेषा अपि सुलभाः प्रकाशन्ते तत्स्वेष्टमाध्वीप्रसादपात्रा त्वमसीति किं च मद्दुकूलादिप्रसादं तु त्वं नाङ्गीकरोष्यतोऽस्मद्युगलयोरेवेयमुपभुक्तावशेषा माध्वीत्युक्त्वा पाययित्वा मदयति अनेन विहारावलोकनपरमपात्रासीति द्योतितम् । अन्यदपि विचित्रां स्नेहर्द्धिं रचयति चाटुकाकुप्रशंसादिवाक्यम् । ऋद्धिमिति सेवाश्रांतासीत्युक्तिपूर्वकनिजकरव्यजनताम्बूलादिदानमपि रचयतीत्यनेन कल्पयति कौतुकेनेत्याद्युक्तं प्रियेण तु शुद्धमनसा स्नेहाधिक्यमेव कृतं परन्तु स्त्रीलिंगिनां केवलं कन्दर्पोन्मादवैकल्यकार्य्येव मनःक्षोभकं स्यात् । तथापि हे श्रीराधे मन्मनोनिष्ठां श्रृणु तवैव पदरसविलासे दास्ये मम मन इति ।

ननु तद्रसविलास इति न जाने चुम्बनालिंगनादि किंरसं (को रसो यत्रेति किंरसमिति समासः) भवतीति । किंच त्वदीयतयानेन स्नेहाधिक्यं कृतमित्येव ज्ञातं

रसकलश

क्या दूँ ? जिससे मेरा और तेरी स्वामिनी (श्री राधा) का बिहार आनन्द बढ़े और तुझे इसी उपनेत्र से अन्य सभी बातों की विस्मृति के साथ सुरत विलासों के वैचित्र्य और उनकी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विशेषताएँ भी सुलभ रूप में प्रकाशमान हों। तू अपनी इष्ट स्वामिनी के मधुर प्रसादों की तो पात्र है ही। मेरे दुकूल आदि के प्रसाद को तू स्वीकार नहीं करती, अतः हम दोनोंकी युगल जोड़ी के उपभोग से शेष रही यह माध्वी (मदिरा) है यह कहकर मुझे वह माध्वी पिलाकर मदमत्त कर देते हैं इससे सखी प्रियाप्रियतम के विहार का दर्शन करने की परम अधिकारिणी बना दी गई है यह सूचित होता है। और भी बात है कि विचित्र स्नेह समृद्धि की रचना करते हैं। चाटु (प्रिय) और काकु (दीन) प्रशंसा (स्तुतियुक्त) वाक्यों की समृद्धि की रचना करते हैं, तू सेवा से श्रान्त हो गई है इत्यादि कहने के साथ अपने कर कमलों से व्यजन, ताम्बूल आदि प्रदान भी करते हैं। यहाँ स्नेह समृद्धि की रचना करते हैं इस कथन से कौतूहल पूर्वक कल्पना करते हैं। इत्यादि प्रकार से प्रिय ने शुद्ध मन से स्नेह की अधिकता ही प्रकट की है परन्तु स्त्री स्वरूपों को केवल कामोन्माद से विकल करने वाली सभी बातें मन में क्षोभ उत्पन्न करती हैं। तथापि हे श्री राधे ! मेरे मन की निष्ठा सुनो ! तुम्हारे ही श्री चरणों के रसविलास में—दासी भाव में—मेरा मन है।

अब यहाँ प्रश्न होता है श्रीचरणों के रसविलास का क्या तात्पर्य है और यहाँ पर कहे गये चुम्बन आलिङ्गन आदि किस रस के हैं—किंरस हैं—यहाँ पर, कौन सा रस है जिसमें' उसे किंरस कहा गया है। मैं तो इतना ही जानती हूँ

न विशेष इति। मनोऽनन्यता साधकदशायाम् अस्त्वित्यध्याहारः। सिद्धेऽस्त्व-स्तीति ज्ञेयम्। अत्र तद्दास्यापेक्षया गोपीष्वपि कटाक्षस्तास्तु दर्शनमात्रेण मुग्धाः कामिनीभावमापन्नाः 'सुरतनाथ ते शुल्कदासिका' इति 'सुरतवर्द्धन' मिति 'का स्त्र्यंग ते कलपदामृतवेणुगीतसंमोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलो-क्याम्। त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्य बि'भ्र'न्नित्यादि। अभिलाषेण वदन्त्यो यदा च प्रसन्नप्रियकृतविलासास्तदा तु किं भण्यते तन्मनः क्षोभयति मादृशीतु स्वामिनीपददास्यप्रभावाद्धक्ति तादृश-कोटिकन्दर्पलावण्यप्राणनाथकृतचुम्बनादावपि न गोप्य इव कामिनीभावं प्राप्नोमीति अतएवोक्तं हस्तामले श्रीदामोदर गोस्वामिभिः—

प्रेमा गरिष्ठो व्रजसुन्दरीणां गिरींद्रवत्कृष्णरतात्मनां हि
स कृष्णरत्यास्पददास्यनिष्ठः समुद्रवद् भाति सखीगणस्येति ?

रसकलश

कि तुम्हारी दासी होने के सम्बन्ध से ही श्री श्यामसुन्दर ने मेरे प्रति इतना अधिक स्नेह किया है इसके सिवाय मैं कुछ नहीं जान सकी। इस प्रकार अनन्यसाधकता की अवस्था में मेरा मन तुम्हारे ही श्री चरणों के रस विलास में हो, इस वाक्य में 'हो' या 'अस्तु' का अध्याहार कर लेना चाहिये और सिद्ध अवस्था की स्थिति में 'मेरा मन तुम्हारे श्री चरणों के रसविलास में है' इस वाक्य में 'है' या हो का अध्याहार कर लेना चाहिये। यहाँ पर दास्य भाव की अपेक्षा से गोपियों पर भी कटाक्ष किया गया है, वे तो श्याम सुन्दर के दर्शन मात्र से ही मुग्ध या मोहित होकर कामिनी भाव को प्राप्त हो गई' और हे सुरत नाथ! हम तेरी क्रीतदासी हैं। तथा 'सुरत को बढ़ाने वाला' और 'हे महाशय, तीनों लोकों में कौन सी स्त्री तुम्हारे पदामृत वाले वेणुगीत से मोहित होकर आर्य जनोचित चरित्र से विचलित नहीं हो जाती,' तुम्हारे तीनों लोकों में अति सुन्दर इस रूप को देखकर पक्षियों और मृगों ने भी पुलक रोमाञ्च प्राप्त किया। इत्यादि वचन अभिलाषा वश बोलने लगीं,' और जब प्रसन्न होकर प्रिय कोई विलास करेंगे तब तो क्या कहा जा सकता है कि उनका मन कितना क्षुब्ध हो जाएगा। किन्तु मेरे जसी तो श्री स्वामिनी के चरणों के दासी भाव के प्रभाव से उन कोटि कन्दर्पों के लावण्य से परिपूर्ण प्राणनाथ के द्वारा चुम्बन आदि करने पर भी गोपियों के समान कामिनी भाव को प्राप्त नहीं होती। इसीलिये हस्तामलक में श्री दामोदर गोस्वामी जी ने कहा है कि—

श्री कृष्ण में संलग्न मन वाली व्रजसुन्दरियों का प्रेम गिरिराज के समान महान् या महत्तम है। सखी गणका वही प्रेम श्री कृष्ण प्रीति के आधारभूत दास्य भाव की निष्ठा वाला होकर समुद्र के समान अगाध प्रतीत होता है।'

अत्रालिंगनाद्यपि यदपीति शब्देनाभूतोपमानवज्ज्ञेयं किं च श्रीकृष्णो यथा भावांगीकृतिकारी प्रभुर्भावविपरीतं फलं न क्वापि ददात्यतः स्वस्वामिन्यभिमुखे तत्पूर्णकृपास्पदतोज्जृम्भितस्वनिष्ठोदधितरंगेषु बहुलेष्वपि नेदृशेन तरंगेणापि संभावयति कदाचिदेवमपि स्यात्तथापि न मन्मनश्चलतीति दास्यरसावेशेनेत्थमपि मिथो रहः संकथयति। किंचैकांतकुंजे रहः संगमबाहुल्यात्प्रसादशीलकोटिकंदर्प्पलावण्यप्रियसकाशादपि प्राणेश्वरीत्वादनन्यज्ञातप्रियहृदयया विश्रब्धया प्रियया परीक्षार्थमनुक्तापि स्वयमेव कादाचित्कोक्तचुंबनादौ दृष्टे श्रुते च संभ्रमः स्यादित्यतः समक्षं दिव्यवत् परीक्षयतीति।

यद्वा प्राणेश्वरीति प्राणनियंत्रीत्वोक्तौ प्रियतमसकाशात्तयैव परीक्षा कारितेति तज्ज्ञाने एव जातेयं तदपि साधु कनकं निकषोपले परीक्षयेदिति च। ननु प्रियासमक्षं तु चुंबनादि न स्यात्तदा कुत्र कृतमित्यपेक्षायामेवं ज्ञेयं प्रियामा-

रसकलश

यहाँ पर आलिङ्गन आदि भी यदपि या यद्यपि शब्द द्वारा अभूत उपमा के समान गाया जा रहा है। और भी एक बात है कि श्री कृष्ण तो भाव के अनुसार ही भक्तों को अङ्गीकार कर लेने वाले प्रभु हैं, वे भाव से विपरीत फल कभी भी कहीं भी नहीं देते। अपनी स्वामिनी के सामने उनकी पूर्ण कृपापात्रभूता के कारण उमड़ पड़ी अपनी निष्ठा के समुद्र की बहुत सी तरंगों में से भी एक ऐसी तरंग से सम्भावना करते हैं कि कभी ऐसा भी हो तो भी मेरा मन विचलित नहीं होगा। दास्यरस के आवेश से इस प्रकार भी एकान्त में संलाप करते हैं। किसी एकान्त कुञ्ज में एकान्त संगम की बहुलता के कारण प्रसन्न हो जाने वाले कोटि कन्दर्पों के समान लावण्य से युक्त, प्रिय के पास से भी प्राणेश्वरी होने के कारण अनन्यभाव से जिसने प्रियतम के हृदय की बात जान ली है अतएव जो सदा आश्वस्त हैं उन प्रिया जी के द्वारा परीक्षा के लिये न कहने पर भी स्वयम् ही किसी समय उक्त चुम्बनादि के देखने सुनने पर सम्भ्रम होगा इस विचार से प्रत्यक्ष रूप से दिव्य (अग्नि आदि द्वारा ली जाने वाली परीक्षा के समान) परीक्षा देतीं हैं। अथवा प्राणेश्वरी शब्द से श्रीराधा प्राणों की नियामिका कही गयी हैं अतः उन्होंने ही प्रियतम के द्वारा मेरी परीक्षा करायी और प्रकारान्तर से ज्ञात हो जाने पर भी शुद्ध स्वर्ण की भी कसौटी पर परीक्षा कर ही लेनी चाहिये इस नीति का पालन किया। अब यहाँ प्रश्न होता है कि प्रिया जी के सामने तो ये चुम्बन आलिंगन आदि नहीं हो सकते तब ये कहाँ किये गये। इसके उत्तर में जानना चाहिये कि प्रियतम प्रिया जी से आज्ञा लेकर हित सखी के साथ कुञ्ज सजाने के लिये

मन्त्र्य सख्या सह कुञ्जरचनार्थं गतः प्रियस्तत्र सेवाकौशलदयास्पदतादिना प्रसन्नस्तत्कृतवांस्तत्र कर्त्तृत्वं तु तस्यैव न ममेच्छया मदयतीत्यनेन स मदयत्यपि नाहं माद्यामीत्यर्थः। किञ्च मादनं तु तयोरेवार्हं दास्या स्तुत त्सहायीकरणे निर्मदस्थास्नुतैवार्हायथा 'विहारनि दास सहाइक सोफी कुञ्ज महल में डेरा' इति।

स्नेहर्द्धमिति तल्परचनायां मावस्थाप्य स्वयं किशलयावचयार्थं गतो मच्छ्रमभिया पुनश्च त्वं श्रांतासीति पीतपटेन व्यजयतीत्यहं तु बहुशो वारयंती किमशीलं श्रीमतो न मन्यसे चेत्स्वामिनीं कथयिष्ये इत्याद्युक्तेऽपि प्रेमनिधिस्त्वत्प्रियो मच्छुश्रूषणमेव वात्सल्याच्चिकीर्षतीति किं वच्मि।

यद्वा स्वामिनीसमीपेऽपि वात्सल्यस्नेहकरणे प्रियस्य न संकोच इति तदपि तव पदयो रसः सेवास्वादो येन बलेन तादृशप्रियप्रेमादरो दुर्ल्लभोऽपि नाद्रियते। अहो तस्य विलासे विलसने वा तल्लीलाकौतुकविस्तारे एव मन्मन इति। तत्कौतुकाद्यग्रे वक्ष्यत्येव तेनोभयविषयिककौतुकानंदेयमिति।

रसकलश

गये। वहाँ सेवा के कौशल और दयापात्रता आदि से प्रसन्न होकर उन्होंने चुम्बन आलिंगनादि किये। ये सब करने में भी उन (श्री श्याम सुन्दर) का ही कर्तृत्व था मेरी इच्छा नहीं थी अतएव वे मुझे मतवाली बनाते हैं मैं मतवाली नहीं बनती यह अर्थ मदयति (मतवाली बनाते हैं) इस क्रिया पद द्वारा सूचित किया गया। एक बात और है कि मदमत्त होना तो उन दोनों के ही योग्य है दासियाँ तो उनकी सहायक हैं अतः उन्हें मदहीन होकर ही रहना उचित है जैसा कि "बिहारिन दास सहाइक सोफी कुंज-महल में डेरा" इत्यादि में कहा गया है।

स्नेहर्धि या स्नेह समृद्धि का तात्पर्य है कि मुझे सजे सजाये शयन पर स्थापित करके मेरे श्रम के भय से स्वयम् किसलय (नवीन पत्र) चुनने चले गये फिर तू थक गयी है यह कह कर पीताम्बर से मुझे पंखा झलने लगे। मैं बार-बार उन्हें रोकती रही और कहती रही कि श्रीमान का यह कैसा शील है। यदि आप नहीं मानेंगे तो मैं स्वामिनी को कह दूँगी, इत्यादि कहने पर भी प्रेम के सागर तुम्हारे प्रियतम वात्सल्य से मेरी सेवा ही करने की इच्छा करते हैं। इसके लिये मैं क्या कहूँ। अथवा स्वामिनी के समीप भी वात्सल्य स्नेह करने में प्रिय को संकोच नहीं होता ये सब बातें हैं तो भी तुम्हारे चरणों का रस अर्थात् सेवा का स्वाद जिसके बल से वैसे प्रियतम के दुर्लभ प्रेम और आदर का भी मैं आदर नहीं करती उसके विलास अर्थात् लीला कौतुक विस्तार में ही मेरा मन है। उन कौतुकादियों को आगे कहेंगे ही कि दोनों के ही कौतुकों से इसे (श्री हित सखी को) आनन्द होता है। यहाँ पर एव यह अवधारण

अत्र एवेत्यवधारणे यत्र त्वत्सम्बन्धस्तद्विलास एव नतु प्रियस्यैव केवल-विलास इति।

अथवा आनंदानुभवेऽपि न मदानंदे मनोऽस्तु यदहं कीदृशानंदमनुभवामि मत्समा न काप्यस्तीति किञ्चानयोरेवंशीलमेव किं चित्रं मम तु दास्यमेव कार्य्यम् आनन्दमग्नत्वे दास्यधर्मे किंचिदन्तत्तरायः स्यादिति अत एवाद्भुतगतेरिति यस्य कान्तस्य गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैरिति, ललितगतिविलासवल्गुहासेत्यादि प्रभावेणान्ये गोप्यादयो मोहिता आसक्ता जाताः स च श्रीमती गतिनीराजितप्राणधना दृश्यते अतोऽद्भुतत्वेकः संदेहो यद्गत्याश्रयपादसेवाबलेन मन्मथमोहनादपि वयं न मोहमेष्याम इति।

अथवा ख्याततादृशनिरंकुशैश्वर्य्योऽपि प्रियः पतिर्यद्दास्यकामुक आस्ते सर्व्वविलक्षणत्वादद्भुतगतित्वं तदास्मद्दास्याधिकारप्रभाव एवोत्कृष्ट इति भावः ॥५५॥

रसकलश

अर्थ में कहा गया है। इसका उत्तर कि जहाँ पर तुम्हारा सम्बन्ध है उसी विलास में मेरा मन है प्रिय केवल विलास में नहीं अथवा—आनन्द का अनुभव होने पर भी अपने आनन्द में मेरा मन न हो कि मैं कैसा आनन्द अनुभव कररही हूँ मेरे समान दूसरी कोई नहीं हैं इसी प्रकार प्रिया प्रियतम का त यह स्वभाव है इसमें क्या आश्चर्य है ! मुझे तो दासता (सेवा) ही करनी चाहिये। क्यों कि आनन्द में मग्न हो जाने पर दास्य धर्म में कुछ वाधा होगी इसीलिये यहाँ प्रियाजी का अद्भुगतेः" "अद्भु त गति वाली के" यह विशेषण लगाया गया है—अर्थात् जिस श्याम सुन्दर के गमन, अनुराग, स्मित, कटाक्षों से मनोरम आलाप बिहार और विभ्रमों से श्रीमद्भगवत में कहे गये 'ललितशत विलास वल्गुहास" आदि के प्रभाव से अन्य गोपो आदि भक्त मोहित होकर उनके प्रति आसक्त हो गये वे श्याम सुन्दर श्रीराधा जी की गति पर अपना जीवन धन अर्पण करते हुए देखे जाते हैं अतः श्रीराधा जी की गति के अद्भुत होने में क्या संदेह है। उस अद्भु त गति के आश्रय भूत चरणों की सेवा के बल से हो हम मन्मथ को भी मोहित करने वाले उन मोहन से मोह प्राप्त नहीं करतीं अथवा जिसका वैसा निरंकुश ऐश्वर्य विख्यात है वह प्रियतम श्याम सुन्दर पति होकर भी जिन श्री राधा जी के दास्य की कामना करते हैं उन श्री राधा जी का सबसे विलक्षण होने के कारण अद्भु त गति होना स्वयम् स्पष्ट है अतः हमारे दासी भाव के अधिकार का प्रभाव सबसे बढ़कर है यह तात्पर्य निकलता है ॥५५॥

तदेवं पदरसविलासविषयिकमनोभिलाषोक्तिकरणमात्रप्रियाप्रसादप्राप्ततादृशविविधसर्वविलासभावस्फूर्तिर्हितालो जाता । तत्र विलासद्वयं नित्यो नैमित्तिकश्च नित्यः श्रीवृन्दावने क्रीडत्सखीगणमध्ये नित्यकैशोरं द्वन्द्वमेव सदा स्थितं तत्र स्वस्य नित्यांगसंगिनीत्वमुक्तमेव । नैमित्तिको लोकप्रकटलीलाविशेषो जन्मबालकौमारपौगंडकैशोरादिक्रमोदितसाम्बन्धिकरसमयो विविधभावुकतत्तदानंदवैचित्र्यदानार्थक इति तत्र निजस्वामिन्यनुगतरसानुकूलसर्वलीलालोभेनाह । अत्र प्राकट्येऽपि नित्यांगसंगिनी तत्तत्साम्बन्धिकमाधुर्यसुखमनुभवामि तत्रापि बाल्यादारभ्य तत्तत्क्रीडादिविलास उभयोर्मद्धस्तेनैव मया कारित इति स्वसाचिव्यमाह यद्वा तत्रैव रंगहर्म्यस्थिता विचारं करोति दयनीयेति विचित्रां स्नेहर्द्धिमित्युभयपूर्णकृपास्पदता या दुर्लभप्राप्तेरपि न मे चित्रमिति किंच ययोराबाल्यसंगिनी

रसकलश

इस प्रकार श्रीराधा जी के श्रीचरणों के दास्य रस के कौतुकविस्तार के विषय में मन की अभिलाषा के कहने मात्र से प्रियाजी की कृपा से उस प्रकार के विविधतापूर्ण सभी विलासों की स्फूर्ति श्रीहितसखी जी को प्राप्त हो गयी । वे विलास दो प्रकार के हैं—नित्य और नैमित्तिक उनमें से नित्य विलास श्रीवृन्दावन में सखीगण के मध्य में क्रीड़ा करते हुए नित्य किशोरयुगल में रहता है वहाँ श्रीहितसखी जी को श्रीराधा जी का नित्य अंगसंगिनी कहा ही गया है । नैमित्तिक विलास लोक में प्रकट भाव से की गयी विशेष लीलायें हैं श्याम के जन्म, बचपन कुमार, पोगण्ड और किशोरादि अवस्थाओं के क्रम से उदित हुए अनेक सम्बन्धियों के रस से पूर्ण अनेक प्रकार के भावुकों को वैसे विचित्र आनन्द देने के लिये होती हैं । इन दोनों विलासों में से अपनी स्वामिनी से अनुगत रस के अनुकूल सब लीलाओं के लोभ से कहते हैं । नैमित्तिक या प्रगट लीला में भी नित्य अंगसंगिनी होकर मैं उन सम्बन्धों के माधुर्य सुख का अनुभव करती हूँ । वहाँ भी बचपन से लेकर उन उन क्रीड़ा आदियों का विलास, श्यामा-श्याम दोनों का अपने हाथ से ही मैंने कराया है । इस रूप में अपना साचिव्य सखीभाव सूचित करते हैं । अथवा रंग महल में बैठी हुई श्रीहितसखी विचार करती हैं । दयनीया कहने से वे श्रीराधा जी की और विचित्र स्नेह समृद्धि कहने मे वे श्याम सुन्दर की पूर्ण कृपा की पात्र हैं, अतः सोचती हैं कि मुझे यह अलभ्य लाभ हुआ है तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि मैं इन दोनों की बाल्य अवस्था से संगिनी हूँ कुमारावस्था में मैंने इनका विवाहोत्सव भी करा दिया था इसलिये इस पर मैं क्या आश्चर्य करूँ ?

कौमारविवाहोत्सवमहं कृतवती तदा किं चित्रं कुर्य्याम् प्रेममूर्त्योः प्रेम शीलमेव मम तु तयोरुपलालनमेव कार्यमिति स्ववात्सल्यमाह—

प्रीतिं कामपि नाममात्रजनितप्रोद्दामरोमोद्गमां
राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्जलाम् ।
वृन्दारण्यनवप्रसूननिचयानानीय कुंजांतरे
गूढैःशैशवखेलनैर्बतकदा कार्य्यो विवाहोत्सवः ।५६।

बतेत्यामन्त्रणे खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बतेत्यमरः अत्र पद्ये श्रोतृवक्तृसम्बन्धस्तु किंचिन्नास्तीत्यतः पूर्वमुक्तं त्वत्पदरसविलासे मम मन इत्युक्तमेव । मनो लग्नम् तदा मन एव सम्बोध्याह राधा-माधवयोः शैशवखेलनैर्विवाहोत्सवः कदा कार्य इति मयेत्यध्याहारः प्रस्तु-तत्वात् कदा विवाहोत्सवं कुर्यामित्यर्थः ।

दम्पत्योः सतोरपि विवाहकारणमाह । कीदृशयोः कौमार एवोज्ज्वलां

रसकलश

इन दोनों प्रेम मूर्त्तियों का प्रेम स्वभाव ही है और मेरा तो उन दोनों का लालन करना ही काम है अतः श्रीहितसखी युगल (प्रिया प्रियतम) के प्रति अपने वात्सल्य का वर्णन करती हैं—

"अहो ! कुमारावस्था में ही परस्पर नाम श्रवण मात्र से ही जिसमें रोमाञ्च हो आया है ऐसी उज्ज्वल (शृङ्गारमयी) प्रीति को सदा ही प्राप्त हो रहे श्रीराधा और श्रीमाधव का विवाहोत्सव वृन्दावन के नवीन पुष्प समूह लाकर कुञ्ज के अन्दर गूढ़ बालक्रीड़ाओं द्वारा कब किया जायगा ।।५६।।"

'बत' यह शब्द यहाँ आमन्त्रण अर्थ में है । अमर कोष के अनुसार बत शब्द खेद, दया, सन्तोष, आश्चर्य और आमन्त्रण अर्थ में प्रयोग किया जाता है । इस पद्य में वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध तो कुछ नहीं हैं अतः पूर्व पद्य में कहे गये 'तुम्हारे (श्री राधा के) श्रीचरणों के दास्यरस के कौतुक में मेरा मन हो' इस के अनुसार उनके दास्य रस में मन लग गया, तब मन को ही सम्बोधन करके कहते हैं कि 'श्री राधा- माधव का विवाहोत्सव बाल्यावस्था की क्रीडाओं में कब किया जाएगा । यहाँ पर 'मया' या 'मेरे द्वारा' शब्द का अध्याहार किया जाता है । क्यों कि वही कर्ता यहाँ प्रस्तुत है । अर्थात् मैं उनका विवाहोत्सव (व्याहुला) कब रचाऊँगी ।

यद्यपि श्रीराधा—माधव दम्पती हैं तो भी उनका विवाहोत्सव रचाने का कारण कहते हैं—वे श्रीराधा माधव कैसे हैं ? कुमारावस्था में ही किसी उज्ज्वल प्रीति को सदा

कामपि प्रीतिं सदैव भजतोः कौमारेऽतिमुग्धत्व एवोज्ज्वलां तदाग्रे वृद्धौ किं भण्यत इति उज्ज्वलेति अहैतुकीं किञ्चानभिज्ञैः कैशोरागमप्रीतौ मदनसम्बन्धहेतुरपि कदाचिज्ज्ञायेत अत उच्यते शुद्धां, किञ्च कौमारे तु कोऽपि एवारभ्य तत्रोज्जलत्वमकृत्रिमत्वं नतु कव्युक्तपूर्वानुरागक्रमजन्यत्वं प्रीतेः सम्बन्धो नास्तीत्यत आदितः अत एव नाममात्रेणैव अर्थात्समागमादौ तु किं भण्यते इति जनित उत्पादितः प्रोद्दामः अत्युत्कटः कंपवैवर्ण्याश्रुस्तंभादिसहितो रोम्णामुद्गमो ययेति ।

मम तु तदानंदवर्द्धनसमागमकरणमेव कार्यं यदा भानुगृहे नंदनंदनरूपलावण्यलालनकौतुकादि कीर्त्तिसमीपे निवेदयामि तदा तन्नामश्रुत्यैव राधायाः प्रोद्दामरोमोद्गमः अथ च श्रीराधारूपलावण्यच्छविकौतुकादिवार्त्तां तत्र यशोदापार्श्वे कुर्व्वे तदा श्रुतमात्रेणैव कृष्णस्य रोमोद्गम इत्यतो ममात्यानंदोज्जृंभ इति राधामाधवेतिनाम्नी यदृच्छातस्तत्पितृगुरुभिर्लालने दत्ते इति प्रसिद्धे जाते नात्र माया धव इत्यर्थनिरुक्तिः संशयितव्या मया

रसकलश

ही प्राप्त हो रहे हैं। यहाँ पर कुमारावस्था से तात्पर्य है कि भोलेपन में ही उज्ज्वल प्रीति है तो आगे बढ़ने पर तो न जाने क्या होगा ? उज्ज्वल प्रीति का तात्पर्य है बिना कारण की प्रीति । अनभिज्ञ लोग तो किशोरावस्था के आने पर होने वाली प्रीति में कुछ कामसम्बन्ध को भी कारण जान सकते हैं, अतः यहाँ कहते हैं कि कुमारावस्था में तो वैसा भी कोई सम्बन्ध नहीं है इसीलिये यहाँ आदि से आरम्भ ही उज्ज्वल या अकृत्रिम प्रीति से हुआ है न कि कविजनों द्वारा कहे गये पूर्व राग आदि के क्रम से यहाँ जन्य (उत्पन्न होने वाली) प्रीति है, इसलिये परस्पर नाम मात्र के श्रवण से ही यह प्रीति प्राप्त हो गई है तब परस्पर समागम होने पर तो इसकी अपारता का क्या कहना ? कैसी प्रीति है ? जिसने अत्युत्कट कम्प, विवर्णता, अश्रुपात, स्तब्धता आदि सात्त्विकभावों के साथ रोमाञ्च उत्पन्न कर दिया है।

मेरा तो काम ही है कि मैं उनके आनन्द को बढ़ाने वाला उनका मिलन कराऊँ)। जब मैं श्रीवृषभानु जी के महलों में कीर्तिदा के पास श्रीनन्दनन्दन (श्यामसुन्दर) के रूप, लावण्य, लालन और कौतुक आदि का वर्णन करती हूँ। तब श्यामसुन्दर का नाम सुनते ही श्रीराधा के श्रीविग्रह में अत्युत्कट रोमाञ्च हो आता है और जब श्रीराधा के रूप लावण्य, छटा, कौतुक आदि की बात उधर यशोदा जी के पास कहती हूँ तब उसे सुनते ही श्रीकृष्ण को वैसा ही अतिउद्दाम रोमाञ्च हो आता है। इससे मुझे अत्यन्त आनन्द का उल्लास प्राप्त होता है । राधा और माधव यह दोनों नाम यदृच्छा शब्द की भाँति उनके माता-पिता गुरुजनों ने लालन (लाड प्यार) में रख दिये हैं इसीलिये प्रसिद्ध हो गए हैं। यहाँ पर माधव मे 'मा' का

तु रोमोद्गमेनैव तन्नाम सार्थकोकृतं या वा राधयतीत्यनेन प्रियविषयिकाया प्रीत्या राधेति उद्गतनवपल्लवत्वाद्वसन्त इवार्थत्वान्माधव इति एवं विविध भावोदंतैर्मिथः अत्युत्कंठोद्गमेनातिवैकल्यशैशवनिर्बन्धेन नित्यमेव संगिनौ क्रीडंतौ जातौ, उभयपितृमातृभिरपि हितां पूर्णविश्रंभणीयां स्निग्धां मां ज्ञात्वा मद्धस्ते एव न्यस्तौ तदाहं कुंजांतरे गोप्ये क्रीडार्थं नीत्वा वृन्दारण्यतव प्रसूनवृन्दानानीय गूढैरिति प्रसिद्धं तु शैशवखेलनैरहन्तु मन्मनःसाक्षिकैरुभय संगमश्रृङ्गारभावान्वितैरिति विवाहोत्सवं कदा कुर्यामिति भजतोरिति प्रीतिदेवतामेवाराधयतोरिति पूर्णोपासनानिष्ठोक्ता यथा 'यःपंचहायन' इति वदाबाल्यसेवनम् ।

तत्सेवाप्रभावजातानुभावमाह नाममात्रेति यथा बाल्ये गुरुजनकन्यां तृतीयागौरीसंध्यापूजनादिव्रतानि सौभाग्यार्थं कारयति सापि बाल्यकौतुके

रसकलश

'धव' (पति) ऐसे विग्रह या निर्वचन का सन्देह नहीं करना चाहिये। मैंने तो रोमोद्गम के द्वारा ही उन नामों को सार्थक कर लिया है। 'जो प्रिय का आराधन करती है' इत्यादि श्लोक मै प्रिय विषयक प्रीति से राधा यह नाम सार्थक हो गया और जैसे नवीन पल्लवों का उद्गम हो जाने से वसन्त नाम सार्थक हो जाता है वैसे ही रोमोद्गम से माधव नाम भी सार्थक हो गया। इस प्रकार के अनेक भावमय वृत्तान्तों द्वारा परस्पर अत्यन्त उत्कण्ठा का उद्गम हो आने से अत्यन्त विकलता (बेचैनी) और शैशव के आग्रह से दोनों नित्यसङ्गी और क्रीडा परायण हो गये। दोनों परिवारों के माता पिता द्वारा 'हिता' नाम से पुकारी गई मुझे पूर्ण विश्वासपात्री और स्नेहमयी जानकर उन्होंने मेरे हाथ में ही उनको धरोहर की भाँति सौंप दिया। तब मैं किसी गोपनीय कुंज में क्रीडा के लिये उन दोनों को ले गयो और सोचा कि वृन्दावन के नवीन पुष्प समूहों को लाकर प्रकट में बाल क्रीडा द्वारा और गूढ़ या रहस्य रूप में मेरे मन के साक्षी राधा माधव के संगम रूप श्रृंगार भाव के अनुकूल क्रीडाओं द्वारा उनका विवाहोत्सव में कब करूंगी। यहाँ प्रीति भजतोः का यह भी भाव है कि वे दोनों प्रीति या प्रेम को देवता के समान आराधना करते हैं। इसके द्वारा उनकी पूर्ण उपासना में निष्ठा बतायी गयी है जैसे यः पञ्चहायनो वालः इत्यादि वचनों में वाल अवस्था से ही उनकी प्रीतिनिष्ठा श्री मद्भागवतादि में वर्णित है। 'जो पाँच वर्ष का बालक' इत्यादि के समान प्रीति का सेवन भी प्रारम्भ है।

उसी प्रीति की सेवा के प्रभाव से उत्पन्न अनुभाव या सात्विक भाव का वर्णन करते हैं कि नाममात्र से ही जिस प्रीति ने अत्युत्कट रोमांच उत्पन्न कर दिया है जैसे बचपन में माता पिता कन्या से ततीया गौरी का सन्ध्या के समय पूजनादि और व्रतादि

करोति तद्वदत्र तु वैलक्षण्यम् उभावपि मिथः सौभाग्यार्थं भजतोरिति तत्प्रीतिदेवताराधनमेव सदैवेति नित्यनियमो न तु कदाचिदिति इष्टे प्रसन्ने पुष्पमालापत्राणि सेवायां मनोरथविज्ञप्तिमात्र एव पतन्ति वा स्वप्नादौ वा साक्षाद्दैवकृतचमत्काराणि भवन्ति तदा सेवासिद्धिर्ज्ञायेत तद्वत्प्रीतिदेवताराधनानुभावो रोमोद्गमः, अर्थादवश्यं विवाहसंगमसौभाग्यमचिरात्सेत्स्यतीति शकुनम् ।

अथवा नाममात्रेण कर्त्रा जनितो रोमोद्गमो यस्यामिति सदा सेवनातिवशीभूतां प्रसन्नामिति सेवकोत्कर्षो यद्वा राधामाधवसेवकनामश्रुत्यैव तस्या अपि रोमोद्गम इति प्रीतिदेवस्य शीलमेवमेवार्हमिति परस्परानन्दो ध्वनितः । ममापि सैवेष्टा तदा तत्प्रेरणयेव तस्या एव देवतायाः क्षेत्रं वृन्दारण्यं तस्य नवानि प्रसूनानि तत्क्षेत्रमपि ज्ञात्वा तादृशं रोमांचितं जातं

रसकलश

सौभाग्य के लिए कराते हैं और वह भी बचपन के कुतूहल में यह व्रत पूजन कर लेती है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। अन्तर इतना है कि यहां दोनों ही परस्पर सौभाग्य की प्राप्ति के लिए प्रीति का भजन करते हैं—उस प्रीति रूपी देवता की आराधना ही इनका नित्य नियम है किसी विशेष दिन या तिथि का नहीं है। इष्ट के प्रसन्न होने पर सेवा के समय मूर्ति के पुष्पमाला या पत्रादि मनोरथ की सिद्धि की सूचना देने के लिए खिसक पड़ते या गिर पड़ते हैं। कभी कभी स्वप्नादि में और कभी कभी साक्षात् भी दैवकृत चमत्कार होते हैं। तब समझा जाता है कि सेवा सिद्धि हो गयी। इसी प्रकार प्रीति देवता की आराधना का अनुभाव या सात्विक भाव रोमाञ्च है जो सूचित करता है कि इन दोनों का शीघ्र ही और अवश्य ही विवाह संगम का सौभाग्य सिद्ध होगा।

अथवा नाम मात्र को यहाँ कर्ता समझना चाहिये और उसके द्वारा जनित हुआ है अति उत्कट रोमाञ्च जिसमें यह प्रीति का विशेषण जानना चाहिये। वह प्रीति नित्य सेवा से वश में हो गयी है प्रसन्न हो गयी है तब भी राधामाधव उसका भजन करते रहते हैं यह भक्त या सेवक का उत्कर्ष है। अथवा राधा माधव नाम के अपने भक्त या सेवक युगल का नाम सुनने से प्रीति देवता को भी अतिउत्कट रोमाञ्च हो आता है—यह भी अन्वय हो सकता है। यह प्रीति देवता का उचित शील ही है। इस प्रकार उपास्य उपासक मे परस्पर आनन्द ध्वनित होता है। मेरी भी वही प्रीति देवता इष्ट है। उसी की प्रेरणा से उसी देवता के क्षेत्र श्रीवृन्दावन के नये पुष्पों के समूहों को भी यह समझना चाहिए कि वृन्दावन भी रोमाञ्चित हो गया है क्योंकि वह राधा माधव के सुख से सुखी होने वाला है।

तत्सुखसुखित्वात्तदा नवप्रसूनत्वं रोमांच एव निचयानिति मालाहार कंकणकेयूरकिंकिणीशेखरापीडतल्पादितत्तद्विवाहविलासौपयिकनिर्माणाशया - त्समूहेऽपि बहुत्वम् कुन्जान्तर इति अप्रसिद्धे वा निभृते तद्देवता- सान्निध्यमन्दिरे इति ।

खेलनैरिति अहो श्यामेति लाडले इति सम्बोध्य अन्धानिलयन- पत्रपतंगोड्डयनादिक्रीडनैः क्रियमाणैरप्यलं पश्यतं विवाहे किं सुखम् कौतुकं च स्यादित्युत्साहयित्वा तदभिलषितेनैव मंगलकंकणदेवपूजना- दारभ्य तैलोद्वर्त्तनमदयन्तिकाकरपदचित्रशृंगारकुसुमभूषणशेखराणि निर्म्मा- याहमेव मंगलं गायामि वा तादृशसहृदयसखीभिर्मिलित्वेति ततो रक्त- कुसुमचयमेवाग्निं कृत्वा उभयोर्हस्तं गृहीत्वा प्रदक्षिणभ्रमणं वामदक्षिण- क्रमेण शिक्षयित्वा कारयामि ततो वेदोक्तदम्पतिवाक्यनियमं प्रेम्णा कारयित्वा प्रीतिदेवतामेव साक्षिणीं कृत्वा रचितकिशलयतल्पे आरोहयामि

रसकशल

वृन्दावन के रोमाञ्च भूत नवीन पुष्पों के समूहों को उनके ही माला,हार, कङ्कण,केयूर, किङ्कणी शेखर, मुकुट और शय्या आदि विवाह विलास के लिये उपयुक्त वस्तुओं के निर्माण के आशय से लाकर विवाहोत्सव किया जायगा । यहां पर निचय या समूह में भी बहुवचन का प्रयोग इसीलिये किया गया है । यहाँ कुन्जान्तर शब्द से अप्रसिद्ध था एकान्त अथवा जो कुन्ज प्रीतिदेवता के सान्निध्य से उसका मन्दिर अर्थात् प्रेम मन्दिर बना हुआ है उसमें यह विवाहोत्सव किया जायगा ।

'शैशव खेलनैः' बचपन की क्रीड़ाओं द्वारा करने का तात्पर्य यह है कि हे श्यामा ! हे लाड़ली ! इत्यादि सम्बोधन करके लुकना-छिपना पत्तों और पक्षियों को उड़ाना आदि की जाने वाली क्रीड़ाओं को जाने दो और देखो कि विवाह के खेल में कितना सुख और कौतुक होता है इन शब्दों द्वारा उन्हें उत्साहित करके उनकी इच्छा के अनुसार ही मंगल-कङ्कण और देव पूजन आदि से आरम्भ करके तेल, उवटन और मेंहदी करकमलों व चरण-कमलों से में चित्र रचना से पुष्पों के भूषण और शेखर आदि धारण कराकर मैं ही मंगलगीत गाती हूँ अथवा अपनी सजातीय सहृदय सखियों के साथ मिलकर मंगलगान करती हूँ फिर लाल रंग के पुष्पों के समूह को ही अग्नि बनाकर परस्पर दोनों के हाथ पकड़ाकर वाम दक्षिण क्रम से बैठना सिखाकर प्रदक्षिणा कराती हूँ—फिर वेदों में कहे गये वर वधू के वाक्यों के नियम प्रेम से कराकर प्रीति देवता को ही साक्षी करके रचे गए किसलयों (नव पल्लवों) के तल्प या शयन पर उन्हें बैठाती हूँ । उस आनन्द का मेरा हृदय ही साक्षी है । ऐसा अवसर कब होगा यह कहते समय अनि-

तदानन्दस्य मद्धृदयमेव साक्षिकमिति कदैवं भवितेत्युच्यमानसमयेऽनिर्वचनीयप्रेमोज्जृम्भो वक्तुर्हृदि ज्ञेय एवं प्रकटलीलायामपि स्वसाचिव्यमुक्तम्।

अथवा कौमार इति श्लेषः कौ पृथ्वीलोके प्राकट्येऽपि मारे काम एवोज्ज्वलाम्। अन्यथा कामसम्बन्धोपाधित्वादुज्ज्वलत्वनाशः। किंच ननु साधु लोकवल्लीलत्वे तु कामोपाधौ न कापि क्षतिरित्यपि न वाच्यम् अत्राप्येनां शुद्धामेव जानीहि अतो महानुभावोक्तदम्पतिसुरतलीला न लोकप्रतीत्यर्हा ज्ञेया पृथ्वीशब्देन सम्बन्धसुखं द्योतितं यद्वा उज्ज्वलां श्रृंगारविशिष्टान्तद्रसस्थायिनीं रतिं प्रीतिमित्यपि अत एवाग्रे वक्ष्यति 'अकस्मात्कौमारे-प्रकटनवकैशोरविभवौ प्रपश्यन्पूर्णः स्यां रहसि परिहासादिनिरता' विति अत-एवमत्रेंगितज्ञया किमियत्यपि शीघ्रतेत्यादि परिहस्य विवाहोत्सवः कार्य इति।

रसकलश

र्वचनीय प्रेम का उल्लास वक्ता के हृदय में समझना चाहिए। इस प्रकार प्रगट लीला में भी अपना साचिव्य या सखीभाव कहा है।

अथवा 'कौ' और 'मारः' ये दो पृथक् पृथक् शब्द हैं जिनका अर्थ है पृथ्वी लोक में अर्थात् प्रगट लीला में मार या काम में ही उज्ज्वल प्रीति की उपासना कर रहे हैं अन्यथा काम सम्बन्ध को उपाधि रूप में स्वीकार करने पर प्रीति की उज्ज्वलता नष्ट हो जायगी। एक बात और भी है यहाँ कोई कह सकता है कि जब लीला लोकवत् है तब काम की उपाधि होने पर भी कोई दोष नहीं किन्तु ऐसा कहना नहीं चाहिये। इसी लिये तो प्रकट लीला को भी शुद्ध ही जाना जाता है और इसीलिये रसिक महानुभावों द्वारा कही गयी प्रिया प्रियतम की सुरत लीला को भी दर्शन और प्रतीति योग्य कहा गया है। पृथ्वी लोक इस शब्द द्वारा सम्बन्ध सुख प्रगट किया गया है। अथवा शृङ्गार शुचि और उज्ज्वल ये तीनों शृङ्गार के नाम हैं। अतः उज्ज्वल प्रीतिभाव का अर्थ शृङ्गार विशिष्ट अथवा शृङ्गार रस में स्थायी भाव के रूप में रहने वाली प्रीति समझना चाहिये। अर्थात् कुमारावस्था में भी नित्य किशोरावस्था का स्वभाव होने के कारण यह उज्ज्वल प्रीति रतिमयी है तभी तो आगे भी कहेंगे—"अकस्मात् कुमारावस्था में ही प्रकट हो गया है नवीन किशोरावस्था रूपी वैभव जिनमें, परिहासादि विलासों में संलग्न, प्रिया प्रियतम का दर्शन करके मैं पूर्ण या कृतार्थ हो जाऊँगी" इत्यादि। इसीलिये तो प्रिया प्रियतम के इङ्गितों की जानने वाली 'मैं क्यों कुमारावस्था में ही विवाह के लिये इतनी शीघ्रता है' यह कह कर परिहास करके उनका विवाहोत्सव करूँगी।

किञ्चवागबन्धस्तु कीर्तियशोदयोर्जात एव भानुनन्दयोः प्रसिद्धसम्बन्धे विवाहोऽपि भविष्यति परन्तु मद्धस्तानन्दन्तु प्रथमत एवाहं करिष्ये इति दम्पत्योरपि विलक्षणानन्दः सेत्स्यतीति आन्तरोऽर्थोऽपेऽक्ष्यते चेत्तत्राह-कुञ्जांतर इति कस्मिन्कुञ्जे कौमारलीलानुगतौ दृश्येते यत्र गतयोर्दंपत्योस्तादृश्येव लीला स्फुरेत्पर्यवसानं तु एकस्मात्कुञ्जादन्यः कुञ्ज इति कुञ्जान्तरं तत्र श्रीवृन्दावने भिन्नभिन्नसमयलीलार्होद्दीपनोपयिकचमत्कारविशिष्टाः कुञ्जाः सर्वत्र श्रृंगाररसस्त्वत्राधिष्ठातैव परन्तु सर्वेषां नित्यधर्म्मी कैशोर-श्रृंगार एव ज्ञेयः, ततः कौमारस्फूर्त्तवैवोज्ज्वलां श्रृंगारमयीमिति कीदृशीं नाममात्रेत्युक्तामेव अथवा विविधलीलानामानि ।

किञ्च विलासिनान्तु कौतुकखेलन मेवप्रीतिविषयं यदा मया पूर्वन्तु निलयनहिन्दोलकृत्रिमपुत्तलिकादिशैशवखेलनानि ऽक्त्वा स्मारयित्वा

रसकलश

एक बात यह भी है कि वाग्बन्ध या वाग्दान को कीर्त्तिदा और यशोदा के बीच में ही हो गया है तथा वृषभानु और नन्द जी को भी उसका पता है अतः विवाह होगा परन्तु अपने हाथ से विवाह का आनन्द तो मैं पहले ही कर लूंगी । ऐसा करने से राधा-माधव तथा वधू और वर को भी विलक्षण आनन्द प्राप्त होगा । यदि यहाँ आन्तरिक अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं कि कुञ्जान्तर में, किस कुञ्ज में वे कौमार लीला के अनुगत दिखाई देते हैं ? जिसमें जाने पर प्रिया प्रियतम दोनों में वैसी ही लीला स्फुरित होती है । एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज को कुञ्जान्तर कहते हैं—श्री वृन्दावन में भिन्न भिन्न समय की लीला के योग्य उद्दीपन के लिए उपयुक्त चमत्कार से विशिष्ट कुञ्ज हैं । सभी कुञ्जों में श्रृंगार रस तो यहाँ अधिष्ठाता ही है किन्तु किशोर युगल से ही सम्बद्ध उस श्रृंगार को नित्य धर्मी जानना चाहिये । इसीलिये कुमारावस्था की स्फूर्ति होते ही राधा-माधव उज्ज्वल अर्थात् श्रृंगारमयी प्रीति को प्राप्त हो जाते हैं । वह प्रीति कैसी है जो परस्पर नाम मात्र के श्रवण से ही अत्युत्कट रोमाञ्च को उत्पन्न कर देती है । यहाँ नाम मात्र से विविध लीलाओं के नाम भी लिये जा सकते हैं ।

एक बात और भी है कि विलासियों को तो कौतुक क्रीड़ाओं में ही प्रीति होती है । जब मैंने पहले लुकना-छिपना, झूलना और गुड़िया आदि बचपन के अनेक खेल कह कहकर और याद करा कराकर खिला दिये तब कुमारावस्था में ही विवाह का खेल हो सकता है यह भी कहा तब तो अपने अभीष्ट खेल के नाम से ही मेरे द्वारा या

रमयितानि । अथ कौमारे विवाहोऽर्ह इत्युक्तं तदा तु स्वाभिलषितनाममात्रेणैव जनितो मया वा प्रीत्या रोमोद्गमस्तामुज्ज्वलरसमयीं तु सदैव भजतोस्तदा वर्त्तमानैः प्रस्तुतैः शैशवखेलनैस्तु गूढैर्गुप्तैरित्यस्मदिच्छानुसारेणैवांतर्हितैरित्यर्थ इति हेतौ तृतीया तद्धेतुना बतेति हर्षे सर्वेष्टत्वात्‌ विवाहोत्सवः कदा कार्यः स्यादिति कौमारलीला कुञ्जशीलनार्था।

अथवा शैशवखेलनैरिति यदा कौमारलीला प्रकृतावुदिता तदा वसनपुत्तलिकाविवाहे आरब्धे कौतुकं नाममात्रेत्यादि तु पूर्ववत्‌ यदा प्रियया पुत्तलिका स्त्री गृहीता प्रियेण पुमानिति भाषायां गुढोगुढा वा, गुड़रीगुडरेति अत एवापभ्रंशो गूढैरिति संकेतो ज्ञेयः तदा प्रियेण अहो स्वित्साधु वार्त्ता स्मृतिमागतेति प्रांजलीभूयोक्तं गूढीं तु मह्यं देहीति तदा प्रिययोक्तं को हेतुरियन्तु मत्प्रेमपात्री मद्योग्यैव, तुभ्यं न दास्ये तदा तेनोक्तं कन्यासम्बन्धेन दैन्यं स्यान्मम त्वद्दैन्यमसह्यम्, अतोऽहमेव दीनो भवामीति ममैवैतदानं-

रसकलस

प्रीति द्वारा जिसमें रोमांच उत्पन्न कर दिया गया है ऐसी उज्ज्वल रसमयी प्रीति जिसे वे सदा ही धारण किये रहती हैं उस समय वर्तमान और प्रस्तुत बचपन की क्रीड़ाओं से वह विशेष रूप में उमड़ उठी। यहां बचपन की क्रीड़ाओं के लिये गूढ़ विशेषण दिया गया है अर्थात्‌ वे क्रीड़ायें गुप्त थी। मेरी और युगल सरकार की इच्छा के अनुसार ही छिपी हुई थीं। इन क्रीड़ाओं द्वारा ही वह उज्ज्वल प्रीति उमड़ पड़ी है अतः यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। 'बत' शब्द हर्ष का वाचक है। राधा-माधव का विवाहोत्सव सभी को इष्ट है अतः वह उत्सव मेरे द्वारा कब किया जायगा। यहाँ पर कौमारलीला कुञ्जविशेष के सेवन के लिये भी हो सकती है। अथवा बचपन की क्रीड़ाओं द्वारा कहने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जब प्रकृति में कौमारलीला का उदय हुआ तब गुड़ियाओं का विवाह आरम्भ किया गया। यहाँ नाम मात्र का सम्बन्ध गुड़िया के खेलके साथ होगा। जब श्रीराधा ने गुड़िया हाथ में ली और माधव ने गुड्डा हाथ में लिया तो अपभ्रंश भाषा में प्रसिद्ध गूढ़ा-गूढ़ी का ही यहाँ एक शेष करके 'गूढैः' यह संकेत दिया गया है। तब प्रिय ने हाथ जोड़कर कहा—अहो! मुझे बहुत अच्छी बात याद आ गयी। यह गूढ़ी मुझे दे दो। तब प्रिया ने कहा क्यों तुम्हें क्यों दे दू ? यह तो मेरी प्रेमपात्र है, मेरे ही योग्य है तुम्हें नहीं दूँगी। तब प्रिय ने कहा—कन्या वालों को दीनता धारण करनी पड़ती है। मैं तुम्हारी दीनता सहन नहीं कर सकता! अतः मैं ही दीन हो जाऊँ। दीनता का आनन्द मेरे ही योग्य है यह सुनकर प्रिया जी

दार्हतेति श्रुत्वा बतेत्यनुकम्पार्थे प्रियानुकम्पिनी जाताहमपि तदनुकम्पिता प्रेमविह्वला विवाहं कारितवती सहभोजनदैन्यविज्ञप्त्यादिहास्यादितत्तदनुकरणानन्दः स्वविवाहादप्यधिको जात इति विस्तरभिया नोक्तः सहृदयज्ञेय एव महानुभावैरुक्तैव लोलेति ज्ञेया। गूढैरिति बहुत्वं पुत्तलिकादिदासीदानाद्यपेक्षया। अथवा कौतुकेन गूढविवाहासन्तुष्टया मयोक्तं यथा भवद्भ्यां गूढविवाहप्रयोगित्वं कृतं तथैव गूढैरपि युवयोर्वैवाहिकमस्मत्सहायेन सम्पादनीयं स्यात्तदा पश्यतं कीदृगानन्दो भवतोरप्यस्माकन्तु किमुच्यते गूढविवाहोऽपि बालैः पूर्वं स्वशिक्षणार्थमेव क्रियते साध्वेवमपि पूर्वशिक्षानुसारेणाद्यैव क्रियतामिति तच्छ्रुत्वा ताभ्यां तैर्गूढैः खेलनैः सहायजनैरिव सह विवाहोत्सवः संमत्यारब्धस्तदा एव तयो राधामाधवयोर्विवाहः कदा कार्यः स्यादित्याभ्यन्तरोऽर्थस्तत्र विवाहनाममात्रजातरोमांचता कौमारकुञ्जशीलता चोक्ता कौमारकुञ्जेऽप्युज्ज्वलरसपर्यवसानता प्रीतिरुक्ता ॥५६॥

रसकलश

के मन में दया आ गयी। यह 'बत' शब्द अनुकम्पार्थक होने से इस दया को भी सूचित करता है। तब मैं (हित सखी) ने भी दयार्द्र और प्रेमविकल होकर उस गूढ़ी का श्याम के गूढ़े से विवाह करा दिया तब सहभोजन, दीनता प्रकाश आदि तथा हास परिहास आदि विवाह की सभी बातों का अनुकरण करने से इतना आनन्द हुआ जो अपने विवाह से भी अधिक था। यहाँ विस्तार के भय से उसका वर्णन नहीं किया गया। सहृदय उसे जान ही सकते हैं। रसिक महानुभावों ने यह लीला वर्णन की है अतः जान लेनी चाहिये। यहाँ गूढ़ी और गूढ़ा एक ही एक होते तो गूढ़ाभ्याम्' प्रयोग किया जता। किन्तु'गूढ़ैः' इस बहुवचन के प्रयोग से अनेक गुड्डे गुड्डियाँ प्रतीत होती हैं जो दास-दासी के रूप में साथ में दा गयी हैं। अथवा कौतुक में गूढ़ी व गूढ़ के विवाह से असंतुष्ट हुई मैंने (हित सखी) कहा जैसे तुम दोनों ने इन गूढ़ी और गूढ़ के विवाह का प्रयोग किया है वैसे ही ये गूढ़ और गूढ़ियाँ हमारी सहायता से तुम दोनों का भी विवाह करेंगे तब देखना तुम दोनों को कितना आनन्द आता है। और हमारे आनन्द का तो कहना ही क्या। यह गूढ़ और गूढ़ी का विवाह बालक अपनी शिक्षा के लिये ही करते है। वैसे ही उस पूर्व शिक्षा के अनुसार तुम दोनों भी आज ही विवाह कर लो मेरी यह बात सुनकर उन दोनों ने उन गूढ़ गूढ़ियों के खिलौनों को ही सहायक जन बनाकर सम्मति पूर्वक विवाहोत्सव आरम्भ कर दिया। इसी बात को कहते हैं कि उन राधा माधव का विवाहोत्सव मेरे द्वारा कब किया जायगा, एक आन्तरिक अर्थ यह भी है। यहाँ विवाह के नाम से ही रोमाञ्च का हो आना और कुमारावस्था में भी कुञ्ज निकुञ्जों का परिशीलन करना भी कहा गया है तथा कौमारकुञ्ज में भी प्रीति का उज्ज्वल रस में पर्यवसान होना भी बताया गया है ॥५६॥

तदेवं नैमित्तिकनित्यार्थद्वयमुक्तं तत्राद्ये नैमित्तिके श्रृंगारपर्यवसितकौमारविलासस्मरणमुक्त्वा प्रकृतं कैशोरमाह । द्वितीये नित्ये कौमारकुंजविलासमुक्त्वा वसन्तकुञ्जे विदग्धकिशोरविलासमाहेति । अथवा प्रकटनवकैशोरविभवाविति रीतिरपि संगच्छते तत्र विवाहं कृत्वा कुञ्जे क्रीडन्तौ न्यस्य सेवान्तरव्यापृताऽऽह । तदा तौ यमुनातटेऽकस्माद् गायमानौ किशोरौ लब्धाविति विस्मयार्थं चाह—

विपञ्चितसुपञ्चमं रुचिरवेणुना गायता,
प्रियेण सह वीणया मधुरगानविद्यानिधिः ।
करीन्द्रवनसंमिलन्मदकरिण्युदारक्रमा,
कदा नु वृषभानुजा मिलतु भानुजारोधसि ॥५७॥

गानं विवाहान्तरं प्रसद्य पंचमेन वसन्तेन वृन्दावनप्रशंसारूपं यदेवं त्वयैवावयोरानन्दः सम्पन्न इति । नु इति पृच्छायाम् । स्वयमेव स्वमनः पृच्छतीति वा विकल्पेऽर्थे । कदा विवाहोत्सवकर्त्री

रसकलश

इस प्रकार नैमित्तिक और नित्य दोनों अर्थ कहे गये । उनमें प्रथम नैमित्तिक में श्रृंगार में परिणत होने वाले कुमारावस्था के विलासों का स्मरण करके प्रस्तुत किशोरावस्था का प्रसंग कहते हैं । दूसरे नित्य अर्थ में कुमारावस्था में ही कुञ्जविलास का वर्णन करके वसन्तकुञ्ज में चतुर किशोरी किशोर के विलास का वर्णन करते हैं । अथवा अकस्मात् कुमारावस्था में ही नवीन कैशोर विभव प्रगट हो आया है । यह कथन भी यहाँ संगत होता है । यहाँ विवाह करके कुञ्ज में क्रीड़ा करते हैं—यह बात स्वयं अन्य सेवा में संलग्न रहती हुई कहती हैं । पहले यमुना तट पर अकस्मात् गीत गाते हुए नवल किशोर और नवल किशोरी मिले थे । इस विस्मय के अर्थ को कहते हैं—

'जिससे मनोहर पञ्चम स्वर का विस्तार हो इस प्रकार गीत गाते हुए सुन्दर वंशी वाले प्रियतम के साथ वीणा द्वारा मधुर गान विद्या की निधिभूता, मत्तगज से वन में मिलती हुई मदमत्त करिणी के समान उदार गति वाली श्रीवृषभानुजा (श्रीराधा) मुझे भानुजा (यमुना) के तट पर कब मिलेंगी ॥५७॥'

यह गान विवाह के अनन्तर प्रसन्न होकर पंचम या वसन्त राग से श्रीवृन्दावन की प्रशंसा के रूप में है कि इस प्रकार तेरे द्वारा ही हम दोनों का यह विवाहानन्द

कदा गायमानचछविद्रष्ट्रीत्यर्थः । वृषभानुजा प्रियेण सह वीणयोपलक्षिता सती भानुजारोधसि कदा मिलतु । अत्रार्थद्वयं भासते, सा प्रियेण सह मां कदा मिलत्विति मुख्योऽर्थः । द्वितीयः पृथक्-पृथक् कुञ्जादागमनसङ्केतार्थेन सा तेन सह कदा मिलत्विति । तदा अहमेवं कदा पश्येयमिति भावः । कीदृशेन प्रियेण विपञ्चितो विशेषेण विस्तारितः सुष्ठु पञ्चमः स्वरो वा रागो यत्र क्रियायां यथा वसन्तोद्बोधकः वसन्तः कामोद्बोधकः कामोऽभिलाष इति पर्यायभेदः । युगलस्व भावध्रुवताययां 'कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहि' रिति प्रियाया स्तादा सातदभिलाषेण गायतीति पञ्चमार स्यत्तथा । रुचिरेण वेणुना गायतापञ्चमोभ हार्दम् । अ तो विशेषेणेति इति तानबा हुल्यमूर्च्छनादिभिः, कारुण्यमादकतोद्दीप्तस्वरान्तैर्येन प्रिया हृद्द्रवः स्यादिति । अतएव रुचिमुत्कटाभिलाषं रातीति तादृशेन वेणुना ।

अथवा दीप्त्यर्थे वेणौ स्वरूपचमत्कारो मण्यादिखचितत्वेन वादनगुणोऽपि तादृश एव प्रियांगुलिरूपच्छविलावण्यवैशिष्टयञ्च तादृगेव मोहना-

रसकलश

सम्पन्न हुआ है । 'नु' यह प्रश्नार्थक है स्वयं ही अपने मन से पूछती हैं । अथवा 'नु' विकल्प अर्थ में है कभी विवाहोत्सव करने वाली और कभी गीत गाते हुए युगल का दर्शन करने वाली होना चाहती हैं यह अर्थ हैं । वृषभानुजा (श्री राधा) प्रियतम के साथ वीणा से उपलक्षित होकर भानुजा (श्री यमुना) के तट पर कब मिलेंगी । यहाँ दो अर्थ प्रतीत होते हैं वे प्रियतम के साथ मुझे कब मिलेंगी यह मुख्य अर्थ है । दूसरा अर्थ है कि पृथक् पृथक् कुञ्जों से आगमन के संकेत के अर्थ में वे (श्री राधा) उन (प्रियतम) से कब मिलेंगी । तब मैं इस रूप में कब देखूँगी यह तात्पर्य है । कैसे प्रियतम से ? विशेष रूप से विस्तरित किया गया है पंचम स्वर या पंचम राग जिस क्रिया में, ऐसा जिससे हो वैसे, रुचिर वेणु या वंशी से गाते हुए । यहाँ पर पंचम बसन्त का बोधक है और वसन्त का बोधक है तथा काम अभिलाषा का बोधक है क्योंकि वह उसका पर्याय या समानार्थक शब्द है । युगल स्वभाव की ध्रुवता में 'एक कन्दर्प से चंचल हैं यह प्रिय का स्वभाव है और दूसरे बाहर अनुकूल नहीं है यह प्रिया जी का स्वभाव है, तब वे उस अभिलाषा से गाते है यह पंचम स्वर से प्रारम्भ करने का तात्पर्य है । इसीलिये विशेष रूप से संपूर्ण अभिलाषा के साथ विस्तारित किया गया है का तात्पर्य है कि तानकी अधिकता वाली कारुण्य और मादकता से उद्दीपित हुए हैं स्वरान्त जिनमें ऐसी मूर्च्छना आदियों से । जिससे प्रिया जी का हृदय द्रवित (दयार्द्र) हो जाए । इसीलिये 'रुचिर' का अर्थ होगा 'रुचि' उत्कट अभिलाषा को 'र' देने वाली ऐसी वंशी से । अथवा रुचिर का अर्थ यदि चमकती हुई किया जाए तो वंशी में स्वरूप का चमत्कार मणि आदि जडित होने से आ गया है । फिर बजाने का गुण भी तो रुचिर है, प्रियतम की अंगुलियों के रूप, छवि और

कर्षणादिधर्मंसनामानि वेणोः स्पष्टान्येवेति तेन गायता । अत्राभिलाषोद्बोधकपद्यं तद्गेयं स्मर्त्तव्यं यथैवात्रत्यं पद्यद्वयम्—

प्रेयःसंगसुधासदानुभविनी भूयो भवद्भाविनी,
लीलापंचमरागिणी रतिकलाभंगीशतोद्भाविनी ।
कारुण्यद्रवभाविनी कटितटे काञ्चीकलाराविणी,
श्रीराधैव गतिर्ममास्तु पदयोः प्रेमामृतस्राविणी ॥
कोटीन्दुच्छविहासिनी नवसुधासंभारसंभाषिणी,
वक्षोजद्वितयेन हेमकलशश्रीगर्वनिर्वासिनी ।
चित्रग्रामनिवासिना नवनवप्रेमोत्सवोल्लासिनी,
बृन्दारण्यविलासिनी किमु रहो भूयान्ममोल्लासिनी ॥२॥

इत्याद्यभिलाषदिग्देशो ज्ञेयः, तच्छ्रुत्वाऽमोघतया वा तच्छ्रुत्युद्दीप्तदयादानवीरत्वेन स्वयमपि वीणा गृहीता मधुमतीति पूर्व्वमुक्तैव । "जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै" इत्यान्तरोऽर्थो द्योत्यते । बहिस्तु गान-

रसकलश

लावण्य से विशिष्ट होने के कारण भी वह रुचिर है। ऐसे ही मोहन आकर्षण आदि धर्मों के कारण समान नाम वेणु या वंशी के भी स्पष्ट ही हैं। उसके द्वारा गाते हुये प्रियतम के साथ मुझे श्रीराधा यमुना तट पर कब मिलेगी।

यहां पर अभिलाषा के उद्बोधक या उद्दीपक पद्य उनके (श्याम सुन्दर) के द्वारा गाये जा रहे हैं ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि यहाँ (स्तोत्र) के ही दो पद्य हैं—

'प्रियतम के संग सुधा (अमृत) का सदा अनुभव करने वाली, पुनः पुनः हो रहा है भावोद्रेक जिनको ऐसी, लीला पूर्वक पञ्चम राग (वसन्त राग) गाने वाली और प्रीति कला के अनुकूल शतशत भाव भङ्गियों को प्रकट करने वाली, करुणा के कारण द्रुति को प्राप्त करने वाली, कटितट में धारण की हुई कांची या मेखला के मनोहर आराव या ध्वनि वाली, चरणों से प्रेम रूपी अमृत को बहाने वाली श्रीराधा ही मेरी गति (शरण) हो।' और

'कोटि कोटि चन्द्रों की छवि के समान मञ्जु हास वाली, नवीन अमृतसम्भार के समान सम्भाषण या वार्तालाप करने वाली, स्तनद्वय से सुवर्ण कलशों के शोभा के गर्व को निर्वासित करने वाली, चित्रग्राम में निवास करने वाली, नवीन नवीनतर प्रेमोत्सवों का उल्लास करने वाली श्रीवृन्दावन विलासिनी (श्रीराधा) क्या एकान्त में मुझे उल्लास देने वाली होंगी।'

इत्यादि अभिलाषाओं का दिङ्मात्र निर्देश जानना चाहिये। इन्हें सुनकर व्यर्थ न जाने देने के कारण अथवा इनके श्रवण से उद्दीपित हुई दया से दान वीरता के कारण स्वयं भी (श्रीराधा जो ने) वीणा धारण कर ली जैसा कि 'मधुमती' नाम भी उस वीणा का पहिले कहा ही गया है और गानें लगीं—'जोई जोई प्यारो करे सोई मोहि

संघर्षेण वीणा गृहीता यन्मधुरगानविद्यानिधिरिति विद्यावत्त्वेन संघर्षः स्यादेव तदा मधुमत्यां मधुरत्वमेतादङ्मूर्छितं येन प्रियोऽपि मत्तो भवेत् । अत एव मधु मद्यं मादकतां रातीति किञ्च वेणुस्तु रुचिदः, इयं मत्ततादायिनी तन्मनोरथं पूरयंतीत्यर्थः ।

गानविद्येति यथा शब्दशास्त्रोद्बोधकं व्याकरणं तथा गानविद्योद्बोधिकेयं वीणा यस्यां सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा एकविंशतिमूर्छनाः, प्रत्येकस्वरं सप्तकोटिसंख्यया एकोनपंचाशत्कोटितानानि, गानविद्या निधीयतेऽस्यामिति, तदाश्रयत्वमुक्तं,अथवा गानविद्यायां निधिर्गुप्तं चिन्तामण्यादाविव धनं तद्वदानंदरूपेण तत्र स्वयमेव स्थितेत्यर्थः, वा वीणयोपलक्षितेति ।

अत्र गायतेति प्रियस्यैव गानमुक्तं न च गायन्तीति । किञ्च प्रियस्तु वेणावपि मुखेन गायति, इयन्तु करेण वीणया तदीयवेणुस्वरं मेलयन्ती,

रसकलश

भावै । इत्यादि अन्तरङ्ग अर्थ यहाँ प्रतीत होता है बाहर तो गान संघर्ष से वीणा हाथों में ली क्योंकि वे (श्रीराधा) तो 'मधुर गान विद्या की सागर ही हैं', विद्यावती होने के कारण संगीत विद्या में भी संघर्ष होना स्वाभाविक ही है । तब 'मधुमती' (श्रीराधा जी की वीणा) में ऐसा माधुर्य मूच्छित या उल्लसित हुआ जिससे प्रियतम भी मदमत्त हो जाएं । इसीलिये तो मधु-मद्य या मादकता—को ला देने वाली वीणा का नाम मधुमती रखा गया है । और फिर वंशी तो 'रुचि' अभिरुचि को ला देने वाली है ही अतएव वह भी मदमत्त कर देने वाली है, उनके मनोरथों को पूर्ण कर रही है यह भाव है । यहाँ गान विद्या शब्द में जैसे शब्द शास्त्र का उद्बोधक व्याकरण शास्त्र है वैसे ही गान विद्या की उद्बोधक यह वीणा है । जिसमें सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएँ फिर प्रत्येक स्वर में सप्त कोटि संख्या द्वारा उनचास कोटि तानें उन सबकी प्रकाशिका वीणा है इसलिये वीणा द्वारा मधुर गान की विद्या की निधि श्रीराधा है । गान विद्या इनमें निहित होती है अतएव उस मधुर गान विद्या का आश्रय श्रीराधा जी को कहा गया है । अथवा गान विद्या की निधि अर्थात् चिन्तामणि आदि के रूप में गुप्त धन जैसे निहित होता है वैसे ही आनन्द रूप से श्रीराधा में स्वयम् स्थित है ।

अथवा वीणया से तृतीया उपलक्षण अर्थ में है अतः वैसी वीणा से युक्त श्री राधा हैं यह तात्पर्य है । यहाँ पर 'गायता' अर्थात् गाते हुए इस शब्द द्वारा प्रियतम का ही गाना कहा गया है श्रीराधा जी का नहीं । क्योंकि प्रियतम वंशी में भी मुख से गाते हैं श्रीराधा तो हाथ से वीणा द्वारा उनके वंशी के स्वरों से मेलन या सम्वाद करती है । इसीलिये उन्हें मधुर गानविद्या की गुप्त निधि कहा गया है क्योंकि वंशी में भी

अतएव मधुरेति वेणावव्यस्या माधुर्य्यं मिलितं प्रियगानसाहाय्यं कृतमिति। अतो विपञ्ची वीणार्थस्तेन विपञ्चीविमिश्रितः सुष्ठु पंचमो यत्रेति। एवं गानस्वरं मधुरयंत्या भानुजातटविलासदिदृक्षया प्रियेण सह गच्छंत्यास्तादात्विकगमनशोभादर्शनीयतामाह, करींद्रेति। करोति हस्तेन किञ्चित्क्रियावत्त्वं, इन्द्रेति स्रवन्मदशोभनीयत्वं कामासक्तत्वं प्रसिद्धमेवास्यवने तिस्वातंत्र्यं निरंकुशत्वम् औत्पत्तिकविश्रंभरण यस्थानेनीमनःप्रसादवत्त्वं, इन्द्रेत्यनेन तादृश वनस्यानन्यस्वामित्वेन रहस्यं, तत्र संमिलन्ती समिति स्वाभिलाषेण तदभिलाषपूरणार्थमपि चेति। अतएव सापि मदेत्यर्शाद्यच् मदवतो करिणो अत्रापि क्रियावत्त्वं वीणावादनव्यापारो वा करयोः सकौतुकाश्लेषस्तदा वीणामहं धृतवतीति। करो करिण्यपि मदेन शुण्डया कौतुकस्पर्शं कुर्व्वन्तौ गच्छतस्तद्वदुदारः क्रमश्चरणविन्यासो यस्या एकं तु गतेर्गजोपमैव तत्र क्रियावत्त्वं, मदेति च परमशोभनत्वं, मां मिलतु

रसकलश

श्रीराधा की वीणा की माधुरी से मिलित प्रिय के गान में सहायता की गयी है इसीलिए विपञ्चित सुपञ्चमम् में वीणार्थ विपञ्ची शब्द का प्रयोग है। उससे विपञ्ची के स्वर से मिश्रित है सुन्दर पञ्चम स्वर जिसमें, ऐसे गान स्वर को मधुर बनातीहुई यमुना के तट पर विलास दर्शन की लालसा से प्रिय के साथ जाती हुई श्रीराधा की तात्कालिक गति शोभा की दशनीयता का भी वर्णन करते हैं।

'करीन्द्र' शब्द में करी का अर्थ कर से कुछ कुछ क्रिया करते रहना है। उनमें भी इन्द्र शब्द से बहते हुए मद जल से शोभनीयता और कामासक्तता प्रगट होती है। ऐसे करीन्द्र का वन मे सम्मिलन स्वतन्त्रता निरंकुशता और स्वभाव से विश्वसनीय स्थान के कारण मानसिक प्रसन्नता को प्रगट करता है। इन्द्र शब्द से उस वन की अनन्य स्वामिता का रहस्य भी सूचित होता है। ऐसे वन में सम्मिलन करती हुई यहाँ सम्मिलन शब्द में 'सम्' यह उपसर्ग अपनी अभिलाषा से प्रियतम की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये प्रयोग किया है अतएव श्रीराधा में भी मदकरिणी का आरोप है। मदवती करिणो कह कर उनके करों का भी क्रियावान् होना अर्थात् वीणा वादन के व्यापार में आसक्त रहना अथवा कौतुक के साथ प्रियतम का आलिंगन करना उस समय उनकी वीणा को मैं (हित सखी) धारण कर लेती हूँ यह भाव प्रगट होता है।

करी और करिणी भी मद से सूंढ से एक दूसरे का सकौतुक स्पर्श करते हैं—और चलते जाते हैं। वैसे ही उदार है क्रम अर्थात् चरणों का विन्यास जिनका यहाँ एक तो गति से गज की उपमा हो ही गयी है साथ ही क्रियावान् होना और परमशोभन होना भी सूचित किया गया है। ऐसी श्रीराधा मुझे मिलें यह अभिलाषा की गयी है।

अहन्तु पुष्पपल्लवादिसेवार्थं कुञ्जान्तरे गतवती, तत्र प्रत्यागच्छन्ती एवमकस्मात्कदा पश्ये वा उभयतो मिथो गायमानाभिमुखागमसंकेतितकुंजद्वयपक्षे यदाभिलाषातिशयेन वेणुना स पञ्चमं गायति तदान्यकुंजाद् वीणां वादयंती प्रियापि मिलितेति, एवं गायमानाभिगमने स्वरमेलने महानंदः सहृदयगम्य एव ।

तत्रापि भानुजारोधसीति यमुनाया अपि तद्गानरूपमाधुर्यास्वादश्रुतिवैदग्ध्यवैवश्येन तादात्विकोद्भूतकांतिबाहुल्यं द्योतितं, अनयोरपि तच्छोभादर्शनस्थगितत्वं, रोधसीति रोधनार्थेन सूचितं, वृषेति दानवीरत्वेन प्रेमोत्तप्तत्वं रसवृष्टिकरिष्यमाणता च । भानुजेति यमकेन कुलसेव्यभानुसंबन्धत्वाद्यमुनायाः परमादरः । तन्निकटे गत्वैव मिलनमर्हं गानञ्च, सनामत्वात् परमभगिनीत्वं च प्रसादवैवश्यजसखीत्वमान्तरेऽर्थेतु दास्येवेति ।

रसकलश

मैं तो पुष्प पल्लव आदि लाने की सेवा के लिये दूसरे कुञ्ज में गयी हुई थी वहां से लौटती हुयी अकस्मात् ऐसा दर्शन कब करूंगी अथवा दोनों ओर से गाते हुए एक दूसरे के सामने आने से संकेतित दोनों कुञ्जों के पक्ष में जब प्रियतम अत्यन्त अभिलाषा से वेणु द्वारा पञ्चम स्वर से पञ्चम राग (बसन्त राग) गाते हैं तब दूसरे कुञ्ज से वीणा बजाती हुयी प्रियाजी भी आ मिलती हैं ।

इस प्रकार गाते हुए के सम्मुख गाना और स्वर में स्वर मिलाना परम आनन्ददायक है इस बात को सहृदय जानते हैं उसमें भी यमुना जी के तट पर उनके गान और रूप के माधुर्य के आस्वाद से तथा श्रवण में निपुणता तथा दया से विवशता के कारण उस समय उल्लसित हुई कान्ति की अधिकता प्रगट होती है । ये दोनों भी उस शोभा के दर्शन से स्थगित हो गये हैं इसीलिये यहां तट के लिये रोधस् शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे इनका रुक जाना सूचित होता है । वृषभानुजा शब्द में 'वृष' धर्मवाचक है जिससे दान वीरता प्रगट होती है और प्रेममय रस की वृष्टि करने के कारण भानुजा कहा गया है । वृषभानुजा और भानुजा शब्द में यमक द्वारा कुल के सेव्य भानु के सम्बन्ध से यमुना का परम-आदर भी सूचित होता है । उसके निकट जाकर ही मिलना और गाना तथा समान नाम वाली होने से परम स्नेह के कारण भगिनी भाव भी प्रगट होता है और प्रसन्नता की विवशता से उत्पन्न सख्य भाव भी ध्वनित होता है । आन्तरिक अर्थ में तो दास्यभाव ही प्रतीत होता है ।

ततो वृषेत्यक्षराधिक्येन प्रियायाः स्वामिनीत्वञ्च प्रियसंयुक्तत्वेऽपि मिलनक्रियायां तस्या एव कर्तृत्वं किञ्च पूर्व्वतरपद्योक्तं तवैवेति स्मारक मुक्तं स्वनिष्ठारहस्यपोषकं प्रियस्य तत्संगित्वं सहेत्यनेनोक्तम् ॥५७॥

एवं गानमुक्त्वा रासविलासस्मरणमाह। तत्र स्वसेवासाचिव्यञ्चाहः—

सहासवरमोहनाद्भुतविलासरासोत्सवे,
विचित्रवरताण्डवश्रमजलार्द्रगण्डस्थलौ।
कदा नु वरनागरीरसिकशेखरौ तौ मुदा,
भजामि पदलालनाल्ललितजीवनं कुर्व्वती ।५८।

रसस्यायं रासस्तस्य उत्सवस्तत्स्वरूपबाहुल्यप्रादुर्भावः बहुनाट्कवादकगायकैक्यसमुदायोऽपि रासो रसस्य नाट्यम् आलङ्का-

रसकलश

वृषभानुजा में 'वृष' इन दो अक्षरों की अधिकता के कारण श्री राधाजी का स्वामिनी होना तथा प्रिय से संयुक्त होने पर भी मिलन क्रिया में उनका ही कर्त्ता होना एवम् पूर्वतर पद्य में कहा गया 'तुम्हारे ही चरण के रस विलास से मेरा मन हो' इस बात को स्मरण कराता है तथा कही गयी अपनी निष्ठा के रहस्य का पोषक होने के साथ-साथ प्रियतम का प्रियाजी के संगी होने के कारण ही उपास्य होना भी इस पद्य में कहा गया है ॥५७॥

इस प्रकार गान का वर्णन करके रास विलास का स्मरण करते हैं और उसमें अपनी सेवा का साचिव्य (सहयोग) भी सूचित करते हैं—

"हास सहित परम मोहन और अद्भुत विलास वाले रासोत्सव में विचित्र और उत्तम ताण्डव के श्रम से स्वेद द्वारा आर्द्र हो गये हैं कपोल जिन के ऐसे वरनागरी (श्री राधा) और रसिक शेखर (श्री श्यामसुन्दर) के चरण सहलाने से अपने जीवन को ललित बनाती हुई मैं कब आनन्द से उनका भजन करूँगी" ॥५८॥

रस सम्बन्धी खेल को रास कहते हैं। उसका उत्सव अर्थात् उसके स्वरूप बाहुल्य का प्रकाश जिसमें बहुत से नर्त्तकों वादकों तथा गायकों का एक समुदाय हो उसे भी रास कहते हैं। रस के अभिनय का नाम भी रास है। अलंकार शास्त्रियों ने

रिकैरपि नाट्ये मुख्यविभावादपि रसोद्दीपनबाहुल्यमुक्तम् । अथ यदालंबनविभावावेव तादृशदम्पती रसमूर्तौ रसनाट्यं कुरुतस्तदा किमुच्यतेतरामिति । पूर्व्वं प्रीतिदेवभजनेन विवाहरूपरसयोग्यतालब्धिरुक्ता ततो गानेन रसदेवताऽऽवाहनं कृतं, तत्र मिलत्विति रससाक्षात्कारमिलने सांगोपांगरसाविर्भावस्तदा रासोत्सवः प्रवृत्त इति क्रमेण रासोत्सवमाह ।

नु इति गानानंतरनाट्यविकल्पे अहं सहासेत्यादिविशिष्टरासोत्सवे वरनागरी-रसिकशेखरौ कदा भजामीति वैशिष्ट्यमाह । हासोऽन्योन्यवार्तावैलक्षण्यसद्भावेतरप्रशंसनोपमावैपरीत्योक्तिः, पराजयकौतुकानुकृतिप्रसन्नतासख्यादिजनितस्तत्सहितः स्मितस्तु सहज एव, अनेन हृदयमुखनेत्रकमलानां विकाशः प्रसादगुण उक्तः, उत्साहशक्तिरारब्धकार्यपोषिणीति प्रसिद्धे रासोत्सवविशेषणम् वा विलासविशेषणम् वरमोहनाद्भुतेति विलासस्यैव श्रेष्ठानां विलासा अपि श्रेष्ठा एव परन्तु तादृशत्वेऽपि वरत्वं यथा

रसकलश

भी नाट्य में मुख्य विभाव की अपेक्षा रस के उद्दीपन का प्रचुरता कही है और फिर जब आलम्बन विभाव बने हुए ऐसे रसमूर्त्ति दम्पति स्वयम् रस का अभिनय करें तब तो कहना ही क्या है। पहले प्रीति देवता का भजन करने से विवाह रूपी रस की योग्यता की प्राप्ति कही गयी। उसके बाद गान के द्वारा उस प्रीति देवता का आवाहन किया। उसमें 'मिलतु' इस शब्द द्वारा रस के साक्षात्कार के रूप मिलन में साँगोपाङ्ग रस का आविर्भाव हुआ तब रासोत्सब प्रारम्भ हुआ। इस क्रम से रासोत्सव का वर्णन करते हैं। यहाँ पर 'नु' यह शब्द गान के अनन्तर नाट्य के विकल्प का बोधक है। मैं सहास इत्यादि विशेषणों से युक्त रासोत्सव में वरनागरी और रसिक शेखर का कब भजन करूँगी ?

अब रासोत्सव के विशेषण कहते हैं—एक दूसरे की बातचीत की विचित्रता के सद्भाव से, अन्य (व्यक्ति) की प्रशंसा में विपरीत उपमान आदि कहने से, पराजय के कौतुक का अनुकरण करने की प्रसन्नता से तथा सखी आदि द्वारा जनित उन-उन कारणों से जो हँसी आ जाती है उसे हास कहा है। स्मित या मुस्कान तो यहाँ स्वाभाविक ही है। इस हास से हृदय मुख और नेत्र रूपी कमलों में विकास हो आता है इसके द्वारा प्रसाद गुण कहा गया है। क्योंकि वह उत्साह का सूचक है और उत्साह की शक्ति आरम्भ किये हुए कार्य का पोषण करने वाली होती है यह प्रसिद्ध है।

'सहास' यह रासोत्सव का भी विशेषण हो सकता है और विलास का भी किन्तु वरमोहन और अद्भुत ये विलास के ही विशेषण हैं। श्रेष्ठ नायक नायिकाओं के विलास भी श्रेष्ठ ही होते हैं परन्तु ऐसा होने पर भी वरत्व कई प्रकार का है जैसे काव्य में शब्द

काव्ये शब्दार्थचमत्कारौ कनिष्ठमध्यमौ ध्वनिव्यङ्ग्योद्दीप्तरसे उत्तमत्वं, तद्वदुभयोर्याविद्विलासा दृश्यमाना: शब्दवद्यमकानुप्रासरीतिगुणविशिष्टा: अर्थोऽपि सर्व्वेषां रस एव पर्यवसायक: परन्तु बाह्यविलासेऽपि पूर्णप्रेमरसव्यञ्जकत्वं यथा पुष्पावचय: शब्द: आभूषणादिनिर्माणमर्थ: कुञ्जान्त:परिरंभादि व्यंग्यम् यथा च हिंदोलनं शब्द: अतिगतिभीत्योत्पादनधाष्टर्यादिरर्थ: चकितप्रियाया: स्वहृल्लगनं व्यंग्यमित्यादि सहृदयगम्यं वरत्वं तत्राप्यनुरणनध्वनिना स्वसुखित्वे दृश्येऽपि तत्सुखसुखित्वं मुख्यं वरत्वं सर्व्वविलासेषु ज्ञेयं यथा-'नैवानुकूलं बहिरिति'शीलोक्तौ आंतरानुकूल्यमपि व्यञ्जितं, यदा वा अनेकोद्दीपनानुभावै: प्रियकृतै: रसौत्कट्यं प्रियाहृद्युज्जृम्भितं, तदा बहिस्त्रपावरणं तदपि प्रियविविधकौतुकव्याजकृतलौल्यं, ततोपि मानादिस्ततोऽनुनयस्ततोऽपि कथञ्चिदानुकूल्यं विहारश्चेत्यंतं प्रियस्य स्वसौख्येऽपि तत्सुखित्वमेव पर्य-

रसकलश

और अर्थ का चमत्कार कनिष्ठ और मध्यम श्रेणी का माना जाता है तथा ध्वनि से व्यंग्य (उद्दीप्त) रस में उत्तम चमत्कार समझा जाता है। इसी प्रकार प्रिया प्रियतम के जितने विलास देखे जाते हैं वे शब्द चमत्कार की दृष्टि के यमक अनुप्रास रीति गुण से विशिष्ट हैं। अर्थ भी सभी रस में ही पर्यवसित होने वाले हैं परन्तु बाह्य विलास में भी पूर्ण प्रेम रस की व्यञ्जकता है यही वरत्व है जैसे शब्द है और उसके द्वारा आभूषणादि की रचना अर्थ है और उससे निकुञ्ज में आलिंगन आदि व्यंग्य है और जैसे 'हिन्दोलन' या झूलना शब्द है।

अति गति और भीति उत्पन्न कराने वाले धृष्टता आदि अर्थ में भयभीत प्रिया का प्रियतम के हृदय से लगना व्यंग्य है इत्यादि स्वरूप में वरत्व सहृदयगम्य है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनिभेद से प्रत्यक्ष में अपना सुख होने पर भी व्यंग्य में प्रिया प्रियतम के सुख से सुखी होना ही मुख्य है। इसी प्रकार सभी विलासों में वरत्व समझ लेना चाहिये जैसे—प्रियतम कन्दर्प से उत्तरल हैं अति चञ्चल हैं किन्तु प्रियाजी बाहर से अनुकूल नहीं हैं इस प्रिया प्रियतम के स्वभाव कथन में प्रिया जी की भी आन्तरिक अनुकूलता प्रकट होती है।

और जैसे प्रियतम के द्वारा अनेक उद्दीपन अनुभाव करने पर प्रियाजी के हृदय में भी रस की उत्कटता उल्लसित हो आती है किन्तु बाहर लज्जा और कुछ आवरण रहता है। फिर भी प्रिय के द्वारा अनेक कौतुकों के बहाने चञ्चलता की जाती है तब प्रियाजी के मान या प्रणय कोप आदि प्रगट होते हैं तब प्रियतम अनुनय विनय करते हैं तब कुछ अनुकूलता होती है। इन सब में प्रिय का अपना सुख प्रगट होते हुए भी प्रिया-

वसायि अंतररसौत्सुक्यपोषात् अत्र तु स्वसौख्यसिद्धान्तेऽपि तत्सुखित्वमेव "जोई जोई प्यारौ करै" इति ।

पुनश्च मोहनेति वैचित्त्यकारकत्वम् इतरस्मृति-विस्मृतिपूर्व्वकतदेक चित्तप्रवणत्वं, तत्तु चित्ताधीनं चेत् तत्र चैतन्यं प्रेमकृतमेव, अथवा साधक रसांतरमिलनं तु स्वादातिशयोत्पादकमेव परंतु कश्चिद्बाधकोऽपि तत्र रसाधायकत्वाद्वै लक्षण्यास्वादजनक इति चाद्भुतत्वं तु तत्र सर्व्वरसेषु सर्व्वदा स्थाय्येव ज्ञेयं तादृशा विलासा यस्मिन् रासोत्सवे नित्योत्सवेऽपि विलक्षणरीत्या मिथः संमत्य प्रोत्साहपूर्व्वकरासारंभत्वमुत्सत्वं तत्र कीदृशौ विचित्रेति गंडस्थलपक्षे कस्तूरीकुंकुमादिविशेषकस्वेदजविमिश्रतया विविधभंगिवै-

रसकलश

जी के ही सुख में उसका पर्यवसान होता है क्योंकि उनकी स्वसुख के लिये की गयी चेष्टाएँ प्रियाजी के हृदय में रसौत्सुक्य का पोषण करती हैं फिर यहाँ तो स्वसुख सिद्धान्त में भी तत्सुख-सुखित्व ही है जैसा कि 'जोई जोई प्यारो करै सोई मोहिं भावै' इत्यादि पदों में कहा गया है ।

विलासों का एक विशेषण मोहन भी है । विलास वैचित्य (बेभान अवस्था) के कारण हैं दूसरी सभी स्मृतियो को भुलाकर चित्त को केवल श्रीराधापरायण बना देने वाले हैं । वैचित्य में भी विस्मय उत्पादन होने के कारण वे विलास अद्भुत भी हैं । यहाँ कोई कह सकता है कि विस्मय तो चित्त के अधीन है । वैचित्य अवस्था में विस्मय नहीं हो सकता तो वहाँ कहना चाहिये कि वैचित्त्य अवस्था में प्रेम के द्वारा ही चैतन्य प्राप्त करा दिया जाता है अथवा साधक का रस तो उन के मिलने पर साक्षात्कार होने में है । वह रस अत्यन्त आस्वाद का उत्पादक होने के कारण अद्भुत है ही । यदि कभी कोई बाधक भी उपस्थित हो जाय तो वहाँ भी रसाधायक होने के कारण विलक्षण आस्वाद का जनक है इसलिये भी अद्भुत है और अद्भुतत्व यहाँ सभी रसों में सदा स्थायी ही समझना चाहिये । इस प्रकार के सहास, वर, मोहन, और अद्भुत विलास हैं जिसमें, ऐसे रासोत्सव में । यद्यपि रसोत्सव नित्य का उत्सव है तथापि आज परस्पर परामर्श करके विलक्षण रीति से प्रकृष्ट उत्साह के साथ रास को आरम्भ किया गया है अतः यह रासोत्सव है ।

इस रासोत्सव में प्रिया प्रियतम कैसे हैं इसके उत्तर में कहा गया है कि विचित्र और वर ताण्डव के श्रम से स्वेद जल द्वारा आर्द्र हैं कपोल जिनके यहाँ पर विचित्र और वर शब्द ताण्डव का भी विशेषण हो सकते हैं तथा कपोल का भी । जब 'विचित्र कपोल का विशेषण है तब कस्तूरी कुङ्कुम आदि के तिलक और मकरीरचना आदि विशेषकों के स्वेद जल से मिल जाने पर कपोलों की अनेक प्रकार की रचनाओं से विशिष्टता

शिष्ट्यं, तांडवपक्षे नृत्यवैचित्र्यं कुत्रापि संगीतशास्त्रादावुक्तं तांडवलास्यभेदद्वयं शिवगिरिजाकृतं क्रमेणेति लास्यं तु केवलाभिनययुततालयसमानसलावण्यलालित्यच्छविविशिष्टपदन्यासो नृत्यमिति । अत्र नायिकामुख्यत्वं, तांडवे नायकस्येति । अतः पौरुषसाध्यैः कूर्द्दनकलावैचित्र्यविशिष्टैरंगोद्भ्रामणलंघनसंकोचक्षेपणस्फूर्तिलाघवविद्याप्रधानैरपरमुखोद्धटितसंगीतप्रस्तारोक्ताक्षरताट्टशवाद्यसाध्यैश्च तांडवैस्तत्र वैचित्र्यं प्रसिद्धम् नियमेऽपि भिन्नक्रमखचितत्वं वा नवीनोद्भवत्वं चात्राद्भुतत्वं वरेति पूर्व्वं व्यंग्यार्थचमत्कारे रसपर्यवसायिता न च केवलं विद्यैकप्राधान्यं यथा केषुचिदंगमोटनादिषु मिथः परिरंभणादिविहारक्रियावात्स्यायनोक्तासनविविधबन्धादि स्फुरेदिति परस्परं स्मृतिमनुभूय हसत इत्यपि रसोद्बोधश्चापि स्यात् इत्यादि वरत्वं सहृदयगम्यमनिर्वचनीयं च ।

रसकलश

प्रतीत होती है और जब 'विचित्र' ताण्डव का विशेषण है तब नृत्य की विचित्रता जो कहीं सङ्गीत शास्त्र आदि में कही गई है, ताण्डव और लास्य नृत्य के ये दो भेद हैं क्रम से ताण्डव शिवकृत है तथा लास्य पार्वतीकृत। उनमें से लास्य तो केवल अभिनय से युक्त ताल लय की समानता, तथा लावण्य और लालित्य की छवि से विशिष्ट पदन्यास का नाम है, इस लास्य नामक नृत्य में नायिका की प्रधानता होती है। ताण्डव में नायक की प्रधानता होती है अतः पौरुष द्वारा किये जाने योग्य कूदने की कला के वैचित्र्य से विशिष्ट अंगों का उद्भ्रामण (घुमाना), लाँघना, सिकोड़ना, फैलाना, फुर्तीलापन, क्षिप्रकारिता जो विद्या (नाटच विद्या) प्रधान हैं, दूसरे के मुख से प्रकाशित किये जा रहे संगीत के प्रस्तार में कहे गये अक्षरों द्वारा तथा उसी प्रकार के वाद्य द्वारा साध्य ताण्डवों से श्रमजनित स्वेदजल से आर्द्र हैं कपोल जिनके, यह अर्थ समझना चाहियें। ताण्डवों में वैचित्र्य यही है कि प्रसिद्ध नियमों में भिन्न प्रकार के क्रमों (पद-विन्यासों) को जोड़ दिया जाय या उनमें नई उद्भावना की जाय। यहाँ पर यही अद्भुतता या वैचित्र्य है। 'वर' शब्द से पूर्वोक्त व्यंग्यार्थ के चमत्कार के रहते हुए भी रस में पर्यवसान बताया गया है न कि केवल नृत्य विद्या मात्र की प्रधानता, जैसे कुछ अङ्गों को मोड़ लेना आदि। परस्पर आलिङ्गनादि विहार सम्बन्धी क्रियाएं, वात्स्यायन द्वारा कहे गए आसन और अनेक प्रकार के बन्ध आदि स्फुरित हों इतना ही नहीं, अपितु अतीत की स्मृति का अनुभव कर के परस्पर प्रिया-प्रियतम हँसे, ऐसा भी रसोद्बोध होना चाहिए, इत्यादि ताण्डव का वरत्व या श्रेष्ठत्व सहृदयों के द्वारा जानने योग्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है अर्थात् कहने योग्य नहीं।

अत एव श्रमजलं नाट्यावेशेऽपि सौकुमार्यतया खेदजन्यं शब्दार्थः, परन्तु रसोद्बोधेन सात्विकोऽप्यत्र सूचित इति व्यङ्ग्यं ततोऽत्रापि वरत्वं कस्मिंश्चिन्नाट्ये यथा किंचिद्दूरत उभयतो नृत्यदागम्यमानौ निकटे चिबुकं स्पृशंतौ तालमाने भुजौ संगृह्य परिरंभयत इत्यादि दिग्देशः, जलमिति विद्याशिक्षास्वादावेशसाहसाधिक्यं सूचितम्, आर्द्रेति वक्तृसखीमनःकारुण्योद्बोधः स्थलेति तादात्विकशोभा अहह दर्शनीयेति आवेशव्यापृतत्वेनालकपटाद्यपावृतत्वमुक्तं, नागरीति सकलगुणकलारसविदग्धेत्यर्थः स्वचातुर्य्येण परस्मादपराजयः स्वोत्कर्षश्चेत्यर्थेऽपि व्यंग्यं परस्पररसोद्बोधः,त्रपावत्त्वेऽपि रसोज्जृंभेऽपि च स्वहार्द्दाज्ञापनपूर्व्वकदयादानवीरशीलवशेन प्रियपोषणमिति चमत्कारादिवैशिष्टयं नागर्यां वरत्वं किं कुर्य्यां प्रियस्याप्येवं शीलस्पृहेति छंदेन

रसकलश

इसीलिए इस विचित्र और वर ताण्डव में श्रम-जल हो आया है। यह श्रम-जल नृत्य के आवेश में सुकुमारता के कारण थकावट से उत्पन्न हुआ है, यह शब्दार्थ या वाच्यार्थ है, परन्तु रसोद्बोध के कारण प्रिया-प्रियतम दोनों में सात्विक भाव के रूप में भी यह स्वेद-जल उदय हो गया है, यह व्यंग्यार्थ भी सूचित होता है, अतः विचित्र और वर यह दोनों श्रम-जल का विशेषण भी हो सकते हैं।

किसी नृत्य में जैसे कुछ दूर से दोनों ओर से दोनों नाचते हुए आते हैं और निकट में आकर एक दूसरे के चिबुक (ठोढ़ी) का स्पर्श करते हैं और ताल परिणाम में भुजाओं में लेकर आलिङ्गन करते हैं, इत्यादि दिङ्मात्र निर्देश है। यहाँ पर श्रम जल से विद्या, शिक्षा, आस्वाद, आवेश और साहस सभी की अधिकता सूचित की गई है और आर्द्र शब्द से कहने वाली सखी के मन में इनके प्रति करुणा का उद्बोध भी सूचित होता है। गण्ड (कपोल) के साथ स्थल शब्द का प्रयोग 'अहह ! उस समय की शोभा दर्शनीय ही होती है', यह सूचित करता है। आवेश से नृत्य में व्यस्त होने के कारण केश और वस्त्रादि का खुल जाना भी सूचित किया गया है। 'वर-नागरी' में 'नागरी' शब्द का सभी गुणों, कलाओं और रसों में 'निपुण' यह अर्थ है, अपनी निपुणता के कारण दूसरे से पराजित न होना और अपना उत्कर्ष सिद्ध करना यह अर्थ भी व्यंग्य है। परस्पर रसोद्बोध में लज्जाशील होने पर भी प्रियाजी के रसोल्लास में और उस रसोल्लास में भी अपने हृदय का भाव न जताते हुए दयावीर और दानवीर स्वभाव के कारण प्रिय का पोषण करना इत्यादि चमत्कारों से विशिष्टता प्रगट होती है। 'नागरी' में वरत्व यह है कि क्या करूँ, प्रिय की स्पृहा भी ऐसी ही है, इस प्रकार प्रिय की इच्छा का अनुसरण करने के द्वारा श्रीराधा जी में प्रियतम से भी तत्सुख-सुखित्व (उनके सुख में

तत्सुखित्वं च ततोऽधिकं रसिकेति नायकानां शिरोमणिरित्यर्थे रससारग्राहिणस्तद्वेत्तारस्तदुपासका वा रसिकास्तेषामपि शेखरो विवाहमांगल्यशिरोभूषणं किञ्च कांतां भोग्यां मन्यंत इति कनिष्ठा एव केवलतद्वशा मध्याः अयं तु तेषामपि शिरोमणिरिति न चात्रैश्वर्य्याधिक्येन तत्प्राचुर्य्याच्छेखरत्वमुक्तं किञ्च शुद्धासक्तिरसासक्तो यत्स्मरणाद्वा यत्संबन्धाल्लौकिकतुच्छरसोऽपि परममंगलायते ।

अन्यच्च यथा विवाहादपरं मंगलं नास्तीति तद्वद्रसिकेष्वपि मुख्यं मंगलमयं परमरसशिक्षको नायकशिरोमणिरिति वा रसिकाः श्रीललिताद्यास्तद्रसनिष्ठाः सख्यदास्यविदग्धास्तेष्वपि शेखरस्तद्विश्रब्धसख्यादप्यग्रेसरो रहःसङ्गित्वात् स्पष्ट एव, अथ दास्यादप्यग्रेसरो यत्ताभ्यः सकाशाच्छिक्षयित्वापि दास्ये किञ्चिन्नवरीत्युद्घाटनेन तद्विस्मायकदास्यप्रवीणो भूत्वा प्रतिशिक्षादानसमर्थोऽपि काकुवाक्यवादीति ततः सख्यो वदंति अहो बत धन्योऽसि यद्दास्यरसनिष्ठानामस्माकं गर्वाभावशिक्षणाच्छिरोम-

रसकलस

सुखी होना) अधिक है, यह सूचित होता है। 'रसिक शेखर' शब्द में श्यामसुन्दर उन नायकों में शिरोमणि हैं जो रस का सार ग्रहण करने वाले हैं, रस को जानते हैं और रस की उपासना करते हैं। 'शेखर' शब्द से विवाह मंगल के समय पुष्प-मय शिरोभूषण लिया जाता है, जिसे सेहरा कहते हैं। अन्य नायक जो कान्ता को भोग्या समझते हैं, अतः वे कनिष्ठ श्रेणी के होते हैं और जो केवल कान्ता के वश में रहते हैं वे मध्यम हैं किन्तु ये श्यामसुन्दर तो उनके भी शिरोमणि हैं, इनके शिरोमणि होने में ऐश्वर्य की अधिकता या उसकी प्रचुरता कारण नहीं है, अपितु शुद्ध-आसक्ति-रस में आसक्त होना ही कारण है। अथवा जिनके स्मरण से या सम्बन्ध से लौकिक, तुच्छ रस भी मंगलमय प्रतीत होता है, वे ऐसे हैं।

जैसा कि कहते भी हैं कि विवाह से बढ़कर दूसरा मंगल-प्रसंग नहीं है, इसी प्रकार रसिकों में भी मुख्य मंगल-मय परमरसिक शिक्षक श्री श्याम सुन्दर हैं, जो नायकों के शिरोमणि हैं, अथवा श्रीललिता आदि जो श्रीराधा रस की निष्ठा रखते हैं तथा सख्य और दास्य में निपुण हैं, वे ही यहाँ रसिक हैं. श्यामसुन्दर उन रसिकों में भी 'शेखर' या शिरोभूषण हैं, क्योंकि उनके विश्वस्त सख्य भाव से सदा अग्रसर हैं, जो कि उनसे ही सीख कर के भी दास्यभाव में कुछ नवीन रीति का उद्घाटन करने से उनके विस्मय के लिए जब प्रवीण होकर प्रतिशिक्षा देने में समर्थ होते हुए भी अनुनय पूर्ण काकुवचन बोलते हैं। तब सखियाँ कहती हैं अहो ! आश्चर्य है !! तुम धन्य हो

णिरसोति दास्यसमये तत्तत्सेवारंभमंगलार्थं त्वां स्मृत्वा कर्णं मोटयाम इति सख्यकटाक्षोऽपि । अत्र रसिकेत्यस्य सख्येऽर्थे तस्य वरत्वं यत्पतिभावमपि लघूकृत्य दास्यनिष्टत्वम् आसां तु दास्यमर्हमेव यथोपजीव्यगायकगानात्ताद्दशमेवापि गानं प्रभोर्वरिष्ठं स्यादितिवत् न केवलं गानेनैव तुल्यता अथ नायकार्थे वरत्वं यत्पूर्णकामुकत्वेऽपि शुद्धासक्ततानभिघातो । यथा गृहस्थस्य नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमघटितम् एवमन्येषामसंभाव्यम्, अतोऽत्र सर्व्वघटनाद्रसिकशेखरे वरत्वं, तत्सुखित्वरसस्तु पूर्ववत् पर्य्यवसाय्येवातोपि वरत्व ताद्दशार्थेऽपि-वरशब्देन नवविवाहितनित्यकिशोराविति च । एवमत्र वरत्रयार्थो ज्ञेयो न पुनरुक्तिः शंकनीया ताविति उच्यमानव्यंग्यार्थविशिष्टौ वा पूर्व्वं गायमानावेव रासनृत्याविष्टौ मुदेति । अहो किं किं रसं व्यंजयतः कलाश्चेति वा सेवासमय-

रसकलश

जो दास्य रस में निष्ठा रखने वाली, गर्व न करना सिखाने वाली, हम लोगों के भी शिरोमणि हो— यह कहकर दास्य के समय में भी हम रस सेवा के मंगल के लिये तुम्हें स्मरण करके अपना कान पकड़ती हैं। इस प्रकार सख्य भाव से कटाक्ष भी करती हैं यहाँ रसिक शेखर इस शब्द का सखा अर्थ होने पर भी जब 'वर' उनका विशेषण होता है तब पति भाव में भी लघु और कृश रूप में दास्य की निष्ठा बनी रहती है इस अर्थ को सूचित करता है। सखीजन का तो दास्यभाव ही उचित है।

जब उपजीव्य श्रीराधा गीतकार या गायक की भाँति गीत गाती हैं तब सखियाँ भी वैसा ही गीत गाती हैं। उनका गीत उपजीव्य (श्रीराधा-माधव) के प्रभाव से अभीष्ट ही हो यह भी सम्भव है और केवल गान में ही तुल्यता नहीं है। यहाँ नायक अर्थ में 'वर' शब्द का प्रयोग पूर्ण कामुक होने पर भी शुद्ध आसक्तता को बताता है। जैसे गृहस्थ का नैष्ठिक ब्रह्मचारी होना असम्भव है उस प्रकार अन्य नायकों का ऐसा होना असम्भव है। इसीलिये यहाँ सब असम्भवों के सम्भव हो जाने के कारण 'रसिक शेखर' में 'वरत्व' या श्रेष्ठत्व कहा गया है और फिर तत्सुखसुखित्व (श्रीराधा जी के सुख में सुखी होने) का रस तो पूर्ववत् परिणत होता ही है—इसलिये भी वरत्व है इन अर्थों के साथ वर शब्द से प्रिया प्रियतम का नव विवाहित, नित्य किशोरी और नित्य किशोर होना भी जाना जाता है। इस प्रकार इस श्लोक में प्रयुक्त तीनों 'वर' शब्दों का पृथक् पृथक् अर्थ होने के कारण पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये।

यहाँ 'तौ' 'वे दोनों' शब्द से कहे जा रहे व्यंग्य अर्थों से विशिष्ट अथवा पूर्वोक्त प्रकार से गाते हुए और रास नृत्य से आविष्ट हुए "प्रिया प्रियतम का मैं आनन्द से कब भजन करूँगी।" इस वाक्य में 'मुदा' या आनन्द से कहने का तात्पर्य यह है कि अहो ये कैसे कैसे रसों को व्यक्त करते हैं। कैसी कैसी कलाएँ प्रकट करते हैं अथवा सेवा का अवसर प्राप्त हो जाने के हर्ष के लिये भी यहाँ मुदा शब्द का प्रयोग किया गया है।

लाभोद्भूवहर्षेण चेति भजामीति सेवनमाह पदेति पदयोर्विविधनृत्यताण्डव-गतिविशिष्टयोः श्रान्तयोर्ल्लालनात्संवाहनाभिमर्द्दनाल्ललितजीवनमिति जीवनं ललितं कुर्व्वतीति कदा स्यामिति नोक्तम् किंच साधकत्वेऽपि नित्यान्त-र्निष्ठत्वादिति । सखीपक्षस्तु स्पष्ट एव भजामि कुर्व्वतीति वर्त्तमानेन संभावना न कृता तदा कदेत्यस्यार्थः क्रियते कदा त्वेवं गायमानौ मिलतः कदा एवं पदे लालयमीति क्रियमाणतैवोक्ता ननु सखीनां तु जीवनं ललितमेव चेत्तत्राह ललित-मेव क्रियया यथार्थं ललितं कुर्व्वतीत्यर्थः अतएव भिन्नपदं नोक्तं ललितञ्चादो जीवनञ्चेत्यनुक्तध्वनिः दम्पतिपदलालनकरणाल्ललितमिति निर्उक्त यथा प्रकृत्यर्थां कुर्व्वतीति अर्थात्पदलालित्यं तत्समये स्पर्शेन जीवने जीवे संक्रांतम् अतो ललितगुणविशिष्टं जीवनमिति वा श्लाघ्यमित्यर्थः अहं ताभ्यामपि गत-

रसकलश

'भजन करूँगी' तो कहा, भजन का प्रकार भी कह दिया है कि प्रिया प्रियतम के अनेक प्रकार के नृत्य और ताण्डव की गति से युक्त थके हुए चरणों का लालन अर्थात् सम्वा-हन या मर्दन करने के द्वारा अपने जीवन को ललित बनाती हुई मैं ऐसी कब होऊँगी ? यहाँ साधक भाव होते हुए भी नित्य अन्तर्निष्ठा के कारण सखी भाव स्पष्ट ही है। तभी 'भजामि' भजन करती हूँ और 'कुर्वती' जीवन को ललित बना रही हूँ इन शब्दों में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है, सम्भावना का नहीं। तब कदा या कब शब्द का यह अर्थ करना चाहिये कि मुझे कभी तो वे ऐसे गाते हुए मिलते हैं और कभी मैं उनके चरण सम्वाहन करती हूँ, इस प्रकार क्रियमाणता (उन उन क्रियाओं का किया जा रहा होना) तो कहा गया है। यदि यहाँ प्रश्न हो कि सखी जन का जीवन तो ललित ही है तो कहते हैं कि सखी भाव की प्राप्ति से ललित हुए जीवन की सेवा सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा यथार्थ रूप में ललित करती हुई यह अर्थ होगा। अतएव ललितम् ये पृथक् पृथक् पद नहीं कहे अपितु ललितञ्च तज्जीवनम् इस विग्रह में कर्मधारय समास करके ललितजीवनम् एक ही पद बना कर प्रयोग किया जिससे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। दम्पति (प्रिया प्रियतम) के चरणों का सम्वाहन या लालन करती हुई ही जीवन को ललित बनाती रही हूँ यहाँ लालन और ललित का निर्वचन सम्बन्ध बता कर जैसा जीवन प्रकृत है उसे वैसा ही बनाती हुई यह अर्थ कहा गया मानों चरणों का लालन करने से चरणों की ललितता उस समय जीवन में संक्रान्त हो गयी। अतः जीवन को ललितगुण विशिष्ट या श्लाघनीय बनाती हुई यह अर्थ प्रतीत होता है। मैं, चरण सम्वाहन से जिनका श्रम दूर हो गया है, अतएव जो आनन्दित हैं ऐसे उन दोनों

श्रमाभ्यामानन्दिताभ्यां प्रशंसितेत्यपि च स्वभाग्यं स्वयं श्लाघितमिति वा अथवा जीवनं प्राणधारणं प्राणेति चेष्टार्थः अप्रमत्ततया दास्यक्रियाकुर्व्व-त्स्थितिः ।

किञ्च तादृशरासोत्सवस्य मोहनत्वाद्विगलितवेद्यातरतावश्यं स्यादेवेत्यपि दास्यप्रभावेण सेवाभिमुखस्थिता तद्दृष्ट्वा रसमग्नैः सखीजनैर्ललितमिति प्रशंसितं स्वेनैव वेति च यथा सुचिरमनुशोचे निजदशामिति वक्ष्यमाणवत् वीजनेति पाठभ्रांतिश्चेत् ललितं मंदसुरभिततदनुकूलं मनोहरं वीजनं कुर्व्वंती वीजयंतीत्यर्थः, तदा नृत्यश्रांतौ वीजयंती सती तदनंतरं पदलालनाद्भ्राजामी-त्यन्वयः । आंतरोऽर्थोऽन्योऽपि भासते मोहनशब्दस्य सुरतार्थः पंचमगानोद्दीप्त रसमिलनानंतरं हासादि ततो रहःकुञ्जे श्रेष्ठमोहनो विहारस्तस्याद्भुत-विलासो विविधबंधादिक्रीडामयः स एव बहुवादकगायकनर्त्तकविशिष्टो रासो-त्सवः किंकिण्यादिक्षण कारः सताललयवाद्यं कोकिलकल कूजितमणि-

रसकलश

द्वारा प्रशंसित हुई, इसलिए भी श्रीहितसखी द्वारा अपनें भाग्य की सराहना की गई है अथवा जीवन का अर्थ है प्राणधारण और प्राण का अर्थ है चेष्टा। सावधानी से दास्य क्रिया करती हुई भी अपने जीवन को ललित बनाती है।

एक बात और भी है कि उक्त प्रकार के रासोत्सव के मोहन होने के कारण उसमें विगलितवेद्यान्तरता (जिसमें अन्य ज्ञेय का ज्ञान न रहे ऐसी स्थिति) तो अवश्य ही होगी, तो भी दास्य के प्रभाव से मैं सेवाविमुख रही, यह देखकर रस में मग्न हुए सखीजनों ने 'इसका जीवन अर्थात् दास्य भाव से क्रिया-कलाप ललित है, यह कहकर प्रशंसा की या मैंने स्वयं ही अपने ऐसे जीवन की प्रशंसा की जैसा कि आगे, 'मैं, चिरकाल तक अपनी दशा का अनुचिन्तन करती हूँ', ऐसा कहेंगे। कुछ पुस्तकों में 'ललितजीवनम्' के स्थान पर 'ललितवीजनम्' ऐसे पाठ की भ्रान्ति देखी गई है, उस पाठ में ललित का अर्थ धीरे-धीरे सुगन्धित पंखे से प्रिया-प्रियतम के मनोनुकूल मनोहर वीजन करती हुई अर्थात् पंखा झलती हुई, यह अर्थ समझना चाहिए और उसकी संगति यह बैठानी चाहिए कि नृत्य से श्रान्त हुए प्रिया-प्रियतम को मनोहर पंखा झलती हुई, चरणों के सम्वाहन से उनकी सेवा करती हूँ।

'मोहन' शब्द का अर्थ 'सुरत' भी है, पञ्चम राग (वसन्त) के गान से उद्दीप्त हुए रस से मिलने के अनन्तर हासादि हुए तब एकान्त कुञ्ज में 'वर मोहन' अर्थात् 'श्रेष्ठ विहार' हुआ। उस श्रेष्ठ विहार के अद्भुत विलास जो अनेक प्रकार के बन्ध आदि क्रीड़ाओं से पूर्ण थे, वे ही अनेक वादक, गायक और नर्तकों से विशिष्ट रासोत्सव हुए, किंकणी आदि का झणत्कार जो ताल और लय से युक्त था वही वाद्य हो गये और कोकिल आदि का मनोहर कूजन ही गान हो गया और यह विलास

तादिगानं विलासो नृत्यमिति विगतं चित्रं मकरिकापत्रादि वा तांडववैविध्यं वरेति स्वकृतनवरीतिमयत्वं तांडवं विकटवैपरीत्यादि पारावतलुण्ठनादि वा तेन श्रांताविति नागरी अनंगकलाविदग्धा महारसिको लंपट उद्भट इति विहारानंतरं पदलालनेन कदा भजामीति मुदेति तदानंदजातानंदेनेति जीवन-वीजनेति भेदार्थाः पूर्व्ववत् अत्रापि मोहने वरत्वं हासाद्भुतरसवैशिष्ट्यात् वैचित्र्याद्, बंधादौ वरत्वं दंपत्योर्नवीनत्वं वरत्वं वा तन्नामेवोक्तमेवेति ।।५८।।

मुक्तकपक्षे एवमांतरे रासे स्वसेवासाचिव्यमुक्त्वा पुनर्बाह्यदशायां दैन्य तरंगं साधकानुज्ञापनार्थमाह :—

वृन्दारण्यनिकुञ्जमञ्जुलगृहेष्वात्मेश्वरीं मार्गयन्,
हा राधे स्वविदग्धदर्शितपथं किं यासि नेत्यालपन् ।

रसकलश

स्वयं नृत्य हुए, ऐसे ही 'विचित्र वर ताण्डव' का भी आन्तरिक अर्थ यही होगा कि विगत हो गये हैं चित्र—अर्थात् मकरिका आदि पत्र-लेख जिसमें, ऐसे ताण्डव की विविधता ही उनको श्रेष्ठता है फिर प्रिया-प्रियतम के द्वारा जो उसमें नवीन रीतियाँ अपनाई गई हैं, जैसे विकट विपहीनता आदि या पारावत (कबूतर) कोसी चेष्टा आदि, उनके कारण भी यह 'विचित्र-वर-ताण्डव' है। उससे श्रान्त हुई नागरी अर्थात् अनंग कलाओं में चतुर (श्रीराधा) और महारसिक लम्पटों में उद्भट (श्यामसुन्दर) उन दोनों की विहार के बाद चरणसम्वाहन से मैं कब सेवा करूँगी। यहाँ पर मुदा (आनन्द से) का तात्पर्य है कि उनके आनन्द से जो मुझे आनन्द होगा उससे जीवन वीजन इत्यादि विभिन्न अर्थ पूर्ववत् इस आन्तरिक अर्थ में भी जोड़ लेने चाहिएँ। यहाँ पर भी मोहनत्व या विहार में वरत्व (श्रेष्ठता) हास और अद्भुत रस की विशिष्टता से है और विचित्रता के साथ सुरतसम्बन्धो बन्ध आदियों में वरत्व और दम्पति में नवीनता के कारण वरत्व इत्यादि वरत्व या श्रेष्ठताएँ यहाँ कह ही दी गई हैं ।।५८।।

स्तोत्र के ये श्लोक मुक्तक हैं, अर्थात् इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मानने वालों की दृष्टि से ऐसे आन्तरिक रास में अपनी सेवा का सहयोग कहकर बाह्य दशा में दीनता की तरंग के रूप में साधक की अनुज्ञापना या प्रार्थना का वर्णन करते हैं-

"वृन्दावन के निकुञ्ज रूपी मंजुल महल में अपनी स्वामिनी को ढूंढता हुआ, 'हा राधे ! अपने चतुर (प्रियतम) से दिखाए गए मार्ग पर क्यों नहीं जाती हो ? यह

कालिन्दीसलिले च तत्कुचतटीकस्तूरिकापंकिले,
स्नायं स्नायमहो कुदेहजमलं जह्यां कदा निर्मलः ।५९।

वृन्दारण्य निकुञ्जमंजुलेति आत्मेश्वरीं स्वस्वामिनीं मृगयन्नेव मार्गयन्निति स्वार्थे णिच् यदा न दर्शनं स्यात्तदातिविरहार्त्तिव्याकुलतया हा राधे स्वविदग्धेन दर्शितो यः पंथा इति तं किं न प्राप्नोषीति त्वच्छीलाभिज्ञेन नागरेण यदुक्तं राधैवाराध्यते मयेति राधा वृंदावने वने वृंदावनेश्वरीराधेति वृंदावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छतीत्यादौ श्रीराधया सहात्रैव श्रीवने नित्यविहारो मेऽस्तीति बहुश उक्तं तेन विश्रम्भेणात्र कुञ्जेषु मृगये तदप्यत्र त्वां न पश्ये अहो किमेतन्मार्गं न यासीति अर्थात्तद्विदग्धवाक्यं तु साफल्यं कुरु अन्यथा प्रियस्याविदग्धता ख्यातिमेष्यतो सख्यकटाक्षः, यद्वा सुविदग्धेतिये सुष्ठु निपुणास्त्वद्भावरसविवेचनकुशला भक्ता अनन्यरसिकास्तैर्दर्शितं मार्गमिति अत्रैव श्रीस्वामिन्या नित्यविहारोऽस्तीति भावनापूर्णनिष्ठा तन्मयतया कृपाकरुणामृदुहृदया प्रादुर्भवेदेवेति प्रेष्ठादपि तस्याः परममार्द्दवत्वमस्तीति

रसकलश

कहता हुआ तथा उन (श्रीराधा) के कुच-तट पर लगी हुई कस्तूरिका से पंकिल हुए यमुना जी के जल में बारम्बार स्नान करता हुआ निर्मल होकर मैं अपने कुदेहज मल को कब छोड़ूंगा ।।५९।।"

अपनी स्वामिनी को खोजता हुआ, इसके लिये 'मृगयन्' न कहकर जो 'मार्गयन्' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय है, जब उनका दर्शन नहीं होता तब अत्यन्त विरह की व्यथा से व्याकुल होकर हा राधे। अपने विदग्ध या चतुर प्रियतम के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर क्यों नहीं जाती हो, इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे शील स्वभाव को जानने वाले 'नागर, नागरवर' (श्री श्याम सुन्दर), ने जो कहा है—"मेरे द्वारा श्रीराधा की ही आराधना की जाती है, वृन्दावन वन में तो राधा ही अधिष्ठात्री हैं, वृन्दावन की स्वामिनी श्रीराधा हैं, वृन्दावन को छोड़कर एक कदम भी कहीं नहीं जाते—इत्यादि वाक्यों में श्रीराधा के साथ इस श्रीवन में मेरा नित्य विहार होता है, ऐसा श्याम सुन्दर ने अनेक बार कहा है, उसी विश्वास से वृन्दावन के निकुञ्जों में मैं तुम्हें ढूंढता हूँ पर यहाँ भी नहीं पाता। अहो ! क्यों इस मार्ग पर नहीं जाती हो ? अथवा विदग्ध का अर्थ वे भली भाँति निपुण भक्त हैं जो तुम्हारे भाव और रस का विवेचन करने में कुशल हैं, अनन्य रसिक हैं, उनके द्वारा दिखलाए हुए मार्ग पर, अर्थात् यहीं पर श्री स्वामिनी का नित्य विहार होता है यहीं पर भावना पूर्ण निष्ठा तन्मयता जो करुणा से मृदुल हृदयवाली श्रीराधा का प्रादुर्भाव होता है, वे

दर्शितपदवीं किं न प्राप्नोषीति हा कष्टं कथं काठिन्यमियत्त्वोचितमिति दर्शनं किं न ददासीत्यालपन् ।

यद्वा समाना विदग्धा रसिकभक्ताः स्वामिनींगितकुशलास्तेषां दर्शितं मार्गमित्यपि सविदग्धेतिपाठोऽर्थानुपपन्नत्वादुपेक्षितः एवन्तु वृन्दारण्यकुञ्जेषु विचरन् मार्गयन्नालपन् पुनश्च श्रीकालिन्दीजले तत्कुचेति तदीयसम्बन्धोऽपेक्षितो न तु केवलतीर्थबुद्धिरिति कस्तूरिकांगरागोऽपि दृष्टो न चात्र कृष्णवर्णसाम्योपमामात्रम् अनेनोपलक्षणेन अन्येऽपि तत्रत्यस्वामिनीसम्बन्धोद्दीपनदर्शनादिचमत्कारा दृष्टास्तदपि नित्यांगसङ्गित्वांतरायदुःखाद् देहं प्रत्युन्मुह्य भर्त्सा पूर्वकं वक्ति अत्र प्रियांगरागमिश्रिते जले स्नात्वा कुदेहजमलं कदा जह्याम् अतो निर्मलः स्यामिति दैन्ये स्पष्टोऽर्थः मलोऽस्त्री पापविट् किट्टानीत्यमरः, पापभर्त्सेषदर्थे कुइत्यमरः मलमल्लधारणे धातुः कु इति

रसकशल

श्रीराधा प्रियतम से भी परम सुकुमारी हैं इत्यादि दिखाई हुई पदवो पर क्यों नहीं प्राप्त होतो हो ? अहो, कितना कष्ट है, इतनी कठोरता तुम्हें उचित नहीं है, मुझे दर्शन क्यों नहीं देती हो ?—इत्यादि आलाप करता हुआ (और यमुना के जल में स्नान करता हुआ निर्मल होकर मैं कुदेहज मल को कब त्यागूँगा) ।

अथवा अपने समान विदग्ध रसिक भक्त जो स्वामिनी के भाव को समझने में कुशल हैं, उनको जो मार्ग दिखाया है, यह 'सविदग्ध दर्शितपथ' इस पाठ का अर्थ है, किन्तु हमने (श्री हरिलाल व्यास ने) अनुपपन्न होने के कारण इस पाठ को नहीं अपनाया है। इस प्रकार वृन्दावन के कुञ्जों में विचरता हुआ स्वामिनी को खोजता हुआ और बोलता हुआ तथा श्री यमुना के जल में तीर्थ-बुद्धि से नहीं अपितु श्रीराधा जी के कुच-तट की कस्तूरी से यह यमुना जल पंकिल है, इस सम्बन्ध की अपेक्षा रखकर, क्योंकि कस्तूरी की सुगन्ध से उस अंगराग का भी साक्षात्कार हुआ है न कि केवल कृष्ण वर्ण की समानता से ही उपमा दे दी गई है। इस कस्तूरी के अंगराग के उपलक्षण द्वारा अन्य भी अनेक चमत्कार जो यमुना से श्रीस्वामिनी के सम्बन्ध का उद्दीपन और दर्शन कराने से अन्वित हैं, देखे गये हैं, तो भी नित्य अंगसंगिनी होने में अन्तराय (विघ्न) पड़ जाने के दुःख से अपने शरीर के प्रति ममता रहित होकर उसकी भर्त्सना सी करते हुए कहते हैं, यहाँ प्रिया जी के अंगराग से मिश्रित जल में बारम्बार स्नान करके कुदेहज मल को कब छोड़ूँगा और निर्मल होऊँगा।

दीनता की भावना में यह अर्थ स्पष्ट है। 'मल' शब्द पुल्लिग और नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है तथा पाप, विष्टा और मैल ये तीन उसके अर्थ होते हैं, ऐसा अमरकोष-

भर्त्सनापूर्वकोक्तिर्वा कुः पृथ्वी भौतिकदेहजं वा कु इति किञ्चिद्देहजमन्तरायं पापं दुःखमिति तादृशानां महानुभावानां किञ्चिदन्त रायोऽपि कोटियातनातुल्य इति वा देहजस्यान्तरायस्य धारणं कदा जह्यां किञ्च तदंगरागोद्दीप्ततत्तल्लीलानुभवेन निरन्तरायः स्यामिति ।

यद्वा अलमत्यर्थं जह्यां स्वस्य मार्गणसख्यसम्भाषणकस्तूर्याद्यंगरागदर्शनाद्यधिकारनैरन्तर्येप्याचार्यतया साधकसजातीयान्प्रति शिक्षणम्, एतावत्पर्यन्तं सानुभावेपि स्वेष्टमिलनविरहार्तिरपेक्षणीया न च किंचिच्चमत्कारे दृष्टेऽपि शिथिलतया पूर्णंमन्याः स्थः अन्यच्च देहान्तपर्यंतं श्रीवृन्दावनयमुने न त्याज्ये इत्यपि दर्शितमिति । अथान्तरोऽर्थः एकदा प्रियः कस्मैचिद्विलासविशेषाय प्रियां प्रार्थितवान् मया वृन्दारण्येऽपि निकुंजेष्वपि

रसकलश

कार का मत है तथा पाप भर्त्संना और न्यूनता अर्थ में 'कु' शब्द का प्रयोग किया जाता है मल और मल्ल धातु धारण करने के अर्थ में हैं। 'कु' के द्वारा यहाँ भर्त्सना की गई है यह पहले कहा जा चुका है अथवा 'कु' नाम पृथ्वी का है अतः 'कुदेह' का अर्थ भौतिक देह है। अथवा 'कुदेहज' शब्द से देह द्वारा उत्पन्न हुआ कोई अन्तराय (इष्ट की प्राप्ति में विघ्न) पाप या दुःख लिया जाता है और श्रीहिताचार्य जैसे महानुभावों को ऐसा थोड़ा सा भी अन्तराय कोटि यातनाओं के समान असह्य होता है अतः ऐसे शरीर के अन्तराय को कब छोड़ूंगा', यह भाव प्रतीत होता है। अर्थात् श्रीस्वामिनी के अंगराग से उद्दीपित उनकी चेष्टाओं के अनुभव में मैं कब निरन्तराय (विघ्न रहित) होऊँगा। अथवा 'कुदेहजम्' और 'अलम्' यह दो पृथक्-पृथक् शब्द हैं इसमें अलम् का अर्थ अत्यन्त रूप से है। अपने श्री राधा जी को खोजने उनके सखीभाव, सम्भाषण और उनके कस्तूरी आदि अंग-रागों के दर्शन आदि के नित्य अधिकार के होते हुए भी आचार्य रूप में अपने सजातीय साधकों को सिखाने के लिए ऐसा कहा गया है। यहाँ तक के व्याख्यान से यह समझना चाहिए।

साक्षात् अनुभव प्राप्त हो जाने पर भी अपने इष्ट के मिलन और विरह की व्यथा तो अपेक्षित होती ही है न कि चमत्कार के साक्षात्कार हो जाने पर अपने आपको पूर्ण मानकर शिथिल हो जाना चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि जब तक शरीर रहे तब तक वृन्दावन और यमुना का परित्याग नहीं करना चाहिये यह भी यहाँ दिखला दिया गया है।

अब इस श्लोक का आन्तरिक अर्थ लिखते हैं—"एक समय प्रियतम ने किसी विशेष विलास के लिये प्रिया जी से प्रार्थना की कि मैंने वृन्दावन में भी निकुञ्जों में

मंजुलगृहोऽमुकसंकेतितो ह्यकस्तत्राऽमुकमार्गविशेषेण गच्छेत्युक्तवांस्तदा सा कुतुकेश्वरी त्तदुक्तसंकेतस्थलजिगमिषुरपि किञ्चिद्वार्त्तान्तिरध्यानं मध्ये कृत्वा विस्मारयित्वा कुत्रचिदज्ञातकुञ्जान्तरे निलीनान्यमार्गेण तत्र प्राप्ताम् ।

अथवा पूर्वं रास उक्तस्ततः कौतुकेन प्रियपरिहासकटाक्षार्थं व्रजगोपीमहारासवत्स्वयमज्ञानकुञ्जे निलीना पश्ये कीदृग्दशासक्तस्य स्यादिति तदा प्रियोऽपि मार्गयति तत्पदचिन्हमदृष्ट्वा हाराधे इतिविलपन्नातुरो विकलस्तदानीमहमंतरंगहितसख्यपि जन इति पुंस्त्वाध्याहारेण तत्त्यक्ततया दैन्येन स्वस्य सामान्यजनसाधारणत्वद्योतनं निकुञ्जान्येव मंजुलगृहाणि सर्वाणि मार्गितवान् हा कष्टे इति शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलि-

रसकलश

भी एक अमुक संकेत वाला मञ्जुलगृह बना रक्खा है। अमुक माग से तुम वहाँ चलो तब कुतूहल से स्वामिनी प्रियतम के कहे हुए संकेत स्थल पर जाने की इच्छा होते हुए भी मध्य में किसी और बात का बहाना करके और उस बात को भुलवा कर किसी अज्ञात कुञ्ज में छिप गयीं और वहां से किसी अन्य मार्ग से प्रियतम के बताये हुए मञ्जुलगृह में पहुँच गयीं। मैं उन्हें विदग्ध प्रियतम के बताये हुए मार्ग पर ही खोज रही हूँ। अथवा पहले रास का वर्णन किया जा चुका है उसके बाद कौतूहल से प्रिय का परिहास और उन पर कटाक्ष (व्यंग्य) करने के लिये व्रज में गोपियों के महारास की भाँति यहाँ वे श्याम सुन्दर के समान अज्ञात कुञ्ज में छिप गयीं कि देखें तो सही कि आसक्त प्रियतम की क्या दशा होती है। तब प्रियतम प्रिया जी को ढूँढ़ने लगे। कहीं भी उनके चरण-चिह्न न देखकर हा राधे! हा राधे!! ऐसा विलाप प्रलाप करने लगे। तब मैं अन्तरंग हितसखी भी आतुर और विकल होकर उसी प्रकार उन्हें पुकारने लगी। यहाँ पर सखी को सखीजन मानकर पुल्लिंग का प्रयोग किया गया है। अन्तरंग सखी होते हुए भी प्रिया जी मुझे छोड़ गयीं हैं इस दीनभाव के कारण अपने आपको साधारण सखीजन के रूप में द्योतित करने के लिये भी यह पुल्लिंग का प्रयोग आदृत हुआ है। यहाँ निकुञ्ज ही मंजुलगृह हैं। उन सब में मैंने प्रिया जी की खोज कर ली है। यहाँ पर हा शब्द कष्ट का सूचक है। रास्ता भूलकर प्रिया जी शिलाओं कंकड़ों और तृणाङ्कुरों से पीड़ित हो रही होंगी—जैसा कि महारास में गोपियों ने कहा "हे प्रियतम! तेरे चरण वन मार्ग के कङ्कडों तृणाङ्कुरों से पीड़ित होते होंगे इसलिये हमारा मन व्याकुल हो रहा है।" मैंने निकुञ्जरूपी मञ्जलगृह तो सब ढूँढ़ ही डाले उनमें

लतां मनः कान्त गच्छतीतिवत् मंजुलानि तु मार्गितान्येव तत्रापि गृहाणि किंच नित्यं विश्रब्धविलसितानि तदावशिष्टानि गह्वराणि तु न मार्गितानि त्वं तत्र स्विन्निलीनासि किमिति हा तादृक् प्रियपरिशीलितजोवातुपरमसुकुमारपदयोः किं भावीति मुग्धे कौतुकसाहसकरणमयुक्तमिति हा राधे इत्युच्चैरालपन् त्वं विदग्धेन नागरेण दर्शितपथं ननु मत्तविवशेन किंच विदग्धस्त्वदरुचितं कार्य्यं न कदापि करिष्यतीति मा बिभेषीत्यर्थः अतस्तेन पथा किं न यासि त्वमन्यसंदिग्धमुग्धमार्गेण किं गतासि तत्र खेदावश्यभावनाद्वयं बिभेम इति ।

अथवा त्वद्विदग्धस्त्वद्गतिशीलाभिज्ञो मां दर्शयति अनेन मार्गेण प्रिया गतास्ति यदंगरागपरिमलोऽप्यायाति यथा अप्येणपत्न्युपगतेति बाहुँ प्रियां सेति पृच्छतेति गन्धभ्रमरपल्लवितलताद्यभिज्ञानाद्यपि ज्ञेयं त्वमप्यनेनैव मार्गय अहं तु विकलो न शक्नोमीति अतो हा राधे स्वनागरदर्शित-

रसकलश

भी जो गुहा के समान अत्यन्त विश्वास पूर्वक विलास के स्थल थे वे बाकी रह गये क्योंकि उनके द्वार गुप्त हैं इसलिये मैं उन्हें नहीं ढूंढ़ पायी हूँ। क्या राधे ! तुम वहाँ छिप गयी हो ? यह क्या बात है। उस प्रकार के प्रिय द्वारा सेवित और प्रिय के जीवनाधायक परम सुकुमार चरणों को कितना कष्ट होगा ? हे भोली जी ! कौतुकवश ऐसा साहस करना ठीक नहीं है। हा राधे ! हा राधे !! इस प्रकार ऊँचे स्वर से पुकारती हुई ढूंढ़ रही हूँ। तुम विदग्ध नागर के द्वारा दिखाये हुए मार्ग पर क्यों नहीं जा रही हो। यहाँ पर प्रियतम को विदग्ध वर नागर कहने का तात्पर्य यह है कि वे उस समय मदविवश या मदमत्त नहीं थे अपितु सावधान थे अतः उनका दिखाया हुआ मार्ग अनुचित नहीं था और तुम्हारे लिये अरुचित भी नहीं था क्यों कि प्रियतम तुम्हारी अरुचि का (अनचाहा) कभो नहीं करते। उनके बताये हुए मार्ग पर जाने में तुम मत डरो यह तात्पर्य है। यहाँ पर उस मार्ग से क्यों नहीं जाती हो' अन्य सन्दिग्ध या मुग्ध (भूले) मार्ग से क्यों जाती हो। जिधर से तुम्हारे अंगराग की सुगन्धि भी आ रही है और जैसे कृष्ण को ढूंढती हुई गोपियों ने मृगी से पूछा था कि प्रिया के कन्धे पर बाहु रखकर जाते हुई श्याम सुन्दर को क्या तूने देखा हैं ? लताओं से भी पूछा था वैसे ही यहाँ पर भी मैं स्वामिनी को खोजती हुए सब को पूछता फिर रही हूँ और सुगन्ध, भ्रमर, पल्लवित लताये आदि चिह्न भी देख रही हूँ ऐसा जानना चाहिये। यहाँ पर यह भाव भी प्रतीत होता हैं कि प्रियतम ने सखीजन से कहा हो कि तुम लोग प्रिया जी को ढूंढो मैं तो व्याकुल होने के कारण उन्हें नहीं ढूंढ सकता। अतः सखीजन भी हा राधे ! अपने नागर प्रियतम के द्वारा दिखलाये हुए मार्ग पर क्यों नहीं जाती हो

मार्गं किं न यासि अयं तु त्वत्परिज्ञानेनैवोक्तवानस्यापि तु वैदग्ध्यं प्रसाद-नीयमेव अतोऽस्मिन्मार्ग एव प्राप्नुहि दयां कुरु हा किं ते निर्वंधशीलम् अहं तु दासीत्वेन न किमपि वक्तुम् शक्नोमि त्वं प्रियदशामप्युपेक्षसे अतस्त्व-दुपर्य्यस्मिन्नेव त्वत्संबन्धिकस्तूरिकापंकिले जले स्नानव्रतं करिष्ये तेन सुकृतेन विलासांतावभृथेनेति अस्मिन्दासीदेह एव यथा उञ्छवृत्तिप्रस्थजलक्लिन्ना-र्द्धसौवर्णांगजननानंतरयुधिष्ठिरयज्ञांतप्राप्तनकुलवत् अत्र दास्य सख्ययोरर्द्धार्द्धमिश्रणम्। अतः पूर्णसख्यासंसनं कुदेहजं दासीदेहजं स्वभावं येन स्वामिनीं शिक्षयितुमनर्हता सदाभीतिपरवत्तेव स्थायिनीति कु इति उपालम्भेन भर्त्सनापूर्वोक्तिः अलमतिशयेन त्यजेयं अहो इत्याश्चर्ये एवं शीलं मया कदापि न ज्ञातं यन्मामपि परित्यज्यगतवत्यसि तदा पारतंत्र्यं

रसकलश

प्रियतम ने तो तुम्हें उस मार्ग के सब परिज्ञान या चिह्न भी बताये थे। तुम्हें उसकी विदग्धता या नागरता का भी तो अनुरोध रखना चाहिये अतः इसी मार्ग पर आ जाओ। दया करो, तुम्हारा यह हठी स्वभाव बड़ा कष्टप्रद है। मैं तो दासी होने के कारण कुछ नहीं कह सकती। तुम प्रेम की दशा की कोई परवाह नहीं करती इसलिये मैं अब तुम्हारे अंगराग की कस्तूरी से पंकिल हुए यमुना के जल में स्नान करने का व्रत करूँगी। उस विलास के अन्त में लिये गये अवभृथ स्नान के पुण्य से इस दासी देह में ही दास्य और सख्यभाव का मिश्रण मुझे प्राप्त है: जैसे युधिष्ठिर के यज्ञ में उञ्छवृत्ति से जीने वाले साधु के हाथ धोने के पानी से गीला हो जाने के कारण एक नेवले का आधा शरीर स्वर्णमय हो गया था और आधा स्वाभाविक रह गया था ऐसे ही मुझ में भी दास्य और सख्य दोनों भावों का मिश्रण है। मैं पूर्ण सख्य प्राप्त करना चाहती हूँ क्योंकि कुदेहज अर्थात् दासी देहज स्वभाव में स्वामिनी को शिक्षा देने की योग्यता नहीं होती। सदा भय की ही अधीनता बनी रहती है। यहाँ यह समझना चाहिये कि पूर्वोक्त नकुल युधिष्ठिर के यज्ञान्त स्नान के पानी में अपने उस आधे शरीर को जो स्वर्ण का नहीं हुआ था बारबार लोट पोटकर स्वर्ण का बनाना चाहता था ऐसे ही मैं भी आपके विलासानन्तर किये गये स्नान में कस्तूरी से पंकिल हो गये यमुना जल में बारबार लोट पोटकर सम्पूर्ण सख्यभाव प्राप्त करना चाहती हूँ। कुदेहज शब्द में 'कु' उपालम्भ के साथ भर्त्सना अर्थ में कहा गया है। अलम से अत्यन्त रूप से दासीदेहज स्वभाव को छोड़ दूँगा यह अर्थ प्रतीत होता है और अहो शब्द द्वारा आश्चर्य प्रगट होता है कि तुम्हारा ऐसा स्वभाव मुझे ज्ञात नहीं था जिससे तुम मुझे भी छोड़कर चले गये हो। इसलिये मैं दासी।त परतंत्रता को त्याग कर सखी स्वभाव गत स्वतंत्रता को प्राप्त करूँगी और

त्यक्त्वा सख्यस्वभावं प्राप्स्ये तेन सख्यबलेन श्रीमतीमपि शिक्षयिष्ये इति प्रियमपि मेलयिष्यामीति च तदैव निर्मलो निर्दुःखो निस्तापः स्यामिति यावत् तदारभ्य निर्बन्धशीलं त्यक्ष्यसीति सख्यकौतुकोक्तिः ।

अथवा पूर्व्वं रासश्रम उक्तस्ततो मनसि स्वकृतस्नानसेवाविचारं कृत्वा प्रियेणोक्तम् अहमेव त्वामुद्वर्त्य स्नापयामीति दासीं विनैव गच्छेति किंच सा स्वाधिकारशीला मत्सेवां विभागयेदिति संमत्य केनचिद्व्याजेन मामन्यत्र प्रेषयित्वा स्वयं कुंजांतरे निलीनौ रहो यमुनातटे उपरितः स्नायमानौ तज्ज्ञात्वाह वृन्दारण्येति । अहं तत्परिजनस्तां मार्गयन् हा राधे स्वनागरदर्शितमार्गं किं न यासि अपितु यास्येव सत्यमिति सशिरोधूननोक्तिः विदग्धेन उन्मर्द्दना स्वादचतुरेण तद्दर्शितमार्गं दासीरहितगमनं प्रियहस्तेनैव स्नानं करिष्ये पश्ये कीदृक् सुखं स्यादिति मार्गं याया एव नतु मुग्धानामस्माकं दर्शितमिति ततो हार्द्दं ज्ञातं विदग्धसंगदोषात्किं न विदग्धा स्यादिति अधुना क्वास्माकमधिकारस्तद्धस्तास्वादे ज्ञाते किं दासीनां सेवेति सख्यकटाक्षः ।

रसकलश

उस सखी भाव के प्रभाव से श्रीमती को भी सिखाऊँगी । श्रीमती को प्रियतम से मिलाऊँगी तभी निर्मल निदुःख या निष्पाप हो सकूँगी । तुम भी तभी अपना हठी स्वभाव छोड़ोगी यह सब सख्यभाव से कौतूहल पूर्ण वचन कह गये हैं ।

अथवा पहले रास के परिश्रम का वर्णन किया जा चुका है। अब मन में अपने द्वारा की गयी स्नान सेवा का विचार कर के प्रियतम ने कहा कि मैं ही तुम्हें उबटन लगा कर स्नान करा दूँगा आज तुम दासो को साथ मत ले जाओ क्यों कि दासी अपने अधिकार का ध्यान रख कर मेरी सेवा में हिस्सा लगा लेगी । इस प्रकार प्रियतम की बात मान कर किसी वहाने से मुझे अन्यत्र भेज कर प्रिया प्रियतम स्वयम् कुन्ज में निलीन हो गये छिप गये । तब वे एकान्त में यमुना तट पर स्नान कर रहे हैं यह जान कहते हैं— कि मैं परिजन उनको ढूँढता हुआ और हा राधे ! अपने नागर के दिखाये हुए मार्ग पर क्यों नहीं जाती हो, अपितु यथार्थ में जाती ही हो यह बात सिर हिलाते हुए कही गयी है। यहाँ विदग्ध कहने का तात्पर्य यह है कि वह अंग प्रत्यंग को मलने का आस्वाद लेने में चतुर है। उसके दिखाये हुवे मार्ग पर दासो के बिना जाना इसलिये है कि प्रियतम के हाथ से स्नान करूँगी और देखूँगी कि कैसा सुख मिलता है । उस चतुर के ही दिखाये हुये मार्ग पर मैं तुम्हारा अभिप्राय जान गया हूँ । उस विदग्ध या नागर के संग दोष से क्या तुम विदग्ध या नागरी नहीं हो जायगी ? फिर हम भोले-भाले परिजनों का अधिकार कहाँ रहेगा । प्रियतम के हाथों से उद्वर्त्तन और स्नान का आस्वाद जान लोगो तब दासियों को सेवा का अवसर कहाँ मिलेगा इस प्रकार का

परं त्वहमपि तत्संगिन्येव कियच्छलयसि स्नानकस्तूरी तु जले पंकिला दृश्यते अत्रापि छद्म तु न संवृतं तज्जाने प्रियः स्वास्वादकुशलस्त्वामुन्मर्द्य स्नापयति त्वमानंदयसि साधु त्वमानंदं कुरु वयं त्वत्सुखे मग्नाः प्रियकृतदास्यचौर्यजेर्ष्यां न करिष्यामो वैदग्ध्यं ज्ञातम् अत एव स्वविदग्धेन स्वार्थकुशलेनेत्यर्थः त्वं तु कृपयादित एव परमार्थपरासि अतः स्वार्थमार्गं किं यासि न याहीति निषेधालापोक्तिः अर्थान्मा शीलं विग्लापय।

मत्सहितैव गच्छेति ध्वनिः अहोनिषेधोऽपि तु न मतस्त्वं तु गतैव दृश्यसे तदाधुना किं दास्यं कुर्यामिति त्वद्विना न स्थास्येऽतोवक्ति त्वत्स्नानोद्वर्त्तितत्यक्तजले एव स्नास्ये देहस्य कुत्सितशीलं यत्स्वकरेण सेवां चिकीर्षति साक्षाद्वा जालरंध्रेण रूपं दिदृक्षते नूपुरशिंजितं शुश्रूषति तत्परिमलं जिघ्रासति यतस्तद्भिया रहो गतौ ततः क्षणमपि विरहेण कुत्सनं कृतम् एतच्छीलमहमलं जह्याम् अद्यारभ्यैवं निश्चितमिति मल मल्ल धारणार्थत्वान्निर्मलो निर्धारकः स्यामिति

रसकलश

सख्य भाव से कटाक्ष किया गया है और यह कहा गया है कि मैं भी तुम्हारी संगिनी ही हूँ मुझे तुम कितना छलोगी तुम्हारे स्नान के समय कस्तूरी जल में मिल जायगी और मुझे दिख जायगी। तुम्हारा छल छिपा नहीं रहेगा। मुझे पता लग जायगा कि अपना आस्वाद लेने में कुशल प्रियतम तुम्हें मल मलकर नहला रहा है। तुम उसे आनन्द दे रही हो। बहुत अच्छी बात है। तुम आनन्द करो। हम तुम्हारे सुख में मग्न रहेंगी। प्रिय के द्वारा जो हमारे दास्यभाव की चोरी की गयी है उसके लिये हम कोई ईर्ष्या नहीं करेंगी। हमें उसकी विदग्धता का पता लग गया। यहाँ पर श्याम-सुन्दर को स्वविदग्ध कहने का यह भी तात्पर्य है कि वह स्वार्थ साधन में कुशल है। पर तुम तो कृपावश आरम्भ से ही परोपकार परायणा हो तब स्वार्थ के मार्ग पर क्यों जाती हो ? मत जाओ। यह निषेधार्थ वचन भी हैं। अर्थात् अपने स्वभाव को विग्लापित मत करो (मत बिगाड़ो)। मेरे साथ ही जाना यह व्यङ्ग्य अथ है, अहो निषेध करना विवक्षित नहीं है। तू तो चली गई ही दीखती है तो अब मैं क्या दास्य (सेवा) करूँगी। मैं तुम्हारे बिना नहीं रहूँगी अतः कहते हैं कि तुम्हारे स्नान और उबटन से छोड़े हुए जल में ही स्नान कर लूँगी। यह इस शरीर का दुष्ट स्वभाव पड़ गया है कि अपने हाथ से ही तुम्हारी सेवा करना चाहता है। साक्षात् या जाल रन्ध्रों में से तुम्हारा रूप देखना चाहता है, तुम्हारे नूपुरों की मनोहर ध्वनि सुनना चाहता है। तुम्हारी मालाओं की सुगन्ध सूँघना चाहता है। तुम दोनो इसी देह के भय से एकान्त में चले गये हो अतः क्षण भर के विरह में भी इस देह की निन्दा की गयी है। शरीर के इस स्वभाव को मैं अवश्य त्याग दूँगी। आज से ही मैंने निश्चय कर लिया है। यहाँ पर मल और मल्ल धातु धारण करने अर्थ में है अतः निमल का अर्थहोगा कि मैं निर्धारण करने वाला होऊँगा। अथवा यह शरीर मेरे वश में नहीं है। मैं इसके शील

अन्यच्च न मद्वशो देहोऽयं तच्छीलं न रोद्धुं शक्नोमि ततः स्नानव्रतेन त्यक्ष्ये इति शीलत्यागेन स्वार्थपरता त्यक्ता केवलतत्सुखिन्येव स्थास्ये अथत्त्विं तु श्रीमतो स्वार्थिसंगेन स्वार्थपरा भवसि नाहमितिकटाक्षः ।

अथवा व्रजगोपीरासनिलयनविडम्बचिकीर्षया प्रियं नीत्वा प्रिया लीना ततः सखी मार्गयंती तद्विडम्बनमंगीकृत्य तथैव निलयनसिद्धांतं वक्ति विदग्धदर्शितमिति 'नाहं तु सख्यो भजतोपि जंतून्भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये' इति भजतामभजनं निरंतरध्यानप्रवृत्त्यर्थकं ज्ञेयं न च काठिन्यमकृतज्ञत्वं तत्साधु तच्छिक्षितमार्गमेव याहि । वयमत्रैव कस्तूरीजलदर्शनस्नानेन ध्यानेनैव त्वदानंदमग्नाः स्मः । साक्षाद्देहेनालमितिकु इति भर्त्सनं छलोपेक्षिततया अकिंचित्करमननं यथा 'ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते' इतिवत् तद्देहजमलं पापदुःखमंतरायभूतं शृङ्गाररूपकस्तूर्यानंदेनैव जह्यामिति ।

रसकलश

स्वभाव को रोक नहीं सकता ग्रतः स्नान ग्रौर व्रत के द्वारा इसके स्वभाव का त्याग कर दूँगा ! इसके स्वभाव का त्याग हो जाने पर स्वार्थ परायणता का त्याग हो जाएगा ग्रौर मैं केवल तत्सुख सुखी होकर रहूँगी अर्थात् तुम श्रीमती स्वार्थी श्यामसुन्दर के संग से भले ही स्वार्थ परायणा हो जाग्रो मैं स्वार्थिनी नहीं होऊँगी यह कटाक्ष है ।

अथवा व्रज में गोपियो की रास में श्याम सुन्दर छिप गये थे उस लीला का उपहास करने की इच्छा से यहाँ भी प्रियतम का लेकर प्रिया जी छिप गयी । तब सखी उनको ढूँढती हुयी उस लीला को विड़म्बना को स्वीकार करके उसी प्रकार निलयन लीला के सिद्धान्त का वर्णन करतो हैं । यहाँ विदग्धदर्शित पथ का अर्थ यह है कि श्याम सुन्दर ने कहाँ था 'हे सखियों ! मैं तो भजन करने वाले प्राणियों का भी भजन नहीं करता जिससे उनकी मेरे अनुकूल चलने की वृत्ति प्राप्त हो । इस प्रकार भजन करने वालों का भी भजन न करना निरन्तर ध्यान की प्रकृति को बनाये रखने के लिये समझना चाहिये । इससे उनकी कठोरता या ग्रकृतज्ञता नहीं समझनो चाहिये । इसलिये बहुत ग्रच्छी बात है राधे ! तुम उनके सिखाये हुये मार्ग पर जाग्रो हम यहाँ ही तुम्हारे स्तनों की कस्तूरी से मिश्रित जल का दर्शन ग्रौर उसमें स्नान के द्वारा तुम्हारा ध्यान करते हुए तुम्हारे ही ग्रानन्द में मग्न हो जायेंगे ग्रौर यह ध्यान मन से हो सकता है साक्षात् शरीर की कोई आवश्यकता नहीं है । शरीर को कुदेह कहने का यह भी तात्पर्य है कि छल करते हुये प्रिया प्रियतम ने जिसकी उपेक्षा की है उस शरीर को हमने ग्रकिञ्चित्कर मान लिया है। अब तो श्री भदगवत में कथित "ध्यान से ही हम तेरे चरणों का मार्ग प्राप्त कर लेंगे इस उक्ति के समान उस शरीर में उत्पन्न हुए मल ग्रर्थात् पाप दुःख या अन्तराय भूतदोष को शृंगर रूपी कस्तूरी के ग्रानन्द से ही छोड़ दूंगा । एक ग्रौर बात है कि मान

किञ्च मानसिकभावदेहेन तु त्वन्निकटस्थितैव यथा "वारि फेरि देत प्रान देह सौं दुरो" इति दासीदेहभीता निलीनासि अतो भोगेन पुण्यं कुशलेन पापमितिवत् स्नानपुण्येनेति अत्र कौतुकविडंबनार्थत्वात्कुमलेति कर्णकटुत्वं न शंकनीयं सूक्ष्मतात्पर्यदर्शने फलमिति निर्मलेति यथा नेत्रयोः काचकामलादिदोषः कस्तूर्याद्यंजनेन नाश्यते तद्वत्कस्तूरीपंकिलस्नानेन निर्मलस्त्वद्विहारं मनसा पश्ये इति साक्षात्त्वत्प्रियकृतैकांतस्नानं नागत्य पश्याम त्वं मा बिभेषि निःशंकं स्नानं कुरु यदस्मद्दायो विहारानंददर्शनादिर्न केनापि रोद्धुं शक्यते नास्मदधिकारतत्सुखसुखित्वक्षतिरितिभावः ॥५६॥

प्रथमपक्षे तदेवं स्वस्वामिनीसंबंधभावविशिष्टनैर्मल्याशंसनमुक्तं ततस्तद्रहःपरिचारिकात्वाशंसनमाह द्वितीये पक्षे स्नानानंतरं शृङ्गारस्रक्चंदनभोगतांबूलसुधासवविलासादिविविधसाधनसाचिव्यं स्वकृतमाह दंपती प्रत्यपि स्नानस्मृतिपूर्वकं सकटाक्षं चाह—

रसकलश

सिक भाव देह से तो मैं तुम्हारे पास हो स्थित हूँ जैसा कि "वारि फेरि देत प्राण देह सौं दुरो" इत्यादि पद में कहा गया है। मेरे इस दासी देह से डर कर तुम छुप गयी हो अतः भोग से पुण्य का और पुण्य से पापका क्षय होता है इस सिद्धान्त के अनुसार स्नान पुण्य से मैं दासी देहज दोष को दूर करूँगो। वहाँ पर कौतूहल से विडम्बना मात्र की गयी है इसलिए कुदेहज मल शब्द को कर्णकटु नहीं समझना चाहिये क्योंकि इसके सूक्ष्म तात्पर्य को समझने पर हो इसका फल मिलता है और वह है निर्मलता। जैसे नेत्रों से कामला आदि दोष हो जाते हैं जो कस्तूरी से पंकिल जल में स्नान करने से मैं निर्मल हो जाऊँगा और तुम्हारे विहारों को मन से देखूँगा। प्रिय के द्वारा एकान्त में कराये गये तुम्हारे स्नान को वहाँ आकर हम साक्षात् नहीं देखेंगे। तुम डरो मत निःशंक भाव से स्नान करो क्योंकि हमारे दाय भाग भूत विहारानन्द के दर्शनादि को कोई भी नहीं रोक सकता और हमें अधिकार से प्राप्त तत्सुख सुखी होने को भावना की भी कभी क्षति नहीं हो सकती यह भाव है ॥५६॥

प्रथम साधक पक्ष में इस प्रकार अपनी स्वामिनी के सम्बन्ध से भावना से युक्त निर्मलता की कामना करना कहा अब उनकी एकान्त परिचारिका या दासी होने की कामना का वर्णन करते हैं। द्वितीय सिद्ध पक्ष में स्नान के बाद शृङ्गार, माला, चन्दन भोग, ताम्बूल और अमृतसे आसव तथा विलास आदि के विविध साधनों के जुटाने में अपने द्वारा किये साचिव्य का वर्णन करते हैं। प्रियाप्रियतम के प्रति भी स्नान का स्मरण कराते हुए कटाक्ष से कहते हैं—

पादस्पर्शरसोत्सवं प्रणतिभिर्गोविन्दमिन्दीवर
श्यामं प्रार्थयितुं सुमञ्जुलरहःकुञ्जांश्च सम्मार्जितुम्।
मालाचन्दनगन्धपूगरसवत्ताम्बूलसत्पानका
न्यादातुं च रसैकदायिनि तव प्रेष्या कदा स्यामहम्।६०।

हे रसैकदायिनि अहं तव प्रेष्या कदा स्यामिति रसमेवैकं ददातीति कुत्रचित्साधने श्रमः साध्ये रसस्तव तु तत्तत्कार्यप्रेषणे साधने केवलं रस एव अर्थात्तव रसास्वादे प्रसद्य दास्यमाशंसेन चैश्वर्यमाहात्म्ये न केवलेनेत्यर्थः अनेन निर्हेतुकप्रीतिरेव पर्यवसिता तवेति प्रियसद्भावेऽपि स्वामिन्यां पूर्णममत्वार्थं तत्कार्यप्रेषणाधिकारिणी प्रेष्या इयमेवात्र योग्येत्यर्थः अहमिति प्रयोगेण कृपापात्रत्वाहंकारः अन्यथा स्यामित्यत्रानुक्तोऽप्यायाति कर्त्ता प्रेष्यात्वे रसमाह ।

रसकलश

"नील कमल के समान श्यामवर्ण श्रीगोविन्द से प्रणामों द्वारा आदरपूर्वक रसोत्सव के लिये प्रार्थना करने के निमित्त तथा अतिमञ्जुल एकान्त कुञ्जों का सम्मार्जन करने के हेतु और माला, चन्दन, गन्ध, सुपारी, सरस ताम्बूल और उत्तम आसव ला. के लिये हे रस की एक मात्र दायिका श्री राधिका मैं तेरी परिचारिका कब बनूंगी ? ।।६०।।

हे रस की एक मात्र दायिका, मैं तुम्हारी परिचारिका (दासी) कब बनूंगी। एक मात्र रस को ही देती है इससे किसी साधन में श्रम का विधान लक्षित होता है, साध्य में रस तो तुम्हारे उस कार्य के लिये भेजने में भी है। साधन में केवल रस ही है अर्थात् तुम्हारे रसास्वाद में प्रसन्न होकर मैं दासीभाव की कामना करती हूँ केवल ऐश्वर्य के माहात्म्य से नहीं। इससे निर्हेतुक प्रीति में पर्यवसान होता है। यहाँ तव से 'तुम्हारी' दासी बनने की कामना का भाव यह है कि यद्यपि यहाँ प्रियतम भी विद्यमान हैं तथापि मेरी तो स्वामिनी में ही पूर्ण ममता है। उनके कार्यों में भेजे जाने का अधिकार प्राप्त करके प्रेष्या या दासी कब बनूंगी अर्थात् यही दासी कार्य के योग्य है ऐसी कब समझी जाऊँगी। 'अहम्' या 'मैं' के प्रयोग द्वारा कृपा पात्र होने का अहंकार प्रगट होता है, नहीं तो 'बनूंगी' यह कहने पर बिना कहे ही स्वयं 'मैं' कर्ता के रूप में उपस्थित हो जाता है। दासी भाव में प्राप्य होने वाले रस का निर्देश करते हैं क्या करने के लिये दासी बनना

किं कर्त्तुं पादेति प्रियापदस्पर्शरसे उत्सवो वा रस एवोत्सवो नवीनदिनं यस्य तं गोविंदं प्रणतिभिः प्रार्थयितुं प्रार्थनां कारयितुमित्यर्थः तादृशोत्सुको गोविंदो मामंतरंगिणीं प्रणत्यादिभिः प्रार्थयिष्यतीति तदर्थं वा चुरादित्वेपि प्रेरणार्थविशेषात्कर्मद्वयमपि पादस्पर्शरसोत्सवं प्रति गोविंदं मां प्रार्थयितुमिति प्रणतिबहुत्वं अनेकविधमनेकवारानिति यथा च वक्ष्यति ।

तादृङ्मूर्तिर्व्रजपतिसुतः पादयोर्मे पतित्वा
दंताग्रेणाथ धृततृणकं काकुवादान् ब्रवीति ।
नित्यं चानुव्रजति कुरुते संगमायोद्यमं चे
त्युद्वेगं मे प्रणयिनि किमावेदयेयं नु राधे ।।

इत्यादि न चेयं प्रार्थना प्रयोजनीति किञ्च तदीयप्रेष्याभवनमेवेदृशं यत्स्वत एव प्रियश्चटुलयेत्प्रणमेच्चेति यद्वा बुद्धिपूर्व्वकमपि कारयेत्तत्राह पूर्व्वं स्नानसेवा स्वयमेव प्रियेण कारिता ततः कामोद्बोधेन चरणस्पर्शोत्सवो जातस्ततो नेति हुंकृतिभ्रूभंगाद्युद्भूतः कलिरिति अलं ज्ञातमेतदर्थमेवात्र नीतिवानसि प्रियसखीं विना न कदाप्यागमिष्य इत्याद्युक्तौ तदानीमहमपि प्राप्ता प्रियाननुकूल्यं प्रियदैन्यं च दृष्ट्वा कटाक्षिप्योवोचाहम् अहो विदग्ध

रसकलश

चाहती हो ? प्रिया जी के चरण स्पर्श के रस में जो उत्सव है अथवा प्रियाजी के चरण स्पर्श का रस ही स्वयम् उत्सव है नया दिन है जिनका, ऐसे गोविन्द की प्रणामों द्वारा प्रार्थना कराने के लिये अर्थात् वैसे उत्सुक गोविन्द मुझ अन्तरंग सखीसे प्रणामादि द्वारा प्रार्थना करें इसके लिये अथवा प्रार्थयितुम् में चुरादिगण होते हुए भी प्रेरणार्थक प्रयोग के कारण यहाँ दो कर्म हैं—जिनका अर्थ होगा कि श्री प्रिया जी के चरण स्पर्श के रसोत्सव के प्रति गोविन्द मुझ से प्रार्थना करें। यहाँ पर प्रणति या प्रणाम में बहुवचन का प्रयोग अनेक प्रकार के और अनेक वार के प्रणामों का सूचक है। जैसा कि आगे कहेंगे—"उस प्रकार के सुन्दर स्वरूप वाले नन्दनन्दन मेरे चरणों में गिर कर दाँतों में तिनका लेकर दीन वचन बोलते हैं नित्य मेरे पीछे चलते हैं और आप से मिलने के लिये उद्यम करते हैं। हे प्रेममयी राधा मैं अपने इस उद्वेग को आप से कह दूँ क्या ?" इत्यादि ।

इस प्रार्थना को प्रयोजनक प्रार्थना नहीं समझना चाहिये। यहाँ तो केवल उनकी दासी बननाही अभीष्ट है। दासी बन जाने पर ये सब बातें अपने आप ही होगी। प्रियतम खुशामदे करेंगे और प्रणाम करेंगे अथवा बुद्धि पूर्वक भी उनसे ये स काम कराऊँगी उसका क्रम बताते हैं—पहले प्रियतम ने प्रिया जी की सेवा स्वयं की। उस समय कामोद्बोध हो जाने से चरण स्पर्श में रसोत्सव हुआ। तब नहीं नहीं कोई ! हुंकार और भ्रू भंग आदि के रूप में कलह प्रगट हुआ और प्रिया जी ने कहा बस मैं उत्तन गयी तुमने सब चालें इसीलिये चली हैं। अब मैं प्रिय सखी के बिना कभी नहीं आऊंगा प्रिया जी यह कह हो रही थी कि मैं वहाँ पहुँच गयी। प्रिया जी का रूठना

एकाक्येव स्वार्थं कृतवानसि । अपि चास्त्यस्मद्दायमात्मेश्वरीपदरसे इति साहाय्यं विनैव सांप्रतं किं न भुज्यतां स्वेष्टरस इति । पश्य सेवाचौर्य्यफल भुंक्ष्वेत्याद्युपहासपूर्व्वकं भीतिं विडंबयंती तदा प्रियो विलक्ष्य प्रणमति मनसा वचसा करेण दृष्ट्या चेति बहुत्वं प्रांजलिर्भूत्वाह पश्यावयोर्भेदं मा कुरु, अहं सदैव त्वद्वचने स्थितस्त्वदायत्तो नोपकृतिं विस्मरे, सदैव स्वामिन्यभिमुखे श्लाघयिष्ये येन प्रिया प्रसीदेत्तथा कुर्व्विति प्रियकृतलाघवशोभास्वाद-दिदृक्षया किंचिदुपालंभोऽपि प्रणतिहेतुः स्यादिति । अन्यच्च रणरसस्तु तदधि-कृतस्य सम्मतिं तत्प्रसादं च तद्दत्तंविना न प्राप्येत अतः पादस्पर्शरसार्थं तत्पददासी प्रार्थनं न च नायकत्वेन हठेन किं न प्राप्यते इति वाच्यं किञ्चोत्सवस्तु तदधिकृतसंमत्यैव स्यादिति ।

अन्यथा रसस्य तु न दौर्ल्लभ्यं लोकेऽप्युत्सवारंभप्राप्तौ तदधिकृत्यभिमा-

रसकलश

और प्रिय का दीन हो जाना देखकर कटाक्ष करते हुए मैंने कहा—अहो' नागर वर ! तुमने अकेले ही अपना स्वार्थ पूरा किया । हमारी स्वामिनी के चरण स्पर्श में तुम्हारा विशेष रस है तो अब सहायता के बिना ही अपना अभीष्ट रस क्यों नहीं चख लेते । देखो; सेवा की चोरी करने का फल भोग लो इत्यादि वचनों द्वारा उपहास के साथ भय की विडम्बना करती हुई मैं मौन हो गयी तब प्रिय ने लज्जित होकर मुझे मन से, वचन से, हाथों से और दृष्टि से प्रणाम किया इसलिये प्रणति शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है । हाथ जोड़ कर प्रियतम ने कहा—देखो, हम दोनों में भेद नीति का प्रयोग मत करो, मैं तो सदा ही तुम्हारे कहने में रहता हूँ, तुम्हारे अधीन हूँ तुम्हारे उपकारों को मैं कभी नहीं भूलूँगा । स्वामिनी के सामने तुम्हारी सदा प्रशंसा करूँगा । जिससे प्रिया जी मुझ पर प्रसन्न हों । ऐसा काम करो । इस प्रकार प्रिय के द्वारा किये गये लाघव (दीन भाव) की शोभा का आस्वाद देखने के लिये मैंने कोई उपालंभ दिया । मेरा वह उपालम्भ भी प्रणाम का कारण हुआ दूसरी बात यह भी है कि चरण स्पर्श का रस तो जो उस का अधिकारी है उसकी सम्पति के बिना नहीं मिल सकता और उसके दिये बिना उनका प्रसाद भी प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये पादस्पर्श का रस प्राप्त करने के लिये उनके चरणों की दासियों से प्रार्थना करना आवश्यक है । यहाँ नायक होने के कारण स्वयं ही क्यों प्राप्त नहीं कर लेते यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि उत्सव के अधिकारी की सम्मति से ही होगा नहीं तो रस तो उतना दुर्लभ नहीं है । लोक में भी उत्सव के आरम्भ में उसके अधिकारी अभिमानी देवताओं का प्रणामादि

मानिनां प्रणत्यादिभिरनुनयो दृश्यत इति एवं दासीनां कियत्सुखं प्रियस्याधीनतायां स्यादिति सहृदयगम्यमेवेति नानधिकारिषु कदापि वाच्यं प्रियासमीपेऽप्येवं कथनं तद्दास्योत्कर्षतत्सौभाग्योत्कर्षज्ञापनार्थं तु स्वैश्वर्यगंधः गोविंदमिति गां दृष्टिं विंदति दैन्येन नेत्रजीवं वा प्रियादृष्टीरिति क्षणशो दृग्भंगीवैविध्योदयं परीक्ष्य रत्नानीव प्राप्नोति केवलतन्नेत्रासक्तम् अ त एवां-जितकुवलयदलाक्षिप्राप्तितन्मयतया चेन्दीवरश्यामतां प्राप्तं यथा "तेरी भौंह की मरोर में ललित त्रिभंगी भये अंजन चितये भये स्याम" इति प्रतिरोमसु तच्छटैव संक्रामितेति सौकुमार्येण नम्रतया च प्रियाश्रुतौ दयनीयतोत्पा-दकतापि यद्वा "कृष्णः पक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालो नीलांभोदस्त-व रुचिपद"मित्यपि रुच्युद्दीप्त्यर्थं यद्वा तादात्विकी श्यामसुन्दरस्य प्रणमतः। शोभा दर्शनीयैव एवमेको रसहेतुः प्रार्थयितुमित्युक्तम्, ततश्च प्रसादे

रसकलश

द्वारा अनुनय करना देखा गया है इसी प्रकार प्रियतम की अधीनता में दासियों को क्या सुख होगा इस विषय में सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है। यह बात अनधिकारियों के समक्ष कभी नहीं कहनी चाहिये। प्रिया जी के समक्ष भी ऐसा कहना केवल उनके दासी भाव का उत्कर्ष और उनके सौभाग्य का प्रकर्ष प्रगट करने के लिये है।

यहाँ गोविन्द में अपने ऐश्वर्य की गन्ध भी नहीं है। अपितु जिस दृष्टि को गोविन्द प्राप्त-करने के कारण दीनता से प्रिया की दृष्टि ही इनके नेत्रों का जीवन है इसलिए क्षण क्षण में प्रिया जी के दृग्भङ्गियों की विविधता का उदय ऐसे प्राप्त करते हैं जैसे कोई परीक्षा करके रत्नों को प्राप्त करता है। यह केवल प्रियाजी के नामों में ही आसवत रहते हैं। इसीलिये काजल वाले नील कमल दल के समान नेत्रों की प्राप्ति में तन्मय हो जाने के कारण ये भो नील कमल के समान श्याम हो गये हैं जैसा कि कहा भी है–"तेरी भौंह मरोर में ललित त्रिभंगी भये अन्जन दे चितये भये हैं श्याम वे"। इनके प्रत्येक रोम में प्रियाजी के नेत्रों की छटा ही संक्रान्त हो गयो है इसीलिए सुकुमारता, नम्रता, और प्रियाजी की दृष्टि में अपनी दयनीयता की उत्पादकता भी इनमें है अथवा–"कृष्ण-पक्ष, नया नील कमल, कृष्ण सार मृग, तमाल का वृक्ष और श्याम घन ये सब तुम्हारी रूचि का विषय है"। इत्यादि वचन भी प्रियाजी की रुचि को उद्दीप्त करने के लिए ही कहे गये हैं अथवा उस समय प्रणाम करते हुए श्यामसुन्दर की शोभा दर्शनीय ही होती है यह एक रस का हेतु है जिसके लिए प्रार्थना करने की बात कही गयी है। ऐसी प्रार्थना करने पर प्रियाजी प्रसन्न हो गयी और दोनों को निकुंज में ले जाने के लिए

जाते उभयोर्निकुञ्जप्रेप्सया प्रथमं गृहं यामि तत्राह सुमंजुलरहःकुंजान् संमार्जितुमिति लतादिनिर्मितेष्वपि दृढगोपनीयं रह इति न च केवलं रह एव तत्र विदग्धयोर्दृगानंदार्थं मंजुलेति दृङ्मनोहरता पुष्पपल्लवभ्रमर-स्थानसौन्दर्यं तत्रापि निर्मातृक्रियां विनैव स्वतोऽभितो वप्रगोपुरवितान-स्तंभजवनिकास्तरणमित्यादि सौष्ठवं यथार्हकौशलम् । तत्र च वृन्दया स्वच्छ समीकृतिसंपादितेष्वपि मार्जनं यत्स्वप्रभुसेवायां विश्रंभेऽपि तावन्निभालन दास्यसावधानतार्थम् अतएव समुपसर्गः पुष्पपरागमार्जनं वा ।

तत्र किं रसोदयस्तत्रैवं ज्ञेयम् । अत्रैवं विहारः सेत्स्यतीत्यत्रैवमिति भविष्यद्भावनानन्दः अथवा 'राधामाधवोर्विचित्रसुरतारंभे निकुंजोदर स्रस्तप्रस्तरसंगतैर्वपुरलं कुर्व्वेऽगरागैः कदा । तत्रैव त्रुटिताः स्रजो निपतिताः संधाय भूयः कदा कंठे धारयितास्मि मार्ज्जनकृते प्रातः प्रविष्टास्म्यह,मित्यादि

रसकलश

पहले निकुंज में मैं जाती हूँ । इसलिए कहा है कि परम मञ्जुल एकान्त कुञ्जों में सम्मार्जन करने के लिए लता आदि से निर्मित कुञ्जों का भी एकान्त होना उनकी अत्यन्त गोपनीयता के लिए कहा गया है । केवल एकान्त होना ही नहीं नागरी और नागर के नेत्रों के आनन्द के लिए इन कुञ्जों में नयनाभिरामता भी है । पुष्प पत्र, भ्रमर और स्थान की सुन्दरता भी है अतः इन्हें मञ्जुल भी कहा गया है । उस पर भी निर्माता के प्रयत्न के बिना ही अपने आप चारों ओर परकोटा द्वार वितान स्तम्भ यवनिका और आस्तरण आदि की सुष्ठुता अर्थात् यथोचित निर्माणकौशल भी है अतः इन्हें सुमञ्जुल कहा गया । इन सुमञ्जुल और एकान्त कुञ्जों को श्रीवृन्दादेवी ने स्वच्छ और समरूप में सम्पादित किया है । अतः यहाँ मार्जन का अर्थ अपनी स्वामिनी की सेवा में विश्वास होने पर भी उन्हें जाकर देखना यह दासी भाव की सावधानता के लिए कहा गया है और उस मार्जन में सम् उपसर्ग लगाया गया है अथवा पुष्पों के पराग आदि को झाड़ देना यही यहाँ सम्मार्जन है ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वहां किस प्रकार रसोदय हुआ ? उसके विषय में यह जानना चाहिये कि यहां इस प्रकार विहार होगा इस भविष्य की भावना का आनन्द ही एक रसोदय है अथवा प्रातः काल कुञ्जों का मार्जन करने के लिये मैं यहाँ आयो हूँ ।—विचित्र सुरत के आरम्भ में निकुञ्ज के अन्दर अस्तव्यस्त हुए विस्तर पर लग गये राधा माधव के अङ्ग रागों से मैं अपने शरीर को कब अलंकृत करूँगी और वहीं टूट कर गिर पड़ी मालाओं को फिर से जोड़कर कण्ठ में कब धारण करूँगी ? इत्यादि वाक्यों में कहे हुए के अनुसार पहले हो चुके विलासों के स्मरण का आनन्द भी यहाँ

पूर्व्वजातविलासस्मरणानंद इति कुंजबहुत्वं यथासमयविलासवैविध्यार्थं संमार्जयितुमिति द्वितीयो हेतुः पुनश्च तत्तद्विलासिभोगौपयिकादानार्थं कार्य-व्यापृततानंदमाह मालेति तावत्प्रियो नाभुक्तां परिदधातोति दास्याभिमानेन प्रियांके विन्यस्य शोभां निरीक्ष्य ततः प्रसादं प्राप्नोतीति अन्यान्यप्येवं तन्निर्मितभूषणानि ज्ञेयानि परिधाने परस्परं सुखं किं स्यादिति कौतुकं सखीहृद्गम्यम् चंदनेति परस्परचर्च्चायां प्रत्यवयवलेपने करचालनं कंपसात्विकादिकौतुकं च भावनीयम्।

गंधेति सौगंधिकस्नेहसारादिकस्तूरीकुंकुमाद्यपि मकरिकाचित्रञ्च गंडस्थले कंचुक्यादिनिर्माणचित्रमुरोजयोस्तत्रापि लौल्यकौतुकं प्रियकृतं प्रसादधारणं च विविधरीत्या भावनीयम्। पूगेत्युपलक्षणेनान्येऽपि जातीपत्र्या-दितांबूलोपयोगिविशेषा द्रष्टव्या वा तेषां रसवदिति तत्तत्सारभूतरसवैशिष्ट्यं सुकुमारमुखार्हत्वात् तादृशं च तांबूलं तत्तत्कौतुकहाससहितपरस्परमुख-

रसकलश

रसोत्सव है। यहाँ कुञ्जों में बहु वचन समयानुसार विलासों की विविधता को घोषित करता है। इस प्रकार कुञ्जों का सम्मार्जन करना दूसरा कारण है अब उन उन विलासों के भोग के लिये उपयुक्त सामग्रियों के लाने के लिये सेवाकार्यों में व्यस्त रहने के आनन्द का वर्णन करते हैं—प्रियतम प्रिया जी के द्वारा उपक्भुत न हुई वस्तु को धारण—नहीं करते। दास्य भाव के अभिमान से माला आदि को प्रियाजी के अङ्क में धारण कराकर उसकी शोभा देखकर प्रसाद रूप में उसे लेते हैं। अन्य भी प्रियतम के द्वारा पुष्पों के बनाए हुए भूषणों के विषय में ऐसा ही जानना चाहिये इस परस्पर माला भूषण आदि के धारण कराने में क्या सुख होता है इस कौतुक को तो सखियों का ही हृदय जान सकता है। ऐसे हो परस्पर एक दूसरे के श्री विग्रह में चन्दन की चर्चा करने में भी प्रत्येक अंग पर चन्दन का लेपन करने के समय कर कमलों का संचालन और कम्प आदि सात्विक भावों का कौतूहल भी समझ लेना चाहिये। इत्र फुलेल आदि और कस्तूरी कुंकुमादि सौगन्धिक पदार्थ यहाँ पर गन्ध कहे गये हैं। उनके द्वारा गण्डस्थल पर मकरिका चित्रों की रचना और वक्षस्थलपर कञ्चु की आदि के आसपास चित्र-लताओं का निर्म्माण उसमें भी चञ्चल स्वभाव से प्रिय द्वारा अनेक कौतुक करना और उनके प्रसाद को धारण करना इत्यादि अनेक रीतियों से उसकी सम्भावना भी कर लेनी चाहिये। पूग या सुपारी के उपलक्षण से अन्य भी ताम्बूल के उपयोगी विशेष पदार्थ समझ लेने चाहिये। उनके रस से युक्त कहने का तात्पर्य है कि उन उन पदार्थों के सारभूत रस से विशिष्ट प्रिया प्रियतम के सुकुकार मुख के योग्य वैसे ताम्बूल को और उसके लिये कौतुक और हास्य सहित एक दूसरे के हाथ से ताम्बूल का मुख में लेना आदि को भी कल्पना कर लेनी चाहिये। सत्पानक शब्द से उन नऌ उन्मादक मकरन्द

ग्रहणं भाव्यम् सत्पानकेति तत्तन्मादकमकरंदाद्यासवादि वा मधुरामृतपानाद्येव पानकं सदिति। अनर्घ्यमत्युत्तमं तत्तद्विलासेष्वादिमध्यावसानेषु परमानंदवैचित्र्यात्सत्वं तत्र प्रसादीकृतग्रहणं तु प्रियस्यास्त्येव परस्परचषकग्रहणानुनयतिरस्कृत्याद्यपि मत्ततायां सहृदयगम्यमेवेति तत्तद्रसास्वादं हृदि निधाय मालाद्यादातुमिति तृतीयो हेतुः अतः सर्व्वथा सर्वदा रसैकदायिनि तव प्रेष्या कदा स्यामिति अत्र तत्तत्कार्ये प्रेषणमपि प्रियैव कृतमिति।

अन्यच्चार्थान्तरमप्याह लौल्यजमानं दृष्ट्वाहं प्रियं शिक्षये पाद स्पर्शरसोत्सवं प्रणतिभिः प्रार्थय न तु नायकत्वलौल्येनेत्युक्तस्तथैव मच्छिक्षां करोतीति प्रार्थनाकारयितव्यताप्यंतरंगसखीधर्मः यद्वा स्पर्शः पादसंवाहनादौ वा यावकभरेण तत्र तस्या अमननेऽपि प्रियं प्रति पूर्व्वोक्तं शिक्षये इति यद्वान्योपि कटाक्षार्थः स्नानानंतरस्पर्शोत्सुकताजातकलिं दृष्ट्वा प्रियामाह कथं त्वमेकाकिनी गतासि परस्परलज्जालौल्यकलहः प्रतिभुवं विना न

रसकलश

आदि आसव अथवा मधुर अमृत पान आदि लिये जाते हैं। सत्पानक में सत्व उसकी अनर्ध्यता या अत्युत्तमता को प्रगट करता है और उन उन विलासों में आदि मध्य अन्त में परम आनन्द का वैचित्र्य देने के कारण भी उन पानकों को सत् कहा गया है। फिर उसको प्रसाद करके लेना यह तो प्रिय का नियम ही है अतः एक दूसरे से प्याला लेना अनुनय करना या तिरस्कार करना आदि बातें भी उस मतवालेपन में सम्भव होने से सहृदयों के हृदय से ज्ञात हो ही जायेंगे। उस उस रस के आस्वाद को हृदय में धारण करके माला आदि लाने के लिये यह तीसरा कारण है। सब प्रकार से सर्वदा रस मात्र देने वाली स्वामिनी मैं तेरी दासा कब बनूँगी यह प्रार्थना की गई है। इसका अर्थ है कि उस उस कार्य में श्री प्रियाजी ही मुझे भेजती हैं।

इसका एक और भी अर्थ कहते हैं— प्रिय की चञ्चलता से प्रियाजी का मान होता देख मैं प्रियतम को सिखाती हूँ कि हे श्यामसुन्दर तुम प्रिया जी से चरण स्पर्श के रसोत्सव की प्रणामों द्वारा प्रार्थना करो न कि नाम नामक पने और अस्थिर पने से यें कहने पर उन्होंने मेरी शिक्षा के अनुसार वैसा हो किया। इस प्रकार प्रार्थना करवाना भी अन्तरंग सखी का धर्म है अथवा पादस्पर्श चरणसम्वाहन आदि के समय और महावर आदि लगाने के समय हो सकता है इसलिये जब प्रियाजी ने मान न भी किया होता तब भी प्रिय को पूर्वोक्त शिक्षा देती हूँ अथवा इसका अन्य भी एक कटाक्ष (व्यंगय) रूप अर्थ निकलता है। स्नान के अनन्तर स्पर्श की उत्सुकता से प्रिया प्रियतम में हुए प्रणय कलह को देखकर श्रीहित सखी ने प्रियाजी से कहा क्यों तुम अकेली ही चली गयी?

समाक्रियते स्वार्थोऽपि चास्मत्सहायेन सेत्स्यति पुनश्च शृङ्गारगंधवीटिका-द्यपि तु तत्राऽर्हतेऽतो मादृशी संगिन्येवार्हा एवं प्रियं प्रत्यपि ज्ञेयं तत्पूर्व्वमुक्तमेव ततः प्रियकृतप्रार्थनानंतरसखीकृतप्रियाविषयिकप्रार्थनाजातप्रसादे सत्याह अहो मदुक्तिमंगीकृत्य प्रसन्ना प्रियं रसं ददातीति रसदायिनीत्यर्थश्च ॥६०॥

एवं दास्यप्राप्त्यनंतरं यत्स्वरूपानंदोऽनुभूतः अनुभवे च सति यद्यदन्यद् दृष्टश्रुतपूर्व्वस्वरूपं भासते तत्तदाहः—

लावण्यामृतवार्तया जगदिदं संप्लावयन्ती शर-
द्राकाचन्द्रमनन्तमेव वदनज्योत्स्नाभिरातन्वती ।
श्रीवृन्दावनकुञ्जमञ्जुगृहिणी काप्यस्ति तुच्छामहो
कुर्व्वाणाखिलसाध्यसाधनकथां दत्त्वा
स्वदास्योत्सवम् ॥६१॥

रसकलश

यह आप दोनों का लज्जा और चञ्चलता का कलह किसी प्रतिभू (जामिन) के विना शान्त नहीं किया जा सकता और स्वार्थ भी हमारी ही सहायता से सिद्ध होगा फिर शृङ्गार की सामग्रियां सुगन्धित पदार्थ और पान का बीड़ा आदि भी तो वहाँ अपेक्षित होते हैं, इसलिये आपके साथ मेरी जैसी संगिनी होनी ही चाहिये। ऐसे ही प्रिय के प्रति भी—जानना चाहिये सो पहले ही कह चुके हैं। तब प्रिय के द्वारा की गयी प्रार्थना के बाद प्रिया विषयक प्रार्थना से जब प्रसाद या प्रसन्नता प्राप्त हुई तब मेरी बात को स्वीकार करके प्रसन्न हुई प्रियाजी प्रिय रस प्रदान करती हैं यह भी रस दायिनी शब्द का अर्थ है ॥६०॥

इस प्रकार दासी भाव प्राप्त करने के बाद जिस स्वरूपानन्द का अनुभव किया और उस अनुभव में जो जो कहीं न देखा सुना गया अपूर्व स्वरूप भासित हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—"अपने लावण्यतामृत को वार्ता या चर्चा से इस जगत को आप्लावित करती हुई और अपनी मुख चन्द्रिकाओं से शरत्कालीन पूर्णिमा के अनन्त चन्द्रों को फैलाती हुई अपना दास्योत्सव देकर समस्त साध्य और साधनों की कथा को तुच्छ बनाती हुई अहो श्रीवृन्दावन के कुञ्ज ही जिसके मञ्जुल गृह हैं। ऐसी कोई (अनिर्वचनीय) गृहिणी है ॥६१॥

लावण्येति काप्यनिर्वचनीया सर्व्वविलक्षण स्वरूपा श्रीवृन्दावनकुंज मंजुगृहस्वामिन्यस्ति गृहिणीत्यनेन तत्तत्तरुलतावल्लीपतत्त्रिजलस्थलानां संप्रीणनोपलालनतत्तत्क्रीड़ाविलासकार्यव्यापृतत्वं तत्रैव नित्यस्थायित्व-मुक्तं 'यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वर' इति वत्तदायत्तत्वं प्रिय स्योक्तं वैलक्ष्यण्यमाह प्रकटसाधकदशापक्षे स्वदास्योत्सवं तदुत्सुकतां किमुत पूर्णदास्यमिति दत्त्वा अखिलानां साध्यानां साधनानां च स्वरूपतः करणं किमुच्यते कथामेव तुच्छां कुर्व्वाणा यद्दास्योत्सुक्यापेक्षया सर्व्वसाध्यादि-वार्तैव तुच्छालगति तदा पूर्णदास्ये किमुच्यत इति यदैवं तदा श्रद्धादराभावात्कथं साधने प्रवृत्तिः स्यात् किञ्च सर्व्वसाध्यशिरोमणिः कृष्णभक्तिरस्ति यदा तत्साध्यसाध्योऽपि यत्किंकरीप्रार्थनाशीलस्तदा कः संशयस्तुच्छतायामिति अहो इत्याश्चर्यं तत्तत्साध्यसाधननिष्ठलोकापेक्षयोक्तम् 'चेतोभिसर तत्रैव यत्र कोपि न गच्छति। उच्चस्थलानि न्यूनानि भासन्ते यत्र तिष्ठता,मिति वत् ॥१॥

रसकलश

'कापि' अर्थात् कोई का अर्थ अनिर्वचनीय है। वह सबसे विलक्षण स्वरूप वाली श्रीवृन्दावन के कुञ्जरूपी मञ्जुल गृहों की स्वामिनी है। गृहिणी शब्द से उन उन तरुओं लताओं वल्लियों पक्षियों तथा जल स्थल सबका सम्प्रीणन (तर्पण) उपलालन और उन उन क्रीड़ा विलास के कार्यों में व्यस्त रहने वाली और नित्य श्रीवृन्दावन कुञ्जों में ही स्थिर रहने वाली जिन पर अपना सब भार छोड़कर पुरुष निश्छल विचरता है इत्यादि वचनों के अनुसार प्रिय उनके अधीन हैं अब उन स्वामिनी जी की विलक्षणता बताते हैं। प्रकट साधक दशा के पक्ष में वे अपने दास्यभाव के उत्सव को अर्थात् उसकी उत्सु-कता को या दासीभाव को देकर समस्त साध्यों और साधनों को स्वरूप से तुच्छ करना तो क्या कहा जाय उनकी कथा को भी तुच्छ करती हैं अर्थात् जिनके दासी भाव की उत्सुकता के सामने अन्य सभी साध्य साधनों की बात भी तुच्छ सी लगती है तब पूर्णतया दास्य प्राप्त हो जाने पर तो उनका कहना ही क्या ! जब यह बात है तब साध्य साधनों के प्रति श्रद्धा और आदर न रहने पर साधनों में प्रवृत्ति कैसे होगी और समस्त साध्यों में शिरोमणि श्रीकृष्ण की भक्ति भी कैसे होगी और जब वह साध्यों के साध्य कृष्ण भी श्रीराधा जी की किंकरियों (दासियों)के सामने प्रार्थना करते रहते हैं तब तो उन साध्य साधनों को तुच्छता में कोई सन्देह ही नहीं रहा। इसीलिये अहो शब्द द्वारा आश्चर्य प्रगट किया गया है। उन साध्य साधनों में निष्ठा रखने वाले लोगों की अपेक्षा से कहा गया है—"हे मेरे चित्त तुम वहीं चले चलो जहां कोई नहीं जाता जहाँ पहुँचे हुओं के सामने ऊँचे ऊँचे स्थान भी नीचे या छोटे दिखायी देते हैं इस प्रकार की तुच्छता साध्य साधनों को प्राप्त होती है।

स्वानुभूतं तत्स्वरूपमाह लावण्येति यस्या लावण्यमेवामृतं तस्य वार्तया इदं जगत्सर्व्वमेवेति कोऽपि शृणोतु सर्व्व एव मोहितो भवति अन्यत्रामृतेन प्लवनं घटते नतु तद्वार्त्तया अत्रामृतवार्त्तयैवेति वैचित्र्यं वा इदमिति श्रीवृन्दावनभावनिष्ठानां वा निष्ठाभावेऽपि तदाश्रितमात्राणां साधारण्याज्जगदित्युक्तं अथवा इदं वृन्दावनस्थावरजंगमात्कं पक्षिणोऽपि तरुवल्ल्याद्यपि तद्वदनवार्ताशुश्रूषवस्तेनैव पोषितास्तत्सुखनिष्ठा इति भावः आभ्यंतरपक्षे तु गच्छति प्राप्नोति शृङ्गाररसं प्रस्तुतभावमिति जगत् परिकररूपमत एवेदमित्यङ्गुल्या निर्द्देशेन हितसखी वक्तीति ।

अथवा वार्त्ता आजीव्यं तेन सर्वमाप्यायर्यति अथवा स्वमुखेन प्रिया वक्ति तत्समयानंदमाह लावण्ययुक्ता याऽमृतवार्त्ता तया परिकरस्तु स्नायादेवापि इयदुत्फणितं येन सव्वं स्नायादित्यचित्यशक्तिरुक्ता । लावण्येति रोचकता कलकंठस्वरे वर्णेषु च श्रुत्यः संतोषोऽपि अमृतेति माधुर्यस्वादुतात्रैकालिक

रसकलश

अब अपने अनुभव में आया हुआ प्रियाजी का स्वरूप बताते हैं—जिनका लावण्य ही अमृत है और उसकी चर्चा से यह सारा जगत ही आप्लावित हो जाता है। अब उस चर्चा को कौन सुने सब तो उसी में आप्लावित या मोहित हो गये। अन्यत्र तो अमृत से आप्लावित होनासम्भव है अमृत की चर्चा से नहीं किन्तु यहाँअमृत की चर्चा से ही जगत सम्प्लावित हो गया आप्लावित हो नहीं यही विचित्रता है। इदम् जगत् या यह जगत कहने का भाव है जिनके मन में श्रीवृन्दावन के प्रति भावनिष्ठा है अथवा निष्ठा के बिना भी जिन्होंने वृन्दावन का आश्रय ले लिया है उनको साधारणतया यहाँ जगत कहा गया है अथवा यह वृन्दावन ही स्थावर शृङ्गारात्मक रूप से जगत है जिसके पक्षी और तरु लता आदि भी प्रिया जी के श्रीमुख की वार्ता सुनना चाहते हैं उनसे ही घोषित होते हैं उनके ही सुख में अपना सुख समझते हैं। आभ्यन्तर पक्ष में जगत का अर्थ होगा 'गच्छति अर्थात् प्राप्नोति शृंगाररसप्रस्तुत भावम्' अर्थात् शृंगार रस के प्रस्तुत भाव को जो प्राप्त करे उसका नाम जगत है अतः परिकर रूप ही जगत है जिसे इदम् या यह कह कर अङ्गुलि के निर्देश से श्रीहितसखी बता रही हैं अथवा 'वार्ता' यह जीविका का नाम है इसलिए यहां लावण्यामृत ही सबको जीविका है। सब उसी से आप्यायित होते हैं अथवा यह लावण्यामृत वार्ता श्रीप्रिया जी के द्वारा कही गयी है। श्रीहित सखी उस समय के आनन्द का वर्णन करती हैं-यह लावण्य युक्त जो अमृत वार्ता है उससे परिकर तो स्नात हो ही जाता हैं किन्तु वह अमृत इतना उफनता है कि उसमें सारा जगत् स्नान कर लेता है इस प्रकार उस लावण्यामृत को अचिन्त्य शक्ति का वर्णन किया गया है। लावण्य शब्द का अर्थ है रोचकता। कोकिल के मधुर स्वर जैसे वर्णों में श्रुति का संतोष वार्ता

दुःखनाश एकरसत्वं सरसत्वं चैते गुणाः श्रोतृष्वायान्तीति संप्लावनेन सांद्रता बाहुल्यं समिति नित्यता शरदिति चंद्रोदयसमयोऽपेक्ष्यते चेत्तत्राह स्वमुख-ज्योत्स्नाभिस्तमनंतमेव विस्तारयति चीरवद्दृष्टान्तो ज्ञेयः अथवा नास्त्यंतो यस्येति अनस्तमनतो द्योतिता बहुत्वेन ज्योत्स्नायाः प्रतिक्षणविलक्षणच्छवि प्रसरणत्वविशेषांगीकारेण सामान्याभावः प्रतिबिंबार्थोऽपेक्ष्यते चेत्तत्रैवं ज्ञेयं यथा'पत्रप्रसूनवीचि प्रतिबिंवहि नखशिखप्रिया जनावै'इति सर्व्वत्र कुञ्जावयवेषु तत्प्रतिबिम्बादनन्तत्वं नखमुखबिंबस्यैकत्वाच्चन्द्रमित्येकत्वं एकोऽप्यनेको जातस्तदा प्रसिद्धचन्द्रसाधारण्ये को विशेषस्तत्राह अनंतेति चन्द्र प्रतिबिम्बस्य

रसकलश

का लावण्य है और अमृत का अर्थ है माधुर्य स्वादिष्ठता—अमृत में तीनों कालों के दुखों का नाश करना एक रस और सरस रहना इत्यादि गुण श्रोताओं में भी आ जाते हैं। घन शब्द से घनता या बहुलता और सम् से नित्यता व्यक्त होती है। शरत् शब्द चन्द्र के निरावरण उदय काल को बताता है। शरत् कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा को श्रीराधा अपने मुख की चन्द्रिकाओं से अनन्त विस्तार प्रदान करती हैं यहां पर द्रोपदी के चीर का दष्टान्त जानना चाहिये अथवा अनन्त का अर्थ है जिसका अन्त न हो इससे यह द्योतित होता है कि श्रीराधा के मुख की चन्द्रिकाओं से जगत ऐसा सम्प्लावित हो जाता है जैसे शरत् कालीन पूर्णिमा का चन्द्र उदय तो हुआ हो पर उसका अस्त कभी न हुआ हो ज्योत्सना में बहु बचन का प्रयोग ज्योत्स्ना के द्वारा प्रतिक्षण विलक्षण छटा के प्रसार विशेष को स्वीकार करने के द्वारा ज्योत्स्ना की साधारणता का अभाव प्रतीत होता है। ये ज्योत्स्नायें असाधारण हैं। यदि कोई कहे यहाँ बिम्ब प्रतिबिम्बभाव अपेक्षित है तो ऐसा जानना चाहिये कि "पत्रप्रसून बीच प्रति बिम्बित नखसिख प्रिया जनावत" इत्यादि पदों में वर्णित कुञ्ज के सभी अवयवों में प्रतिविम्बित हो जाने पर मुखबिम्ब के एक होने से चन्द्र में एकत्व रहते हुए भी प्रतिबिम्बों में वह एक चन्द्र अनेक हो गया। तब प्रसिद्ध चन्द्रमा के सादृश्य से मुख में क्या विशेषता रही इस पर कहते हैं कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब तो तभी तक रहते हैं जब तक चन्द्रमा रहता है और तभी तक लावण्य भास्वरता और अमृत आदि का आवेश रहता है। चन्द्र मण्डल के अस्त हो जाने पर उसके प्रतिबिम्बों और धर्मों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। यहां प्रियाजी की मुखचन्द्रि-का जहां भी पड़ जाती है वहाँ उसका आवेश अखण्ड बना रहता है और लावण्य अमृत आह्लाद सरसता आदि धर्म आवेश्य (जिन पर श्रीराधा जी की मुख चन्द्रिका का आवेश हो जाता है उन) को नहीं छोड़ते यह विशेषता है। इसीलिये श्रीराधा मुख चन्द्र को अनन्त चन्द्र कहा गया है।

तु यावत्स्थितिमात्रं तावदेव लावण्यचमत्कारभास्वरतामृतावेशः अस्ते बिम्बेतदंतर्भावो धर्माणामपि च अत्र प्रियामुखज्योत्स्ना यत्र पतिता तत्रावेशाव्ययत्वं लावण्यामृताह्लादसरसधर्मान्तावेश्यास्त्यजंतीति विशेषः ऐश्वर्य्ये तु किरणसमूहैरनंतचन्द्रा उत्पद्यन्ते इति यथा राकाचन्द्रो वराक इत्यत्र कलामात्रकस्याणुतोऽपीति राकानेकविचित्रेति ।

अनन्तमेवेति न सांतस् अन्तस्तु क्षयवृद्धिकलङ्कग्रासदिनग्लानिहिमकार्कश्यादिरिति तद्रहितदिव्यचन्द्रानन्त्यमित्यर्थः। अनेन आह्लादकत्वं किमुच्यते आह्लादकजनकत्वमिति आनन्दमूलभूतमित्यर्थः आतन्वतीति यथा दीपप्रभानवनवोदये दृष्टांत एकदेशीयः पूर्व्वपद्यसंबन्धमाह-प्रार्थना प्रियेण कृता तदांगीकृत्य कुञ्जमञ्जुगृहे प्रियेण सह सम्भाषमाणा तत्समये मद्हृदयानन्दप्लवनं किं वच्मि सर्व्वं संप्लावितं ज्ञातं ततः प्रसादस्मितचन्द्रिकाप्रसरेण कोटिचन्द्रोदया भासिताः यथोक्तं 'श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्ती' मिति मंजुगृहिणीति स्वहृदयसाक्षित्वेन तादात्विकदर्शनीयतोक्ता ।

रसकलश

ऐश्वर्य भाव में इस श्लोक का यह अर्थ है कि श्रीराधा मुखचन्द्र की किरणों के समूह से अनन्त चन्द्र उत्पन्न होते हैं जैसा कि राकाचन्द्रो वराकः इत्यादि श्लोक में कला मात्रकस्याणुतोऽपि इत्यादि शब्दों द्वारा तथा राकानेकविचित्रचन्द्र उदितः इत्यादि प्रकृत श्लोक द्वारा बताया गया है। अनन्त ही यह कहने का तात्पर्य है कि उसका अन्त नहीं है। अन्त शब्द क्षय,वृद्धि,कलङ्क,ग्रहण, दिन में ग्लानि, ठण्डेपन के कारण कर्कशता आदि अर्थों का उपलक्षण है। इन सबसे रहित दिव्य चन्द्रों की अनन्तता प्रियाजी के मुखमें है यह भाव समझना चाहिये। इस चन्द्रमा से कितना आह्लाद प्राप्त होता है यह क्या कहा जाय? जबकि यह मुखचन्द्र आनन्द को भी आनन्द देने वाले नन्दनन्दन के भी आनन्द का मूल कारण है। यहा पर आतन्वती या फैलाती हुई इस शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक की प्रभा का क्षण-क्षण नवोन-नवीन उदय होता है और वह प्रकाश को फैलाता है। यह दृष्टान्त एकदेशीय है। अब पूर्व पद्य से सम्बन्ध बताते हैं यहाँ प्रिय ने प्रार्थना की तब उसे स्वीकार करके कुञ्जरूपी मञ्जुगृह में प्रिय के साथ संभाषण करती हैं। उस समय मेरे हृदय को जो आनन्द से आप्लावन प्राप्त होता है उसका मैं क्या वर्णन करूँ? जब सबको आनन्द से आप्लावित जाना तब प्रसन्नता की मुस्कान रूपी चन्द्रिका के प्रसार से कोटि-कोटि चन्द्रोदय भासित होने लगे जैसा कि 'श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्तीम् इत्यादि श्लोक में कहा जा चुका है। यहाँ मञ्जुगृहिणी कहने का यह भाव है कि मेरा हृदय उस समय की दर्शनीयता का साक्षी है। अथवा परिभाषा

अथवा चन्द्रस्य रसपरिभाषितोऽर्थस्तदा तदमृतवार्त्तया प्रार्थना मननानंदेन च प्रियहृदि स्मितचन्द्रकिरणैः रोमकदंबेषु रसैचन्द्रानन्त्योदयः अतः अनन्तदिव्यचन्द्रं विस्तारयन्तीति रसैकदायिनीत्युक्तः संगतोऽर्थः तत्समये मालाचन्दनादिसाधनं साध्यं च तज्जन्यो रसस्तद्वार्त्ता तु तुच्छैवाकिंचित्करैव कृता किञ्च यावत्प्रार्थनाया अनङ्गीकारस्तावदेव साधनं मुख्यं यदा प्रार्थनांगीकृता तदा सर्व्वं मालाचन्दनाद्या रसचन्द्रोदये खद्योता इवेति स्वस्मिन् स्वीये वा प्रिये दास्योत्सवस्वांगसेवाकर्तृत्वं पादस्पर्शयावकभरणादिसेवाकर्तृ स्वाभिलाषानुमतिरेव प्रियस्योत्सवरूपा तां प्रियाय दत्त्वा अखिलोपाया गौणीकृताः अत्र प्रियाश्वासः अहो प्राणप्रिय किमेभिः प्रार्थनादिसाधनैः श्राम्यसि मद्वधूहृदयकंजस्यैव भ्रमरोऽसीत्यादिवाक्यैरुत्सवं दत्त्वेत्यांतरोऽर्थः ॥६१॥

साध्यात्सख्यादप्युत्कृष्टपदत्वं दास्यस्य वदन् संकेतरहःप्रकाशननिदेशार्हंमुग्धलघुसहचरीरूपमाह—

रसकलश

प्रकरण में चन्द्र का अर्थ रस कहा गया है। तब उन की अमृतमयी वार्ता से और प्रार्थना को मान लेने के आनन्द से प्रिय के हृदय में मुस्कान रूपी चन्द्र किरणों से उल्लास हुआ और उनके रोम समूह में रस रूपी अनन्त चन्द्रों का उदय हो गया। इसी लिये यहां अनन्त दिव्य चन्द्रों का विस्तार करती हुई और रसैकदायिनी अर्थात् रस की अद्वितीय दाता इत्यादि कही हुई बात संगत हो जाती है। उस समय मालाचन्दन आदि साधन और साध्य तथा उनसे उत्पन्न होने वाला जो रस प्राप्त होता है उसकी चर्चा तो तुच्छ या अकिंचित्कर ही कही गई है। और जब तक प्रार्थना स्वीकार नहीं होती तब तक यह माला चन्दन आदि सभी साधन रस रूपी चन्द्रोदय में खद्योत या जुगनुओं के समान अपने आप में ही अथवा अपने प्रिय श्याम सुन्दर में दास्य के उत्सव में अपने अङ्गों से सेवा करना चरणस्पर्श के लिये महावर लगाना आदि सेवा करने की अभिलाषा की अनुमति ही प्रिय के लिए उत्सवरूपा है। प्रिय को वह अनुमति देकर सब उपाय गौण कर दिये हैं। यहां "अहो प्राणप्रिया इन प्रार्थना आदि साधनों में क्यों श्रान्त होते हो तुम तो मेरे हृदय कमल के भ्रमर हो" इस प्रकार के वाक्यों से प्रिया जी प्रियतम को आश्वासन देती हैं यह आन्तरिक अर्थ है ॥६१॥

अब साध्य सख्य की अपेक्षा दास्य का पद उत्कृष्ट है यह बताते हुए संकेत स्थान के रहस्य प्रकाशन के योग्य अपना भोली और छोटी सहचरी का रूप बताते हैं—

दिष्ट्या यत्र क्वचन विहिताम्रेडने नन्दसूनौ
प्रत्याख्यानच्छलत उदितोदारसंकेतदेशा
धूर्तेन्द्र त्वद्भयमुपगता सा रहो नीपवाट्यां
नैकागच्छेत्कितव कृतमित्यादिशेत्कर्हि राधा ॥६२॥

अहो भाग्यं कदैवं भविष्यतीति साधकतार्थः स्पष्ट एव ललितादिसखीयूथे स्थितां प्रियां प्रति कांतेन निकुंजांतरकुसुमशय्याभूषणादिरचनां स्वकरकौशलेन निर्मांतु गतेन मां तत्प्रियसखीं मुग्धस्निग्धामिति ज्ञात्वा म्रेडनं विहितं द्विस्त्रिर्मन्मुखेनैव वाचितम् आकारणं कृतमित्यर्थः।

प्रथमोक्तौ श्रुतमश्रुतं कृतं द्वितीयोक्तौ गोपितं व्याजेनेति तदपि तेनात्यातुरेण तृतीयवारमेवमुक्तं यन्निबिडतररमणीयरहोलोलोचितकदंबवाटो मयान्वेषिता परिष्कृता च भवत्येकाकिन्यत्रागच्छत्विति विहितं कृतमाम्रेडनं येन तादृशे नन्दसूनौ सति तदा मया मुग्धया यत्र क्वचनेति अकथनीयस्थले

रसकलश

श्री नन्द-नन्दन ने किसी अज्ञात निकुञ्ज में आप अकेली आवें यह संदेश बार-बार दिया उसको अस्वीकार करने के बहाने जिन्होंने कोई दूसरा ही उदार संकेत स्थान बता दिया है वे राधा मुझे कब आज्ञा देंगी कि जाकर श्यामसुन्दर से कह दो कि हे धूर्त्त राज तुम से भय को प्राप्त हुई श्रीराधा–एकान्त कदम्ब वाटिका में अकेली नहीं आयेंगी। हे कितव (छलिया) रहने दो अर्थात् अपना संदेश अपने ही पास रखो ॥६२॥

अहो मेरा भाग्य ऐसा कब होगा इस साधक पक्ष से कही गई बात में 'दिष्ट्या' इस शब्द का अर्थ स्पष्ट है। ललिता आदि सखियों के समूह में विराजमान प्रिया के प्रति प्रियतम ने जो निकुञ्ज कुसुमशय्या और भूषण आदि की रचना अपने हस्तकौशल से करने गये थे—मुझे श्रीराधा जी की भोली और स्नेहास्पद सखी जानकर दो तीन बार मेरे मुख से संदेश शब्दों का याचना करवाकर प्रिया जो को बुला लाने को कहा। मैंने उनके संदेश शब्दों को पहली बार में सुना अनसुना कर दिया और दूसरी बार बहाने से छिपा दिया तो भी उन्होंने अत्यन्त आतुर होकर तीसरी बार फिर मुझे कहा कि अत्यन्त घनी और रमणीय एकान्त लीला के योग्य कदम्ब वाटिका मैंने ढूँढ़ ली है और परिष्कृत कर ली है इसलिये आप अकेली यहाँ आ जायँ यह वाक्य जब नन्दलाल ने दो तीन वार कहा तब मुझ मुग्धा के द्वारा जहाँ कहीं अर्थात्

गौरवार्हसखीसमाज इत्यर्थः अत्र सख्यपरिहासनीयसंकेतिता ज्ञेयाः सखी-जनपरीहासोत्सवे चातुरोतिवक्ष्यमाणत्वात् न तु ता रहस्या इति ज्ञेयम् उभाभ्यामेव पूर्व्वमित्थं संकेतितत्वात् ललितादिसमक्षं कर्णे स्फुटं तदेवोक्तं तदा प्रियया सख्यविश्रंभानभिघातार्थं तद्वंचनकौतुकं कुर्व्वती नैका गच्छेदिति प्रत्याख्यानमुक्तं निषेधच्छलत उदितो वद व्यक्तायां वाचि व्यक्तमुक्त उदारो निःशंकविविधविहारानन्ददातृत्वेन मनःप्रसादकरः श्लाघनीयः क्रीडनार्हः संकेतदेशो ययेति ।

प्रत्याख्यानमाह हे धूर्त्तेन्द्रेत्यनुभूतचरधूर्त्तत्वच्छला वदतीति अर्थात् प्रच्छन्नकामुकत्वं धूर्त्तवदनुकरोषि कथयति किमपि करोति च किमपीत्यादि लक्षणं धूर्त्तत्वं तत्रापि तन्मनोनिष्ठा दुर्ग्राह्यत्वादिंद्रत्वं वा तत्रात्यन्तकौतुकाश्चर्य्यकरणादन्यचकितीकरणं निजाभीतत्वं चेति तदेवाह त्वद्भयमुपगता पूर्व्वमित्यर्थः सा प्रिया रहो नीपवाट्यामेकाकिनी नैवागच्छेत्किंतु प्रियसखी

रसकलश

जो स्थल संदेश कहने योग्य नहीं था जहाँ सम्मानयोग्य सखीसमाज उपस्थित था वहाँ श्याम सुन्दर का वह संदेश कह दिया गया। यहाँ पर सखीजन के द्वारा परिहास करने योग्य संकेतों को जानना चाहिये जैसा कि 'सखीजनपरिहासोत्सवे चातुरी इत्यादि श्लोक में कहेंगे। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि सखीजन रहस्य कहने के योग्य नहीं थे क्योंकि प्रिया प्रियतम दोनों ने पहले ही ऐसा संकेत ललिता आदि सखियों के सामने एक दूसरे के कान में स्फुट रूप में कह कर कर लिया था। तभी यहाँ भी कहा है कि मेरी बात सुनकर प्रिय सखियों के प्रति विश्वासघात न करने के लिये उन्हें बहकाने का खेल करती हुई बोलीं कि उन्हें कह दो कि राधा अकेली नहीं जायगी। इस प्रकार निषेध के छल से(वद धातु व्यक्त बोलने में है)व्यक्त रूप में कहा है उदार अर्थात् निःशंक रूप से अनेक विहारजनित आनन्दों का दाता होने से मन को प्रसन्न करने वाला प्रशंसनीय क्रीड़ा योग्य संकेत देश जिसने ऐसी श्रीराधा। अब प्रत्याख्यान या निषेध का अनुवाद करते हैं कि 'हे धूर्त्तेन्द्र!' यह सम्बोधन धूर्त्तता प्रयुक्त छल को जिसने अनुभव कर रखा है ऐसी प्रियाजी कहती हैं कि तुम धूर्तों की भाँति प्रच्छन्न कामुक के व्यवहार का अनुकरण करते हो—कहता कुछ हो और करता कुछ हो—यह धूर्तता का लक्षण है। उन धूर्त्तों में भी मन और निष्ठा से या मन की निष्ठा से तुम्हें पाना कठिन है इसलिये तुम धूर्त्तों में इन्द्र हो और यहाँ अत्यन्त कौतुक और आश्चर्यमय लीला करने के द्वारा दूसरों को विस्मत करना स्वयम् न डरना इत्यादि भी है। यही कहते हैं– 'तुम से पहले भय को प्राप्त हुई वह तुम्हारी प्रिया एकान्त कदम्बवाटी में अकेली नहीं आयेगी

वर्गसहितैवेति तस्माद्धे कितव कपटधर्मिन् कृतमित्येतावताऽलं नातः परं भूयो वाच्यं न च त्वद्विश्वासं कुर्यामिति किञ्च निर्ज्जने भीरुं मामेकाकिनीं निक्षिप्यादूरे निलीय स्थितवानसि पश्चात्कोकिलमयूरादिरुतेन भाषयामासिथेति भावः ।

यद्वा निकुञ्जकोकिलकंजभ्रमरपक्षिशोभादर्शनव्याजेनाहूय पश्चात्स्वमनोगतं करोषीति नीपवाटीति नैकेति व्यक्तकथनेन अहमेकैव नीपवाट्यामागच्छे मा संशयिष्ठा इति मनोगतम् अन्यच्च विदग्धविश्रब्धोत्तमस्वामिनीत्वपदं प्रख्यापितं यदहमंतरंगसखीभ्यो न गोपये इयं तु लघुवयस्या मुग्धा समयानभिज्ञा तस्यातुरस्य च यच्छीलं तत्प्रख्यातमेव जानीथ धूर्त्त कितवेति कथनेन त्वच्छीलमेवाचरित्वाहमेताश्चवंचार्यं विवागमिष्यामीति ध्वनिः अलमिति न पुनरुच्यतामनेनैव वाक्येन धूर्त्तश्चेज्जानीहि शीघ्रमागमिष्ये विलम्बश्चेदपि नातुरो भवेति । प्रियोपालम्भसूचनेन सखीविश्वास उक्तोयदस्या

रसकलश

किन्तु प्रिय सखी वर्ग के साथ ही आएगी इसलिये हे कितव ! अर्थात् हे कपट धर्मी ! अपना संदेश रहने दो इतना ही कहना पर्याप्त है अब अधिक कुछ मत कहना तुम कहोगे तो भी तुम्हारा विश्वास नहीं करेंगी और फिर तुमने क्या किया कि 'निर्जन वन में मुझ अकेली डरती हुई को छोड़ कर पास में कहीं छिपे रहे फिर कोकिल मयूर इत्यादि के स्वर में बोलते रहे, यह तात्पर्य है।" अथवा निकुञ्ज कोकिल कमल भ्रमर और पक्षियों की शोभा देखने के बहाने उन्हें अपने पास बुला लेते हो फिर मनमानी करते हो इसलिये वह श्रीराधा अकेली नहीं जायगी। यहाँ अकेली नहीं यह शब्द स्पष्ट कह देने से यह सूचित किया है कि मैं अकेली ही कदम्बवाटिका में आ रही हूँ तुम संदेह मत करो इस प्रकार नागरी और विश्वस्त उत्तम स्वामिनी के पद का स्वरूप प्रगट कर दिया कि मैं अपनी अन्तरंग सखियों से कोई बात नहीं कह पाती हूँ। यह तो मेरी छोटी सखी है, भोली है, समय को नहीं जानती, प्रियतम आतुर हैं उनका शील स्वभाव प्रसिद्ध ही है तुम सब जानती ही हो। यहाँ पर धूर्त्त कितव इत्यादि सम्बोधन करने से यह भी सूचित किया है कि तुम्हारे शील के अनुसार आचरण करके और इन सखियों को बहकाकर मैं आऊँगी यह अर्थ ध्वनित होता है। यहां पर 'कृतम्' या 'अलम्' बस अर्थ में है अर्थात् फिर इस प्रकार की बात मत कहना इस वाक्य से यह भी सूचित कर दिया कि यदि तुम धूर्त्त है तो जान लो मैं शीघ्र आऊँगी और यदि मुझे आने में कुछ विलम्ब भी हुआ तो तुम उतावले मत होना इस प्रकार प्रिया जी के उपालम्भ को सूचित करने

अस्मास्वेवं प्रेमास्तीति । इति मां कर्ह्यादिशेदिति सर्व्वपरिजनोत्तरा तद्रहो यातायातशतनिदेशार्हा कदा भविष्ये इति तात्पर्य्यम् । अत एवाग्रे वक्ष्यति गोविन्दप्रियवर्गदुर्गमसखीवृन्दैरनालक्षितेति दास्योत्कर्ष उक्तः अत्र वैदग्ध्य-सिंधुरिति यदुक्तं तच्चातुर्य्यं वाक्यस्य निर्दिष्टं नन्देति परमलालनीयत्वनव-वरत्वमहत्त्वव्यञ्जनेन तत्र धूर्तेतिकथनेन च कियानुत्कर्षो व्यज्यत इति ।।६२।।

तदेवान्यदपि वैदग्ध्यं विशदयति—

सा भ्रूनर्त्तनचातुरी निरुपमा सा चारु नेत्राञ्चले
लीलाखेलनचातुरी वरतनोस्तादृग्वचश्चातुरी ।
संकेतागमचातुरी नवनवक्रीडाकलाचातुरी राधाया
जयतात्सखीजनपरीहासोत्सवे चातुरी ।।६३।।

रसकलश

के द्वारा सखी के प्रति विश्वास सूचित होता है कि स्वामिनी का हम पर ऐसा प्रेम है। ऐसा आदेश स्वामिनी मुझे कब देंगी इस अभिलाषा से सब परिजनों से उत्कृष्ट और उनके एकान्त जाने आने आदि के अनेक आदेशों के योग्य कब होऊँगी यह तात्पर्य है इसीलिये आगे कहेंगे "गोबिन्द प्रिय वर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनासादिता" इत्यादि यहाँ दास्यभाव का उत्कर्ष कहा गया है। क्योंकि श्रीराधा जी को वैदग्ध्य सिन्धु या नागरता की राशि कहा गया है और 'तच्चातुर्य" इत्यादि श्लोक में भी उनका चातुर्य निर्दिष्ट है। नन्दसूनु शब्द द्वारा श्यामसुन्दर का परम लालनीय होना नवीन वर होना और बड़ा होना व्यक्त किया गया है और धूर्त्त कहने के द्वारा तो उनका न जाने कितना उत्कर्ष व्यक्त होता है ।।६२।।

उसी विदग्धता या चतुरता का और भी विस्तार से वर्णन करते हैं—

श्री राधा की वह भ्रुकुटि नर्तन में अनुपम चतुरता, वह सुन्दर नेत्र प्रान्त में लीला पूर्वक खेलने की चतुरता, वैसी वचन में चतुरता, सङ्केत स्थान पर आने में चतुरता, नवीन नवीन क्रीडाओं में कलाओं की चतुरता और सखीजन के साथ परिहास रूपी उत्सव में चतुरता सबसे बढ़ कर विराजमान हो, अर्थात् श्री राधा जी की इन चतुरताओं की जय हो ।।६३।।

सेति पूर्व्वोक्ता सखीजनविषयिकपरिहास एवोत्सवस्तस्मिन् प्रियाया या या क्रिया सा सा सखीनामुत्सवरूपैव तत्रापि सख्येन स्वयमुद्यम्य तासु च्छद्मरचनं परमरसदं तदभिलषितमेव तस्मिश्चातुरी स्फुटनीतिपर्यवसान परिहासात्मिका जयतादित्याशीः राधाया इति बाल्यतः संगिनी तत्तन्मौग्ध्य-सौंदर्य्यलालनानुभविनी दैवप्रार्थनापूर्व्वकतद्वैदग्ध्याभिकांक्षिणी हिताली तत्कृतपरिहासे प्रसद्य स्वाभ्यासेन साक्षान्नामोक्त्वा मनोरथपूर्ति मत्वा चाशि-षमभिवदति पूर्व्वं सख्योऽपि नित्या शिक्षापरा अभूवन्नतस्तासु परीक्षादानं कृतं शिष्टापि यत्र मुह्येन्नतच्छ्लाध्यं स्यात् अतः प्रियाया अपि सखीपरिहासे उत्सव औत्सुक्यं जातं पश्य एतासामपि वैदग्ध्यं दर्शयामीति तदेव चातुर्यं भ्रूकुट्यादिषु विततमाह ।

रसकलश

'सा' या 'वह' कहने का तात्पर्य है कि जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, सखीजन विषयक या सखीजनों के मध्य में किया गया परिहास ही उत्सव है उसमें प्रियाजी की जो जो क्रिया होती है वही वही सखीजन के लिये उत्सव रूप ही हो जाती है, उस पर भी सखी भाव से स्वयं प्रयत्न करके उनके प्रति छल रचना करना अत्यन्त रस देने वाला होता है क्यों कि वह उन सखी जनों द्वारा आकांक्षित ही तो होता है उसमें चतुरता जो एक स्फुटनीति में परिणत हो जाने वाले परिहास के रूप में होती है उसकी जय हो, यह आशीर्वाद हैं। 'राधा' की वह चतुरता कहने का तात्पर्य है कि मैं तो बचपन से उनकी संगिनी हूँ मैंने उनके भोलेपन की सुन्दरता और लालन (लाड प्यार) का अनुभव किया है और दैव से प्रार्थना कर करके उनकी चतुरता की आकांक्षा करती रही हूँ, मैं हितसखी उनके द्वारा किये गये परिहास में प्रसन्न होकर अपने पूर्व अभ्यास के कारण उनका साक्षात् नाम ''राधा' कहकर अपने मनोरथों की पूर्ति मानकर आशी-र्वाद देती हूँ। पहले सखीजन भी नित्य शिक्षा देते रहते थे, अतः उनको भी एक प्रकार से (श्री राधा जी ने परिहास करने की कला में) परीक्षा दे दी है, भली भाँति सिखाने पर भी यदि श्रीराधा कहीं भूल कर जातीं तो अच्छा न होता अतः (इस परीक्षा में) प्रिया जी को भी सखीजन से परिहास करने में उत्सव या उत्सुकता हुई है। देखो, अब मैं इनको भी अपनी चतुरता दिखाती हूँ उसी चतुरता को भृकुटि आदि अनेक स्थलों पर व्याप्त हुई बताते हैं।

सा भ्रूनर्तनचातुरीति यदा नन्दसूनुना मन्मुखेनाम्रेडनं कृतं तदा सखीसमक्षं भ्रूनर्तनं कृतं तदमर्षया अर्थाद्यदिंगितज्ञोऽप्यसमयप्रवृत्त इति धनुःप्रांताविव भ्रूकुटी मूलेन भित्वाऽनर्त्तयत् तत्र चातुरी भ्रूप्रांतयोः सस्मितविकसनं प्रसादसूचनं सखीभिर्न ज्ञातं तन्मयैव तत्कृपया ज्ञातं तत एव वचिम सेति निरुपमेति तादृक्सौंदर्य्यविशिष्टामर्षप्रकाशनर्तनं विदग्धसखीगोष्ठ्यां प्रसादगोपनमत्रैव दृष्टं नान्यत्रेत्यर्थः।

पुनस्तत्सहकारिनेत्रचातुर्य्यमाह सेति मद्हृदयमेव जानातीत्यर्थः नेत्रयोश्चारुता त्वनिर्वचनीया प्रसिद्धैव अथ तदञ्चले प्रान्तेलीलाया वा लीलया खेलने चातुरी प्रसादगोपनार्थम् अन्योद्देश्यलीलारब्धा तस्याः खेलनं कौतुकचालनं तत्र चातुरी कतिपयक्षणांते एता वंचयित्वा दृष्टि चोरयामीति सूक्ष्मभावो मयैव ज्ञात इति पूर्वं भ्रूचातुर्य्यं कृतं तज्ज्ञानशंकया नेत्रचातुर्य्यं तस्यापि ज्ञानशंकया साक्षाद्वचनचातुरीमाह। वरतनोरिति वर-

रसकलश

वह भृकुटि के नर्तन में चतुरता—जब नन्दनन्दन ने मेरे मुख से बारबार वही सन्देश कहलवाया तब सखीजन के समक्ष भृकुटि का नर्तन किया, कुछ कुपित होकर यह सूचित किया कि इंगितों और इशारों को जानते हैं तो भी समय के विना ही प्रस्ताव करने लगते हैं इस प्रकार धनुष के ओर छोरों के समान भृकुटियों को मूल से भंग करके नचाया, वह चतुरता भ्रुकुटि के प्रान्तों की हुई। मन्द मुस्कान के विकास के साथ मानसिक प्रसन्नता सूचित की, जिसे सखीजन न जान पाएँ, उसे तो उनकी कृपा से केवल मैं ही जान सकी, इसीलिये उस चतुरता को मैं 'वह चतुरता' कहती हूँ और निरुपमा अर्थात् अनुपम चतुरता कहती हूँ। उस प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट कोप प्रकाशित करने वाला नर्तन और उसके द्वारा चतुर सखीजन की गोष्ठी में अपनी आन्तरिक प्रसन्नता को छिपा लेना तो मैंने यहीं पर देखा है, अन्यत्र कहीं नहीं देखा यह अनुपम कहने का तात्पर्य है।

अब भृकुटि के सहचारी नेत्रों की चतुरता का वर्णन करते हैं—यहाँ पर भी 'सा' या 'वह' कहने का तात्पर्य है कि उसको मेरा हृदय ही जानता है, नेत्रों की सुन्दरता तो अनिर्वचनीय होने के कारण प्रसिद्ध ही है। अब उन नेत्रों के अंचल या प्रान्त में लीला के या लीला खेलन में चतुरता, प्रसन्नता को छिपाने के लिये अन्य उद्देश्य से लीला आरम्भ की, उसके खेलन या कौतुक से चालन में चतुरता जिसका कुछ क्षणों के बाद इन सखीजनों को वंचित करके आँख चुराऊँगी, यह सूक्ष्मभाव मैंने ही समझा। इस प्रकार पहले भ्रूचतुरता की, उसे मैं समझ सकी हूँ कि नहीं इस सन्देह से फिर नेत्रों की चतुरता की उसके भी समझने में सन्देह के कारण जो साक्षात् वचन या कथन की चतुरता की उसका वर्णन करते हैं।

तनुत्वं यादृक् तादृगेव वाक्ये वरत्वं ज्ञेयं तत्रापि चातुरी निरुपमैव । प्रत्याख्यानच्छलत उदितोदारसंकेतदेशेति पूर्व्वमुक्तमेव स्फुटं प्रत्याख्यानं गोप्यं प्रसादनमिति । एवं चातुर्य्ये कृतेऽपि नित्यांगसंगिनीवंचनपूर्व्वकसंकेतागमनं दुर्घटं तत्राह संकेतेति । प्रियया कंदुकक्रीडनमारब्धं अहं कुंजे कस्मिंश्चित् निलीयालक्षितकंदुकं प्रक्षिपामि यदा गृह्णीयात्सैव जितेति पणं कृत्वा पूर्व्वोक्तनीपवाटीदिश्यकुंजेषु गता स्वागमनसूचनं प्रियाय कृत्वा कंदुकं तासु दूरे प्रक्षिप्तं वृक्षांतरेषु पतितं ता ज्ञात्वापि बहुकालं विलंब्य मार्गयांचक्रुस्तस्समयावसरे प्रियसंकेते मिलिता विजहारेति संकेतागमचातुरी ।

तत्र प्रियसंगेऽपि नवनवक्रीडा स्वमानसोज्जृंभितारब्धास्तासु कला वात्स्यायनाद्युक्ता तत्र चातुरीति यत्प्रियो निजकृताभिलाषं न जानीयात्केवलं कौतुकमेव ज्ञायेत तस्मिन्स्वानंदोऽपि सिद्धय्देदिति निजमनोजलालसाप्रच्छादनं चातुर्य्यमिति । तत्रापि सखीषु विहारानंतरमागत्य मिलनं

रसकलश

'वरतनु की वैसी वचन चतुरता' यहाँ पर वरतनु कहने का यह तात्पर्य है कि जैसी उनके श्री विग्रह में सुन्दरता है वैसी ही वचन में भी सुन्दरता है, उसमें भी चतुरता तो अनुपम ही है 'अस्वीकार या इन्कार करने के बहाने जिसने उदार संकेत स्थान कह दिया है, यह पहले कहा ही जा चुका है, अस्वीकार स्पष्ट है किन्तु प्रसन्नता गुप्त है । इस प्रकार चतुरता करने पर भी नित्य अङ्गसङ्गिनी सखियों को धोखा देकर संकेत स्थान पर आना दुष्कर या कठिन है अतः कहते हैं कि 'संकेत स्थान पर आने में चतुरता' । प्रत्याख्यान या अस्वीकार करने के बहाने उदार संकेत स्थान कहने के बाद प्रिया जी ने कन्दुक क्रीडा प्रारम्भ कर दीं और बोलीं 'मैं किसी कुंज में छिपकर अलक्षित या अज्ञात रूप से कन्दुक फैंकूँगी उसके द्वारा मुझे जो जान लेगी वह जीत गई समझी जाएगी ।' ऐसी शर्त बाँधकर प्रिया जी पूर्वोक्त कदम्बवाटी की ओर के कुंजों में चली गईं, और अपने आ जाने की सूचना प्रियतम को देकर सखीजन के प्रति अतिदूर गेंद फैंकी जो वृक्षों के बीच में जा पड़ी । सखीजनों ने जानबूझकर वहुत देर तक विलम्ब करके उसको ढूँढा उस समय में प्रियतम से संकेत स्थान में मिलकर प्रिया जो विहार करती रहीं यह है संकेत स्थान में आने की चतुरता ।

अब वहाँ प्रियतम के समागम में भी नवीन नवीन क्रीडाएँ जो अपने मन में स्फुरित हुईं प्रारम्भ कीं, उनमें वात्स्यायन आदि कामशास्त्रियों द्वारा कही गई कलाओं में चतुरता, जिससे प्रियतम यह न जान सकें कि यह कला प्रिया जी ने अपनी इच्छा से की है केवल कौतुक ही समझा जाय और उसमें अपना आनन्द भी सिद्ध हो जाए इस प्रकार मन में उद्भूत लालसाओं को छिपाना भी चतुरता है। फिर विहार के अनन्तर सखीजनों में आकर मिल जाना और उन्हें उपालम्भ देना कि मैं इतनी देर तक

उपालंभदानं यदहमेतावत्कालं कंदुकप्रत्यागमनाकांक्षया वर्त्मनयनासम्, भवतीभिः कन्दुकं किंवा लब्धं नेति तदा तत्सुखिनीभिरेव युक्तं वयं पराजिता न जानीमहे कन्दुकं कुत्र पतितमिति पुनरन्यत्कन्दुकं तद्दिश्येव नीपवाट्यां ताभिस्तदेव पणं कृत्वा प्रक्षिप्तं तन्मार्गयितुं प्रिया पुनर्गता । प्रियेण समागतेति सखीनामानन्दातिशयः किं भण्यते इत्येवं चातुरी जयतादिति ।।६३।।

चातुरीस्मरणे कृते अधुना कैशोरे किं वच्मि आदितः कौमार एवानयोरनुरागकेलिवैदग्ध्यं यदा स्मरामि तदा तत्रैव मन्मनः स्थगितं स्यादिति पूर्व्वानुभूतं कौमारशृंगारं नित्यांगसंगिनी हितसखी स्वयं कृपापात्रसख्यै ब्रवीति उन्मीलदिति द्वाभ्याम् ।।

उन्मीलन्मिथुनानुरागगरिमोदारस्फुरन्माधुरी-
धारासारधुरीणदिव्यललितानङ्गोत्सवैः खेलतोः ।
राधामाधवयोः परं भवतु नश्चित्ते चिरार्त्तिस्पृशोः
कौमारे नवकेलिशिल्पलहरीशिक्षादिदृक्षारसः ।।६४।।

रसकलश

कन्दुक के आने की प्रतीक्षा में मार्ग पर दृष्टि लगाये रही क्या तुम लोगों को कन्दुक नहीं मिली, तव श्रीराधा जी के सुख से सुखी होने वाली सखियों ने कहा हम हार गईं हम नहीं जान सकीं कि कन्दुक कहाँ जा पड़ीं। फिर दूसरी कन्दुक सखीजन ने उसी दिशा में कदम्बवाटिका में वही शर्त करके फैंक दी, उसको ढूंढने के लिये प्रिया जी फिर गईं और प्रियतम से मिलीं, इससे सखीजन को अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ उसका क्या वर्णन किया जा सकता है इस प्रकार प्रिया जी की अनेकविध चतुरता की जय हो ।।६३।।

चातुरी का स्मरण करने पर 'अब किशोरावस्था में क्या कहूँ ? आरम्भ से कुमारावस्था में ही इन (प्रिया प्रियतम) की अनुराग और केलि मे चातुरी या चतुरता का मैं जब स्मरण करती हुँ तब उसी में मेरा मन स्तब्ध हो कर रह जाता है इस प्रकार पूर्व में अनुभव किये हुए कुमारावस्था के शृङ्गार को (श्री राधा जी की) नित्य अङ्ग सङ्गिनी हित सखी स्वयं कृपा-पात्र—सखी के प्रति वर्णन करती है ।

'उमड़ते हुए युगल के परस्पर अनुराग के गौरव में उदार भाव से स्फुरित होती हुई मधुरता की धाराओं के आसार (बौछार) से प्रधान ,दिव्य और ललित अनङ्गोत्सवों के द्वारा क्रीडा करते हुए , कुमारावस्था में ही चिर उत्कण्ठा की आर्ति धारण किये हुए राधा और माधव की नवीन नवीन क्रीडाओं के शिल्पों की लहरियों की शिक्षा देखने की इच्छा का रस ही हमारे चित्त में हो ।।६४।।'

राधामाधवयोः कौमारे नवकेलिशिल्पादिदृक्षारसो नः अस्माकं चित्ते परं केवलं भवतु नान्यत्पृथग्लीलादि । कीदृशयोः उन्मीलदिति अनुरागस्तू-भयोर्गरिष्ठ एव परंतु यदृच्छावसरं प्राप्योन्मीलति । यदानंगोत्सवशब्दसूचितो वसंतोत्सवः प्राप्तस्तदा पयोवदुत्फणित इति बहुत्वेन होलिकाक्रीडनवैविध्यं सूचितम् अथवानंगोद्दीपका जलक्रीडाहिंदोलपुष्पावचयनिलयनाद्युत्सवाः सूचिताः । कौमारे स्वस्वपितृसद्मस्थितिस्तत्र 'प्रीतिं कामपि नाममात्रजनित प्रोद्दामरोमोद्गमां राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्ज्वला' मिति निर्द्देशेन पूर्व्वानुरागरीत्यानुरागोन्मीलनम्, उन्मीलंश्चासौ मिथुनानुरागगरिमा च तस्योदारा स्फुरंती या माधुरी तस्या धाराश्चासारस्तत्संपातश्च वा सारः श्रेष्ठार्थ स्तेषां धुरीणा येवोढारो। दिव्यललितानंगोत्सवास्तैरिति उदारा परमानंददात्री स्वीयेषु वा महती स्फुरंती देदीप्यमाना वा स्फूर्तिं प्राप्ता माधुरी लोकवल्लीलामाधुर्य्यं वा स्वादुप्रियौ च मधुराविति कोषान्वर्थाधारे-

रसकशल

राधा और माधव के कुमारावस्था में नवीन क्रीडाओं के शिल्प आदि का रस ही केवल हमारे चित्त में हो, अन्य किसी लीला का नहीं। राधा माधव कैसे हैं? वैसे तो दोनों में अनुराग अत्यन्त ही है परन्तु यथायोग्य अवसर पाकर वह उमड़ पड़ता है। जब अनङ्गोत्सव शब्द से सूचित वसन्तोत्सव का समय आया तब दूध के समान वह अनुराग उफन आया, अनङ्गोत्सव शब्द में बहुवचन से होली खेलने की विविधता सूचित होती है, अथवा अनङ्ग को उद्दीप्त करने वाली जलक्रीडा, झूला, पुष्पावचयन (फूल चुनना) छिपना आदि क्रीडाओं का उत्सव होना सूचित किया गया है। कुमारावस्था में दोनों अपने अपने माता पिता के घर में रहते हैं वहाँ पर—

'कुमारावस्था में ही विवाह के नाममात्र से जिसमें अत्यन्त रोमोद्गम हो आया है ऐसी किसी अनिर्वचनीय उज्ज्वल प्रीति को प्राप्त हो रहे राधा माधव के' विवाहोत्सव को रचाने के निर्देश से पूर्वानुराग की पद्धति से अनुराग का उन्मीलन या उभरना हुआ है उभरती हुई जो युगल के अनुराग की गरिमा (गुरुता या महत्ता) उसकी उदार (भाव से) स्फुरित हो रही जो माधुरी या मधुरता उसकी धाराओं के आसार या बौछार अथवा उन धाराओं का जो सार या श्रेष्ठ तत्त्व उनके धुरीण या वहन करने वाले जो दिव्य और ललित अनङ्गोत्सव (काम के उल्लास) उनसे अथवा उदार अर्थात् निजजनों को परमानन्द देने वाली, महान् स्फूर्ति को प्राप्त हो रही जो मधुरता, लोक

त्यविच्छिन्नवर्षणम् आसारः सर्व्वाप्लावनं रसे धुरीणेति कामोत्सवस्याधि-करणत्वं वृष्टेः ।

किञ्च वसंतोत्सवाद्याधारेणानुरागमाधुरीधारा योग्यतया शोभमाना भवंति । अन्यथा कं व्याजमाश्रित्यानुरागवर्षणं स्यादिति वासंतिके न कस्यापि संकोचः, लोके होलिकाक्रीडनं मदनविडंबनं निर्व्रीडक्रीडनोदितादि । परंतु युगलानुरागमाधुरीधारावहनेन अनंगोत्सवे दिव्यत्वं ललितत्वं च प्राप्तं दिव्यमप्राकृतं सर्व्वमहद्ध्येयगेयं ललितं ग्लानिम्लान्याद्यरोचकत्वरहितं युगलस्य तत्क्रीडनचूर्णरंगाविष्टस्य तादात्विकशोभा दर्शनीयैव । मिथुनेत्येक-त्वेनोभयोरनुरागसमानत्वं खेलनसमये द्वित्वं घटत एवेति । राधेति प्रिय-परमानन्दसिद्धिरूपासज्या च माधवो मूर्तिमद्वसंतरूप आसक्तो मद्यार्थेन मत्तो वा तयोरिति अत्र यौगिके धवार्थो न कर्त्तव्यः रूढ्यर्थे न दोषः ।

रसकलश

के समान लीला की मिठास—क्योंकि 'स्वादु और प्रिय को मधुर कहते हैं' कोष के अनुसार स्वादुता और प्रियता—उसकी निरन्तर वर्षा ही आसार है, सब को आप्लावित कर देने वाला रस है उसमें धुरीण जो दिव्य और ललित कामोत्सव उससेह—यों पर कामोत्सव का आधार उस निरन्तर वृष्टि या आसार को कहा गया है ।

एक और बात भी है कि वसन्तोत्सव आदि के आधार से अनुराग की मधुरता की धाराएँ अपनी योग्यता से शोभायमान होती हैं, अन्यथा किस व्याज के सहारे अनु-राग की वर्षा हो, वसन्तोत्सव या होली में तो किसी बात का भी संकोच नहीं होता । लोक में होली खेलना काम की विडम्बना करना है वहाँ निर्लज्जभाव से खेलना बोलना आदि होता है किन्तु युगल सरकार के अनुराग की मधुरता की धाराओं के बहने से अनङ्गोत्सव या कामोत्सव में दिव्यता और ललितता भी आ गई है । यहाँ दिव्य का अर्थ है अप्राकृत जो सभी महानुभावों के ध्यान और गान करने योग्य हो और ललित का अर्थ है ग्लानि म्लानि आदि अरोचकताओं से रहित होना । उस उत्सव में खेलने और परस्पर रंग गुलाल आदि डालने से आविष्ट हुए युगल की उस समय की शोभा दर्शनीय ही है । यहाँ पर मिथुन इस एक वचन वाले शब्द से दोनों के अनुराग की समानता और खेलने के समय द्विरूपता उचित ही है यह भाव जाना जाता है ।'राधा अर्थात् प्रियतम के लिए परम आनन्द सिद्धिरूपा तथा प्रीति विषयभूता आसज्या और 'माधव'अर्थात् मूर्तिमान् वसन्तरूप तथा प्रीति के आश्रयभूत (आसक्त) अथवा मधु का अर्थ मद्य होने से माधव शब्द मदमत्त मतवाले का बोधक होगा माधव को यहाँ पर 'माया धवः' इस विग्रह से मा का धव या पति यह अर्थ नही करना चाहिये, माधव शब्द श्रीकृष्ण के लिये रूढ है, इस में कोई दोष नही है ।

कीदृशयोश्चिरार्तिस्पृशोः चिरत्वमत्र स्वतंत्रेच्छाभवं प्राकट्यलीलार्थकम्। आंतरेऽर्थे तु रुचेर्नूतनतया चिरमननम् । इमौ आर्तिं स्पृशतो नत्वार्त्तेः सामर्थ्यम् आर्त्तेरपि स्पर्शमात्रं नत्वाविष्टत्वं नित्यसंयोगत्वात् कौमारे इतस्तत उत्सवोत्सुक्येन मिलितयो रहसि नवाश्च ताः केलयश्च स्वमनीषयैव मनसि कल्पिता इति तासां शिल्पं प्राकट्ये आरंभो यथा एवं निलीनौ भवावः यश्चाद्यो मार्गयेत्स एव जयोति पराभूतो जयिमनोरथं पूरयेदिति पणकरणं तत्र लहर्य्यः प्रसिद्धा विलक्षणाश्चर्य्याधायिकास्तासां शिक्षा मौग्ध्येन शिक्षणं तस्या द्रष्टुमिच्छाया रस आस्वादोऽस्माकमस्तु पश्यामः कथं बाल्ये निजरहः क्रीडा अनभ्यस्ता इवेमौ शिक्षेयातां, यथा चयनसामग्री तथा नवकेलयः शिल्पं भुवनारंभः लहरीविचित्रकौशलता शोभार्था एतत्सर्व्वं मिथुने राजत एव परंतु कौमारशीलवशाच्छिक्षणम् अत्र लहरीणां भावनाया बह्ववकाशः सहृदयैर्भावनीयो न मद्गतिः ।

रसकलश

कैसे राधा माधव के ? चिरकाल से आर्ति या उत्कण्ठा को धारण करने वाले, यहाँ पर चिरकाल का अर्थ स्वतन्त्र इच्छा से होना है प्रकट लीला के लिये उमड़ रही जो आर्ति रूप उत्कण्ठा उसको धारण करने वाले । आन्तरिक अर्थ में रुचि की नित्य न्यूनता के कारण चिरकाल मान लिया गया है, उससे आर्त्ति या उत्कण्ठा को पीडा का स्पर्श करते हुए, क्योंकि ऐसी आर्त्ति या पीडा को सहन करने की सामर्थ्य भी उनमें नहीं है अतः उसका स्पर्श करना मात्र कहा गया है· उससे आविष्ट होना नहीं नित्य संयोग होने के कारण 'कौमार' में इधर उधर उत्सव की उत्सुकता से आपस में मिले, और एकान्त में नवीन क्रीडाएँ जो अपनी बुद्धि से मन में कल्पित करली गईं । उनका शिल्प अर्थात् प्रकट लीला में प्रारम्भ—जब हम दोनों इस प्रकार छिप जाते हैं तब जो पहले ढूंढ लेता है वह विजयी होता है उस समय हारने वाले को जीतने वाले की इच्छा पूरी करनी होती है इस प्रकार की शर्त करना ही वहाँ लहरी रूप में प्रसिद्ध हैं, जो विलक्षण आश्चर्य देने वाली हैं उनकी शिक्षा-भोलेपन के कारण सिखाने को देखने की इच्छा का रस या आस्वाद हमारे मन में हो । हम देखें कि बाल्य अवस्था में कैसे अभ्यास के बिना यह दोनों अपनी एकान्त क्रीडाओं को सीखते हैं जैसी वनसामग्री है वैसी ही वनक्रीडाएँ हैं । शिल्प का अर्थ उन क्रीडाओं के प्राकट्य का आरम्भ है और लहरी का अर्थ शोभा के लिए विचित्र प्रकार की कुशलता है जो शोभा के लिये है । यह सभी बातें युगल में विराजती ही हैं । परन्तु कुमार अवस्था के शील स्वभाव के कारण यहाँ पर शिक्षा देने की बात कही गई है । यहाँ पर लहरियों की भावना का जितना अवकाश है उसकी सहृदय जन ही भावना कर सकते हैं मेरी गति नहीं है ।

अत्र वात्सल्यसंवलितश्रृङ्गारदिदृक्षारसवैचित्र्यसाधनार्था यथा मधुरे योग्यान्यरससंयोगः स्वादांतराधायक इति अथवा कैश्चिद्रसिकैः कैशोरलीलैवापेक्ष्यते चेत्तत्राह किशोरयोः खेलतोः सतोः कौमारे परिभाषासंकेतितकुंजे तद्वत्प्रकृतिकारके नवकेलिशिल्पशिक्षणं अन्यत्समानम् । अथवा मारे साक्षात्कामरूपे परमलावण्यमये युगलमनोमदनोद्‌बोधके कौ निकुंजभूमौ खेलतोः अत एव रुच्यतिशयेन चिरार्तिस्पृशोरिति अन्यत्समानं यद्वा कौमारे चित्त इति वयस्तु विदग्धमेव परंतु चित्तं कौमारमेव यथा "चतुर चौसठि कला तदपि भोरी इति" अतएव पलकांतरमपि चिरं कालं मन्येते यथा "लंपट लव निमेष अंतर तै अलप कलप शत सात" इति कौमारचित्तमविश्रब्धमत्यातुरं भवतीति ज्ञेयम् ।।६४।।

रसकलश

यहाँ पर वात्सल्य भाव से युक्त श्रृङ्गार को देखने की इच्छारस के में वैचित्र्य लाने के लिये है जैसे मधुर रस में अन्य योग्य रसों का संयोग अन्य ही विलक्षण रस का आधायक हुआ करता है । अथवा कुछ रसिक जन किशोरावस्था की लीला में ही विशेष पक्षपात रखते हैं उनके लिये कहते हैं किशोरी किशोर क्रीडा कर रहे हैं परिभाषा प्रकरण में कौमारनाम से संकेतित कुञ्ज विशेष में जो प्रिया प्रियतम की प्रकृति में कुमारावस्था सी ला देता है अतः कुमार अवस्था में–नवीन क्रीडाओं के शिल्प की शिक्षा देना इत्यादि पूर्वोक्त व्याख्या के समान है। अथवा 'कौ' और 'मारे' यह दो पृथक् पृथक् शब्द हैं, उनमें से 'मारे' का अर्थ है साक्षात् कामस्वरूप, परमलावण्यमय, युगल सरकार के मन में मदन का उद्‌बोधन कराने वाली, 'कौ' का अर्थ है वैसी निकुञ्ज भूमि में । खेलते हुए, अतएव अत्यधिक क्रीडारुचि के कारण चिरकाल के लिये आर्त्ति या उत्कण्ठा रूप पीडा का स्पर्श करते हुए, अन्य व्याख्या पूर्वोक्त के समान ही है। 'कौमारे' का अर्थ कुमारावस्था का चित्त है, किशोरावस्था से तो प्रिया प्रियतम नागर है चतुर हैं किन्तु उनका चित्त अभी कुमारावस्था का ही है मुग्ध ही है । जैसा कि—

'चतुर चौसठि कला तदपि भोरी ।'

इत्यादि पद्य में कहा गया है । अत एव एक पलक के अन्तर को भी वे चिरकाल मानते हैं । जैसा कि—

'लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप शत सात'

इत्यादि पद में कहा गया है । कुमारावस्था का चित्त विश्रब्ध या आश्वस्त नहीं होता अत एव अति आतुर होता है ऐसा जानना चाहिये ।। ६४ ।।

तावत्तदेव प्रथमपक्षानुगतार्थमाह :—

कदा वा खेलंतौ व्रजनगरवीथीषु हृदयं
हरंतौ श्रीराधाव्रजपतिकुमारौ सुकृतिनः ।
अकस्मात्कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवौ
प्रपश्यन् पूर्णः स्यां रहसि परिहासादिनिरतौ ।६५।

पूर्व्वपद्ये त्वाशंसनमुक्तम् । अधुना कौमारे नित्यकैशोरतां दर्शयन् अघटघटनापटीयस्त्वमाह कदेति । कस्मिंश्चिद्दिने वा इति खेलांतरे व्रज-नगरेत्यत्र प्रक्रिया नंदग्रामवरसान्वोर्नैकट्यं वसत्यैक्यनैरन्तर्य्यं च व्रजेति किञ्चदुपवनादिमात्रव्यवधानं स्वस्वगोष्ठमर्य्यादामात्रं गृहाजिरान्तरवत् व्रजेति नगरेतिनाम्ना औदासीन्येन बहिरंगाभासेन प्रेमाभावो न शंक्यः । तत्रत्यः सर्व्वोऽपि जनमात्रः प्रेमपूर्णश्चिदानंद एवास्ति गौरश्यामावेव यस्य प्राणा-

रसकलश

अब उसी प्रथम पक्ष से अनुगत वस्तु का वर्णन करते हैं—

"व्रजनगर की वीथियों में क्रीड़ा करते हुए और पुण्यात्मा जन के हृदय को हरते हुये श्रीराधा और श्रीव्रजपतिकुमार (नन्दनन्दन) कुमारावस्था में ही अकस्मात् नवीन कैशोर विभव के प्रकट होने पर एकान्त में परिहास आदि में निरत या तत्पर हो आएँगे मैं (परिजन) उनको देखता हुआ कब पूर्ण होऊँगा । ६५ ।'

पूर्वपद्य में जिस वस्तु की आशंसा की थी इस पद्य में उसी वस्तु का—कुमारावस्था में नित्य किशोरावस्था का प्रदर्शन करते हुए युगल सरकार का अघटित घटना में असम्भव को सम्भव कर दिखाने में पटुत्व वर्णन करते हैं—अथवा किस दिन दूसरी क्रीडा में । व्रजनगर के अर्थ हैं कि नन्दग्राम और वरसाना की निकटता के कारण दोनों बस्तियों में एकता और निरन्तरता है उनमें उपवन मात्र का व्यवधान है केवल बीच में अपने २ गोष्ठों की मर्यादा मात्र है जो घर के आङ्गन के समान हैं । व्रज और नगर इस नाम से उदासीन भाव प्रकट होता है और बाहिरङ्गलीला का आभास होता है किन्तु इस से प्रेम भाव में शङ्का नहीं करनी चाहिये । वहाँ का प्रत्येक जन प्रेमपूर्ण ही है और चिदानन्द स्वरूप ही है गौरी (श्रीराधा) और श्याम (श्री नन्दनन्दन) ही जिसके जीवन प्राण है, जिनको देखकर वे जीते हैं, जिनके अनुराग की वेद, ब्रह्मा और उद्धव आदि

जोवनं यद्दृष्टैव च जोवति यदनुरागं वेदा ब्रह्मेश्वरोद्धवाद्याश्च बहुशः प्रशंसन्ति अन्यथा बहिरंगत्वे सति तादृशमाधुर्य्यमूर्त्त्योर्द्दर्शनमेव कथं स्यात्त तोऽपि तादृशबाललीला त्वतिदूरतरा स्यादतो व्रजोऽतिरमणीयोऽतिप्रेमाश्रयोऽस्ति यथा श्रीशुकः' रमाक्रीडमभून्नृपेति' तत्रापि श्रीनंदश्रीवृषभान्वोर्मुख्य-संबंधेन लालनाद्यभिलाषः सर्व्वेषामेव गरिष्ठ एवं प्रेमपरिकरत्वस्थितेः तन्नगरस्य वीथीषु तादृशरमणीयासु तरुलतावृतप्रायासु कौमारशोभन-लीलाभिः खेलंतो इतस्ततश्च स्वगृहेभ्यः प्रेमरभसेन मिलितौ श्रीति पूर्ण-निरपेक्ष्यशोभायुक्ता परमानन्दसिद्धिरूपा श्रीराधा राजकुमारी तादृशश्रीयुक्तो व्रजराजनन्दनश्च ।

सुकृतिन इति तत्रत्यास्तु सर्व्व एव सुकृतिनः परं त्वागन्तुकस्य साधन-सिद्धस्येत्यर्थः सुकृतं मायानावरणं वा दर्शनाधिकारदानानुग्रहस्तद्वतो महाभाग्यवत इति मुख्यं तु हृदयहारिसौंदर्य्यार्थे तात्पर्य्यम् अतिमनोहराविति यद्वा सुष्ठु कृतिनः कार्यकुशलस्य चतुरस्येति किञ्च स परहृदयाशयेयत्तां ज्ञात्वा स्वहृदयं रक्षति तादृशसावधानस्यापीति यद्वा कृतिनो विश्व-

रसकलश

बार-बार प्रशंसा करते हैं, अन्यथा बहिरंग होने पर उन माधुर्यस्वरूपों का दर्शन ही कैसे होता, उस पर भी वैसी बाल लीला तो उनसे बहुत ही दूर रहती अतः ब्रज अति रमणीय और अति प्रेम का आश्रय है। जैसा कि श्रीशुक देव जी ने कहा है—हे राजन् यह व्रज रमा का आक्रीड (क्रीडास्थल) था। उस व्रज में श्रीनन्द और श्रीवृषभानु के मुख्य सम्बन्ध से लालन आदि की अभिलाषा सभी के मन में अत्यधिक रहती है इस प्रेयी परिवार की स्थिति के कारण उस नगर की प्रायः वृक्षों और लताओं से आच्छादित, वैसी रमणीय वीथियों में कुमारावस्था की सुन्दर लीलाओं से खेलते हुए इधर उधर से अपने घरों से निकल कर श्रीराधा और श्रीव्रजपति कुमार प्रेभावेश से मिले यहाँ पर श्री शब्द के द्वारा पूर्णतया शृङ्गारादि की अपेक्षा न रखने वाली शोभा से युक्त, परमानन्द सिद्धिरूप, श्रीराधा राजकुमारी और वैसी ही शोभा से युक्त व्रजराजनन्दन हैं। यह भाव प्रकट किया गया है।

सुकृती के किसी पुण्यात्मा के—यद्यपि यहां के सभी जन सुकृती हैं परन्तु त्याग तो किसी साधन सिद्ध को ही प्राप्त होता है यह भाव है—यहाँ पर सुकृत शब्द माया के इन वरण या दर्शन करने के अधिकार के अनुग्रह का वाचक है और जिसको महाभाग्य से वह प्राप्त हो गया है वही यहाँ सुकृती है। मुख्य रूप से तो उस सुकृती के मन को हर लेने वाले सौन्दर्य के अर्थ में तात्पर्य है अर्थात् दोनों ही अति मनोहर हैं। अथवा भली भाँति कृती भी सुकृती है ऐसे कार्य कुशल या चतुर के मन को हरने वाले हैं क्योंकि वह दूसरे के हृदय के भाव की इयत्ता को जान कर अपने हृदय को रखता है ऐसे सावधान के भी मन को हर लेने वाले हैं। अथवा कृती नाम

कर्मणस्ततोऽपि सौष्ठवाद्विधातुरिति रूपलावण्यच्छविघटनावैशारद्येन सर्व्व-श्रेष्ठबुद्धित्त्वात् यथा 'कात्स्न्येन चाद्येह गतिं विधातुरर्वाक् सृतौ कौशलमित्य मन्यते'ति यद्वा उभौ पृथक्तया हृदयहरणं तु प्रेमास्पदसौंदर्य्येण सर्व्वेषामेव कुरुतः परंतु द्वयोर्मिलनक्रीडनानन्दं यः पश्यति यस्य हृदयहरणं च स्यात्स सुकृतीति मत्किञ्चित्सजातीय इत्यर्थः यद्वा कौमारलीला सर्व्वमनोहारिण्येव धन्यो द्रष्टा जनः अहं तु कैशोरविभवदर्शन एव पूर्णः स्यामिति ।

नगरवीथीषु हृदयहरणान्महाचौरत्वं व्यंग्यमपि ज्ञेयम् । तादृशौ संतौ अकस्मात् कौमारे तादृशबालक्रीडने प्रकटो नाम प्रकटीकृतो नवकिशोरत्वस्य विभवः अङ्गवयोवैदग्ध्यलीलाविलासादिर्याभ्यां तौ तादृशौ प्रकर्षेण अत्याश्चर्य्येण पश्यन्नहं सखीजनः पूर्णः पूर्णमनोरथ इत्यर्थः । विभवमाह-रहसि वीथीष्वपि तदन्तरान्तरा च तरुलताद्यावृतस्थले परिहासो यथा प्रियकृतः अहो सुकुमारि किमिदन्ते हृदये द्वयमुल्लसितमित्युक्तिपूर्व्वकहृदयहस्तस्पर्शो यथा

रसकलश

विश्वकर्मा का है उससे भी अधिक शोभनता के कारण कार्य करने वाले विधाता का नाम सुकृती है क्योंकि वह रूप लावण्य और छवि की घटना करने की विशारदता के कारण सबसे श्रेष्ठ बुद्धि वाला है । जैसा कि कहा गया है—सम्पूर्ण रूप से यहाँ के नीचे के लोकों की सृष्टि में विधाता का कौशल ही गति है ऐसा माना जाता है ।' अथवा दोनों पृथक्-२ रूप से हृदय का हरण तो प्रेम के पात्रभूत सौन्दर्य से सबका ही करते हैं किन्तु दोनों के मिलन की क्रीडा का आनन्द देखकर जो अपना हृदय हरा बैठता है वही सुकृती है, अर्थात् वह सुकृती मेरा (श्री हितहरिवंश का) कुछ-कुछ सजातीय है । अथवा कुमारावस्था की लीला सबके मन को हर लेने वाली ही है । उसके दर्शक जन धन्य हैं । पर मैं तो किशोरावस्था के वैभव का दर्शन होने पर ही पूर्ण-कृतकृत्य-होऊँगा ।

यहां पर नगर की वीथियों में हृदय हरने से इनका महाचौर होना प्रकट होता है ऐसा जानना चाहिये । ऐसे होते हुए अकस्मात् कुमारावस्था में ही—उस प्रकार की बाल क्रीडाओं में प्रकट कर दिया है नवीन किशोरावस्था का वैभव-अङ्ग, वयस्, विदग्धता और लीला विलास-आदि जिन्होंने उन श्रीराधा और श्रीव्रजपतिकुमार को प्रकर्ष और अत्यन्त आश्चर्य के साथ देखता हुआ मैं (सखीजन) कब पूर्ण या पूर्णमनोरथ हो ऊँगा । अब कैशोर विभव का वर्णन करते हैं—एकान्त वीथियों में भी और उनके बीच बीच में वृक्षों और लता आदियों से आच्छादित स्थलों में भी परिहास । जैसे प्रियतम के द्वारा किया गया परिहास—'अहो सुकुमारि, तुम्हारे हृदय पर यह दो क्या उल्लसित हो आये हैं, यह कहते हुये हाथ से हृदय का स्पर्श करना और 'हम दोनों के दोनों नेत्र

चावयोः कस्येदं नेत्रद्वयं बृहदिति व्याजेन मुखसंनिधानेन चुंबनादि यथा चोच्चपुष्पचयनप्रवृत्तिप्रेरणं स्वस्कंधारोहणकरणे चरणस्पर्शः अवतरणे च बाहुभ्यामुरसा दृढपरिरम्भस्तत्र धृष्ट कितवेति भर्त्सनपूर्व्वकहसनम् अथ प्रियाकृतो यथा स्पर्शाद्यभिलषितं प्रियस्य कुंजांतरे पुष्पावचयार्थप्रेषणं स्वस्य तत्रागमनसंकेतेपि नागमनम्, अन्यदपि हासाश्रयं वचनं यथा सहृदयगम्यं ज्ञेयमेव।

केलिपरिहासा इति कोशात् क्रीडनार्थम् इति आदिशब्देन हस्ते हस्तं निधाय कौतुकालिङ्गनादिषु निरतौ तत्परौ अत्र कैशोरदर्शने पूर्णमननेन स्वस्य स्थायी सिद्धान्तो दर्शितः। अन्यत्र कौमारादौ संचारित्वं ज्ञेयं दंपत्योरपि कैशोरमेव नित्यलीला दर्शिता अन्या कौमाराद्या नैमित्तिका चेति भावः यथा शैत्यं हि'यत्सा प्रकृतिर्जलस्येतिवत्' कौमारकुञ्ज पक्षे विलासिप्रभुकृतान्तर्हर्म्यस्थहट्टपण्यादिवत्तत्रैव स्थानविशेषाणां व्रजनगरवीथीति समाख्या संकेतः

रसकलश

किस कारण से बड़े बड़े दिखाई पड़ने लगे हैं, यह दिखाने के बहाने मुख से मुख लगाकर चुम्बन आदि कर लेना और ऊँचे स्थान के पुष्प चुनने के लिये प्रेरित करके अपने कन्धे पर चढ़ाकर चरण स्पर्श कर लेना और उतारते समय भुजाओं द्वारा हृदय से गाढ आलिङ्गन कर लेना उस समय 'धृष्ट! कितव!' इत्यादि शब्दों से भर्त्सना करने पर हँसना इत्यादि। और प्रिया जी के द्वारा किया गया परिहास—स्पर्शादि की अभिलाषा वाले प्रिय को किसी दूसरे कुञ्ज में पुष्प चयन के लिये भेजना और स्वयं वहाँ आने का संकेत करके भी न आना, अन्य भी हँसाने वाले वचनादि जैसे सहृदयों को प्रतीत हों वैसे यहाँ जान लेने चाहियें।

यहाँ 'केलिः परिहासः' इस कोश के वचन से क्रीडा के लिये परिहास समझना चाहिये तथा आदि शब्द से हाथ में हाथ रखकर कौतुक से आलिङ्गन आदि में तत्पर जानना चाहिये। यहाँ पर कैशोर वैभव को देखते हुए अपने आपको कृतार्थ मानने के द्वारा अपना स्थायी सिद्धान्त दिखा दिया है। अन्य कुमारादि अवस्थाओं में भाव की संचारिता जाननी चाहिये। प्रिया प्रियतम की भी किशोरावस्था में ही नित्य लीला दिखाई गई है अन्य कुमारादि अवस्थाओं की लीला को नैमित्तिक बताया गया है। जैसा कि—'शीत होना यह तो जलका स्वभाव है।'

कुमारावस्था वाले कुञ्ज के पक्ष में विलासी प्रभुओं के लिये महल के अन्दर ही हाट बाजार की भाँति वहीं के स्थानविशेषों के लिये व्रज, नगर इत्यादि नामों का संकेत किया गया है। किशोर होते हुए भी कुमारावस्था के योग्य उस कुञ्ज में उस

किशोरौ संतौ कौमारार्हतत्रत्यक्रीडनैस्तादृशनैमित्तिककौमारप्रकृत्या खेलतस्तदपि नित्यशीलापरिहार्यत्वादकस्मात् खेलाया अन्तरेन्तरे कैशोर-विभवं चुम्बनालिङ्गनादि प्रकटयति तद्दृष्ट्वाहं पूर्णतां मन्ये यथा कदाचित्स-खीवेषच्छद्मन्यपि प्रियस्य पुंस्त्वविलासाकस्मिकत्वे कियदानन्दवैचित्र्यं तद्वदाश्चर्यानन्दस्थायिस्फूर्तौ पूर्णता नातः परो रसो मदास्वाद्य इति मर्म ।

सुष्ठु कृतिनस्तत्कौमारकुञ्जकर्माधिकारिणः सखीजनस्य हृदयं यद्यत्कौशलं निर्माणं च स्वहृदयरूपं कृतं तत्तदेव तत्प्रीत्या हरंतौ अंगीकुर्व्वन्तौ साधु-साधुप्रशंसकौ यद्वा स्वकृतिविलसनेन तत्रत्यजनः साफल्यं मत्वा प्रेमानन्दमग्नो भवतीति अत्र सञ्चारि नैमित्तिकस्थायिनित्यस्वभावनिष्ठा-सिद्धान्तरीतिनिदर्शनं ज्ञेयम् ॥६५॥

एवं द्वाभ्यां कौमारे कैशोरवैदग्ध्यमुक्त्वाधुना यादृग्दृष्टं रूपं यत्र मनः पूर्णं लग्नं तदेव प्रेममयमतास्पदायाः श्रीमत्याः सहजकैशोरकश्रृङ्गारमाहुः—

रसकलश

प्रकार की नैमित्तिक कुमारावस्था की प्रकृति से खेलते हैं तो भी नित्य लीला छोड़ी नहीं जा सकती अतः अकस्मात् उन खेलों के बीच बीच में किशोरावस्था का वैभव चुम्बन आलिङ्गन आदि प्रकट हो जाता है। उसको देख कर मैं पूर्णता मानता हूँ जैसे कभी सखीवेष का छद्म करते समय भी प्रियतम के पुरुषत्व के अनुकूल विलासों के आकस्मिक होने पर कितनी आनन्द की विचित्रता होती है उसी प्रकार आश्चर्यमय आनन्द की स्थायी स्फूर्ति में पूर्णता है। क्योंकि इस से बढ़कर कोई रस मेरे लिये आस्वादनीय नहीं है, यह तात्पर्य है।

यहाँ पर सुकृती उस कुमारावस्था वाले कुञ्ज में कर्माधिकारी बने हुए सखीजन हैं उनका हृदय वह कौशल या निर्माण है क्योंकि उनके द्वारा की गई परिचर्या ही उनका हृदय होती है उसको प्रीति से हरण करते हुए या स्वीकार करते हुए अथवा 'साधु साधु' कहकर प्रशंसा करते हुए, अथवा अपने कृतिविलास से वहाँ के सखीजन सफलता मानकर प्रेमानन्द में मग्न हो जाते हैं यहाँ संचारी के निमित से होने वाली स्थायी और नित्य लीला में अपने भाव की निष्ठा और सिद्धान्त रीति का निदर्शन किया किया गया ऐसा जानना चाहिये।६५।

इस प्रकार कुमारावस्था में किशोरावस्था की विदग्धता या चतुरता कहकर अब जैसा रूप देखा और जहाँ मन पूर्णतया मग्न या संलग्न होगया उसी प्रेम और ममता की

धम्मिल्लं ते नवपरिमलैरुल्लसत्फुल्लमल्ली
मालं भालस्थलमपि लसत्सान्द्रसिन्दूरबिंदुम् ।
दीर्घापाङ्गच्छविमनुपमां चारुचन्द्रांशुहासं
प्रेमोल्लासं तव तु कुचयोर्द्वन्द्वमन्तः स्मरामि ॥६६॥

एवं विशिष्टं धम्मिल्लादिपञ्चकं अन्तःकरणे स्मरामि न यथावद्बहिर्वक्तुं शक्यम् । किञ्चाग्रे लक्ष्मीकोटिविलक्षेति वक्ष्यमाणत्वात् 'तु स्याद्भेदेऽवधारणे' इत्यमरः । अन्यमाशिखनखपर्यन्तश्रृङ्गारं किं वच्मि तव तु इति साहजिकमित्यर्थः । तदेवाह धम्मिल्लाःसंयताः कचा इति नवैः परिमलैरुदधिकं लसन्ती फुल्लाचासौमल्ली च तस्या माला यस्मिंस्तं नवत्वमत्र विकसनसमकाले पुष्पावचयात् । यद्वा ते इति त्वत्सम्बन्धिभिः सहजाङ्गाचिन्त्यशक्तिभूतैरव्ययैः परिमलैरिति नित्यनवत्वम् यद्वा कौमारेऽकस्मात्कैशोरं श्रृंगाराकृत्रिमत्वप्रादुर्भावात् नवत्वं फुल्लमालानां तत्र ग्रथनं

रसकलश

पात्रभूता श्री राधाजी के सहज किशोरावस्था के श्रृङ्गार का वर्णन करते हैं—

'हे श्रीराधे ! मैं तुम्हारे नवीन परिमलों या सुगन्धियों से युक्त खिली हुई मल्लिका की मालाएं जिस में उल्लसित हो रही हैं ऐसे केशपाश को जिस की उपमा नहीं ऐसे दीर्घ अपांगों (कटाक्षों) की छटा को सुन्दर चन्द्रकिरणों—से हास को और प्रेम के कारण उल्लसित कुच द्वन्द्व को हृदय में स्मरण करता हूँ ॥६६॥'

इस प्रकार के विशेषणों से युक्त केशपाश आदि पाँच अङ्गों को मैं अन्तःकरण में स्मरण करता हूँ किन्तु यथावत् बाहर कह नहीं सकता । जैसा कि आगे—'लक्ष्मी कोटियों से न देखे जाने वाले लक्षणों से लसित शतशत लीलाकिशोरियों के द्वारा आराध्य' इत्यादि अर्थ वाले पद्य में वर्णन करेंगे । 'तु' शब्द भेद और अवधारण अर्थ में प्रयोग किया जाता है । ऐसा अमर कोष में कहा गया । अतः मैं अन्य किसी के नखशिख श्रृङ्गार का क्या वर्णन करूँ ? तुम्हारा श्रृङ्गार तो स्वाभाविक ही है यह अर्थ है । उसी का वर्णन करते हैं—धम्मिल्ल नाम है बँधे हुए केशों का । नवीन परिमलों या सुगन्धों से अधिक सुशोभित हो रही है खिली हुई मल्ली की माला जिसमें उस केश पाश को । यहाँ सुगन्ध की नवीनता खिलने के समय की भी हो सकती है और पुष्प चुनने के समय की भी । अथवा 'ते' का सम्बन्ध 'नवैः परिमलैः' से होने के कारण तुम से सम्बन्धित सहज अङ्गों की अचिन्त्य शक्ति से प्रकट हुई अविकारी सुगन्धों से, इसी लिये उनमें नित्य नवीनता है । अथवा कुमारावस्था में अकस्मात् किशोरावस्था के श्रृङ्गार की अकृत्रिमता के प्रादुर्भाव से यह नवीनता है खिली हुई मल्लिका की मालाओं का वहाँ गूंथना या बांधना

बन्धनं च कौशलेन यथाशोभनस्थानं ज्ञेयं पश्चाद्भागे स्तवकान्दोलनं कर्णोपान्तेऽपि चेति अथवा उल्लसन्ती फुल्लमल्ली माला यस्मादिति पंचमीनिर्द्देशेन भूषणभूषणाङ्गवत् सौभाग्यलक्षणं च निर्द्दिष्टं गूढं त्वत्र परिहासालिङ्गनादिनिरतत्वात्परिमलोल्लसनं ज्ञेयम् ।

अपि शब्देन तद्वत्सौभाग्यशोभनं भालस्थलं लसन् सान्द्रः सघनः स्निग्धः सिंदूरस्य विन्दुर्यस्मिन्वा यस्मादिति पूर्व्ववत् गूढं त्वत्रानन्दसात्विकेन सान्द्रता दीर्घयोरपांगयोश्छविमिति कर्णान्तविशालता अनुपमामिति कव्युक्तोपमायां विचार्य्यमाणायां न मन्मनस्तोष अतः एतच्छविरेतच्छविरिवेति भावः । तत्काले मिथस्ताद्दक्तृषितप्रियचन्द्रचकोरायमाणत्वात् ततो मिथो वार्त्ताभावानन्दोद्गमेन हासमाह चारुश्चासौ चन्द्रश्चेति यदि मन्मनोगतचारुत्वं चन्द्रे स्या-

रसकलश

कौशलपूर्वक जहाँ सुन्दर लगे उसी स्थान में जानना चाहिये। पिछले भाग में गुच्छे का झूलना, अथवा कानों के पास भी इत्यादि। अथवा उल्लसित हो रही है फुल्ल मल्लिका की माला जिससे इस प्रकार पञ्चमी का निर्देश करने में भूषणों को भूषित करने वाले अङ्गों के समान केशपाश के सौभाग्ययुक्त लक्षणों का निर्देश किया गया है। यहाँ पर परिहास और आलिंगन आदि में निरत रहने के कारण परिमल के उल्लसित होने में गूढ अभिप्राय जानना चाहिये।

'भालस्थलमपि' 'भालस्थल भी' में 'अपि या 'भी' शब्द से केशपाश के समान ही भालस्थल का भी सौभाग्ययुक्त लक्षणों से शोभन होना बताया गया है। लसित हो रहा है घने और स्निग्ध सिन्दूर का बिन्दु जिसमें या जिससे ऐसा भालस्थल है। यह कहने में वही 'भूषणों के भी भूषण अङ्गों' वाली युक्ति समझनी चाहिये। गूढ अभिप्राय तो यहाँ पर आनन्द के सात्त्विक भावों का उदय होने से सिन्दूर बिन्दु में सांद्रता या घनता प्रतीत हो रही है। 'दीर्घ अपाङ्गों या कटाक्षों की छवि' का तात्पर्य है कि कानों तक नेत्रों की विशालता के कारण अपाङ्गों या कटाक्षों की शोभा अनुपम है। कवियों के द्वारा कही गई उपमा विचार करने पर मेरे मन को सन्तोष नहीं होता अतएव इन अपाङ्गों की छवि इनकी ही छवि जैसी है यह भाव प्रतीत होता है। उस समय आपस में वैसे तृषित प्रियतम रूपी चन्द्रमा के लिये चकोर के समान आचरण कर रहे होने के कारण और उसके बाद परस्पर वार्तालाप के समय भावना के आनन्द का उद्गम होने के कारण हो रहे हास का वर्णन करते हैं—चारु या सुन्दर चन्द्र—यदि मेरे मन में विद्यमान चारुता या सुन्दरता चन्द्रमा में हो जाए तो उस चन्द्रमा से

तदोपमीयते इति भावस्तस्य तादृशांशुबद्धाः संततय एव प्रेम्णोल्लासो यत्र तत्कुचद्वन्द्वं वा प्रेम्णः उल्लासरूपं प्रेममूर्त्तेस्तस्यास्तदुपादानकत्वात् उल्लसनं यथा पयउत्फणनं अथवा प्रेम्णः स्वगतस्य वा प्रियगतस्योल्लासो यस्मादिति उल्लासकारणत्वं निर्दिष्टम् ।

अन्यच्च कौमारलीलायामप्यहं संगिनी युगलतत्तत्क्रीडने मग्ना यदा मम दिदृक्षारसाभिलाषसिद्धये वाऽकस्मात्कैशोरप्रकटने परिमलः प्रासरत्तदा तज्जिघ्रत्या धम्मिल्लगतदृष्ट्या फुल्लमल्लीत्युक्तिस्तच्छोभायामेव मनो लग्नं किमिदमकस्माद्वैलक्षण्यमिति विचार्य तत आश्चर्यदृष्ट्यान्यदपि भालस्थलमपीत्युक्तिस्तत्स्थले छविगृध्नु मनः प्रासरत् बिन्दुसान्द्रतामग्नं ततोऽप्यन्याश्चर्यं मृग्यमाणेनापाङ्गच्छविं पतता मनसा दीर्घापाङ्गो लब्धस्तदानुपमेत्युक्तिस्ततोऽपि परावृत्य प्रकाशबहुलप्रसरे गतेन तदनुभूय चारुचन्द्रेत्युक्तिः

रसकलस

उपमा दी जा सकती है यह तात्पर्य है। उस सुन्दर चन्द्र की वैसी किरणों की परम्पराबद्ध सन्तति ही हास की उपमा हो सकती है । प्रेम के कारण जिनमें उल्लास हो रहा है, ऐसे उस कुचद्वन्द्व अथवा प्रेम के उल्लास स्वरूप कुचद्वन्द्व को प्रेम मूर्ति श्रीराधा जब उनका उपादान हैं तब उनका प्रेमोल्लास स्वरूप होना स्वतः सिद्ध होता है। प्रेम का उल्लास ऐसा ही है जैसा दूध में उफान आता है। अथवा प्रेम स्वगत भी है और प्रियगत भी है उस दोनों प्रकार के प्रेम का उल्लास जिससे होता है ऐसे कुचद्वन्द्व को, यहाँ प्रेम को उल्लास का कारण कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि कुमारावस्था की लीला में भी मैं सङ्गिनी ही थी, युगल सरकार की उन उन क्रीडाओं में मग्न हो जाती थी जब मेरी दिदृक्षारस की अभिलाषा की सिद्धि के लिये अथवा अकस्मात् किशोरावस्था में प्रकट हो आने पर परिमल या सुगन्ध का प्रसार हुआ तब उसको सूंघती हुई (मुझदासी)की दृष्टि धम्मिल्ल या केशपाश पर पड़ी और वहां 'उल्लसित हो रही मल्लिका की माला' कहने से तात्पर्य है कि केश पाश की शोभा में ही मन लग गया, क्या यह अकस्मात् विलक्षणता आ गई यह सोचकर फिर आश्चर्य की दृष्टि से और भी वैलक्षण्य दीखा तो भालस्थल इत्यादि कहा अब भालस्थल की शोभा का लोभी मन लसित हो रहे सिन्दूर-बिन्दु की सान्द्रता में मग्न हो गया, वहां से और भी आश्चर्य की खोज करता हुआ मन अपाङ्गच्छवि पर पड़ा और उस मन ने अपाङ्ग में दीर्घता पाई तब अनुपमा है यह कहा, फिर वहां से भी हटकर प्रकाश के बड़े भारी प्रसार में गए हुए मन ने उस प्रकाश का अनुभव करके हास के लिये चारु चन्द्रांशु कहा। इतनी सब बातें तो कुमारावस्था या पौगण्डावस्था के अचिन्त्य भावों में

एतत्पर्यन्तं कौमारपौगडेष्वप्यचिन्त्यभावेषु सङ्घटते किमन्यदप्यस्तीति वयः-संशयापन्नेन तदधो मृगयता कुचद्वन्द्वं दृष्टं तदा स्वस्थायिनिष्ठा पोषतृप्त्याति प्रेमप्रसरेण प्रेमोल्लासेत्युक्तिः। अर्थान्निश्चयेन किशोरीति विचार्य्य परमानन्दपूर्णः अत एवांतः स्मरामीति किमिदमहो महाश्चर्य्यवैभवं मद्भाग्यायैव प्रादुरासीदिति दिक् ॥६६॥

ननु आः किमेतदिति साधारणश्रृङ्गारकं किमन्यत्रेदृशं नास्तीति तत्र महामाधुर्यरूपं महदैश्वर्यं चाह—

लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतै-
राराध्यं ब्रजमण्डलेऽतिमधुरं राधाभिधानं परम्।
ज्योतिः किञ्चन सिञ्चदुज्ज्वलरसप्राग्भारमाविर्भव-
द्राधे चेतसि भूरिभाग्यविभवैः कस्याप्यहो जृम्भते ॥६७॥

राधाभिधानं किञ्चन परं ज्योतिर्भूरिभाग्यविभवैः कस्यापि चेतसि अहो आश्चर्य्ये जृम्भते इत्यन्वयः। किञ्चनेत्यनिर्वचनीयत्वमुक्त्वा राधानामेति

रसकलश

सम्भव हो सकती है किन्तु कुछ और भी है जिससे वयस् (उम्र) के विषय में संशय में पड़ गए मन ने उस से नीचे ढूंढ़ते हुए कुचद्वन्द्व—दोनों स्तनों—को देखा तब अपने में रहने वाली निष्ठा के पोषण से तृप्त होने पर प्रेम के अत्यन्त प्रसार से प्रेमोल्लास इत्यादि वचन कहे। अर्थात् निश्चय रूप में किशोरी ही हैं यह विचार कर परम आनन्द से पूर्ण हो गये, अतएव अन्तः करण में स्मरण करता हूँ यह कहा। अहो यह क्या है। यह तो महान् आश्चर्यमय वैभव मेरे सौभाग्य के लिये ही प्रकट हुआ है ऐसा माना, यह संक्षिप्त तात्पर्य है ॥६६॥

अब कोई प्रश्न करता है कि अहो यह क्या है ? यह तो एक साधारण श्रृङ्गार है क्या ऐसा श्रृंगार अन्यत्र कहीं नहीं है ? इस पर महा माधुर्य रूप महान् ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं—

'कोटि-कोटि लक्ष्मियों द्वारा न देखे गये विलक्षण लक्षणों से लसित या सुशोभित हो रही शतशत लीला किशोरियों के द्वारा व्रज मण्डल में आराधनीय अति मधुर राधा नामक कोई अनिर्वचनीय परम ज्योति है। जो सेचन कर रहे उज्ज्वल रस के प्राग्भार वाला है। अहो वह ज्योति आविर्भूत हो रहा है श्री राधा का स्वरूप जिसमें, ऐसे किसी के चित्त में बड़े भारी भाग्य रूपी वैभवों से ही उल्लसित होता है ॥६७॥

राधा नामक कोई अनिर्वचनीय परम ज्योति बड़े भारी भाग्य वैभव से किसी के चित्त में आश्चर्य में उल्लसित होती है यह इस पद्य का अन्वय है। 'किञ्चन' या

विरुद्धधर्माश्रयणं किञ्च दृष्टे श्रुतेऽपि न प्रभावस्येयत्तां कोपि जानातीति भावः परं ज्योतिरित्युक्तौ परात्परतमैश्वर्यमुक्तं 'यथा पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यमिति अतिमधुरमित्यनेनपूर्ण' माधुर्योक्तिः अन्यथा ब्रह्मज्योतिषि माधुर्यादिगुणा नामानि च नैव घटन्ते ।

तदेववैलक्षण्यमाह लक्ष्मीति सकलशोभासंपदधिष्ठात्री तस्या अपि कोटीनां विलक्षैर्विस्मयोत्पादकैर्वा लज्जोत्पादकैः विलक्षो विस्मयांचित इत्यमरः लक्षणैरसाधारणधर्मैं रूपांगवर्णच्छविसौष्ठवैः प्रेमरसादिभिश्च स्वरूपैस्तटस्थैश्च लसंती लीलया सां तादृक्किशोरीणां श्रीललितादीनां यूथेश्वरीणां शतैराध्यं अतएवाराधनार्थत्वाद्राधानामेति तदा किमैश्वर्यं वाच्यं नेदमर्थवादात्मकं शंक्यं यथाह-न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ-

रसकलश

'कोई' शब्द द्वारा उस ज्योति की अनिर्वचनीयता कहकर 'राधा नामक' इस शब्द द्वारा विरुद्ध धर्मों का आश्रयण बताया गया है क्योंकि उस ज्योति का दर्शन-श्रवण हो जाने पर भी उसके प्रभाव की इयत्ता या मात्रा को कोई नहीं जानता यह भाव है । परम ज्योति इस कथन में उनका परात्परतम ऐश्वर्य कहा गया है जैसे—'पूर्ण अनुराग रस की मूर्ति, विद्युल्लता के समान आभा वाली परम ज्योति है जो भगवान् का परम प्रीतिमय रहस्य है।' इत्यादि द्वारा कहा गया है । 'अति मधुर' इस विशेषण से उनके पूर्ण माधुर्य का कथन हुआ है, अन्यथा ब्रह्म ज्योति में तो माधुर्य आदि गुण और नाम का निर्वचन सङ्गत नहीं होता है ।

ब्रह्मज्योति से राधा नामक परम ज्योति की उसी विलक्षणता का वर्णन करते हैं—लक्ष्मी समस्त सम्पत्तियों की अधिष्ठात्री है उसकी भी कोटियों अर्थात् कोटि-कोटि लक्ष्मियों के लिये विलक्ष या विस्मयजनक अथवा लज्जाजनक (क्योंकि 'विलक्षो विस्मयाञ्चितः' इस वचन द्वारा अमर कोष में विस्मय युक्त को विलक्ष कहा गया है) लक्षणों या असाधारण धर्मों रूप, अङ्ग, वर्ण, कान्ति और सौष्ठव या सुघराई से तथा प्रेम रस आदि से स्वरूपभूत या तटस्थभूत धर्मो से लसित हो रही है लीला जिनकी ऐसी किशोरियों श्री ललिता आदि यूथेश्वरियों के शतों से अर्थात् शतशत लीला किशोरियों से आराधनीय, अतएव आराधनार्थक राध धातु से राधा नामक है, तब उसका ऐश्वर्य क्या कहा जाए, यह जो कुछ कहा गया है इसे अर्थवादात्मक नहीं समझना चाहिये । जैसा कि कहा है कि यद्यपि मैं विरक्त हूँ पर लक्ष्मी मुझे नहीं छोड़ती, दर्शन के लिये दूसरे साधक नियमों को धारण करते हैं, इत्यादि । 'भला कौन स्त्री या चेतना पद पद में उसके पदारविन्दों से विचलित हो जिनको श्री भी कभी नहीं छोड़ती'

मितरे नियमान्वहन्तीति' पदेपदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचिदिति श्रीर्यत्पदांबुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टमित्यादि वाक्यैर्लक्ष्म्यासक्तिविषयत्वं हरेः सिद्धं सा श्रीनारायण-पदोपलालने रता।

अथ श्रीकृष्णस्यानेकनारायणाद्यवताररूपाणामवतारित्वं स यदा स्वप्रियादासीषु सांजलिप्रार्थनापरस्तदा प्रेमरूपादिवैभवं व्रजकिशो-रीणां किमुच्यते तत्रापि तदाराध्य राधानाम्नः किन्तमामित्यनुमानेऽपि पर-माश्चर्यकोटिविलक्षेत्याद्युक्तौ आराधनं कुत्रेत्यपेक्षायामाह व्रजमंडले ऽतिमधुरं प्रथमंत्वेतदनिर्वचनीयं रूपमत्रैवास्ति नान्यत्रेति किं ब्रूमोऽन्यत्रेति वक्ष्यमाणत्वात् परंतु अन्यत्रापि नामगुणादिश्रवणे मधुरवस्तु सर्व्वत्रापि मधुरमेवापि व्रजे त्वतिमधुरं किञ्च तन्ममतासंबंधाधिकारपूर्णत्वात् सजातीयाशयं विना न तादृगनंदसिद्धिः स्वादुप्रियौ च मधुराविति यथा-संभवं योज्यम्।

रसकलश

इत्यादि। 'श्री भी जिनके तुलसी द्वारा और सेवकों द्वारा सेवित चरण कमलों की रज की कामना करती हैं भले ही उसे भगवान् के वक्षःस्थल में स्थान प्राप्त है। इत्यादि वाक्यों से लक्ष्मी जी की आसक्ति का विषय श्री हरि सिद्ध होते हैं, वह श्री या लक्ष्मी नारायण के चरणों का संवाहन करने में निरत रहती हैं।

इधर श्री कृष्ण नारायण आदि अनेक अवतारों के भी अवतारी हैं, वे कृष्ण जब अपनी प्रिया (श्रीराधा) जी की दासियों से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं तब व्रज किशोरियों के प्रेम और रूप आदि का वैभव क्या कहा जा सकता है। उस पर भी उन व्रजकिशोरियों के लिये भी आराध्य राधा नाम का वैभव कैसे वचन-गोचर हो सकता है इस प्रकार अनुमान द्वारा भी जो परम आश्चर्यमय है। कोटि-कोटि लक्ष्मियों के लिये जब इन किशोरियों के ही सौभाग्य लक्षण आश्चर्य जनक हैं तब इनके द्वारा उनकी आराधना तक पहुँचना कहाँ सम्भव हो सकता है? इस पर कहते हैं—व्रज मण्डल में 'सदानन्द स्वरूप परम ज्योति जो व्यापक है वही व्रज कहलाती है' इस प्रकार वर्णित व्रजमण्डल को भी जो उनके आविर्भाव का स्थान है वैसा ही जानना चाहिये। अथवा 'व्रजमण्डल में अति मधुर' अर्थात् पहिले तो यह अनिर्वचनीय रूप यहाँ पर ही है अन्यत्र कहीं नहीं है। जैसा कि—अन्यत्र क्या कहें कुण्ठित कर दिये गये जनों के स्थान भूत श्री वैकुण्ठधाम में भी' इत्यादि पद्य में कहा जायेगा। परन्तु अन्यत्र भी नाम और गुण इत्यादि सुनने में मधुर वस्तु सभी स्थानों पर मधुर ही रहती है और व्रज में तो वह अति मधुर हो जाती है क्योंकि उस पर ममता सम्बन्ध और अधिकार पूर्ण रूप से है। जब तक किसी का मनोभाव सजातीय नहीं होता तब तक उसे वसे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। 'स्वादु और प्रिय को मधुर कहते हैं ऐसे कोशकार का मत है इत्यादि अर्थ यहाँ यथा सम्भव जोड़ लेने चाहिये।

तदाविर्भाव इति एवं पूर्णमाधुर्यैश्वर्यमुक्तम् ।।६७।।

इदानीं लोकवल्लीलाकैवल्यत्वाल्लोकवन्माधुर्यमतिमधुरं स्नुषारसमाह । पूर्व्वं व्रजमण्डलेत्युक्तं यत्तद्रसाधारस्थलत्वात्तत्रापि श्रीकीर्तिवृषभानू केवल-वात्सल्यरसमूर्ती एव तत्रापि श्रीव्रजराज्ञी तस्या अनावृतप्रेमानुभवित्वं तद्-गृहे स्ववस्तुनः पूर्णश्रृंगारवलितवात्सल्यबहुलालनं स्मृत्वातिहर्षेण तदास्वादेनाशिषं वदति । किञ्च प्रेम्ण आश्रयालम्बनं विना न विषया-लम्बनास्वादः अत आविर्भावादारभ्य विवाहानन्तरं यद्यदनुभूतं श्रीमती-सौभाग्यसुखं तत्तन्नित्यांगसंगिनी हितसख्याह ।

तज्जीयान्नवयौवनोदयमहालावण्यलीलामयं
सान्द्रानन्दघनानुरागघटितश्रीमूर्ति सम्मोहनम् ।
वृन्दारण्यनिकुञ्जकेलिललितं काश्मीरगौरच्छवि
श्रीगोविन्द इव व्रजेन्द्रगृहिणीप्रेमैकपात्रं महः।।६८।।

रसकलश

जाने पर इस राधा नामक परम ज्योति का आविर्भाव होता है इस प्रकार इनका पूर्ण माधुर्य और पूर्ण ऐश्वर्य कहा गया ।।६७।।

अब लीला केवल लोकवत् ही होती है इस विचार से अति मधुर स्नुषारस (पुत्रवधू के प्रति प्रीति जैसे भाव का) वर्णन करते हैं ।

पहले 'व्रजमण्डल में' ऐसा कहा था क्योंकि व्रजमण्डल उस-उस रस का आधार स्थल है, उसमें भी श्री कीर्तिदा और श्री वृषभानु के केवल वात्सल्य रस की ही मूर्ति हैं, उस पर भी व्रजेश्वरी होने के कारण उनका अनावृत प्रेम का अनुभवी होना उस गृह में अपनी वस्तु का पूर्ण श्रृङ्गार से युक्त वात्सल्य द्वारा बहुत लाड प्यार रखना याद करके अत्यन्त हर्ष से उसका आस्वाद लेकर आशीर्वाद का वचन कहते हैं और क्यों कि प्रेम के आश्रयालम्बन के बिना विषयालम्बन का आस्वाद नहीं हो सकता अतः आविर्भाव से लेकर विवाह होने तक जो-जो श्रीमती राधा जी का सौभाग्य सुख अनुभव में आया, उसी उसी का उनकी नित्य अङ्गसङ्गिनी होने के कारण श्री हित सखी वर्णन करती हैं ।

नव यौवन के उदय से महालावण्य और महालीला से परिपूर्ण, घन आनन्द और घन अनुराग से बनी हुई श्रीमूर्ति वाला, सम्मोहक, वृन्दावन के निकुञ्जों में केलियों के कारण मनोहर, कुङ्कुम-केसर-के समान गौर कान्ति वाला श्रीगोविन्द के समान व्रज-राज (नन्द) और उनकी गृहिणी (यशोदा) के प्रेम का एक पात्र वह तेज सब से बढ़कर उत्कर्ष से विराजमान हो।'

एतादृशं तन्महो जीयादिति तदेवाह काश्मीरवद्गौरी छविर्यस्य तत् किञ्च श्रीगोविन्द इव व्रजेन्द्रगृहिण्याः श्रीनन्दराज्याः प्रेमैकपात्रं यथा यशोदाया गोविन्दे प्रेमातिख्यातिस्तथैव स्नुषायां तु एकं मुख्यं प्रेमास्पदत्वं अत एव मह इति नैर्मल्यात् प्रेम्णः पीतवर्णसंक्रान्तत्वाद् गौरत्वं बहिः प्रकाशितमिवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः । एककथनेन द्वितीयाभावाद् । गोविन्द-सादृश्योक्तावपि गोविन्दादधिकमुक्तं ज्ञेयम् ।

पुनश्च नवः अनुपमो यौवनोदयः पूर्णकैशोरकं षोडशाब्दिकत्वं तस्य महालावण्यं च लीला च अनयोः सद्भावस्तु पूर्व्वमेव परन्तु महत्त्वमद्य प्राप्तं तन्मयं तत्प्रचुरं वा स्वार्थे मयट् लावण्यादिगुणानां स्वरूपभूतत्वात् । पुनश्च सान्द्रानन्दो घनानुरागश्च ताभ्यां सिता प्रतिमावत् । घटिता निर्मिता श्रीमूर्त्तिर्विग्रहो यस्य तत् अर्थान्नखशिखपर्य्यन्तं नान्यद्वस्तु इति संमोहनं धर्म-मिवेति यद्वा तादृशनन्दानुरागमूर्तेः श्रीकृष्णस्य सम्मोहनमित्येकपदं मोहन-स्यापि मोहनमिति ।

रसकलश

ऐसा तेज सब से बढ़ कर उत्कर्ष से विराजमान हो : उसी तेज का स्वरूप कहते हैं—काश्मीर अर्थात् केसर के समान गौर कान्ति है जिसकी वह, और जो 'श्री गोविन्द के समान व्रजेन्द्र गृहिणी श्री नन्दरानी के प्रेम का एक-मात्र पात्र, जैसे यशोदा जी का गोविन्द में अत्यन्त प्रेम प्रसिद्ध है वैसा ही पुत्र वधू श्री राधा में तो एक मुख्य प्रेम का पात्रता है । इसी लिये उन्हें महः' या 'तेज' कहा' । निर्मलता के कारण प्रेम का पीला रंग संक्रान्त हो जाने से बाहर गौरता दिखाई देती है । प्रकाशित सा ऐसा उत्प्रेक्षागर्भित अर्थ है । 'प्रेम एक पात्र' कहने से दूसरे का अभाव सूचित होता है । श्री गोविन्द का सादृश्य कहने पर भी श्री राधा के प्रति उनसे अधिक प्रेम कहा गया जाना जाता है ।

फिर नव या अनुपम यौवन का उदय अर्थात् पूर्ण किशोरावस्था जो सोलह साल की होती है । उसके महालावण्य और लीला । यद्यपि लावण्य और लीला का अस्तित्व तो पहले भी था परन्तु उसमें महत्व आज ही आया है । उस महालावण्य और महालीला से प्रचुर, अथवा स्वार्थ में मयट् प्रत्यय करने पर महालावण्य और महालीला स्वरूप । फिर सान्द्र या घना आनन्द और घना हो अनुराग उन दोनों से घड़ी गई है श्रीमूर्ति या श्रीविग्रह जिनका, अर्थात् नख से लेकर शिखा पर्यन्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है । सम्मोहनधर्म के जैसा न कि सम्मोहनधर्म का धर्मी श्यामसुन्दर है और उन के लिये सम्मोहन श्रीराधा हैं यह एक पद है । श्रीराधा मोहन की भी मोहन हैं ।

पूर्व्वेऽर्थेऽनुरागस्यारुणरागो गौरवर्णे यौवनानुगत एव कौमारे केवलगौरतैव यौवने किंचिदारुण्यं भवति तस्योद्दीपनविभावत्वमाह—वृन्दारण्यनिकुञ्जेषु याः केलयस्ताभिर्ललितं विलसितं वा सुन्दरं तादृशमपि लादातिवकदर्शनोयम् अत्रापि गोविन्देति पदार्थविवृतिः पीतारुणेतिपद्यस्थगोविन्दवद् ज्ञेया, गृहिणीत्यनेन स्नुषाया अपि विवाहादिसाङ्गोत्सवोपलालितगृहिणीत्वं सूचितम् समाने प्रेम पूर्णं स्यात् गोविन्द इवेति लालनं ममत्वं चापि तादृशमेव तावद् व्रजोऽपि प्रेममयो हि तदिन्द्रः प्रेमिसमष्ट्यात्मकस्तस्य गृहाधिष्ठात्र्यतिप्रेमास्पदा तस्या अपि वा तयोरपि प्रेमा गोविन्दे ततोऽपि तादृग् वध्वां किंभण्यते प्रेमास्पदत्वम् ।

यद्वा व्रजेन्द्रः श्रीभानुस्तद्गृहिणी श्रीकीर्त्तिस्तस्यास्तयोर्वा गोविन्द इव प्रेमास्पदं किञ्च प्रेमाधिक्ये तात्पर्य्यं लोके हि जामातरि प्रेमाधिक्यश्रवणात् गमनागमनोपलालनादौ विस्मृतवेद्यान्तरलक्षणादिति दिक् व्रजेन्द्रगृहिणी

रसकलश

पहले कहे गये अर्थ में अनुराग का अरुण राग यौवन से अनुगत गौर वर्ण में मिल गया है कुमारावस्था में केवल गोरता ही होती है किन्तु यौवन में कुछ अरुणता (लाली) भी आ जाती है। उसका उद्दीपन विभाव होना बताते हैं—वृन्दावन के निकुञ्जों में जो क्रीडाएँ होती हैं उनसे ललित या विलसित अर्थात् सुन्दर, वैसा होता हुआ भी उस समय विशेष दर्शनीय। यहाँ पर भी गोविन्द पद के अर्थो का विवरण 'पीतारुणच्छवि' इत्यादि के पद्य गोविन्द पद के समान समझ लेना चाहिये। 'व्रजेन्द्र गृहिणी' इस पद में गृहिणी शब्द स्नुषा (पुत्रवधू श्री राधा) के भी विवाहादि सांगोपांग उत्सव से उपलालित हुई श्री स्वामिनी के गृहिणी भाव को सूचित करता है। समान युगल में पूर्ण प्रेम हुआ करता है। गोविन्द के समान कहने से अधिक लालन और ममता भी वैसे ही है। क्योंकि व्रज में भी वे प्रेममय हैं और प्रेम के इन्द्र हैं, समस्त प्रेमियों की एक समिष्ट के रूप में हैं। उनके गृह की अधिष्ठात्री होती हुई प्रेम की आस्पद या पात्र हैं और उन (श्री यशोदा और नन्द) दोनों का जैसा प्रेम गोविन्द में है उस से भी अधिक वह प्रेम वधू में हैं अतः उनकी प्रेमपात्रता के विषय में क्या कहा जाये।

अथवा व्रजेन्द्र (श्री वृषभानु) और उनकी गृहिणी (श्री कीर्तिदा) उन दोनों के प्रेमास्पद गोविन्द हैं उनके समान ही प्रेमास्पद श्रीराधा हैं यहाँ भी अधिक प्रेम में तात्पर्य है। लोक में सुना जाता है कि पुत्री की अपेक्षा उसके पति या जामाता में अधिक प्रेम होता है। उनके आने जाने और लाड प्यार के समय अन्य सभी बातों को भूल

निरंतरलालनोक्तेरपि वृन्दारण्यकुञ्जकेलिविलसनमेव तयोः प्रेमास्पदमिति निकुंजलीला चैतत्पक्षेऽप्यबाधिता नित्यैवेति ज्ञेयम् न च व्रजपक्षेऽपि विरह इष्ट इति वृन्दारण्येति समस्तपदेन सूचितं किञ्च स्वप्रेमास्पदस्य यत्प्रेमास्पदं तस्यैव साधनं स्वप्रेमास्पदम् । अतः पुत्रवध्वोर्विलासरहः क्रीडनमेव तज्जीवातु तज्जीयादिति कराञ्चलोद्धरणपूर्व्वकाशीरेवमेतादृशपरमसौभाग्यमद्वस्तु चिरञ्जीव्यादिति एवं पद्याभ्यां क्रमेणैश्वर्य्यं माधुर्य्यं चोक्तम् ॥६८॥

पुनः प्रस्तुतांनिकुञ्जलीलामाह:—

प्रेमानन्दरसैकवारिधिमहाकल्लोलमालाकुला
व्यालोलारुणलोचनाञ्चलचमत्कारेण सञ्चिन्वती ।
कञ्चित्केलिकलामहोत्सवमहो वृन्दाटवीमन्दिरे
नन्दत्यद्भुतकामवैभवमयी राधा जगन्मोहिनी ।६९।

रसकलश

जाने के लक्षण से यह अति प्रेम लक्षित होता है। व्रजेन्द्रगृहिणी के द्वारा नित्य लालन करने पर भी वृन्दावन के निकुञ्जों में केलिविलास ही उन दोनों का प्रेमास्वद है। निकुञ्ज लीला में इस पक्ष में भी कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि यह भी नित्य ही जाननी चाहिये। इसका यह भाव नहीं कि व्रज लीला में तो वियोग इष्ट है इसी लिये यहाँ 'वृन्दारण्यनिकुञ्ज' यह समस्त पद प्रयोग किया गया है क्योंकि अप प्रेमपात्र का जो प्रेमपात्र होता है उसका सुख साधन भी प्रेमपात्र होता है। अतः पुत्र और बहू का विलास और एकान्त में क्रीडा करना ही उनके जीवन का साधन है, वह युगल सर्वोत्कर्ष से विराजमान हो ऐसा आशीर्वाद, हाथ से वसनाञ्चल को उठाकर आशीर्वाद दिया गया है। ऐसे परम सौभाग्य वाली वस्तु चिरकाल तक जीति रहे। इस प्रकर दो पद्यों द्वारा क्रमशः ऐश्वर्य और माधुर्य का वर्णन किया गया।६८।

अब फिर प्रस्तुत निकुञ्ज लीला का वर्णन करते हैं—

'अहो! प्रेमानन्द रस के एक सागर की महाकल्लोलों की माला से आकुल अतएव अति चञ्चल और अरुण लोचनाञ्चल के चमत्कार से किसी अनिर्वचनीय केलि कलाओं के महोत्सव का सञ्चय करती हुई अद्भुत काम वैभव से परिपूर्ण, जगन्मोहिनी श्री राधा वृन्दावन रूपी मन्दिर में आनन्दित हो रही हैं।६९।

राधा वृन्दाटवीमन्दिरे नन्दति गोविन्दाराध्या श्रीमती रहः कुञ्ज-भवने परमानन्दम्प्राप्नोति। तदेवानन्दमाह-प्रेमानन्दश्च रसश्च आनन्दशब्दो देहलीदीपवत् प्रेम आनन्द आनन्दरूपो रस इति अनयोः स्वरूपं परि-भाषायां विवृतमेव प्रेमा प्रियविषयिकः स्वीयो वा स्वविषयिकस्तदीयस्तेन कृपो-दुगमेन तद्दैन्यजकारुण्येन रसोदय इति तयोरेकः असाधारणो वारिधिस्तस्य महतीभिः कल्लोलमालाभिराकुला व्याकुला पूर्णत्वादपि बहिरुद्गच्छत्तरंगानु-रुध्यमानप्रत्यंगप्रतिरोमसुप्रेमानन्दरसोच्छलनस्य सखीभिरेव दृश्यमानत्वात् पुनश्च तद्वशादेव व्यालोलयोररुणलोचनांचलयोश्चमत्कारेण कंचिदनिर्वच-नीयं कञ्चिच्चासावुत्सवश्चेति तं वा सूक्ष्मतया केलिकलानां महान्तमुत्सवं सञ्चिन्वतीयं सञ्चयं कुर्व्वती सखीमनसि विश्वासानन्दं संबिभर्त्ति यदनया दृष्ट्या प्रियपोषादस्मन्मनोरथोत्सवोऽपि सेत्स्यतीति।

अहो इत्याश्चर्ये प्रियेण सखीभिबर्हुयत्नोपायैः केलिकलोत्सवः संश्रियते

रसकलश

श्रीराधा वृन्दावन रूपी मन्दिर में आनन्दित हो रही है। श्री गोविन्द की आराध-नीया श्रीमती एकान्त कुञ्ज भवन में आनन्द को प्राप्त कर रही है। अब उसी आनन्द का वर्णन करते हैं। 'प्रेमानन्द रस' इस शब्द में आनन्द शब्द देहली दीपक न्याय से प्रेम से सम्बन्ध रखता है और रस से भी सम्बन्ध रखता है।

जिससे 'प्रेम का आनन्द और आनन्दस्वरूप रस' यह अर्थ निकलता है। प्रेम और रस दोनों का स्वरूप परिभाषा प्रकरण में स्पष्ट कर ही दिया गया है। प्रेम प्रिय-विषयक भी हो सकता है और स्वविषयक भी। स्वविषयक प्रेम श्यामसुन्दर का है और श्यामसुन्दर विषयक प्रेम प्रिया जी का है। उस प्रेम के कारण कृपा का उदय हुआ तथा श्यामसुन्दर की दीनता के कारण उनके प्रति करुणा से रस का उदय हुआ इस प्रकार प्रिया प्रियतम दोनों का एक असाधारण समुद्र है उसकी बड़ी बड़ी कल्लोल-मालाओं से आकुल या व्याकुल हैं, भर जाने के कारण बाहर भी उछल रही तरङ्गों को रोकने का प्रयत्न करने से प्रत्येक अङ्ग और प्रत्येक रोम में विशुद्ध प्रेम के आनन्दरस का उछलना तो सखियों द्वारा ही देखा जारहा है। फिर उसी के कारण चञ्चल और अरुण या लाल लोचनाञ्चलों (नेत्रों के प्रान्त भागों) के चमत्कार से किसी अनिर्व-चनीय आनन्द को धारण करती है यह (केलिकला ही) कोई उत्सव है उसको, अथवा सूक्ष्म दृष्टि से केलिकलाओं के महान् उत्सव को सञ्चय करती हुई सखी मन में विश्वास-मय आनन्द को धारण करती है। क्यों इस दृष्टि से प्रिय का पोषण होने से हमारा मनोरथ रूपी उत्सव भी सिद्ध होगा।

'अहो!' यह पद आश्चर्य के लिये प्रयुक्त है। प्रिय ने और सखियों ने अनेक

अनया केवलकटाक्षमात्रेणैवेति अर्थात् प्रियमनसि यद्दृष्ट्वा केलिकलानामुत्सवः किमुच्यते महोत्सव इति उत्सवस्तु प्रियहृदि स्थायी वयं तु प्रियाप्रेमानन्दरस-कल्लोलपरवशा मदनमत्ततासूचकारुण्यरञ्जित नेत्राञ्चलेन पश्यति पश्चात्स्मृत्या पारवश्यताच्छादनाय चक्षुषी परावर्त्तयेत् तदा झटित्यावर्त्तने चमत्कारः स्यात्तेनैव प्रियहृदि परमोत्सवः स्यात् तत्कृतनिदेशमिव मन्यते ततो राजनिर्दिष्टसचिववत् संभारं सविभर्ति अथवा महइत्यन्तमेकपदं महच्चतदुत्सवस्यौत्सुक्यस्य निजौत्कंठिततत्वस्य महउत्सवमिति प्रियाहृद्गतौत्सुक्यज्ञानेन प्रियस्य परमोत्सवसंचय इति तेजोऽर्थे उत्सवतेजःसंचय इति । उत्सवं प्रकाशयतीति स एवार्थः । तत एवाद्भुतकामवैभवमयी साक्षान्मन्मथमन्मथस्यापि कटाक्षमात्रेणैव मनोमथनत्वात् । अतोऽनुमानादद्भुतत्वमत्र कामस्यन प्राकृतत्वं प्रेमानन्दरसप्रकृतिकत्वात् स्वार्थे मयन् ।

वैभवेति । सराष्ट्रो राजा सर्व्वं कर्त्तुं शक्नोति तद्यावत्सकलकला-

रसकलश

यत्नों और उपायों से केलिकाओं का उत्सव किया है किन्तु यह (श्रीराधा)तो केवल कटाक्ष से ही उसी उत्सव को कर देती हैं अर्थात प्रियतम के मन में इस द्रष्टि से ही केलिकलाओं का उत्सव हो जाता है अतः उसके विषय में क्या कहा जासकता है। महोत्सव या रतिमय उत्सव प्रिया प्रियतम के हृदय में स्थायी है और हम तो प्रिया जी के प्रेमानन्द और रसानन्द की तरङ्गों के अधीन हैं। यहाँ मदन से मतवालेपन की सूचक लाली से रँगे हुए नेत्रांचल से देखती हैं फिर याद आजाने पर अपनी परवशता छिपाने के लिये आँखे फेर लेती हैं तब आँखे फेरते समय जो चमत्कार होता है उसी से प्रियतम का परम से परम उत्सव होता है वे उसे प्रिया जो के द्वारा दिया गया आदेश सा मानते हैं तब राजा के आदेश से मन्त्री के समान सब साधन सम्पत्तियों को जुटाते हैं अथवा यहाँ पर महत् शब्द का अर्थ, अत्यन्त और, 'एक दम' है और उत्सुकता अर्थात अपनी उत्कण्ठितता को ही उत्सव कहा गया है प्रियाजी के हृदय में विद्यमान उत्सुकता के ज्ञान से प्रियतम को परम उत्सव का लाभ होता है। यह शब्द तेज का भी वाचक है उस अर्थ में उत्सव के तेज का लाभ होता है- अर्थात् प्रिया जी उत्सव को प्रकाशित करती हैं। इसलिये उन्हें अद्भुत कामवैभवमयी कहा गया है साक्षात् मन्मथ के लिये भी मन्थय श्यामसुन्दर का भी केवल कटाक्ष से ही मन मथ देने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि इन का काम अद्भुत है यहाँ का काम प्राकृत नहीं है प्रेमानन्द और रसानन्द तो इनकी प्रकृति ही है अतः स्वार्थ में मयट् प्रत्यय किया गया है।

'वैभव' का यह तात्पर्य है कि राष्ट्र के साथ ही तो राजा सब कुछ कर सकता है तब क्योंकि श्रीराधा सकल कला विलास अनुभाव, विभाव, स्थायीभाव और संचारी

विलासानुभावविभावस्थायिसंचारिसंपद्युतकाममयो अतएव जगतो जङ्गम-मात्रस्य सचेतनस्य मोहिनीति जडस्य हृच्चैतन्यशून्यस्य का वार्ता अथवा वृन्दाटव्यां यज्जगत् सर्वतन्मोहिनी दर्शनाधिकृतत्वात् । अत्र पूर्व्वं प्रियायां प्रेमानन्दरसोद्गारस्ततः प्रियाभिलाषपोषो विलासस्ततः सखीजनानन्दस्ततोऽपिपक्षिभ्रमरादीनामप्यानन्द इति निकुञ्जकेलिवर्णनम् ॥६९॥

वृन्दारण्यनिकुञ्ज सीमनि नवप्रेमानुभावभ्रम-
द्भ्रू भङ्गीलव मोहितब्रजमणिर्भक्तैक चिंतामणिः ।
सान्द्रानन्दरसामृतस्रवमणिः पोद्दामविद्युल्लता
कोटि ज्योतिरुदेति कापिरमणी चूडामणिर्मोहनी ।७०

तदेव चमत्कारं दृष्ट्वा कुञ्जरन्ध्रेषु वा समक्षं हर्षपारवश्येन स्तौति कृपापात्रसख्यैच श्रावयति—

रसकलस

भाव की सम्पत्ति से युक्त काम से परिपूर्ण हैं अतः जङ्गममात्र को—सचेतन अचेतन को मोहित कर देती हैं जब जड़ को हर लेती हैं तब चेतन की बात ही क्या है ? अथवा वृन्दावन में जो जगत् है उस सम्पूर्ण को मोहित कर देती हैं. उस जगत् को इनके दर्शन का अधिकार जो प्राप्त है । यहाँ पर पहले प्रिया जी के प्रेमानन्द रस का उद्गार कहा गया है फिर प्रियतम की अभिलाषा को पुष्ट करने वाला विलास बताया गया है फिर सखीजन के आनन्द का वर्णन है उसके बाद पक्षियों और भ्रमर आदियों के आनन्द का निर्देश है इस प्रकार निकुञ्ज केलि का वर्णन हुआ ।६९।

उसी चमत्कार को देखकर अथवा कुञ्ज के रन्ध्रों (छिद्रों) में से प्रत्यक्ष ही दर्शन करके परवशता के कारण स्तुति करते हैं अथवा कृपापात्र सखीजन को सुनाते हैं—

'वृन्दावन के निकुञ्जों के मध्य में नवीन प्रेम के अनुभाव से भ्रमण सा करती हुई भ्रुकुटी के चेष्टा विशेष के लवमात्र से मोहित कर दिया है व्रजमणि को जिसने, जो भक्ताओं या भक्तों के लिये एकमात्र चिन्तामणि हैं । सान्द्र या घने आनन्दरसरूपी अमृत को बहाने वाली मणि, अति उत्कट कोटि कोटि विद्युल्लताओं (बेल जैसी बिजलियों) की ज्योति जैसी ज्योति वाली अनिर्वचनीय और मोहन करने वाली कोई रमणियों में शिरोमणि उदय हो रही है ।७०।

वृन्दावन के निकुञ्जों के मध्य में कोई मोहनी जो रमणियों में चूडामणि या शिरोमणि है उदय हो रही है अर्थात् वह रमणी असाधारण लक्षणों वाली है जैसा कि

बृन्दारण्यनिकुञ्जसीमनि कापि मोहनी रमणीचूडामणिः उदेति असाधारणलक्षणा रमणीत्यर्थः । यथा निरस्तसाम्यातिशयेन राधसेत्युक्तत्वात् 'स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकाम इति' च यद्वा लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतैराराध्यत्वाच्चूडामणिः शिरोधार्यसौभाग्यभूषणं सेव्यत्वात् स्वामिन्यैव सखीसौभाग्यमिति नत्वत्र कश्चिद् गौणमुख्यभावसंशय इति रूपच्छविप्रकाश बाहुल्यादपि मणिः स्वमनोदृग्वैचित्यान्मोहनस्यापि मोहान्मोहनीति सीमनि तन्मध्ये तदनुल्लंघ्येत्यर्थः अर्थादत्रैवेदृशरसोऽस्ति नान्यत्रेति यथाचाग्रे वक्ष्यति राकानेकविचित्रचन्द्र उदितः प्रेमामृतज्योतिषामित्यारभ्य 'वृन्दारण्य' निकुञ्जसीमनि तदाभासः परं लक्ष्यते इत्युक्तसीममहिमा ज्ञेया न च परिच्छिन्नत्वादल्पमहित्वमिति यद्वा बहिस्तु कुञ्जं तन्मध्ये सघनलतावृतमेकान्तस्थलं निकुञ्जं ततोपि निभृतनिकुञ्जे तत्रैकदेशे रममाणायाः प्रत्यङ्गगौरज्योतिश्छटा सर्व्वनिकुञ्जप्रतिवल्लीपत्रमात्रमभिव्याप्य प्रसृमरा सन्ति अत उच्यते सीमनीति किञ्च सीमस्था सती वदतीति उदेतीति ।

रसकलश

'दूर कर दिया समता और अधिकता को जिसने ऐसी श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप धाम श्रीवृन्दावन में क्रीडा करने वाले श्रीश्यामसुन्दर को नमस्कार' इत्यादि श्रीमद्भागवत में कहा गया है । 'स्वर्गीय राज्यलक्ष्मी से जिन्होंने काम या कामनाओं को सर्वथा निरस्त कर दिया है, इत्यादि और 'कोटि कोटि लक्ष्मियों से विलक्षण लक्षणों से सुशोभित लीलामयी शतशत किशोरियों के द्वारा आराध्य 'श्री राधा' यह 'मधुर नाम' इत्यादि सूक्तियों के द्वारा जिन्हें रमणियों में शिरोमणि—सिर पर धारण करने योग्य सौभाग्य भूषण—बताया गया है। सेव्य या पूज्य होने के कारण श्रीस्वामिनी राधा) ही सखीजन के लिये सौभाग्य स्वरूपा है। रूप, छवि और प्रकाश की प्रचुरता के कारण भी श्री राधामणि हैं । अपने मन और दृष्टि के वैचित्य से मोहन के भी मोह के कारण होने से मोहना हैं । श्री वृन्दावन के निकुञ्जों की सीमा में, कहने का तात्पर्य है निकुञ्जों के मध्य में, निकुञ्जों को बाँधकर नहीं, बाहर नहीं अर्थात् यहीं पर ही ऐसा रस है अन्यत्र कहीं नहीं । जैसा कि आगे भी कहेंगे—'पूर्णिमा के अनेक विचित्र चन्द्रमा उदय हों' इत्यादि पद्य में 'वृन्दावन के कुञ्जों की सीमा में उनका आभास लक्षित होता है ।' इस वचन द्वारा उक्त सीमा की महिमा जाननी चाहिये । यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि सीमा सहित या परिच्छिन्न होने के कारण इसका महत्त्व कम होगा । अथवा वृन्दावन में बाहर कुञ्ज हैं उनके मध्य में सघन लताओं से आच्छादित एकान्त स्थल हैं जो निकुञ्ज कहलाते हैं उनके भी मध्य में निभृतनिकुञ्ज हैं उनके एक देश में रमण कर रही श्रीराधा के प्रत्येक अंग से गौरज्योति की छटाएँ समस्त निकुञ्ज की प्रत्येक लता के पल्लवों तक को व्याप्त करके फैली हुई हैं, इसलिये निकुञ्ज की सीमा में कहा गया है । और श्रीहितसखी इसी सीमा में स्थित होकर कहती हैं कि यह ज्योति उदय हो रही है ।

चन्द्राद्युदयसाम्यं ह्रासवृद्धिवैषम्यात्तिरस्कृत्य मणीत्युक्तिः महातिमिर-विवरेऽपि तत्प्रकाशात् तत्तेजोलावण्यमहिमानमाह नवेनानुपमेन प्रेमानुभावेन भ्रमन्त्या भ्रूभंग्या लवेन मोहितो व्रजमणिर्यया सा यद्व्रज मणेभ्रू भङ्गी महिमघोषो घोषे सुरांगनामोहान्तं प्रसिद्धः अपस्मृतनीव्य इत्यादि बहुशस्ता-दृशोऽपि मणिर्यत्कटाक्षस्यापि सहजलवेन मोहित इति किं भण्यतेऽन्यत् सैव मणिर्भक्तानां सखीजनानां तद्भावाविष्टानां चैकचिन्तामणिरिति चतुर-चिन्तामणित्वात् प्रसिद्धचिन्तामणिवैलक्षण्यादुचितसर्व्वमनोरथपूरकेत्ये-कशब्दस्यासाधारणोऽर्थः ।

अन्यदपि मणिवैलक्षण्यमाह सान्द्रानन्दरसामृतं स्रवतीति स चासौ मणि-श्चेति चन्द्रकान्तादिषु जलस्रवात् इयं तु शृङ्गारानन्दरसं स्रवतीति प्रकाशान-र्घ्यतामाह प्रोद्दामविद्युल्लताकोटिभ्योपि ज्योतिर्यस्मिन् एवं प्रख्यातमहामणि-

रसकलश

इस उदय के लिये चन्द्रमा आदि के उदय की समता ह्रास और वृद्धि आदि की विषमता के कारण न देकर इन्हें मणि कहा गया है क्योंकि अत्यन्त अन्धकार पूर्ण विवर में भी मणि का प्रकाश होता है। अब उस तेज के लावण्य की महिमा का वर्णन करते हैं—नवीन या अनुपम प्रेम के अनुभाव या प्रभाव से भ्रमण-सा करती हुई भ्रुकुटि की चेष्टा के लेशमात्र से मोहित कर दिया है व्रजमणि को जिनने वे (श्रीराधा उदय हो रही हैं) यह मणि की भ्रूभङ्ग रूपी चेष्टा की महिमा का उद्‌घोष किया गया है। घोष या व्रज में देवाङ्गनाओं तक के मोह का होना प्रसिद्ध है जैसा कि-'अपस्मृत नीव्यः—'याद नहीं रही है साड़ियों की गांठें जिन्हें' इत्यादि श्रीमद्‌भागवत में अनेक बार कहा गया है। वैसे श्यामसुन्दर रूप नामक मणि भी जिनके कटाक्ष के सहज लेश से मोहित हो गये उनकी महिमा क्या कही जा सकती है। फिर वही मणि आप सखीजनों—जो राधा जी के प्रति भाव से आविष्टचेता हैं उनके प्रति एक चिन्तामणि है और चतुर चिन्तामणि होने के कारण प्रसिद्ध चिन्तामणि से विलक्षणता के कारण उचित सभी मनोरथों की पूरक हैं यहाँ एक शब्द का अर्थ है असाधारण, अतः यह असाधारण चिन्तामणि हैं ऐसा समझना चाहिये।

अब इस मणि की और भी विलक्षणता बताते हैं—घन आनन्द रसामृत को स्रवित करने वाली मणि। चन्द्रकान्त आदि मणियों से जल, स्रवित होता है किन्तु यह मणि तो शृङ्गार के आनन्द रस को स्रवित करती है। अब प्रकाश की अनर्घ्यता या बहुमूल्यता बताते हैं—लता के समान कोमल किन्तु अत्युत्कट प्रकाश वाली कोटि-कोटि विद्युतों (बिजलियों) से भी जिसमें ज्योति विशेष है इस प्रकार प्रसिद्ध महामणियों

स्योऽपि श्रेष्ठ्यमुक्तं यदा व्रजमणिमोह उक्तस्तदान्यमण्युक्तिर्न किञ्चिद्वरा अत आन्तरंगोऽर्थोऽपेक्ष्य इति तमाह । प्रथमं साभिलाषेण प्रियप्रेमातिशयजात-कारुण्येव प्रियावलोकनं ततः प्रियपरमानुग्रहमननम् किञ्च भक्तो यादृग्भावेन भजति तादृग्भावं पूरयेच्चिन्तामणिः अतः । प्रियस्य केवलप्रियादृष्टिप्राप्ति-रेव भजनं तन्मनोरथंपूरणार्थम् अथ च भक्तानां सखीजनानामपि तत्कृपा-दृष्टिरेव भजनं च तदर्थं तत्पोषः कृत इति अतोऽपि न दृष्टिमात्रेण संतोष स्ततो यथेष्टविहारानन्ददानंत आनंद रसामृतस्रमणित्वमुक्तम् ।

तत्रासज्याजातिस्वभावत्वात् प्रियाङ्कगतत्वेऽपि चाञ्चल्यम् अङ्गानां स्वतः प्रकाशबाहुल्यं तत्प्रक्षे पेविद्यु दिव चमत्कारः सखीदृष्टिषु प्रत्याय्यते तथैव मणिभूषणानां वा हासादिक्रियाणां चमत्कारेणापि तादृश एवेति यथा—

सुरत नीवी निबन्ध हेत प्रियमाननो प्रिया की भुजनि मैं कलह मोहन मची । सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष हुंकार गर्व्व दृगभंग भामिनी

रसकलश

से भी इसे अतिश्रेष्ठ कहा गया है । जब व्रजमणि को मोहित करना कहा गया तब अन्य किसी मणि की उपमा देना कुछ ठीक प्रतीत नहीं हुआ । इसलिये यहाँ अन्तरङ्ग अर्थ की अपेक्षा होती है उस आन्तरिक अथ को कहते हैं—पहले साभिलाष (अभिलाषा युक्त) प्रियतम के प्रति प्रेम की अधिकता के कारण उत्पन्न करुणा से प्रिया जी ने देखा तो प्रियतम ने उसे परम अनुग्रह माना । और भक्त जिस भाव से भजन या सेवन करता है चिन्तामणि वैसे ही भाव को पूर्ण कर देता है अतः प्रिय का केवल प्रिया जी को दृष्टि प्राप्त कर लेना ही भजन है क्योंकि वह उनका मनोरथ पूर्ण करने के लिए अपेक्षित है । ऐसे ही भक्तिमती सखियों का भी प्रिया जी की कृपा दृष्टि ही भजन है क्योंकि उनका मनोरथ पूर्ण करने के लिये भी वही अपेक्षित है, वही उनका पोषण करती है । इतने पर भी केवल दृष्टि से ही सन्तोष नहीं होता तब यथेष्ठ विहार का आनन्द देने से उन्हें आनन्द रस को स्रवित करने वाली मणि कहा गया ।

वहाँ आसज्या (प्रीति का विषय) के जातिगत स्वभाव से प्रियतम के अङ्क में स्थित होने पर भी अङ्गों की चञ्चलता और स्वभाव से ही अधिकता है उस प्रकाश के प्रक्षेप में विद्यु त् (बिजली) जैसा चमत्कार सखीजन की दृष्टि में प्रतीत होता है ऐसे ही मणि जटित भूषणों के तथा हास आदि क्रियाओं के चमत्कार से भी ऐसा ही होगा । जैसा कि—'सुरत काल में नीवी के बन्धन के निमित्त से प्रियतम और मानवती प्रिया जी की भुजाओं में मोहित करने वाली कलह मच उठी है । श्रीफल (बिल्वफल) जैसे सुन्दर उरोजों (स्तनों) को प्रियतम अपने करकमलों से छूना चाहते हैं और

लची । रति वदन जोति मनौ मयंक अलक तिलक छवि, कलंक छुपति स्याम अंक मानौ जलद दामिनी'इति । अत एव रमणीचूडामणिः, श्रेष्ठक्रीडाकर्त्री, मनोदृहङ्मोहनीति । अथवा विलासान्तसमयेऽनावृताङ्गच्छविचाकचिक्यबाहुल्येन विद्युतां बाहुल्यमुक्तमिति ॥७०॥

ननु साक्षान्मन्मथमन्मथस्त्वयंत्वसाम्यातिशय इत्याद्युक्तमहिमो व्रजमणिः कथं लवेनैव मोहित इति संशयं दूरीकुर्वन् लवस्यानन्तमहित्वमाह, लोलापाङ्गतरङ्गितैरिति ।

लोलापांगतरंगितै रुद्भवन्नेकैकशः कोटिशः ।
कन्दर्पाः पुरुदर्प्पटंकृतमहाकोदण्डविस्फारिणः ॥
तारुण्यप्रथमप्रवेशसमये यस्या महा माधुरी-
धारानन्तचमत्कृता भवतु नः श्रीराधिकास्वामिनी ॥७१॥

रसकलश

भामिनी प्रिया जी रोष पूर्ण हुङ्कार तथा गर्व पूर्ण कटाक्ष से उन्हें रोकती हैं । रतिकाल में मुख को कान्ति मानो चन्द्रमा है और मुख पर पड़ रहे अलक तथा कस्तूरी का तिलक मानों कलंक है प्रिया जी श्याम सुन्दर की भुजाओं से आलिङ्गित होने के कारण श्याममेघ में छिपी रही दामिनी (बिजली सी) प्रतीत होती हैं ।' इत्यादि पद में वर्णन किया गया है इसीलिये तो वे रमणियों में चूडामणि या शिरोमणि हैं । श्रेष्ठक्रीडा करने वाली मन और दृष्टि को मोहित कर देने के कारण मोहनी हैं । अथवा विलासान्त के समय में अनाच्छादित अङ्गों की कान्ति की चकांचौंध की अधिकता से विद्युतों या बिजलियों की कोटि कोटि संख्या (बहुलता) की सम्भावना की गई है ॥७०॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि यह व्रजमणि (श्याम सुन्दर) तो साक्षात् मन्मथ के भी मन को मथ देने वाले हैं इनके समान कोई नहीं तो इनसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है इत्यादि रूपों में उनकी महिमा का वर्णन किया गया है, वे व्रजमणि श्रीराधा जी के कटाक्ष के लवमात्र से कैसे मोहित हो गये ? इस संशय को दूर करते हुए कटाक्ष के लवलेश की महिमा अनन्त अपार है यह बताते हैं—

'लीला पूर्वक किये गये अपांगों (कटाक्षों) के तरङ्गितों में एक एक में से अनेक अनेक कामदेव-जो बड़े अभिमान से टंकारे गये महाधनुषों को तानते हैं—प्रकट हो जाते हैं । तरुण अवस्था में प्रथम प्रवेश के समय जिनकी अनन्त चमत्कारों वाली महामाधुर्य की धारा प्रकट होती है वे श्रीराधिका हमारी स्वामिनी हों ।७१।'

यत्तत्सम्बन्धात्सेत्यध्याहारः । सा श्रीराधिका परमोत्कर्षसौभाग्य-संपद्वती, न इति बहुत्वं सजातीयाभिप्रायेणोक्तं, पूर्णममत्वावबोधनार्थञ्च । स्वामिनी भवत्वित्याशीः । स्वस्मै स्वयमेव स्वामिनी, यथा स वै पतिः स्याद-कुतोभयः, स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनं, इत्यादिवत् स्वतन्त्रपालन-कर्त्री । यथा मदनमोहनस्यापि प्रार्थनाकारयित्री, "यत्किंकरीषु बहुशः खलु काकु वाणी"त्यादि वर्तमानस्वामिनीत्वस्य पुनः प्रार्थनं लोकमाधुर्यरीति-र्हर्षोक्तिर्यथा, जन्मनि जन्मनि एवमेवास्त्विति । न चात्राभूतवस्तु प्रार्थन-वद्धेयम् । सा का यस्या, तारुण्यप्रथमप्रवेशसमये, इत्यत्र लौकिकक्रमस्तु स्पष्ट एव । नित्यलीलायां, कालस्य तादृशषोडशाब्दिकत्वनित्यत्वात्, सदैव प्रथमप्रवेशसमय एव, न तु पुरातनत्वं जायते । यथा ब्रह्मसंहितायां, "व्रजति नहियत्रापिसमय" इति सदैकरसत्वात्, लोके यस्य नवत्वं ज्ञायते, तत्र स सदैव

रसकलश

'यत्' जो' और 'तत्-वह' के नित्य सम्बन्ध के कारण यहाँ अन्तिम वाक्यों में 'सा वह' का अध्याहार किया जाता है । श्री राधिका परम उत्कर्ष और सोभाग्यसम्पत्ति से सुशोभित हैं । 'नः–हमारी इस शब्द में बहुवचन का प्रयोग अपने सजातियों का भी सङ्ग्रह कर लेने के अभिप्राय में किया गया है तथा पूरी ममता का बधो कराने के लिये भी हैं । 'वे हमारीस्वामिनी हों' यह आशीर्वाद जैसाकि 'वह हमारा पति हो जिसको किसी से भी भय नहीं हैं और जो स्वयं चारों ओर के भयभीत जनों का पालन करता है । इत्यादि वचनों के अनुसार श्री श्याम सुन्दर के समान स्वतंत्र रूप से सबका पालन करने वाली हैं । जिससे कि मदन मोहन भी इसके लिये प्रार्थना करते रहते हैं । जैसाकि—'जिनकी किङ्करियों के समक्ष नित्य ही मोरमुकुट धारी परमपुरुष की अनेक प्रकार की दीनता भरी वाणी हुआ करती हे ।' इत्यादि में है । यहाँ स्वामिनीत्व के रहते हुएभी फिर प्रार्थना करना लोक कीसी माधुर्य की रीति है । हर्षोक्तिके रूपमें कहा जाता है कि जन्म-जन्म में ऐसा ही हो। यहाँ किसी अभूतपूर्व वस्तु के लिये प्रार्थना जैसी नहीं समझनी चाहिये ।

वे कौनसी राधिका ?' जिनके तरुण अवस्था के प्रथम प्रवेश के समय में' इत्यादि कथन में लौकिक क्रम तो स्पष्ट ही है । नित्यलीला में उस प्रकार के सोलह साल की अवस्था के काल की तो नित्यता हो है । सदा ही उसका तरुण अवस्था में प्रथम प्रवेश ही रहता है । कभी भी पुरानापन नहीं आता। ब्रह्म संहिता में–'जहाँ समय आता ही नहीं' इत्यादि वचनों द्वारा उनका सदा एकरस रहना कहा यगा है । लोक में जिनको नवीनता ज्ञात होती है, वहाँ वह सदा हो वैसा ही रहता है । यहाँ पर

तादृश एव तिष्ठतीति लीलयैव सहजेन न तु बुद्धिपूर्वकमिति अनेन बुद्धिकर्तृ-कस्य कैमुत्येनोत्कर्षः । यद्वा लीलारूपैरेवापाङ्गतरङ्गितैरेकैकशः, प्रत्येक-कोटिशः, अनन्ताः कंदर्प्पा उद्भवन्निति ।

उद्भवन्तीति किं वच्मि, पूर्वं प्रकटिता एव दृश्यमाना, इति कटाक्षलाद्यवं कोटीति फलम् । प्रियस्यात्रस्ततृषितत्वात्तावदेव बहुगुणं वर्षणं संघटते । अथोद्भूता अपि प्रिया संयोगानन्दे पुनस्तरंगेष्वेव लीनाभवंतीति पोषणानन्तरशान्तित्वात् । अथवावृत्तिपरावृत्तिलयोद्भवौ ज्ञेयौ, तन्निरुक्ति यथार्थ्यमनुवदन् विशिनष्टि, पुरुदर्प्पेण टंकृतानां महाकोदण्डानां, विस्फारो येषां ते, "विस्फारो धनुषः स्वान इत्यमरः । कमित्यव्ययम्, सुखेन दृप्यन्ति, 'दृपू' हर्षमोहनयोः । सुखमत्र परपराजयः । न चात्र स्वसुखं प्रियस्य तदभिलाषित्वादेव, तत्सुखं त्वनुस्यूतमेव ज्ञेयम, वा सुखेन सम्मोहयन्ति, अन्तर्भूतएवार्थः इति । निरूक्तिः पुरुदर्प्पः, शूरधर्म उत्साहशक्तिः,

रसकलश

लीलया या लीला से कहने का तात्पर्य है कि स्वभाव से ही न कि बुद्धि-पूर्वक जान बूझ कर। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि बुद्धिपूर्वक करते तो न जाने विलक्षण होते। अथवा लीलारुपी अपाङ्गों के तरङ्गितों कटाक्षों के नर्तनों से ही एक-एक से–प्रत्येक से–कोटि-कोटि अर्थात अनन्त कामदेव उत्पन्न हो गये। उत्पन्न होते हैं। यह क्या कहूँ? पहले से ही प्रकट हो चुके दीख रहे हैं इससे कटाक्ष नर्तन की शीर्घता प्रतीत होती है और कोटि-कोटि कन्दर्पों का प्रकट होना उसका फल है। प्रिय के भी त्रस्त न होते हुए तृषित होने के कारण उतना ही अनेक बार वर्णन उचित है। यहाँ उत्हन्न हुए कन्दर्प भी प्रियाजी के संयोजकश्रृङ्गारजन्य आनन्द में फिर तरङ्गों में ही लीन हो जाते हैं क्योंकि पोषण के अनन्तर शान्ति प्राप्त होती है। अथवा आवृत्ति औह परावृत्ति को ही यहाँ लीन होना और उत्पन्न होना समझना चाहिये।

कन्दर्प शब्द के निर्वचन की यथार्थता का अनुवाद करते हुए उनका विशेषण बताते हैं। बड़े दर्प से टङ्कारे गये महाधनुषों का स्वान है जिनका ऐसे विस्फारो धनुषः स्वानः' धनुष की टंकार की हो विस्फार कहते हैं ऐसा अमर कोष का मत है। 'कम' एक अव्यय है सुख से दृप्त होते है या हर्षित होते हैं 'दृपू' धातु हर्षित और मोर मोहित करने के अर्थ में है। यहाँ पर सुख शब्द दूसरों के पराजय का वाचक है। यहाँ पर प्रिय का स्वसुख है क्योकि वे अभिलाषुक हैं यह नहीं समझना चाहिये यहाँ पर सन्सुख भी भी अनुस्यूत ही जानना चाहिये। अथवा सुल से सम्मोहित करते हैं यह अर्थ भी कन्दर्प शब्द में अन्तर्भूत है क्योंकि कन्दर्प शब्द की यह निरुक्ति है। पुरुदर्प (अधिक अभिमान करना) सूरवीरो का धर्म है जिसे उत्साह शक्ति भी कहते हैं। ओह! यह क्या है?

आः किमेतदिति टंकारमात्रेणैव जेष्याम इति गर्व्वो, हर्षजो, यद्व्रज-मणिर्मोहनः । कोटिकंदर्प्पलावण्य इति ख्यातकीर्त्या प्रमत्तो बजनवतरुण्या-र्य्यवृत्तावधारणकृतलोककोलाहलस्तं जेष्यामो वशीकुर्म्मः, येन न पुनरेवं दुर्वृ त्तमाचरेदिति । स्वस्वामिन्या वृजनागरीचूड़ामणित्वख्यातेः । जातु कृपालुत्वं साहाय्यमिवाचरितमिति । टंकृतेति श्रुत्वा परहृदि क्षोभजननं यथा, "स घोषोधार्त्तराष्ट्राणां हृदयानिव्यदारयदि"ति । अत्र केवलं दर्प-कृताकर्षणध्वनिः, किमुतशरसंधानमोक्षसमयज इति, कोदण्डस्य महत्व-भजितजयिष्णुत्वात् । विस्फारः कुण्डलीकरणम्, आकर्णान्तकर्षणं, शब्देनाका-शपूरणञ्च, यदा शौर्य्याटोपेनैव परः पराजितो भवेत्तदा किमुत्तरायुधोद्यमः क्रियत इति । अत्र तात्पर्य्यं तु, अनेककामवृत्युद्भव एव, अथ शब्दा-भिप्रायत्वं सूक्ष्मदृशावधेयं, अवलोकमात्रेण प्रियो मोहितो भवतीति लव-मोहितार्थः स्पष्टीकृतः; नैतेऽनंगाशिवदहनार्हाः किन्तु शुद्धप्रेममया एव,

रसकलश

हम तो इसे टंकार मात्र से जीत लेंगे यह गर्व है जो हर्ष से उत्पन्न हुआ है। हर्ष इस बात का है कि व्रजमणि मोहन हैं कोटि कन्दर्पों के समान लावण्यवान् हैं इस प्रसिद्ध कीर्ति से प्रमित्त हैं, व्रज की नवीन तरुणियों के आर्य चरितों को विचलित करने के द्वारा जिन्होंने लोक में कोलाहल उत्पन्न कर दिया है उसको भी हम जीत लेंगे, जिससे वह फिर ऐसी धृष्टता न कर सकें।

अपनी स्वाभिनी का व्रजनागरियों की चूडामणि या शिरोमणि होना प्रसिद्ध है। कभी उनकी कृपालुता ने सहायता सी कर दी। यहाँ 'टङ्कृत' का तात्पर्य है कि धनुष की टंकार को सुनकर दूसरों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न होना, जैसे—शङ्खों के उस नाद ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।' यहाँ पर केवल गर्व से धनुष खींचने की ध्वनि की गई है, जब बाण चढ़ाकर छोड़ा जायगा उस समय उसके नाद का भला क्या कहना? यहाँ पर कोदण्ड का महत्व ख्यापित हुआ है क्योंकि उन्होंने अजित को भी जीत लिया है। विस्फरर शब्द कुण्डलीकरण या तानने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। अतः कान तक प्रत्यञ्चा को खींचना और टङ्कार से अकाश को पूर्ण कर देना यह दोनों अर्थ विस्फारके हैं। जब पराक्रम के प्रदर्शन से हीं प्रतिद्वन्द्वी पराजित हो जाए तब उसके अनन्तर करने योग्य हथियारों का संभालना आदि क्यो अपनाया जाए। यहाँ पर तात्पर्य तो यही है कि अनेक कामवृत्तियाँ मन में उद्भूत हो उठीं। अब यहाँ के शब्दों का अभिप्राय सूक्ष्मदृष्टि से समझना चाहिये। देखने मात्र से ही प्रियतम मोहित हो जाते हैं यह तो 'लवमोहित' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। यह वे कामदेव नहीं है जिनको शिव की क्रोधाग्नि के द्वारा जलाया जाना योग्य हो, अपितु यह कामदेव विशुद्ध प्रेममय हैं। जैसा कि कहानी है कि–कोटि कोटि कन्दर्पों के कोटि कोटि वाणों से मूर्च्छित हुए नन्दनन्दन को सञ्जीयित करने वाली कोई अनिर्वचनीय निकुञ्ज देवी

यथोक्तमेव, "कन्दर्प्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसू" न्विति ।

संजीवनीत्वमाह, यस्या माहामाधुरीधारा अविच्छन्ना लौकिकरूप-लावण्यछविगुणानां माधुरीवृष्टिरनन्तं निरवधि यथा स्यात्तथा चमत्कृता-वर्तते,वा अनन्तानि चमत्कृतानि यस्यां, भावोक्तिः, यया तादृक्तृषितपरमा-प्यायनं स्यात् धारेत्येकत्वं जातित्वाद्वा, एकापि धारानन्तचमत्कृता, तदा बह्वीनां किं भण्यते । अथवैकपदं विशेषणं धाराभिरनन्तचमत्कृतेति । अन्योऽपिचमत्कारार्थः । चमत्करणं लाडलात्वावयवसलावण्यचाञ्चल्यम्, किञ्च स्वस्यां रूपछविलावण्यादिगुणवैदग्ध्यजसहजदर्प्पोऽस्त्येव, ततोऽप्यु-भयकुलार्य्यानन्तपरिजनप्रेम्णामेकास्पदत्वं, महादर्प्पस्ततोऽपि प्राणप्रिय-स्वनिदेशानुवर्त्तित्वस्वैककृपाजीवनत्वादिसौभाग्योत्कर्ष इति लौकिकरीत्यापि माधुरीधाराभिर्लाडलात्वचमत्कारः किमुच्यत इति । अनन्तचमत्कारास्तु श्रीहितसखीहृदयगम्या वा, प्रियगम्यावा । तत्कृपयां किं किं न स्यात् ।

रसकलश

सबसे लढ़कर उत्कर्ज से विराजमान हैं ।'

अब सञ्जीवन करने के स्वभाव का वर्णन करते हैं—'जिनकी महामाधुरी की धारा अर्थात् अखण्ड अलौकिक रूप, लावण्य, छवि आदि गुणों के माधुर्य की वृष्टि अनन्त या असीम रूप से जिन में चमत्कृत हैं चमत्कार पूर्ण हैं अथवा जिसकी महा-माधुरी धारा में अनन्त चमत्कार हैं, यहाँ 'चमत्कृत' शब्द में 'क्त' प्रत्यय भाव अर्थ में माना जायेगा, जिस धारा के द्वारा वैसे परम तृषित प्रियतम को परम तृप्ति प्राप्त होती है । यहाँ पर धारा शब्द में एकवचन जातिपरक है और यह भी सूचित करता है कि जब एक ही धारा अनन्त चमत्कार वाली है तब बहुत सी धाराओं का तो क्या कहना ? अथवा एक शब्द विशेषण है तब धाराओं से अनन्त चमत्कारों वाली (श्रीराधा) यह अर्थ होगा । चमत्कार का और अर्थ भी है लाडलेपन के कारण श्रीअङ्गों की लावण्य पूर्ण चञ्चलता भी चमत्कारक है । और फिर स्वयं श्रीराधा जी में रूप, छवि, लावण्य आदि गुणों की विदग्धता से उत्पन्न सहज दर्प है ही, फिर दोनों कुलों के आर्य पुरुषों (श्रीनन्द और श्रीवृषभानु) के अनन्त परिजनों के प्रेमों की वे एक पात्र भी है' इसका महादर्प है उससे भी बढ़कर प्राणप्रिय श्यामसुन्दर के अपने मन के अनुकूल चलने और इनकी एकमात्र कृपा को अपना जीवन मानने आदि के कारण सौभाग्य का उत्कर्ष भी है । इस लोक रीति से भी माधुर्य की धाराओं से लाडलेपन के चमत्कार का क्या वर्णन किया जा सकता है । अनन्त चमत्कार तो श्रीहित सखी जी के हृदय में ही विद्यमान हैं और उन्हीं के द्वारा जाने जा सकते हैं अथवा उन्हें प्रियतम ही जान सकते हैं । उनकी कृपा से क्या क्या नहीं हो सकता । माधुर्य की सिन्धु (श्रीराधा) के अपाङ्ग तरङ्गों या

माधुर्य्यसिन्धोरपांगतरंगाणामेवं प्रभावस्तदान्यांगानां माधुर्य्यचमत्कार: किं वाच्य: । अर्थादेवं प्रत्यंगप्रतिरोममाधुर्य्यवोचिषु प्रियमनो मीन:, सदैव संमग्न:, एकस्यापि पारं न यातिति भाव: ।।७१।।

एवं माधुर्य्यानन्त्यमुक्तवा पुनरप्यैश्वर्य्यं वदन् लोकभाग्यं स्तौति, :—

यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां, मूर्ध्नानिधतुं न हि
प्रापुर्ब्रह्मशिवादयोप्यधिगतिं, गोप्येक भावाश्रया: ।।
सापि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधी राधापि साधारणी ।
भूता कालगतिक्रमेण बालिना हे दैवतुभ्यं नम: ।।७२

यस्या: पदकमलयोरेकामपिरेणुकणिकां मूर्ध्नादरेण धर्त्तुं, ब्रह्मशिव-नारदसनकाद्या:, प्राप्ततत्वा अपि, हि निश्चयेन कृतप्रयत्ना अपि: न प्रापु: । किञ्च गोपीनामेकभाव एवाश्रयो येषां, त एव जना, अधिगतिं प्राप्तिं वा, अधिगम्यत इत्यधिगतिमधिकारं योग्यतां प्रापुर्न च ज्ञानकर्मयोगाधिकृता

रसकशल

कटाक्ष नर्तनों का प्रभाव ऐसा है तब अन्य अङ्गों के माधुर्य के चमत्कार का क्या वर्णन किया जा सकता है । अर्थात् इस प्रकार प्रत्येक अङ्ग और प्रत्येक रोम के माधुर्य की तरङ्गों में प्रियतम का मन रूपी मत्स्य सदा ही गोते लगाता रहता है, पर एक तरङ्ग का भी पार नहीं पाता यह भाव है ।७१।

इस प्रकार माधुर्य की अनन्तता का वर्णन करके ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए लोगों के भाग्य की सराहना करते हैं—

जिन (श्रीराधा) के चरण कमलों की एक धूलि कणिका को शिव आदि भी मस्तक पर धारण करने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सके, यद्यपि वे गोपी जन के एक अनन्यभाव के आश्रय भी हैं । वे प्रेम रूपी सुधारस के सागरों की निधि श्रीराधा भी आज बलवान् काल के गतिचक्र से साधारण सी हो गई हैं, हे दैव ! तुझे नमस्कार हो ।७२।

जिसके चरण कमलों की एक धूलिकणिका को भी मस्तक से आदर पूर्वक धारण करने के लिये ब्रह्मा, शिव, नारद, सनक आदि परमतत्त्व को प्राप्त हुए सिद्ध भी निश्चयात्मक रूप से प्रतत्न करने पर भी नहीं प्राप्त कर सके । फिर गोपीजनों का एक–अनन्य–भाव ही जिनका आश्रय था, वे ही जन अधिक अर्थात् प्राप्ति अथवा जो अधिगत हो वह अधिगति अर्थात् अधिकार या योग्यता को प्राप्त हुए ज्ञान, कर्म या

इति । गोपनीयभावत्वाद्गोप्यः सख्य इति यद्वा यत्तदौ कल्प्यौ, यदा गोप्येकभावाश्रयास्ते देवा जातास्तदाप्रापुरन्यथा लोकेशत्वान्नापुः । शिवनारदादीनामपि गोपिरूपश्रवणात् ललितोवाच—

मदीयं यादृशं रूप तादृशं चिन्तयात्मनः ।
निचोले संधृते देव तववृन्दावनेखिलम् ॥
वस्तुज्ञानं भवेन्नूनं, मूढा जानन्ति नैव तत् ॥१॥

इत्यादि सनत्कुमारसंहितायां, आदिपुराणे च नारदस्य मानसरोवरे स्नानमात्रेण सखीत्वं, तदैव तत्पाप्तिरिति बहुशः प्रसिद्धं, लौकिकेऽपि राजादौ दृष्टं, अन्तःपुरहर्म्ये पुंस्त्वानधिकारात् ।

यद्वा कल्पनागौरवं विनाप्यर्थः क्रियते । श्रयणं श्रयो, न श्रयः अश्रयः, गोपीभावानाश्रय इत्यर्थः । ननु शिवस्य गोपीरूपः श्रूयते तत आह, यत्तत्कल्पनमर्थत एवायातं, यदा गोपीभावाश्रयास्तदैव कणिकां प्राप्ता इति ।

रसकलश

योग का अधिकार प्राप्त करने वाले नहीं। यहाँ गोपनीय भाव के कारण गोपीनाम सखी जन का ही है। अथवा यहाँ पर यत्–जो और तद्— वह की कल्पना कर लेनी चाहिये जब वे देवता बने गोपीजन के अनन्यभाव का आश्रय बने तब वे अधिकार को प्राप्त हुए, लोकेश या लोकपाल होने के कारण प्राप्त न हुये। शिव और नारद आदि का भी श्री वृन्दावन में गोपी रूप धारण करना सुना गया है। 'ललिता जी का वचन— 'जैसा मेरा रूप है तुम अपने वैसे ही स्वरूप का चिन्तन करो। हे महादेव! जब तुम चोली धारण कर लोगे तब तुम्हें श्रीवृन्दावन में अखिल या समस्त वस्तु का दर्शन प्राप्त होगा, निश्चय ही मूढ जन उसे नहीं जानते।' इत्यादि सनत्कुमार संहिता में है। और आदि पुराण में नारद जी को मानसरोवर में स्नानमात्र से सखीभाव प्राप्त हुआ, तभी उसकी प्राप्ति हुई यह बात बहुत प्रसिद्ध है। लोक में भी राजा आदियों के यहाँ यही देखा गया है क्योंकि अन्तःपुर के महलों में पुरुषों के प्रवेश का अधिकार नहीं होता।

अथवा कल्पना गौरव के विना भी इस पद्य का अर्थ किया जाता है। श्रयण का नाम ही श्रय है और न श्रयण का नाम अश्रय तब 'गोप्येक भावाश्रयाः' का अर्थ हुआ कि जिन्होंने गोपियों के एकभाव या अनन्य भाव का श्रयण नहीं किया वे! अब यहाँ प्रश्न होता है कि शिव ने तो गोपीरूप धारण किया था, उस पर कहते हैं कि यहाँ यत् और तत् की कल्पना तो अर्थ से स्वतः हो जाती है अतः जब गोपीभाव का आश्रय लिया तभी श्रीराधा के चरण कमलों की धूलिकणिका प्राप्त कर सके। जैसा कि कहा भी

यथोक्तं 'आधायमूर्ध्नि यदापुरुदारगोप्य' इति रेण्वाधानाधिकारोऽपि तद्-भावेनैव तदा प्राप्तिः किमुच्यतेतरां । यद्वा श्रयेतिपाठे गोपीभावसंपत्यापि-नापुः । किञ्च तेषां तत्र कृष्णप्राप्त्येकहेतुत्वात् यदा प्रियादास्याधिकार-वतीसखीभावः स्यात्तदैवतत्प्राप्तिरिति ।

सापि तादृशैश्वर्य्या दुर्गमापि प्रेमसुधारसाम्बुधिर्नितरांधोयतेऽस्यामिति निधिस्तदाधारा,तदाधिदैविकी वा निधिर्निधानं चिन्तामण्यादिरिव गूढशेवधि रूपा राधाप्रियपरमसिद्धिनाम्नी माधुर्य्यरूपमयीत्यर्थः । बलिना समर्थेन, दुर्घट-घटकेनकालगतिक्रमेणेति । क्रमोऽत्र, अष्टाविंशतिमद्द्वापरान्तेपूर्णपुरुषोत्तम-स्वयं भगवच्छ्रीकृष्ण प्रादुर्भावसमयानुक्रमः । श्रीव्यासादिर्वर्णितस्तदैव रहो नित्यलीलाधिष्ठात्र्या अपि श्रीमत्याः सपरिकराविर्भावस्ततोऽपि व्रजगोपीरास-लीलारूपजवनिकायां श्रीस्वामिनीलीला श्रीशुकेन गोपितापि महानुभाव-

रसकलश

है—'जिसको मस्तक पर धारण करके उदार गोपियाँ प्रिय गुणों के साथ मोरमुकुट श्याम सुन्दर के स्पृहणीय पद (चरण कमल और प्रेमिका की पदवी) को प्राप्त हो सकीं इत्यादि चरणधूलि को धारण करने के अधिकार की प्राप्ति भी उस भाव से ही होती है, तब उनकी प्राप्ति का तो कहना ही क्या ? अथवा 'गोप्येक भावाश्रयाः' का यह अर्थ भी हो सकता है कि गोपीभाव के सम्पन्न हो जाने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हुई क्यों कि गोपीभाव केवल श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति का कारण हुआ । और जब प्रिया जी के दास्याधिकार से युक्त सखीभाव प्राप्त हुआ तभी श्रीराधा चरणारविन्द की धूलि कणिका की प्राप्ति हुई ।

वे श्रीराधा भी जो वैसे ऐश्वर्य से सम्पन्ना अतएव दुर्गम या दुर्लभ होती हुई भी प्रेम रूपी सुधारस का अम्बुधि सागर जिनमें सदा निहित रहता है ऐसी निधि हैं अर्थात् प्रेमसुधारस के अम्बुधि (सागर) का आधार हैं । उसकी आधिदैविक निधि हैं चिन्ता-मणि आदि के समान गुप्त धन कोष के रूप में श्रीराधा-प्रिय की परमसिद्धि—नाम-वाली माधुर्य रूपमयी हैं । वे भी बलवान् या समर्थ, दुर्घट घटना को घटित करने में पटु, काल की गति के क्रम से असाधारण होतीं हुई भी साधारण हो गईं । यहां पर क्रम अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव का अनुक्रम है जिसका श्रीवेदव्यास आदि महानुभावों ने वर्णन किया है तभी एकान्त और नित्य लीला की अधिष्ठात्री श्रीराधा जी का भी अपने परिवार के साथ आविर्भाव हुआ, उस पर भी गोपीरास रूपी पर्दे में श्रीस्वामिनी की लीला जो श्रीशुकदेव जी महाराज

रसिकभावुकैर्गीता, ततः सर्वत्र प्रसिद्धा, बहुलोकमुखे प्रसृतेति क्रमेण साधारणी भूता। यद्गोप्यतया रहो भजन्ति, न क्वापि नाममात्रं प्रकाशयन्ति। तदधुना सर्वे गायन्ति, हे दैव, "दैवंदिष्टं भागधेय" मित्यमरः। हे भाग्येति हर्षोक्तिः, तुभ्यं नमो, धन्यस्त्वं, यदसाधारणं दुर्गमं वस्तु तत्सहजमेव ते प्राप्तं, अन्यथा कथं प्राप्नुयादिति साधकतार्थः। अथवा लोकभाग्यापेक्षयेति ज्ञेयम्।

यद्वा हे दैव क्रीडनखेलनयत्त्वयामहत्क्रीडनं कृतमिति। यद्वा नित्यधामनि ब्रह्मशिवाद्यप्राप्ति स्वानुभूतां स्मृत्वा लोकेप्रकटलीलया सर्वजनमुखविश्रुतनामलीलां दृष्ट्वा वक्ति हे दैवमत्त ईश्वरनिरंकुशैश्वर्य्यासमीक्ष्यकारिन् वितस्त्या नम इति कथमेते तादृशगोपीभावं विना प्राप्स्यन्ति, त्वया तु साधारणीकृतेति शंके, इति।

रसकलश

से छिपायी गई थी उसको रसिक भावुक महानुभावों ने गा गाकर सर्वत्र प्रसिद्ध कर दिया और वह अनेक लोगों के मुखों में प्रसार को प्राप्त हो गई इस क्रम से वे असाधारण होती हुई भी साधारण हो गईं। जिसको गोपनीय होने के कारण एकान्त में भजन किया जाता है जिसका कहीं नाम मात्र भी प्रकाशित नहीं किया जाता उसको आज सब गाते हैं। हे दैव, 'दैव, दिष्ट और भागधेय' यह सब भाग्य के नाम हैं ऐसा अमरकोष का मत है। हे भाग्य, यह हर्ष की उक्ति है, तुझे नमस्कार है। तू धन्य है जो तूने असाधारण और दुर्गम वस्तु को भी ऐसा बना दिया कि वह तुझे सहज में ही प्राप्त हो गई। अन्यथा उसे कोई कैसे प्राप्त कर पाता, यह साधकों के भाग्य के पक्ष में अर्थ है। अथवा लोगों के भाग्य को सम्बोधन करके यह कहा गया है ऐसा जानना चाहिये।

अथवा हे दैव, खिलौनों से खेलने वाले, तूने आज इतनी महान् वस्तु को खिलौना-विनोद का साधन-बना लिया अथवा नित्यधाम में ब्रह्मा शिव इत्यादियों का न आना जो श्रीहित सखीजी ने स्वयं अनुभव किया है उसे स्मरण करके लोक में प्रकट लीला के द्वार सभी लोगों के मुख में प्रसिद्ध नाम और लीला को देख सुनकर कहते हैं—हे दैव हे मतवाले ईश्वर के निरंकुश ऐश्वर्य को बिना समझे काम करने वाले, तुझे बिलस्त से नमस्कार। ये लोग उस प्रकार के गोपी भाव के विना इस राधा तत्त्व को कैसे प्राप्त कर सकेंगे, तूने तो इस असाधारण को भी साधारण बना दिया, मेरे मन में यही बड़ी शङ्का है।

रसमयोऽर्थोऽपेक्ष्यते चेत्तत्राह, पूर्वं लाडलात्वचमत्कृतं वर्णितमतितृषित-प्रियलौल्यं चेतनासज्यात्वेनाघटितशीलेन मानं किञ्चित्कृतं तन्मोचनोपायं चिकीर्षोर्बहुविधवाक्चातुरीकृतवतस्तत उन्मुह्य समाधिमपिसाधयतः, प्रियस्यानुनयशंकितस्य, प्रियासेवायावककबरीप्रसाधनादीच्छा जाता, तदा सख्योऽपि तं सखी वेषंकृत्वा केनचित्प्रशंसादिछलेन मेलितवत्यस्तत्र मनोनुवृत्तेयथार्हक्रमेण परमानन्दसंयोगरसः प्रादुर्भूतस्तदा सख्युक्तिः, प्रियं प्रति ब्रह्मकार्य्यं, वाच्यप्रखरत्वं, शिवेति—उन्मनीमुद्रया समाधिभावं, आदिशब्देन योगांगमन्यदपि बहुशः कृतवतापि भवता प्रियाचरणकञ्जरेणुकणोऽपि न प्राप्तस्तदा पादस्पर्शः कुतस्तराम् । अहो भाग्यं न मनेनाभिनन्दयत्तादृश्यपि दुर्लभा प्रिया भवतः साधारणीभूता सुलभाजातेति तद्गोपोनानस्माकं भावो भक्तिप्रार्थनं, तद्रूपतैव समाश्रयं परमकारणं जानोहि, अन्यथा चैवं रीति-सेवानायकत्वेन न प्राप्येति समयगतिक्रलोऽत्र मानस्य कतिपयक्षणस्थायित्वा-

रसकलश

यदि रसमय अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं कि पहले तो लाडलेपन में चमत्कृत अति तृषित प्रियतम की चञ्चलता का वर्णन किया, और उस पर बाहर से प्रतिकूल रहने के स्वभाव वाली अपनी आसज्यता (प्रतीविषयता) के कारण प्रियाजी ने कुछ मान-प्रणयकोप-किया। उस मान के निवारण का उपाय करने के लिये इच्छुक प्रियतम ने अनेक प्रकार की वाक् चातुरी-बातें बनाने की चतुरता-की, और उससे उन्मुग्ध होकर समाधि की भी साधना की तब अनुनय से शङ्कित हुए प्रियतम से मन में प्रियाजी की सेवा-महावर लगाना, बाल सँवारना आदि की इच्छा हुई। तब सखियों ने प्रियतम की सखी वेश धारण कराकर किसी प्रशंसा आदि के छलके द्वारा प्रियाजी से मिला दिया, वहाँ मन के अनकूल व्यवहार करते क्रम-क्रम से परम आनन्दमय संयोग रस प्रकट हुआ। तब सखी का वचन है कि—प्रियने ब्रह्मा का काम भी किया कि वाणी के विषय में पटुता प्रकट की, शिव का काम भी किया कि समाधि की साधना भी की आदि शब्द से अन्य योगाङ्ग भी अनेक किये तो भी प्रियतम को प्रियाजी की चरणरजा की एक कणिका भी नहीं मिली। चरण स्पर्श तो भला कैसे मिलता ? अहो ! भाग्य को नमस्कार के द्वारा अभिनन्दन करते है कि वैसी दुर्लभ प्रियाजी भी आपके लिये साधारण हो गई अर्थात् सुलभ हो गई। वह हम गोपियों का भाव या भक्ति और प्रार्थना, उसके आश्रय को ही परम कारण समझो नहीं तो इस प्रकार की सेवा नायक होने के कारण नहीं तो इस प्रकार की सेवा नायक होने के कारण नहीं मिल सकती। इसलिये समयगति का क्रम ही यहाँ पर कारण है, क्योंकि मान-प्रणयकोप-कुछ ही क्षण रह पाया और वेषादि

द्वेषादिसेवासाधनादिना समयान्तरापातेनेति प्रियाप्रसादनं दैवमत्र प्रेमदेवो वा प्रेम खेलनमिति दिक् ।।७२।।

पूर्वं साधारण्योक्तिर्नामगुणादिमात्रप्रसिद्धचा, न तु स्वधामसाम्राज्ये विहरन्निजस्वरूपापेक्षयेति, अतः सखीभावेतरसकलदुर्गमत्वमेव वदन् स्वयं यन्निजरमणस्थलनिकुञ्जे यत्स्वरूपेण श्रीमतीविलास अनुभूतस्तमेवाभिलषति—दूरे स्निग्धेति—

दूरे स्निग्धपरम्पराविजतां, दूरे सुहृन्मण्डली,
भृत्याः सन्तुविदूरतो व्रजपतेरन्यः प्रसंगः कुतः ।
यत्रश्रीवृषभानुजाकृतरतिः कुञ्जोदरे कामिना,
द्वारस्थाप्रिय किंकरी परमहं श्रोष्यामिकाञ्चीध्वनिम्
।।७३।।

स्निग्धानामुत्तरोत्तराधिस्नेहाश्रितानां परंपरा तातः, पृथक् पृथक् नामग्राहं कियद्वच्मि, इति वात्सल्यरसास्पदजनकजनन्यवधिर्विजयतामिति सादरा-

रसकलश

सेवा और साधन आदि के द्वारा दूसरा समय आ जाने पर प्रियाजी को प्रसन्न कर लिय। यहां पर शब्द से प्रेम के देवता अथवा प्रेम के खेल को ही समझना चाहिये ।

पहले 'श्रीराधा' इस नाम और उनके गुण आदि की प्रसिद्धि ही उनके साधारण होने की बात कही न कि अपने धाम में साम्राज्य में नित्य विहार करते हुए उनके निज स्वरूप से । अतएव सखीभाव के बिना वह सबके लिये दुर्गम ही है ऐसा कहते हुए स्वयं जिनके निज रमणस्थल भूत निकुञ्ज में जिस स्वरूप से श्रीमती (राधाजी) के विलासों का अनुभव किया गसी सखी स्वरूb की अभिलाषा करते हैं—

'स्नेहियों की परमपरा दूर ही सर्वोत्कर्ष से विराजमान रहे मित्र मण्डली भी दूर रहे, मत्य तो और भी दूर हो जाएँ, अब (जब वात्सल्य, सख्य और दास्य भाव से भजन करने वाले वे तीनों उनसे दूर हो गये तब) व्रजपति श्री श्याम सुन्दर को अन्य किसी का प्रसङ्ग या संग कहा से प्राप्त ही सकता है। जहाँ कुन्जों के मध्य में श्री वृषभानु नन्दिनी ने कामी श्यामसुन्दर के साथ रमण किया है वहाँ द्वार पर खड़ी हुई मैं (श्री वृजभानु नन्दिनी की) प्रिय दासी के उनकी काञ्चो (मेरवला) की ध्वनि को सुनूँगी ।७३। ·

स्नेहियों—जिनको उनरोत्तर अधिक से अधिक स्नेह का आश्रय लिया हुआ है—को परम्परा या उनका तांता अलग-अलग नाम लेकर क्या कहूँ ? जो वात्सल्य रस के आश्रय हैं ऐसे मात पिता पर्यन्त सभा स्नेही दूर ही सर्वोत्कर्ष से विराजमान हों। इस

नङ्गीकारः । किञ्चात्यन्तस्निग्धत्वेऽपि रहस्ये तदनधिकारात् स्वानन्दे वत्सल-तत्सुखे दूरतो मग्ना उत्कर्षेण विराजतामित्यर्थः, 'दूरे सृष्ट्यादिवार्ते'ति पद्ये 'न हरेत्स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः' इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

ततोऽपि सुहृदां तन्नैरन्तर्य्यसख्यरसविश्रब्धानां श्रीदामसुबलादीनां मण्डली यथोक्ततारतम्ये न नर्मोक्त्यगोपनविषयपरपरैवापि दूरे विजयतां बहिः स्वसख्यरसे मग्ना तिष्ठतु, नात्र तद्‌गतिरिति । अथ दास्यरसनिष्ठा भृत्या व्रजसम्बन्धिन एव वा भक्ता नारदाद्यास्तु विशेषण दूरतः सन्त्विति तेषां नर्मोक्तेरप्यविषयत्वात् । तदान्येषां शान्तरसाश्रितानां योगिनां वा कर्म्मादि-रतानां तु प्रसङ्गः कुतः, विदूरे इति किं वाच्यम् । केनापि सम्बन्धेन सद्‌भाव-वार्तापि तेषां न स्वप्ने चलति, यथा 'दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तानि'ति वक्ष्यमाणत्वात् ।

रसकलश

प्रकार आदर पूर्वक उनकी अस्वीकृति कही गई है क्योंकि अत्यन्त स्नेही होते हुए भी इस एकान्त निकुञ्जधाम में उनको प्रवेश का अधिकार प्राप्त नहीं है । वे तो अपने आनन्द में अर्थात् वात्सल्य के कारण तत्सुख (श्रीश्याम सुन्दर के सुख)में दूर से भी मग्न हैं अतः उत्कर्ष से विराजें। जैसाकि 'दूरे सृष्ट्यादिवार्ता' इत्यादि पद्य में भी 'हरेत्स्नेह वृद्धि स्वपित्रोः', 'अप माता पिता के स्नेहातिशय को भी छोड़ देते हैं ।' इत्यादि द्वारा आगे कहेंगे ।

उससे भी आगे सुहृद् जो श्री श्याम सुन्दर के प्रति निरन्तर सख्यरस के कारण आश्वस्त हैं ऐसे श्रीदामा, सुबल आदि मित्रों की मण्डली—जो यथा योग्य तारतम्य के कारण रहस्य की बातों के न छिपाने के विषय (पात्र) हैं, उनकी परम्परा भी दूर ही विराजमान रहे, अर्थात् निकुञ्ज से बाहर अपने सख्यरस में मग्न रहे, क्यों कि उनका यहाँ प्रवेश नहीं है । ऐसे ही दास्यरस की निष्ठा वाले भक्त जो व्रजवासी हैं अथवा भक्त नारद आदि वे तो विशेष दूर रहें क्यों कि उन्हें रहस्य की बात भी नहीं कही जा सकती । तब (जब इस प्रकार वात्सल्य, सख्य और दास्यरस की निष्ठा वालों को दूर रहने दिया तब) शान्तरस का आश्रय लेने वाले योगियों या कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड आदि में तत्पर जनों का तो यहाँ प्रसङ्ग ही कहाँ है—प्राप्ति ही असम्भव है, तब उनके लिये विशेष दूर रहें कहने की आवश्यकता ही नहीं है । उनके तो यहाँ किसी भी सम्बन्ध से होने की बात भी नहीं जँचती जैसा कि दूरे सृष्ट्यादि वार्ता' इत्यादि पद्य में 'न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्' नारद आदि अपने भक्तों को तो तनिक भी स्मरण नहीं करते' इत्यादि वचन में कहा जायेगा ।

व्रजपतेः सर्वनेत्रचकोरजीवातोः श्रीकृष्णस्य नन्दयुवराजस्य, अर्थात् सर्वसम्बन्धसद्भावेऽपि निजश्रृङ्गाररसमग्नतयेतरतत्तत्प्रसङ्गाभावः । कुत्रेत्यपेक्षायामाह यत्र कुञ्जोदरे, निकुञ्जनिभृतनिकुञ्जादौ, श्रीवृषभानुजा परमसौभाग्यसंपच्छ्रीमती, नववधूटी राजकुमारी कामिना साभिलाषेणानन्यपरमलम्पटेन प्रियेण सह कृतरतिर्वर्तते, तत्कुञ्जद्वारस्थाहं प्रियकिंकरी लघुवयस्या दयनीया काञ्चीध्वनिं परं केवलं श्रोष्यामि न तु नैरन्तर्यार्हापि दिदृक्षामीति इति । यद्वा परमिति नान्यद् बहिः कुञ्जगतपक्षिभ्रमरपुष्पादिध्वनिशोभादिश्रवणदर्शनम् । यद्वा कीदृशं ध्वनिं प्रियकिंकरीपरायणं तदर्हमित्यहोभाग्यं तं श्रोष्यामि, इति भावः ।

अत्राप्यन्तरोऽर्थेऽपेक्ष्यते चेदाह, तत्र नित्यलीलायां सकलरसपरिकरोपकरणविलासकुञ्जास्तत्तल्लीलाद्यधिष्ठात्र्यश्च सन्तीति पूर्वं परिभाषितमेव तदाशयेनाह, श्रृङ्गाराधिकारस्तु सर्वासामेव परे तु कौतुकेन संकेतः,

रसकलश

व्रजपति—सभी के नेत्र रूपी चकोरों को जीवन देने वाले महाराजा नन्द के युवराज, श्रीकृष्ण के सब सम्बन्धों के विद्यमान रहते हुए भी निज श्रृङ्गार रस में मग्न हो जाने के कारण उनका इन सभी अन्य जनों की तो चर्चा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता । कहाँ पर ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जहाँ कुञ्जों के मध्य में निकुञ्ज या निभृत निकुञ्ज आदि स्थलों में श्रीवृषभानुनन्दिनी (परमसौभाग्य सम्पत्ति मयी) और श्रीशालिनी नई वधू, राजकुमारी श्रीवृजभानु दुलारी-कामी-सदा अभिलाषी अनन्य भाव से परम लम्पट प्रियतम के साथ कृतरति या प्रीतिमती विराजती हैं उस कुञ्ज के द्वार पर स्थित (खड़ी हुई) मैं प्रिय किङ्करी-छोटी सखी होने के कारण उनकी दयापात्र-काञ्ची या मेखला की ध्वनि को केवल सुनूँगी । अथवा यहाँ 'परम' शब्द का अर्थ केवल न करके मेखला रूपी ध्वनि के बिना बाहर की अन्य किसी बात को कुञ्ज में स्थित पक्षियों के कलरव, भ्रमरों के गुञ्जन और पुष्पों की कलियों के चटकने तक की ध्वनि को सुनना और उनकी शोभा आदि को देखना आदि कुछ न करूँगी अथवा कैसी ध्वनि को श्रवण करूँगी ? 'प्रियकिङ्करीपरम्' अर्थात् केवल प्रिय किङ्करी के ही श्रवण करने योग्य ध्वनि को अहोभाग्य कि मैं सुनूँगी ।

यहाँ पर भी यदि आन्तरिक अर्थ को अपेक्षा हो तो वह भी बताते हैं—अन्तरङ्ग नित्यलीला में समस्त रसों के परिकर, उपकरण और विलास कुञ्ज हैं उस उस लीला की अधिष्ठात्री देवियां उन कुञ्जों में निवास करती हैं यह पहले परिभाषा प्रकरण में कहा ही जा चुका है । उसी आशय से कहते हैं—श्रृङ्गार में सबका अधिकार है ही,

स्निग्धा वात्सल्यसंवलितश्रृङ्गाराधिकृताः काश्चित् सख्यरसवलिताः सुहृत्त्वसंकेतिताः, काश्चिद्दास्येनैव वलिता भृत्यशब्दसंकेतितास्तत्तन्नित्य-नैमित्तिकोत्सवरागभोगश्रृङ्गाररचनसेवनाविष्टचित्ता इति, ब्रजस्तत्त-द्यूथसखीसमूहस्तत्पतेः श्रीयुगलस्य, अन्यप्रसंगश्चतुष्टयं विना शान्तरस पंचमादेः प्रसङ्गस्तु कुतः, प्रकर्षेण सङ्गः प्रसक्तिस्तन्निकुञ्जधाम्नि नास्ती-त्यर्थः । न चात्र वात्सल्यनाम्ना भेतव्यं, किञ्चार्य्यवयस्कदास्याः पारिबर्हं सहगमनात्तत्तच्छृङ्गारसौभाग्यविलासशिक्षणतत्तदवसररक्षाप्रमादाकरणवैद-ग्ध्यस्य राजभवनादौ दर्शनात् । न चात्रान्यदासीनामनधिकारः शंक्यः, तत्त-त्कार्य्यविशस्य केवलतत्सुखसुखार्थत्वात्, हितसखी स्वानन्दविशेषार्थं नैरन्त-र्य्यसाचिव्यपरावधिद्योतनार्थमेवाशास्ते इति कुञ्जोदर इति; निभृतकुञ्ज इति । अन्यत्सर्वं पूर्ववदेव ॥७३॥

एवमन्तरङ्गित्वेऽपि द्वारस्थितिपारोक्ष्यव्याकुलां, श्रवणामृतध्वनिजीवन-

रसकलश

अन्य रसों में तो कुतूहल मात्र के लिये संकेत किया गया है । स्निग्ध या स्नेही वे हैं जो वात्सल्य भाव से संयुक्त श्रृङ्गार में अधिकार प्राप्त हैं, कुछ सख्यरस से युक्त हैं जिनका नाम सुहृत् रखा गया है और कुछ दास्यभाव से युक्त हैं जो भृत्य नाम से संकेतित हैं । उन उन नित्य नैमित्तिक उत्सवों में राग भोग और श्रृङ्गार की रचना और सेवा से आविष्ट चित्त हैं । उन उन यूथ की सखियों के समूह का नाम व्रज है उसके पति श्रीयुगल हैं उनके अन्य चार प्रसङ्गों के विना शान्त रस आदि के तो प्रसङ्ग कहां से हो सकते हैं । प्रकृष्ट सङ्ग का नाम प्रसङ्ग या प्रसक्ति उनके निकुञ्ज धाम में नहीं है, यह है अर्थ है ।

निकुञ्ज लीला में वात्सल्य के नाम से भयभीत नहीं होना चाहिये और यहाँ थोड़ी आयु वाली दासी के दहेज में साथ जाने से उस उस श्रृङ्गार और सौभाग्य के विलासों की शिक्षा देने की उन उन अवसरों पर रक्षा करने की और प्रमाद या भूल न करने की चतुरता का राजमहल इत्यादि में दर्शन होने से वात्सल्य भाव का यहाँ होना भी संभव है । यहाँ पर अन्य दासियों का अधिकार नहीं है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहाँ उस उस कार्य के आवेश केवल तत्सुख (उनके सुख) के लिए है । हितसखी अपने आनन्दातिरेक के लिये निरन्तर रूप में सचिवता की परम अवधि को द्योतित करने के लिये ऐसी आशा करती हैं । 'रतिकुञ्जोदर' का अर्थ है निभृत-निकुञ्ज में । और सभी व्याख्या अन्तरङ्ग लीला में भी पूर्ववत् है । ७३ ।

इस प्रकार अन्तरङ्ग होने पर भी द्वार पर स्थित रहने के कारण विहार के परोक्ष होने से व्याकुल हुई, कानों के लिये अमृत जैसी ध्वनि से जीवन में सन्तोष प्राप्त करके

संतोषितापि साक्षादनुभूतप्रियांगरूपदृगानन्दान्तरायमसहमाना मनसैव प्रियां संबोध्य ध्याने तदाविर्भावमाशास्ते:—

गौरांगे म्रदिमा स्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा,
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौ मन्दिमा ।
श्रोण्याञ्च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमा बिम्बाधरे शोणिमा,
श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः ॥७४॥

अस्मिन् श्लोके सामुद्रिकोक्तोत्तमोत्तमचिह्नोक्तिस्तु स्पष्टैव, परन्तु यद्यद् विहारध्याने यत्स्फूर्तिस्तदाशयक्रमेण विलासमाह । पूर्वं प्रियस्य कामित्वोक्त्या विलासप्रखरता सूचिता, तेन निचोलावगुण्ठनोद्धाटनपूर्वकं श्रीमुखावलोकनं ततः प्रावृतांगस्मरणे गौरांगेत्युक्तिस्ततोऽङ्गस्पर्शात्सौकुमार्य्यस्मृतौ म्रदिमेति, ततः स्पर्शानन्दहर्षपारवश्येन स्मितेति, तद्ध्याने तत्समयतादृङ्-माधुर्य्यं प्रियवेद्यं, तत्सहृदयत्वेन स्मृत्वा मधुरिमेति, ततोऽपि कंदर्प्पलौल्येन

रसकलश

भी साक्षात् अनुभव किये गये प्रिया जी के श्रीअङ्ग के रूप के दर्शन से नेत्रों के आनन्द में विघ्न को न सहती हुई श्रीहितसखी मन से ही प्रिया जी को सम्बोधन करके ध्यान में उनके आविर्भाव को आशा करती हैं—

"हे श्रीराधे, तेरे गौर श्रीअङ्ग में मृदुता, मुस्कान में मधुरता, नेत्रों के प्रान्त में विशालता, वक्षोजों में गुरुता, मध्य भाग में कृशता, गति में मन्दता, श्रोणी भाग में पृथुता, भृकुटियों में कुटिलता, अधरोष्ठों में अरुणता और हृदय में रस के कारण जड़ता ध्यानकाल में मेरे अनुभव का विषय हो । ७४ ।

इस श्लोक में सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा कहे गये उत्तम से उत्तम चिह्नों का कथन किया गया है यह स्पष्ट है । परन्तु विहार का ध्यान करने में जो स्फूर्ति हुई उसके आशय के क्रम से विलास का भी वर्णन करते हैं । पहले प्रियतम को कामी कहा गया अतः उनकी विलासाधीनता को सूचित किया गया, उन्होंने ओढ़नी का घूँघट उठाते हुए श्रीमुख का दर्शन किया, उस समय ढके हुए अङ्गों का स्मरण हो आने से गौर श्रीअङ्ग कहा फिर उन अङ्गों के स्पर्श से सुकुमारता का स्मरण हो आने से 'मृदुता' का उल्लेख किया फिर स्पर्श जनित आनन्द से हर्षाधीन होने से स्मित का ध्यान आया उस समय उस प्रकार की मधुरता जिसे प्रियतम ही जानते हैं उसे सहृदयता के कारण स्मरण करके स्मित में मधुरता का निर्देश किया । फिर प्रियतम की काम जनित चञ्चलता के

चञ्चलदृष्ट्या नेत्रेऽतिलज्जापरावृत्याञ्चलेति तद्ध्याने कर्णायतलोलता कटाक्षध्यानाद् द्राघिमेति, ततो रसावेशोज्जृम्भणोच्छ्वासेनोन्नतदार्ढ्यं शीलत्वेप्युद्गमनाद्वक्षोजेति । ततः प्रियकररुहक्षतेनानमितत्वाद् गरिमेति, ततोऽपि नीवीधृतकरस्मृत्या मध्येति, तथैवेति यथा वक्षोजगरिमाधिक्यं तथैव कटौ कार्श्याधिक्यमिति, त्रुट्यदिव नमनलाघवतादर्शनात् एतदन्तं कुञ्जे तिष्ठमानयोरेव लीला ।

ततस्तल्लौल्याधिक्यभिया हस्तमुन्मुच्य कुञ्जाद्गमनस्मृत्या गताविति अथवा शय्यासीनत्वे तत उत्थाय पलायनं, ततोऽञ्चलकरादिग्रहणरसावेशान्मन्दिमेति, ततो मत्तकरीवानुनयत्प्रियपृष्ठगमनं, वेण्यादिशोभासाम्राज्यनितम्बमण्डलदृष्ट्या श्रोणीति, वेणीपुष्परत्नादिगुच्छस्य सावकाशं, तन्मध्य एव लुञ्चनदृष्टया प्रथिमेति । अथवा प्रियस्य तत्कालच्छविमग्नमानसानि-

रसकलश

कारण चञ्चल दृष्टि से नेत्रों के अतिलज्जा के कारण परावृत्ति या मुड़ने से नेत्राञ्चल या नेत्रों के प्रान्त का स्मरण किया और ध्यान में नेत्रों के कानों तक आयत और चञ्चल होने का तथा कटाक्ष के ध्यान से उसकी दीर्घता का निरूपण किया। फिर रस आवेश के उमड़ पड़ने पर श्वास से उन्नतता और दृढ़ता से युक्त होते हुए भी और ऊपर उठने के कारण 'वक्षोज' का ध्यान आया तथा विलास में प्रियतम के नखक्षत से उनके आनमित होने के कारण उनकी गुरुता का प्रतिपादन किया। फिर नीवी पर रखे गये हाथ का स्मरण हो आने से 'मध्य' भाग का ध्यान आया और जैसे स्तनों की अधिक गुरुता का ध्यान किया था उसी प्रकार मध्य भाग या कटि भाग में अत्यन्त कृशता का ध्यान किया क्योंकि लचकने से जैसे कटिभाग टूट सा रहा हो ऐसी उसकी लघुता का दर्शन होने लगा था। यहाँ तक कुञ्ज में ठहरे हुए प्रिया प्रियतम की लीला का निर्देश किया।

फिर प्रियतम की अधिक चञ्चलता के भय से हाथ छोड़कर कुञ्ज में जाने का स्मरण हो आने से गति का ध्यान आया अथवा शय्या पर विराजमान होने पर प्रियतम की चञ्चलता का ध्यान करके वहाँ से उठकर चल देने और आंचल या हाथ पकड़ने से रसावेश के कारण गति में मन्दता का ध्यान किया। फिर अनुनय विनय करते हुए मतवाले हाथी के समान प्रियतम के पीछे पीछे जाने और वेणी आदि की शोभा के साम्राज्य के सिंहासन जैसे नितम्ब मण्डल का दर्शन होने से श्रोणी का स्मरण हो आया, वेणी में लगाये हुए पुष्प या रत्न आदि के गुच्छे को कुछ दूर से बीच में ही प्रियतम द्वारा पकड़ने का प्रयत्न देखने से श्रोणीभाग की प्रथिमा अर्थात् पृथुलता या स्थूलता का ध्यान हो आया। अथवा प्रियतम उस समय छवि में मग्न हुए मन को न निकाल सके।

ष्कासनादिति । ततोऽपि वेणीस्पर्शेन वा तन्मूलग्रहणपूर्वकालिंगनेन सहुंकृति-कटाक्षस्मृत्या भ्रुवोरिति । गाढालिङ्गनधार्ष्ट्यात् कुटिलिमेति । ततोऽपि साहसेन चुम्बनस्मृत्या बिम्बाधरेति । तत्समकाल उभयाधरसंयोगात् पानपीडनाच्च शोणिमेति । ततः परस्पररसावेशवैवश्येन हृदि रसेति । स्तम्भनस्मृत्या जडिमेति । एवमेतादृशः संयोगानन्दस्ते ध्याने गोचरोऽस्तु, साधु ध्यानेनैवानन्दं मंस्य इति ।

अथवा पूर्वपद्ये 'कामिना कृतरतिर्वृषभानुजेति' तस्या विलासकर्तृत्वे प्राधान्याद् वीरायितं ज्ञेयम् । तादात्विकोद्‌र्ध्वप्रकाशप्रसरप्राधान्याद् गौराङ्गेति प्रियसाहसित्वस्मरणात् तत्सुखिस्वमनःसाक्षितया म्रदिमा तादात्विककौतुकौत्सुक्याश्चर्य्येण स्मितं, तत्र प्रियमनोगतमाधुर्य्यानुभवानन्दसाक्षितया हितरूपेण मधुरिमा, तत्र स्वशीलवैपरीत्यलज्जया दृष्टिपरावर्त्तनेन वा निमो-

रसकलश

तब वेणी स्पर्श के द्वारा या वेणी मूल को पकड़कर आलिङ्गन करने लगे । उस समय हुङ्कार के साथ प्रिया जी के कटाक्ष का स्मरण हो आने से भ्रुकुटि का ध्यान आया और प्रियतम के गाढ आलिङ्गन करने की धृष्टता से भ्रुकुटियों में कुटिलता का स्फुरण हो आया । तो भी प्रियतम ने साहस करके चुम्बन किया इसका स्मरण हो आने से अधर बिम्ब या अधरोष्ठ का ध्यान आया । उसी समय दोनों अधरोष्ठों के संयोग से और अधरपान के पीडन से उनमें अरुणता का स्फुरण हुआ । तब परस्पर रस के आवेश की विवशता के कारण स्तब्धता की भावना से प्रिया जी के हृदय में रस जनित जड़ता का ध्यान आया । और श्री हितसखी जी प्रिया जी से प्रार्थना करने लगीं कि द्वार पर खड़ी हुई मुझे इस प्रकार के संयोगानन्द का तुम्हारे ध्यान में साक्षात्कार हो तो मैं तुम्हारे ध्यान से ही आनन्द मानूँगी ।

अथवा पूर्व पद्य में 'कामी व्रजपति से कृतरति श्रीवृषभानुनन्दिनी' इस कथन द्वारा श्री राधा जी को विलास या रति की कर्त्री कहा जाने के कारण रति में उनकी प्रधानता के कारण उनकी वीर चेष्टा जाननी चाहिये उस समय ऊपर की ओर प्रकाश के प्रसार की प्रधानता से गोरे अङ्गों की बात कही किन्तु प्रियतम के साहस का स्मरण हो आने से श्रीराधा सुख में सुखी होने वाले अपने मन की साक्षी से गोरे अङ्गों की मृदुता का उल्लेख किया । उस समय के कौतुक औत्सुक्य और आश्चर्य से 'स्मित' या मुस्कान और प्रियतम के मन में विद्यमान माधुर्य के अनुभव के आनन्द का साक्षी होने के कारण हितरूप से मुस्कान में मधुरता का उल्लेख किया । तब प्रियाजी के अपने

लनोन्मीलनेन च नेत्राञ्चलेति । आसक्तकृपासंगदोषोपालम्भबुद्धचा सक्षोमदर्शनाद् द्राधिमेति । तत्र गौरवशीलेऽपि श्वासोच्छ्वासाभ्यां वा प्रियप्रहारदण्डदानात्तन्मनःसाक्षितया गरिमेति । तद्भारनिस्सहशंकया यातायातत्रुटयदिव नमनशंकया च मध्ये तनिमेति । तत एव गतौ चलने वा प्राप्तौ अंगमंदिमा, तादात्विकजघनधूर्वहनासहनस्मृत्या श्रोणीप्रथिमेति । प्रियस्यात्यदान्तताप्राखर्येण भ्रुवोः कुटिलिमेति । पुनर्दशनक्षतदण्डदानप्रवृत्याधरशोणिमेति । ततः अत्युदारतया, आनन्दजाडयमूर्छया रसजडिमेत्यलं विस्तरेण सहृदयगम्यमेव । अत एव ध्यानेऽस्तु मे गोचरो विषयः, न तु समक्षम्, किञ्च यथोक्तं—"जै श्रीहित हरिवंश आलि नर्त्तनी सुधंग चालि, वारि फेरि देति प्रान, देह सौं दुरी", इति । देहः सखीनां तादृशसच्चिदानन्दमयरूपाणामपि

रसकलश

(बाहर से प्रतिकूल रहने) के स्वभाव के विपरीत व्यवहार करने की लज्जा से दृष्टि को फेर लेती हैं या नेत्रों को बन्द करती और खोलती हैं तब नेत्राञ्चल का ध्यान आया। आसक्त श्याम सुन्दर के प्रति कृपावश आसंग या आसक्तिकरने में उपस्थित दोषके प्रति उपालम्भ देने की भावना से क्षोभ पूर्वक देखने के कारण उस नेत्राञ्चल में दीर्घता का स्फुरण हुआ। फिर गौरवयुक्त स्वभाव के रहते भी श्वास और उच्छवास के द्वारा प्रियतम को प्रहार का सा दण्ड देने के कारण श्रीहितसखी के उनके मन की साक्षिणी होने के कारण स्तनों में गरिमा या गुरुता का ध्यान आया। उनके भारको सहन न कर पाएँगी इस शंका से और यातायात के समय टूटते हुए से मध्य भाग के झुकने की शंका से उस की तनुता या कृशता का स्फुरण हुआ। फिर गति में-चलने या प्रियतम के प्राप्त होने पर-श्रीअङ्ग की मृदुता का ध्यान आया और उस समय जघनभार को वहन करने में अशक्ति का स्मरण आ जाने से श्रोणीभाग की पृथुलता का ध्यान आया। प्रियतम के असंयम की प्रखरता के कारण भ्रुकुटियों की कुटिलता का और प्रियतम को दशनक्षतरूपी दण्ड देने की प्रवृत्ति से अधरोष्ठों की शोणिमा वा अरुणता का स्फुरण हुआ। फिर अति उदारता के कारण आनन्दजनित जड़ता के कारण मूर्च्छा सी हो जाने पर रस के कारण जडता या स्तब्धता का ध्यान आया इत्यादि अनेक भाव व्यङ्ग्य हैं उनका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सहृदय जन उन्हें स्वयं अनुभव कर लेंगे। इसीलिये यहाँ समक्ष देखने की बात नहीं की अपितु यह सब ध्यान का विषय हो यह प्रार्थना की है। और जैसा श्री मच्चतुरासी जी में जै श्री हित हरिवंश आलि, नर्तनी सुधंग चालि, वारि फेर देत प्राण देह सों दुरी। यहाँ पर देह सखीजन का है जो उस प्रकार से सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है

तत्र रहो विहारे नाधिकारं प्राप्नोति, तदान्यस्य का वार्त्तेति । एवं रात्रि-रसविलास उपवर्णितः ।।७४।।

ततः किञ्चिद्रात्र्यवशेषे निबिडनिभृताद् बहिरागमनं ततो द्वारादुत्थायाहं संगिनी भूता, तत्र प्राणनीराजनं मया कृतं, तत्समयानुकूलविलक्षणमांगलिकोत्सवो ध्यातव्यस्तादात्विकशोभा दर्शनीयैव, किमेकरसनावक्तव्योऽर्थस्ततोऽन्यकुञ्जविलासस्थलकञ्जादिपुष्पस्फुटनपक्षिकोलाहलक्रीडनचरणरमणानन्दोत्कलिकातिरेकेण वृन्दालीपरिष्कृतसुरभितस्वच्छवीथीषु दंपतिविहरणं तत्र महासुरभितजलयन्त्रादिविराजितस्नानमञ्जनोपकरणं वैचित्र्यसम्पन्ननिकुञ्जमन्दिराभिमुखगमनं, तत्र किञ्चिदरुणोदयप्रकाशे नेत्रगोचरसमये, प्रातः सुरतान्तचिह्नवर्णनपूर्वकतदातनश्रीमतीसेवनं स्वयमाहः——

प्रातः पीतपटं कदा व्यपनयाम्यन्यांशुकस्यार्पणात्,
कुञ्जे विस्मृतकंचुकीमपि समानेतुं प्रधावामि वा ।

रसकलश

उनके देह को भी इन रहस्यमय विहारों में अधिकार प्राप्त नहीं होता तब दूसरे की तो बात ही क्या है । इस प्रकार रात्रि के रस विलास का वर्णन किया गया । ७४।

अब जब कुछ रात्रि शेष थी घने और एकान्त निकुञ्ज से बाहर पधारे तब मैं द्वार में उठ खड़ी हुई और फिर प्रियाजी के संग हो ली वहाँ मैंने प्राणों से आरती की । यहाँ उस समय के अनकूल विलक्षण माङ्गलिक उत्सव (मङ्गला आरती) का ध्यान चाहिये । उस समय की शोभा तो दर्शनीय ही है, क्या वह परमार्थ एक रसना से कहा जा सकता है । तब अन्य कुञ्जों, विलास स्थलों कमल आदि पुष्पों के खिलने, पक्षियों के कोलाहल पूर्वक खेलने, श्री चरणों के पर्यटन करने आदि से आनन्द और उत्कण्ठा के उद्देश्य से वृन्दासखी द्वारा परिष्कृत और सुगन्धित जल आदि द्वारा सुरभित की गई स्वच्छ वीथियों में प्रिया प्रियमत विहार करते हैं । वहाँ अत्यन्त सुगन्ध जल के यन्त्र आदियों से सुशोभित, स्नान और मञ्जन के उपकरणों की विचित्रता से सम्पन्न, निकुञ्ज मन्दिर की ओर जाते हैं । यहाँ कुछ कुछ अरुणोदय के प्रकाश में जब नेत्रों के गोचर हो सकते हैं (दर्शन किये जा सकते हैं) ऐसे समय में प्रातःकाल में सुरतान्त चिन्हों का वर्णन करते हुए उस समय की प्रियाजी को सेवा का श्री हित सखीजी स्वयं वर्णन करती हैं—

'प्रातःकाल दूसरा कौशेय वस्त्र देकर प्रियाजी के अङ्ग पर से पीताम्बर को कब हटाऊँगी, कुञ्ज में भूली हुई कन्चुकी को लाने के लिये दौड़ूंगी । केशपाश को

आबध्यां कबरीं ग्रथेय गलितां मुक्तावलीमंजये,
नेत्रे नागरि रंगकैश्च पिदधाम्यंगव्रणं वा कदा ।।७५

यद्धयानगोचरीकृतं तत्समक्षं कार्य्यदर्शनद्वारा कारणं ज्ञापयति । पीतपटमिति—प्रियांगवर्णच्छविचिह्ननित्यधारणं, प्रियस्यासक्तकंकणबद्धत्वं, तदेवातिप्रियतास्पदं, प्रकृतमेव स्मरणावेशवैवश्येन वसनास्तव्यस्तता शयनासनादिविनिमयेन च तदपि प्रियपटावृतिशयनमपि परमाल्हादजनकमिति सहृदयगम्यम् । प्रातः शुकसारिकाचटकादिस्वभावारावतः प्रबुद्धय, प्रियरसतादात्म्यापन्नतयैव निर्गमनं,यत्पीतपटोऽङ्गलग्नस्तमेव च स्वाभ्यासेन तत्प्रेमाणमिव परिदधती, श्लथपदविन्यासेन चलन्ती, पटान्तर्द्दीव्यत्परिदृश्यमानवक्षोजोन्नतशिखराग्रा, वदनविधुविकीर्णतिमिररेखांकसमालका शिरोरुहविमिश्रितविलम्बितस्थानातिक्रममुक्तावलिका, काञ्चनगगनसिततारको-

रसकलश

कब बाँधूंगी, टूटी हुई मुक्तावली को कब गूँथूँगी, नेत्रों में अञ्जन कब लगाऊँगी । हे नागरी श्री राधा तेरे श्रीअङ्गों पर हुए नखक्षतादि के व्रणों को रंगों द्वारा कब छिपाऊँगी ।।।७५।।

जो कुछ ध्यान गोचर किया था तदनुसार सामने कार्यों के दर्शन द्वारा कारणों का ज्ञापन या प्रकाशन करते हैं, पीतपट या पीताम्बर का भाव यह है कि प्रियतम प्रियाजी के अङ्गों की छवि को इस पीतपट रूपी चिन्ह के रूप में नित्य धारण करते हैं, यह उनका आसक्त भाव के लिये कंकण बन्धन है, इसी से वे अति प्रिय हैं प्रस्तुत स्मरण के आवेश की विवशता से अवस्था में वस्त्रों की अस्तव्यस्तता और शयन आसन आदि का विनिमय सहज ही है । उस पर भी प्रियतम क पीतपट की चादर वाली शय्या तो और भी अधिक आल्हादजनक है इसे सहृदय जन जान सकते हैं । प्रातःकाल शुक सारिका और चटका (चिड़िया) आदि के स्वाभाविक कलरव से प्रियाजी जागीं तथा प्रियतम से रस के कराण तादात्म्य अवस्था प्राप्त होने की स्थिति में ही बाहर निकल आईं तब जो पीताम्बर श्रीअङ्ग से संलग्न था उसी को अपने अभ्यास वश प्रियतम के प्रेम की भाँति धारण करती हुई, धीमे धीमे चरण विन्यास से चलती हुई, पीतपट के अन्दर से प्रकाशित हो रहे अतएव दीख रहे हैं स्तनों के उनन्त शिखराग्र जिनके और मुखचन्द्र पर बिखर रहे हैं तिमिर रेखा के अङ्क के समान अलक जिनके, केशों के साथ मिली हुई लटक आई है अपने स्थान को छोड़कर मुक्तावलियाँ जिनकी, स्वर्णिल आकाश में उज्ज्वल ताराओं की उन्मत्त और मूर्छित हुई मण्डली के समान

न्मत्तमूर्छितमण्डलीसमराजितमुक्ताफलतारावलीकोरःस्थला, प्रियाधरयाचकपरिपोषि कृपोदारदानवीरत्वसूचकनैरंजन्यपेशललोचना, स्मरसमररभसाटोपजातरदनखायुधपरस्परक्षतपराजितकामुककान्ताघूर्णायमानताविस्मृतनारसनाशक्यसुखं प्रापयन्ती, रसोन्मत्तपूर्णचन्द्रोदयनिजच्छविपोषिततृषितविजयडिंडिमरस चकोरी, मादृक्प्रियकिंकर्यतिप्रेमास्पदाविर्बभूव ।

तत्र पटापनयनं सख्यप्रखरसखीमुखसव्यङ्ग्योपहाससंकोचायतिकत्वात्, अन्यथा व्यपनयने कोऽपि हेतुर्नास्ति । सर्वासां तादृग्विलासस्यैवेष्टत्वात् विशेषेणेति । तादात्विकप्रियपटशोभानन्दोद्दीपनस्थगितमन्मनःसाक्षितया दूरीकर्त्तुमसहमानाहं प्रिया च, बोधेऽपि वैवश्येऽपि च मनसा न दूरीकर्त्तुं शक्नोति । परन्तु तत्सुखित्वात् संकोचायत्यसहनतः स्वमनसोऽपि प्रसह्य व्यपनयनमिति । अन्येति कौसुम्भकादिरञ्जितपटान्तरमिति विशिष्यानुक्तिः।

रसकलश

विराजमान है मोतियों की तारावली (हार विशेष) जिस पर ऐसा है वक्षःस्थल जिनका, प्रिय के अधर रूपी याचक का परिपोषण करने वाली कृपा के कारण उदारता और दानवीरता से अञ्जन शून्य हो गये हैं तो भी सुन्दर हैं नेत्र जिनके, स्मरसमर (सुरत विहार) के आवेश में हुए दन्तक्षत, नखक्षत रूपी आयुधों के-से परस्पर क्षतों से पराजित कर दिया है कामुक कान्त को जिसने, ऐसी झूमने की स्थिति में ध्यान नहीं रहा है जिसका ऐसी विजयवाद्य बनी हुई रसना (मेखला) के द्वारा रसना (जिह्वा) से अशक्य है वर्णन जिनका ऐसे सुख को प्राप्त कराती हुई, रस से उन्मत्त पूर्ण चन्द्र के उदय की सी अपनी छवि से पोषित किया है तृषित सखी रूपी चकोरियों को जिसने, ऐसी मुझ जैसी प्रिय दासियों की अत्यन्त प्रेमास्पद श्री राधा प्रकट हुई ।

यहाँ पीतपट का हटाना सख्यभाव से मुखर सखी के मुख से व्यङ्ग्य सहित उपहास और उससे होने वाले संकोच के कारण है अन्यथा पीतपट को हटाने का कोई भी कारण नहीं है । क्योंकि सभी सखियों को उस प्रकार का विलास विशेष रूप से अभीष्ट है । मैं (हित सखी) भी उस समय प्रियतम के पीताम्बर की शोभा से आनन्द का उद्दीपन होने से स्तम्भित मन की साक्षिता से उस पीताम्बर को दूर करने को सहन नहीं कर सकती और प्रियाजी भी सावधान अवस्था में या विवशता में भी उसे मन से भी दूर नहीं कर सकतीं परन्तु मैंने तत्सुख (श्रीराधा के सुख) से सुखिनी होने होने के कारण होने वाले संकोच को न सहने के कारण अपने मन पर भी बल प्रयोग करके उस पीतपट को हटा दिया । 'अन्य वस्त्र को अर्पण करके' इस पद में अन्य का अर्थ है 'कुसुम्भी आदि रंग में रंगे हुए अन्य रंगान

पूर्व्वंशोभांतरायकाठिन्यमानसौदासीन्यात् अर्पणादिति स्वामिमीगौरवेण समर्पणं, पश्चात्तदनुमोदनेन परिधापनं प्रियाङ्गान्नीलाम्बरं समानीयेत्यनुक्तिस्तत्परिहासन कौतुएस्य स्वेष्टत्वात् यदा स्वहस्तेन परिधापनं कृतं, तदा निरावृतवक्षोजदर्शनात् क्व कञ्चुकीत्युक्तौ तत्रैव विस्मृतेति सतंद्रितस्खलदस्फुटवर्णोच्चारं, किञ्चि च्छ्रु त्वैव कञ्चुकीं नेतुं पूर्वकुञ्जे धावामि । समिति कैंकर्य्यानवधानताभीत्यर्थं तां वा स्वच्छतया समीकृत्येति च प्रकर्षेणेति यावदन्यसख्यनागमनं तावच्छीघ्रतया नयामीति तदप्यायतिसंकोचादेवेति । विस्मरणमत्रावरणभंगरसदानात् स्वस्यापि विगलितवेद्यान्तरतासूचकम्, अपीति तत्तत्कार्यप्रेषणरसतंद्राघूर्णावैवश्यसमाधानश्रीकरकञ्जाधानकृतसहचर्य्यहमेव तत्रैकेति सूच्यते ।

ततः परमानीय परिधापनं ज्ञेयं वेति समुच्चये, एतदन्तं तिष्ठमानतैव ।

रसकलश

वस्त्र', यहाँ पर ऐसे वस्त्र विशेष का निर्देश नहीं किया गया क्यों कि पीताम्बर से जो शोभा हो रही है उसमें बाधा डालने की कठोरता से मन उदासीन है । ऐसे वस्त्र के अर्पण से श्रीस्वामिनी के प्रति गौरव या आदर भाव से समर्पण करना सूचित होता है । बाद में जब श्री स्वामिनी ने उस वस्त्र का अनुमोदन कर दिया तब मैंने वह वस्त्र श्री स्वामिनी को पहना दिया, यहाँ पर 'प्रियतम के श्रीविग्रह से नीलाम्बर को लाकर' इत्यादि बात नहीं कही गई वह परिहास कौतुक अभीष्ट होने के कारण जब अपने हाथों से पहना दिया तब आवरणहीन स्तनों के दर्शन से मैं कह उठी 'कञ्चुकी कहाँ है ?' तो प्रिया जी बोलीं—'वहीं भूल आई हूँ' प्रिया जी के तन्द्रा के कारण स्खलित होते हुए उन अस्पष्ट से वर्णों का उच्चारण कुछ कुछ सुनते ही कञ्चुकी लाने के लिये मैं पहले वाले कुञ्ज में दौड़ी गई । यहाँ पर 'आनेतुम्' 'लाने के लिये' न कहकर 'समानेतुम्' 'भली भाँति लाने के लिये' कहने में किङ्करीभाव से असावधानता से भय सूचित किया गया है अथवा उस कञ्चुकी को स्वच्छता के साथ सम करके (तह करके) लाने के लिये 'समानेतुम्' शब्द का प्रयोग किया गया है । ऐसे ही 'धावामि' दौड़ कर जाती हूँ' न कहकर 'प्रधावामि' तीव्रता से दौड़कर जाती हूँ कहने का तात्पर्य है कि जब तक अन्य सखियां नहीं आ जातीं तभी तक शीघ्रता से जाकर ले आती हूँ ऐसा भी अति संकोच के कारण ही किया गया है । वहाँ पर कञ्चुकी का भूलना आवरण भङ्ग पूर्वक रसदान करने से अपनी (श्रीराधा जी की) भी अन्य सभी ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान के विगलित हो जाने की स्थिति को सूचित करता है । यहाँ पर 'अपि' या 'भी' कहने से पीताम्बर हटाकर अन्य वस्त्र के समर्पण, दौडकर कञ्चुकी का आनयन आदि कार्यों में भेजने के रस का तन्द्रा की झूम का और विवशता का समाधान करने के लिये और प्रिया जी के करकमलों को सहारा देने के लिये उस समय मैं एकमात्र ही उनकी सहचरी होती हूँ यह सूचित किया है ।

इसके बाद 'कञ्चुकी को लाकर पहना देती हूँ' यह अर्थ 'प्रधावामि वा' में प्रयुक्त 'वा' शब्द के समुच्चय बोधक होने से जान लिया जाता है । यहां तक प्रिया जी के

अतः परं प्राञ्जलिर्भूत्वा किंचिच्चिकरविकीर्णतां समीकुर्यामिति प्रार्थनापूर्वकं मार्गा जिरे कुसुमासने आसयित्वा श्लथां कबरीं आबध्यां, आ=ईषत् तादात्विकसत्वरतया बध्नीयामिति गणकार्य्यस्यानित्यत्वात् क्र्यादिनिषेधः अदादिगणः लिङ्साधकत्वे संभावना सख्यर्थे विधिरेव संकोचनिवारणफलं परस्मैपदं पूर्वत्रापि च। तत्र बन्धनोद्यमने तत्रत्यत्रुटितसंदर्भितप्रान्तमुक्तामालां दृष्ट्वा वक्ति ग्रथेयेति, ग्रथ्नीयामित्यर्थः । गणाद्यपि पूर्ववत् । मुक्तावलीग्रथने चातुर्य्यप्रशंसनफलस्य किंकरीगतत्वादात्मनेपदं, ततश्चिकुरादिसमीकरणानन्तरं, वदनं निराकुलदर्शनात् प्रेष्ठपूर्णरसदाननेतृनेत्रे निरंजने, वा अयथावदंजने वीक्ष्य अंजये, कज्जलांगरागगंधकंकतिकाभृङ्गारवीटिकासम्पुटादिनित्यसंगरक्षणसावधानता दर्शिता।

रसकलश

स्थित रहने या खड़ी रहने का प्रसङ्ग है। इसके अनन्तर हाथ जोड़कर 'कुछ केश बिखर गये हैं इन्हें ठीक कर दूँ'। श्रीहित सखी जी ने यह प्रार्थना करके मार्ग के किसी प्राङ्गण में पुष्पों के आसन पर बैठा कर 'शिथिल हुए केशपाश को बाँध दूँ' (यह प्रार्थना पूरी कर ली) 'आबध्याम्' 'में' 'आ' का अर्थ ईषत् या थोड़ा है, उस समय शीघ्रता के कारण केशपाश का ठीक ठीक बाँधना सम्भव नहीं है अतः कुछ बांध देने को कहा गया है। यद्यपि विधि अर्थ में 'आबध्नीयाम्' प्रयोग होना चाहिये किन्तु गणकार्यों की अनित्यता के कारण क्र्यादि गण का निषेध करके अदादिगण का कार्य हो जायेगा। 'लिङ्' लकार द्वारा साधक होने के पक्ष में सम्भावना की गई है और सखी होने के पक्ष में विधि है। इस प्रार्थना का फल भी संकोच निवारण है जो श्रीहितसखी के लिये नहीं है अपितु प्रियाजी के लिये है अतएव आत्मनेपद का प्रयोग न करके यहाँ भी और पहले भी परस्मैपद का प्रयोग किया गया है। वहाँ जब केशपाश को बाँधने लगीं तब पास में ही टूटी पड़ी प्रान्त में जुड़ी हुई मुक्तामाला को देखकर कहते हैं कि विगलित माला को गूंथ दूँ। यहाँ पर भी 'ग्रथ्नीयाम्' के स्थान पर ग्रथेय का प्रयोग गणकार्य की अनित्यता से हुआ है ग्रथेय में क्र्यादि गण का निषेध करके भ्वादि गण का कार्य हो जायेगा। मुक्तावली को गूंथने पर चतुरता की प्रशंसा का फल स्वयं किङ्करी को प्राप्त होगा अतएव 'ग्रथेय' में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है। अब केशपाश के बाँधने के अनन्तर श्रीमुख का पूर्णतया (निराकुल भाव से) दर्शन हुआ तब प्रियतम को पूर्णतया रसदान देने में प्रधान नेत्रों को अञ्जनहीन अथवा और कुछ ढंग से अञ्जनयुक्त देखकर 'अञ्जन लगाऊँ' यह प्रार्थना की है। इस प्रार्थना के द्वारा 'काजल, अंगराग, गन्ध, कंघा, आदि शृङ्गार की और पान के सम्पुट आदि को नित्य अपने साथ रखने की सावधानता दिखाई गई है।

नागरीति, तादृशविदग्धाशृङ्गारो निपुणसख्यैव घटते इति । यद्वा नागरीत्वे तादृशानवधानतोपहासः सख्यसूचकः । ततो रदनखक्षतानि स्तनकपोलाधरादिगतानि वीक्ष्य, अत्रापि गूढरसव्यंग्यान्नागरीति संबोधनेन कथं पिदधामि, इति साश्चर्यप्रश्नः सूच्यते । रंगकैरितिवद् बहुत्वम् एकरंगस्य तादृशभास्वरप्रियांगच्छविवर्णसावर्ण्यं न लभ्यते, अतः कुत्रचिदंगे केन रंगेण, क्वचित् केनचिदिति । यथा स्तनमण्डले तु कस्तूर्य्यैव नीलकञ्चुक्यावृतत्वात्, कपोलादौ कुंकुमेन मकरिकादिपत्ररचनया कृतस्यान्तर्भवनात् कप्रत्ययोऽत्र तादृशवर्णसाम्यमेलनादनिर्वचनीयत्वेनाज्ञातार्थसूचकः । वेति समुच्चये, चकारो विकल्पार्थः, तादृशार्थवाचकपदसंनिधानात् । अत्र नानाविधसंभोगकारणानां तत्तत्कार्य्यदर्शनलिंगेनैव व्ययनं स्फुटमेवेति नातिवितायते तदनन्तरं सखीसमाजागमनं, ततो वने विहरतोरेव स्नानकुञ्जागमनं, ततोऽग्रिमभावना

रसकलश

'नागरि' यह सम्बोधन श्री प्रिया जी की विदग्धता या निपुणता को प्रगट करता है जो अपने साथ शृङ्गार में ऐसो निपुण सखी को रखती हैं । अथवा 'नागरी' सम्बोधन से प्रिया जी की वैसी असावधानता का उपहास किया गया है जो श्रीहितसखी जी के सखी भाव का द्योतक है । इसके अनन्तर स्तनों और कपोलादियों पर नखक्षत दन्तक्षत देखकर गूढ रसात्मक व्यंग्य से 'नागरि' इस सम्बोधन द्वारा कैसे ढकूँ ? यह आश्चर्य युक्त प्रश्न किया गया ऐसा प्रतीत होता है । यहाँ पर 'रङ्गकैः' या 'रङ्गों द्वारा' इस कथन में वहुवचन का प्रयोग किया गया है क्योंकि एक रंग से वैसी प्रकाशमान प्रिया जी के श्री अङ्गों की छवि के साथ वर्ण की समानता प्राप्त नहीं की जा सकती, अतः 'किसी श्री अंग पर किसी रंग से और किसी अङ्ग पर अन्य किसी रंग से । यह तात्पर्य है । जैसे स्तन मण्डल में तो कस्तूरी से ही प्रयोजन सिद्ध होगा क्योंकि वह नीलकञ्चुकी से आवृत या आच्छादित है कपोल आदि में कुङ्कुम से मकरिका आदि पत्रों की रचना के द्वारा विधान होगा । किये गये अङ्गव्रणों का अन्तर्भाव करने के कारण रङ्गों की प्रशंसा में उन्हें रङ्गक कहा गया है । श्रीप्रिया जी के वैसे प्रकाशमान वर्ण की समता से मिल जाने के कारण रंगों की अनिर्वचनीयता ज्ञात होती है और उससे रङ्गों का अज्ञात होना सूचित होता है, यहाँ पर इस अज्ञात का अर्थ का बोधक रंग शब्द से किया गया 'क' प्रत्यय है । 'अङ्गव्रणं वा कदा' में वा शब्द का प्रयोग समुच्चयार्थक है और रङ्गकैश्च में 'च' शब्द का प्रयोग विकल्पार्थक है क्योंकि यह 'च' और 'वा' वैसे ही अर्थ के वाचक पदों से सन्निहित हैं । यहाँ पर अनेक प्रकार के सम्भोग रूपी कारणों का अनुमान उन कार्यरूपी लिङ्गों के स्पष्ट ही है, अतः अधिकार विस्तार नहीं किया जाता । इसके बाद प्रियाजी श्रीहितसखी के साथ सखीसमाज में जाती हैं वहाँ से वन में विहार करते हुए ही प्रियाप्रियतम स्नान कुञ्ज में पहुँच जाते हैं, उसके आगे की

सहृदयैर्भावनीया, मंगलासमयो वर्णितः ।।७५।।

एवं निजगूढभावनोन्मदपारवश्येन युगलसुरततदन्तान्तपूर्णश्रृङ्गार उपवर्णितः । इदानीं प्राकृतजनेषु लौकिकग्राम्यरससाधारण्यप्रतीतितदनुगत-मृदुश्रद्धसजातीयहृदयविचिकित्साचिकित्सार्थं स्वसेव्यतत्वपूर्णसिद्धान्तो निरूप्यतेऽष्टभिः—

यद् वृन्दावनमात्रगोचरमहो यन्नश्रुतीकं शिरोऽप्या-
रोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम् ।
यत्प्रेमामृतमाधुरीरसमयं यन्नित्यकैशोरकं,
तद्रूपं परिचेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ।।७६।।

तद्रूपं परिचेष्टुं सविषयीकर्त्तुमेव मे नयनं लोलायमानम् वर्तते, "लोल-श्चलसतृष्णयो'रित्यमरः । लोल इवाचरतीति लोलायमानं, ननु तस्य किम-साधारणं लक्षणम्, तत्राह—वृन्दावनमात्रगोचरं नान्यविषयमिति । ननु यद्रू-

रसकलश

भावना सहृदयों द्वारा स्वयं भावित कर ली जानी चाहिये, इस प्रकार मङ्गला समय का वर्णन किया गया ।७५।

इस प्रकार अपने गूढ भाव से उन्माद की पराधीनता में प्रिया प्रियतम के सुरत और सुरतान्त में किये जाने वाले पूर्ण श्रृङ्गार का वर्णन किया गया । अब प्राकृत जनों में लौकिक ग्राम्यरस के समान साधारणता की प्रतीति और उससे अनुगत हो गये कोमल और शुद्ध ऐसे सजातीयों के हृदय की विचिकित्सा या सन्देहों की चिकित्सा के लिये अपने सेव्यतत्व का पूर्ण सिद्धान्त आठ श्लोकों द्वारा निरूपण करते हैं—

'जो केवल श्री बृन्दावन में ही इन्द्रिगोचर है जिस तक श्रुतियों का शिरोभाग व वेदान्त भी आरोहण करने के लिये समर्थ नहीं है और जो शिव शुक आदियों के भी ध्यान में नहीं आता । वह प्रेमामृत के माधुर्यरस से अभिन्न, जो नित्य किशोर अवस्था में स्थित है उस रूप को ही परिवेश करने के लिये मेरे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं ।७६।'

उस रूप को परिवेश करने के लिये अर्थात् अपना विषय बनाने के लिये मेरे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं या तृषित हो रहे हैं क्योंकि 'लोल शब्द चञ्चल और तृषित अर्थ को बताता है' यह अमरकोश का मत है । लोल अर्थात् चञ्चल के समान आचरण करने वाले को लोलायमान कहते हैं । अब प्रश्न होता है कि उसका विशेष लक्षण क्या है ? इस प्रकार कहते हैं—जो वन्दावन में ही इन्द्रियगोचर हो सकता है अन्यत्र नहीं । फिर

पस्य भवन्नयनाभिलषितत्वाच्चाक्षुषत्वेन सगुणत्वं ज्ञायेत, तदा किमसाधारणम्, सर्वलौकिकालौकिकप्रतिपादको वेदः, सर्वं जानाति, तद्बहिः कोऽपि नास्तीति वेदज्ञेये त्वतिव्याप्तिस्तत्राह, श्रुतिर्यद्रूपं नारोढुं क्षमते इति। किं वच्मि यच्छिर उपनिषदपि वचसाक्रमितुं न शक्नोति। ननु सत्यं वेदाज्ञेयं ब्रह्मतत्त्वं रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यमिति यतो वाचो निवर्तन्ते इति, नेतिनेतीति तदप्यपरोक्षीकृतभगवत्तत्वामुक्तभक्तेश्वररूपशिवशुकनारदसनकाद्याः श्रूयंते, अतस्तज्ज्ञेयत्वेऽतिव्याप्तिस्तत्राह—यच्छिवशुकादीनां न ध्यानगमिति। अहो चित्रं, सन्नास्ति, असन्नास्ति, तत्परमपि नास्ति तदा किं वस्तु, तत्राह। यत्प्रेमामृतमाधुरीरसमयमिति। ननु प्रेमास्पदत्वमपि ब्रह्मण्यायाति, "परात्परो रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती"ति। रसत्वमपि तस्येति व्यापकत्वेऽतिव्याप्तिस्तत्राह, यन्नित्यकैशोरकम्, अहह!!!

रसकलश

प्रश्न होता है कि जो रूप आपके नेत्रों को अभिलषित है उसके चाक्षुष होने से उसका सगुण होना जाना जाता है तब क्या विशेष बात हुई। इस पर कहते हैं सभी लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का प्रतिपादक वेद है, वह सब कुछ जानता है, उससे बाहर कुछ भी नहीं है अतः वेदों द्वारा ज्ञेय होने के कारण तुम्हारे सेव्य तत्त्व के 'वृन्दावनमात्रगोचर' इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा इस पर कहते हैं—वेद जिस रूप तक नहीं पहुँच सकते यह क्या कहूँ ? वेदों का सिर उपनिषद् भी वाणी से उस रूप तक पहुँचने में समर्थ नहीं है। इस पर प्रश्न होता है कि आपका कहना सत्य है ब्रह्मतत्त्व वेदों से अज्ञेय है 'जो वह आद्यस्वरुप है वह अव्यक्त है।' इत्यादि और 'जिसको मनसहित वाणी प्राप्त न करके वापिस लौट आती है।' इत्यादि और 'नेतिनेति, इत्यादि वचनों से उसकी अज्ञेयता वेदों ने प्रतिपादन की है। इस पर कहते हैं कि वह ब्रह्मतत्त्व भी-जिनके द्वारा भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया गया है जो मुक्त है भक्त हैं या ईश्वररूप है ऐसे शिव, शुक, नारद, सनक आदि सुने जाते हैं- इनके द्वारा ज्ञेय है यदि तुम्हारा सेव्य तत्त्व भी इनसे ज्ञेय हो तो उसके लक्षण में पुनः अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा। इस पर कहते हैं कि जो (हमारा सेव्य) शिव शुक आदियों के भी ध्यान में नहीं आता। अहो बड़ी विचित्र बात है कि वह सत् भी नही है, असत् भी नहीं हैं और सदसत् से परे भी नहीं है। तब वह क्या वस्तु है ? इस पर कहते हैं कि जो प्रेमामृत के माधुर्य रस से अभिन्न है। इस पर प्रश्न होता है कि प्रेमास्पदता भी ब्रह्म में ही आती है 'वह परात्पर रसस्वरूप है,' 'उस रसरूप को प्राप्त करके ही यह आत्मा आनन्दवान् होता है' इत्यादि से उसमें रसरूपता भी आती हो है। अतः तुम्हारे सेवा तत्त्व के लक्षण में ब्रह्म की अतिव्यापकता के कारण पुनः अतिव्याप्ति दोष आएगा। इस पर कहते हैं—कि जो नित्य किशोर अवस्था

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। इति

'कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मिति मल्लानामिति सर्वरसघनमूर्त्तिर्नित्यकिशोरः श्रीकृष्ण एव किं नोच्यते, तत्राह, सोऽपि प्रकाशान्तरेण मथुराद्वारकादि-धामान्तरेषु क्रीडत्यतः असाधारणलक्षणं श्रीवृन्दावनमात्र गोचरमिति, एतेनै-वेति सर्ववेदोपनिषद्योगीन्द्राद्यगम्यपूर्णमाधुर्यैश्वर्य्यकृपामयरूपं, श्रीवृन्दावन विहरद्राधातत्वं रूपमेवायातं तादृशतत्त्वाधारस्थलत्वाद्धाम्नोऽपि तादृशत्वमेव, तस्मिश्च लोलायमाननयनत्वेन हितसखीनामपि तत्त्वमेवेति ।

मात्रेत्यनेन तस्मिन्नेव, तत्रत्यानामेवेति गोचरम् वा तद्वनमेव तद्रूपं जानातीत्यर्थः । यथा च,'किं ब्रूम' इति पद्ये'वृन्दारण्यस्थलीय'मिति वक्ष्यतिहि पुराणेषु च, 'राधा वृन्दावने वने' वृन्दावनेश्वरी राधा, राधैवाराध्यते मया' इत्यादिवाक्यैरत्रैव, नित्यस्थायित्ववर्णनात्, एकदेशस्थितस्यातिप्रेमास्पदा

रसकलश

से सम्पन्न है । इस पर कहते हैं—अहह ! 'मैं अमृत और अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, मैं शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा हूँ ।' इत्यादि और कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं' इत्यादि वचनों के अनुसार सर्वरस घनमूर्ति नित्यकिशोर श्रीकृष्ण ही हैं ऐसा क्यों नहीं कहते । उस पर कहते हैं कि वे श्रीकृष्ण भी प्रकारान्तर से मथुरा, द्वारका आदि अन्य धामों में भी क्रीडा करते हैं अतः हमारे सेव्यतत्त्व का असाधारण लक्षण यही है कि वह 'वृन्दावनमात्र गोचर' है । इसी असाधारण लक्षण से समस्त वेद, उपनिषद्, योगीन्द्र आदियों से अगम्य, पूर्ण माधुर्य पूर्ण ऐश्वर्य और पूर्ण कृपामय स्वरुप श्री वृन्दावन में नित्य विहार करता हुआ राधातत्त्व ही हमारे सेव्य का रूप है यह निष्कर्ष निकलता है । वैसे तत्त्व का आधारस्थल होने के कारण उनका धाम श्री वृन्दावन भी हमारे लिये वैसा अर्थात् सेव्य ही है और उस वृन्दावन में लोलायमान होने के कारण श्रीहितसखी भी तत्त्वस्वरूप होने के कारण हमारी सेव्य हैं ।

यहाँ 'वृन्दावन मात्रगोचर, कहने से तात्पर्य है कि श्रीवृन्दावन में ही श्रीवृन्दावन वासियों द्वारा ही गोचर किया जाने वाला वह तत्त्व है । अथवा वह वृन्दावन ही उसके स्वरुप को जानता है। जैसा कि, किंब्रूमोऽन्यत्र, इत्यादि पद्य में और वृन्दारण्य-स्थलीयम्' इत्यादि पद्य में कहेंगे । पुराणों में भी 'वृन्दावन नामक वन में राधा हैं,' और 'वृन्दावन की अधिष्ठात्री श्रीराधा ही मेरे द्वारा आराधित होती हैं' इत्यादि वाक्यों द्वारा यहाँ श्रीवृन्दावन में ही उनके नित्य स्थायी होने का वर्णन किया गया है । क्योंकि इसी

राधनीयत्वात् । अन्यदपि मात्रेत्यनेन साधकसहृदयानप्याकर्षति । किमन्यत्र लोकादिषु रूपं मृग्यतया यादृशमहं वच्मि, तादृशं त्वत्रैव नान्यत्रेति । अतो मद्वाग्यविश्वासेनैवात्र स्थीयताम्, एतत्सेवनादेव कदाचित् रूपं संनिधानं भवतां भविष्यत्येवेति ।

अन्यच्च वेदागोचरोक्तौ ननु वृन्दावने श्रुतिरूपा गोप्योऽपि तु स्थितास्तत्कदम्बचूडामणित्वमपि तदा विवृतं, तत्रैवं ज्ञेयं, यावच्चरणरेणोर्मूर्ध्न्याधानं न कृतं तावद्दुर्ज्ञेयमेवेति भिन्नभावत्वात् । ननु शिवादिगोपीरूपश्रवणात्कथं न ध्यानगम्, तत्रैवं ज्ञेयं शिवत्वेन शुकत्वेन दुर्ज्ञेयं, न च भावनारूपप्राप्तिर्निषेधितेति । अथ केवलवेदोपनिषत्परिमार्गणव्युत्पत्त्यैतद्रूपं न ज्ञास्यथेत्यपि दर्शितम् । शिवशुकाद्यनुभवेनैश्वर्यमहद्दृष्टिप्रसिद्धया न ज्ञास्यथ ।

रसकलश

एक देश में स्थित प्रेमास्पद (श्रीकृष्ण) की भी आराध्या हैं। 'मात्र' शब्द का और भी तात्पर्य है 'वृन्दावनमात्रगोचर' कह कर श्रीहिताचार्य महाप्रभु सहृदय साधकों को वृन्दावन की ओर आकर्षित करते हैं। अन्यत्र लोकों में या धामों में ढूंढने से क्या मिलेगा ? जैसा मैं कहता हूं वैसा तत्त्व तो यहां वृन्दावन में ही है अन्यत्र कहीं नहीं है। अतः मेरे वाक्य पर विश्वास करके यहीं ठहरो, इसी श्रीवृन्दावन के सेवन से ही कभी आपको उस स्वरूप का सन्निधान–समीपता या ध्यान–प्राप्त हो जाएगा।

यहाँ वेदों का अगोचर या विषय न होना कहने का एक और भी प्रयोजन है, प्रश्न होता है कि वृन्दावन में वेदरूपा गोपियाँ भी तो स्थित हैं श्री राधाजी को उनके समाज की चूडामणि भी तो कहा गया है, फिर श्रीराधा वेदों से अज्ञेय कैसे हुई ? इसका यह समाधान समझना चाहिये कि जब तक वे श्रीराधाजी की चरणधूलि को मस्तक पर धारण नहीं कर लेती तब तक उनके लिये भी श्रीराधा तत्त्व अज्ञेय रहता है क्योंकि तब तक उनका भाव कुछ और रहता है। ऐसे ही शिव आदि का तो गोपीरूप धारण करना सुना जाता है तब उनके ध्यान में श्रीराधा तत्त्व क्यों नहीं आता यह प्रश्न भी नहीं करना चाहिये, उस अवस्था में यह तात्पर्य समझना चाहिये कि शिवरूप में और शुकरूप में तो दुर्ज्ञेय अर्थात् जानना कठिन ही है। उनको भावनात्मक रूप की भी प्राप्ति नहीं होती ऐसा नहीं कहा गया है। अतः केवल वेद और उपनिषदों को ढूंढने से प्राप्त होने वाली बहुज्ञता से श्रीराधारूप को नहीं जान सकोगे यह दिखाया गया है। शिव और शुक आदि के अनुभव से ऐश्वर्यमय महान् दर्शन की सिद्धि मिल जाने पर

किञ्च तेषामन्तर्दृष्टेः सर्वत्रापरिच्छिन्नतत्त्वसाम्यादेतत्प्रस्तुते पूर्णममत्वा-भावदर्शनादिति । अतः सर्व्वतो विच्छिद्य केवलवृन्दावनमात्रपरिच्छिन्नप्रेम-माधुरीरसमयनित्यकिशोरगौरमूर्त्तौ यदा प्रेम करिष्यथ तदैव तद्रूपं प्राप्स्यथेति न ज्ञानेन, न कर्म्मणा, न तपसा, न योगेनेत्यपि श्रुत्यादिपदैर्बोध्यं, केवल-रसमार्गोपासनया प्रेम्णा च, माधुर्य्येण च प्राप्यत इति सिद्धान्तः ।

पुनश्च प्रेमादिमयमित्यनेनानेकलौकिकभावभ्रमविग्लापितमतिकृतजो-वेशमायाशक्तित्वाद्यपि निरस्तं, सर्वतोऽपि भिन्नविलक्षणभावमयं नित्येत्यनेन प्रकटलीलासु सदैकरसस्थायित्वं कौमाराद्यपि लोकप्रतीतं, वात्सल्यादिरस-पोषार्थं नैमित्तिकम् । किञ्च, "अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवा" विति मध्ये मध्ये स्वस्थायिदर्शनात् । अत्र वेदोपनिषदाद्यगोचरं यदुक्तं, तत्, इदमित्थमेतावदिति लोकवन्नाभिधत्ते, मार्गं तु निदर्शयत्येवेति ज्ञेयम् । किञ्च 'त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथ' इति श्रुतेन दर्शितः पन्था इति स्वतस्तु दुर्गमत्वमेव । शिवाद्यगोचरं यदुक्तं,

रसकलश

भी श्रीराधा तत्त्व को तो नहीं जान सकोगे । एक और बात भी है कि शिव शुक आदि की अन्तर्दृष्टि होने के कारण उन्हें सर्वत्र अपरिच्छिन्न तत्त्व में ही समभाव रहता है अतः इस प्रस्तुत वस्तु में उनकी पूर्ण ममता का अभाव देखा जाता है । इसलिये सब ओर से अलग होकर केवल वृन्दावन में ही परिच्छिन्न प्रेममाधुर्य रसमय नित्यकिशोर गौरमूर्ति से जब प्रेम करोगे तभी उस रूप को प्राप्त कर पाओगे न ज्ञान से, न कर्म से, न तप से, न योग से, यह बात भी श्रुति आदि के पदों से ही जाननी चाहिये । केवल रसमार्ग की उपासना से और प्रेम से तथा माधुर्य से ही उन्हें प्राप्त किया जाता है यही सिद्धान्त है ।

और फिर 'प्रेमामृत माधुरी रसमय' कहने से अलौकिक भाव से भ्रम से विग्लापित या मलिन कर दी गई बुद्धि से किये गये जीव, ईश, माया और शक्ति आदि भेद तत्त्व भी निरस्त कर दिये गये हैं । इन सबसे विशेष भिन्न और विलक्षण भावमय वह तत्त्व है उसे 'नित्यकैशोरक' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकट लीलाओं में सदा एकरस भाव से उसकी स्थायिता है, उसकी कुमारादि अवस्थाएँ भी लोक में प्रसिद्ध हैं जिनका उद्देश्य वात्सल्यादि रसों का परिपोष करना है अतएव जो नैमित्तिक हैं क्योंकि वहाँ भी अकस्मात् ही कुमारवस्था में प्रकट हो गया है नवीन किशोरावस्था का वैभव जिनका, इत्यादि द्वारा मध्य में उनके स्थायी रूप का दर्शन होता है । यहाँ पर वेद और उपनिषद् आदि के लिये अगोचर जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह जानना चाहिये कि वेद इस तत्व को 'इदमित्थम्, यह ऐसा है और 'एतावत्, इतना है इत्यादि लौकिक पदार्थों के समान नहीं कहते इस तत्त्व का मार्ग तो वे दिखाते ही हैं । तभी आप भक्तियोग से परिभावित हृदय कमल में विराजमान होते हैं, 'श्रुत या शास्त्र द्वारा आपका मार्ग दिखाया जाता है, इत्यादि कहा जाता है, स्वयं तो वह मार्ग या तत्व दुर्गम

तदैश्वर्य्यबलापेक्षया न त्वनधिकृतत्वं, ते यदा प्रेम्णा रसेन भजन्ति, तदा किमुच्यत इत्यनेन प्रेममार्गप्राधान्यं कृपैकलभ्यत्वं न च सहसा साहसेनेति सर्वं समाधानम् ।

श्रुती किमिति पाठे, सकामनिष्कामश्रुतिद्वयं तदा न क्षमे ते इति । यद्वा द्वितीया, यदिति सर्वत्र प्रथमात्वादत्र प्रथमैव, तदा तद्रूपं कर्तृ श्रुती कर्म नारोढुमिति, किं शिरोऽपि न क्षमते, किमहमेतच्छिर आरोहयामि, इति ब्रह्मैकविषयत्वात्, स्वस्य तु भगवतोऽपि पररहस्यात् । श्रुतिः किमिति पाठे, सर्वोऽपि वेदः । श्रुतीकमिति प्रसिद्धौ, प्रयोगसाधनादर्शनाच्चिन्त्यं लेखैक-देशभ्रमो यावत् प्राज्ञैर्न समाधीयते, तावदेवेति । यद्वा श्रुतिरेव श्रुती यथा

रसकलश

ही है इस तत्व को जो शिव आदि के लिये अगोचर कहा गया हैं वह ऐश्वर्य बल का अपेक्षा से ऐसा है यहाँ उनका अनधिकारी होना नहीं कहा गया है, वे भी जब प्रेम से या रस से भजन करते हैं तब तो क्या कहना? इसके द्वारा प्रेम मार्ग की प्रधानता, उस तत्त्व का कृपा मात्र से सुलभ होना न कि सहसा और नहीं साहस से इत्यादि सभी बातों का समाधान किया गया हैं ।

'श्रुतीनां शिरो, वेदों का सिर वेदान्त के स्थान पर 'श्रुती किं शिरो, ऐसा भी पाठ कहीं कहीं देखा जाता है वहाँ 'सकाम और निष्काम कर्म का उपदेश करने वाली दोनों श्रुतियों का तो क्या कहना उनका सिर ज्ञान का उपदेश करने वाला वेदान्त भी, यह अर्थ करना चाहिये । 'यद् वृन्दावनमात्रगोचरम्' में यद् शब्द जैसे प्रथमाविभक्ति में है वैसे ही 'यन्न श्रुती किं शिरो' इत्यादि में भी यत् शब्द प्रथमान्त है और 'श्रुती' शब्द द्वितीयान्त है तब जो रूप 'श्रुती' सकाम निष्काम कर्म का उपदेश करने वाली दोनों श्रुतियों पर तो क्या कहना उनके सिर ज्ञान का उपदेश करने वाले वेदान्त पर भी आरोहण नहीं कर सकता, तो फिर मैं उस रूप को उनके सिर पर—वेदान्त शास्त्र या उपनिषदों पर—क्यों आरोहण कराऊँ । वे तो एक मात्र ब्रह्म परक हैं, और मेरा सेव्य तत्व तो भगवान् का भी परम रहस्य है । 'श्रुती कि शिरो' ऐसा पाठ हो तो 'श्रुति से सम्पूर्ण वेद और 'शिर' से उपनिषद् या वेदान्त का ग्रहण करना चाहिये । 'श्रुतीकम्' इस पाठ की प्रसिद्धि की अवस्था में 'श्रुतिक' प्रयोग की सिद्धि दिखाई नहीं देती अतः यह पाठ चिन्तनीय है । जब तक विद्वानों द्वारा इस पाठ का समाधान नहीं किया जाता तब तक इसे लेख के एक अंश का भ्रम ही समझना चाहिये । अथवा श्रुति को ही श्रुती कहा गया है जैसे धूलि को धूली भी कहा जाता है तब 'उसका सम्बन्धी' इस अर्थ में 'क' प्रत्यय करके 'श्रुतीकं' बना लिया जा सकता है और श्रुतीकं शिरो' का वही अर्थ

धूलिः धूली इतिवत्, ततस्तत्संबन्धि, इति कः प्रत्ययः श्रुतीकं शिर इति। श्रुतीनामित्यन्यवर्णकल्पनागौरवान्न कर्तव्यः पाठ इति।

परिचेष्टुमिति। चेष्ट चेष्टायां धातुः आगमशास्त्रस्यानित्यत्वादिडभावः पृषोदरादित्वात्साधुः। यद्वा वर्णैकदेशभ्रमात् परिवेष्टुमिति नेत्रपरिवेष्टनं तद्रूपालिंगनं, सुतरामनुभवो, लोलत्वकथनमपि संगतं, यद्वा परिचेतुमिति भिन्नवर्णलेखगौरवात् मनोभीतिः स्यादिति। कैशोरकमित्यत्र कप्रत्ययेनानिर्वचनीयत्वं, स्वार्थेऽपि च, कैशोरकमिति तु शब्दः समुच्चये नकाराकर्षकः। अथवा क्रमणं तु तपोयोगैश्वर्य्यबलेन नास्ति, भक्ति भावनया तु ध्याने स्वयं कृपयाऽऽगच्छति इत्यपि दृश्यते, गमनस्य रूपकर्तृकत्वात्।

रसकलश

निकल आता है जो 'श्रुतीनां शिरो' का है। इन समाधानों के रहते 'श्रुतीनां' यह पाठ नहीं करना चाहिये क्यों कि उसमें अन्य वर्ण की कल्पना का गौरव करना पड़ता है।

'परिचेष्टुम्' शब्द में चेष्टार्थक चेष्ट धातु है, उससे तुमुन् प्रत्यय होने पर इट् आगम करने वाले शास्त्र के अनित्य होने से जहाँ इट् आगम नहीं होगा वहाँ 'परिचेष्टुम्' रूप सिद्ध हो जागगा। अथवा 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र के अनुसार पृषोदरादिगण में 'परिचेष्टयितुम्' का 'परिचेष्टुम्' के रूप में पाठ करके इसे सिद्ध कर लेंगे। अथवा वर्ण के एक अंश के भ्रम से 'परिवेष्टुम्' इस पाठ 'नेत्रपरिवेष्टुम' अर्थात् नेत्र द्वारा उस स्वरूप का आलिङ्गन, एक बार अनुभव करने के अर्थ में है। ऐसा करने से नेत्र को लोलायमान कहना भी संगत हो जाएगा। ('प्रविश्' के समान 'परिविश' से परिवेष्टुम् की सिद्धि अधिक संगत प्रतीत होती है, 'मेरे नेत्र उस रूप में चारों ओर से प्रविष्ट हो जाने के लिये लोलायमान हैं' यह अर्थ भी युक्ति युक्त होगा) परिवेष्टुम्' के स्थान पर 'परिचेतुम्' यह भिन्न वर्णों वाला लेख लिखने में गौरव भी है और सिद्ध वाणी के परिवतंन से मन में भय भी होता है। 'कैशोरकम्' में क प्रत्यय के द्वारा अनिर्वचनीयता सूचित की गई है। स्वार्थ में भी 'कैशोरकम्' यह शब्द होता है। 'न यच्छिवशुकादीनां तु यद् ध्यानगम्' इस वाक्य में तु शब्द समुच्चय के अर्थ में है जो नकार का आकर्षण करके 'शिव शुक आदि के ध्यान में भी नहीं आता' इस अर्थ की प्रतीति कराता है। अथवा उस तत्त्व तक पहुँचना तो तप, योग, और ऐश्वर्य के बल से नहीं होता किन्तु भक्ति भावना से वह स्वयं कृपा करके ध्यान में आ जाता है यह भी देखा जाता है क्योंकि 'ध्यानगम्' शब्द में गमन क्रिया का कर्ता वह तत्त्व रूप ही है।

अथवा कैश्चिद्भावुकैः केवलरसमयार्थोऽपेक्ष्यते चेत्तत्राह—पूर्वपद्ये श्रीकुमार्य्यास्स्मरविलासांतोक्तस्तदनन्तरं प्रिया स्नानकुञ्जं प्रविष्टा, तत्र स्वहितरूपान्तरैरन्यसखीजनैः सेवा क्रियत एव, स्वयं हिताली प्रियातुरेङ्गितज्ञा, तदुपहासकौतुकसंलापविनोदार्थं, स्वामिन्यसंकोचार्थं, लतान्तरमात्रपरोक्षेण, तन्निष्ठ प्रेमाधिकं श्रावयितुं द्वारस्थिता।

तत्र प्रियस्त्वागत एवोवाच, 'तद्रूपं परिवेष्टुं मन्नयनलोलता'नान्तरं सोढास्मि' तदा सखीवाक्यं, 'इदानीं स्नानसमये भवदागमनमयुक्तं' कथमिति चेद्द्वित्रिसखीगम्यरहस्यत्वादित्थमेव तन्निदेशत्वात्। प्रियः सोत्प्रासं—'तत्र-कुञ्जतरुवल्लीपुष्प भ्रमरजलचन्दनस्थलाद्यपि तु दृश्यते, तथैव मम कः संकोचः' तदा सखी, 'यद्वृन्दावमात्रगोचरं न भवतो नायकस्येति, प्रियारहस्यविहरणविपिनत्वात्'प्रियः—'भवत्यः कथं स्थास्यथ'। सखी 'तद्दास्यात्।' प्रियः—

रसकलश

अथवा कुछ भावुक केवल रसमय अर्थ की ही अपेक्षा रखते हैं तब रसमय अर्थ के विषय में कहते हैं—पहिले पद्य में श्री लाडलो जी के स्मर विलासों तक का वर्णन किया गया था, उसके अनन्तर उन्हों ने स्नानकुञ्ज में प्रवेश किया। वहाँ श्रीहित की ही रूपान्तर अन्य सखियों के द्वारा सेवा की ही जाती है, स्वयं हितसखी जो प्रियतम के आतुरता भरे इंगितों को जानती हैं उनके उपहास कौतुक और वार्तालाप के विनोद के लिये और स्वामिनी को संकोच न हो इसलिये एक लतामात्र की ओट से उन (श्रीराधा) के प्रति प्रियतम का अधिक प्रेम सुनाने के लिये द्वार पर खड़ी हो गईं।

इतने में वहाँ प्रियतम आ गए और कहने लगे—'उस रूप का आलिङ्गन करने के लिये मेरे नेत्रों में आज तृषातुरता और चञ्चलता आ गई है, मैं उनका व्यवधान नहीं सह सकता। तब श्रीहितसखी जी ने कहा अभी स्नान का समय है इस समय आपका यहाँ आना उचित नहीं है। जब प्रियतम ने पूछा—क्यों? तो श्रीहितसखो जी ने कहा - केवल दो तीन सखियाँ ही इस रहस्य को जान सकती हैं फिर ऐसी हो स्वामिनी की आज्ञा है। तब प्रिय ने बड़े उल्लास के साथ कहा—वहाँ तो कुञ्ज, तरु, लता, पुष्प, भ्रमर, जल, चन्दन और स्थल आदि भी दिखाई देते हैं केवल दो तीन सखियाँ ही नहीं, तब मेरा क्या संकोच है? तब सखी ने कहा—जो केवल वृन्दावन को ही प्रत्यक्ष है आप तो नायक हैं आपके लिये वह इस समय गोचर या प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वृन्दावन को भी इसी लिये यह प्रत्यक्ष है कि वृन्दावन प्रिया जी के रहस्यमय विहारों का वन है। तब प्रिय ने कहा—तुम लोग भी तो यहां ठहरती हो। सखी ने उत्तर दिया—हम तो उनकी दासी होने के अधिकार से यहाँ रह सकती हैं। प्रिय बोले—तो मुझे भी दासी बना लो।

'मामपि दासीं कुरुत ।' सखी 'विश्रम्भघातो नास्मत्सख्यधर्मः, न चाज्ञोल्लंघनं दास्यधर्मः' । प्रियः='साधु मदविश्रम्भोऽस्ति' । सखी="प्रातः पीतपटे" त्यादौ, अङ्गव्रणाद्यसमीक्ष्यकारिताकामुकताकरणमेव भवद्विश्रम्भं कथयति, सुकुमार्य्या न प्रतीतिः' । प्रियः='अहो असाधु कृतं, अतएव जाने भवद्धस्तेन निवारणं, अतो मत्प्रणतिः शिरसा निवेदनीया, क्षमापनीया, प्रसन्ना चेत्किञ्चित्कर्णे मद्वाक्यं कथय, वा मां यदि तत्र नयेस्तदा तद्गूढप्रियाद्भुतवार्तां काञ्चिच्छ्रुतौ कथयित्वाऽऽगमिष्यामि, यया प्रीता त्वदुपर्य्यपि न कोपिनी स्यादिति' । सखी प्रहस्य 'इदानीं मन्मुखेन वा साक्षाच्छिरःप्रणामोऽपि दुष्करस्तदा श्रुतिः किं श्रवणपर्यन्तं कुतो भवतः प्राप्तिरिति' । प्रियः='अहो मंगलसुखदकलवाक्पटुशुकसारिकाभ्य एव कथय, ता एव मत्संदेशं संज्ञया ज्ञापयिष्यन्ति' । सखी='ते तु प्रत्यंगच्छविरूपस्थगिता ध्याननिष्ठा न च बहिर्वक्तुं मुखरास्तत्र स्थातुं शक्नुवन्ति, एवं भवतः अदान्तस्य निरंकुशस्य क्व स्थितिः स्यात्' प्रियः='अहो प्रेमामृतमाधुरीरसमयरूपेण तत्काठिन्यं कुतो नीरसत्वं च

रसकलश

सखी बोली—विश्वासघात करना हम सखियों का धर्म नहीं है न ही आज्ञा का उल्लङ्घन करना हम दासियों का धर्म है। फिर प्रिय ने कहा—अच्छा, मेरा विश्वास करो। तब सखी ने 'प्रातः पीतपटं' इत्यादि पद्य में कहे गये अङ्ग व्रणों की बात कही और उपालम्भ दिया कि श्रीप्रिया जी के श्री अंगों में नखक्षतादि रूप कार्य तुम्हारी असमीक्ष्यकारिता (विना सोचे विचारे काम करने) के और कामुकता के ही अनुकूल चेष्टा करने के साक्षी हैं जो तुम्हारी विश्वास योग्यता को बताते हैं। सुकुमारी जी को तुम पर विश्वास नहीं रहा। तब प्रियतम बोले—अहो! बहुत बुरा हुआ, अतएव मैं समझता हूँ कि आपके हाथ से मेरा निवारण किया जा रहा है। इसके लिये आप मेरा प्रणाम सिर झुकाकर निवेदन करदें और उनसे क्षमा माँगलें। यदि वे प्रसन्न हो जाएँ तो मेरी थोड़ी सी बात उनके कान में कह दें और यदि आप मुझे वहाँ लेते चलें तो मैं उस गूढ, अद्भुत और अतिप्रिय वार्ता को उनके कान में कहकर चला आऊँगा। मेरे द्वारा प्रसन्न करली गईं वे तुम पर भी रोष न करेंगी। तब सखी ने हँसकर कहा कि इस समय मेरे द्वारा या साक्षात् स्वयं जाकर सिर से प्रणाम करना भी कठिन है तब उनके कान तक तुम्हारा पहुँचना कैसे हो सकता है? तब प्रियतम बोले-अहो! मङ्गलमय सुखद और मनोहर वचन बोलने में कुशल शुक सारिकाओं से ही कह दो वे ही मेरा सन्देश बता देंगी। तब सखी ने कहा—वे तो श्रीप्रियाजी के प्रत्येक अङ्ग की रूप छटा को देख कर स्तब्ध हुए हैं ध्यान मग्न हैं वे बाहर कुछ बोलने के लिए वहाँ नहीं ठहर सकते तब आप जैसे असंयत या निरंकुश की गति और स्थिति वहाँ कैसे हो सकती है। तब प्रिय ने कहा—अहो! प्रेमामृत के माधुर्यरस से परिपूर्ण रूप में यह कठिनता और नीरसता

घटते, मम तु यावत्कृतिस्तत्सुखार्थिकैव, अथाप्यागस्तत् क्षम्यताम्'। 'सखी=सत्यमाह यन्नित्यकैशोरकमिति वयोमोग्ध्यस्वभावेन लज्जाधिक्यं, वाम्यं च नित्यस्थायि न जाने भवल्लौल्ये च मानाधिक्यं स्यादित्यतो नवोढायाः सुकुमार्य्या इंगितज्ञेनैव स्थातव्यं, एततपर्य्यन्तं सख्या वैदग्ध्येन कालविलम्बः कृतस्तद्विनोदार्थं न चात्र काठिन्यं, सखीनां विनोद एव लाभ इति दिक् ॥७६॥

प्रथमार्थक्रमे ननु तादृशाद्भुतरूपदर्शनलोलस्य भवतः किं साधनं तादृशमहत्तममस्ति येन तत्सिद्धिस्तत्र प्रसिद्धमनूद्य स्वसाधनं वक्ति—

धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथावार्त्तया,
सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्द्ध नि ।
या वृन्दावनसीम्नि काचन घनाश्चर्य्या किशोरीमणि-
स्तत्कैङ्कर्य्यरसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते ॥७७

रसकलश

कैसे सम्भव हो सकती है, मेरे लिये तो उनके जितने भी कार्य हैं सुख के लिये ही है। तो भी अपराध तो क्षमा किया ही जाना चाहिये। तब सखी ने सच्ची बात कह दी जो रूप नित्य किशोरता से सम्पन्न है, किशोरावस्था के कारण ही भोलेपन के स्वभाव से उसमें लज्जा की अधिकता है और उन में प्रतिकूलता तो नित्य ही स्थायी है न जाने आपकी चञ्चलता से उनका मान (प्रणयकोप) और बढ़ जाए। अतः उन नवविवाहित सुकुमारी के इंगित को जानते हुए ही आपको रहना चाहिये। इतने तक सखी ने चतुरता से उनके विनोद के लिये विलम्ब कर दिया; यहाँ पर सखीजन में मानसिक कठोरता नहीं है अपितु विनोद ही है ऐसा समझना चाहिये ॥७६॥

यहाँ दो अर्थ कहे गये हैं इनमें से प्रथम अर्थ के क्रम में प्रश्न होता है कि वैसे अद्भुत रूप के दर्शन के लिये तृषित या चञ्चल नेत्रों वाले आपके पास ऐसा महत्तम उपाय या साधन क्या है जिससे दर्शन लालसा की सिद्धि हो, इस पर प्रसिद्ध वस्तु का अनुवाद करके अपने साधन या उपाय का वर्णन करते हैं—

'धर्म अर्थ काम मोक्ष यह साधन चतुष्टय (चारों पुरुषार्थ) सब से उत्कृष्ट रूप में विराजमान रहें यहाँ उनकी व्यर्थ चर्चा से क्या लाभ ? वह एकान्त भाव से ईश्वर के प्रति भक्तियोग की पदवी को भी हमने आदर से अपने मस्तक पर चढ़ाया है अर्थात् उसे भी नमस्कार है। किन्तु यहाँ श्री वृन्दावन की सीमा में जो कोई घन आश्चर्यमयी किशोरी जन में शिरोमणि हैं उन (श्रीराधा) के कैङ्कर्यरस (दासीभाव के रस) रूपी अमृत से अतिरिक्त मेरे चित्त में कुछ भी अच्छा नहीं लगता ॥७७॥'

श्रुतिस्मृत्यादौ धर्मः, उपवेदसामोपायादिशास्त्रेष्वर्थः, वात्स्यायनादौ कामः, उपनिषदादौ मोक्षः, इति सर्वलोकप्रसिद्धं पुरुषार्थचतुष्टयं सर्वत्र साध्यं, न तस्मात्कोऽपि व्यतिरिक्तस्तत्राह, तद्विजयतां सर्वोत्कर्षेण स्वस्व-मार्गः, स्वाधिकारिषु वर्त्ततां, न मे तत्साधनापेक्षास्तीति सादरानङ्गीकारः। यथोपेक्षादृष्ट्या कञ्चिद्यापयितुं स्वादरेण विजयतामिति वक्ति तद्वत् अतस्त-स्य चतुष्टयस्य वृथेति प्रयोजनव्यतिरेकवार्त्तया किं वाचो विग्लापनमेवेति। यथा 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'।

ननु तद्विरागे 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परम' इति, 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति, सालोक्यसार्ष्टीत्यत्र, 'नेच्छन्ति सेवया पूर्णा' इत्यनेन मुक्तिमपि तिरस्कृत्यैकान्तभक्तिर्भवद्भिर्निश्चता किमिति चेत्तत्राह, सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी तु मूर्ध्न्यारोपितेत्यत्रापि सादरानङ्गीकारः। नन्वेकान्तशब्दस्त्वत्राप्युक्तः, यथाचोक्तं—

रसकलश

श्रुति और स्मृति आदि शास्त्रों में धर्म, उपवेदों और सामदान दण्ड भेद आदि उपाय बताने वाले नीति सम्बन्धी शास्त्रों में अर्थ, वात्स्यायन आदि मुनियों से प्रणीत ग्रन्थों में काम और उपनिषद् आदि में मोक्ष का वर्णन है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है और यही धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थ सर्वत्र साध्य हैं, उनके अतिरिक्त कोई भी पुरुषार्थ नहीं है इस पर कहते हैं कि उनको जय हो वे सबसे उत्कृष्ट रूप में अपने अपने मार्ग के रूप में अपने अपने अधिकारियों में वर्तमान या विराजमान रहें किन्तु मुझे उनका साधन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर जैसे उपेक्षादृष्टि से किसी को जाने देने के लिये अपनी ओर से आदर देते हुए 'जय हो' ऐसा कहा जाता है वैसे ही इनको सादर अस्वीकार कर दिया गया है। अतः उन चारों की चर्चा व्यर्थ है, उनकी प्रयोजनहीन चर्चा से क्या लाभ ? वह चर्चा तो केवल वाणी का अपव्यय ही है। जैसा कि कहा भी है कि प्रयोजन के विना मूर्ख पुरुष भी किसी कार्य के लिये प्रवृत्त नहीं होता।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वैराग्य होने पर 'जिससे कैतव दूर हो गया है ऐसा परमधर्म यहाँ पर है' इत्यादि द्वारा धर्म का तथा मुक्ति ती दे देते हैं पर भक्तियोग कभी नहीं देते' इत्यादि और 'सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व भी दिया जा रहा हो तो भगवत्सेवाभाव से पूर्ण जन उनकी कामना नहीं करते इत्यादि द्वारा मुक्ति का भी तिरस्कार करके क्या आपने एकान्त भक्ति का ही निश्चय किया है इस पर कहते हैं कि 'वह एकान्त भक्तियोग की पदवी भी मस्तक पर चढ़ाली है'। इस कथन में भी सादर अस्वीकार सूचित किया गया है। कोई कह सकता है कि एकान्त शब्द तो यहाँ

न किञ्चित्साधवोधीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।।

इति चेत्तदत्रैकान्तित्वं केवलत्वं, अमिश्रभक्त्यर्थः अत्र केवलैश्वर्य्यसंवलितमेकान्तित्वं, न च माधुर्य्यरीत्या स्ववक्ष्यमाणशृंगाररसोत्कर्षदम्पत्युपास्तिसजातीयमिति । आदरोऽत्र तमोमग्नलोककृपापरायणभगवद्रूपसर्ववैष्णवसाम्प्रादायकाचार्य्यैर्दृढतरं प्रख्यापितत्वात् भक्तेः तत्सत्त्वे सर्वसाधनकदम्बो भास्करे खद्योतवदिति । अतः पूज्यत्वात् शिरोधार्यैव । पूर्ववन्नास्योपेक्षा, परन्तु रुचेर्भिन्नत्वात्स्वरुचिमाह, या असाधारणस्वरूपगुणविशिष्टा, वृन्दावसीम्नि, तन्मात्रगोचरत्वाद्विशेषा, न तु सामान्या काचनानिर्वचनोया, घनीभूताश्चर्य्यरूपा किशोरीणां मणिः, श्रेष्ठावर्तते तस्या, कैंकर्य्यरसामृतात् परमन्यत् इह लोके चित्त न रोचते । स्वधाम्निस्थितौ कैमुत्यं रोचत इत्यनेन बुद्धिपूर्वकासक्तिपूर्णतादर्शिता ।

रसकलश

पर भी कहा गया है । जैसा कि कहा —'साधु, धीर और मेरे एकान्ती भक्त मेरे द्वारा दिये गये पुनर्जन्म के अभावरूप कैवल्य या मोक्ष की भी कामना नहीं करते ।' यहाँ पर एकान्ति भाव का अर्थ केवलता वह एकान्तता अथवा अभिश्रतता है ।यहाँ केवल ऐश्वर्य से संवलित एकान्तिता है न कि वह माधुर्य को शैली से अपने द्वारा कहे जाने वाले शृङ्गार रस के उत्कर्ष द्वारा दम्पति (प्रिया-प्रियतम) की उपासना की सजातीय है। यहाँ पर आदर से अन्धकार में मग्न लोगो पर कृपा परायण, भगवद्रूप, समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा दृढता के साथ भक्ति के प्रख्यापित होने के कारण, उनके सामने समस्त साधन-समूह का सूर्य के समान जुगनू के समान प्रकाशहीन होने के कारण उस भक्ति को पूज्यभाव से शिरोधार्य ही बताया गया है । धर्मादि चारों पुरुषार्थों के के समान भक्तियोग की उपेक्षा नहीं की गई है परन्तु रुचिभेद के कारण उससे भिन्न अपनी रुचि का वर्णन किया गया है । जो असाधारण स्वरूप से और गुणों से विशिष्ट। श्री वृन्दावन की सीमा में केवल वृदावन मात्र गोचर होने के कारण विशेशरूपा न कि साधारण स्वरूपा, कोई अनिर्वचनोया, घनो भूत आश्चर्यमय स्वरूप वाली किशोरियों में शिरोमणि अर्थात् परम श्रेष्ठा है, उनके कैङ्कर्यरस (दासी भाव के रस) रूपी अमृत से अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस लोक में मेरे मन को अच्छा नहीं लगता । जब इस लोक में ही अन्य कुछ अच्छा नही लगता तब उनके अपने धाम श्री वृन्दावन में रहने पर तो और कुछ कैसा अच्छा लग सकता है इस कथन के द्वारा बुद्धिपूर्वक उनमें आसक्ति की पूर्णता दिखाई गई है ।

न च केवलशास्त्रीयोक्तमाहात्म्यप्रेरणाशृङ्खलित आवश्यककार्य्यवत्करोमीति । चित्त इत्यनेन इन्द्रियाणां मनःप्रवर्त्तकं, ततोऽपि बुद्धिस्ततोऽपि चित्तमिति सर्वमूलभूतत्वाच्चित्तचैत्ययोरेकतत्वात्पूर्णरुचिर्नतस्याः केनापि व्याघातः स्यात् । रसेत्यनेन रसरूपत्वं कैंकर्य्यस्य, आस्वाद्यत्वमपि च अमृतेत्यनेन, दिव्यलोका अपि लोभयन्ति, तदपि न लुभ्येयेति महामधुरं परमाप्यायनमिदमेवेति । इहेति, नानाधर्मप्रवृत्तिमल्लोकमाश्रित्योक्तं, प्रस्तुतात्परं किमपि न रोचत इति । किशोरीति, घनेति, स्वानुभवोक्तिः आश्चर्यमत्रोच्यते किञ्चित्, ये भागवता एकान्तिनस्ते कदाचिद्वदन्ति, किमस्मदीयभावो न रोचते । परात्परोऽपि सर्वमहाभागवतशिवब्रह्मशुकनारदादिसंमतध्यातप्रशस्त इति, तत्रोच्यते । किंकुर्म अत्र भवद्ध्येयगेयोऽपि

रसकलश

यहां यह समझना चाहिये कि केवल शास्त्रों में कहे गए माहात्म्य की प्रेरणा से बँधा हुआ आवश्यक कार्य के समान ऐसा नहीं करता हूँ इसीलिये यहां 'चित्त में' कुछ अच्छा नहीं लगता यह कहा है । इन्द्रियों का प्रवर्तक मन है, मन की प्रवर्तक बुद्धि है और बुद्धि का भी प्रवर्तक चित्त है इस प्रकार इन्द्र आदि सभी शक्ति का मूल होने के कारण चित्त और चैतन्य में एकता हो जाने से पूर्ण रुचि दिखाई गई है। जिसका किसी प्रकार भी व्याधात या निवारण नहीं हो सकता । कैङ्कर्यसामृताद' शब्द में कैङ्कर्य या दासीभाव की रसरूपता अर्थात आस्वादनीयता भी कही गई है। फिर उसे अमृत कह कर यह सूचित किया गया है कि दिव्यलोक भी मुझे आकर्षित करते है तो नहीं होऊंगा, क्योंकि मेरे लिये महामधुर और परम आप्यायन (तृप्तिप्रद) यही 'इहा' या 'इहाँ' यह शब्द नाना धर्मों की प्रवृत्ति वाले लोक के लिये कहा गया है, ऐसे इस लीक में मुझे प्रस्तुत राधातत्त्व से अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। श्री प्रियाजी के लिये किशोरीमणि और घनाश्चर्य इन दोनों विषेशणों द्वारा अपने अनुभव का प्रकाशन किया गया है । यहाँ पर कुछ आश्चर्य की बात कही गई है—जो भागवत है एकान्त भक्त हैं वे कभी कहते हैं कि क्या हमारा भाव अच्छा नहीं लगता वह परात्परतत्त्व महा भागवत शिव, ब्रह्मा, शुक, नारद आदियों का सम्मत है, उसके द्वारा उनका ध्यान किया गया है और

यत्सेवापरस्तत्प्रेमास्पदमिदं, तदा नास्मद्दोषः, इत्यादिबहुविधमाश्चर्यमिति दिक् । अथापेक्ष्यते चेदान्तरार्थमाह, द्वितीयक्रमे लतांतरमात्रेकुञ्जे स्नायमानां प्रियां श्रावयन्ती सखी पुनः सखीवेषकृतमञ्जनकबरीप्रसाधनयावकादिदास्य निर्बन्धं प्रियं प्रत्युवाच, सखीवेषेनायंधर्मस्ते नायकस्य, नार्थो कामश्च न मोक्षः—मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति स्तस्मादन्यथारूपंदासीत्वं, पुंस्त्वं त्वत्स्वरूपं, तत्सत्वे प्रियांगसंयोगेसखीत्वं लुप्यत्येव, अतस्तच्छद्र मनिर्वाहभिया कामोऽपि न सेत्स्यति, तदा कार्थप्राप्तिधर्मनाश एव फलम् । तत्रात्यातुरपदपद्मसेवास्पर्शलालसप्रियवाक्यं, धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां, गम्यतां, न तस्मान्मे प्रयोजनम् । पुनरपि सखीविवक्षां दृष्ट्वा वक्ति—किं तद्वृथा वार्त्तया, किं समयातिपातं निरर्थयसि, एकान्ते मदीश्वरचरणं किं न दर्शयसीति । सख्युवाच, अहोरात्रावेकान्ते कथं चरण सेवनं न कृतं, किम-

रसकलश

प्रशंसा की गई है इस पर कहते हैं कि यहाँ हम क्या करें ? आपके ध्येय और गेय वे परात्पर भी जिनकी सेवामें तत्पर रहते हैं उनकी भी प्रेमास्पद हैं, तब हमारा दोष नहीं है इत्यादि अनेक प्रकार के आश्चर्य हैं ।

अब यदि अपेक्षा हो तो आन्तरिक अर्थ भी कहते हैं—दूसरे अर्थक्रम में केवल एक अन्तर या व्यवधान मात्र से पास के कुञ्ज में स्नान करती हुई श्री प्रियाजी को सुनाती हुई हितसखी फिर सखीवेष के द्वारा मञ्जन, कबरी प्रसाधन (केश संवारना) और चरणों में महावर लगाना आदि दास्यभाव के लिये जिसने बहुत आग्रह किया है ऐसे श्री श्यामसुन्दर से कहने लगी—सखीवेष में यह सब काम करना यह तुम जैसे नायक का धर्म नहीं है, न ही इस से अर्थ की सिद्धि है न काम की और न ही मोक्ष की । क्योंकि 'अन्यथा या मिथ्यारूप को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होने का नाम ही मुक्ति हैं इसलिये अन्यथारूप-दासीरूप है और तुम्हारा स्वरूप पुरुषत्व के रहते प्रियाजी के श्रीअंगों के संयोग में तुम्हारा सखीरूप लुप्त हो जाएगा । इसलिये उस छद्म या छलके निर्वाह के भय में तुम्हारा काम भी सिद्ध न होगा तब तुम्हें सखीवेष से किस अर्थ की प्राप्ति होगी केवल धर्म का नाश ही एक मात्र फल होगा । सखी की यह सब बातें सुनकर अत्यन्त आतुर भाव से चरण कमलों की सेवा के समय स्पर्श की लालसा वाले लाल जी के यह वचन हैं—धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थों को जय हो, वे जायें मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है । फिर भी सखी कुछ कहना चाहती है यह देखकर लालजी बोले—उनकी व्यर्थ वार्ता या चर्चा से क्या लाभ ? क्यों बीते हुए समय को व्यर्थ गँवा रही हो एकान्त में मुझे मेरे ईश्वर के श्री चरण क्यों नहीं दिखा देती ? तब सखी ने कहा—रात-दिन एकान्त में चरणों की सेवा क्यों न करली आजही क्यों मन को चञ्चल

द्यौ व मन उल्ललयसीति, तत्र प्रियः=सैकान्तेश्वरभक्तियोगस्य कामुकत्वेन चरणसंवाहनस्य पदवोरीतिस्तु मूर्धन्यारोपिता, न तस्या अप्यधुनाप्रयोजनम्, भवत्या इव शुद्धदास्यविधातात्। अथवा सा तु मूर्ध्निविराजत एव, मदिष्ट एवेत्यतो वच्मि, या वृन्दावनसीम्नि, अर्थात् 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामीति—अर्थः। घनाश्चर्य्येति प्रत्यंगप्रतिरोमगतच्छविरूपलावण्यादि-सिन्धुषु मम तादृशमनोमीनस्य न पारगागतिरिति। अतः काचन निर्वचनीय किशोरीणां भवतीनां मणिः स्वामिन्यस्ति, तत्कैंकर्य्यमेवाहंरसं मन्ये, संभोगा-द्येव तदेवामृतं, रूपासक्तित्वात्, तत्सुखित्वाच्च, इहेदानीं नान्यद्रोचत इति।

अथवा प्रियः इदानीमेकान्ते दर्शनात्ते महान् महान् धर्मः पुण्यं सेत्स्य-तीति लोकोक्तिः, अर्थस्तादात्विकतदर्हः कामोऽप्युभयोर्मिलनं मोक्षो विहार-समयानवरोधतेति च तदा तादृशमुत्कोचं श्रुत्वा सोत्प्रासं वक्ति सखी= किं तद्वृथेति पूर्वमेवसिद्धत्वात्, न चापि त्वद्दत्ते प्रयोजनम्। प्रियः=एकान्ते

रसकशल

कर रहे हो। तब प्रिया ने कहा—वह एकान्त में अपने ईश्वर के भक्तियोग की कामुकता के कारण चरण संवाहन करने को पदवी या रीति तो मस्तक पर आरापित है अब उसका भी प्रयोजन नहीं है क्योंकि उससे जैसे आपका शुद्ध दास्यभाव विघ्नित हो जाता है ऐसे ही मेरा भी शुद्ध दास्यभाव विघ्नित हो जाएगा। अथवा वह तो मेरे मस्तक पर विराजती ही है, वह तो मुझे अभीष्ट ही है तभी तो कहता हूँ कि जो वृन्दावनकी सीमा में—अर्थात् वृन्दावन को छोडकर एक कदम भी कहीं नहीं जाती हूं इस प्रतिज्ञा के अनुसार वृन्दावन की सीमा के अन्दर जो कोई अत्यन्त आश्चर्य स्वरूप-प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम में विद्यमान छविरूप और लावण्य के सिन्धुओं में मेरे वैसे मनरूपी मोन की वैसी पारगामिनी गति नहीं हैं। इसीलिये कोई अनिर्वचनीय किशोरियों की शिरोमणि-तुम सखीजनों की स्वामिनी-है! उनके दास्यभाव को हीं मैं रस मानता हूँ,सम्भोगादि की अपेक्षा भी वही अमृत है, क्योंकि रूप में विशेष आसक्ति है और उनके सुख से सुखो होने की भावना है इसलिये इस समय यहाँ कुछ और अच्छा नहीं लगता।

अथवा प्रिया ने कहा—इस समय एकान्त में दर्शन करा देने से तुम्हें महान् धर्म या पुण्य का लाभ होगा यह लोक की-सी उक्ति है, तुम्हें अर्थ भी प्राप्त होगा जो उस समय के योग्य हैं, तुम्हारी कामना भी-हम दोनों का मिलन-सिद्ध हो जायेगी और मोक्ष विहार समय में भी न रोका जाना: यह सब तुझे प्राप्त होगा इस प्रकार की उत्कोच या रिश्वत की बात सुनकर गर्व पूर्वक सखी ने कहा—इन धर्म अर्थ काम मोक्ष की व्यर्थ चर्चा से क्या लाभ? यह सब तो मुझे पहले हो प्राप्त है। फिर मेरा तुम्हारे द्वारा दिये हुए किसी पदार्थ से भी क्या प्रयोजन? तब प्रियने कहा—एकान्त में ईश्वर-प्राणनाथ

ईश्वरशब्देन प्राणनाथे नायकः स्वामीति यावत्, तादृशस्य मे भक्तियोग-दानाधिकारो वा चरणसंवाहनम् तादात्विकसाचिव्यं तव दास्ये, तदा सखी= मूर्धानं धुन्वन्ती, प्रत्याख्यापयन्तीव नमन कटाक्षेणाह सातु मूधर्न्यर्पितेति, नमस्ते भक्त्यै, गौरतेजः पृथक्कृत्य न श्यामतेजः सेवनाभिलाषः इति । अतः श्रीवृन्दावनसीम्नि, इति शपथं कृत्वा किशोरीकैंकर्य्यात्परं न रोचते । यदि मंत्रयसे मद्वाक्यं मन्यसे, तदा भवतोऽपि कैंकर्य्येणैव सिद्धिरिति । सत्यं वच्मि इहेति श्रीवृन्दावने किशोर्य्या एव प्राज्यं साम्राज्यं, तदिंगितज्ञतयैव स्थातव्यम् ।

यद्वा धर्माद्युपेक्षानन्तरं सख्याग्रहं दृष्ट्वा प्रियः कौतिकित्वात् कुञ्ज-सीम्नि स्थापयित्वा, तदिष्टैकान्तभक्तियागेशपथं, शिरसि हस्तं निधाय ददाति, शपथस्ते भक्ति योगस्य, सत्यं ब्रूहि, किं मे कर्तव्यं, तदा धर्मसंकटा-दाह, कैंकर्य्यात्परं न रोचते, इति परिहास, इति दिक् । अत्र परस्परपरोक्ष-कौतुकलाभत्वान्नान्तरायः शंकयः । परोक्षं च मम प्रियं, यत्परोक्षप्रियो-देव, इति वत् कियान् हर्षः । प्रियाहृदिसिद्ध इति सहृदयगम्यः ॥७७॥

रसकलश

नायक या स्वामी—ऐसे मुझ कृष्ण की भक्तियोग दान करने का अधिकार या चरण से वाहन उस समय के सचिव-सहयोगी-होने का अधिकार तुम्हें दूँगा । तब सिर हिलाती हुई मानों प्रियतम के प्रस्ताव को अस्वीकार करती हुई सिर झुकाने के कटाक्ष व्यङ्ग्य से सखी ने कहा—कि उसे तो मैं सिर पर चढ़ाती हूं । अर्थात उस भक्ति को मैं नमस्कार करती हूं गौर तेज से अलग करके मुझे केवल श्याम तेज की सेवा करने की कोई अभिलाषा नहीं है इसलिये श्री वृन्दावन की सीमा में शपथ करके कहती है कि श्रीकिशोरी जी की किङ्करी होने से बढ़कर मेरे चित्त में कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यदि मुझसे सलाह लेने हो और मेरी बात मानते हो तो तुम्हें भी कैङ्कर्य से ही सिद्धि प्राप्त होगी । मैं सत्य कहती हूँ इस श्री वृन्दावन में श्री किशोरीजी का ही सम्पूर्ण साम्राज्य है यहाँ उनके संकेत को जानते हुए उनका रुख रखते हुए ही रहना चाहिये ।

अथवा धर्म आदि की उपेक्षा के अनन्तर सखी आग्रह देखकर प्रियतम को कौतुकी होने के कारण कुञ्ज की सीमा पर खड़ा करके उसको अपने इष्ट एकान्तभक्तियोग की शपथ सिर पर हाथ रखवा कर देती है, तुझे भक्तियोग की शपथ, सच कह, मुझे क्या करना होगा । तब धर्म संकट से कहते हैं—मुझे दासीभाव के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यही परिहास है । यहाँ पर परस्पर के परोक्षा में हास्य और कौतुक का लाभ तो है पर प्रियाप्रियतम में तो अन्तराय पड़ गया है यह शंका नहीं करना चाहिये । 'परोक्ष ही प्रिय होता है । इत्यादि के अनुसार यह परीक्षा का वार्तालाप भी प्रियाजी के हृदय में सिद्ध हुआ कितना महान् हर्ष है यह सहृयों के हृदय से जाना जाता है । ७७ ।

प्रथमक्रमे स्वरुचि परमनिष्ठोक्ताधर्मादिभक्त्यन्तसाध्यसाधन सादरानंगोकृतिश्च, इदानीं केवलकिशोरीस्वरुचिविषये शक्तिवादसंदिग्ध्यमनसां संशयं दूरी कुर्वन्, तत्तच्छक्तीः, पूर्ववत्सादरानंगीकुर्वन् च स्वसेव्यस्य साधारणलक्षणमाह इति—

प्रेम्णः सन्मधुरोज्वलस्य हृदयं श्रृंगारलीलाकला,-
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैवकापीशता ।
ईशनी च शची महासुखतनु शक्तिः स्वतन्त्रा परा,
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम ।।७८।।

पूर्वं किशोरीति केवलोक्तिः । स्वरूपतन्मयनिष्ठावैवश्यादेव, इदानीं माधुर्य्यमयदंपतिभावविशिष्टतां वक्ति । हृदयमवधिर्महिषीति विशेषणत्रयविशिष्टा राधैव मम सेव्या, नान्या । ग्रन्थपौर्वापर्य्यतात्पर्य्याम्नायवशाद्व्यवहितान्वयः सोढव्यः, । एवकारेण नैश्वर्य्ये तात्पर्य्यं, ननु रुचौ स्वेच्छा-

रसकलश

प्रथम अर्थ के क्रम में अपनी रुचि और परमनिष्ठा का वर्णन किया है और धर्म से लेकर भक्ति पर्यन्त सभो साध्यों और साधनों कों सादर अस्वीकृति भी कही है । अब केवल किशोरी ही अपनी रुचि का विषय हैं इस कथन में शक्तिवाद को सन्देह से व्याप्त मन वालों का संशय दूर करते हुए और उन शक्तियों को पूर्वोक्त प्रकार से सादर अस्वीकार करते हुए अपने सेव्य के असाधारण लक्षण का वर्णन करते हैं—

'शुद्ध, मधुर और उज्जवल प्रेम का हृदय, श्रृङ्गार लीला की कलाओं की विचित्रता, भगवान् को कोई अनिर्वचनीय परम अवधिभूता ईशता, ईशानी, इन्द्राणी और महासुख स्वरूपा परम स्वतन्त्र शक्ति यह सभी कुछ मेरे लिये तो श्री वृन्दावन नाथ की पट्टमहिषी श्रीराधा ही हैं जो मेरी एकमात्र सेव्या या आराधनीया हैं ।७८।

पहले तो केवल किशोरीमणि ही कहा था क्योंकि उस समय श्रीराधा जी के स्वरूप में तन्मयनिष्ठा से विवश थे । अब माधुर्यमय दम्पति भाव की विशेषता का वर्णन करते हैं । हृदय, अवधि और पट्टमहिषी इन तीन विशेषणों से विशेषित श्रीराधा ही मेरी सेव्य है अन्य कोई नहीं । ग्रन्थ के पूर्व और पश्चाद् भाव के तात्पर्य के सम्प्रदाय परम्परा से कथन किये जाने के कारण कुछ दूर का अन्वय भी सहन कर लेना चाहिये । 'राधा एव' श्रीराधा ही यहाँ पर एव या ही से यह ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य में तात्पर्य

विषयत्वान्न शंका । अपि च सेव्यत्वे कथमन्याः शक्तयो न सेव्याः, सर्वश्रुति-पुराणसिद्धत्वान्नावहेलनीया इत्याशयेन भगवतः कापीशता, ऐश्वर्य्यशक्तिः, पालिनीलक्ष्मीश्चेत्, तत्राह-पूज्यैवेति सादरानंगीकारः ।। ईशानी त्रिगुणात्मिकाशक्तिश्चेत् पूज्यैव । पुनः शचीत्रिलोकाधिष्ठात्री चेत् पूज्यैव, एवं क्रमेणोत्तममध्यमकनिष्ठत्वं तासामुक्तं, तत्रापि महासुखतनुस्तत्तल्लोके तत्तदधिष्ठातुर्वा भक्तानां महासुखं तनोतीति यथोपनिषदादौ सार्वभौममारभ्यागणितानन्दकंबृहदिति, उत्तरोत्तरलोकानन्दशक्तिः । केचित् स्वतन्त्रेति मूलप्रकृतिर्ब्रह्मेशविष्णुवादिरूपकर्त्रीति वदन्ति चेत्, केचित् परेत्यपरेतिचेत् साम्नातत्तदधिकारिसर्वलोकानां पूज्यैवेति न निन्दामि, न च स्तौमीति, शक्तीनां निंदका येति, सहस्रनामादौ दोषश्रवणादनसूयुसुनृतवाङ्मानदत्वं सद्धर्मः, वाग्निषेधमर्मस्पृक्कर्णकूटक्तिस्वप्रौढिकथनं नेत्यतः सर्वान् संतोष्य

रसकलश

नहीं है। कोई कह सकता है कि रुचि में तो अपनी इच्छा की बात है अतः वहाँ शङ्का नहीं करनी चाहिये। किन्तु श्रीराधा जी के ही सेव्य होने से प्रश्न होता है कि अन्य शक्तियाँ सेव्य क्यों नहीं हैं। वे सभी श्रुतियों और पुराणों में सिद्ध हैं अतः उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये इस आशय से भगवान् की कोई अनिर्वचनीय ईशता या ऐश्वर्य शक्ति जो सम्भवतः जगत् का पालन करने वाली लक्ष्मी रूपा शक्ति हो। उस पर कहते हैं कि वह ईशता भी केवल पूजनीय या सेवनीय है इस कथन द्वारा भी उनका आदर करके उन्हें सादर अस्वीकार कर दिया गया है। ईशानी जो सम्भवतः त्रिगुणात्मिका शक्ति है वह भी पूज्य ही है। (इस प्रकार इन शक्तियों का क्रम से उत्तम, मध्यम और कनिष्ठभाव कहा गया, उसमें भी महासुखतनु–उस उस लोक में उस उस शक्ति के अधिष्ठाता के लिये या भक्तों के लिये महासुख का तनन (विस्तार) करने वाली हैं। जैसा कि उपनिषद् आदि में सार्वभौम आनन्द से लेकर अगणित आनन्द वाले बृहद् तक उत्तरोत्तर लोकों की आनन्द शक्ति का वर्णन है। कई स्वतन्त्र शक्ति मूलप्रकृति को मानते हैं और कहते हैं कि वही मूल प्रकृति ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि रूपों को प्रकट करने वाली है ऐसा कहते हैं। कई उसे परा और अपरा कहते हैं। वह कहे गए उन उन सभी अधिकारी लोगों के लिये पूज्य ही है, मैं न तो उनकी निन्दा करता हूँ और न ही स्तुति। 'जो लोग शक्तियों की निन्दा करते हैं। इत्यादि वचनों द्वारा सहस्र नाम आदि स्तोत्रों में निन्दा करने के दोष सुने गये हैं और असूया–निन्दा–न करना, प्रिय और सत्य वचन बोलना, दूसरे को मान देना इत्यादि सत्पुरुषों के धर्म हैं। किसी की बात काटना, मर्म स्पर्शी और कर्ण कटुवाणी तथा अपनी प्रौढि दिखाना आदि सत्पुरुषों के धर्म नहीं हैं इसलिये सबको सन्तुष्ट करके अपने रुचिभेद से किसी को

स्वरुचिभेदेतु न कोऽपि दुष्येदिति महल्लक्षणं, तथोक्तं कर्णानन्दे:—श्रीहित-स्वरूपं, अपूर्वमानप्रदः सदामधुरवाक्पटुरितिहेतोः।

पूज्योक्तौ पूजा न शंक्या, यथा परगुरुप्रश्ने पूज्योक्तिर्घटते, स्वगुरौ-सेव्योक्तिरिति। अथ सर्वान् संश्राव्य सेव्या मम श्रीराधैवेति वच्मि, केवल-गौरतेजस्तत्त्वनिष्ठया शाक्तत्वे मा संशयं कुरुतेति भावः, मद्धृदयं निश्चित्य-वद्तेत्यनुध्वनिः। अथवा सहस्रनामादौ लक्ष्मीरोशानीशचीशक्तिस्वतन्त्रा परेत्यादिनाम्नां किमाशय इतिप्रछ्यामानानान् प्रत्युक्तिः, सर्वनामशक्तयः पूज्या एव, मम तु वृन्दावनविशिष्टतन्नाथविशिष्टराधानाम्नी सेव्या। अत्रायं भावः, 'राधया माधवो देवो माधवेनैवराधिका।

विभ्राजन्ते जनेष्विति ।। 'एको रसो वैद्विधाभूतो, राधामाधवरूपकः ।। इत्यनेन श्रीराधायाः श्रीकृष्णाभिन्नत्वं, 'श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति।

रसकलश

दोष नहीं लगता यह महापुरुषों का लक्षण है जैसा कि श्रीकर्णानन्द में श्रीहिताचार्य का स्वरूप कहा गया है कि विलक्षण मान देने वाले थे तथा सदा मधुर वचन बोलने में निपुण थे।

यहाँ पर 'पूज्यैव कापीशता' में भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति को पूज्य ही कहा गया है किन्तु उसका अर्थ उन उन अधिकारी जनों के द्वारा पूज्य है, श्रीहिताचार्य द्वारा उनकी पूजा की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। जैसे किसी के गुरु के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करे तो 'वे पूज्य हैं, ऐसा कहना उचित होता है और अपने गुरु के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर 'वे सेव्य हैं' ऐसा कहना। वैसे ही यहां ऐश्वर्य शक्ति आदि को पूज्य और श्रीराधा जी क सेव्य कहा गया है। अब सब को सुनाकर कहते हैं कि मेरी सेव्या तो श्रीराधा ही हैं।' केवल गौर तेजस्तत्त्व में निष्ठा के कारण मेरे शाक्त होने का संशय मत करो' यह भाव है इसमें से मेरा हृदय यह बात निश्चित करके कह रहा है यह ध्वनि निकलती है अथवा सहस्र नाम आदि में लक्ष्मी, ईशानी शची, स्वतन्त्रता शक्ति पराशक्ति' इत्यादि नामों का क्या आशय है ऐसा पूछने वालों को उत्तर देते हैं कि सभी नामों वाली शक्तियाँ पूज्य हैं किन्तु मेरे लिये तो वृन्दावन से विशिष्ट और उसकी स्वामिनी होने से विशिष्ट श्रीराधा नामक निकुञ्ज देवी ही सेव्य है। इसका यह भाव है कि—'राधा से माधवदेव और माधव से राधा देवी, सखीजनों के मध्य में सर्वथा विराजमान हैं।' इत्यादि एक ही रस दो रूपों में प्रकट हो गया है जिनके नाम राधा और माधव हैं।' इत्यादि वचनों से श्रीराधा जी का श्रीकृष्ण से अभिन्न होना और 'श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इत्यादि वचन से उनका भगवान् होना

तत्र विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता, क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा । अविद्याकर्मसंज्ञान्या । आत्मेश्वरोऽतर्क्यः सहस्रशक्तिरिति 'मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या, कैवल्ये स्थित आत्मनि' । इत्यादिनानन्तशक्तयः, सर्वत्र व्यापिकास्तस्य सन्तीति प्रसिद्धं, अतस्तत्समन्वयमनुसृत्य तत्तच्छक्तिनामोक्तिरित्यभेदसिद्धान्तः । शक्तित्वेऽपि श्रूयतां, यथा श्रीकृष्णस्य पूर्णैश्वर्य्योपासकैर्व्रजराजनन्दन एव सेव्यते, एवं सर्वानुस्यूतशक्तित्वे केचित् किमपि ईशितादि शक्तिनाम वदन्तु, तदपि बृहद्-वृन्दावनालयेत्यर्थविशिष्टा श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी श्रीराधैव सेव्येति को दोषः ।

एवमैश्वर्य्यमुक्त्वा माधुर्य्यं विशिनष्टि, सन्मधुरोज्वलस्य प्रेम्णो हृदय-मिति । सदिति जातावुत्कृष्टत्वं, सांसारिकासद्भावो व्यावृत्तः । मधुरमिति गुणत उत्कृष्टं, तिक्तकट्वम्लवद्रसान्तरनिर्णायकनानाकविवर्णितनायकान्तर-भेदवत्त्वं व्यावृत्तम् । उज्ज्वलमिति, व्यक्तित उत्कृष्टं,अनेककर्कशमालिन्यादि-

रसकलश

सिद्ध ओर प्रसिद्ध है । वहाँ विष्णु शक्ति को परा शक्ति कहा गया है । और क्षेत्रज्ञा को अपरा । कर्म नामक अपरा शक्ति अविद्या है और आत्मेश्वरी तो अतर्क्य सहस्र शक्ति है ।' इत्यादि 'चित् शक्ति से माया शक्ति का निराकरण करके कैवल्य स्वरूप आत्मा में स्थित होता है ।' इत्यादि अनन्त शक्तियाँ कही गई हैं । भग-वान् की वे सब शक्तियाँ सर्वत्र व्यापक हैं यह भी प्रसिद्ध है । अतः उनके समन्वय का अनुकरण करके उन उन शक्तियों के नाम लेना यह अभेद सिद्धान्त की स्थापना है । शक्ति होते हुए भी सुनिये जैसे श्रीकृष्ण के पूर्ण ऐश्वर्य के उपासकों के द्वारा व्रजराज-नन्दन ही सेवित होते हैं इसी प्रकार सभी अनुस्यूत शक्तियों के रहते कोई किसी ईशता आदि शक्तियों का नाम लें तो भी 'बृहद्वृन्दावनालया' इस अर्थ से विशेषित श्री वृन्दावननाथपट्टमहिषी श्रीराधा ही मेरे द्वारा सेवित होती हैं इसमें क्या दोष है ?

इस प्रकार ऐश्वर्य का वर्णन करके अब माधुर्य के विशेषण कहते हैं—'शुद्ध मधुर और उज्ज्वल प्रेम का हृदय', सत् या शुद्ध शब्द से प्रेम का जाति से उत्कृष्ट होना तथा उसमें से सांसारिक असद्भाव का निवृत्त हो जाना सूचित किया जाता है । मधुर शब्द से प्रेम का गुणों से उत्कृष्ट होना तथा तिक्त, कटु, अम्ल इत्यादि अन्य रसों का निर्णय करने वाले अनेकानेक कवियों द्वारा वर्णन किये गये अनेकानेक नायक नायिकादि भेद वाला न होना ज्ञापित होता है । ऐसे ही 'उज्ज्वल' विशेषण से प्रेम का व्यक्तिगत रूप से उत्कृष्ट होना और अनेक कर्कशता, मलिनता आदि दोषों से मुक्त होना प्रतीत होता

वर्णव्यावृत्तिः। एतत्प्रेमस्वरूपानभिज्ञकविर्वाणतप्रेमा असदमधुरानुज्ज्वल इति व्यावृत्तिपदविषय एवेति भावः। तादृशालौकिकप्रेम्णः हृदयं सारमित्यजहल्लिङ्गम्। प्रेमानुरागरससागरसारमूर्त्तिरित्यभ्यासात्।

पुनश्च शृङ्गारलीलाकलानां वैचित्र्याः परमावधिः। कलावैचित्री कुत्रचिद् दृश्यतेऽपि क्वचिद् रमादिष्ववधिरपि, परन्तु परमावधिरत्रैवेति। अनेन सर्व्ववैदग्ध्यादिगुणगणानन्त्यमुक्तम्। एवमैश्वर्य्यपक्षे, सर्वोत्कर्षोऽस्त्येवापि लोकवल्लीलत्वेऽपि सर्वजय इति। कृताभिषेका महिषीति कोषात् कृतविवाहपरममंगलयज्ञाभिषेकात् लोकवल्लीलायां विवाहादिलालनं परस्परोभयकुलपूर्णपरिवारप्रेमास्पदत्वं च सूचितम्। नित्ये त्वस्त्येव नित्योत्सवादि। अत्र पट्टमहिषीत्यनेन अवरराज्ञ्योऽपि सन्तीति न शङ्क्यं, दाम्पत्यं समानयोरेव भवति, अतो मुनिश्रुत्यादिगोप्योऽन्यतत्त्वाः यादृक्स्वभावप्रेम्णा कृष्णं

रसकलश

है। इस प्रेम के स्वरूप से अनभिज्ञ कवियों के द्वारा वर्णन किया गया प्रेम असद् है अमधुर है और अनुज्ज्वल है अतः वह यहाँ से व्यावृत्ति या निवृत्ति का पात्र है। इस प्रकार के सत् मधुर उज्ज्वल विशेषणों वाले अलौकिक प्रेम का हृदय अर्थात् सार यहाँ पर अजहत्स्वार्था लक्षणा है। क्योंकि 'प्रेमानुरागरससागरसारमूर्ति' इस विशेषण का उनके लिये पुनः पुनः प्रयोग किया गया है।

दूसरा विशेषण है कि शृङ्गार लीला की कलाओं की विचित्रता की परम अवधि। कहीं कलाओं की विचित्रता देखी जाती है और रमा आदियों में उसकी अवधि भी पाई जाती है किन्तु कलाओं की विचित्रता की परम अवधि तो यहाँ (श्रीराधा जी में) ही है। इससे वैदग्ध्य या चतुरता आदि समस्त गुणगणों की अनन्तता का निर्देश कर दिया गया। इस प्रकार जैसे ऐश्वर्य पक्ष में उनका सब की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष है ऐसे ही लोकवत् लीला में भी वे सब को जीत लेती हैं। जिसका अभिषेक होता है वही महिषी-पट्टमहिषी—या पटरानी कहलाती है ऐसा कोषकारों का मत है। विवाहरूपी परम मङ्गलमय में अभिषेक किये जाने के कारण श्रीराधा भी पट्टमहिषी हैं। इससे लोकवत् लीला होने के कारण विवाहादि अवसरों पर लालन तथा परस्पर दोनों कुलों के समस्त परिवारों के प्रेम की पात्री होना भी सूचित होता है। नित्य लीलायें तो नित्य उत्सव आदि हैं ही। यहाँ पर श्रीराधा जी को पट्टमहिषी कहा गया है इससे अन्य रानियाँ भी हैं ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, दाम्पत्य या पतिपत्नीभाव तो समान कुलशील में ही होता है अतः मुनि और श्रुति आदि गोपी रूप धारण करने पर भी भिन्न तत्त्वमयी हैं। जैसा जैसा उनका भाव और प्रेम

संप्राप्य लब्धेहास्ततो मुक्ता भवार्णवात्, इत्यादिनिर्देशेन भक्तत्वे पर्य्यवसिताः कृपया श्रीकृष्णेन कृतार्थीकृताः, न तु कदापि सिंहासने स्थितिः । पुनश्च 'आधाय मूर्धनि यदापुरुदारगोप्य' इति प्रियाचरणरेण्वाधानेन दास्यपद-प्राप्तिः । पुनश्च, 'यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फूर्जित'मित्येनन स्वप्नेऽप्यन्यभावो न शङ्क्य इति । नन्दस्नुषा नन्दप्रियेति सर्वत्र प्रसिद्धेः । व्रजपतितन्महिष्योः प्रेमास्पदं गोविन्दवदिति व्रजेऽपि दम्पत्योरेव दाम्पत्यम्, नान्यासामिति । वृन्दावननामवैशिष्ट्येन श्रीकृष्णस्यानन्यनायकत्वं, रसिक-शिरोमणित्वं चोक्तम् ।

अथान्तरार्थापेक्षा चेदुच्यते—द्वितीयक्रमे प्रियवाक्यं हे हितालि ! यदुक्तं, कैंकर्य्यरसादन्यन्न रोचते, तन्ममाश्चर्य्यम् । अत्र श्रीवृन्दावने किमन्य-दस्तीति न जाने, जानीहि चेद्ब्रूहि, तत्र सोत्प्रासं सख्यधार्ष्ट्यमयेन उपेक्षा-

रसकलश

था, उसी उसीसे 'श्रीकृष्ण को प्राप्त करके मनोरथों की सिद्धि को प्राप्त हुईं, और संसार सागर से मुक्त हो गईं' इत्यादि निर्देश के अनुसार वे भक्तरूप में परिणत हो गईं, कृपा करके श्रीकृष्ण ने उन्हें कृतार्थ किया किन्तु उन्हें सिंहासन पर कभी आसीन होने का अवसर नहीं मिला । फिर 'श्रीराधा जी की चरणधूलि को मस्तक पर धारण करके ही उन उदार गोपियों ने गुणों के साथ बर्हापीड (मोरमुकुट) श्रीश्यामसुन्दर के कमनीय पदों को प्राप्त किया था' इत्यादि वचनानुसार उन्हें प्रियाजी की चरणधूलि को धारण करने के द्वारा ही दास्य पद की प्राप्ति हुई है और फिर 'जिनके चरण कमलों के नखरूपी चन्द्रकान्तमणि की छटा का कोई एक विलास गोपियों में देखा गया' इत्यादि के अनुसार भी उनमें अन्य किसी भाव की शङ्का नहीं करनी चाहिये । श्रीराधा जी तो नन्द की स्नुषा (पुत्रवधू) और नन्द के वात्सल्यमय स्नेह की पात्री के रूप में प्रसिद्ध ही हैं । 'व्रजमहीपति नन्द और उनकी महिषी (श्रीयशोदा) की गोविन्द के समान प्रेम की पात्री हैं' इत्यादि कथनानुसार तो व्रजलीला में भी श्रीराधा और श्री कृष्ण दोनों में ही दाम्पत्य भाव या पति पत्नी भाव है, अन्य किसी गोपी या श्रीकृष्ण में नहीं । वृन्दावन नामक धाम में तो विशेष रूप से श्रीकृष्ण का अनन्य नायक होना और रसिक शिरोमणि होना कहा ही गया है ।

अब यदि आन्तरिक अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं—द्वितीय क्रम में प्रियतम के वचन हैं—हे हितसखि ! जो कहा है कि दास्यभाव के रस से और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, यह मेरे लिये बड़े आश्चर्य की बात है । यहाँ श्री वृन्दावन में ऐसा कुछ अन्य क्या है मैं नहीं जानता, यदि तुम जानती हो तो कहो । तब भावविशेष और हावविशेष के साथ सख्यभाव के कारण धृष्टतापूर्वक उपेक्षा करने के बहाने प्रियाजी को प्रियतम

व्याजेन प्रियगुणान् प्रियां श्रावयन्त्याह-प्रेम्ण इति, हे श्रीवृन्दावननाथ ! ते पट्टमहिषी राधैव मम सेव्या, महाराजस्तेऽनेकगुणक्रियाबलसंपदस्ति पूज्यैव, न काभ्योऽपि मम प्रयोजनम् । यद्वा रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते । इति । अस्मत्प्राणसख्या वरत्वेन भवतः पूज्यत्वाद् गुणैश्वर्यक्रियाणां शक्तित्वेन स्त्रीत्वं, न तु रूपेण स्त्रीत्वं, यथा ईशस्य भाव ईशता, ईशानी त्रिगुणवत्ता, शची इन्द्रतेति । तदेवाह भगवतस्तव समस्तगुणगणाढ्यस्य नायकरसिकशिरोमणेरीशितैश्वर्य्यं पूर्णमस्त्येव, ईशानीति त्रिगुणाधिष्ठात्री, त्रयाणां कार्य्याणि श्रीकृष्णे यथार्हं ग्राह्याणि, यथा-शमो दमस्तपः साम्यमित्यादि सात्विकाः, हास्यं वीर्य्यं, बलोद्यम इत्याद्या राजसाः, दम्भो दर्पोऽभिमानश्चेति तामसाः, भगवत्यप्राकृता ज्ञेया इति भेदः, एतेभ्यः प्रियादास्यमुल्लंघ्य न प्रयोजनं, शची त्रिलोकाधिष्ठात्री, वृन्दावनपुरन्दरस्त्वं, कुञ्जनिकुञ्जनिभृतनिकुञ्जास्त्रिभुवनानि, पूज्यैव भवत्येव शोभते ।

रसकलश

के गुण सुनाती हुई श्री हितसखी बोली—हे वृन्दावन नाथ ! तुम्हारी पट्टमहिषी श्रीराधा ही मेरी सेव्य हैं । आप महाराज हैं आपके पास अनेक गुण, क्रियाएँ, बल और सम्पत्ति है वह तो पूज्य ही है उनमें से किसी से भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं है । अथवा 'देवादि के विषय में प्रीति भाव कहलाती है ।' इसलिये हमारी सखी प्राणप्रिय सखी के पति होने के कारण आप हमारे पूज्य हैं और इसी कारण आपके गुण, ऐश्वर्य, क्रिया शक्तिरूप होते हुए भी स्त्रीरूप नहीं है अर्थात् रूप से उन में स्त्रीत्व नहीं है जैसे ईश का भाव ईशता होती है पर वह स्वरूप से स्त्री नहीं होती । ईशानी त्रिगुणसत्ता का नाम है और शची इन्द्रता का नाम है । यही बात कहते हैं कि आप भगवान् हैं समस्त गुण गणों से पूर्ण हैं, नायकों और रसिकों में शिरोमणि हैं, आपमें ईशिता या ऐश्वर्य परिपूर्ण ही है, और जो ईशानी है तीनों गुणों की अधिष्ठात्री है यहाँ तीनों गुणों के कार्य श्रीकृष्ण में यथा योग्य समझ लेने चाहिये । जैसे—शम दम, तप, साम्य इत्यादि सात्त्विक हैं, हास्य, वीर्य,बल,उद्यम इत्यादि राजस हैं, दम्भ, दर्प, अभिमान आदि तामस हैं, यह सब भगवान् में अप्राकृत या अलौकिक समझने चाहियें । मुझे प्रियाजी के दासी भाव को छोड़ कर इनसे कोई प्रयोजन नहीं है । श्यामसुन्दर वृन्दावन के पुरन्दर या इन्द्र हैं ही, और शची त्रिलोक की अधिष्ठातृता भी इनमें है कुञ्ज, निकुञ्ज और निभृतनिकुञ्ज ही यहाँ तीन लोक हैं, यह त्रिलोकाधिष्ठातृता पूज्य ही है, यह आपको ही शोभा देती है ।

अथ महासुखरूपा तनुः श्यामसुन्दर आनन्दविग्रहश्चेत्पूज्यैव स्वतन्त्रा शक्तिः स्वामित्वं, न च दासवत्पराधीनता नायकगुणश्चेत् पूज्यैव परेति सर्वोत्तमत्वं, जातिव्यक्तिगुणैस्तदेव पूज्यम् यद्वा भगवतः क्रमेण षड्गुणाः, ईशता ऐश्वर्य्यम्. १. ईशानी यशः २. शची श्रीः ३. महासुखतनुर्व्वीर्य्यम्, ४. स्वतन्त्रा वैराग्यम् ५. परेति ज्ञानम् ६. ननु कथं मद्गुणोपेक्षा तत्राह, यैर्गुणैः सह भवान् सेवितुमारब्धस्तदा सेव्यायाः प्रियायाः संबन्धेन सर्वास्वादं स्वत एवानुभवामि स्वातंत्र्ये किं कार्यमिति । अन्यत् प्रेम्ण इत्यादि सर्वं समानम् ।

अथवा प्रियवाक्यं घनाश्चर्यकिशोरीकिङ्करी चेत्तत्स्वरूपं वदेति तत्र प्रियाविशेषणानि आह, पूर्ववत् प्रियाश्रवणम् भगवतस्तव गुणाढ्यस्येशता या तद्रूपेयं, तां विना न तव किमपि सामर्थ्यं हस्तकंकणस्य किं मुकुरे परीक्षणं तद्दर्शनं विना कीदृग्विह्वलोऽसीति पूज्यैव दैवत्वेनेत्यर्थः । अत एवेशानी, ईशं भवन्तमानयति जीवयति पोषयत्यधरमधुरासवामृतेनेति । अन् प्राणने कर्मण्यण्,

रसकलश

अब महासुखरूपा तनु–वह भी श्यामसुन्दर की ही है—क्योंकि वे आनन्द विग्रह माने गये हैं, वह भी पूज्य ही है । स्वतन्त्र शक्ति अर्थात् स्वामिभाव, न कि दास की सी पराधीनता रूपी नायक का गुण भी यदि श्यामसुन्दर में है तो वह भी पूज्य ही है, परा-सर्वोत्तमता जो जातिगत और व्यक्तिगत गुणों के कारण है वह भी पूज्य ही है अथवा भगवान् के छहों गुण क्रमशः—ईशता-ऐश्वर्य, ईशानी-यश, शची-श्री, महासुखतनु-वीर्य, स्वतन्त्रता-वैराग्य और परा-ज्ञान यह सभी पूज्य ही हैं । अब श्रीश्यामसुन्दर प्रश्न करते हैं मेरे गुणों की उपेक्षा क्यों है ? तब कहते हैं—कि जिन गुणों के साथ आप की सेवा प्रारम्भ की थी उनके सम्पूर्ण आस्वाद का सेव्या या आराध्या श्रीप्रिया जी के सम्बन्ध से स्वयं ही अनुभव करने लगी हूँ, फिर स्वतन्त्ररूप से उनकी सेवा करने की क्या आवश्यकता है ? इस आन्तरिक अर्थ में 'प्रेम्णः सन्मधुरोज्वलस्य' इत्यादि की व्याख्या पूर्व व्याख्या के समान ही है ।

अथवा प्रियतम का वाक्य है कि किशोरीमणि घन-अत्यन्त-आश्चर्यरूपा है यदि तुम उनकी किङ्करी हो तो उनका स्वरूप बताओ । इस प्रश्न पर श्रीहितसखी प्रियाजी के विशेषण कहने लगीं—जिसको पूर्ववत् प्रियाजी भी सुन रही थीं । उन्होंने कहा—आप छः गुणों से सम्पन्न भगवान् हैं आपकी जो ईशता है, वह ईशता ही उनका स्वरूप है अर्थात् उनके बिना आप में कोई सामर्थ्य नहीं है । 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' देख लीजिये आप उनके दर्शनों के बिना कितने विह्वल हो रहे हैं इसलिये देवता स्वरूप होने से वह पूज्य ही हैं यह अर्थ है । अत एव वे ईशानी भी हैं ईश को आनित या प्राणित करने वाली, जीवन दान देने वाली, अधरमधुरूपी मधुर आसव से पोषण करने वाली वे ही हैं । प्राणन या जीवन अर्थ की वाचक अन् धातु को प्रेरणार्थक 'आनि'

ङीप् । ईशस्य स्त्रीति विग्रहोऽसंभवः, इन्द्रवरुणेतिसूत्रे पाठाभावात् मनोरमायाम् । पुनश्च शची वृन्दावनेन्द्राणी सर्ववृन्दावनकुञ्जनिकुञ्जादिनिधि सिद्धिसम्पद्विशिष्टा गृहेश्वरी, त्वदानन्ददात्री, ययैव महिष्या भवतो वृन्दावननाथत्वं शोभते, पुनश्चानन्ददातृत्वं किमुच्यते, महासुखतनुरानन्दरूपैवेति । पुनः स्वतन्त्रा भवदासक्तसेव्या आसज्यत्वेन, न च गृहिणीवत् पराधीना, भवानपि तदिंगितानुकूल्येन प्राञ्जलिस्तिष्ठति, नानीदृशत्वं तस्याः शोभनम्, अत एव परा, रसस्येयमेव पराकाष्ठा । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा । अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् । यथा च नाथेति परुषमुचितं प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र । तद्दाम्पत्यमतोऽन्यन्नारीरज्जुः पशुः पुरुष इति रसाचार्य्यभरतोक्तेः प्रेम्णो हृदयं, शृङ्गाराद्यवधिरिति पूर्ववत् । एतादृशो घनाश्चर्य्या ते महिषीति दिक् ॥७८॥

रसकलश

से कर्म में अण् प्रत्यय करके उससे स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् करके आनी शब्द बना लिया फिर ईश की आनी को 'ईशानी' कहा गया है क्योंकि ईश की स्त्री को ईशानी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'इन्द्रवरुणभवशर्वमृड' इत्यादि सूत्र में ईश शब्द का पाठ नहीं है ऐसा मनोरमा में विचार किया गया है। फिर शची—वृन्दावन की इन्द्राणी—समस्त वृन्दावन कुञ्ज, निकुञ्ज, आदि की निधियों सिद्धियों और सम्पत्तितों से विशिष्ट गृह की स्वामिनी जो आपको आनन्द देने वाली हैं और जिनके पटरानीपन के द्वारा आपका वृन्दावननाथ होना भी सुशोभित होता है फिर आपके आनन्ददाता होने का तो क्या कहना ? महासुखतनु अर्थात् वे तो आनन्दरूपा ही हैं। फिर वे स्वतन्त्रा हैं आप आसक्त भाव से उनकी सेवा करते हैं क्योंकि वह आपकी आसज्या हैं, वे गृहिणी के समान आपके अधीन नहीं हैं। आप भी उनके इंगित के अनुकूल—उनका रुख रखते हुए—हाथ जोड़े रहते हैं, उनका ऐसा न होना भला मालूम नहीं देता अतः वे परा हैं, रस की ऐसी ही पराकाष्ठा हैं। 'प्रसिद्ध औचित्य का बन्धन करना तो रस की पराकाष्ठा है। और अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है।' इत्यादि वचनों द्वारा यही कहा गया है। जैसे कि 'नाथ' यह सम्बोधन कठोर वचन है, 'प्रिय' यह सम्बोधन उचित है और 'दास' यह सम्बोधन तो अनुग्रह या कृपा ही है, और जहाँ दाम्पत्य भी लोक से विलक्षण है क्योंकि नारी रज्जु है और पुरुष पशु है ऐसा रसाचार्य भरत का वचन है यहाँ भी 'प्रेम का हृदय' 'शृङ्गार आदि की अवधि' इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये। ऐसी घनआश्चर्य रूपा आपकी पटरानी हैं।' यह संक्षेप में श्रीहितसखी ने श्यामसुन्दर के प्रश्न का उत्तर दिया ॥७८॥

एवं श्रीराधादास्यं विधिमुखेनोक्त्वाधुना व्यतिरेकमुखेन सोपपत्तिक-माह—राधादास्यमिति—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया,
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति ।
किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः ॥७९॥

यः कश्चिद्राधादास्यमपास्य त्यक्त्वा गोविन्दसङ्गाशया प्रकर्षेण यतते, इत्यत्र ल्यप् पूर्वकालार्थद्योतनेन, प्राक् तदीयत्वेन वृतः सन्, तद् दास्यं त्यक्त्वेति बुद्धिपूर्वकत्यागोऽत्र, न च प्रागेव तद्दास्यानभिज्ञतया । अनभिज्ञस्य कदाचित् प्रियादास्यरुचिरपि स्यादिति गोविन्दसंगोऽत्र भिन्नतया केवलसंगः अन्यथा कुञ्जे तु सदैव संग इति तत्रापि प्रकर्षेणेति सोऽयमेतादृश उपेक्षकः पूर्णस्य सुधारुचेश्चन्द्रस्य परिचयं दर्शनमात्रं वा ज्ञानमात्रं, राकां पूर्णमासीं

रसकलश

इस प्रकार श्रीराधा जी की दासी होने की बात विधिरूप से कहकर अब व्यतिरेक के रूप में युक्ति सहित कहते हैं—

'श्रीराधा जी के प्रति दास्यभाव को छोड़कर जो गोविन्द का संग पाने की आशा से प्रयत्न करता है, वह पूर्णिमा के विना पूर्ण चन्द्रमा का परिचय पाना चाहता है। ऐसे ही जो श्याम के प्रीति प्रवाह की लहरों की बीजभूता उन (श्रीराधा) को नहीं जानते वे महा अमृत के सागर को प्राप्त करके भी आश्चर्य है कि केवल एक विन्दु को प्राप्त कर पाए हैं ॥७९॥

जो कोई राधाजी के प्रति दास्यभाव को त्यागकर गोविन्द के सङ्गलाभ की आशा से प्रकृष्ट यत्न करता है। 'अपास्य' (त्याग कर) में ल्यप् प्रत्यय से पूर्वकाल को द्योतित करने के द्वारा पहले उनका होने के नाते स्वीकार किया गया फिर उस दास्य भाव को त्याग कर, यहाँ त्याग बुद्धिपूर्वक किया गया है नकि पहले से ही उनके प्रति दास्यभाव की अनभिज्ञता के कारण उसका त्याग है। क्योंकि अनभिज्ञ को तो फिर भी कभी श्री राधाजी के प्रति दास्यभाव में रुचि हो जाएगी यहाँ पर गोविन्द सङ्ग भी श्रीराधा से भिन्न या पृथक् केवल गोविन्द का संग कहा गया है। अन्यथा कुञ्ज में तो सदा संग है। उसमें भी प्रकृष्ट यत्न करता है कहने का यह तात्पर्य है कि यह ऐसा उपेक्षाशील है। पूर्ण चन्द्र का परिचय अर्थात् दर्शन या ज्ञान पूर्णिमा के बिना चाहता

विनां काक्षति, मनसाऽघटितेच्छोरघटितैव पर्यवसितिर्नतु सिद्धिः । चन्द्रे पूर्णता षोडशकलयैव स्यादमृतस्रवणं चेति प्रसिद्धिः । यथेशस्येशतयेति । चदि अल्हादने दीप्तौ चेति तद्धर्मः । अर्थात् पूर्णता तु श्रीराधयैवेत्यर्थः ।

ननु गोविन्दभक्तिकृतयत्नो निष्फलोऽपितु न स्यात्, कदाचित्तत्सङ्गप्राप्तौ किमानन्दः स्यादित्यत्राह, किञ्चेति, उपपत्तिमाह, ये श्यामरतिप्रवाहलहरी-बीजं तां न विदुस्ते महामृताम्बुधिं प्राप्यापि, अहो आश्चर्य्ये, परं केवलमेकं बिन्दुं प्राप्नुयुः, किं न प्राप्नुयुरित्यर्थः श्यामः अत्यगाधरसमयकैशोरलावण्य-स्तस्य रतिः सहजशृङ्गारस्थायिनी प्रीतिस्तस्य प्रवाहस्य लहरीणां बीजं कारणं तां श्रीराधां, यद्दर्शनाद्रतिलहर्य्युज्जृम्भणं भवति, तद्धेत्वनभिज्ञास्ते, महामृतसिन्धुं श्रीकृष्णमिति । बिन्दोरप्यप्राप्तिस्तदा यथेष्टपानं निमज्जनं च कुतः । अत एव प्राप्त्यनन्तरं, पूर्णरसबिन्दुप्राप्तिर्गोपीनां, श्रुत्यादीनां, 'तत आधाय मूर्धनि' इत्यादिना दास्यप्राप्तौ सर्वं सिद्धमिति भावः ।

रसकलश

है । मन से यदि कोई असम्भव वस्तु की कामना करेगा तो उसकी कामना पूरी नहीं होगी, उसे सिद्धि नहीं मिलेगी । चन्द्र में तो पूर्णता सोलह कलाओं से ही आएगी और अमृत भी तभी चुएगा । ऐसा प्रसिद्ध है । जैसे ईश की ईशता तो सोलह कलाओं से ही होगी । अर्थात् पूर्णता तो श्री राधा जी से ही आएगी । यदि धातु आह्लाद देने और प्रकाशित करने के अर्थ में है इसी से 'चन्द्र' शब्द बना है आह्लाद देना और प्रकाश करना यह चन्द्रमा का धर्म है ।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि श्री गोविन्द की भक्ति के लिये किया गया प्रयत्न निष्फल भी तो नहीं हो सकता, कभी न कभी तो उनके संग को प्राप्ति होगी ही तो उसमें कैसा आनन्द होगा ? इस पर कहते हैं 'किञ्च श्याम' इत्यादि । यह उपपत्ति वचन है—जो श्याम के प्रीति प्रवाह की लहरियों की बीजभूता श्रीराधा को नहीं जानते, वे महा अमृत सागर को प्राप्त करके भी अहो ! आश्चर्य की बात है कि केवल एक बिन्दु ही प्राप्त कर पाते हैं । अर्थात् कुछ भी नहीं प्राप्त कर पाते । श्याम तो अति अगाध रस से पूर्ण नित्य किशोर अवस्था और नित्य लावण्य से युक्त हैं उनकी प्रीति सहज शृङ्गाररस की स्थायिभावरूपा है, उसके प्रवाह की लहरियों की बीज करण उन श्रीराधा को, जिनके दर्शन से प्रीति की लहरियाँ उमड़ने लगती हैं. उसके कारण को न जानने वाले महा अमृत सागर श्री श्यामसुन्दर को प्राप्त करके भी बिन्दु का भी लाभ प्राप्त नहीं कर पाते तब यथेष्ट रसपान और रसनिमज्जन तो भला कैसे प्राप्त कर सकते हैं । अतएव श्रीकृष्ण की प्राप्ति के बाद भी श्रुतिरूपी गोपियों को पूर्ण रसबिन्दु की भी प्राप्ति न हुई किन्तु 'आधाय मूर्धनि' इत्यादि श्लोक में कहे गये क्रम से दास्यभाव की प्राप्ति होने पर उनके सब मनोरथ सिद्ध हो गये, यह भाव है ।

अत्र पूर्वं तु चन्द्रत्वं कृष्णस्य राकात्वं तस्याः, द्वितीये पूर्णचन्द्रत्वं श्रीराधायाः, श्रीकृष्णस्य च समुद्रत्वं, चन्द्रदर्शनेन समुद्रोज्जृम्भणं भवति, प्रेमास्पदसन्निधानेनैव प्रेमाश्रयस्यानन्दः प्राप्यते न तु केवलस्येति । यथा कश्चित् स्वामिसेवायां लग्नोऽपि न स्वामीङ्गितेष्टानिष्टहार्दज्ञस्तदा कथं तया प्रसाद्य तदीययथार्थफलं प्राप्नुयादितिवत् गोविन्दस्य प्रेमास्पदो विचारणीयः । केन स तुष्येत्, कुत्रापि तस्यासक्तिर्यया तादृशेशस्य विगलितवेद्यान्तरता स्यात् ।

यद्येव विद्युस्तदा तु न कदापि प्रस्तुदास्यमपास्येयुरिति । अत्रायं भावः, अस्मिन् मार्गे वैलक्ष्यण्यमिदमेव सर्वविश्वप्रेमास्पदतमः श्रीकृष्ण एतत्पर्यन्तं सर्ववेदशास्त्रपुराणागमसिद्धान्तपर्यवसितिः, नोत्तरस्मिन् प्रियातत्त्वेऽत एव, 'यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिका' मिति 'श्रुतिः किं शिरोऽप्यारोढुं क्षमते', इत्याद्युक्तं, तत्र त्वं प्रकटलीलाप्रादुर्भावेऽपि व्रजरसजवनिकागोपितं यदा

रसकलश

यहाँ पर पूर्वार्ध में तो पूर्ण चन्द्रत्व श्रीकृष्ण में और पूर्णिमात्व श्रीराधा में प्रदर्शित है और उत्तरार्ध में पूर्ण चन्द्रत्व श्रीराधा में तथा समुद्रत्व श्रीकृष्ण में आरोपित है। चन्द्र दर्शन से ही तो समुद्र में उभार आता है। प्रेम के पात्र के सन्निधान में ही प्रेम को आनन्द प्राप्त होता है बिना प्रेमपात्र के नहीं। जैसे कोई स्वामी की सेवा में संलग्न रहता हुआ भी स्वामी के इङ्गित से उनके अभीष्ट या अनिष्ट भाव को नहीं जानता तब वह उस सेवा द्वारा उसे प्रसन्न करके उस सेवा का वास्तविक फल कैसे प्राप्त कर सकता है, ऐसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये और पहले श्री गोविन्द की प्रेमास्पद श्री राधाजी का ध्यान रखना चाहिये। विचारना चाहिये कि हमारी किस बातसे श्याम सुन्दर प्रसन्न होंगे, उनकी किस पर आसक्ति है जिसके द्वारा उन ऐसे प्रभु को भी विगलितवेद्यान्तरता 'अन्य वस्तु के ज्ञान का लोप' या एकान्तता प्राप्त होगी। यदि वे जान जाएँ तो कभी भी प्रस्तुत दास्य-श्री राधाजी के प्रति दास्यभाव-का परित्याग न करें। यहाँ यह तात्पर्य है, इस मार्ग में यही विचित्रिता है सम्पूर्ण विश्व के प्रेम के परम-पात्र केवल श्रीकृष्ण हैं और यहीं तक समस्त वेदों, शास्त्रों, पुराणों और तन्त्र शास्त्रों के सिद्धान्तों का पर्यवसान या समाप्ति है। इससे आगे श्री प्रियातत्त्व के विषय में उनकी कोई गति नहीं है, इसीलिये जिनके चरण कमल की धूलि की एक कणिका भी' इत्यादि और 'वेद क्या ? उनका सिर वेदान्त भी उस 'राधा तत्त्व' तक आरोहण करने में समर्थ नहीं हो सकता हैं। इत्यादि वचन कहे गए हैं। ऐसी अवस्था में प्रकट लीला के प्रादुर्भाव में भी गोपी व्रजरस की जवनिका बनी रहती है, किन्तु जब श्रीहित

श्रीहितालिभिः प्रादुर्भूय गोप्यमपि श्रीराधातत्त्वं प्रकाशितं, तदैव श्रीकृष्णः प्रेमास्पदतमो ज्ञातः, अत एव वक्ष्यति, "यज्जप्तं, सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकं तत्क्षणात्" इत्यादि कदाचिद्वात्सल्यदास्यसख्याधिकारिणः स्वस्थायिप्रीतिरसं प्राप्नुवन्तु, परन्तु युगलसंयोगताद्दशप्रेमामृतबिन्दुं तु न प्राप्नुयुरन्यरसान्तरप्राप्तौ नास्मत्संघर्ष इति, एष दास्योपेक्षकः पूर्वश्रृङ्गाराधिकारी ज्ञेयः, अतोऽस्य न कुत्रापि केवलसंगे सुखमिति ।

ननु महामृतसिन्धूक्तौ कथं तत्प्राप्तौ विन्दुमाप्नुयात्, तत्रैवं ज्ञेयम्, प्रथमं तु - उज्जृम्भिततरंगोच्छलनवेलाबहिःपतितजलप्राप्तयर्हत्व एवैकदेशीयदृष्टान्तः । अथान्यच्चापि चन्द्रोदयहेतुकोदधितरंगोज्जृम्भणज्ञानं विना दिवैव माहात्म्येन तद्दर्शनं, कौतुकं दृष्ट्वा प्रत्यागच्छन्तु, न च तेषां चन्द्रोदयसमयज्ञानजानन्दलहरीप्राप्तिः, साक्षान्मध्यप्रवेशस्तु महासिन्धुत्वाद्दुर्गमः किमस्य सामर्थ्यम् । अतो यदा दम्पतिमिलने यत्सुखोज्जृम्भणं तदनिर्वाच्यं सहृदय-

रसकलश

सखीजी ने प्रकट होकर परम गोपनीय श्रीराधातत्त्व का प्रकाश किया तभी श्रीकृष्ण परम प्रेम पात्र हैं, यह बात ज्ञात हो गयी । इसीलिये आगे कहेंगे—जिस 'राधा' नाम का एक ही बार जाप, श्री गोकुलपति श्यामसुन्दर को तत्काल आकर्षित कर लेता है, इत्यादि । इस प्रकार उन श्रीकृष्ण के आधार पर वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि के अधिकारी अपने अपने स्थायिभाव के रूप में स्थित प्रीति के रस (वात्सल्य रस, दास्यरस और सख्यरस आदि) को प्राप्त करें परन्तु युगल (प्रिया और प्रियतम दोनों) के संयोग में होने वाले वैसे प्रेमरूपी अमृत की तो बूँद भी नहीं प्राप्त कर पाते इसमें हमारा कोई आग्रह या संघर्ष नहीं है । केवल इतना ही कहना है कि यह दास्यभाव की उपेक्षा करने वाला पूर्वोक्त श्रृङ्गार का अधिकारी नहीं जाना जाना चाहिये अतः इनको कहीं भी केवल सङ्ग में सुख नहीं है ।

अब प्रश्न होता है कि जब आपने श्यामसुन्दर को महा अमृत सागर कह दिया तब उनकी प्राप्ति में बिन्दु की प्राप्ति कैसे ? इस पर समझना चाहिये कि पहले तो उमड़ती हुई तरङ्गों के उछलने के समय बाहर पड़े हुए जल को प्राप्त करने की योग्यता मात्र थी यह एकदेशीय दृष्टान्त है । और दूसरी बात यह भी थी कि चन्द्रोदय के कारण समुद्र की तरङ्गों के उमड़ने के ज्ञान के बिना ही दिन में ही माहात्म्य दृष्टि से समुद्र को देखा और कौतुक को देखकर लौट आये उन्हें चन्द्रोदय के समय के ज्ञान से होने वाली आनन्द लहरियों की प्राप्ति नहीं हुई । साक्षात् समुद्र के मध्य में प्रवेश करना तो इसके महासिन्धु होने से कठिन है, इस साधक की सामर्थ्य हो क्या है ? इसलिये जब दम्पति का मिलन हुआ उस समय जो सुख उमड़ा, वह सुख अनिर्वचनीय है, उसे

गम्यमेवेति सुधारुचिसुधासिन्ध्वोरेकवास्तवमपि दर्शितम्। चन्द्रस्याधिदविकत्वमपि चेति।

अथार्थान्तरोऽपेक्ष्यते तत्राह, द्वितीयक्रमे तदेवं प्रियाया दास्यस्य च स्वरूपमुक्त्वेदानीं, दाम्पत्येऽपि शुद्धासक्तिं प्रिये दृढयति, हे गोविन्द ! सर्वकरणैकसेवितगौरीक प्रियादास्यप्राप्त्यनन्तरं, अर्थात् सखीवेषे कृतेऽपि, वा पूर्वमेव दासे सति, संगस्य संभोगस्याशया यो भवान् प्रयतते, अनंगविवशः स्यात्तदा तत्सुकुमार्य्या मुग्धायाः पूर्णाह्लादधर्मो न दृष्टिपथमेष्यति, यद्यत् प्रियायां लीलालावण्यामृतस्रवणं, यन्निर्बन्धेन भवान् मत्तः श्रोतुमिच्छति, तन्न प्राप्नुयात्, किञ्च न नायकत्वं सेत्स्यति। पुनः हे श्याम ! ये सखीजनाः केचित्त्वां शिक्षयन्ति दास्यं विना संगम्, ते रतिप्रवाहलहरीबीजं प्रियां न विदुः। किञ्च सेवयैव प्रवाहलहर्य्यो वर्द्धन्ते, न केवलं कामुकत्वेनेति। ते महामृताम्बुधिं प्रियां प्राप्यापि, परं केवलं बिन्दुं प्राप्नुयुः, कदाचिन्न च पानं, मज्ज-

रसकलश

सहृदयजन ही जान सकते हैं इस प्रकार सुधारुचि (चन्द्र) और सुधासिन्धु (समुद्र) दोनों का एकत्र निवासी होना या वास्तव में एक होना भी दिखा दिया गया और चन्द्र का आधिदैविक रूप भी बता दिया गया है।

यहाँ यदि अन्य अर्थ को अपेक्षा हो तो बताते हैं, दूसरे क्रम में इस पद्य का यह भाव होगा कि पूर्वोक्त प्रकार से प्रिया जो के प्रति दास्यभाव का स्वरूप कहा अब दाम्पत्य भाव होते हुए भी प्रियतम की प्रिया जो के प्रति विशुद्ध आसक्ति के सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं—हे समस्त इन्द्रियों से एकमात्र सेवित हुई है गौरी (श्रीराधा) जिससे ऐसे गोविन्द, प्रिया जी के प्रति दासी भाव की प्राप्ति के बाद अर्थात् सखीवेश बनाकर भी या पहिले से ही प्रिया जी के दास होते हुए भी आप जो उनके सङ्ग की आशा से प्रयत्न करते हैं। अर्थात् काम से विवश हो जाते हैं तो सुकुमारी और मुग्धा श्रीराधा के पूर्ण आह्लाद धर्म का तुम्हें दर्शन प्राप्त नहीं होगा। जो प्रिया जी में लीलापूर्वक लावण्यामृत की वृष्टि करने का स्वभाव है, जिसे आग्रह से आप मुझसे सुनना चाहते हैं, वह आपको प्राप्त न हो सकेगा, अर्थात् आपको दास्य की अपेक्षा नायकत्व ही प्राप्त होगा। और फिर हे श्याम ! जो सखीजन आपको दास्यभाव के बिना संगम सिखाते हैं वे प्रीति के प्रवाह की लहरों की बीजभूता श्रीप्रिया जो को नहीं जानते। वास्तव में सेवा से ही वे प्रीति प्रवाह की लहरें बढ़ती है केवल कामुक भाव से नहीं। वे सखीजन महान् अमृत सागर रूपी श्रीप्रिया जो को प्राप्त करके भी केवल बिन्दु को ही प्राप्त हुई है। उन्होंने इस अमृत का न कभी पान किया है और न स्नान। इसलिये यदि आप

नमिति । अतो मां पृच्छसि, तदा दास्यमेव वरम् । अनेनेङ्गितज्ञतया प्रिया-प्रसादं सार्व्वदिकं प्राप्स्यसि, न च लौल्यजमानादिनेति । अथ नवनवकेलि-कौतुकतरंगाः प्रियासमुद्राद्दुद्भविष्यन्ति, किं वच्मि तन्महिमानमिति भावः ॥७६॥

प्रथमक्रमे प्रस्तुतदास्योपेक्षकस्य तादृशानन्दानवाप्तिरुक्तेदानीं किमहमन्यान् शोचामीति सर्वतो विरज्य वस्तुन्येव मनो निधाय तादृशभावुकस्वसजातोयस्वरूपं दर्शयन्नमस्करोति । अथवा प्रागेव भगवद्भक्तास्ततः परं परमरहस्यश्रीराधारसे लग्नास्तान्नमति—

कैशोराद्भुतमाधुरीभरधुरीणाङ्गच्छविं राधिकां,
प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्ति ये तद्धियः ।
त्यक्ताः कर्मभिरात्मनैव भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः,
सर्वाश्चर्य्यगतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः
॥८०॥

रसकलश

मुझे पूछते हैं तो मेरी सम्मति से तो दास्यभाव ही ठीक है । इससे मनोभाव जानने के कारण प्रिया जी की प्रसन्नता सदा के लिये प्राप्त कर लोगे, अपनी चञ्चलता से यदि उनके मन में मान (प्रणय कोप) उत्पन्न कर बैठोगे तो वह प्रसन्नता प्राप्त न होगी । दास्यभाव से तो नवीन नवीन केलि कौतुक रूपी तरङ्गें श्रीप्रिया रूपी सागर में से उत्पन्न होंगी, मैं उनकी महिमा का क्या वर्णन करूँ यह भाव है ।७६।

प्रथम अर्थ वाले क्रम में प्रस्तुत(श्री राधा जी के) दास्य भाव की उपेक्षा करने वाले को वैसे आनन्द की प्राप्ति न होना कहा, अब मैं औरों की क्या चिन्ता करूँ? सब ओर से विरक्त हो कर उसी वस्तु में मन लगा कर वैसे भावुक अपने सजातीयों के स्वरूप का निदर्शन करते हुए उनको नमस्कार करते हैं । अथवा पहले जो भगवद्भक्त थे फिर परमरहस्यभूत श्री राधा रस में मग्न हो गए उन भावुकों को नमस्कार करते हैं ।

'किशोरावस्था की अद्भुत माधुरी के अतिशय का भार वहन करने वाली हैं श्री अङ्गों की छवि जिनकी, और जो प्रेम के अत्यन्त उल्लास से सब अतिक्रमण कर गई हैं ऐसी श्री राधिका जी का जो तदाकार बुद्धि (अन्तः करण) हो कर ध्यान करते हैं जिनको कर्म अपने आप छोड़ गए हैं अहो ! जो भगवद्धर्म में भी ममता नहीं रखते जो सब के लिए आश्चर्यमयी रसमयी गति को प्राप्त हो चुके हैं उन महान् भावुकों को नमस्कार है ।८०।

और फिर स्वयं भी तो 'अत्यन्त स्नेह से ऊँचे स्वर से श्री हरि के नामों का कीर्तन करते हुए । इत्यादि वचनों द्वारा स्वंम भी वैसे साधन द्वारा ऐसे साध्य की प्राप्ति हुए यह बात कह ही चुके हैं, वही यहाँ पर अतिस्पष्ट कर के कहते हैं ।

किञ्चातिस्नेहादुच्चैरिति स्वेनापि तादृशसाधनेन तत्साध्योक्तेः कैशोरेति अद्भुतेत्यत्र लोकवेददृष्टश्रुतादृवैलक्षण्यं, कैशोरमाधुर्यास्तद्भरस्याति-शयस्य धुरीणानामंगानां छविर्यस्याः, अंगानि प्रेममयानि तेन प्रेमसमवायेऽपि कैशोरवशात् प्रेम्णा, अत्युल्लासभरोऽधिको यस्यां, तादृशप्रेमवलित-कैशोरच्छविभरसमुज्जृम्भितामनिर्वचनीयस्वरूपां, श्रीराधिकां, ये तादृश-दास्यनिष्ठा निरवधिदेशकालादिनियमरहितं निरन्तरं यथा स्यात्तथा तद्धियः। स्वरूपध्यानभिन्नकामनारहिताः पूर्णममताविष्टा ध्यायन्ति, आनखशिख-समस्तव्यस्तरीत्या, कैशोरलीलाविशिष्टतया चिन्तयन्ति, ते कर्मभिर्नित्य-नैमित्तिकवर्णाश्रमदेहगतैरात्मनैव यदृच्छया निरवकाशेन स्वत एव त्यक्ताः। अतः स्वरूपत एव कर्मत्याग एषां न च फलत्यागः। कर्मत्यागश्चेति न चात्र विधिरीत्या। कर्मत्यागः अविच्छिन्नस्मरणानन्दवैवश्येनान्यस्मरणानव-काशात्, अनादरलज्जितैरिव कर्मभिरिति। यथा पुरपालकदूताश्चक्रवर्त्यव-

रसकलश

'कैशोराद्भुतमाधुरी' अर्थात् किशोरावस्था की अद्भुत माधुरी' इत्यादि विशेषण अद्भुत शब्द के द्वारा लोक और वेद में देखी और सुनी गई माधुरी से विलक्षणता सूचित होती है। ऐसी विलक्षण किशोरावस्था सम्बन्धिनी माधुर्य के अतिशय का भार वहन करने वाले श्री अङ्गों की है छवि जिनकी, श्रीअङ्ग प्रेममय हैं अतः प्रेम के साथ समवाय सम्बन्ध या नित्य सम्बन्ध होते हुए भी किशोरावस्था के कारण प्रेम के अत्यन्त उल्लास का अतिशय अधिक है जिसमें ऐसी प्रेम से आवेष्टित और किशोरावस्था की छवि के अतिशय से उमड़ पड़ी अनिर्वचनीय स्वरूप वाली श्रीराधिका को उस प्रकार की दास्यनिष्ठा वाले जो निरवधि अर्थात् देशकाल आदि के नियमों से रहित होकर निरन्तर भाव से उसी में बुद्धि (अन्तःकरण वृत्ति) को लगाकर स्वरूप के ध्यान से अतिरिक्त सभी कामनाओं से रहित और पूर्ण ममता से आविष्ट होकर ध्यान करते हैं, चरणनख से लेकर शिखापर्यन्त समस्त स्वरूप का अथवा एक एक श्रीअङ्ग का ध्यान करने की पद्धति से किशोरावस्था की लीलाओं से विशिष्ट होने के रूप में चिन्तन करते हैं। वे कर्मों—नित्य, नैमित्तिक, वर्ण, आश्रम और शरीर से सम्बद्ध धर्मों—से स्वयं ही अर्थात् अनायास ही—अवकाश न होने के कारण—अपने आप ही छोड़ दिये जाते हैं। अतः इनको स्वरूप से ही कर्मों का त्याग प्राप्त होता है केवल फल का त्याग नहीं। फिर यह कर्मत्याग वेद शास्त्रादि में बताई हुई विधि से नहीं किया गया होता। अपितु यह कर्मत्याग निरन्तर स्मरणानन्द की विवशता के कारण अन्य किसी बात के स्मरण करने का अवकाश न रहने से हो जाता है, मानों कि इनके यहाँ अनादर होने के कारण लज्जित हुए कर्म ही इन्हें छोड़ जाते हैं। जैसे पुरपालक और दूतगण चक्रवर्ती राजा

रोधाधिकारगतं, स्वकार्य्येऽभियोजयितुं कंपिता भवन्ति, तद्वत्तत्र संभाषणमपि दुर्लभम्, अत्रैतादृशस्य भगवद्भक्तिभावेतरविरोधिकर्मत्यागस्तु प्रागेव जात इति ज्ञेयं केवलमावश्यकमेव स्थितं, तदपि विस्मृतमिति ।

अहो तदा भगवद्धर्मस्त्वपरिहार्य्य एव, यथा त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनेति । यदा यस्यानुगृह्णति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितामिति । कर्मत्यागानन्तरं, भगवद्भक्तिचतुःषष्टयङ्गानि, नवाङ्गानि वा साधयतः कथं निरवधिध्यातृत्वं चेत्तत्राह, भगवद्धर्मेऽपि, अहो आश्चर्य्ये, निर्ममाः । अहो इति भक्तसमाजदृष्ट्या, किञ्च पूर्वाभ्यासेन वैष्णवतया, तिलकमालादिधारणं श्रवणकीर्तनार्चनवंदनदास्याद्यपि च भवतु लोकसंग्रहार्थम्, न तत्र ममत्वं तत्तु गौरतेजसि लग्नं, यथा च, "यह जु एक मन बहुत ठौर करि, कहि कौने सचु पायो'' इति । अर्थाद्बुद्ध्या सर्वं

रसकलश

के अन्तःपुर के अधिकारियों को अपने काम में लगाने से डरते और काँप उठते हैं, ऐसे ही उनसे इनके लिये बात करना भी कठिन होता है, यहाँ इस प्रकार के भगवद् भक्तिभाव से भिन्न या विरोधी कर्मो का त्याग तो पहले ही हो गया था ऐसा जानना चाहिये, केवल अत्यावश्यक कार्य ही रह गये थे, अब तो वे भी भूल गये ।

यहाँ कोई कह सकता है कि कुछ भी हो भगवद् धर्म तो अपरिहार्य ही हैं वे तो नहीं त्यागे जा सकते जैसा कि—'वेद तीनों गुणों से सम्न्धित हैं तुम तीनों गुणों से रहित हो जाओ ।' और 'आत्मभावना से भावित हुए भगवान् जब जिस पर अनुग्रह करते हैं, वही लोक में और वेद में परिनिष्ठित बुद्धि को त्याग पाता है। इस प्रकार कर्मों के त्याग के बाद भगवद्भक्ति के चौसठ अङ्गों वा नौ अङ्गों की साधना करते हुए कैसे देशकालादि से सम्बद्ध नियमों से रहित होकर ध्यान करना सम्भव हो सकता है ? इस पर कहते हैं—अहो ! आश्चर्य है कि वे भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्मों में भी ममता नहीं रखते । यह आश्चर्य भक्त समाज की दृष्टि से है । एक बात यह भी है कि वैष्णव होने से पूर्व अभ्यास के कारण भी कुछ कर्म नहीं छोड़े जा सकते । पर यह छोड़ देते हैं अतः आश्चर्य होता है । वे तो—माला आदि धारण करना, श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, दास्य आदि में संलग्न रहना यह सभी बातें लोक संग्रह के लिये ही करते हैं, उनमें भी उनको कोई ममता नहीं होती । उनकी ममता तो गौर तेज में लग चुकी होती है । जैसा कि—'यह जु एक मन बहुत ठौर करि, कहि कौने सचुपायो' इत्यादि पद में कहा गया है । 'तद्धियः' 'उनमें बुद्धि लगाये हुए 'कहने का यह भाव है कि बुद्धि से ही सब

भवति, सा त्वेकदेशस्वत्वनिष्ठा, तदा निर्ममत्वे कथमन्यसिद्धिरिति। अहो धर्मात्तु परमधर्मः सद्भिर्निश्चितस्तत्रापि निर्ममत्वे का गतिस्तत्राह रसमयीं सर्वाश्चर्यगतिं गता इति।

रसमयीमित्यनेन व्रजगोपीरसोऽप्यायाति ततोऽप्यन्यत्वात्सर्वेभ्य आश्चर्यरूपत्वं न जाने किंनिष्ठा इत्यनभिज्ञानां किञ्च यत्रतत्र रसाचार्यैर्व्रजगोप्य एव नायिकादिभेदेन विवृतास्तत्प्रेमासक्तिरपि साध्यत्वेन सिद्धान्तिता। अत्र नैवं विनिमयत्वात्। दम्पत्योरेकरसता गौरतेजोऽतिशायिता रसिकानन्यानन्यत्वं सखीदास्यैकसेवनम् मधुरं मृदुलं सूक्ष्मं परमं शुद्धमुज्ज्वलम्। स्वीयं नित्यमनन्यं तद्रसरूपमिहोच्यते।

अलौकिकत्वे रमादिवन्नैवं लौकिकस्वीयत्वेऽप्यविच्छिन्नताद्दृशप्रेमपारस्पर्य-

रसकलश

कुछ होता है वह बुद्धि जब श्रीराधा में ही लगा दी तब उनसे और क्या हो सकता है। किसी एक वस्तु में अपनेपन की निष्ठा का नाम ममता है, भला निर्मम होने से कोई अन्य सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? और फ़िर धर्म से तो परम धर्म की प्राप्ति होती है ऐसा सत्पुरुषों ने निश्चय किया है, धर्म या परमधर्म में भो यदि ममता न रहेगी तब इनकी क्या गति होगी ? इस प्रश्न पर कहते हैं कि सभी आश्चर्यों से परिपूर्ण रसमयी गति को प्राप्त हो जाते हैं, उनको यह अद्‌भुत गति प्राप्त होती है।

'रसमय' कहने से व्रज का 'गोपीरस' भी समझा जा सकता है किन्तु यहाँ उससे भी भिन्न रस है अतः सबकी अपेक्षा इसकी आश्चर्य रूपता कही गई है। न जाने यह रसमयी गति किस निष्ठा वाली है इसको न जानने वालों के प्रति उपदेश भी किया गया है और जहाँ तहाँ रसाचार्यों ने व्रजगोपियों का नायिकाभेद से निरूपण किया है और उनकी प्रेमासक्ति को भी साध्यरूप में निश्चित किया है यहाँ ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ उसका विनिमय (वहाँ प्रेम का विषय श्रीकृष्ण हैं और आश्रय राधा आदि गोपियाँ, किन्तु यहां प्रेम का विषय श्रीराधा है और श्रीकृष्ण तथा सखीजन आश्रय हैं इस प्रकार पट-परिवर्तन हो जाने के कारण प्रियाप्रियतम दोनों में एकरसता है और उसमें भी गौर तेज में विशेषता है। रसिक अनन्य जनों की अनन्यता यह है कि वे सखीभाव से एक मात्र दास्य भाव का सेवन करती हैं 'यहाँ मधुर, मृदुल, सूक्ष्म, परमशुद्ध और उज्जवल ऐसा अपना नित्य अनन्य रस का वह रूप कहा जाता है।'

अन्य रस ऐसा अलोकिक होते हुए भी रमा आदि के समान नहीं हैं और नहीं है और नहीं ऐसा लौकिक अपनेपन के होते हुए भी वैसे अखण्ड प्रेम का परस्पर निर्वाह न

निर्वाहावान्नैवम्, अतः सर्वानुपमितत्वात्सर्वाश्चर्यमयीयं रसगतिस्ताहशभाव-नावर्तनं च तां प्राप्ता ये रसिकास्ताहशमहान्तः अस्मन्मता न केवलं प्रसिद्ध गुणरीत्यैवेति तेभ्यो नमो धन्यास्ते ।

अथार्थान्तरोऽपेक्ष्यते तदाह द्वितीयक्रमे पुनः सखीकुञ्जरन्ध्रे वक्ष्यमाण-रूपां प्रियां प्रदर्श्य, अलं सखीवेषेणेति भवतस्तु दास्येऽपीदमेव वरमिति शुद्ध-रूपासक्तिमेव दृढीकरोति । कैशोरेत्याद्यनावृतच्छविप्रेमातिशायिनीं राधां ये ध्यायन्ति तेभ्यो नमः । बहुत्वे विलासोपदेष्टृसखीसमाजाभिप्रायेण वा प्रिय-गौरवेण तद्धियः स्वरूपतन्मयतापन्ना न त्वहंकारास्पदस्मृतिमन्तः । अत एवात्मनैव दास्यकर्मभिस्त्यक्ता दास्यमपि विस्मृतास्तत एव अहो आश्चर्ये भगवद्धर्मे भगं श्रीकाममाहात्म्यं श्रेष्ठश्लाघनीयदास्येऽपि निर्ममाः केवल-रूपासक्ता इति सखीपक्षे । अथ प्रियपक्षे पुरुषोत्तमनायकधर्मे सत्यपि निर्ममत्वं केवलतद्रूपे सैवाहमिति विगलितवेद्यान्तरतापन्ना भवन्तः अत

रसकलश

होने से वह ऐसा है । इसलिये लौकिक अलौकिक सबसे अनुपम होने के कारण यह रस गति सब आश्चर्यों से पूर्ण है और वैसी भावना का बार-बार होना उसको प्राप्त हुए जो रसिक हमारे मत में केवल प्रसिद्ध गुणों के कारण नहीं अपितु उस रसमयी गति को प्राप्त होने से महान् हैं अतः उनको नमस्कार है वे धन्य हैं ।

अब यदि यहाँ अन्य अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं—दूसरे क्रम में फिर सखी ने कुञ्ज के रन्ध्र से जिनका स्वरूप आगे कहा जाने वाला है उन प्रिया जी का दर्शन करा दिया और कहा कि 'आपको सखी वेष धारण करने की आवश्यकता नहीं है, आपको तो दास्य भाव में भी यही वेष ठीक है' इस प्रकार शुद्ध रूपासक्ति को ही दृढ़ करती हैं ।' 'कैशोराद्भुतमाधुरी' इत्यादि विशेषणों वाली, अनाच्छादित छवि के कारण प्रेम का अतिशय करने वाली श्री राधा जी का जो ध्यान करते हैं उनको नमस्कार यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग विलास का उपदेश देने वाले सखी समाज के अभिप्राय से किया गया है अथवा प्रियतम के प्रति गौरव से किया गया है । 'उनमें संलग्न है बुद्धि जिनकी' इसका तात्पर्य है कि श्रीप्रिया जी के स्वरूप में तन्मयता को प्राप्त हुईं, न कि अहंकार की पात्रभूत स्मृति वाले । इसी लिये स्वयं ही दास्य सम्बन्धी कर्मों द्वारा त्याग दिये गये हैं । दास्य को भी भूल गये हैं तभी 'अहो !' इस शब्द का आश्चर्य में प्रयोग किया गया है । 'भगवद्धर्मे' शब्द में भग का अर्थ है श्री काम माहात्म्य और तत्सम्बन्धी धर्म का अर्थ है श्रेष्ठ और श्लाघनीय दास्य, उसमें भी निर्मम है अर्थात् केवल रूप में आसक्त हैं, यह सखीपक्ष में व्याख्या है । प्रियपक्ष में पुरुषोत्तम और नायक के धर्म के रहते हुए भी उन धर्मों में ममता नहीं रही । केवल श्रीराधा जी के रूप में मग्न होने के कारण 'मैं राधा ही हूँ । इस बुद्धि वाले वे (श्याम सुन्दर) अन्य सभी ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान से रहित तन्मयता को प्राप्त होते हुए

आश्चर्यरसमयगतिं प्राप्तास्तदामहद्भ्यो युष्मभ्यं नमः। दास्य धर्ममर्मज्ञानां गुरवो भवन्त इति। एतच्छुत्वा परमकौतुकौत्सुक्येन ध्यानं कर्तुमुपाविष्ट इतिज्ञेयम्।

अथ भिन्नक्रमश्चेन्मानामोचने कर्तव्योऽर्थः। प्रियः प्रियासमीप एव कौतुकेन दयामुत्पादयितुन्मनीमुद्रयासीनो ध्यानं करोति। तत्र सखी प्रियां श्रावयित्वाह हासेन मानं दूरीकर्तुं स्फुटं पादे पतन्प्रियं नमस्करोति तेभ्यो-महद्भ्यो नमः। अहह त्यक्तकर्मणां न किमद्यारभ्य कर्तव्यं पश्यामः। योगिनोऽपि भगवद्धर्मा दृश्यन्तेऽतो भगवतस्तव धर्मः पादपतनानुनयस्तमपि न करोषि कथं केवलध्यानेन मानो नश्यति कर्तव्यार्थेऽपि भवान्निर्ममः अतः सर्वाश्चर्यगतिं गतेभ्यो वितस्त्या वामपादे नमनं करोमीति हासस्तृतीय। क्रमः।८०।

प्रथमक्रमे पुनस्तेषामेव भावुकानां भगवद्धर्मनन्द्य भावनातन्मयतामाह लिखन्तीति—

लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शङ्खचक्रादिकं
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।

रसकलस

आश्चर्य पूर्ण रसमयी गति को प्राप्त हुए हैं तब पुरुषों का आप महान् को नमस्कार। आप सचमुच दास्य धर्म के मर्मज्ञों के गुरु हैं। यह सुन कर श्रीश्यामसुन्दर परम कौतुक और उत्सुकता से ध्यान करने को बैठ गये ऐसा जानना चाहिये।

अब यदि इससे भिन्न क्रम की व्याख्या करनी हो तो मान छुड़ाने के पक्ष में अर्थ करना चाहिये। प्रियतम प्रियाजी के पास ही कौतुक द्वारा दया उत्पन्न कराने के लिये उन्मनी मुद्रा में बैठ गये और ध्यान करने लगे। तब सखी ने प्रियाजी को सुनाते हुए कहा—जिनका मान दूर करने लिये प्रियतम चरणों में पड़कर नमस्कार करते हैं उन महान् स्त्री जनों को नमस्कार है। अहह, जिन्होंने कर्म का त्याग कर दिया हैं उनका आज से हम कोई कर्म नहीं देखते। योगीजन भी भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्मो का पालन करते देखे जाते हैं अतः भगवान् (आप, श्रीश्यामसुन्दर) के धम चरणों में प्रणाम करते हुए मनाना, उसको भी नहीं करते, क्या केवल ध्यान से मान छूट जाएगा। अवश्य करने योग्य कार्य में भी आप निर्मम हैं अतः समस्त आश्चर्य मयी गति को प्राप्त हुओं को बिलस्त से वाम चरणमें नमस्कार करता हूँ यह उपहासार्थक तीसरा क्रम है।८०।

प्रथम क्रम में फिर उन्हीं भावुकों के भगवद्धर्म का अनुवाद करके भावना से तन्मयता का वर्णन करते हैं—

'जो भुजमूल या कन्धों में शंख चक्र आदि चिह्न नहीं लिखते, मस्तक पर (तिलक द्वारा) श्री हरि के मन्दिर की रचना नहीं करते कण्ठ भाग में सुन्दर तुलसी

लसत्तुलसिकामालिकां दधति कण्ठपीठे न वा
गुरोर्भजनविक्रमात्क इह ते महाबुद्धयः ।८१।

ते महाबुद्धय इह के विरलाः सन्ति न सर्वत्रेति ते के ये गुरोर्गरिष्ठाद्-भजनविक्रमाद् भावनायां साक्षात्स्वरूपस्फूर्त्या निरवकाशबलेन खलु इति निश्चयेन भुजमूलयोसप्तम्यर्थे तसिल् शंखचक्रादिकं न लिखन्ति भालस्थले च विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति लसत्तुलसीमालिकामपि कण्ठपीठे न दधति अत एव महत्वं बुद्धेस्तद्धिय इत्युक्तत्वात् यथोक्तं पाद्मे "ये कण्ठलग्न-तुलसीनलिनाक्षमाला ये बाहुमूलपरिशोभितशंखचक्राः ये वै ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ।

इत्यादि बहुधोक्तं साधनलक्षणं भगवद्धर्ममनूद्य तज्जीवनमूलभूतानुरक्ति प्रधानीकृत्य केवलवेषमात्रं गौणीकरोति । गरिष्ठभजनमत्रसा परानुरक्ति-रीश्वरे इति शाण्डिल्यसूत्राद् यथा क्वचित्पूजां विसस्मार भक्तिप्रसरसंप्लुत

रसकलश

की माला धारण नहीं करते अपने गौरवपूर्ण भजन में मग्न रहने के कारण जो कुछ भी नहीं कर पाते ऐसे महाबुद्धि जन यहाँ कौन हैं ।८१।

वे महा बुद्धि जन यह कौन हैं अर्थात् विरले ही हैं, सर्वत्र नहीं हैं । वे कौन हैं ? जो गुरु या गरिष्ठ—गौरवपूर्ण-भजन के पराक्रम से भावना में साक्षात् स्वरूप की स्फूर्ति के निरवकाश बल से निश्चय ही भुज मूलों में—कन्धों पर—शंख चक्र आदि नहीं लिखते,यहाँ पर भुज मूल शब्दसे सप्तमी विभिन्न के अर्थ में तसिल् प्रत्यय किया गया है । भाल स्थल-मस्तक-पर श्री हरि के विचित्र मन्दिर को रचना नहीं करते, सुन्दर तुलसी की माला भी कण्ठ भाग में धारण नहीं करते अतएव उनकी बुद्धि महान् है, जैसा कि पूर्व श्लोक में 'तद्धियः' इस विशेषण द्वारा कहा गया है । जैसा कि पद्म पुराण में कहा गया है—'जिन्होंने कण्ठ में तुलसी, कमलबीज या रुद्राक्ष की माला धारण की हुई है जिनके कन्धों में शंख, चक्र सुशोभित हैं, जिसके मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र विराजमान है वे वैष्णव जगत् को शीघ्र पवित्र करते हैं ।' इत्यादि अनेक प्रकार के साधनों के लक्षण कहे गये हैं, भगवद्धर्मका अनुवाद करके उन भगवद्धर्मों की जीवनभूत अनुरक्ति को प्रधान करके केवल वेषमात्र की गौणता का यहाँ प्रतिपादन किया गया है गरिष्ठ या गौरवपूर्ण भजन का तात्पर्य यहाँ पर 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर विषयक परम अनुराग का नाम भक्ति है इस शाण्डिल्यसूत्र के अनुसार परम अनुराग है । जैसा कि—'कहीं भक्ति के प्रवाह से परिप्लुत होकर पूजा को भूल गया ।' भरत की ऐसी अवस्था का वर्णन किया

इति भरतस्य एवमेव ध्रुवप्रियव्रतप्रह्लादोद्धवविदुरादीनां केवलप्रेमैकप्रधानत्वादुपरितनसाधनविस्मृतिः न च केवलवेषमात्रेणैव निश्चिन्ता जाताः। वेषस्तु तदीयत्ववरणेन प्रपत्तिमयः सौभाग्यलक्षणवत्।

पतिस्त्वनुरागसेवनेनैव प्रीतो भवति यथा वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या-सत्स्त्रियः सत्पतिं यथेति। अतो भगवद्भक्ता अप्येवं तदा केवलरसमार्गीयस्य कैमुत्यमायातम् यथा कैश्चित्पूजयाम् हसते भक्तिर्जपात्त्रस्यति च स्फुटम्, समाधियोगाच्च बहिः सा भक्तिः केन गृह्यते इत्युक्तम् तदन्तरंगानुरागापेक्षयैव न पूजादीनां भक्त्यङ्गानामुपेक्षार्थम्, पूर्वं तु माहात्म्योद्घोषेणापि केचिन्मग्नाः। अत्र तु तत्त्यक्त्वा केवलास्वादासक्तिरेव गृहीता तदा तन्मार्गरीतिमुपेक्ष्य केवल-माहात्म्यापेक्षाव्यभिचरितमेवेति। अत्र वैष्णवधर्मत्यागो न शङ्क्यः। किञ्च भावुकस्य यावद्बहिर्दशा तावद्भगवदनुशासनलोकानुग्रहेर्थं यथोक्तं यथार्हं च सर्वमपेक्ष्यं न लिखन्तीति त्यागोऽत्र विस्मृतिमयो न बुद्धिपूर्वक इति विवेकः। पश्चाच्छुद्धमनस्तत्साक्ष्येव।

रसकलश

गया है, ऐसे ही ध्रुव, प्रियव्रत, प्रह्लाद, उद्धव, विदुर आदियों के केवल एक प्रेममात्र की प्रधानता से उपर्युक्त साधनों का विस्मरण हो जाना कहा गया है, जो केवल वेष तो उनके दासीत्व का वरण करने से शरणागति रूप है, जैसे विवाहिताओं के सौभाग्य-सूचक लक्षण होते हैं। पति तो अनुराग युक्त सेवा से ही प्रसन्न होते हैं जैसा कि कहा भी गया है—'जैसे अच्छी स्त्रियाँ अच्छे पति को प्रेम से वश में कर लेती हैं ऐसे ही मेरे भक्त जन मुझे भक्ति से वश में कर लेते हैं' इत्यादि। जब भक्त भी ऐसे हैं तब केवल रस मार्ग के उपासकों का तो क्या कहना? जैसा कि किन्हीं महानुभावों ने कहा है—पूजा से भक्ति हँसती है जप से भक्ति प्रत्यक्ष में ही डरती है, वह समाधि योग से भी बाहर रहती है वह भक्ति अन्तरङ्ग अनुराग की अपेक्षा से ही कहा है न कि भक्ति के बहिरङ्ग पूजा आदि की उपेक्षा करने की दृष्टि से। पहले तो माहात्म्य की घोषणा से ही कई मग्न हो जाते हैं। किन्तु यहाँ पर तत्परायण हो जाने से केवल आस्वाद में आसक्ति ही ली गई है, उस भक्ति के मार्ग की रीति-पद्धति की उपेक्षा करके केवल माहात्म्य की आकांक्षा करना तो व्यभिचार ही हैं। यहाँ पर यह शङ्का न करनी चाहिये कि इन्होंने वैष्णव धर्म का त्याग कर दिया है। एक और गति भी है कि भावुक की जब तक बाह्य दिशा या व्यवहार दशा रहती है तब तक भगवान् के आदेश से लोक संग्रह या लोका-नुग्रह के लिये जैसा कहा गया है, जैसा उचित है वह सब करना ही चाहिये। इस पद्य में नहीं लिखते, नहीं रचते, नहीं पहिनते इत्यादि त्याग विस्मृति के कारण कहा गया है न कि जान-बूझ कर' यह विवेक रखना चाहिये। बाद में शुद्ध मन उसका साक्षी है ही।

आन्तरेऽर्थे द्वितीयक्रमे ध्याननिष्ठं दृष्ट्वा सखी वक्ति लिखन्तीत्याद्युप-हासम् अर्थाद्ध्यानात्पूर्वमङ्गेषु तद्धर्मचिन्हान्यपि साङ्गत्यार्थमवश्यमपेक्ष्याणीति अन्यथा कथं भगवद्धर्मिण इति अतस्तदभावात्केचिदीदृशा अपि भवन्ति ते विरला गुरुभजनबला महाबुद्धयोऽतर्क्या इति ।

अत्र भुजयोः सुरतान्तचिह्नं दृष्ट्वा वक्ति शंखशब्देन प्रकोष्टकंकणानि भाषा चूडी चक्राहतिचिह्नं भुजपीडनेन जातम् तद्दृश्यते इत्यर्थः । प्रसमर-तिलकं तिर्यक् दृश्यते मालापि परिमृदिता कथं स्वरूपं निभाल्य नागता अतो धन्या वैष्णावी ध्याननिष्ठा त्वद्गुरवेऽपि नमोऽस्त्विवति । अथवा तद्ध्याने कृते प्रियापि संज्ञया कौतुकेनागता विहस्योवाच—क इह ते महाबुद्धयो गुरोः कस्य-चिद्भजनबलं अपि शिक्षितं दृश्यते न चैतेषु धन्यो गुरुरिति तच्छिष्या अपि धन्या इति ज्ञानोपदेष्ट्रसखीपरिहासार्थम् ते गुरोरिमे शिष्याः के इत्यप्य-

रसकशल

आन्तरिक अर्थ के दूसरे क्रम में श्री श्यामसुन्दर को ध्यानाविष्ट देखकर सखी ऐसा कहती है वहाँ 'पर नहीं लिखते' इत्यादि उपहासार्थक है अर्थात् ज्ञान से पूर्व भक्ति के अङ्गों में उससे सम्बन्धित धर्मों के चिन्ह भी संगति के लिये अवश्य अपेक्षित होने चाहिये अन्यथा कैसे जाना जायेगा कि ये भगवद्धर्मी हैं। अतः उन चिन्हों के अभाव से कई ऐसे भी होते हैं उनको बड़े भारी भजन का बल होता हैं वे विरले होते हैं उनको बड़े भारी भजन का बल होता है वे महाबुद्धि अतर्क्य होते हैं।

यहाँ पर प्रियाजी के भुजमूलों में सुरतान्त चिन्हों को देखकर श्रीहित सखी ऐसा कहती हैं शङ्ख शब्द से भुजा के कंगन लिये जाते हैं जिन्हें भाषा में चूड़ियाँ कहते हैं और चक्र अघात चिन्ह हैं जो भुजाओं द्वारा गाढ आलिङ्गन से हो गये हैं वे दीख रहे हैं। फैला हुआ तिलक टेढ़ा दिखता है, माला भी मसल गई है। अहो! दर्पण आदि में अपने स्वरूपों को देखे विना ही आ गई हैं। अतः वैष्णव धन्य हैं जो इनके ध्यान में मग्न हैं, ऐसे वैष्णवों के गुरु को भी नमस्कार हो।

अथवा श्यामसुन्दर के द्वारा ध्यान करने पर प्रियाजी भी कौतुक से आ गईं और हंसती हुई बोलीं—वे महाबुद्धि यहाँ कौन हैं? किसीं गुरु से भजन का बल सीख लिया दिखाई देता है, इसके गुरु ही धन्य नहीं है, वैसे गुरु के यह शिष्य भी धन्य हैं। इस प्रकार ध्यान का उपदेश देने वाली सखी के परिहास के लिये गुरु के वे ऐसे शिष्य कौन हैं? यह भी अन्वय होता है। न 'लिखन्ति 'नहीं लिखते' इत्यादि युक्ति की संगति तीसरे क्रम अर्थात्

न्वयः । लिखन्तीति पूर्ववत् तृतीयक्रमे मानार्थेऽपि स्पष्टमेव प्रियाश्रवण-कौतुकहासजननायेति ॥८१॥

प्रथमक्रमे सर्वविस्मृति पूर्वकैकान्तरसभावनापरतोक्ता इदानीं तस्यामेव निष्ठायां परिपक्वानां केनापि करणाकरणेन त्यागात्यागेन दुःसङ्गेनापि क्वापि न क्षतिरित्याशयेन दृढतामनुवर्णयति—

कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा
गूढाश्चर्यरसाः स्रगादिविषयान्गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा
कैर्वा भावरहस्य-पारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः
किञ्चिज्ज्ञैरनुज्यतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि
॥८२॥

बहुधा वेदसोपपत्तिकज्ञापितानि कर्माणि वर्णाश्रमाधिकारपराणि कुर्वन्तु वा मा कुर्वन्तु न तत्राग्रहः । कृतेऽप्यकृतेपि न क्षतिः पारत्रिकभोगलिप्सा-भावात् । स्रगादिविषयान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्पञ्चेन्द्रिय विषयान्

रसकलश

मान पक्ष में भी स्पष्ट ही है जो कि प्रियाजी को सुनाने, उनके मन में कौतूहल जगाने और हास परिहास करने के लिये की गई है । ८१ ।

प्रथम क्रम में सब कुछ भूल जाने के साथ एकान्त रस की भावना में तत्परता का वर्णन किया गया है, अब उस निष्ठा में परिवक्व हुए भावकों के कुछ करने या न करने से, कुछ त्यागने या न त्यागने से, यहाँ तक कि दुःसङ्ग से भी कोई भी क्षति प्राप्त नहीं होती इस अभिप्राय से दृढता का वर्णन करते हैं—

'गूढ और आश्चर्यमय रसवाले भावुक श्रुति द्वारा समझाये गये कर्मों को करें या बिल्कुल न करें, माला आदि विषयों को ग्रहण करें या त्याग दें। अहो आश्चर्य है कि श्री राधिका वल्लभ के रहस्यमय भक्ति भाव में पारंगत हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसा भावुक बाहर भ्रमण करने वाले किञ्चिन्मात्र जानने वाले, किन्हीं अन्य जनों का सङ्ग भी करता रहे। उसको कोई गुणदोष नहीं लगता । ८२ ।

बहुधा वेदों द्वारा युक्ति पूर्वक समझाये वर्ण और आश्रम के अधिकार से सम्बन्धित कर्मों को करें या न करें इस विषय में उन्हें कोई आग्रह नहीं है, उनके करने पर इनकी कोई हानि नहीं होती क्यों कि ये परलोक के भोगों को प्राप्त करने की इच्छा ही नहीं रखते । माला आदि विषयों अथवा शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध इन पाँचों इन्द्रियों

गृह्णन्तु वा मुञ्चन्तु नात्राप्याग्रहः । ऐहिक सुखलिप्साऽभावात् । किञ्च गूढो गोप्यो वा गोपितः । श्यामतेज उपासकैरपि गोपनीयस्तत्र यत्किंकरीष्विति । राधादास्यमपास्येति तदा नः किं धर्मैरिति लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धिटिरिति संसिद्ध्यति यदाश्रयेण हि परं गोविन्द-सख्योत्सुका इत्याद्याश्चर्याधायको रसः । सोऽस्तीति येषां ते । अनेन सर्वाश्चर्यगतिं गता रसमयीमित्यनुवादः कृतः । किंच तत्पूर्वेतरपद्ये घनाश्चर्येत्युक्तम् अत आश्चर्यरूपस्य रस आश्चर्य एवेति संगतम् ।

अत्रेदं तत्त्वं कुर्वन्त्वित्यत्र कर्तृ मुख्योक्तेः करणारूढता तदा कर्मपूर्णनिर्वाहसंकोच आपतेत् । कर्मणः स्वसाध्यरसस्य च भिन्नफलत्वाद् इमे तु गूढाश्चर्यरसारूढास्ततस्तुरङ्गद्वये नारोढुमेकः शक्यते । यथा 'द्वै तुरङ्ग पर जोर चढ़त हठ परत कौन पै धायौ' । इति अतः प्रस्तुतरसाच्च्युतिर्यदा मा कुर्वन्त्वित्यत्र प्रकरणारूढता दैहिकप्रकृत्यभ्यासेनानिर्वाहाल्लोकसंघर्ष

रसकलश

के विषयों को ग्रहण करें या छोड़ दें, इस विषय में भी उन्हें कोई आग्रह नहीं है क्योंकि उनके मन में ऐहलौकिक सुख प्राप्त करने की कोई कामना नहीं हे । और गूढ या गोप्य है अथवा गोपित हैं, श्याम तेज के उपासकों से भी छिपाकर रखने योग्य है, 'यत्किङ्करीष्वपि' 'राधादास्यमपास्य' तथा 'तदानः किंधर्मैः' एवं 'लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धि कोटिः' और संसिद्ध्यन्ति यदा श्रयेणहि परं गोविन्द सख्योत्सुका.' इत्यादि पद्यों में वर्णित आश्चर्यधायक रस जिनका, इस विशेषण द्वारा 'सर्वाश्चर्यंगतिंगता रसमयीम्' इत्यादि पद्य के अर्थ का भी यहाँ अनुवाद कर दिया गया है । और कुछ उससे भी पूर्व के पद्य में घनाश्चार्यः किशोरीमणिः' इत्यादि में जो कहा गया था उसका भी यहाँ अनुवाद किया गया है । अतः आश्चर्य स्वरूप रस का यहाँ 'आश्चर्यरस' यही नाम युक्ति संगत है ।

यहाँ तत्त्व की बात यह है कि 'कुर्वन्तु' या 'करें' इस क्रियापद में कर्ता के अर्थ में प्रत्यय होने के कारण कर्ता को ही मुख्य रूप से कहा गया है अतः कर्म करने में ही आरूढ़ होना प्रतीत होता है । इस कारण उनके लिये कर्म का पूर्णतया निर्वाह करने में संकोच करना प्रतीत होगा क्योंकि कर्म और भावुक के उस अपने साध्य रस का फल भिन्न भिन्न है, ये तो गूढ और आश्चर्य रस पर आरूढ है अतः कर्म पर आरूढ नहीं हो सकते कोई एक सवार दो घोड़ों पर नहीं चढ़ सकता । जैसा कि—द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायो इत्यादि पद में भी कहा गया है । अतः प्रस्तुत रस से वंचित होना पड़ेगा और जब 'मा कुर्वन्तु' या 'न करें' इस शब्द से कर्म न करने में आरूढता प्रतीत होती है । तब शारीरिक प्रकृत के अभ्यास के कारण इस कर्म न करने का निर्वाह न होने से लोक के साथ संघर्ष का साहस करने से भी उनको वञ्चित

साहसकरणेनापि तच्च्युतिः । अत आग्रहद्वयस्त्याज्य एव किञ्च यादृशो यद्-व्यवहारे परम्परागते स्थितस्तादृशेनैव स्वरसे मग्नेन भाव्यम् । कुलपरम्पराया आद्य प्रवर्तके गुणदोषावारोप्य स्वयं स्वरसे मग्नः । अथापि भावस्य केवलविरुद्धकर्माणि तु सर्वथैव त्याज्यानि इति कर्मकरणाकरणसिद्धान्तः। यथाह शतके 'स्वान्तर्भावविरोधिनो व्यवहृतिः सर्वा शनैस्त्यज्यता'मिति ।

अथ स्रक्चन्दनवनितादिग्रहणे स्वतन्त्रकर्तृत्वे अहं भोगी भवामि न भोगारूढस्तदाऽलौकिकरसाच्च्युतिः यथा 'चढ़िवो मैन तुरंग पर चलिबो पावक मांहि इति' अथ विषयत्यागारूढश्चेद्वैराग्यनिर्वाहलज्जा पतेत् । तदा दैहिकपूर्वाभ्यासात्प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यतीति श्रीमुखोक्तेरनिर्वाहक्षोभ-स्ततो मनसि विवादावकाशे भावनानवकाशः स्यादतो गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जतेइति वत्सहजेन वर्तितव्यं स्वरसाग्रहादन्यत्र कुत्राप्याग्रहे मनो न देयमिति मतम् ।

रसकलश

होना पड़ेगा अतः दो परस्पर विरोधी आगहों में में पड़ जाएगा । वास्तव में तो परस्पर में आए हुए जिस व्यवहार में स्थित है उसी से ही रस में मग्न होना चाहिये क्योंकि ऐसा पुरुष कुल परम्परा के आदि प्रवर्तक पर गुण और दोष का आरोप करके स्वयं अपने रस में मग्न रहता है और भाव के केवल विरुद्ध कर्म तो सर्वथा ही त्याग देने चाहियें । ऐसे कर्म करने न करने का सिद्धान्त है जैसा कि श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीजी ने श्री वृन्दावन शतक में कहा है 'अपने आन्तरिक भाव के साथ विरोध रखने वाला समस्त व्यहार धीरे-धीरे छोड़ दो' इत्यादि ।

ऐसे ही माला, चन्दव, वनिता (स्त्री) आदि को स्वीकार करने पर स्वतन्त्र कर्त्ता होने के कारण मैं भोगी बन रहा हूँ । ऐसा भोगा रूढ होगा तो अलौकित रस का आस्वाद कैसे कर सकेगा ? जैसा कि—'चढ़िवो मैन तुरंग, चलिबो पावकमाँहि ।' इत्यादि में कहा गया है और यदि विषयों के त्याग पर भाव आरूढ होगा तव वैराग्य को निभाने की लज्जा उपस्थित रहेगी, ऐसी अवस्था में शरीर के पूर्वाभ्यास के कारण 'प्रकृति मुझे प्रेरित करेगी ।' इत्यादि श्रीमुख वचन के अनुसार वैराग्य का निर्वाह न होने पर क्षोभ होगा, तब मन में अन्तर्द्वन्द्व को अवकाश मिल जाने पर भावना को अवकाश न मिल सकेगा, अतः 'गुण गुणों में वर्तमान हैं, ऐसा मान कर उनमें आसक्त नहीं होता' इसके अनुसार सहज-भाव में रहना चाहिये । अपने उपास्यरस के प्रति आग्रह रखना चाहिये इसके अतिरिक्त किसी बात के भी आग्रह में मन नहीं लगाना चाहिये यह मत है ।

अथ तादृशानां तु कर्माण्यपि तत्सम्बन्धीन्येव भविष्यन्ति स्रगादीन्यपि तद्दास्यसम्बन्धीन्येवेति न क्वापि क्षतिर्यदा कर्मविषयाभावस्तदा परमानुकूल एव न कर्मविषयौ तादृशरससाधकाविति यथोक्तं श्रीप्रबोधानन्दैः—

'स्वान्तर्भावविरोधिनी व्यवहृतिः सर्वा शनैस्त्यज्यतां,
स्वान्तश्चिन्तिततत्त्वमेवसततं सर्वत्र संधीयताम् ।
तद्भावे क्षणतः सदा स्थिरचरेऽन्या दृक् तिरो भाव्यतां,
वृन्दारण्यविलासिनोर्निशि दिवा दास्योत्सवे स्थीयताम्'इति ।

ननु तदा सत्संगोप्यपेक्ष्यस्तदितरस्त्याज्य इति चेत्तत्राह श्रीराधिकाप्रेयसस्तद्विशिष्टश्रीकृष्णस्य भावरहस्ये पारगा मतिर्यस्य तादृशोऽनन्यरसिकोत्तादृशा मतिरेव तेषामिति कैर्वाऽनुयुज्यताम् न क्वापि क्षतिः, किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञानलवदुर्विदग्धैर्भर्तृहरोक्तैः; अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयतीति यथाह । विदुरः यो विमुग्धो

रसकलश

इस प्रकार अपने उपास्य रस मात्र का आग्रह रखने वालों के कर्म भी वैसे ही होंगे, उसके द्वारा स्वीकार किये जाने वाले माला आदि भी प्रियाजी के प्रति दासी भाव से ही सम्बन्धित होंगे इस अवस्था में उनको स्वीकार करने में भी कोई क्षति नहीं होगी ।और जब कर्म और विषय दोनों का अभाव होगा तब तो परम अनुकूलता रहेगी ही क्योंकि कर्म और विषय वैसे रस के कोई साधक भी तो नहीं जैसा कि श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती जी ने श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

'अपने आन्तरिक भाव से विरोध रखने वाले सभी व्यवहारों को धीरे-धीरे त्याग दो, अपने अन्तःकरण से चिति तत्त्व का ही सर्वत्र और सर्वदा अनुसन्धान करो । उन्हीं के भाव के दर्शन द्वारा स्थावर जङ्गम में सदा अन्य दृष्टि का तिरस्कार करो और रात दिन श्रीवृन्दावन विलासी प्रिया प्रियतम के दास्यभाव के उत्सव में स्थित रहो ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि तब तो सत्संग की भी आवश्यकता है और असत्सङ्ग या दुःष्संग का त्याग भी आवश्यक है इस पर कहते हैं कि 'श्री राधिका वल्लभ' के भाव रहस्य में जिसकी बुद्धि पारङ्गत या निष्णात हो चुकी है, वैसे तब वे किसी का भी सङ्ग क्यों न कर लें उनको क्षति नहीं होती। वे जो किञ्चिन्मात्र ज्ञान केवल लेशमात्र ज्ञान से ही दुर्विदग्ध, मिथ्याभिमानी पण्डित बने हुए हैं, जिनके विषय में श्रीभर्तृहरि जी ने कहा है कि-'मूर्ख को समझाना सरल है विशेषज्ञ को समझाना तो बहुत ही सरल है किन्तु ज्ञान के लव मात्रसे अपने आपको पण्डित मानने वाले मनुष्य को तो ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता ।' और जैसा विदुर जी ने कहा है—'जो भोला भाला मूर्ख बालक है और जो बुद्धि की परम अवस्था को प्राप्त हो चुका

जडो बालो यश्चबुद्धेः परं गतः । तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः । इति बहिर्भ्राम्यद्भिर्भगवद्बहिर्मुखैर्विषयपरायणैरिति किञ्चिज्ज्ञवाक्यैस्तु न स्वरसे भ्रान्तिः स्यात् । विषयिणामुक्त्या क्रियादर्शनेन वा न मनोग्लानिश्चेति । किञ्चाभ्यन्तररसपुष्टिबलेन बाह्यदोषाः कथं बाध्येरन् येषां बहिर्वृत्तौ उपासनाडम्बरः अन्तस्तन्निष्ठाशून्यता तदा दोषाः प्रबला एव स्युः तदा बहिः सङ्गोऽपेक्ष्यः । यदान्तगर्दाक्रान्तस्य बहिर्भोगा नश्वरा न पौष्टिकाः । अतः शुद्धस्य भुक्तरसस्य बहिर्दौर्बल्यं क्षणिकमेव । अतएव गूढ इत्युक्तिस्तत एव किञ्चिज्ज्ञामिलिता अपि न जानन्ति तद्धार्दमिति । अथ पारगतिभिरिति पाठांतरे कैर्वाभिः अनुयुज्र्यतां पारगामिति । किञ्चिज्ज्ञैबाह्यै वा अत्र कर्ता गूढाश्चर्यरसा एव······इत्यनेनानुयुज्यतामिलत्वित्यर्थः । पारगैस्तु

रसकलश

है वे दोनों सुख से रहते हैं किन्तु बीच के लोग कष्ट पाते हैं ।' इस प्रकार के लोग जो बाहर ही घूम रहे हैं अर्थात् भगवान से विमुख या बहिर्मुख हैं, विषयों में परायण हैं, संलग्न हैं ऐसे किञ्चन्मात्र जानने वाले लोगों के वचनों से इन गूढ और आश्चर्य रस वालों को अपने उपास्य रस के विषय में कभी कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती । अर्थात् बिषयी लोगों की बातों के सुनने या क्रियाओं के देखने से उनकी वाणी या मन में कोई विकार नहीं आ सकता । वस्तुतः आन्तरिक रस पुष्टि के प्रभाव के रहते उनको बाहर के दोष कैसे बाधा पहुँचा सकते हैं । हाँ, जिन की बहिर्मुख वृत्ति है और उपासना का आडम्बर रचे रहते हैं अन्तःकरण में उस प्रकार कीनिष्ठा का अभाव है उन पर तो यह दोष प्रबल प्रभाव डालने वाले होंगे उन्हें तो इस प्रकार के बहिर्मुख लोगों का सङ्ग छोड़ ही देना चाहिये अथवा उन्हें बाहर व्यवहार में भी सत्पुरुषों का ही सङ्ग करना चाहिये । जैसे अन्दर से रोगाक्रान्त व्यक्ति के लिये बाह्य भोग नाशकारी होते हैं । पुष्टि देने वाले नहीं होते । किन्तु जो शुद्ध है जिन्होंने रस का अस्वाद ले लिया है उनको यदि कभी बाहरी दुर्बलता आती भी है तो वह क्षणिक ही होती है । इसीलिये इनके रस को गूढ कहा गया है, तभी तो किञ्चन्मात्र जानने वाले लोग इन्हें मिलकर के भी इसकी रसमयी स्थिति को नहीं जान पाते ।

कहीं 'पारगमतिः' के स्थान पर 'पारगतिभिः' ऐसा पाठ है, वहां यह अर्थ किया जायेगा कि वे गूढ और आश्चर्य जनक रसमयी गति वाले श्रीराधिका बल्लभ जी के भाव रहस्य के पारङ्गतों से मिलें या बाहर भटकने वाले किञ्चिज्ज्ञ-अल्पज्ञ —लोगों से मिलें कोई क्षति नहीं होती । यहाँ पर कर्ता वे गूढ और आश्चर्यमय रस वाले ही हैं । अथवा

इष्टैरेवः अथकञ्चिज्ज्ञैर्न संशयोत्पादकैर्न च बाह्यै स्ववस्तुभ्रंशकैरिति कुत्रापि केनाप्यंशेन न क्षतिरिति यद्वा पारगतिभिरिति कर्तृपदं श्रीराधा-वल्लभसम्बन्धिभिर्भावरहस्यपारगामिभिः कैर्विरलैर्गूढाश्चर्यरसैरेव पूर्वोक्तै-रुत्तमैर्वा तत्सम्बन्धिभिरेव किञ्चिज्ज्ञैर्मध्यमैर्वा तदभावेऽन्यैर्बहिर्भ्राम्यद्भिः कनिष्ठैरपि तत्सम्बन्धिभिरेव यथा वयं तदीयास्तदुपासकास्तद्धर्मिण इत्येव वाक्यमात्रं वदद्भिर्न तु यथोक्तक्रियावद्भिस्तैरप्यनुयुज्यतामनुयोगोभवत्विति यक्भावोक्तौ किञ्चान्यकर्मिज्ञानिसङ्गादेतद्वरम् । यथा कैश्चिदुक्तम् अन्य-सम्बन्धगन्धोऽपिकन्धरामेव बाधते । किञ्चैतत्संगादन्य मार्गे रतिर्न स्यान्न च तन्मुखात्स्वीयभावरसबाधकवाक्यं श्रुतिपंथ गच्छेदिति सजातीयधर्म शरण्यत्वादिति ।

रसकलश

यहाँ तीन जनों का सङ्ग बताया है पहले भाव रहस्य के पारङ्गत, दूसरे अल्पज्ञ जो संशय उत्पन्न नहीं कर सकते और तीसरे बाह्य जो इनके सङ्ग में अपनी ही वस्तु खो बैठते हैं, इन तीनों के संग में रसिक अनन्य जनों की कहीं भी कभी भी किसी अंश में कोई क्षति नहीं होती । अथवा उत्तरार्ध में भाव रहस्य पारगतिभिः अर्थात् श्रीराधिका वल्लभ सम्बन्धी भाव रहस्य के पारगामी 'कैः' शब्द द्वारा जो 'विरले ही' बताये गये हैं अनु-युज्यताम् मिला जाये इस क्रिया के वे कर्ता हैं । अर्थात् विरले श्रीराधिका वल्लभ के भाव रहस्य के पारङ्गत गूढ आश्चर्य रस वालों द्वारा बाहर भटकने वाले अल्पज्ञों से भी क्यों न मिल लिया जाए उनकी कोई क्षति नहीं होती अथवा यहाँ पर 'पारगमति' उत्तम रसिक हैं और बाहर भटकने वाले कनिष्ठ रसिक हैं जो केवल कहा करते हैं कि हम भी श्रीराधिका वल्लभ लाल के ही हैं, उन्हीं के उपासक हैं, हितधर्मी हैं, वास्तव में जैसा कहा गया है वैसे आचरण वाले नहीं हैं इस प्रकार के तीनों कोटियों के रसिकों से वे गूढ आश्चर्य रस वाले मिला करें उनका सङ्ग कर लें किन्तु उनकी कोई क्षति नहीं होती । इसका यह भाव है कि अपने समान तीनों कोटियों के रसोपासकों का सङ्ग शून्य कर्म काण्डियों और ज्ञान काण्डियों के सङ्ग से कहीं अच्छा है । जैसा कि कन्हीं महानु-भावों ने कहा है—'अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध की गन्ध भी कण्ठ में बाधा करती है, अर्थात् उनके संग से दम घुटने लगता है ।' क्योंकि ऐसे लोगों के सङ्ग से अन्य मार्गों में में प्रीति न हो जाये यह तो भय रहता ही है किन्तु उनके मुख से अपने भाव और रस को बाधा पहुँचाने वाले वाक्य कान में न पड़ें यह भी अभीष्ट रहता है अतः सजातीय धर्मी की ही शरण में जाना चाहिये और इसीलिए गूढ आश्चर्य रस वाले मिलें, यही अपेक्षा रखनी चाहिये ।

अतो गूढाश्चर्यरसिका मिलन्त्विति। किमुच्यते तदा तु महाभाग्यमेव परन्तु यथाकथंचित्तत्सम्बन्धिनामेतत्संगो भवतु नान्यस्येति भावः। सेव्यपूर्णसम्बन्धे भावना दृढा स्यादिति। अथवाऽनुयोगः पृच्छा पृच्छ्यतां किंचिज्ज्ञैर्वा बहिर्वृत्तिभिरपि कर्तृभिरुभयैः पूर्वोक्त कर्मकरणाकरणं विषयत्यागात्यागं यदि संशयश्चेद्भावपारगामिभिः सह पृच्छ्यतां संवाद्यतामिति। अविवक्षितत्वात्कर्मान्तर्भावः सहेति मिथः, सजातीय मैत्र्याद्बहुसंगाच्चेति यथा स्मरन्तः स्मारयन्तो ये मिथोघौघहरंहरिमिति मिथः पृच्छा।

वयमेवं कर्माभवन्तः कथमिति रीतिरुच्यतां गूढाश्चर्यरसानां किं कर्तव्यं किं न कर्तव्यं चेति। अत्र किंचिज्ज्ञैरन्यैरिति कोऽर्थः कर्माणि मा कुर्वन्त्वित्यत्राद्यानां संशयः कथं वेदोक्तकर्मनिषेधः कार्य इति द्वितीयैः स्रगादि विषयत्यागे संशय्यते कथं वर्तमानभोगास्त्याज्या अतो गूढाश्चर्यरसोपा-

रसकलश

'गूढ आश्चर्य रस वाले मिलें' तब तो क्या कहना ? तब तो महाभाग्य ही हैं, परन्तु जैसे भी हों श्रीराधिका वल्लभ लाल के सम्बन्धी हों बस उन्हीं का संग हो दूसरे का नहीं यह भाव भी निकलता है। सेवा से पूण सम्बन्ध रहने पर पूर्ण—भाव की स्फूर्ति होती है किन्तु सेवा से थोड़ा सा भी सम्बन्ध रहने पर भाव की स्फूर्ति तो होती है, अतः श्रीराधिकावल्लभ लाल के सम्बन्धियों के संग से भावना दृढ ही होती है। अथवा इस पद्य का यह भी अर्थ है कि जो अल्पज्ञ भावुक हैं या जो अभी बाहर भटक रहे हैं उन्हें संशय की स्थिति में श्रीराधिका वल्लभ लाल के भाव रहस्य के पारङ्गत बुद्धि वाले से अनुयोग अर्थात् प्रश्न करना चाहिये कि हम श्रुति बोधित कर्म करें या न करें, माला आदि विषयों को ग्रहण करें या छोड़ दें। अविवक्षित होने से यहाँ क्रिया में कर्म का अन्तिभाव हो गया है। 'सह' शब्द परस्पर का वाचक है। क्योंकि सजातीयों की मैत्री से और उन्हीं के संग से भावना दृढ होती है। जैसा कि कहा भी है—'जो परस्पर पाप समूह को हर लेने वाले हरि का स्वयं स्मरण करते हैं और स्मरण कराते हैं, इत्यादि वाक्यों द्वारा परस्पर एक दूसरे से पूछने की व्यवस्था कही गई है।

हम ऐसे कर्म करते हैं, आप कैसे उस रीति का वर्णन करें कि गूढ आश्चर्यमय रस वालों का क्या कर्तव्य है और क्या कर्तव्य नहीं है। इस पद्य में अल्पज्ञ और अन्य कहने का क्या तात्पर्य है कर्म न करें इस वाक्य में कहे गये वचनों में सन्देह और वेदोक्त कर्मों का निषेध कैसे किया जाये और दूसरे माला इत्यादि विषयों के त्याग के विषय में सन्देह करते हैं कि वर्तमान भोग कैसे त्याग दिये जायें अतः गूढ आश्चर्यमय रस की उपासना के बल से कर्म करना, या न करें

सनाबलेन करणाकरणौ त्यागात्यागौ प्रति पारगा एव प्रष्टव्याः। संयोज्याश्च तद्योगे संदेहो नंक्ष्यत्येव यथा उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन इति' त एव यथार्थ वक्ष्यन्तीति किं च श्रीभागवते चतुर्थे यदा यस्यानुगृह्णातीति तत्र स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितामिति त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनेति हरिकृपापात्रस्याद्यावस्था ततस्तद्धर्मे सिद्धे त्रिभुवनविभवेति विसृजति हृदयं न यस्येति दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना इति सिद्धावस्था एवं भगद्धर्मस्थितिः।

अत्र प्रस्तुते श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदुरित्यनभिज्ञत्वं तेषां भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममा इत्यतो गूढाश्चर्यरसानां मार्गो भिन्न एव रहस्यत्वाद् ज्ञायते। अत्र कर्मविषयादिविधिनिषेधयोः प्रश्नः कर्तुमपि नार्हः किं च तौ तु परमधर्मवाह्यकक्षाद्वार एव स्थगितौ। अन्तर्हर्म्यस्थाने कथं प्रवेशो यत्र तद्वार्तामपि कर्तुं लज्जते यथा—

रसकलश

विषयों को त्यागना या न त्यागना इनके विषय में पारङ्गत महानुभावों से ही पूछना चाहिये। उन्ही की सङ्गति करनी चाहिये उनके योग में सन्देह नष्ट हो ही जायेगा। जैसा कि—तत्वदर्शी ज्ञानी तुमको ज्ञान का उपदेश करेंगे वे ही यथार्थ बात कहेंगे, और श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में कहा गया है कि जब जिस पर अनुग्रह करते हैं, इस श्लोक में और 'वह लोक और वेद मे परिनिष्ठित बुद्धि को त्याग देता है, और वेद तोनों गुणों के विषय हैं हे अर्जुन ! तू तीनों गुणों से बाहर हो जा' इत्यादि में हरि की कृपा के पात्र की आदि अवस्था है, तब उस धर्म के सिद्ध हो जाने पर 'त्रिभुवन विभव' इत्यादि पद्य में, और जिसके हृदय को हरि नहीं छोड़ते हैं। तथा मेरे द्वारा दिये जा रहे एकत्व को भो नहीं लेते वे तो मेरी सेवा के सिवाय कुछ भी नहीं लेते।' इत्यादि श्लोकों में वर्णित सिद्ध अवस्था है ऐसी भगवद्धर्म की स्थिति है।

यहां प्रस्तुत पद्य में 'श्याम सुन्दर की प्रीति के प्रवाह की लहरियों की बीज भूता उन श्रीराधा को जो नहीं जानते' इत्यादि द्वारा अन्यजनों की अनभिज्ञता का वर्णन किया गया है तथा भगवत्सम्बन्धी धर्मों में भी अहो ! वे निर्भय हैं, इत्यादि द्वारा गूढ और आश्चर्य रस में स्थित महानुभावों का मार्ग भिन्न है रहस्यमय होने के कारण इस मार्ग को नहीं जाना जाता। यहां पर कर्म और विषय आदि के विधि और निषेध में प्रश्न करना भी उचित नहीं है। क्योंकि वे तो परमधर्म और बाह्यकक्षा के द्वार पर ही रुके खड़े हैं। महल के अन्दर के स्थलों में उनका प्रवेश कैसे हो सकता है, जहाँ उनकी चर्चा करते हुए भी लज्जा आती है। जैसा कि—

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपरायान्मधुपतिर्महाप्रेमाविष्टस्तव
परमदेयं विमृशति तवैकं श्रीराधेगृणत इह नामामृतरसं महिम्नः
कः सीमा स्पृशतु तव दास्यैकमनसामितिहेतौविचार्यमाणेऽत्र
रस एव सम्बन्धो न च विधिनिषेधसम्बन्ध इति दिक्।

अथवा चिज्ज्ञैश्चिदेकाकारनिष्ठैर्वेदान्तज्ञानिभिः किम्। अथ बहिर्भ्राम्यद्भिः सांसारिकैर्देहगेहेन्द्रियारामैः किम्। अहोअन्यैरवतारान्तरोपासकैरपि किम् भावरहस्यज्ञैरेवानुयुज्यतामिति अन्यत्समानम्।

अथान्तरार्थोऽपेक्ष्यते तत्राह सखीं प्रति ध्यायमानप्रियवाक्यं ध्यानपूर्वांगं नियमयमादि साधयिष्येऽतो न कर्माणि कुर्यां न च स्रक्चन्दनरागरसासवादि ग्रहिष्ये न केनापि सम्भाषणं कार्यं केवलं प्रियारूपमेव ध्यायामीति तदा सखी वक्ति ये गूढाश्चर्यरसास्ते कर्माणि कुर्वन्तु वा मा कुर्वन्तु। श्रुतिरत्रत्य सिद्धान्तबोधिका निरपेक्षरवा श्रुतिरित्याद्योच्चारणमुपदेशवत्परिभाषारूपेति

रसकलश

'जिसके अनन्त सदपराधों—महापुरुषों के प्रति या भगवान के प्रति किये गये अपराधों—को भी कोई परवाह न करके तुम्हारे महा प्रेम में आविष्ट हुए मधुपति तुम्हारे नामामृत रस की स्तुति करने वाले के लिए परमदेय वस्तु का विचार करने लगते हैं। हे श्रीराधे ! तुम्हारे दासी भाव में जिनका मन अनन्य भाव से लगा हुआ है उनको महिमा को सीमा को भी कौन छू सकता है।'

इत्यादि में कहा गया है। इस कारण से विचार करने पर सिद्ध होता कि इन महानुभावों का तो रस से ही सम्बन्ध है विधि या निषेध से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा इनको 'चिज्ज्ञैः' चैतन्य तत्व को जानने वाले—चित् के साथ एकाकार निष्ठा रखने वाले वेदान्तियों से क्या सम्बन्ध ? और भ्रमण करने वाले साँसारिक जनों जो देह गेह तथा इन्द्रियों में ही रमण करने वाले हैं उन—से भी इनको क्या प्रयोजन ? अहो ! अन्य अवतारों के उपासक जनों से भी क्या अर्थ ? उन्हें तो भाव रहस्य के ज्ञाताओं का ही सङ्ग करना चाहिये, शेष सब व्याख्या पूर्व व्याख्या के समान है।

अब यदि आन्तरिक अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं—सखी के प्रति ध्यान लगाते हुए प्रियतम के वचन हैं, मैं तो ध्यान के पूर्व अङ्गों यम नियमादियों का ही साधन करूँगा, अतः कोई कर्म नहीं करूँगा और नहीं माला, चन्दन, अंग राग, रस, आसव आदि ही लूँगा, नहीं किसी से बात चीत करूँगा केवल प्रिया जी के रूप का ही ध्यान करूँगा। तब श्रीहित सखी जी ने कहा कि जो गूढ आश्चर्यमय रस वाले हैं वे कर्म करें या न करें इस पद्य में श्रुति शब्द श्रीवृन्दावन रस सिद्धान्त को बताने वाली, निरपेक्ष स्वरूपावाणी का वाचक है जो श्रीहिताचार्य महाप्रभु का आद्य उच्चारण या उपदेश है अथवा सिद्धान्त सम्बन्धी परिभाषाएँ हैं जैसे—

यथा एकं काचन चम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः । किंचैकं बहुमानभंगि रसवच्चाटुनि कुर्वत्परमित्यादि प्रियाया आसज्यात्वं वाम्यमानभंग्यादि प्रियस्यासक्तत्वं कन्दर्पलोलत्वमनुनयचाटुकारकर्तृत्वमित्यादि । अन्येऽपि बहुभेदाः सन्ति स्वभावध्रुवबोधकश्रुत्युक्तकर्माणि । पुनः प्रियविचारः किञ्च यदा रूपैकनिष्ठस्तदा अन्यभावलौल्यादित्यागेकथं वाम्यमानादिसंभव इति । यदा श्रीमत्या अपि सखीनामपि तदेवेंगितं तदा शृङ्गारचन्दनस्रगादयोपि किमर्थं किञ्च प्रियाप्रसादनकार्यमन्यदेव ज्ञातं तत्र सखी वक्ति—

स्रगादीन्गृह्णन्तु वा मुञ्चन्तु अहो प्रिय धन्या ते निष्ठा मया ज्ञाता श्रीराधिका प्रेयस्ते भावरहस्यगामिनो मतिः कैर्वा अनुयुज्यतां न क्वापि क्षतिः । त्वत्स्वरूपे किञ्चिज्ज्ञैः श्रुतिवाक्यैरिति वा कर्मभिः स्वरूपलक्षणैः किञ्च त इदमेवास्येत्थं शीलमिति प्रमाणमेव वदन्ति । तव तु तस्मादप्यरसकलश

'एक काञ्चनवर्ण चम्पक के समान कान्ति वाली है और दूसरे नील मेघ के समान श्यामल हैं एक काम से उत्कण्ठित हैं और दूसरी बाहर से अनुकूल ही नहीं हैं, ऐसे ही एक बहुत मान (प्राणय कोष) की चेष्टा वाली हैं और दूसरे रसयुक्त प्रियवचन बोलते हैं, इत्यादि वचनों द्वारा 'प्रिया जी का प्रीतिविषय होना अतएव उनमें प्रतिकूलता और मन चेष्टा आदि हैं तथा प्रियतम की प्रीतिका आश्रय होना अतएव काम से उत्कण्ठित होना अनुनय विनय करना और प्रिय वचन कहना आदि हैं, बताया गया है। अन्य भी बहुत से भेद हैं जिनमें स्वभाव की ध्रुवता की बोधक श्रुतियों में कहे गये अनेक कर्म हैं। फिर प्रिय के विषय में विचार प्रस्तुत करते हैं कि जब रूप मात्र में ही निष्ठा है तब अन्य भाव चञ्चलता आदि का त्याग करने पर प्रिया जी में प्रतिकूलता और मान आदि कैसे हो सकेंगे ? जब श्रीमती (राधा जी) का और सखी जन का भी यही इङ्गित है तब शृङ्गार (नेपथ्य विधान) चन्दन, माला आदि भी किस लिये हैं और प्रिया जी का प्रसादन करने के अन्य कार्य भी क्या हैं ? इस प्रश्न पर सखी कहती हैं— माला आदि विषयों को ग्रहण करें या छोड़ दें अहो ! प्रिय, धन्य है तुम्हारी निष्ठा, उसे मैं जान गई हूँ। श्रीराधिका के प्रियतम, मैंने तुम्हारी भाव रहस्य की पारगामिनी बुद्धि को जान लिया है, अब किसी भी प्रकार से अनुयोग—प्राप्तिका उपाम करो कहीं भी कोई क्षति नहीं है। तुम्हारे स्वरूप के विषय में कुछ ही जानने वाले श्रुतिवाक्यों से अथवा स्वरूप लक्षण (स्वरूपानुरूप) कर्मों से भी क्या प्रयोजन ? क्यों कि वे इतना ही तो बताते हैं कि यही इनका शील स्वभाव है, किन्तु तुम्हारा तो उनसे भी अनिर्वचनीय

निर्वचनीयं शीलम् । अतस्तैर्वाक्यैर्भवन्मतिर्मिलतु वा अर्थात्तदुक्तसमशीलता भवत्यपि अन्यादृगेव मम दृश्यते । यथा तद्धावतोऽन्यानत्येतीतिवत् कन्दर्पोत्तरलमपि यथोक्तं केवलप्रेममयमेव तत्सुखमय मेवेति दिक् । यथा 'अबहि और अब ही और' इतिश्रीस्वामिनां पदे ।

वहिर्भ्राम्यद्भिः स्थूलवाक्यैस्तटस्थलक्षणैरुपरितनैश्चर्यं माधुर्यनिष्ठैरपि मिलन्तु तादृशविषयिभोगिविलासिनायकशिरोमणिलीलाकदम्बकुशलोऽप्यस्तु तदपि मम तु अन्यादृगेव दृश्यते । अतस्त्वन्माधुर्यं प्रियैव जानाति यस्यास्त्वं प्रेयानिति यथा मधुपतिरथ तन्माधुरीं वेत्ति राधेति वक्ष्यति अथवा तन्निष्ठां दृष्ट्वाशीर्वादः भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिका यथा भावुकमर्मज्ञा यथोक्तं भावोत्सवेन भजतां रसकाम धेनुमिति प्रेयसः कर्मणि षष्ठी अनुयुज्यतां मिलत्वित्यर्थः ।

रसकलश

शील है अतः उन वाक्यों से आपकी बुद्धि मेल खाये या न खाये अर्थात् उनके द्वारा कही गई आपकी समशीलता तो मुझे और सी ही दिखाई देती है । जैसे कि 'वह अन्य भागते हुए जनों का अतिक्रमण कर जाता है' इत्यादि के समान आप कन्दर्प या काम से उत्कण्ठित भी हैं और जैसा कि कहा गया है कि वे केवल प्रेममय है, वे तत्सुख (श्रीराधा जी) के सुख को ही अपना सुख मानने वाले) हैं इत्यादि के अनुसार शील वाले भी हैं । जैसा कि स्वामी हरिदास जी के पद में कहा गया है—'अब ही और अब ही और' इत्यादि ।

बाहर भटकने वाले स्थूल वचनों या तटस्थ लक्षणों से जिनमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों निष्ठाएँ हैं उनसे भी मिलें अर्थात् उस प्रकार के विषयी, भोगी, विलासी नायकों में शिरोमणि, लीला समूह की रचना में कुशल भी हों तो भी मुझे तो कुछ और से ही दिखाई देते हैं । अतः तुम्हारे माधुर्य को तो प्रियाजी ही जानती हैं, जिनके तुम प्रियतम हो । जैसा कि राधा जी के माधुर्य के ज्ञाता मधुपति हैं 'और उनके माधुर्य को राधा जानती हैं ।' इत्यादि पद्य में कहा जायेगा । अथवा श्यामसुन्दर की निष्ठा को देखकर आशीर्वाद दिया गया है 'भाव रहस्य की पारगामिनी बुद्धि वाली श्रीराधिका वास्तविक रूप में भावुकों के मर्म को जानती हैं ।' जैसा कि कहा भी गया है (भावोत्सव से भजन करने वाले भावुकों के लिये उनकी चरण रेणु रस की कामधेनु है,' 'प्रेयसः प्रियतन, यहाँ पर कर्म में षष्ठी है । 'अनुयुज्यताम्' का अर्थ है मिलें । अन्य स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षणों से जिनमें मान, प्रतिकूलता आदि का स्वभाव बताने वाले वाक्य हैं उन

अन्यैः स्वरूपतटस्थलक्षणैर्मानवाम्यादिशीलवाक्यैः किमिति चिह्नै-रितिच्छेदः चैतन्यं चिद्घनंभं स्वरूपं ज्ञापकैरिति अन्तर्भावितणिजर्थः स्वरूप-लक्षणैरित्यर्थः ।।८२।।

तदेवं प्रस्तुतरसमार्गीयस्य कर्मविषयज्ञान्यज्ञानिसंगदोषाबाध्यत्वमुक्त्वा-ऽधुना सर्वोपसंहारेण तद्रसनिष्ठामेव दृढीकरोति—

अलं विषयवार्तया नरककोटिबीभत्सया
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत विभेमि कैवल्यतः ।
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ।।८३।।

लोके चतुर्विधमार्गः प्रसिद्धस्तावद्देहेन्द्रियधारिणां शब्दादिविषयस्ततो-ऽपि भाग्येन वर्णाश्रमसन्मार्गप्रवृत्तौ कर्म ततोऽप्युत्तममार्गप्रवृत्तौ कर्मशुद्ध-सत्त्वे ज्ञानं तत्साध्यो मोक्षश्चेति केचित्कैवल्याद्यप्युपेक्ष्य भक्तिमार्गरतास्तेषां

रसकलश

से अर्थात् उन चिह्नों से भी क्या प्रयोजन ? ऐसा पदच्छेद कर लेना चाहिये । और चिज्ज्ञैः' अर्थात् चैतन्यमय चिद्घन स्वरूप का बोधकराने वाले स्वरूप लक्षणों से भी क्या प्रयोजन ? यहाँ पर 'ज्ञ' का अर्थ 'ज्ञापक' हैक्योंकि 'णिजर्थ' प्र रणा का अर्थ उसी में अन्तर्भावित (छिपा हुआ) है ।८२।

इस प्रकार से प्रस्तुत रसमार्गी का कर्म और विषय तथा ज्ञानी और अज्ञानी के सङ्ग दोष से बाधित न हो सकना बताकर अब सब का उपसंहार करने के साथ उस रसनिष्ठा को ही दृढ़ करते हैं—

'कोटि-कोटि नरकों के कारण भय जनक विषय वार्ता बन्द करो, वेदों की चर्चा का परिश्रम भी व्यर्थ है, अहो ! मोक्ष या कैवल्य पद से तो मुझे भय लगता है । यदि शुकदेव आदि परमेश्वर के भजन में ही उन्मत्त हैं तो उससे मुझे क्या ? मेरा मन तो श्रीराधिकाचरणारविन्द के रस में ही मग्न हो जाए ।८३।

लोक में चार प्रकार के मार्ग प्रसिद्ध हैं सर्व प्रथम शरीर और इन्द्रियों को धारण करने वालों के शब्द आदि विषय हैं, उसमें भी भाग्य से वर्णाश्रम धर्म के सन्मार्ग के प्रवृत्ति होने पर कर्म हैं, उसमें भी उत्तम मार्ग में प्रवृत्ति हो तो कर्म से शुद्ध हुए अन्तःकरण में ज्ञान होता है और उस ज्ञान के द्वारा साध्य मोक्ष होता है । किन्तु कई मोक्ष रूप

भगवद्भक्तिस्तया भगवत्प्राप्तिश्चेति विषयः कर्म ज्ञानं भक्तिरिति चतुर्भिरपि विरज्य स्वनिष्ठावैलक्षण्यमाह विषयप्राप्त्या तु किमुततमां तद्वार्तयाप्यलं प्रतिषेधः यद्यादावलमित्युक्ते नासासंकोचेन शिरो धुन्वान आहेति किञ्च नरकेनैकेनापि दृष्टेन बीभत्सः स्यात्तदा कोटिसंभूतौ महानेवेति तादृशो-बीभत्सो यस्यामिति तदा लोकान्तरविषयाणामपि तादृशत्वात् तत्साधनकर्म-बोधकवेदकथाया अपि श्रम एवेति ग्लान्यनुभावेनाह वृथेति प्रस्तुतस्य किमपि न फलम् ।

अहो कर्माणि केवलविषयहेतुकान्येवेति न वेदसिद्धान्तः । किञ्च कर्मभिः सत्वशुद्धौ ज्ञानं, ततो मुक्तिरिति कारुण्यमेव जीवेषु वेदस्येत्यत आह बतेति खेदे अहो सत्त्वशुद्धिप्रयोजनं तु बीभत्सोदयेनैव जायते किमर्थं तदाग्रहः क्रियते तदनन्तरार्हमौपनिषदं ज्ञानं किमुत तत्फलरूपात्कैवल्याद्बिभेमि

रसकलश

कैवल्यादि की भी उपेक्षा करके भक्ति मार्ग में निरत रहते हैं, उन्हें भगवद्-भक्ति की प्राप्ति होती है और उसी के द्वारा भगवत्प्राप्ति भी होती है । इस प्रकार विषय, कर्म, ज्ञान और भक्ति यह चार मार्ग है किन्तु श्री हिताचार्य महाप्रभु इन चारों से ही विरक्त होकर अपनी निष्ठा की विलक्षणता बताते हैं—विषयों की प्राप्ति से तो क्या उनकी बात भी मत करो, 'अलम्' शब्द निषेधार्थक है, जब जब 'अलम्' शब्द कहते हैं तब तब नाक सिकोड़ कर सिर भी हिलाते हुए कहते हैं, अहो एकभी नरक देखना पड़े तो कितना बीभत्सदर्शन होगा, तब कोटि-कोटि नरकों के होने पर तो महान् बीभत्स होगा अतः जो विषयों की वार्ता कोटि-कोटि नरकों से बीभत्स दर्शन वाली है उसे छोड़ दो । जब इस लोक में विषय नरक का कारण हैं तब दूसरे लोकों के विषय भी वैसे ही होंगे अतः लोकान्तर को साधने वाले कर्मो की बोधक श्रुतियों की चर्चा भी एक श्रममात्र है, उसके प्रति ग्लानि के अनुभाव (नाक भौहे सिकोड़ने) के साथ कहते हैं कि वह श्रुति कथा भी वृथा है, उसका भी कोई फल नहीं है ।

अब यहाँ प्रश्न होता है—अहो ! आश्चर्य की बात है, वेदों का यह सिद्धान्त नहीं है कि कर्मों से केवल ऐहलौकिक या पारलौकिक विषयों की ही प्राप्ति होती है, अपितु कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उससे ज्ञान होता है तब मुक्ति होती है । इस प्रकार वेदों की जीवों के प्रति करुणा ही प्रकट होती है । इस पर कहते हैं खेद का विषय है कि अन्तः करण की शुद्धि तो बीभत्स या घृणा के उदय से भी हो जाती है फिर उसके लिये इतने बड़े कर्म जाल का आग्रह क्यों करते हो ? कर्म के बाद उचित तो उपनिषदों में वर्णित ज्ञान की ही प्राप्ति है किन्तु मैं तो उस ज्ञान से प्राप्त होने वाले कैवल्य या

तदा वृथाश्रमोक्तौ कः संशयः । ननु साधु साधु 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्' प्रोज्झितकैतवेत्यनेन परमधर्मो निश्चित इति तत्राह स किमुत तत्फलीभूतपरमात्मभजनोन्मदा यदि शुकादयस्ततोऽपि किम् ते स्वरसे मग्नास्तिष्ठन्तु नास्मत्प्रयोजनम् । तु इति पूर्वव्यवच्छेदकं मम तु मनः परं केवलं राधिकापदरसे मज्जतु न वहिर्वार्तां श्रोतुं निष्क्रमतु इति ।

अत्र कैश्चिदुच्यते तादृशशुकाद्या भक्ताः साक्षाच्छ्रीकृष्णप्रतिमा एव तव न रुचितास्तदा ततोऽप्युत्तमत्वे किं मानम् तत्राह यस्याः कदापीत्यारभ्य श्रीकृष्णहृदयमेव प्रमाणं, किमहमेव रहो वच्मीति ज्ञेयम् । अत्र यदोति गम्भीराशयेन संशयो रक्षितो न शुकानादरो ज्ञेयः । किं चात्मीयत्वेनोपालम्भवदुक्तिः अहो सर्वात्मना मुक्तस्य ते केषां भयं यत्स्ववस्तु प्रियारहस्यं गोपितं

रसकलश

मोक्ष से भी डरता हूँ । तब यदि श्रुति कथा श्रम को वृथा कहा जाए तो उसमें क्या सन्देह है ? अब कहते हैं कि 'श्री हरि कभी मुक्ति तो दे देते हैं पर भक्ति योग नहीं देते हैं पर भक्ति योग नहीं देते, इत्यादि सूक्तियों द्वारा जो छल रहित परम धर्म प्रतिपादन किया गया है वह तो ठीक है । उस पर कहते हैं कि यदि शुकदेवादि उस परम धर्म के परिणाम से परमेश्वर के भजन में मस्त है तो उससे क्या ? वे अपने रस में मग्न रहें हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं ।' 'परन्तु मम' इत्यादि वाक्य में 'तु' शब्द अन्तिम वाक्य को पूर्व वाक्य से पृथक् करता है जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि मेरा मन तो केवल श्रीराधिका के चरणरस में ही मग्न हो, बाहर की बात सुनने के लिये भी वहां से न निकले ।

इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि वे श्री शुकदेवादि भक्त साक्षात् श्री कृष्ण स्वरूप ही हैं, वे तुम्हें अच्छे नहीं लगते तो उनकी अपेक्षा कोई अन्य श्रेष्ठ है इसके लिये भी क्या प्रमाण है उस पर कहते हैं कि इसके विषय में तो 'यस्याः कदापि' से लेकर यहाँ तक जो कुछ प्रतिपादन किया गया है उसके विषय में तो श्री कृष्ण का हृदय ही साक्षी हैं, फिर मैं ही प्रमाण हूँ जो एकान्त की बात कहता हूँ ऐसा जानना चाहिये । यहां पर 'यदि' शब्द के द्वारा गम्भीर आशय से संशय या सन्देह प्रस्तुत किया गया है, शुकदेव आदि के प्रति अनादर का भाव सूचित नहीं किया गया, यह भी जानना चाहिये । अथवा आत्मीय होने के कारण उनके प्रति उपालम्भ के रूप में यह बात कही गई है—बड़े आश्चर्य की बात है कि सर्वात्मना मुक्त होते हुए भी आप (शुकदेव जी) को किस बात का भय था कि अपनी वस्तु श्री प्रिया जी का रहस्य छिपा लिया और समस्त ग्रन्थ में

नाममात्रमपि नोक्तम् । अतो वयमिव भवन्तोऽपि कथं न निस्त्रपा अभूवन्निति । ननु भागवते गोपितमिति किं प्रमाणं कैश्चिन् महानुभावै रहस्यार्थोऽपि लक्षणाव्यञ्जनाभिर्वाच्यैर्वा कृतो यथा नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतामित्यत्र राधसेति । अन्यत्र श्रीपञ्चाध्याय्यामपि अनया राधित इति दशमेऽपि रमाक्रीडमिति तत्र तत्र रहस्यतयोक्ता नानामतसमावरोधान्न स्फुटीकृत इति ।

ननु महानुभावोक्तौ किं मानं तत्र द्वितीये ब्रह्मवाक्यं 'न वैश्वचिन्मे मनसो मृषागतिः, न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे' यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिरित्यादि । स वेद धातुः पदवीं परस्येत्यादिना भजनबलसंनिधानीकृतभगवत्तत्त्वपरिचया एव परं मानमिति नातः परं तर्क्यम् 'ऋषेर्विदन्तिमुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः । यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुत'मित्यलमिति ।

रसकलस

उनका नाम तक नहीं कहा । हमारे समान आप भी लज्जा रहित क्यों न हो गये । इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि शुक देव जी ने श्री राधा रहस्य को छिपाया है इसमें क्या प्रमाण है ? तब कहते हैं कि अनेक महानुभावों ने रहस्यार्थ भी लक्षणा, व्यञ्जना द्वारा और वाच्यार्थों द्वारा भी व्याख्यान किया है कि 'नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय । इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध के निरस्त साम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रणणि रम्यते नमः ।' इस वाक्य में 'राधय' के स्थान पर 'राधसा' कहा गया है । और दूसरे स्थल पर श्री रास पञ्चाध्यायी में भी 'अनयाऽराधितोनूनम्' और 'रमाक्रीडमभून्नप,'' इत्यादि उक्तियों में श्री राधा जी का निर्देश रहस्य रूप में किया गया है । अनेक मतों के साथ अविरोध रखने के लिये स्फुट रूप में कुछ नहीं कहा गया है ।

अब यहां पुनः प्रश्न होता कि इनके महानुभाव होने में क्या प्रमाण है ? तो उस पर कहते हैं कि श्री मद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा जी का वचन है 'मेरे मन की कहीं भी मिथ्या गति नहीं होती, मेरी इन्द्रियाँ कहीं भी असत्य या असत् मार्ग में नहीं जातीं क्योंकि मैंने उत्कण्ठा पूर्ण हृदय से श्री हरि को धारण कर लिया है । इत्यादि और 'वह उस परमात्मा की पदवी को जानता है, इत्यादि के द्वारा भजन के प्रभाव से उन्होंने भगवत्तत्व के परिचय को अपने निकट उपस्थित कर लिया है यही उनके महानु भाव होने में प्रमाण है । अतः इसके आगे तर्क नहीं करना चाहिये तभी तो जिनकआत्मा, इन्द्रियें और आशय (वासना) प्रशान्त हो चुके हैं ऐसे मुनिजन उसको प्राप्त कर लेते हैं किन्तु असत् तर्कों से तो वह स्पष्ट होता हुआ भी छिप जाता है ।' ऐसा कहा गया है ।

ननु यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकामित्यत्र ब्रह्मशिवादय इति न यच्छिव-शुकादीनां ध्यानगमिति ते नैव जानन्तीत्येव किं नोच्यते तत्राह अगोचरत्वं तु यथोक्तमेव परन्तु गोपीभावाश्रयेऽपि तदगम्यमिति तु नोक्तमतस्ताहशशिवत्व ब्रह्मत्वशुकत्वादिभिरगम्यत्वे कः संशयः अन्यथा सर्वथा तदगम्यत्वे जीवाना-मन्येषां का गतिरित्यतो भावकृपैकगम्यत्वे सर्वत्र तात्पर्यं ज्ञेयम् ।

एतद्रहस्यार्थममन्यमानानामपेक्षया यदीति पदं दत्तम् यदि परेश-भजनोन्मदा न बुद्धिपूर्वकं प्रियारहस्यं भागवते धृतं तदा ततः किं यदि गोप्याशयेनापि तद्रहस्यं धृतं तदा सजातीया एवेति स्वस्वामिनीपद-दास्यरसोन्मत्ततोक्तिः यथा स्वे कृष्णभावे किमु कातराः स्मेति कर्णानन्दोक्ति-वद् अथवा निष्ठोद्भटत्वेनान्यार्थोऽपि लक्ष्यते ।

रसकलश

एक और प्रश्न होता है कि श्री सुधा निधि स्तोत्र में कहा गया है कि 'ब्रह्मा शिव आदि जिन श्री राधा जी के चरण कमलों की धूलि की एक कणिका को भी प्राप्त नहीं कर सके ।, और जो तत्त्व शिव. शुक इत्यादियों के ध्यान में भी नहीं आता ' फिर आप स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि वे श्री राधा तत्त्व को नहीं जानते । इसका उत्तर देते हैं कि श्रीराधा तत्त्व का उनके लिये भी अगोचर होना तो कहा ही जाता है परन्तु गोपी भाव का आश्रय लेने पर भी वह अगम्य है ऐसा तो नहीं कहा गया । अतः वैसे शिवत्व, ब्रह्मत्व शुकत्व आदि से श्री राधा तत्त्व के अगम्य होने में कोई सन्देह नहीं है । अन्य जीवों की तो क्या गति होगी । अतः साधक के भाव (दासी भाव, सखी भाव) और श्री राधा जी की कृपा से ही वे प्राप्त की जाती हैं यही सिद्धान्त समझाने के तात्पर्य से वे सब वचन कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिये। और यहाँ पर परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं, ततः इस वचन में यदि शब्द तो इस रहस्य वस्तु को न मानने वालों के विचार से कहा गया है । इसका आशय यह है कि 'यदि शुकादि ने परमेश्वर के भजन में उन्मत्त होकर बुद्धिपूर्वक श्रीराधा जी का नाम श्रीमद्भागवत में नहीं दिया तो क्या हुआ ? क्यों कि वे उसे गोपनीय मानते थे श्री मद्भागवत श्रोता परीक्षित् आदि उसको सुनने के अधिकारी नहीं थे। और यहाँ श्रीराधा सुधनिधि स्तोत्र में उस रहस्य को कुछ स्पष्ट किया गया है वह सजातीयों के लिये ही किया गया है और उसका कारण श्री हितहरिवंश महाप्रभु का अपनी स्वामिनी के चरणों के दास्यरस से उन्मत्त होना ही है। जैसे कि अपने आप में कृष्ण-भाव का आवेश हो आने पर 'किमु कातराःस्म' हम क्यों घबराएँ, ऐसा श्रीकर्णानन्द में कहा गया है । अथवा यदि किसी को शुक आदि का इस प्रकार से नाम लेना अत्यन्त अनभीष्ट हो तो इनके अनेक अर्थ लक्षित होते हैं।

ननु प्रसादव्याजेन स्रगादयोऽपि नोपेक्षिता दृश्यन्ते विषयवार्तां तु दिवा निशं भवान् करोत्येव कथं तद्वार्तात्यागस्तत्र दम्पतिविषयरसभावारूढत्वेन हृदि हस्तं निधाय वक्ति एतादृशविषयवार्तयाऽलमहं समर्थोऽस्मि यद्यपि प्रसिद्धलोकापेक्षया कामादीनां हेयत्वाज्ज्ञानिनां विरक्तानां च कोटिनरक-बीभत्सो वर्तते तदाशयमनुसृत्य वच्मि महाविषयिणो वयमिति—अर्थात् कथमेतै रसानभिज्ञैर्विवादः क्रियते किं चैतेऽप्राकृतविषयं लोकवल्लीलाकैवल्यं तु न जानन्ति । स्वानुभवेन निन्दन्ति ज्ञानिनो यथा देहाद्याकारनाशदुःखिता भगवदङ्गान्यपि न मन्यन्तेऽप्राकृतकल्याणगुणा लीलाधामविशेषाण्यपि तथैव यद्यदाकारगुणवद्वस्तु तत्तन्नश्वरमिति यदुपदिश्यते तदपि स्वाकृतिनाशानु-भवेन संशयो नश्यति । अतएव स्वविषयरुचिव्यसनपोषार्थं भगवत्यपि विषयानारोपयन्तीति विकत्थमानेषु नरकेति बीभत्सेत्युक्तिः संक्षोभसाहसेन

रसकलश

यहाँ पर प्रसाद के रूप में माला आदि की भी उपेक्षा नहीं देखी जाती, विषय रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द—की बात तो आप दिन भर ही करते रहते हैं तो उनकी बात का त्याग कैसे हो सकता है । इसका उत्तर देते हैं कि प्रिया प्रियतम के विषय में रस और भाव में आरूढ हो जाने के कारण हृदय पर हाथ रखकर कहते हैं—ऐसी विषय-प्रिया प्रियतम के रूपादि—की चर्चा के लिये मैं समर्थ हूँ । यद्यपि लोक की अपेक्षा सकामादि मनोविकार त्याज्य हैं और वे ज्ञानियों तथा विरक्तों के लिये कोटि कोटि नरकों से भी अधिक भयङ्कर हैं अतः मैं इन्हीं बातों का आशय लेकर कहता हूँ कि हम महाविषयी हैं । अर्थात् हम इन रस से सर्वथा अनभिज्ञ लोगों से क्या विवाद करें । दूसरी बात यह भी है ये लोग इस अलौकिक विषय को तो जानते नहीं कि यहाँ केवल लीला ही लोकवत् है भावराज्य अलौकिक है । वे तो केवल अपने लौकिक अनुभव से निन्दा करते हैं जैसे ज्ञानमार्गी लोग लोक में शरीरादियों के आकाश का नाश होता देखकर इतने दुःखी हो जाते हैं कि ईश्वर को भी निराकार ही मानते हैं उनके श्रीअङ्गों को स्वीकार नहीं करते । यद्यपि उनके श्री अंग अलौकिक और कल्याणमय गुणों और लीलाओं के धाम विशेष होते हैं । ज्ञान मार्गी तो जो जो आकार और गुण वाली वस्तु है वह वह नश्वर है यही उपदेश देते हैं, और उनका रहा सहा संशय भी अपनी आकृति के नाश का अनुभव होने पर नष्ट हो जाता है । इसी लिये वे रसोपासकों के लिये कहते हैं कि ये लोग तो अपनी विषय रुचि के व्यसन का पोषण करने क लिये भगवान् में भी उन विषयों का आरोप करते हैं इस प्रकार का प्रलाप करने वालों के प्रति 'नरक कोटि बीभत्स' इत्यादि वचन संक्षोभ के साहस से कहे गये हैं ऐसा जानना चाहिये ।

ज्ञेया यां वार्तां भवन्तो न मन्यन्ते तत्राहं स्फुटं समर्थः। तदा निर्विषयनी-रूपनिर्गुणप्रतिपादकश्रुतिकथायाः श्रमो वृथैव तादृशानां विषयिणामस्माकं तत्कथया कोऽर्थः। भवज्ज्ञानाधिकाराभावाद्।

ननु संसारात् कथं मोक्ष्यसे तत्राह बतेति तादृशमुक्तिस्वरूपस्फूर्त्या कम्पमान आह कैवल्याद् बिभेमि तत्र मद्विषयाभावात् किंच विषयित्वे कदाचिल्लीलारसप्राप्तिरपि स्यान्मुक्तौ तु न पुनर्निष्क्रमणं स्यादिति। ननु ज्ञान-मार्गो मास्तु भक्तिमार्गस्तु गृह्यतां महान्तः शुकादयोपि ज्ञानतः पृथग्भूय परेशभजनोन्मदाः यथा हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिरिति स्वसुख-निभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसार इति चेत्तत्राह ततः किं मदीयविषयाभावात् अहो पराजिता वयं भवान् किं मार्गे तिष्ठतीत्यु-च्यताम्। तत्र निषेधशेषे स्वविषयरसे स्फुरिते शुकोन्मादश्रुतौ स्वमत्तत्त्वे च स्फूर्यमाणे उच्छलत्परमप्रेमासवघूर्णायमानोऽन्यानपि मादयन्नाह। मम तु

रसकलश

अर्थात् जिस वार्ता को आप नहीं मानते उसके लिये मैं स्पष्ट रूप में समर्थ हूँ। तब मेरे लिये निर्विषय, नीरूप और निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली श्रुति की चर्चा का परिश्रम व्यर्थ ही है, क्योंकि जब हम वैसे विषयी हैं तब वह चर्चा हमारे किस काम की ? क्योंकि हमें आपके ज्ञान का तो अधिकार ही प्राप्त नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि तब संसार से मुक्ति कैसे पाओगे ? इस प्रश्न से वैसे मुक्ति के स्वरूप की स्फूर्ति हो आने पर काँपते हुए से कहते हैं—'मैं कैवल्य या मोक्ष से डरता हूँ क्योंकि कैवल्य पद में मेरे प्रिय विषय का अभाव है, क्योंकि विषयी बने रहने पर कभी तो लीला रस की प्राप्ति हो जाएगी, मुक्ति हो जाने पर तो फिर वहां से निकलना न हो सकेगा। कोई कह सकता है कि ज्ञानमार्ग न सही, भक्ति-माग तो स्वीकार कीजिये। महान् शुक आदि भी ज्ञान से अलग होकर परमेश्वर के भजन से उन्मत्त हुए रहते थे जैसा कि कहा गया है— श्रीहरि के गुणों से आकृष्टबुद्धि भगवान् शुकदेव थे।' आत्मसुख में एकान्त भाव से मग्न चित्त वाले होने से ही उनके अन्य सभी भाव लुप्त हो गए थे और अजित प्रभु की सुन्दर लीलाओं से वे आकृष्ट सार हो चुके थे। इस पर कहते हैं कि इससे भी मुझे क्या ? क्यों कि यह भी मेरा विषय नहीं है। यह सुनकर प्रतिवादी कहते हैं—अहो ! हम हारे, आप किस मार्ग पर स्थित हैं यह बताइये। इस प्रश्न पर सभी मार्गों का निषेध करते करते शेष रह गये अपने विषयभूत रसका स्फुरण हो आया तथा श्री शुकदेव जी के उन्मद होने की बात सुनने पर अपने में भी उन्मत्तता आने लगी तब उछलते हुए प्रेमरूपी आसव ले झूमते हुए और दूसरों को भी मदमत्त बनाते हुए बोले—'मेरा तो श्री राधिका जी के चरणरस में ही मन

श्रीराधिकाया: परमासज्याया: कोटिविषयमूलभूतमन्मथकोटिमोहनस्यापि परममोहनविषयोन्मादिन्या: पदरसे दास्यमहाविषयसिन्धौ मनो मज्जतु न कदापि ज्ञानभक्त्यादिवार्ताद्यवलंबेन निष्क्रमत्विति दिक्। अत्रालमिति सामर्थ्यार्थ एव गृहीतो न चतुर्थीतृतीयादृष्टिरर्थवैवश्यात्कृतेति बोधनीयम्।

अथान्तरार्थमाह-द्वितीयक्रमे एवं सखीप्रशंसोत्साहेन लतान्तरे वा समक्षमेव पदविशि हस्तं निधाय प्रियो वक्ति अद्यारभ्य विषयवार्तयाऽलं, नरकेति पदं लोकगृहस्थान्प्रति कटाक्षस्तादृशानुकरणेन हासार्थे न दोष:। प्रियोपहासार्थं यथा वैकुण्ठे हरिणोक्तम् सत्स्त्रिय: सत्पतिं यथेतिचयोतद्धृतप्लुतेति लोकगतवार्ता तत्रापि स्मर्यते तदा लौकिकमेवानुसृत्य सखी वक्ति विषयत्यागे किं वेदान्तविचार: क्रियते तत्र प्रिय वृथा श्रुतिकथाश्रम: किं च बतेति खेदाश्चर्यम् तत्साधनसाध्यज्ञानैकसाध्यात्कैवल्यादपि बिभेमि। अस्मदुपासका

रसकलश

मग्न हो 'जो श्रीराधिका परम प्रीतिपात्री (आसज्या) हैं, कोटि कोटि विषयों के मूलभूत कोटि कोटि कामों को मोहित कर देने वाले मदन मोहन को भी रूपादि विषयों से मोहित कर देती हैं, उनके चरणरस अर्थात् दास्यरूपी महान् विषयसागर में मन मग्न हो, कभी भी ज्ञान, भक्ति आदि की वार्ता आदि का अवलम्बन लेकर वहाँ से बाहर न निकले, यही संक्षेप से मेरा मार्ग है।' इस पद्य में 'अलम्' शब्द की सामर्थ्य अर्थ में ही लिया गया है ('अलम्' के सामर्थ्य अर्थ में तो 'बिषय वार्तया' के स्थान पर 'विषयवार्तायै' यह प्रयोग होगा ऐसी) चतुर्थी और तृतीया की दृष्टि अर्थ की विवशता के ही अधीन है (विवक्षात: कारकाणि भवन्ति' इत्यदि नियमों द्वारा) इसे सिद्ध कर लेना चाहिये।

अब दूसरे अर्थ के लिये कहते हैं। दूसरे क्रम में इस प्रकार सखी के द्वारा प्रशंसा करके जब उत्साह बढ़ा दिया गया तब उसी उत्साहसे लता की ओट में या सामने ही जाकर प्रिया जी के चरणों की ओर हाथ बढ़ाकर प्रियतम कहने लगे। आज से रुपादि विषयों की वात बस, क्योंकि वह कोटि कोटि नरकों के कारण भयानक हैं यहाँ पर यह नरकों का उल्लेख से लौकिक गृहस्थों के प्रति कटाक्ष किया गया है अर्थात् उनकी उक्तियों का अनुकरण करके उपहास किया गया है अत: कोई दोष नहीं है। वास्तव में तो यह वचन प्रिया जी को हँसाने के लिये कहे गये हैं। जैसा कि बैकुण्ठ में श्रीहरि ने कहा 'अच्छी स्त्रियाँ जैसे अच्छे पति को' इत्यादि। लौकिक बातें तो नित्य लीला में ही स्मरण की जाती हैं, अत: उसी लौकिक व्यवहार का ही अनुसरण करती हुई सखी कहने लगी— हे श्याम सुन्दर क्या विषयों का त्याग करके वेदान्त का विचार करोगे? तब प्रियतम बोले—नहीं, नहीं, वेदों की चर्चा का श्रम तो व्यर्थ है और बड़ा खेद और आश्चर्य है कि वेदरूपी साधन से साध्य ब्रह्मज्ञान मात्र से सिद्ध होने वाले कैवल्यपद से भी मैं डरता

अपि मोक्षभीतास्तदा वयंकि कुर्मः । अर्थात्कैवल्यमैक्यं स्नेहः संयोगः स तु नास्माकं मिलति । अतस्तद्भीता इति तदा नैर्गुण्यत्यागे भगवद्धर्मिणो भविष्यथ तत्राह परेशभजने उन्मदाः शुकादयस्ततः किम् अर्थात्तेऽपि विस्मृततत्त्वाः ।

आभ्यन्तरोऽर्थस्तु परेशो नायकशिरोमणिरहं तादृशभजनोन्मदस्ततः किमिति न मम नायकक्रियायां रुचिरित्यौदासीन्यं ततः किमित्यनेन दर्शितं मम तु राधापदरसे मनो मज्जत्विति । मानार्थे तृतीयक्रमेऽपि लगति । किं चात्युत्कटमानमोचनेऽत्युत्कटवाक्यानुकरणमेव मोचनोपायो येन प्रियाहृद्द्रवः स्यादिति । यद्वा नराणां मनुष्याणां वा ब्रह्मादीनामपि कं सुखं तत्कोटिरपि बीभत्सरूपा यस्मात्तादृशालौकिकनिरवधिपरमानन्दरूपपरस्य सौरतालापेनाप्यलं मनसिजापरिहार्यत्वान्मनोविग्लापनाच्चेति मम तु पदसेवनयेव कार्यमिति ।

रसकलश

हूँ । जब मेरे उपासक भी मोक्ष से डरते हैं तब मैं क्या करूँ ? अर्थात् कैवल्य तो अकेलेपन का नाम है और स्नेह तो संयोग सम्बन्ध की वस्तु है (वह अनेक में होता है वहाँ स्नेह का विषय और स्नेह का आश्रय कम से कम दो तो होने ही चाहियें) अकेलेपन में वह नहीं मिलता । इसलिये उससे मेरे उपासक भी डरते हैं । तब तो निर्गुणमार्ग का त्याग करने पर भगवद्धर्मी हो जाओगे ? इस पर कहते हैं कि यदि परमेश्वर के भजन में शुकदेव आदि उन्मद या मदमत्त हैं तो उससे क्या ? अर्थात् वे भी तत्त्व को भूल गये हैं ।

आन्तरिक अर्थ तो यह है कि परेश या परमेश्वर अर्थात् नायकों में शिरोमणि मैं मेरे भजन में यदि वे उन्मद हैं तो उससे क्या ? क्योंकि नायक की क्रियाओं में मेरी रुचि नहीं है । 'उससे क्या' शब्द से उदासीनता दिखाई गई है । मेरा मन तो श्रीराधिका जी के चरण रस में ही मग्न हो । यह पद्य मान रूपी तीसरे क्रम में भी लगता है तीव्र मान (प्रणयकोप) को छुड़ाने के लिए अतितीव्र वाक्यों का ही अनुकरण करना उसे छुड़ाने का उचित उपाय है जिससे प्रिया जी का हृदय द्रवित हो जाए। अथवा नरक कोटि बीभत्सया' इस शब्द में नरों मनुष्यों या ब्रह्मा आदियों भी सुखों की कोटि भी जहां बीभत्स रूप वाली प्रतीत होती है, ऐसे अलौकिक, अवधिहीन, परम आनन्द रूप में तत्पर पुरुष का सुरत रूप विषय की बात करना ठीक नहीं है, क्योंकि सुरत चर्चा में से कामदेव को हटाया नहीं जा सकता और उससे मन भी मुरझा जाता है । मेरा तो काम केवल चरणों की सेवा ही है ।

ननु वयं कथानकं कुर्याम अस्मदीयवार्ता तु न परिहृता । तत्राह तटस्थकथानकश्रवणेऽपि श्रम एव किं च युष्याभिरपि तादृशमनसिजरसोद्दीपककथैव करिष्यते यथा अदान्तमहारोगिणा कुपथ्यवार्तापि न श्रवणीया ततो लौल्यमपरिहार्यं ततो मानं ततोऽहमेकाकी स्यामिति केवलस्य भावः । कैवल्यं तस्माद्बिभेमि किं च ईशोऽहं तस्मात्परेशा श्रीराधा ममापि प्रेमास्पदत्वात्सेव्यत्वात् तद्भजनोन्मदा यदि शुकसारिकादयस्तद्रूपगुणगानरताः । अधुना ध्याननिष्ठास्तदा ततः परमन्यत्किम् । अहं तु उन्मदो भवाम्येवेति कैमुत्यं पदरसेत्युक्तौ प्रियापदसंनिधानकृतशपथः प्रियो ज्ञेय इति कुञ्जकौतुकम् ।

अथवा अष्टपद्यानां कुञ्जगतार्थान्तरमन्यदप्याभासते । तत्र श्रीवृन्दावनकुञ्जगताः पक्षिणः सच्चिदानन्दमयाः श्रुत्यागमपुराणमयाश्चैव राधायशोमुख रमत्तखगावलीके इति । कदा मधुरसारिकाः स्वरसपद्यमध्यापयदिति इत्थं कीरैरनुकृतवच इति दम्पत्यानन्दार्थमेव तादृशमनोहरकथालापकुशलाः

रसकलश

अब प्रश्न होता है कि हम जो कथा कहते हैं चर्चा करते हैं, आपने हमारी वह कथावार्ता तो नहीं छोड़ दी ? उस पर कहते हैं कि तटस्थ चर्चाओं के श्रवण करने में भी श्रम मात्र ही है अतः आपको भी वैसी ही काम-प्रेम रस की उद्दीपक कथा करनी होगी। जैसे किसी को महारोग हो गया हो तो उसे कुपथ्य की चर्चा भी नहीं सुननी चाहिये। इस प्रकार श्री श्याम सुन्दर चपलता नहीं छोड़ सकते, उससे प्रिया जी मान धारण करती हैं तब श्रीश्याम सुन्दर को एकाकी रहना पड़ता है यह कैवल्य है, श्यामसुन्दर कहते है मैं इस कैवल्य से डरता हूँ। क्योंकि मैं ऐसा हूँ अतः परेशा श्रीराधा हैं। प्रेमास्पद होने के कारण वे मेरी भी सव्य हैं। यदि उनकी सेवा से उन्मद शुकसारिका आदि हैं अर्थात् वे उनके गुण गणों को गाने में तत्पर हैं तो क्या आश्चर्य है। वे भी अब ध्याननिष्ठा वाले हुए बैठे हैं तो इससे बढ़कर और क्या बात है। मैं तो उन्मद हूँ ही उसका फिर क्या कहना ? श्रीराधिका 'पदरस' में मेरा मन मग्न हो । इस वाक्य में श्रीप्रिया जी के चरणों के निकट श्रीश्याम सुन्दर ने शपथ की है ऐसा जानना चाहिये, यह एक कुञ्ज का कौतुक है, कुञ्ज की लीला है ।

अथवा पूर्वोक्त आठ पद्यों का कुञ्ज लीला के तात्पर्य में और अर्थ भी प्रतीत होता है । श्री वृन्दावन के कुञ्जों में रहने वाले पक्षी सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और वेद, शास्त्र, पुराण रूप हैं जैसाकि श्री राधा जी के यशोगान में मुखर और मत्त खगावली वाले श्री राधा विहार वन के वर्णन में कहा गया है । और 'कभी मधुर सारिकाओं को रस पूर्ण पद्य पढ़ाते हुए' तथा 'इस प्रकार शुकों द्वारा जिनके वचन के पीछे वचन बोले गये हैं' इत्यादि में प्रिया प्रियतम के आनन्द के लिये उस प्रकार के मनोहर वार्ता-

सन्तीति प्रसिद्धमेव न संशयः पुनः शिवशुकादयोऽपि स्वाभिलाषेण श्रीमती-भजनप्रसादानन्तरं तादृशा जाता इति । श्रुतिमुनिगोप्योऽपि चरणरेण्वाधानेन काश्चित्सख्यः काश्चित्पक्षिण इति ज्ञेयम् । स्नान-भोजन-शृङ्गार-शयनवनविहारासनादौ यदोभयमनः स्वास्थ्यं तदैवानुरागेण मधुरं स्वानुभवं पुरस्कृत्य पूर्वमनूद्य वर्तमानरसनिष्ठां वर्णयन्ति । पञ्जरस्था वा स्वतन्त्रा एव पञ्जरा अपि सुन्दरचमत्कृतास्तदुपलालनार्थमेव श्रीमत्या रचिता इति न च तेषामुड्डयनशंका । तत्र पूर्वपद्ये तादृशसुरतांतचिह्नसौन्दर्यप्रसादोत्साहपारवश्येन उपनिषदः परात्पररसानुभवेन शिवशुकरूपाश्चाहुः यद्वृन्दावनमात्र गोचरमिति ।१।

श्रीशुकः स्वसिद्धान्तानुगतं गोप्यरहस्यं स्फुटमाह धर्माद्यर्थचतुष्टयेति ।२। नानाशक्तितन्त्रोपासनागमरूपाः स्वानुभवेन पूर्वमनूद्य तत्सारनिश्चयार्थमाहुः प्रेम्णः सन्नमधुरोज्ज्वलस्येति ।।३।। श्रीकृष्णोपनिषद्रहस्यगोपालतापिन्यादयः

रसकलश

लाप में कुशल हैं, इस प्रकार वे प्रसिद्ध ही हैं इसमें सन्देह नहीं है । फिर शिव और शुकदेव आदि भी अपनी अभिलाषा से श्री स्वामिनी (राधिका) जी के भजन द्वारा प्रसादन करने पर वैसे पक्षी हो गये हैं । ऐसे ही वेद स्वरूपा और मुनि स्वरूपा गोपियाँ भी श्री राधा जी के चरणों की रेणु को मस्तक पर धारण करने के द्वारा कुछ श्री स्वामिनी की सहचरी का पद प्राप्त कर गई हैं और कुछ पक्षिस्वरूप को प्राप्त हो गई हैं । तथा ये सब स्नान, भोजन, शृङ्गार, शयन और वन विहार तथा आराम से बैठना आदि के समय जब युगल सरकार के मन पूर्णतया प्रसन्न होते हैं तभी अनुराग से अपने मधुर अनुभव को पुरस्कृत करके पहले उसका अनुवाद करके तब वर्तमान रस निष्ठा का वर्णन करते हैं । ये पिञ्जरों में बैठे हुए या स्वतन्त्र भी हैं । इनके पिञ्जरे भी सुन्दर और चमत्कार युक्त हैं, इनके पालन पोषण के लिए ही प्रिया जी ने बनवाए हैं इस लिये इनके उड़ जाने की तो कोई शङ्का ही नहीं है । ('यद्वृन्दावन मात्र' इत्यादि) अतएव पूर्व पद्य में उस प्रकार के सुरतान्त चिन्हों के द्वारा प्रिया प्रियतम की प्रसन्नता से उत्साह के अधीन होने के कारण उपनिषदें और परस्पर रस का अनुभव करते हुए शिब शुक आदि भी कहते हैं ।

श्री शुकदेव जी ने अपने सिद्धान्त के अनुसार गोप्य रहस्य को भी स्पष्ट कहा है –'धर्माद्यर्थचतुष्टयम्' इत्यादि में । नाना शक्ति तन्त्र और उपासना सम्बन्धी आगमों ने अपने अनुभव से पहले अनुवाद करके उन सब के निश्चय रूप सार को कहा— प्रेम्णः सन्मधुरो ज्वलस्य' इत्यादि श्री कृष्ण सम्बन्धी उपनिषदों ने रहस्य भूत गौपालतापनी

कृष्णोपासनासारभूतं निश्चितमाहुः—राधादास्यमपास्येति ॥४॥ निष्कामकर्म-धर्ममया युगलोपासनामयब्रह्मवैवर्त्तादिवन्निष्ठाः कैशोराद्भुतमाधुरीति ॥५॥ नारदपञ्चरात्रसनकादिसंहिताद्याःसात्वत्तागमा वा नारदादिरूपाः—लिखन्ति भुजमूलत इति ॥६॥ पूर्वोत्तरमीमांसाः कर्मज्ञानसिद्धान्तमया वा व्यासादिरूपाः कर्माणि श्रुतिबोधितानीति ॥७॥ सम्पूर्णवर्णाश्रमविषय-धर्मानुभवपूर्वकभजनान्तरसिद्धाः, अलंविषयेति ॥८॥ एवं सर्वविद्याकुशलत्वे तात्पर्यं न तु यत्र तादृशगन्ध इति ज्ञेयः । अत्र स्वरससिद्धान्तः पद्याष्टक उदाहृतः । कर्मज्ञानतपोभक्तिमुक्तिसारतमो ह्ययम् ॥१॥ इति ॥८३॥

तदेवं प्रथमक्रमे दास्यरसमज्जनाशंसने कृते एव मनो मग्नं ततो रुष्यतु-तुष्यतुन्यायेन किमहं बहिर्वार्ताभिर्मनो विग्लापयामि । किमन्यैः प्रयोजनं मत्स्वामिनीमेव स्मरामीति पूर्वानुभूतमेव स्मरन्नाह—

तत्सौन्दर्यं स च नवनवो यौवनश्रीप्रवेशः,

सा दृग्भङ्गी स च रसघनाश्चर्यवक्षोजकुम्भः ।

रसकलश

आदि ने श्री कृष्ण की उपासना के सार भूत सिद्धान्त को कहा—'राधा दास्यमपास्य' इत्यादि । निष्काम कर्म धर्म मय युगल उपासना से परिपूर्ण ब्रह्मवैवर्त आदि के समान निष्ठा वालों ने कहा – 'कैशोराद्भुत माधुरी' इत्यादि । नारद पञ्चरात्र और सनकादि संहिता आदि ग्रन्थों ने और सात्वत आगमों और नारदादियों ने कहा—'लिखन्नि भुज मूलतो' इत्यादि । पूव मीमांसा और उत्तर मीमांसा जो क्रमशः कर्म सिद्धान्त और ज्ञान सिद्धान्त से युक्त हैं उन्होंने तथा व्यास आदियों ने कहा—'कर्माणि श्रुति बोधितानि' इत्यादि । सम्पूर्ण वर्णाश्रम विषयक धर्मो के अनुभव के साथ अन्य भजन पद्धतियों से सिद्धों को जाने दो । इस प्रकार समस्त विद्याओं में होने में तात्पर्य है न कि जहाँ वैसी गन्ध है । इसीलिये यहाँ सब के सम्बन्ध में अपना रस सिद्धान्त आठ पद्यों द्वारा कहा गया है यही कर्म, ज्ञान, तप और भक्ति का परम सार है ।८३।

इस प्रकार प्रथम क्रम में दास्य रस में मग्न होने की आशंसा करते ही मन मग्न हो गया तब लोग रुष्ट हों कि तुष्ट हों' इस उपेक्षा भाव युक्त न्याय से 'मैं बाह्य वार्ताओं से अपना मन क्यों खिन्न करूँ, मुझे औरों से क्या सम्बन्ध, मैं तो अपनी स्वामिनी का ही स्मरण करता हूँ यह कहकर पहिले अनुभव में आई वस्तु का ही स्मरण करते हुए कहते हैं ।—

'श्री राधा जी की वह सुन्दरता, वह नवीन नवीन यौवन श्री में प्रवेश, वह कटाक्ष,

सोऽयं बिम्बाधरमधुरिमा तत्स्मितं सा च वाणी,
सेयं लीलागतिरपि न विस्मर्यते राधिकायाः ॥८४॥

तदित्यनिर्वचनीयं मद्धृदयमेवास्य साक्षीति सौन्दर्यं सुन्दरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं परमकारणभूतं छविरूपलावण्यादि यथोक्तमत्रैव गौराङ्गे ऋदिमेति। मुक्तापङ्क्तिप्रतिमदशनेति । गात्रेकोटितडिच्छवीति। मल्लीदामनिबद्धेति। पूर्णपद्यं पठनीयम् ।१। तादृशकैशोरसौन्दर्येऽपि यौवनश्रीः प्रविष्टा तदोभयमिलने किमुच्यते सौन्दर्यम् । नवनवत्वमत्रायातयामवत् समयातिपातेऽपि किंचिदपि रूपादेः परिणामाभावात् । स चेति । तदनुभवसमये मद्धृदयमेव साक्षीति सर्वत्र योजनीयम् । न यथावद्वचसा वक्तुं शक्यमिति भावः। प्रवेशस्य नवत्वं षोडशवार्षिकत्वं पञ्चदशं किशोरावधिस्ततो यौवनसन्धिस्तस्य तत्र प्रियायां सदा स्थायित्वात् । यथा तारुण्यप्रवेशसमये लज्जा-

रसकलश

और वह रस से घन आश्चर्य मय स्तन रूपी कलश, और यह वह बिम्बोष्ठ का मिठास, वह मुस्कान और वह वाणी तथा यह वह लीला गति भी भुलाइ नहीं जाती ।।८४।।

यहाँ पर 'तद्' या 'वह' शब्द के द्वारा अनिर्वचनीयता प्रकट की गई है कि मेरा हृदय ही इस का साक्षी है। सौन्दर्य या सुन्दरता जिसके कारण श्री प्रिया जो के लिये सुन्दरी शब्द का प्रयोग होता है जो परम कारण भूत है, छवि, रूप, लावण्य, इत्यादि उसी के रूपान्तर हैं। जैसा कि यहीं पर कहा है—'गोरे अङ्गों में कोमलता' इत्यादि, 'मोती की पङ्क्तियों के समान दान्तों वाली' इत्यादि, 'श्री विग्रह में कोटि विद्युतों की छटावली,' इत्यादि, मल्लिका की कलियों की माला के समान दन्तावली' इत्यादि भाव वाले सभी पद्य यहाँ पूरे-पूरे पढ़ने चाहियें।

उस प्रकार की किशोरावस्था की सुन्दरता में भी यौवन की शोभा का प्रवेश हुआ, तब प्रिया प्रियतम दोनों के मिलने पर तो सौन्दर्य का क्या कहना ? वह यौवन श्री भी नवीन-नवीन है यहाँ 'नव-नव' होने का ता तात्पर्य है कि वह कभी बासी नहीं होती। समय बीतता जाता है तो भी रूप आदि में कोई भी परिवर्तन या परिणाम नहीं आता। इसी लिये यहाँ 'वह' कहा गया है। उस सौन्दर्य के अनुभव के समय मेरा हृदय ही साक्षी है, यह बात सभी स्थलों में लगा लेनी चाहिये। क्योंकि वह यथार्थ रूप में वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रवेश की नवीनता का तात्पर्य सोलह वर्ष की अवस्था है क्योंकि पन्द्रह वर्ष तक किशोरअवस्था की अवधि है। उसके बाद यौवन सन्धि आती है, जो प्रिया जी में नित्य स्थायि रूप में रहती है। जैसा कि—'तारुण्य के

न्तःपटमारचय्येति अत्र किञ्चिन् मौग्ध्यं किंचिद्वैदग्ध्यं नवागमस्यौत्सुक्यं पूर्वाभ्यासापरिहार्यत्वं च द्विश्रियोर्मिलनेऽनिर्वचनीयानन्द उत्पद्यते एकं नवत्वं तत्कालप्रवेशत्वं द्वितीयमाधारवैशिष्ट्यादाधेयस्यापि वैशिष्ट्यवैलक्षण्यमेवेति ।२।

तादात्विकं सर्वं स्वरूपमाह सेति पूर्ववद् दृग्भङ्गी यथा लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्निति ययोन्मीलत्केलीति । भ्रूकोदण्डं न कृतघटनमिति यद्विक्रमकार्यं च वेणुः करान्निपतित इत्यादि ।३। स च रसघनाश्चर्येत्यत्र देहलीदीपवद् रसस्य घन इति घनीभूतमाश्चर्यं चेत्यपि ज्ञेयम् वा रसघन आश्चर्यरूपो वक्षोजकुम्भः निरन्तरत्वात्कञ्चुक्यावृत्यैक्यदर्शनाज्जातित्वाच्चैकवचनम् । यथा वृन्दाटवीप्रकटमन्मथेति सान्द्रानुरागरससारेति क्रीडासरःकनक-

रसकलश

प्रथम प्रवेश के समय में लज्जा से घूंघट करके' इत्यादि पद्य में कुछ मुग्धता और कुछ विदग्धता, यौवन के नवीन आगमन से उत्सुकता किन्तु पूर्व अभ्यास के अपरिहार्य (छोड़ने के लिये शक्य) न होना तो होता ही है साथ ही दोनों अवस्थाओं की शोभाओं के मिलने पर अनिर्वचीय आनन्द भी उत्पन्न होता है। यहाँ पर दो बार 'नव-नव' शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि एक नवीनता तो यौवन के उसी समय प्रविष्ट होने से यौवन में है और दूसरी नवीनता श्री राधा रूप आधार की विशिष्टता के कारण आधेय यौवन में भी कुछ विशिष्टता और कुछ विलक्षणता आ ही गई है।

उस समय के सम्पूर्ण स्वरूप का वर्णन करते हैं—'सा दृग्भङ्गी' इस शब्द में भी 'तद्' शब्द का प्रयोग पूर्ववत् अनुभव किये हुए के अर्थ में है, वे कटाक्ष । जैसा कि—'लीला पूर्वक किये गये अपाङ्गों के तरङ्गितों या कटाक्षों में एक-एक में से कोटि-कोटि कन्दर्प उत्पन्न हुए' इत्यादि पद्य में, और 'ययोन्मीलत्केलि' इत्यादि पद्य में तथा 'भ्रूकोदण्डं न कृतघटनम्' इत्यादि पद्य में वर्णन किया गया है। तथा जिन कटाक्षों की वक्रता के कार्य का वर्णन —'वेणुः करान्निपतितः' इत्यादि पद्य में किया गया है।

और 'वह रस के कारण घन और आश्चर्यमय उरोजकलश' यहाँ पर देहली दीपकन्यास से घन शब्द रस और आश्चर्य दोनों में लगता है जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक अन्दर बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है अतः रस का धन रूप और घनी भूत आश्चर्य यह दो अर्थ समझने चाहियें। अथवा घनीभूत रस और आश्चर्यरूप उरोजकलश एकतो ये उरोज घने हैं निकट निकट हैं दूसरे कञ्चुकी आदि से ढके हुए हैं इसलिये एक-जैसे दिखाई देते हैं अथवा जातिवाचक शब्द का एकवचन में भी प्रयोग करने का नियम होने के कारण 'वक्षोजकुम्भः' यहाँ एकवचन कहा है। जैसा कि—वृन्दाटवी प्रकट मन्मथकोटि मूर्तेः' इत्यादि में 'सान्द्रानुरागरस सार' इत्यादि में 'क्रीडासरः कनक

पङ्कजेति पद्यत्रयं श्रीगोवर्धन एवेति कौतुकं चापि वक्षोजशोभानुयायि ।४।
सोऽयमिति पूर्ववत् । स इति परोक्षम् अयमिति प्रत्यक्षं परोक्षस्मरणस्य बुद्धि-सन्निधाने साक्षात्कृतत्वाद् इत्थमन्यत्रानुक्तमपि ज्ञेयम् । बिम्बाधरस्य मधुरिमा यथा यस्याः शोणाधरश्रीर्विधृतनवसुधामाधुरीसारसिन्धुरिति ततस्तत्कार्यं च सा राधा कामबाधाविधुरमधुपतिप्राणदेति ।५।

तत्स्मितं सा च वाणीति द्वयं यथा श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्तीमिति संलापमुच्छलदनङ्गेति लावण्यामृतवार्तयेति क्षरन्तीव प्रत्यक्षरमिति यदि कनकसरोजमित्यपि ।७। सेयं लीलागतिरपीति द्वयं वा लोलाविशिष्टा गतिः । यथा चलत्पदगतिं चरिताभिरामामित्यत्र चरितानि लीलैव करीन्द्र-वनसम्मिलन्मदकरिण्युदारक्रमेति एषां संग्रहोऽपि श्रीमद्बिम्बाधरे ते स्फुरतीति ।८।

एतदष्टकं श्रीमत्या मया न विस्मर्य्यते अन्यच्च तत्सौन्दर्यमित्यनेन

रसकलश

पङ्कजकुड्मलाय' इत्यादि तीन पद्यों में भी वक्षोज के लिये एक वचन का ही निर्देशहै। और 'श्रीगोवर्धन' इत्यादि पद्य में उरोजों की शोभा से अनुगत एक कौतुक भी है।

'सोऽयम्' या 'वह यह' दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं, तत्शब्द परोक्ष का वाचक है और 'अयम्' प्रत्यक्ष का। दूसरे की कही हुई बात का स्मरण हमारी बुद्धि में सन्निहित है अतः साक्षात्कार किया गया है। ऐसा भी अन्यत्र भी स्पष्ट न कहने पर भी जान लेना चाहिये। बिम्बफल के समान अधर बिम्बाधर कहा गया, उसकी मधुरिमा या माधुरी भी यह वह है। जैसा कि—यस्याःशोणाधरश्रीः' इत्यादि श्लोक में 'साराधा कामबाधाविधुरमधुरपतिप्राणदा' इत्यादि द्वारा भी उनके कार्यों का वर्णन किया गया है।

'वह मुस्कान और वह वाणी' यह दोनों भी 'श्रीराधिकां निजविटेन', इत्यादि 'संल्लापमुच्छलदनङ्गतरङ्गमाला' 'इत्यादि लावण्यामृत' वार्तया इत्यादि तथा 'क्षरन्नीव प्रत्यक्षर' इत्यादि और 'यदि कनक सरोजं' इत्यादि पद्य में वर्णित हैं। 'सेयं लीलागतिरपि' में लीला और गति दो वस्तुएँ हैं अथवा लीला विशिष्ट गति ही विवक्षित है। जैसा कि—'वीक्षे चलत्पदगतिं चरिताभिरामाम्' इत्यादि में जो चरित कहे गये हैं वे लीला ही हैं, 'करीन्द्रवन सम्मिलन्मद करिण्युदारक्रमा' इत्यादि का भी गतिवर्णन में संग्रह किया जा सकता है ऐसे ही 'श्रीमद्बिम्बाधरे ते स्फूरति' इत्यादि में भो श्रीप्रिया जी की सर्वाङ्ग शोभा का वर्णन किया गया है।

श्रीमती (राधिका जी) के स्तोत्र का यह अष्टक मैं नहीं भुला सकता। और

यौवनश्रीप्रवेशात्प्रागपि कैशोर-सौन्दर्यमयत्वं स्थितमेव तस्मिन्यदा यौवन-श्रीः प्रविष्टा तदा तेन यथोक्तस्वागतं कृतम् । तदेवाह वाचं दद्यान्मनो दद्या त्स्मिताद्यैः परितोषयेदिति महद्धर्मः प्रथमं दृग्भङ्गीहर्षोत्फुल्लनयनत्वं ततो वक्षोजेति मङ्गलकलशोपन्यासस्तदभ्युदयार्थः स्वहर्षसूचकश्च । तत आसी नायां विम्बफलान्यमृतमयानि समर्पितानि मधुरिमेति मध्वासवोऽपि च स्मित-तमित्यत्र व्यङ्ग्यं मया तु संचितमेव एतदास्वादविदग्धात्रभवती भवती भवति । तादृङ्मधुरासवादिदानादानस्यौत्सुक्यं स्वस्यापि जातम् ।

ततो वाणी श्रीराधिकां निजविटेनेति तादात्विकशोभा दर्शनीया वा संलापमुच्छलदनङ्गेति किञ्च कामुकयोः संभाषणं तदेव यौवनश्रियाः स्वा-गतं ततो लीलागतिरितस्ततो हर्षेण तत्सेवार्थमेव भ्रमणमित्यादि सूक्ष्म-दृशा सहृदयैरवगम्यम् ।

रसकलश

'तत्सौन्दर्यं सच नवनवो यौवन श्रीप्रवेशः' इत्यादि पद्य से यौवनश्री के प्रवेश होने से पूर्व भी किशोरावस्था की सुन्दरता से परिपूर्ण थीं ही, अब जब यौवन श्री का प्रवेश हुआ तब उस सौन्दर्य ने इसका जैसा कहा गया है वैसा स्वागत किया । यही तो कहा गया है कि—'वाणी दे, मन दे तथा मुस्कान आदि से सन्तुष्ट करे' इस प्रकार अभ्यागत का स्वागत करना यही बड़ों की रीति है । यहाँ पहले 'दृग्भङ्गी' द्वारा यौवन श्री के शुभागमन पर हर्ष से नेत्रों का खिल उठना कहा गया, फिर 'वक्षोजकलश' द्वारा स्वागत में मङ्गल कलश का रखना उस अभ्यागत के अभ्युदय के लिये और अपने हर्ष को प्रकट करने के लिये किया गया । उसके यथा स्थान बैठ जाने पर बिम्बफल जो अमृत के समान मधुर हैं वे समर्पित किये । 'मधुरिम' शब्द द्वारा मधु या आसव भी दिया । स्मित की बात तो पहले ही कही जा चुकी है । इस आस्वाद के विषय में श्रीमती ही कुशल या निपुण हैं । उस प्रकार के मधुर आसव के देने लेने से अपने मन में भी उत्सुकता उत्पन्न हुई ।

इसके बाद वाणी—'श्री राधिका निजविटेन' इत्यादि पद्य में वर्णित तात्कालिक शोभा के कारण दर्शनीया श्रीराधा जी को प्रस्तुत करती है अथवा 'संलापमुच्छलदनङ्ग-तरङ्ग माला' इत्यादि में भी । फिर कामुक और कामिनी का परस्पर सम्भाषण ही तो यौवन श्री का स्वागत है । तब लीलागति अर्थात् हर्ष से इधर उधर अभ्यागत यौवन श्री की सेवा के लिये ही भ्रमण करना इत्यादि सभी बातें सूक्ष्म दृष्टि से सहृदयों को समझ लेनी चाहियें ।

द्वितीयक्रमेऽपि पूर्वार्थेन मेल्यते यद्रसे मनो मज्जत्विति कौतुकेऽपि निष्ठावाक्यं प्रियस्य श्रुत्वा द्रवद्धृदया स्नानमज्जनादिसहजसौन्दर्येण तत्रापि यौवनश्रीप्रवेशेन साभिलाषा अर्थात्तादात्विकशोभा दर्शनीयैव पादस्पर्शजातया दृग्भङ्ग्या च लज्जाविशिष्टकृपया कटाक्षिप्य वक्षोजमङ्गलपुरस्कारेण प्रियं गाढमालिलिङ्ग । श्रीमद्बिम्बाधरमधुरासवेन संतोष्य स्मित्वा च वाण्याभिभाष्य अलमेतावतातुरप्रेमकातरप्राणप्रियलालसोद्यमेनेति करेण करं प्रगृह्य मत्तकलहंसमिथुनलीलागत्या शृङ्गारकुञ्जमाजगाम । तदा हितसखी प्राणान्नीराज्य प्रियसखीं काञ्चिदाह तत्सौन्दर्यमित्यादि सर्वं वदन्तीव हर्षपुलककुलाकुलतनुर्बभूवेति ज्ञेयं सहृदयविचार्यम् ॥८४॥

श्रीराधाबल्लभो जयति । तदेवं प्रागलमिति पद्ये बाह्यकक्षायां सर्वानाश्राव्य स्वदास्यनिष्ठोक्ता प्रार्थना च स्वेष्टं प्रति परोक्षतया कृता ततस्तत्सौन्दर्येति मनो लग्नं तत्र श्रीमन्निकुञ्जस्थितभावरूपेण तदेव दास्यं स्वामिनीमभिमुखीकृत्य प्रार्थयते—

रसकलश

दूसरे क्रम में भी पूर्व अर्थ से मिलाप किया जाता है कि 'मेरा मन श्रीराधा जी के किङ्करीभाव के रस में ही मग्न हो' ऐसा निष्ठावाक्य प्रिय के मुख से कौतुक में सुनकर भी श्रीराधा द्रवित हो गईं, स्नान मज्जन आदि द्वारा सहज सौन्दर्य भी कुछ अनुपम ही हो आया, फिर यौवन श्री का प्रवेश हो आने से तो वे साभिलाष हो उठीं अर्थात् उस समय की शोभा से सविशेष दर्शनीय हो गईं । इसी समय श्री श्यामसुन्दर ने जो चरण स्पर्श किया उससे दृग्भंगी या कुटिल कटाक्ष हो आये फिर लज्जापूर्वक कृपा कटाक्ष, उरोजरूपी मङ्गल कलश रूपी पुरस्कार देकर प्रियतम का गाढ़ आलिङ्गन किया और अपने श्रीयुक्त बिम्बाधर के मधुरस रूप आसव से प्रियतम को सन्तुष्ट करके मुस्कराते हुए वाणी से उनके साथ सम्भाषण करके 'बस आतुर और प्रेमकातर प्राणप्रिय की लालसा को अधिक बढ़ाना ठीक नहीं' यह सोचकर अपने हाथ से उनके हाथ को पकड़कर मदमत्त कलहंसों के युगल की लीलापूर्वक गति से चलकर शृङ्गारकुञ्ज में पधारीं । तब श्रीहित सखी प्राणों को निछावर सा करके किसी प्रियसखी से 'वह सौन्दर्य और वह नवीन नवीन यौवन श्री में प्रवेश' इत्यादि सब बात कहती हुई हर्ष से रोमाञ्च से व्याप्त विग्रह हो गईं ऐसा जानना चाहिये, और सहृदयों को इस पर विचार करना चाहिये ।८४।

श्री राधावल्लभ लाल की जय । इस प्रकार पहले 'अलं विषयवार्तया' इत्यादि श्लोक में बाह्यकक्षा में सब को सुनाकर अपनी दास्यनिष्ठा का वर्णन किया और परोक्षरूप से अपने इष्ट के प्रति प्रार्थना की, तब 'तत्सौन्दर्यम्' इत्यादि कथन से ज्ञात होता है कि मन लग गया । वहाँ श्रीनिकुञ्ज में स्थितभाव से तभी दास्य (किङ्करी भाव) के लिये याचना श्री स्वामिनी जी को अभिमुख करके प्रार्थना करते हैं—

यल्लक्ष्मीशुकनारदादिपरमाश्चर्यानुरागोत्सवैः
प्राप्तं त्वत्कृपयैव हि व्रजभृतां तत्तत्किशोरीगणैः।
तत्कैङ्कर्यमनुक्षणाद्भुतरसं प्राप्तुं धृताशे मयि
श्रीराधे नवकुञ्जनागरि कृपादृष्टिं कदा दास्यसि॥८५

श्रीराधे परमसिद्धिरूपनाम्नि पूर्णशृङ्गारश्रीविशिष्टे नवसदैकरसे कुञ्जे नागरि प्रेष्ठसंगक्रीड़ाकुशले । तत्तादृशमहिमकैङ्कर्यं प्राप्तुं धृताशे मयि कृपादृष्टिं कदा दास्यसीति । तत्किमिति तदेवाह यदित्यादि—लक्ष्मीः न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थमितरे नियमान्वहन्तीति सदाचरणसेवनरताः श्री शुको भगवान् चयं मायानावृत इति सर्वत्र श्रुतेः । नारदोऽप्यवतार एव गणित आदिशब्देन ब्रह्मशिवसनकाद्याश्च, अर्थाद्ब्रह्माण्डेऽनुरागतारतम्यदर्शनाकुण्ठदृष्टयस्तत्रापि परानुरक्तिभक्तिसम्प्रदायाचार्यास्तेषामपि परममाश्चर्यं यस्मात्तादृशोऽनुरागस्योत्सवो येषां ते, यथा नार्यं

रसकलश

'लक्ष्मी शुकदेव, नारद आदियों के लिये परम आश्चर्यकारी अनुराग ही जिनके लिये उत्सवरूप हैं ऐसी व्रजवासियों को उन उन किशोरियों के गणों ने जो तुम्हारी कृपा से ही प्राप्त किया है । हे नवकुञ्जों में रहने वाली नागरी, श्री राधे ! उस प्रतिक्षण अद्भुत रस (देने) वाले किङ्करीभाव (दास्य) को प्राप्त करने के लिये धारण कर रखी है आशा जिसने ऐसे मुझ पर कृपादृष्टि कब दोगी ? ॥८५॥

श्री परमसिद्धि स्वरूप नामवाली, पूर्ण शृङ्गार शोभा से विशिष्ट नवीन और सदा एकरस निकुञ्ज में नागरी—प्रियतम के सङ्ग में क्रीडा करने में कुशल श्रीराधे ! उस वैसी महिमा वाले दास्य को प्राप्त करने के लिये धारण की है आशा जिसने ऐसे मुझ पर कृपादृष्टि कब दोगी । दास्य क्या है उसी का वर्णन करते हैं—'यत्' या 'जो' इत्यादि द्वारा । लक्ष्मी के कृपाकटाक्षके लेशमात्र के लिये अन्य जन अनेकानेक नियमों को धारण करते हैं । अर्थात् सदाचार में निरत रहते हैं, श्री शुकदेव भगवान् जिनके लिये सर्वत्र सुना जाता है कि वे माया से अनावृत होते हुए भी जिस प्रभु का सदा कीर्तन स्मरण करते रहते हैं । नारद, जो भगवान् के अवतार ही माने गये हैं ये तीनों हैं आदि जिनके या इन तीनों के आदि, ब्रह्मा, शिव, सनक इत्यादि अर्थात् ब्रह्माण्डों में अनुराग के तारतम्य का दर्शन करने में जिनकी दृष्टियाँ कुण्ठित नहीं है, इतना ही नहीं जो परम अनुराग रूप भक्ति के सम्प्रदायों के आचार्य हैं उनको भी जिससे परम आश्चर्य होता है ऐसा अनुराग जिनके लिये उत्सवरूप है । जैसा कि—'अत्यन्त प्रीति रखने

श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादइति । शुकस्तु तदनुरागवन्द्येव नारदः सर्वत्र भक्तान्वेषी व्रजगोपीरेव निश्चितवान् शिवोऽपि प्रसह्य गोपीबभूव । ब्रह्मापि यद्गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकमिति । उद्धव आसामहो चरणरेणुजुषामिति पूर्णानुभव्येव एवमाश्चर्योद्घोषः अहह कुत्राप्येतादृशो न दृष्टः, वयमनुरागदृप्ता अपि पराजिता एवं सपुलकशिरो धुन्वाना आहुरिति ।

किं चान्यत्र भक्तेष्वनुरागस्तारतम्येन यथा पात्रसंभृतिवत् स्थायी तु वर्तत एव परन्तु उज्जृम्भणं न यथा पयस उत्फणनम् अत्र व्रजगोपीषु सदैवोत्सववत्स्थायीति तादृशैर्व्रजभृतां किशोरीगणैः 'सदानन्दं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यत' इति सर्वधामस्वव्ययं श्रीकृष्णस्य परमप्रेमास्पदं धाम स्वामिवैशिष्ट्यात्स्थानवैशिष्ट्यम् । तादृशं बिभ्रतीति तस्यापि पोषकास्तैर्गोपैरलं-

रसकलश

वाली लक्ष्मी पर भी यह कृपा नहीं है' इत्यादि में कहा गया है। श्री शुकदेव तो उस अनुराग के प्रशंसक या बन्दी ही हैं। नारद जी ने सर्वत्र घूम-घूमकर सबसे उत्तम भक्त को ढूँढते हुए ब्रज की गोपियों को ही सर्वोत्तम भक्त निश्चित किया था, शिव भी हठात् गोपी बन गये थे। ब्रह्मा जी ने भी—'वह भूरि भाग्य है यहाँ श्रीवृन्दावन में या गोकुल में भी किसी प्रकार का जन्म प्राप्त कर लिया जाए जिस जन्म में किसी गोपी की चरणरज से अभिषेक प्राप्त हो सकता है।' इत्यादि द्वारा गोपियों की ही प्रशंसा करते हैं और उद्धव भी 'अहो! में इन गोपियों की चरण रेणु प्राप्त करने वाले लता गुल्म औषधियों में से कुछ भी हो जाऊँ। इत्यादि से पूर्ण अनुभवी जाने गये हैं तभी उन्होंने ऐसी आश्चर्य घोषणा की है—अहह! कहीं भी ऐसा नहीं देखा गया, हमें श्रीकृष्ण के प्रति अपने अनुराग का बड़ा अभिमान था किन्तु इन गोपियों ने हमें हरा दिया इस प्रकार रोमांच के साथ सिर हिलाते हुए गोपी प्रेम का वर्णन करते हैं।

और भी एक बात है अन्य स्थलों में भक्तों में प्रीति तारतम्य से विद्यमान है जैसे पात्र भरे रहते हैं। उनमें वह प्रीति स्थायी रूप में विद्यमान भी है ही। किन्तु दूध के उफान जैसा उस प्रीति का उमड़ पड़ना उनमें नहीं देखा गया। यहाँ व्रज की गोपियों में वह प्रीति उत्सव के समान सदा स्थायी है अतः वैसी व्रजवासियों की किशोरियों के गणों के द्वारा (जो दास्य श्रीराधा जी की कृपा से ही प्राप्त किया गया है)। 'सदा आनन्दस्वरूप व्यापक परब्रह्म व्रज कहलाता है, इस वचन के अनुसार सभी धामों में श्रीकृष्ण का परम प्रेमास्पद यही धाम है। स्वामी की विशेषता से धाम को भी विशेषता प्राप्त है। उस सदानन्द स्वरूप व्यापक परब्रह्म नामक व्रज को धारण करने वाले तथा उसका पोषण करने वाले वे गोप जिनके द्वारा श्यामसुन्दर अलङ्कृत हुए। जैसा कि—

कृतो वर्तते यथा एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेत्यत्र यद्धामार्थ सुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृत इति येषामनुरागोद्धोषस्तेषां किशोर्य उक्तानुरागाः । त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्, कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः, प्रतियातु साधुनेत्याद्यनुभावाः । तत्तदिति कासां कासां किं किं नाम पृथग्गृह्णीयां सर्वास्ताहृश्य एवेति मद्धृदयमेव साक्षीति तासां गणैर्यूथशस्तैः पूर्वं तु श्रीकृष्ण एवैकः प्रेमास्पदो ज्ञातस्ततस्तदासक्तिः परमप्रेमास्पदायां समानमाधुर्यैश्वर्यायां प्रियायां दृष्टा युगलमाधुरी दृष्टिमात्रेणैव स्वस्मिन्विलज्य पश्चात्तप्ता स्वत एव हृदयात्सकामता नष्टा यथा भानूदये तमो रक्षितमपि नश्यति । ततः प्रियाश्रयो गृहीतः । आधाय मूर्धनि यदापुरुदारगोप्य इति रेणुधारणं किञ्च भावोत्सवेन भजतीर्दृष्ट्वा स्वदास्यं दत्तं तदापि हि निश्चयेन कृपयैव न तु किंचित्कृष्णसाधनमहत्त्वबलेन चेति ।

रसकलश

'हे देवरत ! इन घोष निवासियों को क्या बात कही जाये इत्यादि प्रकरण में श्यामसुन्दर के लिये अपने धाम, धन, सखा, प्रिय आत्मा, पुत्र और प्राण तक अर्पण कर रखे हैं ।' ऐसा कहकर उनकी प्रीति की घोषणा की गई है । उनकी किशोरियां जिनके अनुराग का वर्णन किया गया है—'एक निमेषमात्र का समय श्रीकृष्ण को न देखने पर उनके लिये युग के समान हो जाता है ।' 'श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये कार्यों का उन्मद और प्रेमान्ध होकर जो अनुकरण करने लगीं ।' और जिनके अनुभाव के विषय में श्री श्याम सुन्दर ने कहा कि तुम्हारा उपकार किस प्रत्युपकार द्वारा उतारा जाए' । 'तत्तत्किशोरी गणैः' में 'तत्तत्' शब्द का यह अभिप्राय है कि अलग अलग किस किसका क्या क्या नाम लूँ, सभी वैसी ही हैं, इस विषय में मेरा हृदय ही साक्षी है, उन किशोरियों के गणों या यूथों के द्वारा । पहले तो श्रीकृष्ण एक ही उनके प्रेमास्पद रूप मैं जाने गये थे, फिर उसकी आसक्ति परम प्रेमास्पदा समान माधुर्य और और ऐश्वर्यवाली श्री प्रिया जी मैं देखी गई । युगल माधुरी को देखते ही वे अपने आप में लज्जित हुईं उन्हें पश्चात्ताप हुआ, स्वयं हो उनके हृदय से सकामता निकल गई जैसे सूर्य का उदय हो जाने पर सुरक्षित अन्धकार भी नष्ट हो जाता है । तब उन्होंने श्री प्रिया जी का आश्रय लिया । 'उदार गोपियों ने श्रीराधा जी की जिस चरण रेणु को मस्तक पर धारण करके प्रिय गुणों के साथ श्री श्याम सुन्दर के कमनीय पद को प्राप्त किया ।' इत्यादि में उसका श्री प्रिया जी की चरणरेणु को धारण करना कहा गया है । फिर उनको भावोत्सव के साथ भजन करती हुई देखकर अपना किङ्करीभाव या दासीभाव भी दे दिया, किन्तु वह भी निश्चित रूप में केवल कृपा से ही दिया गया है न कि किसी श्रीकृष्ण साधना के महत्त्व के बल से ।

ननु तत्कैङ्कर्ये किं सर्वातिशायि निरवधि नित्यानन्दो दृश्यते तत्राह अन्वित-क्षणंक्षणमद्भुतरसो यत्रेति वैदग्ध्यसिन्धुरिति लावण्यसारेति पादस्पर्शरसोत्सव-मिति यत्किंकरीष्विति संकेतकुञ्जमनुपल्लवेति चलल्लीलागत्येत्याद्युभयानन्द-केलिकल्लोलानां तत्सुखेन विलसनमिति । अत्र ललिताद्यास्तु नित्यसिद्धा एव इमास्तु साधनसिद्धास्तासां कृष्णप्रेमापि साधनमेवेति दृश्यते तादृशस्वामिनी-पदनिष्ठाया हितसख्या अन्यगोपीकथास्मरणस्यात्र प्रयोजनम् । साधकानु-शासनार्थं नित्यसिद्धपरिकरेषु भावेनान्येऽपि तादृशभावापन्ना भवन्तीति । तत्रापि गोपीरूप एव गोप्येकभावाश्रया वृन्दावननागरीपशुपस्त्रीभावलभ्य इति वचनात् ।

अत एव व्रजभृतामित्युक्तं किं चान्यस्त्रीजातिर्न तत्रार्हा तत्र व्रजे जाताया अपि श्रीमन्नागरीसम्बन्धापेक्ष्यत्वं सख्योऽपि गोप्य एव चेत्यतः प्रियादासीत्वं सर्वतः श्रेष्ठमिति दर्शितम् । अत्रेदमपि तत्त्वं गोप्यः स्वकामिनीत्वंत्यक्त्वादास्यो जाता । अहं तु प्रथमत एव बुभूषुरिति निजभाग्याधिक्यं ध्वनितम् । ननु

रसकलश

अब प्रश्न होता है कि श्रीराधा जी के प्रति किङ्करीभाव में ऐसा कौनसा सबसे बढ़कर असीम अखण्ड आनन्द देखा जाता है ? उस पर कहते हैं—अनुक्षण अर्थात् क्षण-क्षण जिसमें अद्भुतरस है । 'वैदग्ध्यसिन्धु' इत्यादि, 'लावण्यसार' इत्यादि 'पादस्पर्श-रसोत्सवम्' इत्यादि 'यत्किङ्करीषु बहुशः' इत्यादि, सङ्केतकुञ्जमनुपल्लव' इत्यादि और 'चलल्लोलागत्या' इत्यादि प्रिया प्रियतम दोनों को आनन्दमय केलि या क्रीडा की कल्लोलों की विलसन तत्सुख सुखी भाव से हो रही है । यहाँ पर ललिता आदि तो नित्य सिद्ध ही हैं, और ये वर्णयमान किशोरियाँ साधन सिद्धा हैं, उनका श्री कृष्णप्रेम भी साधन ही देखा जाता है । श्रीहितसखीजी द्वारा यहाँ अन्य गोपीजन की चर्चा का प्रयोजन वैसो स्वामिनी के चरणारविन्दों में निष्ठा ही है । साधक जनों को शिक्षा देने के लिये नित्य सिद्धपरिकरों में विद्यमान भाव से अन्य भी वैसे भाव को प्राप्त हो जाते हैं उनमें भी गोपी रूप साधक तभी तो 'गोप्येकभावाश्रयाः' और 'श्रीवृन्दावननागरी-पशुपस्त्रीभावलभ्यः परम' इत्यादि कहा गया है ।

तभी यहाँ पर भी 'व्रजवासियों की किशोरियों' इत्यादि में यह विशेषण दिया गया है । एक बात और भी है कि अन्य स्त्री जाति की वहाँ पहुँचने की योग्यता नहीं है । व्रज में जन्म लेने पर भी श्रीमती नागरी जी को सम्बन्ध के अपेक्षा रहती है । सखीजन भी गोपीगण हीं हैं अतः प्रिया जी की दासी होना सबसे श्रेष्ठ है यह दिखाया गया है । यहाँ यह भी एक तत्त्व है कि गोपीजन अपने कामिनी भाव को छोड़कर दासी बन गईं हैं । मैं तो पहले से ही दासी बनना चाहती हूँ इससे अपने भाग्य का अतिरेक

यावत्कोटिकन्दर्पलावण्यप्रियदर्शनं न स्यात्तावतैव ते निष्ठेति चेत्तत्राह कृपा-दृष्टिमिति त्वत्कृपया किमजितजयो दुर्जय इत्येतदाशयोऽग्रिमश्लोके यदि स्नेहादित्यत्र द्रष्टव्य इति तेन गोपीषु कटाक्षः अर्थादहमेवं रहः प्राप्तः काम सङ्कटेपि न चलामीति भावः ।

अन्यच्च व्रजभृतामिति त्वत्कृपयेति एवहीत्यनेन व्रजैकवासनैकट्येऽपि कृपयैकलभ्यं न च वासमात्रेणेति किञ्च तेन तु अन्यरसा वात्सल्यसख्याद्या अपि प्राप्यन्ते अन्यदपि कारणं चाह । इदं दास्यं पूर्वं प्रच्छन्नं लीलाया अप्रकट-त्वात् । यदा च प्राकट्यं तदा व्रजगोप्यनुरागद्वारैवैतत्प्राप्तिर्दास्यमहिमा च प्रकाशितौ । अतः प्रवृत्तिमेवारभ्य दास्यमहिमानं वदन्स्वयं तत् प्रार्थयते इत्यपि पूर्वपीठिका ज्ञेया ।

आन्तरेऽर्थे श्रीप्रिया प्रियकरं गृहीत्वा कुञ्जे विराजिता । तत्र हितसखी स्वकरकृतश्रीविग्रहस्नानसेवावरोधात्परमव्याकुलप्रेम्णा प्रियामुपालभन्ती-वोवाच । श्रीराधे प्रियाङ्कसौभाग्यश्रीमति नवकुञ्जविलासविदग्धे साधु-

रसकलश

ध्वनित होता है । अब यहाँ प्रश्न होता है कि जब तक कोटिकाम कमनीय श्रीश्याम सुन्दर का दर्शन नहीं होता तभी तक तुम्हारी यह निष्ठा बनी हुई है इस पर कहते हैं कि कृपा दृष्टि कब होगी ? तुम्हारी कृपा से क्या अजित को जीतने वाले को जीतना कठिन होगा ? यही आशय अग्रिम श्लोक 'यदिस्नेहाद्' इत्यादि में देखना चाहिये । इस प्रकार गोपियों पर कटाक्ष किया गया है मैं इस प्रकार एकान्त में प्राप्त हुए कामसङ्कट में भी विचलित नहीं होती यह भाव है ।

एक और बात भी है व्रजभृताम्', 'त्वत्कृपया' और एवहि' इन शब्दों द्वारा व्रजमात्र में वास की निकटता होने पर भी एकमात्र श्रीप्रिया जी की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है, केवल व्रजवासमात्र से नहीं, व्रजवास से तो अन्यरस वात्सल्य सख्य आदि भी प्राप्त होते हैं । और भी एक कारण बताते हैं यह दास्यभाव पहिले अप्रकट था क्योंकि लीला अप्रकट थी । अब जब लीला प्रकट हो गई तब व्रजगोपियों के अनु-राग द्वारा ही उसकी प्राप्ति और दास्यभाव की महिमा प्रकट किये गये । अतः प्रवृत्ति को प्रारम्भ करके दास्य की महिमा का वर्णन करते हुए स्वयं उसकी याचना करते हैं ऐसी भी पूर्व पीठिका समझनी चाहिये ।

आन्तरिक अर्थ में श्री प्रिया जी प्रियतम का हाथ पकड़ कर कुञ्ज मे विराजमान हैं वहाँ पर श्री हित सखी अपने हाथ से किये गये श्री विग्रह की स्नान सेवा के रुक जाने से परम व्याकुल प्रेम से प्रिया जी को उपालम्भ देती हुई कहती हैं—'प्रिय के अङ्क में विराजमान होने के सौभाग्य से श्री शालिनी, नव निकुञ्ज विलासों में कुशला, श्रीराधा,

कृपादृष्टि मधुनैवविधेहि शृङ्गारोत्तरभोजनश्रीपदसम्वाहनादिसेवामेव करिष्य इत्यर्थः । पूर्वं तु त्वयाऽन्यसखीहस्तेनैव सेवा कारिता सा कृपैवेति महाभाग्यं तासामित्याशयेनाह यत्कैङ्कर्यं व्रजं यूथं विभ्रतीति यूथेश्वरीणां मुख्यानां मध्ये ये तत्तदिति कृपापात्रा श्रीअङ्गसेवास्नानादिनिरताः किशोरीगणास्तैस्त्वत्कृपयैव प्राप्तम् किञ्च मां द्वारे स्थाप्य तद्धस्तेन सेवा-कृपयैव कारिता त्वदाज्ञां विना तु कापि किमपि कर्तुं न शक्नोति तादात्विका-नन्देन स्वौत्सुक्यं कैमुत्येन सूचयन्विशिनष्टि कीदृशैर्गणैः लक्ष्मीः सारिकानाम-सङ्केतः शुकः स्पष्ट एव नारदः कोकिल एते स्नानकुञ्जे पञ्जरस्थाः पूर्व-मुक्ता एव ध्याननिष्ठा इति तेषामपि परमाश्चर्यकारी अनुरागोत्सवो याभ्यो वा यास्विति यासां सेवां दृष्ट्वा सारिकादीनामप्यनुरागो जात इति महदा-श्चर्यं यद्वयमपि स्वामिनीकृपया आसु काश्चित् सख्यो भूत्वा श्रीमूर्तिसेवां कुर्म इति अर्थात् पक्षिणोऽप्येवं तदाहं तु सहृदया कथं सेवासातत्यविच्छेदं सहामीति भावः ।

रसकलश

अपनी भली कृपा दृष्टि अभी करो, जिससे मैं शृंङ्गार—सेवा के बाद की भोजन (राज भोग) और चरण संवाहन आदि सेवाएँ करूँगी,' यह अर्थ है । पहिले तो तुमने अन्य सखी के हाथों से ही सेवा स्वीकार की, वह कृपा ही उसका परम सौभाग्य है इस आशय से कहते हैं—जो दासीभाव व्रज भुताओ अर्थात् मुख्य यूथेश्वरियों के मध्य में जो वे तुम्हारे कृपा पात्र बने हुए, श्री अङ्गों की स्नानादि सेवाओं में संलग्न किशोरीगण हैं, उन्होंने तुम्हारी कृपा से ही वह दासी भाव का सौभाग्य प्राप्त किया हैं । मुझे द्वार पर खड़ा करके उनके हाथों से तुमने सेवा कृपा के कारण ही कारवाई है, तुम्हारी आज्ञा के बिना तो कोई भी कुछ भी नहीं कर सकती । उस समय के आनन्द से अपनी उत्सुकता का क्या वर्णन करूँ यह सूचित करते हुए विशेषण लगाते हैं—कैसे हैं वे किशोरीगण ? 'लक्ष्मी' यह सारिकाओं का नाम है 'शुक' तो स्पष्ट होते हैं ही, नारद कोकिल हैं यह सभी स्नान कुञ्ज में पिञ्जरों में बैठे हैं ऐसा पहिले कहा ही गया है कि वे ध्यान निष्ठ हैं । उनके लिये भी परम आश्चर्यकारी है अनुरागोत्सव जिनका । जिनकी सेवा को देखकर सारिका आदियों को भी अनुराग हो आया, बड़ा आश्चर्य है कि हम भी श्री स्वामिनी की कृपा से इनके मध्य में कोई सखी बनकर श्री मूर्ति की सेवा करती हैं अर्थात् पक्षी भी जब ऐसे हैं तब मैं सहृदया होती हुई सेवा की निरन्तरता के विच्छेद को कैसे सहन करूँ ? यह भाव है ।

अनेन सेवारतानां पराकाष्ठादर्शिता यत्सचिवत्वं सर्वोत्कृष्टमपि श्रीअङ्गसेवाव्यवधानदुःखान्न श्रेष्ठंमन्यन्ते सख्यः अन्यथा श्रीकृष्णेन सह तादृशसंवादकौतुकस्तम्भनानन्दकरणस्वामिनीविश्रम्भास्पदतादि गौरवं महा-दुर्लभं कृपादृष्टिं कदा दास्यसीत्यनेन पूर्वास्वेव यादृशी कृपा कृता तस्याः काचिदधिका कर्तुमर्हा स्यादिति भङ्गो अत एव प्रतिक्षणमभ्दुतरसात्मकं युगलस्य सहभोजनं सहशयनं तादृगानन्दात्मकं कैङ्कर्यपदलालनाद्यग्रे वक्ष्य-त्येवेति यथा कश्चिदन्तरङ्गसचिवोऽन्यान् सेवमानान् दृष्ट्वा स्वयं शिश्र-यिषुः स्वामिनं प्रति नैरन्तर्येप्यागन्तुक इव किमहमप्यागच्छे निदेशश्चेत्सेवां करोमीति वदति तद्वत्कथनकौतुकम् ।८५।

तादृगनुग्रहास्पदहितसख्याः सप्रेमभङ्गिकवाक्यमनुश्रुत्य इव द्रवद्धृदया किं नवीनेव भवतो वक्ति अस्मदानन्दस्तु त्वदानन्दार्थक एवेति वदन्ती प्रियांस-सपुलकभुजा श्रीमतो दास्यसीति तद्वाक्यानुसारेण गृह्यतां मया दत्तं यथेष्ट-कैङ्कर्यमिति सोत्प्राससहर्षमुवाच तदनन्तरं यत्सखीकृतं तदाह—

रसकलश

इस प्रकार सेवा मैं संलग्न जनों की पराकाष्ठा दिखाई गई है कि सचिव पदवी सबसे उत्कृष्ट है तो भी श्री अङ्गों की सेवा में व्यवधान के दुःख के कारण उसे सखियाँ श्रेष्ठ नहीं मानती हैं। अन्यथा श्री कृष्ण के साथ उस प्रकार के संवाद कौतुक द्वारा स्तम्भित कर देने वाले आनन्द को देने वाली स्वामिनी विश्वास पात्रता आदि अत्यन्त दुलंभ गौरव रूप कृपा दृष्टि कब करेंगी। इससे पूर्व जनों पर जैसी कृपा दृष्टि की है उससे भी कुछ अधिक मुझ पर कृपा दृष्टि करना उचित है यह अभिप्राय है। इसी लिये प्रतिक्षण अद्भुत रस वाला यह कैङ्कर्य्य या दास्य है, जहां युगल सरकार के सहभोजन, सह शयन, आदि की साक्षात्कार प्राप्ति है। चरण संवाहन का वर्णन आगे करेंगे ही जैसे कोई अन्तरङ्ग सचिव दूसरों की सेवा करता हुआ देखकर स्वयं सेवा करना चाहता है और स्वामी निरन्तर साथ रहता हुआ भी आगन्तुक की भाँति पूछता है कि क्या मैं भी आ जाऊँ ? यदि आज्ञा हो तो मैं भी सेवा करूँ ?' इत्यादि कहता है। वैसे ही यह श्री हित सखी जी का कथन कौतुक है, कहने की उमंग हैं। ॥८५॥

वैसी कृपा पात्र श्री हित सखी के प्रेम की भङ्गिमा से भरे वाक्य सुनकर द्रवित —से हृदय वाली क्या नवीन-सी तुम कह रही है। हमारा आनन्द तो तुम्हारे ही आनन्द के लिये हैं ऐसा कहती हुई प्रियतम के अंश पर पुलकित भुजा रखे हुई श्री मती 'कृपा दृष्टि कब दोगी, वाक्य के अनुसार 'लो मैंने तुम्हें यथेष्ट किङ्करी भाव दिया' ऐसा वचन उत्प्रास और हर्ष के साथ कहा तब सखी ने क्या किया ? यह कहते हैं—

लब्ध्वा दास्यं तदतिकृपया मोहनास्वादितेन
सौन्दर्यश्रीपदकमलयोर्लालनैः स्वापितायाः ।
श्रीराधाया मधुरमधुरोच्छिष्टपीयूषसारं
भोजं भोजं नवनवरसानन्दमग्नः कदा स्याम् ।८६।

दास्य-प्राप्तौ तादात्विकयथासमयार्ह-सेवनानन्दः स्मर्तव्यः, द्वितीय-क्रमे प्रियायाः स्नानमञ्जनादि वर्णितमेव तदा सखीकृतं प्रियस्य भावनीयम् तत्र शृङ्गारकुञ्जकौतुकं यथाविविधयथाभिलषितवसनमणिकुसुम-भूषणस्रग्गन्धाङ्गरागादि संपाद्य प्रियस्याग्रे कौतुकेन निवेदनम् । यच्छ्रीमता दास्यं प्रार्थितं तत्समयोऽयं यथारुचि शृङ्गारं कुरु तच्छ्रुत्वा प्रिया तु सस्मितसभ्रूभङ्गदृष्टिरेव प्रियः परमानन्देन शृङ्गारम् आरब्धवांस्तादात्विकपरस्परानन्दः किमेकरसनाशक्यः मध्ये मध्ये छविलावण्यनिरीक्षणस्थगितीभवनं सात्विकरोमाञ्चकरकम्पादि अङ्गस्पर्शलौल्यचाञ्चल्यं प्रियाभ्रूभङ्गिमादि

रसकलश

'उनकी अति कृपा से मोहन द्वारा आस्वादित (स्वादिष्ट वस्तु) से दास्य या किङ्करी भाव प्राप्त करके सौन्दर्य युक्त श्री चरण कमलों के संवाहन द्वारा जिन्हें शयन करा दिया गया है ऐसी श्री राधा जी के मधुर अति मधुर शीत प्रसाद रूपी अमृत सार का भोजन करता-करता मैं नवीन-नवीन रस के आनन्द में कब मग्न होऊँगा ?' ।।८६।

दास्य भाव की प्राप्ति हो जाने पर उस समय की समयानुकूल सेवा के आनन्द का स्मरण करना चाहिये । दूसरे क्रम में प्रिया जी के स्नान मज्जन आदि का वर्णन तो किया ही गया है, वैसा ही अन्य सखियों के द्वारा प्रियतम के भी स्नान मज्जन आदि की भावना कर लेनी चाहिये । वहाँ शृङ्गार कुञ्ज के कौतुक भी हुए जैसे—अनेक प्रकार के यथेष्ट वस्त्र, मणि, कुसुम, भूषण, माला, गन्ध केसर, अङ्गराग आदि का सम्पादन करके प्रिय के समक्ष कौतुक से निवेदन किया । जो आपने दास्य भाव की याचना की थी उसका समय आ गया है अब अपनी रुचि के अनुसार शृङ्गार करो, यह सुनकर प्रिया जी तो मुस्कान और भ्रूभङ्ग से युक्त नेत्रों वाली हो गईं और प्रिय ने परम आनन्द से शृङ्गार आरम्भ कर दिया, उस समय के पारस्परिक आनन्द का क्या एक रसना वर्णन कर सकती है । बीच-बीच में छवि और लावण्य को देखने से स्थगित हो जाना सात्विक, रोमाञ्च, कर कम्पन आदि तथा श्री अङ्गों के स्पर्श से मन मे लोलता और शरीर में चञ्चलता भी आती है, प्रिया जी भ्रूकुटि में कुटिलता आ जाती है तब

तदा सखीकटाक्षः पूर्वं भावोत्सवभजच्चिन्तामणिना त्वया किमेवं वरो दत्तो नास्मद्दोषः । समस्तश्रृङ्गारानन्तरं स्वकरेण मुकुरदर्शनं ततः प्रसद्य ताम्बूलदानं तत्प्रियेण प्रणत्यादरेण प्रसादीकारयित्वा ग्रहणं, ततः प्रियस्यापि सखीभिर्वा प्रियया प्रसद्य श्रृङ्गारो रचितस्तदाऽऽनन्दवैचित्र्यं तद्धृदयमेव जानातीति ।

तादात्विकभोजनानन्दश्च तत आरात्रिकं सखीकटाक्षेण किमहं करोमीति वक्ति, ततस्तस्याग्रहेऽपि श्रीमतो वाम्यभिया सख्यैव कृतं ततस्तद्भाववर्णनमयं गानं नर्तनं चाभितः स्वच्छसुमनोरजःसुरभितवीथीकुसुमासनवितानतोरणजालजलयन्त्रविचित्रविविधसमीरसमीरितपरमानन्दे महामाधुरीनिकुञ्जे परस्परभोजनानन्दः प्रियो निजकरेण प्राणप्रियां भोजयति । तत्ताद्दृशसस्मितबिम्बाधरमधुरिमास्वादसंसक्तलोलन्नासाग्रमुक्ताच्छविसाकूतभ्रूभङ्गीयुतदृगञ्चलचलनादिसुषमादर्शनवेपथुश्लथकवलकरं प्रियसखी समवधत्ते ।

रसकलश

सखीजन कटाक्ष करते हैं कि पहले भावोत्सव से भजन करने वालों के लिये चिन्तामणि बनी हुई तुमने ऐसा वरदान क्यों दिया था इसमें हमारा कोई दोष नहीं है । सब श्रृङ्गार करने के बाद प्रियाजी ने अपने हाथ से मुकुट या दर्पण देखा तब प्रसन्न होकर प्रियतम को पान का बीड़ा दिया, उसे प्रियतम ने प्रणाम और आदर के साथ प्रसाद मान कर लिया तब प्रियतम का भी सखीजनों ने या प्रियाजी ने प्रसन्न होकर श्रृङ्गार किया, उस आनन्द की विचित्रता को तो उनका ही हृदय जानता है ।

उस समय के भोजन का आनन्द भी अनिर्वर्णनीय हैं। उसके बाद आरती का समय आया तो सखी ने कटाक्ष से कहा क्या मैं आरती करूँ । तब प्रियतम के आग्रह करने पर श्रीमती (श्री राधा) जी अप्रसन्न न हो जाएँ इस भय से सखी नें ही आरती की । उसके बाद उनके भावों के वर्णन से पूर्ण गान और नृत्य हुआ । फिर चारों ओर स्वच्छ पुष्पों के पराग से सुगन्धित वीथियों में पुष्पों के ही आसन, वितान, तोरण जाल, जलयन्त्र, विविध चित्र और त्रिविध (शीतल मन्द सुगन्ध) पवन से जहाँ परम आनन्द प्रवाहित हो रहा है ऐसे महामाधुरी वाले निकुञ्ज में परस्पर एक-दूसरे को भोजन कराने का आनन्द हुआ, वहां प्रियतम अपने हाथों से प्रियाजी को भोजन कराते हैं। उस समय वैसी मुस्कान, बिम्बफल जैसे अधरोष्ठ की मधुरिमा के आस्वाद के लिये संसक्त—से चञ्चल नासाग्र में स्थित मुक्ता की छवि से और अभिप्राय युक्त भ्रूभङ्गी से युक्त दृगञ्चल (कटाक्ष) के चलन आदि की सुषमा के दर्शन से उत्पन्न हुए कम्प के कारण शिथिल हो रहा है कवल (ग्रास) जिसमें ऐसे हाथ वाले प्रियतम को सखी ध्यान

किमस्मद्दास्यदायादेतावतैवानवधानोसीति पुनरपि तथैव परम तत्सुख-विशारदप्रियावधानार्थं स्वकरेण तद्भोजने केनचित्कवलेन छद्मनाभि-मुखीकृत्य तद्वञ्चनं तत्र सखीकृतप्रियोपहासः, प्रियस्तदुपभोगानन्दभग्नस्तदध-रोच्छिष्टामृतं सखि किमिदमपूर्वमधुरमत्यास्वादवैचित्र्यमस्तीति प्रशंस्यतमां भुनक्ति एवं भोजनतुष्टावप्यासक्तदृग्गतृप्तैव स्थिता तदानन्दं प्रति तदितर-सर्वानन्दान् नीराज्याक्षादिक्रीडाकौतुकं प्राणप्रियेहितसखीयं ममास्तीत्युक्त-वति प्रिये मैवं मदीयास्तीति परस्परविवादेऽवदन्तीं सस्मितहर्षोत्फुल्लनयनां सखीं दृष्ट्वा जाने त्वन्ममैतदीयाऽसीति सोल्लुण्ठं वदन्त्यां प्रियायां श्यामश्यामे-त्यनुपमरसापूर्णवर्णैरिति तादृङ्मूर्तिर्व्रजपतिसुत इति पद्यद्वयमुक्त्वा प्रेमदैव-मेव साक्षीति द्वयमुपहासयित्वा शय्योपवेशनानन्दः काश्चिदविदूरे वीणा-वेणुमृदङ्गादिवादनभङ्गीतरङ्गैः सारङ्गं मधुरमधुरमुद्गायन्ति स्वयं हितसखी छायेव सेवासचिवा रात्रिविहारासवजागरनिद्राणसुकुमार्याः श्रीचरणसंलालनं करोति ।

रसकलश

दिलाती है, कहती है कि क्यों हमारे दास्य रूपी दायाद के विषय में तुम इतने असावधान हो ? फिर भी उसी प्रकार तत्सुख की परम विशारद श्री प्रियाजी प्रियतम को सावधान करने के लिये 'अपने कर कमल से उस भोजन में किसी एक ग्रास के बहाने अभिमुख करके उनको कहा तब सखी ने प्रियतम का उपहास किया, प्रियतम उस ग्रास के उपभोग के आनन्द में मग्न होकर कहने लगे—सखि, श्री प्रियाजी के अधर का यह उच्छिष्ट अमृत कैसा अपूर्व मधुर है इसका स्वाद अति विचित्र है इस प्रकार प्रशंसा करते हैं। और उस ग्रास का भोजन करते हैं। इस प्रकार भोजन की तुष्टि होने पर भी आसक्त दृष्टि में अतृप्तता ही रही; उस आनन्द के सामने अन्य सब आनन्दों को तुच्छ करके अक्षादि क्रीडा कौतुक को भी तुच्छ मान कर कहते हैं प्राणप्रिये, हितसखी मेरी हैं, प्रियतम के ऐसा कहने पर प्रियाजी बोलीं—'नहीं नहीं हितसखी मेरी है' इस प्रकार अल्हड़पने के साथ प्रिया जी के कहने पर हितसखी जी ने 'श्याम-श्यामेत्यनुपमरसापूर्ण-वर्णं जंपन्ती' इत्यादि और 'तादृङमूर्ति व्रजपतिसुतः पादयोर्मे पतित्वा' इत्यादि दो पद्य कहकर प्रेमदैव ही मेरा साक्षी है इस वचन द्वारा दोनों को हँसा कर शय्या पर बैठाने का आनन्द दिया, उस समय कुछ कुशल सखियाँ वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि बजाने की शैली से संगीत तरङ्गों द्वारा मधुर-मधुर सारङ्ग राग गाती हैं स्वयं श्रीहितसखी छाया के समान सेवासचिव होकर रात्रिविहार, प्रेमासव और जागरण के कारण निद्रित-सी होती हुई सुकुमारी श्रीप्रिया जी के चरणों का भली भाँति लालन या संवाहन करती हैं।

प्रियोऽपि तदभिलाषी तत्करोत्यपि श्रीमतीङ्गितभिया तं शाययित्वा नेत्राञ्चलस्पर्शपूर्वकानन्देनोपलालयति । ततो निद्रानन्दविच्छेदभिया बहिरागत्य तादृशोक्तावशिष्टमुच्छिष्टामृतं स्वयं भुनक्तीत्याद्यं तं दास्यक्रियमाणैव हितसखी नवनवानन्दमग्ना नवीनेवाशास्ते ।

लब्ध्वेति तस्या अतिकृपया वा तदिति च्छेदः पूर्वोक्तदास्यानुवादार्थः कृपातु तत्र स्थायिन्येव परन्तु त्वदानन्दार्थकेत्यादि प्रेमप्लुततादृशश्रीमुखोक्तिः श्रवणीयैवेति कृपातिशयद्योतनं सर्वसमाजोत्तरस्वकरसेवाकारणं साधकपक्षेतिशब्दार्थश्चेति सौन्दर्यश्रिया प्रवालस्थलकमलादितिरस्कारिपरममृदुयावकचित्रितमुक्तामरकतमञ्जीरमञ्जुलनखप्रभामण्डलचमत्कृत प्रियकरसम्मर्दनचुम्बनहृदयानयनाद्युपलालनप्राप्तसौभाग्यपरभागानुभवसंपदा विशिष्टयोस्तादृशपदकमलयोर्लालनैः स्वापिताया उक्तप्रकारेणेति लालने कथानकवद्वाक्यमपि ज्ञेयम् ।

यथा वृन्दावनेश्वरीत्यादि समयार्हं तादृश्याः श्रीराधाया मोहनस्य तादा-

रसकलश

प्रियतम भी उस सेवा सुख के अभिलाषी हैं अतः वे भो वैसा ही करते हैं किन्तु श्रीमती के इङ्गित के भय से श्रीहितसखी प्रियतम को भी सुलाकर नेत्राञ्चलों के स्पर्श के सहित आनन्द से उपलालन करती हैं। फिर निद्रा के आनन्द का विच्छेद न हो जाये इस भय से बाहर आकर वैसे पूर्वोक्त अवशिष्ट उच्छिष्टामृत को स्वयं पाती हैं इस प्रकार का प्रतिदिन आदि से अन्त तक दास्य करती हुई हितसखी नवीन-नवोन आनन्द में मग्न हुई नवीन-सी आशा करती हैं।

उन श्री राधा जी की अतिकृपा से अथवा अतिकृपा में उस (पूर्वोक्त दास्य) को प्राप्य करके ऐसा पदच्छेद होगा। कृपा तो वहाँ स्थायो ही है, परन्तु तुम्हारे आनन्द के लिए इत्यादि प्रेम से परिपूर्ण वैसे श्रीमुख की उक्ति श्रवण करने योग्य है इसलिये कृपा का अतिशय द्योतित करने का कारण यह है कि समस्त समाज से अधिक इन को ही अपने हाथों से सेवा का अवसर मिला है। साधक पक्ष में इसी का यह शब्दार्थ है—सौन्दर्यश्री प्रबाल, स्थलकमल आदि का तिरस्कार करने वाले, परम कोमल, महावर से चित्रित, मुक्ता और नीलमणि जटित मञ्जुल, नखप्रभा मण्डल से चमत्कृत, प्रियतम के करकमलों से सम्मर्दित, चुम्बित तथा हृदय और नेत्र आदि से उपलालन को प्राप्त हुई सौभाग्य की परम सीमा की अनुभव सम्पत्ति से विशिष्ट, ऐसे चरण कमलों के लालन या संवाहन से सुलाई गई अर्थात् जिनको शयन कराया गया हैं, इस प्रकार के लालन या संवाहन के कारण वाक्य भी एक कहानी-सा हो गया ऐसा जानना चाहिये।

जैसे वृन्दावनेश्वरी इत्यादि सम्बोधन समयानुकूल हैं, वैसे ही उस प्रकार की श्री राधा के मन को मोहित करने के कारण इनका नाम मोहन भी यहाँ समयानुकूल है

त्विकरसिकशेखरतादर्शनप्रेमवैचित्यापाङ्कस्यास्वादितेनोच्छिष्टेन सह स्वादितं तमिति यावच्चेत्स्पष्ट एव मधुरं स्वतस्तदुच्छिष्टं तद्भोगानन्दविशारद-प्रिय-प्रसंशापूर्वकास्वादेनातिमधुरमत एव पीयूषमात्रेषु सारमेतदेव तत्तत्परस्पर-संभोजनपरमकौतुकानन्दस्मरणासवमादकतादानेनापि मधुरं मधुरः शृङ्गार-समूर्तिः श्रीकृष्णस्तन्मादकमिति वा अत एवोच्छिष्टं तु प्रियाया एवास्वा-दितं प्रियेणेति व्यङ्ग्यं भोजं भोजं भुक्त्वा भुक्त्वा प्रतिकवलं नवनवानन्दमग्न इति नवत्वं स्वत एव तत्रत्यानन्दस्येति अहो कीदृशः प्रियाछविपूरःकीदृक्प्रि-यायत्तता कीदृक्परस्परनेत्राञ्चलकरभङ्गी अहह किमानन्दः स्निग्धवि-दग्धनववर्णिनीवरयोः किशोरयोरनुरागरसविग्रहयोः सहभोजनरसवैचित्र्या इति क्षणश उत्तरोत्तरपरमरसानन्दे रसनद इव मग्नः कदा स्यामिति पुनः पुनः सावधानी भूत्वा वक्तीति तादात्विकतदानन्दमर्मज्ञैव वा तत्कृपया सहृदय एव जानाति किमहमल्पो वच्मि इति। अन्यच्चापि मोहनेत्यस्य लाल-

रसकलश

क्योंकि उस समय उनकी रसिक-शेखरता को देखने से श्री राधा जी के मन में प्रेम के कारण वैचित्त्य अवस्था उत्पन्न हो गई, उन मोहन के द्वारा आस्वादित उच्छिष्ट के साथ आस्वादित हुए उस उच्छिष्ट को प्रसाद रूप में पाते पाते मैं नवीन नवीन आनन्द में कब मग्न होऊंगी। यहाँ स्पष्ट ही वह प्रसाद स्वयं मधुर है फिर उनका उच्छिष्ट है उस भोग के आनन्द को जानने वाले प्रियतम के द्वारा प्रशंसा पूर्वक आस्वादन के कारण अति मधुर हैं अतएव पीयूष या अमृत का यह सार ही है फिर उस उस परस्पर एक दूसरे को खिलाने के परम कौतुकमय आनन्द के स्मरण रूपी आसव की मादकता के दान से भी वह मधुर है। मधुर मधुर का अर्थ है कि शृङ्गाररसमूर्ति श्रीकृष्ण उनका भी मादक होने के कारण मधुर का मधुर है। इसीलिये यह उच्छिष्ट है कि प्रियाजी ने तो इसका आस्वादन किया ही है किन्तु प्रियतम ने भी इसका आस्वाद लिया है। इस प्रसाद को पा पाकर प्रत्येक कवल में नवीन नवीन आनन्द में मग्न होने की कामना की गई है। नवीनता स्वयं ही वहाँ स्थित आनन्द की है, अहो! प्रियाजी का छविप्रवाह कैसा है? प्रियतम की अधीनता कैसी है? परस्पर नेत्राञ्चलों की और कर कमलों की चेष्टा कैसी है? अहह कैसा आनन्द है स्निग्ध और विदग्ध नववर्णिनी और वर(श्री प्रिया प्रियतम युगल किशोर) जिनका कि अनुरागरस ही विग्रह है। सहभोज के रस की विचित्रता से क्षण क्षण उत्तरोत्तर परम रसमय आनन्द में—जो रस के नद जैसा है—कब मग्न होऊँगा? इस प्रकार पुनः पुनः सावधान होकर कहते हैं। इसलिये उस समय के उस आनन्द के मर्म को अथवा उनकी कृपा से भाग्यशाली सहृदय ही जानते हैं मैं अल्पज्ञ इस विषय में क्या कहूँ? और भी एक बात है समीपता के कारण

नैरित्यनेनापि संबन्धः सामीप्यात्तदा प्रियकृतसंवाहनास्वादार्थः स तु पूर्वोक्त एवात्रोभयार्थैक्यं यथा व्रजनिकुञ्जे प्रकाशयोरैक्यम् ।।८६।।

तदेवं दास्यफलपरावधिरुक्त इदानीमेवमन्तरङ्गसजातीयानुशासनार्थं प्रकटलीलासाधकं स्वसुखातिप्रयादास्यमहिमोत्कर्षमाह । किञ्च कोटिकन्दर्प-लावण्यमोहनप्रियदर्शनादपि मनोभ्रंशः स्यात्ततोऽपि स यदा स्नेहं कुर्यात्तदा किमुततराम् यदा च प्रियैव स्नेहात्तं लाम्पट्यसमये दद्यात्तदा किमुततमा-मिति प्रियापि कौतुकेन कदाचित्परीक्षयेद्वा तदनिच्छयापि स्वयमेव परीक्षा-दानं दास्यधर्मविशेषः अतः कदापि वक्ष्यमाणदानरीतिर्न स्यात्तदपि यदि कदाचित्स्यात्तदपीत्यसन्देहे सन्देहलक्षणरीत्या स्वमनसि स्वयमेव परीक्ष्या-भूतोपमावत् स्वनिष्ठापराकाष्ठामाह—

रसकलश

मोहन का लालन या चरणसँवाहन से भी सम्बन्ध है तब प्रियतम के द्वारा किये गये सँवाहन का आस्वाद भी यहाँ विवक्षित है, जो पहले ही कहा जा चुका है, यहाँ दोनों आन्तरिक और बाह्य अर्थों की एकता है अर्थात् व्रज और निकुञ्ज दोनों प्रकटलीलाओं में ऐक्य है ।

इस प्रकार हास्य भाव के फल की परम अवधि कही गई अब इस भांति अन्तरङ्ग होते हुए भी बहिरङ्ग सजातीयों को उपदेश देने के लिए अपने सुख से प्रकट लीला के साधक प्रियाजी के दास्य की महिमा का उत्कर्ष कहते हैं। दूसरी बात यह भी है कि कोटि काम देवों के समान लावण्य वाले मन मोहन प्रियतम के दर्शन से भी मन विचलित हो सकता है, उसमें भी जब वे स्नेह करने लगें तो क्या कहना और इससे भी बढ़कर जब प्रियाजी ही स्नेह से लम्पटता के समय उन श्यामसुन्दर को दे दें तब तो कहना ही क्या ? प्रियाजी भी कौतुक से कभी परीक्षा लें अथवा उनकी इच्छा के विना ही मैं ही कभी परीक्षा दूँ क्योंकि परीक्षा देना भी दास्य भाव का एक धर्म है और कभी भी कही जाने वाली दान रीति न हो तब भी यदि कभी वह रीति हो ही जाय तो भी असन्देह में सन्देह रूपी रीति से अभूत उपमा के समान अपने मन में अपनी परीक्षा लेकर अपनी निष्ठा की पराकाष्ठा का वर्णन करते हैं—

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलाम्पट्यपदवीं
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठां शृणु यथा ।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलकं
समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत्पदरसम् ॥८७॥

स्नेहाधिक्ये सामान्यविशेषभावो न ज्ञायते एवमेकदा प्रेमसिन्धोः प्रियायाः स्वहितसख्यामत्यन्तस्नेहकल्लोल उद्गतस्ततः प्रसद्य किमहमन्यद्दद्यां यदि स्वमात्मानं दद्यां तत्तु प्रागेवैतदधोनाहं स्नानभोजनपानशयनक्रीडाप्रयोक्त्रीयमेव यथाक्रीडयति तथा क्रीडामि । अथ प्रसादातिशयोद्गमो दानं विना न पचति तदा किं मम सर्वस्वमिति विचार्य प्राणप्रियमेव दास्ये यथा आत्मानमपि यच्छति नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विनेत्यादि महावदान्यानां दानशौर्यान्ध्ये विगलितवेद्यान्तरतैव स्यादत एव हे राधे अकुण्ठतनिरतिशयसिद्धिरूपे आसज्यपूर्णशीले त्वमुक्ततादृशस्नेहात्स्वप्रेष्ठं प्राणातिप्रियं मे मह्यं तादात्विकदानपात्राये वा समादिशसीति बुद्धौ

रसकलश

हे श्रीराधे स्नेहवश आप मुझे कभी रति लम्पटता के मार्ग पर पहुँचे हुए अपने प्रियतम का दान या निर्देश भी दे देती है। तो भी मेरी निष्ठा को सुनो। मैं अनेकों मुस्कानों सहित कटाक्षों से देखूंगी, गाढ़आलिङ्गन भी करूँगी किन्तु रस तो तुम्हारे ही चरणों का चखूंगी। दासी तो तुम्हारे ही चरणों की बनी रहूँगी।

यहाँ 'यदि' शब्द द्वारा यह सूचित किया है कि अधिक स्नेह हो जाने पर सामान्य, विशेष भाव का ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार एक बार प्रेम की सिन्धु श्री राधा जी के हृदय में अपनी हितसखी के प्रति अत्यन्त स्नेह की कल्लोल उमड़ पड़ी तब प्रसन्न होकर बोलीं—सखि, मैं तुझे और क्या दूं? यदि मैं अपने आपको देती हूँ तो वह तो पहिले ही मैं तेरे अधीन हूं। मेरे स्नान, भोजन, पान, शयन और क्रीडा आदि की प्रेरक तो तू ही है, जैसा तू मुझे खिलाती हैं वैसा ही खेलती हूँ। अब अत्यन्त प्रसन्नता का उदय कुछ दिये बिना पचता नहीं तब मेरा सर्वस्व क्या है? जो तुम्हें दे दूं, ऐसा विचार करते समय उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपनी प्रिय हितसखी को अपने प्रियतम का ही दान दे दूंगी। जैसा कि कहा भी है कि 'अपने आपको भी दे देते हैं।' मैं अपने साधु-चित्र भक्तों के बिना अपने आपको भी नहीं चाहता।' इत्यादि महा उदारों को दान के उत्साह में एक प्रकार का अन्धापन सा प्राप्त हो जाया करता है जब उन्हें और किसी बात का ध्यान नहीं रहा करता अतएव हे राधे! अर्थात् अकुण्ठित परम संसिद्धि स्वरूपे, आसज्य (प्रीति का विषय भूत) पूर्ण स्वभाव वाली, तुम उपर्युक्त ऐसे स्नेह से अपने प्राणों से भी अति प्रियतम को मुझ उस समय की दान पात्री को

तादृशसंभावनासमये वर्तमानस्यैव प्रकाशात् कीदृशं रतिः प्रीतिरासक्तिरिति यावत् प्रियायामेवासक्तिलाम्पट्यं तस्य पदवीं तत्प्राप्य सिद्धावस्थां विगलितवेद्यान्तरतां प्रतिरोम लाम्पट्यान्ध्यं गतं यत्रमदासज्याक्रीणीयात्तत्रैव क्रीतः स्यां नाहंममता मे क्वाप्यस्तीति तादृशं तस्यास्तत्परीक्षाकर्तव्यतऽऽपतिता किंचासक्त कंकणवद् यस्य महिमोद्घोषः कार्य एवेति ।

एका क्रिया द्व्यर्थकरीति मत्परीक्षापि च यदनया दास्याऽनन्यता महोद्घोषः प्रवर्तितः पश्ये कियन्मनोऽनन्यत्वमिति हृद्गतं तृतीयं स्वस्नेहान्ध्यं दानं विना न शाम्येदिति अत एव स्वेति श्रेष्ठेति भक्तसभ्यानामेवमेव धर्मोऽतर्क्य एवेति लोकेऽपि दृष्टः । अत्र कैमुत्यं तदपि यथा मम निष्ठां तथा शृण्विति दम्पत्योः स्नेहान्ध्यलाम्पट्यान्ध्यमत्तत्वेपि स्वदास्यनिष्ठासाव धनतां दर्शयति । यथा परिभाषायामुक्तम्—अखण्डप्रेमरसनिधौ निमज्योन्मजिजतोभया इति नितराम घटित प्रत्यूहातिशयेऽपि स्वमर्यादया तिष्ठत्यस्यामिति निष्ठा; केवल हितदास्योपादानीभूताथामम शृण्विति मादनेवधानीकरोमि।

रसकलश

दे देती हो । अतः करण में वैसी सम्भावना के समय वर्तमान की सी प्रतीति के कारण यहाँ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है ।

कैसे प्रियतम को ? रति, प्रीति या आसक्ति तीनों समानार्थक हैं, प्रिया जी में ही रति की लम्पटता रति को प्राप्त करके हो गई सिद्धावस्था, जिसमें अन्य किसी बात का कोई ज्ञान ध्यान नहीं रहा, रोम रोम में लम्पटता के कारण अन्धता-सी को प्राप्त हुए ऐसे प्रियतम को । जिनकी यह धारणा है कि मेरी प्रीतिपात्री राधा मुझे जहां बेच देंगी वहीं बिक जाऊँगा, मेरी कहीं भी अहन्ता या ममता नहीं है ऐसे प्रियतम को । अथवा मुझ दासी की परीक्षा करने का समय आ गया, अथवा जिसने आसक्ति का कंकण बांधा हुआ है ऐसे श्याम सुन्दर की महिमा की घोषणा भी तो करनी चाहिये इस प्रकार एक 'पन्थ दो काज' के न्याय से कि मेरी इस हितसखी या हरिवंशी नामक दासी ने अनन्य रसिक होने की बड़ी घोषणा कर रखी है देखूं कि इसके मन में कितनी अनन्यता है ऐसा हृदय में विचार करके अथवा तीसरी बात यह भी है मेरी स्नेहान्धता भी तो कुछ दिये बिना शान्त न होगी अतएव यहाँ 'स्व' और 'श्रेष्ठ' शब्द का प्रयोग किया गया है क्यों कि मस्त हुए-अति प्रसन्न हुए- सभ्य जनों का यही धर्म लोक में देखा गया है जिसके विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता । फिर यहाँ श्री राधाजी के राज्य में तो क्या कहना ? तो भी मेरी जैसी निष्ठा है उसे सुनो । इस कथन द्वारा प्रिया प्रियतम की स्नेह की अन्धता और लम्पटता से अति मग्न हो जाने पर भी उसमें दास्य भाव की निष्ठा के अनुरूप सावधानता दिखलाते हैं जैसा कि परिभाषा प्रकरण में लिखा है कि 'प्रिया प्रियतम दोनों अखण्ड प्रेम सागर में डूब डूबकर ऊपर आते हैं ।' इस प्रकार अन्यत्र असम्भावित विघ्न के उपस्थित हो जाने पर भी जिसमें अपनी मर्यादा से रहा जाता है उसका नाम 'निष्ठा' है । जो केवल हित के दास्य का उपादान बनी हुई है । उसे सुनो । इस वाक्य से मदमग्न करने वाले प्रसङ्ग में भी मैं सावधान करती हूँ और

स्मित सहचरैः कटाक्षैरालोके स्मितमत्र, अहो प्रेमदानमत्ता किमघटित-कौतुकं करोति यद्वा स्वनिष्ठास्मरणादपि लाडला मामपि परीक्षते किमिति पश्यत; किं सत्यं ददामीति तत्सहचरं येषु साहाय्येन बहिरङ्गे कटाक्षप्राबल्य-सूचनं कटाक्षैरिति मया त्वं प्रतिगृहीतोऽधुना किं करिष्यसीत्यत्र करचालन तर्कमह्वायागतोऽसि यन्मदिच्छा तथा करिष्ये इति वह्वाऽऽनन्दोक्तिकौतुका-कूतरुचिसस्मितनेत्रकटाक्षैरालोके तदेव तन्माधुरी स्वागतं करोम्यपि जात पुलकं प्रियम् । पुलकोऽत्र न सखी स्मित कटाक्षदर्शनजः किं च स्वेन रत्यासक्ति लाम्पट्यपदवीकङ्कणबद्धत्वं प्राप्तम् । अहह प्रिया मां धनं जानाति यत्र मन्मनस्तत्रैव न्यस्ये दास्ये इति यन्मत्सर्वस्वं मन्यया प्रियया निशङ्कमविचारित मेव प्रसादे दत्तोऽहं यदा साज्यया स्वप्रकृतिः पोषिता तद्दिष्ट्याङ्गीकृतोऽस्मिन किञ्चित् कृतार्थतायामवशिष्टम् ।

रसकलश

सावधान रहती हूं। तभी तो मुस्कान सहित कटाक्षों से देखती हूं। यहां स्मित या मुस्कान इस बात की है कि अहो प्रेमदान से मदमत्त हो गई है, देखो क्या अघटित कौतुक कर रही है। अथवा अपनी निष्ठा का स्मरण रहते हुए भी लाडली जी मेरी परीक्षा करती हैं। क्या देखती हो, क्या मैं सचमुच परीआ दे दूं। जिन कटाक्षों में स्मित सहचर है, इस कथन द्वारा स्मितों के सहयोग से बाहर कटाक्षों की प्रबलता सूचित होती है, स्मित गौण हैं कटाक्ष प्रधान हैं। इन कटाक्षों का यह तात्पर्य है कि प्रिया जी ने तुम्हे (श्याम सुन्दर को) मुझे दान दे दिया है और मैंने तुम्हे दान में ले लिया है अब क्या करेंगे? यहां पर भावानुसार हाथ आदि हिलाने की भी कल्पना की जाती है। 'अब तुम मेरे दाय (भाग) में आ गये हो अब मेरी जो इच्छा होगी मैं वही करूंगी। इत्यादि बहुत आनन्द की उक्तियों के कौतुक के अभिप्राय को सूचित करने वाले मुस्कान सहित कटाक्षों से देखती हूं। उसी से श्याम सुन्दर का स्वागत करती हूं। प्रियतम भी जातपुलक अर्थात् रोमाञ्चित हो जाते हैं। यहां पर प्रियतम को पुलक या रोमाञ्च सखी के स्मित और कटाक्ष के दर्शन से हुआ है।

वे प्रियतम पुनः कैसे हैं? अपने आप ही रति या आसक्ति के कारण लम्पटता की पदवी का कंकण बांधे हुए हैं, और सोचते हैं—इधर प्रिया जी मुझे अपना धन मानती हैं। जहां मैं चाहता हूं वे वही मुझे रख देती हैं। दास्य भाव ही तो मेरा सर्वस्व है। किन्तु मुझे अपना सर्वस्व मानने वाली प्रिया जी ने निःशंक भाव से बिना विचारे ही कृपा भाव में आकर दान दे दिया है। तो प्रिया जी की प्रकृति जो आसज्या (प्रीति का विषय होना) है उसे पुष्ट कर दिया है, तभी तो सौभाग्य से मैं स्वीकार कर लिया

एतद्दानपरीक्षणमेव मन्मौल्यमिति हर्षेण जातपुलकमितरथा तादृश-रसिकानन्यस्य पुलकान्तरमघटितम् इत्यान्तरं हार्दं बहिस्तु स जातपुलकोऽस्तु परन्तु नाहं स्यां तत्रापि तादृशं समाश्लिष्यामीति उच्चैरिति एतदन्तमंजन-कूटसमाश्लिष्टाप्यलिप्तास्मीति सूचनार्थम् अन्तस्तु समाश्लेषणार्थोऽन्यः। तत्र सर्वात्मनाश्रिताया मम किं पार्थक्यमवशिष्टं गृह्यतां स्वयमेव स्वं वस्त्वि-त्येवं कर्तव्येऽपि तदन्तरङ्गपुलकोक्ताशयं प्रति प्रसद्य साधु अनन्योऽसीति समा-श्लेषणम् उच्चैरित्यस्मच्छिक्षा सफलीकृता दास्यपुरश्चर्यासिद्धोऽसीति प्रशंसाभङ्गिकं च। यद्वा तल्लौल्यरसास्वादात्यन्ताभावशीलवशातिपङ्गु-मनसोऽनुत्थानेपि श्रीमतीभयजयर्तिकचिदाश्लेषे शुद्धाशयमयेऽपि स्वस्य बहु-बलजसाहसकरणभानादुच्चैरिति समित्युक्तिश्च।

रसकलश

गया हूँ। अब मेरे कृतार्थ होने में कुछ बाकी नहीं रहा। इस प्रकार दान देकर परीक्षा लेना ही मेरा वास्तविक मूल्य है। इस हर्ष से श्याम सुन्दर रोमाञ्चित हो रहे हैं। अन्यथा वैसे (श्री श्याम सुन्दर जैसे) रसिक अनन्य का पुलकित होना असम्भव है। यह उनके रोमाञ्चित होने का आन्तरिक भाव है। बाहर तो वे (श्री श्याम) भले ही रोमाञ्चित हो जाएँ पर मैं जात पुलका अथवा रोमाञ्चिता नहीं होऊँगी। इस पर भी वैसे श्याम सुन्दर का प्रगाढ आलिङ्गन करती हूँ यह पर उच्चचै या प्रगाढ कहने का तात्पर्य यह है कि यहां तक उस अञ्जन के शिखर जैसे आश्लाष्टा होने पर भी मैं निर्दोष हूँ, मुझ पर 'काजर की कोठरो में कैसो हू सयानी जाय, काजर की एक रेख लागि है पै लागि है' वाली कहावत चरितार्थ नहीं होती। यह सूचित करने के लिए उन्हें जात पुलक कहा गया है।

आन्तरिक अर्थ में तो समाश्लेषण या आलिङ्गन का और ही तात्पर्य है—जब मैंने श्री प्रियाजी का सर्वातमभाव से आश्रय ले लिया है तब मेरे लिए क्या पृथग्भाव, शेष रह जाता है तब तो प्रिया जी कह देतीहैं—'श्यामसुन्दर तुम्हारी अपनी वस्तु हैं इनको ले लो ऐसा कहने पर श्यामसुन्दर के पुलकों का अन्तरंग आशय समझकर मैं कहती हूं—साधु, साधू वास्तव में तुम सच्चे अनन्य हो' यह कह कर उन्हें हृदय से लगाती हूँ मैं फिर कहती हूं—हमारी शिक्षा तुमने सफल कर दी, तुम दास्यरूपी पुरश्चर्या में सिद्ध हो गये हो।' इस प्रकार प्रशंसा के बहाने जो उनके लाम्पत्य या चाञ्चल्य के रसा स्वाद के अत्यन्त प्रभाव वाले शील के वश मन की गति अत्यन्त पंगु हो गई। अब उस मन के न उठने से श्रीमती के वन में भय उत्पन्न हुआ तब उन (श्रीश्याम) के मन के उत्था-नार्थ कुछ आलिङ्गन किया, यद्यपि यह आलिगन शुद्धभाव युक्त था तथापि मुझे अपने आप में ऐसा लगा कि मैंने बहुत बड़ा साहस कर डाला है इसीलिये इस आश्लेष या आलिङ्गन में 'समू और उच्चैः' क्रिया विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

अन्यच्च स्वामिन्या स्नेहाद्दत्तं कथमवगणयामीति धर्मसङ्कटे तत्स्नेहादरेण तच्छ्लेषणादरः । यथा श्रीकरदत्तप्रसादमाल्यादिधारणं सादरमहम् दुकूलं बिभ्राणामित्यत्र स्वकरतलदत्तं प्रणयत इति वदान्तरोऽर्थः उपरितनस्तु कटाक्षस्मितपुलकाश्लेषणान्तमपि भवतु न विक्रियां प्राप्नोमि । अथ चेति मदास्वादमर्मान्यदेवेत्याह रसये त्वत्पदरसमिति पदाश्रयरसदास्यं न तु तदाश्लेषादिरसम् । अनेन तादृशप्रियस्योच्चैरप्याश्लेषणास्वादो नानया लब्ध इति गम्यते यथा भक्तमालाकथानके द्रौपद्या भोजितस्य वाल्मीकिभक्तस्य मनसि स्वेष्टार्पणानन्तरं सर्वव्यञ्जनैकीकरणकारणपृष्टस्य वाक्यम् पृथग्रसास्वादे स्वामिन एवार्हता न मम किञ्च केवलतदुच्छिष्टप्रसादग्रहणमात्रे तात्पर्यं नाहं रसविवेचनं कुर्यां यदिन्द्रियलोलस्य दास्यधर्मो नश्येदिति दिशा तत्रत्यतादृशदासीनां कैमुत्यं ज्ञेयम् । मत्प्रकृतिरेवैतादृशी त्वत्पददास्यरसं

रसकलश

एक बात और है कि जिस प्रियतम को श्री स्वामिनी ने स्नेह दे दिया है मैं उनकी अवहेलना कैसे कर सकती हूं ऐसे धर्म सङ्कट के समय उनके प्रति स्नेह और आदर से उन्हें आश्लेष करके आदर भाव ही प्रकट किया गया है। जैसा कि श्री कर-कमलों द्वारा दिये गये प्रसाद माला आदि को आदर पूर्वक ही धारण करना चाहिये। जैसा कि 'दुकूलं बिभ्राणाम्' इत्यादि श्लोकों में' स्वकरतलदत्तं प्रणयतः' अपने श्री कर कमलों द्वारा दिये गये प्रसाद भूत दुकूल, कञ्चुकपट आदि को आदर और प्रणय से पहिनने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त कटाक्ष, स्मित, रोमाञ्च, और आलिङ्गन तक भी हों जाए पर मैं विक्रिया को प्राप्त नही होती।

'अथ च' इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि मेरे आस्वाद का मर्म कुछ और ही है।' तुम्हारे ही चरण रस का आस्वादन करती हूं, जिस चरणों के आश्रय से मुझे रसदास्य प्राप्त है उसी का आस्वादन करती हूं, उनके आश्लेषादि रस का आस्वादन नहीं। उससे यह सूचित हुआ कि वैसे प्रियतम के प्रगाढ आश्लेष या आलिङ्गन का कोई आस्वाद इस (हितसखी) ने प्राप्त नहीं किया। जैसा कि भक्तमाला की कथा में प्रसिद्ध है कि द्रौपदी ने किसी वाल्मीकि नामक भक्तको भोजन कराया था, भक्तों ने परोसे हुए भोजन को अपने इष्टदेव के प्रति अर्पित करने के अनन्तर सभी व्यञ्जनों को एक साथ इकट्ठा कर दिया, जब द्रोपदी ने उससे इसका कारण पूछा तब उसने कहा कि एक-एक पदार्थ का पृथक्-पृथक् रस लेने का अधिकार तो स्वामी को ही है मुझे नहीं। मेरा अधिकार तो उनका शीतप्रसाद लेने का है, इसका तात्पर्य यह है कि में पदार्थ के पृथक् पृथक् रसों का विवेचन नहीं कर सकता क्योंकि जो चपल इन्द्रियों वाले पुरुष हैं उनका दास्यभाव नष्ट हो जायी है।' तब श्री वृन्दावन में स्थित उस प्रकार की दासियों का तो कहना ही क्या ? अतः श्रीहित सखी कहती हैं कि मेरे प्रकृति

विना क्वाप्यन्यत्र नास्वाद आयाति ननु । कैश्चिद्बहिर्मुखैः पृच्छ्यते स्त्रीलिङ्गिनां दम्पतिक्रीडानन्ददर्शने कथं मनो न चलेदिति चेद् अत एवैतासां सखीनामाधिक्यं प्रथमतस्तादृशकन्दर्पकोटिलावण्यदर्शनं ततोऽपि स्वामिनीभीतिश्चेत्तया प्रसद्य दत्तता ततः कटाक्षपुलकाश्लेषादि तदन्तं मनश्चलनं प्रियापददास्यस्पर्शमणिस्पर्श एवान्तःकरणधातुविशेषस्य निष्ठा काञ्चनत्वे हेतुर्येन न पुनः पूर्ववत्सामान्यधातुशीलत्वं गृह्णीयादिति साक्षात्सखीनामास्तां वार्ता प्रकटे तद्भावाविष्टानां भावुकानां पुंल्लिङ्गिनामपि दास्यावेशेन न मनोविकृतिर्दृश्यतेऽहर्निशमिति एवमेव तच्चरणदास्यवरणप्रभावः, अनेन स्वसुखसुखिषु व्रजभक्तेषु कटाक्षः काममोहितत्वादवशिष्टार्थोऽत्र सकौतुको ऽन्योऽपि लाम्पट्यमित्यत्र चण्डनाशयविशिष्टदानं यथा पायसैकतर्पके

रसकलश

ही ऐसी हैं कि तुम्हारे चरण दास्यरूपी रस के विना मुझे अन्यत्र कहीं कोई स्वाद प्राप्त नहीं होता ।

यहाँ कुछ बहिर्मुख लोग प्रश्न करते हैं कि जो साधक या भक्त स्त्रियाँ है उनका मन प्रिया प्रियतम की क्रीडाओं के आनन्द के दर्शन के समय विचलित क्यों न होगा ? इस का उत्तर यह है कि इसीलिये तो यहाँ सखीजनों की अधिकता है जिनको पहले उस प्रकार के काम कोटि कमनीय श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन हुए और बाद में श्रीस्वामिनी जी से भय हुआ, श्रीस्वामिनी ने प्रसन्न होकर जब उन्हें अपने श्यामसुन्दर दिये तब उनके कटाक्ष, रोमाञ्च, आलिङ्गन, आदि पर्यन्त ही मन विचलित हुए, अन्तःकरण नामक धातु बिशेष की निष्ठा तो केवल प्रियाजी के चरणों का मणि के समान दास्य भाव से स्पर्श करने में ही है जिसने उस अन्तःकरण धातु को काञ्चन बना दिया है जिससे फिर वह अन्तःकरण पहिले की सी सामान्य धातु के स्वभाव को ग्रहण नहीं कर सकता यह तो हुई साक्षात् सखीजनों की बात । प्रकट लीला में उसी सखीभाव से आविष्ट हुए भावुक पुंलिङ्गी पुरुषों को जैसे रात-दिन दास्य भाव के आवेश के कारण मनोविकार नहीं देखा जाता वैसे ही स्त्रीलिङ्गी भावुकों को भी । ऐसा श्रीराधा जी के चरणों के दास्य को स्वीकार कर लेने का प्रभाव है । इस कथन द्वारा अपने सुख में सुखी रहने वाले व्रजलीला के भक्तों के प्रति कटाक्ष या व्यङ्गच किया गया है क्योंकि वे काममोहित देखे सुने गये हैं ।

एक और अवशिष्ट अर्थ है जो कौतुकपूर्ण है । यहाँ पर 'लाम्पटच' शब्द से प्रतीत होता है कि चण्डत (प्रणयकोप) के आशय से यह विशिष्ट दान किया गया है, जैसे पायस आदि दूध की वस्तुएँ खिलाकर तृप्त करने वाले अहीरों के स्वामी के यहां अतृप्त पुरुष के लिये 'दो दो और दो' ऐसा कहने वाले अपने जन के प्रति कुपित होकर

घोषपतौ तददत्तं देहि देहीति प्रलपन्तं स्वीयं जनं प्रति कुपित्वा तदधिकारिणे दद्यात् पश्ये कियत्पायसं भक्षेरितिवच्चण्डनमत्रासज्यमयमेवात्यातुरे प्रेम-सामयिकं स्नेहादित्युक्तेः। क्षणे क्षणे कञ्चुकीस्पर्शो नीवीग्रहणं सदामुख-च्छवेर्दैन्यदर्शित्वं चातक इव स्वातिं शिखीव मेघं चकोर इवेन्दुमिति वदति लालसं दृष्ट्वा वाम्यानुभावेन सखि दूरे गृह्यतामिमं न मत्तो मत्तोयं तृप्य-तीति भङ्ग्या अनेनैताद्दश लाम्पट्य एव पदवी कीर्तिर्लब्धा त्वमपीद्दशस्य गुणाननिशं वर्णयन्ती बन्दीव जाताऽतस्त्वद्रुचित्वं त्वमेव गृहाणेत्यपि भङ्गी।

अथवाऽग्रिमश्लोकसम्बन्धादन्योऽपि ताद्दशान्तरङ्गदास्यां सर्वस्वदान-हेतुस्नेहः प्रागेव स्थितस्ततोऽव्यवहितक्षण एव लौल्ये जाते कौतुकात्तद्दानं ततः पुलकोपलक्षणेन सखीं प्रति प्रियेण काकुवाण्याद्यपि कृतं ज्ञेयम् तदा तत्कारुण्यकातरया प्रसह्याश्लेषणं कृतं तत्समाश्वासनार्थकं यन्मा चिन्तां कुरु सम्प्रति शीघ्रमेव प्रियां प्रसादये, तत्रावाङ्मुख स्थितां प्रियामुपसृत्य पदं

रसकलश

वह पायस आदि उसके अधिकारी को दे दिया जाता है और कहा जाता है कि देखें यह कितना पायस खाता है इसी प्रकार यहाँ पर आसज्य—(प्रीति के विषय) का प्रणयकोप है, अति आतुर प्रियतम पर यह सामाजिक प्रणय या प्रेम है तभी तो 'अतिस्नेह से' ऐसा कहा गया है। क्षण क्षण में कञ्चुकी का स्पर्श नीवीग्रहण, सदा मुखकान्ति में दीनता दिखाना इत्यादि से प्रियतम को स्वाति के लिये चातक के समान, मेघ के लिये मयूर के समान, चन्द्र के लिये चकोर के समान, अत्यन्त लालसा युक्त देखकर अपने सहज प्रति-कूल रहने के स्वभाव से 'हे सखि, इसे दूर ले जाओ, यह मतवाले मुझसे तृप्त नहीं होते' इस बहाने से और 'इन्होंने ऐसी लम्पटता के ही मार्ग में कीर्ति प्राप्त कर रखी है, तुम भी इस ऐसे (लम्पट) के ही गुण दिनरात गाती गाती बन्दी सी बन गई हो अतः तुम्हें बहुत अच्छे लगने वाले इनको तुम ही ले जाओ' इस प्रकार भी इनको स्वामिनी मुझे दे देती हैं।

अथवा अग्रिम श्लोक के सम्बन्ध से और भी अभिप्राय निकलता है। श्रीहित-सखी जैसी अन्तरङ्ग सखी पर सर्वस्वदान दे देने वाला स्नेह तो पहिले से ही स्थित है, उसके अनन्तर क्षण में ही प्रियतम की चञ्चलता के अवसर में कौतुक से उन्हें श्रीहित सखी जी को दे दिया, तब पुलक से उपलक्षित प्रियतम ने श्रीहित सखी के प्रति काकु-वाणी आदि का भी प्रयोग किया ऐसा जानना चाहिये। तब उनके प्रति करुणा से कातर हुई श्रीहित सखी ने उन्हें आश्लेष या आलिङ्गन किया, उन्हें आश्वासन देने के लिये कहा कि तुम चिन्ता मत करो, अभी मैं शीघ्र ही प्रिया जी को मना लूँगी। फिर

सलालनं स्पृशन्त्यनुनयतीति संगतिः ॥८७॥

तत्र वाक्यवैदग्ध्येन मौनमौदासीन्यं मुञ्चयन्त्याह—

'कृष्णः पक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालो
नीलाम्भोदस्तव रुचिपदं नामरूपैश्च कृष्णा।
कृष्णे कस्मात् तव विमुखता मोहनश्याममूर्ता
वित्युक्त्वा त्वां प्रहसितमुखीं किं नु पश्यामि राधे।
॥८८॥

हे राधे अहमित्युक्त्वा नु इति पृच्छायां वा विकल्पे कादाचित्के त्वां प्रहसितमुखीं किं पश्यामीति इतीति किं तदेव दर्शयति कृष्णः पक्षस्ते रुचि पदं पक्षः पञ्चदशाहानीति कान्ताङ्गवर्ण्मच्छविदर्शनास्वादलोभेन वा प्रसरणशीलत्वात्तमसः प्रत्यङ्गालिङ्गनोद्दीपनमञ्जनकस्तूर्यादिरचनासाहजिकधर्मेणापि रुचिदत्वं यथा गीतगोविन्दे अक्ष्णोर्निक्षिरदञ्जनमितिवदेकदेशार्थो

रसकलस

नीचे मुख करके खड़ी हुई श्री प्रियाजी के चरणों को सहलाते हुए स्पर्श करके अनुनय करती हैं यह भी संगति बैठती है ॥८७॥

वहाँ अपने उक्तिकौशल द्वारा प्रियाजी के मौन और उदासीनभाव को छुड़ाती हुई कहती हैं—

कृष्ण पक्ष है, नये कुवलय खिले हैं, कृष्णसार है तमाल वृक्ष है, नील मेघ है और तुम्हारी रुचि की आस्पद यमुना है, जो नाम और रूप से कृष्णा है। ऐसे व्यतिकर में मोहन और श्याम मूर्ति श्रीकृष्ण के प्रति तुम्हारी विमुखता क्यों है? इस प्रकार के वचन कहकर हे श्रीराधे! क्या मैं तुम्हें मुस्कराते मुख कमल वाली देखूँगी ॥'८८॥

हे राधे! मैं यह कह कर—'नु' यह प्रश्न में, विकल्प में या 'कभी' इस अर्थ में प्रयुक्त है—क्या कभी तुम्हें हँसते हुए मुख वाली देखूँगी यह 'क्या' कह कर—वही बताते हैं—तुम्हारी रुचि का आस्वद कृष्ण पक्ष या कृष्ण पक्ष के ये पन्द्रह दिन हैं, प्रियतम के श्री अंगों के वर्ण की छवि के दर्शन का आस्पाद पाने के लोभ से अथवा प्रसरण शील अन्धकार के प्रत्येक अङ्ग को आलिङ्गन करने का उद्दीपन होने के कारण, अञ्जन, कस्तूरी आदि की रचना के स्वाभाविक धर्म से भी रुचि देने का भाव कृष्ण पक्ष में है जैसा कि गति गोविन्द में—'आंखों में अंजन डालता हुआ सा' इत्यादि में कहा गया है। उसी के एक देश का अर्थ यहाँ ले लेना चाहिये। अथवा श्री राधा जी स्वयं नित्य

ग्राह्यः यद्वा तत्र स्वस्य नित्य राकारूपत्वात्तमो विहाररुचित्वं यथातिमधुर-भोक्तुरम्लतिक्तकषायादौ तृष्णकत्वात् । यद्वा रूनगर्विततया स्वकान्ति प्रसरणास्वादेन यथा जलस्य घर्मर्ताविव स्वादविशेष इति वा तमसि निलयन-क्रीडापि सुकरा स्यादिति श्यामगौर संयोग चापिश्तमश्चन्द्रिकाऽव्यवधान-दर्शनात् ।

यद्यपि शुक्लपक्षेऽप्येवमेव तदपि कृष्णतमः प्राथमिकाभावाद वर्धिष्णुतया बाहुल्याभावाच्च न तथा, प्रियायाः प्रियनिष्ठप्रेम्णा तत्प्रेम्णो निसरसता-भानात् तत्प्राथम्यमेव रुचिदं तथैव प्रियस्य ज्योत्स्नाप्राथम्यमिति । अथवा रसविवेचनचर्चायां कौतुकवशात् परसमक्षार्थिप्रत्यर्थिभूतसखीकृतायां शृङ्गारपक्षार्थो निष्कृष्यते त्वयेत्यर्थः यद्वा एवमेव पीताम्वरं गौराङ्गेऽतिरुचिदमिति कयाचिदुक्तम् अन्यया कौसुम्भकमन्यया नीलं शुक्लं मिश्रितमिति विव-

रसकलश

पूर्णिमा स्वरूप है अतः उनको तमो विहार (अन्धकार में विहार) करने की रुचि का होना ऐसे ही संगत है जैसे बहुत मधुर भोजन करने वाले की अम्ल, तिक्त, कषाय आदि में रुचि होती है । अथवा रूप गर्विता होने के कारण अपनी कान्ति के प्रसार के अस्वाद से भी कृष्ण पक्ष में उनकी विशेष रुचि है जैसी कि ग्रीष्म ऋतु में जल का अधिक स्वाद होतो है अथवा अन्धकार में छिपने का खेल भी सुकर होता है, फिर श्याम और गौर का संयोग भी अन्धकार और चाँदनी का समीपता में स्पष्ट दर्शन सा होता है । यद्यपि शुक्ल पक्ष में भी ऐसा ही होता है तो भी कृष्ण पक्ष में काले अन्धकार की प्राथमिकता होती है और क्रम-क्रम से वह बढ़ता जाता है और उसकी बहुलता होती है । वैसा शुक्ल पक्ष में नहीं होता । फिर प्रियाजी के प्रियतम विषयक प्रेम से उनके प्रेम की अति सरसता की प्रतीति होने के कारण अन्धकार की प्राथमिकता ही अधिक रुचि देने वाली है । ऐसे ही प्रियतम को चाँदनी की प्राथमिकता अधिक रुचि देने वाली है । अथवा रस विवेचन की चर्चा जो कौतुक वश अन्य रस के पक्ष में अर्थी और प्रत्यर्थी बनी हुई सखियों द्वारा की जाती है उसमें शृङ्गार पक्ष तुम्हारे द्वारा निष्कर्ष रूप बताया जाता है अतः कृष्ण पक्ष तुम्हारी रुचि का आस्पद है, अथवा ऐसे ही पीला वस्त्र गौर अंगों पर अति रुचि दायी है, ऐसा किसी ने कहा तब दूसरी ने कहा नहीं कौसुम्भ वस्त्र, तीसरी बोली नील वस्त्र, किसी ने शुक्ल वस्त्र और किसी ने मिश्रित वस्त्र का पक्ष लिया इस प्रकार परस्पर विवाद करती हुई सखियों ने धर्मतः श्री प्रियाजी से जाकर पूछा तब श्रीप्रियाजी ने न्याय दिया कि गौर अङ्ग पर नील वस्त्र जैसी शोभा देता है

दमानानां धर्मतः पृच्छमानानां श्रीमत्या न्यायः कृतो यथा नीलं शोभते तथा नान्यदिति क्वापि समयोक्तमनुस्मृत्योक्तं कृष्णः पक्ष इति। अत एव कविभिरपि प्रातर्नीलनिचोलमित्यादि यद्वाऽक्षादिक्रीडायां यथेष्टविलासग्लहायां प्रियस्तत्सुखितया तन्मुखहर्षातिशयछविप्रेप्सुस्तत्कौशलेऽपि स्वयं पराजयमेवाभिलषते। अतः शैथिल्येन क्रीडति पश्ये पराजितान्मत्तः कमर्थं पणं गृह्णीयान्मम तु द्वयमेवानन्ददं तत्र जयार्थित्वं विना संघर्षो न स्यात् तं विना च क्रीडनानन्दो न स्यादित्यतः काश्चित्प्रियपक्षस्थायिन्योऽपेक्ष्याः। प्रियो भाविपराजयरसास्वादमत्तविवशः।, अतस्तं सावधानीकृत्य क्रीडयेयुरित्येवं तत्पक्षो यद्वा बुद्धिपूर्वककृष्णपक्षस्थाः स्वपक्षस्थाभ्यः प्रियाः परिहास्यत्वादन्यथा कौतुकं विना न लाडलाया सुखं विलासिप्रभुत्वात् यद्वा सहायार्थः यथा 'वरहिण्डोर झकोरनि कामिति अधिकडरात पुलकि २ वेपथु अङ्ग प्रीतम उर लपटात, इति यद्वा सत्सु सखीजनेषु कृष्णांसोपधानीकृति-

रसकलश

वैसी शोभा दूसरा कोई वस्त्र नहीं देतो। इसी प्रकार की किसी समय की बात को याद करके कहा है कि कृष्ण पक्ष तुम्हारी रुचि का आस्पद है। इसीलिये कविजन भी प्रातः नील निचोल का ही वर्णन करते हैं।

अथवा द्यूत आदि क्रीडा में—जहाँ यथेष्ट विलास करने की ही बाजी रखी गई थी—प्रियतम प्रियाजी के सुख में सुखी (तत्सुख सुखी) होने के कारण उनके मुख पर अति हर्ष की शोभा का दर्शन पाने की इच्छा लि। द्युत आदि के कौशल के रहते हुए भी स्वयं पराजय की हो इच्छा करते हैं। अतः शिथिल या असावधान-से होकर खेलते हैं—देखूँ तो सही कि हारे हुए मुझ से प्रियाजी क्या वस्तु मांगती हैं। मेरे लिये तो दोनों बातें आनन्द देने वाली हैं, क्रीडा में विजय की इच्छा के विना संघर्ष नहीं हो सकता और संघर्ष के विना खेलने में आनन्द नहीं आ सकता अतः कुछ सखियां प्रियतम के पक्ष में रहने वाली भी होनी चाहियें। प्रियतम भावी पराजय के रस के आस्पद बने हुए है।

अथवा बुद्धिपूर्वक कृष्ण के पक्ष में स्थित हुई सखियाँ श्रीराधा जी को अपने पक्ष में स्थित सखियों की अपेक्षा प्रिय हैं क्योंकि वे परिहास की पात्र हैं। अन्यथा एक विलासी प्रभु होने के कारण श्री लाडली जी को कौतुक के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अथवा पक्ष शब्द सहाय अर्थ को बताता है जैसा कि 'वरहि डोर झकोरनि कामिनी अधिक डराता पुलकि पुलकि वेपथु अंग प्रीतम उर लपटात ॥' इत्यादि में कहा गया है। अथवा सखीजन के पास में रहते हुए भी श्री कृष्ण के ही अंस या कन्धे

पूर्वकगमनं यद्वा बहुप्रार्थितेन कामशत्रुतः सहायीकरणं यद्वा स्वस्य दक्षिणं कृष्णस्य वाममिति वा याद‍ृच्छिकस्थितौ यस्मिन्पार्श्वे कृष्णस्थितिः स एव पक्ष इति ।

तत्र सस्मितापाङ्गरोमाञ्चादिवैलक्षण्यस्य सहृदयगम्यत्वात् यद्वा पतत्रिपक्षो मायूरादिः कृष्णधृतेति सम्बन्धी यथा दृष्ट्वैव चन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गीति । अत एव निर्माय चारुमुकुट मितितदिङ्गितज्ञात्मकृतत्वात् यद्वा तत्पक्षस्तुतिवार्तापि यथा—यदपि मनोज्ञं प्रेष्ठं कृष्णं जानामि नित्यमनुरक्तम् तदपि न मानमपास्यं तस्य गुणाञ्छ्रोतुमालिस्यः इत्यस्मिन्पद्येऽपि वैमुख्योक्तं द्रष्टव्यम् अतएव सा श्यामसुन्दरगुणैरनुगीयमानैः प्रीता परिष्वजित्वत्यपि ज्ञेयम् । यद्वा दिगर्थः यथा गौरदिक् कृष्णस्य तथा वहिर्गोप्येप्यन्तरङ्गमर्मणः सखीज्ञेयत्वाद्व्क्तपक्षपरिग्रहे धातुः कर्मणि घञ् पक्षो

रसकलश

का सहारा लेकर चलने से भी ऐसा कहा जा सकता है। अथवा बहुत प्रार्थना करने पर श्याम सुन्दर को काम शत्रु से बचाने में सहायता करना अथवा अपने श्री कृष्ण की दक्षिण या बाईं ओर इस प्रकार आकस्मिक स्थिति के कारण जिस ओर श्रीकृष्ण की स्थिति है वही पक्ष प्रिया जी को इष्ट है क्योंकि उधर ही मुस्कान के साथ कटाक्ष और रोमाञ्च आदि की विलक्षणता को सहृदयों द्वारा अनुभव किया जाता है।

अथवा पक्ष शब्द का अर्थ पक्षी का पंख है जैसे श्रीकृष्ण के द्वारा धारण किया गया मोर पंख इत्यादि। जैसा कि चन्द्रक या मोर पंख को देखते ही अत्यन्त चमत्कृत हुए अंगों वाली' इत्यादि पद्य में कहा गया है। ऐसे ही 'नए चन्द्रक द्वारा सुन्दर मुकुट बना कर' इत्यादि पद्य में भी है क्यों कि यह दोनों सेवाएँ प्रिया जी के तात्पर्य को जानने वाली श्रीहित सखी जी द्वारा ही की गई हैं। अथवा श्री कृष्ण के पक्ष की स्तुति चर्चा भी यहाँ होती है। जैसे—'यद्यपि मैं सुन्दर और प्रियतम कृष्ण को जानती हूँ कि वे नित्य अनुरक्त हैं तो भी मुझे सखीजनों के मुख से उनके सौन्दर्य आदि गुण सुनने के लिये मान तो नहीं ही छोड़ना चाहिये।' इत्यादि पद्य में भी विमुखता या प्रतिकूलता के कारण कहा हुआ देख लेना चाहिये। इसीलिए श्री श्याम सुन्दर के पुनः पुनः गाये जा रहे गुणों से प्रसन्न हुई वे श्री वृषभानु पुत्री (राधा) मुझ दासी को आलिङ्गन करें। यह भी जानना चाहिये।

अथवा पक्ष शब्द का अर्थ दिशा भी होता है जैसे कृष्ण की दिशा गौर है, तथा बाहर गोपनीय होते हुए भी अन्तरङ्ग मर्म को सखीजन जानते ही हैं। अतः परिग्रहर्थक के पक्ष धातु से घञ् प्रत्यय करके पक्ष शब्द बना हुआ है तभी तो कोश में पक्ष शब्द के

मासार्धके गेहपार्श्वसाध्यविशेषयोः केशादेः परतो वृन्दे खले सखि सहाययोः। वल्लीरन्ध्रे पतत्रे च राजकुञ्जरपार्श्वयोरिति कोशादन्येऽप्यर्थाः यथासंभवं ग्राह्या इति ।

तथा च नवकुवलयं नीलकञ्जं तत्रापि नवमिति नवविकाशे नीलिमातिशयत्वात् बहुवर्णाब्जेषु साकूतमग्रतः सखीप्रापितेषु स्मित्वा हर्षेण पृष्टा मत्करेण मद्भावं जिज्ञासव इति भङ्ग्या नीलमेव करे दधातीति तादृङ्मर्मसाक्षिणी क्रियैव दृष्टा, तथा च कृष्णसारो मृगशावकेषु क्रीडनार्थकेषु क्रीड्यमानेषु विभागद्वये कृष्णमृगमेवोरीकरोति। अनेनोपलक्षणेन मृगनाभिसुगन्धमपि तथैव रुचिदा सारिकाकोकिलाद्यपि यद्वासारो रसः कृष्णोवर्णः श्रृङ्गार इति यद्वा सुखं तथा च तमाल इति उपवने तमेव दत्तदृष्टितया साकूतं पश्यति तदध एव बहुक्षणं विश्राम्यति सेरोमाञ्चा भवतोति क्वचित्कनकवल्लरीवृततमाललीलाघनमितिवत् स्वस्य कनकलतिकावेष्टनभाव-

रसकलश

आधा महीना, घर का एक भाग, विशेष साध्य, केंशादि का एक भाग वृन्द, खल, सखी या सखा, लता के अवकाश या छिद्र, पक्षी के पंख, राजकुंजर का एक पार्श्व, इत्यादि अर्थ कहे गये हैं। इन अर्थों में से यहां जो अर्थ किसी प्रकार भी सङ्गत होते हैं ले लेने चाहिये।

ऐसे ही नव कुवलय का अर्थ नील कमल है 'वह भी नया, अर्थात् जिसमें नये विकास के कारण अत्यन्त नीलापन विद्यमान है। अनेक रंग के कमल अभिप्राय विशेष के साथ सखी ने प्रियाजी के समक्ष प्रस्तुत किये तब मुस्करा कर बड़े हर्ष के साथ—'यह ढीठ सखी मेरे हाथ से पुष्प उठवा कर मेरे हृदय की बात को जानना चाहती है इस भाव भंगिमा के साथ, नील कमल को ही हाथ में लेती हैं। सो, इस प्रकार के मर्म की सूचक तो क्रिया ही देखी जा सकती ।

ऐसे ही कृष्णसार अर्थात् काली रेखाओं वाला मृग खिलाड़ी मृगों के बच्चे दो भागों में खेल रहे हैं इस उपलक्षण से ही मृग की नाभि कस्तूरी की सुगन्ध भी वैसी हो रुचि देने वाली है। ऐसे हो सारिका (मैना) कोकिल आदि भी समझ लेने चाहिये। अथवा सार शब्द रस का वाचक है और कृष्ण एक विशेष रङ्ग है, श्रृङ्गार का रंग भी कृष्ण ही है। अथवा सुख शब्द और तमाल शब्द का यह तात्पर्य है कि उपवन में उसकी ओर दृष्टि लगा कर उसे विशेष अभिप्राय से देखती हैं और उसके नीचे ही अधिक देर तक विश्राम करतो हैं और रोमाञ्चित हो जाती हैं। जैसा कि—'कहीं स्वर्णलता से आवेष्टित तमाल वृक्ष की लोला से घनीभूत या संश्लिष्ट' इत्यादि पद्य में वर्णित है यहाँ अपने आप स्वर्णलता के आवेष्टन की भावना के आनन्द के दर्शन से तुम्हारा मन ही

नानन्ददर्शनात्त्वन्मन एव साक्षीत्यन्तर्गतंहितरूपत्वेनाख्याति पुनश्च वाचापि पश्यत अहह कीदृगनेनोपवनं मम शोभते तत एनमलंकुरुतेत्युक्ते विदग्धाभिः सखीभिश्चम्पकस्वर्णयूथिकादिमालाततिभिरलंकरणाज्जाने यादृशं नर्म न मन्मुखात्स्फुटं वाचयेत्यपि ध्वनिः।

तथा च नीलाम्भोदो विद्युच्छटाचाकचिक्यस्य स्वसंयोगस्मरणानन्दवत्त्वात् सखि पश्य कीदृग्घनघटासौन्दर्याटोपो मद्दृशौ शिशिरीकरोति ततो विद्युच्चमत्काराच्चकितव्याजेन प्रियाङ्कमेवालम्बतीति। यथा विद्युत्पीतं गर्जितं वंशवाद्यं, चापं माला, पक्षिपङ्क्तिः वृष्टीरूपं, सूनृता वाग्घटेयं कीदृक्चित्तं श्यामवर्णा धिनोतीति। अथवा नीलाम्भो ददानीति तादृशमणि मुक्तादौ जलमेव बहुमौल्यं नीलमुक्ताफलम् इन्द्रनीलमणिरित्यपि ज्ञेयम् तेषामेव वलयनूपुरकिङ्किणीपदिकताडङ्कचन्द्रिकाललन्तिकादौ बहुशो धारणादुद्दीपनाच्चेति तथा च या नामरूपैः कृष्णा यमुना सा ते रुचिपदम्।

रसकलश

साक्षी है यह अन्तरंग वस्तु रूप में हितसखी कहती हैं। फिर वाणी के द्वारा भी—अहह, देखो। यह मेरा कैसा उपवन शोभायमान है, इसको तुम लोग भी अलंकृत करो, सजाओ। ऐसा कहने पर चतुर सखियों के द्वारा सुनहरें रङ्ग के चम्पा और जूही आदि पुष्पों की माला की लड़ियों से इस उपवन को सजाने के कारण मैं समझता हूँ कि जैसा मर्म मेरे मुख से वाणी द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जा सका उसकी भी यहां ध्वनि हो रही है। जैसा कि—नील मेघ में विद्युत का (बिजली) की छटा की चकाचौंध के संयोग के स्मरण द्वारा आनन्दप्रद होने के कारण 'नीलाम्भोद' इत्यादि पद्य में ध्वनि है। 'सखि, देख। कैसा घनघटा के सौन्दर्य का आटोप मेरे नेत्रों को शीतल कर रहा है, फिर बिजली की चमक से चकित सी हुई प्रिया जो प्रियतम के ही अंक का आश्रय लेती है।' यहां पीताम्बर ही बिजली है, गर्जना वंशीवाद्य है माला ही इन्द्र धनुष हैं, मौक्तिक ही पक्षियों की पंक्ति है। प्रिय और मधुर वाणी ही वृष्टि है ऐसी यह श्यामवर्ण की घनघटा चित्त को कैसे आनन्द देती है।

अथवा नीलम्भोद या नीलमेघ की छटा मणि मोती आदि में रहने वाला पानी या आभावादि शेष है, बहुमूल्य नील मुक्ताफल है या इन्द्रनीलमणि है ऐसा जाना चाहिये। उनके ही वलय, नूपुर, किङ्कणी, पदिक, ताटंक, चन्द्रिका और ललन्तिका आदि के अनेक बार धारण करने और उनके द्वारा उद्दीपन होने के कारण भी यह आभा विशेष है। एसे ही जो नाम और रूप से कृष्ण है—(कृष्णा यमुना का नाम भी है और काली होने से यमुना रूप से भी कृष्ण है) वह यमुना तुम्हारी रुचि या प्रीति का स्थान है। अन्य ह्रदों, वापियों और जलयन्त्रों के रहते हुए भी यमुना जल में ही बहुत क्रीड़ा करने में ही

अन्यह्लदवापीजलयन्त्रेषु सत्सु यमुनाजले बहुक्रीडन एव ते रुचिदर्शनात् बहुत्वाद्गुणमाहात्म्याद्यमपाकृष्यते श्रीकृष्णप्रतिरूपकेयं कृष्णा यद्वा त्वमपि- नाम्ना रूपेण गुणैश्च कृष्णेति न केवलं रुचिदत्त्वमेव नाम यथा ब्रह्मवैवर्ते कृष्णा वृन्दावनी वृन्देति षोडशनामस्तोत्रे रूपेण श्यामा षोडशवार्षिकीति प्रसिद्धेः।

अन्यच्च रोमाली मिहिरात्मजा सुललित इति दिशा किञ्चिच्छ्यामत्वमपि वयोवर्णो रूपगाम्भीर्यसूचनमपि 'गुणैरिति कृषिर्भू वाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।' इति सदानन्दघनमूर्तित्वं तत्प्रभावमाधुर्यादिसर्वांशैरनवमत्वात् । यथा रूपमत्र कृष्णवेशधारणादि अथवा रूपगुणनामादीनां यथार्हं कृष्णस्यैव जलतरङ्गवन्नित्यस्य स्वरूपसंबन्धात्स्फुटवैलक्षण्येऽपि कृष्णैव यथा 'राधया माधवोदेवो माधवेनैव राधिकेति। यथार्हं वैचित्र्यं च यथा श्यामे गौरता आसक्ते आस-

रसकलश

तेरी रुचि दिखाई देती है। क्रीड़ाओं की बहुलता के कारण गुणों और माहात्म्य की बहुलता का भी आक्षेप कर लिया जाता है तथा यह कृष्ण यमुना कृष्ण का प्रतिरूपक या प्रतिनिधि है यह भी समझा जाता है। अथवा भी नाम से, रूप से और गुणों से कृष्ण है अतः केवल रुचिदायी होना ही कारण नहीं है। जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृष्ण वृन्दावनी, वृन्दा, इत्यादि षोडशनाम स्त्रोत रूप में लिखे गये हैं। श्यामा षोडश वार्षिकी (षोडशवर्षीया को श्यामा कहते हैं) यह तो प्रसिद्ध ही है।

एक और बात है कि 'रोमावली मिहिरात्मजा' (सूर्यपुत्री यमुना) हैं इत्यादि कहे गये रूपकों के अनुसार कुछ श्यामता भी है जो वयस् (अवस्था) वर्ण रूप और गाम्भीर्य को गुणों द्वारा सूचित करती है। फिरः—

'कृष्' भू या सत्ता का वाचक शब्द है तथा 'ण' निर्वृति या आनन्द का वाचक है। सत् और आनन्द की एकता का नाम पर ब्रह्म है वही 'कृष्ण' नाम से कहा जाता है।' के अनुसार श्री कृष्ण का सदानन्द घन स्वरूप होना भी प्रसिद्ध ही है क्यों कि वे प्रभाव, माधुर्य आदि सभी अंशों से श्रेष्ठ हैं। जैसे श्रीकृष्ण वेष धारण करना आदि यहां रूप, गुण, नाम इत्यादि का यथा योग्य श्री कृष्ण के साथ ही जलतरङ्ग न्याय से नित्य स्वरूप सम्बन्ध होने के कारण विलक्षणता या विचित्रता के स्पष्ट रहते हुए भी यह (यमुना) कृष्ण ही है। जैसे श्री राधा से माधव देव हैं और श्री माधव से राधा।

ज्यत्वम् आनुकूल्ये वाम्यं तृषिते वर्षणं दाम्पत्यमित्यादि परस्परवैलक्षण्यमपि यथार्हं शोभनमेव यथा चात्रैवोक्तं सर्वोपमानीभूतत्वं कृष्णस्यैव त्वं शुक्लोऽयं कृष्णः पक्षः त्वं पीतमयं। नीलाम्बुजं त्वं मृगी, अयं कृष्णमृगः त्वं कनकवल्ली अयं तमालः, त्वं विद्युदयं मेघः इत्यपि ज्ञेयम्। कृष्णार्हतया कृष्णैव ततः परस्परसापेक्षस्थितेः कृष्णैव यथा एकं काञ्चनचम्पकच्छवि परं नीलाम्बुद-श्यामलमित्यादि यद्वा नाम्नि तन्मयतया कृष्णोहमिति यथा त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनीत्यत्र पद्ये मनोगतम्। यथा प्रेमपत्तने कुञ्जे माधव माधवोमिति एवं रूपतन्मयतापिबहुशो भावुकैर्वर्णिता ध्यायमाना च विगलितवेद्यान्तर-तायां संगच्छते। एवं यत्संबन्धाच्छ्यामवस्तुनि रुचिपदानि तस्मिन् कृष्णे कस्माद्धेतोर्वैमुख्यं साधु पंक्तिभेदं किं करोषि जात्यैवास्मिन्रुचिं कुरु तत्रापि अहो प्रसादाश्रये सहृदयेऽयं मोहनधर्मस्य श्यामत्वस्य घनीभूत मूर्तिरेव मूर्ती-

रसकलश

यथायोग्य विचित्रता भी है जैसे श्याम मैं गौरता, आसक्ता (प्रीति के आश्रय) में आसज्यता (प्रीति का विषय होना) अनुकूलता में प्रतिकूलता, तृषित या प्यासे मैं वृष्टि करना, दम्पति भाव में लम्पटता भाव इत्यादि परस्पर विलक्षता भी यथायोग्य सुन्दर ही है ! जैसा कि यहां पर ही कहा गया है इस पद्य में सम्पूर्ण उपमान श्री कृष्ण के ही कहे गये हैं श्रीराधा शुक्ल पक्ष हो और यह श्याम सुन्दर कृष्ण पक्ष हैं, तुम पीत कमल हो और यह नील कमल है तुम मृगी हो और यह कृष्ण मृग हैं तुम स्वर्ण लता हो और यह तमाल वृक्षहैं तुम विद्युत् या बिजली हो और यह मेध या वादल हैं यह भी जानना चाहिये। कृष्ण के योग्य होने के कारण कृष्णा (यमुना) ही हैं इससे परस्पर सापेक्ष स्थिति होने के कारण यह कृ ण ही हैं। जैसे—एक स्वर्णमय चम्पक के समान कान्ति वाली हैं और दूसरे नील मेध के समान श्यामल हैं' इत्यादि।

अथवा नाम में तन्मयता के कारण मैं ृष्ण हूँ जैसा कि 'त्वयि श्यामे नित्यप्रण-यिनि' इत्यादि पद्य में मनोगत भाव कहा गया है। जैसे प्रेमपत्तन में—कुञ्जे माधव-माधवी, इत्यादि पद्य में कहा गया हैं। इस प्रकाद रूप तन्मयता जो अनेक प्रकार से भावुकों द्वारा वर्णन की गई है और ध्यान में लाई जाती हुई सङ्गत होती है जब अन्य अन्य सभी ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान विगलित या समाप्त हो गया है। इस प्रकार जिसके सम्बन्ध से श्याम रंग की वस्तुएँ श्री राधा जी की रुचि का विषय होती हैं उन्हीं श्री कृष्ण के प्रति किस कारण से विमुखता या प्रतिकूलता है, भला यह पंक्ति भेद क्यों कर रही हो। इनके प्रति तो जाति मात्र से ही रुचि करो। उस पर भी अहो, प्रसाद के आश्रयभूत इस सहृदय में विमुखता। यह तो मोहन धर्म और श्यामता की घनीभूत

त्युक्त्या तदानीं प्रियस्य चित्रमूर्तिवत् स्थगिततां प्रदर्श्य दयनीयतां व्यञ्जयति । तवोक्त प्रकारेण प्रति श्यामवस्तु ख्यातपरमरुचिवैशिष्ट्यप्रसादायाः कस्मादिति हेतुमहं न जानेऽतः पृच्छे' अनेन प्रश्ने उत्तरार्थकसम्भाषणावश्यकत्वाद्वैमुख्य मोचनमञ्जसैव भवितेति ध्वनिः ।

इत्युक्त्यनन्तरं त्वां परमानन्दविग्रहामपि तादृशीं प्रहसितमुखीं पश्यामीति प्रहसनमेव प्रश्नोत्तरो दत्त इति । अर्थात् साधु काव्येन वर्णसम्बन्धो मेलितः अहह नित्याङ्गसङ्गिनी सकाशात्क्व निलीये, सर्वांशैरेकीभूतायास्त्वदुक्तत्वान्मे वैमुख्यानवस्थानात्किमुत्त रं दद्यां यदि हेतुः स्यादिति किमहं कुर्यां सखि यद्यपि जानेत्वदुक्तं सत्यमेव परन्त्वतिलौल्ये मय्यपि कौतुकमपरिहार्यं प्रियोऽपि च वाम्यरसाभिलाषीत्यादि प्रहसिते व्यङ्ग्यम् । प्रशब्देन प्राणप्रियस्यापि सविश्रम्भसमाधानं व्यञ्जितम् । अत्र स्वसिद्धान्ते मानस्येयत्ता दर्शिता न च कर्कशत्वम् । अत्रैव हासनेन कदा मदुक्तिचातुरी सेत्स्यतीति

रसकलश

मूर्ति है । यहाँ पर मूर्ति कहने से उस समय (प्रिया जी की प्रतिकूलता के समय) प्रियतम का चित्र के समान या मूर्ति के समान स्थगित या शाब्ध होना दिखलाकर दयनीयता को व्यक्त करते हैं । तुम्हारे कहे गये प्रकार से प्रत्येक श्याम वस्तु में प्रसिद्ध है परम रुचि की विशिष्टता का प्रसाद जिसका ऐसी तुम हो, फिर तुम्हारी उनके प्रति प्रतिकूलता किस कारण है उस कारण को मैं नहीं जानती अतः तुमसे पूछती हूँ । इस प्रकार के प्रश्न में उत्तर के लिए सम्भाषण आवश्यक होने के कारण प्रतिकूलता या बिमुखता का छुड़ाना सहज में ही हो जायेगा यह व्यङ्ग्य है कहने के बाद तुम पर आनन्द स्वरूपा को भी वैसी हास्ययुक्त मुख वाली देखती हूँ इसका तात्पर्य है कि हास ही उत्तर दिया गया ! अथात् काव्य के साथ बहुत सुन्दर वर्ण सम्बन्ध मिला दिया ।

अहह, इस नित्य अङ्गसङ्गिनी से कहाँ छिपूँ, सभी प्रकार से तुम तो मेरी एकीभूता पर अन्तरङ्ग हो, तुम्हारे कहने पर मेरी विमुखता या प्रतिकूलता रहो ही नहीं अब क्या उत्तर दूँ । कारण हो भी तो मैं क्या जानूँ हे सखी यद्यपि मैं जानती हुँ कि तुमने जो कुछ कहा है वह सत्य ही हैं परन्तु प्रियतम की अतिचञ्चलता में मैं भी कौतुक नही छोढ़ सकती , फिर प्रियतम भी तो वाम्यरस या प्रतिकूलतारस के अभिलाषी हैं इत्यादि हसने से ब्यङ्गय होता है। हसित नही प्रहसित- यहाँ 'प्र' उपसर्ग से प्राणप्रिय का भी विश्रम्भ के साथ समाधान हो गया यह व्यङ्गय प्रतीत होता है । यहाँ अपने (श्रीराधावल्लभीय) सिद्धान्त में मान की इयत्ता (इतनापन या इतनी सीमा) दिखा दी गई है और किसी प्रकार की कर्कशता या कठोरता भी नहीं आने दी गई है ।

मानं कदारसदकेलिकदम्बजातमित्यत्र रोमाञ्चोद्गमवदिति हितसख्याशंसनं च ।।८८।।

तदेवं विमुखतेति सखीमुखाच्छ्रुत्वा कुञ्जरन्ध्रदत्तश्रुतिनयना ललिताद्याः प्रियासमीपं शीघ्रतयानुसृतास्तदा तच्छोभां दृष्ट्वा तद्वर्णनव्याज-कौतुकेन पुनर्हासयन्त्याहः—

लीलापाङ्गतरङ्गितैरिव दिशो नीलोत्पलश्यामला
दोलायत्कनकाद्रिमण्डलमिव व्योम स्तनैस्तन्वतीम् ।
उत्फुल्लस्थलपङ्कजामिव भुवं रासे पदन्यासतः,
श्रीराधामनुधावतीं व्रजकिशोरीणां घटां भावये।८९।

रासे रसमये प्रेमकलहे किमिदं जातमिति तन्निमित्ते सप्तमी श्रीराधामनु तां प्रति तद्दद्देशेन धावन्ती व्रजो यूथ आसामस्तीत्यर्श आद्यच् व्रजा यूथेश्वर्यश्च ताः किशोर्य्यश्च तासां घटां मेघवदुद्गमनाटोपामहं भावये पश्य

रसकलश

यहाँ इस प्रकार हास से मेरी उक्ति चातुरी कब सिद्ध होगी, यह भी कहा गया है जैसे 'मानं कदा रसदकेलिकदम्बजातम्' इस पद्यांश में रोमांच की श्रीहितसखी जी ने ग्राशंसा की थी ।८८।।

अब इस प्रकार विमुखता या प्रतिकूलता की बात सखी के मुख से सुनकर कुञ्ज के छिद्रों पर जिनने कान ग्रौर आँखें लगा रखी हैं ऐसी ललिता आदि सखियाँ प्रिया जी के पास शीघ्रता से चली गईं, तब उनकी शोभा को देखकर उनका यर्णन करने के बहाने कौतुक से प्रिया जी को फिर हँसती हुई श्रीहित सखी कहती हैं—

अपने लीलायुक्त अपांगों (कटाक्षों) की तरङ्गों से दसों दिशाग्रों को नील कमजों से श्यामल करती हुई तथा ग्राकाश को अपने कुचों से दोलायमान सुवर्ण पर्वतों के मण्डलों वाला बनाती हुई, भूमि को चरण विन्यास से खिले हुए स्थल कमलों वाली बनाती हुई, रासलोला के समय श्रीराधा जी के अनुकूल भागती हुई व्रजकिशोरियों की घटा या मण्डली की मैं भावता करती हूँ ।८९।

रास अर्थात् रसमय प्रेमकलह में यह क्या हो गया ? इसलिये रास शब्द से निमित्तार्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है । श्रीराधा के प्रति (श्रीराधा की ग्रोर) भागती हुई व्रज या यूथवाली—(व्रज शब्द केवल व्रज या यूथ का वाचक नहीं रहता अपितु यूथ वालों का भी वाचक हो जाता है) ग्रतः व्रज का ग्रर्थ हुए यूथेश्वरी ललिता ग्रादि, वे सब किशोरी हैं उनकी घटा ग्रर्थात् मेघों के समान उमड़ आई मण्डली की मैं भावना करती हूं । 'देखो सखि राधा,' यह पहली वात के भूल जाने के कारण वाक्य कहा गया है ऐसा

सखि प्रिये त्वमपीति पूर्ववार्ताविस्मारहेतुकं वाक्यमिति ध्वनिः। कैशोर-वयोवर्णनव्याजेन तामेव भावनामाह कीदृशीं घटां लीलाविनोदाश्चर्यमयी तद्युतैरपाङ्गैस्तरङ्गायमानैर्दिशो नीलोत्पलैः श्यामला इव तन्वतीम् उप-मोद्देशेन कटाक्षः श्यामवर्णतस्त्वं कुत्र दिशि पलायसे निलीयसे इमास्तु-सर्वा दिशः श्यामला एव किमकारणं परिजनैरुपहासं कारयसीति लीलेति पदेन सूचितम्।

तदा तच्छ्रुत्वा तन्नेत्रवृन्दं दृष्ट्वाहसन्ती किञ्चिन्नीची नदृष्टिर्जाता, तदा पुनर्वक्ति स्तनैर्व्योम दोलायन्तः कनकाद्रीणां मण्डलाकाराः समूहा यत्र तादृश-मिव तन्वतीम् अनेनोपमानेन कथं गिरिवरेषु दोलायत्सु निलेतुं शक्यसे। इत-स्ततोगमनतस्तत्प्रसक्तदृष्ट्यभिप्रायेण दोलनमुक्तं न तु स्तनचाञ्चल्यं पुनर्वाक्य-विनोदभारेण नीचोनां दृष्ट्वा वक्ति भुवं पदन्यासत उत्फुल्लानि स्थलपङ्क-जानि यस्यां तादृशीमिव तन्वतीम्। तत्रापि सौगन्ध्यलुब्धश्यामभ्रमरवृन्दो-

रसकलश

ध्वनित होता है। यहाँ उनकी किशोरावस्था के वर्णन के बहाने उसी भावना को कहते हैं।

कैसी घटा ? जो लीला, विनोद और आश्चर्यमयी है। उन्हीं लीला विनोद और आश्चर्य से युक्त अपाङ्गों (कटाक्षों) जो तरङ्गों जैसे हैं उनसे दिशाओं को नील कमलों से श्यामल सी करती हुई। यहाँ भी उपमा के बहाने कटाक्ष (व्यङ्ग्योक्ति कथन) किया गया है। श्याम वर्ण से तुम किस दिशा में भागकर जाओगी कहाँ जा छिपोगी। इन्होंने सभी दिशाएँ श्यामल ही कर दीं ? परिजनों से उपहास कराती हो। यह भाव अपाङ्ग के विशेषण भूत लोला शब्द से सूचित होता है। तब यह बात सुनकर और उन सखीजनों के नेत्र वृन्दों को देखकर हँसती हुई प्रिया जी कुछ नीची दृष्टि वाली हो गयीं। तब श्रीहित सखी जो फिर कहती हैं—स्तनों या कुचों द्वारा आकाश को दोलाय-मान है स्वर्ण पर्वतों के मण्डल गोलमोल आकार वाले समूह जिसमें ऐसा बनाती हुई। इस उपमान से यह सूचित किया है कि जहाँ इतने बड़े बड़े पर्वत दोलायमान हैं वहाँ तुम कैसे छिप सकोगो। यहाँ पर स्तनों का इधर उधर होना उनमें प्रसक्त दृष्टि के अभिप्राय से दोलन या झूलना कहा गया है कि वास्तव में स्तनों को चञ्चलता विवक्षित है।

फिर इस वाक्य विनोद से और भी नीची दृष्टि किये देखकर कहती हैं—भूमि को चरण विन्यास से खिले हुए हैं स्थल कमल जिसमें, ऐसी बनाती हुई, वहाँ पर भी सुगन्ध के लोभी श्याम वर्ण भ्रमर समूह को दूर नहीं किया जा सकता, अतः श्याम से

ऽपरिहार्यं इति कथं निलेतुं शक्यसे इत्येवं हासनं ततोऽग्रे प्रियेङ्गितं ज्ञात्वा दृशाविति पद्योक्तिर्ज्ञेया ।

अथवाऽन्यसम्बन्धः प्रहसनानन्तरमत्यानन्दोद्‌गारेण प्रतिरोमानुग्रह रसनर्तनंविवशा क्रियान्तरव्यवधानेन प्रियं मिलितुं रासोत्सव आरब्धस्तदा रासे मण्डलाकारनृत्यमनुसृतामनु ललिताद्या अपि करयोजनेन वा स्वतन्त्रमभिनयं कुर्वाणा लाघवानुगतास्तद्भावनामाह हितसखो स्वयमपि मध्यस्थिता यथा तन्मण्डलाकारे दृष्टिर्यत्र प्रसक्ता तया तथैव सर्वं तन्मयमेव भासते लीलेति अत्र किशोरीणामेव शोभात्रयोपलक्षणेन सङ्गोपाङ्गपरमसुषमा नखशिखपर्यन्ता ज्ञेया तदा श्रीस्वामिन्यां कैमुत्येन सूचितेति ।

अपाङ्गतरङ्गितसाहजिकत्वेऽपि यद्यद्दम्पत्योर्नृत्यतोस्तृषाभिलाषादि प्रियस्य प्रियाया व्याजोपहितकृपया रसदानं यथा पश्य प्रिये कपोल मेलने किं नृत्यं स्यादिति तत्र तथैवं वृते प्रियमनोरथपूरणं तदाशयदर्शनेन

रसकलश

तुम कैसे छिप सकती हो । इस प्रकार हँसाने का प्रयत्न किया गया । इसके बाद प्रिया जी का इङ्गित जानकर 'हशौ त्वयि सुधाम्बुधौ ।' इत्यादि आगे का पद्य कहा गया है । ऐसा जानना चाहिये ।

अथवा इनका और सम्बन्ध भी हो सकता है—इस हास परिहास या प्रहास के बाद अत्यन्त आनन्दमय उद्‌गार से प्रतिरोम कृपारस के नाच उठने से विवश-सी हुई श्रीराधा ने अन्य कार्य को बीच में रखकर प्रिय को मिलने के लिये रासोत्सव प्रारम्भ किया तब रास में मण्डलाकार नृत्य का अनुसरण करती हुई श्री राधा जी के पीछे पीछे ललिता आदि भी आपस में हाथ मिलाकर या स्वतन्त्र रूप से अभिनय करती हुई फुर्ती से उनका अनुगमन करने लगीं । उनकी भावना या स्वरूपानुसन्धान का वर्णन करते हैं । श्रीहित सखी जी स्वयं भी बीच में स्थित हैं जिससे उस मण्डलाकार में जहाँ दृष्टि लगती है, उससे वहाँ वैसा ही सब कुछ तन्मय हो प्रतीत होता है ।

लीला इत्यादि पद्य द्वारा यहाँ किशोरीजनों की तोन शोभाओं के उपलक्षण से सागोपाङ्ग परम शोभा नखशिख पर्यन्त समझ लेनी चाहिये । तब श्रीस्वामिनी जी की नखशिख परम शोभा की बात तो कैमुतिकन्याय से ही सूचित हो जाती है । अपाङ्ग तरङ्गित या कटाक्षों का नर्तन स्वाभाविक है तो भी नृत्य करते हुए प्रिया प्रियतम में से तृष्णा अभिलाषा आदि प्रियतम के तथा किसी न किसी व्याज से ढकी हुई कृपा से रसदान देना प्रिया जी का जाना जाता है जैसे देखो प्रिये, कपोल से कपोल मिलाने पर कैसा नृत्य होगा इत्यादि प्रियतम ने कहा, तब वैसा ही करके प्रियतम का मनोरथ पूर्ण

सखीषु मिथो नेत्रैष्वेव व्यङ्ग्यं हर्षञ्च प्रियाभीत्या स्फुटसूचननिह्नवश्च तेन लीलेति ततोऽपाङ्गेति । भुजद्वययोजनेन वक्षोऽञ्चलदूरीभवनेन कनकाद्रीति वर्तुलत्वप्रसक्तदृष्ट्या मण्डलेति गतिलाघवचक्रभ्रमणेन दोलेति गौरवमांसलदर्शनादद्रीति तादृशव्याप्त्या सर्वाकाशं तन्मयमेवेति ।

तन्ववनीमिति दिव्यनिर्मलमणिमण्डलसंक्रान्तपदवर्णेन स्थिरलसत्स्थलपङ्कजामिति प्रसरत्तादृशारुण्येनोत्फुल्लेति धावन्त्यपि न्यस्यन्त्यपि पदानीत्यनेनातिलाघवात्तालतानवर्णक्रमेण यथार्हं न्यासेऽपि प्रियापदलाघवसङ्गवशेन सावधानतया स्फूर्त्या धावमाना एव दृश्यन्ते व्रजेति स्पष्टार्थे लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणलसल्लीलत्वं सर्वत्र ख्यातमाहात्म्यं दर्शितम् । दृष्टितन्मयताकरणसामर्थ्यं च याभ्यो मत्स्वामिनी अहह कीदृक् शोभते अतएव व्रजनवतरुणीकदम्बमुकुटमणिरिति विश्रुता च इत्यादि भावय इत्यत्र तासां तद्भावनं बह्ववकाशदं सहृदयगम्यमेव । अत्र ललितादीनां स्वरूपमुक्तम् ॥८९॥

रसकलश

किया गया। उनका आशय देखकर सखीजनों का परस्पर नेत्रों में ही हर्ष व्यङ्ग्य है। प्रिया जी के भय से स्फुट रूप में सूचना नहीं दी जाती। इसलिये अपांगतरङ्गित का एक विशेषण लीला है। दोनों भुजाओं के मिलाने पर वक्षःस्थल पर से अंचल दूर हो जाने से सुवर्ण पार्वती की उपमा दी गई है और उनकी गोलाई पर संलग्न दृष्टि द्वारा उन्हें सुवर्ण-पर्वतों का मण्डल या मण्डलाकार सुवर्ण पर्वत कहा गया है। नृत्यकाल की गति की तीव्रता में चक्राकार भ्रमण करने से 'दोलायत' यह विशेषण लगाया गया है। कुचों की गुरुता और मांसलता के दर्शन से उन्हें पर्वत बताया गया है। और उनके उस प्रकार छा जाने से समस्त आकाश को तन्मय ही बनाती हुई। इस प्रकार दिव्य और निर्मल मणि मण्डल में संक्रान्त हुए चरणों के रंग से स्थिर भाव में सुशोभित हो रहे हैं स्थल कमल जिसमें ऐसा भूमि का वर्णन किया गया है। यहाँ पर चरणों की उस प्रकार की अरुणता या लाली से उत्फुल्ल इत्यादि स्थल कमल के विशेषण कहे गये हैं 'दौड़ती हुई भी चरण रखती हुई' इस कथन से अतिलाघव के कारण ताल, तान, और वर्णों के क्रम से यथायोग्य विन्यास होने पर भी प्रिया जी के श्री चरणों की शीघ्रता के संगके प्रभाव से सावधानता के कारण स्फूर्ति में आ जाने से वे दौड़ती हुई दिखाई देती हैं।

बृज शब्द का अर्थ स्पष्ट है इन बृजकिशोरियों का लक्ष्मी-कोटि विलक्ष लक्षण लसल्लीला वाली होना सभी स्थलों में विख्यात माहात्म्य वाला दिखाया गया है। और उनकी वह सामर्थ्य या शक्ति भी यहाँ दिखाई गई है जो दृष्टि को तन्मय बनाए रहती है। जिनकी अपेक्षा मेरी स्वामिनी उन्हें कैसी सुशोभित होरही है। तभी तो 'बृज नवतरुणि कदम्ब मुकुट मणि, इत्यादि स्वरूप में वे सुनी गई हैं इत्यादि की मैं भावना करता हूँ इस से यहाँ उनकी वे वे भावनाएँ जो बहुत अवकाश देती हैं और सहृदयों के ही हृदय से जानी जाती हैं। इस प्रकार यहाँ ललिता आदि सखी जन का स्वरूप कहा गया है॥८९॥

साम्प्रतं सव्यङ्ग्यप्रियाच्छविमनुवर्णयति—

दृशौ त्वयि रसाम्बुधौ मधुरमीनवद् भ्राम्यतः
स्तनौ त्वयि सुधासरस्यहह चक्रवाकाविव ।
मुखं सुरतरङ्गिणि त्वयि विकाशहेमाम्बुजं
मिलन्तु मयि राधिके तव कृपातरङ्गच्छटाः ।९०।

रसानन्द आस्वादस्तस्यागाधपारावारत्वात्सिन्धुस्तत्र हास्याद्भुतवीर-सव्याद्यनेकतरङ्गाणां सम्भवेऽपि श्रृङ्गारस्यैव मुख्यप्रचारत्वान्मधुरौ श्रृङ्गार-रूपौ मीनाविव दृशौ भ्राम्यतः श्यामवर्णोऽप्युपमानोपमेयः सूचितःलीला-पाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्पा इति श्रृङ्गाराधिदेवस्य काम-स्यात्रैवोदयात् सर्वाङ्गेष्वपि श्रृङ्गारमयेषु सत्स्वनयोर्मुख्यत्वम् आलोचनप्र-त्ययेन सर्वरसानुभावकत्वं च रसे वाम्यतैव चमत्कृतेति तरङ्गप्रतिकूलगमन-शीलत्वाद्गतिलाघवात्प्रसादाश्रयप्रकृत्या रसनालाम्पट्यवत्परमनोप्रहृत्वा निलेतुं शक्यत्वाच्चेत्यादिगुणैर्मीनेति भ्रमणं च सखीनां वयस्यानामत्रागत्य

रसकलश

अत्र व्यङ्गयार्थ के साथ प्रिया जी की शोभा का वर्णन करते हैं—

'हे सुरतरङ्गिगि(सुरत-रङ्गों वाली देवन की) श्री राधिका, तुझ रस सागर में नेत्र मधुर मत्स्यों के समान भ्रमण करते हैं अहह तुझ सुधा सरोवर में स्नान चक्रवाकों के समान लगते हैं, तुझ रस नदी में मुख विकासशील स्वर्णकमल प्रतीत होता है तेरी कृपातरङ्गों की छटाएं मुझे मिलें ।।९०।।

रस आनन्द या आस्वाद का नाम है उसके अगाध पारावार होने के कारण श्री राधा रससिन्धु हैं उस रससिन्धु में हास्य अद्भुत, वीर, सख्य आदि अनेक तरङ्गों के रहते हुए भी श्रृङ्गार रसका ही मुख्य प्रचार होने से मधुर अर्थात् श्रृङ्गाररूप मीनों (मछलियों)जैसे दोनों नेत्र भ्रमण करते हैं,श्याम वर्ण की दृष्टि से भी मीन में और नेत्र में उपमानोपमेय भाव सूचित होता है। ,लीला- पाङ्गतरङ्गि तैरूदभन्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्मों इत्यादि पद्य में कहे गये श्रृङ्गार के अधिदेव काम का यहीं उदय होने के कारण सभी अङ्गों के श्रृङ्गारमय होने पर इन दोंनों(नेत्रों) की मुख्यता और आलोचन की प्रतीति से सभी रसों का अनुभव कराने वाले होना सिद्ध है और रस में वाक्य या प्रतिकूलभाव हो चमत्कारी होता है अतः तरङ्गों के प्रतिकूल गमनशील होने से, गति में लघुता या शीघ्रता होने से, प्रसाद या कृपा की आश्रयभूत प्रकृति के कारण रसना (रसास्वाद और रसनेन्द्रिय) में लम्पटता के कारण, दूसरे का मन हर लेने वाले होने के कारण और छिप सकने के कारण इसी प्रकार के अन्य गुणों से भी नेत्रों को मीन कहा

प्रश्ने किमहं ब्रूयां वंमुख्याकारणोक्तौ लज्जा स्याद्रसवर्धनकारणोक्तावपि सा स्यान्मानधारणमोचने च । तदनन्तरं प्रहसिते वापि किं वच्मीति सख्यसंकोचान्नि लीनाविव भवतः सिन्धुसंबन्धाद्भयानकाकृतिसंभवशङ्कानिरासार्थं मधुरे च स्वादुप्रियौ च मधुरावित्यर्थविशिष्टौ वेगवत्तरसाहसिकावकाशदानार्थं सिन्धुरेवोक्तो न तु सर इति यथा गरुडस्याल्पावकाशो न सुखद इतिवत् स्वरसानुभवोऽपि बहुतमः प्रियस्यापि तथैव तादृशदम्पतिरसभोक्तृत्वेऽनयोरेव सामर्थ्यं भ्राम्यत इत्यनेन प्रिय सखि ! कथं भ्रामयसे इमावेव त्वन्मर्म कथयत ।

अर्थात् रसदानं सिन्धोः किमशक्यं हा इयदेवापि कार्पण्यमतोऽनौचित्यमिदं करोत्येषा इत्याशयेनेवाभिमुखं वक्तुं नायातस्त्वच्छीलभियेतस्ततो भ्रमत इति श्रुत्वा तत्संकोचान्नीचीनां दृष्ट्वा वक्ति स्तनाविति चक्रवाका-

रसकलश

गया है । नेत्रों में भ्रमण यहाँ आकर समान वयस् वाली सखियों के प्रश्न करने पर मैं क्या कहूँ ? विमुखता या विपरीतता का कारण कहने पर लज्जा होगी, रस बढ़ाने के लिये यह विमुखता या विपरीतता अपनाई है यह कहने पर भी वही (लज्जा) होगी । मान धारण करने और उसे छोड़ने पर भी लज्जा ही होगी । उसके बाद जिसका प्रहास सा किया गया है वह भी क्या कहूँ । इस प्रकार सख्यभाव के संकोच से नेत्ररूपी मछलियाँ निलीन सी हो जाती हैं । इन मीनों का सिन्धु के साथ सम्बन्ध बताया गया है अतः इनकी भयानक आकृति होने की शङ्का का निराकरण करने के लिये 'मधुर' विशेषण दिया गया है स्वादु और प्रिय को मधुर कहते हैं कोष में कहे गये इन दोनों अर्थों से विशिष्ट वे हैं । अधिक वेगवान् और साहसिक होते हुए भी इन मछलियों को अवकाश देने के लिये श्रीराधा जी को सिन्धु कहा गया है सरोवर नहीं । जैसे गरुड को थोड़ा आकाश सुखद नहीं हो सकता । अपने रस का अनुभव भी बहुत अधिक है ऐसे ही प्रियतम के रस का भी । इस प्रकार के दम्पति रस के भोक्ता होने में इन दोनों की ही सामर्थ्य है । भ्रमण करते हैं, इससे 'प्रियसखि, क्यों घुमाती हो, यही तुम्हारे रहस्य को कहे दे रहे हैं अर्थात् सिन्धु के रसदान को बता रहे हैं । क्या नहीं हो सकता, इतनी ही तो कृपणता है । अतः यह औचित्य नहीं करती इस प्रकार के आशय से सामने कहने को नहीं आये, तुम्हारे शील के भय से इधर उधर घूमते हैं ।

यह सुनकर नीची दृष्टि किये हुए देखकर कहते हैं—स्तन चक्रवाकों के समान हैं । चक्रवाकों के योग्य होने के कारण श्रीराधा जी को यहाँ सुधा का सरोवर कहा गया

हत्वात्सर इत्युक्तम् । अनयोरत्रैव गतिसौकर्यं नित्यस्थायित्वं च प्रेमदिवाकरोदय एवनयोः संयोगानन्दरुचिवर्धनं तल्लालसोदयस्य हृदयमेव साक्षि यद्यहं नेङ्गितज्ञाचेत् कार्याकार्ये स्तनावेव पृच्छस्वेति नीचीनदृशा त्वन्मुख चन्द्र ज्योत्स्नां मा स्पर्शय, रात्रिभिया न प्रसन्नौ भवेताम् अतः कृपया शुद्धितयाभिमुखं पश्येति ध्वनिः ।

सुधासरसि वासेन न सुधान्तरापेक्षास्ति सुधामादकगुणान्नित्यमत्तौ अतस्त्वयि प्रियस्पर्शसुखदानं किमशक्यम् । इमौ चक्रवाकाविव संयोगानन्दं कूजयतो नाहमेव गोप्यं स्फुटीकरोम्यनयोर्मत्ततैव मां वाचयति । अतस्तृषातुरं सन्तर्पयेति । अत एव अहहेति सुलभेऽपि दौर्लभ्यं महदाश्चर्यकम् एतच्छ्रुत्वा सखि त्वत्तः क्व निलीय इत्याशयेन शुद्धकृपादृष्ट्या पश्यन्ती स्मितविकशद्वदनां दृष्ट्वा वक्ति मुखमिति हे सुरतरङ्गिणि दिव्यनदि सम्प्रति प्रसादसंश्यात्पाविताः कराञ्चलेनाशिषं वदाम एवमेव सदा तव कृपातरङ्गच्छटा

रसकलश

है। इनको यहीं पर गति सौकर्य प्राप्त है अर्थात् इनकी सरोवर में ही सुख से स्थिति या गति हो सकती है। प्रेमरूपी सूर्य का उदय भी इन दोनों के संयोग सम्बन्धी आनन्द और रुचि को बढ़ाने वाला है। उनकी लालसा के उदय का तो हृदय ही साक्षी है। यदि मैं तुम्हारे इङ्गित या अभिप्राय को नहीं जानती तो कर्तव्य अकर्तव्य के विषय में स्तनों को ही पूछ लो, अपनी दृष्टि नीची करके अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका का स्पर्श इन चक्रवाकों को मत कराओ, रात्रि का समय समझ कर और उससे डरकर ये प्रसन्न नहीं होंगे। अतः कृपा करके शुद्ध और सरल भाव से सामने देखो इत्यादि वार्तालाप व्यङ्ग्य होता है। सुधा सरोवर में रहने के कारण इन चक्रवाकों को अन्य सुधा की भी कोई अपेक्षा नहीं है। सुधा के मादक गुण से यह दोनों नित्यमत्त हैं अतः तुम्हारे लिये प्रियतम को सुखमय स्पर्श का दान देना क्या कठिन या असम्भव है, ये दोनों स्तन रूपी चक्रवाक ही संयोग के आनन्द को कूजन द्वारा प्रकट कर रहे हैं मैं किसी गोप्य या रहस्य को प्रकट नहीं करती। इनकी मत्तता या इनका मतवालापन ही मुझे बोलने के लिये प्रेरित करता है। अतः तृष्णा से आतुर (श्यामसुन्दर) को तृप्त करो। इसीलिये यहाँ 'अहह' यह आश्चर्य वाचक शब्द कहा गया है। सुलभ के विषय में भी दुर्लभता अत्यन्त आश्चर्य जनक है। यह सुनकर श्रीप्रिया जी 'हे सखि, मैं तुझ से कहाँ छिपाती हूं। इस आशय से शुद्ध दृष्टि से देखती हैं मुस्कान से विकसित हो रहे मुखकमल वाली सखी को देखकर कहती है हे दिव्यनदी, इस समय तुम्हारे कृपाप्रसाद के आश्रय से हम पवित्र हो गयी हैं और हाथ से अंचल फैला कर तुम्हें आशीर्वाद देती हैं। ऐसे ही तुम्हारी

मयि मिलन्तु स्वर्नदीत्वेन स्वच्छशीतगौरोज्ज्वलवर्णोक्तिः। स्फुटैव तत्संबन्धेन विकस्वरहेमाम्बुजमत्यन्तं शोभते । विकाशोऽस्यास्तीत्यर्श आद्यच् आधारस्य दिव्यत्वात्कञ्जस्यापि सर्वतोऽसाधारणवैलक्षण्यं ज्ञेयम् । ब्रह्मद्रवत्वात् सच्चिदानन्दत्वं प्रियाया उक्तं किंच पूर्वं रससुधावर्णनादत्र केवलं जल मात्रानुपपन्नता यथा पञ्चमे ननु तपस आत्यन्तिकोसिद्धिरेतावतीति यद्वा सुरशब्दस्य कोशकारव्याख्यायां सुष्टु शोभनं राजते इति निरूक्त्यात्र तादृशी निरतिशयशोभनतरङ्गिणी रसानन्दरूपैव ।

अन्योऽपि शब्दश्लेषः सुरतस्य रङ्गो रञ्जनं सदा चित्तवृत्तेरिति वा रङ्गभूमित्वमस्या अस्तीत्यपि श्रुत्या व्यज्यते। अर्थादधुना मम सारल्यविश्रम्भो दत्तो यत्प्रियमानन्दयिष्यस्येवेति तरङ्गच्छटा इति तत्तद्वाम्यानुकूल्य विनोदनर्मादितरङ्गाणां भावव्यङ्ग्यज्ञापनादयो रसलवा मय्येव हिताल्यां मिलन्तु स्वहृदयज्ञापनस्याहमेव विषयास्मीति तरङ्गास्तु दम्पत्योरेवार्हा

रसकलश

कृपा तरङ्गों की छटाएँ मुझे सदा मिलती रहें। यहाँ प्रियाजी में दिव्यनदी या गङ्गा के आरोप द्वारा उनके शीतल गौर और उज्ज्वल वर्ण का वर्णन स्पष्ट ही है। और उसके सम्बन्ध से खिला हुआ सुवर्णमय-कमल अत्यन्त सुशोभित होता है। 'विकासहेमाम्बुजम्' इस शब्द में 'इसका विकास है' इस अर्थ में अर्श आदि निमित्तक अच् प्रत्यय है जिससे इसका विकासशाली सुवर्णकमल यह अर्थ होता है। आधार भूत सरोवर की दिव्यता के कारण इस कमल में सबसे असाधारण विलक्षणता जाननी चाहिये। सुरतरङ्गिणी या गङ्गा ब्रह्मद्रव है अतः श्री राधा का सच्चिदानन्द स्वरूपिणी होना भी सूचित होता है।

एक बात और है पहिले रससुधा का वर्णन किया गया यहाँ केवल जल मात्र का होना संगत नहीं बैठता। जैसा कि श्रीमद्भागवत के पाँचवें स्कन्ध में 'सचमुच तपस्या की अत्यन्त सिद्धि इतनी ही है। यह कहा गया है अथवा 'सुर' शब्द की कोशकारों के व्याख्या में सुष्ठु या भली-भान्ति राजमान होने वाले को 'सुर' कहते हैं इस निर्वचन से यहाँ अत्यन्त शोभायमान रसानन्दरूपा नदी श्रीप्रिया जी हैं। और यहां शब्द श्लेष भी है सुरत का रङ्ग या रञ्जन सदा चित्त वृत्ति से होता है अथवा सुरत की रङ्गभूमि होना भी इनमें है ऐसा सुरतरङ्गिणी शब्द सुनने से व्यक्त होता है। अर्थात् अब मुझे सरलता से विश्वास दिला दिया है कि यह सुरतरङ्गिणी प्रिय को आनन्दित करेंगी ही। तरङ्गच्छटा कहने का तात्पर्य है कि उस सहज प्रतिकूलता और अनुकूलता के द्वारा परस्पर का विनोद करना आदि भाव के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापन आदि रसलव मुझ हितसखी को ही मिलें। आपके अपने हृदय की अनुभूति का मैं (हितसखी) ही विषय हूँ। तरङ्गें तो प्रिया प्रियतम दम्पति में ही योग्य हैं मुझे तो उनके उछलते हुए लव-लेश ही

मम तुच्छलल्लवा एव प्रतिक्षणमेकैकशः संभूताः सन्तो मिलन्तु येन प्रतिलव-मास्वादये इत्यनेन तरङ्गप्राप्तावपि रसास्वादविशेषायच्छटेति ।

लोकेऽपि रसालादीनां युगपत्पानमकौशलमौदरिकख्यातेश्च । द्वितीये रास पक्षे प्रियविषपकरसवृष्टिचिकीर्षा हृदि विन्यस्य रासं कुर्वाणा तत्र कांत सङ्गनर्तने रसोज्जृम्भणं प्रतिक्षणं भवन्तमपि रुन्धाना रासवैचित्र्यानन्दवशात् तेन व्याकुलतया शृङ्गाररूपौ मीनाविव भ्राम्यत इत्यनेन साभिलाषसहृदयत्वाच्चैतन्योपमा पूर्वपद्ये सखोपक्षे नीलकञ्जोक्तिः शोभार्थकैव पुनश्च उरसि रसोज्जृम्भणं स्वप्रकृतिनिर्वाहभिया रुन्धानापि स्तनौ चक्रवाका-विव साभिलाषौ जातौ यदुड्डीय प्रियं युञ्ज्व इति दर्शनार्थं पक्षित्वमुक्तं सचेतनोपमा च । पूर्वं सखीनां कनकाद्रीति कैशोरशोभार्थकैव सुखित्वेन स्वस्य भोग्यत्वामननाच्चेति ।

रसकलश

क्षरण क्षरण एक एक करके प्रकट होते हुए मिलें, जिससे मैं प्रत्येक लवलेश का आस्वाद लूँ—इसी से तरङ्गों की प्राप्ति होने पर भी विशेष रूप से रसास्वाद के लिये छटाओं की ही याचना की गई है।

लोक में भी रसाल (आम) इत्यादि का एक साथ पान करना अपटुता और पेटूपने को प्रकट करने वाला होता है। अब दूसरे रासपक्ष में प्रिय के विषय में रस की वृष्टि करने की इच्छा हृदय में रख कर रास करतीं हुई, वहाँ प्रियतम के साथ नृत्य करने में प्रतिक्षरण हो रहे रस के उज्जृम्भण (उभार) को रोकती हुई, रास के वैचित्र्य के आनन्द के अधीन होने के कारण उस (रस के उभार या उज्जृम्भण) से व्याकुल हो उठने के कारण प्रियाजी के नेत्र शृंगार रूपी मछलियों की भाँति भ्रमण करते हैं। इससे यह भाव विदित हुआ कि हृदय से प्रियतम के प्रति पूर्ण अभिलाषा होने से जड़ नेत्रों को चेतन मछलियों की उपमा दी गई है। पूर्व पद्य में सखी के पक्ष में नेत्रों को नील कमल शोभा मात्र के लिये ही कहा गया था।

फिर वक्षःस्थल में रस के उज्जृम्भण या उभार को अपनी प्रकृति (प्रतिकूलता) के निर्वाह न हो सकने के भय से अपने आपको रोकती हैं तो भी दोनों स्तन चक्रवाकों की भाँति अभिलाषा से पूर्ण हो गये कि हम तो उड़कर प्रियतम से मिल लेते यह दिखलाने के लिये इन्हें पक्षी या चक्रवाक कहा गया है। सखीजनों के स्तनों को पहले अचेतन सुवर्ण पर्वत की उपमा किशोर अवस्था की शोभा प्रकट करने के लिये ही दी गई हैं। एक और बात भी है कि किङ्करीजन के नित्य किशोरी होने के कारण तथा श्री राधाजी के सुख से सुखी रहने के कारण एवं अपने आपको प्रियतम की भोग्या दासी न मानने के कारण भी उनके स्तनों की अचेतन कनकाद्रि (सुवर्ण पर्वत) से उपमा सगत है।

अथ सुधेति भोग्यपदार्थस्तस्य भोक्त्रपेक्ष्यत्वाद्दुर्लभभोग्यत्वेनानपेक्ष्यत्वेऽपि कृपालुतया तदपेक्षकत्वेन दोषः । सुरतेति साभिलाषत्वं मर्म तन्मयतां ज्ञात्वोक्तिः । गङ्गार्थे हेमाम्बुजविकस्वरतैव साक्षिणी दिव्यत्वात्कञ्जमपि सहृदयत्वेन चिदानन्दमयं ज्ञेयम्, न तु शोभार्थमेवेति । अतः कृपया रहसि प्रियं मिलेति येन युष्मत्तरङ्गोच्छलच्छटा मामपि मिलेदिति । केवल रासार्थश्चेत् संगीताभिनयवशान्नेत्रभ्रमणं, वक्षोञ्चलदूरीभवनं नृत्यवशात्तेन स्तनाविति अञ्चलदुकूलस्य सङ्गीतोद्घटनेन मुखविकाशात्कञ्जमन्यत्समानम् ॥९०॥

एवं सव्यङ्ग्यं वाक्यमुपश्रुत्य सस्मितं निभृतकुञ्जं प्रियांसन्यस्तहस्तमत्तकरिणीव चरिताभिरामलीलया गच्छन्त्याः शोभामाह—

कान्ताढ्याश्चर्यकान्ताकुलमणिकमलाकोटिकाम्यैक-
ादाम्भोजभ्राजन्नखेन्दुच्छविलवविभवा
काप्यगम्या किशोरी ।

रसकलश

अब सुधा सरोवर में सुधा या अमृत एक भोग्य पदार्थ है । भोक्ता की उस अपेक्षा से दुर्लभ भोग्य होने के कारण सुधा को किसी की कोई अपेक्षा भी नहीं है तो भी यह सुधा सरोवर भूत प्रियाजी की कृपालुता के कारण भोक्ता श्री श्याम सुन्दर की कुछ अपेक्षा रखती हैं इसमें कोई दोष नहीं है। यहाँ श्री प्रिया जी की साभिलाषिता रूप मर्म और तन्मयता को जान कर ऐसा कहा गया है । सुरतरङ्गिणी शब्द का गंगा रूप अर्थ करने पर सुवर्ण कमल की विकासशीलता ही साक्षिणी है । यहाँ दिव्य होने से कमल को भी सहृदयता के कारण चिदानन्दमय ही जानना चाहिये न कि केवल शोभा के लिये है। अतः कृपा करके तुम एकान्त में प्रियतम को मिलो जिससे तुम दोनों की तरंगों में से उछलते हुए छोटे कण मुझ (हितसखी) को प्राप्त हों ।

यदि यह पद्य केवल रास वर्णन परायण हो तो संगीत, और अभिनय के कारण नेत्रों का घूमना, वक्षः स्थल पर से वस्त्र का दूर हो जाना, नृत्य के कारण अञ्चल के दुकूल का दूर हो जाना, संगीत के उदघाटन होने के कारण मुख में विकास होने से उसे कमल कहना सङ्गत होता है । और सभी व्याख्या इस पक्ष में भी पूर्ववत् हैं ।९०।

इस प्रकार व्यङ्ग्ययुक्त वाक्य सुनकर मुस्कान के साथ निभृत निकुञ्ज की ओर प्रियतम के कंधे पर हाथ रखकर मतवाली करिणी के समान चलने की अभिराम लीला से जाती हुई श्रीप्रिया जी की शोभा का वर्णन करती हैं—

'प्रियतमों से युक्त आश्चर्यमयी कामिनियों के कुल की मणिभूत कोटि कोटि कमलाओं (लक्ष्मियों) के द्वारा वाञ्छनीय है—एकमात्र चरण कमल के चमकते हुए

उन्मर्यादप्रवृद्धप्रणयरसमहाम्भोधिगम्भीरलीला
माधुर्योज्जृम्भिताङ्गी मयि किमपि कृपारङ्ग-
मङ्गीकरोतु ॥९१॥

कान्तेनाढ्यत्वं सौभाग्यं तद्वत्यः अद्भुतरूपाः कान्ताः दम्पत्योरभिलाष-मत्तता द्योतिता तासां कुलस्य वृन्दस्य मणिः कमला अनपायिनी भगवती लक्ष्मीर्न तु लोकसंपच्चञ्चला तस्या अपि कोटिभिः काम्योऽभिलषणीय एकः पादाम्भोजयोर्भ्राजतां नखेन्दूनां छवेर्लवः कणस्तस्य विभवः संपद्वा ऐश्वर्यं यस्या एतादृशी काप्यनिर्वचनीया अत एवागम्या किशोरीति ऐश्वर्या-पेक्षायां तु एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति प्रियस्य कलां-शावताराद्यवतारित्वं तथैव तत्प्रियाया अपि लक्ष्म्याद्यंशकलावतारिणीत्वं माहेश्वरी तन्त्रे यथा ख्यायिका लक्ष्मीर्वैकुण्ठनाथं ध्यायन्तं पृच्छति प्रश्नो-त्तरमप्राप्य केतुमाले तपश्चचार तदा ब्रह्मशिवादिप्रार्थनया हरिरागत्य श्रीवृन्दावनेशमहिमध्यानमाहेति दिशा लक्ष्मीकाम्यत्वं चोक्तम् ।

रसकलश

नखचन्द्र की छटा के लेशमात्र का वैभव जिनका, ऐसी कोई मर्यादा का उल्लंघन करके बढ़ गए प्रेमरस के महासागर की गम्भीर लीलाओं के माधुर्य से उल्लसित अंगों वाली किशोरी (श्रीराधा) मुझ पर कुछ कृपा का रंग (कौतुक करना) अंगीकार करें ॥९१॥

प्रियतम से युक्त होना सौभाग्य है अतः सौभाग्यवती अद्भुत रूप वाली कान्ताएं कामिनियाँ—यहाँ 'कान्ता' या 'कामिनी' शब्द द्वारा पति पत्नी दोनों की एक दूसरे के प्रति अभिलाषा के कारण मत्त अवस्था सूचित की गई है—उनके कुल या समूह की मणिभूत कमला जो (श्री विष्णु के चरणों को छोड़कर) कहीं नहीं जाती, ऐसी भगवती लक्ष्मी न कि लौकिक सम्पत्ति जो सदा चञ्चल है, उस लक्ष्मी की कोटि कोटि संख्याओं द्वारा वाञ्छनीय है चरण कमलों में देदीप्यमान नखचन्द्रों की छटा का लव-लेश रूपी वैभव, सम्पत्ति या ऐश्वर्य जिसका, ऐसी कोई अनिर्वचनीय अतएव अगम्य किशोरी (नित्य षोडशी) [ये सब श्रीराधा जी के विशेषण हैं, जिनकी व्याख्या माधुर्य दृष्टि से की गई है] । ऐश्वर्य दृष्टि से विचार करने पर, 'यह सब परम पुरुष की अंश कलाएँ हैं, श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं', इत्यादि द्वारा जैसे प्रियतम का अंशकलावतारों का अवतारी होना कहा गया है वैसे ही उनकी प्रिया जी (श्रीराधा जी) का लक्ष्मी आदि अंशकलाओं का अवतारी होना सिद्ध होता है, जैसा कि माहेश्वरी तन्त्र में आख्यायिका है लक्ष्मी जी ने ध्यान करते हुए बैकुण्ठनाथ से पूछा किन्तु उन्हें प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, तब उन्होंने केतुमाल पर्वत पर जाकर तपस्या की ब्रह्मा शिव आदि देवताओं ने वैकुण्ठनाथ से प्रार्थना की तब वे लक्ष्मी के पास आए और उन्होंने लक्ष्मी जी को बताया कि मैं 'वृन्दावन विहारी' की महिमा का ध्यान कर रहा था। यह सुनकर भगवती लक्ष्मी भी श्रीराधा के चरणनखकान्तिकी कामना करने लगीं, यह कहा जाता है।

माधुर्यार्थे तत्प्रेमरसातिशयलुब्धा स्वप्रेमाभावं मन्यमाना काम्यतीति प्रेममाधुर्यमुत्तरार्धे वक्त्येव ननु कमलाकोटीत्येव किं नोक्तं कान्तादिशब्दधर्म वैशिष्ट्यं स्वत एवागच्छत् तत्रैवं ज्ञेयं केवलकमलोक्तौ सापेक्ष्यलक्ष्मीबाहुल्यं लोकगतं ज्ञायेत । अतः प्रथमत एवातिव्याप्तिशंकानिरासार्थे सर्वा एव संभूयाश्चर्यरूपकान्ताकुलमुक्तम् । ततोऽवशिष्टमनपायिनीरूपमेव स्यात् । अतोन्यत्र कान्तत्वमाढ्यत्वमाश्चर्यत्वं कान्तात्वं च सापेक्ष्यमत्र निरतिशयमेवेति व्यङ्ग्यम् । यथा शत्रोर्गदितवीर्यादेर्निर्जयान्नायकस्तुतिरितिवत् ।

अत्र निभृतगमनसमये कान्ताढ्यात्वमाश्चर्यरूपत्वं दृष्ट्वा वक्तीति चलनसमयेरमणीयमृदुलशोणशोभनादिनाम्भोजेति प्रसरचचन्द्रावलीदर्शनेन नखेन्द्विति तादात्विकशोभातिशयदर्शनानन्दाश्चर्येण कोटीति कमल-

रसकलश

माधुर्य में श्री राधा जी के अत्यन्त प्रेम रस के लिए लोभवती होकर अपने में प्रेम का अभाव मानती हुई लक्ष्मी वैसी कामना करती हैं। श्री राधा जी के प्रेम का माधुर्य उत्तरार्द्ध में कहा ही है। यहाँ प्रश्न होता है कि कोटि कोटि कमलाएँ कामना करती हैं, इतना ही क्यों नहीं कह दिया, उन कमलाओं का 'कान्ताढ़याश्चर्य कान्ता कुलमणि' यह विशेषण क्यों लगाया ? जब कि लक्ष्मी जी का इस विशेषणवाचक शब्द से प्रतीत धर्म से युक्त होना स्वत: सिद्ध है। उसका यह उत्तर जानना चाहिए कि केवल कमला कहने पर लक्ष्मियों का कोटि कोटि होना लाक्षणिक प्रयोग समझा जाता और वे लौकिक-लक्ष्मियां जान ली जातीं अत: पहिले से ही अति व्याप्ति की शंका दूर करने के लिए यह विशेषण लगाया गया है, जिसका अर्थ है कि सभी लक्ष्मियां इकट्ठी होकर कामना करती हैं। वे लक्ष्मियाँ अलौकिक हैं यह दिखलाने के लिए पहले आश्चर्यमय रूपवाली कांताओं का कुल कहा गया। उन सब से अतिरिक्त और अनपायी (कहीं न जाने वाली) श्री लक्ष्मी जी का ही स्वरूप हो सकता है अ:लोकि स्त्रियों का कान्त होना, उनका उनसे आढ्य या युक्त होना, आश्चर्यमय होना और कान्ता या कामिनी सापेक्ष है अर्थात् उन में तारतम्य है परस्पर अन्तर हैं, किन्तु लक्ष्मी जी में यह सब बातें निरतिशय या अत्यन्त रूप से विराजमान हैं। यह व्यंग्यार्थ निकलता है, जैसे शत्रु के पराक्रमादि का वर्णन करने पर इस शत्रु के जीतने वाले नायक की स्तुति समझी जाती है।

इस पद्य में श्री राधा जी के चुपचाप या छिपकर जाने के समय में श्री हितसखी उनका प्रियतम से युक्त होना और आश्चर्यमय रूपवाली होना देखकर यह पद्य कहती हैं। चलते समय सुन्दर, कोमल, अरुण और मनोहर होने के कारण चरणों को कमल कहा गया है।चमकती हुइ चन्द्रावली सी देख कर चरणों के नखों को चन्द्रमा कहा गया है और उस समय की अत्यन्त शोभा के दर्शन के आनन्द के आश्चर्य से उन कमलाओं की कोटि कही

नित्यवासजातपदाम्भोजमाहात्म्यत्वेन कमलेति इत्येतदर्थानां हितालीहृदयमेव साक्षीति । अगम्येति कामितापि न प्राप्येतेति किंच लवोऽप्येवं तदा तस्याः कैमुत्यमेव किंच शास्त्रेषु लक्ष्म्याः पादसेवनमेव श्रुतम् अतो लक्ष्मीत्वे तदपरिहार्यं यदि रसिकत्वं सौभाग्यं चान्यत्र केनाप्यंशेन श्रूयते तल्लौकिकं सावधि सापेक्षम् अतोऽलौकिकत्वे सर्वोपरित्वे तादृशः स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्यापि सेव्यत्वादसाधारणलक्षणमत्रैवायाति ।

रसप्रक्रियायां भरतोक्तिर्यथा 'नाथेति परुषमुचितं प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र । तद्दाम्पत्यमतोऽन्यन्नारीरज्जुः पशुः पुरुष' इति । एतेन पूर्णसौभाग्यं नखशिखसौन्दर्यं निरतिशयं चोक्तं पुनः प्रत्यङ्गे दत्तदृष्टि प्रेममाधुर्योल्लासं दृष्ट्वा वक्ति । उन्मर्यादेति आसज्यात्वमननुकूलत्वं मर्यादा सा प्रेमसागर-

रसकलश

गई है, जिन कमलाओं के कमल में नित्य निवास होने से चरण कमलों का माहात्म्य ज्ञात हो गया है और इसलिए जिन लक्ष्मी को कमला कहा गया है इत्यादि अनेक अर्थों में श्री हितसखी जी का हृदय ही साक्षी है। यहां श्री राधा जी को अगम्या कहा गया है इससे आकांक्षा करने पर भी प्राप्ति नहीं होगी, यह व्यंग्य निकलता है। दूसरी बात यह भी है कि जब उच्चारण कमलों की छटों का लवलेश मात्र ऐसा है तब उनके अन्य सभी अंगों को शोभा का तो कहना ही क्या ?

एक और बात भी है कि शास्त्रों में लक्ष्मी जी का सदाचरन सेवा करते रहना सुना गया है अतः लक्ष्मी होने पर वह चरण सेवा नहीं छोड़ो जा सकती। यदि रसिकता या सौभाग्य अन्यत्र भी किसी अंश में सुना जाता है तो उसे लौकिक, सावधि या समीप और सापेक्ष समझना चाहिए। अतः श्री राधा जी के चरणों की अलौकिकता, सर्वोपरिता और कैसे स्वयं भगवान श्री कृष्ण के द्वारा भी सेवनीयता के कारण यह चरण असाधारण लक्षणों वाले हैं। इस विषय में रस-प्रक्रिया में भरत मुनि की यह उक्ति आती है कि, 'जहाँ नाथ कहना कठोर प्रतीत होता है, प्रिय कहना उचित है, दास कहना तो कृपा ही है, वहाँ तो दाम्पत्य है अर्थात् पतिपत्नी भाव है । जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ दाम्पत्य नहीं है। सच बात है कि पुरुष एक पशु है जो नारी रूपी रस्सी से बाँधा जाता है।' इससे श्रीराधा जी का पूर्ण सौभाग्य और नख से शिख पर्यन्त असीम सौन्दर्य कहा गया है। अब उनके प्रत्येक श्री अंग में दृष्टि लगा कर श्री हितसखी उनके प्रेम माधुर्य का उल्लास देखकर कहती हैं। 'उन्मर्याद प्रवृद्ध' आसज्या अर्थात् प्रीति का विषय होने के कारण प्रतिकूल रहना एक मर्यादा है वह मर्यादा प्रेम सागर के बढ़ने पर लुप्त

वर्धने लुप्ता प्रशब्देन सखीशङ्कापि चेति प्रियं नीत्वा प्रहस्य स्वयं गच्छतीति ज्ञेयं प्रणयरसाम्बुधित्वं प्रियस्यापि परन्तु तावदेव यावत्प्रियाप्रेमोज्जृम्भणं न स्यात् । तज्जृम्भणे प्रेमिकङ्कणबद्धोऽपि गर्वंन्त्यक्त्वा चकितः स्यात् । अतो महाम्भोधिस्तस्मिन् यद्गम्भीरलीलामाधुर्यं तेनोज्जृम्भितानि पुलकितान्यङ्गानि यस्याः गम्भीरं पूर्वं प्रच्छन्नं यथा तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिरित्युक्तेः यथा च वाच्ये लक्ष्यं गम्भीरं तस्मिन्व्यङ्ग्यं छन्नं तद्वत् लीलानां कामकलानां माधुर्यगम्भीरमप्यङ्गेषु बहिरुल्लासस्फुरणचाञ्चल्यमत्तालाडलात्वचमत्कारेण सहृदयसखीज्ञेयत्वाद् दृश्यम् ।

अथवा प्रणयरससागरवृद्धावपि गम्भीरं प्रविश्य निमज्ज्योन्मज्ज्य लीलाकरणं तन्माधुर्यमङ्गेषु स्फुटं दृश्यते, एवं प्रियाय सुखं दद्यामेवं रमये इत्यादि गम्भीरं मर्म यद्वा तन्मयान्यङ्गानि यस्या इति प्रेमरसमूर्तित्वं व्याख्यातम्

रसकलश

हो गई। 'प्रवृद्ध' शब्द में 'प्र' के द्वारा यह सूचित किया गया है कि श्री प्रिया जी के मन में सखीजन से भी कोई शंका न रही और वे प्रियतम को लेकर हँसकर स्वयं शय्या की ओर जाती हैं, यह जाना जाता है और प्रियतम का भी प्रेम सागर होना सिद्ध होता है,' किन्तु तभी तक जब तक कि प्रियाजी का प्रेम उमड़ नहीं पड़ता। प्रेम के उमड़ पड़ने पर तो प्रेमी होने का कंकण बाँधे हुए श्याम सुन्दर भी अभिमान त्याग कर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। इसलिए श्री राधा प्रेम की महासागर हैं और उस प्रेम सागर में जो गम्भीर लीला माधुर्य हैं उसके कारण उमड़ पड़े अतएव पुलकित हो गए हैं अंग जिनके ऐसी वे हैं। गम्भीर शब्द का यह तात्पर्य है कि पहले तो यह माधुर्य छिपा हुआ था जैसा कि 'एकं काञ्चन चम्पकच्छवि' इत्यादि श्लोक में 'नैवानुकूलं बहिः' इस शब्द से सूचित किया गया है और जैसे वाच्य-अर्थ में लक्ष्य-अर्थ गम्भीर होता है तथा लक्ष्य-अर्थ में व्यंग्य-अर्थ छिपा रहता है वैसे ही लीलाओं अर्थात् कामकलाओं का माधुर्य गम्भीर होता हुआ भी प्रिया जी के श्री अंगों में बाहर उल्लास, स्फुरण, चञ्चलता, मत्तता और लाडलेपन के चमत्कार से सहृदय सखियों द्वारा जाना जा सकने के कारण कुछ दृश्य भी है।

अथवा प्रेम रस के सागर के बढ़ने पर भी गहराई में प्रवेश करके निमग्न और सन्मग्न होकर लीला की जा रही है, उस लीला का माधुर्य अंगों में स्फुट दीख रहा है। मैं प्रिय को इस प्रकार सुख दूँ—इस प्रकार रमण करूँ इत्यादि मर्म गम्भीर हैं। अथवा वैसे गम्भीर लीला माधुर्य मय और उज्जृम्भित हैं अंग जिसके, इस विशेषण द्वारा श्री प्रियाजी का प्रेमरसमूर्ति होना बताया गया है। 'कृपा रंग' का अर्थ है कि जैसे कृपा

कृपाया रङ्गः कृपैव यथा कौसुम्भकस्य रङ्गमिति । इदानीमारभ्यान्य-वर्णो न ग्राह्यः मयीति मन्निमित्तास्मत्प्रार्थनालज्जानिर्वाहस्त्वद्धस्ते एव । तेन प्रियलौल्यं सहनीयमेव । अतएव किमपीत्यनिर्वचनीयं गूढव्यंग्येनैवा-वयोरेव ज्ञेयम् ।

अङ्गीकरोतु पूर्वं नाङ्गीकृतं साम्प्रतं प्रेरयामीति लोटः प्रेरणार्थेन व्यक्तं रङ्गांगीकारेण प्रियो रञ्जितः स्यादहमपि रञ्जिता स्यां त्वयि तु सर्वाण्येव रङ्गानि इति सख्यकटाक्षः अथवा कृपारङ्गभूमिमागच्छ येन प्रियेण द्वन्द्वीभूय स्मरसमरः स्यात् तत्र श्रीमत्युत्साहवर्धकाजयिष्णुप्रस्ताव यशोनवनवगाने वन्दी स्यामित्याशीराशंसनम् । मन्निमित्तमित्यपि कटाक्षः यथाक्षुधितं स्वामिनं प्रति नर्मसचिवोक्तिः श्रीमत्सु तु क्षुदभावः परन्त्वस्मत्करसाफल्यार्थं भुंक्ष्वेति एवं गमने ऐश्वर्यमाधुर्ये उक्ते ॥९१॥

रसकलस

ही कुसुम्भी रंग हो गया हो। जब से वे मुझ पर कृपा रंग करें तब से मुझ पर या मेरे निमित्त अन्य रंग ग्रहण न किया जाए, हमारी इस प्रार्थना की लाज का निर्वाह आपके हो हाथ में है। इसलिए आपको इस समय प्रियतम की चंचलता सहन कर ही लेनी चाहिए, इसीलिए 'किमपि' या 'कोई शब्द अनिर्वचनीय अर्थ को बताता है जिसका तात्पर्य है कि वह कृपा रंग इतना गम्भीर हो कि व्यंग्य द्वारा वह हम दोनों से ही जाना जा सके। ऐसे कृपा-रंग को अंगीकार करो। जैसा पहले कभी अंगीकार नहीं किया। उसके लिए मैं आज ही प्रेरित कर रही हूँ। 'लोट् लकार' के प्रेरणार्थक होने से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि उस कृपा रंग को अंगोकार करके प्रियाजी ने प्रियतम को तो रंग ही दिया है अब उनके द्वारा मैं भी रंग दी जाऊँ। हे श्री राधे! तुम में तो सभी रंग विद्यमान हैं। सखी का यह कटाक्ष भी प्रगट होता है। अथवा इसका यह अर्थ है आप कृपा को रंग-भूमि पर आ जाएँ जिससे प्रियतम के साथ मिलकर स्मर समर (सुरत-युद्ध) हो सके। उस युद्ध में श्रीमती के उत्साह को बढ़ाने वाले विजय के प्रस्ताव से युक्त यश का नवीन-नवीन गान करने में मैं बन्दी बन जाऊँगी। इस प्रकार श्री हित-सखी अपने ही लिए आशीर्वाद की आशंसा करती हैं—यह भी कटाक्ष है। जैसे भूखे स्वामी के प्रति भी सहायकों की यह परिहासोक्ति होती है कि आपको तो भूख नही है पर हमारे हाथों को सफल करने के लिए आप भोजन कर लीजिए, ऐसे ही यहाँ प्रिय की ओर जाने के विषय में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों अभिप्रायों (दृष्टियों) से कथन किया गया है ॥९१॥

एवं लीलामाधुर्यमुद्योतयन्ती प्रिया हितसख्युक्तमोमित्यङ्गीकृत्येव निभृतकुञ्जं प्रविष्टा तत्रत्यविलासयशश्छन्दः कतिचित्पद्यैस्तत्रस्था वा बहिः स्थिता हिताली तदेवोद्दीपयन्ती प्रियां श्रावयन्त्युवाच—

कलिन्दगिरिनन्दिनीपुलिनमालतीमन्दिरे,
प्रविष्टवनमालिना ललितकेलिलोलीकृते ।
प्रतिक्षणचमत्कृताद्भुतरसैकलीलानिधे
निधेहि मयि राधिके निजकृपातरङ्गच्छटाम् ॥९२॥

इति ख्यातकीर्तित्वं पुनर्गिरिग्रहणं गॄ निगरणे इत्यस्मात् काञ्चनादिधातु मनःशिलादिरंगरत्नाकरादिस्वांतर्निहितस्यापि विवेकपात्रलभ्यत्वादिना सुसंपदाढ्यत्वं व्यक्तं तादृशस्याप्यानंदिनी तद्यशः ख्यापयन्ती महत्पितुरिव मृदुलस्वच्छकंजपरागसौरभरंजितशीतसुखप्रसादकररत्नचूर्णवच्चमत्कृतदृढचित्रा-

रसकलश

इस प्रकार लीला माधुर्य को प्रगट करती हुई प्रियाजी श्री हितसखी जी की कही हुई बात को 'अच्छा' इत्यादि शब्द द्वारा स्वीकार करके मानो निभृत कुञ्ज में प्रविष्ट हुईं। अब वहाँ के विलास का यश कुछ पद्यों द्वारा निभृत कुंज में ठहरी हुई या निभृत कुंज के बाहर ठहरी हुई, प्रिया-प्रियतम के विलास को उद्दीपित करती हुई श्री हितसखी प्रिया जी को सुनाती हुई कहती हैं —

'कालिन्दी (यमुना) के तट पर मालती लता के मन्दिर में–प्रविष्ट हुए वनमाली के द्वारा अपनी ललित क्रीडाओं से चंचल कर दी गई, क्षण-क्षण चमत्कार युक्त केवल अद्भुत रसमय लीला की निधिभूते हे राधिके, मुझ में अपनी कृपा के रंग की छटा का निधन करो' ॥९२॥

यमुना जी के नाम में 'कलिन्द' शब्द का प्रयोग उनके यश की प्रसिद्धि के लिए है और 'गिरि' शब्द का प्रयोग निगरणार्थक 'गॄ' धातु से स्वर्णादि धातु और मनसिल आदि रंग और रत्नों के ढेर आदि जो उसके अपने अन्दर निहित हैं ? उनका भी विवेकी पात्रों द्वारा प्राप्य होना आदि के द्वारा शुभ सम्पत्तियों से सम्पन्न होना प्रगट होता है। 'ऐसे कलिन्दगिरि को भी आनन्द देने वाली' इस कथन से श्री यमुना 'कलिन्दगिरि' का यश ख्यापित करती हैं, जैसे कोई बड़े कुल की पुत्री अपने महान् पिता का यश फैलाती है। 'कलिन्दगिरिनन्दिनी' नाम से कोमल और स्वच्छ कमलों की पराग और सुगन्धि से रंजित हुए शीतल, सुखद, आनन्दप्रद रत्नों के चूर्ण जैसी चमकती हुई दृढ़ और विचित्र आकृति वाली तरंगों से मन को हर्षित व आकर्षित

कृतितरंगितमनोहर्षकर्षणादिधर्म्मा यथार्हास्तत्पुलिने संक्रांता ज्ञेयाः। तत्रापि मालतीमन्दिरे पाद्मोक्तलक्ष्मीरूपत्वेन सौरभपुष्पपल्लवभ्रमरपक्षि-कलस्वरमनःप्रसादकरत्वादिसंपदाढ्यत्वं स्वत एव व्यक्तं श्रीवृन्दावनीयत्वेन सार्व्वकामिकत्वात्सर्वोद्दीपनविशिष्टे मन्दिरेऽभिप्रविष्टेन वनमालिनेतिक्त प्रत्ययस्य भूतार्थत्वेन प्रियः पूर्वं प्रविष्ट इति सचिवधर्मः पश्चात्प्रिया तत्र ललितत्वं केलिगतं मन्दिरे भित्तिगवाक्षाच्छादनद्वाराद्यवयवसंपन्ने निकुंजे हास्यभावपुरस्कारेण तदिंगितमनुगत्य परस्पराभिलाषपूरणम् तदाह पूर्वं स्वयं प्रविश्य शय्यादिसम्पादनं निरीक्ष्य परीक्ष्य प्राञ्जलिरभिमुखीभूय स्वात्मानं नीराज्य वनाधिकारीव नवीनवनमालां करे धृत्वा दरचटुलवाक्यैरमृतवर्षि-दृष्ट्या स्वागतं विदधदभिवादयन्मालां बलिमिव समर्पयति। तन्मालां स्मित-पूर्वकभ्रू भङ्ग्यांगीकृत्य प्रसादीकृत्य च दत्तां धृतवानित्यतो वनमालीत्यर्थः।

रसकलश

करना आदि यथायोग्य धर्म श्री यमुना जी में प्रगट होते हैं और उनके तट में भी संक्रान्त हुए जाने जाते हैं। उस तट पर भी मालतीलता के मन्दिर में—पद्मपुराण में कहे गए लक्ष्मी रूप के कारण सुगन्ध, पुष्प, पत्र भ्रमर और पक्षियों के मनोहर कलरव से मन को प्रसन्न करना आदि सम्पत्ति से सम्पन्न होना स्वयं प्रगट होता है, फिर वृन्दावन के होने के कारण सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला होने से सब प्रकार के उद्दीपनों से विशिष्ट—' लता मन्दिर में प्रविष्ट हुए वनमाली श्याम सुन्दर के द्वारा, इस कथन में 'प्रविष्ट' शब्द में प्रयुक्त भूतकाल वाचक क्त' प्रत्यय से यह प्रगट होता है कि प्रियतम वहाँ पहले पहुँच गये हैं और उन्होंने राजा से पहले पहुचने वाले सचिव का धर्म निभाया है। प्रिया जी वहाँ बाद में प्रविष्ट हुई हैं। वहाँ दीवारों, खिड़कियों, छज्जों और द्वारों आदि अवयवों से सम्पन्न मन्दिर में ललितता क्रीडागत बतलाई गई है और वह क्रीडागत ललितता यह है कि हास्य और भाव के साथ परस्पर इंगित (इशारों) का अनुसरण करते हुए एक दूसरे की अभिलाषा को पूर्ण करना। पहले स्वयं प्रवेश करके श्यामसुन्दर ने वहाँ शय्या आदि की रचना को देखा, उसका परीक्षण किया और हाथ जोड़कर सामने आकर अपने आप को समर्पण करते हुए वन के अधिकारी की भाँति वनमाला हाथ में लेकर कुछ प्रिय वचनों से और अमृतवृष्टि करने वाली दृष्टि से स्वागत करते हुए अभिवादन करते हुए और माला को पूजा की सामग्री के समान समर्पण किया तब श्री प्रिया जी द्वारा मुस्कान के साथ भ्रूभंग की चेष्टा से स्वीकार की गई उस माला को अपना प्रसाद बनाकर प्रियतम के लिए दे दिया गया और प्रियतम ने वह माला धारण कर ली अतः वे यहाँ वनमाली कहे गए।

पुनश्च स्वमुखेनापि प्रियेण वनमहं मनोवचःकर्मभिः सेवे, ममेदमेव सर्वस्वं यथा 'पञ्चयोजनविस्तीर्णं वनं मे देहरूपक'मिति । यदत्र न्यूनं तच्छिक्षय इमां मालतीमन्दिरसेवां गृहाणेत्युक्ते साधु वनमालीति प्रियासस्मित वाक्यं शिरसि न्यस्य प्रणम्य स्वनाम ख्यापितं सखीष्विति, ता अपि तदुद्दीपनार्थमेव तत्तत्समये वदन्तीति । ततः करं करे धृत्वा शय्योपवेशः स्वयं तदाज्ञाभिकांक्षी प्रियाकराकर्षित उपविष्टस्ततोऽग्रे श्रमनिर्देशेन पदोपलालनं चटुवाक्यं च 'त्वं मे प्राणप्रिये श्यामे त्वां विना न क्वचिद् गतिः । सदा कृपादृगाकांक्षी सैव मे जीवनं धन'मिति यथा व्यासजीकृतभाषापदम् 'तब मेरे नैन सिरात किशोरी जब तेरे नैन निहारौं' इत्यादि । स्वामीजीकृतपदम्—'प्यारीजू ऐसी जिय होत जो जिय सौं जिय मिलै तन सौं तन समाइ ल्यौं तौ देखौं कहा' इति । ततः प्रेमवैवश्यवशनिजशीलध्रौव्यविस्मारकनिजमुखनिदेशकारकचेतस्तदनुद्रावकवाक्क्रियावैदग्ध्यनर्मविशिष्टक्रीडालालित्येनालोलस्यापि चित्तस्य

रसकलश

फिर यह बात भी है कि प्रियतम ने अपने मुख से कहा है कि मैं मन, वचन, कर्म से इस वन की सेवा करता हूँ। मेरा यही सर्वस्व है। जैसा कि—'पांच योजन तक फैला हुआ वृन्दावन मेरा देहरूप ही है, इत्यादि। 'जो कुछ यहाँ कमी है, उसका मुझे उपदेश करो और इस मालती मन्दिर की सेवा को स्वीकार करो', प्रियतम के ऐसा कहने पर श्री प्रिया जी ने कहा, 'वनमाली ठीक है, ठीक है।' उनके इस वचन को शिरसाधारण करके प्रणाम करके श्याम सुन्दर ते अपना 'वनमाली' यह नाम सखियों में ख्यापित किया। वे सखियाँ भी प्रिया प्रियतम के मन में उस भाव को उद्दीपित करने के लिए उस समय उन्हें 'वनमाली' इसी नाम से कहती हैं। इसके बाद प्रियतम ने अपने करकमल से प्रिया जी का करकमल पकड़ कर उन्हें शय्या पर विराजमान किया और स्वयं उनकी आज्ञा के अभिलाषी होकर खड़े रहे। प्रिया जी ने अपने हाथ से उन्हें खींचकर अपने पास बैठाया। तब प्रिय ने प्रिया जी के श्रम का निर्देश करते हुए उनके चरण सहलाए और प्रियवचन कहे—हे श्यामा ! तुम मेरी प्राण प्रिया हो। तुम्हारे बिना मेरा कोई गति नहीं है। मैं सदा ही तुम्हारी कृपादृष्टि का आकांक्षी हूँ, तुम्हारी कृपा ही मेरा जावन और धन है। जैसा कि व्यासजी का पद भी है 'तब मेरे नैन सिरात किशोरी, जब तेरे नैन निहारौं', इत्यादि। श्री हरिदास स्वामी जी का भी पद है, 'प्यारीजू, ऐसी जिय होत जौ जिय सौं जिय मिलै, तन सौं तन समाइ ल्यौं तौ देखौं 'कहा,' इत्यादि तब प्रेम की विवशता के कारण अपनी स्वाभाविक स्थिरता का विस्मरण करा देने वाले, अपने मुख से निकले आदेश को तत्काल पूरा करने वाले, चित्त और हृदय को द्रवित कर देने वाले, श्यामसुन्दर की वचन और क्रिया सम्बन्धी

लोलीकरणं येन वीरायितरसादिसंभवः स्यादिति ।

ननु तेन लोलीकृतेति नाहं लोलेति तत्र त्वन्तु ततोऽप्यद्भुतलीलानि धरसीत्याशयेनाह ततः प्रतिक्षणचमत्कृतो योऽद्भुतरस इति शृङ्गारे वर्तमानेऽपि हासवीरादिमिश्रे चाद्भुतत्वं वैलक्षण्यं येन प्रियस्य रसविदग्धस्यापि चित्रं स्यादिति क्षणश इत्यारब्धाप्येकाद्भुतावयविनी लीलाभिनवनवप्रत्यवयवैव भासमाना स्यादिति वा यावत्कालावच्छिन्ना लीला स्यात्तस्य कालावयवशश्चमत्कार इति तादृशोऽद्भुतरस एका मुख्यो यासु तासां लीलानां निधे नितरां धीयते इति तास्त्वयि सौष्ठवेन विराजन्ते इत्यनेन सिन्धुनिर्देशेन सर्वलीलास्मरणपूर्वकोक्तिर्दर्शिता, येन विस्मृतापि स्मृता स्यादिति । अतो हे राधिके कप्रत्ययेन साध्वि, मुग्धे, सखि, कथमन्येव विभाव्यमाने इत्यज्ञातार्थं व्यङ्ग्यं निजेति पूर्वन्तु कृपासमाशंसनं कृतम्, तदङ्गीकारफलेन प्रियं प्रति

रसकलश

चतुरता और परिहास से युक्त क्रीड़ाओं की ललितता से प्रिया जी के स्थिर चित्त को चञ्चल कर दिया गया, जिससे प्रिया जी की वीर चेष्टा से युक्त रति (विपरीत-रति) आदि सम्भव हो सकीं हैं।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि मैं (श्रीराधा) श्यामसुन्दर द्वारा चंचल कर दी गई हूँ। स्वतः चंचल नहीं हूँ। इस पर श्रीहित सखी कहती हैं कि तुम तो श्यामसुन्दर से भी अद्भुत लोलाओं की निधि हो, क्योंकि प्रतिक्षण चमत्कार युक्त जो अद्भुत रस, शृंगार के रहते हुए भी हास, वीर आदि का मिश्रण होने से अद्भुतता या विलक्षणता आने से हुआ है, जिससे रस में निपुण होते हुए भी प्रियतम को आश्चर्य हुआ है। क्षण क्षण में आरम्भ की गई एक अद्भुत अवयवों वाली लीला नये नये अवयवों वाली सी प्रतीत होती है। अथवा जिस समय तक लीला होती रहती है उस समय के प्रत्येक अवयव अर्थात् प्रत्येक क्षण में चमत्कार होता है। ऐसा एक अद्भुत रस जिन लीलाओं में मुख्य है, उन लीलाओं को निधिभूता श्रीराधा हैं, जिसमें विशेष रूप से किसी वस्तु का आधान किया जाय वह निधि कहलाती है। निधि में निहित वस्तु अति सौष्ठव से विराजमान होती है। अतः निधि शब्द से सिन्धु का निर्देश होता है और सिन्धु के निर्देश से सम्पूर्ण लीलाओं का स्मरण करा देने वाली बात समझी जाती है जिससे भूली हुई लीला भी याद आ जाए। इसलिए हे राधिके, राधिका नाम में भी 'क' प्रत्यय सूचित करता है कि हे सरल भोली सखी क्यों आज और कुछ सी दिखाई देती हो। इस प्रकार श्री प्रिया जी का अज्ञात सा होना ध्वनित होता है। पूर्वश्लोक में केवल कृपारंग की प्रार्थना की गई थी यहां पर निजकृपा कही गई है। इससे प्रतीत होता कि पहले की प्रार्थना स्वीकार करने के फल स्वरूप प्रियाजी ने प्रियतम के प्रति अपनी प्रेम प्रधानता के द्वारा कृपावृष्टि की और उससे जो अपनी असाधारण कृपा है, उसके तरंग विशेषों की जो प्रति-

स्वमुख्यतया वर्षणं तेन निजा असाधारणा या कृपा तस्यास्तरङ्गा विशेषाः प्रतिक्षणचमत्कृतलीलास्तच्छटां प्रकाशविशेषस्फूर्ति मयि निधेहि ।

ननु प्रागेव ज्ञाते कथं निधानं चेत्तत्राह कोशाधिकार्यपि स्वाम्याज्ञापेक्षको भवेत्तद्वद् रहस्येकाकिन्येव सखि निजास्वादं करोषि, साधु माधुर्यास्वादस्य साक्षिणीन्तु मामपि कुर्विति । एकाकिदोषश्रवणापत्तेरिति सख्यकटाक्षः । साक्षित्वे फलं कादाचित्कार्थिप्रत्यर्थिभूतयोर्भवतोर्न्यायकरणं प्रतिभूभवनं अन्यथोभयोर्विवादे कमेकं सत्यं कुर्मः इति व्यङ्ग्येन दर्शनरसास्वादाशंसनं प्रति ध्वनिः । आचार्यपक्षस्तु स्पष्ट एव साधकानुशासनार्थमिति । मयीत्यनेन अहं गृहीत्वा सजातीयानुपभोजये इति निधेहीत्यनेन यथा त्वं निधिस्तथा त्वत्कृपानन्दस्याहमाश्रयः । मन्न्यस्तं वस्तु सुरक्षितं यथेष्टसमये समर्प्पयामीति कमप्यनधिकारिणं नाख्यामीति भावः । प्रविष्टशब्दस्य प्रवेश्यसापेक्ष्य-

रसकलश

क्षण चमत्कृत लीला के रूप में हैं, एक छटा अर्थात् प्रकाशविशेष की स्फूर्ति वे मुझ पर निहित करें।

अब प्रश्न होता है कि तुम तो पहले ही उन कृपा तरंग छटाओं को जानती हो, फिर तुम में क्या निधान किया जाय ? इस पर श्रीहित सखी कहती हैं कि कोषाध्यक्ष भी कोष में से कुछ लेने के लिए स्वामी की आज्ञा की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार एकान्त में अकेली ही तुम अपना आस्वाद लेती हो। बहुत अच्छी बात है, किन्तु उस माधुर्य के आस्वाद की साक्षिणी तो मुझे भी बना लो। क्योंकि अकेले अकेले मधुर स्वाद लेने में दोष कहा गया है। यह सख्यभाव से कटाक्ष किया गया है। इस माधुर्य के साक्षी होने का फल यह होगा कि कभी आप दोनों प्रिया प्रियतम अर्थी-प्रत्यर्थी या वादी-प्रतिवादी होंगे, तब आप दोनों का न्याय करने के लिए अथवा न्याय में प्रतिभू (जामिन) बनने के लिए मैं समर्थ हो सकूंगी। नहीं तो दोनों में विवाद हो जाने पर किस एक को सच्चा बनाऊँगी। इस प्रकार व्यंग्य द्वारा दर्शन रस के आस्वाद का आशंसन करने की ध्वनि निकलती है। यह श्रीहित सखी पक्ष की व्याख्या हुई। श्रीहिताचार्य रूप में तो साधकों को ऐसी आकांक्षा करने का उपदेश देना स्पष्ट ही है। केवल 'मयि' मुझ पर इसमें से मैं अर्थ को लेकर जो मेरे सजातीय होंगे, मैं उन्हें इस रस का आस्वाद कराऊँगा। अतः 'निधेहि' अर्थात् 'आधान करो' यह प्रार्थना की गई है और उसका आशय है कि जैसे तुम निधि हो, वैसे मैं तुम्हारे कृपानन्द का आश्रय हो जाऊँ। मुझ में रखी हुई तुम्हारी वस्तु सुरक्षित रहेगी और अभीष्ट समय पर मैं तुम्हें समर्पण भी कर दूंगा। किसी अनधिकारी को कभी नहीं कहूँगा 'प्रविष्ट' शब्द प्रवेश्य की

त्वादव्ययविसम्बन्धाभावोऽदोषः । यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलं तथैव मन्दिरे प्रविष्टवनमालिना । निधे इति सिन्धुत्वात्तरङ्गच्छटोक्तिः ॥९२॥

पुनस्तदेव यशः स्वानुभवसाक्षित्वेन प्रतिभूत्वं ख्यापयन्ती दयितदयनीयतामुद्बोधयन्त्याह ।

यस्यास्ते बत किंकरीषु बहुशश्चाटूनि वृन्दाटवी-
कन्दर्पः कुरुते तवैव किमपि प्रेप्सुः प्रसादोत्सवम् ।
सान्द्रानन्दघनानुरागलहरीनिःस्यन्दिपादाम्बुज-
द्वन्द्वे श्रीवृषभानुनन्दिनि सदा वन्दे तव श्रीपदम्
॥९३॥

हे श्रीवृषभानुनन्दिनि परमकृपाप्रादुर्भावशीले सकलसौभाग्यश्रीयुते महाराजकुमारि सदेति प्रतिदिनं प्रतिक्षणं नवनवचमत्कारातिशयानन्ददानात् यत्तत्सम्बन्धात् तस्यास्तवानिर्वचनीयविशेषणविशिष्टायाः उच्यमानसौभाग्य-

रसकलश

अपेक्षा रखता है, इसलिए अवयवीभूत विशेष्यवाचक पद के सम्बन्ध के अभाव को यहाँ दोष नहीं समझना चाहिए। जैसे—देवदत्त का गुरुकुल कहने से देवदत्त का शिष्य होना स्वयं प्रगट हो जाता है ऐसे ही 'मन्दिर में प्रविष्ट वनमाली कहने से श्रीराधा जी का प्रवेश्य होना भी प्रगट हो जाता है। निधि शब्द सिन्धु का वाचक है इसीलिए कृपा की तरंगों की छटा के लिऐ आशंसा की गई है ॥९२॥

फिर उसी यश का अपने अनुभव की साक्षी से अपना प्रतिभू (जामिन) होना प्रगट करती हुई और प्रियतम की दयनीयता समझाती हुई श्री हितसखी कहती हैं— 'वृन्दावन के काम (श्याम सुन्दर) तुम्हारी कृपा के उत्सव को प्राप्त करने की इच्छा वाले होकर जिन तुम्हारी दासियों के सामने कुछ अनेक प्रकार के प्रिय वचन बोलते हैं, हे प्रगाढ आनन्द वाले घने अनुराग की लहरों को बहाने वाले चरण कमल युगल वाली! वृषभानु नन्दिनी! (श्री राधे!) मैं सदा तुम्हारे श्रीयुक्त चरणों को नमस्कार करती हूँ।' ॥९३॥

हे वृषभानु नन्दिनी, परम कृपा से प्रगट होने के स्वभाव वाली सम्पूर्ण सौभाग्य श्री से युक्त महाराज कुमारी, मैं सदा प्रतिदिन और प्रतिक्षण नवीन-नवीन चमत्कार के अतिशय से आनन्द देने के कारण 'जो' और 'वह', 'यत्' शब्दों के सम्बन्ध से अनिर्वचनीय विशेषणों से युक्त उस तुझ राधा के वर्णन की जाने वाली सौभाग्य श्री से युक्त

श्रीयुतं पदं वन्दे नौमि नमामि चेति । तस्याः कस्या यस्यास्ते इति वोप्सात्यन्तममत्वबोधिनी यशोऽवधारणापि चेति । बतेति स्फुटे विस्मयार्थम् । आभ्यन्तरेऽनुकम्पायां खेदे चाभिमुखीकरणे चेति किङ्करीष्विति बहुत्वं ललिताद्यष्टसखीनां प्रत्येकमष्टौ सहचर्यस्तासामपि तथैव किङ्कर्यस्तासु सर्वास्वेवेति तदा सखीनां सहचरीणां च कैमुत्यमायातम् चाटूनि प्रियभाक्यादेरपि बहुत्वं यथा भिन्नभिन्नसेवाधिकारपराणां प्रियासमक्षमेव श्लाघा 'ललिते किं ताम्बूलश्लाघां करोमि त्वत्किङ्करीहृदयानुरागातिशयः प्रत्यक्षं दृश्यते' इत्युक्ते प्रियेण तत्सम्पुटवत्याः श्रुतौ मनसि किमप्यनिर्वचनीयानन्दो वर्धितः यथा च किं वसनचयनरचनामिति श्रृंगारप्रेमानुरागहासादय एव यथार्हवर्णनीलाम्बरादिषु व्यज्यन्त इत्यादि । किं भोजनमिति मूर्तिमद्रसा एव रसनां लम्पटयन्तीति एव वच्मीत्यादि । अहह सुरभितशीतसुस्वादुमधुरजलपानक-

रसकलश

चरण की वन्दना करती हूँ स्तुति करती हूँ और नमस्कार करती हूँ। 'उस' किस राधा के ? जिस तुझ राधा की दासियों का तुझ राधा के ही कृपा उत्सव को पाने के लिए उत्सुक इत्यादि वाक्य में दो बार 'युष्मद्' या 'तुझ' शब्द का प्रयोग अत्यन्त ममता को प्रगट करता है और यश के अवधारण (मैं केवल तेरा ही यश गाती हूँ, दूसरे का नहीं) के लिए भी यह प्रयोग है। 'बत' शब्द का प्रयोग स्फुट-अर्थ में विस्मय के लिए और गुप्त-अर्थ में कृपा के लिए तथा खेद और अनुकूल करने के लिए किया गया है। 'किङ्करीषु' दासियों में यह बहुवचन ललिता आदि आठों सखियों में फिर प्रत्येक की आठ-आठ सहचारियों में और उनकी भी दासियों में, सभी में प्रियवचन बोलने या सभी की खुशामद करने को सूचित करना है। जब दासियों की यह बात है तब सखी सहेलियों का तो कहना ही क्या ? 'चाटूनि' अर्थात् प्रियवचन या खुशामदें में बहुवचन भी अलग-अलग सेवाधिकार में लगी हुई उन सखियों और दासियों की प्रियाजी के सामने ही श्लाघा करने को प्रगट करता है जैसे 'हे ललिता, मैं तुम्हारे लगाये हुए पान की क्या प्रशंसा करूँ। तुम्हारी दासियों के हृदय का अत्यन्त अनुराग तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है।' यह कहकर प्रियतम ने पान का बीड़ा हाथ में लिए हुई ललिता जी के कानों में और मन में कोई अनिर्वचनीय आनन्द बढ़ा दिया। और जैसे 'तुम्हारी वस्त्र चुनने की और धारण कराने की रचना का क्या वर्णन करूँ, यह तो श्रृंगार, प्रेम, अनुराग और हास आदि भाव ही यथा योग्य रंग वाले नीलाम्बर आदि के रूप में प्रगट होते हैं।' इत्यादि। 'भोजन का क्या वर्णन करूँ, यह तो मूर्तिमान, रस ही हैं जो रसना को लम्पट या रस लोलुप बना देते हैं। उनका क्या वर्णन करूँ ? इत्यादि 'अहह ! सुगन्धित, शीतल,

विविधरागरसासवादि यन्मूर्तिमत्प्रेमानन्दरसामृतमिवेति विलासोद्दीपकं चेत्यादि । किं गानकौशलं नाट्यवाद्यवैशारद्यं चेति यत्सर्वाकर्षकमोहन नादब्रह्मकारणमुरलीमपि कराद् भ्रंशयन्तीत्यादि । अहो चित्रं वात्स्यायन-भरताद्युक्तकामकेलिकौशलनिबद्धप्रबन्धकथानकं यदनिर्वचनीयं विस्मृतं वापि विलासाद्यमूर्तमपि मूर्त्तयन्ति साक्षाद्विभावानुभावस्थायिसञ्चारित्वा-देरपि काव्ये रस इति सत्यं वेद्यान्तरं विगलयन्तीत्यादि । अहो बत काञ्चन-मणिभूषणसंयोजनचातुर्यं यदावयोर्द्दर्शनमात्रेणैव संकल्पजानन्दविकल्पं प्रत्याकल्पमुत्कटयन्तीत्यादि । प्रियावेणीसन्दर्भशोभां किमहमञ्जनदान-चातुरीं च ब्रुवे करकृतमूर्तिमच्छृंगाररस एव स्थाप्यते आहोस्वित् शुक-सारिकादि विविधभाषापाठनं यन्मृष्टवर्णप्रयोगपदघटितकारकवाक्या-विकलवेन स्निग्धसखीकलकंठाविशेषं ज्ञापयन्तीति पारावतकलहंसादि-

रसकलश

सुस्वादु, मधुर जल पानक और अनेक प्रकार के रंगों और रसों वाले आसवादि जो मूर्तिमान प्रेमानन्द रसामृत जैसे हैं और विलास के उद्दीपक हैं,' इत्यादि । 'संगीत के कौशल और नृत्य तथा वाद्य की निपुणता का क्या वर्णन करूँ, जो सब के आकर्षक और मोहक नाद ब्रह्म की कारण भूत मुरली को भी श्यामसुन्दर के हाथों से गिरा देते हैं,' इत्यादि । 'अहो ! आश्चर्य है वात्स्यायन, भरत इत्यादि द्वारा कही गई काम क्रीड़ाओं के कौशल से बाँधा गया प्रबन्धात्मक कथानक का क्या वर्णन करूँ ? जो अनिर्वचनीय है और भूले हुए तथा अप्रकट विलास आदि को भी मूर्तिमान बनाते हैं। साक्षात् विभाव अनुभाव, स्थायोभाव और संचारी भाव आदि से काव्य में रस की निष्पत्ति' करते हैं और सचमुच अन्य ज्ञेय पदार्थों को बिगलित या विस्मृत करा देते हैं ।' इत्यादि । 'अहो ! आश्चर्य है स्वर्ण और मणि को भूषणों में संयोजन करने की चतुरता का क्या वर्णन करूँ ? जो हम दोनों (प्रिया-प्रियतम) के देखने मात्र से ही संकल्प जनित आनन्द के विकल्प को प्रत्येक वेश रचना के समय उत्कट बनाते हैं ।' इत्यादि ।' प्रियाजो की वेणी बाँधने की शोभा और आँखों में काजल लगाने की चतुरता का मैं क्या वर्णन करूँ । हाथ से बनाई गई है मूर्ति जिसकी, ऐसा शृंगार रस ही स्थापित कर दिया जाता है ।' अथवा 'शुक सारिका आदि को अनेक भाषाएँ पढ़ाने का भी मैं क्या वर्णन करूँ ? जिसमें मधुर वर्णों के प्रयोग वाले पदों से घटित कारकों से युक्त वाक्यों की अविकलता से उन शुकसारिका आदि के कण्ठ स्नेही सखियों के मधुर कण्ठों के साथ अभेद प्रगट करते हैं । इन परावत (कबूतर), कलहंस (बतख)

शावकशिक्षणं च यद्विकटदुर्घटनाट्यपाटवजटितनटबटुवरा इव क्रीडां दर्शयन्तीत्यादि । ललिताविशाखाचम्पकलताचित्रातुंगविद्येन्दुलेखारंगदेवी-सुदेवीषु क्रमेण सपरिकरसम्मुखस्थितासु पृथक् तत्तत्सेवासु प्रसद्य तत्तत्प्रति-पादककिङ्करीणां प्रशंसनं बहुशः समक्षं परोक्षं बहुवाराश्च चैकदैवेति ।

किञ्च प्रेममूर्त्तेः प्रियस्य तादृशप्रियतायां सदा स्थायित्वात् किमस्या निष्ठाश्चर्यं किं स्नेहाधिक्यं किं सेवाकौशलमेकरसनाशक्यमित्याद्युक्त्वा स्वकण्ठात्पुष्पमालादानं प्रसादं ताम्बूलं चन्दनं कुङ्कुमादिद्रवं यथा समयं ददाति तदानन्दोज्जृम्भमोहद्रवस्य सखीहृदयमेव साक्षीति । येन प्रियादृष्टिः प्रसन्ना यन्मदीयाः किंकर्य एवंविधनिपुणा इति किञ्च प्रशंसानन्दसाम्येपि आसां पर्यवसानं प्रियाप्रसाद एव । अतएव कन्दर्प्पोक्तिभीतिरपि तासां नास्ति महत्कैङ्कर्यप्रभावात्, वृन्दाटवीलावण्यधामैव तस्यां कन्दर्पः प्रसिद्धः साक्षा-

रसकलश

आदि के बच्चों को सिखाने का भी क्या वर्णन करूँ ? जो विकट और दुर्घट अभिनय की पटुता से युक्त नट बालकों के समान कौतुक दिखाते हैं ।' इत्यादि । ललिता, विशाखा, चम्पकलता, चित्रा, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी जब अपने परिकरों सहित श्री राधाजी के सामने स्थित होती हैं तब उनकी उन अलग-अलग सेवाओं से प्रसन्न होकर उन उन कार्यों को करने वाली किंकरियों की क्रमशः प्रशंसा करते हैं । यहाँ पर 'बहुशः' कहने का यह भाव है कि उनके सामने और उनके पीछे अनेक बार न कि एक बार ।

'फिर प्रेम मूर्ति प्रियतम की वैसी प्रियता में सदा स्थायिता के कारण, इनकी इस निष्ठा का आश्चर्य क्या कहूँ ? स्नेह की अधिकता का क्या वर्णन करूँ ? सेवा का कौशल क्या बताऊँ ? यह सब एक रसना से वर्णन नहीं किए जा सकते' इत्यादि कहकर अपने कण्ठ से पुष्प माला उतार कर दे देते हैं । प्रसाद रूप में पान, चन्दन, कुंकुम आदि लेपन भी यथा समय दे देते हैं । उस समय आनन्द के उमड़ने से जो मोह और द्रुति होती है, उसका सखियों का हृदय ही साक्षी है । जिससे प्रियाजी की दृष्टि प्रसन्न हो जाती है, नेत्र विकसित हो जाते हैं कि मेरी किंकरियाँ ऐसी निपुण है । फिर प्रशंसा का आनन्द स्वामिनी को और किंकरियों को एक-सा होने पर भी प्रियाजी की प्रसन्नता में ही किंकरियों की प्रसन्नता का पर्यवसान होता है । इसीलिए वृन्दावन के कन्दर्प या कामदेव की इन मधुर उक्तियों से उन्हें कोई भय नहीं होता । बड़ी स्वामिनी की दासी होने के प्रभाव से वे निर्भय रहती हैं । वृन्दावन तो सौन्दर्य का धाम ही है । उसमें यह कन्दर्प या कामदेव के रूप में प्रसिद्ध हैं । अर्थात् साक्षात् मन्मथ कहलाते हैं । ये वृन्दाटवी के कन्दर्प इसलिए भी कहलाते हैं कि जिस देश में जो वीर विजय प्राप्त

न्मन्मथमन्मथ इति किञ्च यत्र विजयः स्यात्तद्देशनाम्ना शूरस्य ख्यातिः स्यात्सोऽपीत्याश्चर्यम् ।

अन्यच्च कन्दर्पस्तावन्मोहनस्तस्यापि यो मोहकः स चापि चाटुकारी तदा कस्य पदस्थितिः परन्तु प्रियापदकैङ्कर्यवर्मप्रभाव एवमेव यत्तस्याप्यगणनम् इत्यर्थस्त्वनुस्यूत एव । प्रकृतमाह कुरुत इत्यात्मगामि फलं स्वसुखन्तु गूढं स्फुटन्तु तवैवेति अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारोऽनन्यतादर्शकः । यदत्र स्वसुखं तदेव तत्सुखमित्याह प्रसादस्तु प्रसन्नता स एवोत्सवो नवं दिनं लोके दीपमालिकादिवद्वाभ्युदयिकं पूर्वमुत्सवोन्मनीभावपृच्छ्यमानप्रियोक्तचरवाक्यस्मारणमिदं मम किमुत्सवेन सुखेन यत्सर्वानन्दकादम्बिन्यपि मानं न मुञ्चति । मम तु स एवोत्सवो यत्तत्क्षणे श्रीमत्येषा प्रसन्ना स्यादित्यादि

रसकलश

करता है उस देश के नाम से उस वीर की ख्याति हुआ करती है। ऐसे वृन्दाटवीकन्दर्प वृन्दावन के कामदेव भी जिन तुम राधा जी की किंकरियों के प्रति चाटु वचन बोलते हैं, यह आश्चर्य है।

एक और बात भी है कि कन्दर्प या कामदेव मोहित करने वाला है। उसको भी मोहित करने वाले यह वृन्दावन के कन्दर्प श्याम सुन्दर हैं। वे भी जहाँ चाटुकार हैं वहाँ मर्यादा में कौन रह सकता है? परन्तु यह प्रिया जी के चरणों के दास्य रूपी कवच का ही प्रभाव है कि ये किंकरियाँ उनकी भी कोई परवाह नहीं करतीं। यह बात इसके साथ स्वयं संलग्न है। अब प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करते हैं। 'वन्दावन के कामदेव चाटकारिता करते हैं, में 'कुरुते' इस आत्मने पद का तात्पर्य आत्मगामी फल अर्थात् श्याम सुन्दर का अपना सुख-रूप अर्थ छिपा हुआ है और स्पष्ट तो तुम्हारा (श्रीराधा-का) ही सुख है, यह बात 'तवैव' में प्रयुक्त अन्य सम्बन्ध का निषेध करने वाले 'एव' कार से प्रगट होती है, क्योंकि यह 'एव' कार अनन्यता का दर्शक है। यहाँ जो स्वसुख या अपना सुख है वही तत्सुख है, यह बात बताते हैं। प्रसाद नाम प्रसन्नता का है। वही उत्सव है। अर्थात् नया दिन है। जैसे लोक में दीप मालिका आदि अभ्युदय के दिन उत्सव कहलाते हैं। पहले उत्सव में उन्मनीभाव या उदासी का कारण पूछे जाने पर प्रियतम के द्वारा कहे गये वाक्य का स्मरण कराने वाला यह प्रसग है। 'मुझे उत्सव से या सुख से क्या प्रयोजन? जब सम्पूर्ण व्रजमण्डल को अपने दर्शन से आनन्द देने वाली कादम्बिनी (मेघमाला) मेरे प्रति मान (रूठना) नहीं छोड़ती। मेरे लिए तो वही उत्सव होगा, जिस क्षण में यह श्रीमती मेरे प्रति मान छोड़कर प्रसन्न होगी। इत्यादि।

किमपीति स्वरूपाकथनमेव विचित्रानन्दं प्रियहृदयवेद्यं बोधयति प्रेप्सु-र्वाञ्छकः प्रकर्षेण मनोवचःक्रियाभिः क्रमेण कैमुत्यम् । एवं रुचिनिष्ठाधिक्येन प्रियाहृदि रसवर्षणानुग्रहकरणमुद्बोधितम् । ननु कमिति सुखेन दृप्यति हृष्यतीति निरुक्त्या निरतिशयानन्दवतः कामकामस्य श्रीकृष्णस्य श्रीवृन्दा-वनराज्ञी तत्सख्यश्च दूरे तत्किङ्करीषु बहुशश्चाटु बहुत्वमकिञ्चित्कररङ्क-कृतवदाश्चर्यमिव भातीति चेत्तत्राह सान्द्रेति दृढनिरतिशयानन्दो घनीभूता-नुरागश्च मकरन्दरूपौ तयोर्ल्लहर्य्यस्ताभिः स्पन्दितुं प्रस्रवितुं शीलं स्वा-भाविकं यस्य तादृशं पादाम्बुजद्वन्द्वं यस्यास्तत्सम्बोधनम् । अत्रैवानन्दानु-रागौ निरपेक्षावसाधारणाविति ।लोभस्य राद्धांतस्य च प्रियहृदयमेव साक्षि तादृशैश्वर्यं न्यक्कृत्य किङ्करीपर्यन्तचटुलत्वं तदा श्रीमत्यां सखीषु कैमुत्यमायातमिति स्फुटमेव । अतो वन्दे एव न वक्तुं शक्नोमीति प्रियं

रसकलश

यह वाक्य है । यहाँ पर 'किमपि' या 'कुछ' शब्द द्वारा उस उत्सव का स्वरूप कहना ही विचित्र आनन्द को प्रगट करता है, जो आनन्द प्रियतम के हृदय द्वारा ही जाना जा सकता है । प्रेप्सु' अर्थात् 'अभिलाषी' (प्रकर्ष से प्राप्त करने की इच्छा वाला)। 'प्र' अर्थात् प्रकर्ष से का अर्थ है कि वे मन वचन कर्म से श्री प्रियाजी की प्रसन्नता के उत्सव को प्राप्त करना चाहते है । और जब मन से चाहते हैं तो वाणी और कर्म से चाहने का क्या कहना । इस प्रकार रुचि और निष्ठा की अधिकता से प्रियाजी के हृदय में रस वृष्टि कराने वाला अनुग्रह जगाया गया अब कन्दर्प शब्द में 'कम्' अर्थात् 'सुख' से 'दर्प' करे या हर्ष करे, इस निर्वचव द्वारा अत्यधिक आनन्द वाले काम के भी काम श्री कृष्ण के लिए श्री वृन्दावन रानी और उनकी सखियों की बात तो दूर, वे उनकी किंकरियों के प्रति भी अनेक प्रकार से अनेक चाटु वचन कहते हैं । जैसे कोई कुछ न कर सकने वाला रंक या निर्धन प्रिय (अनुनय विनय भरे) वचन बोलता है, वसे ही वचन बोलने से अत्यन्त आश्चर्य लगता है । इस पर कहते हैं—'सान्द्र' अर्थात् दृढ़ और अत्यन्त आनन्द तथा घनीभूत अनुराग मकरन्द रूप हैं और उनकी लहरियों में से स्यन्दित या प्रस्रवित होने (बहने) का स्वभाव है जिनका, ऐसे चरण-कमल-युगल हैं जिनके, उन श्रीराधा जी का यह सम्बोधन है । यहीं पर आनन्द और अनुराग एक दूसरे से निरपेक्ष हैं और असाधारण हैं । लोभ और सिद्धान्त का तो प्रियतम का हृदय ही साक्षी है । जो उस प्रकार के ऐश्वर्य का तिरस्कार करके दासियों तक चटुलता या चाटु-कारिता करते हैं, तब श्रीमती राधा जी और उनकी सखियों के प्रति तो वे क्या न करते होंगे; यह स्पष्ट ही है । अतः मैं भी उनके चरणों की वन्दना ही करती हूँ, कुछ कह नहीं सकती । प्रियतम के प्रति भी चंचलता से उत्पन्न मान (पुण्य कोप) के सन्देह

प्रत्यपि लौल्यजमानसंशये प्रणत्यादिबोधनं कटाक्षश्चापि पश्यास्मतिकङ्करी-चाटुकारफलं कीदृक्साहाय्यं कुर्मो व्यंग्येन त्वदुपरि प्रसादोत्सवमुद्बोधयाम इत्यस्मद्गुणोऽपि न विस्मर्तव्य इत्यनुरणनध्वन्यन्तरं द्वंद्वेति । प्रियोऽनुनय-समय एकं पदमनुलालयति ततो वाम्यकौतुकेन पार्श्वं परिवृत्य तं संवृणोति तदा द्वितीयमाश्रयति ततोऽपि पूर्ववदाच्छादनं ततः पुनरपि तथैव ततः किं द्वन्द्वं वर्धयसे इति प्रहस्य साम्मुख्यं तदा प्रियवाक्यं नाहं त्वत्प्रसादं मन्ये मम त्वेतद्द्वन्द्वमेवाद्वन्द्वकारणमितीदमेव सेवे येनाञ्जसैव त्वत्प्रसादः स्यादिति बहुत्वेन प्रहासबाहुल्यं वर्धितं तदा सुकुमार्यास्त्यज त्यज कदापि मानं न करिष्य इति पराजयाङ्गीकारविनोदस्तदनन्तरं हासश्रमभिया पदोपलालन-त्याग इत्यादिकादाचित्कक्रीडासूचनं द्वन्द्वमिति सहृदयगम्यम् ।।६३।।

पुनः साहाय्यमाचरितुं प्रियनिष्ठां स्मारयन्ती चतुर्भिर्नामप्रभावकथनेन नामिन्यास्तल्लज्जां वर्धयति—

रसकलश

में प्रणाम करना आदि बोधित होता है और सखीजन का कटाक्ष भी प्रतीत होता है। 'देखो, हम किंकरियों के प्रति चाटुकारिता का फल कैसा है? हम कैसी सहायता करती हैं? व्यंग्य के द्वारा तुम्हारे प्रति प्रिया जी की कृपा का उत्सव भी जगाती हैं। इसलिए तुम हमारे उपकार को कभी न भूलना।' ये संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि भी है। 'सान्द्रानन्द' इत्यादि सम्बोधनों में द्वन्द्व शब्द का यह तात्पर्य है कि प्रियतम अनुनय विनय के समय प्रिया जी के एक चरण को सहलाते हैं, तब प्रियाजी प्रतिकूलता के कौतुक से पार्श्व परिवर्तन करके उस चरण को छिपाती हैं। तब वे दूसरे चरण का आसरा ले लेते हैं। तब दूसरे चरण को भी वे वैसे ही ढक लेती हैं। तब फिर ये वैसा ही करते हैं द्वन्द्व (दोनों चरण और झगड़ा) क्यों बढ़ाती हो। ऐसा कहने पर प्रिया जी मुस्कराकर अनुकूल हो जाती हैं। तब श्यामसुन्दर कहते हैं 'मैं इस एक एक चरण देने को कृपा नहीं मानता। मेरे लिए तो ये चरणों का द्वन्द्व (युगल) ही अद्वन्द्व (दुःख द्वन्द्व से छुड़ाने) का कारण है। इसलिये मैं तो युगल की ही सेवा करता हूं जिससे शीघ्र ही तुम्हारी कृपा हो सके। इस प्रकार बहुत हठ से अनेक प्रकार का परिहास बढ़ाया, तब सुकुमारी श्रीराधा जी के छोड़ो, छोडो, फिर कभी मान नहीं करूँगी' इत्यादि कथन द्वारा हार स्वीकार करने का विनोद हुआ। उसके बाद हास्य के परिश्रम के भय से चरण सहलाना बन्द करना इत्यादि कभी होने वाली क्रीडा का सूचन करने वाला यह द्वन्द्व शब्द है। इस बात को सहृदय ही जान सकते हैं।।६३।।

फिर सहायता करने के लिए प्रियतम की निष्ठा का स्मरण कराती हुई चार श्लोकों द्वारा नाम का प्रभाव कहने के द्वारा 'नामिनी' (श्रीराधा जी) की उस लज्जा को बढ़ाती हैं—

यज्जप्तं सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकं तत्क्षणा—
द्यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत्तुच्छता।
यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः
श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम्
॥९४॥

तदद्भुतं राधेति वर्णद्वयं मे मम स्फुरत्विति न वर्णान्तरे प्रयोजनम्। किञ्च नामयाथार्थ्यस्फूर्तौ किमवशिष्यते येन वर्णान्तरकथनावकाश इति नामतन्मयतेषिता आचार्योक्तिः स्फुटैव। आन्तरे या वा राधयति प्रियमिति वक्ष्यमाणत्वादनेनैव धात्वर्थस्फुरणेन प्रियं तर्पयतीति। ननु रकारधकारौ प्रसिद्धावेव किमद्भुतत्वं तदेवाचिन्त्यशक्तित्वमाह यन्नाम सकृदेव जप्तं सत् नतु पुरश्चर्यासाधितमेव तस्य कैमुत्यात् जप् जल्प् व्यक्तायां वाचि सकृत्सामर्थ्यस्य तर्काभावगोचरत्वं हितसखीहृदयगम्यमेव न बहिरंगानां दृश्यम् तत्क्षणादेव न

रसकलश

'एक ही बार जपे जाने पर भी जो गोकुलपति को तत्काल आकर्षित कर लेता है, जिसमें प्रेम रखने वालों को समस्त पुरुषार्थों में तुच्छता स्फुरित या प्रतीत होती है। जिस नाम से अङ्कित मन्त्र का जाप करने में स्वयं माधव श्रीकृष्ण भी प्रीति से तत्पर रहते हैं। वे 'राधा' इस नाम के दो अद्भुत अक्षर मेरे हृदय में स्फुरित हों॥९४॥

वे 'राधा' यह दो अद्भुत अक्षर मेरे हृदय में स्फुरित हों। मुझे अन्य किसी वर्ण से कोई प्रयोजन नहीं है। और फिर नाम की यथार्थता स्फुरित हो जाने पर क्या शेष रह जाता है। जिससे अन्य वर्णों का उच्चारण करने का अवकाश हो। इसलिये नाम में ही तन्मयता अभीष्ट है यह श्रीहिताचार्य महाप्रभु की उक्ति स्पष्ट ही है। आन्तरिक अर्थ में जो प्रियतम की आराधना करती है इत्यादि आगे कहा ही जाएगा। इसी नाम के द्वारा धातु के अर्थ का स्फुरण होने से प्रिय को तर्पित करती है।

यदि कोई कहे कि 'र' और 'ध' तो प्रसिद्ध अक्षर हैं उनमें अद्भुत बात क्या है? इस पर उनकी इसी अचिन्त्यशक्तिशालिता का वर्णन करते हैं जो नाम एक ही बार जपे जाने पर गोकुलपति (श्याम सुन्दर) का तत्काल आकर्षण कर लेता है पुरश्चरण द्वारा साधित होने पर तो भला क्या कहना। जप् और जल्प् धातु स्पष्ट वाणी बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सकृत् या एक बार राधा नाम स्पष्ट बोलने की सामर्थ्य या शक्ति तर्क का विषय नहीं है, यह तो श्रीहितसखी जो के ही हृदय से गम्य या जानने

तु विलम्बेनेति गोकुलपतेरिति राजपुत्रोऽपि राज्यपतिरेवेतिवत् श्रीनन्दयुवराजस्येति पूर्णसम्बन्धो लोकवल्लीलत्वेनोद्द्योतितः। किञ्च पूर्वमव्यवहित एव पद्ये श्रीवृषभानुनन्दिनीत्युक्तं सर्वातिशायिनी जातिसक्तिर्द्योतिता।

किञ्च गोकुले प्रेमाश्रयविषयसमाजे तावन्नन्दयशोदयोः प्रेमबन्धनं ततो गोपानां गवादीनां निरोध्यभक्तगोपीनां च तथैव मिथो दार्ढ्येन ख्यातं तादृशप्रेमबद्धस्यापि समाकर्षकं यद्वा दयनीयतया तत्पतेः यथा मन्नाथं मत्परिग्रहमित्यादेर्दयाबद्धस्य। यद्वा गोरिन्द्रियार्थे सर्वेषां बहिरन्तरिन्द्रियाणां मनोबुद्धिचित्ताहंकाराणां सर्वाकर्षकाणां पतेराकर्षकस्य श्रीकृष्णस्यापीति किञ्च श्रुत्यादीनां गोपानां गवां च मनउन्मादकरूपलावण्यधाम्नः यथा यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन्नित्यादि विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गमसमोद्ध्र्वमनन्यसिद्धमिति तादृग्रूपदर्पितस्यापीत्यर्थः ननु तदाकर्षणमेव फलमिदं साधनं चेत्तत्राह यत्र नाम्नि प्रेमवतामिति यथा

रसकलश

योग्य है बाहर के लोगों द्वारा दर्शनीय नहीं है। उसी क्षण में ही न कि विलम्ब से गोकुलपति का आकर्षक है राजपुत्र भी राज्य का स्वामी ही होता है इसके अनुसार 'श्रीनन्द जी के युवराज का' ऐसा पूर्ण सम्बन्ध लीला के लोकवत् होने के कारण दिखाया गया है। और इससे पहले के ही पद्य में श्रीराधा जी को श्रीवृषभानुनन्दिनी कहा है और इसके द्वारा श्री श्यामसुन्दर में सबसे बढ़कर जाति गोपजाति या स्वजाति के प्रति आसक्ति प्रकट की गई है।

एक बात और भी है कि गोकुल में प्रेम के आश्रय और विषयभूत समाज में नन्द और यशोदा का प्रेमबन्धन फिर गोपों और गौ आदियों का और फिर निरोध्य (कृपा पात्र) भक्त गोपियों का वैसे ही परस्पर दृढ़ता से विख्यात है। ऐसे प्रेमबन्धन में बँधे हुए का भी आकर्षण कर लेने वाला राधा नाम है अथवा गोकुल दयनीय है. उस गोकुल के पति को आकर्षण कर लेने वाला नाम 'राधा' मैं हूं। मैं ही इसका परिग्रह या सर्वस्व हूँ।' इत्यादि वचन दयावश कहे थे! अथवा 'गो' शब्द इन्द्रिय अर्थ में है। समस्त बाहर और अन्दर की इन्द्रियों, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार रूप अन्तःकरणों, इन सभी के आकर्षकों के पति अर्थात् आकर्षक श्रीकृष्ण का भी 'आकर्षक' यह नाम है। और फिर श्रुति आदि तथा गोप और गौवों के मन में उन्माद भर देने वाले रूप और लावण्य के धाम का, जैसा कि कहा भी है कि जिस गोकुल की गौवों, पक्षियों, वृक्षों और मृगों ने भी रोमांच धारण किया है' इत्यादि और अपनी सौभाग्य समृद्धि का परम स्थान भूत भूषणों का भी भूषण श्री श्यामसुन्दर का श्री अङ्ग है जिसके समान या बढ़कर दूसरा कोई नहीं है जो और किसी को प्राप्त नहीं है, इसलिए वैसे रूप से जो दर्पित हैं उनका भी आकर्षक है—यह अर्थ है। अब प्रश्न होता है कि इस राधा नाम की साधना का

कैश्चिदुक्तं 'पूजया ह्रसते भक्तिर्जपात्त्रस्यति च स्फुटम्। समाधियोगाच्च बहिः सा भक्तिः केन गृह्यते ।।' इति सर्वाङ्गेषु प्रेमैवाङ्गी जीव इति यथा चाग्रे वक्ष्यति अनुलिख्यानन्तानपीत्यत्र महाप्रेमाविष्ट इति गृणत इह नामामृतरसमिति तत्प्रेमप्रधानवतां समस्तेषु धर्मार्थकाममोक्षादिपुरुषार्थेषु तुच्छता स्फुरेत् एतद्दृष्ट्यपेक्षया न क्वापि प्रेमा नानन्दो न रसश्च यद्यस्ति किञ्चित्तत्तु गणितानन्दकं बृहद्दिति न च सान्द्रानन्दघनानुरागलहरीनिस्पन्द इति राद्धान्तदिशा तन्नामैव सर्वपुरुषार्थमूलानन्दमूलमिति एष तुच्छतास्फोरकः साधकप्रेमा साध्ये तु लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धिकोटिरिति कैमुत्यन्तदेव समस्ततुच्छतानिदर्शकहेतुमाह । यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपरः प्रीत्येति भक्तिपूर्णपरस्व-

रसकलश

फल ही श्याम सुन्दर को आकर्षित करना है तो राधा नामकेवल साधन मात्र होगा ? इस पर कहते हैं कि जिस नाम में प्रेम रखने वालों को सभी पदार्थों में तुच्छता प्रतीत होती है । जैसा कि किसी ने कहा है । जिस पूजा से भक्ति का ह्रास होता है और जिस जप से भक्ति को त्रास होता है और जो भक्ति समाधि योग से बाहर है, उस भक्ति को कौन स्वीकार करता है ? इस प्रकार सभी अंगों में प्रेम ही अंगी है, जैसे शरीर में जीवात्मा । जैसा कि आगे 'अनुलिख्यानन्तानपि' इत्यादि श्लोक में महा प्रेमाविष्ट होकर जिस राधा नाम रूपी अमृत रस की स्तुति करते हैं उस प्रेम की प्रधानता वालों को समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों में तुच्छता स्फुरित होती है । इस दृष्टि की अपेक्षा अन्यत्र कहीं भी न तो प्रेम है न आनन्द और न ही रस । यदि है भी तो वह बड़ा होता हुआ भी किञ्चिन्मात्र है और उसमें परिमित आनन्द हैं । यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि सान्द्र आनन्द अ र घन अनुराग की लहरियों का उद्गमभूत निस्यन्द है ऐसा सिद्धान्त मानने पर श्री राधा नाम ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों का मूल अतएव आनन्द मूल है अतः यह साधक प्रेम तुच्छता को प्रगट करने वाला है साध्य प्रेम में तो 'श्रीराधा जी के चरणों में अद्भुत निस्यन्द है ऐसा सिद्धान्त मानने पर श्री राधा नाम ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों का मूल अतएव आनन्द मूल है। अतः यह साधक प्रेम तुच्छता को प्रगट करने वाला है साध्य प्रेम में तो 'श्री राधा जी के चरणों में अद्भुत सिद्धियों की कोटि लोटती रहती है, इत्यादि उक्तियों द्वारा कैमुत्य न्याय लागू होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि साधक प्रेम में जब यह दशा है तब साध्य प्रेम का क्या कहना ? यह कैमुत्य न्याय लौकिक प्रीति की तुच्छता को प्रमाणित करने का कारण बताते हैं जिनके नाम से अङ्कित मन्त्र का जाप करने में श्री श्याम सुन्दर प्रीति में तत्पर हैं। इस प्रकार भक्ति पूर्ण अन्य प्रेम पात्रों के स्वरूप और अनुराग को जानने के कारण ऐसा कहा है । यहाँ

रूपानुरक्तिज्ञत्वात् । अत्र स्वमार्गीयमन्त्रसिद्धान्तोऽपि श्रीहितसख्या व्याख्यातो ज्ञेयो यत्र सम्बोधनसंशयो नष्टः श्रीकृष्णजप्तत्वात् प्रीत्यतिशये स्वहृत्कञ्ज-गतभृङ्गजातिमात्रस्यैव स्मरणाल्लिंगविस्मृतिर्वा जहल्लिंगमित्यलं प्रकृतमवधेयम् ।

स्वयं माधवः श्रीकृष्ण इति पदत्रयेण श्रीभागवतोक्तपरिभाषा 'कृष्णस्तु-भगवान्स्वय'मिति स्मारिता । प्रियामहिमातिशयस्य यत्र तत्रोक्तस्यार्थवाद-मात्रतानिरसनार्थं 'माधवो भगवानि'ति यथा हारीते 'ऐश्वर्यरूपा सा देवी सुभगा कमलालया । तस्याः पतित्वाच्छ्रीशस्तु भगवानिति चोच्यते ।' वैष्णवे 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतोङ्गना ।' इङ्गना संज्ञा नामोपलक्षणेन षड्ग्रहणं अत्र प्रस्तुते श्रियो गुणत्वं षड्गुणेषु पाठात् दाम्पत्यं तु श्रीराधायामेवेति । श्रीयुक्तः कृष्णः यथा ब्रह्म-वैवर्ते 'कृष्णं वदति मां लोके त्वया विरहितं यदा । श्रीकृष्णेति तदा प्राहुस्त्व-यैव सहितं प्रिये' इति । नित्यसंयुक्तोप्यत्यन्तासक्त्या स्वाकर्षणयुक्ति-

रसकलश

पर अपने मार्ग में स्वीकृत मन्त्र द्वारा स्थापित होते हुए सिद्धान्त को भी दिखाया गया है और श्री हितसखी द्वारा व्याख्या किये जाने के कारण यहाँ सम्बोधन में सन्देह निवृत्त हो गया है । श्री कृष्ण द्वारा जपे जाने के कारण प्रीति की अधिकता जो अपन हृदय कमल में स्थित भ्रमर की जाति मात्र का स्मरण रहने के कारण लिङ्ग की विस्मृति अथवा जहल्लिङ्ग या विशेष्यनिघ्न शब्द समझना चाहिये इस चर्चा को जाने दो । अब प्रस्तुत वस्तु पर ध्यान दें ।

स्वयं माधव श्री कृष्ण इन तीन शब्दों के द्वारा श्रीमद्भागवत में कही गई परिभाषा 'श्री कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, यह बात स्मरण हो आई और प्रियाजी का माहात्म्य जो जहाँ तहाँ सब कहीं कहा गया है उसकी यह प्रशंसा मात्र सिद्ध होती है । उनकी रसना अथवा आस्वादना के लिये भगवान् माधव हैं । जैसा कि हारीत स्मृति में लिखा है—वह सौभाग्यमयी, कमलवासिनी देवी ऐश्वर्य रूपा है और उसके पति होने कारण श्री पति भगवान् कहे जाते हैं । विष्णु पुराण में भी समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान और वैराग्य इन छः का नाम भग या ऐश्वर्य कहा गया है इसी उपलक्षण से यहाँ पर भी छहों का ग्रहण किया गया है । इस श्लोक में श्री को गुण कहा गया है । और छः गुणों में पाठ होने के कारण दम्पति भाव तो श्री राधा जी पर ही निर्भर है, श्री युक्त कृष्ण जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है—जब मैं तुम से विरहित होता हूँ तब लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और जब तुम्हारे साथ होता हूँ तब श्री कृष्ण कहा जाता हूँ । नित्य से युक्त होते हुए भी अत्यन्त आसक्ति के कारण उनके

लाभादिव तदाकर्षणार्थं तदेव जपतीति ऐश्वर्यमाधुर्यार्थद्वयमप्युक्तम् ।

यद्वा स्वयमिति तादृशसर्वाकर्षकरूपसम्पदो धवत्वदर्पितः ख्यातो वा इत्यनेन शत्रोर्गदितवीर्यादेरितिवत्प्रियायां रूपसौन्दर्याधिक्यमुक्तम् । एवं श्रीकृष्णेति जपादिसाधनं तादृशानां कस्मैचिद्विशेषानन्दाय भवेदिति स्वनाम्ना सदानन्दघनेति निरुच्यमानोऽपीत्यनेन सान्द्रानन्दत्वं प्रियायामेवेति अथवा साम्बन्धिकसम्बन्धार्थे यशोदया स्वस्नुषां प्रति प्रसद्य साक्षाल्लक्ष्मीरागता मद्गृहे इति नाम दत्तं तदा लक्ष्मीति रूढित्वप्रसिद्धौ व्रजजनानां लालनानन्दो जातः । अतस्तत्पर्यायशब्दा अपि ग्राह्याः, अतो माधव इति । अन्यथा प्रस्तुते कमलाकोटिकाम्यैकपादाम्भोजेति लक्ष्मीकोटिविलक्षेत्याद्यनुपपन्नं स्यात् । अतो लक्ष्मीकोटीनामीश्वरी लक्ष्मीरेवेति नराधिपशब्दवत् ।

रसकलश

आकर्षण करने की युक्ति के लाभ से ही मानो उनके आकर्षण के लिये ही उस 'राधा' नाम का जाप करते हैं। इस प्रकार ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों अर्थ कहे।

अथवा स्वयं या अपने आपका यह भी भाव है कि वैसी सर्वाकर्षक रूप सम्पत्ति वाली श्रीराधा के धन या पति होने से दर्पित हुए—अभिमानमत्त हुए—अथवा प्रसिद्ध हुए–प्रतिपक्षी के वर्णन किये गये पराक्रम से विजयी के पराक्रम के समान श्रीश्यामसुन्दर की रूप सम्पत्ति का वर्णन श्रीप्रिया जी के रूप सौन्दर्य की अधिकता को प्रकट करता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण इत्यादि शब्दों द्वारा जप आदि का साधा जाना, उन जैसों के किसी विशेष आनन्द के लिये होता है। अपने नाम से सदा आनन्दघन कहे जा रहे हैं इसी से प्रिया जी में सान्द्र (प्रगाढ) आनन्द रूपता स्वतः सिद्ध होती है। अथवा ससुराल से सम्बन्ध के लिये यशोदा जी अपनी पुत्रवधू श्रीराधा पर प्रसन्न होकर कहती हैं—मेरे घर तो साक्षात् लक्ष्मी आ गई है, इस प्रकार श्रीप्रिया जी को लक्ष्मी नाम दे दिया तब इस प्रकार लक्ष्मी नाम की रूढ़ि या प्रसिद्धि होने पर व्रजजनों को लाड प्यार करने का आनन्द प्राप्त होता है। अतः उनके पर्यायवाचक शब्दों को लिया जाना चाहिये—और इसीलिये 'माधव' शब्द भी लिया गया है। अन्यथा प्रसङ्गानुसार कोटि-कोटि लक्ष्मियों के द्वारा वाञ्छित है चरण कमल जिनके यह कथन और 'लक्ष्मीकोटि-विलक्ष' इत्यादि श्लोक असङ्गत हो जाएँगे। अतः कोटि कोटि लक्ष्मियों की ईश्वरी लक्ष्मी ही हैं जैसे नराधिप शब्द नरवाचक होते हुये भी राजा अर्थ पर विश्रान्त हो जाता है।

अन्यच्च श्वाशुर्यसम्बन्धेन केचिद्राधेति साक्षान्नाम न वदन्ति ततोऽत्यादरेण गोप्यतया श्रीमती स्वामिनीत्येव वक्तव्ये माधवश्रीकृष्णेति नामानि गोकुलपतिग्रामवासिनो वदन्ति अयं गोकुलपतिरपि प्रीतिवैवश्यत्यक्तसंकोचः स्फुटं जपतीत्यप्यर्थो द्योत्यते यथाभावं ग्राह्यम् । अत्रापि नित्यप्राप्तसंयोगस्याप्यत्यासक्तत्वं व्यज्यते एवमनेकबहिरान्तरार्थे द्योत्येऽपि प्रियदयनीयतैव तात्पर्यम् । बहुशो मया नाममात्रजातचित्ताकर्षो दृष्टः परीक्षितश्च । किञ्चात्याविष्टस्यैवमेव धर्मो यथा पतति पतत्र इत्यादि प्रेमवतामित्यनेन परानुरक्तौ फलाभिसंध्यभावात् अस्यापि प्रेमिणः प्रीत्या जापकस्य पुरुषार्थः स्वसुखं लौल्यादि किञ्चिन्नास्ति केवलं त्वत्सुखार्थमेवेति तन्मिलनानन्दस्य साक्षि श्रीमतीहृदयमेव न वयं विद्मो मधुरमम्लं तिक्तं वेति कटाक्षः । धवेति धर्म-

रसकलश

एक बात और भी है कि ससुराल के सम्बन्ध से कई साक्षात् 'राधा' यह नाम नहीं लेते, वे अति आदर से राधा नाम को गोपनीयता के कारण श्रीमती जो स्वामिनीजी इत्यादि कहते हैं ऐसे ही माधव, श्रीकृष्ण इत्यादि के बदले व्रज के ग्रामवासी लोग 'गोकुलपति' नाम कह देते हैं। यह गोकुलपति भी प्रीति की विवशता में सङ्कोच त्याग कर स्फुटरूप में जपते हैं, यह अर्थ भी द्योतित होता है जो अपने अपने भाव के अनुसार ग्रहण कर लेना चाहिये । यहाँ पर भी नित्य संयोग को प्राप्त होने पर भी प्रियतम की अत्यन्त आसक्ति प्रकट होती है। इस प्रकार के अनेक बाह्य और आन्तरिक अर्थों के प्रतीत होने पर भी प्रियतम को दयनीयता या दयापात्रता का प्रतिपादन करना ही तात्पर्य है जिनका बहुत बार मैंने श्रीराधा के नाममात्र से ही चित्त आकर्षित होते देखा है और परखा है। एक बात और भी है कि अत्याविष्ट या अत्यासक्त का तो यही धर्म है जैसा कि श्री गीत गोविन्द में 'चलति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम्' पक्षी उड़ता है, पत्ता हिलता है तो श्रीराधा श्रीकृष्ण के आगमन की शङ्का से चौंक उठती हैं में वर्णन किया गया है। इस पद्य में 'प्रेमवताम्' या प्रेमियों शब्द द्वारा यही सूचित किया गया है कि परम अनुराग के रहते हुए भी जिन्हें किसी भी फल की कोई इच्छा नहीं है। श्री श्यामसुन्दर ऐसे प्रेमी हैं जो प्रीति से श्रीराधा नाम का जाप करते हैं और उनमें स्वसुख रूपी पुरुषार्थ की कामना तथा उसके लिये चञ्चलता आदि कुछ नहीं है। केवल तुम्हारे या श्रीराधा जी के सुख के लिये ही उनके सभी प्रयत्न हैं। इन 'श्री श्याम सुन्दर से मिलने के आनन्द का तो श्रीमती का हृदय ही साक्षी है। हम नहीं जानतीं कि वह आनन्द मीठा है, खट्टा है या तीखा है यह कटाक्ष किया गया है। माधव शब्द में 'धव' इस शब्दांश से 'पति' अर्थ की प्रतीति

भीतिर्मातृभिः सखीभिर्द्दत्तेति तत्स्मारणं वा । अतो जप्यफलमपि देयं, किं कुर्मस्तवैव नाम्नि चित्ताकर्षदोषो यदन्याकर्षप्रभावेऽपि जप्तं सत्स्वाधिदैवमप्याकृष्टं स्यादित्यद्भुतत्वं नाम्नोऽधिदैवं नामीति । अतः प्रीतिजापकाद्भेतव्यमेव स्वार्थपरमार्थपक्षद्वयेऽपि न्यायेनानुग्राह्य एवेति भावः । एवं कादाचित्कनिष्ठोक्ता तादात्विक पक्षार्थोऽपि बोद्धव्यः। राधेति नाम पद्येषु मद्गेयेष्वधुनाऽऽयाति तन्नामश्रवणमात्रेणैव जालरन्ध्रेषु वा प्रत्यक्षं दृश्यते चित्ताकर्षणं गोकुलपतेरिन्द्रियेशस्य प्रियमनस इति । एतन्मनोऽस्मद्गम्यमेव अव्यक्तत्वे न दोषः । अस्य च सर्वपुरुषार्थेषु तुच्छता स्फुरिता दृश्यते त्वन्नामप्रेमकरणमात्र एवेति प्रेमवतामिति समानसिद्धान्तत्वान्निजाभिप्रायेणेति पुरुषार्था बहिरङ्गास्तु देवानामित्यत्र पद्ये द्रष्टव्याः । अन्तरङ्गास्तु कुञ्जादिरचनात्मक्-

रसकलश

होने से धर्ममय दिखाया गया है । माताओं ने या सखियों ने तो तुम्हें श्यामसुन्दर को दे दिया है यह बात भी इस धव या पति शब्द से स्मरण कराई जाती है। और इन्हें श्रीराधा नाम के जप का फल भी देना ही है। तो हम क्या करें ? तुम्हारे ही नाम में यह चित्त आकर्षण कर लेने का दोष है यदि किसी पर अन्य किसी आकर्षण का प्रभाव हो तो भी इस नाम का जाप करने पर तो यह नाम अपने अधिदैव को भी आकर्षित कर लेता है यह अद्भुत बात है ।

नाम का अधिदैव नामी हुआ करता है। अतः प्रेमपूर्वक जप करने वाले से तो डरना ही चाहिये, और स्वार्थ या परमार्थ दोनों दृष्टियों से उस पर तो अनुग्रह करना ही चाहिये । इस पर कभी कभी की निष्ठा का व्याख्यान किया। अब उसी समय की निष्ठा के पक्ष में जो अर्थ है उसे भी समझना चाहिये । 'राधा' नाम मेरे द्वारा गाये जाने वाले पद्यों में आता है उस नाम के श्रवणमात्र से ही कुञ्ज निकुञ्जों के जाल रन्ध्रों में और प्रत्यक्ष भी दिखाई पड़ता है कि गोकुलपति, समस्त इन्द्रियों के स्वामी का चित्त आकर्षित हो रहा है । श्यामसुन्दर का यह मन हमारे लिये गम्य या प्राप्य है उसकी प्राप्ति में मन की अव्यक्तता बाधक नहीं हो सकती। फिर इनको सभी पुरुषार्थों में तुच्छता की प्रतीति होती है यह भी दीखता है, तुम्हारे नाम से प्रेम करने मात्र से प्रेमियों की यह दशा होती है इस समानता के सिद्धान्त से और श्रीहित महाप्रभु के अपने अभिप्राय से ऐसा जाना जाता है ।

धर्म आदि पुरुषार्थ तो बहिरंग हैं यह विचार 'देवानामथ भक्तमुक्तसुहृदाम्' इत्यादि पद्य में देखना चाहिये । अन्तरङ्ग पुरुषार्थ तो कुञ्ज निकुञ्ज की रचना, माला,

चन्दनपक्षिकञ्जभ्रमरगाननृत्यादिकौशलाद्या वा नायकत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानजलौल्यविलासाद्यास्तेषु तत्सुखापेक्षया विस्मृतिरित्यकिञ्चित्करत्वम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिदमेव पुरुषार्थं नान्यदिति निश्चित्य जपपरो दृश्यते प्रियोऽतः अनुग्राह्य एवेत्यन्यत्समानम् ।।९४।।

नन्वार्तिपराकाष्ठाप्राप्तिं विना तादृशकृपासाक्षात्कारस्याप्यभाव इति द्व्यङ्गुलोनपरीक्षकस्यास्य तथैवार्तिर्दृश्या चेत्साप्यस्तीति स्वानुभवेनाह—

कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरगतो योगीन्द्रवद्यत्पद-
ज्योतिर्ध्यानपरः सदा जपति यां प्रेमाश्रुपूर्णो हरिः ।
केनाप्यद्भुतमुल्लसद्रतिरसानन्देन सम्मोहितः
सा राधेति सदा हृदि स्फुरतु मे विद्या परा द्व्यक्षरा ।।९५।।

रसकलश

चन्दन, पक्षी, कमल, भ्रमर, गान, नृत्य आदि के विषय में कुशलता आदि अथवा नायकपन, भोक्तापन आदि अभिमान से उत्पन्न होने वाले चञ्चलता युक्त विलास आदि। उनमें प्रिया जी के सुख की अपेक्षा से विस्मृति हो जाना यह कोई बड़ी बात नही है। किन्तु अन्वय 'उसके होने पर उसका होना' और व्यतिरेक 'उसके न होने पर उसका न होना' इन दोनों दृष्टियों से यही पुरुषार्थ सिद्ध होता है दूसरा कोई नहीं ऐसा निश्चय करके श्याम सुन्दर जप में ही तत्पर दीखते हैं ! अतः वे प्रियतम अनुग्रह या दया के पात्र हैं। और सभी व्याख्या इस पक्ष में भी पूर्वपक्ष के ही समान है ।।९४।।

अब कहते हैं कि आर्ति या आतुरता की पराकाष्ठा प्राप्त किये बिना वैसी कृपा का साक्षात्कार या अनुभव भी नहीं हो सकता 'दो अङ्गुलों की कमी की परीक्षा करने वाले इन श्यामसुन्दर की आतुरता भी वैसी ही दिखाई देती है, यदि कोई ऐसा प्रश्न करें तो कहना चाहिये कि वैसी ही आतुरता श्यामसुन्दर में है यह बात अपने अनुभव से कहते हैं—

'श्री कालिन्दी (यमुना जी) के तट पर कुञ्ज मन्दिर में विराजमान हरि योगिराज की भाँति जिनके चरणों की ज्योति के ध्यान में मग्न हुए, प्रेमाश्रुओं से पूर्ण नेत्र वाले होकर सदा जिन श्रीराधा का जाप करते हैं। और किसी अद्भुत रूप में उल्लसित होते हुए रतिरस के आनन्द से संमोहित हुए रहते हैं। वे 'राधा' इस नाम वाली—दो अक्षरों वाली पराविद्या मेरे हृदय में नित्य स्फुरित हो' ।९५।

पूर्वं त्वनुरागसाधनमिव निर्दिष्टमिदानीं साङ्गोपाङ्गभजनसिद्धस्वरूपं ज्ञेयम् । कृष्णेतिद्व्यक्षरीत्वेऽपि तद्ध्येयत्वादियं परा विद्या सा का यां हरिः सदा जपति मनोहरार्त्तिहरार्थद्वयेन ध्येयेऽनिर्वचनीयसौन्दर्यं ध्यातर्यद्भुतलालसत्वं च द्योत्यते । कालिन्दीति सिद्धपीठत्वेन जपसिद्धिशैघ्र्येण देशवैशिष्ट्यम् तत्रापि कुञ्जमन्दिरेति विविक्तदेशत्वम् । सदेति सिद्धावस्थस्यैकरसत्वात्कालवैशिष्ट्यं परिणामाभावात् । यथा ब्रह्मसंहितायां 'व्रजति नहि यत्रापि समयः' इति । ध्यानेति पाकवैशिष्ट्यं किञ्च योगिनस्तत्पदवाच्यज्योतिर्ध्यानपरा अयं यत्पदज्योतिर्ध्यानपर इति वैलक्षण्यम् । अत एवेन्द्रत्वं बहिरंगादान्तरस्यापि श्रैष्ठ्यात् तत्रापि जपसमकालध्यानं सबीजं योगं प्रोक्तं चेति योगीन्द्रवदिति आचार्यवान् पुरुषो वेदेति न्यायेन तत्क्रियानिष्ठामनुसृत्य नतु स्वैरं यमनियमासन-

रसकलश

पहले तो अनुराग का साधन-सा बताया, अब सांगोपांग भजन का सिद्ध स्वरूप भी तो जानना चाहिये अतः प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि 'कृष्ण' यह भी दो अक्षरों वाली विद्या है तो भी श्रीकृष्ण की भी ध्येय होने से 'राधा' नामक द्व्यक्षरा विद्या उससे परा है। यह विद्या कौन-सी है ? जिसको श्रीहरि सदा जपा करते हैं, हरि के मनोहर और आर्तिहर यह दो अर्थ हैं इन दो अर्थों वाले—यथार्थ नामा—श्रीहरि के द्वारा भी ध्येय श्रीराधा नाम है। ध्याता श्रीहरि के अनिर्वचनसौन्दर्य से उनकी लालसा का अद्भुत या आश्चर्यजनक होना जाना जाता है। 'कालिन्दी' शब्द से सिद्ध पीठ होने के कारण जप की सिद्धि में शीघ्रता के द्वारा देश की विशिष्टता, कालिन्दी तट या श्री यमुना तट पर भी कुञ्ज मन्दिर में कहने से देश की एकान्तता और पवित्रता का बोध होता है तथा सदा या सर्वकाल शब्द से सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी एकरसता प्रतीत होती है और उससे काल की विशिष्टता जानी जाती है कि जिस काल में कोई परिणाम या परिवर्तन नहीं होता जैसा कि ब्रह्मसंहिता में भी लिखा है कि जहाँ समय जाता ही नहीं। ध्यानपरायण कहने से ध्यान की परिपक्वता रूप विशिष्टता कही जाती है। और फिर योगी तो 'तत्' पद से कही जाने वाली ब्रह्मज्योति के ध्यान में मग्न रहते हैं किन्तु यह श्रीकृष्ण 'यत्' पद से कही जाने वाली 'राधा' ज्योति के ध्यान में मग्न हैं यह अन्तर या विचित्रता है। तभी श्रीकृष्ण को योगिवत् योगी के समान न कहकर योगीन्द्रवत्—योगिराज के समान बताया गया है। बहिरङ्ग की अपेक्षा अन्तरङ्ग की श्रेष्ठता के कारण वहाँ भी ज्यों ही जप करने बैठे त्योंही ध्यान लग गया और जप के साथ साथ ध्यान भी चलता रहा इस प्रकार सबीज ध्यान का निर्देश किया गया है। योगीन्द्र या योगिराज के समान कहने का यह तात्पर्य है कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'—आचार्य से अनुशासित पुरुष ही उस तत् पदार्थ को जानता है इस न्याय से यम, नियम,

प्रत्याहाराद्या अपि सूचिताः। अनेनापि सिद्धिसाङ्गता हरिरिति पर इति निष्ठावत्त्वेन पात्रवैशिष्ट्यं किञ्च 'पूजया ह्रसते भक्तिर्जपात्त्रस्यति च स्फुट'मिति निर्देशेन केवलशुष्कजपादेर्विमतत्वात् भक्तेः प्रेममयत्वात्प्रेमाश्रुपूर्ण इत्युक्तम् न चात्र चित्तबडिशवदन्ते कापट्यं अत एव केनचिदनिर्वचनीयेनाद्भुतं यथा स्यात्तथा उल्लसता रतिरसानन्देन सम्मोहित इति। 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनाऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशय' इतिवच्च ध्येयसाक्षात्कारस्य पूर्णप्रयत्नो दर्शितः। एवं योगभक्तिन्यायोक्तिकौतुकम्।

अथ रसार्थः कादाचित्कसमयवार्तास्मृत्योच्यते अथवाधुनिकैव साधु किञ्च कालिन्दीतटकुञ्जेत्यनेन कलिन्दगिरिनन्दिनीति प्रक्रान्तपद्यार्थ एव स्मारितो गम्यते। तत्रोक्तरीत्या स्थितयोर्दम्पत्योः प्रियस्य प्रियारूपच्छवि

रसकलश

आसन, प्रत्याहार आदि भी सूचित होते हैं। इससे भी सिद्धि की साङ्गता जानी जाती है। हरि इस नाम से तथा ध्यान पर इस विशेषण से निष्ठावान् होने के कारण पात्र (ध्याता) की भी विशेषता जानी जाती है। और भी एक बात है कि पूजा से भक्ति का ह्रास होता है और जप से भक्ति को त्रास होता है। इस निर्देश से केवल सूखे जप आदि का शास्त्र में विरोध होने के कारण भक्ति के प्रेममय होने के कारण प्रेमाश्रुपूर्ण होना भी ध्याता के लिये आवश्यक है। अतएव यहाँ प्रेमाश्रुपूर्ण यह विशेषण भी कहा गया है। यहाँ पर 'कर्षन्ति चित्तबडिशं' के अनुसार अनेक चित्त विभ्रान्त होकर जप नहीं किया जाता या जप के अन्त में कपटभाव नहीं होता। अतएव किसी अनिर्वचनीय आनन्द से संमोहित होना कहा गया है।' अद्‌भुतम्' यह क्रिया विशेषण है, जिस प्रकार से अद्‌भुत हो इस प्रकार से उल्लसित हो रहे रतिरस से या प्रीतिरस के आनन्द से मोहित नहीं संमोहित हुए इसका तात्पर्य है कि रोमाञ्च के बिना और द्रवित हो रहे चित्त के विना तथा आनन्द के कारण उमड़ पड़ी अश्रुधारा के बिना एवं भक्ति के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। इत्यादि के अनुसार ध्येय का साक्षात्कार करने में पूर्ण प्रयत्न भी दिखा दिया गया है। इस प्रकार योग भक्ति और न्याययुक्त उक्तियों का कौतुक बताया गया।

अब रसप्रधान अर्थ कहते हैं—किसी समय की बात का स्मरण करके कहा जाता है। अथवा घटना का आधुनिक होना ही ठीक है। फिर कालिन्दी के तट पर कुंजमन्दिर में इस कथन से कलिन्दगिरिनन्दिनी इत्यादि शब्द से प्रारम्भ हुए पद्य का अर्थ भी यहाँ पर स्मरण कराया गया जाना जाता है। उक्त कुञ्जमन्दिर में उक्त राति से प्रिया प्रियतम स्थित थे—प्रिय प्रिया जी के रूपच्छवि और लावण्य के सागर में डूब

लावण्यसागरप्लुतस्य मनसि हर्षतरङ्गो जातः अहो मया किं जप्तं किं तप्तं किं सेवितं येनेदृगानन्दनिधिः प्राप्त एवं विचारितेऽन्यज्जातं भावसाम्यं फलमिति प्रसिद्धिरतः कालिन्द्यामेवैतत्पदज्योतिर्ध्यातं तदेव सम्प्राप्तं ततः पुनर्विचारान्तरं यदैवं सत्यं जातं तदा मद्यथेष्टविहारानन्दो वाम्यभिया न प्राप्यतेऽत एतत्कृते पूर्ववदेव किं न साधये । अपि च पूर्वस्मादपि निष्ठाधिक्येन कुर्यामिति विचार्य समक्षं स्थित एव योगीन्द्रवच्चरणचन्द्रज्योतिर्ध्यायति तन्नाम जपति चेति वर्तमानेन तादात्विकवर्तित्वं सदेति प्रियाशीलध्रौव्या-परिहार्यत्वादस्यासक्तत्वात्प्रतिदिनं प्रतिसमयं दौर्ल्लभ्यस्यैवमेव व्यवहारान् मध्ये मध्येऽनुग्रहसंयोगानन्देऽपि तज्जफलस्यैव मननाच्च तदेव जपतीति एवं मनस्येवात्यन्तनिष्ठोदयात्समक्षस्थितावपि प्रेमाश्रुपूर्णो जातः हरिरिति तदानीं दर्शनीय एव ।

किञ्च केनापि भावेन रतिरसानन्दः अद्भुतमुल्लसितस्तद्भुतत्वं निरूप्यते । सम्यक् मोहित इति यत्संयोगेऽपि विलासविशेषाकांक्षया मानसिक-

रसकलश

रहे थे उनके मन में हर्ष की तरङ्गें उठने लगी—अहो मैंने क्या जाप किया क्या तप किया, क्या सेवन किया जिससे मुझे ऐसे आनन्द निधि की प्राप्ति हुई ऐसा विचार करने पर और भी भाव साम्य रूपी फल हुआ ऐसी प्रसिद्धि है। अतएव कालिन्दी में ही 'तत्' पद वाच्य ज्योति का ध्यान किया तो वही प्राप्त हो गई। तब बार बार विचार करने पर जब ऐसा हुआ तब मुझे यथेष्ट रूप से विहार का आनन्द 'श्रीप्रिया जी' की स्वाभाविक प्रतिकूलता के भय से प्राप्त नहीं होता। तो इसके लिये पहले ही साधना क्यों न कर लूँ। और फिर पहले भी अधिक निष्ठा से क्यों न करूँ। यह सोचकर सामने बैठकर ही योगीन्द्र या योगिराज की भाँति चरणनखचन्द्रज्योति का ध्यान करने लगे, उन्हीं 'श्रीराधा' का नाम जपने लगे। 'जपति' जप करते हैं, इस वर्तमान कालिकक्रिया के द्वारा उसी समय वर्तमान होना जाना जाता है। सदा शब्द से प्रिया जी के स्वभाव की ध्रुवता का परिहार या परिवर्तन न किया जा सकना, श्रीकृष्ण के आसक्त होने के कारण प्रतिदिन और प्रति समय दुर्लभता का ऐसा व्यवहार होने के कारण बीच बीच में कृपा से संयोग का आनन्द होने पर भी उससे होने वाले फल का ही मनन करने के कारण उसी का जाप करते हैं। इस प्रकार मनमें ही अत्यन्त निष्ठा का उदय हो आने से प्रिया जी के समक्ष स्थित रहते हुए भी प्रियतम प्रेम के अश्रूओं से पूर्ण हो गये। हरि अर्थात् मनोहर का उस समय दर्शनीय होना तो स्पष्ट ही है।

एक और बात है कि किसी भी भाव विशेष से रतिरस या प्रीतिरस का आनन्द अद्भुत रूप में उल्लसित हुआ। आनन्द का वह अद्भुत रूप क्या था उसका निरूपण करते हैं। उस आनन्द से श्रीहरि सम्यक भली भाँति मोहित हो गये। जिनके संयोग

भावे ध्यानेन विप्रलम्भोदयः । विप्रलम्भेऽपि ध्याने संयोगस्फूर्तिः साक्षात्तु संयोग एव । अहो आश्चर्यं तत्रापि विरह इत्यद्भुतोल्लासः किञ्च शृङ्गारो द्विविधः संयोगविरहात्मकस्तत्र रतिस्तु स्थायिन्येव तस्यां ध्यातुर्ध्येयदौर्लभ्य-मननतरङ्गवर्द्धने सेव्यभावनया भावरूपत्वं देवादिविषयरतिवत् ततः साधनवशाद् भावं रसं कुर्यामिति मनस्येव साधनकरणं तत्रोत्कटा रतिरद्भुता तत्र विरहोऽद्भुतस्तत्र स्फूर्तौ संयोगः अद्भुत एवं दर्पणद्वयन्यायात्मकत्वाद्वि-चित्तोऽयम् । प्रेमाश्रुशब्देन 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विका मता' इति सप्तमावस्थां नीतस्य प्रलयो नष्टाहंकारता ध्यानलयेन कीटभृङ्गन्यायेन मनसः प्रियारूपभवनादष्ट-माद् भेतव्यम् यत्प्रिया भूत्वा प्रियं यथेष्टमानन्दये न च कार्पण्यं पूर्ववदिति । किं जपति तदाह सा राधेति द्व्यक्षरी परा विद्या मे हृदि स्फुरत्विति । अधुना

रसकलश

में भी विलास विशेष की आकांक्षा से मानसिक भाव में ध्यान द्वारा विप्रलम्भ या वियोग का उदय हो आता है तथा विप्रलम्भ या वियोग में भी ध्यान द्वारा संयोग की स्फूर्ति हो आती है, साक्षात् तो जिनका सदा संयोग ही रहता है अहो, आश्चर्य है कि वहाँ भी विरह उपस्थित हो गया यह आश्चर्यजनक-अद्भुत उल्लास है । फिर शृङ्गार दो प्रकार का है संयोगात्मक और वियोगात्मक । उन दोनों में रति तो स्थायी ही रहती है । उस रति में ध्याता या ध्यान करने वाले का ध्येय को दुर्लभ मानने की तरङ्ग को बढ़ाने पर रति को ध्येय के प्रति सेव्य भावना से भावरूपता प्राप्त होती है, क्योंकि देवादि विषयारति भाव कहलाती है । तब साधन के द्वारा इस भाव को रस बनाऊँ यह सोचकर मन में ही साधन करते हैं इससे वह रति उत्कट हो आती है अतएव अद्भुत हो जाती है । वहाँ विरह भी अद्भुत होता है, उस विरह की स्फूर्ति में संयोग भी अद्भुत होता है । इस प्रकार दो दर्पणों के मध्य में स्थित बिम्ब के असंख्य प्रतिबिम्बों की भाँति अनेक भाव और रस या संयोग और वियोगों की स्फूर्ति होती है । जिससे श्यामसुन्दर विचित्र (बेभान) अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं यह बात प्रेमाश्रु शब्द द्वारा सूचित की गई है । स्तम्भ स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रु और मूर्छा ये आठ सात्त्विक भाव माने गए हैं । इनमें से सातवीं अवस्था अश्रु को प्राप्त कराये गये को प्रलय, नष्टाहंकारता अर्थात् ध्यान लय के कारण कीटभङ्ग न्याय से मन के प्रिया रूप हो जाने से उस आठवीं अवस्था से डरना चाहिये कि प्रिया बनकर प्रिय को यथेष्ट आनन्द दूँगी न कि पूर्ववत् कृपणता करूंगी इसलिये जपते हैं । तब कहा कि वह 'राधा' यह दो अक्षरों वाली परा विद्या मेरे हृदय में स्फुरित हो ।

यथार्थस्फुरणाभावोऽतो या वा राधयति प्रियमित्यर्थाविर्भूयमानतया मद्रुचितानन्दं ददात्विति द्व्यक्षरोत्यनेन प्रेमार्तौ रूढेरेव स्फुरणाद् बह्वक्षरनामानवकाशः । राधेति स्वाभोष्टसंसिद्धिशक्तित्वाच्चेति । वेत्त्यनया विद्येति यत्साधनेन स्वाभीष्टप्राप्ति जानीयां कुञ्जरन्ध्रे पश्यतां सखीजनानां प्रेमाश्रु दर्शनं तत्सम्बन्धस्य संयोगेऽघटनात्स्वमनसः प्रियमनःसहचारित्वादुक्तिः । अहो प्रिये तदेनं पश्य कियन्निष्ठास्य हृदयस्य किञ्चिद्विलासविशेषाकांक्षयाऽयमीदृग्व्याकुलस्तदेनं सम्मोहाच्चेतयित्वानुग्राह्य एष अन्यथातोऽग्रे समाधिसामर्थ्याद्यथेष्टस्वायत्ततां कर्त्ता विद्यासामर्थ्यविवशा भवत्यपि भवितात आदावेव समाधेयं येन भवत्या एव यशःप्राथम्यं स्यादिति मन्त्रं दद्म इति ध्वन्यन्तरान्तरं एवं प्रियजप्ता मद्धृद्यपि स्फुरत्विति सख्याशंसनम् ॥९५॥

एवमाशंसित एव स्फुरितं माधुर्यैश्वर्यं तदाह—

रसकलश

अभी यथार्थ स्फुरण का अभाव है अतः 'जो प्रियतम की आराधना करती हैं' इत्यादि के अनुसार आविर्भूत हो रही होने के कारण मुझे प्रिय लगने वाले आनन्द को दो-दो अक्षर वाली विद्या इससे प्रेम की पीड़ा में रूढि से ही स्फुरण होने के कारण अनेक अक्षरों वाले नामों का अवकाश नहीं है ।

'राधा' तो वे अपनी अभीष्ट संसिद्धि रूपा शक्ति होने के कारण हैं और विद्या वे इसलिये हैं कि इनसे भावुक जान पाते हैं अर्थात् इनकी साधना से अपनी अभीष्ट प्राप्ति को मैं भी जान पाऊँगा । कुञ्जों के रन्ध्रों में से दर्शन करने वाले सखीजन के प्रेमाश्रुओं का दर्शन उनके सम्बन्ध का संयोग होने पर सम्भव नहीं है और अपना मन प्रियतम के मन का सहचारी बना हुआ है अतः ऐसा कहा गया है अहो प्रिया जी इनको देखो, इनके हृदय की कितनी निष्ठा है । किसी विलास विशेष की आकांक्षा से यह इतना व्याकुल है । अतः इसको संमोह या मूर्छा की अवस्था से चेतन करके, संज्ञा प्राप्त करवा कर इस पर अनुग्रह करना ही चाहिये । नहीं तो इसके आगे समाधि लगाने की सामर्थ्य से विवश हो जाएँगी इसलिये ही समाधान कर लेना चाहिये । जिससे आपके ही यश को प्रथमता प्राप्त हो हम आपको ऐसा मन्त्र या ऐसी सम्मति देते हैं यह भी एक ध्वनि निकलती है । इस प्रकार प्रियतम के द्वारा जपी गई द्वयक्षरा विद्या मेरे हृदय में भी स्फुरित हो ऐसी सखी के द्वारा आशंसा की गई है ।९५।

इस प्रकार आशंसा करते ही माधुर्य और ऐश्वर्य स्फुरित हुए उन्हीं का वर्णन करते हैं—

देवानामथ भक्तमुक्तसुहृदामत्यन्तदूरं च यत्
प्रेमानन्दरसं महासुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः।
स्वप्रेम्णा शृणुते जपत्यथ मुदा गायत्यथालिष्वयं
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्
॥९६॥

यथा दूरे सृष्टयादिवार्त्तेतिवत् सृष्टिस्थितिपालनसहकारिणां भरावतरणे दुष्टनिग्रहस्वभक्तपालनमेव सिद्धान्तस्तेषामैश्वर्यबहिरंगाणामेतद्रहस्यम्। पूर्णतमैश्वर्यपक्षे तु महादूरमेव व्रजमाधुर्यपक्षे साधारण्यमाधुर्यजवनिकागोपितं दृष्टिपथमेव नायाति। अन्यच्च देवानां स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवादिति भगवद्धर्मस्यैवानवकाशस्तदा कथं रहस्यस्येति अथ भक्तानां सामान्यतो विष्णुभक्तिपराणां यत्र लक्ष्मीदास्यभावः सा च हरिकृपाकांक्षिणी त्यागमयं च नित्यस्थितं यथा 'न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षा-

रसकलश

'देवताओं, भक्तों, मुक्तों और मित्रों से जो अत्यन्त दूर है जो प्रेम आनन्द रस रूप है तथा प्रेम से उच्चारण करने पर जो महासुख को देने वाला है। जिसको हरि अश्रुओं से आप्लुत मुख होकर अपने प्रेम से सुनते हैं, जपते हैं, तथा सखीजनों के मध्य आनन्द से गाते हैं वह अमृत स्वरूप 'राधा' यह नाम ही मेरा जीवन है।९६।'

जैसा कि दूरेसृष्ट्यादि वार्ता' इत्यादि श्लोक में है। सृष्टि स्थिति और पालन में सहायक ऐसे देवताओं का भूमि का भार उतारना, दुष्टों का निग्रह करना और अपने भक्तों का पालन करना ही सिद्धान्त है। उन ऐश्वर्य से बहिरंग रहने वालों से यह रहस्य दूर है और प्रिया प्रियतम के पूर्णतम ऐश्वर्य के पक्ष में तो उन देवताओं से बहुत ही दूर होगा। व्रज के पक्ष में साधारण रूप से माधुर्य के पर्दे से छिपा हुआ देखने में तो नहीं आता। एक और बात भी है कि देवताओं की स्मरण शक्ति तो अत्यन्त इन्द्रियों के सुखों के उत्सव के कारण समाप्त हो चुकी है। इसलिये उनको तो भगवद्धर्म की साधना का ही अवकाश नहीं है तब इस रहस्य को जानने का अवकाश कहाँ से हो सकता है। इसी प्रकार भक्तों से भी वह दूर है। साधारणतया यहाँ भक्त विष्णुभक्ति परायण हैं जहाँ लक्ष्मी जी के प्रति दास्यभाव है। वे लक्ष्मी जी श्रीहरि की अभिलाषिणी रहती हैं फिर उन्हें श्रीविष्णु द्वारा त्याग दिये जाने का भय भी सदा बना रहता है। जैसा कि—'विरक्त होते हुए भी मुझको लक्ष्मी नहीं छोड़ती जिसके एक कटाक्षलेश के

लवार्थं इतरे नियामान्वहन्तीति । भजस्व क्षत्रियर्षभमित्यादौ पश्यतां किया-न्दाम्पत्यरसः अतस्तद्भक्तानामप्येतन्माधुर्यनामजवनिकागोपितमेव पुनश्च मुक्तानां ज्ञानभक्त्योः साधनेनेति सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यसायु-ज्यादि प्राप्तानामेतद्व्रजरसो हि दुर्लभस्तदा तद्रससारं नाम किमुत एतद्वै-कुण्ठवासिदुर्लभत्वे संशयश्चेद्बृहद्भागवतामृते गोपकुमाराख्याने द्रष्टव्यम् ।

किञ्चावतारगणनया श्रीगोपालस्य साधारण्यस्फुरणात् पुनश्च सुहृदा-मिति पूर्वस्माद्विच्छिद्य ये सख्यमाधुर्यभावनाभाविताः साधकाः वा श्रीदाम-सुबलादिसखायश्चेच्छ्रीकृष्णस्य स्वसख्युरेवोत्कर्षमात्रस्यैव ज्ञानान्नांतर्मर्म्म-ज्ञानम् । किञ्चात्र तस्य दास्यदैन्यादिमननं 'यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकु-वाणीति' यथा 'राधादास्यमयास्ये'त्यत्र 'श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजन्न ये तां विदुरिति' तद्रतिबीजज्ञानाभावात्स्वेषामिव त इति विषयत्वं जानन्ति न त्वा-

रसककश

लिये दूसरे लोग बड़े बड़े नियमों को धारण करते हैं से स्पष्ट है। हे क्षत्रियर्षभ, उनका भजन करो।' इत्यादि में दर्शन करने वालों को कितना दाम्पत्यरस प्राप्त होता है। अतः उन भक्तों के लिये भी यह माधुर्य नाम के पर्दे के द्वारा छिपा हुआ है। फिर मुक्तों से भी यह दूर है। ज्ञान और भक्ति की साधना से सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप और सायुज्य आदि को प्राप्त हुए उन मुक्त पुरुषों के लिये यह व्रजरस ही दुर्लभ है, तब उसके रस के सारकी तो बात ही क्या है। इस रस के वैकुण्ठ वासियों के लिये दुर्लभ होने में यदि किसी को सन्देह हो तो वे बृहद्भागवतामृत में गोपकुमारों के आख्यान में देखें।

एक और बात भी है कि अवतारों की गणना से श्री गोपाल की भी साधारणता स्फुरित होने से था सुहृदाम्—मित्रों के लिये भी अत्यन्त दूर है- इस कथन में भक्तों और मुक्तों से अलग मित्रों का नाम लेने से यह सिद्ध होता है कि जो श्री गोपाल लाल के प्रति सख्य या माधुर्य भावना से भावित अन्तःकरण वाले साधक हैं अथवा श्रीदामा, सुबल, स्तोककृष्ण आदि सखा हैं उनको भी अपने सखा श्रीकृष्ण के ही उत्कर्ष का ज्ञान है अतः उन्हें भी अन्तर्मर्म का ज्ञान नहीं है। और फिर यहाँ तो श्रीकृष्ण भी दास्य और दैन्य आदि भावों को मनन करते हैं जैसा कि—'यत्किङ्करीषु बहुशः' इत्यादि में कहा है। 'राधादास्यमयास्य' इत्यादि में 'श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदुः' इत्यादि द्वारा श्याम की रति के बीज का ज्ञान न होने के कारण वे अपने समान ही औरों की भी प्रीति का विषय श्यामसुन्दर ही हैं ऐसा जानते हैं, श्यामसुन्दर भी श्री राधा विषयक

श्रयालम्बनमिति अतस्तेषामपि दूरतमम् मुक्तेति शान्तरसः भक्तेति दास्यं सुहृदिति सख्यं सौहार्दत्वाद्वात्सल्यमपि पञ्चाध्याय्यां यथा करुणाः पितरो यथेत्यत्र सौहृदं च सुमध्यमा इति वाक्यात् दूरे सृष्ट्यादीति सूत्रे स्वपित्रोरिति गृहीतत्वाच्च एवं रसचतुष्टयाधिकारिदुर्गममिति देवास्तु सृष्ट्यादिबहिरंगा एव दूरतारतम्येऽपि प्राप्यत्वाविशेषात्सर्वेषामेवात्यन्तेत्युक्तं इति रसापेक्षया दूरत्वमुक्तम् ।

अथ प्रेमपक्षे देवानां स्वार्थपरत्वं यत्र तत्र ख्यातमेवातः प्रेमाभावः । मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणः सुदुर्लभ इति तत्परत्वाभावोक्तेस्तदभाव एव । भक्तानां प्रेमसत्त्वेऽप्यनेकरूपे भगवति प्रेमसाम्यादेकरूपैकदेशायैकलीला-विगलितवेद्येतरात्मकनिष्ठत्वाभावाद्व्रजभक्तानामिव नास्तीति तदभाव एव । व्रजेऽपि सुहृदामिति एषामत्यन्तदूरत्वाभावेऽपि रहस्यानधिकाराद्राधा नाम दूरम् । अत्र न सख्यवात्सल्यवद्भिः क्षुभितव्यम् एतस्य साक्षि भवदीयप्रेम-

रसकलश

प्रीति का आश्रय हैं इसका उन्हें ज्ञान नहीं है अतः उनसे भी दूर तम है । इस पद्य में मुक्तों का शान्त रस, भक्तों का दास्यरस और सुहृदों का सख्यरस तथा सौहार्दातिरेक के कारण वात्सल्यरस नामक भक्तिरस के भेदों का संकेत किया गया है । सौहार्दातिरेक में वात्सल्य रस का वर्णन रास पञ्चाध्यायी में—'करुणाः पितरो यथा' इत्यादि श्लोकों में सौहृदं च सुमध्यमाः इत्यादि वाक्यों से किया गया है इसीलिये 'दूरे सृष्ट्यादिवार्ता' इत्यादि सूत्र में 'स्वपित्रोः' शब्द के प्रयोग द्वारा इस रहस्य का उनसे भी दूर रहना सूचित किया गया है । इस प्रकार चार रसों के अधिकारियों के लिये यह रहस्य दुर्गम है फिर देवता तो सृष्टि आदि कार्यों में सहायक होने से बहिरङ्ग ही हैं इस प्रकार देवों, भक्तों, मुक्तों और सुहृदों की दूरता में तारतम्य होने पर भी प्राप्यता अथवा अप्राप्यता की समानता के कारण सभी के लिये अत्यन्त दूर कहा गया है । यह अत्यन्त दूरता केवल रस की अपेक्षा से है ।

अब प्रेम पक्ष में इसका अर्थ कहते हैं—देवताओं का स्वार्थपरायण होना तो जहाँ तहाँ प्रसिद्ध ही है अतः उनमें प्रेम का अभाव कहा गया । मुक्तों या सिद्धों में भी 'नारायण परायण पुरुष अति दुर्लभ हैं' इस वचन के अनुसार नारायण परायणता के अभाव के कथन से उनमें भी प्रेम का अभाव ही है । भक्तों में प्रेम के रहते हुए भी अनेक रूपों वाले भगवान् में प्रेम की समानता के कारण एक रूप और एक देशीय (प्रिया प्रियतम) की एक लीला में अन्य सभी ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान के विगलित हो जाने से प्राप्त होने वाली अनन्य निष्ठा के अभाव से व्रज भक्तों के समान अन्य भक्तों को भी इस प्रेम का अभाव ही है । इसलिये व्रज भक्तों के लिये यहाँ 'सुहृदाम्' कर दिया गया है । यद्यपि इनसे यह रस अत्यन्त दूर नहीं तो भी रहस्य में अधिकार न होने से 'राधा' नाम इनसे भी दूर ही है, इस विषय में सख्य और वात्सल्य भाव वाले भावुकों को क्षुब्ध नहीं होना

विषयकृष्णस्य हृदयमेव यस्याः स्मृतौ सर्वानेव विस्मरतीति यथा च वक्ष्यति भोः श्रीदामन्निति गता दूर इति पद्यद्वयम् अनेनैव ज्ञायते यच्छ्रीमत्यां प्रेम तत्क्वापि नास्तीति तथैव तन्नाम्नि शक्तिमत्वं गम्यते अत एवानन्दोऽप्यत्रैव पर्यवस्यति तत एव प्रेमानन्दरसमिति तद्रूपत्वस्य विवक्षितत्वा तद्वत्ता नोक्ता तदा प्रेमादिमत्त्वकथने श्रीमत्यां न गौरवमिति यत्कृपातः प्रेमादिच्छटा प्राप्यते प्राप्तैवेति च देवादिषु लोकेषु च दृश्या स्वयं तु तन्मयी अत एतन्नामग्रहणं प्रेम्णैव कर्तव्यमित्याह प्रेमत उच्चारितं सन्महासुखकरं यदौषधं यदर्हपथ्येनैव ग्राह्यं तदेव निरवधि सुखदम् ।

किञ्चोच्चारणसमये श्रीकृष्णस्तन्मुखाकांक्षी श्रूयते गोकुलपतेराकर्षकमित्युक्तमेव अनुलिख्येत्यत्र तव परमदेयं विमृशति सुखं कृष्णभावजं महासुखं दाम्पत्यानन्दः । अतो निकुञ्जश्रृङ्गारापेक्षया सर्वे बहिरंगा एवेति नैतादृशः

रसकलश

चाहिये । इसका साक्षी तो आपकी प्रीति के विषय श्रीकृष्ण का हृदय ही है । जिन श्री राधा की स्मृति में वे सबको भूल जाते हैं जैसा कि आगे—'भोः श्रीदामन् सुबल वृषभ स्तोककृष्णार्जुनाद्याः' इत्यादि और 'गतादूरे गावो' इत्यादि पद्य में कहेंगे इसी से जाना जाता है कि श्री श्यामसुन्दर को श्री राधाजी पर जो प्रीति है वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं है । वैसी ही उन 'श्रीराधा' के नाम में शक्ति भी जानी जाती है । अतएव आनन्द भी इसी में आकर पर्यवसित होता है । तभी तो उस नाम को प्रेमानन्द रस कहा गया है । श्री राधाजी के नाम की महिमा यहाँ कही जा रही है, रूप तो अभी कहना है इसलिये 'राधा' को प्रेमानन्द रस शालिनी नहीं कहा अपितु प्रेमानन्द रस हो कह दिया है क्योंकि प्रेमानन्द रस शालिनी कह देने पर श्री राधा में यह गौरव न आता । जिनकी कृपा से प्रेम आनन्द और रस की छटा' प्राप्त की जाती है, और प्राप्त की गई है ऐसा देवताओं में और मनुष्यादिओं में देखा जाता है । स्वयं श्रीराधा प्रेमानन्द रसमयी ही हैं, इसी लिये उनका नाम प्रेम (आनन्द और रस) से ही लेना चाहिये । तभी कहा है कि प्रेम से उच्चारण करने पर वह नाम महासुख देने वाला है। प्रत्येक औषध उसके लिये योग्य पथ्य से ही लेनी चाहिये तभी वह पूर्ण सुख देने वाली होती है ।

एक बात और है—श्री राधा नाम के उच्चारण के समय श्रीकृष्ण नामोच्चारण करने वाले का मुख देखने लगते हैं ऐसा सुना जाता है तभी राधानाम गोकुलपति का आकर्षक, कहा गया है । और 'अनुलिख्यानन्तान्' इत्यादि पद्य में परमदेय वस्तु का विचार करने लगते हैं यह भी कहा है। 'महासुखकर' का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण-भाव से तो सुख उत्पन्न होता है और दाम्पत्यभाव से महासुख या दाम्पत्यानन्द होता है । अतएव निकुञ्ज के श्रृङ्गार की अपेक्षा से सभी भाव बहिरंग ही हैं ऐसा प्रेमानन्द

प्रेमानानन्दो न रसश्चेति यथा शतकेषु धन्यो लोके मुमुक्षुर्हरिभजनपरो धन्य धन्यस्ततोऽसौ धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरतिपरमो रुक्मिणीशप्रियोऽतः याशोदेयप्रियोऽतः सुबलसुहृदतो गोपकान्ताप्रियोऽतः श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यति रसविवशाराधकः सर्वमूर्द्धा तदेव निरतिशयत्वं प्रत्यक्षानुमानेन प्रपञ्चयति तन्नामवक्तरि सति हरिः शृणुते स्वप्रेम्णेति नतु वक्तृप्रेम्ण्येव प्रसद्येति स्वस्मिन्याद्दगानन्दरससहितप्रेमस्वरूपं तस्य तद्धृदयमेव वा सहचरी हृदयं साक्षीति वक्त्रभावे स्वप्रेम्णैव जपति पश्यामि कीदृगानन्दः अनेन मन्त्रवदाराधनं निर्दिष्टम् । अथेति क्षणान्तरं ततः प्रेमोद्गार शक्त्यपरिहार्यत्वाद् गायति मुदेति तन्माधुर्यरसानन्दाविर्भावजहर्षेण ततो रसोन्मत्तवैवश्येन व्रीडाद्यभावादथेति हेतोरेव आलिषु तन्मर्मज्ञसहचरीषु अयमिति समक्षं

रसकलश

और रस कहीं नहीं है। जैसा कि शतकों में भी कहा गया है—

'संसार में मोक्षार्थी पुरुष धन्य है, उससे भी श्रीहरि के भजन में तत्पर पुरुष धन्य धन्य है। उससे भी वह धन्यतर है जो श्रीकृष्ण के चरण कमलों में रति या प्रीति रखता है उनमें भी वह परम धन्य है जो रुक्मिणीपति या द्वारकानाथ के प्रति प्रीतिमान् है। उससे भी यशोदानन्दन का भक्त अधिक धन्य है और उससे भी सुबल आदियों के सखा विशेष धन्य हैं। इनसे भी गोपियों के प्रिय श्रीकृष्ण के भक्त अति धन्य हैं किन्तु श्री वृन्दावनेश्वरी के प्रति अति प्रीति के कारण विवश से हुए श्यामसुन्दर का आराधक तो सभी के मूर्द्धा पर विराजमान है, भक्त शिरोमणि है।

उसी निरतिशय धन्यता का प्रत्यक्ष और अनुमान से विस्तार करते हैं। जब कोई श्रीराधा जी के नाम का उच्चारण करता है तब श्रीहरि अपने हार्दिक प्रेम से उसे सुनते हैं, वे उच्चारण करने वाले के प्रेम को नहीं देखते या उस प्रेम से प्रसन्न होकर नहीं सुनते अपने में जैसा आनन्द और रस से सने हुए प्रेम का स्वरूप है, वह उन श्यामसुन्दर का हृदय ही तो है। अथवा सखी का हृदय ही साक्षी है कि जब कोई राधा नाम का उच्चारण करने वाला नहीं होता तब श्यामसुन्दर अपने ही प्रेम से उस नाम का जाप करते हैं। मैं देखता हूँ कि इस नाम में कैसा आनन्द है। इस प्रकार मन्त्र के साथ आराधना का निर्देश किया गया है।

अथ शब्द का अर्थ है क्षण के बाद। अर्थात् प्रेम के उद्गार की शक्ति को टाल नहीं सकते अतः आनन्द से गाने लगते हैं यह आनन्द नाम के माधुर्य रस के आनन्द का आविर्भाव होने से उत्पन्न हुआ हर्ष विशेष है, तब रस से उन्मत्त होने की विवशता से लज्जा आदि न रहन के कारण ही उस मर्म को जानने वाली सखियों के सामने यह 'राधा'

जल्पति परिपलनवत्स्फुटं वक्ति अश्रुमुख इति वैवश्यजकरशैथिल्यान्मार्जना-शक्तिः अर्थात्तासां हस्तेन मार्जयितुमिवेति भावः। लोकोक्तावपि अमुको मेऽश्रु-मार्जनास्पद इतिवत्। कथं वक्तीत्याह सखोसम्बोधनमनुक्तमप्यवधेयं राधेति नामामृतं मे जीवनं वा कदाचिदमृतं कदाचिज्जीवनमिति अश्रुसमकाल-जल्पनमिदं परमप्रेमोच्छलनार्त्यैव यदा स्फूर्तौ तदधरादिमाधुर्यसंयोगस्तदा-स्वादेनामृतमिति। अतितापमूर्च्छनमनने तत्प्राप्तिजचैतन्यानन्देन जीवि-तोऽहमिति तदेवानुवदति सखी तदमृतं राधेति मे जीवनमिति धन्याहं यदी-दृग्नामामृतैकजीवनाहमिति भावः। एवं स्फुटान्तरार्थयोर्मिश्रत्वेप्यांतर-प्रास्तुतार्थं माह प्रियानुग्रहेण जाता हि यदा यथेष्टस्फूर्तिस्तदा स्वादाश्चर्येण पुनर्मानसिकभावेन विचारयति यथा मया ज्ञात आस्वादस्तथा कोऽपि लोके जानाति न वा।

रसकलश

नाम को ही प्रलाप की भाँति स्पष्ट स्वर से कहते हैं, उस समय इनका मुख अश्रुओं से व्याप्त हुआ रहता है, उक्त विवशता से हाथों में शिथिलता आजाने के कारण उन अश्रुओं को पूछ भी नहीं पाते। सखियों के सामने राधा नाम का स्पष्ट प्रलाप करने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि श्यामसुन्दर उन सखियों से अपने अश्रु पुछवाना चाहते हैं। लोक में भी कहावत है कि अमुक व्यक्ति ही मेरे आँसू पूंछ सकता है। कैसे कहते हैं यह बताते हैं यहां पर यद्यपि श्रोता रूप में किसी सखी का सम्बोधन नहीं किया गया है तथापि समझ लेना चाहिए। 'राधा' यही नाम रूपी अमृत मेरा जीवन है। अथवा कभी यह अमृत है और कभो जीवन है अश्रु उमड़ने के साथ जब यह नाम बोला जाता है तब परम प्रेम के उछलने को आर्ति से ही चरणकमल को स्फूर्ति न होने पर प्रिया जी के अधर आदि के माधुर्य का संयोग प्राप्त हो जाता है उसके आस्वाद से यह अमृत हो जाता है। और जब अतिताप के कारण मूर्छा मानी जाती है तब इस नाम के द्वारा प्रिया जी की प्राप्ति से उत्पन्न चैतन्य अवस्था के आनन्द से मैं जीवित हो जाता यह नाम जीवन है। इसी का सखो अनुवाद करती हैं 'राधा' नाम मेरे लिये अमृत है, वही मेरे लिये जीवन है। इस लिये मैं धन्या हूँ जो ऐसे नामामृत को ही एकमात्र जीवन बना रखा है यह भाव है।

इस प्रकार इन दोनों स्पष्ट अर्थों के मिश्रित होने पर भी एक आन्तरिक प्रस्तुत अर्थ भी है, अब उसे कहते हैं—प्रिया जी के अनुग्रह से जब यथेष्ट स्फूर्ति होती है तब उसके आस्वादन के आश्चर्य से फिर मानसिक भाव से विचार करती हैं कि मैंने तो स्वाद जान लिया पर लोक में कोई जानता है या नहीं। चक्रवर्ती राजा या इन्द्र भी

किञ्च चक्रवर्ती तथेन्द्रो वा स्वगृहे यद्विलक्षणमभूतं वस्तु तदभूतं जानन्नपि सूक्ष्ममनोरथदूतेन सर्वांल्लोकान्पर्येति पश्याम्यन्यत्राप्यस्तीति सर्वातिशायि वस्तुमतां रीतिरेव तदेवं विचारमाह मदंशांशनारायणादयो वा तदङ्गभूता देवाः सर्वे बहिरन्तरिन्द्रियज्ञानाधिष्टातारस्तेऽपि विचारितास्तद्दूरतममिदं चेत्यचेतकसम्बन्धो वा अंशांशिभावो वा यज्ञभागभुज इत्येव न च प्रेमरससम्बन्धः भक्ताः प्रेमवत्त्वेऽपि मय्येव पर्यवसिताः ।

किञ्च वेदगोप्यन्तु भक्तिबलेन जानीयुर्मद्गोपितं कथमिति मुक्तास्तु भक्त्यैव तिरस्कृताः 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति सुहृदो बाह्यकक्षायामेव स्थिता । मद्रहस्यलीलानधिकारिणः अत एषामत्यन्तदूरं किञ्च प्रेमरसच्छटा एषु वर्ततेऽपि प्रस्तुतप्रेमरसापेक्षया जीवेशवद्भेद इत्येवमज्ञेयतां विचार्य सखीष्वेवैतज्ज्ञेयतां निश्चित्य किं वा स्वस्यैवानन्यज्ञातृतामिति च सिद्धान्तयित्वाहेति इदं प्रेमानन्दरसं स्वसंवेद्यमेव प्रेमतोऽस्यो-

रसकलश

जब अपने घर में कोई विलक्षण या अभूत (अद्भुत) वस्तु देखता है तो उसकी अद्भुतता को जानता हुआ भी सूक्ष्म मनोरथ रूपी दूत के द्वारा सब लोकों में घूम जाता है—देखूँ तो सही अन्यत्र भी कहीं यह वस्तु है या नहीं । सबसे अधिक महत्त्वशाली वस्तु प्राप्त करने वालों की ऐसी रीति ही है । सो इस प्रकार से विचार का वर्णन करते हैं—'मेरे अंशांशभूत नारायण आदि हैं और उनके अंगभूत देवता हैं जो सभी बाह्य और आन्तरिक इन्द्रिय ज्ञान के अधिष्ठाता हैं, उनका भी मैंने विचार कर लिया है उससे यह वस्तु बहुत दूर है, उसके साथ केवल सांसारिक पदार्थों का चेत्य चेतक सम्बन्ध है, या अंशांशिभाव सम्बन्ध है या वे यज्ञ में भाग लेने वाले हैं बस इतना ही उनका स्वरूप है उनका प्रेमरस से कोई सम्बन्ध नहीं है । भक्त प्रेमवान् होते हुए भी मुझ में ही पर्यवसित हैं, वे वेदों के लिये गोपनीयवस्तु को तो भक्ति के बल से जान लेंगे पर जिसको मैंने छिपा रखा है उसे कैसे जान सकते हैं । भक्त तो मुक्ति से ही तिरस्कृत हैं—'भगवान् कभी मुक्ति तो दे-देते हैं पर भक्तियोग नहीं देते ।' सुहृद् भी बाह्य कक्षा में ही स्थित हैं वे मेरे रहस्य के अधिकारी नहीं हैं । अतः उनसे भी अत्यन्त दूर है । उनमें प्रेम रस की छटा तो अवश्य है किन्तु इस प्रस्तुत प्रेम की अपेक्षा उनका प्रेम इतना छोटा है जितना ईश्वर की अपेक्षा जीव । इस प्रकार उनके लिये भी अपने रहस्य की अज्ञेयता विचार कर सखीजन के लिये ही यह ज्ञेय है ऐसा निश्चय करके पर और अपने आपसे ही जाना जा सकता है, प्रेम से इसका उच्चारण करने पर मुझे कैसा महासुख होता है इस विचार में सखियों

च्चारणे किं ममाहासुखं भवतीति विचारे सखीभिर्मनःसहचारिमानसालीभिर्महाप्रेम्णा श्रीराधा राधेति प्रोक्तं तदा तत्सुखमनुभूय प्रेमातिशयेन शृणोति ततो जपति ततः क्षणान्तरेन्तरे गायति जल्पति राधेति जीवनममृतमित्यतः साहित्येऽपि विचारयति तत्प्रिये यथेष्टसुखं देयमेवेति। अत्र पूर्वोक्तं यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थतुच्छतास्फुरणं तद्देवादीनामपि विचारे ज्ञेयं पुरुषार्थोऽत्र तत्तत्पालनादिगुणास्तत्प्रशंसया स्वस्य श्लाघ्यमननं सर्वेशमननं महोत्कर्षादयस्तेषु नायकपुरुषार्थत्वमेव तत्सद्भावेऽपि तुच्छतानाम अगौरवस्फुरणं नैष एव मदानन्द इति श्रीरसिकेश्वरीरसानन्दप्रेमस्मरणे सर्वं लब्ध्वेव लगति यथोक्तं यस्याः कदापीति यो ब्रह्मरुद्रेति बहुशो दृश्यम् ॥९६॥

तदेवं बहुविधप्रियप्रेमनिष्ठापूर्वकस्वयशःश्रवणस्वनामयाथार्थ्यप्रोत्साहत्यक्तानानुकूल्यकार्पण्या परमानुग्रहवर्षिष्णुनिजगम्भीरप्रेमसिन्धुलहरीवर्द्धनविवशा श्रीमती प्रियं तर्पयति तज्ज्ञात्वा स्वप्रार्थनांगीकृतिज्ञात स्ववाक्पाटवा-

रसकलश

अर्थात् मन की सहचारिणी मानस आलियों ने बड़े प्रेम से श्रीराधा राधा यह नाम कहा तब उस सुख का अनुभव करके प्रेमातिशय से उस नाम को सुनते हैं, फिर क्षणभर के बाद गाते हैं, और ऊँचे स्वर से बोलते हैं—राधा यह जीवन है, अमृत है। इसलिए सहभाव की अवस्था में भी विचार करते हैं कि इस नाम के प्रेमी को यथेष्ट सुख देना ही चाहिये।'

यहाँ पर पहले कहा गया था कि राधा नाम में प्रीति रखने वालों को सभी पुरुषार्थों में तुच्छता का आभास मिलता है, वह विचार देवताओं की अपेक्षा में भी जानना चाहिये। यहाँ पर पुरुषार्थ उन उन अधिष्ठित वस्तुओं के पालन आदि गुण हैं उनकी प्रशंसा से अपने आपको श्लाघनीय मानना, सबका स्वामी मानना यह महान् उत्कर्ष आदि हैं उनमें नायक की पुरुषार्थ ही बुद्धि होती है। उसके सद्भाव में भी तुच्छता का अर्थ है अपने में गौरव का स्फुरण न होना ही है, यही मेरा आनन्द नहीं है। 'इस प्रकार रसिकेश्वरी के रसानन्द प्रेम का स्मरण होने पर सब कुछ तुच्छ ही लगना जैसा कि 'यस्याः कदापि' इत्यादि और 'यो ब्रह्मरुद्रशुक' इत्यादि पद्यों में बहुधा देखा गया है ॥९६॥

बस, इस प्रकार अनेक प्रकार की प्रेमनिष्ठा के साथ अपने यश के श्रवण से अपने नाम की यथार्थता से प्रकृष्ट उत्साह से आसक्ता, अनुकूलता में किसी भी प्रकार की कृपणता से मुक्ता, परम अनुग्रह की वर्षा करने वाले अपने गम्भीर प्रेम सिन्धु की लहरों को बढ़ाने के लिये, विवश-सी हुई श्रीमती (श्रीराधा) प्रिय को तृप्त करती हैं। यह जान कर अपनी प्रार्थना के स्वीकार किये जाने से जान लिया है अपने वाक्पाटव

मोघता श्रीहिताली यथादृष्टमनुवदति ।

या वा राधयति प्रियं व्रजमणिं प्रौढानुरागोत्सवैः
संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्योत्सुकाः ।
यत्सिद्धिः परमा पदैकरसवत्याराधनान्ते नु सा-
श्रीराधा श्रुतिमौलिशेखरलतानाम्नी मम प्रीयताम्
॥९७॥

सर्वकारकचातुर्येण नाम निर्वक्त्यतो वाशब्दो निरुक्त्यन्तरविकल्पे प्रौढेति श्लोकचतुष्टयेन प्रोढौ वर्द्धितो योऽनुरागः प्रियकृतस्तस्योत्सवैरौत्सुक्यैः यावान-नुरागस्ततोप्याधिक्येन यदा साधये तदैव स्वानुरागयश इति संहर्षेण प्रौढा ये स्वानुरागोत्सवा एवमानन्दये, एव पोषयामीति यथा निभृतनिकुञ्जगृहं गतयेत्यत्रप्रियविषयिकानुग्रहवैवश्यवाक्यं गीतगोविन्दे तथैवानेकविलासौ-त्सुक्यैर्विषयाश्रयभेदेन द्विगुणितैरुत्फणितैरिति या प्रियं साधयति मनोरथ-

रसकलस

या बोलने के चातुर्य की सार्थकता को जिसने ऐसी श्रीहित सखी जैसा देखा है वैसा ही वर्णन करती हैं 'प्रौढ़ अनुराग के उत्सवों से जो ब्रज के शिरोमणि प्रियतम की आरा-धना करती हैं और जिनके आश्रय से श्री गोविन्द के साथ सखिभाव रखने के लिये उत्सुक हुए साधक जन सिद्ध होते हैं वह श्रुति मौलि (वेदान्त) के शेखर (मस्तक की माला) रूपलता नामवाली श्रीराधा मुझ पर प्रसन्न हो ॥९७॥

इस श्लोक में चतुरता से सभी कारकों में नाम का निर्वचन किया गया है।' अतः 'वा' अर्थात् 'अथवा' शब्द भिन्न-भिन्न निर्वचनों के विकल्पके अर्थ में प्रयोग किया गया है।' प्रौढानुरागोत्सवैः, शब्द में प्रौढ का अर्थ बढा हुआ है जैसा कि चार श्लोकों द्वारा वर्णन किया गया है। बढ़ा हुआ अनुराग यश फैलता है। इस पर हर्ष से बढ़े हुए जो अपने अनुराग के उत्सव, ऐसे आनन्दित उनसे करती हूँ, ऐसे पोषण करती हूँ, जैसा कि निभृतकुञ्ज में गई हुई श्रीप्रिया जी ने प्रियतम के विषय में अनुग्रह या कृपा की विवशता में गीतगोविन्द में भी वाक्य कहा था। वैसे ही अनेक विलासों की उत्सुकताओं से विषय और आश्रय के भेद से दुगुने होकर उफन पड़े उत्सुकता रूपी उत्सवों से जो प्रिय की साधना या आराधना करती हैं, मनोरथ पूर्ण करने के द्वारा

पूरणेन सिद्धं करोतीत्यर्थः प्रियतास्पदं प्रियं सम्भरणीयमेवेति दयनीयतोद्दीपिता व्रजमणिमिति तत्पोषे महद्यशः सूचितं मणिसाधनम् आनन्दपूरणेन चमत्कारलावण्यातिशयाधानं पश्य सर्वशिरोधार्यो मणिरपि पूर्वोक्तध्यानाद्युक्तत्वाच्चरणाभरणाभरणमिव जातः अतः कनकवत् खचनमेव योग्यमिति वा तद्वत्प्रत्यङ्गखचनदर्शने वक्तीति ज्ञेयम्। आराधनार्थे भजन्तं भजमानस्येतिवत् स्ववाक्यामोघताहेतुकप्रियविषयिककिञ्चित्परिहासकटाक्षविवक्षास्मरणादाह । गोविन्दस्य सख्यरसे नर्मवाम्यपरिहासोक्तिरसे ये उत्सुकाः किञ्चिद्वयमपि वच्म एतद्बहिरङ्गाणां दुर्गममेवात्र तु यस्याः प्रियाया आश्रयमात्रेणैव निश्चयेन सम्यक् सिद्ध्यन्ति यथेष्टं वदन्ति यथा 'किं रे धूर्तप्रवरे'ति हि एवार्थे परं केवलं मात्रार्थे अतो या परमा सिद्धिर्भवता प्राप्ता तच्चाटुगुणो न विस्मर्तव्यो जातुचित्।

किञ्च यद् यस्या आराधना नु निश्चयेन अन्ते एकरसवती अथवा नुवितर्के अहो आश्चर्ये साधनकालेऽपि रसवत्येव तद्दैन्यचाटुकारादौ वा जप-

रसकलश

उन्हें सिद्धार्थ या कृतार्थ करती हैं यह तात्पर्य है। प्रेम के आस्पद प्रिय का भरण करना ही चाहिये इसलिये प्रियतम की दयनीयता या दयापात्रता उद्दीपित हो गई। 'व्रजमणि' व्रजमण्डल के शिरोमणि कहने का तात्पर्य यह है कि इनका पोषण करने से महायश होता है। मणि की साधना या आराधना आनन्द की पूर्ति द्वारा उसमें चमत्कार और लावण्य का आधान करना है। देखो, सभी के शिरोधार्य मणि श्रीश्यामसुन्दर हैं तो भी पूर्वोक्त ध्यान आदि के कथन द्वारा चरण के आभरण के आभरण जैसे बन गये हैं। अतः व्रजमणि को सुवर्ण के समान प्रिया जी से खचित कर देना ही उचित है अथवा मणि के समान प्रत्येक अङ्ग में खचित हुए व्रजमणि के दर्शन पर कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। आराधना के अर्थ में 'भजमान का भजन करने वाले' इत्यादि के समान अपने वाक्य की अमोघता या सार्थकता के हेतु प्रियके विषय में कुछ परिहास, कटाक्ष कहने की इच्छा का स्मरण आजाने से कहते हैं। गोविन्द के सख्यरस से जो परिहासोक्तिरस के लिये उत्सुक हैं। वे कहते हैं कि कुछ हम भी कहते हैं यह बहिरंग लोगों के लिये दुर्गम या दुर्लभ ही है। यहाँ तो जिन प्रिया जी के आश्रयमात्र से ही निश्चय पूर्वक साधक भली भाँति सिद्ध हो जाते हैं और जैसा चाहते हैं कहते हैं। जैसे—'क्यों रे धूर्तप्रवर' इत्यादि।' परम्, शब्द एव अर्थ में या केवल अर्थ में या मात्र अर्थ में है। अतः जो परम सिद्धि आपने प्राप्त की है उस चाटुकारता के गुण को कभी भूल मत जाना।

और जिसकी आराधना निश्चय ही अन्त में एक रसवती है अथवा यहाँ 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में है, अहो आश्चर्य अर्थ में है। साधनकाल में भी रसवती है, दीनता और चाटुकारता आदि में, अथवा जप, श्रवण, गान आदि में रस की कुछ विलक्षणता ही

श्रवणगानादौ किञ्चिद्वैलक्षण्यमेव रसस्येति ज्ञानमेव श्रीमत्या आराधनायाः पर्यवसाने संयोगानन्दे त्वनिर्वचनीयत्वमेव । यद्वा आराधनारसप्राग्भावो भावः देवादिविषयवत् अन्ते फलकाले एको मुख्यो रसः संयोगानन्दो विगलितवेद्यान्तरता तद्वतीत्यपि स एवार्थः । अतः सर्वनिरुक्तिभिः श्रीराधेति भवतोऽस्माकं च श्रीमत्याश्चेति संसिद्धिरूपत्वान्नाम शोभनमिदम् । पूर्वं तु श्रुतौ श्रवणेऽनुरागतः सखीगानात् प्राप्तं ततोऽनिर्वचीयानन्दप्रभावानुभवेन मनसि प्रसादपराधीनः शिरोधुन्वन्नादरेण नमति । तदानीं शेखरापीडकुसुममालाचालनान्मौलिप्राप्तमिव राधा नामेत्युत्प्रेक्षागर्भितवाक्येन वक्ति । श्रवणमूलादारभ्योर्ध्वप्रसरणाल्लतेत्यादिभावदर्शनाच्छ्रुतिमौलिशेखरलतेत्यर्थकं नाम यस्या इति नाम्नी स्वयं प्रीयतां ममेति गूढाभिप्रायेण प्रियं स्मारयति यत्त्वमप्येवं कथयेति । प्रियां प्रति एवमेवार्थं प्रार्थनां मन्यस्वेति सदैवाशंसनम् ।

स्फुटार्थमाह राध् साध्संसिद्धौ धातुर्दिवादिरकर्मकः राधयति

रसकलश

है यह ज्ञान ही श्रीमती (राधा जी) की आराधन के पर्यवसान में प्राप्त होता है। संयोगानन्द में तो अनिर्वचनीयता है ही।

अथवा रस के प्राग्भाव का नाम अराधना है, देवादिविषया रति भाव कहलाती है। अन्त में फलकाल में एक मुख्य रससंयोगानन्द है जहाँ अन्य ज्ञेय का ज्ञान समाप्त हो जाता है 'उस संयोगानन्द' वाले में भी वही अर्थ है। अतः सभी निर्वचनों द्वारा श्रीराधा ही आप (श्याम सुन्दर) का और हमारा दोनों का ही श्रीमती के समीचीन सिद्धि रूप होने के कारण यह आराध्य नाम परम सुन्दर है पहले तो श्रवण में ही अनुराग से प्राप्त हुआ है फिर सखीजनों के गान से प्राप्त हुआ फिर अनिर्वचनीय आनन्द के प्रभाव के अनुभव से मन में प्रसाद के अधीन हो कर सिर हिलाते हुए आदर से नमस्कार करते हैं तब शेखर-मुकुट में स्थित पुष्पमालाओं के हिलने से मस्तक को जैसे श्रीराधा नाम प्राप्त हो गया हो उत्प्रेक्षागर्भित वाक्य के द्वारा कहती हैं–श्रवण मूल से आरम्भ करके ऊपर की ओर फैलने के कारण यह श्रुतिमौलिशेखरलता इस नाम वाली लता हैं। वे मुझ पर स्वयं प्रसन्न हों। इस गूढ अभिप्राय से प्रिय को स्मरण कराती हैं, कि तुम भी ऐसा ही कहो। प्रिया जी के प्रति ऐसे ही अर्थों वाली प्रार्थना करने की बात मान जाओ ऐसी सदा ही आशंसा करती हैं।

अब इसका स्फुट अर्थ बताते हैं–राधा और साध-धातु संसिद्धि अर्थ में हैं वे दिवादि गण की हैं और अकर्मक हैं अथवा राधयति यह प्रयोग प्रेरणार्थक (णिजन्त का)

णिजन्तो वा शब्देन राध्यतीत्यपि अत्र पचाद्यच् राध्यते या प्रियेण इत्यादौ अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् राधेति राधयति साधयति पोषयति वशीकरोति प्रियमिति गोविन्दसख्योत्सुका जना भक्ता यस्या आश्रयमात्रेण सम्बन्धानुकरणेनापि नर्मादिना कृष्णसख्यत्वे स्वत एव सिद्धचन्ति। अन्येषां जीवेश्वरभावसम्बन्धात्मकत्वात् शान्तरसाद्दास्यरसो दुर्लभस्ततोऽपि वात्सल्यं दुर्लभं ततोऽपि सख्यं महादुर्लभम्। तत्तु अत्राश्रयमात्रेण यथा वयं श्रीवृषभानुपुराश्रयास्तदीया इति पक्षपातमात्रं वासनयापि सिद्धचतीति तदाराध्यन्ति यस्या इत्यपादानार्थो वा राध्यतेऽनयेति करणार्थ इति राधा यत्सिद्धिः परमेति यदिति प्रथमान्तमव्ययं या इति स्वयं फलरूपमेवेति परमत्वं सर्वोत्तमसाध्यश्रीकृष्णस्यापि साध्यत्वादिति सिद्धिष्वपि अणुत्वं लघुत्वं महत्त्वं चापेक्ष्यम्।

रसकलश

है। अथवा राध्यति' यह रूप भी होता है। इससे पचादि गण में अच् होने से राधा नाम बनता है। अथवा प्रिय के द्वारा 'राध्यते' आराधना की जाती है "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस नियम से घञ् प्रत्यय करने पर राधा यह शब्द सिद्ध होता है। राधयति, साधयति, पोषयति, वशीकरोति प्रियतमम् अर्थात् प्रियतम की आराधना करती है, साधना करती है, पोषण करती है, या प्रियतम को वश में करती है, इत्यादि राधा नाम के अर्थ हैं। गोविन्द के सखाभाव के लिये उत्सुकजन अर्थात् भक्तजन जिसके आश्रयमात्र से सम्बन्ध का अनुकरण करने से भी परिहासवचन आदि द्वारा श्रीकृष्ण का सख्यभाव प्राप्त करके स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

अन्य भावुकों का तो जीव और ईश्वरभाव सम्वन्ध होता है अतः उनकेलिये शान्त रस की अपेक्षा दास्य रस दुर्लभ है और उस (दास्य) से भी वात्सल्य दुर्लभतर है, उससे भी सख्य तो दुर्लभतम ही है, वे शान्त, दास्य और सख्य यहाँ स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं जैसे हम बरसाना के रहने वाले उन श्री राधा जी का आश्रय लेने मात्र से ही श्री राधा जी के हैं। यह पक्षपात मात्र वासना से भी सिद्ध हो जाता है। अतः जिससे आराधना करते हैं वे राधा हैं। इस अपादान कारक से भी 'राधा' शब्द बन सकता है। अथवा 'आराध्यते अनया' इसके द्वारा आराधना की जाती है—इस करणार्थ में भी राधा शब्द सिद्ध होता है। जैसा कि—'यत्सिद्धिः परमा' इत्यादि श्लोक में कहा गया है। यहाँ पर 'यत्' यह प्रथमान्त अव्यय है जिसका अर्थ 'या' है। वे स्वयं फलरूप ही है अतः परम कही गई हैं। सबसे उत्तम साध्य या आराध्य श्री कृष्ण की भी साध्यता के कारण श्री राधा परमसाध्य या परमाराध्य हैं। सिद्धियों में भी अणुता, लघुता, और

अत्र निरपेक्ष्यं यथेष्टपरिशिष्टानन्दसार इति परमत्वं तदाराधनं राधेति ।

किञ्च साधनं सिद्धिरिति निर्देशाद् भावोक्तिः यदेकरसवतीत्यत्र सप्तम्यधिकरणे यस्यां विषये आराधना भक्तिरन्ते पर्यवसानेऽप्येकररसवती नतु साध्यकाले भिन्नरसवती । अन्यत्र यथा 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तापसाः स्त्रीत्वमाप्नुवन् । हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवा'दित्यादिभावा भगवति मनः संस्थाप्य संसारं मोचयित्वा स्वयं नष्टा भवन्ति । ततो भगवदीया यादृक् प्राप्तिस्तादृक् प्राप्तिर्भवतु । पूर्वभावस्य 'गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपा', इत्यादिभावानुपेक्ष्य गच्छन्तीति नष्टत्वं गम्यते । अत्रतादृश्योचितदिव्यकोमलवपुः स्वीयं समालोकये'इति 'तनुं न्यस्यदासीभवेय' मित्यादिसिद्धान्तेन साधनकाले यो रसः स एवान्ते इत्येकरसत्वं साध्ये तु रसवत्यस्त्येव साधनेऽपि हेयांशाभावाद्रसवत्त्वमिति वा

रसकलश

महत्ता की अपेक्षा होती है । किन्तु यहाँ निरपेक्ष भाव है अतः यह संसिद्धिरूपा हैं और इनमें यथेष्ट परिशिष्ट आनन्दसारता के कारण परमता है । उसका आराधन भी राधा कहलाता है ।

इस प्रकार साधन भी राधा हैं और सिद्धि भी इसी निर्देश से राधा शब्द में भावार्थक प्रत्यय भी कहा गया है । 'यदेक रसवती' यहाँ यत् शब्द में अधिकरण अर्थ में सप्तमी विभक्ति भी हो सकती है जिसके विषय में आराधना या भक्ति अन्त में–पर्यवसान में–एक रसवती हो जाती है । साध्यकाल या साधनाकाल में वह भिन्न रसवती होती है यह बात नहीं है । अन्यत्र जैसे अग्नि के पुत्र महात्मा तपस्वी गण स्त्रीत्व को प्राप्त हुए, भले ही वे काम भाव से हरि को प्राप्त हुए थे, तो भी वे भवसागर से मुक्त हो गये । इत्यादि भाव वाले भक्त भगवान् में मन को स्थापित करके संसार से मुक्त होकर अपने आपको समाप्त कर देते हैं । इसीलिये भगवदीयजन जैसी प्राप्ति हो जाए वैसी ही सही मान कर सन्तोष कर लेते हैं । पूर्व भाव के समक्ष गोपियाँ काम से, कंस भय से, शिशुपाल आदि राजा द्वेष से । इत्यादि अन्य भावों की उपेक्षा करके चलते हैं । क्योंकि इन भावों से भी मुक्त होना या नष्ट हो जाना ज्ञात होता है । और यहां 'तादृश्योचितदिव्यकोमलवपुः स्वीयं समालोकये,' उस प्रकार का उचित दिव्य और कोमल शरीर मैं अपना देखती हूँ ।, तनुं न्यस्य दासीभवेयम् ।' शरीर का न्यास करके दासी बनूँ ।' इत्यादि सिद्धान्तों से साधनकाल में जो रस होता है अन्त में भी वही रस रहता है अतः एकरसवती कही गयी है । साध्य में तो रसवत्ता है ही साधन में भी हेय अश या त्याज्य अंश के अभाव के कारण रसवत्ता ही है । अथवा 'अन्त में' का अर्थ है सिद्धान्त में जो एक

अन्ते सिद्धान्ते या एकरसवती परमा सिद्धिः सा इति। राधनात्तेन सेति पाठे यस्या एकरसवत्याः सम्बन्धिनो राधनात् परमा सिद्धिरिति पञ्चमो-निर्देशार्थकः। अर्थात्सिद्धिरूपापि सा सिद्धिदात्र्यपि सैवेत्यर्थः। तेन निरुक्त्यन्तरहेतुना राधेति नाम सिद्धं भवति। नन्वेतच्छब्दब्रह्म सिद्धमेवे।त चेत्तत्र ततोऽपि वैलक्ष्यण्यमाह श्रुतिमौलीनां वेदालीनां वेदशिरसामुपनिषदां शेखरलतेति मङ्गलकुसुमापीडस्रग्रूपनाम्नी श्रुतिसारनाम्नीत्यर्थः। यद्वा श्रुतीनामपि गोपीत्वात्तच्छिरोधार्यपदाम्बुजपरागस्वामिनीत्वेन शेखरेति दास्यसौभाग्यमङ्गलोत्सवदात्री व्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणिनाम्नीत्यर्थः प्रीयतामिति स्वनामयाथार्थ्यं प्रकटयत्विति साधकतार्थः स्पष्ट एवेति एवं चतुर्भिर्नामप्रभावरसनिरुक्त्यादि व्याख्यातम्।।६७।।

एवं निर्वण्येदानीं यद्यपि स्फुटं सामुद्रिकोक्तवच्छविलावण्यरूपाणि दृश्यमानानि तदपि प्रियाप्रसादप्रस्तुते रसारम्भत्वात् केलिसामयिकच्छवि-स्वरूपमाह त्रिभिः—

रसकलश

रसवती सिद्धि है वह आराधना करने से प्राप्त हो जाती है यह अर्थ भी हो सकता है।' राधनात्तेन सा' इस पाठ में जिस एक रसवती की आराधना के परम सिद्धि प्राप्त होती है यहाँ राधन या आराधना में पञ्चमी विभक्ति है। जिस का तात्पर्य है कि श्री राधा सिद्धिरूपा होतो हुई सिद्धि दात्री भो हैं। इनमें किसी एक निर्वचन से राधा नाम सिद्ध होता है।

अब कोई प्रश्न करता है कि शब्द ब्रह्म तो सिद्ध ही है इस पर कहते हैं कि राधा नाम में उस शब्द ब्रह्म से भी विलक्षणता है श्रुति मौलि अर्थात् वेदालो या वेद शिरो-भागों या उपनिषदों को शेखरलता मंगलमयी पुष्पों की बनी हुई शिरोधार्य माला शेखर नाम वाली अर्थात् श्रुतिसार नाम वाली यह अर्थ है। अथवा श्रुतियों के भी गोपी रूप होने के कारण उनके द्वारा शिराधार्य है चरण कमलों का पराग जिनका, ऐसी स्वामिनी होने के कारण शेखर अर्थात् दास्य रूपी सौभाग्य से मङ्गलमय उत्सव देने वाली 'व्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणि' नाम वाली यह तात्पर्य है। 'प्रीयताम्' का अर्थ है कि अपने नाम की यथार्थता को प्रकाशित करे, यह साधक पक्ष का अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार चार पद्यों द्वारा श्रो राधा नाम के प्रभाव, रस, और निर्वचन आदि की व्याख्या की गई है।६७।

इस प्रकार नाम का निर्वचन करके अब यद्यपि स्फुट रूप में सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए लक्षणों के अनुसार छवि, लावण्य, रूप दिखाई दे रहे हैं तथापि प्रियाजी के प्रसाद के प्रस्तुत होने पर ही रस का आरम्भ होने के कारण क्रीड़ा समय की छवि और स्वरूप का तीन पद्यों द्वारा वर्णन करते हैं—

गात्रे कोटितडिच्छवि प्रविततानन्दच्छवि श्रीमुखे
बिम्बोष्ठे नवविद्रुमच्छवि करे सत्पल्लवैकच्छवि ।
हेमाम्भोरुहकुड्मलच्छवि कुचद्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं
वन्दे तन्नवकुञ्जकेलिमधुरं राधाभिधानं महः ।।९८

कुञ्जकेलिमधुरं तद्राधाभिधानं महः अहं वन्दे । गौरतेजःप्रसररञ्जित-सर्वावकाशत्वाद् बहिःप्रसरत्करत्वाच्च कुञ्जस्यापि नवत्वं केलौ प्रियामुख्य-कर्तृतया नवत्वमिव विभाव्यमानत्वान्नवकेलीति तेन मधुरं दृगास्वाददं प्रियं न केवलं तेज एव निर्विशेषाभासं निरस्यन्ती केलिविशिष्टमधुरावयव-विशेषच्छवि वर्णयति । कीदृशङ्गात्रे कोटितडितच्छवि । अत्र रतावेशवश-वसनविस्मृतिर्वा रङ्गजलवत्सूक्ष्माम्बरस्य तदानीं छविबाहुल्ये मग्नतया गात्र-च्छटाया एव दर्शनात् कोटितडिदिति प्रियकृतहासकञ्चुकीपरिहारादि-

रसकलश

'श्री विग्रह में कोटि विद्युतों की सी छवि, श्री मुख में सुविस्तृत आनन्द (पूर्ण चन्द्र) की छवि, बिम्बफल जैसे अधरोष्ठ में नवीन विद्रुम की सी छवि, कर कमलों में नवीन पल्लव की सी छवि, स्तन युगल में स्वर्ण कमल की कलिकाओं की सी छवि वाले' कमल के से नेत्रों वाले 'उस नवीन कुञ्ज में क्रीड़ाओं से मधुर' राधा नामक तेज की मैं वन्दना करता हूँ ।।९८।।'

कुञ्जों में क्रीडा करने के कारण मधुर (शृङ्गार प्रधान) उस राधाभिधान (श्री राधा नामक) तेज की मैं वन्दना करता हूँ । अपने गौर तेज के प्रसार से सम्पूर्ण आकाश को रंग देने के कारण और बाहर किरणों के फैलने के कारण भी कुञ्ज की भी नवीनता प्रतीत होती है । क्रीडा में प्रियाजी के मुख्य कर्ता होने से नवीनता सी प्रतीत होने के कारण नवकेलि कहा गया । उस नवकेलि (नवीन क्रीडा) से मधुर-दृष्टि को आनन्द देने वाला, प्रिय तेज श्री राधा नाम का है । केवल तेज ही नहीं-निर्विशेष आभास रूप तेज का निराकरण करती हुई केलि विशिष्ट या क्रीडायुक्त, मधुर अवयवों वाले विशेष शोभा रूप तेज का वर्णन करतो है । वह तेज कैसा है, श्री विग्रह में कोटि विद्युतों की छवि वाला, यहाँ पर सुरत के आवेश में वस्त्रों की विस्मृति हो जाने से अथवा रंगीन वस्त्र के उस समय अधिक छटा वाले श्री विग्रह की शोभा में मग्न हो जाने से और केवल श्री विग्रह की ही छवि का दर्शन होने से उसे कोटि विद्युतों की सी छवि कहा गया है । प्रिय के द्वारा किये गये परिहास में कंचुकी के परिहार

जातकम्पचमत्कारेण चाञ्चल्यं वा यातायातवशेनेति प्रियघनाङ्के चमत्कृत्य पुनः पुनरालिङ्गने निलयनमित्यादिहेतुभिस्तडिदिति तदानीं माला-परम्परत्वात्स्थिरत्वमेवेति एवं घनोपरिवर्षणेनाभूतकार्यघटनेन प्रसाद-बाहुल्यान्मुखे प्रविततानन्दच्छवि आनन्दो हृदय एवोदेत्यनिलीनो भवति इदानीं बहिर्विस्तृतस्तत्रापि प्रकर्षेण सखीहृदये आनन्दकारणस्य प्रियमुखताम्बूल-रङ्गरञ्जनस्य प्रविततदर्शनादुत्प्रेक्ष्यते आनन्द एव विस्तृत इति हृदयाद्यङ्ग-प्रसत्तेर्मुख्यतया मुख एवोद्दीपनत्वात् श्रीकारो दत्तः। अथवा श्रीशब्द आदर-वाची सर्वत्रानुक्तोऽप्यन्वेतव्य इति। यद्वा नासाग्रजाग्रत्स्थूलमुक्तास्मिताधरपूर्व-सहजश्रीयुक्तेऽप्याधिक्यमानन्दच्छवेरिति एवं बिम्बोष्ठत्वं पूर्वमेव शोभनोप-मितं तत्रारुण्यविशेषाधानं प्रियकृतचुम्बनेन तेन तात्कालिकच्छविदर्शनान्नव-विद्रुमेत्युक्तिः। विद्रुमे नवत्वं शाणोल्लीढत्वं क्वापि समुद्रद्वीपादौ विद्रुमस्य

रसकलश

(परित्याग) आदि से उत्पन्न कम्प के चमत्कार से चञ्चलता अथवा यातायात के कारण प्रियतम रूपी मेघ के अङ्क में चमक चमककर बार-बार आलिङ्गनों में छिप छिप जाना इत्यादि कारणों से भी श्री विग्रह की शोभा को कोटि विद्युतों को सी शोभा कहा गया है। उस समय मालापरम्परा के कारण उस तेज में स्थिरता ही है। इस प्रकार मेघ के ऊपर वर्षा करने के कारण एक अद्भुत या असम्भव कार्य को सम्भव करने के कारण अधिक प्रसन्नता प्रकट होती है। और उस प्रसन्नता से मुख में अतिविस्तृत आनन्द की छवि वाला वह तेज है ऐसा कहा गया है। आनन्द तो हृदय में ही उदित हुआ करता है वहाँ वह निलीन नहीं होता, अब वही बाहर विस्तृत हो गया है। उस पर भी प्रकर्ष से सखी के हृदय में आनन्द का कारण, प्रियतम के मुख के पान के रंग से रंगे जाने का विस्तृत दर्शन होने के कारण उत्प्रेक्षा करते हैं कि आनन्द ही विस्तृत हो गया है। हृदय आदि अंगों की प्रसन्नता के भी मुख्यतया मुख में ही उद्दीपित होने के कारण श्री मुख शब्द में श्री शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा श्री शब्द आदर का वाचक है। जो सभी स्थानों पर नहीं कहा गया तो भी सभी स्थानों पर उसका अन्वय किया जाना चाहिए।

अथवा नासिका के अग्रभाग में विराजमान स्थूलमुक्ता के समान मुस्कान वाले अधरोष्ठ की पूर्वतन स्वाभाविक श्री या शोभा से युक्त मुख में भी आनन्द छवि की अधिकता है। ऐसे ही अधरोष्ठ की पहले ही बिम्ब फल के साथ शोभन उपमा दी गई है, अब उस पर विशेष अरुणता या लाली का विशेष आधान प्रियतम के द्वारा किये गए चुम्बन से तात्कालिक शोभा के दर्शन से 'नवीन विद्रुम की शोभा' ऐसा अर्थ कहा गया है।

द्रुमा अपि श्रूयन्ते तत्राप्ययातयामत्वमेवेति अधरानुक्तिस्तद्दशनकोपेन दशनैः स्वाधरदशनं तदा तददर्शनसूचिनी सहृदयगम्यैवेति करे सत्पल्लवस्यैका मुख्या छविर्यत्र नवोद्‌गतपल्लवगर्भेऽत्यन्तविलक्षणारुण्यं तस्य सत्त्वं तादृश-सदातनस्थायित्वं मार्दवञ्च अथवा सर्वोत्तमापेक्षया कल्पतरुपल्लवे निरपेक्ष्यं यथेष्टश्रेष्ठत्वम् । अत्र पल्लवोक्तेश्चाञ्चल्यमपि गृहीतं प्रियसाहसे करधूनना-दित्वात् तदेवाह कुचद्वन्द्वे हस्तद्वयगृहीतत्वाद्द्वयोक्तिः अनावृतगौरच्छवि-दर्शनाद्धेमेति दार्ढ्येन कुड्मलेति तत्र स्वानन्दौत्सुक्येन प्रियविषयिकस्वौदा-र्येण नेत्रे प्रफुल्लिते तेनारविन्दवदीक्षणे लोचने यस्मिस्तत् कटाक्षभेदानामत्र भावान्तरं सहृदयवेद्यमेव एवं च केलिविशिष्ट माधुर्यमयतेज उक्तं अलङ्कारानुक्तिः प्रत्यङ्गसंयोगानङ्गरङ्गे कवचवाद्यादि विनैव द्वन्द्वमहा-

रसकलश

विद्रुम में नवीनता शान पर चढ़ाने के कारण हो गई। किसी समुद्र के द्वीप वगैरह में विद्रुम के वृक्ष भी सुने जाते हैं। वहाँ पर भी अयातयामता-एकदम ताजापन ही कहा गया है। अधरोष्ठ के लिये अधर शब्द का प्रयोग नहीं किया गया क्योंकि प्रियतम ने अधरक्षत किया है उसी क्रोध से प्रियाजी ने अपने अधरोष्ठ को दशनावली से दबाया हुआ है। अतः उनके दर्शन न होने की सूचना देने वाली उपमा सहृदय मात्र द्वारा जानी जा सकती है।

जहाँ करकमल में नवीन पल्लव की एक मुख्य छवि है। नये उदय हुए पल्लव के अन्दर अत्यन्त विलक्षण अरुणता है। उनके सत् होने का अर्थ है उस रूप में सदा बने रहना और मृदु होना। अथवा सभी आम पदार्थों की अपेक्षा से कल्पवृक्ष के पल्लव में निरपेक्ष भाव से यथेष्ठ श्रेष्ठता है। यहाँ पर पल्लव कहने से चञ्चलता भी जानी जाती है। प्रियतम के साहस पर हाथ हिलाने आदि के कारण, इसी बात को आगे कहते हैं। स्तनों के दोनों करकमलों से गृहीत होने के कारण कुचद्वन्द्व या स्तनयुगल कहा गया है। अनावृत रूप से गौर छवि का दर्शन होने से हेम या स्वर्ण का कमल कहा गया है। दृढ़ता के कारण कमल की भी कलिका की उपमा दी गई है। यहाँ कलिका या कुड्मल शब्द में अपने आनन्द की उत्सुकता से प्रियतम के विषय में अपनी उदारता से नेत्र खिले हुए हैं इसी से वे कमल के समान हैं लोचन जिसमें ऐसा कहा गया है। उनके कटाक्ष भेदों के यहाँ जो भावान्तर है उसे सहृदय ही जानते हैं। इस प्रकार नवीन केलि से युक्त माधुर्यमय तेज कहा गया है, इसलिये उस पर अलंकार नहीं कहा गया है। प्रत्यंग में अनंग रंग या कामकेलि में कवच वाद्य आदि के बिना ही द्वन्द्व या युगल की महावीरता

भटतासूचिनी उपमैव द्वितीयेति भावः । आदावेव तडिदुक्तौ प्रभापुञ्जत्वेप्य-नन्तरं विद्रुमपल्लवकुड्मलादिमृदुच्छविवर्णनान्माधुर्यपर्यवसितिरेवेत्युक्ता स्फुटे वन्दनं नमनमेव आन्तरे तादृशसख्युचितं गण्डे धृत्वा कराङ्गुलि-मोटनम् ॥९८॥

एवं छविं निरूप्य रूपमङ्गाकृतिसौष्ठवं लावण्यवैदग्ध्यनिर्देशं च तादात्विकमेव वर्णयति ।

मुक्तापंक्तिप्रतिमदशना चारुबिम्बाधरोष्ठी-
मध्येक्षामा नवनवरसावर्त्तगम्भीरनाभिः ।
पीनश्रोणिस्तरुणिमसमुन्मेषलावण्यसिन्धु-
र्वैदग्धीनां किमपि हृदयं नागरी पातु राधा ॥९९॥

नागरी सर्वचातुर्यगुणशालिनी राधा प्रियमनोरथसाधिनी पातु यथे-दानीं छविरूपलावण्यकेलिभिः पाति तथैव सर्व्वदेत्यर्थः । कर्मानुक्तिः प्रियं

रसकलश

की सूचना देने वाली उपमा ही दूसरी है यह भाव है। आरम्भ में ही विद्युत् कहने से प्रभापुञ्ज होने पर भी बाद में विद्रुम, पल्लव, कुड्मल आदि की कोमल छवि के वर्णन से माधुर्य में पर्यवासनो हो कहा गया है। स्फुट भाव में बन्दन या नमन है ही। आन्त-रिक अर्थ में वैसी सखी के योग्य गण्डस्थल पर रखकर हाथों की अंगृलियो को मोड़ा गया है। ९८।

इस प्रकार छवि का निरूपण करके अंगों की आकृति सुष्ठुता या शोभनतारूपी रूप का और उस समय के लावण्य, और विदग्धता के निर्देश का ही वर्णन करते हैं—

मुक्ताओं की पंक्ति के समान दन्तावली वाली, सुन्दर विम्बफल के समान अधरोष्ठों वाली, मध्यभाग में कृश, नवीन-नवीन रस के भँवर के सामान गम्भीर नाभि, वाली, पीन या स्थूल श्रोणि वाली, तरुण अवस्था के उन्मेष से लावण्य की सिन्धु और विदग्धताओं का हृदयभूत नागरी राधा (मेरी) रक्षा करें। ९९।

नागरी सब प्रकार की चतुरता के गुणों से युक्त श्रीराधा जो प्रियतम के मनो-रथों को साधने वाली हैं वह मेरी रक्षा करे। जैसे इस समय छवि, रूप, लावण्य और क्रीडाओं से रक्षा करती है, वसे ही सदा रक्षा करे यह अर्थ है। यहाँ पर किसी कर्म का निर्देश नहीं है केवल रक्षा करे इतना ही कहा है किसकी रक्षा करे यह नहीं कहा। यदि कहा जाये कि 'प्रियं पातु' प्रियतम की रक्षा करे तो यह बात सुनने से प्रिया

पात्विति श्रुतिसङ्कोचहेतुका । अर्थादिदानीं विहारेऽयं श्रान्त आनन्दपराव-स्थितः । भवती पराजितमपि प्रोत्साहयति तदस्योपहसनमेवेति तत्र सकुमारी स्वयमपि तथैव । परन्तु साहसेन वैदग्ध्यं ज्ञापयन्तीत्याह अतएव नागरीपदं दत्तं तत एव सख्यपि प्रसिद्धरूपवर्णनोपमया व्यञ्जनयैव वक्ति न स्फुटं हासे दशनदर्शनान्मुक्तापंक्तीति हासहेतुः सहृदयैकगम्यः प्रतिद्वन्द्वजयश्री दत्तमुक्तामालेवेत्युत्प्रेक्षागर्भितं तत एवाधरोष्ठौ विवृतौ दृष्ट्वा त्रपाशीलाया अन्यथानुपपत्तिदर्शनाद्धासेन जय एव सूच्यते जयश्रिया बिम्बफलोपहृतिरेव शुभसूचिनी कृतेत्युत्प्रेक्षागर्भितम् । नन्वेवं पराजितोपहासो न सभ्य इति तत्राह मध्येक्षामेति दयावती मा श्रमं प्राप्नुयादिति न स्वार्थंकापट्यविशिष्टं चातुर्यम् नन्वेवं कारुण्यं न वीररसपोषि विरोधित्वात् । तत्राह नवनवः प्रतिक्षणरुच्य-

रसकलश

जी को संकोच होगा । ऐसा कहने का यह तात्पर्य होगा कि प्रियतम अभी श्रान्त हैं, आनन्द की परम अवस्था में स्थित हैं, आप से वे पराजित हो गये हैं तो भी आप उनको प्रोत्साहित करती हैं यह प्रियतम का उपहास ही है । आप स्वयं भी सुकुमारी होने से श्रान्त हैं और परम आनन्द की अवस्था में स्थित हैं, परन्तु साहस के द्वारा अपनी विदग्धता या चतुरता प्रकट कर रही हैं तभी यहाँ 'नागरी' यह विशेषण दिया गया है । तभी श्रीहितसखी भी प्रसिद्ध रूप वर्णन के लिये उपयोगी उपमा द्वारा ही व्यञ्जना से इस वस्तु को प्रकाशित करती हैं स्पष्ट नहीं कहती । हास के समय दन्तावली का दर्शन होता है अतः 'मुक्तापंक्ति के समान दन्तावली वाली' कहा । यहाँ हास का कारण सहृदयों के द्वारा ही जाना जा सकता है । अपने प्रतिद्वन्द्वी को जीतने पर विजयश्री ने मानों यही मुक्तामाला इनको दी है, यह उत्प्रेक्षा गर्भित अर्थ यहाँ पर है । तभी लज्जा-शील होती हुई भी प्रियाजी के अधरोष्ठ खुले हुए देखकर और किसी प्रकार भी उनका खुला रहना सम्भव न होने के कारण हास की कल्पना की गई है और इस हास से प्रियाजी की जय ही सूचित होती है ।

विजयश्री ने केवल मुक्तामाला ही अर्पण नहीं की बिम्बफलों का भी उपहार दिया है जो मङ्गल का सूचक है यहाँ पर यह भी उत्प्रेक्षागर्भित अर्थ है । अब प्रश्न होता है कि किसी पराजित का उपहास करना कोई सभ्यता नहीं है । इस पर कहते हैं कि प्रियाजी मध्य में क्षाम हैं कृशोदरी हैं ! उनके इस कृशोदरीपन पर दयावती हो कर श्रीहितसखी कहती हैं कि यह कृशोदरी श्रम प्राप्त न करें, वैसे ही यहाँ पर प्रियाजी की चतुरता भी स्वार्थ के लिये कपट से युक्त नहीं है, अपितु सखीजन के प्रति दया के कारण है । तब कोई कह सकता है कि दया तो वीररस की पोषक नहीं हैं अपितु वीर-रस विरोधी है ! उस पर कहते हैं 'नवनव' प्रतिक्षण रुचि के अधिक बढ़ने से नित्य

तिशयवर्द्धनेन नित्यनवो रसस्तस्यावर्तवदुत्प्रेक्षिता गम्भीरा नाभिर्यस्याः। अत्र तु रसमूर्तें रसावर्तो नासम्भाव्यः, परन्तु लोकरीत्या रसोद्दीपकत्वादुक्तिः पूर्वमत्यन्ततृषातुरतादर्शनादुच्छलितो रसः पश्यामि कियांस्तृषित इति ततस्तत्पराजये रुद्धवेगेन भ्रमरीभूय गमनादावर्त इवोत्प्रेक्षितो वा स्वत्रपाशीलध्रौव्यनिर्वाहभियेवेति। अत्र पराजयो रसमयस्तत्सुखरूप एव न लोकवन्न्यूनतादर्शकः तत्र पार्ष्णिग्राहोऽपि बलवत्तम इति दर्शयति पीनश्रोणिरिति। तत्रापि तत्कारणभूतस्तरुणिमा तेन सम्यगुन्मेषे उज्जृम्भणं यस्य तादृशो लावण्यस्य सिन्धुर्यत्र।

किञ्च सिन्धुस्तु पूर्वमेव सन् उज्जृम्भणं तारुण्यसमय एव विलक्षणम्। अनेन सर्वाङ्गलावण्यमतिरहस्यस्थानेऽनावृतं प्रच्छन्नमपि विलाससामयिकं सहृदयतया ज्ञेयम्। तद्भावनया वक्ति। न केवलं स्थूलतः केलिरेव किन्तु सर्व-

रसकलश

नवीन रस के आवर्त या भँवर के समान उत्प्रेक्षित हुई है गम्भीर नाभि जिनकी, ऐसी यह नागरी हैं। यहाँ प्रियाजी रसमूर्ति हैं ही, अतः उनकी नाभि का रसावर्त या रस का भँवर होना असम्भव नहीं है। परन्तु लोक की रीति से रस का उद्दीपक होने से ऐसा कहना उचित ही है। पहले प्रियतम को अत्यन्त तृषातुर देखकर रस उछल पड़ा था, देखें यह कितने प्यासे हैं। अब उनके पराजित हो जाने पर वेग के रुक जाने से भँवर बन कर वापिस लौटने के कारण रस का आवर्त सी नाभि उत्प्रेक्षित हुई है। अथवा अपने लज्जाशील स्वभाव की ध्रुवता के निर्वाह के भय से रस के वेग में रुकावट आने से यह रस का आवर्त बन गया है। यहाँ पर प्रियतम का पराजय भी रसमय है, तत्सुखरूपी ही हैं। लोक के समान प्रियाजी की अपेक्षा प्रियतम की किसी न्यूनता का दर्शक नहीं है। इस सुरत युद्ध में प्रियाजी का 'पार्ष्णिग्राह' (पीछे से सहायता पहुँचाने वाला मित्र राजा) भी बहुत बड़ा बलशाली है यह दिखाने के लिये कहा गया कि प्रियाजी 'पीनश्रोणि' हैं, श्रोणिभाग की पीनता का कारण भी तरुणिमा अथवा तरुण अवस्था के कारण उन्मेष या उज्जृम्भण (उमड़ना) है जिसका, ऐसी लावण्य की सिन्धु यहाँ पर है। सिन्धु तो पहले से ही थीं किन्तु उसमें उन्मेष या उज्जृम्भण तरुण अवस्था में ही हुआ है अतः इस समय वह सिन्धु विलक्षण प्रतीत हो रहा है। इससे सभी अङ्गों में लावण्य प्रतीत होता है, अतिरहस्य स्थान में भी वह प्रच्छन्न रूप में स्थित है जो विलास के समय कुछ अनावृत हुआ है इत्यादि सहृदयता से जाना जा सकता है। उनका भावना द्वारा वर्णनकरते हैं।

कामकलाकौशलतां निदर्शयति वैदग्धीनां चतुरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तकारणानां तत्तच्चातुरीणां हार्दं तत्सारभूतं तदधिदैवमेवेति वा तत्रापि किमित्यनिर्वनीयं रसशास्त्रवक्तृभिरपि दुर्ज्ञेयं यथा कवय आनतकन्धरचित्ता इतिवदत्रापि ज्ञेयम् । अथवा क्रमेण पूर्वं स्वमुख्यताकृतविलासः पश्चात्प्रियकृतिरिति सूक्ष्मदृशा दृष्टहृदयं प्रविश्यावधेयम् दशनैर्दशनधर्मत्वाद्दृष्ट्वा तच्छीत्कारानन्देन किञ्चिद्वक्रोक्त्या हसनं तेन मनोगतोपमानेन मुक्तेति ततः प्रियकृताधरपानं तेन बिम्बादपि चारुताभानादुक्तिस्ततः स्वयं सौरताविष्टा तेन मध्येक्षामेति ततः सद्रत्यनावृतत्वान्नाभिरिति ततः सा इति पीनताभानाच्छ्रोणीति ततः सद्रत्यनावृतदर्शनान्निःसहनिपतिततनुलतयेतिवच्छय्योप-

रसकलश

यहाँ केवल स्थूल क्रीडा ही नहीं है अपितु सम्पूर्ण कामकलाओं का कौशल है उसी का निर्देश करते हैं—'वैदग्धीनां किमपि हृदयम्'—चतुर शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त कारण बनी हुई उन उन चतुरताओं का हृदय अर्थात् सारभूत अधिदैव प्रियाजी ही हैं। अथवा उस विषय में भी 'किमपि' शब्द द्वारा इनको अनिर्वचनीय कहा गया है जो रसशास्त्रकारों के लिये भी दुर्ज्ञेय है, जानना कठिन है। जैसे 'कवि भी नतमस्तक और नतचित्त हो जाते हैं' इत्यादि कहा जाता है वैसी ही बात यहाँ पर जाननी चाहिये। अथवा क्रम से पहले अपनी प्रधानता के द्वारा विलास किया गया बाद में प्रियतम के द्वारा विलास किये गये। सूक्ष्म दृष्टि से, द्रष्टा के हृदय में प्रवेश करके इसका ध्यान करना चाहिये।

दशनों या दन्तावली से दशन किया गया क्योंकि दशन करना उन दशनों का धर्म है, उसके सीत्कार के आनन्द से कुछ वक्रोक्ति कह कर हँसना हुआ, उस हँसने का मन में स्थित उपमान से वर्णन करते हैं—'मुक्तापंक्तिप्रतिमदशना' मोतियों की पंक्तियों के समान है दन्तावली जिनकी। फिर प्रियतम ने अधर पान किया उससे बिम्बफल से भी अधरोष्ठ में अधिक सुन्दरता प्रतीत हुई इस पर चारुबिम्बाधरोष्ठी–सुन्दर बिम्बफल के समान अधरोष्ठ वाली कहा गया। तब स्वयं सुरतावेश से आविष्ट हुई इससे—मध्ये क्षामा या कृशोदरी कही गईं। सद्रति में कुछ आवरणहीन होने से 'रसावर्त गम्भीर नाभि'–रस के आवर्त के समान गम्भीर नाभि वाली कही गईं। फिर पीनता की प्रतीति होने पर 'पीनश्रोणि' स्थूलनितम्बा कहा गया। इसके बाद सद्रति में अनावृत दर्शन होने से निःसह होकर पड़ गयी तनुलता (लता जैसे श्रीविग्रह) से शय्या पर विराजमान

वेशेन प्रत्यङ्गप्रकाशाल्लावण्येत्यादि संघर्षजपारावतोल्लुण्ठनक्रीडावैदग्ध्येन स्वाभिलाषनिह्नुतिपरार्थप्रकाशनं कौशलमत्रेत्थमस्तीत्युक्त्या प्रच्छादनं च वैदग्ध्यं सर्वक्रीडासु सम्भृतं ज्ञेयम् । अथवा बहिर्वैदग्ध्यमङ्गसौष्ठवातिशयम्, आन्तरं ज्ञानेच्छाक्रियादि वैचित्र्यम् ॥९९॥

भूयो रूपं निःसहनिपतिततनुलतात्वमेवानावृतं तादात्विकं प्रपञ्चयति रत्यावेशजवीरायितविस्मृतस्वप्रकृतिं स्मारयति—

स्निग्धाकुञ्चितनीलकेशि विदलद्बिम्बोष्ठि चन्द्रानने
खेलत्खञ्जनगञ्जनाक्षि रुचिमन्नासाग्रमुक्ताफले ।
पीनश्रोणि तनूदरि स्तनतटीवृत्तच्छटात्यद्भुते,
राधे श्रीभुजवल्लिचारुवलये स्वं रूपमाविष्कुरु
॥१००॥

रसकलश

होने पर प्रत्येक अंग क प्रकाश से 'तरुणिमसमुन्मेषलावण्यसिन्धु' तरुण अवस्था के कारण समीचीन रूप में उन्मेष या उज्जृम्भण हुआ है जिसका, ऐसे लावण्य की सिन्धु कही गई। संघर्ष काल में पारावतोल्लुण्ठम (कबूतरों के जैसे लोटना पोटना) की क्रीडा में कुशलता से अपनी अभिलाषा को छिपाना और दूसरे की अभिलाषा का प्रकाशन करना इस प्रकार की कुशलता यहाँ पर है क्योंकि छिपाने से ही सभी क्रीडाओं में वैदग्ध्य भरा हुआ जाना जाता है ऐसा जानना चाहिये। अथवा बाहरी वैदग्ध्य या चातुरी यह है कि सभी अंगों में अधिक अधिक सौष्ठव हो और आन्तरिक वैदग्ध्य या चतुरता यह है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया में विचित्रता हो ॥९९॥

फिर रूप का विस्तार से वर्णन करती हैं निःसह होकर तनुलता के पड़ जाने पर उस समय अनावृत रूप में विद्यमान हैं तथा रति के आवेश से होने वाले वीरायित (विपरीत रति) में प्रिया जी अपनी वाम्य या प्रतिकूलता की प्रकृति को भूल गई हैं उसका स्मरण कराती हैं—

'हे स्निग्ध, (चिकने) आकुञ्चित (घुंघराले) और नीले केशों वाली परिपक्व विम्बफल के समान अधरोष्ठों वाली, चन्द्रमुखि, खेलते हुए खञ्जन को परास्त करने वाले नेत्रों वाली, नासिका के अग्र भाग में कान्ति युक्त मुक्ताफल धारण करने वाली, पृथुलनितम्ब, कृशोदरि, स्तन तट की वृत्ताकार छटा से अति अद्भुत प्रतीत होने वाली, श्रीभुजलता में सुन्दर वलय (चूडियाँ) धारण करने वाली, श्री राधे, अपना

स्फुटं तु सौलक्षण्यं परं रूपं वर्णितमेव दृश्यते। अपिच प्रस्तुतोपात्त विलाससूचकतां। दर्शयति हे राधे यथानिरुक्तार्थसंसिद्धिकारिणी स्वं निजं रूपमुच्यमानमेव प्रकाशयेति रूपसुषमालम्पटदृष्ट्या तदेव दृविषयमाशास्ते सदैवमेव सुखंदेहीत्यर्थः। अथवाधुना कृपावेशवैवश्येन कृष्णायसे परन्तु पश्चादासज्यात्वेन स्मृतौ सङ्कोचजक्षोभेण परस्मिन्दोषमारोपयिष्यसि यत्कथं हितालि, विवशां न सावधानीकृतवत्यसि प्रियस्तु स्वार्थपरो दास्यवाद इत्युक्तिमनुमानतरङ्गभयेन स्मारयामि सुकुमारीप्राणजीवातो श्रमायतिकत्वं स्मर स्वप्रकृतिं गृहाण चेत्यर्थः। प्रियस्त्वदावेशे चकितः स्थगित एव ते प्रत्यङ्गच्छटामोहितः स्वभावं विस्मरन्निव लक्ष्यते अङ्गान्यपि त्वच्छीललज्जाविरुद्धान्येव प्रियमिलितानि दृश्यन्तेऽतः सावधाना भव किं प्रतिभटोपहासं

रसकलश

'स्वरूप प्रकट करो।१००।'

स्फुट रूप में सुन्दर लक्षणों वाले परम रूप का तो वर्णन किया गया देखा ही जाता है अब प्रस्तुत रूप में वर्णित विलास का सूचक भी वही रूप है यह दिखाते हैं। हे राधे, जैसा राधा नाम का निर्वचन किया गया है वैसी संसिद्धि करा देने वाली, अपना रूप जो मेरे द्वारा कहा जा रहा है इसे प्रकाशित करो। रूप की परम शोभा के लिये लम्पट या लोलुप हुई दृष्टि से उसी रूप को अपनी दृष्टि का विषय बनाने की आशा करते हैं। सदा ही ऐसा ही सुख देती रहो यह तात्पर्य है। अथवा अभी तो कृपा के आवेश की विवशता से कृष्णवत् आचरण कर रही हो अर्थात् आसक्ता सी बनी हुई हो। बाद में जब अपने आसज्या (प्रीति पात्र) होने का स्मरण आयेगा तब संकोचजनित क्षोभ से दूसरों पर दोषारोप करोगी कि हितसखी, तूने मुझे उस विवश अवस्था में सावधान क्यों नहीं किया। प्रियतम तो स्वार्थ परायण होकर अकने आपको 'दास हूँ दास हूं' कहा करते हैं उनका दास्यवाद स्वार्थपरायण है। इस उक्ति का अनुमान की तरंग के भय से स्मरण कराती हूँ। प्रियाजी तुम स्वयं सुकुमारी हो प्राणों के जीवनाधायक प्रियतम के भी भावी श्रम को स्मरण करो, अपनी प्रकृति को धारण करो। प्रियतम तुम्हारे आवेश से चकित होकर स्थगित हुए खड़े हैं। तुम्हारे प्रत्येक अङ्ग की छटा से मोहित होकर अपने स्वभाव को भूलते हुए से दिखाई देते हैं। तुम्हारे श्री अङ्ग भी इस समय तुम्हारे शील स्वभाव और लज्जा के विरुद्ध से होकर प्रियतम से मिले हुए दिखाई देते हैं अतः सावधान हो जाओ। क्यों दूसरे पक्ष के लोगों के लिये उपहास प्राप्त करती हो, यह भाव है।

प्राप्नोषीति भावः केशानां शिरोरुहाणां तावत्कौटिल्यं पश्य स्निग्धत्वेऽप्येवम्। तत्रापि प्रियमनोविकारकारित्वात्साहसोद्दीपनेन कचग्रहणमात्रेण श्लथत्वं शय्यायां प्रसरणं कालिमा च परप्रियकारितां दर्शयति। प्रियमनः स्नेहयत्या-कुञ्चयति कलुषयति कामेनेति तदिङ्गितदर्शनेन हितत्वादान्तरं वच्मि। अतः संयमयेति गूढं सख्यकटाक्षः।

ननु भवत्या प्रसाधनाधिकारिण्या एव दोषो यद्ग्रहणमात्रेण श्लथत्वम्, तदुत्तरमाह यथाह प्रबोधानन्दः—

केशान्बध्नन्ति भूषां विदधति वसनं वासयन्त्या शयन्ति,
वीणां वंश्यादि हस्ते निदधति नटनायादराद् वादयन्तेः।
वेशाद्यर्द्धं च कर्तुं कथमपि नितरामालयेः शक्नुवन्ति,
श्रीराधाकृष्णयोरुन्मद मदनकलोत्कण्ठयोः कुञ्जवीथ्याम्॥

इति नास्मद्धस्तेन प्रसीदतो यत्परस्परभूषाद्येवानन्द कारि भवतोरिति

रसकलश

सबसे पहिले केशों की कुटिलता को देखो, स्निग्ध होते हुए भी यह कुटिल हैं। इस पर भी प्रियतम के मन में विकार उत्पन्न करने वाले हैं उनका साहस उद्दीपित करते और प्रियतम द्वारा पकड़े जाते ही तुम्हें भी शिथिल कर देते हैं, तुम्हें शय्या पर विराजमान करा देते हैं स्वयं भी शय्या पर फैल जाते हैं। इनकी कालिमा भी यह सूचित करती है कि यह दूसरों के ही मन के अनुकूल कार्य करते हैं, अपनों के नहीं। प्रियतम के मन को स्नेही बना देते हैं, आकुञ्चित या संकुचित अर्थात् स्वार्थी बना देते हैं काम से कलुषित कर देते हैं, मैं इनके इङ्गितों को देखती रहती हूँ मैं तुम्हारी हितैषिणी हिता हूँ अतः अन्दर की बात कहती हूँ यह खुले हुए हैं। इन केशों को बँधवा लो, यह सख्य भाव से गूढ कटाक्ष किया गया है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि तुम ही तो प्रसाधन या शृङ्गार सेवा की अधिकारिणी हो यह तुम्हारा ही दोष है कि यह केश प्रियतम द्वारा गृहीत होते ही शिथिल हो जाते हैं? इसका उत्तर देती हैं। जैसा कि प्रबोधानन्द सरस्वती ने भी लिखा है—

'केशों को बाँधती हैं, भूषण धारण कराती हैं, वस्त्र पहनाती हैं, भोजन कराती हैं। वीणा, वंशी आदि कर कमलों में रखती है। नृत्य कराने के लिये आदर पूर्वक वाद्यों को बजाती हैं, इस प्रकार वेश भूषा आदि को किसी किसी प्रकार सखियाँ आधा ही कर सकती हैं। कुञ्ज वीथी में श्री राधा और श्री कृष्ण, युगल सरकार उन्मत्त मदन कलाओं के लिये उत्कण्ठित हैं, अतः हमारे हाथों से किये गये प्रसाधन या शृङ्गार से उतने प्रसन्न नहीं होते इसीलिये आपस में एक दूसरे की वेषभूषा की रचना करते हैं

पुनः कृपाचिकीर्षामात्रेणैव बिम्बमपि प्रियं रसं ददौ। अतः कोषाधिकारिषु किञ्चिदेव न दार्ढ्यं दशनक्षतादि तत्प्रियकरमेवातो विशेषेण दलनम् । स्फुटे त्वारुण्याधिक्यमात्रमेव बिम्बोपमासजातीयत्वादधरोक्तिरपि ज्ञेया पुनः सङ्कल्पजसहायी चन्द्रः प्रियमन आह्लादयति आनने भवत्यपि शीत्कारहासादिप्रसादमुद्दीपयतीति गोपनीयां स्वरुचिं स्फुटयसि पुनर्नयने खेलाविष्टखञ्जनवन्नत्वद्रोधनं मन्येते क्रीडौत्सुक्ये न चञ्चलत्वं शीलध्रौव्येणाकर्षणं तदप्यावेशाधिक्येन न स्थिरीभवतः एतावपि लोलतया प्रियमिलितावेव पुनश्च मुक्ताफलमपि त्वत्कृपामात्राग्रेसरं अतः स्वयं रुचिमत्प्रियस्य रुचिं वर्द्धयेदिति किं वाच्यम् । अतएव नासाग्रेत्युक्तं पुनः श्रोणिरपि स्वपीनचछविं श्रेणीमुख्यद्रवनिःशंकं प्रकाशयति न श्रीमतीशीलाच्छंकते यदनावृतकोशं दृष्ट्वा प्रतिद्वन्द्वी

रसकलश

क्योंकि वही आपके लिये अधिक आनन्ददायी होता है। इत्यादि फिर कृपा करने की इच्छा करने मात्र से बिम्ब ने भी प्रिय रस दिया, अतः कोष के अधिकारियों में किसी प्रकार की भी दृढ़ता नहीं है । दन्तक्षत आदि तो प्रियतम का प्रिय ही (अभीष्ट ही) सम्पादन करते हैं अतएव उनका विशेष रूप से दलन कहा गया। स्पष्ट भाव में तो लाली की अधिकता मात्र से ही अधरोष्ठ को बिम्ब फल की उपमा दी गई है। उत्तरोष्ठ को भी सजातीयता के नाते यहाँ पर अधर कह दिया गया है। ऐसा जानना चाहिये। फिर संकल्पज काम का सहायक चन्द्रमा भी है। जो प्रियतम के मन को आह्लादित करता है। प्रियाजी का श्रीमुख-आनन-जीवन देने वाला तो है ही साथ ही सीत्कार और हास्य आदि के रूप में प्रसाद को भी उद्दीपित करता है। इस प्रकार तुम अपनी गोपनीय कान्ति को स्फुट रूप में कह रही हो। फिर वह नयन भी खेल के आवेश से आविष्ट खञ्जन के समान तुम्हारे द्वारा रोके जाने की परवाह नहीं करते। क्रीडा की उत्सुकता से इनमें चञ्चलता है तुम अपने शील स्वभाव की ध्रुवता से इनको रोकती हो पर आवेश की अधिकता से यह स्थिर नहीं होते। यह नयन भी चञ्चलतावश प्रियतम से मिले हुये ही हैं। फिर मुक्ताफल भी तुम्हारी कृपा से ही अग्रसर होता है। अतः तुम स्वयं रुचिमान् प्रिय की रुचि को बढ़ाओ यह क्या कहा जाये? अतएव 'नासाग्रे' इत्यादि कहा गया है। श्रोणी भी अपनी पीनता या स्थूलता की छवि को श्रेणी मुख्य या सरदार की भांति निःशङ्कभाव से बाहर प्रकाशित करती है। श्रीमती के वाम्य या बहिः प्रतिकूलता के स्वभाव से तनिक भी शङ्का नहीं करती। भला अनावृत कोश को देखकर प्रतिद्वन्द्वी क्या क्या साहस न करेगा। इसलिये यह भी प्रतिद्वन्द्वी

किं न साहसं कुर्यादित्येषोऽपि मिलित एव स्तनतटी सद्वृत्तापि उन्नततटे स्वात्यद्भुतच्छटां बहिः प्रकाशयति अन्यथाद्भुतवस्तुनो रक्षा सर्वत्र क्रियते किमुतात्यद्भुतस्येति गोपनीयत्वाभावादत्राप्यसमीक्ष्यकारित्वमस्याः प्रियमिलितैवैषा ननु कोऽपि मदीयोऽस्तीत्यपेक्षायामाह यौवनमदान्धश्रोणिस्तनद्वयमध्यगतमुदरमेतच्छोचमानं दृश्यतेऽत इदं तनुकृशं नास्य वर्ज्जनोपायं मन्येते दुर्बलरंधितक्षीरेति लोकोक्तिः। पुनः स्वसहायसर्वस्वभूतौ भुजावपि अहो श्रीपदाधिकारं प्रापितौ प्रतिभटतमालवेष्टनप्रियार्थं वल्लीरूपौ जातौ अतो भुजकौटिल्यार्थमेव समर्प्य यतो न पालनाभ्यवहारार्थं तदा कुटिलानां कुटिलमेव प्रियमिति न्यायाद्वलयान्यपि तद्गतान्येव चारुतासहितानि प्रागेव तदीयान्येवाभूवन्। अतः स्वं रूपमासज्यात्वं स्मर यन त्वदीयान्येतानि स्युरिति कटाक्षगर्भितं व्यंग्यम्।

रसकलश

के पक्ष से मिला हुआ है। यह स्तनतटी सद्वृत्ता (सदाचारस म्पन्ना, अच्छी गोल) होती हुई भी अपने उन्नत तट या पार्श्व भाग में अपनी अद्भुत छटा को बाहर प्रकाशित करती है। अन्यथा अद्भुत वस्तु की तो सर्वत्र रक्षा की जाती है। फिर अति अद्भुत का तो क्या कहना। इस प्रकार गोपनीयता के अभाव से इस श्रोणी की भी असमीक्ष्यकारिता (विना विचारे काम करने की प्रवृत्ति)प्रकट होती है। यह भी प्रिय से हो मिली हुई है।

अब प्रश्न होता है कि सभी पराये हो गये या कोई मेरा भी है? इस पर कहते हैं कि यौवन के मद से अन्धे हुए श्रोणि युगल और स्तन युगल दोनों के मध्य में स्थित उदर चिन्ता करता सा दिखाई देता है। इसीलिये यह कृश है, यह उन दोनों को रोकता है पर वे इसके रोकने की परवाह नहीं करते। 'दुर्बल का काढ़ा हुआ दूध बलवान् पीते हैं, यह लोकोक्ति है। फिर अपनी सहायक और सर्वस्व बनी हुई भुजाएँ भी आश्चर्य है कि श्री या शोभा के पद के अधिकार को प्राप्त करा दिये गये अपने प्रतिभट तमाल को वेष्टन या आलिङ्गन रूप प्रिय अर्थात् अभीष्ट वस्तु देने के लिये वल्ली रूप में परिणत हो गये अतः भुज धातु कौटिल्य अर्थ में है इसी बात को समर्थन करते हैं, पालन और अभ्यवहार रूप अर्थ का नहीं। तब कुटिलों के प्यारे कुटिल ही होते हैं इस न्याय से वलय या चूड़ियाँ भी इन भुजाओं में ही पहनी हुई सुन्दरता से युक्त होती है, वे पहले से ही इन भुजाओं की हो गई थीं। अतः तुम अपने आसज्यात्व (प्रतिविषयता) रूपी स्वरूप का स्मरण करो जिससे यह वलय या चूड़ियां तुम्हारी (तुम्हारा पक्ष लेने वाली) हो जायें यह कटाक्षपूर्ण व्यङ्ग्य है।

अत्र विहारभरवर्त्तिताप्यङ्गानां तथापि सङ्कोचेन न स्फुटीकृता सहृदयगम्यैव । नासाग्रमुक्ताफलवलयोपलक्षणेन कण्ठाभरणं सौभाग्य-लक्षणमावश्यकं ज्ञेयं परिमितालङ्कृतिरेवात्र तादृक्तरुजरूपपुञ्जे प्रेमविहारा-वेशे च भूषणान्यपि दूषणान्येव यथोक्तं जयदेवैः—

'प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण निबिडाश्लेषे निमेषेण च,
क्रीडाकूत विलोकितेऽधरसुधापाने कथानर्मभिः ।
आनन्दाभिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्न—
भूदुद्भूतः स तयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियंभावुकः ॥' इत्यादि

अत्रा सज्यात्वाविर्भाव एव न केवलं तात्पर्यं रसवैवश्यविवादहठ कटाक्षस्मारणमिदम् ॥१००॥

एतच्छ्रुत्वा वैदग्ध्यज्ञातगूढतत्त्वार्थस्वासज्यात्त्वस्वरूपजातस्मृतिरना-वृतापि लज्जावृता, तत्र प्रियस्यैव श्रीमत्यौदार्य्यानुग्रहेण विहारे मुख्यत्वं तदेव नाटकव्याजेन वर्णयति कृपापात्रसखीं प्रति लज्जेति—

रसकलश

यहाँ अंगों का विहार के अतिशय में व्यवहार करने पर भी संकोच से स्फुट न की जाती हुई भी सहृदयों द्वारा गम्य ही हैं। नासिका के अग्रभाग में मोती और वलय (चूड़ियों) के उपलक्षण से कण्ठाभरण रूप सौभाग्य का लक्षण भी आवश्यक जानना चाहिये। यहाँ अलंकार परमित हैं क्योंकि तरुलतापुंज में और प्रेम रस विहार के आवेश में भूषण भी दूषण ही हैं। जैसा कि जयदेव ने भी कहा है—गाढ़ आलिंगन में पुलकांकुर से, क्रीडा के साभिप्राय विलोकन (कटाक्ष निरीक्षण) में निमेष से, अधरपान में रहस्यालाप से, सुरत-समर (सुरतयुद्ध) में आनन्द मानने से भी जहाँ विघ्न हुआ। श्री राधा कृष्ण युगल सरकार को प्रिय लगने वाला ऐसा सुरतारम्भ वहाँ पर हुआ। इत्यादि। यहाँ पर आसज्यात्व (प्रीति विषयता) के आविर्भाव में ही तात्पर्य नहीं है, रस की विवशता से विवाद, हठ और कटाक्ष का स्मरण करने के लिये भी यह पद्य कहा गया है। १००।

यह सुनकर प्रियाजी विदग्धता (चतुरता) के कारण गूढ तात्पर्य को जान गई और अपने आसज्या (प्रीति विषया) होने की स्वरूप की उनको स्मृति हो आई वे वस्त्रादि से आच्छादित न होती हुई भी लज्जा से आच्छादित हुई. वहाँ श्रीराधिका जी की उदारता वश अनुग्रह से ही प्रिय का ही विहारों में मुख्य होना उसी को नाटक के बहाने कृपा पात्र सखी के प्रति वर्णन करते हैं—

लज्जान्तःपटमारचय्य रचितस्मायप्रसनाञ्जलौ,
राधाङ्गे नवरङ्गधाम्नि ललितप्रस्तावने यौवने ॥
श्रोणीहेमवरासने स्मरनृपेणाध्यासिते मोहने
लीलापाङ्गविचित्रताण्डवकलापाण्डित्यमुन्मीलति
॥१०१॥

अत्रेयं प्रक्रिया नाटकार्थं रंगभूमिरचनम् । यत्र ससदस्यनृपस्थितिस्तत्र सभायां सूत्रधार आगत्य प्रस्तावनां चिकीर्षुस्तावन्नान्दीं करोति, ततः प्रस्तावना, ततो जवनिकापटान्निष्क्रम्य सदसि प्रविश्य प्रस्तुतो नटो नटी वा प्रस्तावसदृशमभिनयति । तत्र यावन्नाटकाङ्गानि नायकनायिकारसेतिवृत्तप्रस्तावनासम्बन्धसन्धिसन्ध्यङ्गसन्ध्यन्तरभूषणपताकास्थानार्थोपक्षेपभाषाविधानकाव्यसद्गुणादीनि प्रत्येकं यावदनेकलक्षणप्रकारसहितानि महानाटकलक्षणे प्रसिद्धानि, तानि तत्र यथावसरं प्रकाशयति ।

तद्वदत्र श्रीमत्यङ्गं नवरङ्गधाम, यौवनं सूत्रधारः, लालित्यं प्रस्तावना, लज्जान्तःपटं, स्मितं पुष्पाञ्जलीं, श्रोणी नृपसिंहासनम्, लीला नटी,

रसकलश

'लज्जा का ही अन्तः पट (पर्दा) करके जिसने मुस्कानरूपी पुष्पाञ्जलि की रचना की है। नवरंगों के धामभूत राधा के ऐसे श्रीअंगों में ललित प्रस्तावना वाले यौवन में श्रोणीरूप स्वर्णमय सिंहासन के कामदेव रूपी राजा द्वारा आध्यासित होने पर मोहन को भी मोहित कर देने वाला, लीलासहित अपांगों के विचित्रताण्डव की कला का पाण्डित्य उन्मीलित हो रहा है। १०१

यहाँ पर प्रक्रिया है कि नाटक के लिये रंगभूमि की रचना की गई जहाँ सदस्यगणों सहित राजा उपस्थित हैं उस सभा में सूत्रधार आकर प्रस्तावना करना चाहता है। पहले नान्दी पाठ करता है तब प्रस्तावना। तब पर्दे की ओर से निकल कर सभा सभा में प्रवेश करके प्रस्तुत नट वा नटी प्रस्ताव के अनुसार ही अभिनय करते हैं, उनमें जितने नाट्यांग हैं, नायक और नायिका हैं, रस और इतिवृत्त हैं, प्रस्तावना, सम्वन्ध, सन्धियाँ सन्ध्यङ्ग, सन्ध्यन्तर, भूषण पताका स्थानक, अर्थोपक्षेपक और भाषा विधान हैं तथा काव्य के सद्गुण आदि हैं इनमें से प्रत्येक अनेक लक्षणों वाले प्रकारों के सहित हैं जो महानाटक के लक्षण में प्रसिद्ध हैं, वे सबको यथा समय वहाँ प्रकाशित रहते हैं।

इसी प्रकार यहाँ पर श्रीमती राधा के श्रीअंग नवरंग धाम या नवीन रंगभूमि है, यौवन सूत्रधार है, ललितता प्रस्तावना है, लज्जा अन्तःपट या पर्दा है, स्मित या मुस्कान पुष्पाञ्जलि है, श्रोणी या नितम्बभाग राजसिंहासन है,

अपाङ्गो नटः, ताण्डववैचित्र्यं कटाक्षभेदाः, कला पाण्डित्यम्, उक्तनाटकाङ्ग-प्रत्यङ्गप्रकारभेदोद्दीपनं यथा यथा सूत्रधारः प्रस्तावयेत्तथातथैव स्वकौशलं स्वान्तानुसारेण लीलापाङ्गे एव कुरुत, इति तत्र विदूषको हास्यकर्त्ता कश्चिदाकूतरूपः सहर्षो नर्म्म प्रोच्य निष्क्राम्यति, तदापाङ्गयोः स्मितं, तेनान्यसामाजिककपोलमुखादिष्वपि स्मितं ज्ञायते। अत्र शृङ्गारप्रस्तावनायां लीलानट्या एव प्राधान्येन प्रयोक्तृत्वं, तेन नटस्तदनुगत एव नटति।

तत्र यदा सवैदग्ध्यः कटाक्षस्तदा संस्कृतं यदा सालस्य-मौग्ध्यस्तदा प्राकृतं तदेतद् दृश्यमेव काव्यं नाटकम्। किञ्च प्रियस्तादृशविदग्धशिरोमणिरेव सर्वभाषाविज्जानाति, तस्यैव दृश्याः कटाक्षभेदाः। किं वा तादृक्सहृदयसखीनामेवेति। अन्यच्छ्रव्यं काव्यमिति, यथा च सवैदग्ध्यसभायां लोचनकवयो वदन्ति, पृच्छन्ति इतरे रसनाकवयः, स्वरवर्णैरेव जानन्ति। तदेव दर्शयति—'स्वं रूपमाविष्कुर्विवति'। अत्र प्रार्थनायां कृतायां तदेवाविष्क्रियमाणमेव ज्ञेयम्।

रसकलश

लीला नटी है, अपाङ्ग नट हैं, कटाक्ष भेद ताण्डव की विचित्रता हैं और कला पाण्डित्य है नाटक के अंग प्रत्यङ्ग के प्रकारों के भेद का उद्दीपन। जैसे-जसे सूत्रधार प्रस्तुत करता है। वैसे वैसे अपना कौशल मन के अनुसार लीला और अपाङ्ग ही प्रकट करते हैं। वहाँ पर विदूषक या हास्य प्रस्तुत करने वाला कोई विशेर प्रकार का आकूत या इङ्गित है, जो उपर्युक्त है तथा परिहास के वचन बोल कर निकल जाता है। तब अपांगों या नेत्र प्रान्तों में स्मित होता है और उससे अन्य सामाजिकों-कपोल मुख आदियों—में भी वह स्मित जाना जाता है। यहाँ शृङ्गार रस की प्रस्तावना में लीला रूपी नटी ही प्रधान रूप से प्रयोजिका है इसी से नट उसका अनुगामी होकर नाटक करता है। यहाँ जब कटाक्ष विदग्धता या चतुरता के सहित होता है तब संस्कृत भाषा बोली जाती है। जब कटाक्ष में आलस्य और भोलापन होता है तब प्राकृत बोली जाती है ऐसा समझना चाहिए। वही दृश्य काव्य या नाटक है। वैसे विदग्धों में या चतुरों में शिरोमणि प्रियतम ही समस्त भाषाओं को जानने वाले ही इस काव्य या नाटक को जानते हैं। उन्हीं के लिये यह सब कटाक्ष भेद दृश्य या दर्शनीय हैं। अथवा वैसी हृदय सखियों के लिये ही यह सब दृश्य है। दूसरा श्रव्य काव्य जिसे कि विदग्धता युक्त सखी जन की सभा में नेत्र कवि कहते या पूछते हैं दूसरे रसना कवि हैं जो स्वर वर्णों से सब रहस्यों को जान लेते हैं।

यही दिखाते हैं कि अपना रूप प्रकट करें ऐसी प्रार्थना करने पर वही रूप प्रकट किया जा रहा है ऐसा जानना चाहिये। तब यौवनरूपी सूत्रधार ने प्रस्तावना के

तदा यौवनसूत्रधारेण प्रस्तावनादौ नान्दी कृता वस्तुनिर्देशात्मिका । तत्र नाटके चोक्तम्, चन्द्रनामाङ्कितप्राया मङ्गलार्थपदोज्ज्वला । मङ्गलं तत्र कमल-चकोरकुमुदादिकमिति, तेन चन्द्रानने खेलत्खञ्जनगञ्जनाक्षीति मङ्गलं खञ्जनशकुनं तत्र भाविविलासप्रस्तावना यौवनेन कृता, तत्र सामाजिकाः सर्वाङ्गाण्यपि तत्सूत्रितान्येव । नटो यं यं रसमभिनयति, तेन तेन तन्मया विगलितवेद्यान्तरा भवन्ति श्रोतृद्रष्टृजना इति । प्रसिद्धं तु यौवनागमे लज्जा-स्मितलालित्यविपुलजघनस्तनादित्वमोहनापाङ्गनर्त्तनादयो धर्मा अंजसैव श्रीमत्यंगेषु प्रवर्त्तिताः । कंदर्पाविर्भावश्चेत्येवेदानीं च प्रस्तुतविलासक्रमार्थमाह—लज्जाविर्भावेन मनसि कामितोद्दीपनेन स्मरनृपाध्यासनं सहृदयवेद्यमेव । तेन कोटिकंदर्पलावण्यप्रियासनासीनत्वमेव ज्ञेयम् । तत्रादौ लज्जा जाता, सैवान्तः पटं, तस्मिन् लीलापाङ्गौ वेशं रचयतः, अर्थान्नेत्रमुद्रणं, आसमन्ताद्रचयित्वेत्यनेन सर्वाङ्गीणलज्जाविर्भावः सहृदयगम्य एव तद्दृष्ट्वा हितालिर्वक्तीति ।

रसकलश

आरम्भ में नान्दी पाठ किया यह नान्दी वस्तुनिर्देशात्मक थी । नाटक में कहा है कि 'नान्दी चन्द्र नाम से अङ्कितप्राय और मङ्गलार्थक पदों से उज्ज्वला हो । इसमें मङ्गल वाचक कमल, चकोर, कुमुद आदि हो ।' इसीसे चन्द्रानने खेलत्खञ्जनाक्षि त्यादि श्लोक में मङ्गल हैं, खञ्जन यहां शकुन (शुभ सूचक पक्षि विशेष) है । इसमें विलास की प्रस्तावना यौवन ने की । यहाँ सामाजिक सभी अङ्ग हैं जो यौवन रूपी सूत्रधार द्वारा सूत्रित या बाँधे हुए हैं । नट जिस जिस रस का अभिनय करता है उसी उसी से ये सामाजिक तन्मय या उस रस से आविष्ट हो जाते हैं और सभी ज्ञेयपदार्थों का ज्ञान श्रोता और द्रष्टा खो बैठते हैं । यह प्रसिद्ध ही है । यौवन के आने पर लज्जा, स्मित, ललितता, जघन की विपुलता, स्तनों की पीनता आदि और मोहन को भी मोहित करने वाले अपांगनर्तन आदि धर्म अनायासही श्रीमती (राजधानी) के अङ्गों में सका मत प्रवर्तित हो गये तथा कन्दर्प का अविभाव भी हो गया । और इस समय प्रस्तुत विलास क्रम के लिये कहते हैं—लज्जा के अविभाव से मन में कामीपने का उद्दीपन होने से काम नामक राजा के द्वारा अध्यासित या आसनासी न होना सहृदयों के हृदय द्वारा जानने योग्य है ही । यहाँ कन्दर्प के अध्यासित होने का अर्थ कोटि कन्दर्पों के समान लावण्य वाले या प्रियतम का ही आसनासीन होना जानना चाहिये । यहाँ सब से पहले लज्जा हुई वही अन्तः पट या पर्दा हो गया उसमें लीलायुक्त अपाङ्ग वेश रचना करते हैं अर्थात् चारों ओर से नेत्र मुद्रण करके । इसके द्वारा सर्वाङ्गीण लज्जा का आविर्भाव हुआ यह बात सहृदयों द्वारा जानी जाती है । इसी को देखकर श्री हित सखी जो कहती हैं ।

ततो यौवनेन रतिप्रस्तावना कृता तद्वशेन बलादौत्सुक्येनोन्मीलनं, तदेव जवनिकोत्सारणं, न च लज्जयैव । तत्रान्तर्निहितौ किं न तिष्ठत इति वाच्यम्। एकं तु तद्दिदृक्षुनृपतिनिदेशभयमपरं स्वगुणनवशिक्षाकौशलनिदर्शनौत्सुक्यमपि बलं, तेन सूत्रधारेणोपाध्यायेन समाश्वास्य समुत्साह्य प्रस्तावनाललित्यमेवं कृतं येनान्तः पटे वेशविलम्बे स्थातुं न शक्नुत इति स्वयमेव समुत्सुकौ सदसि त्वरितं प्रविश्य स्मितपुष्पाञ्जलिमेव कुर्य्यातां न तु पूर्ववत् क्षोभमिति । यथोज्ज्वले 'विन्यासभंगिरङ्गानां भ्रूविलासमनोहरा । सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदोरितम्' नाटकचन्द्रिकायाम्, "अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य तीर्थं प्रस्तावनोच्यते ।" यथा पदं श्रोचतुरशीतौ, "खञ्जन मीन मृगज मद मेटत, कहा कहौं इन नयननि की बातैं ।" इति पूर्णं पठनीयम्, तदनुमोदकः स्थापकः सूत्रिपारिपार्श्वक इति । यथा हन्त भोः सत्यमात्थ एवमेव दृश्यते यथा पदं स्वामीजीकृतम् "प्यारी तेरी पुतरी काजर हू तें कारी, मानौ द्वै भँवर उड़े बराबरि । चम्पे की डार बैठे कुन्द अलि लागी है जेब अराअरि ।। जब आनि घेरत कटक काम कौ, तब जिय होत डराडरि । श्री हरिदास के स्वामी स्यामाकुन्जबिहारी, दोऊ मिलि लरत झरा-

रसकलश

तब यौवन ने रति प्रस्तावना की और उसके कारण उत्सुकता से बलात् नेत्रोन्मोलन किया गया वही जवनिका या पर्दे का हटाना हो गया लज्जा से ही नेकि वहाँ अन्तनिहित हुए लीला और अपाङ्ग क्यों नहीं ठहरते यह कहना चाहिये । एक तो उसको देखने के लिये इच्छुक राजा की आज्ञा का भय है और दूसरे वे अपने गुणों की नव शिक्षा के कौशल को दिखाने के लिये उत्सुक भी हैं । इससे सूत्रधार बने हुए उपाध्याय ने आश्वासन देकर और प्रोत्साहित करके ललितता रूपी प्रस्तावना की । अन्तः पट में वेश रचना के विलम्ब में भी वे नहीठ हर सकते । इस प्रकार स्वयं ही उत्सुक हुए सभा में शीघ्र प्रविष्ट होकर स्मित रूपी पुष्पाञ्जलि अर्पण करते हैं न कि पूर्ववत् क्षोभ प्रकट करते हैं । जैसा कि उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में—'भ्रूकुटि के विलास से मनोहर ऐसी अङ्गों की विलास भङ्गी जहां सुकुमार रूप में प्रस्तुत की गई हो उसे ललित कहते हैं ।' नाटक चन्द्रिका में भी लिखा है कि प्रति पाद्य अर्थ की अवतारणा प्रस्तावना कहलाती है । जैसा कि श्रीमच्चतुरासी जी का पद है—'खंजन मीन मृगजमद मेटत कहा कहौं इन नैननि की बातें ।' यहाँ यह पद पूरा पढ़ना चाहिये । उस (सूत्र धार) का अनुमोदन करने वाला स्थापक या सूत्रधार का पारिपार्श्विक कहलाता है । जैसा कि—अहो भाई, सत्य कहते हो ऐसा ही दीखता है । जैसा श्री हरिदास स्वामी जी का पद भी है । 'प्यारी तेरी पूतरी काजर हूते कारी । मानो द्वै भँवर उड़े बराबरि। चम्पे की डार बैठे कुन्द अलि लागी है जेव

झरि ।।१।। इति ।।

ततः प्रविशति नटी नटश्चेति लीला तु पूर्व्वं समौग्ध्याधुना कंदर्प्पानुगता । एवमेव नटस्तत्र परस्परभावाकूतैश्चित्रसम्भाषणं यथा—

"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्व्वते ।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्य्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
मुखबन्धः स विज्ञेयो भवेत्प्रस्तावना च सा" ।।

इत्यादिविशेषणान्वितं लालित्यं तत्र पञ्चोक्तयः, स्वगतं, प्रकाशं, जनान्तिकम् अपवारितम्, आकाशभाषणञ्चेति—

यत्तु श्राव्यं न सर्वस्य स्वगतं तदिहोच्यते ।
सर्वग्राह्यं प्रकाशः स्यात् सर्वत्र स्फुटतैव हि ।।
अन्योन्यमन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्तिकमुच्यते ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ।
नाटकेषु मनोरम्यं तद्भवेदपवारितम् ।।
परोक्षाचरितं वाक्यं तदाकाशं निगद्यते ।। इति भरतः ।

रसकलश

झराझरि । जब आनि घेरत कटक काम कौ तब जिय होत डराडरि । 'श्री हरिदास स्वामी स्यामा कुंज बिहारी दोऊ मिलि लरत झराझरि । इति । उसके बाद नटी और नट प्रवेश करते हैं । लीला तो पहले मुग्धता या भोलेपन के साथ थी, अब काम से अनुगत ही है । ऐसे ही नट भी काम से अनुगत है । यहाँ पर एक दूसरे के प्रति भाव भरे इङ्गितों द्वारा विचित्र वार्तालाप होता है । जैसा कि कहा भी है—नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक सूत्र धार के साथ जहाँ वार्तालाप करते हैं । अपने कार्य के लिये उपकारक और प्रस्तुत वस्तु का आक्षेप करने वाले विचित्र वाक्यों से यहाँ वार्तालाप किया जाता है इसे मुख बन्ध जानना चाहिये । इसे प्रस्तावना भी कहा गया है । इत्यादि विशेषणों से युक्त लालित्य ही यहां प्रस्तावना है । प्रस्तावना में पाँच प्रकार की उक्तियाँ होती हैं—स्वगत, प्रकाश, अनान्तिक, अपवारित और आकाश भाषित । जो सबके सुनने योग्य नहीं होता उसे स्वगत कहते हैं । सबके लिये ग्राह्य वस्तु को प्रकाश कहते हैं इसमें सर्वत्र स्पष्टता ही होती है । जहाँ दो जने आपस में मन्त्रणा करते हैं उसे जनान्तिक कहते हैं । जो रहस्य वस्तु किसी अन्य व्यक्ति की ओर से मुँह फेर कर कही जाती है नाटकों में सुन्दर लगने वाले ऐसे वार्तालाप को अपवारित कहते हैं । जहाँ पर वाक्य किसी अप्रकट व्यक्ति के कथन से सम्बद्ध होते हैं । वहाँ आकाश भाषित होता है । ऐसा भरतमुनि ने अपने

तदेवं स्वगतं प्रियामनोगम्यमेव परादिषु मध्यमावाणीवत् । यदा कटाक्षेषु बहिरिङ्गितप्रकाशस्तदा प्रकाशोक्तिः वैखरीवत् । कटाक्षेषु परस्पर-मन्त्रणं तदा जनान्तिकोक्तिः । कनीनिकां परावृत्य पृष्ठेन संज्ञया रहस्य-प्रकाशनमपवारितोक्तिः । केनचिद् व्याजेनान्यदिग्दर्शनेन प्रच्छाद्यान्यार्थकथनं तस्मिन् व्यनक्ति स्वगतमेवेति परोक्षेणाकाशोक्तिरित्यादिबहुसूक्ष्मदृशावधे-यम् । तत्र स्ववर्ज्जनमनन्यकटाक्षो याति प्रियदिशि तदा क्षोभेन नासासंकोचानुभावेन तस्मिन्नेव संक्षुभ्यान्यकटाक्षेणाधिक्षिपति तदा हण्डे हञ्जे हला इत्यधमोक्तिरिति ज्ञेया । तदैव विदूषकोक्तिबलं कथं प्रथमत एव पुष्पाञ्जलिः कृता । हन्त ! नर्त्तनोद्यतेऽपि व्रीडावगुण्ठनम् । तच्छ्रुत्वा कटाक्ष एव हसनमिति ततः स्मरबलं ततः क्षोभस्ततः शीत्कारा-दिस्तदा प्रियदृष्टौ भयं दैन्यं विनयस्ततोऽनुग्रहेण सारल्यशीघ्रत्वं नेत्रपरावृत्ति-

रसकलश

नाट्यशास्त्र में कहा है। इस प्रकार स्वगत प्रिया जी के ही मन में विराजमान है। जैसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार वाणियों में से मध्यमा वाणी केवल वक्ता के ही मन से जानी जाती है। जब कटाक्षों में बाहर के इशारे का सा प्रकाश है। उसे 'प्रकाश' कहा जायेगा। जैसे उक्त चार प्रकार की वाणियों में से वैखरी। कटाक्षों कटाक्षों में ही एक दूसरे को आमन्त्रण दे दिया जाए तो यहां यह 'जनान्तिक' कहलाता है। कनीनिका को घुमाकर पीछे की ओर इशारा या संकेत करके रहस्य का प्रकाश करना 'अपवारित' कहलाता है। किसी बहाने से दूसरी दिशा की ओर देखते हुए छिपा कर कोई बात कहते हैं। इसमें जितना प्रकट कहते हैं उतना तो स्वगत ही होता है और जो अप्रकट या परोक्ष रूप में कहा जाता है उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं। इत्यादि बहुत-सी बातें हैं जो सूक्ष्मदृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं। जहां अपने लिये वर्जना करते हुए केवल प्रियतम की ओर कटाक्ष जाता है तब क्षोभ से नासिका संकोच के अनु-भाव (चेष्टाविशेष) से उन पर ही क्षुब्ध होकर दूसरे कटाक्ष से उनका अधिक्षेप (निवारण किया) जाता है। तब हडे, हञ्जे, हला' इत्यादि नीचा, दासी और सखी के प्रति प्रयुक्त होने वाले सम्बोधन वाचक शब्दों में से 'हञ्जे और हला' सुनाई दिये क्योंकि यहाँ नीचा या अधमा कोई नहीं है। उसी समय विदूषक की उक्ति का बल प्रकट हुआ— पहले ही मुस्कान द्वारा पुष्पाञ्जलि क्यों की, अहो आश्चर्य है नृत्य के लिये उद्यत होने पर लज्जा का घूंघट कैसा ? यह सुनकर कटाक्ष में ही हास हुआ। तब काम का बल प्रकट हुआ जिससे क्षोभ हुआ और क्षोभ से शीत्कार आदि हुए। तब प्रिय की दृष्टि में भय, दीनता, विनय दिखाई दिये। फिर उन पर अनुग्रह से सरलता उदय हुई और शीघ्रता

रिति केकराक्षादीन्यनेकभेदानि रसग्रन्थोदाहृतानि विस्तरभिया न लिखिता-नीति । यथा च नेत्रस्मिताद्धर्मुद्रत्वे, नेत्रान्तभ्रमकूरणने । सा चीक्षा, वाम-दृक्प्रेक्षा, कटाक्षाद्यास्तु चाक्षुषाः ।।" इति ।

एवं राधाङ्गे नवरङ्गधाम्नि श्रोणीहेमवरासने स्मरनृपेणाध्यासिते सति, यौवने ललितप्रस्तावने च, रचितो रचनां कारितः स्मायमेव प्रसूनाञ्जलि-र्येनेति णिजर्थः । तादृशे च सति लज्जान्तःपटमारचय्य लीलापाङ्गविचित्र-ताण्डवकलापाण्डित्यमुन्मीलतीत्यत्र राजकीयनाट्याधिकृतपरम्परागतत्वा-त्स्वयमेवोन्मीलति न त्वागन्तुकवत्, यथा नरदेवमिवानुगा इति ।

अतो निदेशापेक्षापि नास्तीति पाण्डित्यस्यैव कर्तृत्वादनायासभावोदयो-क्तिरिति । ताण्डवमत्र नटकर्तृकं, लास्यं नटीकर्तृकं, क्रमेण शिवगौरी-प्रवर्त्तितत्वाद्यथार्हमेव योग्यं, यदा शीघ्रतया कूर्दनवद्गतिमतिक्रम्य दूरं

रसकलश

की जाने लगी, नेत्रों में परिवर्तन आया, इस समय की दृष्टि के केकरा, आकेकरा आदि अनेक भेद रस ग्रन्थों में कहे गये हैं जो विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिये गये। जैसा कि—नेत्र मुस्कान से आधे मुँदे हुए हों और नेत्रों के प्रान्तों-अपाङ्गों-में भ्रमणपूर्वक बांकापन हो। ऐसा बाईं दृष्टि से देखा जाना 'साचीक्षा' कहलाता है। इसी प्रकार प्रेक्षा कटाक्ष आदि नेत्रों के अनेक व्यापार हैं।

इस प्रकार नवीन रङ्गभूमि श्रीराधा जी के श्रीअङ्ग में श्रोणीरूपी स्वर्ण सिंहासन पर काम नामक राजा के अधिष्ठित हो जाने पर ललित प्रस्तावना वाले यौवन में मुस्कान रूपी पुष्पाञ्जलि रची गई है । यहाँ पर 'रचित' में रची गई की अपेक्षा रचना कराई गई ऐसा प्रेरणात्मक अर्थ करना चाहिये। और ऐसा होने पर लज्जारूपी पर्दा करके लीलायुक्त अपांगों या कटाक्षों का विचित्रताण्डव कला में पाण्डित्य उन्मीलित या प्रकट हो जाता है। यहाँ पर राजकीय नाटकों में अधिकृत परम्परा के अनुसार स्वयमेव यह पाण्डित्य प्रकट हो जाता है न कि आगन्तुक की भाँति प्रयत्न से प्रकट किया जाता है। जैसे राजा के पीछे सेवक स्वतः चलते हैं। अतः यहाँ निदेशन या निर्देशन की भी अपेक्षा या आवश्यकता नहीं है। पाण्डित्य ही यहाँ पर कर्ता है अतः अनायास ही भावोदय होना कहा गया है। ताण्डव नट के द्वारा किया जाता है और लास्य नटी के द्वारा क्रमशः यह दोनों शिव और पार्वती द्वारा प्रवर्तित हुए हैं, इसलिये जिसे जैसा योग्य है उसका वैसा ही वर्णन करना चाहिये। जब शीघ्रता से कूदने के जैसी गति का अतिक्रमण करके दूर जाकर झुक जाए फिर वहीं मध्यभूमि का

गत्वा पतेत्पुनस्तत्रैव मध्यदेशमतिक्रम्यापतेत्तत्ताण्डवमत्र । झटिति कटाक्षेण हृत्वा परावर्त्तनं लास्यं धैर्य्येण लाघवेन गमनं प्रलोभनं, तद्द्वयोरेवैकत्वमेव, यथात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्त इतिवत्सदैवापाङ्गलीलयोरेकत्र स्थितिरेव । एवं तत्कृतपाण्डित्यफलं प्रियमोहनमेव, ततः स्मरविलासप्राबल्यं, इत्यनुक्तोऽपि व्यञ्जितः । अत्र कामप्रेमरसवैवश्यचतुष्टयाङ्गेषु प्रथमाङ्गमुपवर्णितम् ।।१०१।।

अथ प्रेमावस्थामाख्यातुं सर्वमुक्तमुपसंहरन्तो श्रोतृसखीजनानाशिषाभिनन्दयति—

सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपञ्च तन्मोहनम्,
तत्तत्केलिकलाविलासलहरीचातुर्य्यमाश्चर्य्यभूः ।
नो किञ्चित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वासंभ्रमो,
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः
।।१०२।।

रसकलश

अतिक्रमण करके आ पहुँचे वह ताण्डव कहलाता है। इसमें शीघ्र ही कटाक्ष द्वारा ताडना करके लौटा दिया जाता है। लास्य में धैर्य के साथ कुछ शीघ्रता के साथ जाया जाता है और एक लोभ-सा उत्पन्न कर दिया जाता है। इस प्रकार ताण्डव और लास्य दोनों में एकता ही है। जैसा कि 'यथात्मनोर्ध्वं पत्न्यास्ते' अपने से ऊपर पत्नी का स्थान है, इत्यादि में कहा गया है। ऐसे ही अपाङ्ग और लीला की भी सदा ही एक स्थान पर स्थिति देखी गई है। इस प्रकार उन लीला और अपाङ्ग के द्वारा किये गये पाण्डित्य का फल प्रिय को मोहित करना ही है। इसके बाद कामविलासों की प्रबलता हुई ऐसा यहाँ नहीं कहा गया तो भी प्रतीत होता है। यहाँ पर काम, प्रेम, रस और वैवश्य इन चारों अङ्गों में से प्रथम काम का ही मुख्यतया वर्णन किया गया है।१०१।

अब प्रेम की अवस्था का वर्णन करने के लिये सभी कही गई बातों का उपसंहार करती हुई श्रीहित सखी जी श्रोतारूप में स्थित सखीजन का आशीर्वाद द्वारा अभिनन्दन करती हैं—

श्रीराधा और माधव के लावण्य का चमत्कार, वह नवीन यौवन, वह मोहन को भी मोहित करने वाला रूप, वह आश्चर्य का आश्रय केलि कलाओं के विलास की लहरियों की चतुरता। जिसमें कुछ भी नहीं किया गया जहाँ न स्तुति है न अपराध है, न सम्भ्रम या घबराहट है। श्रीराधा और श्री माधव का ऐसा कोई अनिर्वचनीय स्वाभाविक प्रेमोत्सव आप सबकी रक्षा करे।१०२।'

राधामाधवयोः सा लावण्यचमत्कृतिर्वो युष्मान् पातु, एवं नववयोरूपादि पात्विति सम्बन्धः । सेत्यनिर्वचनोया मद्दृष्टिरेव साक्षिणी न वचसा वक्तुं शक्या । यथा 'नेत्रयोर्नहि वागस्ति, तथा वाचि न लोचनम्' इति न्यायात् । यद्वा पूर्व्वोक्ता गात्रे कोटितडिच्छवीति । लावण्यं नैर्मल्यं यथा मुक्ताफले जलं, मुकुरादावपि च प्रतिबिम्बोद्भवहेतुत्वमिति चमत्कृतिः । किरणोद्भवत्वं छविरेवातो नैर्मल्यचाकचिक्ययोरेकत्रैवाभिधानं नैर्मल्यं, यथा वक्ष्यति—

"नीलेन्दीवरवृन्दकान्तिलहरीचौरं किशोरद्वयम्,
त्वय्येत्कुचयोश्चकास्ति किमिदं रूपेण सम्मोहनम्" इति ।

यथा च पदम्, "वे वाके वे वाके प्रतिबिम्ब में शृङ्गार बनावत" इति । पालनं नेत्रभोगानन्दप्रदानम् । नववयो, यथा लज्जान्तःपटमारचय्येति प्रसिद्धार्थरीतिकं, यत्र सदैव वयसो नूतनत्वम्, अन्यत्र तदाभासत्वं ज्ञेयम् । नवत्वस्य कौमा-

रसकलश

श्री राधा और श्री माधव युगल सरकार का वह लावण्य चमत्कार आप लोगों की रक्षा करे । ऐसे ही नवीन यौवन और मोहन रूप आदि भी रक्षा करें यह अन्वय है । 'सा' या 'वह' कहने का तात्पर्य है कि वह लावण्य चमत्कार अनिर्वचनीय है, मेरी दृष्टि ही उसकी साक्षी है । वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता—'नेत्रों के पास वाणी नहीं है तथा वाणी के पास नेत्र नहीं है । अनयन गिरा, नयन बिनु बानी ।' इस न्याय के अनुसार उसकी अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है । अथवा पहले जैसा कहा गया है कि श्री विग्रह में कोटि कोटि विद्युतों की सी छवि है । लावण्य नाम निर्मलता का है । मोती में पानी सा दिखता है और दर्पण आदि में परछाईं प्रकट होने का जो कारण होता है वह लावण्य कहलाता है । उस लावण्य की चमत्कृति चमत्कार अर्थात् किरणें निकलना, यह छवि ही निर्मलता और जगमगाहट दोनों का सम्मिलित नाम लावण्य या नैर्मल्य है । जैसा कि कहेंगे—'नील कमल समूह की कान्तिलहरियों को चुरा लेने वाला, और अपने रूप से मुझे मोहित करने वाला क्या तुम्हारे पास कुचकलशों के रूप में वह किशोरी और किशोर का युगल विराज मान है ।' और जैसा कि पद भी है—वे वाके वे वाके प्रति बिम्ब में सिंगार बनावता' इत्यादि । यहाँ पालन करने या रक्षा करने का तात्पर्य है कि नेत्रों को भोगानन्द प्रदान करें ।

'नवीन यौवन' जैसा कि लज्जान्तः पट मार चय्या इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों प्रसिद्ध अर्थ के प्रकार का वर्णित है जहाँ सदाही वयस् या किशोरावस्था में नवीनता बनी रहती है । अन्यत्र उसका आभास होना । जानना चाहिये । यह नवीनता कुमारादि

रादिष्वतिव्याप्तिर्न शङ्कनीया, प्रस्तुते वयः कैशोरकं ध्येयमिति । सन्तं वयसि कैशोर इति वक्तुः शृङ्गारार्हवयोविवक्षितेष्टत्वात्तत्रापि वैदग्ध्यप्रतिपादितत्वात् । श्यामेति यौवनेति पदप्रयोगात् षोडशाब्दिकमेव ग्राह्यम्, रसिकभावुकसम्मतत्वात् । यथा लौकिकदृष्टान्ते सद्यो नवनीतं तद्वत्तादृशमेव सदा स्वाद्यं तिष्ठदिति यत्र रुचेः सदातिशयनूतनत्वम् । अत्रापि तच्छब्दप्रयोगोऽचिन्त्यशक्त्यर्थक एव । एवं सर्वत्र ज्ञेयं हितानुभवसाक्षिकमिति । यथा—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतेर्यत् परं तत्त्वं तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।। इति

तद्रूपं चेति अङ्गाकृतिसौष्ठवं यथा मुक्तापंक्तिप्रतिमदशनेति स्निग्धाकुञ्चितनीलकेशीति मोहनमिति यस्याः कटाक्षशरपातविमूर्च्छितस्येति यथा च भोः श्रीदामन्निति गता दूरे गाव इति मोहानुभावः । यथा च स्वस्यापि विस्मापकत्वे पदं सूरदासमदनमोहनस्य—श्यामा जू अपनौं रूप देखि देखि दर्पण दूरि करि न सकत, प्रतिबिम्ब कैं पाइन परत, इति तत्तदिति ताः

रसकलश

अवस्थाओं में भी अतिव्याप्त हो जायेगी यह शङ्का नहीं करनी चाहिये । यहां प्रचर वयस् शब्द से किशोरावस्था ही लेनी चाहिये क्योंकि 'सन्तं वयसि कैशोरे' किशोरावस्था में नित्य विद्यमान' इत्यादि कहने वाले महात्मा को श्रृङ्गार के योग्य ही अवस्था कहना अभीष्ट है । उसमें भी वैदग्ध्य या चातुर्य का प्रतिपादन होने के कारण तथा श्यामा श्याम और यौवन आदि पदों के प्रयोग के कारण सोलह वर्ष की अवस्था के ही लेने चाहिये ऐसी सभी रसिकभावुकजनों की सम्मति है । जैसे लौकिक दृष्टान्त में 'ताजा माखन' कहा जाता है वैसे ही सदा अस्वाद लेने योग्य रूप में रहता हुआ 'युगल' जानना चाहिये । जिस युगल के दर्शन में रुचि सदा ही अत्यन्त नवीन बनी रहती है । यहाँ पर भी 'तत्' शब्द का प्रयोग अचिन्त्यशक्ति रूप अर्थ को बताने वाला है । ऐसा ही सभी विशेष्यों में जानना चाहिये । श्री हित सखी का अनुभव ही इन सब में साक्षी है । जैसा कि कहा भी है कि जो भाव अचिन्त्य है यही अचिन्त्य का लक्षण है ।

'वह रूप' अङ्गों की आकृति में सुष्ठता, जैसा 'मुक्ता पङ्क्ति प्रतिमदशना' इत्दादि, और स्निग्धा कुञ्जितनील केशि' इत्यादि श्लोकों में वर्णित हैं । वह रूप मोहन है, रूप की मोहनता, 'यस्याः कटाक्ष शर घात विमूर्छितस्य,' इत्यादि 'भोः श्री दामन्, सुबल ! इत्यादि श्लोक और 'गता दूरे गावों' इत्यादि श्लोक में मोह के अनुभाव द्वारा वर्णित है । और जैसा कि इस रूप का अपने आपको भी विस्मित कर देने का वर्णन सूरदा. मदन मोहन के पद—"श्यामा जू अपनो रूप देखि देखि दर्पन दूरि करि न सकत, प्रतिबिम्ब मैं पाइन परत" में वर्णित है । 'तत्तत्केलिकलाविलास' इस शब्द में तत्तत् शब्द से केलियाँ,

केलयस्ताः कलास्ते विलासास्ता लहर्यस्तच्चातुर्यमिति । अथवा केलयो बहुविधास्तास्वप्येकस्यां कला बह्व्यस्तासामप्येकस्यां कलायां विलासबाहुल्यं यथा गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् । तात्कालिकं तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गजम् तेष्वप्येकस्मिन्ननन्ता लहर्यस्तास्वपि प्रत्येकमनन्तचातुर्यम् । इति तत्तच्चातुर्यम् आश्चर्यभूमिरेवेत्यजहल्लिङ्गम् आश्चर्यं किमुच्यते तदाकरमेव नवनवोत्पत्तिस्थानं यथोदाहरणं एकस्यां वनविहारकेलावऽनुकृतिकलायां यथा शतके—

भृङ्गीगुङ्गुमितं पिकाकुलकुहूरावं नटत्केकिना-
ङ्केकास्ताण्डवितानि चातिललितां कादम्बयूनोर्गतिम् ।
आश्लेषं नववल्लरीक्षितिरुहां त्रस्यत्कुरङ्गेक्षितं
श्रीवृन्दाविपिनेऽनुकुर्वदनुयाह्यात्मैकबन्धुद्वयम् ।। इति

अस्यामपि कलायां विलासः अनुकरणानुभावेषु कस्मिंश्चिद्धास्योदयः कस्मिंश्चिद्रत्युदयः तरुवल्ल्यनुकरण आश्लेषो यथेति आलिङ्गनेष्वनेककलहरीभेदेषु चातुर्यं तादात्विकदर्शनीयमेव यस्मिन् सखीहृदयेषु चित्रमेव

रसकलस

वे कलाएँ वे विलास, वे लहरें और वह चातुर्य समझना चाहिये । अथवा केलियाँ ही अनेक प्रकार की हैं । उनमें भी एक केलि की अनेक कलाएँ हैं उनमें भी एक कला में अनेक विलास हैं । जैसे जाना, ठहरना, बैठना आदि, मुख तथा नेत्र आदि के कर्म इनमें तात्कालिक विशेषता का नाम विलास है जो प्रियतम के सङ्ग से उत्पन्न हुई हो । उनमें भी एक एक विलास में अनेक अनेक लहरें उन लहरों में भी प्रत्येक में अनन्त प्रकार का चातुर्य, फिर वह वह चातुर्य भी आश्चर्य की भूमि ही है यहाँ अजह स्वार्थी लक्षणा है । उस आश्चर्य का यहाँ क्या कहना यह तो आश्चर्य के आकार या भण्डार ही हैं, नवीन नवीन उत्पत्ति स्थान ही हैं । जैसा कि उदाहरण में दिया जाता है । f सी वनविहार क्रीड़ा में अनुकरण की कला का वर्णन जहाँ जसा कि शतक में किया गया है ।

(भौंरी की गुनगुन, कोकिल की कुहू कुहू ध्वनि, मयूरों के केका रव और नृत्य युवक हंस युगल की गति, नई लताओं और वृक्षों का आलिङ्गन, डरते हुये हरिणों का देखना इन सभी का श्री वृन्दावन में अनुकरण करते हुए अपने अनन्यबन्धु युगल का अनुगनन करो । इस काल में भी विलास, अनुकरण के अनुभाव जिनमें किसी में हास्य का उदय होता है किसी किसी रति या प्रीति कांक्षा जैसे तरुलता के अनुकरण में अलिङ्गन का, अलिङ्गनों में भी अनेक लहरी भेदों में चातुर्य तो उस समय ही देखने योग्य है । जिसमें सखी जनों के हृदय में तो आश्चर्य ही स्फुरित होता है अनेक बहानों से स्वार्थ का पोषण करना जैसे जल क्रीड़ा में—

स्फुरेत् अनेकव्याजेन स्वार्थपोषणं यथा च जलकेलौ—

सिञ्चन्नुच्चैः स्वयं श्रीव्रजनृपतिसुतो वल्लभां स्वप्रियाली-
वृन्दैः सम्भूय तत्सेचनभरमसहं मन्यमानः स मग्नः ।
स्फीतश्रोण्यूरुजंघाचरणयुगपरामर्शलब्धातिहर्षः
कालिन्द्यामिन्दुकोटिच्छविबहुहसितो दूर उन्मज्य रेजे ॥
राधाकृष्णावतिरतिरसौत्सुक्यमग्नौ सहैव,
कालिन्द्या व्याकृतनिजजले देश आस्तीर्णपद्मे ॥
दीर्घं कालं सुरतसमरावेशतस्तौ यदास्तां,
चक्रुः प्राणद्वयविचयनं कातरास्तर्हि सख्यः ॥
तत्रैव सखीप्राप्तिशङ्कायां चातुर्यम्—
मिथः कमलकैरवाद्युदितहासमंगे क्षिपन्
मुखे दृशि च मुद्रणायुजिकृताम्बुगण्डूषकम् ॥
समुक्ष्यजित काशि तत् क्वचन मग्नमुत्थापय-
द्द्वयन्तरणिजाम्भसि स्फुरति गौरनीलं महः ॥

इत्यादिवदूह्यम् यथा च शय्यायां रतिकेलिष्वनन्ताः केलयो वात्स्यायना-

रसकलश

'श्री व्रजराज नन्दन प्रिय सखी वृन्द के साथ मिलकर श्री प्रिया जी को अत्यन्त सींचते हुए उनके अधिकाधिक सींचने को। न सहते हुए जल में गोता लगा गये और वहाँ उज्जवल श्रेणी, अरु, जंघा, चरण तुगल छूने से परम हर्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार कालिन्दी श्री यमुना में कोटि कोटि चन्द्रों की क्रान्ति से बहुत हँस गये वे दूर जाकर जल से निकल कर सुशोभित हुए।

श्री राधा और श्री कृष्ण युगल सरकार रतिरस के लिये अत्यन्त उत्सुकता में मग्न हुए एक साथ कालिन्दी के ऐसे प्रदेश में पहुँचे जहाँ से जल तो हट गया था किन्तु कमल के पुष्प अभी फैले हुए थे। वहाँ बहुत देर तक सुरत समर के आवेश से वे दोनों आसीन रहे। तब अपने दोनों प्राणों को ढूढने में सभी सखीजन घबरा गए थे। वही सखीजन के आने की शङ्का में चतुराई की कि आपस में कमल और कैरव आदि में उत्पन्न हुए हास को तो अंगों में धारण कर लिया, मुख और दृष्टि में मुद्रणा (मौन और निमीलन) धारण किया, जल के गंडूष जो सुख में लिये थे उन्हें बाहर छोड़कर, कहीं मग्न हुए युगल के ऊपर उठकर दोनों गौर और नील तेज यमुना के जल में स्फुरित होते हैं। इत्यादि के समान ऊह कर लेना चाहिये जैसा कि शय्या में रति केलियों में अनन्त केलियां जो वात्स्यायन आदि द्वारा कही गई हैं उनके विलास भोगास्पद रूप में, न कि

युक्तास्तासां विलासा भोगास्पदता ननु केवलं विद्यागुणमात्रमेव तेष्वपि लहर्य उत्तरोत्तरानवधिपरम्परास्तास्वपि चातुर्यं सौष्ठवं वा स्वकामितां प्रच्छाद्य सा प्रिया तस्मिन्नेव प्रिये तां स्थापयति यथा च प्रियो ज्ञात्वापि व्याजान्तरकारणदर्शनेन प्रियां निःशङ्कीकरोति आश्चर्यमिति। यत्किञ्चिद् वर्ण्यते ततोऽपि दूरतरं विलक्षणमेव। यथा 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठदिति-वत्। अथ तथैव स कोऽप्यनिर्वचनीयः पारस्परिकः सहजः स्वयंरूपः अकृत्रिमो न तु शिक्षितः कृत इति प्रेमोत्सवः पात्विति। अन्यत्रोत्सवःसर्वत्र यथासामयिक एव। अत्र तु सदैव तादृशौत्सुक्यं स्थायि तत्स्वरूपं यथा चित्तद्रव-स्थायिभावः प्रेमाख्यः प्रथमो रस इति कौस्तुभे यथा पदं स्वामीजो कृतम्: 'प्यारी जू ऐसी जिय होत जौ जिय सौं जिय मिलै तन सौं तन समाय ल्यौं, तौ देखौं कहा' इति यथा च श्रीचतुरशीतौ 'जोई जोई प्यारो करै'। इति अस्या हेतुकत्वमाह यत्र किञ्चित्कृतं नो इति कृतमुपकारापेक्षा यत्र न नुतिः

रसकलश

केवल विद्या गुण मात्र के रूप में प्रयुक्त हुए। उनमें भी लहरें जो उत्तरोत्तर निरवधि परम्परा के रूप में उठीं उनमें भी चतुरता या शोभनता अर्थात् अपने कामीपने को छिपाकर निपुणता प्रकट की गई। प्रिया जी वहीं प्रियतम पर उस कामीपने की स्थापना करती हैं जिससे प्रियतम जान-बूझ कर किसी और बहाने को कारण रूप में दिखाते हुए प्रियाजी को निःशङ्क बना देते हैं।

यहाँ आश्चर्य का यह तात्पर्य है कि जो कुछ वर्णन किया गया है उससे भी अत्यन्त दूर और बहुत विलक्षण ही वह चातुर्य या निपुणता है। जैसा कि 'तद् धावतोऽन्यान-त्येति' वह दौड़कर जाते हुए अन्य पदार्थों को लांघ जाता है। इत्यादि कहा गया है। उसी प्रकार कोई अनिर्वचनीय आपस में स्वाभाविक स्वयं रूप जो कृत्रिम नहीं , न हीं सिखाया गया है ऐसा प्रेमोत्सव आप लोगों का पालन करे। अन्यत्र सभी स्थानों में उत्सव समय-समय पर ही होता है यहाँ तो सदा ही उत्सव होता रहता है क्यों कि यहाँ वैसी उत्सुकता स्थायी रूप में रहती है। उसका स्वरूप जैसा कि कहा गया है।' चित्त-द्रव जिसमें स्थायी भाव हो वह प्रेम नाम का प्रथम रस है।' ऐसा कौस्तुभ ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। स्वामी श्री हरिदास जी के पद में भी ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है— 'प्यारी जू ऐसी जिय होत जौ जिय सौं जिय मिलै तन सें तन समाय ल्यौं तौ देखौं कहा।' इत्यादि।श्री मच्चतुरासी जी में भी ऐसा ही कहा है—जोई जोई प्यारो करे सोई मोहिं भावै' इत्यादि। अब इसका कारण बताते हैं—जहाँ कुछ कृत या उपकार की अपेक्षा नहीं है जहाँ नुति या स्तुति भी नहीं है, नहीं उसकी अपेक्षा है अर्थात् कोई भी साधक

स्तुतिस्तदपेक्षा च साधिका नास्तीत्यर्थः न चागो दोषो निन्देति वा बाधकं' न च सम्भ्रमः अविश्रंभो वा संदेहो बाधकः, अथवा आदरः साधको न इत्यनेन लोके प्रीतिसाधकबाधकहेतुदर्शनादत्र तन्निराकृतम् ननु मानानुनयापराधाङ्गीकृतिस्तुत्याद्यत्रापि दृश्यते तत्रैवं ज्ञेयम् । एते प्रेम तरङ्गा एव तदुल्लासका दृश्यन्ते ननु भिन्ननिमित्तरूपा इति ।

किञ्च प्रेमरसैकमूर्त्योस्तयोर्नासम्भाव्यं जलतरङ्गवदैक्यसिद्धान्तात् अतएव साधूक्तम् प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयमिति । यथा च—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापिप्रमुदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती ।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया इति ।।

पूर्वप्रस्तुते प्रियकृतविलासे सति श्रीमदङ्गयोर्यद्यल्लावण्यचमत्कृति रूपकेलिकलांविलासलहरीचातुर्यदर्शनं कृतं तदाश्चर्यानन्दे निमज्य

रसकलश

कारण नहीं है। इसी प्रकार आगस् दोष या निन्दा भी नहीं है अर्थात् बाधक कारण भी नहीं है नहीं संभ्रय अविश्वास या सन्देह भी बाधक नहीं है। अथवा आदर रूप साधक भी नहीं है। इसके द्वारा लोक में प्रीति के साधक और बाधक देखे जाने के कारण यहाँ उनका निषेध किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि निकुञ्ज लीला में भी अनुनय और अपराध तो अङ्गीकार किया ही गया है और स्तुति आदि भी यहाँ देखे जाते हैं। इस पर यह जानना चाहिये कि प्रेम तरङ्ग ही उस अपराध अनुनय और स्तुति आदि के उल्लासक या उद्दीपक देखे जाते हैं न कि प्रेम के अतिरिक्त भिन्न निमित्त और भिन्न रूप वाले। और फिर प्रिया प्रियतम जो प्रेम रस की एक मूर्ति हैं उन एक मूर्ति वाले दोनों के लिये कुछ असम्भव नहीं है, जैसे जल और तरङ्ग का साथ है अर्थात् उनमें एक रूपता है। इसी एक्य सिद्धान्त के कारणठीक कहा है—'प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयम्' नित्य मधुर और उज्ज्वल प्रेम का हृदय' इत्यादि। जैसा—स्तुति करना जहाँ तटस्थता को प्रकट करता है और चित्त को व्यथा पहुँचाता है। जहाँ निन्दा भीं आनन्द देती है, परिहास भी जहाँ लक्ष्मी का पोषण करता है किसी दोष से प्रीति का क्षय और किसी गुण से प्रीति का अतिशय न देती हुई किसी स्वारसिक प्रेम की यह प्रक्रिया क्रीडा किया करती है।

पहले प्रस्तुत प्रियतम के द्वारा किये गये विलास में जो जो लावण्य के चमत्कार हैं दोनों श्री अंगों के रूप केलि, कला, विलास, लहरी और चातुर्य का दर्शन किया गया है, उस आश्चर्यानन्द में निमग्न होते हुए प्रिया प्रियतम का प्रेमानाद उत्पन्न हुआ है

तयोरन्तर्यत्प्रेमानन्दः समुद्भूतस्तं स्मृत्वा स्वयमानन्दमनुभूय नैकोमिष्टमश्नीयादिति न्यायेन सर्वसखीजनानास्वादभाजः करोति । पात्विति पश्यत सख्यः कियान्प्रेमोभयोर्यत्कामेति लोकख्यातिं निरस्य शुद्धस्वरूपेण भजते इति सर्वत्र कामपर्यायाणां प्रेमैवार्थो ज्ञेयः। राधेति प्रेमरसमत्तता पराकाष्ठा संसिद्धिरूपा माधवोऽप्येवं मधुमत्तइतिवद्गतितत्कृतपालनविषया अपि तादृश्यएव यथा—

'श्यामानन्दरसैकसिन्धुबुडितां वृन्दावनाधीश्वरीं
तत्स्वानन्दरसाम्बुधौ निरवधौ मग्नं च तं श्यामलम् ।
तादृक् प्राणपरार्द्धवल्लभयुगक्रीडाबलोकोन्मदा—
नन्दैकाब्धिरसभ्रमत्तनुधियो ध्यायामि तास्तत्पराः ।' इति ॥१०२॥

एवमुभयोः प्रेमसाम्ये वर्णिते श्रीमत्या बहिरननुकूलत्वख्यातेस्तावत्स्फुटप्रेमाणं प्रियस्याह—

येषां प्रेक्षां वितरति नवोदारगाढानुरागा—
न्मेघश्यामो मधुरमधुरानन्दमूर्तिर्मुकुन्दः ।

रसकलश

उसका स्मरण करके, स्वयं आनन्द का अनुभव करके 'अकेले मधुर वस्तु नहीं खानी चाहिये' इस न्याय से सभी सखीजनों को भी आस्वाद प्राप्त कराते हैं। पालन करे यह कहने का भी तात्पर्य यही है कि सखियो, देखो। इन दोनों में कितना प्रेम है। जो काम इस लौकिक नाम को छोड़कर शुद्ध स्वरूप से भजन करता है इस प्रकार सर्वत्र काम के पर्यायों का प्रेम ही अर्थ है ऐसा जानना चाहिये। राधा तो प्रेम रस के मतवालेपन की पराकाष्ठा को संसिद्धि हैं और माधव मधुमत्त हैं। यहाँ पर 'वः' या तुम सब लोगों को इसलिये कहा गया है कि उन श्री राधा जी द्वारा जो पालन का विषय बनाए गयी हैं वे भी वैसी ही हैं। जैसा कि—श्याम रूपी आनन्द रस के एक सागर में डूबी हुई, श्री वृन्दावनेश्वरी को उस स्वानन्द रस के अपार सिन्धु में मग्न हुए उस श्याम को, वैसे प्राणों के परमवल्लभयुगल की क्रीडा के दर्शन से उन्मत्त हुई आनन्द के एक सागर के रस में भ्रमण कर रहे हैं शरीर और बुद्धि जिनके ऐसी उनमें तत्पर या उनकी परायण सखियों का मैं ध्यान करती हूँ।१०२।

इस प्रकार प्रिया प्रियतम दोनों के प्रेम की समानता का वर्णन करने पर श्रीमती के बाहर से अनुकूल न होने की प्रसिद्धि के कारण प्रियतम के स्फुट प्रेम का वर्णन करते हैं—

मधुर मधुर आनन्द मूर्ति मेघश्याम नवीन उदार और गाढ अनुराग से जिनका दर्शन वितरण करते हैं, वृन्दावन में अत्यन्त महिमाशाली चमत्कार करने वाले और अद्-

वृन्दाटव्यां सुमहिमचमत्कारकारीण्यहो किं
तानि प्रेक्षेऽद्भुतरसनिधानानि राधापदानि

॥१०३॥

अथ प्रकरणसंगतिः। पूर्वं प्रियकृतविहारो वर्णितस्तदनन्तरमाशीर्वादेन प्रकरणसमाप्तिमङ्गलम् ततः पुनरभिलाषोद्दीपने प्रियः समक्षं विज्ञापयितुमशक्तः श्रीमतीवाम्यदर्शनशङ्कितमनस्तयाऽऽदरेण दरेणाभिमुखमपश्यन् पदप्रेक्षणं करोति अर्थान्ममैतच्छरणमस्ति यदस्तु तदस्तु इमान्येव मन्मनोरथं पूरयिष्यन्त्येवेति प्रियप्रेमा। अथ प्रियायास्त्वननुकूलतैवानुकूल्यमिति रसवर्त्मनो वक्रा गतिरिति तदभिलाषिदृशमभिवीक्ष्य सखीमभिमुखीकृत्य दम्पती श्रावयन्ती वक्ति अहो आश्चर्ये अहन्तानि राधापदानि किं प्रेक्षे वर्तमानेन पश्यन्त्या वचनं तानि कानि येषामिति कर्मणि षष्ठी आदराद्बहुत्वं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धत्वात् यानि पदानि प्रतिप्रकर्षेणेक्षां दृष्टिं वितरति ददाति दत्तदृष्टितया पश्यतीत्यर्थः। प्रेक्षत इत्युक्तौ प्रेक्षणकर्तृतास्वातन्त्र्येण प्रियावाम्य-

रसकलश

भुत रस के निधान ऐसे उन श्री राधा जी के चरण को क्या मैं देखूंगी।

अब प्रकरण की सगति बैठाते हैं पहले प्रियतम के द्वारा किये गये विहार का वर्णन किया गया। उसके बाद आशीर्वाद के द्वारा पूर्व प्रकरण की समाप्ति का मङ्गल किया गया है। इसके बाद फिर से अभिलाषा का उद्दीपन होने पर प्रियतम सामने निवेदन करने में तो असमर्थ है किन्तु श्रीमती (राधिका) की प्रतिकूलता के दर्शन से शङ्कित चित्त होने के कारण आदर से और डर से सामने देखते हुए भी केवल चरणों की ओरदेखते हैं, अर्थात् मेरे लिये ये चरण ही शरण हैं, जो हो वह हो। यही मेरे मनोरथको पूरा करेंगे। यह प्रियतम के प्रेम की बात है। प्रिया जी का तो अनुकूल न होना ही अनुकूलता है। रस मार्ग की हीऐसी कुटिल गति है इसलिये उनकी अभिलाषा भरी दृष्टि को देखकर सखी को सम्मुख करके प्रिया प्रियतम-दम्पति-को सुनाती हुई श्री हितसखी कहती है। अहो आश्चर्य के अर्थ में है। क्या मैं श्रीराधा जी के उन चरणों को देखती हूँ। वर्तमान काल में देखती हुई ही कहती है। उन किन चरणों को ? जिनका दर्शन मुकुन्द वितरण करते हैं। 'येषां' या जिनके इस शब्द में षष्ठी विभक्ति कर्म में है। श्रीराधा जी के चरणों के प्रति आदर के कारण बहुवचन का प्रयोग किया गया है। यत् और तत् का अर्थात् जो और वह का नित्य सम्बन्ध है जिन चरणों के प्रति प्रकृष्ट ईक्षा एकटक दृष्टि मेघ श्याम प्रियतमलगाते हैं, अर्थात् दृष्टि लगाकर जिन चरणों को देखते हैं। यहाँ 'प्रेक्षां वितरति' के स्थान पर यदि प्रेक्षते का प्रयोग करते तो प्रेक्षण या दर्शन किया कोकर्तापन में श्यामसुन्दर

भिया दृष्टेर्दर्शनधर्मतयेयमेव पश्यति नाहमिति पार्थक्यार्थदृष्टिदानकरणे स्वदोषनिवारणं स्यात्स्वत्वभावात् । ननु दानार्थे चतुर्थ्यपेक्षते चेत्तत्रैवं स्वाभिलाषदैन्योदयेनाहो मद्भाग्यं क्वचैतद्दर्शनं किमहमेतेभ्यो दद्यामेतान्येव मन्मनोरथपूरकाणीति प्रेक्ष्य प्रेक्षकसम्बन्धात्षष्ठ्युक्तिः, सम्प्रदाने दातुरुत्तमता पात्रस्य न्यूनता स्यात् । अतो बलिहरणवत्त्वदीयेयमिति समर्पितेत्यर्थः। प्रेक्षोपलब्धिश्चित्सम्विदिति कोशाद् व्यवसायात्मकमनीषार्पणेऽपि तावद्दृष्टिरेवायाति तद्द्वारा ध्यायतीति दैन्यत्वे हेतुः । नवोदारगाढत्वविशिष्टोऽनुरागस्तस्मात् नवत्वं यथा कस्यचिदतिरूपगुणविशिष्टस्य किशोरस्य तादृश्याः किशोर्य्या महादुर्लभाया अत्यनन्यासक्त्या बहूपायचिकीर्षोविस्मृतेतरभोजनपानादिदेहगेहसुखस्य कस्मिंश्चित्समये किमपि तत्सम्बन्धिवस्तुमात्रदर्शने नाममात्रश्रुतौ च पीयूषवत्किमप्यनिर्वचनीयानन्दः स्यात्किं पुनस्त-

रसकलश

को स्वतन्त्रता होती किन्तु ऐसा नहीं है। प्रिया जी की प्रतिकूलता के भय से दर्शन धर्म वाला होने के कारण यह दृष्टि ही देखती है। मैं नहीं देखता। इस प्रकार दृष्टि का दान करने से अपने दोष का निवारण होगा, क्योंकि दृष्टि से तो वे अन्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि दान के अर्थ में तो चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है यहां 'येषाम्' में षष्ठी का प्रयोग क्यों है, इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार अपनी अभिलाषा और उसके कारण अपनी दीनता का उदय होने से अहो, मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं इनका दर्शन करूं, या मैं इनको कुछ दूं, यही मेरे मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं यह देखकर दर्शक और दृश्य का सम्बन्ध बताने के लिये यहां षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। सम्प्रदान अर्थ में चतुर्थी विभक्ति करने पर देने वाले की उत्तमता और पात्र की न्यूनता प्रकट होती, अतः बलि या कर देने के समान दृष्टि दी गई है यह दृष्टि तुम्हारी ही है अतः तुम्हें अर्पित है, यह अर्थ निकलता है। प्रेक्षा, उपलब्धि, चित, संवित्, प्रतिपत्, ज्ञप्ति और चेतना बुद्धि के नाम हैं। अमर कोष के इस वाक्य के अनुसार व्यवसायात्मक बुद्धि को अर्पण करने पर भी परिणाम में दृष्टि ही आती है क्योंकि उसी के द्वारा ध्यान किया जाता है यही दीनता का कारण है। 'नवीनता, उदारता और गाढता से युक्त अनुराग, से इस वाक्य में नवीनता ऐसी है जैसी किसी अत्यन्त रूप गुण से विशिष्ट किशोर की किशोरी के प्रति आसक्त होने पर होती है, वैसी किशोरी जो परम दुर्लभ है। उसके प्रति अत्यन्त और अनन्य आसक्ति के कारण बहुत उपाय किये जाते हैं। भुला दिये हैं अन्य भोजन पान आदि देह और गेह सम्बन्धी सुख जिसने, ऐसे उस किशोर को किसी समय उस किशोरी से सम्बधित वस्तु मात्र के दर्शन से या नाम मात्र के सुनने से अमृत के समान अनिर्वचनीय आनन्द

रसाक्षात्कृताविति । तथैव तादृशो नवानुरागोऽत्र सदा स्थायी नवोऽयातयामो विश्वविलक्षणो वा । उदारो दातृमहतोरिति देशकालपाकादिकृतविघ्नाबाधितत्वान्महान् वा निरतिशयानन्ददातृत्वाद्वदान्यः यदाश्रयात्किं किमनिर्वचनीयानन्दः प्राप्यत इति गाढो घनीभूतोऽक्षयोऽभेद्यो नतु शिथिल इति तादृशानुरागाद् दृष्टिदानम् । यथा पदम्, 'जहाँ जहाँ चरण परत प्यारो तेरे तहां तहां मन मेरो करत फिरत परछाहीं' 'परत प्रेमनिधि पाइ रुचिर जहाँ', इत्यादि 'अत्र प्रियाऽनुरागप्रशंसया प्रियाहृद्द्रवीकरणं' मेघश्याम इति चातकाभिलाषविषयोऽपि स्वयं चातकवद्दृष्टिं ददाति व्रजचन्द्रोपि त्वच्चकोर इति किं स्वातिबिन्दुमभिलषति तत्रापि मधुरेति सर्वेषामानन्दाभिलाषः स्थायी अयं तु मधुरादपि महामधुरानन्दस्तन्मूर्तिरपि किं परमानन्दं लिप्सतीति चित्रम् मुकुन्दो मुक्तिदायी अत्र बन्धनेच्छुः प्रेक्षां बध्नाति यद्बन्धने सर्वं

रसकलश

प्राप्त होता है । फिर उसका साक्षात्कार हो जाये तो क्या कहना ? वैसा ही नवीन अनुराग यहां स्थायी है, नवीन या अयातयाम है अर्थात् विश्व से विलक्षण है ।

उदार शब्द दाता और महान् इन दोनों अर्थों को बताता है । देश, काल, पाक आदि के द्वारा किये गये विघ्नों से अबाधित होने के कारण अनुराग उदार या महान् है, अथवा निरतिशय आनन्द देने के कारण भी वह उदार है अथात् वदान्य है । जिसके आश्रय से कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त किया जाता है । गाढ का अर्थ है घनीभूत, अक्षय या अभेद्य न कि शिथिल । इस प्रकार के नवीन उदार और गाढ अनुराग से यहां दृष्टि दान किया गया है—

'जहाँ जहाँ चरण परत प्यारी तेरे तहां तहां मन मेरो करत फिरत परछाहीं ।

परत प्रेम निधि पाइ रुचि जहां'·········इत्यादि यहां पर प्रियतम के अनुराग की प्रशंसा से प्रिया जी के हृदय को द्रवित किया गया है । उन्हें मेघश्याम कहने का यह तात्पर्य है कि यद्यपि वह चातक जैसी गोपियों की अभिलाषा का पात्र अन्य स्थलों में सुना गया है किन्तु यहाँ श्री निकुञ्ज में वह घनश्याम होता हुआ भी चातक की भांति दृष्टि दिये हुए है । यह व्रज के चन्द्र होते हुए भी तुम्हारे तो चकोर ही हैं इसीलिये सम्भवतः स्वातिबिन्दु की अभिलाषा करते हैं । उस पर भी ये मधुर मधुर कहने का यह तात्पर्य है कि सभी को आनन्द की अभिलाषा स्थायी होती है । यह तो मधुर से भी महामधुर आनन्द की मूर्ति हैं फिर किस दूसरे आनन्द को चाहते हैं, बड़ी विचित्र बात है । यहां मुकुन्द कहने में भी गूढ तात्पर्य है कि स्वयं मुकुन्द मुक्ति का दाता होते हुए भी

बद्धमिति । यद्वा मुक्तिं किमपूर्वानन्दरसप्रवेशेऽस्मन्मोक्षणं करोतीति । यद्वा 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति: सुखमस्यात्मनो रूपमिति ।' सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थित:'तस्यापि भगवान्कृष्ण इति ।' परमसुखरूप स्वात्मानमपि यच्छतीति परमवदान्योऽपि स्वविश्रुतिं न्यक्कृत्य याचकवत्पददृष्टिं करोतीति मेघेति नवत्वं सदा नवीनोदयात् । आनन्दमूर्तिरिति गाढत्वं घनीभूतमूर्तित्वात् मुकुन्द इत्युदारत्वं एवं विशेषणत्रयेण यथाशीलं प्रियाविषयिकानुरागत्रयस्य ज्ञानार्हत्वं अतएव तानि पदानि वृन्दाटव्यां निश्शङ्कमिति सुष्ठुमहिम्नस्तादृशरसिकनायकप्रेक्षानुरागविषयत्वसौभाग्यमत्त्वात् चमत्कारमत्याश्चर्यम् । करोति कारयतीति वा इत्यैश्वर्यम् । अद्भुतरसनिधानानीत्यत्र माधुर्यं यद्दर्शनाद्यावकचित्रपदसम्वाहनानुनयशिर:प्रणत्यादीनि तत्तत्समये प्रियकृतानि स्मारयन्ति तेन सखीहृदये किमनिर्वचनीयानन्द उदेति ततो रसनिधानानि । अद्भुतमत्र सशिरोधूननप्रशंसोत्पादकतानिरतिशयत्व-

रसकलश

यहां बन्धन की अभिलाषा करते हैं । यह अपनी प्रेक्षा या बुद्धि को श्रीराधा जी के चरणों में बाँधते हैं । जिसके बन्धन में सब कुछ बँधा हुआ है ।

अथवा मुकुन्द मुक्ति रूपी अपूर्व आनन्द रस में प्रवेश कराकर हमारा छुटकारा कर देते हैं । अथवा 'अन्यथा रूप को छोड़कर अपने स्वरूप में व्यवस्थित हो जाना मुक्ति है ।' इसमें आत्मरूप की प्राप्ति ही सुख है । सभी वस्तुओं का भावार्थ स्थित होता है । उस आत्मरूप के भी भगवान् श्री कृष्ण हैं । वे परमसुख रूप अपने आपको भी दे देते हैं अत: परमवदान्य होते हुए भी अपनी ख्याति का तिरस्कार करके याचक की भांति चरणों पर दृष्टि देते हैं । 'मेघश्याम नाम में मेघ में भी नवीनता है क्योंकि सदा ही नवीन रूप में उदय होते हैं । आनन्द मूर्ति में गाढता है, क्योंकि यह घनीभूत मूर्ति है । मुकुन्द नाम से उनकी उदारता प्रकट होती है । इस प्रकार इन तीन विशेषणों के द्वारा अपने शील के अनुसार प्रिया जी के विषय में तीनों प्रकार के अनुराग को जानने की योग्यता प्रकट होती है । अतएव उन चरणों को वृन्दावन में नि:शङ्क भाव से प्रेक्षा देते हैं सुन्दर महिमा वाली प्रियाजी के उन मेघश्याम-से रसिक नायक के प्रेक्षानुराग का विषय होने के सौभाग्य वाली होने के कारण चमत्कार अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करता है, या कराता है यहां ऐश्वर्य है ।

'अद्भुत रस के निधान' इस विशेषण में माधुर्य है, जिनके दर्शन से यावकमहावर द्वारा चित्र रचना करना, चरणों का संवाहन करना, अनुनय में सिर झुकाकर प्रणाम आदि करना उस समय में प्रियतम के किये हुए इन कार्यों का स्मरण करते हैं । इससे सखी के हृदय में कैसा अनिर्वचनीय आनन्द का उदय होता है अत: उसको रस निधान कहा गया । यहां पर अद्भुतता सिर हिलाने के साथ प्रशंसा की उत्पादकता के

ज्ञानादि एवमैश्वर्यमाधुर्यपूर्णानीत्यर्थः। अयं भावः पश्यैतादृशः कान्तः किम-भिलाषेण दत्तदृष्टि पश्यतीत्यतो न वाम्यं कार्यं वृन्दाटव्यामिति बहुशो मार्गास्तरणीकृतनेत्रत्वपलकरजोमार्जनादि व्यवहारं भवती कथं न जानीते तादृशमहिमचमत्कारेण महद्यशो लब्धम्, अतो यशस्यं रसदानमेव कुरुते पदानि रसनिधानान्येव अन्यथा तदभावे नीरसत्वमेव स्यादिति प्रिया-विषयकविज्ञापना।

अथ प्रियं प्रति समाश्वासनं नैतानि सुमहिमत्वं त्यक्ष्यन्ति पूर्वमपि वृन्दा-टव्यां भवन्मनोरथमपूरयन्नेव ततो रसनिधानानि रसमेव दास्यन्तीति। अथवा दुर्लभपदप्रेक्षाशंसासिद्धेर्धनिकदानायत्ततां दर्शयति येषामिति प्रेक्षणं दर्शनं मुकुन्दो नवोदारगाढानुरागादेव वितरति यत्र विशिष्टानुरागो दृश्यते तत्रैव वितरति अतो मम पददर्शनं जातं तदन्यथानुपपत्तेरेष हेतु-र्दृश्यते। अनेन स्फुटेऽर्थे सजातीयशिक्षणमप्यनुरागकरणे कृतमिति एतद्दर्शन-धनस्य मुकुन्द एव कोशाधिकारी, अनुरागरसिक एवानुरागिणे प्रसद्य दद्यात्।

रसकलश

अतिशय का ज्ञान आदि है। इस प्रकार श्री राधा जी के चरण ऐश्वर्य और माधुर्य से पूर्ण है। इसका यह भाव है कि देखो-ऐसे तो कान्त या प्रियतम हैं कि अभिलाषा के कारण दृष्टि लगाकर देखते हैं अतः तुम्हें इसके प्रति प्रतिकूलता नहीं दिखलानी चाहिये। वृन्दाटवी में कहने का यह तात्पर्य है कि बहुत बार तुम्हारे मार्ग पर अपने नेत्रों को आस्तरण बना देते हैं, नेत्रों के पलकों से तुम्हारे मार्ग की धूली साफ करते हैं इत्यादि व्यव-हार को क्या श्रीमती नहीं जानती। वैसी महिमा के चमत्कार से आपने परम यश प्राप्त किया है अतः आज भी यश को बढ़ाने वाला रस दान ही करो, तुम्हारे चरण रस के निधान ही हैं। अन्यथा रस दान के अभाव में नीरसता ही होगी ऐसी प्रिया जी के प्रति प्रार्थना की गई है।

अब प्रिय के प्रति आश्वासन के वचन कहते हैं ये श्री राधा जी के चरण अपनी महिमशालिता का त्याग नहीं करेंगे, पहले भी वृन्दावन में इन्होंने तुम्हारे मनोरथों को पूर्ण किया है अतः ये चरण रस के निधान हैं, यह रस ही देंगे। अथवा दुर्लभ चरणों के दर्शन की आशंसा की सिद्धि पर धनिक के दान की अधीनता दिखाते हैं। जिन चरणों का दर्शन मुकुन्द नवीन, उदार, गाढ अनुराग से ही देते हैं। इसी से मुझे इन चरणों का दर्शन प्राप्त हुआ, क्योंकि ऐसे अनुराग के बिना इनका दर्शन अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता। अतः यह अनुराग ही इनके दर्शन में कारण दीखता है। इसके द्वारा स्पष्ट अर्थ में अपने सजातीयों को शिक्षा भी दी गई है कि वे उनके प्रति अनुराग करें। इनके दर्शन रूपी धन के कोश के मुकुन्द ही अधिकारी हैं, वे अनुराग के रसिक हैं वे तो अनुरागी को ही प्रसन्न होकर देंगे।

ननु स्वपददर्शनं स्वयमेव श्रीमती कथं न दद्यात्तत्रैवं ज्ञेयम् । अनुरागो यत्र दृश्यते तस्मै तु स्वभक्तिं ददाति विशिष्टानुरागे स्वप्रियवस्त्वपि ददाति । अन्यच्च स्वयं तु यथा 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति मुक्तिच्छलेन भजन्तं प्रतारयति । भक्तास्तु भक्तिमेव ददति अतो गुह्यवस्तुदानं तद्रसिक एव करोति न वस्तुस्वामीति तद्वत्प्रियापदसेवनरतो रसज्ञः प्रियस्तत्सेवाधनिको गाढानुरागं प्रसद्य तदेव दद्यात् तया तस्मिंस्ताहृशाधिकारस्यैव दानात् स्वयं तत्सेवनवशगा तिष्ठति अहं भक्तपराधीनः साधुभिर्ग्रस्तहृदय इत्यादि-वत् ।

ननु तादृशानुरागाभावेऽप्यथ भजने च किं स्यादित्यत आह मेघश्यामः सर्वरसवर्षिष्णुस्तत्राप्यानन्दमूर्तिः स्वानन्दं ददाति मुक्तिं ददाति चेति परन्तु यत्पददर्शनं तु तादृशानुरागेणैवेति एतादृशप्रयत्नसुरक्षितपदानि तत्कृपा-दानात्कदा प्रेक्षे इत्यनेन साधकतार्थः स्पष्ट एव आन्तरेतु प्रियपरमानुराग-लालनं प्रति प्रसद्य वक्ति अहो किं हृदयं प्रियस्य किं प्रेमा श्रीमतीपदविषये

रसकलश

अब प्रश्न होता है कि श्रीराधा स्वयं ही अपने चरणों का दर्शन क्यों नहीं दे देतीं, जहाँ अनुराग देखा जाता है उसे तो अपनी भक्ति दे देती हैं, विशिष्ट अनुराग होने पर तो अपनी प्रिय वस्तु भी दे देती हैं। और भी एक बात है कि अपने आप तो श्याम-सुन्दर 'कभी मुक्ति दे देते हैं पर भक्तियोग नहीं देते।' इत्यादि का तात्पर्य है मुक्ति के छल से भजन करने वाले को भगवान् भी छलते हैं और भक्तों को तो भक्ति ही देते हैं। इसका उत्तर यह है कि गुप्त वस्तु देने का काम तो उस वस्तु का रसिक ही कर सकता है वस्तु का स्वामी नहीं। इसी प्रकार प्रियाजी के चरणों की सेवा में निरत रहने वाले रसिकशिरोमणि प्रियतम उनके सेवाधन के धनिक होने के कारण प्रसन्न होकर उसी गाढ अनुराग को ही देते हैं। श्री प्रियाजी ने उन्हें ऐसा अधिकार ही दे दिया है। प्रियाजी स्वयं भी उन (श्यामसुन्दर) की सेवाओं के अधीन रहती हैं। 'मैं भक्तों के अधीन हूँ साधु-पुरुषों ने त मेरा हृदय हो हथिया लिया है' इत्यादि के समान।

अब प्रश्न होता है कि वैसे अनुराग के अभाव में भी यदि कोई भजन करेगा तो उसे क्या मिलेगा इस पर कहते हैं कि मेघश्याम जो सब रसों की वर्षा करने वाले हैं वे आनन्द मूर्ति वहाँ अपना आनन्द देते हैं और मुक्ति देते हैं परन्तु प्रियाजी के श्री चरणों का दर्शन तो वैसे अनुराग से ही हो सकता है। ऐसे प्रयत्नों से सुरक्षित चरण उनकी कृपा के दान से मैं कब देखती हूँ? इस व्याख्या में साधक पक्ष का अर्थ स्पष्ट ही है।

आन्तरिक अर्थ में तो प्रिय के परम अनुराग के लालन के प्रति प्रसन्न हो कर कहतीं हैं। अहो प्रियतम का हृदय कैसा है? श्रीमती (श्रीराधा) के चरणों पर उनका

अनेनैवैतत्स्वादो याथार्थ्येन लब्धः, अतो यो गाढसेवनरतः स एव मुख्यसचिव एतत्कृपयैवाशास्महे यदेवमस्मास्वपि स्यादिति एतद्दुर्लभदाने मेघश्यामस्यैव सामर्थ्यं नान्यस्य। मुकुन्द इति रसान्तरायमोक्षणेन दयालोरेव सामर्थ्यम्। अयं भावः अहो श्रीमति स्वयं धनमिव निस्पृहा तिष्ठसे यथा अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचिदितिवत्। अतः प्रिय एवास्माकं रसनिधानपददर्शनं कारयति यद्दत्तदृष्टितया पश्यति। साम्प्रतं तु प्रसीद येन रसनिधानत्वं पश्याम इति॥१०३॥

तच्छ्रुत्वा प्रियया मनसो वाम्यं दूरीकृतमपि प्रियग्रहणमात्रापेक्षा त्वर्हत एव अतो रसिकचतुरमणिस्तद्गतेङ्गितं ज्ञात्वा साहसेन परिरम्भादि करोतीत्याह—

बलान्नीत्वा तल्पं किमपि परिरभ्याधरसुधां
निपीय प्रोल्लिख्य प्रखरनखरेण स्तनभरम्।

रसकलश

प्रम कैसा है? वास्तविक रूप में इन्होंने ही श्रीराधा जी के श्रीचरणों की सेवा का आस्वाद प्राप्त किया है। अतः जा प्रगाढ सेवा में तत्पर हैं वे ही प्रधान सहायक या मन्त्री हैं। इसकी कृपा से ही हम आशा करते हैं कि ऐसा अनुग्रह हम पर भी होगा ऐसी दुर्लभ वस्तु देना मेघश्याम की ही शक्ति की बात है।

स्वादु और प्रिय को मधुर कहते हैं दिव्य शृङ्गार-सम्बन्धी आनन्द को भी मधुर कहा जाता है। उस आनन्द की भी जो मूर्ति हैं उनमें ही शक्ति है कि किसी को रस के निधानभूत श्रीराधा जी के श्रीचरणों का दर्शन दें अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है। मुकुन्द का भी यहाँ यह अर्थ है कि रस की प्राप्ति में आये हुए विघ्न से छुड़ाने में समर्थ दयावान् मुकुन्द की ही शक्ति है, यह भाव है। अहो श्रीमती (राधा) स्वयं तो धन की भांति निःस्पृह रहती हैं। 'पुरुष धन का दास है धन किसी का दास नहीं है।' इसके समान श्यामसुन्दर उनके दास हैं। और इसीलिये वे ही रस के निधानभूत चरणों का दर्शन कराते हैं, तभी उन चरणों पर दृष्टि भी लगाये रहते है। अब तो कृपा करो कि जिससे हम उन रस के निधानों का दर्शन करें॥१०३॥

यह सुनकर प्रियाजी ने मन की वामता या बाहरी प्रतिकूलता दूर कर दी तो भी प्रियतम के द्वारा उनको अपने भुजपाश में लेने की तो अपेक्षा रहनी ही चाहिये तदनुसार रसिकों और चतुरों के शिरोमणि श्यामसुन्दर प्रियाजी के मनोगत अभिप्राय को जानकर साहस से आलिङ्गन आदि करते हैं, इसी का वर्णन करते हैं—

'बलात् शय्या पर ले जाकर कुछ अधर सुधा पीकर, प्रखर नख से स्तनमण्डल पर क्षत करके तब रसिक शिरोमणि ने नीवी पर हाथ रखा, प्रियाजी ने उनका हाथ

ततो नीवीं न्यस्ते रसिकमणिहस्ते करधृते
कदा कुञ्जच्छिद्रे भवतु मम राधे नु नयनम्।।१०४।।

प्रभुसेवकानां शीलमित्थं पूर्वं तु पूर्णासक्ति कृतानुग्रहसख्याङ्गीकृतिस्ततः केनापि नैरन्तर्यजप्रेमकलहेन प्रभोर्वाम्यतत्सगर्वाकृतिस्वमत्यानन्ददं दर्शनीयमेव ततो बह्विङिगतानुसरणानुनयस्तेन हृदि मार्द्दवे लक्षिते तत्रैव तं ते स्तम्भयन्ति न बहिः प्रकाशं सहन्ते किञ्चासज्यशीलं न कारुण्यशोभितं अर्थात्तस्मिस्तेषामियत्प्रेमत्वं यदस्मत्प्रभुरदीनलील एव सदा तिष्ठेत्तदपि प्रसादातिशयोज्जृम्भणयाचनमपि नार्हं ततः सख्यरसबलेन स्वयमुद्धता भूत्वा कौतुकाभिमर्शाधिक्षेपाद्यपि कृत्वा हासयन्ति तेन स्वौद्धत्योपर्येवासज्यवाम्यत्याजनदूषणमारोप्य स्वकार्यं साधयन्ति अर्थात्किं कुर्यामनेन सख्याह्लादानुग्रहः कारित इति सूचयन्ति एवमेव प्राप्ताधिकारः प्रियस्तां श्रीमतीं

रसकलश

अपने हाथ में थाम लिया। अब कौन सा दिन होगा जब कुञ्ज के छिद्र में हे श्रीराधा, मेरे नेत्र होंगे अर्थात् मैं दर्शन प्राप्त करूँगी ।।१०४।।'

प्रभुसेवकों का यह स्वभाव होता है कि पहले तो पूर्ण आसक्ति के कारण किये गए अनुग्रह से वे सख्यभाव से अपना लेते हैं, फिर किसी निरन्तरता से उत्पन्न प्रेम के कलह से प्रभु में बाहरी प्रतिकूलता आती है। और कुछ गर्वपूर्ण सी आकृति बनी रहती है तो भी अतिशय आनन्द देने वाली होने से वह आकृति भी दर्शनीय ही होती है तब उनके अनेक इङ्गितों का अनुसरण करके अनुनय-विनय किया जाता है उससे जब कुछ मृदुता प्रतीत होती है तब उस अनुकूलता के भाव को वहीं रोक लेते हैं उसका बाहर प्रकाशित होना नहीं सहते। ऐसे ही आसज्य या प्रीति के विषय का भी स्वभाव है कि बाहर कृपाभाव को प्रकट न करना, कृपा भाव से जगमगाने न लगना। अर्थात् इनके प्रति उनकी इतनी ममता है, हमारे प्रभु सदा उदार लीला वाले ही बने रहें तो भी उनसे विशेष प्रसन्नता से उमड़ पड़ने की याचना नहीं की जा सकती। तब सख्यरस के बल से स्वयं उद्धत होकर कौतुक के अभिमर्श का अधिक्षेप आदि करके हँसाते हैं और उसके द्वारा अपनी उद्धतता पर ही आसज्य या प्रीति विषय की प्रतिकूलता छुड़ाने का दोष लगाकर अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं। अर्थात् क्या करें इसने सख्यभाव के प्रभाव से अनुग्रह या कृपा करा ही ली ऐसा सूचित करते हैं।

इसी प्रकार अधिकार प्राप्त किये हुये प्रियतम ने श्रीमती (राधा जी) के हृदय को दया से द्रवित जानकर उस द्रव को उनके हृदय में ही स्तम्भित करके जब तक कि

हृद्द्रुतां ज्ञात्वा तद्धृद्येव तं द्रवं स्तम्भयित्वा यावत्सलज्जस्मितं न बहिः प्रकाशयेत्तावत्तेन श्लाघ्यं सचिवकार्यं कृतम् । बलादिति सख्याधिकारबलात्तल्पं प्रति प्रियामिति शेषः श्रीमत्या किमवन्यास्तरणे स्थेयं यद्वदान्यप्रभोः स्वसाम्राज्यासनमेवार्हमिति कथनभङ्गिकं प्रार्थनं शिक्षणमिव सख्यम् । नन्वहह दास्ये नैतावत्साहसोऽर्हस्तत्र प्रत्युत्तरभङ्गिकं किमप्यनिवर्चनीयं परिरभ्येति अर्थात्पूर्वं किमियत्सविश्रम्भं सख्यं दत्तं येन पुनरपि बिभ्येयं यथोक्तं लक्षणं 'कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी । अविचार्य प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते' इति हृदयेशाहमपोतिभङ्गे को हृत्परिरम्भ इति तत्रानिवारितयेवाङ्गीकृतिभङ्गिकं ज्ञात्वा पुनरपि साहसं कृतं निपीयेति किञ्चेयती त्वदधरे सुधाः तदपि कार्पण्यं यन्निजैकजीवनाय न दीयते श्रीमती नानुकूलास्तु एतत्त्वदङ्गान्येव भेदं प्राप्यमन्मिलितान्येवातो नितरां पीत्वेति पश्चान्न जाने दद्याद्वा न

रसकलश

लज्जा और मुस्कान के साथ उस भाव को वे बाहर प्रकाशित न कर तब तक एक श्लाघनीय सहायक या सचिव का काम किया। बलात् अर्थात् सख्यभाव के अधिकार के बल से शय्या की ओर प्रिया जी को ले गये इत्यादि। श्रीमती जी को क्या भूमि पर फैलाये हुए एक आस्तरण पर विराजना चाहिये अन्य उदार प्रभु के समान आपका साम्राज्यसिंहासन पर ही विराजमान होना उचित है इस प्रकार की बातें कह कर उनसे प्रार्थना भी की गई, उन्हें समझाया भी गया यही सख्यभाव है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि दास्य में ऐसा साहस उचित नहीं है। उसका यह कुछ अनिर्वचनीय प्रत्युत्तर सा है कि 'आलिङ्गन करके', भुजपाश में लेकर और हृदय से लगाकर। अर्थात् पहले मुझ दास को इतना विश्वासयुक्त सख्यभाव दे दिया है तो फिर मैं क्यों भय मानूँ। जैसा कि लक्षण कहा है—जैसे हाथ शरीर का और पलकें नेत्रों का विना विचारे ही प्रिय कार्य करती हैं वैसे ही जो मित्र का उपकार करता है वही मित्र कहलाता है। फिर जब मैं हृदयेश हूँ तो मेरा हृदय से लगाकर आलिङ्गन करना कोई अनुचित नहीं है इस विचार से आलिङ्गन किया और उस आलिङ्गन का विना किसी निवारणादि के अङ्गीकार किया जाना जानकर और साहस किया और अधर-सुधा का पान किया मानों कि उन्हें कहा कि तुम्हारे अधरों में इतनी सुधा भरी हुई है फिर भी क्यों इतनी कृपणता करती हो कि अपने जीवन धन के लिये उसे नहीं देतीं। श्रीमती अनुकूल न हों किन्तु यह अङ्ग ही भेद प्राप्त करके (एक रूप में से दो रूप होने के कारण श्रीराधा के अङ्ग श्री श्यामसुन्दर के अङ्गों से भिन्न हो गये हैं इस प्रकार की भिन्नता स्वीकार करके) मेरे (श्यामसुन्दर के) अङ्गों से मिले हैं अतः अधरसुधा को 'नितराम्' अत्यन्त पीकर कहा गया है, फिर ऐसा सुधापान का अवसर दें या न

वेति । बहुतृषितोऽहमितिभङ्ग्किं ततोऽप्यनिवारणमेवांगीकृतं ज्ञात्वा वक्षोजेङ्गितं मिलन्नोल्लसितं बुद्ध्वा प्रोल्लिख्येति तयोस्तत्र व्रक्षतमेव भोगो यथा भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवमितिवत् तयोर्भेदमिलनदूषणनिवारणार्थं यच्छस्त्रव्रणादि विना प्रतिद्वन्द्विने मिलनं वस्तुदानं च न स्वामिधर्म इति तयोस्तेन सहायः कृतो येन न प्रिया कुप्येत् अत्र न सौकुमार्य्यक्षतिः शङ्कनीया नृपपरिजनीभूतयुयुत्सुमल्लभुजकण्डूत्यतिशयः प्रखराघातं विना न शाम्येदिति तत्सुखार्थमेव भरमिति दुर्मदप्राखर्यं तत्र प्रखरनखरमेवार्हं ततोऽप्यनिवारणे सर्वेषां राजकीयाङ्गानां विभिद्य मिलने नृपप्रमादहेतुकवप्रजयं ज्ञात्वा ततो जीवरक्षणं स्थानं मदनाधिकारिरक्षितं जिघृक्षुस्तदावरणकपाटीभूतनीवीं प्रति न्यस्ते रसिकमणिहस्ते परमसाहसमदान्धत्वं ज्ञात्वा तत्कराभ्यां स्वामिधर्मरक्षणार्थं धृते गृहीते सति मणिरिति महालम्पटो रसातृप्त इति एतत्पर्यन्त-

रसकलश

द, मैं बहुत प्यासा हूँ इत्यादि प्रकार के विचारों से 'भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम्' इत्यादि के समान साहस किया किन्तु इसमें भी निवारण न देखकर और साहस बढ़ा।

यहाँ भेद और मिलन मानने पर जो दोष आता है उसके निवारणार्थ विचार करते हैं। जैसे प्रतिद्वन्द्वी को किसी प्रकार का शस्त्रादि से व्रण पहुँचाये बिना न मिलते हैं न कोई वस्तु देते हैं यह स्वामियोंका धर्म है, इसी प्रकार प्रिया प्रियतम मिले। इस लिये उसने इन दोनों की सहायता की कि जिससे प्रियाजी कुपित न हों। यहाँ सौकुमार्य की क्षति की आशङ्का नहीं करनो चाहिये, राजा के परिजन बने हुए युद्धप्रिय मल्लों की भुजाओं में अधिक कण्डू (खाज) हुआ करती है। 'प्रखरनखर' से तात्पर्य है कि प्रखर या तीव्र आघात के विना प्रतिद्वन्द्वी शान्त नहीं होता, फिर यहाँ तो उनके सुख के लिये ही प्रखर आघात किया गया है। 'स्तनभर' कहने से स्तनों की दुर्मदता और प्रखरता प्रतीत होती है उन पर प्रखर नखक्षत ही उचित है। तब भी न रुकने पर सभी राजकीय अङ्गों में भेद करके उनसे मिल कर राजा की असावधानी में दुर्ग के प्राकार को जीतना सम्भव जान कर और जीवों का रक्षण करने वाले स्थान को जो मदन नामक अधिकारी से रक्षित है घेर लेने की इच्छा से उसके आवरण कपाट बनी हुई नीवी पर रसिकशिरोमणि द्वारा हाथ रखने पर अत्यन्त साहसमद से अन्धा सा होना जानकर उसके हाथों से स्वामिधर्म की रक्षा करने के लिये तुम्हारे करकमल से आगे बढ़ने से रोकने के समय (मेरे नयन कुञ्ज छिद्र में कब होंगे)। यहाँ पर रसिकमणि शब्द महालम्पट अर्थात् रस से अतृप्त अर्थ को

दर्शने कदा कुञ्जछिद्रे मम नयनं भवतु नु इति विकल्पे। अर्थान्नयनं यदा प्रेमप्लुतं तदा न द्रष्टुं शक्नोमि यदा धैर्यं तदा पश्याम्येवेति । छिद्र इति एवं त्वदङ्गानां भिन्नानां वयं छिद्रान्वेषिणस्त्वद्गृहोऽपि छिद्रदायीति किं कुर्म इति अर्थात्त्वं जानासि मदीयान्येवैतानि तत्कदापि मा विश्वसीरिति ।

किञ्च मुख्याधिकारिमदनोऽपि मिलनद्रुतोऽस्त्यतः किमपरं वाच्यम् । अत्रोत्तरविलासानुक्तिरेवोक्तिर्ज्ञेया सहृदयगम्यैवेति । ननु किं विश्रद्धा भवती मच्छिद्रान्वेषिणी तत्राह कदाचित्तच्छिद्रवासे प्रमत्तां त्वां स्मारये यदेवमेवंलक्षणानि कृतानि किमेतेषु ममत्वेन दृप्यसे । त्वत्करेति तव कृपाद्रवपरवशमंथरसात्विकाया अबलायाः आः करकृतनिवारणं किमिति ज्ञातं नैतौ रसिकेशं विदग्धं रोद्धुं शक्नुयातामिति सुरतो व्यङ्ग्ये रक्षित इति रसोत्तमं काव्यलक्षणम् ॥१०४॥

एवमुभयोरानन्दसम्प्रयोगरतिविलाससौख्यं यज्जातं तल्लोचनगोचरी-

रसकलश

बताता है । यहाँ तक उनके दर्शन में कब कुञ्ज के छिद्र में मेरे नेत्र होंगे यह व्याख्या की गई है । इस पक्ष में 'नु' विकल्प अर्थ में है । अर्थात् नेत्र जब प्रेम से आप्लुत होते हैं तब तो देख नहीं सकती । जब धैर्य होगा तब तो देख ही सकूँगी । 'कुञ्ज के छिद्र में' कहने का यह भी अभिप्राय है कि हम तो तुम्हारे भिन्न २ अङ्गों के छिद्रान्वेषी हैं ही, तुम्हारा गृह भी छिद्रदायी है हम क्या करें ? अर्थात् तुम जानती ही हो कि यह सब मेरे ही हैं किन्तु इन पर कभी विश्वास मत करना, और की तो बात क्या ? मुख्य अधिकारी मदन भी मिलन के समय द्रुत हो गया है । यहाँ पर इस के बाद के विलास का वर्णन न करना ही वर्णन करना है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि सहृदय उसे जानते ही हैं ।

अब प्रश्न होता है कि विश्वास रखने वाली स्वामिनी के प्रति तुम छिद्रान्वेषिणी क्यों हो ? उस पर कहते हैं कि कभी उनके विश्वास में असावधान हुई तुमको याद दिलाती हूँ कि इस इस प्रकार के कार्य तुमने किये, किन्तु इन कार्यों की ममता (केवल मैंने किये और मैंने ही जाने इस भावना) से अभिमान क्यों करती हो ।' तुम्हारे हाथ से रोके जाने पर' यहाँ पर तुम कृपा के कारण द्रवित हो, परवश हो, मन्थर हो और सात्विक भावों से युक्त हो अत एव अबला हो । अहो, अपने करकमलों द्वारा किये गये निवारण को तुमने क्या समझा है, ये तुम्हारे करकमल रसिकेश्वर नागर को नहीं रोक सकेंगे । सुरत को यहाँ व्यङ्ग्य में ही रखा गया है इस लिये रसादिव्यङ्ग्य के कारण यह उत्तम काव्य के लक्षण से युक्त है ॥ १०४ ॥

इस प्रकार प्रिया प्रियतम युगल सरकार में जो आनन्दमय सम्प्रयोगात्मक रति

कृतं तत्र निजकृतसेवासाफल्यं विचार्य स्वात्माह्लादानुगतकरपदनेत्रश्रु-त्याद्यङ्गानन्दोज्जृम्भं समीक्ष्य तत्तद्धन्यतां वर्णयति द्वाभ्यां—

करं ते पत्रालीं किमपि कुचयोः कर्त्तुमुचितं
पदं ते कुञ्जेषु प्रियमभिसरन्त्या अभिसृतौ।
दृशौ कुञ्जच्छिद्रैस्तव निभृतकेलिं कलयितुं
यदा वीक्षे राधे तदपि भविता किं शुभदिनम्
॥१०५॥

करमिति साधकार्थे। तत्तत्कृपादत्तसेवोचित्याशंसनं स्पष्टमेव। आन्तरे पश्यन्ती वक्तीति हितालया स्वकरेण पत्रालो कृता तद्वैचित्र्यं प्रियेण वक्षोज-वसनोद्घाटने दृष्टम्। तदा व्याजस्पर्शार्थं प्रशंसनमारब्धम्—अहो प्रिये किं वैचि-त्र्यमस्यां यन्मन्मनो मोहयति कया रीत्या कृतवतीत्येवं वदंस्तद्रेखानुगतस्वन-खाङ्कुरेण मदनाङ्कुरमुद्भावयन् दृढनिखातधार्ष्ट्यं करोति। ततस्तस्यां शीत्कारहासाधिक्षेपभङ्गिकक्षामाक्षरनयनकनीनिकाभ्रामणं तदा शिरो

रसकलश

विलास का सुख हुआ वह अपने नेत्रों से साक्षात्कार किया। इस समय अपने द्वारा की गई सेवा की सफलता का विचार करके अपनी आतमा के आल्हाद के आनन्द से अनुगत हाथ, पैर, नेत्र, श्रोत्र आदि अङ्गों के आनन्दोल्लास को देखकर उन उनअङ्गों की धन्यता का वणन दो पद्यों द्वारा करते हैं—

'श्री राधे, मेरे हाथ तेरे कुचों पर पत्रावलो की रचना करने योग्य हैं और मेरे पैर कुञ्जों में प्रियतम का अभिसरण करती हुई (तुम्हारा) अभिसरण करने के योग्य हैं, मेरे नेत्र कुञ्ज के छिद्रों से तुम्हारी रहस्य क्रीड़ाओं को देखने के योग्य हैं ऐसा जब देखूँगी क्या वह शुभ दिन कभी होगा। १०५।

इस पद्य में साधक पक्ष में कृपा से दी गई उन उन सेवाओं के औचित्य की आशंसा की गई है यह स्पष्ट है। आन्तरिक अर्थ में ऐसा ही देखती हुई श्रीहित सखी कहती हैं। श्री हित सखी जी ने अपने हाथ से पत्रावली की रचना की उसकी विचित्रता प्रियतम ने स्तनों पर से वस्त्र का उद्घाटन करते समय देखी। तब बहाने से पत्रावली की प्रशंसा प्रारम्भ कर दी। अहो, प्रिया जी इस पत्रावली में कैसी विचित्रता है कि मेरे मन को मोहित कर रही है। यह किस प्रकार बनाई गई है ऐसा कहते हुए उसकी रेखाओं के अनुकूल अपने नखाङ्कुर मदनाङ्कुर को उगाने के लिये जोर से गड़ाने की ढिठाई करते हैं। इससे श्री प्रिया जी में शीत्कार, हास्य, अधिक्षेप, की चेष्टाओं के साथ क्षीण अक्षरों

धुन्वन्नैवमहमित्युक्त्वा व्याजेन वक्ति अहं तु शिक्षये यत्कथं कृतेयं पत्रालीत्युक्त्वानन्तरं तिष्ठ तिष्ठ मुग्धोऽसि जाने शिक्षणमिति परस्परकौतुकं दृष्ट्वात्माह्लादोच्छलने स्वकरयोरपि धन्यतामननानन्दसात्विकं दृष्ट्वा हितालीवाक्यम् । ते सख्यप्रसादविश्रब्धस्वामिन्याः कुचयोः किमपि प्रियकौतुकानन्दकारणं यथा स्यात्तथा पत्रालीं विचित्रभङ्गिकपत्रपंक्ति कस्तूर्यादिना कर्तुमुचितं करं यदा वीक्षे तच्छुभदिनं किं भविता । अयीति किमेवमपि दुर्लभं सुलभं स्यादिति । उचितमिति क्रीडावेशिमानसप्रियसंगचाञ्चल्यवशेन स्थातुमशक्तायाः कदाप्यवसरः शृङ्गारस्य लभ्यते । तदुक्तं शतके—

'केशान् बध्नन्ति भूषां विदधति वसनं वासयन्त्याशयन्ति,
वीणां वंश्यादि हस्ते विदधति नटनायादराद्वादयन्ते ।
वेशाद्यर्द्धं च कर्त्तुं कथमपि नितरामालयः शक्नुवन्ति,
श्रीराधाकृष्णयोरुन्मदमदनकलोत्कण्ठयोः कुञ्जवीथ्याम् ।।' इति

रसकलश

वाली उक्ति और नेत्र कनीनिका का भ्रमण भी होते हैं, तब सिर हिलाते हुए ऐसे मैं उत्कण्ठित हूँ ऐसा व्याज से कहती हैं। मैं तो सीखना चाहता हूँ कि यह पत्रावली कैसे बनाई है प्रियतम द्वारा यह कहने के बाद ठहर ठहर, तू बड़ा भोला बनता है मैं सिखाना जानती हूँ ऐसा प्रिया जी ने कहा। इस प्रकार का परस्पर कौतुक देखकर अपने आप में अह्लाद के उमड पड़ने से अपने हाथों को भी धन्य मानने के आनन्द के कारण सात्त्विक भावों को देखकर श्रीहितसखी कहती हैं। 'तुम सख्य भाव के कारण कृपा करने वाली विश्वस्त स्वामिनी के स्तनों पर कुछ प्रियतम के कौतुक और आनन्द की कारण हो सके जिससे इस प्रकार विचित्र विचित्र प्रकार के पत्रों की पंक्ति कस्तूरी आदि द्वारा बनाने के लिये योग्य अपने हाथ को जब देखूँगी वह शुभ दिन कौन सा होगा ? 'अपि' या 'भी' शब्द का तात्पर्य है कि क्या ऐसा दुर्लभ भी कभी सुलभ होगा ? 'उचित' का अर्थ है कि क्रीड़ा के आवेश से युक्त मन वाले प्रियतम के सङ्ग में उनकी चञ्चलतावश ठहरने में असमर्थ प्रिया जी को कभी ही शृङ्गार (सजावट या नेपथ्य विघटन) का अवसर मिलता है। ऐसा ही शतक में कहा है–'सखियां केशों को बाँधती हैं, भूषण-विन्यास करती हैं, वस्त्र धारण कराती हैं, भोजन कराती हैं, वीणा और वंशी आदि उनके कर कमलों में धारण कराती हैं, उनके नृत्य के लिये आदरपूर्वक वाद्यों को बजाती हैं। वे वेशादि की रचना किसी किसी भाँति (बड़ी कठिनाई से) आधी ही कर पाती हैं क्योंकि कुञ्जवीथी में श्रीराधा और श्रीकृष्ण युगल सरकार उन्मत्त मदनकलाओं के लिये उत्कण्ठित रहते हैं।' इस प्रकार स्फुट पक्ष में दास्य के अधिकार का स्वीकृति दान से उत्पन्न औचित्य हाथ में कब प्राप्त करूँगी ? यह आशंसन किया गया है।

स्फुटपक्षे दास्याधिकारदानजौचित्यं करे कदा प्राप्स्य इति अन्यच्च करोतीति धात्वर्थसाफल्यमत्र तादृशातिदुष्प्राप्यकार्यकरण एव स्यादित्यौचित्यं करस्य। अथावयविन्यङ्गीकृतेऽवयवाः सर्व एवोल्लसन्तीति करश्लाघायां प्राप्तायां पदयोरपि प्रेमोल्लासो जातो यदावयोरप्यौचित्यं कथं न स्यादिति तद्दृष्ट्वाली वक्ति पदमिति जात्येकवचनं भवानपि करसेवनानन्तरं त्वदर्हसेवायां कथं न प्राप्त इति भङ्ग्याह कुञ्जेषु बहुत्वं बहुदिनापेक्षया प्रियं प्रेमास्पदं कान्तं प्रत्यभिसरन्त्यास्तेऽभिसृतौ अनुगमने उचितम्। पदपथि च गताविति तदर्थसाफल्यं तदेव जातमिति साफल्यमत्रानन्दातिशयलाभजम्। स्फुटे तादृशदुर्लभप्राप्तिजम्। आन्तरं तादात्विकानन्दमाह। गमनसमयरूपलावण्यविलासलीलादिच्छविमञ्जरीसर्वदिक्प्रसरणं वीक्ष्य प्रियभाग्यमननसख्यकौतुकहासजननरतानन्दौपयिकविविधसौरभकुसुममालाताम्बूलव्यजनपानकासवादिरत्नसम्पुटधारणे यादृगानन्दस्तत्रापि प्रियस्य वर्त्मनयनार्त्तिचकित-

रसकलश

एक और भी बात है कि 'करोत्यनेनेति करः' इससे काम करता है अतः यह (हाथ) कर कहलाता है, कर शब्द में स्थित इस करणार्थक कृ धातु की सफलता यहाँ उस प्रकार के अति दुर्लभ कार्य करने पर ही होगी। यही कर या हाथ के लिये उचित है। अब अवयवी को स्वीकार कर लेने पर सभी अवयव उल्लसित या आनन्दित होने लगते हैं इसलिये करों या हाथों की श्लाघा होने पर चरणों को भी प्रेम का उल्लास प्राप्त हुआ, कि हम दोनों के लिये भी औचित्य क्यों न हो, यह देखकर सखी कहती हैं। 'पद' या 'चरण' में एकवचन जातिवाचक शब्द होने के कारण है। यहाँ चरण से कहा गया है कि आप भी करों या हाथों की सेवा के अनन्तर अपने योग्य सेवा में क्यों उपस्थित नहीं हुए और यह एक प्रकारविशेष से कहा गया है। कुञ्जों में बहुवचन बहुत दिनों की अपेक्षा से किया गया है। प्रियतम या प्रेमास्पद श्री श्यामसुन्दर की ओर अभिसरण करती हुई श्रीराधा की अभिसृति या अनुगमन के लिये उचित अपने चरण को कब देखूँगी। पद और पथि धातु गमन अर्थ में हैं इस पक्ष में वैसी दुर्लभ प्राप्ति से यह सफलता हुई है। आन्तरिक अर्थ में उस समय के आनन्द का वर्णन करते हैं—जाने के लावण्य, विलास, लीला आदि की छवि की मञ्जरी को सभी दिशाओं में फैलती देखकर प्रियतम के सौभाग्य का चिन्तन करने तथा उनके सख्यभाव के कौतुक, हास, परिहास, और सुरत आनन्द के उपायभूत अनेक प्रकार की सुगन्धियों वाली पुष्पमालाएँ, ताम्बूल, व्यजन, पानक, आसव आदि पदार्थों को रत्नमयी पेटी में रखने में एक आनन्द है, उस पर भी प्रियतम के प्रिया जो के मार्ग पर नेत्र लगाये रहने, आतुरता और विस्मय से देखने,

निरीक्षणाङ्गस्फुरणाभिलाषकम्पस्तम्भादिस्तत्स्मरणानन्दः कुञ्जानां तत्त-न्ममत्वरतिसमुल्लसितप्रेमोदयचरणप्रसृतप्रशस्तस्तवकलतावल्लरीकादिदर्शने मार्गानन्द इत्यादिसर्वानुभवेन त्वदभिसृतावनिर्वचनीयानन्दः संपन्नस्तेन पदसाफल्यं तद्दृष्ट्वा नयनयोः प्रेमोल्लासो जातस्तत्र भवतोः किं प्रेमानन्द उच्यते सर्वावयवप्रधानावेव युवामिति भङ्ग्या समाश्वास-यन्वक्ति कुञ्जच्छिद्रैरिति अस्मदनुग्राहककुञ्जदत्तावसरेण सहायेन तव केलिकुशलाया निभृतां त्वद्गोपितामपि केलिं कलयितुमवलोकयितुमुचितौ। दृशिरवेक्षण इत्यर्थकसाफल्यं प्राप्तौ। अत्रापि तादृशानिर्वचनीयतत्केलि-प्रेक्षणानन्देनैवौचित्यं यदा वीक्षे तदपि शुभदिनं भवितेत स्वयं पश्यन्त्येवा-शिषमाशास्ते। एवमेव सर्वदा भवत्विति साञ्चलग्रहणोक्तिः सहृदयसखी-रीतिरेव। शुभदिनमिति लोके मङ्गलाभ्युदयिकोत्सवदिनं तादृक् रुच्यतिशय-त्वं प्रेमास्पदत्वं सर्वस्वमननं च युगलक्रीडादर्शने सदा स्थायि तत्रत्यानां ननु दौर्लभ्येन वदतीति भावः ॥१०५॥

रसकलश

अङ्गों (दक्षिण अङ्गों) का स्फुरण सूचित करने, अभिलाषा, कम्प, स्तम्भ आदि के स्मरण में उससे अधिक आनन्द है, कुञ्जों की उस उस ममता और प्रीति से उमड़ पड़े प्रेम के उदय से चरणों में फैले पुष्पों के गुच्छों और लतावल्ली आदि के दर्शन से उससे भी अधिक मार्ग का आनन्द है, इत्यादि सभी की अनुभूति से तुम्हारे अनुगमन में अनिर्वचनीय आनन्द सम्पन्न हुआ, इससे चरणों की सफलता देखकर नेत्रों से प्रेम उमड़ पड़ा, आप दोनों के प्रेम के आनन्द का क्या वर्णन किया जाए। आप दोनों प्रेम के सभी अवयवों में प्रधान ही हैं। इस प्रकार नेत्रों को आश्वासन देते हुए कहते हैं--'कुञ्ज के छिद्रों से' इत्यादि। हम पर अनुग्रह करने वाले कुञ्जों के द्वारा दिये गये अवसर की सहायता से प्रियाजी क्रीडाकुशल की निभृत केलि अर्थात् तुम्हारे द्वारा छिपाई गई क्रीडा को भी देखने के लिये उचित नेत्रों को कब देखूँगी। यहाँ पर नेत्रों के लिये दृश् शब्द का प्रयोग किया गया है। दृशिर् धातु प्रेक्षण करने के अर्थ में है, उक्त दर्शन से वे अपने अर्थ की सफलता को प्राप्त हो गये। यहाँ पर भी वैसी अनिर्वचनीय उन उन क्रीडाओं के दर्शन से प्राप्त आनन्द से नेत्रों को औचित्य की प्राप्ति हुई। 'जब देखूँगी, वह भी शुभ दिन होगा' इस प्रकार स्वय देखती हुई ही अपने लिये आशीर्वाद की आशा करती हैं। 'ऐसा ही सदा हो' यह अंचल फैला-कर आशीर्वाद लिया गया है। ऐसी सहृदय सखीजन की रीति ही है। 'शुभदिन' का तात्पर्य है कि लोक में मङ्गल और अभ्युदय सम्बन्धी उत्सव के दिन के समान रुचि की अधिकता, प्रेमपात्रता और उसे सर्वस्व मानना और युगल सरकार की क्रीडा के दर्शन में सदा स्थिर रहना यहाँ (श्री वृन्दावन में) रहने वालों के लिये सुलभ है, दुर्लभ नहीं हैं। इस अभिप्राय से कहते हैं ॥१०५॥

एवं स्वाङ्गप्रशंसनमुक्त्वा केलिजानन्दमनुभूय विलासानन्तरं किञ्चिद्वार्ताचाटुल्यं प्रियो वक्ति। ततः प्रियोक्तिरेवं परस्परगोष्ठ्यवसरं समीक्ष्य श्रुत्वा च तादात्विकशृङ्गारसमीकरणादिसेवामाशास्ते—

रहो गोष्ठीं श्रोतुं तव निजविटेन्द्रेण ललितां,
करे धृत्वा त्वां वा नवरमणतल्पे घटयितुम्।
रतामर्द्दस्रस्तं कचभरमथो संयमयितुं,
विदध्याः श्रीराधे, मम किमधिकारोत्सवरसम्
॥१०६॥

स्फुटेऽर्थे त्वभिलाषं करोति एवमधिकारस्यौत्सुक्यं मम वर्तते। तस्य रसास्वादं त्वं किं विदध्या इति । यथा कस्यचिद्वर्णाश्रमिणः किञ्चिद्वानकर्मभक्त्याद्यधिकृतस्य तादृश एव विधिस्तद्वन्ममैवमेवाधिकारोत्सुकस्य प्रस्तुतरसविधानं कुर्व्विति विदध्या इति अधिकारेति पदाभ्यां सूचितम् । इतरत्सर्वं मादृशस्य निषिद्धमित्यर्थत एवायातम् उत्सवेऽस्यौत्सुक्यपूर्णश्रद्धा । यथा श्रद्धां

रसकलश

इस प्रकार अपने अङ्गों की प्रशंसा कहकर और क्रीडा से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करके विलास के बाद वार्ता की चटुलता से प्रियतम कुछ कहते हैं। तब प्रियतम की उक्ति को ही परस्पर गोष्ठी का अवसर देखकर और सुनकर उस समय के शृङ्गार (नेपथ्य विधान) को ठीक करने की सेवा की आशंसा करते हैं—

'श्री राधे, तुम्हारी अपने रसिक शिरोमणि से एकान्त की ललित गोष्ठी सुनने के लिये, तुम्हारा हाथ पकड़ कर तुम्हें नवरमण (श्याम सुन्दर) की शय्या पर ले जाने के लिये, सुरत कालीन संघर्ष से खुल गये केशपाश को बाँधने के लिये क्या मुझे अधिकार देने के उत्सव के रस का विधान करोगी।१०६।'

स्फुट अर्थ में तो यह अभिलाषा की जा रही है। ऐसा अधिकार पाने की उत्सुकता मुझे है। उसके रसास्वाद का क्या तुम विधान करोगी। ज्ञान कर्म भक्ति आदि का अधिकार प्राप्त किये हुए जैसे किसी वर्णाश्रमी के लिये उसका विधान होता है, वैसे ही मैं भी इस अधिकार के लिये उत्सुक हूँ। मेरे लिये भी प्रस्तुत रस का विधान करो ऐसी प्रार्थना 'विदध्याः' और 'अधिकारोत्सवरसम्' इन पदों के द्वारा सूचित की गई है। और सब तो मेरे जैसों के लिये निषिद्ध ही है यह अर्थतः जाना जाता है। उत्सव का अर्थ है उत्सुकता और पूर्ण श्रद्धा का विषय। जैसे—'श्रद्धा के विना कर्म फल नहीं देता।' इसी

विना कर्मफलं न सूते इतिवद्यस्य यत्र यदौत्सुक्यमास्वादातिशयश्च स्यात्तस्य तत्साधनमेव शीघ्रफलदमिति । आन्तरेऽर्थेतु तत्तत्कुर्वाणैव वक्तीति गोष्ठीमाह, 'त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ, प्रिये भूयोभूयः सुदृढ़मति रागो भवतु मे । इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण मम चित्ते तव वचो, वदन्तीति स्मेरा मम मनसि राधा विलसतु ।। इति। अथवा पदम् 'प्यारी जू तैं मोहि मोल लियौ' इत्यादि प्रियस्योक्तिर्लाम्पट्यव्यञ्जिनी च । यथा 'श्रीमद्बिम्बाधरे ते स्फुरति नवसुधामाधुरीसिन्धुकोटि —र्नेत्रान्तस्ते विकीर्णाद्भुतकुसुमधनुश्चण्डसत्काण्डकोटिः । श्रीवक्षोजे तवातिप्रमदरसकलासारसर्वस्वकोटिः' श्रीराधे त्वत्पदाब्जात्स्रवति निरवधि प्रेमपीयूषकोटिः' इत्याद्यनुभूतचररसास्वादस्मारिणी विटेन्द्रस्य श्रीमत्युक्तिस्तु मौग्ध्यशुद्धा सा महारोचका मद्धृदयसाक्षिकैव । यथा ललितामिति । यथा विन्यासभङ्गिरङ्गानां

रसकलश

के अनुसार जिसको जहाँ जब उत्सुकता होती है और आस्वाद की अधिकता होती है उसके लिये वही साधन शीघ्र फल देने वाला होता है।

आन्तरिक अर्थ में तो उन उन सेवाओं को करती हुई ही कहती हैं। अतएव गोष्ठी कहा। जैसे—'हे नित्य प्रणयिनी, नागरी, प्रिया, श्यामा, तुम रसनिधि में मेरा अधिकाधिक सुदृढ अनुराग हो' ऐसा प्रियतम के द्वारा कहने पर 'रमण, मेरे चित्त में भी तुम्हारे यही शब्द हैं' यह कहती हुई मुस्कराती हुई श्रीराधा मेरे मन में विलास करे। किन्तु श्रीराधा जी के चित्त में विद्यमान इन्हीं शब्दों का अर्थ भिन्न है—'नित्य प्रणयी, नागर, रससागर प्रिय श्याम ऐसे म में मेरा अधिकाधिक सुदृढ़ अनुराग हो'। यहाँ गोष्ठी या परस्पर वार्तालाप दिखाया गया है ऐसा ही 'प्यारी जू तैं मोहि मोलि लीयो' इत्यादि पद प्रियतम को उक्ति है जो उनकी लम्पटता को प्रकट करती है। और जैसे—तुम्हारे बिम्बफल जैसे शोभाशाली अधरोष्ठ में नवीन सुधा के माधुर्य के कोटि सिन्धु हैं तुम्हारे नेत्रों के मध्य में अद्भुत पुष्पधन्वा (कामदेव) के प्रचण्ड और श्रेष्ठ बाणों की कोटि बिखरी हुई है तुम्हारे शोभासम्पन्न स्तनों में अत्यन्त प्रबल मद वाले रस की कलाओं के सार के सर्वस्व की कोटि है और हे श्रीराधे! तुम्हारे चरण कमल से निःसीम प्रेमामृतों की कोटि स्रवित होती है।' इत्यादि पहले अनुभव किये हुए रसास्वाद का स्मरण कराने वाली रसिकशिरोमणि की उक्ति है। श्रीमती राधा जी की—उक्ति तो भोलेपन के कारण शुद्ध और महारोचक है उसके लिये मेरा हृदय ही साक्षी है। अतएव इस गोष्ठी को ललिता या मनोहरा कहा गया है। जैसा कि कहा भी है—जहाँ

भ्रू विलासमनोहरा । सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदीरितम् । इदं लालित्यं तादात्विकांगानां वचसि त्वन्यादृशं वर्णव्यंग्यार्थगतं ज्ञेयं । तदानीं चाञ्चल्य-तया करे करन्यासो मन्त्रणावत् कदाचिन्मालां स्पृशति कदाचिदंसे धारयति तदा भ्रू विलासो यदनिर्वचनीय एव तस्मिन्मौग्ध्यस्मितबलनं लोलन्नासाग्र-मौक्तिकत्वं दशनाधरसितारुण्यच्छविप्रसरप्रियप्लावनं पदस्पर्शस्नेहस्तु तस्वर-श्चेति एवं महालम्पटेन सह निजेति । केवलानुकूलानन्यस्ववशविश्रब्ध-ममतास्पदेन तवेति तद्विटेन्द्रेन्द्रजालिकमायामोहितायास्तदानीं श्रवणीयां सहृदयगम्यां मनोहरां गोष्ठीं श्रोतुं रहसि कुञ्जेऽपि रह इति कथनं स्वासक्ति-कथनोद्यमेऽहमासज्यात्मकत्वात्स्वश्रोत्रादपि बिभेमीतिभङ्गिकं तेन किञ्चि-त्कर्णाभ्यर्णे प्रियं वक्तीति । गोप्यवार्ताकथने स्वरमान्थर्यं जातमिति भावः । तादृशमपि गोपनीयमहं तु त्वदन्तरङ्गदत्ताधिकारा शृणोमीति ।

रसकलश

रंगों की विन्यास रचना भ्रू विलास के कारण मनोहर है । और सुकुमार हो तब उसे ललित कहते हैं । इस प्रकार की ललितता गोष्ठी के समय अङ्गों की है । वाणी की ललितता तो कुछ और ही प्रकार की है जिसके प्रत्येक वर्ण में व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान हो ऐसा जानना चाहिये । उस समय चञ्चलता के कारण हाथ में हाथ लिया जाना जैसे कोई मन्त्रणा करनी हो । कभी माला को छूते हैं कभी कन्धे पर हाथ रखते हैं तब प्रियाजी का भ्रुकुटि विलास होता है जो कि अनिर्वचनीय ही है । उसमें भोलेपन के कारण मुस्कान और प्रतिकूलता है, नासिका के अग्रभाग में हिलता हुआ मोती है, दन्तावली की शुभ्रता और अधरोष्ठ की अरुणिमा वाली शोभा के प्रसार से प्रियतम को आप्लावित करना है और पदपद पर स्पर्श के कारण स्नेह से स्रवित स्वर है । इस प्रकार विटेन्द्र या महालम्पट के साथ जो निज शब्द है वह केवल अनुकूल अनन्य, अपने अधीन, विश्वस्त, और ममतास्पद अर्थ का बोधक, है । इस प्रकार उस विटेन्द्र के इन्द्र-जाल से उत्पन्न हुई माया से मोहित हुई ऐसी आप (श्री राधा जी) की उस समय श्रवण करने योग्य सहृदयों के हृदय से जानने योग्य मनोहर गोष्ठी को सुनने के लिये मुझे अधिकार का उत्सव कब दोगो ? यहाँ एकान्त कुञ्ज में भी एकान्त कहने का यह तात्पर्य है'—अपनी आसक्ति कहने के इस उद्यम में मैं आसज्या होने के कारण अपने कानों से भी भयभीत हूं ।' इसलिये कुछ कान के निकट होकर प्रियतम को कहती हैं । इस प्रकार गोप्य वार्ता कहने के समय स्वर की मन्थरता आ गई, यह भाव है । ऐसी गोपनीय बात को भी मैं तो आपके द्वारा दिया गया है अन्तरङ्ग अधिकार जिसको, ऐसी सुन लेती हूँ ।

ननु यत्स्वामिन्या गोप्यते तत्कथं श्रव्यन्तत्राह, 'त्वमनुग्रहवशात्युदारा मुग्धाऽयं महालम्पटो लौल्यं कुर्यादेव न जाने कस्मिन्वाक्ये वा कस्यां क्रीडायां किं मानाद्युत्पद्यते ।' तत्र यदि परस्परकलहे उभावेव स्वस्वसत्यतां वदेतां तदा पूर्वानुभूतहेतुपरम्पराज्ञानं विनार्थिनोर्मध्ये प्राड्विवाकत्वं प्रतिभूत्वं चास्माकं न सिद्ध्येदित्यतो न्यायार्थमस्माभिः श्रवणीयमेवेति व्यङ्ग्यं सख्यमयम् ।

एवमन्योऽन्यगोष्ठ्या श्रवणदृगाद्यानन्दपीयूषाप्यायनाङ्कुरितनवाभिलाषेण नवरचितान्यकुसुमतल्पमारोहयितुं प्रियः प्रार्थयति । पूर्वतल्पस्तु विलासोपमर्दित एव वा । श्रीवृन्दावनावन्यभिलाषस्य स्पर्शानन्दपूरणाया सहज मृदुभूम्यास्तरण एव स्थिताविति तदा प्रार्थितापि तल्लौल्यविदग्धा नारुरुक्षति । तत्समये दत्तश्रवणदृष्टिर्ल्लाघवेन सेवाव्याजेन प्रविश्य करे धृत्वा त्वां लाडलां नवरमणार्थकतल्पे घटयितुं स्थापयितुं अर्थाच्छ्रीमति त्वमत्रास्व, अत्रैव सम्भवसे एतद्योग्यमेव नाविश्रम्भं कुर्वित्युक्तिभङ्गिकं मत्प्राण-

रसकलश

अब प्रश्न होता है कि जिस बात को स्वामिनी छिपाती हैं वह कैसे सुनने योग्य हो सकती है; इस पर कहते हैं—श्री राधे, तुम तो अनुग्रह या कृपा के कारण अति उदार हो भोली हो, और यह (श्यामसुन्दर) महालम्पट है, यह चञ्चलता करेंगे ही न जाने किस वचन में या किस क्रीडा में क्या मान (प्रणय कोप) आदि उत्पन्न हो जाए। यदि परस्पर कलह में दोनों ही अपनी-अपनी सचाई प्रस्तुत करें तब तो पहले अनुभव की हुई कारण परम्परा का ज्ञान भी हो। उस ज्ञान के विना अर्थी और प्रत्यर्थी अर्थात् वादी और प्रतिवादी के बीच में प्राड्विवाक (वकील) बनना या प्रतिभू (जामिन) बनना हम से न हो सकेगा। इसलिये न्याय करने के लिये हमें सभी बातें सुननी ही होंगी यह सख्य भाव से पूर्ण व्यङ्ग्यार्थ है, यह पारस्परिक गोष्ठी की चर्चा हुई।

श्रोत्रों और नेत्रों को आनन्दामृत से तृप्त करने वाली, अभी अङ्कुरित हो उठी, अभिलाषा से नवीन रची गयी अन्य पुष्प शय्या तो विलास से उपमर्दित हो ही गई, मसली गई। अथवा श्री वृन्दावन की भूमि को अभिलाषा से स्पर्शानन्द को पूर्ण करने के लिये स्वभाव से कोमल भूमि के आस्तरण पर ही प्रिया प्रियतम दोनों स्थित हुए। उस समय श्यामसुन्दर द्वारा प्रार्थना करने पर भी चतुर प्रियाजी श्यामसुन्दर की चञ्चलता से परिचित होने के कारण इस नवीन शय्या पर आरोहण नहीं करना चाहतीं। उस समय मैं (हितसखी) उसी ओर श्रोत्र और नेत्र लगाये हुए थी, शीघ्रता से सेवा के व्याज (बहाने) से अन्दर चली गई और हाथ पकड़ कर तुम लाडलो को नवीन रमण के लिये कल्पित तल्प (शय्या) पर स्थापित करने के लिये अर्थात् (श्री मती जी, तुम यहाँ बैठो, तुम्हारा यहीं बैठना ठीक है, यही स्थान तुम्हारे योग्य है। अविश्वास

नीराजनीये लाडले क्षणं कवरीं संयच्छामीत्युक्त्वा तत्र सख्यबलेन स्थाप्य अथेति आनन्तर्यं मुख्यहेतुमाह रतामर्द्देन स्रस्तं मुक्तबन्धनं कचभरं संयमयितुं सम्यक्तमीकृत्य शीघ्रं वद्धुमिति । तत्र रतामर्द्दोक्तावन्येऽपि भूषणवसनाद्या विपर्यस्ता एवेति । तत्रापि कचसंयमस्यैवोक्तिर्विलाससमयसन्निधाना दविलम्बनीयमितिसूचनी ।

किञ्च भरोक्त्या अतिस्निग्धातिसूक्ष्मातिश्यामागुल्फदीर्घगौरवबहु-कान्तिप्रसरणवक्रशीलादिगुणविशिष्टकचभरं शय्यामभिव्याप्य मणिभूमि-पतनाभिमुखमुद्वीक्ष्य संवेष्टनायितप्रसरणेनाङ्गच्छविदर्शनानन्दविच्छेदं ज्ञात्वा संयमनं सौकुमार्येण भरधारणासहनहेतुकं तत्सुखार्थं च भवत्यतिवार्ता-वेशेन न ज्ञातवती पश्चात् खेदसम्भवो भावातिभङ्गिकं रतामर्द्दोऽन्योन्य-स्मरसमरावेशसकचग्रहचुम्बनादिजः । अतएव कबरविसरणम् एवं यद्यच्छ्रवण-

रसककश

मत करो,' इस प्रकार की उक्तियों से और 'मेरे प्राण तुम पर बलिहारी जाएँ हे लाडली जी, ऐक क्षण में मैं आपके केशपाश कों बाँध देती हूँ' यह कह कर उस शय्या पर सख्य भाव के प्रभाव से बैठा कर (मैंने अधिकारोत्सव के रस का आस्वाद प्राप्त कर लिया)।

अथ शब्द अनन्तर के अर्थ में है । अब मुख्य हेतु कहती हैं—सुरत संघर्ष से खुल गये केशपाश को बाँधने के लिये—भलीभाँति सँवार कर शीघ्र ही वेणी बना देने के लिये मुझे अधिकारोत्सव का रस कब दोगी) यहाँ सुरत संघर्ष का वर्णन करने पर अन्य भूषण, वस्त्र आदि भी विपर्यस्त या अस्त-व्यस्त हो गये होंगे ऐसा जाना जाता है। उन सब में से यहाँ केवल केशपाश बाँधने की बात कहना विलास का समय निकट आ जाने के कारण इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये यह सूचित करता है । यहाँ केश-पाश को कच भर कहने का यह तात्पर्य है कि श्री राधाजी के केश अत्यन्त स्निग्ध, अति-सूक्ष्म, अतिश्याम, पैरों के गटनों तक लम्बे, और गौरवशाली, कान्ति का अधिक प्रसार स्वाभाविक वक्र शीलता आदि गुणों से विशिष्ट केशपाश का शय्या व्याप्त करके मणिमय भूमि पर पड़ने के लिये उद्यत देखकर गोल घेरों के साथ फैलने से अङ्गच्छवि के दर्शन के आनन्द का विच्छेद जानकर उसका संयमन या बन्धन किया गया । किन्तु सुकुमारता के कारण केशपाश के भार को धारण करना असह्य होने से तत्सुख (श्री राधा जी के सुख) के लिये आपके प्रति वार्ता के आवेश से न जान सकी बाद में इस भार का खेद होना सम्भव है इस प्रकार से जो एक-दूसरे के प्रति स्मर समर के आवेश से कच ग्रहण और चुम्बन आदि से सुरत संघर्ष उत्पन्न हुआ, उसी से केशपाश बिखर गया । इस

घटनसंयमनादौ विश्रब्धता महासख्यमुख्यता प्राखर्यमांतरङ्गिकत्वं यद्यत्सुषमा-दर्शनश्रवणानन्दस्थगनप्रेमादि च तत्तद्दायभाग्भाग्यवैभवमनिर्वचनीयं श्रीहिताल्या एवेति किं विकत्थनीयं तुच्छमनोरसनयेति ।।१०६।।

एवं सेवाशंसनमात्र एव तदेव वर्तितं सम्भाव्य सुरतान्तानन्तरं कुञ्ज-भृङ्गादयोऽपि तदिङ्गितज्ञाः स्वावसरं प्राप्य दम्पतिमनसि स्वगुणोत्कर्षोद्दीपनेन कौतुकावेशं कुर्वन्ति । येनोभावपि क्रीडान्तरं कुरुत इत्याह—

वृन्दाटव्यां नवनवरसानन्दपुञ्जे निकुञ्जे,
गुञ्जद्भृङ्गीकुलमुखरिते मञ्जुमञ्जुप्रहासैः ।
अन्योन्यक्षेपणनिचयनप्राप्तसङ्गोपनाद्यैः
क्रीडज्जीयाद्रसिकमिथुनं क्लृप्तकेलीकदम्बम्
।।१०७।।

रसकलश

प्रकार जो जो सुनने, पहुँचाने, बाँधने आदि में विश्वस्तता, परम सख्य भाव की मुख्यता और प्रखरता है वह अन्तरङ्गता मूलक है और जो जो शोभा दर्शन और श्रवण के आनन्द से स्थगित हो जाना तथा प्रेमादि हैं वे श्री हितसखी के ही दायाधिकारी सखी-जनों के अनिर्वचनीय भाग्य वैभव रूप हैं । तुच्छ मन और रसना से उसकी श्लाघा कैसे की जा सकती है ।१०६।

इस प्रकार सेवा की आशंसा करने मात्र से ही वही हो गया ऐसी संभावना करके सुरतान्त के बाद कुञ्ज और भृङ्ग (भ्रमर) आदि भी उनके इङ्गितों को जानते हैं तभी अपना अपना अवसर प्राप्त करके प्रिया प्रियतम दोनों के मन में अपने अपने गुण के उत्कर्ष का उद्दीपन करने के द्वारा कौतुक का आवेश करते हैं जिससे दोनों ही अन्य क्रीडा करते हैं । इसका वर्णन करते हैं—

'श्री वृन्दावन में नवीन नवीद रस के आनन्द के पुंजभूत एवं गूंजते भृङ्गी कुल से मुखरित निकुञ्ज में मनोहर मनोहर प्रहासों द्वारा, एक दूसरे की ओर क्षेपण (फेंकना) निचयन (पकड़ना) और प्राप्त वस्तु के संगोपन (छिपाना) आदि के द्वारा क्रीडा करते हुये जिन्होंने केलि कदम्ब (क्रीडा समूह) की कल्पना की है ऐसे रसिक दम्पती की जय हो ।१०७।

रसिकमिथुनं जीयादिति रसिकत्वं प्रति प्रसद्य साञ्चलग्रहाशीः सखीवात्सल्यात्मिका । कीदृशं क्लृप्तं केलीनां कदम्बं समहो येन तत् द्रवकेलिपरिहासाः क्रीडा खेला च कूर्द्दनमिति । कोशात् सौरताद्भिन्ना शृङ्गारपोषकहास्यात्मिका केली । क्लृप्तमिति नवरीत्या रचितं तदेवाह—वृन्दाटव्यामिति तत्स्वरूपं शतके—त्रैगुण्यातीतपूर्णोज्ज्वल विमलमहाकामबीजात्मदिव्यज्योतिःस्वानन्दसिन्धौ किमपि सुमधुरं द्वीपमाश्चर्यमस्ति ।

तस्मिन्वृन्दावनं तद्रहसि रसभरैर्मञ्जुला कुञ्जवाटी
काचिद्यत्रातिभावाद् भज सुरतिनिधी राधिकाकृष्णचन्द्रौ इति ।

आनन्दसिन्धुद्वीपस्थाया आनन्दैकसाररूपत्वं सदा तत्रानुक्तमपि ज्ञेयम् ।

किञ्च तत्र नवनवरसानन्दपुञ्जे निकुञ्ज इत्युक्तं अटवीत्यनेन निर्जनसघनाकृत्रिमत्वं लोकरीत्यापि सूचितम् । तत्र रसानन्दावेव पुञ्जीभूय

रसकलश

रसिक दम्पती की जय हो, यहाँ दम्पती रसरूप होते हुए उसके भोक्ता भी है अतः रसिक दम्पती कहलाते हैं । दूसरी बात यह है कि जैसा रस का यथार्थ स्वरूप है उसका उपभोग करने में या विवेचन करने में कौन समर्थ हो सकता है । 'जय हो' यह कहते समय रसमूर्ति दम्पती की रसिकता पर प्रसन्न होकर अंचल फैलाकर आशीर्वाद दी गई है । इस समय श्रीहित सखी वात्सल्यमयी बनी हुई हैं । रसिक मिथुन या रसिक दम्पती कैसे हैं ? इस पर कहते हैं कि कल्पित हुआ है क्रीडाओं का समूह जिनसे वे रसिक दम्पती । 'द्रव, केलि, परिहास, क्रीडा, खेला और कूर्दन' शब्दकोष के अनुसार यह क्रीडा के नाम हैं तदनुसार सुरत से अतिरिक्त शृङ्गार पोषक, हास्यात्मक, क्रीडा यहाँ कल्पित हुई है नई पद्धति से विरचित हुई है । उसी का वर्णन करते हैं । श्रीवृन्दावन में—जिसका वर्णन श्री प्रबोधानन्द सरस्वती जी ने शतकों में किया है—

'तीनों गुणों से अतीत या मुक्त, पूर्ण और उज्ज्वल, विमल तथा महान्, काम बीज ही है स्वरूप जिसका ऐसी दिव्य ज्योति के आनन्द सागर में कोई अनिर्वचनीय, अतिमधुर, आश्चर्यमय द्वीप है । उस द्वीप में वह वृन्दावन है जिसके किसी एकान्त भाग में रस के भारों से भरी कोई सुन्दर कुञ्जवाटी है ।

उसमें अतिभाव से सुरति के सागर श्रीराधिका और श्री कृष्णचन्द्र का भजन करो । आनन्द सिन्धु के द्वीप में स्थित उस कुञ्जवाटी की सदा ही आनन्द मात्र साररूपता जो न कहने पर भी जान लेनी चाहिए तभी 'नव नव रस और आनन्द के पुञ्जभूत है कुञ्ज में' ऐसा कहा गया है । तथा वृन्दाटवी में 'अटवी' शब्द का प्रयोग वृन्दावन की निर्जनता सघनता और अकृत्रिमता को लोकरीत से भी सूचित करता है । वहाँ पर रस

निकुञ्जो जात इति । ननु रसान्तर्गत एवानन्दस्तत्रैवं ज्ञेयम् । परात्परो रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीत्यत्र रसं प्राप्यानन्दीभवनेन रसश्चानन्दश्चेति द्वयं कारणकार्ये सहैवोदिते इति । अथवा रस आस्वादः सर्वेन्द्रियको लौकिकरीत्या पञ्च शब्दादयो यत्र निरतिशया एव शब्दो रागरागिण्यात्मकसौस्वर्यं भृङ्गकोकिलादीनां चेति यावत् शब्दो वर्णात्मकध्वन्यात्मको निरतिशयानन्दक एव । स्पर्शस्त्रिविधः वातमार्दवसुस्पर्शादि । रूपं तत्तद्वस्तुगतनिरतिशयलावण्यसौन्दर्यम् । रसः षड्रसाः निरतिशयरसनास्वाद जनका यावच्छ्रेष्ठामृतमयपेयभोज्यात्ममधुफलाद्याः गन्धो निरतिशयविविधसौरभमयपुष्पवातादिः । अन्यत्र जाड्यांशगतचिदानन्दांशेन लोकैरानन्दोऽनुभूयते । अत्र जाड्यहेयांशाभावात् रसानन्दावेव तत्तद्रूपेण परिणतौ । एवं तादृशरसानन्दोपादानतरुवल्लीनिर्मितनिकुञ्जे नवनवत्वं कालमायाद्य-

रसकलश

और आनन्द ही पुञ्ज होकर निकुंज बन गये हैं । नकि वहाँ आनन्द रसान्तर्गत है । वहाँ यह समझना चाहिए कि उपनिषदोंमें 'परात्पर रस ही वह है , उस रस को प्राप्त करके ही यह आनन्दवान् होता है' कहा गया है । इस कथन में रस को प्राप्त करके आनन्दवान् होने से सूचित होता है कि रस और आनन्द दो वस्तुएँ हैं और उनमें कारणकार्य भाव है ,किन्तु वे दोनों एक साथ उदय हुए हैं ।

अथवा रस आस्वाद है जो सभी इन्द्रियों को प्राप्त होता है । लोकरीति से शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हें पाँच विषय भी कहते हैं । यह पाँचों जहाँ निरतिशय निःसीम हैं, ऐसा यह निकुञ्ज है । यहाँ शब्द राग, रागिणी के रूप में मधुर स्वर हैं तथा भ्रमरों का गुञ्जन और कोकिलों का कूजन आदि हैं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है पहला 'वर्णात्मक' और दूसरा ध्वन्यात्मक ।' यहाँ दोनों प्रकार का शब्द निःसीम आनन्ददायक है । स्पर्श तीन प्रकार का है, शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत । अथवा वायु की मृदुता के कारण सुख-स्पर्श आदि तीन भेद हैं । रूप उस उस वस्तु में विद्यमान निःसीम 'लावण्य' और 'सौन्दर्य' है । रस छः हैं जो यहाँ निःसीम रसना स्वाद को जन्म देते हैं । जितने उत्तम अमृतमय पेय और भोज्य मधु और फल आदि हैं वे सभी निःसीम रसमय हैं । गन्ध भी निःसीम विविध सुगन्धियों से पूर्ण पुष्प और पवन आदि में विद्यमान है । और स्थानों पर 'जाड्यांश' में विद्यमान 'चिदानन्दांश' से लोग आनन्द का अनुभव करते हैं । यहाँ पर जाड्य रूपी हेय के अंश का अभाव होने के कारण रस और आनन्द ही उस उस रूप में परिणत हुए हैं । इस प्रकार उन रस और आनन्द के उपादान से बने तरुलता से निर्मित निकुञ्ज में रस और आनन्द की नवनवता अर्थात् नित्य नवीनता सिद्ध है, क्योंकि यहाँ के रस और आनन्द पर काल, माया

भावात् नवरसविहारोद्दीपनाच्च यथा मत्तवल्लीचलद्वृक्षदर्शनाद्भावोदयः। तादृशे निकुञ्जे स्वतत्सुखानन्दमधुमत्तभृङ्गीकुलं स्वतो गुञ्जति तेन मुखरिते कृतालाप इवेति।

किञ्च यद्यत्स्वस्मिन्नुभयवर्तितवृत्तं तदेव दृष्ट्वा किं सम्वदतीति। यथा रागभोगभृङ्गारादिविशिष्टमहोत्सवाविष्टचित्तवद्गृहीततत्तत्साधकनियोजनव्यग्रतया मुखरः स्यात्तद्वन्निकुञ्जोऽपीति। भृङ्गीति सौभाग्यजागरोत्सवे कुलस्त्रीणामेव मङ्गलगाने मुख्यत्वम्। मुखरेति कौतुकहासपरिहासादिमयगीतिधाष्टर्यसम्भवेन प्राखर्यम्। अतएव मञ्जुमञ्जु प्रहासैरिति गुञ्जदित्यनेन च सम्बध्यते भृङ्गीगतमञ्जुहाससंलापगानस्य हितालीहृदयमेव साक्षि।

किञ्च सखीवाक्यं तु प्रसिद्धरीत्या निश्चिनुयादपि भृङ्गकोकिलादीनां तादृशविचक्षण एव जानीयादित्यपि तत्रस्थानां सर्वेषामेव सर्वज्ञत्वसर्व-

रसकलश

आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शृङ्गार आदि नौ रसों के विहारों का उद्दीपन करने के कारण भी यह नव (नवीन) नव (नौ) रसों और आनन्द का आश्रय है। जैसा कि मतवाली लताओं और चपल वृक्षों के दर्शन से भाव का उदय होता है, इत्यादि वाक्यों में कहा गया है। इस प्रकार के निकुञ्ज में अपने उस सुख के आनन्द से और मधु से मतवाले भृङ्गियों के कुल स्वयं गुञ्जन करते हैं। उस गुञ्जन से मुखरित अर्थात् बोलते हुए निकुंज में क्रीड़ा करते हुए रसिक दम्पति की जय हो।

एक और बात भी है कि जो जो अपने में प्रिया प्रियतम द्वारा किये गए लीलाचरित हैं उनको ही देखकर क्या यह निकुञ्ज सम्वाद कर रहा है ऐसी आशङ्का होती है। जैसे राग, भोग, शृंगार आदि से विशिष्ट महोत्सवों में आविष्ट चित्त सा हो अर्थात् मन लगाये हुए हों और उन उन साधकों के नियोगों को ग्रहण करने के कारण व्यग्रता से मुखर सा हो ऐसा निकुञ्ज है। यहाँ भृङ्गी कहने का यह तात्पर्य है कि सौभाग्यजागर (सुहाग की रात) के उत्सव में कुलाङ्गनाओं की ही मङ्गल गान में मुख्यता होती है मुखर कहने का यह अभिप्राय है कि कौतुक, हास, परिहास आदि से युक्त गीत गाने की धृष्टतासे प्रखरता उत्पन्न हो गई है। इसीलिये 'मञ्जु मञ्जु प्रहास' कहे गये हैं, उन मञ्जु मञ्जु प्रहास से गुञ्जन करती हुई भृङ्गियों के कुल से मुखरित' यह सम्बन्ध है। भृङ्गीकुल में विद्यमान मञ्जुहास, संलाप और गान का तो श्रीहितसखी का हृदय ही साक्षी है।

और फिर वे सखीजन के वाक्य का तो प्रसिद्ध रीति से निश्चय करेंगी। भृङ्ग और कोकिल आदि की बात तो वैसे विचक्षण पुरुष ही जाने इस प्रकार वहां रहने वाले सभी लोगों की

वक्तृत्वादिघटना नासम्भाव्या तादृशकान्ते तादृग्रूपा एव सख्यः सङ्गच्छन्ते । न चात्र भृङ्गकुलोक्तिः पुंस्त्वेन स्वरे कार्कश्यं सूक्ष्मदृशावधेयम् । अतः स्त्रीत्वात्कण्ठसुस्निग्धत्वं मार्द्दवं मधुरं च प्रहासस्तासां यूथेऽपि दम्पतिकृतममत्वेन भिन्नभिन्नयूथत्वात्संघट्टे काश्चित्प्रियासौरभं श्लाघन्ते काश्चित् प्रियस्य एवमन्यलीलादीन्वा । तत्र प्रेमकलहः संघर्षविवादेन जायते । तच्छ्रुत्वापि सखीनां दम्पत्योश्च हृदये तद्भाषाज्ञानात् मञ्जोरपि मञ्जुभानम् एकतोभृङ्गीनां सम्वाद एव स्वादुस्तत्रापि यदा ममत्वेन संघर्षहासस्तदा किमास्वादातिशयः सहृदयगम्य एवेति वा दम्पतिकर्तृकैः प्रहासैरिति यथातदिच्छानन्दक्रीडावशव्यक्तसच्चिदानन्दमयबहुविधभृङ्गपक्षितरुवल्ल्यादिगुणास्तत्सुखासक्ता एव। तत्र कौतुकेन विलासिनाथाभ्यां प्रेमममतास्पदौ कौचिद् भृङ्गदम्पती अधिकृतौ मदीयेयंमदीयोऽयं चेति । तद्विवाहेऽन्यभृङ्गीगणस्तद्दास्यार्थं

रसकलश

सर्वज्ञता और सर्ववक्तृता आदि का होना असम्भव नहीं है । वैसे एकान्त में वैसे स्वरूप वाली सखियाँ ही मिल सकती हैं या उनका होना ही सङ्गत होता है। इसलिये भी यहां भृङ्ग कुल का नाम नहीं लिया गया है पुरुष होने के कारण उनके स्वर में सूक्ष्म दृष्टि से कर्कशता का ध्यान कर लेना चाहिये । इधर भङ्गियों के स्त्री होने के कारण कण्ठ की सुस्निग्धता, मृदुता और मधुरता भी ज्ञात होती है । प्रहास उनके यूथ (समूह) में भी दम्पति-प्रिया प्रियतम-के द्वारा ममता की गई है, उनमें अलग अलग यूथ या समूह होने के कारण संघट्ट या संघर्ष हो जाता है उसमें कई प्रिया जी के यश की श्लाधा करती हैं और कई प्रियतम की । ऐसी अन्य लीला आदियों की भी श्लाधा करते हैं, तब उनमें संघर्ष के विवाद से प्रेमकलह होने लगता है । उसे सुनकर सखीजन और प्रिया प्रियतम के हृदय में उस भाषा के ज्ञान से मञ्जु से भी मञ्जु प्रतीत होती है। एक ओर भृङ्गियों का संवाद हीं स्वादिष्ट है, उसमें भी जब ममता के कारण संघर्ष ज्ञान हो तब कितना अधिक स्वाद मिलेगा ? इसे सहृदय ही जान सकते हैं ।

अथवा प्रिया प्रियतम द्वारा प्रहास किये गये हैं जैसो उनकी इच्छा, आनन्द और क्रीड़ा होती है उसीके अधीन होकर अनेक प्रकार के सच्चिदानन्दमय भ्रमर, पक्षी, वृक्ष लता आदियों के गुण व्यक्त या प्रकट हो जाते हैं वे सभी तत्सुख (श्री राधा जी के सुख) में आसक्त होते हैं। उनमें से कौतुकवश विलासी युगल सरकार के द्वारा प्रेम और ममता के पात्र बनाये हुए कोई से भ्रमर दम्पति (भृङ्ग और भृङ्गी) अधिकृत हैं, श्री श्री राधा भ्रमरी के लिये कहती हैं यह भ्रमरी मेरी है और श्यामसुन्दर कहते हैं कि यह भ्रमर मेरा है । उनके विवाह में अन्य भृङ्गीगण को उनकी सेवा (दास्य के लिये दिया।

दत्त एवं लालनेन निजकरक्रीडनकेन्दीवरकनकाब्जयोः क्रमेण तत्र नियतवासौ स्वेशमुखामोदमुदितौ च तद्भोगतृप्तौ निजनिजस्वात्म्याज्ञानुल्लङ्घिनौ यदा विहारशयनादिस्तदा कुञ्जमण्डपकोणे कस्मिश्चित्कुसुमादौ तिष्ठन्तौ तद्विलासं स्मरतः पश्यतः प्रेमानन्दवशेन गायतस्तयोर्यमाकारयेत्स एव गच्छेन्नान्य इति परस्परासक्तावपि एवं निदेशवशौ तत्र प्रियया स्नेहेन भृङ्ग्याकारिता किमन्योन्यं सम्वदति समक्षं कथयेति तद्गुञ्जितश्रवणाभिलाषेण तदा नाममात्र एवं गुञ्जत्यागता तदनु तत्कुलमप्यागतम् । तत्र प्रियस्याकारणं विना भृङ्गो नागतः परमव्याकुल आदेशापेक्षी तत्रैव गुञ्जन्विलुठति । तद्दृष्ट्वा प्रिया परमस्नेहमूर्तिस्तद्विप्रलम्भभिया प्रियमाज्ञापयति । यदेनमाह्वयेति यदा स स्वप्रेमार्ति दर्शयितुं नाह्वयति तदा बहुकरुणा चिबुकं गृहीत्वा पुनः पुनः काकुवाणीं करोति । यदसावेव किं नायाति त्वमेव कथं नाकारयसीत्युक्ता तदा सा अयं दुर्ललितस्त्वदाज्ञां विना न पदमपि चलति मद्धृदयं व्याकुलयति ।

रसकलश

इस प्रकार लालन करने के द्वारा अपने हाथों के खिलौने नीलकमल और स्वर्णकमल पर क्रमशः उनका निवास निश्चित कर दिया, वहाँ रहते हुए वे दोनों अपने २ प्रभु के मुख-कमल को सुगन्धि से प्रसन्न हुए, उन कमलों के उपभोग से तृप्त रहते हुए अपने अपने स्वामी की आज्ञा का उलङ्घन नहीं करते। जब विहार शयन आदि का समय होता है तब कुन्ज मण्डप के कोने में किसी पुष्प आदि पर बैठकर उस विलास का स्मरण ध्यान करते हैं, देखते हैं। प्रेम और आनन्द के आधीन होकर गाते हैं। उन दोनों में से जिसे बुलाया जाता है वही जाता है दूसरा नहीं। वे आपस में आसक्त होते हुए भी प्रियतम की आशा के अधीन रहते हैं। वहाँ प्रिया जी ने स्नेह से भृङ्गी को बुलाया, तुम दोनों आपस में क्या बात कर रहे थे। हमारे सामने कहो, यह आज्ञा उसका गुन्जन सुनने की इच्छा से दी तब तो नाम मात्र से ही भृङ्गी गूंजती हुई आ गई, उसके पीछे पीछे उसका ल (दासी गण) भी आ गया। पर प्रियतम के बुलाये बिना भ्रमर न आया, अत्यन्त व्याकुल होकर आज्ञा की उपेक्षा करता हुआ वहीं गूंजता हुआ लोटता पोटता रहा। उसकी यह दशा देखकर परम स्नेह मूर्ति श्री प्रिया जी ने उसके वियोग के भय से प्रियतम को आज्ञा दी कि इसे भी बुलाओ। जब श्यामसुन्दर अपनी प्रेम व्यथा दिखाने के लिये उसे नहीं बुलाते। तब बहुत करुणाशील प्रिया जी प्रियतम की चबुक (ठोडी) पकड़ कर बार बार काकुवाणी बोलती हैं, इस पर श्याम कहते हैं यही क्यों नहीं आ जाता, तुम्हीं क्यों नहीं बुला लेती। तब श्री राधा कहती हैं कि यह दुर्ललित (लाड प्यार से बिगड़ा हुआ) है, तुम्हारी आज्ञा के बिना एकदम भी नहीं चलता, मेरे हृदय को भी

ननु यदस्य प्रेमा स्वदयितायां तदा किं विलम्बयति । कथं वा त्वदीय-भृङ्ग्याः प्रेम यत्स्वकान्तं त्यक्त्वात्रागता तदा सा किं त्वद्भृङ्गप्रेमेति भूयो भूयः कथनेन स्वस्वप्रेमाभिमानेन संस्पर्द्धयन्तौ परस्परं हसत इत्येवं मञ्जु-मञ्जुहासो बहुविधः प्रकर्षेण जातस्तदा सखीनां किमनिर्वचनीयानन्दः स्निग्धविदग्धमुग्धत्वादिभवो जात इति सहृदयगम्यः । इत्येवं तादृग्गुञ्जित-निकुञ्जे मञ्जुमञ्जुप्रहासैः क्रीडदिति मिथुनविशेषणं तथा चान्योन्य-क्षेपणं पार्श्वधृतं क्रीडाकञ्जं वा कन्दुकं वा पटकञ्चुक्यादि परस्परस्य परस्परं स्वस्वसखीहस्ते संज्ञया क्षिपति । हस्ताप्राप्यत्वात् तत्र हासः प्रसिद्ध-एव । पुनश्च निचयनमिति विततस्य पीतपटादेः सङ्कुच्य समुह्य पुनरन्य-रूपान्तरीकरणं वा सखीहस्ते क्षिप्तं तत्र मार्गणेऽप्राप्य कुत्र गतं मे पटमित्युक्ते नाहं जानामि यदि न प्रतीतिश्चेद्धस्तं पश्येति करं प्रदर्श्यान्यकार्यान्तरच्छलेन दृष्टिं मुषित्वा समुह्य नीलपटं वा कञ्चुक्याद्यन्यत्र निक्षिपति । तदा कुत्र

रसकलश

व्याकुल करता हैं । यदि इसे अपनी प्रिया भृङ्गी पर स्नेह हैं तब विलम्ब क्यों करता है । अथवा तुम्हारी भृङ्गी का भी यह प्रेम कैसा है जो अपने प्रियतम को छोड़कर यहाँ आ गई है । तब वे श्री राधा कहती हैं—तुम्हारे भृग का प्रेम कैसा है । इस प्रकार निरन्तर सूक्तियों द्वारा अपने-अपने प्रेम के अभिमान से स्पर्द्धासी करते हुए प्रिया प्रियतम परस्पर हंसते हैं । इस प्रकार मञ्जु मञ्जु (सुन्दर अति सुन्दर) हास अनेक प्रकार का प्रकृष्ट रूप से हुआ । तब सखीजन को युगल सरकार की स्निग्धता विदग्धता और मुग्धता के कारण कैसा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ इसे सहृदय ही जान सकते हैं ।

इस प्रकार 'वैसे गुञ्जितों वाले निकुञ्ज में सुन्दर अति सुन्दर प्रहासों से क्रीड़ा करते हुए' यह मिथुन या युगल सरकार का विशेषण है । ऐसे ही अन्योन्य क्षेपण अपने पास रखे हुए क्रीड़ाकमल या कन्दुक अथवा एक दूसरे के वस्त्र कञ्चुकी आदि आपस में अपनी सखियों के हाथों में संकेत से ऐसे रखते हैं कि आपस में एक दूसरे के हाथ में न जा सके, तो वहाँ हास परिहास होता है यह प्रसिद्ध ही है । फिर निचयन फैले हुए पीता-म्बर आदि को एकत्रित करके समेटकर (तह करके) फिर अन्य रूप में उसे परिवर्तित करना । (और प्रकार से तह करना) अथवा सखी के हाथ में जो रखा था उसे ढूंढा तो भी नहीं मिला, तब 'कहाँ गया मेरा वस्त्र' यह पूछने पर मैं नही जानती, यदि तुम्हें विश्वास न हो तो मेरे हाथ देखलो' यह कहकर हाथ दिखाती हैं तब प्रियतम अन्य किसी कार्य के बहाने आंख बचाकर नीलाम्बर या कञ्चुकी आदि को दूसरी ओर रख देते हैं,

मन्निचोलादि तदा प्रियोऽपि करद्वयं रिक्तं प्रदर्श्य पुनश्चौरोऽसीत्युक्तिहठेन करे गृहीते सति स्मृतिचकितो वक्ति, 'ज्ञातं ज्ञातमहोऽद्य स्मृतिमागतं-मत्पीतपटं मार्गितुं गतो दृश्यते यदा प्राप्स्यति तदैव तन्नीत्वा सहैवागमिष्यतो'ति प्रहासः परस्परं जात इति । पुनश्च यदा सखीभिर्निह्नुत्य दीयते तदा प्राप्तस्य सङ्गोपनमिति दानसमये दृष्टिमायाति चेत्किं त्वत्करेऽस्तीति तदान्यद्वस्तुलाघवेन प्रदर्श्य न त्वद्वस्तु मत्करेऽस्तीत्येवं प्रिया वंश्यादि निगूहयति । तदा चौरश्चौरगतिं जानातीति वत्सोऽपि, 'अहोअहो पश्य पश्य किं चेन्द्रादि किं पक्षिमृगाणां युद्धं किं कौतुकाश्चर्यमि'तिदृष्टिमन्यपरां कृत्वा किञ्चित्त्तादिष्टवस्तु हस्ते प्राप्य संगोपयति तदा कतिचित्क्षणे निभालयति 'क्व गतं मद्वस्त्वि'ति प्रिया शपथं दापयति तदा हास्यसत्योभयरक्षणे वक्ति 'यदंहः पाणिपाणौस्यान्नेत्राभ्यामेकदर्शने । शृङ्गारे हास्यमिलनाद् ग्रासग्रासे

रसकलस

तब 'कहां गया मेरा निचोल आदि' ऐसा प्रिया जौ पूछती हैं और प्रियतम दीनों हाथ खाली दिखाते हैं, जब उन्हें 'तुम चोर हो' ऐसा कहा गया तथा हठपूर्वक जब उनका हाथ पकड़ा गया तब जैसे याद आ गया हो ऐसे चकित-से होकर कहते हैं । हां ज्ञात हो गया, ज्ञात हो गया । अहो, अब याद आया मैं अपना पोताम्बर ढूंढने गया था तब देखा था, अब फिर देखता हूँ, जब मिल जाएगा तो तुम्हारा निचोल मेरे पीताम्बर के साथ ही लेकर आयेगा । 'इस प्रकारका प्रहास आपस में हुआ । फिर जब सखियों ने छिपाकर दिया तब उस प्राप्त पट आदि का संगोपन किया गया उसको छिपाया गया । देते समय तो दिखाई पड़ सकता है ? इस पर कहते हैं कि जब कुछ दिखाई पड़ा तो पूछा तुम्हारे हाथ में क्या है तब शीघ्रता से अन्य वस्तु दिखाकर तुम्हारी कोई वस्तु मेरे हाथ में नहीं है इस प्रकार से है' प्रियाजी प्रियतम को ंशो आदि को छिपाती हैं तब 'चोर चोर की चाल को पहचानता इसके अनुसार प्रियतम तभी अहो अहो देखो यह चन्द्रमा कैसा है इत्यादि, यह पक्षियों या मृगों की लड़ाई कैसी है इत्यादि, यह कैसा आश्चर्यमय कौतुक है इत्यादि कह कर दृष्टि को दूसरी ओर लगवा कर प्रिया जी की कोई प्रिय वस्तु हाथ में लेकर छिपा लेते हैं । तब कुछ क्षणों तक वे ढूँढती हैं कहाँ गई मेरी वस्तु; फिर प्रिया जी शपथ देती हैं तब हास्य और सत्य दोनों की रक्षा करने के लिये कहते हैं—'जो पाप हाथ पर हाथ रखने में होता है जो पाप दोनों नेत्रों से एक वस्तु देखने में होता है, शृङ्गार में हास्य मिलाने से जो पाप होता है तथा ग्रास के बाद दूसरा ग्रास लेने में जो पाप होता है मुझे वह पाप हो यदि मेरे पास तुम्हारी वस्तु हो ।,' स्वर्ण में सुन्दर

तदस्तु मे ॥' 'स्वर्णसद्रत्नखचने सुमनःसूत्रभेदने । अलिमध्वासवास्वादे तदस्तु मम चोरणे ।' इत्येवमुक्ते प्रहस्य शिरो धुन्वती साधु साधु सद्गुरुशिक्षितो धर्म इत्युक्त्वा मच्छपथेन सत्यं भाषयेत्युवाच । तदा स्वधर्मसङ्कटे वक्ति- 'प्रियाधरोष्ठदंशे यद्यद्वक्षोरुहपीडने । यन्नीवीस्रंसने चांहस्तदस्तु मम नित्यशः' पुनश्च सभ्रूभङ्गं विहस्य कटाक्षिप्य तवेष्टश्रीवृन्दावनस्यैव शपथं सत्यं ब्रूहीत्युक्तो पुनरुत्तर्ज्जन्याह अहो श्रीवृन्दावन नित्यमद्गेयगुण यन्मया चोरितं तत्त्वमेव जानासि तवैव शपथस्त्वत्कुञ्जाद्बहिः कदापि नावसरं देहीति न चाहं गन्तुमुत्सहे नवनवानुराग एव वर्द्धतामित्यादि मञ्जुमञ्जु-प्रहासमयैः क्षेपणनिचयनसंगोपनैः ।

अथवा लोकभाषाप्रसिद्धौ गुडीपतंगादीनां क्षेपणं पश्चान्निचयनमित्याद्यपि क्रीडा । आदिशब्देनान्यक्रीडा यथा शतके—अक्षैः कुत्रापि खेलत्क्वच-निलयनैः कुत्रचिच्चोरिकाभिर्व्वल्लीवृक्षानुकृत्या क्वचन ननु मिथः क्वापि हिन्दोलनेन । क्वाप्याश्चर्यप्रहेल्या क्वचन खगमृगादीहितैः क्वेन्द्रजालै-र्वृन्दा-

रसकलश

रत्न जड़ने में पुष्पों को सूत्र पिरोते समय छेदने में भौंरे को मधुका आस्वादन करने में जो पाप होता है यदि मैंने तुम्हारी चोरी की हो तो मुझे वह पाप लगे ।' ऐसी शपथ लेने पर प्रिया जी हँस कर सिर हिलाती हुई अच्छा, अच्छा पक्के गुरु ने तुम्हें धर्म सिखाया है यह कहा और फिर बोलीं कि मेरी शपथ लेकर सत्य बोलो, तब तो धर्म संकट में पड़कर कहते हैं—प्रिया के अधरोष्ठ कर दंशन करने में जो होता है और जो प्रिया के स्तनों का पीड़न करने में होता है, जो प्रिया की साड़ी को खोलने में होता है वह मुझे प्रतिदिन हो ।' इस पर प्रियाजी भ्रूभंग के साथ हँसकर और प्रियतम की ओर कटाक्ष से देख कर डरती हुई कहती है—तुम्हें अपने प्रिय वृन्दावन की शपथ है, सत्य कहो ।' तब श्याम सुन्दर कहते हैं—हे मेरे द्वारा जिसके गुण गाने योग्य हैं ऐसे वृन्दावन, मैंने जो कुछ चुराया है उसे तुम ही जानते हो, तुम्हारी ही शपथ है, तुम्हारे कुन्जों से बाहर जाने का मुझे कभी अवसर न देना, मन में कभी ऐसा उत्साह भी न हो, प्रत्युत मेरे मन में नया नया अनुराग ही बढ़े । इत्यादि मधुर मधुर प्रहासों के द्वारा क्षेपण, निचयन संगोपन आदि कर के अथवा लोक भाषा में प्रसिद्ध गुड्डी, पतङ्ग आदि को फैंकना, बाद में ढूँढना इत्यादि भी क्रीड़ा है अथवा क्रीड़ा शब्द से अन्य क्रीड़ाएँ भी ली जाती हैं जैसा कि शतक में लिखा है—'कहीं जुआ खेलते हुए, कहीं छिपते हुए, कहीं चोरी करते हुए, कहीं लता और वृक्ष का अनुकरण करते हुए, कहीं आपस में एक दूसरे को झुलाते हुए, कहीं आश्चर्यजनक पहेली देते हुए, कहीं पक्षियों और मृग आदियों की चेष्टाएँ करते

रण्येऽतिदिव्यं किमपि विजयते गौरनीलं द्विधाम ।। यथा च–पश्चादेत्य प्रियमतिरसाद्यत्र नेत्रे पिधाय, ज्ञात मुञ्च त्वमसि ललितेत्याह राधा हसन्तम् । सत्यं ज्ञातं यदसि पुलकिन्येवमालीं हसन्तीं, सन्दर्श्यान्या शिशिरमरुता पल्लवेनाजघान यथा च–'ऊर्ध्वप्रेक्षणमोहनाक्षिवदनं श्रीराधिका तर्ज्जनीमुत्तोल्यामृतभाषितेन तलगा सन्दर्शयेन्मोहनो । येषां दिव्यफलानि नागरवरः संपातयेत्सादरं, स्वामिन्येवमवाचिनोति भज तान् वृन्दावनद्रून्सखे ।। इत्याद्यैः क्रीडन्नवनवक्तृप्तकेलिकदम्बं रसिकद्वन्द्वं चिरंजीव्यादिति ।। १०७।।

तत्तत्क्रीडासामयिकं प्रियास्वरूपमाह—

'रूपं शारदचन्द्रकोटिवदने धम्मिल्लमल्लीस्रजा-
मामोदैर्विकलीकृतालिपटले राधे कदा तेद्ऽभुतम् ।
ग्रैवेयोज्ज्वलकम्बुकण्ठि मृदुदोर्व्वल्लीचलत्कङ्कणे,
वीक्षे पट्टदुकूलवासिनि रणन्मञ्जीरपादाम्बुजे
।।१०८।।

रसकलश

हुए, कहीं इन्द्र जल फैलाते हुए कोई अतिदिव्य गौर और श्याम दो धाम (तेज) सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं।' और जैसे—'प्रियतम ने पीछे से आकर अत्यन्त रस के कारण श्री राधा जी के नेत्र बन्द किये तो हँसते हुए प्रियतम से व बोलीं मैं जान गई हूँ तुम ललिता हो। हाँ हाँ तुम सचमुच जान गई हो तभी तो रोमाचिन्त हो रही हो। कह कर हँसती हुई सखी को देखकर दूसरी सखी ने शीतल पवन देने वाले पत्रमय व्यजन से ताड़न किया।' और जैसा कि 'नीचे खड़ी मोहन मोहिनी श्री राधा अपनी तर्जनी अँगुलि को उठाकर अमृतमय वचनों के साथ ऊपर को देखने से अत्यन्त सुन्दर लग रहे हैं नेत्र और मुख जिस क्रिया में, इस प्रकार जिन वृक्षों के दिव्य फलों को दिखाती हैं और नागरवर श्याम सुन्दर उनको आदर पूर्वक गिरा देते हैं। और श्री स्वामिनी उनको चुन लेती हैं, हे सखी, वृन्दावन के उन तरुगणों की सेवा करो। ' त्यादि प्रकारों से क्रीड़ा करते हुए जिन्होंने नवीन नवीन की केलियों कल्पना की है ऐसे विहार करते हुए रसिक युगल चिरजीवी हों ।।१०७।।

अब उस उस क्रीड़ा के समय के प्रियाजी के स्वरूप वर्णन का करते हैं—

'हे शरत्काल के कोटि चन्द्रों के समान सुन्दर मुख वाली, केशपाश में धारण की हुई मल्ली की मालाओं की सुगन्ध से भ्रमर समूह को विकल कर देने वाली, ग्रैवेयक से सुशोभित शङ्खाकृति कण्ठवाली, कोमल भुजलताओं में हिलरही चूड़ियों वाली, पट्ट कौशेय वस्त्र धारण करने वाली, बजते हुए नूपुरों से युक्त चरणाम्बुजों वाली, श्री राधे! मैं कब तुम्हारे अद्भुत रूप को देखूँगी ।।१०८।।

हे राधे तेऽद्भुतं रूपं कदा वीक्षे। सर्वप्राकृताप्राकृतविलक्षणत्वाद-द्भुतं त्वस्त्येव। तत्किमुच्यतेअपि च पूर्वोक्तहासादिक्रीडासु क्रीडासमवेतत्वा-द्वैलक्षण्यमाह । शारदेति। सम्बोधनेन हाससमये प्रकाशबाहुल्ये युगपदेवा-विर्भूतेऽपि प्रियसहितत्वेन महारसलालित्योदयात्सखीहृदयाह्लादातिशयजन-नेन चन्द्रकोटीति। स्वच्छनैर्मल्यातिशयेन शारदेति। वदनेत्यनेन व्यक्तवाङ्गिन-रुक्त्या किञ्चित्प्रियं प्रति क्रीडाराभस्ये जयसाहसेन वाक्यवर्षाक्षेपो ज्ञेयः। यदा स्थितिसमयश्चिन्त्यस्तदा तत्रैव प्रकाशो यदा चान्यत्रेतस्ततो भ्रमणादिः क्रीडावशात्तदा यत्र यत्र धावति हसति तत्तद्दिश्येव प्रकाशबाहुल्यं जायते। स्थलीतरुवल्लीपुष्पपत्राद्यपि तद्रञ्जितमेव स्यादिति। तदनन्तरम् एवमेव स्थितो धम्मिल्लमल्ल्याद्यामोदेन समीरदूतप्रेषितमाधावदलिवृन्दं वितानो-यति। यदा तत इतो भ्रमणं तदा सर्वत्र प्रसरद्विलक्षणामोदनिचयेन पृष्ठतो-ऽनुगच्छति तदानीं दर्शनीयमेव स्वार्हभोग्योत्तमेन तृप्तमपि पुनरास्वादलोभेन

रसकलश

हे श्री राधे, तुम्हारे अद्भुत रूप को कब देखूँगी। सभी प्राकृत और अप्राकृत रूपों से विलक्षण होने के कारण अद्भुत तो है ही, उसके विषय में क्या कहना। तथापि पहले कही गई हासादि क्रीड़ाओं में क्रीड़ा युक्त होने के कारण इस रूप में जो विलक्षणता आई है उसका वर्णन करते हैं। शरत्काल के कोटि चन्द्रों के समान सुन्दर मुख वाली, इस सम्बोधन में श्रीप्रिया जी के श्रीमुख को हास के समय में प्रकाश की बहुलता के एक साथ ही प्रकट हो जाने पर श्री प्रिया के सहित होने से महारस की ललितता के उदय से सखीजन के हृदय को अत्यन्त आल्हाद देने के कारण कोटि चन्द्रों के समान सुन्दर कहा गया, तथा स्वच्छता और निर्मलता की अधिकता से वे कोटिचन्द्र भी शरत्काल के कहे गये। यहाँ पर श्री मुख के लिये वदन शब्द का प्रयोग किया गया है, वद धातु व्यक्त वाणी बोलने के अर्थ में है अतः वदन शब्द से प्रियतम के प्रति क्रीड़ा के आवेश में जय के साहस द्वारा इसके द्वारा कुछ वाक्य वर्षा की गई है यह आक्षेप जानना चाहिये। यदि यह स्वरूप स्थिति के समय का समझा जाए तब तो वहीं पर प्रकाश है और जब क्रीड़ावश अन्यत्र इधर उधर भ्रमण आदि का समय माना जाए तब जहाँ दौड़ती हैं हँसती हैं उसी उसी दिशा में ही प्रकाश की बहुलता होती है, वहाँ की स्थली, तरुलता, पुष्पपत्रादि सभी वस्तुएँ उस प्रकाश से रञ्जित हो जाती हैं। उसके बाद सामान्यस्थिति में केशपाश की मल्लीमाला की सुगन्ध से पवनदूत के द्वारा भेजे गये, भाग कर आते भ्रमरवृन्द छा जाते हैं। और जब इधर उधर भ्रमण होता है तब चारों ओर फैलते हुए विलक्षण सुगन्ध के परिचय से अलवृन्द पीछे पीछे चलते हैं, तब तो दर्शन करने योग्य ही

लम्पटं भूयो भूयो भुज्यमानमुन्मत्तमासवघूर्णनया विह्वलं जातम्। तदलिवृन्दं तत्सुख्येव वैलक्षण्यशोभादानार्थमिवापतति गजकुम्भशोभावत्। अत्र यथा स्वेष्टं न व्याकुलं स्यात्तथैवोत्पततीत्यनेन पटलोक्त्या समाकुलीकरणं न शक्यम्। कन्दुकाद्याक्षेपणे यावत्तमानेतुं धावति सा तदालिवृन्दं तद्दिश्येव रभसा धावति यावत्तत्स्थानं प्राप्तुं न शक्नुयात्तावत्प्रिया प्रत्यागच्छति। तदा तद्वृन्दमपि दूरतो गत्वा प्रतिधावति एवं सलाघवयातायातपौनःपुन्ये विकलीकरणत्वं ज्ञेयम्। तादात्विकप्रियाशोभायां दर्शनीयायामपि तद्व्याकुलालिपटललुठनमपि कौतुकं दर्शनीयमेवेति। पुनस्तदानीं श्रीकरयोः क्रीडाकन्दुकक्षेपणनिचयनगोपनसंसक्ततयाञ्चलग्रहणविस्मृतेर्ग्रैवेयानर्घ्यमास्वच्चमत्कृतरत्नाभरणानां चाकचिक्यं दर्शनीयमेवेत्याह—ग्रैवेयैरुज्ज्वलं शोभनं कम्बुवत्कण्ठं यस्यास्तत्सम्बोधनम्।

रसकलश

रूप होता है। यह अलिवृन्द अपने योग्य उत्तम भोग्य (मधु आदि) से तृप्त होने पर भी आस्वाद के लोभ से लम्पट हुआ है, बहुत उपभोग करता हुआ उन्मत्त हो गया है, आसवपान से भूमने के कारण विह्वल हो गया है। यह अलिवृन्द भी तत्सुख सुखी है मानों प्रिया जी को विलक्षणता और शोभा देने के लिये ही आता है जैसे कि हाथी के गण्डस्थल की शोभा के लिए उसका आना होता है। यहाँ जिससे हमारी इष्ट युगलसरकार व्याकुल न हों, यह अलिवृन्द इस प्रकार उड़ते हैं। अतः इस अलिवृन्द या भ्रमरपटल कहने से श्री प्रियाजी को व्याकुल करने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। कन्दुक इत्यादि के फेंके जाने पर जब उसे लाने के लिये प्रियाजी दौड़ती है यह अलिवृन्द भी उसी दिशा की ओर वग से भागता है जब तक यह उस स्थान पर नहीं पहुँच पाता तब तक प्रिया जी लौट आती हैं, तब यह अलिवृन्द भी दूर तक जाकर वापिस भागता है, इस प्रकार शीघ्रता से जाने आने और बराबर ऐसा करने पर तो व्याकुल करना जानना हो चाहिये। किन्तु उस व्याकुलता से उस समय प्रियाजी की दर्शनीय शोभा में भों उस व्याकुलत अलिवृन्द (भ्रमर समूह) के लुठन का कौतुक भी दर्शनीय ही होता है। फिर उस समय प्रिया जी के श्री कर कमलों के भी क्रीड़ा, कन्दुक क्षेपण (गेंद फैंकना) उसे ढूँढना, छिपाना आदि में लगे रहने के कारण अंचल को सँभालने को याद न रहने से ग्रैवेयक (कण्ठ भूषण) में लगे हुये अमूल्य प्रकाशमान और चमकीले रत्नों के आभूषणों की चकाचौंध भी दर्शनीय ही होती है अतः कहते हैं कि ग्रैवयक से उज्जवल अर्थात् शोभायमान है शङ्ख-सा कण्ठ जिसका, उनका सम्बोधन है—ग्रैयोज्ज्वल कम्बुकण्ठि। अथवा ग्रैवेय को उज्ज्वल कर देने वाला है शङ्ख-सा कण्ठ जिसका;

अथवा ग्रैवेयानुज्ज्वलयतीति तत्कण्ठम् अन्तर्भूतणिजर्थः भूषण-भूषणाङ्गवत् । यद्वा पूर्वार्थे तेऽपि तादृशाधिकृता एव येन तदङ्गभूषणतया सेवितुं शक्ता इति । अथोत्क्षेपणादौ भुजविषयिकानुभावशोभामाह । मृद्विति तत्तत्क्रियायां सौकुमार्यतया नमनं हितसखीहृदयसाक्षिकमेव नमनलाघ-लालित्येन वल्लीति अङ्गुलिकिशलयचालनेन च मधुहुङ्कृतिसमोदित-कंकणचलनोपलक्षणेन तत्स्थलघुभूषणध्वनिरपि ज्ञेयस्तेन मुद्रिकानख-चन्द्रचयचमत्कारोऽपि ध्येयः । तदानीमुन्नतदृष्टिकरणे भुजोत्क्षेपधावने पट्टाम्बरं श्लथं जातं दृष्ट्वाह यद्दुकूलं वस्ते इति तत्सम्बोधनं अतिस्निग्ध-शीलतया स्थानातिगम्भवतीत्यतो पट्टमिति सौत्रस्य स्थानासक्तिशीलत्वात् वस्ते निवासं ददाति पुनः पुनर्धृत्वा करेण धारयतीति समयार्थः । पुनस्तदानीं

रसकलश

ऐसा अन्तर्भूत प्रेरणार्थक 'उज्ज्वलयति' से उज्ज्वल बना है तब यह सम्बोधन 'भूषण-भूषणाङ्ग' जैसे होगा । अथवा पहले वाले अर्थ में वे ग्रैवेयक भी वैसे अधिकारी ही हैंजो प्रियाजी के अङ्गों के भूषण बनकर उनकी सेवा करने में समर्थ हो पाते हैं ।

अब उत्क्षेपण (फैंकने) आदि के समय भुजलताओं के अनुभावों या कार्यों की शोभा का वर्णन करते हैं—'मृदुदोर्वल्लीचलत्कङ्कणे' उन उन क्रियाओं में सुकुमारता के कारण भुजलतायें झुक झुक जाती हैं इसका तो श्री हित सखी जी का हृदय ही साक्षी है । इस झुक जाने की शीघ्रता के कारण प्रकट हुई ललिता या सुन्दरता से भुजायें लता सी प्रतीत होती हैं । उनकी अंगुलियाँ नवपल्लवों जैसी हैं जिनके हिलने से, भ्रमरों की झंकार के समान झणत्कृतकङ्कणों के हिलने की शोभा कही गई उसके उपलक्षण से भुजवल्ली में धारण किये हुए छोटे आभूषणों वलय या चूड़ियों की भी ध्वनि जाननी चाहिये । और उससे मुद्रिका तथा नख रूपी चन्द्र समूह के चमत्कार का भी ध्यान करना चाहिये । उस समय दृष्टि ऊपर करने से भुजाओं को हिलाते हुए भागने से नीलाम्बर भी शिथिल हो गया उसे देखकर कहते हैं—पट्टदुकूलवासिनि । पट्टदुकूल को पहनती हैं अतः पट्टदुकूलवासिनी हैं उनका सम्बोधन वाचक शब्द है पट्टदुकूलवासिनि, अत्यन्त स्निग्ध या फिसलने वाला होने के कारण अपने स्थान से हट हट जाता है अतः 'पट्टा या रेशमी वस्त्र है क्योंकि सूती वस्त्र तो अपने स्थान पर चिपट जाता है । वासिनी शब्द आच्छादनार्थक वस धातु से भी बनता है और निवासार्थक वस धातु से भी । निवासार्थक वस धातु के पक्ष में यह अर्थ होगा कि 'पट्टदुकूल' को प्रियाजी अपने श्रीअङ्गों पर निवास प्रदान करती हैं बार बार हाथ से पकड़ कर धारण करती हैं, यह सामयिक या साम्प्रदायिक अर्थ है ।

पदशोभामाह रणन्मञ्जीरौ पदाम्बुजयोर्यस्याः। ततस्ततो धावनगमननिलयनानुकृत्यादौ तद्रणनानुरणनं श्रवणीयमेव। तत्समवेतपदशोभा दर्शनीयैव। अत्र पृथगङ्गानां भिन्नतया शोभा तु वर्णितैव परन्तु तादृशचन्द्रानन्त्यवदाह्लादप्रकाशधम्मिल्लमाल्याद्यामोदमत्तालिहुङ्कृतिलुठनससम्भ्रमहासप्रकाशसम्मिश्रितग्रैवेयकचमत्कृतकण्ठशोभाभुजवल्लीचलनसमसमयसौकुमार्यनमनलाघवकंकणझणत्कारदुकूलाञ्चलचलनसमीकरणमञ्जीररणत्कारपदकमलारुण्यादिच्छविप्रसरणानां तादृक् श्रीमत्यास्तादृक् प्रियेण सह क्रीडने युगपदेव सुषमासमुदयो दृश्यते। कियद्रूपं जातं किं किमनुभावसात्त्विकादि सप्रियसखीनां च जातं तत्सहृदयवेद्यमेवेति। क्रीडाकौतुकलावण्यास्वाङ्गलावण्यवर्षिणी। कर्षिणीप्रियचित्तस्य गानेगुणस्तु मद्गतिः ॥१०८॥

एवं तादृशोक्त रूपलावण्यच्छविलालित्यदर्शनोल्लसितमहाप्रेमोन्मदन

रसकलश

फिर उस समय की चरण शोभा का वर्णन करते हैं—रणन्मञ्जीरपादाम्बुजे। बज रहे हैं नूपुर जिनमें ऐसे हैं चरण कमल जिनके, इधर उधर भागने जाने छिपाने और अनुकरण करने आदि के समय मञ्जीरों या नूपुरों में जो रणन-अनुरणन होता है वह सुनने योग्य है, और उससे युक्त श्री चरणों की शोभा भी दर्शनीय है। यहाँ प्रत्येक अंग की पृथक् पृथक् रूप में शोभा का वर्णन किया गया। परन्तु उस प्रकार के चन्द्रों की अनन्तता के से आल्हाद रूप प्रकाश के पाठ में स्थित मल्लीमालाओं की सुगन्ध पर मत्त हुए भ्रमरों की झङ्कार और उनके लुठ से सम्भ्रम सहित हास्य के प्रकाश से मिले हुए ग्रैवेयक से चमकृत कण्ठ की शोभा, चलने के समय में भुजलताओं का सुकुमारता वश झुक झुक जाने की शीघ्रता में कङ्कणों की झंकार, दुकूल वस्त्र के हिलने से, बराबर करने से, नूपुरों की रुन झुन्, चरण कमलों की अरुणता, आदि शोभाओं के प्रसारों का, वैसी श्रीराधा जी का, वैसे प्रियतम के साथ क्रीड़ा करने में एक साथ अनेक प्रकार की परम शोभाओं के एकत्रित हो जाने पर देखा जाता कि है कितना रूप हो गया, क्या क्या अनुभाव सात्विक आदि प्रियतम सहित सखियों के हुए, वह सब सहृदयों द्वारा ही जाना जा सकता है।

क्रीड़ा कौतुक में जिनका विशेष लावण्य प्रकट हुआ है जो अपने श्री अङ्गों के लावण्य की वृष्टि सी कर रही हैं, गुण गान करने पर प्रियतम के चित्त का आकर्षण करने वाली वे श्रीराधा मेरी गति हों, मैं उन्हीं की शरण में हूँ।१०८।

इस प्रकार वैसे वर्णित रूप, लावण्य, छवि और लालित्य के दर्शन से उमड़ पड़े महाप्रेम के आनन्द की पराधीनता से मोहन (श्याम सुन्दर) की आकांङ्क्षा तीव्र हो गई

पारवश्येन मोहनस्य बह्वाकाक्षा जाता । ततः स समक्षं विज्ञापयितुमशक्तो ललितादीन्विज्ञापयन्नत्यादिना चटुलयति । तदा समाश्वास्य ता द्रुताः प्रियां प्रति तद्दशां निवेदयन्त्यः प्रार्थितवत्यस्तच्छ्रुत्वा पूर्वक्रीडानन्तरावसरे तस्मिन्नेव कुञ्जे किञ्चिद्व्यवहितदेशे सुन्दरकुसुमासनस्था प्रिया यद्यत्स्वस्मिन् परस्परगुणविवादोपमर्दो जातस्तद्व्याकुला हितसखीं प्रति मन्त्रयति—

'इतो भयमितस्त्रपा कुलमितो यशः श्रीरितो-
हिनस्त्यखिलशृङ्खलामपि सखीनिवासस्त्वया ।
सगद्गद्मुदीरितं सुबहुमोहनाकाङ्क्षया,
कथं कथमयीश्वरि प्रहसितैः कदाम्रेड्यसे ।'

॥१०९॥

आसज्यताप्रभुताकृतज्ञताबहिरननुकूलतालज्जाबाहुल्यं मानभंगोनीतिनैपुण्यं कारुण्यं प्रसादाश्रयता सारल्यं मार्दवं सौभाग्यमदः प्रेमवैचित्त्यं निस्पृहता धैर्यमौदार्यं यशस्वितेत्यादिगुणानन्त्येऽपि भीरुलज्जालुयशस्विनीश्रीमतीसखीप्रणयवशतादिपञ्चगुणा अत्र प्रस्तुते व्याख्यायन्ते । अथ

रसकलश

तब सबके सामने निवेदन करने में असमर्थ मोहन ललिता आदि सखीजनों से निवेदन करते हैं, नमस्कार आदि के साथ प्रिय वचन बोलते हैं। तब उन्हें आश्वासन देकर वे शीघ्र ही प्रिया जी के पास जाकर उनकी दशा बताती हैं और प्रार्थना करती हैं, उसे सुन कर पूर्व क्रीड़ा के अनन्तर अवसर में उसी कुञ्ज में कुछ दूर के स्थान में सुन्दर पुष्पों के आसन पर विराजमान प्रिया जी-जो जो अपने में एक गुणों का परस्पर विवाद और उपमर्द हुआ उसे व्याकुल-सी हुई और श्री हितसखी जी से कहती हैं—

इधर भय है, इधर लज्जा है, इधर कुल है इधर यश और श्री है। किन्तु सखी निवास (प्रियतम) इन सभी शृङ्खलाओं को तोड़ देते हैं यह सुनकर अनेकानेक मोहन आकांक्षा वाली तुम से गद् गद् होकर 'क्या है क्या है' इस रूप में कहे गये शब्दों को, हे ईश्वरि, प्रहासों से बार कब पूछी जाओगी ॥ १०९ ॥'

श्री राधा स्वभाव से ही आसज्या (प्रीतिविषया), स्वामिनी, बाहर से प्रतिकूल लज्जाशील और मानवती हैं। हाव भाव चेष्टा में निपुण और नीति में निपुण होना, करुणा, कृपा पात्रों के प्रति सरलता, मृदुता, सौभाग्य का गर्व, प्रेम के कारण विचित्त हो जाना, निःस्पृहता, धैर्य, उदारता, और यशस्विता इत्यादि गुणों की अनन्तता होने पर भी भीरु, लज्जालु, यशस्विनी श्रीमती सखी जन के प्रेम के वशीभूत होना इत्यादि पांच गुणों की यहां प्रस्तुत प्रसङ्ग में व्याख्या की जाती है।

प्रियामन्त्र:-सखि हृदयवेदिनि कर्णधारे हितप्रियतथ्यवादिनि यदि बहिरननुकूलध्रुवशीलवशतो मोहनाकाङ्क्षां न पूरये तदा इतो भममिति प्रियवैकल्यात्प्रेमहानेर्बिभेमीति । यद्वा तन्निष्ठभयं स मत्तोऽपि मत्तो बिभेति । मनस्येव वार्तया घूर्णन् बहिर्वक्तुं न शक्नोति । मच्छ्वासं गणयत्यतः प्रियष्ठवभयेनापि भयमिति ततोऽवश्यकरणीयत्वात्स्वावसरं प्राप्य प्रातिकूल्यमुपमर्द्य प्रसाद उदेति । ततो हृद्द्रवे जाते झटिति त्रपा स्वाभाविकी शक्तिः सगणा पुरपालके वागच्छति तदा प्रसाद उपमर्द्यते ।

किञ्चाहो स्वशीलवाम्यधृतित्याजने मत्स्थितौ किं ते सामर्थ्यमिति भङ्ग्या । अतएव कुलमिति बाहुल्यं मुख्यत्वात् यदा च कुलमिति पृथक् तदा संघातार्थमाह । तत एवं विवादे जात एव नीति प्रेमाणावागतौ अहो ! महानयं पश्यत किं प्रेमहानिं करोषि यदियं पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिरस्ति । अन्यत्र तु व्रजे चैतच्छटयैव सर्वलोकवेदशृङ्खलोच्छेदः कृतो दृश्यते ।

रसकलश

प्रिया जी श्री हितसखी से एकान्त में कहती हैं—हे हृदय को जानने वाली, कर्णधार भूता, हितकर प्रिय एवं सत्य वचन कहने वाली यदि बाहर से प्रतिकूल और ध्रुवशील के वश होकर मोहन की आकांक्षा को पूर्ण नहीं करती हूँ तो इधर भय है अर्थात् प्रियतम की व्याकुलता से प्रेम की हानि होने से मैं डरती हूँ अथवा प्रियतम में रहने वाला भय है, जिसके कारण वे प्रेम से मत्त होकर भी मुझ से डरते हैं मन में ही बात सोचकर भूमते रहते हैं बाहर नहीं कह सकते, मेरे श्वास की गणना करते हैं अर्थात् मेरा रुख देखते रहते हैं । अतः प्रियतम से रहने वाले भय से भी मुझे भय है तभी अवश्यकरणीय मानकर अपना अवसर आने पर बाहर की प्रतिकूलता को समाप्त करके कृपा उदय हो जाती है, जिससे हृदय द्रवित हो जाने पर तत्काल ही लज्जा हो जाती है जो स्वाभाविकी शक्ति है यह लज्जा अपने गणों के साथ पुरपालक या कोटपाल की भांति आती है । तब वह कृपा समाप्त हो जाती है । फिर अपने स्वाभाविक प्रतिकूलता और धैर्य का त्याग कराने की मेरे (लज्जा) के रहते तुझ कृपा को क्या शक्ति है यह संकेत से कह देती है । अतएव 'त्रपाकुलम्' त्रपा का कुल कहा है यहां मुख्य होने के कारण लज्जा की बहुलता कही गई है । और जब त्रपा से कुलम् शब्द पृथक् माना जाता है तब कुल शब्द समुदाय अर्थ को बताता है तब इस प्रकार का विवाद होने पर नीति और प्रीति आ जाते हैं । अहो महान् अन्याय देखो क्यों प्रेम की हानि करती हो क्यों कि यह (श्री राधा) तो पूर्ण अनुराग रस के सागर के भी सार से घटित मूर्ति है । अन्यत्र व्रज में तो इसकी छटा से ही सम्पूर्ण लोक और वेद की शृङ्खलाओं का उच्छेद कर दिया देखा जाता है ।

तदा श्रीमत्यां तादृशचाटुकारिणि प्रिये किङ्कार्पण्यमुचितमिति भङ्ग्या तच्छ्रुत्वा हृद्द्रवेण प्रियार्तिस्पर्शतो रोमराजिरेकदैवोत्थिता तदात्रपैका किं कर्तुं शक्नुयादिति । अतएवाग्रपद्ये रोमस्रजालङ्कृतामिति वक्ष्यति । कुल संघातार्थे धातुरित्यत एको बहुभिरुपमर्द्यत एवेति प्रसिद्धिः । अन्य गुणेष्वपि यत्स्वावसरेऽतिशयोदयात्संघातो भवति तदा तस्यैव बाहुल्यं ज्ञेयम् । यथा-समयं यथासम्भवम् एवं विवदमानयोः सतोर्ल्लज्जामुपमर्द्दितां दृष्ट्वाऽऽसज्य-ताधृती प्रेमाणमुपमर्द्दयन्त्यावागते—अहो ! त्वयरसि किं किमिदं साधारण स्वरूपं भवतः प्रख्यापयसि प्रेमशोभा त्वन्येषामासक्तानां भवतु । अस्यां श्रीमत्यां किं संशयोऽस्ति । बहिर्दर्शयितुं नैतदीयः प्रेमार्हः । अत्र तु प्रभुत्वेन धैर्येण कृतज्ञतया प्रसद्य कृपयाऽऽसक्तं पोषयेत्तदन्तरं गच्छन्नतयैव शोभनं प्रेमोद्वेलनं एतदेवात्र चान्यत्र च विषयाश्रयभेदेनैव भेदः । प्रियात्र प्रेमविषया ज्ञेया प्रेमाश्रयः प्रिय इति वाक्यभङ्ग्या क्षिपन्तौ दृष्ट्वा श्रुत्वा च नीति बोधितः प्रेमाह सत्यमात्थो युवां न सत्वरता कार्या, आसक्त्याश्रयतयैव प्रेमा

रसकलश

तब श्रीमती के इतने चाटुकार प्रियतम के प्रति क्या कृपणता उचित है ऐसा संकेत से सूचित करती हैं। यह सुनकर हृदय के द्रवित हो जाने पर प्रिय की व्यथा के स्पर्श से रोमावली एक ही बार उदञ्चित हो उठी अर्थात् रोमाञ्च हो आया तब अकेली त्रपा या लज्जा क्या कर सकती। इसीलिये अग्रिम पद्य में रोमस्रजालङ्कृताम्' रोमावली से सुशो-भित' ऐसा कहा जायगा। कुल धातु संघात अर्थ में है अतः यहां एक अनेकों द्वारा उप-मर्दित हो ही जाता है यह प्रसिद्ध है। अन्य गुणों में भी जो अपने अवसर पर अतिशय उदय प्राप्त करता है उसका संघात ही होता है तब उसी की अधिकता जाननी चाहिये, यथा समय और यथा सम्भव इस प्रकार विवाद करते रहने पर लज्जा को उपमर्दित हुई देखकर आसज्यता। (प्रीति विषयता) और धृति प्रेम को उपमर्दित करती हुई आ गई अहो ! क्यों शीघ्रता कर रही हो, क्यों इस प्रकार अपना साधारण स्वरूप प्रकाशित करती हो। प्रेम की शोभा तो अन्य आसक्तजनों की हो। आप श्रीमति में क्या सन्देह है अतः आपका प्रेम बहार दिखाने योग्य नहीं है। यहां तो प्रभुता से, धैर्य से, कृतज्ञता से, प्रसन्न होकर कृपा से आसक्त का पोषण ही करना चाहिये,इसलिये प्रेम का उद्वे-लन त्रपा से शोभा पाता है। यही यहाँ और अन्य स्थलों में प्रेम के विषय और आश्रय के भेद से भेद है। प्रिया जी को यहाँ प्रेम का विषय जानना चाहिये और प्रियतम को प्रेम का आश्रय। इस प्रकार की वाक्य रचना से आक्षेप करते हुए देखकर और सुनकर नीति के द्वारा समझाया गया। प्रेम बोला—आप दोनों सच कहते हैं कि शीघ्रता नही

कार्य इत्यङ्गीकृते ततो यशः श्रीश्च किञ्चिद्विवद मानावागतौ अहो ! को विलम्बः अर्थिनि स्वेष्टे प्राप्ते को विकल्पो धरादिष्विति बलिवाक्यवत् यत्तस्मै सर्वस्वमेव दद्यात्तदेव यशो महत्स्यात्तावद्वदान्यानामप्रार्थित एव। दानं योग्यं साधु प्रार्थिते सति स्वात्मदानमेवार्हमिति यशसो भङ्ग्योक्तौ श्रीराह-रसपरिपाट्यैवदाने शोभा स्यात्। प्रभूणां विश्रध यशो भवति। इतरेषां तस्मिन् संशयस्तेषां समयैकपालनात् अत्र यथा नव नव लालसोदय-स्तथा तथैव विलम्बेपि परमशोभैव यथा स्वर्णे रत्नखचनं परिपाटी त्वग्र-पद्ये प्रियपूर्णसाहसाग्रहतया वक्ष्यति अतः श्रीरपि स्वशोभाप्रख्यापनार्थं सत्वर इति कदा प्रियाङ्के प्राप्स्यसीति। एवमान्तरगुणानां विवादमुक्त्वा बहिः। सखीविवाद माह इतः सखीनिवासः सखीषुमन्निवासः अखिलां अननुकूलासज्यलज्जाप्रसादमानाद्यां बहिरान्तरां शृङ्खलां बन्धनं हिनस्ति छिनत्ति अपीति यथार्हतया नित्यस्थितामपीत्यर्थः।

रसकलश

करनी चाहिये, आसक्ति के आश्रय को ही प्रेम करना चाहिये ऐसा स्वीकार करने पर तब यश और श्री कुछ विवाद करते हुए आ गये अहो क्या विलम्ब है ? जब अपना इष्ट या प्रिय प्रार्थी आ जाएं तब (प्रार्थिनि स्वेप्सिते प्राप्ते को विलम्बो धरादिषु।') धरती आदि के विषय में क्या विकल्प करना' राजा बलि के इस वाक्य के असुसार तो उसे सर्व-स्व ही दे देना चाहिये तभी तो महान् यश होगा, सर्वप्रथम वदान्य या उदार जनों को तो बिना मांगे ही दान देना योग्य है, और यदि कोई मांग ही ले तब तो आत्मदान तक दे देना उचित है इस प्रकार जब यश ने युक्ति से कहा तो श्री बोली—रस की परिपाटी से ही दान देने में शोभा होगी स्वामिजनों को निश्चित रूप से यश होता है, दूसरों के यश में संशय रहता है क्योंकि स्वामिजन समय मात्र या नियम मात्र का पालन करते हैं। यहाँ जैसे जैसे नई लालसाओं का उदय होता है वैसे ही वैसे विलम्ब होने पर भी शोभा ही होती है। जैसे स्वर्ण में रत्न जड़ दिया गया हो। इसकी परिपाटी तो अग्रिम पद्य में प्रिय के पूर्ण साहस में आग्रह रखने के कारण कहेंगे। अतः श्री भी अपनी शोभा को प्रख्यापित करके लिये त्वरा कर रही हैं। कब प्रियतम के अङ्क में प्राप्त होगी, इस प्रकार आन्तरिक गुणों का विवाद कहकर बाहर सखीजन के विवाद का वर्णन करते हैं। इधर सखी जनों में मेरा निवास है जो सम्पूर्ण प्रतिकूलता, आसज्यता, लज्जा, प्रसाद, मान आदि की बाह्य और आन्तरिक शृखलाओं या बन्धन को छिन्न भिन्न कर देता है, जो कि यथोचित होने के कारण नित्य स्थित रहती हैं।

किञ्च यदा सरला स्यां तदा मानभङ्गी शिक्षयन्ति । यदा च वामास्यां तदानुनयाद्यैस्तद्वाम्यं मोक्षयन्ति यथा च सखीलक्षणे सहचरिभावः समये परिजनभावश्च वेषभूषादौ उपदेष्टृता च माने तस्मिन् गाढे तु गर्हकत्वं च । अथ किं कुर्वेमहान्विचार सङ्कटो जातः । स्मृतमात्रवैचित्र्यकारिमोहन स्याकांक्षा तु सर्वथैव प्रबला । ताभिस्तेन च बहुशः प्रार्थितत्वात् अतएव सुतरां बह्विति विशेषणं । यद्वा सुबहु यथा स्यात्तथोदीरितं अतएव कथमित्या-म्रेडनमपि घटते इति । तेन मन्त्र निश्चयानुदयाद्व्याकुलाहमिति । प्रिय प्रेमाविर्भावेन सगद्गदमित्थमुदीरितं त्वया मां रहो विश्रब्धसचिवां प्रतीत्यर्थः । तदा मया विचारपटीयस्या अयीति कोमलामन्त्रणा श्वासनभङ्गिकस्वरेण हे ईश्वरीति कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुं समर्थतार्थोद्योतनेन कथं कथं किमेवं व्यामोहं करोषि । इयत्किमशक्यन्ते, येन मुह्येरिति भंग्या प्रहसितैः । किञ्चित्कौतुकहासजनकैर्वाक्यैः कदा त्वमाम्रेड्यसे द्विस्त्रिरुक्तमाम्रेडनं कथ-

रसकलश

एक बात और है कि ये सखियाँ जब मैं सरला होती हूँ तो मुझे मान सिखाती हैं और जब वामा या प्रतिकूला होती हूँ तब अनुनय आदि द्वारा उस वामता को छुड़ाती हैं। जैसा कि सखी लक्षणों में भी कहा है - सहचरी भाव, समय पर परिजन भाव या दास्य भाव भी, वेष भूषा आदि में उपदेष्ट्री होना, यदि तीव्र मान हो तो उस मान की निन्दा करना।, अब महान् विचार संकट उपस्थित हो गया है । स्मरण मात्र से ही विचित्तता की दशा उत्पन्न कर देने वाले मोहन की आकाङ्क्षा तो इस प्रकार से ही प्रबल है। इन सखियों और उन श्यामसुन्दर से अनेक बार प्रार्थना की गई है अतः वह आकांक्षा सहज में ही बहुल हो गई अथवा 'सुबहु' जिस प्रकार से हो इस प्रकार हो गई है वैसा ही कहा। अतः एव 'कथम् कथम्' (यह आम्रेडन भी) पुनः पुनः कहना भी संगत होता है। इसलिये मन्त्रणा के द्वारा किसी निश्चय का उदय न होने के कारण मैं व्याकुल हूं। प्रिय के प्रति प्रेम के आविर्भाव से गद्गदभाव से तूने मुझ विश्वस्त सचिव या सखी के प्रति कहा तब विचार करने में परम पटु ऐसी मैंने 'अयि ईश्वरि' यह सम्बोधन किया। यहाँ 'अयि' यह कोमल आमन्त्रण आश्वासन के स्वर में किया गया है। और 'ईश्वरि' सम्बोधन द्वारा करने, न करने, अन्यथा करने की समर्थता के अर्थ का द्योतन करने से, 'क्यों क्यों' क्यों ऐसा व्यामोह अपनाती हो, ऐसा तुम्हारे लिये क्या अशक्य है जिससे व्यामुग्ध होती हो। इस प्रकार के प्रहासों से जो कुछ कौतुक और कुछ हास्य उत्पन्न करने वाले वाक्य हैं उनसे तुम कब आम्रेडित होगी—पुनः पुनः कही जाओगी। दो या

मित्यस्य द्विरुक्त्या ईश्वरीत्यपि पुनरुक्तमेव ज्ञेयं । अत्रैव वाच्येन सर्व-विचारोत्तरदानं व्यंग्यम् । यदा प्रेम हानिभयं तदा प्रेममिलनमेवैश्वर्यम् । अहह ! साधु ! प्रेमवश्यता प्रख्यापिता एवमेवार्हम् यदि तदभावस्तदप्यासज्यात्वं प्रकृतमेव एवं त्रपाकुलसत्वे च वध्वा उचितमेव ।

किञ्च—अहो ! तादृग्भीोरपि यत्र न प्रभवति तत्त्यागे च अहह, किमशक्यं कृतं तादृक् त्रपावृन्दन्यक्कारोऽनयैव भवितव्यः दाने च यशः प्रसिद्धमेव । अदाने च प्रभुत्वमेव । स्वेच्छावशताऽत्र न पारतन्त्र्यमिति । श्रीस्तु मूर्तिमत्येव यद्यक्रियायां सौन्दर्यमपरिहार्यमित्येव कतुमकर्तुं भीशत्वव्यञ्जनम् । अन्यथा करणमत्र दोषमपि गुणतयाख्यापनं गुणमपि दोषतया ख्यापनमिति । यथा त्रपागुणं प्रेम्णि स्मृते दोष इत्यादि । एवं सर्वमीश्वर्यां सम्भवति तदीश्वरीश्वरीति व्यञ्जकपदस्य द्विस्त्रि श्रवणेन परमविदग्धा श्रीप्रिया तत्तदर्थ ज्ञान व्यंग्य झटिति । प्रत्ययेन हसितवत्येवेति ज्ञेयम् । प्रहसितैरित्युक्त-

रसकलश

तीन बार कही हुई बात को दुहराना आम्रेडन कहलाता है यहाँ 'कथम्-कथम्' यह दो बार कहा गया है इससे 'अयि ईश्वरि' यह भी दो बार कहा गया होगा ऐसा जानना चाहिये । यहीं पर वाच्यार्थ द्वारा सम्पूर्ण विचारों का उत्तर देने की व्यञ्जना होती है। जब प्रेम की हानि का भय है तब प्रिय का मिलन ही ऐश्वर्य है । अहह, बहुत अच्छी प्रेम की विवशता प्रकट की, ऐसा ही उचित था । यदि उसका अभाव है तब तो आसज्या (प्रीति की विषय) होना प्रकृत ही है, ऐसा लज्जा के कुल के रहते या लज्जा और कुल के रहते कुलवधू को उचित ही है ।

एक बात और है अहो ऐसा भय भी जहाँ कुछ प्रभाव नहीं रखता, उसका त्याग हो जाने पर तो अहह क्या असम्भव भी नहीं कर लिया जायगा, उस प्रकार के त्रपाकुल का तिरस्कार भी इसके द्वारा होगा ही । दान देने पर तो यश प्रसिद्ध ही है, न देने पर प्रभुता अर्थात् अपनी इच्छा में रहना प्रकट है, यहाँ किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं है । श्री तो यहाँ मूर्तिमती ही हैं, जिनकी क्रिया में सौन्दर्य का होना अपरिहार्य या अनिवार्य है, यही तो करने न करने में ईशता की अभिव्यक्ति है । अन्यथाकरण का तात्पर्य तो दोष को भी गुण रूप में स्थापित करना और गुण को भी दोष रूप में दिखाना है जैसे 'प्रेम का स्मरण हो आने पर लज्जा नाम का गुण दोष है ।' इत्यादि यह सभी बातें ईश्वरी में सम्भव हैं। इसी लिये ईश्वरी, ईश्वरी इस व्यञ्जक पद को दो तीन बार सुनने पर परम विदग्धा—वर नागरी—श्री राधा उस उस अर्थ को जानने और व्यङ्ग्यार्थ को शीघ्र हो पहचानने से हँस ही पड़ीं ऐसा जानना चाहिये । क्योंकि यहाँ 'प्रहसितैः' भी कहा गया है । ऐसी वर वानरी का वाक्य प्रयोग कैसे निष्फल हो सकता है । यहाँ

त्वान्ता दृश्या वाक्व प्रयोगः कथं विफलः स्यादिति । अत्रोभयकोटिस्थिति-प्रतोतिः । मुख्यं त्वत्रावरोधशृङ्खलच्छेदनमेवैश्वर्यं तस्य च प्रियप्राप्तिः फलमिति । मुक्तकव्याख्यापक्षे स्नुषारसे कुलं श्वाशुर्यपरिवारस्तद् ज्ञापने लज्जा भयं मौग्ध्येन प्रियसमागमनमन्यत्समानं यथा सम्भवं सहृदयभाव्यं तथापि प्रस्तुतेतु कुञ्जविलासक्रमानुगतत्वेनानन्वितत्वान्न विस्तृतम् ॥१०६॥

एवं सम्वदतोरीश्वरीसख्योर्भावनानुरूपं फलमिव पूर्वोक्तबह्वाकांक्षो प्रियस्तत्रैवागतः । किञ्च हसनेङ्गितज्ञानेन स्वेष्टहृदयं ज्ञातं तत्र क्रमेणैवोक्त-गुण स्वरूपवर्त्तनमाह—

'श्यामे चाटुरुतानि कुर्वति सहालापान्प्रणेत्री मया
गृह्णाने च दुकूल पल्लवमहो हुङ्कृत्य मां द्रक्ष्यसि
बिभ्राणे भुजवल्लिमुल्लसितया रोमस्रजालङ्कृतां
दृष्ट्वा त्वां रसलीनमूर्तिमथ किं पश्यामि हास्यं ततः' ॥११०॥

रसकक्रश

पर दोनों कोटियों में स्थित होने की प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ मुख्य तो अवरोध या अन्तःपुर की शृङ्खलाओं का छेदन ही ऐश्वर्य है, और उसका फल प्रियतम की प्राप्ति है ।

मुक्तक व्याख्या के पक्ष में स्नुषारस में कुल शब्द ससुराल के परिवार का बोधक है उसको ज्ञात होने पर लज्जा है और मुग्धता वश प्रिय के समागम से भय हो रहा है । शेष सभी व्याख्या पूर्वोक्त के समान है ऐसा यथा सम्भव सहृदयों को भावना द्वारा जानना चाहिये । तथापि यहाँ तो प्रस्तुत में कुञ्ज-विलास के क्रम से अनुगत होने के कारण अन्य बातों का अन्वय नहीं बैठता अतः विस्तार नहीं किया गया है ।१०६।

इस प्रकार जब श्री स्वामिनी और श्री हित सखी वार्तालाप कर रहे थे तब भावना के अनुरूप फललिप्सा अर्थात् पूर्वोक्त बहुत आकांक्षाओं वाले,प्रियतम वहाँ आ गये, औरहास तथा इङ्गित के ज्ञान द्वारा उन्होंने अपने इष्टदेव के हृदय की बात को जान लिया । अतः यहाँ क्रम से उक्त गुणों, स्वरूपों और उनके व्यवहार को कहते हैं—

जब श्याम चाटूक्तियों द्वारा काकुस्वर से बोलने लगते हैं तब तुम (स्वामिनी) मुझ से वार्तालाप करने लगोगी । और जब वे दुकूल के अंचल को पकड़ते हैं तब हुँकार भर कर मेरी ओर देखोगी । जब वे भुजलता को ही अपने हाथ से पकड़ने लगेंगे तब तुम उल्लसित हो उठी रोमावली से अलङ्कृत हो जाओगी, इसके बाद तुम्हें रस में लीन मूर्ति हुआ देखकर क्या मैं वहाँ हास्य भी देखूँगी ॥११०॥

श्यामे इति दैन्यताद्योतके तावदागत्य चाटुरुतानि कुर्वति सति । तत्र चाटूनि "तब मेरे नैंन सिरात किशोरी जब तेरे नैन निहारौं" इत्यादि-भावानि । किञ्च श्रीमति निभृते चलेति स्फुटकथने गौरवभीत्या स्वाशयं व्यञ्जनयैव प्रियो निवेदयति । तदा प्रियनिष्ठभयं तद्द्रष्टुमशक्ता । अथ तत्समक्षदर्शनसम्भाषणे हास्योदयात् तत्रपास्थित्यशक्यत्वात्स्वस्मिन् त्रपानाशभयं तेन मया सहालापान् प्रणेत्री तच्चाटुवाक्यं श्रुतमश्रुतं कृत्वा मां प्रत्यालपति । सखिद्विसम्वादे तृतीयागमनमपि कथं शोभतेऽर्थादसङ्गत-त्वादसभ्यमेवेति प्रियाहाद्दम् तदा सख्याह यथा दधिदुग्धमिलने सितावत्कटुकं स्यादिति तदा प्रिया त्वमपि परपक्षमिलितासीति । तदा सखी-त्वया शोभत इति । कथमुक्तं स्ववाक्यार्थमपि न स्मर्यते । प्रिया सखि-कयापि विश्रम्भ समयो नास्ति एकाक्येवरहःस्थितिर्योग्या । तदा सखी-अयं तृतीयोप्येतदर्थ-मेवागतोऽस्तीति ज्ञायते । श्रीमतित्वद्वदने शारदा सत्यमेव वक्तीत्यालापान्

रसकलश

'श्याम' यह नाम दीनता का द्योतक है, तभी तो आकर प्रियवचन बोलने लगे। जैसे—तब मेरे नैन सिरात किसोरी जब तेरे नैन निहारौं।' इत्यादि भावों वाले पद हैं। और श्रीमती, एकान्त में चलो ऐसा स्पष्ट कहने पर गौरव के भय से अपने आशय को व्यञ्जना के द्वारा ही प्रिय निवेदन करते हैं तब प्रियनिष्ठ भय है, उसको देखने में प्रिया जी असमर्थ है, अब उनके सामने देखने या वार्तालाप करने में हास्य का उदय होने से लज्जा की स्थिति रहना अशक्य है इस कारण से लज्जा के नाश का भय है, अतः मेरे साथ वार्तालाप करने लगती हैं और प्रियतम के चाटुवचनों को सुना अनसुना करके मेरी ही वातों का उत्तर देती हैं फिर मुझे कहती हैं सखि, दो जनों की बात में तीसरे का आना भी कैसे अच्छा लग सकता हैं अर्थात् ऐसा करना असङ्गत होने के कारण असभ्यता ही है ऐसा प्रियाजी का अभिप्राय होता है। तब सखी व्यङ्ग्य से कहती है जैसे दूध दही के मिलने पर उनमें पड़ी शक्कर कड़वी लगती है ऐसे ही दो के बीच में तीसरे का आना भी रुचिकर नहीं होता। इस पर प्रियाजी कहती हैं—सखि, तू भी पर पक्ष में मिल गई है। तब सखी उत्तर देती है—'तुमसे ही प्रियतम अच्छे लगते हैं' इस अभिप्राय के अपने कहे हुए वाक्यार्थ को भी आप क्यों याद नहीं करतीं। तब प्रिया जी कहती हैं—सखि, किसी का भी विश्वास करने का अब समय नहीं है, अकेले ही एकान्त में रहना उचित है। इस पर सखी कहती है—यह तीसरा भी इसीलिये आया है ऐसा प्रतीत होता है, श्री मती, तुम्हारे श्री मुख में विराजमान शारदा सत्य ही कहती है। इस प्रकार के

त्वान्ता दृश्या वाक्व प्रयोगः कथं विफलः स्यादिति । अत्रोभयकोटिस्थिति-प्रतीतिः । मुख्यं त्वत्रावरोधश्रृङ्खलच्छेदनमेवैश्वर्यं तस्य च प्रियप्राप्तिः फलमिति । मुक्तकव्याख्यापक्षे स्नुषारसे कुलं श्वाशुर्यपरिवारस्तद् ज्ञापने लज्जा भयं मौग्ध्येन प्रियसमागमनमन्यत्समानं यथा सम्भवं सहृदयभाव्यं तथापि प्रस्तुतेतु कुञ्जविलासक्रमानुगतत्वेनानन्वितत्वान्न विस्तृतम् ॥१०९॥

एवं सम्वदतोरीश्वरीसख्योर्भावनानुरूपं फलमिव पूर्वोक्तबह्वाकांक्षी प्रियस्तत्रैवागतः । किञ्च हसनेङ्गितज्ञानेन स्वेष्टहृदयं ज्ञातं तत्र क्रमेणैवोक्त-गुण स्वरूपवर्त्तनमाह—

'श्यामे चाटुरुतानि कुर्वति सहालापान्प्रणेत्री मया
गृह्णाने च दुकूल पल्लवमहो हुङ्कृत्य मां द्रक्ष्यसि
बिभ्राणे भुजवल्लिमुल्लसितया रोमस्रजालङ्कृतां
दृष्ट्वा त्वां रसलीनमूर्तिमथ किं पश्यामि हास्यं
ततः' ॥११०॥

रसककश

पर दोनों कोटियों में स्थित होने की प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ मुख्य तो अवरोध या अन्तःपुर की शृङ्खलाओं का छेदन ही ऐश्वर्य है, और उसका फल प्रियतम की प्राप्ति है । मुक्तक व्याख्या के पक्ष में स्नुषारस में कुल शब्द ससुराल के परिवार का बोधक है उसको ज्ञात होने पर लज्जा है और मुग्धता वश प्रिय के समागम से भय हो रहा है । शेष सभी व्याख्या पूर्वोक्त के समान है ऐसा यथा सम्भव सहृदयों को भावना द्वारा जानना चाहिये । तथापि यहाँ तो प्रस्तुत में कुञ्ज-विलास के क्रम से अनुगत होने के कारण अन्य बातों का अन्वय नहीं बैठता अतः विस्तार नहीं किया गया है ।१०९।

इस प्रकार जब श्री स्वामिनी और श्री हित सखी वार्तालाप कर रहे थे तब भावना के अनुरूप फललिप्सा अर्थात् पूर्वोक्त बहुत आकांक्षाओं वाले, प्रियतम वहाँ आ गये, औरहास तथा इङ्गित के ज्ञान द्वारा उन्होंने अपने इष्टदेव के हृदय की बात को जान लिया । अतः यहाँ क्रम से उक्त गुणों, स्वरूपों और उनके व्यवहार को कहते हैं—

जब श्याम चाटूक्तियों द्वारा काकुस्वर से बोलने लगते हैं तब तुम (स्वामिनी) मुझ से वार्तालाप करने लगोगी । और जब वे दुकूल के अंचल को पकड़ते हैं तब हुँकार भर कर मेरी ओर देखोगी । जब वे भुजलता को ही अपने हाथ से पकड़ने लगेंगे तब तुम उल्लसित हो उठी रोमावली से अलङ्कृत हो जाओगी, इसके बाद तुम्हें रस में लीन मूर्ति हुआ देखकर क्या मैं वहाँ हास्य भी देखूँगी ॥११०॥

श्यामे इति दैन्यताद्योतके तावदागत्य चाटुरुतानि कुर्वति सति । तत्र चाटूनि "तब मेरे नैंन सिरात किशोरी जब तेरे नैन निहारौं" इत्यादि-भावानि । किञ्च श्रीमति निभृते चलेति स्फुटकथने गौरवभीत्या स्वाशयं व्यञ्जनयैव प्रियो निवेदयति । तदा प्रियनिष्ठभयं तद्द्रष्टुमशक्ता । अथ तत्समक्षदर्शनसम्भाषणे हास्योदयात् तत्रपास्थित्यशक्यत्वात्स्वस्मिन् त्रपानाशभयं तेन मया सहालापान् प्रणेत्री तच्चाटुवाक्यं श्रुतमश्रुतं कृत्वा मां प्रत्यालपति । सखिद्विसम्वादे तृतीयागमनमपि कथं शोभतेऽर्थादसङ्गत-त्वादसभ्यमेवेति प्रियाहाद्दम् तदा सख्याह यथा दधिदुग्धमिलने सितावत्कटुकं स्यादिति तदा प्रिया त्वमपि परपक्षमिलितासीति । तदा सखी-त्वया शोभत इति । कथमुक्तं स्ववाक्यार्थमपि न स्मर्यते । प्रिया सखि-कयापि विश्रम्भ समयो नास्ति एकाक्येवरहःस्थितिर्योग्या । तदा सखी-अयं तृतीयोप्येतदर्थ-मेवागतोऽस्तीति ज्ञायते । श्रीमतित्वद्वदने शारदा सत्यमेव वक्तीत्यालापान्

रसकलश

'श्याम' यह नाम दीनता का द्योतक है, तभी तो आकर प्रियवचन बोलने लगे। जैसे—तब मेरे नैन सिरात किसोरी जब तेरे नैन निहारौं।' इत्यादि भावों वाले पद हैं। और श्रीमती, एकान्त में चलो ऐसा स्पष्ट कहने पर गौरव के भय से अपने आशय को व्यञ्जना के द्वारा ही प्रिय निवेदन करते हैं तब प्रियनिष्ठ भय है, उसको देखने में प्रिया जी असमर्थ है, अब उनके सामने देखने या वार्तालाप करने में हास्य का उदय होने से लज्जा की स्थिति रहना अशक्य है इस कारण से लज्जा के नाश का भय है, अतः मेरे साथ वार्तालाप करने लगती हैं और प्रियतम के चाटुवचनों को सुना अनसुना करके मेरी ही बातों का उत्तर देती हैं फिर मुझे कहती हैं सखि, दो जनों की बात में तीसरे का आना भी कैसे अच्छा लग सकता हैं अर्थात् ऐसा करना असङ्गत होने के कारण असभ्यता ही है ऐसा प्रियाजी का अभिप्राय होता है। तब सखी व्यङ्ग्य से कहती है जैसे दूध दही के मिलने पर उनमें पड़ी शक्कर कड़वी लगती है ऐसे ही दो के बीच में तीसरे का आना भी रुचिकर नहीं होता। इस पर प्रियाजी कहती हैं—सखि, तू भी पर पक्ष में मिल गई है। तब सखी उत्तर देती है—'तुमसे ही प्रियतम अच्छे लगते हैं' इस अभिप्राय के अपने कहे हुए वाक्यार्थ को भी आप क्यों याद नहीं करतीं। तब प्रिया जी कहती हैं —सखि, किसी का भी विश्वास करने का अब समय नहीं है, अकेले ही एकान्त में रहना उचित है। इस पर सखी कहती है—यह तीसरा भी इसीलिये आया है ऐसा प्रतीत होता है, श्री मती, तुम्हारे श्री मुख में विराजमान शारदा सत्य ही कहती है। इस प्रकार के

परोक्षव्यञ्जनया प्रियं प्रति प्रकर्षेण सखीद्वारालापानां प्रापयित्रीति एवं स्वचाटुकारानादृतिमेवाङ्गीकृतिविश्रम्भो ज्ञातः ।

किञ्च रसस्य वक्रा गतिर्यथाङ्कानां वामतो गति रितिवतित् यथा च अवचनं च तिरस्क्रिया वचनं दृतिरतीव ननेत्युररीकृतिः अहँसनं हसनं वसनावृतिर्विवसनं रसरीतिरहोऽङ्क । तदनन्तरमेवं ज्ञात्वा विदग्धा अत्यातुरेऽदुकूलपल्लवं गृह्णानेसति । पल्लवमपि लताया अग्र एवोदेति तद्वत्तत्प्रान्तमात्रं हुँकृत्य मां द्रक्ष्यसि दृष्टुमिच्छसि न तु पटगृह्णानं समक्षं द्रष्टुं शक्नोषीति । किमुच्यते मामपि न द्रष्टुं शक्नोषि । किञ्च हुङ्कारमपि मदभिमुख एव करोषीति न तदभिमुख इति । तत्रेच्छार्थे न किञ्चित्प्रियानेत्रकूणनं प्रियगतमनस्तया तस्य चेन्द्रियेशत्वान्नेत्रवशीकरणं नेत्राभ्यां च मनसो बलात्सखीविषये प्रेक्षणं मनस्तु प्रियं प्रत्याकर्षयति। लज्जा स्वाभाविकी प्रकृतिर्नेत्रे मिषेण सखीं प्रति

रसकलश

वार्तालापों को परोक्षार्थ की व्यञ्जना के द्वारा प्रिय के प्रति प्रकृष्ट रूप में सखी के द्वारा पहुँचाती हैं और इस प्रकार श्री श्यामसुन्दर के चाटुवचनों के अनादर को अंगीकार करना ही विश्वासपूर्वक समझा गया ।

एक बात और भी है कि रसकी गति वक्र या कुटिल है जैसे अङ्कों की गति बाईं ओर से होती है जैसे कि कहा भी ८—न बोलना ही बोलना है, तिरस्कार ही आदर है, न न कहना ही स्वीकृति है, न हंसना ही हंसना है वस्त्र से मुख ढकना ही घूँघट उघाडना है अहो रस की रीति अङ्कों के समान विपरीत है। इसके बाद ऐसा जानकर चतुर (प्रियतम) अति आतुर हो कर दुकूल पल्लव अर्थात् वसनाञ्चल पकड़ने लगे, यहाँ दुकूल पल्लव में पल्लव शब्द अग्रभाग का वाचक है क्योंकि पल्लव लता के अग्रभाग में ही होता है, उसी के समान यहाँ वस्त्र का केवल प्रान्त ही प्रियतम के द्वारा पकड़ा गया। तब प्रिया जी, तुम 'हुँकार' करके मेरी ओर देखोगी, वस्त्र का प्रान्त पकड़ने वाले प्रियतम को देखना चाहती तो होगी पर उनके सामने देख नहीं सकती । क्या कहूँ ? मुझ सखी को भी नहीं देख सकती, फिर हुँकार भी मेरी ओर ही देखती हुई करती हो, प्रियतम की ओर नहीं। यहाँ देखने की इच्छा को बताने वाला कोई शब्द नहीं है किन्तु प्रियाजी का नेत्र वक्र करना, प्रिय में मन लगा होने के कारण उनके इन्द्रिय स्वामी होने के कारण वे नेत्रों को वश में कर लेते है और नेत्रों के द्वारा मन को बलात् वश में कर लेते हैं। यहाँ नेत्रों से सखी की ओर देखा जा रहा है। मन तो प्रिय के प्रति आकर्षित करता है, लज्जा स्वाभाविकी प्रकृति है, जो नेत्रों को बहाने से सखी के प्रति प्रेरित करती है। यदि यह सखी की ओर न देखे तो भी चतुर सखी इनकी रस में

प्रेरयति । किञ्च यदा न पश्ये तदापि चतुरसखी रसलीनतां जानीयादतोऽप्रेक्षणमेव यथा कथञ्चिच्छ्रेय इतीच्छार्थः । तदा हुङ्कारसक्षोभदृशं च दृष्ट्वाहं मनसि हसामि किमपराद्धं मया । करोति कोऽपि दण्डः कस्मैचिदन्यस्मैदीयते किमिति प्रियसमक्षदर्शने हास्योदयः स्यात्तेन च धृतिं स्थापयितुमशक्ता स्यादतः परिजनेष्वेव प्रभावं परीक्षयसीति एवं च कृतेऽप्यङ्गीकृतिं ज्ञात्वा क्रमेण भुजवल्लीं बिभ्राणे सति तदा उल्लसितया रोमस्रजालं कृतां दृष्ट्वेति । युगपदेवोद्गतया रोमपरम्परया सर्वाङ्गीणसात्विकोदयादङ्गानां सर्वेषामेवानुकूल्यं जातमिति । अलङ्कृतामिति सख्याशयः शोभने किं न शोभनमिति । पूर्वपल्लवोक्तिरपि अत्र वल्लीकथनेन सङ्गता रोमस्रगित्यनेन कलिकाद्यङ्कुरोदयः तदा संयोगानन्दे विगलितवेद्यान्तरस्वरूपे लीना तदनुबाह्यान्तरविस्मृतिर्जातेति मूर्तिमिति चित्रमिव स्थगितां ततः क्षणे बहिः स्मृत्या किमिदं जातमिति विस्मयहर्षसाङ्कर्येण सर्वविकारमूलप्रियमोहनसन्निधाने नेदमित्यंजसा हास्यमेव जातम् । कदा पश्यामि हास्यञ्च । रसोदयो हर्षधर्म एव ।

रसकलश

लीनता को जान ही जाएगी, अतः उसकी ओर न देखना ही है, जैसे भी हो वैसे कल्याण ही हो यह इच्छा का अर्थ है । तब हुंकार और क्षोभ से युक्त नेत्रों को देखकर मैं मन में हँसती हूँ कि मैंने क्या अपराध किया । 'और करे अपराध कोऊ, और पाय फल भोग ।' अपराध किसी और ने किया और दण्ड किसी और को दिया जा रहा है । क्या प्रियतम के सामने देखने से हँसी आ जाती है और उससे धैर्य को रखने में असमर्थ है अतः परिजनों में ही प्रभाव की परीक्षा करती हो, ऐसा करने पर भी अंगीकार जानकर प्रियतम क्रम से भुजलता को पकड़ने लगे, तब श्री राधा उल्लसित हो उठी रोलावली से अलङ्कृत हो गई उन्हें देखकर एक साथ ही उदञ्चित हो उठी रोम परम्परा से सर्वांगीण सात्त्विकों के उदय से सभी अंगों की अनुकूलता हो गई । 'रोममाला से अलङ्कृत हुईं, यह कहने में सखी का यह अभिप्राय है कि सुन्दर को क्या वस्तु सुन्दर नहीं होती । पहले वस्त्र के प्रान्त का पल्लव होना भी इसीलिये संगत है कि यहाँ श्री राधा को वल्ली कहा है। रोममाला कहने से कलिका आदि अंकुरों का उदय हुआ, तब संयोगानन्द में अन्य ज्ञातव्यों के स्वरूप के विगलित हो जाने से तन्मय अवस्था में मग्न होने के कारण उसके बाद बाहर अन्दर की विस्मृति ही गई, तब श्रीराधा चित्रलिखित सी स्थगित रह गई हैं अतएव श्री राधा को रसलीन 'मूर्ति' कहा गया है। फिर क्षण भर बाद बाहर की स्मृति आने पर यह क्या हुआ ? इस प्रकार विस्मय और हर्ष के सांकर्य से समस्त विकारों के मूलमोहन के संनिधान से अनायास ही हास्य ही हो गया (हँसी आ गई) और मैं हास्य कब देखूँगी, यह कामना पूरी हो गई । यहाँ रसोदय से हुए हर्ष का धर्म ही हास्य है।

अन्यदपि च पश्य धाष्ट्र्यं रोमाञ्चिताङ्गाना कदाभया प्रेरणंकृतम् अहं त्वेकाकिनी किं कुर्याम्यज्जातं तज्जातमिति कौतुकजम अत्र पूर्वपद्योक्तगुण-विवृतिरपि ज्ञेया । चाटुरुतेषु भीतप्रियदर्शनजप्रसादेन लज्जागमनादिभयं ततो दुकूलप्रान्तग्रहणे स्वस्य त्रपाबाहुल्यं ततो भुजवल्लीग्रहे रोमाञ्चकुलं संघात इति रसलीनतायां प्रियाङ्गीकृतिर्यशः तादृशासक्तपोषणं यथार्हं कृतमिति सर्वसखीमनोगतं ततो हास्येऽनिर्वचनीया शोभा जातेति । श्रीः त्रपाकुल-मित्येकपदे रोमाञ्चेषु यशःसर्वाङ्गोद्घुष्टत्वात् रसलीनत्वे श्रीः स्थायि-भावोदयात् रसपूर्णस्वरूपत्वात् हास्ये सखीनिवासत्वात्सख्यरसः निवास इति सप्रेम क्षोभ भङ्गिकं नानाप्रकारसदातनक्षणक्षणशिक्षणदुर्ल्ललिता सख्यः सदा पार्श्वं स्थायिन्य एव तिष्ठन्ति । अत एतन्निरन्तरवाससकाशान्मम कोपि निर्बन्धो न स्थातुं शक्नोति । अन्यथा केवलप्रियनिवासे यद्भवतु तद्भवत्वित्यादि रूपं सख्यपेक्षायां हास्यं यथा किमियं हितसखी कथ-यिष्यति । अद्यैव हुङ्कृतिमकृथा अद्यैव रसलीनता रोमाञ्चतेति । किं ते

रसकलश

और भी भाव है देखो इन रोमाञ्चित अङ्गों की दृष्टता देखो मैंने कब प्रेरणा की । मैं अकेली हूं क्या करूँ । 'जो हुआ सो हुआ' यह भाव कौतुक से उत्पन्न हुआ । यहां पूर्व पद्य में कहे गये गुणों का विवरण भी जानना चाहिये । चाटु वचनों में भयभीत प्रिय के दर्शन से उत्पन्न कृपा से लज्जा आदि के जाने का भय है, फिर वसनाञ्चल के पकड़ते पर अपने आप लज्जा की अधिकता हो आती है । फिर भुजलता के पकड़े जाने पर, रोमाञ्च कुल रूप संघात हो आया । यहां सङ्घात बताता है कि रस में लीन होने पर प्रिया जी की स्वीकृति हुई है, श्याम सुन्दर जैसे आसक्त जन का यथोचित पोषण करने से यश हुआ, तब सभी सखीजनों के मन की बात पूरी हुई । तब हास्य में अनिर्वचनीय शोभा या श्री हुई । 'त्रपाकुल' इसको एक पद मानने पर रोमाञ्च में यश हुआ क्यों कि वह सभी अङ्गों में उद्घोषित हुआ था तथा रस में लीन होनेपर श्री या शोभा हुई क्योंकि स्थायी भाव का उदय होने से रस का पूर्ण स्वरूप हो गया है । हास्य में, सखी निवास होने के कारण सख्य रस है । निवास शब्द प्रेम और क्षोभ की चेष्टाओं का व्यञ्जक है । नाना प्रकार से सदा ही क्षण क्षण शिक्षा देने के कारण सखी जन बहुत प्रिय हैं, ये सदा पास ही पास रहती हैं अतएव उनके निरन्तर निवास की सभीपता से मेरा कोई भी आग्रह नहीं ठहर पाता अन्यथा केवल प्रिय के निवास में जो हो वह हो, इत्यादि रूप में सखी की उपेक्षा से हास्य होता है जैसा कि यह हितसखी कहेगी आज ही हुँकार की और आज ही रसलीन और रोमाञ्चित हो गई । तेरा यह कैसा स्वभाव है, इस प्रकार के प्रश्न का

शीलमिति प्रश्नोत्तरालाभाद्धसनमेव श्रेयः। तदनन्तरमहमपि सर्वं ज्ञात्वो-त्तरलीलावकाशदानार्थं किञ्चिन्मिषेण बहिर्निगत्य कुञ्जप्रान्ते स्थितेति ज्ञेयम् ॥११०॥

अत्र विलासो ध्येयस्तत्र पद्यदनुभूतं जालरन्ध्रेणवा सहृदयतया तेन तेन प्रियं प्रति कटाक्षिप्य पूर्ववृतं स्वसाहाय्यकृतज्ञतां च समारयन्ती वक्ति विलासारम्भे वस्तुनिर्देशवन्मङ्गलेन वर्द्धयति।

'अहो रसिकशेखरः स्फुरति कोपि वृन्दावने
निकुञ्जनवनागरी कुचकिशोरकेलिप्रियः।
करोतु स कृपां सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवो
निजप्रियतमापदे रसमये दधद्यः शिरः ॥१११॥

अहो ! इत्याश्चर्ये सख्यान्तरङ्गत्वात्कटाक्षः प्रभुकृपया किं किं न प्राप्यत इति कोऽप्यनिर्वचनीयः। क्व पूर्वं क्वेदानीं स्वरूपमित्यर्थः। रसिकानां शेखरः स्फुरति हृष्टो राजते रसस्वरूपयाथार्थ्यविदान्तद्बहूत्सवेन रसयतां शिरोधार्यभूषणः सर्वोपरिमुख्य इत्यर्थः। अत्रान्ये रसिका न कल्पाः।

रसकलश

उत्तर न मिलने से हँसना ही श्रेयस्कर है। इसके बाद मैं भी सब कुछ जानकर बाद की लीला को अवकाश देने के लिये किसी बहाने से बाहर निकलकर कुञ्ज के प्रान्त में स्थित हो गई ऐसा जानना चाहिये ॥११०॥

यहां पर विलास का ध्यान करना है, उस विलास में जो जो अनुभव जालरन्ध्र में से देखकर या सहृदयता के द्वारा भावना से किया उसी के द्वारा प्रिय के प्रति कटाक्ष करके पूर्व वृत्तान्त और अपनी सहायता की कृतज्ञता का स्मरण करती हुई कहती हैं तथा विलास के आरम्भ में वस्तु निर्देशात्मक मङ्गल द्वारा वर्धापन भी देती है।

अहो, वृन्दाटवी के निकुञ्ज में नव नागरी के कुचों के साथ किशोर केलि जिसे प्रिय है कोई ऐसे रसिक शेखर स्फुरित होते हैं। सखियों के समक्ष प्रकट रूप में पूर्णतया नमस्कार करना जिनके लिये उत्सव है और जो अपनी प्रियतम (श्री राधा) के रसमय चरणों में सिर धरे रहते हैं ऐसे वे मुझ पर कृपा करें। ॥ १११ ॥

अहो, यह आश्चर्यवाचक अव्यय है। सख्यभाव में अन्तरंग होने के कारण कटाक्ष किया गया है। प्रभु की कृपा से क्या नहीं मिलता। 'कोई अनिर्वचनीय शब्द अर्थ में है।' 'पहले का स्वरूप कहां और अब का कहां' यह तात्पर्य है। रसिकों के शेखर स्फुरित होते

किञ्च यथा न पूरिणी तं समुपैति संख्येतिवत् 'य एव रसिको य एव शेखर' इति यदा कल्प्यतेचेद्दास्येन तद्विदग्धाः सख्य एवेति । तासां कृपेच्छु-रपि कृपाश्रय इति महालम्पटोरसास्वादात्यतृप्त इति शेखरो विवाहमङ्गले विधीयतेऽतो नित्यं विवाहमङ्गलवल्लालनीयः शोभनीयः स्मृतिदृष्टिश्रुतिषु सदैव मङ्गलदायी नववर्णिनीवर इति व्यज्यते । तद्रसनसमयस्वरूपं वर्णयति । वृन्दाटवीति निकुञ्जेति परमोद्दीपनोदेशः । असमोद्ध्वानन्ददायी परमैकान्तिक इति तत्र नवनागरी अयातयामवत्सदा नूतनरसवद्यथेष्टसेव्य-पदार्थौ विषयालम्बनं नागरत्वेन सर्ववैदग्ध्यादिस्वरूपभूतानन्तनिरवधि गुणगणशालिनीति तस्याः कुचकिशोरौ स्वादार्हसमयप्राप्तफलवत् ।

किञ्च विदग्धावस्था कैशोरमेवास्ति । यस्मिन्स्मरास्वाद ज्ञानं स्वाद्य-स्य स्वादयितुश्च । तदधिकरणस्यानन्दसाधकं च यद्वा किशोरेति द्वितरुणोयं

रसकलश

हैं, हर्षित हुए सुशोभित होते हैं । यथार्थ रूप में रस का स्वरूप जानने वाले और श्याम-सुन्दर के बहुत उत्सव से रस लेने वाले रसिकों के सिर पर धारण करने योग्य भूषण रसिक शेखर हैं, क्योंकि रसिकों में सबसे ऊपर हैं मुख्य हैं, यह अर्थ है । यहाँ अन्य रसिकों की कल्पना नहीं करनी चाहिये । जो सर्व प्रथम है जैसा कि कहा गया है कि—'न पूरणी तं समुपैति संख्या' उसे दूसरा तीसरा आदि पूरणताबोधक संख्या प्राप्त नहीं होती, वह तो सर्वत्र प्रथम ही कहा जाता है । और जो स्वयं रसिक हो और स्वयं ही शेखर हो ऐसी कल्पना की जाए तो दास्य-भाव से रस में निपुण सखीजन ही हैं उनकी कृपा को चाहने वाले भी कृपा के पात्र हैं इससे महालम्पट और रसास्वाद में सदा ही अत्यन्त अतृप्त प्रिय-तम ही शेखर विवाह मङ्गल के समय बनाया जाता है जिसे 'सेहरा' भी कहते हैं, उसी के समान प्रियतम नित्य विवाह मङ्गल में लालन करने योग्य और सजाने योग्य है तथा स्मरण, दर्शन और श्रवण में सदा ही मङ्गलदायी हैं नववर्णिनी के हैं ऐसा प्रतीत होता है । उस आस्वाद के समय का स्वरूप बताते हैं वृन्दाटवी और निकुञ्ज जो परम उद्दीपन देश हैं, जिसके समान या ऊपर कोई नहीं ऐसे आनन्द को देने वाले हैं तथा परम एकान्तिक हैं । वहाँ नव नगरी अयातयामासी हैं, सदा नूतन रस-सो हैं, यथेष्ट सेव्य स्वरूप हैं समस्त सखी वृन्द और श्यामसुन्दर के प्रेम की विषयालम्बन है । नागरी होने के कारण सभी विदग्धता आदि स्वरूपभूत, अनन्त- निःसीम, गुणगणों से सुशो-भित हैं, उनके कुच किशोर रसास्चाद लेने योग्य समव पर प्राप्त फल के समान हैं ।

एक बात और है कि वैदग्ध्य या चातुरी की अवस्था तो किशोर अवस्था ही है, जिसमें स्मर या काम के आस्वाद का ज्ञान स्वाद्य और स्वादयिता को होता है । तथा उनके आधार के लिये भी आनन्द का साधक होता है । अथवा कुचकिशोर में किशोर शब्द 'द्वितरुणोयं नौ दृढं श्लिष्यति,

नौ दृढं श्लिष्यतीत्यादिसङ्केतोपलक्षणार्थम् । अन्यच्च देहलीदीपवत्किशोरा केलिरिति । किशोरत्वेन क्रीडनं किशोरस्य प्रियस्य प्रथम प्राप्तौ यथा नवौत्सुक्यं स्यादहो ! कियदपूर्वं परिरम्भोन्मर्द्द सुखं प्राप्यते, तदेव पुरुषार्थातिशयं मन्यते । यौवनादिषु स्वादातिशयस्त्वस्त्येव परन्त्वपूर्वताऽभावान्न तादृशत्वम् । अतोऽपूर्वोत्सुक्यदर्शनार्थं किशोरकेलिः । नवनागरीत्वेन तस्या अपि तादृशौत्सुक्यम् तादृशी केलिः प्रिया यस्य । अत्र क्रमप्राप्तवत्सदा नवत्वं स्वतः सिद्धमेव ज्ञेयम् । एवं तत्प्रियतया रसिकता वर्णितापि शेखरत्वं नायातम् ।

किञ्च प्रभवोऽपि स्वपत्नीविषयानन्दे मग्ना दृश्यन्ते किमाधिक्यम् । तत्र तादृशपरमैश्वर्यवृन्दावनाधिनाथत्वमनपेक्ष्य स्वरसनिष्ठत्वमाधुर्येण शेखरत्वं दर्शयति । अस्काकं तु स कृपां करोतु नान्यक्रियाव्यापृत इति । कोऽसौ ? तदाह—'सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सव' इति 'निजप्रियतमा' पदे यः शिरोदधदिति द्वय विशिष्टः । सखीषु स्वप्राणप्रियाकिङ्करीषु प्रकटो न तु प्रच्छन्नः ।

रसकलश

इत्यादि सकेत के उपलक्षण के लिये है । ऐसे ही देहलीदीपन्याय से किशोर शब्द कुच के साथ भी लगता है और केलि के साथ भी । किशोर होने से यह क्रीडा मानों किशोर प्रियतम को प्रथम प्राप्ति में जैसी नवीन उत्सुकता होती है अहो कितना अपूर्व आलिङ्गन और उन्मर्दन का सुख प्राप्त होता है । उसी को बहुत बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं, यौवन आदि अवस्था में भी अधिक आस्वाद प्राप्त होता ही है, परन्तु अपूर्वता के अभाव में वैसा नहीं होता । अतः अपूव उत्सुकता का दर्शन प्राप्त करने के लिये किशोर केलि कहा है । नव नागरी होने के कारण प्रियाजी को भी वैसी ही उत्सुकता है । अतः वैसी क्रीडा जिनको प्रिय है । यहाँ क्रम प्राप्त के समान सदा नवीनता तो स्वतः सिद्ध ही जाननी चाहिये ऐसा उनकी प्रिय होने के कारण प्रियता का वर्णन कर दिया गया है तो भी उनमें शेखरता न आई थी । यह बात भी तो है कि प्रभुजन भी अपनी पत्नी के साथ विषय भोग में तो आनन्द मग्न देखे जाते हैं इसमें क्या अधिकता है । वहाँ वसे परमैश्वर्यशाली श्री वृन्दावन की अधिनाथता की कोई अपेक्षा न रखकर अपने रस में निष्ठावान् होने के माधुर्य में अपनी शेखरता दिखाते हैं । हम पर तो वे कृपा करें, जो अन्य किसी भी क्रिया में व्यापृत या व्यस्त नहीं है । वे कौन है इस पर कहते हैं—'सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सव' है और 'निज प्रियतमा के चरणों में जो सिर रखे हुए हैं' जिनके यह दो विशेषण हैं । अर्थात् अपनी प्राण प्रिया श्रीराधा जी के किङ्करीजनों में प्रकट है सर्वजन प्रत्यक्ष है, प्रच्छन्न या छिपा हुआ नहीं है क्योंकि प्रेमावेश के शुभ प्रभाव से उन्हें सखी

किञ्च प्रेमावेशसत्यभावान्न सखीसमूहे परिवादभयं । "ननु सर्वे तत्रत्या जनास्तादृशतत्सुखिन एव कथं शंक्यते ? तत्र सजातीयहृदयत्वेऽपि संघातः शङ्कास्पदो भवत्येवेति । अथ अत्र सोऽपि नास्तीत्यर्थः । श्रीमत्याश्चापि शङ्काभावः । तन्मानमार्द्दवकरणे प्रसादे चैतस्येव कारणत्वात् एवं प्रकटत्वेनैश्वर्यानपेक्ष्यता द्योतिता । ननु कार्यसाधनार्थ एव नत्युत्सवो नत्वहैतुकस्तत्राह पूर्णः स्वबुद्धिस्नेहपूर्वकः । निजप्रेमास्पदाया अपि प्रेमास्पदत्वात्ताभ्यश्च सकाशाद्दास्यशिक्षार्थं दास्यास्वादं प्रति प्रसद्य श्लाघार्थं च नतेर्नमस्योत्सव औत्सुक्यं यस्य नत्युपलक्षणेन चाटुकाकुवाण्याद्यपि ज्ञेयम् ।

किञ्च सर्वनमनीयस्यानन्यनमनाभ्यासाद्रसावेशबाहुल्यान्नमनौत्सुक्यं परमरसदम् । अस्य रसिकस्य नतावेवास्वादलब्धिस्तत उत्सव इव हृदिस्थायिनी नतिः । अतः शेखरपदप्राप्तिः । अन्यच्च यथा ये मद्भक्ता न ते भक्ता भक्तभक्तास्तु मत्प्रिया इतिवत्स्वानुभवेन भजनीयभक्तभजन-

रसकलश

समूह में भी परिवाद या अपवाद का कोई भय नहीं । यह प्रश्न हो सकता है कि वहाँ का प्रत्येक जन-सखीजत या किंकरीजन वैसा ही तत्सुख सुखी (उनके सुख में सुखी) है फिर यह शंका क्यों करते हो । इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि किङ्करीजन या सखीजन सजातीय हृदय वाले हैं किन्तु समूह तो शङ्कास्पद होता ही है । यदि कोई कहे कि यहाँ का तो समूह भी शङ्कास्पद नहीं है तभी श्रीमतीजी को भी कोई शङ्का नहीं है क्योंकि श्रीमती के मान को शिथिल करने में और उन्हें प्रसन्न करने या मनाने में यह समूह ही कारण है । इस प्रकार प्रकट रूप में ऐश्वर्य की कोई अपेक्षा नहीं रहती यह द्योतित होता है ।

अब प्रश्न होता है कि सखीजन के प्रति प्रकट रूप में पूर्ण प्रणाम करना रूप उत्सव अपने कार्य साधन के लिये ही है अहैतुक या निष्प्रयोजन नहीं है । उस पर कहते कि पूर्ण अर्थात् अपने स्नेह और अपने विचार के साथ अपनी प्रेमास्पद के भी प्रेमास्पद होने के कारण और उन सखीजनों से दासीभाव की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से और दासीभाव के आस्वाद के प्रति प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा के लिये नति करते हैं यहां नति या नमस्कार के उपलक्षण से चाटुवचन और काकुवचन आदि भी समझ लेने चाहिये । फिर सभी के लिये नमस्कार करने योग्य प्रियतम की भी आनन्द भाव से नमस्कार करने के अभ्यास से रस के आवेश की अधिकता से नमस्कार करने की उत्सुकता परम रस को देने वाली है । इन रसिक शेखर को नमस्कार करने में ही आस्वाद की प्राप्ति होती है तभी तो यह उत्सव हो जाता है । और जैसे उत्सव की भावना हृदय में रहती हुई भी आनन्द देती है ऐसी ही यह नति या नमस्कार करने की भावना भी हृदय में स्थायी भाव बनी हुई है । इसी के कारण इनको शेखर पद की प्राप्ति है ।

स्वारस्यज्ञानात्तदेवाचरितमिवेति ।

किञ्च प्रभुस्वादोऽपि भक्तसङ्गप्रसादादेव प्राप्यते । न च केवलतद्-भजनादेवेति । ततस्तत्साधनफलमाह—'यो रसमये निजप्रियतमापदे शिरोदधदिति' । यदर्थं महाप्रयत्नः कृतस्तमेव दुर्ल्लभं रसमयपदं प्राप्तः ।

किञ्च स्वयं रसास्वादे कुशलो रसिकः कुतो रसो लब्धश्चेत्तत्र सखी-शब्देन पूर्वमुक्तम् । यथा राजकीयपार्श्वगमैत्रीं विना न तत्पदप्राप्तिः । प्राप्तौ च निजशिरो दधदिति । शिर उत्तमाङ्गम् । अर्थात्सर्व्वस्वाभिमतिदानं कृतम् । अन्यच्च आसक्तस्यापि रीतिनिजशिरोविक्रयणेनैवासक्तिपराकाष्ठा-लाभ इति दर्शितम् । तदा प्रियतमापदप्रसादान्नाम लब्धं रसिकशेखरेति । अत इष्टप्रसादजमिदं नाम न जातकपत्रलिखितमिवेति । अतएव तादृश-रसिकेश्वरीपार्श्वसेविनी हितसखी वक्ति—'स कृपां करोत्वि'ति । य इष्ट-सर्व्वस्वसमर्पणप्रसादलब्धरसिकशेखरेतिनामा नत्वन्यनामेति रसकालीन-स्वरूप एव कृपाश्रयत्वे वाञ्छित इति । रसिकस्तु पूर्वमेवसन् यदा पदे

रसकलश

एक बात और भी हैं, भगवान् का श्रीमुख वचन है कि जो मेरे भक्त हैं वे वास्तविक भक्त नहीं हैं, मेरे भक्तों के भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। इत्यादि के समान अपने अनुभव से भजन करने योग्य के भजन करने वाले के भजन के स्वारस्य को जान-कर वैसा ही किया। फिर प्रभु का स्वाद भी भक्त के संग की कृपा से ही प्राप्त किया जाता है, नहीं केवल उनके भजन से ही। अतः उसकी साधना का फल बताते हैं—जो अपनी प्रियतमा के रसमय चरणों में सिर रखे रहते हैं अर्थात् जिसके लिये महा प्रयत्न करते हैं उसी दुर्लभ रस मय पद या चरण को प्राप्त हुए हैं। अर्थात् स्वयं रसास्वाद में कुशल हैं रसिक हैं। यह रस कैसे प्राप्त किया? इसके लिये ही तो सखी शब्द द्वारा 'सखीजन के प्रति पूर्ण नति ही उत्सव है जिनका' इत्यादि पहले कहा है। जैसे राजा के पार्श्वचर (पास रहने वाले) की मित्रता के बिना राजा के पद या सान्निध्य की प्राप्ति नहीं होती। और प्राप्ति होने पर उनमें अपना सिर रखते हुए अपनी अभीष्ट वस्तुएँ भेंट में दे दी जाती हैं। ऐसे ही आसक्त की रीति है कि अपना सिर बेच कर ही आसक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त होती है यह दिखाया गया है। तब प्रियतमा के चरणों की कृपा से इनको रसिक शेखर यह नाम मिला। अतः इष्ट की कृपा से यह नाम मिला है जो जातक पत्र में नहीं लिखा गया। तभी वैसी रसिकेश्वरी की पार्श्वसेविनी हितसखी कहती हैं कि वे कृपा करें, जो इष्ट के प्रति सर्वस्व समर्पण करके उसकी कृपा से रसिक शेखर इस नाम को प्राप्त हुए हैं, दूसरे नाम को नहीं। रस के लीन स्वरूप में ही वे पहले से ही थे जब चरणों में सिर धरा तब उस चरण ने उस रसिक के सिर पर शेखर

शिरो धृतं तदा तेन पदेन तस्मिन् शेखरो बद्धः राजदत्तमुद्रा नामवत् । एवं व्याख्यायां प्रस्तुतमाह—'कुञ्जलताभित्त्यन्तरे स्थिता सखी प्रसद्याशिषं वदति । यदा कुञ्जान्तःशय्यायां प्रियेण कुचकिशोरकेलिः कृता, तदा चिराभिलषितप्राप्तौ आन्तरेऽर्थे स्वकृतसहायज्ञतां स्मारयति नत्युत्सवेति । बहिस्तु रसिकत्व प्रशंसा अपि चान्तरे प्रिया विज्ञप्तिरपि ।

किञ्चायमस्मन्नत्यादिपरः । प्रसादनीय एवेति ।। ततो वक्षोजकेल्यनन्तरक्रीडार्थं प्रियेण बहुशः प्रार्थिता । ततस्तदमन्यमानायाः प्रियायाः पदपतनं कृतम् । तद्दृष्ट्वैतत्पद्यगानम् । ततः प्रसद्य रसवती यथेष्टरसदानं कृतवती । तल्लीला सहृदयवेद्यैवेति विस्तरेणालम् तस्या व्यङ्ग्ये रक्षणमुत्तमकाव्यलक्षणम् । १११ ।

एवं विहारप्रकरणं समाप्य कदाचिद्रासप्रकरणमारभ्यते द्वाभ्यां—

विचित्रवरभूषणोज्ज्वलदुकूलसत्कञ्चुकैः
सखीभिरतिभूषिता तिलकगन्धमाल्यैरपि ।
स्वयं च सकला कलासु कुशलीकृता नः कदा,
सुरासमधुरोत्सवे किमपि वेशयेत्स्वामिनी ।।११२।।

रसकलश

बांध दिया, जैसे राजा की दी हुई मुद्रा पर लिखा हुआ नाम होता है। इस प्रकार की व्याख्या में अब प्रस्तुत वस्तु कहते हैं । कुञ्जलता की दीवारों में स्थित हुई सखी प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है, जब कुञ्ज के अन्दर शय्या पर प्रियतम ने कुच किशोर केलि की तब चिरकाल से अभिलाषित सुख की प्राप्ति हुई । आन्तरिक अर्थ में नति रूप उत्सव की बात कहकर अपनी की हुई सहायता को जानने की बात का स्मरण कराते हैं । बाहर तो रसिकता की प्रशंसा है । और आन्तरिक अर्थ में प्रियाजी से विज्ञापना भी हैं कि ये हम लोगों के प्रति नमस्कार आदि करते रहते हैं अतः इन पर कृपा हो जानी चाहिये । फिर कुच किशोर केलि के बाद क्रीडा के लिये प्रिय के द्वारा बहुत बार प्रार्थना की गई, तब उस प्रार्थना को न मानती हुई प्रियाजी के चरणों में वे गिर पड़े उन्हें देखते ही यह पद्य गाया गया । तब प्रसन्न होकर रसवती प्रियाजी ने यथेष्ट रस दान किया, उस लीला को सहृदय जन ही जान सकते हैं । अतः विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं । व्यङ्ग्य में रखना ही उत्तम काव्यता का प्रयोजक है ।१११।

इस प्रकार विहार के प्रकरण की समाप्त करके किसी समय के रास प्रकरण को दो पद्यों द्वारा प्रारम्भ करते हैं—

'सखीजनों द्वारा विचित्र और श्रेष्ठ भूषणों एवं उज्ज्वल (शृंगारोचित) दुकूल, तथा सुन्दर कञ्चुकी से एवं तिलक, गन्ध और मालाओं से भी अति विभूषित हुई तथा स्वयं कलाओं से युक्त स्वामिनी कुशल बनाई गई कलाओं में हम को सुन्दर रासरूपी मधुर उत्सव में कब कुछ प्रवेश होगी ।। ११२।।

स्वामिनी सुरासमधुरोत्सवे नोऽस्मान् किमपि कदावेशयेत् । क्वचिन्मूर्धन्येऽपि स एवार्थः । सुष्ठु सकलशोभनाङ्गगुणविशिष्टो रासो वाद्यवादकगायकनर्त्तकमयः स एवातिप्रियोत्सवः । यद्वा मधुरः श्रृङ्गारोत्सवः न केवलं सम्प्रयोगविषय एव श्रृङ्गारो गण्यते, अपि च रासक्रीडावनजलस्थलकेलिगाननाट्यहासपरिहासप्रहेल्यादिः सर्वोऽपि श्रृङ्गारपरिकरवैभव एवेति ज्ञेयम् । उत्सवेति सदातनो यो माधुर्यरसः, स तु तत्र पूर्ण एवास्ति, परन्तु उत्सवेऽत्यन्तप्रकाशस्तस्योन्मादविशेषे यथा प्रकृति स्थस्य पयस उत्फणनं लोकेऽप्युत्सवः । सदातनाद्विलक्षण एव स्यादिति । रासमधुरोत्सवे तत्प्रारम्भ एव स्वयमुत्सुका ।

किञ्च स्वामिनीति ममाऽयं रासो ममेमाः सख्य इति पूर्णममत्वाविष्टा । किञ्चोत्सवेशस्य सर्वकर्मकृन्नियोजनपरीक्षणव्याप्तृतता घटत एव । किञ्च सकलेत्युक्तत्वात्स्वस्य वैदग्ध्यातिशयत्वेन स्वेङ्गितरुच्यनुसारेण श्रृङ्गारवेषादौ सूक्ष्महृशा रुचिरवैचित्र्यबुद्ध्यासभोकरणम् । तत्र तासु पूर्णनिपुणास्वपि

रसकलश

स्वामिनी सुन्दर रास रूपी मधुर उत्सव में हमको कब कुछ प्रवेश देंगी । कहीं 'वेशयेत्' के स्थान पर वेषयेत् ऐसा मूर्धन्य षकार वाला पाठ भी है वहां भी यही भाव समझना चाहिये । सुरास का अर्थ है श्रेष्ठ-सभी शोभन अङ्गों और गुणों से विशिष्ट-रास, वाद्यों, वादकों, गायकों और नर्तकों से पूर्ण रस सम्बन्धी मधुर या अति प्रिय उत्सव अथवा मधुर उत्सव का अर्थ है श्रृङ्गारोत्सव । वहां केवल सम्प्रयोग विषयक या सम्भोगात्मक श्रृङ्गार ही नहीं लिया जाता ऐसे ही रास का अर्थ भी वन में, जल में, स्थल में, क्रीड़ा, गान, नाटच, हास, परिहास, प्रहेलिका इत्यादि रसमयी क्रीड़ा है इसे सम्पूर्ण श्रृङ्गार रस का परिकर और वैभव समझना चाहिये । सनातन माधुर्य रस तो वहां पूर्ण है ही । परन्तु उत्सव में उसका अत्यन्त प्रकाश होता है, जैसे उन्माद विशेष में मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव का विशेष प्रकाश होता है तथा उफान आने पर दूध का । लोक में भी उत्सव साधारण स्थिति से विलक्षण ही होता है । फिर इस सुन्दर रास रूपी मधुर उत्सव में श्री स्वामिनी प्रारम्भ में ही स्वयम् उत्सुक हैं, स्वामिनी कहने का यह भी आशय है कि वे समझती हैं कि मेरा यह रास है, मेरी यह सखियाँ हैं इस प्रकार पूरी ममता से आविष्ट हो जाती हैं । फिर उत्सव के स्वामी को सभी कार्यकर्ताओं का कार्यों में नियोजन करने उनके कार्यों का निरीक्षण करने, आदि में व्यस्त रहना ही संगत होता है । फिर 'सकला' इस कथन से अपनी चातुरी की अधिकता से अपने संकेत और रुचि के अनुसार श्रृङ्गारोचित वेष आदि में सूक्ष्म दृष्टि से रुचिर विचित्रता समझकर ठीक करना

स्वहस्तेन करणम् 'अहह कियद्वात्सल्यम्' इति सहृदयैकवेद्यम् कीदृशी स्वामिनी। इतः पूर्वं सखीभिरतिभूषिता। अतीति स्वप्रतिभाकौशलेन शृङ्गारिता कैरित्यपेक्षाया माह 'विचित्रवरे'ति। तादृश परमानिर्वचनीयानन्दलावण्यमयाङ्गानां तादृशान्येव विचित्राणि भूषणानि वैचित्र्यम् नानावर्णमणीनां कुन्दनखचनमाकारादिस्वरूपगतं वा वेशकर्तॄणां दम्पत्योश्चित्तचित्रोत्पादकत्वं च वरेति। नवनवकान्त्युल्लासत्वात् उदधिकं ज्वलन्ति देदीप्यमानानि उज्ज्वलानि परमचमत्कारेण दृक्चाकचिक्यजनकानि दुकूले परिधानीयान्तरीये विचित्रवरे चेति सच्छ्रेष्ठ कञ्चुकं कञ्चुकीत्यर्थः।

अथवा कञ्चुकं पुंपरिधानीयमप्यन्तर्हर्म्ये घटत एव। तदपि स्वादविशेषदायि पुनश्च तिलकेत्यादि प्रथमं गन्धः अति सौरभोत्तमस्थलकञ्जादिस्नेहसारः कस्तूरीकाश्मीर घनसारपटीरजश्चेति। ततो माल्यधम्मिल्लवेणीसन्दर्भकर्णपूरलघुबृहद्घण्टिकावद्गुच्छतिर्यग्मालाहारकेयूरकङ्कणरसनादिसौष्ठवरचनामयन्तन्निवेशानन्तरं भाले तिलकं तस्मिश्च मङ्गलाक्षतानि

रसकलश

या संवारना और उनके शिक्षित हो जाने पर पूर्णतया निपुण हो जाने पर भी अपने ही हाथों से ही करना ग्रहह, कितनी वत्सलता है इसे तो एकमात्र सहृदय ही जान सकते हैं।

स्वामिनी कैसी हैं? इससे पूर्व सखीजनों द्वारा ग्रति विभूषित हुई। यहां ग्रति शब्द का तात्पर्य है कि अपनी प्रतिभा के कौशल से शृङ्गारित हुई किन उपकरणों से इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि विचित्र-उस प्रकार के परम ग्रनिर्वचनीय आनन्द ग्रौर लावण्य से परिपूर्ण ग्रङ्गों के लिये वैसे ही अद्भुत भूषण योग्य हैं इनमें विचित्रता अनेक रंग की मणियों के सोने में जड़े जाने या ग्राकार इत्यादि स्वरूप में विद्यमान है जो वेश रचना वालों के तथा दम्पति के चित्त में आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है। 'वर या श्रेष्ठ हैं क्योंकि नवीन नवीन कान्ति का उल्लास है। उद्- ग्रधिक, ज्वलित-दीप्त होना उज्ज्वल कहलाता है परम चमत्कार से चकाचौंध पैदा करने वाले दुकूल ग्रन्तरीय परिधान-साड़ी-ग्रौर विचित्र तथा श्रेष्ठ कञ्चुकी अथवा कञ्चुक पुरुष के पहनने का वस्त्र भी महल के ग्रन्दर संगत हो सकता है, वह भी रसास्वाद विशेष देने वाला होता है। फिर तिलक इत्यादि प्रथम गन्ध अति सुगन्ध वाले उत्तम जाति के स्थल कञ्ज (गुलाब) ग्रादि के स्नेह का सार (इत्र) कस्तूरी, कुँकुम, कपूर, खस का स्नेहसार (इत्र) आदि उपकरणों से भी शृङ्गार किया गया है। फिर माला, केशपाश, वेणीबन्धन, कर्णपूर, छोटी बड़ी घण्टियों (घुँघरियों) वाले गुच्छे (तिरछी माला), हार, अङ्गद (बाजूबन्द) कंकण, मेखला ग्रादि की सौन्दर्यपूर्ण रचना से युक्त वेश के विन्यास के बाद भाल पर तिलक, तिलक पर मङ्गल

वीटिकादानमादर्शदर्शनादि । ततो दृग्दोषपरिहारार्थं निर्मञ्छननीराजनादिकञ्च ज्ञेयम् । अत्र षोडशशृङ्गारद्वादशाभरणादि यथा भावुकहृदयगम्यं विचार्यम् यथा स्वयं च कलाभिः समस्तप्रसिद्धाप्रसिद्धाभिः सहप्रवर्तमाना तत्कारणरूपा कारणानुगतकार्यवत् । किञ्चिद्दिग्देशः कलानाम् । यथा—

आचार्या धातुचित्रे पचनविरचनाचातुरीचारुचित्ता
वाग्वादे मुग्धयन्ती गुरुमपि च गिरां पण्डिता माल्यगुम्फे ।
पाठेशारीशुकानां पटुरजितमपि द्यूतकेलीषु जिष्णु
विद्याविद्योतबुद्धिः स्फुरति रतिकलाशालिनी राधिकेयम् ।

कीदृशी नः स्वाभिलषितसर्वकलासु तयैव कुशलीकृताः । करतालं दत्वाचार्यवच्चेटिका इव शिक्षिताः बहिस्तु नाट्यगानवाद्यवेषाद्या आन्तरा भावार्थाभिनयव्यञ्जनास्वपि शिक्षापरीक्षापूर्वकं निपुणीकृताः । शतके 'श्रीश्वरीशिक्षिताशेषकलाकौशलशालिनीमि'त्यादि प्रकरणमेवानुसन्धेयम् । अत्र स्वाभाविकस्वतःसिद्धकुशलानामपि नवशिक्षणं

रसकलश

अक्षत, पान का बीड़ा देना, दर्पण दिखाना आदि, फिर दृष्टि दोष परिहार (नजर उतारने) के लिये निर्मञ्छन (राई मिर्च वारना) और आरती उतारना आदि भी जानना चाहिये । यहां सोलह शृङ्गार और बारह आभूषण आदि जैसे भावुकों के हृदय को प्रतीत हों वसे वे विचार लें । स्वयं श्रीराधा सभी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध कलाओं के साथ विराजमान हैं, उनकी कारणभूता हैं । जैसे कार्य अपने कारण से अनुगत होता है ऐसे ही वे कलाएँ इनसे अनुगत हैं । कलाओं का कुछ दिङ्मात्र निर्देश किया गया है—जैसा कि धातुओं के चित्र बनाने में तो प्रियाजो आचार्या ही हैं । पाक क्रिया की चातुरी से प्रसन्न चित्तवाली हैं । वाद विवाद में तो वे मुग्ध ही कर देती हैं भाषाओं को तो वे गुरु ही हैं । सारिकाओं और शुकों को पढ़ाने में पटु हैं, अजित को भी द्यूत क्रीड़ा में जीत लेती हैं, सभी विद्याओं से उनकी बुद्धि विद्योतमान है, इस प्रकार रति कलाओं से शोभमाना यह श्री राधिका स्फुरित होती हैं ।'

हम कैसी हैं ? अपनी आकांक्षित सभी कलाओं में श्री राधा जी द्वारा ही कुशल बनाई गई हैं । आचार्य की भांति करताल देकर चेटियों की तरह हमें उन्होंने सिखाया है । बाहर को नाटय, गान, वाद्य, वेश आदि सिखाये हैं और आन्तरिक भावार्थों को अभिनय द्वारा प्रकट करने की भी शिक्षा देकर और परीक्षा लेकर हमें निपुण बना दिया है । जैसा कि शतक में—'श्री ईश्वरी द्वारा सिखाई गई समस्त कलाओं में कौशल शालिनी को' इत्यादि प्रकरण का अनुसन्धान करना चाहिये । यहां स्वाभाविक रूप से

ममत्वानन्दायतिकं वात्सल्यस्वादविशेषजनकं च। अत्रापि विचित्रवरेति तिलकगन्धेत्यादि वेशकरणे ज्ञेयम् तत्तु तदिङ्गितेनैव ताभिः कृतम्। अपि च पूर्णवेषभूषादिसज्जितास्वपि किञ्चित्स्वकीयभङ्गी विशेषतोऽन्यदेव रचनं स्वकरेण कृतमिति किमपीत्यनेन द्योतितम् अनिर्वचनीयमित्यर्थः। श्रीराधायाः शृङ्गाराभरणश्लोकौ यथोज्ज्वले—

'स्नाता नासाग्रजाग्रन्मणिरसितपटासूत्रिणी नद्धवेणी
सोत्तंसा चर्च्चिताङ्गी कुसुमितचिकुरा स्रग्विणी पद्महस्ता।
ताम्बूलास्योरुविन्दुस्तवकितचिबुका कज्जलाक्षी सुचित्रा,
राधालक्तोज्ज्वलाङ्घ्रिः स्फुरति तिलकिनी षोडशाकल्पिनीयम्'॥१॥
'दिव्यश्चूडामणीन्द्रः पुरटविरचिताः कुण्डलद्वन्द्वकाञ्ची--
निष्काश्चक्रीशलाकायुगवलयघटाकम्बुभूषोर्म्मिकाश्च।
हारास्तारानुकारा भुजकटकतुलाकोटयो रत्नक्लृप्ता—
स्तुङ्गा पदाङ्गुलीयच्छविरिति रविभिर्भूषणैर्भाति राधा'॥२॥

रसकलश

अपने आप सिद्ध और कुशल दासियों को भी नई शिक्षा दी गई है जो इनके प्रति ममता के आनन्द से उत्तर कालिक वात्सल्य के स्वादविशेष को जन्म देने वाला होगा। यहां पर भी विचित्र वर इत्यादि विशेषण तिलक गन्ध आदि में लगा लेने चाहिये। और यह सभी उपकरण वेश रचना में जानने चाहिये यह सभी शृङ्गार दिङ्मात्र निर्देश से उन सखियों ने किया और भी एक बात है पूर्ण वेष भूषा आदि से सजा हुई होने पर भी कुछ अपनी विशेष प्रतिभा से अन्य ही अर्थात् विलक्षण ही रचना अपने हाथों से की इसलिये यहां 'किमपि' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे इस रचना का अनिर्वचनीय होना द्योतित होता है। श्री राधा जी के शृङ्गार और आभरण के श्लोक उज्ज्वल नीलमणि में लिखे गये हैं—श्री राधा स्नान कर चुकी हैं उनकी नासिका के अग्रभाग में मणि सुशोभित हैं, नीलाम्बर से आवृताङ्गी है, दिव्य सूत्र से वेणी बन्धन किया गया है, कानों में अवतंस धारण किये हैं। केसर चन्दन से श्री विग्रह चर्चित है, केशपाश में पुष्प लगाये हुए हैं, गले में सुन्दर माला विराजमान है, हाथ में कमल पुष्प है, मुख में पान है एक मोटे विन्दु से ठोढ़ी पर तिल बना हुआ है, नेत्रों में काजल दिया हुआ है, सुन्दर चित्र रूप में पत्र रचना की गई है अलक्तक रस से चरण रंजित हैं इस प्रकार सोलह शृङ्गारों वाली राधा स्फुरित या सुशोभित होती हैं। चूडा में दिव्य और श्रेष्ठ मणि हैं, दोनों कुण्डल, काञ्ची और निष्क उनम सुवण के बने हुए ह। चक्री, शलाका युगल और वलय समूह (चूड़ियाँ) कण्ठाभरण, मुद्रिका, हार सभी तारों का अनुकरण कर रहे हैं। भुजाओं में धारण किये हुए कंकण और चूड़ियां रत्नों से बने हुए हैं, चरणों में धारण किये गये बिछुओं की शोभा भी अत्यधिक है इस प्रकार श्री राधा बारह आ भूषणों सेसुशोभित

इति । सखीनां शृङ्गारः शतके—

"लोलद्वे ण्यः पृथुसुजघनाः क्षाममध्याः किशोरीः,
सम्वीतश्रीस्तनमुकुलयोरुल्लसद्धारयष्टीः ।
नानादिव्याभरणवसनाः स्निग्धकाश्मीरगौरी-
वृ न्दाटव्यां स्मर रसमयी राधिकाकिङ्करीस्ताः ॥"

इत्यादि प्रकरणमनुसन्धेयम्, विस्तरादत्र न लिखितम् ॥११२॥

एवं वेशसज्जनपूर्वकमण्डलागमनानन्तरं रासविलासमाह –

कदा सुमणिकिङ्कणीवलयनूपुरप्रोल्लसन्-
महामधुरमण्डलाद्भुतविलासरासोत्सवे ।
अपि प्रणयिनो बृहद्भुजगृहीतकण्ठ्यो वयम्,
परं निजरसेश्वरीचरणलक्ष्म वीक्षामहे ॥११३॥

प्रथमं मण्डलशोभावर्णनम् । सुष्ठुमणीनां दिव्यकुन्दनखचितानां किंकिणी-वलयनुपुरादीनां चाकचिक्यरूपसौष्ठवमपि तादृशमेव मधुरध्वनिसौष्ठवम् । मुख्यतो रासे त्रयाणामेव वर्त्तनविशेषः । रासपञ्चाध्याय्यामपि वलयानां

रसकलश

हैं । सखीजन का शृङ्गार भी शतक में इस प्रकार वर्णित है—चञ्चल वेणी वाली, पृथुल-नितम्बा, कृशोदरी, शोभायुक्त मुकुलाकार स्तनों पर कंचुकी पहने हुई, चमकती हुई हारलता वाली, किशोर सी अवस्था की यह श्रीराधा जी की किङ्करियां अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों से सुशोभित हैं, स्निग्ध कुङ्कम के समान गौर वर्ण की तथा काम ओर प्रेममयी ये श्री वन्दावन में वन्दनीय हैं । इत्यादि प्रकरण का यहां पर अनुसन्धान कर लेना चाहिये विर्स्तार के भय से हमने यहां नहीं लिखा । ११२ ।

इस प्रकार वेश की सजावट करके रासमण्डल में आने के बाद जो रासविलास हुए श्रीहित सखो जी उनका वर्णन करती हैं—

वह कौन-सा दिन होगा जब प्रियतम को विशाल भुजाओं से गृहोत कण्ठों वाली होती हुई भी हम सुन्दर मणियों वाली घुंघरियों, चूड़िथों, और नूपुरों से सुशोभित महामधुर मण्डल में हो रहे अद्भुत विलास वाले रास के उत्सव में केवल अपनी रस-स्वामिनी के चरण चिह्नों को देखेंगी ।११३।

सर्व प्रथम मण्डल शोभा का वर्णन किया गया है सुन्दर मणियाँ जो दिव्य सुवर्ण में जड़ी गई हैं उनके बने हुये किङ्कणी, वलय और नूपुर आदियों के चाकचिक्य रूपी रूपका सौष्ठव भी है वैसा ही मधुर ध्वनि का भी सौष्ठव है। मुख्यतया रास में तीन का ही विशेष रूप से व्यवहार हाता है । रासपञ्चाध्यायी में भी—स्त्रियों के वलयों,

नूपुराणां किङ्कणीनां च योषितामिति करकटिचरणानामेव मोटने लाघवं दृश्यते। तत्र प्र, उल्लसत्, महन् मधुरे,ति मण्डलविशेषणान्याह, 'स्वादुप्रियौ च मधुराविति' कोशात्। मण्डले प्रियतास्वरूपसौष्ठवं दृग्रसनालाम्पट्य जनकम्। माधुर्य्यञ्च यथैकहीरैकमण्डलं मुक्ताफलादिमयम्, वा यत्प्रान्तं चित्रलहरीमयं, तन्मध्ये सुस्पर्शमार्द्दवस्वच्छताऽनिर्वचनीयैव। तदभितः पुष्पितलतानमनम्, सर्वतः प्रसृतसुमनःपरागसौरभम्, शीतलमन्दसुगन्धसमीरसेवितमिति स्वतो माधुर्य्यं, तत्र महामधुरत्वं सखीयूथसहितदम्पत्यागमनम्, तत्सलोलप्रतिबिम्बेन सचित्रं महारूपखचितम्, जंगमविमानमिव दृश्यमानम्, सौन्दर्य्येणातिप्रियतास्पदं जातमिति।

नृत्ये तालवाद्यलयानुगतकिंकिण्या शब्देनोल्लसनं प्राप्तम्, तासां सखीगणानां गानेन स्वरमन्द्रघोरेष्वपि तृतीयग्रामेण प्रकृष्टोल्लसनं रागवितानमयमण्डलमम्बर एवोद्गच्छदिव दृश्यमानमिति प्रोल्लसन्महामधुरमण्डलं, तस्मिन् विलासाः सभंगानां भ्रूनेत्रकरपदादिन्यासानां साकूतव्यञ्जनमयाः

रसकलश

नपुरों और किङ्किणियों के' इत्यादि द्वारा हाथ कमर और चरणों के ही मोड़ने या लचकाने में लाघव देखा जाता है। उस मण्डल में—यहाँ प्र, उल्लसत् और महामधुर यह तीन मण्डल के बिशेषण हैं। स्वादु और प्रिय मधुर कहलाते हैं, ऐसा कोशकारों का मत है। मण्डल में प्रियता स्वरूप सौष्ठव की है जो दृष्टिरूपी रसना में लम्पटता उत्पन्न करने वाला माधुर्य है। जैसा एक हीरक मण्डल हो अथवा मुक्ताफलों (मोतियों) का मण्डल हो अथवा जिसके किनारे विचित्र लहरों वाले हों उस मण्डल के मध्य में सुखद स्पर्श, मृदुता, स्वच्छता अनिर्वचनीय ही हो। उसके चारों ओर पुष्पित लताएँ झुकी हुई हों। चारों ओर पुष्पपराग की सुगन्धि फैली हुई हो, ऐसा रासमण्डल शीतल मन्द और सुगन्ध पवन से सेवित है इस प्रकार उसमें स्वयं ही माधुर्य विद्यमान है। उस पर महामधुरता तब आ गयी जब सखीसमूह के साथ प्रिया प्रियतम ने वहाँ पदार्पण किया। उनके चञ्चल प्रतिबिम्बों से वह मण्डल चित्रयुक्त सा हो गया। परमरूप से युक्त जंगम विमान जैसा दिखाई देता है और सुन्दरता से अतिप्रियता का पात्र हो गया है। फिर नृत्य में ताल, वाद्य और लय से अनुगत किङ्किणियों के कलरव से वह उल्लास को प्राप्त हो गया है। उन सखीगण के गीतों से स्वर, मन्द्र और घोर में से तृतीय ग्राम के कारण प्रकृष्ट उल्लास वाला वह रागों के विस्तार का बना हुआ सा मण्डल आकाश में ऊपर जाता हुआ सा दिखाई देता है इसलिये वह प्रोल्लसत्, महामधुर मण्डल है। उसमें विलास भाव चेष्टाओं सहित भ्रूकुटि, नेत्र, कर और चरण आदि के विन्यास के कारण हैं जिनमें अनेक अभिप्रायों की व्यंजना है। वे सभी स्वाभाविक हैं और नवीन ही

स्वाभाविकाः, नवप्रस्तुताश्च, तेषु स्वबुद्धिमनपेक्ष्याऽऽकस्मिकाश्चर्य्यजनकः कश्चिद्विलासविशेषो जात इत्यद्भुतत्वं विलासेषु प्रियाया दृष्ट्वा प्रियासख्यश्चकिताः, शिरोधुवनपूर्वकसाधुसाध्वितिवादकाः स्युरिति ।

तथैव तासां दृष्ट्वा सापि । यथा चोज्वले, "तिर्य्यक्क्षिप्तचलद्दृगञ्चलरुचिर्लास्योल्लसद्भ्रूलता, कुन्दाभस्मितचन्द्रिकोज्ज्वलमुखी गण्डोच्छलत्कुण्डला ।। कंदर्पागमसिद्धमन्त्रगहनामर्द्धां दुहाना गिरम्, हारिण्यद्य हरेर्जहार हृदयं राधा विलासोर्म्मिभि"रिति । तत्र संगीतोद्धटनं यथा—'कूजत्काञ्चीकटकविरणन्नूपुरध्वानरम्य-पाणिद्वन्द्वं मुहुरिह नदत्कंकणं चालयन्ती । राधा कृष्णद्युतिघनचये चञ्चलेव स्फुरन्ती नृत्यन्तीत्थं गदति ततथै तत्तथै तत्तथैथा ।' एवं तादृशपरस्परप्रशंसनमयविलासहावभावाद्यद्भुतरासोत्सवे प्रणयिनः, महाप्रेमवतो रसिकशेखरस्य सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवस्य, असम्प्रयोगविषयप्रीत्यास्पदस्य, वृहद्भुजौ, उरगभोगाद्युपमिताजानुविशालनिरुपमरूपस्पर्शसौर-

रसकलश

प्रस्तुत हुए हैं । उनमें अपनी बुद्धि की अपेक्षा न रखकर आकस्मिक आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाला कोई विलास विशेष हुआ । प्रिया जी के विलासो में ऐसी अद्भुतता देखकर प्रियतम और सखीगण सब चकित हो गये तथा सिर हिलाते हुए साधु, साधु कहने लगे ऐसे ही उन सखीजनों के विलासों को देखकर प्रिया जी भी चकित होकर साधु साधु कहती हैं जैसा कि उज्ज्वल नीलमणि में कहा है—'तिरछे फैंके गए चंचल कटाक्षों की कान्तिवाली, नृत्य में उल्लसित हो रही भ्रुकुटि वाली, कुन्द के पुष्प के समान मन्द मुस्कान की चन्द्रिका से उज्ज्वल मुख वाली, गण्डस्थल पर उछलते हुए कुण्डलों वाली, काम के आगमन पर सिद्ध मन्त्र के समान गम्भीर, ऐसी आधी वाणी का दोहन सा करती हुई, मनोहारिणी श्रीराधा ने आज अपने विलासों की तरङ्गों से श्रीहरि के हृदय को हर लिया ।' उस रासमण्डल में संङ्गति का उद्घाटन भी होता है । जैसा कि—'कूजन करती हुई मेखला और कङ्कणों वाली' झणत्कार करते हुए नूपुरों वाली' करताल के कारण ध्वनि से रमणीय करयुगल वाली बार बार निनाद करते हुए कङ्कणों को चलाती हुई कृष्ण की कालिमारूपी मेघसमूह में बिद्युत् सी चमकती हुई और नृत्य करती हुई श्रीराधा 'ततथै ततथै था' यह शब्द बोलती है । इस प्रकार परस्पर प्रशंसा से युक्त विलास और हावभाव आदि से अद्भुत रासोत्सव में वैसे प्रियतम के—महाप्रेमशाली रसिक शेखर के—सखीजन के समक्ष पूर्ण नति ही जिनके लिये उत्सव को है ऐसे असम्प्रयोगात्मक प्रीति के पात्र श्यामसुन्दर के—जिनकी उरगभोग (नागदेह) आदि से उपमा दी गई है और जो आजानु विशाल है जिनमें अनुपम रूप, स्पर्श, सुगन्धि आदि

भादिसहजमहत्त्वातिशयौ भुजदण्डौ, ताभ्यां गृहीतं कण्ठं यासाम् । अत्र मण्डलाकारभ्रमनर्त्तनं परस्परं सखीनां दम्पत्योश्च सहैव भुजयोजनम्, तत्र समानसूत्रेणोभौ सम्मुखस्थितौ, उभयोरुभयतः सखीभुजयोजनम् । एवं प्रियस्य भुजाभ्यां सखीद्वयकण्ठग्रहणम् ।

अथवा उभावेकत्रैव गृहीतकण्ठौ तदा उभयतो दक्षिणे प्रियस्य सखी प्रियाया वामे सखीति यथाभावं ज्ञेयम् । प्रणयिनो बृहद्भुजेति । सापेक्ष पदत्वात्समासो विभक्तेरलुक् यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत् । प्रस्तुते एवं-वृत्ते अपीति मन्निष्ठामत्रापि शृणुतेत्याह—वयमिति सजातीयाशययूथाभि-प्रायेण बहुत्वं परं केवलं निजरसेश्वरीचरण-लक्ष्म वीक्षामहे । नतु तादृश-प्रियभुजकण्ठग्रहणरसस्मरणाः स्मः, यत्कीदृक् छविः कीदृक् लावण्यं माधुर्यं चेति न विघ्नः तदा तत्स्पर्शजरोमाञ्चसात्विकाद्युद्गमः कुतस्तादृशमनो-

रसकलश

के सहज महत्त्व का अतिशय है ऐसे भुजदण्डों से गृहीत या आलिङ्गित हुआ है कण्ठ जिनका ऐसी हम सखियाँ । यहाँ मण्डलाकार भ्रमणात्मक नृत्य है जिसमें परस्पर सखीजन और प्रिया प्रियतम एक दूसरे के सामने स्थित हैं और दोनों के दोनों तरफ सखीजनों ने अपनी भुजाएँ मिला रखी हैं. इस प्रकार से प्रियतम की भुजाओं द्वारा भी दो सखियों के कण्ठ का आलिङ्गन हो रहा है। अथवा प्रिया प्रियतम दोनों एक ही स्थान पर एक दूसरे के कण्ठ का भुजाओं से अलिङ्गन किये हुए हैं तब उनके दोनों ओर अर्थात् प्रियतम के दक्षिण भाग में और प्रियाजी के वाम भाग में एक एक सखी है उनके कण्ठ में क्रमशः प्रियतम और प्रियाजी की एक एक भुजा पड़ी है इत्यादि भावानुसार जान लेना चाहिये । यहाँ प्रणयिनो (प्रियतम के) बृहद्भुज (बड़े भुजदण्ड) इस शब्द में 'प्रणयिनः' शब्द सापेक्ष है अतः ऐसा मानना चाहिए कि प्रणयिनः शब्द के साथ बृहद्भुज' शब्द का समास तो हो गया किन्तु षष्ठी विभक्ति का अलुक् हो जाने के कारण 'प्रणयि-बहद्भुज' रूप नहीं बना जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' ।'

प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऐसा होने पर भी मेरी निष्ठा को यहाँ भी सुनिये ऐसा कहते हैं। यहाँ पर 'प्रियतम के विशाल भुज दण्डों से आलिङ्गित कण्ठों वाली हमने इस वाक्यांश में 'वयं' या 'हम' शब्द अपने सजातीय आशय वाले सखीजनों के समूह के अभिप्राय से बहुवचन में कहा गया है । परम् का अर्थ केवल है अतः हम केवल अपनी रसेश्वरी (श्री-वृन्दावन रस की अधिष्ठात्री) के चरण चिन्ह का दर्शन करें ।' और उस प्रकार के प्रियतम द्वारा किये गये कण्ठ के आलिङ्गन का स्मरण भी न करें । क्योंकि हम नहीं जानते कि श्यामसुन्दर की उस समय कैसी छवि थी, कैसा लावण्य था और कैसा माधुर्य था । तब उनके स्पर्श से उत्पन्न हुए रोमाञ्च आदि सत्त्विक भावों का उद्गम

भावाभावात्। निजरसो दास्यरसस्तस्येश्वरी स्वामिनी मदीयत्वाभिमानास्पदा तस्याश्चरणचिह्नमेव पश्यामहे। अर्थात्तच्छोभारसे मग्नदृष्टयः अहह पश्ये कोदृशी चरणविन्यासच्छविरत्रैव रस उदेति। नान्यत्रेति शुद्धहृदयत्वविकारानुदय ईश्वर्या एव प्रभावो यथा यस्य कर्मेश्वरो भवानिति शुक्रोक्तिवत् अस्मदीयरसपालका तु त्वं तदा काचिन्ता। निजेत्युक्त्या प्रिये नायमस्मदीयो रस इति रसपक्षे ममत्वाभावः परमिति तादृशोत्सवसङ्घट्टे ऽपि न कौतुके दृष्टिः। सेवानिष्ठानामप्रमादो दर्शितः। सदा चरणैकदर्शनपरेणैव स्थेयमिति।

किञ्च स्वरूपमपि तच्चरणज्योतिर्घनीभूतमेव यथाह दशमशतके—

'सदाहं तन्मध्येऽप्यतिमधुरिमात्युन्मदरसम्,
स्मरामि श्रीराधाचरणकमलज्योतिरतुलम्।
महाविस्तीर्णं तद्घनतनुकिशोरीनवतडि-
ल्लतागौरीं कान्तिम्रदिमविजितस्वर्णलतिकाम्' ।। इति ।।

रसकलश

कहाँ ? जब कि वैसे मनोभाव का अभाव हो है। यहाँ निजरस का अर्थ है दास्यरस और उसकी ईश्वरी या स्वामिनी है मदीयता के अभिमान की आस्पद बनी हुई श्री राधा। उनके चरण चिन्ह ही हम देखें अर्थात् उन श्री चरणों की शोभा के रस में हमारी दृष्टि मग्न रहे। अहह हम देखें कि चरण विन्यास की छवि कैसी है ? क्योंकि इन्हीं चरणों में रस का उदय होता है अन्यत्र कहीं नहीं ? इस कथन में हृदय की शुद्धता से विकारों का उदय न होना, आदि इ.. रस की ईश्वरी का ही प्रभाव है, जैसा कि 'जिसके कर्म के ईश्वर (स्वामी) आप हैं, ऐसा शुक्राचार्य जी ने कहा था। हमारे रस की पालक तो तू ही है तब हमें क्या चिन्ता है। निज रस में निज शब्द के द्वारा प्रिय में हमें रस नहीं है क्योंकि रस पक्ष में हमें प्रिय के प्रति ममता नहीं है। परम् या केवल का यह तात्पर्य है कि वैसे उत्सव की घटना होने पर भी मेरी दृष्टि उस कौतुक में नहीं है। इस प्रकार सेवा में निष्ठा रखने वाली सखियों को किसी प्रकार का प्रमाद नहीं है यह दिखाया गया है। और सदा प्रियाजी के चरणमात्र के दर्शन में तत्पर ही रहना चाहिये यह दिखाया गया है। और फिर स्वरूप भी तो उन चरणों की घनी भूत ज्योति ही है, जैसा कि दशम शतक मे कहा गया है—

'मैं सदा उसके मध्य में अत्यन्त माधुर्य के कारण अति उन्मद रस वाली, श्री राधा जी के चरण कमलों की अनुपम ज्योति का स्मरण करता हूँ। यह ज्योति परम विस्तीर्ण है, श्री श्याम सुन्दर के घनश्यान श्री विग्रह में श्री किशोरी जो नवीन विद्युल्लता के समान गौर कान्ति वाली विराजमान हैं जिन्होंने अपनी गौर कान्ति और मृदुता से स्वर्णलता को जीत लिया है।'

अन्यच्च यत्तु वेशयेदित्युक्तं तत्र स्नेहेन महाश्रीरूपया स्वहस्तेन करणम्, अतिशोभा दर्शिता यथा स्वशक्त्यावेश: ततो रासे प्रियभुजकण्ठीत्वम् । अत्र व्यङ्ग्यभङ्गी प्रियेण प्रसद्य कृतज्ञतया स्वात्मानमिव भुजमिषेणार्पितं स्वहृदयोत्फणितं हितमेव निहितं तदा प्रियया स्वदत्तशोभया प्रियकृतप्रेम्णा च प्रसद्य नेत्रयो: स्मितं कृतं मनसि प्रसन्ना । अहो ! हितसखी कथं शोभते इत्थमुभयोरतिकृपामहाभरेण सखी नतदृष्टिरेव जाता, तत उक्तं चरणलक्ष्मेति ।

किञ्च दासीनामत्यन्तानुग्रहे न तद्दृष्टितैव स्यादिति तद्भङ्ग्या प्रियं प्रति इत्थं कथितं भवान् कृपां करोतु । निजरसेश्वर्या एव कृपां वाञ्छाम: । अथ प्रियां प्रति तवायं रसेश्वरो न चास्माकं त्वया मनसि कथं शोभत इति । यदुक्तं तत्त्वमेव शोभस्व अस्माकं तु त्वमेव दास्यरसेश्वरीत्यर्थकथनम् । व्यङ्ग्येऽपि भङ्गी निजेत्यर्थापेक्षायां चरणोक्त्या दास्यरस: स्पष्टी-

रसकक्कश

और दूसरी बात यह है यहाँ जो कहा गया है कि 'वेशयेत्' हमें उस मण्डल में प्रवेश करायें, उसमें भी' स्नेह के साथ परम श्री रूपा अपने ही कर कमल से प्रवेश करायें, यह तात्पर्य है । इसके द्वारा अत्यन्त शोभा दिखाई गई है जैसे अपनी शक्ति का आवेश करना, फिर रास में प्रियतम के भुजदण्ड से कण्ठ का आलिङ्गित होना, यहाँ पर व्यङ्ग्य चेष्टा द्वारा प्रियतम ने प्रसन्न होकर कृतज्ञता वश अपनी भुजा के बहाने अपने आपको हमें सौंप दिया, अपने हृदय में उफन पड़े हित या मङ्गलमय या तत्सुखमुखिता रूप प्रेम को ही रख दिया है ।

इस पर प्रियाजी ने अपने दी हुई शोभा से और प्रिय के किये हुए प्रेम से प्रसन्न होकर नेत्रों नेत्रों में मुस्कान की, और मन में प्रियाजी अति प्रसन्न हुईं । अहो, हितसखी कितनी भली लग रही है । इस प्रकार दोनों के अति कृपा के महा भार से श्री हितसखी नत मुखी हो गईं । तब कहा 'चरण चिन्ह का हम दर्शन करेंगी ।' क्यों कि दासीजनों पर अनुग्रह हो जाने पर इनका दर्शन ही होता है, इस संकेत से प्रियतम के प्रति यह कह दिया है कि आप कृपा करें, पर हम तो अपनी रसेश्वरी श्रीराधा की ही कृपा की इच्छुक हैं । और प्रियाजी के प्रति, यह कहा है कि यह आपके रसेश्वर हों पर हमारे नहीं है । आपने जो हम से पूछा था कि यह तुम्हारे मन को कैसे लगते हैं सो हमारे मन को तो आप ही अच्छी लगें । हमारी तो आप ही रसेश्वरी हों, इस प्रकार का अर्थ कहने के लिये भी यह एक भाव भङ्गी है । 'निज' शब्द के अर्थ की जिज्ञासा में 'चरणलक्ष्म' में चरण शब्द कहने द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया गया है । यह बिना

कृतः । इयमसन्देहे सन्देहनिवारणोक्तिर्व्रजमहारासैकानुभूतश्रवणमनसां बाह्यसाधकानामनुशासनार्थं रासेऽप्यस्माकमेताद्दृशभावोऽस्तीति स्वसिद्धान्तो दर्शितः । निजरसस्वरूपमग्रे वक्ष्यति 'रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ रहस्येतद्यस्य स्थितिरपि न साधारणगति'रित्यत्र राधायां रस इति रसस्वरूपे सन्दिहानैः संशयो नाशनीयः ।

किञ्च कृष्णे भावस्तदनुगतत्वेन यथास्मदीयस्वामिन्या वरः प्राणप्रिय इति रीत्या सेव्यपरिभाषायामुक्तं रसोपसर्ज्जनीभूतो भावो मुख्यरसः स्मृत इति । अत्र गोप्यः कामादिति ताद्दृशभावः सखीरूपगोपीषु न शङ्क्यः विकारहेतौ सति विक्रियन्ते 'येषां न चेतांसि त एव धीरा' इति गोपीभ्यः सखीभावस्याधिक्यं श्रैष्ठ्यं च बहुतरम् । किञ्च साधनसाध्यदशायामैक्यरसत्वं सखीनां अथ गोपीनां च 'हरिं सम्प्राप्य कामेन, ततो मुक्ता भवार्णवा'दिति भेदः । श्रीकृष्णस्य तद्रसेश्वरत्वात्तत्सेवकाः साक्षान्मन्मथशृङ्गारे धैर्यं रक्षितुं

रसकलश

सन्देह के ही सन्देह का निवारण करने के लिये वचन कहे गये हैं । इधर व्रज महारास में एक बार अनुभव किया है या सुना है जिनके मन ने ऐसे बाह्य साधकों को उपदेश देने के लिये 'रास में भी हमारा भाव ऐसा रहता है' यह सिद्धान्त दिखा दिया है। अपने रस का स्वरूप आगे कहेंगे—'रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ,' श्री राधा जी में तो रस का आस्वादन करते हैं और व्रज मण्डन श्री श्यामसुन्दर में भाव का' एकान्त में जिसकी ऐसी स्थिति है वह भी कोई साधारण गति वाला नहीं है ।' इत्यादि पद्य में 'रस श्रीराधाजी मे और भाव श्री व्रजमण्डन में' यह जानकर रस के स्वरूप के विषय में सन्देह करने वालों को अपना संदेह मिटा लेना चाहिये । ऐसे ही कृष्ण मे भाव—उनके अनुगत होकर ही किया जा सकता है । जैसे व हमारी स्वामिनी क वर हैं प्राण प्रिय है इस रीति से उनकी सेवा करनी चाहिये । जैसा कि परिभाषा में कहा है—रस का उपसर्जनीभूत भाव मुख्य रस कहलाता है । यहाँ 'गोपियों ने काम से' इत्यादि जैसा भाव सखी रूप गोपियों म नहीं समझना चाहिये । 'विकार के कारणों के रहते हुए जिनके मन विकृत नहीं होते वे ही धीर होते हैं ।' इस प्रकार गोपीजनों की अपेक्षा सखी भाव की अधिकता उसकी श्रेष्ठता में बहुत अधिक हेतु है। फिर साधन और साध्य दोनों दशाओं में सखीजनों को एकरसता होनी चाहिये । और गोपियों का—

'काम भावना से हरि को प्राप्त करके गोपियाँ भवसागर से मुक्त हो गईं ।' यह भाव है, अतः दोनों में बहुत अन्तर है । श्री कृष्ण उस रस के रसेश्वर हैं, उनके सेवक

न शक्नुवन्ति । अत्र तु श्रीमत्या रसेश्वरीत्वान्न क्वापि क्षतिः । नन्वासां किमन्यदस्मादन्यरसो नास्तीत्यपेक्षायामेवं ज्ञेयम् । रहोदम्पतिशृङ्गार-विहारावलोकनाधिकारेण सेवौपयिकत्वात्तदीयसुखसुखिन्य इति रीत्या शृङ्गारोऽपि परमान्तरङ्गविश्रब्धत्वान्नर्माक्षेपोक्तिपारस्परिकत्वात्सख्यरसः । लाल्यमानत्वाद्वात्सल्यमपि दास्यं त्वस्त्येवेति दिक् ॥११३॥

नन्वहो विकारभावो माऽस्तु तथापि प्राणनाथसेवनं बाह्याभ्यन्तरसेवा-स्वपि तु विधीयते । कथं भावेन सेवनं, तत्र साध्यसाधनभावभेदेनाह—

यद्गोविन्दकथासुधारसहृदे चेतो मया जृम्भितं,
यद्वा तद्गुणकीर्तनार्चनविभूषाद्यैर्दिनं प्रापितम् ।
यद्यत्प्रीतिरकारि तत्प्रियजनेष्वात्यन्तिकी तेन मे,
गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्रीराधिका तुष्यतु ॥११४॥

रसकलश

साक्षात् मन्मथ के लिये मन्मथभूत शृङ्गार के समय धैर्य नहीं रख सकते । किन्तु यहाँ तो श्रीमती जी के रसेश्वरी होने से कोई क्षति नहीं होती ।

अब प्रश्न होता है कि क्या गोपियों को इस रस के सिवाय अन्य कोई रस नहीं है ? इस पर जानना चाहिये कि एकान्त में प्रिया-प्रियतम के शृङ्गार मण्डन विहार के अवलोकन का अधिकार सेवा के लिये उपयोगी होने के कारण प्रार्थित है। वास्तव में सखीजन उनके सुख से सुखी हैं इसलिये शृङ्गार भी परम अन्तरंग और विश्वस्त होने के कारण तथा परस्पर में परिहास वचन तथा आक्षेप कथन करने के कारण सख्यरस है । ऐसे ही श्री लाड़ली जी को यहाँ लाड़प्यार किया जाने के कारण हैं वात्सल्यरस भी है, दास्य रस तो यहाँ है ही ।११३।

अब प्रश्न होता है कि विकार भाव मत हो तो भी प्राणनाथ का सेवन बाह्य और आन्तरिक सेवाओं में भी किया जाता है, वह सेवन किस भाव से है उस पर कहते हैं कि साध्य साधक भाव के भेद से वह सेवन किया जाता है:—

'जो मैंने श्री गोविन्द की कथा रूपी सुधा रस के सरोवर में अपना चित्त लगाया है अथवा जो मैंने उनके गुणों के कीर्तन और उनके पूजन तथा वेश-भूषा के विरचन में दिन लगाया है और जो मैंने श्री गोविन्द के प्रियजनों में आत्यन्तिकी प्रीति की है उस सब से गोपेन्द्र श्रीनन्द के आत्मज अर्थात् नन्दनन्दन की जीवन-प्रणयिनी उनकी प्राणेश्वरी श्रीराधिका मुझ पर सन्तुष्ट हों ।११४।

प्रथमं बाह्यवर्त्तनमाह। साधकदशायां लोकानुशासनार्थं भगवद्धर्माङ्गीकारस्तदा प्रथमं श्रीगोविन्दकथाश्रवणम्। कथैव सुधारसह्रदस्तत्प्रशंसा प्रसिद्धस्वर्गस्थदेवैः स्वसुधां तिरस्कृत्य कृता। "न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगे"ति। यथा च 'अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्या'मिति। "किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्ये"ति। नात्यन्तिकं विगणयन्त्यत्र 'कुशला रसज्ञा' इति 'तव कथामृत'मित्यादि ब्रह्मानन्दोपरिचरश्रीगोविन्दकथासुधा जरामृत्युजन्मादिसंसारहारिण्यपि भक्तिपोषदात्री दशमस्कन्धलीला, तत्रापि रसः स्वानुभवसाक्षिकः।

गोविन्देति नवकिशोरत्वकार्य्यवैदग्ध्यक्षमतानन्दनन्दनपूर्णतममाधुर्य्यैश्वर्य्यं द्योतितं तत्रापि, "गोवर्धने धृते कृष्णमिन्द्राद्यैश्वर्य्यसेवितम्। वीक्ष्य राधा रसमयी निदधे स्वपदे दृशम्॥" अर्थात्तादृशोऽपि मत्पदपतिष्णुरेवेति

रसकलश

पहले बाहरी वर्ताव कहते हैं। साधक दशा में लोगों को उपदेश देने के लिये भगवत्प्राप्ति कराने वाले धर्मों को स्वीकार किया जाता है, तब पहले श्रीगोविन्द की कथा सुनी जाती है, कथा ही सुधा रस का सरोवर है उसकी प्रशंसा प्रसिद्ध स्वर्गस्थ देवों द्वारा भी 'जहां श्री हरि की कथा रूपी अमृत नदी नहीं है।' इत्यादि वचनों द्वारा अपनी सुधा का तिरस्कार करके की जाती है।

और जैसे 'यह आपकी कथा रूपी मधुर अमृत की नदी में' इत्यादि, 'ऐसे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से भी क्या लाभ जहां अनन्त प्रभु के कथा रस का लाभ न हो' इत्यादि यहाँ कुशल रसज्ञ आत्यन्तिक सुख की अवगणना नहीं करते' इत्यादि एवं 'आप का कथामृत' इत्यादि और ब्रह्मानन्द के भी ऊपर रहने वाली श्री गोविन्द की कथा रूपी सुधा है जो जरा, मृत्यु, जन्म आदिमय संसार का निवारण करने वाली होती हुई भी भक्ति को पुष्टि देने वाली है। इत्यादि में और श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की लीला, उसमें भी अपने-अपने अनुभव की साक्षी से रस का विलास सिद्ध है।

यहाँ गोविन्द नाम से नव किशोर होना, कार्यों में कुशल होना और समर्थ होना एवं नन्द नन्दन होते हुए भी पूर्णतममाधुर्य और ऐश्वर्य का होना सूचित होता है। उस में भी' गोवर्धन पर्वत को धारण करने पर इन्द्रादियों ने ऐश्वर्य भाव में रहते हुए भी श्री कृष्ण की सेवा की, यह देखकर रसमयी श्री राधा ने अपने चरणों की ओर दृष्टि लगा ली।' इत्यादि का यही व्यङ्ग्य अर्थ है कि यह गोविन्द ऐसे महिमाशाली हैं तो भी मेरे चरणों में प्रणाम करते हैं। इत्यादि रस है, यह रस ही ह्रद या महानद है जो अन्य

व्यङ्ग्यम्, इत्यादि रसः, स एव ह्रदो महानदो विगलितवेद्यान्तरतापादकः अगाधस्तस्मिन् । चेतः 'चित्तेन चैत्यः पुरुषः क्षेत्रज्ञ' इति दिशा आत्मसन्निहितं प्रकाशधर्मवत् । यथा सूर्योदयात्प्रागरुणस्तद्वत्सत्त्वमयम् । जृम्भितं जृभिगात्रविनामे अङ्गमज्जनोन्मज्जनवत् प्रेम्णा चेतोऽङ्गानां वृत्तीनां तन्मयता तदनुद्रवीभावस्तम्भरोमाञ्चाश्रुसात्विका बाह्यानुभावा इति । जृभि प्रकाशे तदा अन्यतोऽप्रकाशनेन मीलनं कृत्वा तद्रसह्लद एव चेतः स्मरणं प्रकाशितम् । इति श्रवणम् । अथ कीर्तनादि यद्वेति तद्गुणाः प्रथमस्कन्धोक्ताः सत्यं शौचमित्याद्याः । 'यद्वा अयं नेता सुरम्याङ्ग' इति स्वानुकूलनायकमया रसामृतसिन्धूक्ता इति । कीर्तनम् चेतोजृम्भणेन स्मरणमप्यागतम् अर्चनं पूजनं विभूषेति पादसेवनं दास्यं च आदिशब्देन सख्यादि । रसह्लदेत्यनेन प्रेमापि दर्शितः एतैर्दिनं प्रापितं नीतम् । बहुदिनानि जातित्वादेकवचनं यदित्यनेन सम्बन्धः

रसकलश

ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान को विगलित कर देने वाला अर्थात्' तन्मय बना देने वाला है। यह ह्लद या महानद अगाध है, उसमें जो मैंने अपना चेतस् (चित्त) लगाया है। 'चित्त से ही आत्मा चैत्य और क्षेत्रज्ञ कहलाता है 'इस प्रकार से आत्मा के समीप रहने वाला प्रकाश धर्मशाली अन्तःकरण का नाम चेतस् (चित्त) है । जैसे सूर्योदय से पूर्व अरुणोदय होता है वैसे ही सत्त्वमय चित्त जृम्भित हुआ है। जृभि धातु गात्रविनाम अर्थ में है, जैसे अङ्ग मज्जन और उन्मज्जन करते हैं वैसे ही प्रेम से चित्त की अङ्गभूत वृत्तियों को तन्मयता और उसके बाद द्रवीभाव, स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि सात्त्विक भाव हुए जो बाहर प्रकट होने वाले अनुभाव हैं। इस अंश में जृभि धातु का प्रयोग प्रकाश अर्थ में हुआ है तब दूसरी ओर अप्रकाशन अर्थ में मीलन करके उस रस ह्लद में चित्त का स्मरण करना प्रकाशित किया गया। यह श्रवण है। ऐसे ही कीर्तनादि भी समझने चाहियें।

अथवा उनके गुण जो श्री मद्भगवत के प्रथम स्कन्ध में कहे गये हैं—सत्य, शौच, इत्यादि। अथवा 'यह परम रमणीय अङ्गों वाले नेता हैं' इत्यादि अपने अनुकूल नायक में रहने वाले गुण हैं जो कि रससिन्धु में (भक्ति रसामृत सिन्धु में) कहे गये हैं । यह कीर्तन हुआ। इसी प्रकार चित्त के जृम्भण से स्मरण भी आ गया । अर्चन का अर्थ पूजन और विभूषा या सजावट है। पाद सेवन और दास्य, तथा आदि शब्द से सख्यादि भी यहाँ समझे जाते हैं। रस ह्लद इस शब्द द्वारा प्रेम का भी प्रदर्शन किया गया है। इन्हीं सभी में जो दिन को व्यतीत किया। 'दिन' शब्द में एक वचन जाति वाचक होने के कारण दिया गया है, अतः बहुत दिन बिताये ऐसा समझना चाहिये।

एवं श्रीकृष्णभक्ति निर्वर्ण्यापि 'मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इति दिशा तत्प्रियजनेषु यद्यदिति अव्ययं या या इति आत्यन्तिकी प्रीतिस्तत्प्रियजनेष्वकारि मयेति। एकादशाद्युक्ताः प्रियजनाः 'स हरेः प्रिय'इति 'स भवति भागवतप्रधान' इति 'साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रिय' इति 'सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्ट'मित्यादिषु। यद्वा शतके—

'धन्यो लोके मुमुक्षुर्हरिभजनपरो धन्यधन्यस्ततोऽसौ,
धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरतिपरमो रुक्मिणीशप्रियोऽतः।
याशोदेयप्रियोऽतः सुबलसुहृदतो गोपकान्ताप्रियोऽतः,
श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यतिरसविवशाराधकः सर्वमूर्द्धा॥'

इत्याद्युत्तरोत्तरतत्प्रियजनास्तेषु यथा'मद्भक्तेषु च सौहार्द वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या। ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्य'मित्यादि प्रीतिस्ततोऽप्यात्यन्तिकी प्रेमा-

रसकलश

'यत्' 'जो' शब्द से दोनों वाक्यों में सम्बन्ध बताया गया है। इस प्रकार श्री कृष्ण भक्ति का निर्देश करके भी 'मेरे भक्तों के जो भक्त हैं वे मेरे भक्ततम माने गये हैं, इत्यादि के अनुसार उनके प्रियजनों में—'यद् यद्' यह अव्यय 'या या' अर्थ में है—अतः जो जो आत्यन्तिक प्रीति मैंने की है। जैसा कि एकादश स्कन्ध में कहा गया है कि जिसको श्री हरि के भक्त जन प्रिय हैं वह हरि का अत्यन्त प्रिय होता है। तथा इन लक्षणों वाला पुरुष भागवत जनों में प्रधान होता है। मैं भक्त जनों का प्रिय हूँ और भक्त जन मेरे प्रिय हैं अतएव मेरे भक्त साधुजन मेरे हृदय को अपने अधीन कर लेते हैं। तथा 'वे ही हमारे सखा, गुरु, सुहृद्, दैव और इष्ट हैं' इत्यादि में भी कहा गया है। अथवा शतक में भी कहा है !—

इस लोक में मोक्षार्थी पुरुष धन्य हैं, मोक्षार्थियों में भी जो श्रीहरि के भजन में तत्पर हैं वह धन्य धन्य हैं, उनमें भी जिसको श्री कृष्ण के चरण कमलों में परम प्रेम है वह धन्य है, उससे भी रुक्मिणी के ईश (द्वारकाधीश) जिसको प्रिय है, वह धन्य है उससे भी यशोदा-नन्दन जिसको प्रिय हैं धन्य है, उससे भी सुबल आदि के सुहृद् के भक्त अति धन्य है, उससे भी गोपकान्ताओं के प्रिय जिनको प्रिय हैं वे परम धन्य हैं किन्तु श्री वृन्दावनीश्वरी के प्रति अति रस के कारण विवश हुए श्याम सुन्दर का आराधक तो सबके मूर्धा पर स्थित हैं।

इत्यादि उत्तरोत्तर प्रियजन कहे गये हैं उनके प्रति 'मेरे भक्तों पर सौहार्द और वैष्णव जन के प्रति बन्धुओं की सी कृपा' तथा 'मेरा उत्तम श्लोक के भक्तजनों में सख्य हो' इत्यादि के अनुसार जो-जो प्रीति की गई है और वह भी अत्यन्तिकी है। प्रेमास्पद का

स्पदस्यान्तो निष्ठा सर्वेषामात्मैव तमन्तमतिक्रान्त इति परमात्मा तद्रूपा तद्विषयात्यन्तिकी यथा कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनामिति । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव चेति । श्रीकृष्णरूपानेव तान् प्रियान् गणयता पूर्णप्रीतिः कृता गोविन्द इव तेऽपि पूजिता आदृताश्चेति । तेन सर्वेण भव्येन कर्मणा श्रीराधिकैव तुष्यतु गोविन्दभजनं साधनं साध्यं तु तत्तोषणमेवेति भावः । गोपेन्द्रः श्रीमन्नन्दस्तस्यात्मजः पूर्णमाधुर्यरूपः श्रीकृष्णस्तस्य जीवनं प्रकर्षेण नयिनीतं प्रति जीवनं ददतीत्यर्थः । 'कन्दर्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसूनुसञ्जीविनी जयति कापि निकुञ्जदेवी'ति पद्यं स्मारितम् ।

ननु कथं सर्वपुरुषार्थशिरोमणिः श्रीकृष्णः साधनं तत्तर्कपरिहारार्थं गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनीत्युक्तम् । अत एव तत्प्रेमास्पदत्वात्साध्यम् । अन्यच्च यदिति शब्दानां यदीत्यर्थोऽपि द्योत्यते चेतो जृम्भितं स्यात् दिनं

रसकलश

अन्त है निष्ठा और सबका आत्मा ही प्रेमास्पद है । उस अन्त को अतिक्रान्त हो तो अत्यन्त कहलाता है, अतः अत्यन्त नाम परमात्मा का है, अत्यन्तरूपा या अत्यन्त विषया (उस परमात्मा के प्रति) प्रीति अत्यन्तिकी कहलाती है । जैसा कि—इसको तुम कृष्ण जानो जो समस्त आत्माओं की आत्मा है ।' ये देवता और बान्धव, सन्तजन हैं, सन्तजन ही मेरी आत्मा हैं, सन्तजन मैं हो हूँ इत्यादि के अनुसार उन श्री हरि के प्रिय जनों का श्री हरि रूप ही मानते हुए उनके प्रति पूरी प्रीति की । गोविन्द के समान ही उन गोविन्द के भक्त जनों का भी पूजन और आदर किया उन सम्पूर्ण भव्य कर्मों से श्री राधिका ही प्रसन्न हों, श्री गोविन्द का भजन भी साधन है, साध्य तो श्री राधा जी का ही प्रसादन है यह भाव है । गोपेन्द्र तो श्रीमान् नन्द हैं, उनके आत्मज या पुत्र पूर्ण माधुरीमय स्वरूप वाले श्री कृष्ण हैं, उनके प्रति अपने जीवन को प्रकर्ष से ले जाने वाली अर्थात् उनके प्रति अपना जीवन समर्पण कर देने वाली श्री राधा हैं यहाँ 'कन्दर्पकोटि शरमूर्च्छितनन्दसूनुसञ्जीविनी' पद्य का भी स्मरण कराया गया है ।

अब प्रश्न होता है कि क्या समस्त पुरुषार्थों के शिरोमणि श्री कृष्ण भी यहां साधन हैं ? इस तर्क का समाधान करने के लिए 'गोपेन्द्रात्मजजीवन प्रणयिनी' कहा गया है । अत एवं उनको प्रेमास्पद होने के कारण श्री राधा साध्य हैं । और भी एक बात है इस पद्य में जहाँ जहाँ यद्' शब्द का प्रयोग किया गया है यहाँ वहाँ यदि' यह अर्थ समझा जा सकता है । यदि इस प्रकार चित्त को जागृत किया गया हो, दिन बिताया गया हो, श्री गोविन्द के प्रिय जनों में प्रीति की गई हो इन सभी वाक्यों में 'यद्' पद से 'यदि' अर्थ लिया जाएगा । यदि ऐसा ऐसा मैंने किया हो या मैं करूँ तो उससे वे ही

प्रापितं स्यात् । अकारीत्यत्र यदिपदेन स एवार्थः । यद्येवैवमहं कुर्यां तेन सैव तुष्यत्विति अर्थात्सर्वमानसिकवाचिककायिकेषु सैव साध्येति ।

किञ्चात्र साधनानुरूपं फलं नास्ति भावानुरूपमस्तीति भेदः । आन्तरापेक्षा चेदाह । ततो रासानन्तरं श्रीमती कुसुमासन उपविष्टा परमस्नेहेन करं करे निधाय हितालीं प्रहस्योवाच, 'अहो, परमप्रेष्ठसखि कथं नतदृष्टि-रासीत्सत्यं कथये'ति । तदा सा आह, 'अहो, लाडले कथं तादात्विक-सस्मिता मदन्तरं न वेत्सी'ति श्रुत्वाह—'सखि सत्यमाह प्रियभुजकण्ठग्रहणहेतु-र्मया ज्ञातस्तदप्यहो कथं प्रियकथागुणकीर्तनार्चनभूषातज्जनस्नेहाधिकपरा-सीति कौतुकोक्तौ हिताल्याह—गोविन्देति । दिग्दृष्टिदीधितिवागादि प्रिया सम्बन्धि विन्दति यथासम्भवम् । दिग् यथा 'यस्याः कदापि वसने'ति दृष्टि-र्यथा 'महारासिकमौलिना सभयकौतुकं वीक्षितमि'ति । दीधितिर्यथा 'यत्पद-ज्योतिर्ध्यानपर' इति । वाक् यथा 'सन्तताऽऽश्रवकेशवेत्यादि लाभार्थम् । वचने स्थित आश्रव इत्यमरः । नित्यं तत्सेवकस्तस्य कथा प्रियश्रवणार्थम्

रसकलश

(श्री राधा) प्रसन्न हों अर्थात् सभी मानसिक, वाचिक और कायिक साधनों से वे ही साध्य हैं। एक बात और भी है कि यहाँ साधना के अनुरूप फल नहीं हैं अपितु भावा-नुरूप फल है यह अन्तर है।

यदि आन्तरिक अर्थ की अपेक्षा हो तो कहते हैं—इसके बाद श्रीमती पुष्पमय आसन पर विराजमान हुई, जब परम स्नेह से हाथ पर हाथ रख कर श्री हितसखी जी से कहने लगी—अहो परम प्रिय सखी क्यों दृष्टि झुकी हुई है। सच कहो। तब वे बोलीं—अहो लाडली जी क्यों उस समय से मन्द मुस्कान वाली तुम मेरे अन्तः करण को नहीं जानतीं।' यह सुनकर वे बोलीं— सखि, तुम सत्य कहती हो। प्रियतम द्वारा अपनी विशाल भुजा से तुम्हारा कण्ठाश्लेष करने का कारण मैं जान गई फिर भी अहो, किस के लिए तुम प्रियतम की कथा कहने और गुण कीर्तन, अर्चन, भूषा तथा उसके प्रियजनों के प्रति स्नेह करने के अधिकार में परायण हो इस प्रकार की कौतुकमयी उक्ति सुनकर श्री हित सखीजी ने कहा—गोविन्द इत्यादि अर्थात् गोविन्द यथासम्भव दिशा, दृष्टि, किरण, वाणी आदि द्वारा प्रियाजी के सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं, अतः यह गोविन्द कहलाते हैं। उसमें दिशा का सम्बन्ध 'यस्याः कदापि वसनाञ्चल'इत्यादि में, दृष्टि का सम्बन्ध 'महारसिकमौलिना सभयकौतुकं वीक्षितम् 'इत्यादि में किरण का सम्बन्ध 'यत्पदज्योतिर्ध्यानपरः' इत्यादि में, वाणी का सम्बन्ध 'सन्तताश्रव केशव' इत्यादि सम्बंधों के लाभ के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं। नित्य उनके सेवक हैं उनकी कथा

यथा 'श्यामसुन्दरगुणैरनुगीयमानै'रिति । तद्गुणानां तत्प्रेष्ठत्वात् यथा च 'यदपि मनोज्ञं प्रेष्ठं कृष्णं जानामि नित्यमनुरक्तम् । तदपि न मानमपास्यं तस्य गुणान् श्रोतुमालिभ्यः ।' इति तादृशी कथैव सुधा प्रियास्वाददर्शनात् रसेति स्मरोद्बोधात् यथा 'दृष्ट्वैव चन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गी'ति ह्रदेति प्रेम वैचित्योदयात् मयापि तद्दृष्ट्वा तत्रैव चेतो मज्जितम् ।

किञ्च तद्ध्रदाद्विनिष्क्रामयितुं प्रियामिति तत्राह । मयि मग्नेति यद्वा कथेति । विरोधिलक्षणया कत्थनं परिहासादिः सैव सुधारसो यथा 'रसमये दधद्यः शिर' इति । तत्कथायामयमेव रसोऽस्ति यथा देहे जीववत् । किञ्च तत्कथासु मत्प्रियाया उत्कर्ष एवानन्ददायो न केवलं ममैव । किन्तु तस्यापि तस्या अपि चेति त्रयाणामेव रसह्लदपतनमित्येष एव कुञ्जहर्म्ये व्यवहारः ।

रसकलश

इन्हें प्रिय है । उसे सुनने के लिये 'सा श्याम सुंदर गुणैरनुगीयमानैः' इत्यादि में कहा गया है। क्योंकि उनके गुण उन्हें अतिप्रिय हैं । जैसा कि—यद्यपि मनोहर 'प्रियतम कृष्ण को मैं जानती हूँ कि वे मेरे प्रति अनुरक्त हैं, तो भी मैं उनके प्रति मान नहीं छोड़ सकती क्यों कि जब मैं मान धारण करती हूँ तब सखीजन मुझे मनाने के लिए प्रियतम के गुण गाती हैं इसलिये प्रियतम के गुण सुनने के लिये ही मैं मान धारण करती हूँ । इस प्रकार वैसी कथा ही सुधा है क्योंकि प्रियाजी की उस कथा में विशेष रुचि देखी गई है । 'रस' तो कामोद्बोध के कारण हुआ है जैसा कि—चन्द्रक को देखकर ही अत्यन्त चमत्कृत अंगों वाली हो जाती हैं' इत्यादि में कहा गया है । ह्रद कहने का तात्पर्य है कि प्रियतम की कथा सुधा के रस से प्रियाजी को प्रेम वैचित्य—प्रेम के कारण बेभान सी अवस्था' प्राप्त हो जाती है । मैंने भी यह देख कर अपने चित्त को उसी ह्रद में डुबा दिया ।

एक और बात भी है कि प्रिया जी को उस ह्रद में से निकालने के लिये भी मुझे उस ह्रद में गोता लगाना होता है । अथवा कथा शब्द विपरीत लक्षण द्वारा कत्थन या परिहासादिका बोधक हो सकता है, वह कथा ही सुधारस है, जैसा कि 'रसमये दधद्यः शिरः, इत्यादि द्वारा कहा गया है । कथा में ऐसा रस है जैसा कि देह में जीवात्मा । फिर उन कथाओं में मेरी प्रियाजी का उत्कर्ष ही आनन्द दायी होता है, अतएव वह कथा न केवल मुझे किन्तु उन श्रीश्याम सुन्दर को भी तथा उन श्रीराधा जी को भी अर्थात् हम तीनों को ही रस के ह्लद में गिरा देती है । इस प्रकार कुञ्ज महल में यही व्यवहार होता

अत्र मया मुख्यतया चित्तं धृतम् । अन्यत्र गुणकीर्तनार्चनविभूषादौ तु दिनं वितायितम् । गुणकीर्तनमत्र स्तवो नतु परिहासरीतिकः दिनव्यत्ययो लौकिक-दृष्टान्तः यथा सतिस्त्रियः सत्पतिं यथेति । किञ्च नित्यनैमित्तिकसेवादास्य धर्मनियम उचित एव । परन्तु चेतो रसह्लद एव, किञ्च तयोरपि रस-मग्नतैव न वेशभूषादौ रञ्जनम् । यथा शतके—

'क्व यानं क्व स्थानं किमशनमहो किन्नु वसनं
किमुक्तं किं मुक्तं किमिव च गृहीतं न किमपि ।
मिथः कामक्रीडारसविवशतामित्य कलयत्
किशोरद्वन्द्वं तत्परिचरत वृन्दावनवने ॥'

'केशान् बध्नन्ति भूषां विदधति वसनं वासयन्त्याशयन्ति
वीणां वंश्यादि हस्ते निदधति नटनायादराद् वादयन्ते ।
वेशाद्यर्द्धं च कर्तुं कथमपि नितरामालयः शक्नुवन्ति
श्रीराधाकृष्णयोरुन्मदमदनकलोत्कण्ठयोः कुञ्जवीथ्याम् ॥' इत्यादि ।

अथवा विरोधिलक्षणया गुणेति दोषः स्तुत्यलङ्कारोक्तिः । विभूषा

रसकलश

रहता है यहां मैंने मुख्यतया चित्त लगा लिया है, अन्यत्र तो गुणकीर्तन, अर्चन और विभूषा (साज-सज्जा) आदि में दिन बिताया है, यहां गुण कीर्तन का अर्थ स्तुति है यह परिहास के ढंग का दिन बिताना नहीं है । इस विषय मे लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है 'भली स्त्रियां जिस प्रकार अपने पति की सेवा में ही लगी रहती हैं फिर नित्य और नैमित्तिक सेवा सम्बन्धी दास्य धर्म के नियमों का पालन तो उचित ही है । परन्तु चित्त तो रसके ह्लद में ही मग्न रहना चाहिये । इधर प्रिया प्रियतम को भी रसमग्नता ही रहती है तभी तो वेशभूषा आदि में उनका कोई विशेष रंजन नहीं होता । जैसा कि शतक में लिखा है— कहाँ गये, कहाँ ठहरे, क्या खाया अहो ! क्या पहना, क्या कहा, क्या लिया परस्पर काम-क्रीड़ा के रस से विवशता प्राप्त करके इनमें से किसी भी बात का कोई ध्यान न रखने वाले उस किशोरी किशोर युगल की श्री वृन्दावन नामक वन में परि-चर्या करो ।' तथा 'केशों को बाँधती हैं, भूषण विधान करती हैं, वस्त्र पहनाती हैं भोजन कराती हैं, वीणा और वंशी आदि हाथों में धारण कराती हैं, नृत्य के लिये आदर पूर्वक वाद्य बजाती हैं । कुञ्ज वीथी में उन्मद मदनकलाओं के लिये उत्कण्ठित श्रीराधा और श्रीकृष्ण की सखियाँ किसी-किसी प्रकार आधा ही शृङ्गार वेशभूषा आदि) कर पाती हैं इत्यादि । अथवा विपरीत लक्षण से गुण शब्द दोष का बोधक है, और इससे यहाँ व्याज स्तुति अलङ्कार प्रतीत होता है ।

सखोवेशादि प्रियाग्रे अहो किमियं श्यामसखी शोभते नवीनेयं चरणसेवार्थ-मागता बहुगुणवतीयं न केवलमस्मादृश्येवेति हास्यैर्दिनं गतं न ज्ञायत इति। अथ प्रियजनेषु कृष्णममत्वाश्रितसखीषु। तत्र सख्यः पञ्चधा—'सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन। प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः॥' एषामुदाहरणानि भिन्नं लिखितानि दृश्यानि। अथासामपरः कोऽपि विशेषः पुनरुच्यते। 'असमञ्च समञ्चेति स्नेहं सख्यः स्वपक्षगाः। श्रीकृष्णे राधिकायाञ्च वहन्त्यो द्विविधा मताः॥' हरौ स्नेहाधिका यथा—'अहं हरेरिति स्वान्ते गूढामभिमतिं गताः। अन्यत्र क्वाप्यनासक्त्या स्वेष्टां श्रीराधिकां श्रिताः॥' 'मनागेवाधिकं स्नेहं वहन्त्यस्तत्र माधवे। तत्सहाय-पराश्चेमा हरौ स्नेहाधिका मताः॥' याश्चात्र सख्य इत्युक्तास्ताश्च स्नेहा-धिका हरौ। शेषाः स्नेहाधिकाः सख्यामुत्कर्षश्चोत्तरोत्तरम्॥' इत्यादि-लक्षणाः कृष्णममत्वाधिकाः। किञ्च अन्यथा परस्परविनोदहास्यादि

रसकलश

अथवा विभूषा शब्द सखीवेशादि का वाचक है, श्री प्रियाजी के आगे अहो, यह कोई नई श्याम सखी कैसी सुन्दर लग रही है। श्रीमती की चरण सेवा के लिये आई है यह बड़ी गुणवती है केवल हम लोगों जैसी नहीं है इत्यादि हास परिहास करने में बीत गये दिन का भी पता न चला यहाँ प्रियजन शब्द श्रीकृष्ण के प्रति ममता रखने वाली सखियों का वाचक है हमारे द्वारा उनके प्रति आत्यन्तिकी प्रीति की गई है। यहां सखियां पाँच प्रकार की हैं—सखियां, नित्य सखियां, प्रणयसखियाँ, प्रियसखियाँ, और परम प्रियतम सखियाँ। इनके उदाहरण पृथक् रूप में लिखे गये ग्रन्थों में देखने चाहिये अब इनको कोई और विशेषता बताते हैं। अपने-अपने पक्ष में रहने वाली सखियाँ भी श्रीकृष्ण और श्रीराधा में असमान या समान स्नेह रखने के कारण दो प्रकार की कही गई हैं—असमान स्नेहा और समान स्नेहा। श्रीहरि में अधिक स्नेह रखने रखने वाली का उदाहरण है—'मैं श्रीहरि की हूँ यह विचार अपने अन्तः करण में छिपाकर रखती हैं, अन्यत्र कहीं भी उनको आसक्ति नहीं होती, वे केवल अपनी इस श्रीराधिका जो का ही आश्रय लिये रहती हैं।', 'कुछ ही अधिक स्नेह श्री कृष्ण में रखती हैं, तथा श्री हरि की सहायता में तत्पर रहती हैं ये श्री हरि में अधिक स्नेह वाली कहलाती हैं। जो यहाँ सखी नाम से कही गई है वे श्रीहरि में अधिक स्नेह रखती हैं। शेष श्रीराधा में अधिक स्नेह रखती हैं इनमें उत्तरोत्तर अधिक उत्कर्ष है। इत्यादि लक्षणों वाली श्रीकृष्ण में अधिक ममता रखने वाली सखियाँ हैं। यदि इस प्रकार सखीजनों में दो पक्ष न हों तो परस्पर विनोद और हास्य आदि का व्यवहार भी सिद्ध न हो इसलिये व्यवहार सिद्धि के लिये मैंने उन

व्यवहारोऽपि न सिद्धयेदिति तत्सिद्धयर्थं तेष्वात्यन्तिकी प्रीतिः कृता। प्रियाया अतिप्रियत्वात् तत्सुखित्वाच्चेति।

नन्वेवं कृष्णसम्बन्धिवार्तायां चित्तदानेन स्वेष्टप्रियासेवानवधानता कदाचित्स्यादिति केनचित्तर्क्यते। तत्र कथ्यते-तेन सर्वसाधनेन प्रिया प्रसीदे-दिति फलं तदर्थंकौतुकान्यमनस्त्वं न शङ्क्यम्। गोपेन्द्रात्मजोऽपि स्वोपहासं कारयित्वापि तां प्रसादयति ततस्तस्याः सकाशाद्यथेष्टप्रसादं जीवनं प्राप्नो-त्यतः सर्वेषां सैव सन्तुष्टा फलमिति राधिकेति तटस्थोक्तिः प्रियासमक्षं कौतुकेऽपि स्वसत्यं ददाति न केवलं श्रीमतीमनोरञ्जनमेव किन्तु परोक्ष-स्थवत्सत्यं कथयामीतिर्भाङ्गिका ॥११४॥

तुष्यत्विति कथिते सा मृदुहृदया तादृशसाधनेन सन्तुष्टेव सती रहोदास्यं दत्तवती यदा सर्वत उपरतस्तादृशसर्वोपरिभावारूढो यत्र भगवद्धर्मोऽपि बहिरङ्ग एव भासते तदान्यधर्म्मादिसाधनसाध्यतर्कविषयः कथं स्यामित्या-शयेनाह—

रसकलश

सखीजनों या श्रीगोविन्द के प्रियजनों में आत्यन्तिकी प्रीति की है क्योंकि वे श्रीप्रिया जी को अत्यन्त प्रिय हैं और प्रिया जी उनके सुख से सुखी होती हैं।

अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार श्री कृष्ण सम्बन्धी वार्ताओं में चित्त लगाने से कभी अपनी इष्ट देवी श्री प्रिया जी की सेवा में असावधानता हो सकती है इस पर कहते हैं कि इन सब साधनों से प्रिया जी प्रसन्न हों इस फल के लिए ही यह सब कार्य किये गये हैं अतः कौतुक में अन्यमनस्कता की शङ्का नहीं करनी चाहिये। गोपेन्द्रात्मज (श्रीनन्दनन्दन) भी अपना उपहास कराकर भी उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, तब उनके पास से यथेष्ट प्रसाद या कृपा रूप जीवन प्राप्त करते हैं अतः सभी के लिये उन प्रिया जो का सन्तुष्ट होना ही एक फल है। यहाँ राधिके, इस संबोधन में तटस्थ का सा आलाप प्रतीत होता है। अतः प्रिया जो के समक्ष कौतुक में भी अपने सत्य का प्रकाशन करते हैं, केवल श्रीमती जी का मनोरंजन ही नहीं करते अपितु परोक्ष में रहता हुआ भी मैं सत्य कहता हूँ यह अभिप्राय है ॥११४॥

पूर्व पद्य में श्रीराधिका तुष्यतु श्रीराधा जी प्रसन्न हों यह कहने पर वे कोमल हृदय उस प्रकार की साधना से सन्तुष्ट हो गई और उन्होंने एकान्त दास्य दे दिया। जब सब ओर से उपरत होकर उस प्रकार के सर्वोपरिभाव में आरूढ होकर जहाँ भगवद्धर्म भी बहिरंग ही प्रतीत होते हैं वहाँ अन्य धर्म आदि साधन और साध्य रूप तर्क का विषय कैसे हो सकते हैं। इस आशय से कहते हैं—

रहोदास्यं तस्याः किमपि वृषभानोर्व्रजवरी-
यसः पुत्र्याः पूर्णप्रणयरसमूर्तेर्यदि लभे ।
तदा नः किं धर्मैः किमु सुरगणैः किञ्च विधिना,
किमीशेन श्यामप्रियमिलनयत्नैरपि च किम् ॥११५

प्रथमं बहिरङ्गपक्षार्थमाह । व्रजवरीयस इत्यनेन श्रीवृषभानोर्व्रजेश्वरत्वं तस्या राजकुमारीत्वं तेन तदन्तःपुरस्य दास्यं महादुर्लभम् । तस्या इत्यनेन पूर्वोक्तैश्वर्यमाधुर्यपूर्णायाः परमसाध्यस्यापि साध्यरूपाया इति । किमपीत्यनिर्वचनीयम् । अन्तरङ्गे प्राणसखीत्वं बहिस्तद्भावानुगतसेवाविष्टत्वं ततः प्रणयरसेत्यनेन पूर्णस्नेहेन मामङ्गीकृतवत्यास्तदा अन्तःपुरस्थानामस्माकम् । ये केचिद्वदन्ति कथं वेदोक्तधर्मान्न कुरुत, वर्णाश्रमावपि वेदाज्ञया साध्यावेव, प्राणभृतां विधिनिषेधौ कर्तव्यावेव, कथञ्च जन्मिनो देवर्षिपितृणामृणैर्मुक्तिरतः सुरगणा अपि सेव्याः, बलिवैश्वदेवाग्निहोत्राद्या

रसकलश

उन व्रज मण्डल के मुखिया श्री वृषभानु जी को उन पुत्री का जो पूर्ण प्रणय और रस की मूर्ति हैं—कोई अनिर्वचनीय एकान्त दास्य यदि मैं प्राप्त कर लूँ तो मुझे धर्मों से क्या, देवगणों से क्या, विधाता (ब्रह्मा) से क्या ईश (शङ्कर) से क्या और श्रीश्याम से मिलने के प्रयत्नों से भी क्या ? ॥११५॥

पहिले इस पद्य का बहिरंग पक्ष में व्याख्यान करते हैं ।

ब्रज वरीयस या व्रजमण्डल के मुखिया इस विशेषण से श्री वृषभानु जी का वृजराज होना और श्री राधा जी का राजकुमारी होना और इसके द्वारा उनके अन्तःपुर (रनिवास) का दास्य जो महादुर्लभ है…कहे गये । तस्या या उनका इसके द्वारा पूर्वोक्त ऐश्वर्य और माधुर्य से परिपूर्ण परमसाध्य श्रीकृष्ण को—भी वे साध्य है इस का निर्देश किया गया है । 'किमपि' शब्द द्वारा दास्य का अनिर्वचनीय होना बताया गया । अन्तरङ्ग मे प्राणसखी होना बाहर उनके भाव से अनुगत सेवा से आविष्ट होना और उसके प्रणय रस मूर्ति विशेषण से पूर्ण स्नेह द्वारा मुझे अङ्गीकार कर लिया है तब अन्तःपुर में रहने वाली हम लोगों को धर्म आदियों से क्या ? यहां पर कई लोग कहते हैं कि वेदोक्त धर्मों का पालन क्यों नहीं करते हो, वर्ण और आश्रम भी वेद की आज्ञा से साध्य ही हैं । प्राणधारियों को विधि और निषेध का भी अनुसरण करना ही चाहिये । फिर जन्मधारी जन देवों, ऋषियों और पितरों के ऋणों से मुक्त

अवश्यमेव करणीयास्तदभावे च प्रत्यवायो स्यात् । ततस्तद्धर्मसुरर्षिपितृ सम्यक्साधनेन ब्रह्मलोकं ततः शिवलोकं ततो वैष्णवमिति साध्यं यथा 'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरञ्चितामेति ततः परं हि माम् । अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ।' इति चतुर्थस्कन्धोक्तवत्क्रमः प्रमाणमेव साधु तत्साध्यं मास्तु अहो श्रीमद्भागवते मुक्तिपरित्यागेऽपि भागवतसङ्गः सर्वोपरिचरतया वर्ण्यते । यथा—'न रोधयति मां योग' इत्यादिना 'सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्' इत्यादिना च । कथं तत्सङ्गयत्नोऽपि न दृश्यते भवतां श्रौतस्मार्तवैष्णवमार्गे क्वापि निष्ठा नास्ति, कीदृग्धर्मिणः स्थेति प्रसिद्धतर्कमाश्रित्योत्तरमाह । तदा नः किं धर्मैरिति । अहो भवतामस्मासु तर्को यथा 'वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्' इति साधनानुरूपं साधनं स्याद्यथा फलान्ता कृषिरिति सर्वेषां स्वेष्टप्राप्तिः फलं तदत्र साध्यमन्यत्साधनमन्यद्वितर्क्य विवदथ । अतः प्रत्येकं धर्मादिषु

रसकलश

कैसे हो सकते हैं । अतः देवगण की सेवा, वलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र आदि भी अवश्य ही करने चाहियें । उनके न करने से प्रत्यवायी-प्रायश्चित्ती-होना पड़ता है । उधर उस धर्म के द्वारा वे, ऋषि और पितृगणों की भली भाँति साधना या आराधना से ब्रह्मलोक उस से शिवलोक और उससे विष्णुलोक की साधना करनी होती है । जैसा कि 'अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला मनुष्य सौ जन्म में ब्रह्म पद प्राप्त करता है उसके बाद मुक्त अव्याकृत (ब्रह्म) को प्राप्त करता है, भगवतजन विष्णुधाम को प्राप्त करते हैं जैसे मैं और अन्य देवता कलाओं का अत्यय हो जाने पर विष्णुधाम को प्राप्त करते हैं ।' इत्यादि चतुर्थ स्कन्ध में कहे हुए क्रम को प्रमाण हो मानना चाहिये । यह ठीक है, पर वह साध्य ब्रह्मलोक आदि प्राप्त न हों । अहो श्रीमद्भागवत में मुक्ति का भी परित्याग करके भगवदीय जन के सङ्ग को सबसे उत्तम साधन के रूप में वर्णन किया गया है । जैसा कि—'मुझे योग नहीं बाँध पाता' इत्यादि के द्वारा कहा गया है । और हमारी वह संगति निज महिमा वाले ब्रह्म में भी न हो । इत्यादि के द्वारा उनसे मिलने का यत्न तक भी नहीं देखा जाता है । आपको तो श्रौत-वैदिक या स्मार्त-धर्मशास्त्रीय और वैष्णव मार्ग किसी पर भी निष्ठा नहीं है । आप लोग कैसे धर्मी हैं । इस प्रसिद्ध तर्क का आश्रय लेकर उत्तर देते हैं । तब हमें धर्म से क्या ? अहो, आपका हमारे प्रति तर्क ऐसा ही है जसे पश्चिम दिशा में स्थित वस्तु को पूर्व दिशा में जाने वाला कैसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् साध्य के अनुरूप ही साधन होना चाहिये जैसे फल अभीष्ट हो वैसी खेती करनी चाहिये । इस प्रकार सभी के लिए अपने इष्ट पदार्थ की प्राप्ति ही फलरूप होती है । यहां साध्य और है तथा साधन और है आप तर्क वितर्क करके विवाद करते हैं । अतः प्रत्येक धर्म

वृथा कथं विवदामः । मूलरूप एकस्मिन् प्रमाणे सर्वं शाखापल्लवादि तदन्तर्गतमेवायाति, तद्वद्वचमः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' । इति सर्वावतारिणाऽर्जुनं प्रत्युक्तं 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' । इत्यत्र शरणागते जने तदितरसर्वधर्मत्यागे सिद्धे धर्मसुरविधिवेदेशादिसाध्यसाधनतर्का उपक्षीणा एव । तत्साधने सर्वसाधनम्, तत्साध्ये सर्वं साध्यमित्यलं विस्तरेण ।

तदनन्तरं तस्य श्रीकृष्णस्य प्रेमास्पदा व्रजलीला तस्या अप्यन्तर्जीवनरूपा श्रीवृन्दावनेश्वरीरहःक्रीडा तद्दास्यमार्गप्राप्तौ अहो कथं विपर्ययविवादावकाशः । यदस्माकं गतेरगतेश्च सर्वसाधकतया श्रीराधिकैव । यथा—'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति । यथा च 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥' इत्यादिवदेकमनसा तन्निष्ठसाधनेन तदेव प्राप्नोतीति प्रसिद्धम् । नास्मच्चिन्ता धर्माधर्मादिषु भवद्भिः कार्या । स्वमार्गे स्वकीयसजातीयान्

रसकलश

आदि साधन के विषय में हम क्यों विवाद करें । मूलरूप एक ही प्रमाण में सभी प्रमाणान्तर शाखा पल्लव आदि के समान उसी के अन्तर्गत आ जाते हैं, हम तो ऐसा कहते हैं । 'कृष्ण तो स्वयं भगवान हैं' तभी सभी अवतारों के अवतारी उन श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा था—'सब धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ ।' यहां पर शरणागत जन के लिये अन्य सभी धर्मों का परित्याग सिद्ध है फिर धर्म, देव, विधि, ईश आदि साध्य और साधन सम्बन्धी सभी तर्क वहां क्षीण हो जाते हैं । क्यों कि उसकी साधना कर लेने से सब साधन सम्पन्न हो जाते हैं उस एक साध्य में समस्त साध्य समाप्त हो जाते हैं 'एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाहिं ।' अतः इस विषय में विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है । श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान हैं और उनकी प्रेमास्पद व्रजलीला है, व्रजलीला का भी अन्तर्जीवन श्री वृन्दावनेश्वरी के साथ एकान्त क्रीडा है । उनके दास्य मार्ग की प्राप्ति हो जाए तो भला विपरीत विवाद करने का अवकाश कहां रहता है । क्यों कि हमारी गति और अगति की सब बातों की परम साधक श्रीराका ही हैं । जैसा कि—मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा, तुम किसी बात की चिन्ता मत करो ।' इत्यादि में और 'अपना मन मुझ में लगालो, मेरे भक्त बन जाओ, मेरा भजन करो और मुझे नमस्कार करो, तुम मुझे ही प्राप्त करोगे मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ क्यों कि तुम मेरे प्रिय हो । इत्यादि में ऐसा कहा गया है । इसके अनुसार उनमें ही अनन्य भाव से मन लगाकर उनकी ही निष्ठा से साधन करने पर वे ही प्राप्त होती हैं ऐसा प्रसिद्ध है अतः आपको हमारे धर्म अधर्म आदि के विषय में कोई चिन्ता नहीं करनी

शिक्षयतेति । तत्र च श्यामप्रियमिलनयत्नैरित्यत्र अयत्नेन कदाचित्केन-चित्सम्बन्धेन मिलतु, तदा तत्सम्बन्धवार्तापि भवतु नास्मत्क्षतिः । अथ यत्नं तु यदा कुर्व्वीम तत्साधनेन श्रीराधा प्राप्या स्यादिति पूर्वपद्योक्तादुत्तर-दशोक्ता ज्ञेया । अतएव ब्रूमो रहोदास्यमिति प्राप्यमन्यत्साधनमन्यदिति हेतोर्न कोऽपि धर्मादिरस्मत्फलसाधक इति । तदा बहिरङ्गसाधनैः किमित्यर्थः । यथा—'न वेदैर्ब्रह्माद्यै'रिति 'दूरे सृष्टयादिवार्ते'त्यत्र सर्वमुक्तं ज्ञेयम् ।

अथान्तरङ्गापेक्षा चेदाह । पूर्वपद्ये प्रियसम्बन्धिवार्ता साधनमुक्तं श्रुत्वा प्रहस्य प्रियाह । ननु साधनमपि तु कृतम् । तत्राह—अहो प्रिये त्वद्रहो-दास्ये ममान्यदृष्टिस्मरणमपि नास्ति, यदाधुना त्वया पृष्टा तदा वचने कथन-स्मृतिर्जाता । प्राणेश्वरि किं बहु वच्मि त्वद्रहःसंलापावेशे त्वदावश्यकधर्मो मत्कर्तव्योऽपि मया विस्मृतः । कलाकौशलादेस्तन्मूर्तिसम्पादनस्वरूपायासो नास्ति न च पूर्वापरीभावस्मृतिर्नच प्रियस्य स्वामित्वैश्वर्यस्मृतिः केवलं

रसकलश

चाहिये । आप अपने मार्ग पर अपने सजातीय साधकों को शिक्षा दें । 'वहाँ श्रीश्याम-सुन्दर से मिलाने वाले प्रयत्नों से भी हमें क्या ?' इसका यह आशय है कि विना यत्न के कभी किसी सम्बन्ध से मिल जाएँ तो उनके विषय में बातचीत भी हो जाए इससे हमें कोई क्षति नहीं है । पर यत्न तो हम जब करें यदि उनकी साधना या अराधना से श्रीराधा जी की दासी होने का सौभाग्य मिले । पूर्व पद्य में कहे हुए भाव से उत्तर या बाद को दशा कही गई है ऐसा जानना चाहिये । तभी तो हम कहते हैं—'अहो दास्यं तस्याः' इत्यादि । 'साध्य और है 'तथा साधन और इसी कारण कोई भी धर्म आदि हमारे फल का साधक नहीं है । तब बहिरंग साधना से हमें क्या ? जैसा कि—'न वेदों से न ब्रह्मा आदि देवों से; इत्यादि में सृष्टि आदि की बात तो दूर रही' इत्यादि में सब कुछ कहा गया है वहां से यहां ले आना ।

अब अन्तरङ्ग अर्थ की जिज्ञासा हो तो कहते हैं—पूर्व पद्य प्रिय सम्बन्धी वार्ता को साधन बताया गया, उसे सुनकर और हँसकर प्रियाजी ने कहा—भाई साधन भी तो किया है तो अब वही साधन बताते हैं—अहो प्रिये ! तुम्हारे एकान्त दास्य में मुझे अन्य दर्शन का स्मरण भी नहीं है, जब अब तुमने पूछा तब कहते समय स्मरण हो आया । हे प्राणेश्वरि, बहुत क्या कहूँ । तुम्हारे साथ एकान्त में बातचीत करने के आवेश में तुम्हारे प्रति जो मेरा अनिवार्य धर्म था, मेरा कर्तव्य था मैं उसे भी भूल गया, कला-कौशल आदि उनकी मूर्ति बनाने जैसा आयास नहीं है, न हीं पूर्व और पश्चाद् भाव की स्मृति है न हीं प्रिय को स्वामित्व और ऐश्वर्य की स्मृति है केवल सख्यभाव के ही आवेश से मेरी यह

सख्यावेशात्, न च तत्प्रियमिलनयत्नश्चेत्यादिवक्ष्यमाणानुसारेण विस्मृति-स्त्वद्रहोवार्तया जातेत्याह रह इति । वृषभानोरिति वरीयस इति द्वाभ्यां स्वस्या हितसख्याः पूर्णसम्बन्धः श्रीभानुगेहस्य द्योतितः । साक्षात्तन्नामग्रहणे अथ पुत्र्याश्चेति कथनेन आबाल्यतः पूर्णममता च द्योतिता । यदि लभे इत्यत्रासन्देहे सन्देहवचनं तत्रत्यसजातीयानामन्तरङ्गाणां साधनसिद्धानां तत्रत्यवार्तादार्ढ्यार्थम् ।

यद्वा प्रियासमक्षं ताटस्थ्यवत्स्वनिष्ठाबोधनार्थं च लभे इति वर्तमानेन नित्यप्राप्तावेवं वक्तीति वार्ता विशेषरीतिरेव । पुनश्च पुत्र्या इत्यनेन बाल्यत एव तत्तत्क्रीडासहचारिणीत्वं पश्चाद्विवाहमङ्गलेऽपि सहैव पारिबर्हे दास्यार्थं दत्ता तत्पूर्णममता लौकिकसर्वाङ्गपूर्णस्निग्धतमनृपमन्दिरव्यवहारानन्द-लालनसुवासितान्तःकरणैर्वेद्या तद्वासनाविष्टानामेव तादृशोक्तिसुखं नेतरेषाम् । पूर्णप्रणयरसमूर्तेरित्यनेन प्राणसखीहितसखीति श्रीमुखोक्त्या पूर्ण-

रसकलश

स्थिति हो गई है । न ही उनके प्रिय को मिलने का यत्न है । इत्यादि आगे कहे जाने वाले भावों के अनुसार केवल विस्मृति ही तुम्हारी एकान्त वार्ता से हो गई है अतः कहते हैं—'रहो दास्यम्' इत्यादि । 'वृषभानु जी की,' 'व्रज के वरीयान् मुख्यतर या श्रेष्ठतर की' इन शब्दों से हितसखी जी का अपना श्रीवृषभानु जी के घर से ही सम्बन्ध द्योतित होता है । साक्षात् वृषभानुजी का नाम लेने से और फिर उनकी पुत्री का एकान्त दास्यभाव यह कहने से बचपन से उनके प्रति पूरी ममता प्रकट होती है । 'यदि प्राप्त कर लूँ' इस वाक्य में सन्देह न होने पर भी सन्देह वाले वचन वहाँ के सजातीय अन्तरङ्गों को जो साधन से सिद्ध हुए हैं वहाँ की वार्ता की दृढ़ प्रतीति कराने के लिये कहे गये हैं ।

अथवा प्रियाजी के सामने तटस्थ की भाँति अपनी निष्ठा का बोध कराने के लिये भी 'प्राप्त करता हूँ' इस अर्थ को बताने वाले 'लभे' का वर्तमान कालिक प्रयोग नित्य प्राप्ति होने पर भी ऐसा कहते हैं इस भाव को व्यक्त करता है । बात कहने की यह एक विशेष रीति ही है । 'पुत्री' शब्द बचपन से ही उस उस क्रीड़ा में सहचारिणी होने को तथा बाद में विवाह मङ्गल के समय में दहेज के साथ दासी के रूप में दिये जाने अतएव उनके प्रति पूर्ण ममता, अलौकिक और सर्वाङ्ग पूर्ण स्निग्धतम, राजमहल के व्यवहारों के आनन्द से तथा लाड़ प्यार से सुवासित अन्तःकरण वालों से ही जानी जा सकती है । उस वासना से आविष्ट चित्त वाले ही वैसी बात कहने का सुख प्राप्त कर सकते हैं दूसरे नहीं । 'पूर्ण प्रणय और रस की मूर्ति' इस विशेषण से प्राणसखी, हितसखी

कृपास्पदीकृता नर्मोक्तिविश्रम्भरसवार्तानन्तरिता च । एवमधिकृतिसिद्धौ ललितादिसख्योऽपि कस्मिन् विलासविशेषे न पार्श्वस्थास्तत्राहं दास्यपरेति। रहोदास्यलक्षणं यथा च वक्ष्यति—'वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमसु सदा स्वानङ्ग-रङ्गोत्सवै'रित्यत्र 'गोविन्दप्रियवर्गदुर्गमसखीवृन्दैरनालक्षिता दास्यं दास्यति मे कदा नु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी'ति तादृशदास्यमुद्दिश्य हितसखी वक्ति 'तदा नः कि'मित्यस्मत्सम्बन्धिभिर्धर्म्मैः सदाऽव्यग्रतयाऽप्रमादेन यथा कालसेवनं मङ्गलामारभ्य शयनपर्यन्तं जलोद्वर्त्तनशृङ्गारभोजनवीटिका-रात्रिकादिभिरस्मत्करणीयैः किं धारणाद्धर्मः पूर्वमस्माभिर्धार्यते यदस्म-त्स्वामिनोरेवं सेवा कार्य्या तत्र यदा भवत्या प्रणयरसो दत्तो रहोनर्मवार्ता-भिस्त्वमेव विलम्बं कारयसि तदा कालात्यये कापि श्रीअङ्गसम्पादिका सेवा मया न कर्तुं शक्या अन्या एव कुर्वन्ति मदवकाशाभावात् पूर्वं त्वहमुद्यमं कृतवती इदानीं श्रीमतीप्रयोजकतानुकूलं करणम्, अयमेव पूर्वस्माद्भेदः ।

रसकलश

इत्यादि श्रीराधा जी के श्रीमुख से कहे गये सम्बोधनों द्वारा पूर्ण कृपा की पात्री बनाई गई, परिहास वचन, विश्वास और रस की वार्ताओं में सदा साथ रहने वाली सिद्ध होती हैं। इस प्रकार अधिकार की सिद्धि हो जाने पर ललिता आदि सखीजन भी किसी विलास विशेष में पास में स्थित नहीं रहती वहाँ भी मैं अकेली दास्यपरा या सेवा परायण रहती हूँ यह रहो दास्य या एकान्त में भी दासीभाव कहने का अभिप्राय है। एकान्त दासीभाव का लक्षण—'वृन्दारण्य निकुञ्जसीमसु सदा स्वानङ्गरङ्गोत्सवैः इत्यादि में और 'गोविन्दप्रियवर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनालक्षिता, दास्यं दास्यति मे कदानु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी।' इत्यादि वैसे दास्यभाव के उद्देश्य से हितसखी जी कहती हैं कि तब हमें धर्मों से क्या ? यहाँ 'नः, अस्माकम्' में षष्ठी बताती है कि—हमसे सम्बन्ध रखने वाले धर्मों से—जो कि सदा अव्यग्रभावसे प्रमाद रहित होकर करने योग्य कर्त्तव्य हैं उनसे जैसे यथा समय सेवा-मङ्गला आरती से लेकर शयनपर्यन्त, जल, उबटन, शृङ्गार, भोजन, बीडा, आरती आदि जो हमारे द्वारा करने के हैं उनसे भी हमें क्या ? धारण करने से धर्म कहलाता है, पहले हमारे द्वारा धारण किया जाता था कि हमारे स्वामिनी और स्वामी की इस प्रकार सेवा की जानी चाहिये। वहाँ अब आपने प्रणयरस दे दिया, एकन्तवार्ताओं द्वारा तुम ही उन सेवाओं में विलम्ब कराने लगीं तब समय का अतिक्रमण हो जाने पर कोई भी श्री अङ्गों की सेवा मेरे द्वारा नहीं की जा सकती, अब तो अन्य सखी जन ही आपकी वह सेवा करती हैं क्योंकि मुझे अवकाश ही नहीं मिलता। पहले तो मैं प्रयत्न करती रही अब श्रीमती प्रयोजक कर्ता हो गई हैं और कर्ता के स्थान पर कारण हो गई हूँ यही पहले से अब अन्तर है।

किञ्च रहोरसप्रणयप्रियकौतुकमयवार्तासम्पादनकर्मं प्रस्तुते मदीय-धर्मैः किं यस्तव रोचते स एव धर्म इति । सुरगणैरिति सुष्ठु राजन्ते वा रायन्ति शब्दयन्ति सुरा रागवाद्यनाटचा अक्षरमयाश्च गुणाश्चतुःषष्टिकला-स्तेषां गणैः प्रत्येकं भेदवृन्दैः । अथवा 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा' इति निर्देशेन सर्वगुणानामधिष्ठातृदेवा उक्ता यत्प्रेरिता गुणाः स्वस्वचमत्कारसामर्थ्ये प्रवर्तन्ते । तदत्र धाम्नि तु मूर्ति-मन्तः अधिष्ठातृदेव्य एव गुणा दिव्यत्वात्सुरशब्देनोक्तास्तैरपि किं पूर्वं प्रयत्नोऽभूत्केन गुणेन प्रिया प्रसीदेदिति । अधुना तद्रहोरसावेशेऽञ्जसैव प्रयत्नो नष्टः, गुणास्तु तच्छिक्षिता वर्तन्त एवेति ।

अथवा विधिना किं विधिः पूर्वापरीभावः, इदं कार्यमादौ कार्यमिद-मुत्तरस्मिन्निति । किञ्च कौतुकिस्वामिन्या कौतुकावेशेन यदा यत्र यो विधि-रापतेत्स एव कार्य इति । यथा—'क्व यानं क्व स्थान'मित्यादि । पुन-

रसकलश

एक और बात भी है कि एकान्त में रस और प्रणयमय प्रियतम की कौतुकमय वार्ताओं के सम्पादन कर्म के प्रस्तुत हो जाने पर मेरे धर्मों से अब मुझे क्या ? जो तुम्हें अच्छा लगता है वही धर्म है । सुरगणैः' का भी यह तात्पर्य है कि जो सुष्ठु-भली-भाँति, विराजमान होते हैं वे सुर कहलाते हैं या सुष्ठु राव अथवा शब्द करते हैं वे भी सुर कह-लाते हैं राग, वाद्य, नाट्य, तथा अक्षरमय गुण, चौसठ कलाएँ उनके प्रत्येक के भेदों के समूहों, अथवा जिसको भगवान् में अकिंचन अर्थात् निष्प्रयोजन भक्ति प्राप्त है उसमें सभी गुणों के साथ देवता आकर विराजमान होते हैं इस निर्देश से सभी गुणों के अधिष्ठातृ देवता गहे गये हैं, जिससे प्रेरित हो कर गुण अपने अपने चमत्कार की शक्ति के साथ प्रवृत्त हुआ करते हैं । फिर इस धाम में तो मूर्तिमती अधिष्ठातृदेवी सुर शब्द से कही गई है क्योंकि यहाँ के गुण दिव्य हैं । हमें उन सुरपदवाच्य अधिष्ठातृदेवियों से भी क्या ? पहले तो हमारा प्रयत्न था न जाने किस गुण से प्रिया जी हम पर प्रसन्न हो जायें किन्तु अब तो उनके एकान्त रसावेश में अनायास ही प्रयत्न समाप्त हो गया गुण तो उनके सिखाये हुए हम में हैं ही ।

अब कहते हैं कि विधि से भी क्या ? विधि का अर्थ है कर्तव्यों में पूर्वापरी भाव । यह कार्य पहले करना चाहिये यह कार्य बाद में करना चाहिये इत्यादि । और कौतुक शालिनी स्वामिनी के कौतुक सम्बन्धी आवेश से जब जहाँ जो विधि आ पड़े तब वहाँ वही करना चाहिये । जैसे—'कहाँ जाना, कहाँ रहना, इत्यादि श्लोक में कहा जा चुका

श्च किमीशेन ईशो वृन्दावनेशः स्वस्वामिनीपतिरिति तदाज्ञावश्यमेव करणीयेति । तदपि सख्यावेशेन विस्मृतमिति पुनश्चाटुकारैस्तेनोक्तं कथञ्चिन्मदभिलाषस्तत्कुञ्जे सिद्ध्येदिति प्रियामानसाश्वपरिवर्तके त्वामेवास्थितोऽस्मीत्युक्ता प्रतिज्ञातवतो पश्चात्प्रियासामीप्ये तदिङ्गितानुसरणे तत्सङ्केतकालो व्यतीतः प्रियोऽपि वर्त्म पश्यति शोचति कथं प्रतिश्रुत्य न साधितवती प्रियां न विज्ञापितवतीत्यादि संशयानस्तदपि तदीशत्वादिभयं न करोमि । किञ्च मम तु त्वद्दास्ये प्रयोजनमिति । अर्थात्तद्वार्ताश्रवणे मनो दृष्ट्वा विज्ञापयामीति । अत्र यद्यप्युभयोस्तत्सुखिन्येव तदपि किञ्चिद्भावविशेषः सूक्ष्मदृशावधेयः । अथ यदा विलम्बे प्रियः अत्यातुरो नवरचितकुञ्जस्थितः, स्वप्रियसखीजनं बहुशः प्रेषयति, अहं तु त्वत्कौतुके लग्ना तदा मदीयसखी तत्सखीवृत्तान्तमानीय मह्यं निवेदयति । बहिस्तत्प्रियसख्यो भवतीमाकारयन्ति । किञ्चिदुदन्तं कथयितुमागतास्तदाहं वच्मि धैर्यं कुरुत, नाधुना बहिर्निर्गम-

रसकलश

है । फिर ईश से क्या ? यहाँ ईश है वृन्दावन के ईश, हमारी स्वामिनी के प्रति श्याम सुन्दर उनकी आज्ञा का तो अवश्य पालन करना चाहिये । हम तो सख्यभाव के आवेश में उस आज्ञा को भूल गये । फिर चाटुकारिता के साथ उन श्यामसुन्दर ने कहा किसी भाँति मेरी अभिलाषा उस कुञ्ज में सिद्ध हो, प्रियाजी के मनरूपी अश्व का परिवर्तन करने के निमित्त मैं तुम्हारे ही आश्रित हुँ । उनके ऐसा कहने पर मैंने प्रतिज्ञा की और प्रिया जी के समीप गई किन्तु श्रीश्यामसुन्दर के इशारे का अनुसरण करने में वहसंकेत काल बीत गया । प्रियतम खड़े रास्ता देखते हैं, सोचते हैं सखी ने प्रतिज्ञा करके भी मेरा काम क्यों नहीं किया, प्रियाजी से प्रार्थना क्यों नहीं की । इत्यादि अनेक संशय करते हुए खड़े रहे । तो भी मैं उनके ईशत्व आदि का कोई भय नहीं मानती क्योंकि मुझे तो केवल श्री स्वामिनी के दासी भाव में ही प्रयोजन है, अर्थात् मैं तो जब देखती हूँ कि श्री स्वामिनी इस समय श्री श्याम सुन्दर की बात सुनने के लिये उत्सुक हैं, उनका ऐसा मन देखकर मैं प्रार्थना करती हूँ । यहाँ यद्यपि सखी प्रिया प्रियतम दोनों के सुख से सुखिनी हैं तो भी कुछ भाव विशेष या पक्षपात प्रियाजी के प्रति है ऐसा सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिये । इस प्रकार जब विलम्ब होने पर भी अति आतुर होकर नवीव रूप में रचे गये कुञ्ज में ठहरे हुए प्रियतम अपनी प्रिय सखी को बार बार भेजते हैं किन्तु मैं प्रियाजी के कौतुकों में संलग्न या मग्न रहती हूँ । तब मेरी सखी श्री श्याम सुन्दर की सखी के वृत्तान्त को लाकर मुझे कहती हैं, बाहर श्री कृष्ण की प्रिय सखियाँ आपको बुला रही हैं, कोई समाचार कहने आई हैं । तब मैं कहती हूँ कि धैर्य रखो ।

नावकाश इति । अहो ता एवं यत्नं मन्मिलने कुर्वन्ति मम तत्सङ्कोचोऽपि नास्तीति तदा मद्यत्नः कुतस्तरामिति प्रियमिलनयत्नैरपि च किमित्यादि सहृदयगम्योऽर्थो यथाभावगम्यः ।।११५।।

ननु कथं तत्कान्ताराधनमुपेक्ष्यमित्याशङ्क्य तस्यापि परमाराध्या श्रीराधैवेत्याशयेन मम तु परमसौन्दर्यरूपवती त्वमेवाराध्येत्याह—

चन्द्रास्ये हरिणाक्षि देवि सुनसे शोणाधरे सुस्मिते
चिल्लक्ष्मीभुजवल्लि कम्बुरुचिरग्रीवे गिरीन्द्रस्तनि ।
भज्यन्मध्यबृहन्नितम्बकदलीखण्डोरुपादाम्बुज-
प्रोन्मीलन्नखचन्द्रमण्डलि कदा राधे मया राध्यसे
।।११६।।

श्रीअङ्गसल्लक्षणोपमार्थास्तु स्पष्टा एव । रसार्थो व्याख्यायते, एवं स्वप्राणप्रेष्ठसखीसंविदं श्रुत्वा स्वनिष्ठाधिक्येन प्रोज्जृम्भितानन्दोत्कर्ष-प्रकाशबाहुल्यं प्रियामुखे जातं तद्दृष्ट्वा हितसखी वक्ति—हे चन्द्रास्ये अर्थात्

रसकलश

अभी प्रियाजी को बाहर निकलने का अवकाश नहीं है । अहो वे ऐसा यत्न मुझसे मिलने में करती हैं मुझे भी किसी प्रकार का संकोच नहीं है तब मेरा यत्न कहाँ देखा जाता है । इस प्रकार यहाँ प्रियतम (श्याम सुन्दर) के मिलने के यत्नों से भी क्या इत्यादि जैसे सहृदयों के हृदय से समझा जाये वैसा समझ लेना चाहिये । ११५ ।

यहाँ प्रश्न होता है कि श्री स्वामिनी के प्रियतम के आराधना की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ऐसा आशंका करके, उनकी भी परम आराध्य श्री राधा ही हैं इस आशय से मेरी तो परम सौन्दर्य और रूप वाली श्री स्वामिनी ही एक मात्र आराध्य हैं अतः कहते हैं—

हे चन्द्रमुखी, मृगलोचने. देवी, सुन्दर नासिका, अरुण अधरोष्ठ और सुन्दर स्मित वाली चिल्लक्ष्मी, लता की सी भुजाओं वाली शङ्ख के समान सुन्दर ग्रीवावली, गिरिराज के समान स्तनों वाली, लचकती हुई कमर और बृहत् नितम्बवतो, कदली खण्ड के समान ऊरु और कमल के समान चरणों में चमकती हुई नखाकार चन्द्रमण्डली वाली राधा, तुम कब मेरी आराधना स्वीकार करोगी । ।।११६।।

इस पद्य में श्रीराधा जी के अङ्गों के शुभ लक्षणों की उपमाएँ तो स्पष्ट ही हैं । रसाथक व्याख्या यहाँ की जाती है । इस प्रकार अपनी प्राणप्रिय सखी की प्रतिज्ञा सुनकर अपने प्रति निष्ठा की अधिकता से उमड़ पड़े आनन्द के उत्कर्ष से प्रकाश की बहुलता या अधिकता को श्री प्रियाजी के मुख पर प्रकट हुई देखकर श्रीहितसखी कहती

किं बहु वच्मि। प्रियस्त्वन्मुखचन्द्रापेक्षी चकोर एकाग्रदृष्टया पश्यन् कृपादृष्टिं वाञ्छति। तत्सख्योऽपि तादृक्चकोर्य एव तदा कथं तन्मिलनयत्नं कुर्म्मः, वयमपि स्वचकोर्य एव सदा चकोरचन्द्रमसोरासक्तासज्यभावं पश्यामः। सर्वेषामाश्रयस्त्वन्मुखचन्द्र एवेति कथमन्यावकाशः सम्भाव्यते। अत्रोक्त्या प्रियस्यातुरता सहायः कृतस्तदिङ्गितं ज्ञात्वा प्रियापेक्षया नेत्रचलनं कृतं तदाह—हे हरिणाक्षि हरिणोऽपि रागवशस्तद्वत्त्वमनुरागिण्यसि न केवलं चन्द्रवच्चकोरतापानभिज्ञा कथमन्यथा श्रुतमात्रेदृशदृक्चाञ्चल्यं स्यादिति त्वमपि कृष्णसार इव कृष्णं निरीक्षसे। तच्छ्रुत्वा साभिप्रायविशेषणवैदग्ध्येन किञ्चिदङ्गभङ्गिमयक्रीडां कृतवतीं दृष्ट्वाह—देवीति। अत्रान्तरङ्गसभ्या-नामेष एव व्यवहारो यन्मानसभङ्गोसदृशवाक्यं वदेदिति कुत्रापि भङ्गो-जनकमिति च यथासमयं यथासम्भवं सहृदयगम्यमूह्यम् देवी च राजमहिषी-त्यपि नित्ययुववयस्केति स्मारकं पदं च तदा स्ववयःशीलतया यथास्थिता-

रसकलश

हैं। हे चन्द्रमुखी, अर्थात् बहुत क्या कहूँ प्रियतम तुम्हारे मुख चन्द्र के दर्शन की आकांक्षी चकोर बन कर एकाग्र दृष्टि से तुम्हारे श्री मुख की ओर देखते हुए तुम्हारी कृपा दृष्टि की अभिलाषा करते हैं, प्रियतम की सखियाँ भी वैसी ही चकोरी बनी हुई हैं, तो हम उनसे मिलने का कैसे क्या यत्न करें। हम भी तो चकोरी ही हैं जो सदा ही चकोर और चन्द्रमा के आसक्त-आसज्य भाव (प्रीति के आश्रय और विषय के सम्बन्ध) को देखते रहते हैं। सभी का एक आश्रय आपका मुखचन्द्र ही है, किसी को किसी अन्य के दर्शन का अवकाश ही कहाँ हो सकता है।

यहाँ पर इस कथन में प्रियतम की आतुरता ने भी सहायता की, प्रियाजी ने प्रियतम का आशय जानकर उनकी ओर आश्वासन देने के लिये) नेत्रचालन किया, नेत्रों से संकेत किया। उसे देखकर हितसखी ने कहा—अहह, हरिणाक्षि (मृगलोचने) हरिण भी राग वश होता हैं वैसे ही तुम भी अनुरागिणी हो, केवल चन्द्रमा के समान चकोर के ताप को न जानने वाली नहीं हो, नहीं तोप्रियतम की आतुरता को सुनते ही नेत्रों में ऐसी चञ्चलता क्यों आती। तुम भी कृष्ण सार—सी कृष्ण को देखती हो। यह सुनकर अभिप्राय सहित विशेष चातुरी से प्रिया जी ने कुछ अङ्ग—चेष्टाओं द्वारा क्रीडा की उसे देखकर पुनः श्री हितसखी ने कहा—हे देवि! यहाँ अन्तरङ्ग सभ्यों का यही व्यवहार है कि वे मन की चेष्टा को उत्पन्न कर देने वाला वाक्य कहते हैं इसको यथा सम्भव समय के अनुसार सहृदय जान सकते हैं, उसकी कल्पना कर लेनी चाहिये। देवी शब्द राजमहिषी और नित्य युवावस्था वाली इन दो अर्थों का स्मरण कराता है। तभी

मपि नासामुक्तां भूयः समीकुर्वन्ती यथैव नायकस्योष्ठोपरितनाङ्गे करा-ङ्गुलिस्पर्श इति वयोभङ्गीरीतिः । यद्वानुभूतचरविलासस्मृतिजरसभरा-सह्यतया रोहितनासासङ्कोचामिति तद्दृष्ट्वाह—हे सुनसे। ततो रसावेशेना-धरस्फुरणं भाविप्रियमुखस्पर्शानन्दप्राप्तिसूचकनिमित्तत्वात् । तदाह—शोणाधरे। अर्थात् त्वमनुरागवत्यत्युदारा किन्ते रसदानमशक्यम् । एवं यथा यथा मानसिकं तत्क्षणमेव वदन्ती कटाक्षिप्य स्मितं कृतं तदाह—सुस्मिते। स्मिताशयः 'सखि, किन्ते दुःशीलं यदन्तरङ्गज्ञासीति भङ्गिकः, अत्र प्रियतम मिलनातुरताख्यापयदङ्गानि भेदितानि जातानि। प्रथमतः अधरस्फुरणं ततो भुजयो रोमाञ्चः स्फुरणञ्च तदाह—चिल्लक्ष्मीभुजवल्लि चमत्कार-

रसकलश

अपनी युवावस्था के स्वभाव से ठीक ठहरी हुई नाक के मुक्ता को भी पुनः बराबर कर रही हैं जिससे नायक के अधरोष्ठ के ऊपर के अङ्गों को उत्तरोष्ठ, नासिका आदि को अङ्गुलियों का स्पर्श प्राप्त हो, ऐसी युवावस्था की चेष्टापद्धति है। अथवा पहले अनुभव किये हुए विलास के स्मरण से उत्पन्न रस के अतिशय की असह्यता के कारण चढ़ी हुई नाक से संकोच प्रकट कर रही हैं। इसी को देखकर यहां सम्बोधन किया गया है—'सुनसे'। सुन्दर नासिका वाली। तब रसावेश से अधरोष्ठ में स्फुरण हुआ जो कि शीघ्र ही होने वाले प्रियतम के मुखस्पर्श के आनन्द की प्राप्ति का सूचक निमित्त है। इसी से कहा—हे शोणाधरे, अरुण अधर वाली। अर्थात् आप अनुरागवती हैं, अति उदार हैं, आपको रस दान देना कोई दुष्कर नहीं है। इस प्रकार जैसे-जैसे विचार मन में आते हैं वैसे वैसे ही वचन तत्काल कहती हैं। इस पर श्रीराधा जी कटाक्ष करके मन्द मुस्कान करती हैं तब हितसखी उस मुस्कान का ही वर्णन करती हैं—सुस्मिते, हे सुन्दर मुस्कान वाली। यहाँ मुस्कान का यह अभिप्राय है कि हे सखि, तेरा यह कैसा दुष्ट स्वभाव है कि तू अन्तरङ्ग को भी जान जाती है। यहां पर प्रियतम से मिलने की आतुरता को प्रकाशित करने वाले अङ्ग सम्भवतः भेद नीति द्वारा भिन्न कर लिये गये हैं उनमें सर्वप्रथम अधरोष्ठ में स्फुरण, फिर भुजाओं में रोमाञ्च और स्फुरण। इसी बात को कहते हैं—चिल्लक्ष्मी भुजवल्लि !, चमत्कार शोभा रूपी सम्पत्ति वाली भुजलता है जिसकी। नवीन-नवीन पल्लव और पुष्पों के उद्गम की समानता से भुजाओं को वल्ली कहा गया है अतः वल्ली यह रोमाञ्च का उपलक्षण है, स्वाभाविक

शोभासम्पद्वती भुजवल्ली यस्याः नवनवपल्लवपुष्पोद्गमसाम्याद् वल्लीति रोमाञ्चोपलक्षणं साहजिकदीप्तिस्त्वस्त्येव चिदिति चमत्करणं सकम्पत्वमपि शोभनं यत्र वा वल्लीपदेन जाड्यापत्तिपरिहारार्थं चिद्रूपेति त्विदानीं किञ्चिद्भुजचालनमपि सूचितम् ।

यद्वा मूर्तिमती चिल्लक्ष्मीरेव भुजवल्लीरूपे परिणतेति ततो भुजोक्त्यनन्तरं तरुवल्लीवत् कण्ठाश्लेषः स्मृतिमागतस्तद्रसास्वादः कण्ठे समुल्लसेत्तं ज्ञात्वा कम्बुरुचिरग्रीवे, तस्याः पश्चात्स्तम्भनक्रियाजातत्रिवलीदृष्टयागमनेन कम्बुरुचिरेति वा कम्बुं रुचिं कान्तिं स्वोपमया रातीति ततो हृदि परिरम्भास्वादस्पृहाजननात्स्तनयोरुल्लसनं दृष्ट्वा गिरीन्द्रस्तनि । उल्लासः कञ्चुक्यामप्यनुन्मानं तेन गिरीति शिखराग्रसाम्यात् । अनुपमशोभादर्शनादिन्द्रेति । तदा कृशकटेर्मोटनात्सौकुमार्यशङ्कया भज्यन्मध्येति ततस्तदाश्वासदानीव दृश्यमानत्वाद् बृहन्नितम्बेति । ततो भाविशुभमिलनसूचकनिमित्त-

रसकलश

दीप्ति तो भुजाओं में और वल्ली में है ही । चित् यह शब्द चमत्कार, और सकम्पता वह भी सुन्दर है जहाँ पर इस तात्पर्य से कहा गया है । केवल वल्ली या लता शब्द से जड़ता प्रतीत होती उसका परिहार करने के लिये चिद्रूपता कही गई है । इससे इस समय कुछ भुजचालन भी किया गया ऐसा सूचित होता है । यद्वा मूर्तिमती चिल्लक्ष्मी ही भूजवल्ली या भुजलता के रूप में परिणत हो गई है । यहां भुजाओं को वल्ली कहने के अनन्तर वल्ली या लता द्वारा वृक्ष के आलिङ्गन के समान इन भुजाओं द्वारा भी प्रियतम का कण्ठाश्लेष किया जाना स्मृति में आया तब वह रसास्वाद कण्ठ में उल्लसित हुआ उसे जानकर शङ्ख के समान सुन्दर ग्रीवा वाली यह सम्बोधन किया उस ग्रीवा में सात्त्विक भाव से स्तम्भ हो जाने पर त्रिवली दृष्टि में आई तब कम्बु अर्थात् शङ्ख के समान त्रिरेखाकृत रुचिरता से उसे कम्बु रुचिर कहा अथवा कम्बु या शंख को रुचि या कान्ति देती है अपनी उपमा के द्वारा उसकी कान्ति बढ़ाती है इसलिये भी ग्रीवा को कम्बु रुचिर कहा गया फिर हृदय में परिरम्भ या आलिङ्गन की स्पृहा उत्पन्न हो आने से स्तनों का उल्लास देखकर गिरीन्द्रस्तनि पर्वतराज के समान स्तनों वाली यह सम्बोधन किया । उल्लास का अर्थ है कि कञ्चुकी में न माना या न समाना, शिखराग्र की समानता से स्तनों को गिरि कहा और अनुपम शोभा देखकर गिरियों में भी इन्द्र या श्रेष्ठ कहा । तब कृश कटिभाग के मुड़ने से सुकुमारता के कारण आशङ्का से 'भज्यन्मध्य' टूटते हुए मध्य भाग वाली यह सम्बोधन किया फिर कुछ आश्वासन सा देते हुए नितम्बों के दीखने के कारण 'बृहन्नितम्ब' विशाल या स्थूल नितम्बवाली कहा ।

स्फुरणं ज्ञात्वा कदलीखण्डोरुकदल्युपमातन्मयाकारगतदृष्ट्यैव लघुवातेऽपि कम्पनशीलत्वाच्च खण्डेति। तन्मध्यगर्भोद्धृतसंस्कृतदण्डत्वात्। अत्र तत्तदनुभवज्ञानेन तत्रत्याकथनीयरसेन च सलज्जतया निषेधतीव पदयोर्दृष्टि निदधे तदा पदाम्बुजेति। ततः किञ्चिन्नखचालनेन शोभाचमत्कारेण च नखचन्द्रमण्डलीति। अत्र तत्तद्भावजननमपि सूक्ष्मकालस्तदनु कथनमपि परमलाघवं महावैदग्ध्यमेव स्फुटमलङ्कारमात्रम्, अन्तस्तु रसावेशकथनं व्यङ्ग्यम्, एतादृशी परमरसमयमूर्तिस्त्वं मया परमान्तरङ्गया कदाराध्यसे।

कदेति बाह्यार्थे साधकताभिलाषः स्फुट एव। आन्तरे वर्तमानमेव कदेति कस्मिन्समये एवमपि भवसीति आराधनम्। एवं वाक्चातुर्यैरुद्दीपनकृतिपूर्वकप्रियमनोरथसाहाय्यकरणं प्रियसङ्गमे च ताम्बूलगन्धासवव्यजनादिभिर्मत्कृतसेवनम्, अतएव राधेति याथार्थ्यनाम्नो राध्यते इति राधा। अथवा प्रथमं हे देवि राधे सर्वेषां सप्रियसखीजनानां त्वमेव परदेवतेवाराध्यासीति

रसकलश

फिर भावी शुभ मिलन का सूचक शकुन रूप स्फुरण जान कर कदली खण्ड के समान ऊरुओं वाली कहा, यहां कदली या केले' की उपमा ऊरुओं में रहने वाले आकार की ही दृष्टि में दी गई है और हलकी सी हवा में भी काँप जाने के स्वभाव के कारण खण्ड कहा है ऊरुओं के कदली के मध्य गर्भ में से निकाले हुए सुसंस्कृत दण्ड के समान होने के कारण यह उपमा दी है। यहाँ पर उस उस अनुभव का ज्ञान हो जाने से और वहाँ न कहने योग्य रस के भी कहने से सलज्जता के कारण निषेध सा करती हुई चरणों की ओर दृष्टिपात करती हैं तब 'पदाम्बुज' इत्यादि सम्बोधन किया गया। तब कुछ नख के हिलने से शोभा के चमत्कार से 'नख चन्द्र मण्डलि' कहा। यहाँ पर उस उस भाव को प्रकट करने में भी सूक्ष्म सा काल लगता है फिर उसका कथन भी अति शीघ्र किया गया अतः परम विदग्धता ही स्पष्ट है और यह अलङ्कार मात्र है। अन्तर में तो रसावेश का कथन ही व्यङ्ग्य है। ऐसी परमरसमयमूर्ति आप मुझ परम अन्तरङ्ग सखी से कब आराधित होंगी।

कब के द्वारा बाह्य अर्थ में एक साधक की अभिलाषा स्पष्ट होती है। किन्तु आन्तरिक अर्थ में तो वर्तमान वस्तु के लिये ही कदा या कब ऐसी भी होती हो, यह कहा गया है। यहाँ आराधन इस प्रकार की वाक्चातुरी के द्वारा उद्दीपन करने के द्वारा प्रियतम के मनोरथों की पूर्ति में सहायता करना है और प्रियतम के सङ्गम में पान, केसर चन्दन, आसव, व्यजन (पंखा) आदि से मेरे द्वारा की कई सेवा भी आराधना है। अतएव 'राधा' इस यथार्थ नाम वाली आराधित होती है तभी राधा कहलाती है। अथवा पहले हे देवि राधे, प्रिय सहित समस्त सखियों की तुम ही परम आराधनीय हो। अतः अब अन्य

नान्यज्जानीमः । देवीत्यत्र साभिप्रायार्थः सर्वविशेषणानुगतोऽपि ज्ञेयः । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । चन्द्रवदास्यमित्यत्र 'राकाचन्द्रो वराक' इत्याद्युक्त्या समानाभावात्तद्गञ्जनेन विजिगीषार्थो लक्ष्यः । हरिणेति चाञ्चल्येन इतस्ततो दर्शनेन नानाभावलीलया क्रीडार्थो लक्ष्यः । ततो यौवन व्यवहारेण मुक्तासमीकरणात् सङ्कोचाच्च सुनसे इति व्यवहारः । शोणाधरेत्यत्र द्युतिः । श्लाघनीययशस उज्ज्वलधर्मत्वाच्छुचिस्मितात्वलक्षणेन सुस्मिते इत्यत्र स्तुतिः । भुजवल्ल्यो रोमाञ्चकार्येण हर्षकारणं मोदः, ग्रीवास्तम्भकारणं मदः, स्तनोल्लासेऽपि स एव । स्वप्नस्य धर्मद्वयम् अङ्गधारणाक्षमता जाडयञ्च । आद्यः कटौ गिरीन्द्रधारणाऽसहतया भज्यत्पदेन लक्ष्यः । द्वितीयो बृहत्पदेन नितम्बे इति स्वप्नः ।

रसकलश

किसी को नहीं जानतीं । 'देवि' इस सम्बोधन में विशेष अभिप्राय है, यह सम्बोधन सभी विशेषणों से अनुगत जानना चाहिये क्योंकि दिवु धातु क्रीडा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा) व्यवहार, द्युति (चलकना), स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति इन दस अर्थों में है । चन्द्र के समान है आस्य अर्थात् श्री मुख जिसका उनका सम्बोधन है 'चन्द्रास्ये' हे चन्द्रमुखि यहाँ पर 'राका चन्द्रोवराकः' इत्यादि पद्य में कहे गये समान वस्तु के अभाव से उस चन्द्र का तिरस्कार करने के कारण देवी शब्द का विजिगीषा (जीतन की इच्छा) वाला अर्थ प्रतीत होता है । 'हरिणाक्षि' सम्बोधन में हरिण के चञ्चल होने के कारण इधर-उधर देखने से अनेक प्रकार की भाव लीलाओं से देवी शब्द के क्रीडा करने के अर्थ की प्रतीति होती है । फिर यौवन के व्यवहार से नासिका के मुक्ता को बरावर करने के कारण और सङ्कोच के कारण 'सुनसे' सुन्दर नासिका वाली इस सम्बोधन में देवी शब्द का व्यवहार अर्थ प्रतीत होता है । शोणाधरे, अरुण या लाल अधरोष्ठ वाली, इस सम्बोधन में देवी शब्द का द्युति रूप अर्थ प्रतीत होता है । श्लाघनीय यश के उज्ज्वल धर्म वाला होने के कारण शुचिस्मिता, उज्ज्वल मुस्कान वाली होने के लक्षण से 'सुस्मिते' यह सम्बोधन किया गया है, जिसमें देवी शब्द का स्तुति रूप अर्थ प्रतीत होता हैं । भुजा रूपी वल्ली या लताओं में रोमाञ्च हो आने से हर्ष के कारण देवी शब्द के मोद रूप अर्थ की प्रतीति होती है ग्रीवा में स्तम्भ रूप सात्त्विक भाव से मद या गर्व रूप अर्थ प्रतीति होती है । स्तनों के उल्लास में भी वही मर्यादा गर्व रूप अर्थ प्रतीत होता है । स्वप्न के दो धर्म हैं, अङ्गों को धारण करने की अक्षमता और जडता । उनमें से पहला गिरीन्द्र जैसे गुरुतर स्तनों को धारण करने को न सह सकने के कारण टूटते हुए से कटिभाग के 'भज्यत्' इस विशेषण से जाना जाता है और दूसरा नितम्ब 'बृहत्' इस विशेषण से प्रतीत होता है अतः देवी शब्द का स्वप्न रूपी अर्थ भज्यन्मध्ये, और 'बृहन्नितम्ब' इन दो विशेषणों में स्पष्ट है । दिवु धातु के अर्थों में कहे गये कान्ति शब्द

कान्तिरिच्छा द्युतेरपौनरुक्त्या ज्ञेया, स्फुरणसाभिलाषसूचनात्कदलीखण्डो-र्विति प्रियानुसरणस्पृहाजननात्पदाम्बुजेतिद्वयोः कान्तिः । शोभार्थोऽपि सङ्गत एव । ततो नखचालने गतिरिति । अथवा सर्वाङ्गे सर्वमिति यथा-सहृदयगम्यम् ॥११६॥

एवं रसिकशेखरो हितसखीनिष्ठादार्ढ्यं श्रुत्वा स्वविषयिककृपया प्रियाङ्ग-समुल्लसनभेदसन्धिं ज्ञात्वा स्वपरमसाहाय्यासवमास्वाद्य च हर्षातिशय-परवशः स्नेहाधिक्यघूर्णमानः प्रेष्ठसखीं प्रति प्रियासमक्षं यदनुग्रहोज्जृम्भणं कृतवांस्तदेव स्वयं सख्याह—

राधापादसरोजभक्तिमचलामुद्वीक्ष्य निष्कैतवां
प्रीतः स्वं भजतोऽपि निर्भरमहाप्रेम्णाधिकं सर्वतः ।
आलिङ्गत्यथ चुम्बति स्ववदनात्ताम्बूलमास्येऽर्पयेत्
कण्ठे स्वां वनमालिकामपि मम न्यस्येत्कदा मोहनः
॥११७॥

रसकलश

का अर्थ इच्छा है, नहीं तो द्युति और कान्ति दोनों कहने से पुनरुक्ति होगी। स्फुरण से सामिलाषता या सकामता सूचित होती है अतः 'कदली खण्डोरु' यह विशेषण दिया गया है। प्रियतम के द्वारा अनुसरण किये जाने के कारण स्पृहा उत्पन्न करने से द्युति और कान्ति दोनों शब्दों का कान्ति अर्थात् शोभा रूप अर्थ भी संगत होता है और नख चालन करने पर गति रूप अर्थ भी ठीक बैठता है, अथवा सभी श्री अङ्गों में क्रीडा आदि दसों अर्थ सङ्गत हैं अतः जैसा जैसा सहृदयों को प्रतीत हो वह समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार रसिक शेखर श्रीहित सखी जी की निष्ठा की दृढ़ता सुनकर अपने प्रति कृपा के कारण प्रिया जी के श्री अङ्गों में समुल्लास होने से उनमें भेद नीति के प्रयोग को जानकर अपने परम साहाय्य रूपी आसव का आस्वादन करके अत्यन्त हर्ष के अधीन होकर स्नेह का अधिकता से झूमते हुए प्रियतम ने अपनी प्रियसखी के प्रति प्रिया जी के सामने जो कृपा का उज्जृम्भण (अधिक्य) किया उसी का स्वयं श्रीहित सखी वर्णन करती है—

'श्रीराधा जी के चरण कमलों में अचल और निष्कपट प्रीति देखकर (भावुक श्रीराधोपासक के प्रति मोहन अपना भजन करने वाले से भी अधिक निर्भर और महान् प्रेम से विशेष प्रसन्न हो जाते हैं। उसे आलिङ्गन करने लगते हैं, चुम्बन करते हैं, अपने मुख में से पान का बीडा निकाल कर उसके मुख में देते हैं तथा कण्ठ में अपनी वन-माला पहना देते हैं। ऐसा वे मोहन मेरे प्रति भी कब करेंगे ॥११७॥

मोहनस्तत्तत्प्रस्तुतश्रवणदर्शनविचित्तो विह्वलस्तादात्विकदर्शनीयो मोहनधर्मकश्चम्पकरूप एव तत्त्वमाह—राधा प्रस्तुतपरमाराध्या संसिद्धिरूपा देवी तस्याः पादयोः स्वाभिसरणोन्मुखगत्यर्थसार्थकयोः सरोजयोः परमसुषमामार्दवामोदमधुसम्भृतयोर्मधुपात्मपोषणपरयोर्भक्तिसेवनम् अचलं रासकौतुकादौ कण्ठग्रहणेऽप्यकौतुकपरां केवलनिजरसेश्वरीचरणनिहितात्मतां निःकैतवां तामेव साध्यंमन्यमानतां तदितरफलनिस्पृहावतीमहैतुकीं केवलस्नेहमयीं उदधिकं मत्समीपेऽपि मनोवाक्क्रियाप्राखर्य्येण संकोचाभावोऽस्या इति दर्शनात् वीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्य निर्भरो निरतिशयो महाप्रेमा तेन पूर्णप्रेमास्पदत्वेन सर्वशः सर्वात्मना भजतः। स्वसेवापरायणाज्जनादपि बहिस्तु भक्तात् अन्तस्तु सखीजनात् श्यामप्रियेति सङ्केतितान्निजविषयिकपूर्णममताश्रयादपि अधिकं यथा भवेत्तथा प्रीतः प्रसन्नः। अत्रापि तदधिकत्वेन निर्भरेत्यादि ज्ञेयम्। अतः प्रीतिसिन्धूज्जृम्भणाप्लुतः आत्मानमेवास्यै दास्यामीति भङ्ग्या आलिङ्गति। अथ ततो हितसख्या असमोध्वगुण-

रसकलश

मोहन उस उस प्रस्तुत श्रवण और दर्शन से विचित्त या बेभान से और विह्वल हो जाते हैं अतः उस समय विशेष दर्शनीय हो जाते हैं अतएव आज मोहन धर्म वाले चम्पक रूप ही हो गये हैं। इसी वस्तु को बताते हैं—राधा जो प्रस्तुत रूप में परम आराध्या, संसिद्धि रूपा देवी हैं, उनकी ओर चलने से उन्मुख गति के अर्थ के कारण सार्थक हुए उनके चरण कमलों—परम सुषमा, मार्दव (मृदुता) और आमोद (आनन्द) रूप मधु से भरे हुए, मधुप (मधुपति और भ्रमर) के प्राणपोषण में तत्पर रहने वालों, का भक्ति सेवन करना अचल है। रासकौतुक आदि में कण्ठ ग्रहण के समय में भी कौतुक परायण न होने वाली, केवल अपनी स्वामिनी के चरणों में जिसमें अपने आप को समर्पण कर दिया गया है, जो निष्कैतव अर्थात् कपट रहित है जिसको साध्य माना जाता है उसके अतिरिक्त फल की कोई स्पृहा नहीं रखी जाती, ऐसी अहैतुकी केवल स्नेहमयी भक्ति को अधिक देखकर अर्थात् मेरे समीप में भी मन, वाणी, क्रिया की प्रखरता से इसको कोई सङ्कोच नहीं है ऐसा विशेष रूप से परीक्षण करके निर्भर या निरतिशय महाप्रेम से अर्थात् पूर्ण प्रेमास्पद भाव से सर्वात्मना भजन करते हुए, अपनी सेवा में तत्पर रहने वाले, जन से भी बाहर के भक्तजन से और अन्दर के सखीजन से जिनका कि श्यामप्रिया इत्यादि सङ्केत है अपने विषय में पूर्ण ममता के आश्रय से भी अधिक जिस प्रकार हो उस प्रकार प्रसन्न होते हैं। यहाँ पर भी उससे अधिक रूप में निर्भर महाप्रेम इत्यादि जानना चाहिये। अतः प्रीति के सिन्धु के उज्जृम्भण (उल्लास) से आप्लुत होकर मैं अपने आपको ही इसे देदूँगा इस अभिप्राय

वर्ण्णने मतिर्जता ततो वैवश्येन युगपत्कथयितुमशक्त: । किमेकरसनया भणामीति भङ्गया वागिन्द्रियाश्रयेण मुखेन रसनामेव ददामीति सशब्दं चुम्बतीति पूर्णवात्सल्यस्नेहरीतिरेव लोकेऽपि परमस्निग्धेषु प्रसिद्धा तत: स्वात्मदानोद्यतेऽप्यालिङ्गनानन्तरं पृथगात्मानं दृष्ट्वा किमहं ददामीति । तत्समये यत्समीपं वस्तु चुम्बने ज्ञातं ताम्बूलचर्वितं पूर्वस्थं तदेव ममास्येऽर्पयेत् । पुनरपि कृपोज्जृम्भेण किमन्यद्दद्यामित्याशयेन स्वकण्ठलम्बमानां वनमालां दृष्ट्वा अस्या: कोन्यत्पात्रमिति हार्द्देन स्वां निजां येन वनमालीति ख्यातिमागत: इयं पूर्वं सखीभि: परमप्रेम्णारचनाभङ्गिनिर्मिता प्रियायै समर्पिता तत: सा प्रसद्य अस्मै दत्ताऽत: प्राणरूपिण्येवेयं तत्कुचकस्तूर्यादिसङ्गात् तद्धारणात्स्वस्य कङ्कणबद्धता । तामपि सर्व्वस्वरूपां मत्कण्ठे कदा न्यसेत् ।

अत्र पूर्णवैवश्ये आलिङ्गनचुम्बने कृते किञ्चित्स्मृतौ ताम्बूलमालादानं ज्ञेयम् । कदेति बहिरङ्गेऽभिलाषः स्फुट एव आन्तरे वर्तमानमेव

रसकलश

से आलिङ्गन करते हैं । इसी समय प्रियतम का श्रीहित सखी जी के अनुपम और निरतिशय गुणों का वर्णन करने का विचार हुआ । तब विवशता से एक साथ कहने में असमर्थ होकर एक जिह्वा से क्या कहूँ इस अभिप्राय से वागिन्द्रिय के आश्रयभूत मुख से अपनी रसना ही दे दूँ इस विचार से शब्द सहित चुम्बन करते हैं । यह पूर्ण वात्सल्य स्नेह की रीति ही लोक में भी परम स्निग्ध जनों के विषय में प्रसिद्ध है । तब अपने आपको दे देने के लिये उद्यत होने पर भी आलिङ्गन के बाद भी अपने आपको अलग देखकर मैं क्या दूँ इस विचार से तत्काल जो वस्तु चुम्बन करते हुए अपने पास ज्ञात हुई वह पहले से मुख में लिया हुआ कुछ चबाया हुआ पान था वही प्रियतम ने मेरे मुख में अर्पण कर दिया । फिर भी कृपा के उल्लास से और क्या दूँ इस आशय से अपने कण्ठ में लटकती हुई वन माला को देखकर इसका और कौन पात्र हो सकता है इस अभिप्राय से अपनी उसी वनमाला को—जिसके कारण वे वनमाली इस नाम की प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, यह माला पहले सखीजनों के द्वारा परम प्रेम से अनेक प्रकार की विचित्र रचनाओं द्वारा बनाई थी और प्रियाजी को अर्पित की थी प्रियाजी ने प्रसन्न होकर यह माला प्रियतम को प्रदान की थी, प्रियतम को यह माला प्राणों जैसी प्यारी थी क्योंकि यह उनके कुचमण्डल की कस्तूरी आदि के सङ्ग से और उनके द्वारा धारण किये जाने से और स्वयं भी जो प्रेम का कङ्कण बाँधा हुआ है उसके कारण भी सर्वस्व रूप है—तथापि मेरे कण्ठ में इसे कब पहनाएँगे ।

यहाँ पूरी विवशता में आलिङ्गन और चुम्बन कर लेने पर कुछ स्मरण आने पर पान और माला दी गई ऐसा जानना चाहिये । कब ? यह प्रश्न कुछ बाहरी अभि-

कस्मिन्समय इति ससम्भ्रमोक्तिः । किमिदं स्वप्नं वा साक्षादितिवत् । हृदयमालादानम्, त्वं मद्धृदयज्ञासि यदेवं प्रियां द्रुतां करोष्यतो हृदयमेव मालामिषेण न्यस्ये इति न्यासं करोमीति भङ्गकम् । अत्र स्वस्वभजनातिशये प्रीतिरधिका भवतीति ज्ञानेन तदभावात् कथं राधैकनिष्ठायां हिताल्यां प्रियप्रेमातिशय इति संशयानानां हृच्छयोऽधिकशब्देन दूरीकृतः । ये कृष्णभजनजाततत्कृतप्रेमातिशयं बहुतमं दुर्ल्लभं मन्यन्ते । तदत्र श्रीमतीपददास्यनिष्ठायामानुषङ्गिकमेव तेन च मोहनकृतताद्दशप्रेम्णा हितालीहृदये किञ्चिन्न चित्रं जातमिति । अन्येषां मनोवागतीतं कृपाफलं तदा भण्यतां क्वपूर्वोक्तधर्मसुरविधीशप्रियादि साधनं ताद्दशप्रस्तुतदास्योत्सवाभिलाषजीविनामवकाशं लभतेऽतोऽतर्क्यमेवेदम् ।।११७।।

एवं प्रियप्रसादमुत्कोचमिव लब्ध्वा साधु गृह्यतां मत्सहायीकृतफल-

रशकलश

लाषा का सूचक है । आन्तरिक रूप में तो यह सब है ही केवल किसी समय विशेष के लिये सम्भ्रमपूर्वक ऐसा कहा गया है । 'क्या यह स्वप्न है या साक्षात् है' इसी प्रकार का यह प्रश्न है । हृदय पर माला धारण कराने का तात्पर्य है कि तू मेरे हृदय को जानती है तभी तो मेरे प्रति प्रियाजी को इस प्रकार दया द्रवित करती हो अतः माला के बहाने मैं तुम्हारे हृदय में अपना हृदय ही रखता हूं अथवा अपने हृदय को धरोहर के रूप में रखता हूँ इस अभिप्राय से भी यह माला धारण कराई गई यहाँ अपने अपने विशेष भजन में अधिक प्रीति हुआ करती है इस ज्ञान के अनुसार यहाँ वैसा नहीं है क्योंकि श्री हित सखी की तो श्री राधा जी में ही अनन्य निष्ठा है तब उन पर प्रियतम का अधिक प्रेम कैसे है ऐसा सन्देह करने वालों के संशय की निवृत्ति अधिक शब्द से कर दी गई है । जो लोग श्री कृष्ण के भजन द्वारा उनके द्वारा किये गये प्रेम को अति दुर्लभ मानते हैं वह श्री कृष्ण द्वारा किया गया प्रेम यहाँ श्रीमती जी के चरणों के दास्य (दासी भाव) की निष्ठा में आनुषङ्गिक रूप से ही प्राप्त हो जाया करता है । और उस श्री मोहन द्वारा किये गये वैसे प्रेम से श्रीहितसखी के हृदय में कोई आश्चर्य नहीं हुआ, जो औरों के लिये मन और वाणी से परे रहने वाला कृपा फल है । तब आप ही बताइये कि ऐसी हितसखी जी वैसे प्रस्तुत दास्य के उत्सव की अभिलाषा से जीने वाले रसिक भावुकों को—इन पूर्व में कहे गये धर्मों, देवताओं, ब्रह्मा, शङ्कर और प्रियसम आदि की साधना का अवकाश ही कहाँ मिलता है, अयः इनकी स्थिति अतर्क्य ही है, तर्क करने का विषय नहीं है ।११७।

इस प्रकार प्रियतम की कृपा या उनके प्रसाद को उत्कोच या रिश्वत की भाँति लेकर 'आप अवश्य लीजिये यह तो मेरी सहायता करने का फल है' इस प्रकार कटाक्ष

मिति कटाक्षिप्य तत्रैव स्थिता वा बहिर्निर्गता ततो निभृते विहारारम्भः। प्रियाप्रसादानुकूल्यं तु पूर्वमेव वर्णितम् ततः स्वकृपापात्रसखीं प्रति स्वान्तरङ्गहितरूपेणोभयत्र स्थितेन स्वप्रियायां यद्यद्रहो वृत्तं वृत्तं तत्तद्दृष्ट्वाह गानद्वारेति वा ।

लावण्यं परमाद्भुतं रतिकलाचातुर्यमत्यद्भुतं,
कान्तिः कापि महाद्भुता वरतनोर्ल्लीला
गतिश्चाद्भुता ।
दृग्भङ्गी पुनरद्भुताद्भुततमा यस्याः स्मितं चाद्भुतं,
सा राधाद्भुतमूर्तिरद्भुतरसं दास्यं कदा
दास्यति ।।११८।।

लावण्यमङ्गनैर्मल्यं मुक्तायां तरलं जलमितिवत् तत्राद्भुतत्वमाश्चर्यजनकत्वं श्रीमत्यां सर्व्वतः परमस्त्येवेति परमत्वं नाम तादृशसम्पन्नगुणस्यापि प्रियस्याश्चर्यकरम्। तदा अति महच्छब्दयोस्तस्मिन्नेवार्थेऽपि स्वस्या अप्याश्चर्यजनकत्वं ज्ञेयम् । यथा 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण-

रसकलश

करके श्री हितसखी वहीं पर ठहरी रहीं अथवा बाहर निकल गईं, तब इधर एकान्त में बिहार का प्रारम्भ हुआ । प्रियाजी के प्रसाद या उनकी कृपा की अनुकूलता तो पहले ही कही गई है । अब अपनी कृपा पात्र सखी के प्रति अपने अन्तरङ्ग हित रूप से दोनों ओर रहते हुए प्रियाजी में जो जो एकान्त वृत्तान्त यहाँ हुआ है, उस उसको देखकर कहते हैं। अथवा गान द्वार पर बैठी गीत द्वारा प्रस्तुत करती हैं—

'लावण्य परम अद्भुत हैं, रति कलाओं में चातुरी तो बहुत ही अद्भुत है। कोई कान्ति भी महा अद्भुत है, वर तनु श्री राधा की लीला गति भी अद्भुत ही है । फिर उनकी दृग्भृङ्गी नयन चेष्टाएँ अद्भूत से भी अद्भुत तम हैं, जिसकी मुस्कान अद्भुत है, वह अद्भुत मूर्ति राधा मुझे अद्भुत रसवाली अपनी दासता कब प्रदान करेंगी ।।११८।'

लावण्य नाम अङ्गों की निर्मलता का है जैसा कि मोती में चमक रूप में चञ्चल परम (सब से अधिक) हैं ही । और इस परम की परमता यह कि वैसे गुणों से सम्पन्न प्रियतम के लिये भी आश्चर्य कारक है तब इस पद्य में जो अद्भुत शब्द में कहीं अति और कहीं परम शब्द का प्रयोग किया गया है । वह भी इसी अर्थ में है अर्थात् प्रियतम के लिये भी आश्चर्यजनक है । और साथ ही श्री प्रियाजी को अपने आपके के लिये भी आश्चर्यजनक है ऐसा जानना चाहिये । जैसा कि—'अपने आपको और सौभाग्य समृद्धि को विस्मय में डाल देना प्रियतम का रूप है जहां श्री अङ्ग भूषणों के लिये भी भूषण के

भूषणाङ्ग'मितिवत्। यथा च दृष्ट्वादर्शे निजं बिम्बं दूरीकर्त्तुं न शक्यते।

तत्रापि शङ्कते कान्तादहो रूपमहो छविः।
पतन्ती प्रति बिम्बाङ्घ्रौ राधा वीक्ष्य च तन्नतिम् ॥
शीलं प्रशंसती सख्याऽद्वैतयुक्त्या प्रबोधिता।
हसिता विस्मिताऽव्यान्नः कलावत्यपि मोहितेति ॥

एवं लावण्यादि सर्वं तदीयं परमात्यद्भुतमेव यद्यद्वदेत्ततोऽपि परमेव यथा तद्धावतोऽन्यानत्येतीतिवत्।

ततोऽपि भावविशेषार्थमाह—पूर्व्वतरपद्ये प्रियोपरि प्रसादोज्जृम्भण उक्तेऽपि स्वप्रेष्ठसखीस्नेहातिशयकरणात्पूर्वस्मादप्यधिकोद्वेलनेन हर्षवशाल्लावण्यसिन्धूद्गमनम्। तदानीं प्रियसमागमे तादृशमहानर्घ्यनिर्मलोज्ज्वलपुष्परागमणिसदृशाङ्गतादृशगुणविशिष्टमहामारकतवत्प्रियाङ्गे प्रतिबिम्बितं एवं तस्मिंस्तदिति। तेन मिथः सम्मुखे स्वस्वस्वरूपमेव भासितम्। तयोश्च प्रतिच्छाया निर्मलमणिमन्दिरे प्रतिफलिता तथा स्वस्वरूप-

रसकलश

लिये भी भूषण हैं।' इत्यादि द्वारा कहा गया है। और जैसा कि—दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे दूर नहीं किया जा सकता. वहां पर भी प्रियतम से शङ्का होती है कि अहो (इस सुन्दरी का) आश्चर्यजनक रूप है और आश्चर्य जनक कान्ति है।' श्रीराधा अपने प्रतिबिम्ब के चरणों में पड़ने लगीं तो प्रतिबिम्ब ने भी उनको नमस्कार किया, यह देखकर वे उस प्रतिबिम्ब सुन्दरी की प्रशंसा करती हैं तब सखी ने युक्ति से उन्हें बिम्ब की अद्वैतता समझा दी।' उस समय हँसती हुई कलावती होते हुए भी मोहित हुई श्री राधा हमारी रक्षा करें।' इत्यादि में कहा गया है।

इस प्रकार लावण्य आदि सभी गुण जो भी उन (श्रीराधा जी) के हैं परम अद्भुत ही हैं, उनके लिये जो जो कहा जाये उससे भी अधिक अद्भुत हैं। जैसा कि—'वह भागते हुए दूसरों का अतिक्रमण करता है' इत्यादि में कहा गया है। उससे भी विशेष के लिये कहते हैं। पूर्व से पूर्वतर पद्य में प्रियतम पर प्रसाद के उल्लास का वर्णन करने पर भी अपनी प्रियसखी के प्रति अत्यन्त स्नेह करने से पहले की भी अपेक्षा अधिक

उल्लास होने से हर्षवश लावण्य सिन्धु में उभार आया तब प्रियतम के समागम में वैसे महामूल्य, निर्मल और उज्ज्वल पुष्पराग मणि जैसे प्रियाजी के अङ्ग उसी जैसे प्रियतम के अङ्ग में प्रतिबिम्बित हुए। इसी प्रकार प्रिया जी के श्रीअङ्ग में प्रियतम के श्रीअङ्ग। जिससे एक दूसरे के समक्ष अपना अपना स्वरूप ही भासित हुआ और उनकी परछाईं निर्मल मणियों के बने मन्दिर में प्रतिफलित हुई अर्थात् पड़ी, उससे भी अपने

ज्ञानमेवं स्थिते तदा प्रियरूपे स्वप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा चकितवतो प्रतिदत्त-दृष्टिः । सोपि कथमहं प्रियारूपे स्थितो रमयामीति क्षणं स्थगितः। तेन परमाद्भुतं लावण्यं ततः परमताभिलाषप्रेयोऽङ्गे स्वबिम्बं सलज्जं सत्तद्विलक्षणं दृष्ट्वा कथमात्मानं सतृष्णां दीनां पश्यामीति । तद्दैन्याद्यभावं कर्त्तुं रूपान्तरमधिक्षेप्तुमिवाञ्जसैव समालिङ्गितवती तदभावस्य मिलना-न्यथानुपपत्तेः, ततो यथेष्टं प्रियरमणं जातं तत्र रतिकलासु चातुर्य्यं नाम न मया रमितम् । किन्तु प्रतिबिम्बाभावे न बिम्बाद्वैतसिद्ध्यर्थमिति । तत्रा-प्यहो किं स्वादु मदधरामृतमिति, किं मदालिङ्गनं हृच्छयनिर्वापकमित्यादि श्लाघाव्याजेन प्रतिबिम्बिते तत्तत्करणम् । तदा सोऽपि तदेवाङ्गीकरोति । अहो प्राणप्रिये इदानीं यदतिमाधुर्यं स्वाददं भवत्प्रसन्नताकरं तन्मयि श्रीमती-च्छायाफलमेव । अन्यथा क्व श्लाघास्पदता भाग्यमित्येवं भूयोभूयस्तत्प्रेरणं तेनात्यद्भुतत्वं रतिः प्रसिद्धैव वात्स्यायनोक्तरतिकोषोक्ता मीनकच्छ-

रसकलश

अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। ऐसा होने पर उस समय प्रियतम के स्वरूप में अपना प्रतिबिम्ब देखकर चकित हो रही प्रिया जी के प्रति दृष्टि लगाकर प्रियतम भी 'मैं प्रिया जी के स्वरूप में स्थित हो कैसे रमण करूँ' इस विचार में क्षणभर स्थगित होकर रह गये इससे प्रिया जी का लावण्य परम अद्भुत है यह कहा गया।

फिर परम अभिलाषायुक्त प्रियतम के अङ्ग में अपना विलक्षण प्रतिबिम्ब लज्जित हुआ देखकर क्यों मैं अपने आपको तृषित और दीन देख रही हूँ। इस विचार से दीनता आदि का अभाव करने के लिये और अन्य रूप का अधिक्षेप सा करने के लिये शीघ्र ही आलिङ्गन किया क्योंकि मिलन के दिन उन दीनता आदियों का अभाव नहीं हो सकता था। तब यथेष्ट रूप से प्रिय के साथ रमण हुआ, वहाँ रति कलाओं में चतुरता अर्थात् मैंने रमण नहीं किया किन्तु प्रतिबिम्ब के अभाव से बिम्ब के अद्वैत की सिद्धि के लिये प्रयत्नमात्र किया है वहाँ भी अहो मेरा अधरामृत कितना स्वादिष्ठ है, मेरा आलिङ्गन कैसा कामशामक है इत्यादि श्लाघा करने के बहाने प्रतिबिम्ब में वह वह क्रिया की। तब प्रियतम भी वही वही क्रिया करते हैं और कहते हैं अहो प्राणप्रिये जो अति माधुर्य स्वाद देने वाला और आपकी प्रसन्नताका कारण हुआ वह मेरे प्रति श्रीमती की इच्छा का फल ही है अन्यथा मेरे भाग्य में श्लाघा का पात्र होना कहाँ सम्भव है, इस प्रकार बारम्बार उनकी प्रेरणा की गई उससे इस रतिकला चातुर्य में अति अद्भुतता आ गई। रति स्वयं एक प्रसिद्ध कला है जो वात्स्यायन के कहे हुए रतिकोष में प्रतिपादन की गई है। जिसमें मत्स्य, कच्छप, गरुड, पर्वत, तिलतण्डुल

पगरुडपर्व्वततिलतण्डुलादिबन्धाः । यथा च—

प्रसार्य्य हस्त रणौ पुमान् यत्राङ्गनायते ।
नायिकामुपरिस्थाप्य मीनबन्धः प्रकीर्त्तितः ।।
हस्तौ पादौ च सङ्कोच्य कान्तामुपरिवल्लभः ।
स्थापयेत्सुरते यत्र कच्छपः स प्रकीर्त्तितः ।।
वल्लीवद्बाहुयुगलं विपरीतरते प्रिया ।
धुनोति यत्र कूजन्ती स प्रोक्तो गरुडाकृतिः ।
बाहुनैकेन वनितां कान्तो यत्रानुरागिणीम् ।
दधात्यूर्ध्वं गिरिमिव गिरिबन्धः प्रकीर्त्तितः ।।

इत्याद्यास्तेष्वनन्तं कौशलं तत्र वर्त्तत एव । तथापि लावण्यसम्बन्धि चातुर्यं ज्ञेयम् । यथा पश्ये तेन बन्धेन कथं प्रतिबिम्बिता स्यां किमाकारामात्मानं पश्य इति कौतुकौत्सुक्याद्रतिकलासु चातुर्यम् । अन्यदपि सहृदयगम्यमेव ।

तदानीं गौरतेजश्छटा श्यामतेजसा सह मिश्रिता राजते क्षणमुपरि क्षणमध इति विद्युल्लताञ्चितमेघवत् । एवं विलक्षणजातीयज्योतिराविर्भूतं दृष्ट्वाह—कान्तिः कापि महाद्भुता तु प्रकृतैवास्ते कापीत्यनिर्वचनीयरस-

रसकलश

आदि अनेक बन्धों का वर्णन है । जैसे –'जहाँ पुरुष हाथ पर फैलाकर अङ्गना के समान नीचे लेट जाता है और नायिका को अपने ऊपर ले लेता है उसे मीन बन्ध कहते हैं। 'जहाँ सुरत में पुरुष हाथ पैर सिकोड़ कर पुरुष कामिनी को अपने ऊपर स्थापित कर लेता है उसे कच्छप बन्ध कहते हैं ।' जिस विपरीत रति में कान्ता कूजन सा करती हुई अपनी बाहुलताओं को हिलाती है वह गरुड बन्ध कहलाता है । जहाँ कामुक एक बाहु से कामिनी को ऐसे ऊपर उठाये रखता है जैसे कोई पर्वत उठा रखा हो उसे गिरिबन्ध कहते हैं ।''इस प्रकार के अनेक बन्ध हैं उनमें अनन्त कुशलता प्रिया जी में है ही । तो भी लावण्य सम्बन्धी चतुरता जाननी चाहिये जैसे कि—देखूँ उस उस बन्ध में कैसी प्रतिबिम्बित होती हूँ मैं अपने आपको किस आकार में देखती हूं' इस कौतुक के लिये उत्सुक हैं । इसी प्रकार का कलाओं में अन्य चातुर्य भी सहृदयों के द्वारा जाना जा सकता है ।

तब गौरतेज की छटा श्याम तेज से मिलकर विराजमान होती है किसी क्षण ऊपर और किसी क्षण नीचे । अतः विद्युलता से युक्त मेघ का सा दृश्य उपस्थित होता है । इस प्रकार एक विलक्षण जाति की ज्योति प्रकट हुई उसे देखकर कहते हैं—कोई अनिर्वचनीय कान्ति भी महाअद्भुत है, यह कान्ति अद्भुत तो सदा है ही किन्तु आज महाअद्भुत हो गई है इसे 'कापि' या 'कोई' अर्थात् अनिर्वचनीय इसलिये कहा गया है कि यह अनिवचनीय रस की सूचक है । अतएव आवेश से प्रिया जी द्वारा (विपरीत रति में) वीर पुरुष की सी चेष्टा करने के कारण यह अनिर्वचनीय हो गई है । यहाँ

सूचकत्वात् । अत एवावेशेन वीरायितेन वरतनोरिति वरस्य नवकिशोरपत्यु-
रिव तनुर्यस्यास्तदनुकरणात् । अतएव लीला च गतिश्च प्रकृताप्यद्भुता अन्य-
प्रकृतिसंक्रमणादन्येव विभाव्यमाना परमशोभनाश्चर्यजनका लीला प्रेयोनु-
करणमित्यपि प्राञ्चः । भिन्नभिन्न प्रस्तुतोपयोगिन्यङ्गभङ्ग्यपि चेति गति-
रपि प्रस्तुतोपयोगिनी सहृदयगम्या । अत्र जघनाद्यंगानां सत्वरमन्थरता
विहारसामयिकी । तदानीं प्रियस्य गौणीभूतस्यापि धार्ष्ट्यन्तेन दृग्भङ्गी
स्वप्रकृतिसाक्षिकत्वेन हा भोग्यस्य स्वलोलुपनिस्त्रपत्वव्यञ्जनमसमञ्जसं
धिगित्याक्षेपोहुङ्कारभङ्गिकस्तेनाद्भुता तदा प्रियस्तदाशयानुगतोमिषेण तदा-
कृत्या सशीत्कारंमुञ्चमुञ्चनेनिनेतीत्यादि करोति । तेन पुनर्भ्रूभङ्गीकरणं
हंहो किं कितवतां प्रकाशयसि । सर्वं हृद्गतं जाने इत्यादिभङ्गिकम्
अद्भुततरा पश्चात्स्वमनस्येव स्वमोहः स्मृतः । किमहमेवं कुर्वे तन्मोह-
बीजं निश्चित्य प्रियस्याङ्गसङ्गाधरास्वादं प्रति संक्षुभ्य किमेवं दुर्ल्ललित-

रसकलश

पर प्रिया जी को वरतनु कहने का यही अभिप्राय है कि वर नवकिशोर पति के समान है तनु या शरीर जिनका, क्योंकि उनके द्वारा वर या नवकिशोर का अनुकरण किया गया है । अतएव लीला और गति भी प्रस्तुत प्रसङ्ग में अद्भुत है और अन्य प्रकृति का उनमें संक्रमण हो जाने से वह भी कुछ और सी ही प्रतीत हो रही हैं परम सुन्दर और अति आश्चर्य जनक लीला का अर्थ है प्रियतम का अनुकरण, ऐसा प्राचीन विद्वानों का कथन है । प्रस्तुत प्रसंग के लिये उपयुक्त भिन्न भिन्न उपयोगों वाली आंगिक चेष्टाएँ भी लीला कहलाती हैं । गति भी प्रस्तुत प्रसंग के लिये उपयोगिनी ही है जिसको सहृदयजन स्वयं जान सकते हैं ।

यहाँ पर जघन आदि अङ्गों का विहार के समय में सत्वर या मन्थर होना एवं उस समय गौणभाव को प्राप्त हुए प्रियतम की भी अत्यन्त धृष्टता, उससे प्रिया जी की दृग्भंगी अर्थात् चाक्षुष चेष्टा अपनी प्रकृति के अनुसार होना, अहो ! भोग्य के अपने लोलुप के प्रति लज्जा रहित होने की व्यंजना अटपटी सी है, धिक्कार है, इस प्रकार का आक्षेप जो हुँकार की चेष्टा वाला है उससे वह दृग्भङ्गी अद्भुत है । उस समय प्रियतम उनके आशय का अनुगमन करते हुए बहाने से उनको सो आकृति से शीत्कार के साथ 'छोड़ दो, छोड़ दो, नहीं, नहीं' इत्यादि कहते हैं उससे प्रिया जी फिर भ्रुकुटि तानतीं हैं, अहो क्यों अपनी धूर्तता प्रकट करते हो, मैं तुम्हारे हृदय की सब बात जानती हूँ, इत्यादि भाव को प्रकट करती हैं अतः यह भ्रूभङ्गी या भ्रुकुटि अद्भुततरा है । फिर अपने मन में ही अपना मोह याद हो आया । क्यों मैं ऐसा कर रही हूँ ? उस मोह के मूल बीज का निश्चय करके प्रियतम के अङ्गसङ्ग और अधरास्वाद के प्रति क्षुब्ध

विषमशरविषासवन्धारयसि, मादृशीं मोहयसि महाविप्रतीपकारित्वं त्वद-धरादौ ज्ञातमिति भङ्ग्या पुनर्भ्रू भङ्गीकरणमित्यद्भुततमा पुनरिति कथनेन पूर्वं स्वाभाविकमद्भुतत्वं स्थितम् तत्तु उत्तरोत्तरभङ्गीप्रादुर्भावप्रारम्भे साधारणं जातम् । पुनस्तस्मिन्नवोद्भवमद्भुतत्वम् । ततः अन्योद्भवन्तर त्वम् । ततोप्यन्यत्तमत्वमित्येवमुक्तमपि तादृशान्तरङ्गश्रीहितालीहृदय-साक्षिकमेव न तुच्छरसनाशक्यमिति । अत्र मुख्यदृग्व्यवहारेण दृग्भङ्ग्यामद्भुततमत्वं सर्ववर्ण्यमानेभ्य उत्कृष्टं ज्ञेयम् । यत्र कथनं स्थूलं कर्कशं लगति तत्राभ्यन्तराकूतसूक्ष्मवक्त्री दृग्भङ्ग्येवेति । तदनन्तरं दोषारोपण भङ्गिकभ्रू भङ्गीकरणनीतिनिश्चयस्थितेरलाभात्परस्परं हासः । तेन सर्वैलक्ष्यं ज्ञात्वा सख्याह—स्मितं चाद्भुतं विलक्षणं तादात्विकंदर्शनीय-मेव ।

एवं विहारे सर्वाङ्ग लावण्यरतिकलाचातुर्यकान्तिलीलागतिभङ्गीस्मिता-दिष्वद्भुतमूर्तिरेव प्रिया सप्रियसखीसंसिद्धिनाम्नी राधा । तदानीं

रसकलश

होकर 'क्यों इस प्रकार के दुर्लभ कामदेव के विषमय आसव को धारण किये रहते हो और मुझ जैसी को मोहित करते हुए तुम्हारे अधरोष्ठ आदि में महाविप्रतीपकारिता एक दम प्रकृति के प्रतिकूल बना देने-की प्रकृति है । ऐसा मैं जान गई हूँ इस अभिप्राय से फिर भ्रू भङ्गी को अर्थात् भ्रुकुटि चढ़ाई अतः यह भ्रू भङ्गी अद्भुततमा है। पहले अद्भुता और अद्भुतरा फिर अद्भुततमा कहने का यह तात्पर्य है कि इस भ्रू भङ्गी में स्वभाव से जो अद्भुतता है वह उत्तरोत्तर भ्रू भङ्गी की विशेषताओं के प्रकट होने पर साधारण हो गई और उसमें एक नई अद्भुतता उत्पन्न हो गई, फिर एक नई अद्भुततरता आई और अन्त में एक और ही अद्भुततमता आ गई । इस प्रकार कहने पर भी इस भ्रू भङ्गी की अद्भुतताओं के विषय में अन्तरङ्ग श्रीहित सखी जी साक्षी हैं हमारी तुच्छ रसना द्वारा उस का वर्णन नहीं किया सकता। यहाँ नेत्र व्यापार से नेत्रों की चेष्टा में अद्भुततमता अन्य सभी वर्णन किये जा रहे अङ्गों से अधिक है ऐसा जानना चाहिये । जहाँ पर कहना कर्कश और स्थूल सा प्रतीत होता है वहाँ आन्तरिक अभिप्राय को सूक्ष्म रूप में कहने वाली दृग्भंगी या नेत्रों की चेष्टा ही है । इसके बाद दोषारोप करने के अभिप्राय से की गई भ्रू भङ्गी के द्वारा नीति की निश्चित स्थिति का लाभ न होने से परस्पर हास हुआ, उससे कुछ सलज्जता जानकर श्रीहित सखी जी कहती हैं—मुस्कान भी अद्भुत है, विलक्षण है जो उस समय दर्शनीय ही है । इस प्रकार विहार में सभी अङ्गों के लावण्य और रतिकला के चातुर्य तथा कान्ति, लीला, गति और नेत्रों की चेष्टा एवं मुस्कान आदि सभी में अद्भुतता के कारण प्रिया जी अद्भूत मूर्ति ही हैं । प्रियतम सहित प्रयोजन के लिये वे ससिद्धि हैं इसी अथ में उनका नाम राधा है ।

श्रमं ज्ञात्वा विरमविरमेति तत्सुखित्वेन नाथे वदति व्यजनादिसेवां चिकोर्षामि । तदाशयेनाह—दास्यमिति । अत्राप्यद्भुतरसत्वं नाम हे सखीति वाक्यावयवैकं पदं वा आ इत्येव वा स्खलद्वर्णं श्रुत्वाहमन्तर्गत्वा वसनरसनालकादि समोकुर्य्यामिति । अहो तादात्विकाकारणं मनसोऽप्य सम्भावव्यमित्यद्भुतत्वम् । स्फुटपक्षे अन्तस्तु तादृशश्रीमुखक्षामाक्षर-श्रुतिपरमप्रेमविह्वला स्खलन्त्यहमपि मत्तैव परमहर्षवशतः शिरोधुन्वत्यह हेत्येव वदती दृगानन्दरसमास्वादयन्तीत्यद्भुतं नित्यनवनवत्वं मन्ये दास्यती त्यनेनाकारणं ज्ञायते । अन्यच्च पूर्व्वं प्रियकृतस्नेहातिशय उक्तस्तेन स्वनिष्ठया स्वामिनीं प्रत्येव विज्ञापयति मम तु त्वमेव निजरसेश्वरी दास्यं देहि नतु प्रियस्नेहलुब्धा तत्सकाशात्किञ्चिदिच्छामीतिभङ्गिकं कदेति च पूर्व्ववत् सम्भ्रमोक्तिः किं वा स्वप्नं प्रत्यक्षमिति ।।११८।।

रसकलश

उस समव श्रम जानकर विराम करो (बस, बस) इस प्रकार के वचन तत्सुख सुखिता के कारण प्रियतम कहने लगे। इस समय में व्यजन आदि की सेवा करना चाहती हूँ इस आशय से श्रीहितसखी कहती है—अद्भुतमूर्ति राधा मुझे दास्य कब देंगी। इस दास्य में भी अद्भुतरसत्व हैं। क्योंकि मैं 'हे सखी' इत्यादि वाक्य का एक अवयव रूप पद अथवा आगच्छ में से 'आ' मात्र स्खलित होता हुआ सा वर्ण सुनकर अन्दर जकर वस्त्र मेखला, केश आदि ठीक करूँ, इसके लिये उस समय का मुझे पुकारना मन के लिये भी असम्भाव्य है अतः उसमें भी अद्भुतता है यह तो स्फुटार्थ की व्याख्या है। आन्तरिक पक्ष में तो वैसे श्रीमुख के क्षीण अक्षरों को सुनने से परम प्रेम से विह्वल हुई गिरती पड़ती सी मैं भी मतवाली सी होकर परम हर्ष के कारण सिर हिलाती हुई 'अहह !' यही कहती हुई नेत्रों द्वारा आनन्द रस का आस्वादन करती हुई अद्भुत अर्थात् नित्य नवीन मानती हूँ। मुझे दास्य कब दोगी? इस वाक्य में 'दास्यति' या 'देगी' इस शब्द से बुलाया जाना जाना जाता है। और भी एक बात है कि पहले प्रियतम के द्वारा किये गये स्नेह का वर्णन किया था और उससे भी प्रिया जो में अपनी विशेष निष्ठा का विज्ञापन किया था वही यहाँ पर करते हैं। 'मुझे तो तुम मेरी निज रस की स्वामिनी ही अपना दास्य (दासीभाव) दो, मैं प्रियतम के स्नेह के लिये लोभ नहीं रखती न उनसे कुछ चाहती हूं इस अभिप्राय से 'कब दास्य देंगी ?' यह वाक्य कहा है। यहाँ पर 'कब' की व्याख्या पूर्व श्लोकों में कहे गये 'कदा' या 'कब' शब्द के समान सम्भ्रम से कहने के तात्पर्य में समझनी चाहिये। क्या यह कोई स्वप्न है या कोई प्रत्यक्ष है? इस रूप में एक सम्भ्रम यहाँ पर है।११८।

तत्र विहारसमयसेवापरायणा श्रीहितालो श्रीमतीमुखं तत्समयरससुख-विशिष्टं पश्यन्ती बुद्ध्या मननविषयीकरोति—

भ्रमद्भ्रुकुटिसुन्दरं स्फुरितचारुबिम्बाधरं
ग्रहे मधुरहुङ्कृतं प्रणयकेलिकोपाकुलम् ।
महारसिकमौलिना सभयकौतुकं वीक्षितं
स्मरामि तव राधिके रतिकलासुखं श्रीमुखम् ।।११९

हे राधिके इदानीन्तनानिर्वचनीयस्वरूपेणाज्ञातेव विभाव्यमाने वा सौकुमार्येणासहश्रमे दयनीये इति सख्यरससम्बोधनम् । तवोक्तपरमाद्भुतमूर्तेः कृपापरवशविस्मृतसकलस्वप्रकृतेरत्युदाराया रतिकलानां सुखं यत्र तत्सुख-सुषमायुतं मुखं स्मरामि । बहुक्षणविषयक्रमानुभुज्यमानं सारं युगपदनु-भवामीति ।

रसककश

वहाँ विहार के समय में सेवा में तत्पर श्रीहित सखी जो श्रीमती राधा जी के श्रीमुख-जो उस समय के रस के सुख से विशेष शोभा वाला है—को देखती हुई बुद्धि से अपने मनन का विषय बनाती हैं—

भ्रमण करती हुई भ्रुकुटि से सुन्दर, जिसमें सुन्दर बिम्ब फल सा अधर स्फुरित हो रहा है, (प्रियतम द्वारा प्रिया जी के करादि) ग्रहण काल में मधुर हुँकार वाले, प्रणय केलि में कोप से आकुल हुए, महारसिक मौलि द्वारा भय से कौतुक पूर्वक देखे गये ऐसे रतिकलाओं के सुख वाले तुम्हारे श्रीमुख का हे राधिके, मैं स्मरण करती हूँ ।।११९।।

हे राधिके, इस समय के अनिर्वचनीय स्वरूप से न जानी गई सी समझी जा रही, अथवा सुकुमारता के कारण श्रम को सहन न कर सकने वाली दयनीया' यह सभी सख्यरस से सम्बोधन किये गये हैं। तुम कहे गये प्रकार से परम अद्भुत मूर्ति वाली, कृपा के अधीन होकर अपने सम्पूर्ण (बाहर से प्रतिकूलता के) स्वभाव को भूली हुई, अति उदार स्वामिनी के–रति कलाओं का सुख जिसमें है उस सुख जनित परम शोभा से युक्त मुख का स्मरण करती हूं। बहुत क्षणों तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से क्रम-क्रम से अनुसेवित हो रहे सार का एक साथ अनुभव करती हूँ।

किञ्च रतिकलाकौशलश्रमस्तु भवद्भ्यां कृतस्तत्फलं सुखं श्रीमुखे दृश्यते। तत्तच्चिह्नसूचकत्वेन तत्स्मारणत्वात् स्मर्त्तुर्हृदि भोगकालीन-स्थविष्ठसुखभोक्तृद्वयहृदयतन्मयतया तत्सुखसुखित्वेन समग्रसुखमात्रस्य स्फूर्य्य-माणत्वात्। अतस्तयोरपि सौख्यसूक्ष्मसारं सख्यः प्राप्नुवन्तीति सखीभोग्य-स्योत्कर्षः सूचितः। यथा नागरीदासैः कृतं वस्त्रपूतजलवत् सुखं लेख्यं पदम्—'स्वाहा शक्ति होम की जैसैं, ऐसैं ही रति दम्प त जानि। आकरषति निजु अलि समाज सुष रार्षात अपु अभिअन्तर आनि। ऐसैं ही उनमानि जानि जिय जैसैं पीयत पानी छानि। नागरी गुरुपद प्रसाद तैं परैं जिय सरस सलौंनी बानि।' तदेव रतिकलासुखं वर्णयति। भ्रमन्त्या भृकुट्याः सुन्दरं सर्वं यथास्थितत्यैव शोभते। इयं तु भ्रमन्त्येव परमसुन्दरीति भ्रमणम्। प्रियस्यातितृष्णया तदावेशजनितानवधानसावधानकरणदास्य-स्खलनेन वा किञ्चित्क्षोभजनितम्। ततः सख्यः परमविदग्धा अन्तरङ्गज्ञा

रसकलश

एक बात है कि रतिकलाओं के कौशल के प्रकाशन का श्रम तो आप दोनों प्रिया प्रियतम ने किया किन्तु उसका फल सुखरूप में श्रीमुख में देखा जाता है क्यों कि वह उस उस चिन्ह का सूचक होने से उस सुख का स्मारक है। और स्मरण करने वाले के हृदय में भोग काल का स्थूलतम सुख है क्योंकि वह दोनों भोक्ताओं प्रिया प्रियतम के हृदय के साथ तन्मय हो जाने के कारण उनके सुख से सुखी है और इस कारण उसमें समग्र सुख स्फुरित हो रहा है। अतः उन दोनों के सुख के भी सूक्ष्मसार को सखीजन प्राप्त करते हैं इसीलिये सखीजन के लिए भोग्य वस्तु में अधिक उत्कर्ष सूचित होता है जैसा कि श्री नागरी दास जी ने कहा है—'सखीजन ने तो वस्त्र से छाने गये जल के समान सुख को उल्लेखनीय बना दिया है।' जैसा कि उन का पद भी है—स्वाहा शक्ति के होम की जैसे ऐसे ही रति दम्पति जानि। आकरषति निजु अलिसमाज सुख, राखति अपु अभि अन्तर आनि। ऐसे ही उनमानि जानि जिय, जैसे पीजत पानी छानि। नागरीदास गुरुपद प्रसाद हैं, परै जिय सरस सलौनी वानि॥' उसी रतिकला सुख का वर्णन करते हैं—भ्रमण करती हुई भ्रुकुटि से सब कुछ सुन्दर है। अर्थात् जो जैसे विद्यमान हैं वह वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं और यह भ्रुकुटि तो भ्रमण करती हुई भी परमसुन्दर हैं। भ्रुकुटि का भ्रमण प्रियतम की अतितृष्णा के कारण हो रहा है, उसके आवेश में असाव-धान अवस्था में से सावधान करने की जो दास्यभाव में भूल हुई है उससे कुछ क्षोभ उत्पन्न हो आया है उस क्षोभ से भी यह भ्रुकुटि का भ्रमण हो रहा है। फिर सखीजन परमविदग्ध या निपुण हैं, अन्तरङ्ग को बात जानते हैं, मेरी भ्रुकुटि के इङ्गित या इशारे को भी वे जानेंगे। औचित्य या नीति के विषय में वे क्या कहेंगे इस बात में कुछ

मद्भ्रुकुटीङ्गितं ज्ञास्यन्ति नोतो किं वदिष्यन्तीति वैलक्ष्यवैहस्त्येन भ्रूपरावर्त्तनं पुनश्चासन्नस्वादस्मृतिवैवश्येन किमिदमपूर्व्वं जातम्। स्वप्नं वा साक्षादिति विस्मयेन भ्रूचालनं पुनश्चेतस्ततो धावमानां किञ्चिदालस्यव्याजेन परावर्त्तयतीत्यादि साकूतं सहृदयगम्यम्।

पुनश्च स्फुरितेति ग्रहणे रदनखक्षतादिवर्ण्यमानत्वेन स्फुरणम्। किञ्चिन्निषेधकथनेच्छारोधजं तेन सुन्दरमधरं यत्र महामृदुवातलोलपल्लववत्। भ्रूभ्रमणकोपादीनां मध्ये स्फुरणस्यापि सम्बन्धात् यथा दशमे रुक्मिणी परिहासे स्फुरिताधरमीक्षितुं कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरं भ्रुकुटीतटमिति। अत्र तु भावभेदेऽन्यादृशं ज्ञेयम्। तद् दृष्ट्वा मनसि प्रियो विचारयति। पूर्वं कृपयानया मदधरासव आच्छिन्न इदानीमेतदीयास्वादावसरो ममेति लालसमात्र एव प्रियाया अधरे स्फुरणं जातम्। आसन्नचुम्बनसूचकत्वान्निमित्त-

रसकलश

लज्जाधीनता भी है उसके कारण भ्रुकुटि का परावर्तन (मोड़ना) किया गया है। फिर अभी अभी प्राप्त हुए स्वाद के स्मरण की अधीनता से यह क्या अपूर्व घटना घट गई, यह स्वप्न था या साक्षात् था इस भाव से विस्मय पूर्वक भ्रुकुटि चलाई गई। फिर उस भ्रुकुटि को—जो इधर उधर भाग रही थी—कुछ आलस्य के व्याज से परावर्तन करती हैं या मोड़ती हैं इत्यादि सभी अभिप्राय सहृदयों के हृदय द्वारा जाने जा सकते हैं।

फिर 'स्फुरित' इस विशेषण से आगे जो दन्तक्षत, नखक्षत आदि का वर्णन किया जा रहा है उससे स्फुरण हुआ है ऐसा जानना चाहिये। कुछ स्फुरण निषेधात्मक वचन कहने की इच्छा को रोकने से उत्पन्न है, उससे सुन्दर है अधर जहाँ पर, अधर में यह स्फुरण पवन से चञ्चल हुए अतिकोमल पल्लव के समान है। भ्रुकुटि के भ्रमण और कोप आदि के मध्य में अधर के स्फुरण का भी सम्बन्ध होने के कारण "स्फुरित चारु बिम्बाधर' कहा गया है। जैसा कि दशम स्कन्ध में रुक्मिणी जी के साथ परिहास के प्रकरण में स्फुरित अधर का दर्शन करने के लिये 'कटाक्ष के सम्बन्ध से लाल हुए नेत्रों के प्रान्तों वाले और सुन्दर भ्रुकुटि तट वाले' इत्यादि वर्णन किया गया है। किन्तु यहां भाव और है अतएव यहां के अधर स्फुरण को कुछ और प्रकार का जानना चाहिये। इस स्फुरण को देखकर प्रियतम विचार करते हैं—इस पूर्ण कृपा में मुझ से अधर पल्लव का आसव छीन लिया गया था, अब इसी के आस्वादन का मेरे लिये अवसर है इस प्रकार की लालसा करते ही प्रिया जी के अधरोष्ठ में स्फुरण हुआ। अभी होने वाले चुम्बन का सूचक होने के कारण स्फुरण भी एक निमित्त या शुभ शकुन

रीतिरेव । तत आह स्फुरितेन चारु बिम्बाधरं यत्र तदानीं दर्शनीयमेव बिम्बेति फलोपमानं भोगकालासन्नत्वात् ततः प्रियेण भुजे कण्ठधृते मुखे चासन्नकृते हुङ्कारः कृतस्तत आह—ग्रहे ग्रहणे मधुरं हुङ्कृतं यत्र क्षोभजं हुङ्कृतमपि मधुरं प्रियहृदयज्ञानमनु सखीहृदयसाक्षिकं तदानीं तस्य तासां च हृदि कोऽयमपूर्व्वानन्द उत्पन्नः । सहुङ्कृतं मुखं दर्शनीयमेव ।

अथवा ग्रहणे चुम्बनकृतौ रसावेशप्रमादमुग्धतया दशनक्षते जाते सौकुमार्यशीत्कारेण हुङ्कारः रसग्रहणविदग्धदास्यविकत्थकस्वार्थपरपरदुःखानभिज्ञेत्याद्युक्तिसूचभङ्गिकः । ततश्चिबुकमेककरेण गृहीत्वा द्वितीयेन तन्मृदुमृदुस्पर्शचाटुकारादिस्ततः प्रसादे पुनरपि वक्षोजनीव्यादिग्रहेऽपि हुङ्कारः । पुनश्चटुलतादि तदनन्तरंपूर्णप्रेम विहारकेलिषु साहसं दृष्ट्वा कोपाकुलम् एतदपि लम्पटादान्तेत्यात्युक्तिभङ्गीसूचकम् । तदा महारसिकमोलिना सभयकौतुकं यथा स्यात्तथा वीक्षितं केलिसौख्यमप्युपेक्ष्य

रसकलश

है और ऐसा कहने की रीति है : स्फुरित या स्फुरण से सुन्दर हैं बिम्ब फल के समान अधरोष्ठ 'जहाँ पर, उस समय तो ये दर्शनीय ही हैं। यहाँ पर बिम्ब फल की उपमा अधरोष्ठ के भोग या चुम्बन काल की निकटता के कारण हैं।

फिर प्रियतम के द्वारा जब अपनी विशाल भुजा प्रिया जी के कण्ठ में डाली गई और मुख कुछ समीप किया गया तब प्रिया जी ने हुँकार की, इसीलिये ग्रहणकाल में मधुर हुँकार है जहाँ पर ऐसा कहा गया है जहाँ क्षोभ से किया गया हुङ्कार भी मधुर है । प्रियतम के हृदय द्वारा ऐसा जानने के बाद सखी का हृदय भी इसमें साक्षी है । उस समय उन प्रियतम के और उन सखी जनों के हृदय में कोई अपूर्व आनन्द उत्पन्न हुआ। हुँकार सहित मुख दर्शनीय ही है। अथवा ग्रहण शब्द द्वारा चुम्बन करने में रसावेश और प्रमाद के कारण मुग्धता से, दशनक्षत हो जाने पर सुकुमारता के कारण शीत्कार के द्वारा हुंकार के रस को ग्रहण करने वाली तथा परम कुशल दास्य धर्म की प्रशंसा करने वाली, स्वार्थ परायण और परकीय दुःख को न जानने वाली इत्यादि अनेक सूक्तियों का सूचक है । तब प्रियतम एक हाथ से ठोढ़ी को कुछ ऊँचा करते हैं और दूसरे हाथ से उनके कोमल कोमल स्पर्श के लिये 'प्रियवचन' आदि कहते हैं तब प्रसन्न हो जाने पर भी स्तन नीवी आदि पकड़ने पर भी हुङ्कार ही होती है । फिर चञ्चलता आदि इसके बाद पूर्ण प्रेम से युक्त विहार में केलि या क्रीडाओं में साहस देखकर क्रोध से विह्वल से हो जाने और प्रियतम को 'लम्पट, अदान्त, इत्यादि कहने की चेष्टाओं का सूचक भी वह कोप है । तब महारसिक मौलि के द्वारा भय और कौतुक के साथ जैसे हो वैसे देखे गये, क्रीडा के सुख की भी

भयं स्वस्वामिन्याः कृतापराधोस्मि । असमीक्ष्यकारिणः किमद्य भविता कथं प्रसीदेदित्यादि स्मृतिभङ्गिमयं कौतुकं च अहह केयमपूर्वंशोभा श्रीमुखे जाता प्रसादादपि विलक्षणसुखजनकेति । अतएव रसिकत्वेपि मौलिपदं प्राप्तम् ।

किञ्च भयेऽपि तादृशभ्रूभ्रमणाधरस्फुरणहुङ्करणकोपवैशिष्टयसुषमा-दर्शनस्थगितत्वेन तद्भयमपि विस्मृतम् । परमरूपासक्तबद्धकङ्कणस्वभावो दुष्परिहर इति मौलित्वम् । तदा प्रियां कोपेऽपि सख्यः समादधते प्रिये स्वीयः क्षमणीय एव केवलत्वद्रूपविवश एवायमिति न दण्ड्यः । अन्यच्च तन्मुखस्वरूपगता तु किं भण्यते । तटस्थ तादृश प्रिय सभयकौतुकवीक्षण-शोभापि तत्र सङ्गता जाता—'अहो ! किं भावोद्गमं मुखम् ?' कथं तेन वीक्षितं तत्सर्व्वं सखीवेद्यमेव । अनयोस्त्वेकमेकं दर्शनसुखम् आसां तु सर्व्व-मिति । तदानीं प्रियसभयवीक्षणं प्रियाचेतोद्रावणकारणं तेनायतापाङ्गेन—

रसकलश

चिन्ता न करके श्री स्वामिनी से भय मानते हैं 'मैं अपराधी हूँ, बिना विचारे काम करने वाले मुझको आज क्या होगा ? प्रिया जी मुझ पर कैसे प्रसन्न होंगी ? इत्यादि स्मृति और विचार से युक्त भय है । और कौतुक भी है—अहहा, यह कैसी अपूर्व शोभा है जो आज कोप के समय में श्री प्रिया जी के मुखमण्डल पर छाई हुई है यह तो प्रसन्नता के समय से विलक्षण है और अधिक सुख उत्पन्न करने वाली हैं । अतएव प्रियतम ने रसिक होते हुये उनमें मौलि पद प्राप्त किया है । फिर भय में भी उस प्रकार के भ्रुकुटि के भ्रमण, अधरोष्ठ के स्फुरण, हुङ्कार और क्रोध से युक्त परम शोभा के दर्शन से चित्रलिखित-से खड़े रह जाने के कारण उस भय को भुला दिया और परम रूपासक्ति के कारण कङ्कण बाँधे हुए का आसक्तता रूप स्वभाव को छोड़ना अति कठिन है अतएव इन्हें 'मौलि' या प्रधान होना प्राप्त है । तब प्रिया जी का कोप के समय सखीजन समा-धान करते हैं—हे प्रिया जी, आत्मीयजन को तो क्षमा किया जाता है, फिर प्रियतम तो केवल तुम्हारे रूप से विवश हैं अतः इन्हें कोई दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये ।

एक बात और है कि श्री प्रिया जी के श्री मुख में विद्यमान स्वरूपगत सुन्दरता का तो क्या कहना वैसे तटस्थ प्रियतम की भी सभय और सकौतुक भाव से उनकी ओर देखने की शोभा भी तो आज उनकी शोभा में मिल गई है । अहो, मुख में न जाने किन-किन भावों का उदय हो रहा है, फिर वह मुख प्रियतम के द्वारा कैसे देखा जा रहा है । यह सब तो सखीजन ही जान सकते हैं । इन दोनों को तो परस्पर एक दूसरे को देखने का एक ही एक सुख है किन्तु सखीजन को तो सभी सुख उपलब्ध है, उस समय प्रिय-तम का भय के साथ देखना ही प्रिया जी के चित को द्रवित करने का कारण हो गया ।

'हा ! किमस्य भवितेऽति सूक्ष्ममनसा किञ्चिल्लाघवेन झटिति प्रियाप्रेक्षणमायतौ ज्ञेयम् । तत्सुखित्वात् कौतुकवीक्षणेन किञ्चिदायतहास्यजननमपि ज्ञेयम् । इत्येवं द्वाभ्यां मिथो विहार उपवर्णितः ॥११९॥

ततो रसिकशेखरेण तत्कोपादिविस्मारणाय पुनर्निजतदावेशानन्दार्थं कौतुकान्तर आरब्धः । यथा विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यत इतिवत् । पश्य श्रीमति स्वामिनि मज्जीवातो त्वदीयसख्यो मां रसिकमौलिरिति र्रसिकमुकुटेति रसिकशेखरेति विकत्थयन्ति । तच्छ्रीमतीप्रभावादेव । किञ्च मया मायूरं मुकुटं धृतं तत्त्वदासक्तिकङ्कणबन्धनमेव पीतपटं च त्वद्वर्ण सेवनार्थम् । अतोऽस्मिन्वेष एव कश्चिच्चमत्कारो वा मय्येव दूषणम् । यदहमासक्तिदोषेणातितृष्णाकुलस्त्वयिलौल्यमाचरे तन्मदंहः क्षम्यताम्, एषम् मदीय श्रृङ्गारस्त्वयाङ्गीकार्यः प्रसादीकृत्य देयो येन त्वदङ्गस्पर्शप्रभावाद्दोषनिवृत्तिर्भविता । अथ पश्ये कियान्किं प्रभावोऽयमित्युक्तं श्रुत्वा आसज्य-

रसकलश

तब एक अपाङ्ग निरीक्षण या कटाक्ष से इनको क्या दशा होगी यह बात कुछ सूक्ष्मता के साथ और कुछ शीघ्रता से सोची । इससे शीघ्र भविष्य में प्रिया जी के द्वारा प्रियतम को देखना भी ध्वनित होता है क्योंकि प्रियाजी प्रियतम के ही सुख में सुख मानती हैं । फिर कौतुक से देखे जाने पर भविष्य में कुछ हास्य का उत्पन्न होना भी जानना चाहिये । इस प्रकार दो पद्यों द्वारा विहार का वर्णन किया गया ॥११९॥

तब रसिक शेखर ने उ। कोप आदि को भुलाने के लिये और फिर अपने उसी आवेश के आनन्द के लिये दूसरा कौतुक आरम्भ किया । जैसा कि कहा भी गया है कि 'जिसको जिस वस्तु में रस आने लगता है वह उसे छोड़ना नहीं चाहता' । प्रियतम कहने लगे—श्रीमतो स्वामिनी, देखो, आप ही मेरी जीवनाधार हो, आपको सखियाँ मुझे रसिक—मौलि, रसिकमुकुट, रसिकशेखर आदि नामों से बुलाती हैं । मेरी सराहना करती हैं यह सब आपके प्रभाव से हो है । फिर मैंने जो मोर मुकुट धारण किया हुआ है वह तो आपके प्रति आसक्तिकारी कङ्कण ही वँधा हुआ है । पीताम्बर भी आपके सुवर्ण जैसे वर्ण का सेवन करने के लिये ही है । अतः न जाने इस वेष में ही कोई चमत्कार है या मुझ में हो कोई दोष है कि मैं आसक्ति दोष से अतितृष्णा से व्याकुल रहता हूँ । और आपके समक्ष चञ्चलता कर बैठता हूँ । मेरे उस अपराध को क्षमा करें । मेरे इस श्रृंगार को आप स्वीकार करें और इसे अपना प्रसाद बना कर मुझे दें । आपके श्री अंग के स्पर्श के प्रभाव से दोषों की निवृत्ति हो जायेगी और मैं देखूँगा कि इसमें क्या और कितना प्रभाव है, इतना कहा हुआ सुन कर श्री प्रिया जी ने आसज्य

कौतुकिस्वभावेन, 'आः ! कियदेतत्प्रभावं करिष्यति मयीति प्रौढ्यान्य-प्रस्तुतागतं मनो दृष्ट्वा प्रियेण सखीमामन्त्र्य स्वहस्तेन मुकुटं श्रीमतो-शिरसि धृतं अत्र स्वामिनीङ्गितज्ञतयाऽऽवेशशीघ्रताज्ञानं मनसि निधाय-कौतुकं रचितमिति गूढोऽभिप्रायस्तेदवाह—

'उन्मीलन्मुकुटच्छटापरिलसद्दिक्चक्रवालं स्फुर-
त्केयूराङ्गदहारङ्कङ्कणघटानिर्नितरत्नच्छवि ।
श्रोणीमण्डलकिङ्किणीकलरवं मञ्जीरमञ्जुध्वनिं,
श्रीमत्पादसरोरुहं भज मनो राधाभिधानं महः
॥१२०॥

हे मनस्त्वं राधाभिधानं महो भजेत्यन्वयः। महस्तेजः ऐश्वर्येऽसमोर्ध्वचिदा-नन्दमयत्वमस्त्येव माधुर्येऽङ्गरूपलावण्यकान्तिप्रकाशबाहुल्यात् । तन्मयतया मननविषयं कुर्विति महसो भजनं मनसैव सम्भवति । अभिधानेन सर्वैशिष्ट्यं नतु सामान्यम् । तदाकृतिमाह—'उन्मीलदि'ति मुकुटे कनकमणिचन्द्रक-

रसकलश

प्रीति का विषय होने के कौतुकी स्वभाव से 'अहो यह मुझ पर कितना और क्या प्रभाव डालेगा' ऐसा कह कर प्रौढि से कोई अन्य प्रस्ताव किया। प्रिया जी का मन उस अन्य प्रस्तुत चर्चा में लगा हुआ देखकर प्रियतम ने सखी से पूछकर अपने हाथ से अपना मुकुट श्री प्रिया जी के सिर पर धारण करा दिया और इधर स्वामिनी जी के इङ्गित को जानने के कारण आवेश की शीघ्रता का ज्ञान मन में रख कर कौतुक किया यह गूढ़ अभिप्राय है, उसी का वर्णन करते हैं—

'हे मन, उघडती हुई मुकुट की शोभा से विशेष शोभित हो रहा है दिशाओं का समूह जिससे, स्फुरित या चमत्कृत हो रहे केयूर, अङ्गद, हार, कङ्कण की घटा या समूह से निर्धूत हुई है रत्नों की छवि जिससे, श्रोणी मण्डल में किङ्किणियों का कलरव है जिसके' मञ्जीरों की है मञ्जुल ध्वनि जिसके, शोभाशाली हैं चरण कमल जिसके ऐसे राधा नामक तेज का भजन करो ॥१२०॥'

'हे मन, तू राधानामक तेज का भजन कर' यह अन्वय है। महस् नाम तेज का है। ऐश्वर्य में तो असम और निरतिशय चिदानन्दमयता है ही, तथा माधुर्य में श्रीअङ्गों के रूप, लावण्य, कान्ति और प्रकाश की बहुलता है ही। उस तेज को तन्मयभाव से अपने मनका विषम बनाओ। महस् या तेज का भजन तो मनसे ही हो सकता है। राधा नामक कहने से उस तेज की विशिष्टता बताई गई है साधारणता नहीं। राधा नामक

चन्द्रिकाभिर्बहुसौष्ठवरचिते ज्योतिच्छटास्तु सहजा एव। परन्तु श्रीमदङ्गोच्छलत्प्रभादीधित्यावेशेन चन्द्रकान्ताश्चन्द्रेणेवोन्मीलन्ति। छटाः किरणाङ्कुरास्तासां परितो लसन्त्यो दिशो यस्मात्तादृशं चक्रवालं मण्डलं यस्मिंस्तद्। यद्वा लसद्दिक्षु चक्रवालं यस्मात्। यद्दिशि साम्मुख्यं तस्यामेव मुकुटाकारं मण्डलमुन्मीलति। लसदित्यनेन परममनोहारि माधुर्य्यं न केवलमैश्वर्य्यमेव पुनस्तदधः स्फुरतां प्रकाशमानानां केयूरादीनां केयूरः सघण्टिकः अङ्गदस्तदितरो भुजभूषणं हारश्चन्द्रसरनवसरैकावल्यादिविशेषः कङ्कणघटामरकतादिमयवलयसमूहास्तेषु निर्द्धूता पूर्ववद्दीधित्यावेशेन विशेषकम्पिता चालिता प्रसारितेति यावत् रत्नानां तादृशतदङ्गभूषार्हश्रेष्ठमहर्घ्यमणीनां छविर्यत्र यस्माद्वा उभयतोऽग्रतश्च तेजःप्रसरचमत्कार उपवर्णितः। पुनस्तदधः श्रोणीति नितम्बमण्डलं किङ्किणीकलरवो यत्र मण्डलोक्त्या सहजाङ्गाकृतिप्रभामण्डलं ज्ञेयम्। तत्र किङ्किण्यपि तद्वदङ्गज्योतिराविष्टा

रसकलश

कहने का यह तात्पर्य है कि उस तेज का आकार या रूप भी राधा ही है। उन्मीलत् या उघडती हुई कहने का तात्पर्य यह है कि मुकुट स्वर्ण, मणि, चन्द्रक और चन्द्रिकाओं द्वारा बहुत अच्छी तरह से रचा गया है। ज्योति की छटाएँ तो स्वाभाविक ही हैं किन्तु श्रीमती जी के श्री अंगों में उछलती हुई प्रभा की किरणों के आवेश से चन्द्र से चन्द्रकान्त मणि के समान छटाएं उछल उठती हैं। छटाओं का अर्थ है किरणों के अङ्कुर उनके चारों ओर सुशोभित हो रही हैं दिशाएँ जिससे ऐसा चक्रवाल या मण्डल बन गया है जिसमें अथवा सुशोभित हो रही दिशाओं में बन गये हैं। चक्रवाल जिससे, जिस दिशा की ओर मुख करो उसी में मुकुट के आकार का तेजो मण्डल उघड़ने लगता है। लसत् इस शब्द से परम मनोहर माधुर्य भी प्रतीत होता है केवल ऐश्वर्य नहीं, फिर उसके नीचे प्रकाशमान केयूर आदियों की छटाओं से कम्पित हुई है रत्नों की छवि जिससे। केयूर और अङ्गद दोनों ही भुजा में धारण किये जाने वाले भूषण हैं, केयूर में घंटिकाएँ लगी रहती हैं, अङ्गद में नहीं। हार के अनेक प्रकार हैं—चन्द्रसर, नवसर, एकावली आदि। कङ्कण घटा का अर्थ है मरकत आदि मणियों की बनी हुई चूड़ियों का समूह इनमें निर्धूत अर्थात् पूर्ववत् किरणों के आवेश से विशेष कम्पित, चालित या प्रसारित हुई है रत्नों की छवि कम्पित है उस प्रकार के श्री राधा जी के उन श्री अङ्गों के भूषणों के योग्य महामूल्य मणियों की कान्ति जिसमें या जिससे। यहां दोनों ओर से और आगे से तेज के प्रसार के चमत्कार का वर्णन किया गया है। फिर उसके नीचे श्रोणी या नितम्ब मण्डल में किङ्किणियोंका है कलरव जिसमें। मण्डल कहने से सहज अङ्गों की आकृति वाला प्रभा मण्डल समझना चाहिये। वहाँ किङ्किणियों में भी उसी के समान श्री अङ्गों की ज्योति से

प्रकाशते, छविद्वीपस्य ज्योतिःपरिधिरेवेति दृग्रुचिदापि कलरवेण श्रुतिसुखदा। पुनस्तदधोमञ्जीरयोर्मञ्जुर्ध्वनिर्यत्र तादृशे श्रीमतीभूषणभूषणे पादावेव सरोरुहे कमले यत्र। अत्र मञ्जीरावपि तद्वदङ्गच्छविसमाविष्टौ ध्वनिना श्रुतिसुखादौ कञ्जोक्त्या सखीघ्राणस्याप्यभिलाषः पूरितः। एवमाशिखनखं छविपुञ्जरूपमुपवर्णितम्। अत्र मुकुटश्रृङ्गारे कञ्चुकवेषो ज्ञेयः। कुण्डल-वेणीप्रावारपटादि तत्कालार्हमनुक्तमपि ज्ञेयम्।

अत्र सहृदयै रासो भावनीयश्चेत्तदवसरः प्रियस्येतरवेशो ज्ञेयस्तदा सखीनामपि कौतुकावकाशलब्धिस्तत्र विवाहानुकरणमपि समीचीनं घटते। अग्रे आनम्रेतिपद्ये वरस्य वर्णिन्याः प्रथममुखावलोकोऽपि सम्भाव्यत इति। अथवा कैश्चिदपेक्ष्यते रतिकलासुखं श्रीमुखमित्युक्त्यनन्तरं पुनर्विलास एव घटते। तत्र पुनर्विहारार्थमेवाह। उभयोरङ्गप्रत्यङ्गभेदेन गौरतेजसि तदानीं श्यामतेजसो लीनत्वात्प्रियामहस एव मुख्यतया वर्णनं समानस्थिता-

रसकलश

आविष्ट हुई छवि प्रकाशित हो रही है, यह छविद्वीप की ज्योतिर्मय परिधि के समान है। यह ज्योति नेत्रों को तो रुचि देती ही है किङ्किणी कलरव से श्रोत्रों को भी सुख देती है। फिर उसके भी नीचे मञ्जीरों की मञ्जु ध्वनि है जिसमें इस प्रकार के श्रीमती के भूषणों के भी भूषणभूत चरण ही कमल हैं। यहाँ पर मञ्जीर भी किङ्किणी के समान श्री राधा जी की अङ्गच्छवि से समाविष्ट हैं, अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्रों को सुख देते हैं। चरणों को कमल कहने से सखी समाज के घ्राण की भी अभिलाषा इन्होंने पूरी करदी है। इस प्रकार चरण नख से लेकर शिखा-पर्यन्त छवि के पुञ्ज के रूप में राधा नामक तेज का वर्णन किया गया है। यहाँ मुकुट वाला श्रृंगार है अतः कञ्चुक वाला वेष समझना चाहिये। यहां पर कुण्डल, वेणी तथा प्रावारपट (ओढ़नी) आदि जो उस समय के योग्य हैं वे नहीं कहे गये तो भी उनका अध्याहार कर लेना चाहिये।

यदि सहृदय जन यहाँ रास की भावना करना चाहें तो उसका भी अवसर है। प्रियतम का अन्यवेष जानना चाहिये तब सखीजनों को भी कौतुक के लिये अवकाश मिल गया है। यहाँ विवाह का अनुकरण भी ठीक-ठीक घटता है, आगे के 'आनम्रानन' इत्यादि पद्य में वर के द्वारा वर्णिनी का पहली बार मुखदर्शन भी सम्भावित होता है। अथवा यदि कोई चाहते हों तो 'रतिकलासुखं श्रीमुखम्' कहने के बाद फिर विलास भी सम्भव बैठता है। इस विलास में से विहारार्थं का वर्णन करते हैं। प्रिया प्रियतम दोनों के अङ्ग प्रत्यङ्गों में अभेद हैं। इससे गौर तेज में उस समय श्याम तेज के लीन होने से

सन एव विहारस्तदानीं मुकुटमण्डलस्यैव दृश्यमानत्वादिति तत्राङ्गदौ प्रियस्य तस्याश्च केयूरौ हारकङ्कणादि च अविशेषेणाभितो भूषणानामेव दृश्यमानत्वाद् भुजकरादिचाञ्चल्येनापि तच्छोभाकथनोत्पत्तिः । हारस्य वेणीस्थाने परावृत्य स्थापितत्वाद्धारोक्तिः वेण्यनुक्तिः । घटेति परस्य हारादीनां कङ्कणादीनां च घटनं संघट्टनचेष्टा तेन रत्नानां मिथश्छविनिर्धूतिः, तदानीं श्रोणीमण्डलेति विवासस्त्वं, कलरवः स्फुट एव । कलेति प्रियहृदयहारित्वेन तदनुगतकौतुकास्वादेन सखीहृदयसाक्षिकोक्तिः । मञ्जीरयोरपि तथैव मञ्जुत्वसाक्षिकं प्रियसखीहृदयं सरोजेति प्रियकरसम्मर्दनहृदयस्पर्शारुण्यादिदर्शनादिति । राधेति एवं प्रियमनोरथपूरकसंसिद्धिरूपं तजो भजेति । अत्र विहारो व्यङ्ग्ये रक्षितः स्फुटा छविरिति ॥१२०॥

तदानीमन्तर्बहिः श्यामप्रतिबिम्बिताङ्गीत्वमाह—

रसकलश

कारण प्रिया जी के तेज का ही मुख्यरूप में वर्णन किया गया है। समान रूप में स्थित आसन पर ही विहार होता है तब मुकुट मण्डल के दिखाई दे रहे होने के कारण वहाँ अङ्गद प्रियतम के हैं और केयूर प्रियाजी के हैं। शेष, हार तथा कङ्कण आदि समान रूप से दोनों के आभूषण हैं, जिनके दिखाई देने के कारण भुजाओं और कर कमलों आदि की चञ्चलता से भी उनकी शोभा का वर्णन उपपन्न या युक्तियुक्त सम्भव होता है। हार को वेणी के स्थान पर पीछे की ओर लटका कर रखा गया है अतएव केवल हार ही कहे गये हैं वेणी नहीं। यहाँ छटा शब्द परस्पर हार आदि और कङ्कण आदि के घटन अर्थात् परस्पर संघर्ष होने की चेष्टा के द्वारा रत्नों की छवि का कम्पित होना वर्णन किया गया है। उस समय नितम्ब मण्डल का वर्णन सूचित करता है कि वस्त्र शिथिल होने से कुछ विवस्त्रता आगई है अन्यथा नितम्ब मण्डल का दर्शन सम्भव न होता कलरव तो यहाँ स्पष्ट ही है जिसमें कल शब्द प्रियतम के हृदय को हरण करने के कारण उससे अनुगत कौतुक के आस्वाद से सखीजन के हृदय को साक्षी कही गई है। मञ्जीरों को मञ्जुता का साक्षी भी यहाँ प्रियसखी का हृदय है। चरणों को सरोज कहा गया है क्योंकि प्रियतम के कर कमलों द्वारा उनका सम्मर्दन हुआ है। हृदय द्वारा स्पर्श और अरुणता आदि का दर्शन किया गया है। राधा इस नाम से अपने नामानुरूप प्रियतम के मनोरथों को पूर्ण करने वाले संसिद्धि रूप तेज का भजन करो यह उपदेश दिया गया है। यहाँ पर छवि को प्रकट रूप में और विहार को अप्रकट रूप में कहा गया है ॥१२०॥

उस समय श्री राधा अन्दर बाहर श्याम से ही प्रतिबिम्बत अङ्गों वाली हैं ऐसा कहती हैं—

**श्यामामण्डलमौलिमण्डनमणिः श्यामानुरागस्फुर-
द्रोमोद्भेदविभाविताकृतिरहो काश्मीरगौरच्छविः।
सातीवोन्मद कामकेलितरला मां पातु मन्दस्मिता
मन्दारद्रुमकुञ्जमन्दिरगता गोविन्दपट्टेश्वरी ॥१२१**

अभिन्नाङ्गप्रत्यङ्गत्वेन मरकताभासितोत्तप्तकाञ्चनवद्वैलक्षण्येन श्यामाभासं दृष्ट्वाह । श्यामानां मण्डलं समूहस्तस्य मौलेर्मण्डनमणिः, अर्थादावेशपरवशापि तं श्यामं भूषयति पोषयतीत्यर्थः । श्यामसखीसङ्गादेवेयमुक्तिः सा च प्रियाचरणं पुनः पुनर्धारयति 'त्वमसि मम जीवनं त्वमसि मम भूषणम्' इत्याद्युक्तिश्रवणान्मौलिमण्डनेति बहिरावेशमुक्त्वान्तरावेशमाह । श्यामविषयिकानुरागेण स्फुरता रोमोद्भेदेन रोमाञ्चचमत्कारेण विशेषेण भाविता भावनीकृता गुणान्तराधानेनेव परिष्कृता आकृतिर्यस्याः । यद्वा विभावेति पूर्वं विषयालम्बना सती तदावेशेनेदानीमाश्रयालम्बना जातेत्यर्थः । अथवा

रसकलश

'श्यामा (षोडशी) जन के मण्डल में मौलिमण्डन (शिरोभूषण) की मणि बनी हुई, श्याम के अनुराग से स्फुरित हो रहे रोमाञ्च से विभावित आकृति वाली, कुङ्कुम के समान गौर कान्ति, अत्यन्त उन्मत्त काम की क्रीडा से चञ्चल हुई, मन्द मुस्कान वाली, मन्दारवृक्ष के लतापुञ्जमय कुञ्ज रूपी मन्दिर में विराजमाना वे श्री गोविन्द की पटरानी (श्रीराधा) मेरी रक्षा करें ॥१२१॥

अङ्ग प्रत्यङ्ग की अभिन्नता के कारण मरकतमणि से प्रकाशित विशुद्ध स्वर्ण के समान वर्ण की विलक्षता से श्याम वर्ण के आभास को देख कर कहते हैं। श्यामाओं के मण्डल या समूह के मौलि (मस्तक) की मण्डनमणि (शोभा बढ़ाने वाली मणि) अर्थात् आवेश के वश होकर भीं उन श्याम सुन्दर को भूषित या पोषित करती हैं, श्याम सखी के संग से यह बात कही गई है। वे प्रिया जी के चरणों को बारम्बार धारण करती हैं 'तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा भूषण हो' इत्यादि उक्ति को सुनकर 'मौलिमण्डन' के रूप में बाह्य आवेश का वर्णन करके अब आन्तरिक आवेश का वर्णन करते हैं। श्याम विषयक अनुराग से स्फुरित हो रहे रोमाञ्चरूपी चमत्कार से विशेष रूप में भावित हुई अर्थात् मानों अन्य गुण आधान करने के द्वारा परिष्कृत हुई है

विभाविता सखीभिर्ज्ञाता यदिदानीं श्यामविषयिकानुराग उच्छलितः । कृपो-द्गमो रोमाञ्चद्वारा ज्ञातः । तदप्यहो इत्याश्चर्यं अन्तर्बहिः श्याममय्यपि काश्मीरवद्गौरी छविर्यस्याः स्ववर्णेन न त्यज्यमाना अर्थात् स्वप्रभुत्वमनुग्राहकत्वमविस्मरन्तीति भावः । यद्वा अहो श्यामापि किंवा काश्मीरलेपेन गौरी दृश्यते सत्यम्, अन्यथा तु श्यामापदमेव केवलं सम्पन्नमभविष्यत्काश्मीरारुण्यमपि कामोद्बोधातिशयेनोपमीयते । किञ्च सुकुमाराणां भावोदयमात्रेणाङ्गपरावृत्तिर्भवतीति सहृदयानां व्यवहारः । ततश्चातीवोन्मदस्य कामस्य केलिषु तरला चञ्चला किञ्च प्रेम्णोयदाऽत्युत्फणनं तदेवोन्मदत्वं येन स्वयं तत्परवशा स्यादिति । कामे तु स्वस्य स्वातन्त्र्यं तत्परावस्था प्रेमा तत्र पारतन्त्र्यं ततः परावस्था रसो विगलितवेद्यान्तरत्वं ततः परवैवश्यमिति चतुष्टयं बोध्यम् । तदत्र प्रेमावस्था ज्ञेय । यथाच—

कदाचित्क्रीडिता क्रीडावशः क्रीडति कुत्रचित् ।
स्वेच्छया वशगक्रीडो वश्यत्वे शोभनं परम् ।।

अत्रैवं विविधकेलिवैशिष्ट्यं प्रकाशितं ततो हर्षवशेन स्मितं तेन

रसकलश

आकृति जिनकी अथवा विभाव बनाई गई, पहले तो विषयालम्बन विभाव थीं किन्तु अब आश्रयालम्बन विभाव हो गईं, यह तात्पर्य है । अथवा विभाविता सखियों द्वारा जान ली गई कि इस समय श्यामविषयक अनुराग उछल आया है। कृपा का उद्गम रोमांच द्वारा जाना गया है । तो भी अहो ! यह आश्चर्य है कि अन्दर बाहर से श्याम होते हुये भी कुङ्कुम के समान जिनकी गौर कान्ति है, अपने स्वाभाविक रंग को न छोड़ती हुई प्रियतम का रंग अपनाती हैं । अर्थात् अपनी प्रभुता और अपनी अनुग्राहकता को न भूलती हुई अनुराग का आश्रय बनती हैं ।

अथवा अहो ! श्यामा होती हुई भी कुङ्कुम के लेप से गोरी सी दीखती हैं यह सत्य है । नही तो केवल श्यामा पद ही सम्पन्न होता । कुङ्कुम की लाली की भी काम के अत्यन्त उद्बोध से उपमा दी जाती है । एक बात और भी है कि सुकुमारों के अङ्गों में भावोदय मात्र से ही रंग बदल जाता है, ऐसा सहृदयों का व्यवहार है । इससे अत्यन्त ही उन्मद काम की क्रीडाओं में चञ्चलता है । फिर प्रेम में जब अधिक उफान आता है तभी वह उन्मद कहलाता है, जिससे वे स्वयं परवश हो जाएं । काम में तो अपनी स्वतन्त्रता रहती है, किन्तु काम से आगे की अवस्था प्रेम है उसमें परतन्त्रता रहती है उसकी भी परम अवस्था अन्य ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान न रहना है उससे तो बहुत ही विवशता हो जाती है इस प्रकार यह चारों समझने चाहियें । अतः यहां प्रेमावस्था जाननी चाहिये । जसा कि कहा भी है कि कभी तो क्रीडा करने वाले हैं कभी क्रीडा के वश में किये रहते हैं और कभी क्रीडा के वश में हो जाने से परम सुन्दर लगते हैं । इस प्रकार यहाँ अनेक प्रकार की क्रीड़ा सम्बन्धी चतुरता प्रकाशित की गई है । तब हर्ष के वश

मन्दस्मितेति । सहजस्मितशीलेऽपि "उद्गतं हासं सखीज्ञेयत्नेन रुन्धानतया मन्देति । तदानीं मन्दारकुञ्ज एव स्थितिर्बोध्या तेन मन्दारेति । परन्तु विशिष्य कथनेन सङ्कल्पसाधकता सूचिता । भावोद्दीपनेन तन्मयतया प्रियविषयिकानुरागसङ्कल्प उत्पन्नस्तमेव तच्छीलतया सम्पादयतीति कल्पद्रुमस्वभावः । असमोर्द्ध शोभनत्वेन पट्टराज्ञीति । कैश्चित्तर्क्यते पट्टोक्त्या अन्या अपि राज्ञ्यः सम्भाव्या इति न तत्रैकनृपस्यैकपत्नीत्वे कथं पट्टराज्ञीत्वमसम्भाव्यं कथं वान्यसम्भावनमिति न संशयनीयम् । पट्टे महासने ईशते ऐश्वर्यं प्राप्नोति सर्व्वथा तत्समानत्वेन यज्ञविवाहाद्यभिषेकादौ । दाम्पत्येन सौभगर्द्धि प्राप्नोतीति लौकिकार्थः । ऐश्वर्ये तु ईश्वरी तन्नियामिकेति यथा 'ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम्' इति । 'नन्दसूनुपञ्जीवनीत्यर्थः ।

रसकलश

होकर मुस्कान की इससे श्रीस्वामिनी मन्दस्मिता कहलाईं। वैसे तो प्रियाजी स्वभाव से स्मितशोला—मुस्कराते रहने वाली हैं तो भी आज जो हर्षजनित हास आया है उसे सखियों से जाना जा सकता है किन्तु रोके जाने के कारण वह मुस्कान मन्द हो गई है। इस समय मन्दारकुञ्ज में ही स्थिति है ऐसा जानना चाहिये। तभी 'मन्दारद्रुमकुञ्जमन्दिरगता' कहा गया है। परन्तु विशेष रूप में 'मन्दारद्रुमकुञ्ज' कहने से इस कुञ्ज में कल्पवृक्ष के समान सङ्कल्प सिद्ध करने की शक्ति सूचित होती है। भावोद्दीपन के कारण तन्मयता हुई और तन्मयता से प्रियतम के विषय में अनुराग का सङ्कल्प उदय हुआ। सङ्कल्प को 'काम पूरक' स्वभाव के कारण सम्पन्न कर देना यह कल्पवृक्ष का स्वभाव है। फिर श्री राधा के समान दूसरी कोई सखी नहीं हैं। फिर उनसे बढ़कर तो कौन हो सकता है इसी लिये श्री राधा पट्टमहिषी या पटरानी हैं।

यहां कई लोग तर्क उठाते हैं कि पट्टमहिषी कहने से समझा जाता है कि अन्य रानियां भी हैं किन्तु ऐसी सम्भावना ठीक नहीं है। श्याम यहाँ श्री वृन्दावन के एक राजा हैं। तब श्री राधा जी का पटरानी होना कैसे सम्भव हो सकता है, और श्री श्यामसुन्दर को अन्य पत्नी की सम्भाना कैसे की जा सकती है इत्यादि शंकाएँ यहाँ पर न करनी चाहिये पट्ट नाम है महासन या सिंहासन का, उस पट्ट या महासन पर ऐश्वर्य को प्राप्त हुई। सर्वथा श्याम सुन्दर के समान होने से यज्ञ सम्बधी और विवाह आदि सम्बधी अभिषेक आदि में दाम्पत्य भाव या पति-पत्नी भाव से सौभाग्य समृद्धि को प्राप्त होती हैं। अतः पट्टेश्वरी कहलाती हैं, यह लौकिक अर्थ है। ऐश्वर्यपक्ष में ईश्वरी का अर्थ नियामिका है जैसा कि ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम्' इत्यादि और नन्दसुनुसञ्जीविनी' इत्यादि शब्दों द्वारा कहा गया है। अथवा इनसे ही उस

यद्वा तयैव तत्पट्टासनं शोभत इति । या एवं भावाविष्टा सा मां पातु, एवमेवानन्दं सदैव ददात्विति, तदेवास्मत्पालनमिति । अथवा लीलापक्षार्थमाह ! वेशविनिमये तेनापि प्रियावेशः कृतस्तदानीं कौतुकाविष्टश्रीमतीनिदेशेन श्यामवर्णाः सख्य एकतः श्यामसखीदिशि कृतास्तासु स्वामिनीत्वेन शोभमानां तां दृष्ट्वाह । श्यामामण्डलमौलिमण्डनमणिरिति स्वरूपवर्णगतोऽर्थः । इदानीं दर्शनीयेयं पुनरन्तःश्यामा श्रीमती तद्विषयिकानुरागेण स्फुरद्रोमोद्भेदेन विभाविता ज्ञेया इयं स एवेति परमासक्तरसिकमौलिरिति आकृतिः स्वरूपं यस्याः । तत्राप्यहो कौतुकाश्चर्ये काश्मीरलेपेन प्रियानुकरणार्थं गौरी कृत्रिमा छविर्यस्याः सा उक्तलक्षणा अत एवोन्मदकामकेलिभ्यस्तरला चलितेत्यर्थः । 'स्वभावो दुस्त्यज' इति 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किङ्करिष्यति' इति । हासः कुत्रेत्यपेक्षायं मन्दारकुञ्जेति ।

रसकलश

पट्ट या महान् आसन की शोभा होती है । जो उस प्रकार के माधुर्य और ऐश्वर्यभाव से विशिष्ट हैं, वे श्री राधिका हमारी रक्षा करें, हमारा पालन करें । अर्थात् ऐसा ही आनन्द सदा देती रहें । वही हमारा पालन करना होगा ।

अथवा लीलापक्ष का अर्थ कहते हैं—प्रिया-प्रियतम ने परस्पर वेशविनिमय कर लिया है प्रियतम ने पूर्णतया प्रिया जी के वेश को धारण कर लिया है उस समय कौतुहल से आवेश में हुई और राधा जी की आज्ञा से श्याम वर्ण वाली सभी सखियां एक ओर श्यामसखी की दिशा में गई । उनमें स्वामिनी के स्वरूप में शोभा प्राप्त करती हुई श्री राधा जी को देखकर कहते हैं—'श्यामा मण्डल के मौलिपर मण्डन' यहां श्यामा मण्डल शब्द में स्वरूप और वर्णगत अर्थ है । अब यह श्री मती दर्शनीय हैं जो अन्तः श्याम हैं क्योंकि श्याम विषयक अनुराग से स्फुरित हुए रोमोद्भेद या रोमाञ्च से विभाविता जानी जा सकती है आकृति जिनकी, अर्थात ये वे ही परम आसक्त रसिक मौलि हैं, उस पर भी अहो ! यह कौतुक तथा आश्चर्य अर्थ में है आश्चर्य यह है कि काश्मीर या कुङ्कम के लेपन से प्रिया जी का अनुकरण करने के लिये इन्होंने बनावटी गौर कान्ति अपना ली हैं। यह इन ऊपर कहे गये लक्षणों वाली हैं तभी उन्मद काम क्रीड़ाओं के लिये तरल या चञ्चल हैं यह तात्पर्य है क्योंकि स्वभाव का त्याग करना कठिन है, ' प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के आधीन होते है वहां निग्रह या रोक-थाम क्या कर सकते हैं ।' इत्यादि परिहास किया गया है ।

अब प्रश्न होता है कि ऐसी श्यामा कहां है ? उस पर कहते हैं कि मन्दारद्रुम कुञ्ज मन्दिर गता' मन्दार वृक्ष वाले कुञ्ज रूपी मन्दिर में गई हुई हैं । वहाँ जाती हुई

अत्र स्मितभावोऽनेकभङ्गिकः सहृदयहृदयङ्गमः । अहो मद्भाग्यमहमप्यासज्या जातेति अपि च कथमेतन्निर्वहामि । मम तु महदशक्यं दृश्यते । तावद्रोमाञ्चितान्यपि न रुद्धानि । किङ्कुर्यामिति स्मितं जातम् । अत एवतत्साधनार्थं कल्पद्रुमकुञ्जे गत्वा साधयामीति श्रीवृन्दावनतरुमेवाश्रये येन सर्व्वं सम्पद्यतेति भावः । अतो गोविन्द एव पट्टेश्वरी जाता । गाँ दृष्टिं विन्दति रूपासक्त्या तदुपजीवकः, अत्यासक्तो दास्यलालसः, सोऽपीश्वरी स्वामिनी वेशः । अर्थादुपरितः किञ्चित्तथैव सम्पन्नं तदानीं हिताल्या शिक्षितम्, यदि प्रियारूपं दधासि तदा तच्छीलेन लज्जाधैर्यावगुण्ठनादिना किञ्चिद्वर्तितव्यम्, न च मध्ये कापट्यमुद्धाटनीयमित्युक्त्वा मन्दस्मितां दृष्ट्वा वक्ति मां पातु; सहायं कुरु मच्छिक्षाँ निर्वाहयेत्यर्थः । रक्ष, मदुपहासो न स्यादिति कटाक्षः ।

एवं संविदं कृत्वागत्य प्रियां वृत्तं कर्तव्यञ्च विज्ञापयति—

रसकलश

मन्दिर मुस्कान करती जाती हैं यहां पर मुस्कान के अनेक तात्पर्य हैं जिनको सहृदय जन-जान सकते हैं । 'अहो मेरे भाग्य हैं जो मैं भी प्रीति का विषय हो गई । किन्तु अब इस आसज्या भाव को कैसे निभाऊँगी, मुझे तो अत्यन्त अशक्य दिखाई देता है । पहले तो रोमाञ्च ही नहीं रुके क्या करूँ ।' यह सोचकर मुस्कान आई । अब आसज्या पद की साधना करती हूँ इस प्रकार श्री वृन्दावद के वृक्ष का ही आश्रय लेती हूं जिससे सभी मनोरथ सिद्ध हो जाएंगे यह तात्पर्य है । अहो गोविन्द ही पट्टेश्वरी बनकर आ गए । गोविन्द के नाम में गो अर्थात् दृष्टि उसे प्राप्त करने से इनका नाम गोविन्द है । दृष्टि विषय रूप में अत्यासक्त होने के कारण उसी से उपजीवित रहते हैं, अति आसक्त रहते हैं और प्रियाजी के दास्य या कैङ्कर्य की लालसा रखते हैं । वे भी अपनी स्वामिनी के वेश को धारण किये रहते हैं । अर्थात् ऊपर से कुछ वैसे ही हो गए । तब श्रीहितसखी जी ने सिखाया कि यदि प्रिया जी का रूप धारण करते हो तो उनके स्वभाव के अनुसार लज्जा, धर्य, अवगुण्ठना आदि के साथही कुछ व्यवहार करना चाहिये, बीच में कभी कोई कपट भाव नहीं दिखाना चाहिये । इतना कह कर और उन्हें मन्द मुस्कान वाली देखकर फिर कहती हैं—मेरी रक्षाकरो,मुझे अपनी सहायिका बना लो अर्थात मेरी शिक्षा का निर्वाह करो । मेरी रक्षा करो, जिससे मेरा उपहास न हो । यह कटाक्ष से कहा है ।। १२१।।

श्रीहित सखी जी इस प्रकार निवेदन करके फिर आकर प्रिया जी को अब तक जो कुछहुआ है, और जो कुछ करना है, उसके लिये पुनः निवेदन करती हैं ।—

उपास्यचरणाम्बुजे व्रजभृतां किशोरीगणै-
र्महद्भिरपि पूरुषैरपरिभाव्यभावोत्सवे।
अगाधरसधामनि स्वपदपद्मसेवाविधौ,
विधेहिमधुरोज्ज्वलामधिकृतिं ममाधीश्वरि ॥१२२॥

हे व्रजभृतां किशोरीगणैरुपास्यचरणाम्बुजे । व्रजस्य स्फुटेऽर्थेतु प्रियं प्रति कटाक्षः । आदरे बहुत्व श्रीव्रजराजस्य किशोर्य इत्यर्थः । एषा नन्दराजतनयापि त्वच्चरणमुपासितुमीष्टे तदान्या का वार्ता । यद्वा सामान्ये बहुत्वं व्रजराजसदृशानामपि किशोरीभिरिति । ननु तनया तु न श्रुता । अथ पुंस्त्वं विस्मृतं चेत्कथं विस्मृतं तत्राह—महद्भिरपि पूरुषैरित्यत्रापि पूर्ववद् बहुत्वम्, यथा—'निष्किञ्चना वयं शश्वद्' इति रुक्मिणीं प्रति श्री कृष्णोक्तेः, यथा च गीतगोविन्दे'—तदुदितभयभञ्जनाथ यूनां त्वदधरेतिवदुक्तिरीतेरदोषः । तैर्भवत्या भावोत्सवोऽपरिभावनीयस्तदा रसोत्सवः कुतस्तरामिति । अतस्त्वत्पदसेवार्थं सखीवेषो धृत इति । महत्त्वं पुरुषोत्तमत्वं प्रसि

रसकलश

हे व्रजपतियों के किशोरीगणों द्वारा उपासनीय चरण कमलों वाली, महान्-महान् पुरुषों से भी अज्ञेय भावोत्सव वाली अधिस्वामिनी अपने चरण कमलों की अगाधरस की धाम भूत सेवा में मेरे लिए मधुर और उज्वल अधिकार प्रदान करो ॥१२२॥

हे व्रजपतियों के किशोरी गणो द्वारा आराधनीय चरणों वाली ! व्रज के स्पष्ठ अर्थ में तो प्रिय के प्रति कटाक्ष किया गया है । आदर में बहुवचन हैं जिसका अर्थ है श्राव्रजराज को किशोरियाँ । यह नन्द राजा को राजकुमारी भी तुमारे चरणों की उपासना करना चाहती है तब दूसरों को क्या बात अथवा सामान्यः या जाति अर्थ में बहुवचन हैं जिसका अर्थ हैं ब्रजराज जैसों का भी किशोरियों द्वारा आराधनीय चरणों वाली । अब प्रश्न होता है कि नन्द राज को तो कोई पुत्री नहीं सुनो गई । यदि कहो कि सन्तति श्रीकृष्ण ने पुरुषत्व भुला दिया है तो प्रश्न होता है कि पुरुषत्व क्यों भुलाया ? उस पर कहते हैं । 'महान् पुरुषों के द्वारा भी, यहां पर भी बहुवचन आदर के लिये या जाति अर्थ बताने के लिये हैं । जैसे श्री कृष्ण भगवान् ने रुक्मिणी जी के प्रति कहा था कि हम निष्किञ्चन या निर्धन हैं । और जैसे गीतागोविन्द में 'युवकों के उस काम से उदित हुए भय का निवारण करने के लिए तुम्हारे अधर' इत्यादि में युवकों के लिये जैसे बहुवचन कहा गया है । अतः कोई दोष नहीं हैं । उनके द्वारा आपके भावोत्सव का परिज्ञान नहीं पाया जाता तब भला रसोत्सव को तो वे क्या ही जान सकेंगे । तभी आपके चरणों की सेवा प्राप्त करने के लिये सखी वेष धारण किया । यही उनकी महत्ता है । पुरुषो-

द्धमेव तेन दास्याशक्यत्वात्किशोरीत्वेन दास्यं कर्तुं शक्यमिति महत्त्वा-द्युपेक्षा। एवं वृत्तमुक्त्वा कर्तव्यमाह—'अगाधेति। स्वसख्यं दाम्पत्येऽपि विस्मृत्य पूर्णभावेन सेवास्वादार्थं तादृशनित्यविहार्य्यपि वेषान्तरेणाभिलषति तादृशगम्भीरो रसस्तस्य धामन्यास्पदे स्वपदपद्मसेवाविधौ यस्याः श्याम-सख्या इति प्रस्तुतागतां कृतिं विधेहि विधानं कुरु यत्त्वं मत्पदसेवां कुर्विति। हे ममाधीश्वरीति अर्थात्कदापि मम प्राणसख्या वचनमनुल्लङ्घितवती अतो मन्दारकुञ्जे गन्तव्यं तन्मनोरथः पूरणीय एव। किञ्च भवत्या विरुद एव भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुमिति महत्त्वापरिभावनीयभावोत्सवं ज्ञात्वा येनैवंभावो भावोत्सवः कृतस्तदा रसधामसेवाविधानं कार्यमेवेति। अत एव कीदृशीं कृतिं मधुरोज्ज्वलामिव महामधुरश्शृङ्गाररूपामिव। इवेति पूर्वं दास्यावेशेन रूपान्तरेण संवलितत्वात्तत्सदृशीमिव, अर्थात्पश्चान्मधुररसः पर्य्यवस्यत्येवेति।

रसकलश

त्तमता तो उनकी प्रसिद्ध ही है' किन्तु पुरुषत्व या पुरुषोत्तमत्व के द्वारा श्री राधा जी का दास्य नहीं किया जा सकता, किशोरीभाव से तो किया जा सकता है अतः वे अपनी महत्ता की उपेक्षा करके किशोरी भाव धारण कर लेते हैं। इस प्रकार जो है या हो चुका है उसका वर्णन करके भविष्य में अपने कर्तव्य का निर्देश करते हैं। अगाधरस कहने तात्पर्य यह है कि पति--पत्नी होते हुए भी अपने सख्य भाव को भुला कर पूर्ण भाव से सेवा का आस्वाद लेने के लिये नित्य विहारी होते हुए भी अन्य वेश धारण करके दास्य भाव की अभिलाषा करते हैं। वैसे गम्भीर इनके धाम अधिष्ठान में अपने चरण कमलों की सेवा विधि में इस श्याम सखी जो लीला में आई है को अधिकार दो या विधान करो कि तुम मेरे चरणों की सेवा करो। हे मेरी स्वामिनी अर्थात् तुम मुझे अपनी प्राण सखी के मनोरथ को पूरा करो।

एक बात और है कि आपका तो स्वभाव प्रसिद्ध ही है'। कि 'भावोत्सव से भजन करने वालों के लिए आपकी चरणरेणु रस की कामधेनु है'! महत्ता के द्वारा जाने भी न जा सकने वाले भावोत्सव को जान कर जिसने इस प्रकार का भावोत्सव किया उसके लिये रस के धाम की सेवा का विधान करना ही चाहिये। अतएव कैसी कृतियाँ कैसा विधान, जो मधुर और उज्वल हैं महा मधुर और शृङ्गार रूप है। इव या जैसी का तात्पर्य यह है कि दास्य के आवेश के साथ रूपान्तर से संवलित होने के कारण उसके जैसी अथात अन्त में मधुर रस में पर्यवसान होता ही हैं। अथवा 'पट्ट' इस

अथवा पट्टेत्यनेन विवाहानुकरणमपि व्यज्यते तत्र श्यामसखीसङ्केत-स्तु कृत एव । तथा यूथेश्वरीणां ललितादीनां मध्ये कतिचित्पुरुषवेषायिता-स्तासां व्रजानुगतं नाम धृतम्, नन्दोपनन्दरुचिभान्वादिनामानि वा श्रीदाम-सुबलादीनि धृतानि महद्भिरिति वक्ष्यमानत्वात् । तत्र प्रतीहारैः पुरुषा निवार्यन्त एव । अथ मन्दारनिकुञ्जान्तर्दम्पती प्राप्तौ तत्र शय्यास्थितां प्रियां स्त्रीपुंवेशायितसखीवृत्तं निदयति । किशोरीगणैस्त्वमुपास्यस एव व्रजभृतां यूथेश्वरीणां मध्ये कतिचिभिरिति शेषः । यैर्महद्भिः पूरुषैः पुरुष-वेषैर्न परितो भावनीयो दृश्यो भावस्येत्थंसङ्केतितरहस्योत्सवो यस्याः । अर्थात्ते च दूरस्थितास्तान् पश्येत्यर्थः, न च तैः सङ्कोचः कार्य इमयुक्तिरपि नृपोचितलीलैव । नात्रापरिभाव्यत्वं शङ्क्यम् । मुख्यसचिवकार्यमेव यथावृत्तनिवेदनमिति हितालया कृतम्, अतः परं रसरूपसेवायां या विधी-यते तां कृतिं विधेहीति सर्वमन्यत्सम्पन्नम्, आज्ञां कुरु, किङ्कुर्याम्' अर्थाद-धुना श्रीमत्या मधुरोज्ज्वलकृतिः श्रृङ्गारलीलैवार्हा पत्यनुकरणाद् इव

रसकलश

शब्द से विवाह का अनुकरण व्यक्त होता हैं। उसमें श्याम सखी का संकेत तो किया ही गया है तथा यूथेश्वरी ललिता आदि के मध्य में वे कुछ पुरुष वेष धारण किये हुए भी हैं उनके व्रज के अनुरूप नाम रखे गये, नन्द, उपनन्द, रुचिभानु इत्यादि अथवा श्री दामा, सुबल इत्यादि नाम रखे गये। महान् इत्यादि आगे कहेंगे सो वहां द्वारपालों के द्वारा पुरुषों का निवारण किया ही जाता है।

अब मन्दार कुञ्ज के अन्दर युगल सरकार पधारे, शय्या पर विराजमान हुई प्रिया जी के प्रति सखियों के द्वारा स्त्री-पुरुष वेष धारण करने के वृत्तान्त को कहते हैं। किशोरी गण के द्वारा तुम्हारी उपासना की जाती है। यहां व्रजभृतयूथेश्वरी हैं। उनके बीच से यह अध्याहार कर लेना चाहिये। महापुरुषों के या पुरुष वेष धारियों के भी द्वारा न देखा जा सकने वाला है भावोत्सव जिसका। भाव अर्थात् इस प्रकार का संकेतित रहस्य का उत्सव। यहाँ उनके द्वारा न देखा जा सकने वाला' कहने का तात्पर्य है कि वे भी दूर ही ठहरी हैं उनको देखो, उनसे कोई संकोच नहीं करना चाहिये यह उक्ति भी राजोचित लीला ही है अपरिभव्य या अन्तर्कार्य होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये। मुख्य मन्त्री का यह कार्य हो है कि बीती हुई बातों का राजा को ज्ञान कराये वही काम यहाँ श्री हित सखी जी ने किया है। इसके बाद रस रूप सेवा में जो कुछ किया जाता है उस कृति को करो इस का तात्पर्य है कि और सब कुछ तो हो गया है अब आप आज्ञा करें कि क्या करू । अर्थात् अब श्री मती जी की मधुर और उज्जवल कृति—श्रृगार लीला—उचित है पति का अनुकरण करने के कारण यहाँ 'इव' या

शब्दः यथा प्रथमसमागमे वरवर्णिन्या मुखनिरीक्षादिव्यवहारः क्रियते तथैव कार्यं इति भङ्गिकं प्रेरणार्थं व्यङ्ग्यम्। अतोऽग्रे आनम्रेति वर्ण्यत एव। मुक्तकपक्षे व्रजभृतामित्यत्र रुचिभान्वादीनां किशोर्यो ललिताद्या इति व्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणित्वमुक्तम्। व्रजान्वयं विना ममत्वसम्बन्धो न स्यात्, तं विना च न तादृशोपासनास्वादः। अतः पूर्णप्रीतेर्व्रजेत्युक्तम्। किशोरीति तादृशगोपीभावेनैव सेव्यत्वञ्च। महद्भिर्ब्रह्मेश्वरशेषसनकनारदादिभिर्जगत्पूज्यप्राप्तमहत्त्वैर्निजमहत्त्वबलेन पुँभावेन चापरिभाव्यो भावोत्सवस्तदा कथं साक्षात्प्राप्तुं शक्य इति। कृतिमिति परिचर्य्यायां सापि मधुरोज्ज्वलरूपैव नतु क्रियार्थत्वेन रूक्षतया वैधीशङ्क्या, अतोऽनुरागात्मिकैव। किञ्च साधनेऽपि रसरूपत्वं साध्ये त्वस्त्येव। इवेत्यनेन इहः सेवनकर्त्र्यासर्वमिथुनविहाररूपानुभवास्वादः प्राप्यते। साक्षान्मधुरकृतिरस्तूभयोरेव परन्तु सख्या अपि तदुपयोग्युपकरणताम्बूलपानकासवव्यजनतल्पाकल्परचन-

रसकलश

जैसा' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे प्रथम समागम में वर वर्णिनी का मुख देखता है इत्यादि व्यवहार किया जाता है वैसा ही आपको भी करना चाहिये इस अभिप्राय से यह प्रेरणार्थक व्यङ्ग्य है। इसी लिये आगे 'आनम्रानन' इत्यादि पद्य में वर्णन किया ही गया है।

जब प्रत्येक पद्य को मुक्तक मानकर व्याख्या करते हैं तब व्रज भृन शब्द से रुचि भानु आदि लिये जाते हैं और उनकी किशोरी ललिता आदि हैं। तभी श्री राधा को ब्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणि, कहा गया है। जब तक ब्रज सम्बन्ध नहीं होता तब तक ममता का प्रसङ्ग नहीं बैठता और ममता के बिना वैसी उपासना का आस्वाद नहीं मिलता। अतः पूर्ण प्रीति के कारण 'ब्रज भृत' इत्यादि कहा गया है। किशोरी शब्द से उस प्रकार के गोपी भाव से ही सेवा होना, तथा महान् ब्रह्मा, ईश्वर, 'शिव' सनक, नारद आदि जगत्पूज्य होने के कारण महत्ता को प्राप्त हुए पुरुषों द्वारा भी अपनी महत्ता के बल से और पुरुष भाव से भावोत्सव को समझना कठिन है, तब साक्षात् प्राप्त करना तो कैसे सम्भव हो सकता है। कृति शब्द परिचर्या का वाचक है, वह परिचर्या भी मधुर और उज्वल रूपा है क्रियार्थक होने से रूखेपन के कारण यह कोई वैधो परिचर्या नहीं समझनी चाहिये। अतः यह परिचर्या भी अनुरागात्मक ही है।

एक बात और है कि यहाँ साध्य में तो रसरूपता है ही साधन में भी रसरूपता है। 'इव या' जैसा कहने से एकान्त में सेवा करने वाली के द्वारा सम्पूर्ण युगल विहार इसके अनुभव का अस्वाद प्राप्त किया जाता है इससे साक्षात् मधुर कृति प्रिया-प्रियातम की ही है परन्तु सखी की भी उसके लिये उपयोगी उपकरण ताम्बूल, पानकरस, आसव

समीकरणकथानकप्रहेलिकावार्तादिसाधकत्वाच्छृङ्गारसदृश्येव कृतिः, तत्र ताम्बूलचर्व्विते तदुच्छिष्टे पानकादौ उभयमधुराधरास्वादानन्दः। उपमर्द्दितमाल्यादिधारणे तत्तल्लीलानुभवः। अन्यच्च दम्पत्योस्तु प्रत्येकं स्थविष्ठनिजानन्दः आसान्तु तत्सुखसुखित्वेन समस्तससारभोक्त्रीत्वम्। यथोक्तम्—'किं ब्रूमोऽन्यत्र' इत्यत्र 'सकलमपि ददौ राधिका किङ्करीणाम्' इति। एवं दास्यरसे शृङ्गाररस उपवर्णितः। विधौ विधानमिति ममापि तादृशप्रेष्ठश्रेष्ठकिशोरीरूपायाः श्रीमुखोक्त्या त्वमेव कुर्य्यास्त्वद्विधेयेयं सेवेति किमानन्ददं स्यादिति। प्रेरणार्थस्तु निजनिदेशं विना प्राप्तुं कर्तुं वा शक्यमिति दौर्लभ्यद्योतनात्मकः। अधीति अहं वृषभानुगृहोद्भवदासी, त्वञ्च मल्लालनीयाऽनन्यममतास्पदा स्वामिनीत्यन्वयेनाधिकृतेश्वरीति बोधकः। अगाधेति कुत्रचिल्लक्ष्म्यादौ भक्तपर्यवसायित्वान्न रसत्वम्। अत्र

रसकलश

पंखा, शयया, वेषरचना, वस्त्रभूषण ठोक करना, कथानक, वार्ता आदि के साधन अपेक्षित होने के कारण शृंगार के अनुकूल ही कृति, यहाँ विवक्षित है। जैसे वहां पान के चबाये जाने पर उसके उच्छिष्ट प्रसाद में, पियाप्रियतम दोनों के मधुर अधरों के अस्वाद का आनन्द और मसली गई माला आदि के धारण करने पर उस लीला का अनुभव प्राप्त होता हैं। और प्रियाप्रियतम के प्रत्येक स्थूल निज आनन्द को तो प्राप्ति है। किन्तु इन सखायों को तो तत्सुखसुखी होने के कारण समस्त रससार कोभोंक्ता होने का सोभाग्य प्राप्त ही है। जैसा 'किं' ब्रूमोऽन्यत्र इत्यादि पद्य में कहा गया है कि श्री राधा ने किंकरियों को सर्वस्व दे दिया। इस प्रकार दास्यरस में शृंगार रस का वर्णन किया गया है। । विधि में विधान यहाँ वैसे प्रियतम और श्रेष्ठ किशोरी श्री स्वामिनी ने मेरे मुख से कहा कि तुम्हो यह काम करो, यह सदा तुम्हारे ही करने की है इस प्रकार के आनन्द देने वाले वचन क्या मुझे प्राप्त होंगें। इस प्रकार के प्रेरणार्थक वचन इस लिये कहे गये हैं क्योंकि उनके अपने आदेश के बिना ऐसे सेवा-अवसर प्राप्त नहीं किये जा सकते, इस प्रकार इनकी दुर्लभता द्योतित होती है। अधीश्वरी शब्द में अधिशब्द यह बताता है कि मैं श्री कृषभानु जी के घर में उत्पन्न हुई दासी हूं और तुम मेरी लालनीया अतिशय ममता की पात्री स्वामिनी रही हो। इसी सम्बन्ध से वे अधिकृत ईश्वरी हैं यह सूचित होगा है। अगाध शब्द कहीं अन्यत्र लक्ष्मी आदि भक्त रूप मे पर्यवसित होते है अतः वह रस नहीं बन पाता। यहाँ पर तो केवल रस रूप में पर्यवसान होता है। जैसा कि—राधा से माधव और माधव से राधिका सखीगणों के मध्य में सुशोभित होती हैं, इत्यादि और 'वह रस रूप ही है' ऋक्परि-शिष्ट वचन से यह एक रस ही दो रूपों में प्रकट हुआ है राधा रूप में और माधव रूप में इत्यादि इस प्रकार समान रूपता और एक रूपता के कारण इनमें अन्तर नहीं है यह ऐश्वर्य

तु केवलरस एव पर्यवसायित्वात् यथा 'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका । विभ्राजन्ते जनेष्वा' इति 'रसो वै सः' इति । 'एको रसो द्विधाभूतो राधा माधवरूपकः' इति समानैक्यरूपत्वान्नान्तरत्वमित्यैश्वर्यं माधुर्ये तु क्षण क्षण नवनव रसोल्लासदायित्वं निरवधित्वम्, एवमन्येऽपि सहृदयगम्या भावोदधितरङ्गा ज्ञेयाः ।१२२।

आन्तरलीलार्थे एवं सरसहितालीविज्ञापनमुपश्रुत्य मन्दारकुञ्जे शय्यामुपविश्य प्रथमसमागम इव कान्तामुखमवलोकयति । तदानीन्तनकुञ्जशय्योपकरणसखीश्रृङ्गाराभ्युदयिकगानमाङ्गल्योत्सवादितत्तत्सौष्ठवं परमरसदं सहृदयैर्भावनीयम् । प्रस्तुतमाह—

आनम्राननचन्द्रमीरितदृगापाङ्गच्छटामन्थरं
किञ्चिद्दर्शिशिरोवगुण्ठनपटं लीलाविलासावधि ।
उन्नीयालकमञ्जरीः कररुहरालक्ष्य ते नागर-
स्याङ्गेऽङ्गं तव राधिके सचकितालोकं कदा
लोकये ।।१२३।।

रसकलश

माधुर्य में प्रतिक्षण नवीन-नवीन रस का उल्लास देना और निरवधि या निःसीम व्यङ्ग्य है, इस प्रकार की अन्यभी भावसागर की तरंगें सहृदयों के यहाँ जान लेनी चाहियें ।। १२२ ।।

आन्तरिक लीला के अर्थ में प्रसङ्ग योजना इस प्रकार होगी । इस प्रकार सरस हित सखी की विज्ञप्ति सुनकर मन्दार कुञ्ज में शय्या पर विराजमान होकर प्रथम समागम के अवसर के समान कान्ता या प्रिय जी का मेल देखते हैं, उस समय के कुञ्ज में शय्या और उसके उपकरण, सखियों द्वारा किया जाने वाला शृङ्गार, अभ्युदय सम्बधी गीत, मङ्गलाचार, उत्सव आदि सभी का वह अत्यन्त परम रस देने वाला है जो सहृदयों द्वारा भावना से जानने योग्य है, वही प्रस्तुत हे उसी का वर्णन हे —

हे राधिके, कुछ झुके हुए मुख चन्द्र वाला प्रेरित कटाक्ष की छटा से मन्थर कुछ दिखाई पड़ने वाले सिर पर के घूंघट पटवाला, लीला और विलास की अवधि बना हुआ कामिनी वेषधारी नागरबरके अङ्ग को अंगुलियों या नखों से ऊँचा उठा कर देखती हुई ऐसी तुम्हारे विस्मय पूर्ण अवलोकन को मैं देखूंगी । १२३

हे राधिके सख्यसंसिद्धिवनीयसि तव नववनविलासोत्सुकायाः सचकिता-लोकं कदा लोकये इत्यन्वयः। कदेत्यपेक्षायां यदा त्वया नागरागमो लक्ष्यते तदेत्येव यत्तदावध्याहार्यौ तदेवाह। यदावलोकनारम्भः कृतस्तदैव तेन नीचीनं मुखं कृतं तदा त्वया कररुहैरङ्गुल्यग्रैर्नखैरलकमञ्जरीरुन्नीय आनम्रेत्यादि चतुर्विशेषणविशिष्टमङ्गं मुखनेत्रादीङ्गितं नागरस्य कान्ता-वेषस्याङ्गे वपुषि आ समन्तादौत्सुक्येन लक्ष्यते दृश्यते। अहो कीदृग्वेषो रचितः कथं नवकान्तेव करोति। स्वस्य च तद्वेषानुकरणौत्सुक्यं केनाभि-लाषतारल्येनावगुण्ठनं दूरीकृत्यावलोकनादि कुर्वे इत्यादि विशेषणमाह। आ ईषन्नम्रो मुखचन्द्रो यत्र। अहो चकोरोऽपि चन्द्रो जातोऽस्मीति लज्जा-विर्भावः। कथं समक्षमवलोकये चन्द्रेत्याह्लादकत्वं तदानीं दर्शनीयमेवेति सप्रियासखीहृदयसाक्षिकं, ईषदिति कथमिदानीं प्रियामुखचन्द्रस्यापि साभि-लाषदर्शनौत्सुक्यं मयि वर्त्तते तत्पश्य, इति चकोरवत्तदिङ्गितदर्शनमाह।

रसकलश

हे राधिके, सख्यभाव की संसिद्धि का दान देने वाली, नवीन विलासों के लिये उत्सुक ऐसो तुम्हारे विस्मय युक्त अवलोकन को मैं कब देखूंगी यह अन्वय हैं। कब यह शब्द अपेक्षा में है जब तुम्हारे द्वारा नागरवर के श्री अङ्ग का दर्शन किया जायेगा तब ही। इस प्रकार यहाँ यदा और तदा अर्थात् जब और तब का अध्याहार कर लेना चाहिये इसी वस्तु को कहते हैं देखना प्रारम्भ किया तभी उन्होंने मुख नीचा कर लिया तब अपनो अङ्गलियो के अग्र भागों या नखों से अलक रूपी मञ्जरी को ऊँचा करके आनम्र इत्यादि चार विशेषणों से विशिष्ट कामिनी वेष धारी प्रियतम श्री अङ्ग—मुख नेत्र आदि के इङ्गित के चारों ओर से बड़ी उत्सुकता से लक्षित या दर्शनी किये। अहो ! कैसा वेष रचा हैं क्यों नवीन कामिनी कोसो चेष्टा करते हैं, और अपनी भी उनके वेष का अनुकरण करने को उत्सुकता किस अभिलासा की तरलता या चञ्चलता से घूंघट पट दूर करके अवलोकन आदि करती हूं इत्यादि विशेषणों को बताते हैं।

'आ' या थोड़ा सा नम्र या झुका हुआ है मुख रूपी चन्द्रमा जहां पर, अहो चकोर भी चन्द्रमा हो गया हूँ यह सोचकर लज्जा का आविभाव हुआ सामने कसे देखूं। मुख को चन्द्रमा कहने का तात्पर्य है। कि चन्द्रमा में अह्लादकता है तभी वह मुख दर्शनीथ है इस बात में प्रियाजी सहित समस्त सखी जन के हृदय साक्षी हैं। यहां पर आ या ईषद् या थोड़ा सा कहने का यह तात्पर्य है कि इस समय प्रियाजी के मुखचन्द्र को भी दर्शना मिला षी (प्रियतम और सखीजनों) को दर्शन देने की उत्सुकता है अतः मैं देखती हूं। यह दशन चकोर के द्वारा चन्द्र दर्शन जैसा है। अब उस कुछ झुके हुए मुखचन्द्र के इङ्गितों

ईरिते दृशोरपाङ्गे तयोश्छटा दृष्टिलाघवसुष्ठुता मन्थरा मन्दा यत्र। किञ्च समक्षं नावलोकयति। अपाङ्गेन वीक्ष्य झटिति परावर्त्तितव्ये स्वशीलेन द्रष्टुमभिलाषोऽपरिहार्य्यौ, लज्जापि च रक्ष्या, अतोऽपाङ्गच्छटानां तत्रैव स्थगनम्। पुनश्च किञ्चिदर्शनकारयिता शिरोवगुण्ठनपटो यत्र। अवगुण्ठनमपि एवं कृतं, येन दर्शनान्तरायो न स्यादिति। अवगुण्ठनसमीचीनता तु सखीकृता, तत्र किञ्चिदिति तच्छीलसूचकम्। एवमीषदिति मान्थर्य्यमपि च तत्सूचकम्, सर्वाङ्गेषु लीलाविलासयोरवधित्वम्। अनेकाकूतानुगतबहिस्तच्चेष्टा लीला। अथवा प्रियानुकृतिरिति। लज्जावाम्यस्पर्शजाधिक्षेपावगुण्ठनदाढर्याङ्गाकुञ्चनादिमयी। विलासस्तत्तदावस्थायां तत्तादृशमेव विलसनम् वा प्रियाप्रेक्षणस्पर्शादिसमये स्वाभाविकाज्ञाताङ्गविकारो विलासस्तयोरवधिः सीमान्तो यत्र। न तु निरवधित्वं किञ्चानुकृतौ पर्य्यवसाने स्वशीलप्रकाशनादतो निःसीमत्वं तु प्रियायामेवेति भावः। एवं भावमयेङ्गितमेवाङ्गं

रसकलश

का वर्णन करते हैं। चालित कटाक्षों की छटा नेत्रों को चँचलता और शोभनीयता मन्थर था मन्द पड़ गई है जिसमें क्योंकि सामने तो देखती ही नहीं है। कटाक्ष से देखकर शीघ्र ही नेत्र फेर लेने चाहियें किन्तु कामिनी वेषधारी श्रीश्यामसुन्दर अपने स्वभाव से दर्शन की अभिलाषा नहीं छोड़ सकते, लज्जा भी उन्हें रखनी ही पड़ रही है अतः कटक्षों की छटा को उन्होंने वहीं स्थगित कर लिया फिर कुछ दर्शन कराने वाला है सिर पर का घूँघट पट जिनका' इसका तात्पर्य है कि घूंघट भी ऐसा किया है जिससे वर्शन में बाधा न पड़े। उस घूँघट को सखी ने ठीक किया। यहां किञ्चित या कुछ' शब्द उनके शील स्वभाव का सूचक हैं ऐसे ही ईषत् या 'थोड़ा' शब्द भी और मन्थरता भी उसी की सूचक हैं। सब अङ्गों में लीला विलास की अवधि हो गई है। उनके अभिप्रायों के अनुकूल वे बाह्य चेष्टाएँ लीला कहलाती हैं। अथवा प्रियाजी का अनुकरण भी यहां लीला कहा गया है। यहाँ पर लज्जा प्रतिकूलता, स्पर्श से उत्पन्न अधिक्षेप (हाथ झिड़क देना) और घूँघट की दृढता तथा अङ्गों का सिकोड़ना आदि के रूप में हैं। विलास है उस उस अवस्था में उसी उसी प्रकार की विलसन अथवा प्रिया जो द्वारा देखे जाने या छुए जाने के आदि के समय में स्वभावतः अज्ञात रूप में हो गये अङ्ग विकार भी यहाँ विलास कहे जा सकते हैं उन दोनों लीला और विलास की अवधि या सीमान्त जिनमें है। न कि वे निरवयि हैं। फिर अनुकरण में पर्यवसान होने से अपने अपने शील स्वभाव का प्रकाशन किया गया है, निःसोमता वो प्रिया जी में ७५६ ही है यह भाव है। इस प्रकार भाव-

वीक्ष्य स्वस्यामपि भावाङ्कुरोदयेन निजालोके चकितत्वं ज्ञातम्, अहो कियद्वैलक्षण्यं मन्मनोऽपि मोहयतीति तावत् सौन्दर्य्याविष्टमनस्त्वम् ।

तदनन्तरं अलकोन्नयनम् । नीचीनतयावगुण्ठनपटेनालका मुखे नेत्रप्रान्ते च प्रसृतास्तेषु स्वकरनखस्पर्शो विरलीकृत्य समीकरणं शृङ्गारकौशलावलोकः । तदनु चिबुकोन्नयनमपि ज्ञेयम् । तत्र स्मितेन भाव्यं, तत् नेत्रादिभावावलोकनं, तदानीं तस्य प्रेक्षणेऽप्यपाङ्गकूणितावलोकनं, तस्याश्च किञ्चित् सशिरोधूननकटाक्षस्मितम् । तत्र किञ्चित् प्रेयोऽनुकृतिवशदैन्याभिलाषादि । तत्र स्वशीलापरिहार्य्यत्वाच्चेतो द्रुतिवीक्ष्य मनोऽधिक्षिप्य किमहमपि शीलं विग्लापयामीति चकितत्वं, यद्वा किमेताः सख्यः कौतुकं पश्यन्त्यो मद्वैवश्यं ज्ञास्यन्तीति । तदाहमन्तरङ्गिणी तत्तद्भावपर्य्यायज्ञातवत्तादृशचकितावलोकं कदा वीक्षे यद्वा चकितत्वं, आसज्येंगितं स्वाङ्गशब्दवाच्यं नागराङ्गे यथास्थितं वीक्ष्य कथमयं प्रियाभिलाषोऽस्तीति क्षणसम्भ्रमजम् ।

रसकलश

मय इङ्गित ही यहाँ अङ्ग कहा गया है उसे देखकर अपने मन में भी भावाङ्कुर का उदय होने से अपने आलोक या दर्शन में चकित होना जाना गया है । अहो, कैसी विलक्षणता है कि मेरे मन को मोहित करता है इस प्रकार से सर्व प्रथम सौन्दर्य से आविष्ट चित्त होना फिर अलकों को ऊँचा उठाना, नीचे की ओर मुख होने के कारण घूँघट के पट से अलक मुख और नेत्रों के प्रान्त में फैल गये, जब उन्हें अपने हाथ के नखों द्वारा सुलभा कर ठीक किया तब शृङ्गार के कौशल का दर्शन हुआ । उसके बाद ठोढ़ी का ऊँचा उठाया जाना भी जानना चाहिये । यहाँ मुस्कान की भावना भी जाननी चाहिये और उन उन नेत्रादिगत भावों का अवलोकन उस समय उनके प्रेक्षण में भी कटाक्ष से अवलोकन और उसके धीमे धीमे सिर हिलाते हुए कटाक्ष और स्मित करना और वहां पर प्रियतम का कुछ अनुकरण करने के कारण दीनता और अभिलाषा आदि का प्रकट होना और अपने स्वभाव को न छोड़ सकने के कारण चित्त का द्रवित होना जानकर उस पर अधिक्षेप करना कि क्या मै भी अपने शील स्वभाव को इस प्रकार ग्लपित कर लूँ और यह सोचकर चकित होना इत्यादि की भी भावना करनीं चाहिये ।

अथवा क्या ये सखियाँ कौतुक देखती हुई मेरी विवशता को भी जान जाएँगी तब अन्तरङ्गिनी भी मैं उन उन भावों की परम्परा को जानने वाली, तुम्हारे उस प्रकार के चकित अवलोक या कटाक्ष को कब देखती हूँ । अथवा चकित होना प्रीति के विषय (आसज्या) की क्रियाओं और इङ्गितों को, जो यहाँ स्वाङ्ग शब्द से कहे गये हैं उनको नागर (श्रीशामसुन्दर) के अङ्ग में यथाथित देखकर क्या यह प्रिया जी हैं या प्रियतम हैं, इस प्रकार के क्षण भर के लिए हो गए सम्भ्रम उत्पन्न हुए विस्मयपूर्ण अवलोकन को कब

अथवा मुक्तकपक्षे प्रियापक्षोऽर्थः। सेवाविधिकृतिविधानानन्तरं मधुरोज्ज्वलानुभवमाह। शय्यासमये आनन्नेति चतुष्टयं यथा स्यात्तथेत्यालक्ष्य क्रियाविशेषणम्। अलकानुन्नीय नागराङ्के प्रतिबिम्बितं स्वाङ्गं त्वया आलोक्यते तदा तव चकितत्वं कदा वीक्षे किमहमेकैव मत्सदृश्यन्या वेति पूर्वपद्योक्तमधुरता सकलकला दिग्धापि मुग्धैति। अथोज्ज्वलता तत्तत्कामभावोद्‌बोधितात्वं यथा—

अवचनं वचनं च तिरस्क्रियादृतिरतीव ननेत्युररीकृतिः।
अहसनं हसनं वसनावृतिर्विवसनं रसरीतिरहोऽङ्कवत् ॥इति॥

आनतिरेव सम्मुखवीक्षणम्। अनुद्बोधे तु साहजिकवीक्षणे सारल्यं यदोद्‌बोधस्तदा स्वयमेव स्वाभिलाषेण विलज्जतीति साम्मुख्यसूचनम्। एवमपाङ्गच्छटामान्थर्यं पश्ये न मदुद्बोधं जानीयादयमिति भङ्गिकं किञ्चिद्दर्शीति सूक्ष्माम्बरान्तरवलोकनं वा किञ्चिदुद्‌घाटनमेव सर्वोद्‌घाटनमिति। यद्वा भावशाबल्यरीति व्याख्यानम्। आनन्नेति लज्जाविर्भावस्तत औत्सुक्येन

रसकलश

देखूँगी अथवा इस पद्य को अन्य पद्यों से असम्बद्ध मुक्तक मानने पर प्रिया जी के पक्ष में इसका यह अर्थ निकलता है कि सेवाविधि की कृति या अधिकार का विधान होने के बाद अपने मधुर और उज्जवल अनुभव का वर्णन करते हैं। शय्या के समय में आनम्राननचन्द्रम्' इत्यादि चारों जिस प्रकार हों उस प्रकार यह सब देखकर क्रिया के विशेषण हैं। अलकों को ऊंचा उठाकर नागरवर के अङ्क में प्रतिबिम्बित हुए अपने अङ्ग तुम्हारे द्वारा देखे जाते हैं तब तुम्हारा चकित होना कब देखूँ। क्या मैं अकेली ही देखूँ या मेरे जैसी अन्य सखी? इसकी मधुरता पूर्वपद्य में कही गई है। समस्त कलाओं में विदग्ध निपुण होती हुई भी मुग्धा हैं। अब उज्जवलता का अर्थ है उस उस काम भाव से उद्बोधित होना। जैसे--न बोलना ही जहाँ बोलना है, तिरस्कार ही जहाँ अति आदर है न न कहना ही जहाँ स्वीकृति है। न होना ही जहाँ हास्य है, वस्त्रों से अङ्ग को ढक लेना ही जहाँ वस्त्र हीन हो जाना माना गया है ऐसी यह रसरीति अङ्क जैसी है। इसी प्रकार अनीति सामने देखना है। कामभाव का उद्बोध न होने पर तो स्वाभाविक अवलोकन में सरलता रहती हैं। किन्तु जब कामभाव का उद्बोध होता है तब अपने आप ही अपनी अभिलाषा पर प्रिया जी लज्जित हो जाती हैं, यह सम्मुख होने को सूचित करता है। इस प्रकार अपाङ्गछटा में मन्थरता को देखती हूँ जिससे वे मेरे उद्बोध को न जानें। अभिप्राय से कही गई है कि किञ्चद्दर्शि इस क्रिया विशेषण द्वारा सूक्ष्म या पतले वस्त्र के अन्दर से देखना या कुछ घूँघट खोलना या सारा ही घूँघट खोल देना जाना जाता है। अथवा अनेक भावों की शबलता की रीति की व्याख्या कर लेनी चाहिए। जिसमें 'आनम्राननचन्द्र' शब्द से

लज्जामुन्मर्द्य दृगापाङ्गे ईरिते तत एव साभिलाषत्वेन तच्छटामान्थर्यमन्यथा परावृत्येत । ततस्तमुन्मर्द्य लज्जयावगुण्ठनं कृतम् ततस्तामुन्मर्द्य किञ्चिदुद्दर्शीति कृतं पुनर्लज्जौत्सुक्यविवादे लीलायुक्तविलासो जातस्तस्यावधि निरुपममिति अन्यत्समानम् । एवं सेवाकृतौ मधुरोज्ज्वलत्वमुपवर्णितम् ।१२३।

राकाचन्दो वराको यदनुपमरसानन्दकन्दाननेन्दो-
तत्तादृक्चन्द्रिकाया अपिकिमपि कणमात्र-
कस्याणुतोऽपि ।

तदानीं शय्यास्थितिसमये परमसहृदयगम्यपरस्परभावानुभावक्रमोदिताभिलाषानुग्रहातिशये श्रीमती दानवीररसोदिततेजःप्रागल्भ्यप्रहर्षौत्सुक्य वशाधिकप्रत्यङ्गप्रसृतरूपच्छविस्मितामृतचन्द्रिकाजलधिप्रियपोषणा नुच्छलितरञ्जितपूरितनिकुञ्जरन्ध्रोपजीविसकलसखीमण्डलमुद्वीक्ष्य विक्रमविरुदे सुश्लोकयन्ती श्रीहिताली परमाह्लाद प्रेमविवशास जातीयानुल्लासयन्त्याशिषमभिवदति—

रसकलश

लज्जा 'ईरितदृगापाङ्गच्छटामन्थर' शब्द से लज्जा को दबाकर उत्सुकता और उसी कारण से छटा में मन्थरता से अभिलाषा प्रगट होती है, नहीं तो परावर्तित हो जाती है। फिर उस उत्सुकता को भी दबाकर लज्जा आई जिससे घूँघट किया गया। फिर उस लज्जा को दबाकर किञ्चिद्दर्शि इत्यादि विशेषण किया जिससे लज्जा और उत्सुकता में विवाद हुआ इसी समय लीला युक्त विलास प्रकट हुआ उसकी अवधि उपमारहित है और सम्पूर्ण व्याख्या इस पक्ष में भी पूर्वोक्त व्याख्या के समान है। इस प्रकार सेवा की कृति या विधान में मधुरता और उज्जवलता का वर्णन किया गया है ॥१२३॥

उस शय्या पर विराजमान होने के समय में परमहृदय से जाने जा सकें ऐसे परस्पर भाव, अनुभाव के क्रम से उदय हुई अभिलाषा और अनुग्रह की अधिकता जिनमें ऐसी श्रीमती दानवीररस से उदय हुए तेज की प्रगल्भता, प्रहर्ष और उत्सुकता के कारण प्रत्येक अङ्ग में अधिक फैले रूप, छवि, मुस्कान रूपी अमृतमयी चन्द्रिका के द्वारा सागर जैसे नागरवर प्रियतम का पोषण करने के बाद छलक उठे रंग गये और भर गये निकुञ्ज के रन्ध्रों से ही उपजीवन प्राप्त करने वाले सखी मण्डल को देखकर रति बिक्रम के विरुद से प्रियतम और प्रियाजी का यश गाती हुई श्रीहित सखी परम आल्हाद और प्रेम से विवश होकर अपने सजातियों को उल्लासित करती हुई आशीर्वाद कहती हैं—

'पूर्णिमा का चन्द्रमा जिन श्री राधिका के अनुपम रस और आनन्द के कन्दभूत आनन्दचन्द्र को वैसी चन्द्रिका के भी किसी छोटे से भी कणमात्र से भी वराक है तुच्छ

यस्याः शोणाधरश्रीर्विधृतनवसुधामाधुरीसारसिन्धुः,
सा राधा कामबाधाविधुरमधुपतिप्राणदा
प्रीयतां नः ॥१२४॥

सा राधा नः अस्मान् प्रीयताम् । सा का यद्यस्या अनुपमपरमानन्दकन्दाननेन्दोरिति अनुपमः, अद्वितीयः असजातीयः । यथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति ।' रसः परात्परो रसः सः श्रीकृष्णस्तस्याप्यानन्दस्तस्य कन्दं मूलभूतं यदाननमेवेन्दुश्चन्द्रस्तस्य । यद्वा तादात्विकश्शृङ्गारविहारानन्दवर्तमानत्वाद्रसानन्दकन्दत्वमुक्तम् । तस्य तदिति सैव सर्वथाभिन्नत्वतत्स्वरूपैवानुपमरसानन्दकन्देत्यर्थः । तादृक्प्रकाशविशेषाद्वितीयेवातटस्थ्येन भासमानाया चन्द्रिका तस्या अपि किमप्यनिर्वचनीयस्तादृक्प्रभावो वा बहुदूरतटस्थः कणमात्रो लेशस्तत्रापि कप्रत्ययेनात्यल्पस्तस्याप्यणुः परमाणुद्वितीयांशस्तस्मादपि राका-चन्द्रः प्रसिद्धषोडशकलापूर्णत्वेनोपमानेषु श्रेष्ठतयोद्घोष्यते, सोऽपि वराको रङ्कः अतितुच्छः । अत्राननेन्दुचन्द्रिका कणमात्र-

रसकलश

है, बेचारा है। और जिनके लाल अधरों की शोभा नवीन सुधा की माधुरी के सारभूत सिन्धु को धारण किये हुए है ऐसे काम बाधा से व्याकुल मधुसूदन को जीवन देने वाली वे राधा हम पर प्रसन्न हों ॥१२४॥

'वे राधा हम पर प्रसन्न हों। वे कौन सी ? 'जिनको अनुभव रस और आनन्द के कन्दभूत आनन या मुख चन्द्र (चन्द्रिका के कणमात्र के एक अणु से भी तुच्छ है) यहां पर अनुपम का अर्थ है जिसके जैसा दूसरा नहीं है जैसा कि उसके समान या उससे अधिक नही देखा जाता' इत्यादि मे कहा गया है । ऐसे रस परात्पर रस वे श्री कृष्ण उनके भी आनन्द का कन्द या मूलभूत ऐसा जिनका मुख ही चन्द्रमा है उनका । अथवा उस समय में शृङ्गार रस और विहारानन्द के वर्तमान होने से, रसानन्द का कन्द होना कहा गया है। यहाँ पर श्री राधा जी के मुखचन्द्र को रसानन्द कन्द कहने से श्री राधा जी जो सर्वथा निज मुख से अभिन्न स्वरूप हैं वे अनुपम रस के आनन्द की कन्द हैं यह वस्तु भी स्पष्ट होती है । उसी प्रकार के प्रकाश विशेष से अभिन्न सी होती हुई भी तटस्थ सी प्रतीत हो रही चन्द्रिका का भी कोई अनिर्वचनीय वैसा प्रभाव है अथवा । उससे भी बहुत दूर तटस्थ कणमात्र या लेशमात्र हैं उनमें भी 'क' प्रत्यय के कारण अत्यल्प कण और उसका भी अणु परमाणु का द्वितीय अँश उससे भी पूर्णिमा का चन्द्र या जो अपनी प्रसिद्ध षोडश कला के परिपूर्ण होने के कारण उपमाओं में श्रेष्ठता के कारण उद्घोषित होता हैं वह भी ७६३ वराक या रंक या अति तुच्छ सिद्ध

कारणुत इति समस्ते वक्तव्ये व्यस्तपदत्वं कथनक्रमयुक्तितारतम्यार्थम् । यथा आननेन्दोरयं चन्द्रो वराक इति तु दूरेऽस्तु, चन्द्रिकाया वराक इत्यपि न वाच्यम् । तदा तदुपादानकमहाप्रभावात् कणमात्रादपिरंक इति, किमुतत-मास्, तदल्पांशादपि रंक इति किमुततराम् । अणुतोऽपिरंक इति वाग्विलासे आयाति, तेन परमाणुत्वमागतम्, किञ्च सर्वथा तदभावे केन रसानन्दबले-नायं ब्रह्माण्डमाल्हादयेदिति हेतोः परमाणुप्रभावेणायमाल्हादयतीत्युक्तिः समीचीनेति सिद्धान्तीकृतः । परन्तु तज्जातीयप्रेमाभावादुपचारमत्र एव, अग्रपद्ये प्रेमामृतेति वक्ष्यमाणत्वात् । अनेकत्र प्रकटतारूपस्यैकस्यैकदा सर्वथा तत्स्वरूपैव सः प्रकाश इतीर्य्यते, इति ।

अनुपमेत्यस्याद्वितीयत्वेऽर्थे तादृक्चन्द्रिकोक्तिरनुपपन्ना स्यादतः प्रकाशविशेष इत्यर्थः । रसानन्दघनीभूतः । स विशेष इन्दुः चन्द्रिका तन्नि-

रसकलश

होता है। यहां पर मुख चन्द्र की चन्द्रिका के कणामात्र के अणु से, यह वस्तु समस्त (आननेन्दु चन्द्रिका कणामात्रकाणुतः) पद के रूप में कही जानी चाहिये थी तो भी व्यस्त क्रम से इस लिये कहा है कि कथन क्रम को युक्ति से तारतम्य का बोध हो सके जैसे मुख चन्द्र से यह चन्द्र तुच्छ है यह बात जाने दो, इसको चन्द्रिका से यह चन्द्र तुच्छ है यह भी नहीं कहना चाहिये उस चन्द्रिका रूपी उपादान कारण के महा प्रभाव वाले कणामात्र से भी यह चन्द्र तुच्छ है यह भी कहा जाए, उसके छोटे से अँश से भी यह चन्द्र तुच्छ है यह भी भला कैसे कहा जाए जब कि उस अँश के अणु से भी यह अति तुच्छ है । व्यस्त प्रयोग से यह वाग्लिास आता है और इससे इस चन्द्र में श्री राधा मुख चन्द्र की चन्द्रिकाके कणमात्र के अँश के अणुसे अर्थात परमाणु सेभी तुच्छता सिद्ध होती है यह परमाणु बताती है कि यदि पूर्णिमा के चन्द्र में श्री राधा मुख चन्द्र का कोई लघुतम अँश भी न होता तो वह किस रसानन्द के बल से यह चन्द्र ब्रह्माण्ड को आल्हादिया आनन्दित कर सकता है इस कारण से परमाणु के प्रभाव से यह चन्द्र इतना आह्लाद देता है कथन उचित है ऐसा सिद्धान्त किया गया है । परन्तु इस जाति के प्रेम के अभाव से यह कथन उपचार मात्र ही है क्योंकि अग्रिम पद्य में प्रेमामृत इत्यादि कहेंगे। एक रूप का एक समय में अनेक स्थानों पर प्रकट होना सर्वथा तत्स्वरूप ही होता है उसे प्रकाश कहते हैं।' अनुपम शब्द का अद्वितीय अर्थ में प्रयोग होने पर 'तत्तादृक् चन्द्रिका या' में तादृक् शब्द का प्रयोन करना युक्ति-संगत नहीं बैठेगा। अतः प्रकाश विशेष अर्थ करना ठीक हैं रसानन्दघन भाव को प्राप्त हुआ सविशेष चन्द्र हैं, ७६४ तथा उसका निविशोच प्रकाश चन्द्रिका हैं,दोनों के रसानन्द

विशेषप्रकाशविशेषः, रसानन्दत्वे न भेदः । अतस्तदितिसैवेत्युक्तम् । अन्यथा इन्दोरिति षष्ठ्यर्थं उपपन्ने तदिति तस्येत्यर्थः अनुपपद्येत । अन्यच्च पञ्चमस्कन्धे, "सर्वाप्यायनशीलत्वादन्नमयो रसमयोऽमृतमयः सर्वमय" इत्युपवर्णयन्तीत्यतः सखीनां जालरन्ध्रस्थितानां तादृशमुखेन्दुकिरणकणाल्हादातिशयवैवश्यमनुभूयसचैतन दशायामानन्दोपमायां विचार्य्यमाणायां चन्द एव स्मृतस्तदाल्हादतुलाकरणे किञ्चिदंशेऽपि न स्थितस्तदात्युक्तिनास्तिकदोषपरिहारार्थं, शाखाचन्द्रन्यायेन परमाणुपदे रक्षितः । प्रियामुखस्य कमपि मूलसम्बन्धं बिना सर्वाप्यायनामृतरसमयेतिख्यातिर्नाभविष्यत् । आनन्दकन्दत्वं तु प्रियाननेन्दावेव । तादृक्चन्द्रिकयाप्रियपोषणं तत्कणानां कुञ्जव्याप्तिपूर्वकसखीपोषणं ज्ञेयम् । कणे परानन्दानुभवात्तदेव चन्द्रिका कणादिभेद उक्तः ।

अन्यच्च तृतीयस्कन्धे चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा । परमाणुः

रसकलश

कन्द होने में कोई अन्तर नहीं है । अतः यहाँ तत् शब्द से 'सा' (श्री राधा) ही लेना चाहिये नहीं तो 'इन्दोः' 'चन्द्र' यह सम्बध षष्ठी का अर्थ सिद्ध होने पर तत् शब्द से तस्य यह अर्थ लगाना होगा जो ठीक नहीं बैठेगा । और भी एक बात है कि श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध में सबका अध्ययन करने के स्वभाव से, अन्नमय, रसमय अमृतमय अर्थात सर्वमय चन्द्र है ऐसा उस चन्द्र का वर्णन किया जाना है अतः जाल रन्ध के साथ लगाकर खड़ी हुई उस प्रकार के मुख चन्द्र की किरणों के कणों से अत्यधिक आनन्द की विवस्ता का अनुभव करके चैतन्य अवस्था में (ध्यान भन्ग होने पर उस आनन्द की उपमा का विचार करने लगे तो चन्द्र का ही स्मरण में आया तब उस आनन्द की तुलना करने में किसी भी अंश में वह चन्द्र न ठहरा । तब अयुक्ति रूपी नास्तिक दोष का समाधान करनेके लिये शाखा चन्द्र न्याय से परमाणू शब्द रख दिया । प्रिया जी के मुख के साथ कोई भी मूल सम्बध रखें बिना सबको अप्यायित करने वाले अमृत रसमय हैं । इस प्रकार की प्रसिद्धि न होती । आनन्द कन्दता तो प्रिया जी के मुख चन्द्र में ही हैं, वैसी चद्रिन्का से प्रिय का पोषण उसके कणों का कुन्ज में व्याप्त होने के साथ सखीजन का पौषण किया जाना जानना चाहिये क्योंकि कण में परम आनन्द का अनुभव किया जाता हैं । तभी तो चन्द्रिका और कण आदि का भेद कहा हैं ।

और भी एक बात है श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में सद्विशेषों का अन्तिम स्वरूप अनेक होता है उसे परमाणु जानना चाहिये जिस के कारण किसी पदार्थ में

स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ।। सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् । कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ।। अणुद्वौ परमाणू स्यात्त्रसेरणुस्त्रयः स्मृतः ।। इत्यादिष्वणोरपि तुच्छत्वे सति परमाणुत्वं सम्पन्नं तदा मुखेन्दोस्तदूर्ध्वक्रमेण परममहत्त्वमागतम् । अत्राह्लादाप्यायनपराकाष्ठोक्ता तत्रायं श्लोकः—

राकाचन्द्रश्चरमः परममहान् विपिनसद्मनास्येन्दुः ।
रसघनमूर्तिर्यस्मान्नन्दति किमुत कहिमानमाख्यामि ।।

अतोयादृग्रसो यादृगानन्दोऽस्मिंस्तादृक्कुत्रापि नास्तीति सिद्धान्तः । अनेन पूर्वार्द्धेन प्रस्तुते तावद्रूपलावण्यच्छविभिः प्रियपोष उक्तस्ततोऽधररसेन प्रियपोषणमुद्वीक्ष्याह । यस्याः परमामृतमय्याः शोणाधरश्रीर्विधृतनवसुधा माधुरीसारसिन्धुर्वर्तते । शोणत्वमत्र वर्णव्याजेनानुराग एवोज्जृम्भितस्तद्रूपस्याधरस्य श्रीः परम सुषमा तादात्विकानन्दस्मितयुता।विशेषेण धृतो नवा चासो सुधा च तस्या अपि माधुरी तत्सारभूतो गुणः शब्द प्रवृत्तितिमिनिमित्तात्मकस्तस्या अपि सारः परमचरमश्रेष्ठयं तादृशस्याप्यगाध-

रसकलश

मनुष्यों को एकत्व का भ्रम हुआ करता हैं । विद्यमान और स्वरूप में अवस्थित पदार्थ का जो कैवल्य है वह परम महान् कहलाता है वह अविशेष और निरन्तर है । दो परमाणुओं से एक अणु होता है तीन अणु एक त्रसरेणु कहलाते हैं इत्यादि वाक्यों में अणु से भी तुच्छ पदार्थ के रहते यहां पर अणु शब्द का तात्पर्य परमाणु में ही समझना चाहिये और इसके ऊर्ध्व क्रम से सुख चन्द्र को परम महान् मानना चाहिये, यहाँ पर मुख चन्द्र की आह्लादन और आप्यायन में पराकाष्ठा कही गई है । इस विषय में यह श्लोक है—पूर्णिमा का चन्द्र अन्तिम परमाणु है और श्री वृन्दावन में श्री राधा जी का मुख चन्द्र परम महान् है जिससे रसघनमोहनमूर्तिश्रीश्यामसुन्दर आनन्द प्राप्त करते हैं मैं उस मुख चन्द्र की क्या महिमा कहूँ ? अतः इसमें जैसा रस है जैसा आनन्द है वैसा कहीं भी नहीं है यह सिद्धान्त हुआ । इस पूर्वार्ध के द्वारा प्रस्तुत प्रकरण में रूप लावण्यछवि के द्वारा प्रियतम का पोषण कहा गया अब अधार रस के द्वारा प्रिय के पोषण की सम्भावना करके कहते हैं । जिस परम अमृत मयी के अरुण अधर की शोभा नवसुधा की माधुरी के सार का सागर धारण किये हुए है । यहाँ हर अरुण रंग के बहाने प्रेम या अनुराग ही उमड़ा हुआ दिखाया गया है, अतः अनुराग स्वरूप अधर की शोभा परम सुषमा उस समय के आनन्द और मुस्कान से युक्त है, विशेष रूप से धारण किया है नवीन सुधा के भी माधुरी के सार भूत गुण जो शब्द प्रवृत्ति का निमित्त है उकका भी सार परम चरम श्रेष्ठता उसका भी अगाध सागर जिसने वह (श्री राधा) यहाँ पर

सिन्धुर्यथासीति। न चात्र सारात्सारोक्तिर्वाग्डम्बरा ज्ञेया। भोक्तृभावुकवैशिष्ट्यान्नासम्भाव्या। भोक्ता तादृशपरमरसविवेककुशलो रसिकशेखरो नायकः, भावुकास्तत्स्वामिनीपदनखज्योतिर्घनीभूताः श्रीहितालीप्रमुखाः। केचिदालङ्कारिका अलङ्कारभेदे तात्पर्यवृत्तौ चार्थं पर्यवसाययन्ति तदा शब्दानां नैरर्थ्यं स्यात्तन्नात्र।

किञ्च यथा श्रीहितात्या दृष्टं तत्तथैवोक्तं तत्तस्तादृशसहृदयहृदयमेव साक्षिकं नवत्वं प्रसिद्धश्रुतदिव्यसुधाया वैलक्षण्यं किमु वाच्यं तोयममृतमिति ब्रह्मसंहितोक्ता प्राकृतसुधायास्तोयव्यवहारे यत्र या काचित्सुधा भोग्यव्यवहारा तत्रापि नव्यव्यवहृतेत्यर्थः। तस्या माधुरीति माधुर्य्यपेक्षया तादृश्यपि सुधा स्थूलांशः सारापेक्षया तादृश्यपि माधुरी स्थूलांश इति सहृदयगम्यः। लोकेतु यथेक्षुरसस्य शुद्धसारः सिता तस्या अपि कन्देति ख्यातः सोऽपिनवः अयातयाम इति नवनीताच्छुद्धं घृतमिति तादृशमाधुर्यसारसिन्धुस्तन्नाधरे। किञ्चानन्दनोऽपि सतृषो यथः स्वतृष्णांशमयनीतिसिन्धुं

रसकलश

सार के सार क का कथन वागाडम्बर नहीं समझना चाहिये। भोक्ता भावुकों की विशेषता से यह असम्भव नहीं है। वैसे परम रसिक विवेक कुशल रसिक शेखर नामक श्यामसुन्दर भोक्ता हैं और श्री स्वामिनी के चरण नख की ज्योति के ही घनीभाव श्री हितसखी आदि भावुक हैं। कुछ आलङ्कारिक अलंकार भेद में और तात्पर्य वृत्ति में अर्थ का पर्यवसान करते हैं। तब शब्द निरर्थक हो जायेंगे अतः यहाँ ऐसा नहीं है। फिर जैसा श्री हितसखी ने देखा वैसा ही कहा अतः उनकी बात में उन्हीं जैसे सहृदयों के हृदय ही साक्षी हैं। सुधा में नवीनता यही है कि प्रसिद्ध रूप में सुनी गई दिव्य सुधा से यह सुधा विलक्षण है इतना क्या कहना? ब्रह्म संहिता में जिस अमृत को तोय या जल कहा गया है वह प्राकृत अमत है और उस प्राकृत सुधा के लिये 'तोय' या 'जल' पद का व्यवहार होने से सिद्ध होता है जहाँ जिस किसी सुधा या अमृत में भोग्य का व्यवहार होता है वहाँ उससे भिन्न सुधा के लिये नवीन होने का व्यवहार भी किया जाता है यह अर्थ है। उसकी माधुरी माधुरी की अपेक्षा से वैसी अर्थात् जल जैसी है अतः यह सुधा का स्थूल अंश है, सार की अपेक्षा से वसी माधुरी भी स्थूलांश है यह बात सहृदय जन के हृदय से जानी जा सकती है।

लोक में जैसे गन्ने के रस का शुद्ध सार शक्कर है और उसका भी चीनी जो कन्द या खण्ड नाम से प्रसिद्ध है वह भी नवीन या ताजी है इसी प्रकार जैसे माखन से शुद्ध घृत होता है; वैसे ही माधुर्य के सार का सिन्धु उस अधार में है। फिर सतृष्ण हुए आनन्द घन भी जहाँ अपनी तृष्णाको शान्त करते हैं, सिन्धु या सागर के

विना घनपूर्तेरभावात् । अतिशयास्वादे तात्पर्यम् । यत्र तन्मनोमीनः स्वादं स्वादं पारं नयनोति अत्रापि भोक्तृभावुकहृदयमेव साक्षोति । यदाङ्गस्य श्रिया मेव माधुर्यसिन्धुस्तदाङ्गगतं किं भण्यते एवमधरगतमाधुर्यास्वादसाक्षिकं प्रियरसनं तदुपरितनच्छविमाधुर्यास्वादसाक्षिकं सखीचक्षुः स्वाद्यमानमत्तविवशप्रियकृतशिरोधुनुतिपूर्वकपरमश्लाघाश्रोतृतच्छ्रवणञ्च । उभयान्तरङ्गवर्तिहितस्यरूपाच्चेति । ततश्च निधुवनानन्दपोषणं दृष्ट्वाह । कामेति कामोति कोमोऽभिमाषस्तर्षा चेत्यमरः । तद्रूपच्छवि सौष्ठवदर्शनोदितपरमतृषा नु तदधरामृतपानातिशयानुजाग्रत्स्पर्शजाभिलाषः परम प्रेमानन्दमयस्तज्जन्य एव । यथा—लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्ने कैकशः कोटिशः कन्दर्पा इति तस्य बाधेति प्राबल्यं यत्स्वतन्त्रमपि पराजित्या क्रमणं तया विधुरो दुःखितः परवशः किङ्कुर्वे त्वज्जनितकाम एव मां प्रेरयति । अन्यथा त्वच्चरणपरि चरणपरायणः कथं साहस-

रसकलश

विना मेघ की पूर्ति भी तो नहीं हो सकती। तात्पर्य अत्यन्त स्वादुता बताने में है। जहाँ पर श्री श्यामसुन्दर का मन रूपी मीन स्वाद लेता लेता पार नहीं जा पाता इसमें भी भोक्ता और भावुकों का हृदय ही साक्षी है। जब अङ्गों की शोभाओं का ही माधुर्य सागर है तब अङ्गों का तो क्या कहना ? इस प्रकार अधर में विद्यमान माधुर्य के आस्वाद की साक्षी सखीजन की चक्षु हैं तथा स्वाद्यमान अधर सुधा से मत्त और विवश हुए प्रियतम के द्वारा सिर हिलाते हुए की गई परम श्लाघा को सुनने वाली उन्हीं सखियों के श्रोत्र भी इसके साक्षी हैं। दोनों के अन्तरङ्ग में वर्तमान हित (परम मङ्गलमय प्रेम) ही श्री हितसखी या श्री हिताचार्य महा प्रभु का निज रूप है अतः वे तो इसके साक्षी हैं ही।

इसके बाद सुरत या निधुवन के आनन्द का पोषण देखकर कहती हैं। काम अभिलाषा और तर्ष यह काम के नाम हैं ऐसा अमर कोषकार का मत है। श्री राधा के रूप छवि के सौष्ठव के दर्शन से उदित हुई परम तृष्णा के अनन्तर उनके अधरामृत पान के अतिशय के पश्चात् जिनमें स्पर्श की अभिलाषा जागरित हो उठी है ऐसा परम प्रेम और आनन्दमय काम ही यहाँ काम है जो उनसे ही प्रादुर्भूत हुआ है जैसा कि—'लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्' इत्यादि पद्य में कहा गया है। उस काम की बाधा अर्थात् प्रबलता जिससे वह स्वतन्त्र मधुपति को भी पराजित करके उन पर अपना अधिकार जमा लेता है उससे विधुर दुःखित या परवश हुए 'क्या करूँ, तुम से ही प्रादुर्भूत हुआ काम मुझे प्रेरित करता है नहीं तो मैं तुम्हारे चरणों की परिचर्या में

माचरेदिति भङ्गिकं महादैन्यं वैधुर्यं दृष्ट्वा मधुपतेरपि प्राणदा माधुर्य्यरसो मय्येव वर्तते नान्यत्रेति तत्पतित्व गर्व्वदर्पितस्यापि मूर्छितस्य कृपया रसामृतदानेन सञ्जोविनीति । अतः सा राधेति यथार्थनिरुक्ता संसिद्धिरूपा अस्मानिति सजातीयाभिप्रायेण पूर्णममत्वाभिमानेन च बहुत्त्वं प्रीयतामिति एवमेव सदैवानन्दं ददातु । प्रियमाप्याययतु तदेवास्माकं प्रीणनमिति ध्वनितम् । रसपानेऽपि तृष्णा वृद्धौ श्लोकः—

रसेन तृष्णा शाम्येत किंस्वित्सैवातिवर्द्धत्ते ।
पापं पापं पुनः पीत्वा चित्रं वाडवताण्डवम् इति ।।१२४।।

तदेवं रसाह्लाद धर्मातिशयेन राकाचन्द्रस्यापि तिरस्करणमुक्त्वा परमाणुसम्बन्धमप्यसहमाना अवयवावयविभावेन परिमित दोष प्रसक्तिमाशङ्क्य तदा केनोपमानेनोपमीयते येन कवित्वं वक्तुं वागुल्लसतीति विचार्यं तदानींन्तनतन्मुखदर्शनेन सप्रियसखीनां पूर्णप्रेमास्पदतां दृष्ट्वाऽनिर्वचनीयमप्यभूतचन्द्रोपलक्षणेन शाखाचन्द्रन्यायवदाह—

रसकलश

तत्पर रहने वाला कैसे साहस करता' इस अभिप्राय की अतिदीनता और व्याकुलता देखकर मधुपति को भी प्राण देने वाली 'माधुर्य्य रस मुझ में ही है अन्यत्र कहीं नहीं; उसके पति होने के गर्व से उद्धत होने पर भी मूर्छित हुए प्रियतम को कृपा से रसामृत दान देकर संजोवित करने वाली अतएव वह राधा, जैसा कि राधा नाम का निर्वचन किया जाता है उसके अनुसार संसिद्धि रूपा हमको ('सजातोयता के अभिप्राय से पूर्ण ममता के अभिनाम से, यहाँ बहुत्व विवक्षित नहीं है) प्रीत करें इसी प्रकार सदा आनन्द दें । प्रियतम को तृप्त करें वही हमारी तृप्ति है यह सूचित होता है । रस पान करने पर भी—तृष्णा की वृद्धि के विषय में श्लोक है कि—

'रस से तृष्णा शान्त होती है या बढ़ती है । पीपी कर फिर पिया जाता है, वास्तव में कामाग्नि का ताण्डव आश्चर्य जनक है ।१२४।

इस प्रकार रस और आल्हाद धर्मं के अतिशय से पूर्णिमा के चन्द्रमा का भी तिरस्कार करना कहकर परमाणु सम्बन्ध को भी सहन न करती हुई अवयव और अवयवी के सम्बन्ध से परिमितता के दोष की प्राप्तिं की आशंका करके तब किस उपमान से तुलना की जाए जिससे कविता करने के लिये वाणी उल्लसित हो यह विचार करके उस समय श्री स्वामिनी के मुख दर्शन में प्रियतम के सहित सखीजन की पूर्ण प्रेमास्पदता देखकर अनिर्वचीय होते हुए भी अभूतपूर्व चन्द्र के उपलक्षण से शाखाचन्द्र न्याय से कहती हैं—

एकानेकविचित्रचन्द उदितप्रेमामृतज्योतिषाम,
वीचीभिः परिपूरयेदगणितब्रह्माण्डकोटिं यदि ।
वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमनि तदाभासः परं लक्ष्यते,
भावेनैव यदा तदैव तुलये राधे तव श्रीमुखम् ॥१२५॥

विचित्रः प्रसिद्धाद्विलक्षणोऽद्भुतः अनेकचित्रवर्णसौष्ठवयुतः, न केवलं शीतरश्मिरेव स चासौ चन्द्रश्च पुनः राकासम्बन्धी पूर्णः अनेकः अनन्तश्चासौ विचित्रचन्द्रश्चेति बहुत्वे वक्तव्ये ऐक्यं युगपत्सम्भूयोदयार्थम् । एकमुखोपमेयत्वात्तादृशैकचन्द्रकल्पनार्थञ्च । उपमेये वैचित्र्यं यद्यद्भ्रूनेत्राधरस्मितकटाक्षहावभावादिरसोल्लासः प्रियामुखे वर्तते तादृक्चन्द्रे कुतस्तमाम् । अतो विचित्रप्रेमरसमयत्वं चन्द्रेकल्प्यम् । प्रेम्णोऽप्यनेकाङ्गानि सन्ति । तानि रसिकेश प्रियहृद्वैवश्य कारीणि तेनानुमीयते सर्वमिति । उदितः सम्भूय स्वतेजसैक दैव प्रकाशितः सन् प्रेमैवामृतं नतु 'गत्वा चान्द्रमसं लोकं

रसकलश

पूर्णिमा के अनेक विचित्र चन्द्र उदय होकर यदि प्रेमामृतरूपी ज्योतियों की तरङ्गों से असंख्य ब्रह्माण्ड कोटियों को पूर्ण कर दें और वृन्दावन के निकुञ्जों की सीमा में यदि उसका केवल आभास लक्षित हो तो हे राधे ! मैं उससे तुम्हारे श्री मुख की तुलना करूँ ? ॥१२५॥

विचित्र अर्थात् प्रसिद्ध से विलक्षण अद्भुत अनेक चित्र विचित्र वर्णों या रंगों की शोभनमता से युक्त न केवल शोतल किरणों वाला ही वह ऐसा चन्द्रमा भी फिर पूर्णिमा सम्बन्धी हो पूर्ण हो अनेक हो अनन्त हो ऐसा विचित्र चन्द्र; इस स्थल पर बहुवचन कहना चाहिये था फिर भी एकत्व एक साथ एकत्रित होकर उदय होने के तात्पर्य से कहा गया है । इधर एक ही मुख उपमेय है उसके लिये वैसे एक ही चन्द्रमा की कल्पना करने के लिये भी ऐसा किया गया है । उपमेय में विचित्रता अर्थात् जो जो भ्रुकुटि, नेत्र, अधर, मुस्कान, कटाक्ष हाव भाव आदि से रस का उल्लास प्रियाजी के मुख में है, वैसी विचित्रता चन्द्रमा ने कहाँ से आ सकती है । अतः विचित्र प्रेम और रस से पूर्णता चन्द्रमा में कल्पित की जानी चाहिये । प्रेम के भी अनेक अङ्ग हैं वे वैसे रसिकेश्वर प्रियतम के हृदय को विवश कर देने वाले हैं उससे सब बातों का अनुमान किया जाता है । ऐसा चन्द्रमा उदित हुआ एकत्रित होकर अपने तेज से एक ही बार प्रकाशित हुआ ।

प्रेम ही अमृत है न कि 'चन्द्र लोक को प्राप्त कर सोमपान करने वाला फिर

सोमपाः पुनरेष्यति' इति कर्मिष्ठादिप्राप्यम् किमुततमां प्रस्तुतप्रेमेतरज्ञान-भक्त्यादि प्राप्यमिति नेति । अत एव पूर्वं वराकोक्तिः अंशांशिभावसम्बन्ध-स्पर्शानर्हत्वाद्विजातीयत्वमस्य चन्द्रचयस्य ज्ञेयम् । तादृशप्रेमामृतस्य ज्योतिषां परममाधुर्यमयानां न केवलप्रकाशैश्वर्यकर्कशानां वीचीभिर्नवनवोच्छलन-परम्पराभिर्नतु प्रकाशमात्रेण ब्रह्माण्डं किमुततमाम् । तत्कोटिं किमुततराम् । अगणितकोटिमिति वाच्यम् । यदि परितः पूरयेन्नतु कृष्णशुक्लादिकाल-मेर्वादिदेशव्यवधानेन कतिचिद्देशाभावः । सर्वतो निरन्तरमित्यर्थः प्रेम्णस्ता-रतम्याभावात्सर्वप्लावनमित्याशयः । यदा च भावेनैव वृन्दारण्ये निकुञ्ज-स्तस्य सीमनि प्रान्ते तादृक्चन्द्रचयस्याभासः स्वल्पप्रकाशमात्रः परं केवलं लक्ष्यते मयेति सहृदयसखीवाक्यम् ।

किञ्च वृन्दावनमपि तादृशं युगलप्रेमाधारस्थलमेव यथा 'किं ब्रूमो-ऽन्यत्र' इति पद्ये 'वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा तद्द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिंकरीणा'मिति वक्ष्यमाणत्वात् ।

रसकलश

आयेगा' ऐसा जो जो कर्मिष्ठ आदि लोगों द्वारा प्राप्तव्य अमृत है। उसकी तो बात ही क्या ? यह तो प्रस्तुत प्रेम के अतिरिक्त ज्ञान और भक्ति आदि से भी प्राप्य नहीं है। इसीलिये पूर्व पद्य में पूर्णिमा के चन्द्र को वराक-बेचारा या तुच्छ कहा गया है। अंश और अंशी भाव का सम्बन्ध भी योग्य नहीं है अयः इस चन्द्र समूह को मुखचन्द्र से विजातीय ही समझना चाहिये। वैसे प्रेमामृत की ज्योतियों को जो परम माधुर्यमयी हैं केवल प्रकाश और ऐश्वर्य के कारण कर्कश नहीं हैं। उनकी तरङ्ग ने नवीन-नवीन उछलने की परम्पराओं से न कि प्रकाशमात्र से एक ब्रह्माण्ड का क्या कहना, ब्रह्माण्डों की कोटि या करोड़ संख्या का भी क्या कहना अपितु ब्रह्माण्डों की असंख्य कोटियों को ऐसा कहना चाहिये। इस प्रमार प्रेमोमृत की ज्योतियों की तरङ्गों की परम्पराओं से असंख्य कोटि ब्रह्माण्डों को यदि चारों ओर से भरदे न कि कृष्ण शुक्ला आदि काल के सुथा सुमेरु आदि देश के व्यवधान से कुछ देशों में अभाव हो, इस प्रकार सब ओर से निरन्तर पूर्ण करे यह अर्थ है प्रेम में तारतम्य के अभाव के कारण सबको आप्लावित कर दे यह अभि-प्राय है और जब भाव से ही वृन्दावन के निकुञ्ज की सीमा में वैसे चन्द्र समूह का आभास थोड़ा सा प्रकाश मात्र केवल मेरे द्वारा देखा जाए। मेरे द्वारा का तात्पर्य है कि यह सहृदय सखी का वचन है। फिर श्री वृन्दावन भी वैसे युगल के प्रेम का आधार स्थल ही है जैसा कि 'किं ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृत' इत्यादि पद्य में कहा है कि 'वृन्दावन स्थली परम रस रूपी सुधा की माधुरियों की धुरीणा या भार वाहिनी है इसी ने देख देखकर स्वाद लेने योग्य वह युगल श्री राधिका की किंकरियों को दिया है। यह आगे

अर्थादत्रत्यप्रेमसिन्धुलवलेशसाम्यं सर्वब्रह्माण्डगतोऽपि प्रेमा न लभते, अतः स्फुटचन्द्राभावाद् भावेनैव मानसिकप्रत्ययकल्पितेन केनचिच्चन्द्रेणेत्यर्थः। यदा तुलये तदैव तव श्रीमुखं तुलये, अन्यथा नैतत्साम्यगोचरं वर्तते इति।

अथवा तदाभासः स तादृशचन्द्रचय आभासो यस्य एतादृश एकः कश्चिच्चन्द्रः स्यात् स च भावेन भावनयैव लक्ष्यते, नैतादृशः स्फुटीभवनार्हः। तत्रापि वृन्दावन एव केवलं नान्यत्र। तत्रापि नानाभावुकान्तरसम्भवान्निकुञ्ज एव सजातीय सहृदयसेव्यत्वात्। अतः सीमनीति मर्यादीकृतः। तदैवानन्यगतिकं परमगोप्यं तव श्रीमुखं तुलये। अथवा यत्तदोः सम्बन्धद्वयमत्र यदि परिपूरयेत्तदा सीमनि आभासः स्यादित्यनुषङ्गः एकवाक्यम्। यदा भावेनैव परं प्रतिबिम्बादपि परं बिम्बं लक्ष्यते, तदैव श्रीमुखं तुलये इति। यथा तृतीये स्कन्धे 'यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते। स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिविस्थित' इति। सीमनीति तादृशसखी-

रसकलश

कहेंगे। अथात् यहाँ के प्रेम सिन्धु के लवलेश की समता समस्त ब्रह्माण्डों में छाया हुआ प्रेम भी नहीं प्राप्त कर सकता अतः स्फुट चन्द्र के अभाव के कारण भाव से अर्थात मानसिक प्रतीति से कल्पित हुए किसी एक चन्द्र से जब तुलना करते हैं तभी तुम्हारे श्री मुख की तुलना कर पाती हूँ। अन्यथा इसकी समानता दृष्टीगोचर नहीं है।

अथवा वैसा अर्थात वैसे चन्द्रमाओं का समूह जिसका आभास हैं वैसा कोई एक चन्द्र हो और वह भाव से या भावना से ही लक्षित हो तो वह स्फुट हो सकता है। यह भी केवल वृन्दावन में हो अन्यत्र कहीं नहीं। वहाँ अन्य अनेक भावुकों के यहां भी कुछ सम्भव है अतः कहते हैं कि निकुञ्ज में हो, क्योंकि निकुञ्ज ही सजातीय सदस्यों द्वारा सेवनीय है, इसीलिये निकुंज की सीमा में वह मर्यादित है तभी तो अनन्यों की गति परमगोप्य तुम्हारा श्रीमुख तुलना का विषय हो सकता है। अथवा यत् और तद् का नित्य सम्बन्ध है ऐसे यहाँ दो सम्बन्ध हैं एक तो यदि पूर्ण करे या भरदे तो सीमा में आभास लक्षित हो यह प्रसङ्ग प्राप्त अर्थ है। एक वाक्य है जब भाव से ही केवल प्रतिबिम्ब से भी परे बिम्ब लक्षित हो तभी श्री मुख की तुलना की जाए। जैसा कि तृतीय स्कन्ध में 'जैसे जल में पड़ रहे आभास को स्थल पर खड़ा हुआ पुरुष देखता है इसी प्रकार जल में स्थित पुरुष द्वारा आकाश में स्थित सूर्य देखा जाता है।' सीमा में कहने का यही तात्पर्य कि उस प्रकार के इस सत् चित् आनन्द स्वरूप स्थल में स्थित आभास के द्वारा भावना से तत्पर उस प्रकार के चिदानन्द द्रवमय श्री यमुना के जल में स्थित प्रतिबिम्ब लक्ष्य या दृश्य होगा उससे वह परमस्वरूप बिम्ब उस प्रकार की सखी

भावनया लक्ष्यं तादृगलौकिकाद्भुतमहाप्रेमसारघनाकृतिचन्द्रो वृन्दावनैक-प्रकाशी दिविस्थितस्तदेत्यर्थः ।

ननु प्रियामुखे यथोक्त महिमास्तु वृन्दावने कथं तत्र तादृशदम्पतो अपि तद्गुणान् गायं गायं मुह्यतस्तदा किमु वक्तव्यमित्याशये शतकश्लोका—

'आतन्वानो स्थिरचरमपि प्रेममाध्वीमदान्धं,
राधाकृष्णावपि च लुठतो भूतले यद्रसेन ।
वृन्दारण्यं तदिदमतुलप्रोन्मदानन्दसिन्धु-
स्यन्दिद्राक् दृक्पदमिव ममाचूचुरच्चित्तरत्नम् ॥'
भृङ्गी सङ्गीतरङ्गं त्यजति पिकवधूः पञ्चमं निर्धुनीते,
कीरः काञ्चिन्न गाथां पठति नटशिखी नैव केकां करोति ।
वीणा ह्रीणा मनाङ् न ध्वनति न मुरली रौति राधा यदा श्री
वृन्दारण्यस्य निर्वर्णयति गुणगणानु ल्लसद्रोमराजिः ॥
श्रीराधाख्यं रूपं परमं चरमं रमादेव्याः ।
श्रीभगवतश्च परमं चरमं रूपं प्रियस्तस्याः ॥'

अयं भावः यद्दृष्ट्वा प्रेमोदय इयान् भवति येन ब्रह्माण्डानन्त्यगतं प्रेम-

रसकलश

की भावना से लक्षित होगा । उस अलौकिक अद्भुत महाप्रेमसारघन स्वरूप चन्द्र जो श्रीवृन्दावन का एक मात्र प्रकाशक है और उस समय आकाश में स्थित हैं यह अर्थ है ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि प्रिया जी के मुख में जैसे आपने कही है वैसी महिमा हो तो वृन्दावन में वह महिमा कसे आ सकती है कि वहाँ वैसे दम्पती (प्रिया प्रियतमा) भी उसके गुणों को गा गाकर मोहित होते हैं तब औरों का क्या कहना ? इस आशय के शतक में श्लोक विद्यमान हैं—चर और अचर को भी प्रेम को मदिरा से मदमत्त बनाते हुए राधाकृष्ण जिसके प्रति रसावेश से भूमि पर लोटते हैं, उस इस वृन्दावन ने—जो अतुलनीय और उन्मत आनन्द के सागर से स्पन्दमान है उसने दृष्टी को ही चरण बनाकर मेरे चित्ररूपी रत्न को चुरा लिया है । भ्रमरी अपने संगीत के रंगमंच को छोड़ रही है, कोकिला पंचम राग का परित्याग कर रही है, कीर या शुक किसी गाथा का पाठ नहीं करता नाचने वाला मयूर केकाख नहीं करता । वीणा भी लज्जित सी होकर थोड़ा भी शब्द नहीं करयी, मुरली बजती नहीं । जब श्री राधा रोमांचित होकर वृन्दावन के गुण-गणों को गाती है । श्री लक्ष्मीदेवी का परमरूप और चरमरूप श्री राधा हैं तथा भगवान् विष्ण का परम और चरमरूप उनके प्रियतम हैं । इसका यह भाव है कि जिस वृन्दावन

ज्योतिःपुञ्जमप्याभासमात्रं लगति तत्साक्षिकं तादृशवैकुण्ठादि-धामनीराजितसीमसुषमापुञ्जकुञ्जमञ्जुलश्रीवृन्दावनस्थितसखीहृदयमेव । यथा महर्लोकस्थितानां सूर्यादयस्तारका इव भासन्ते, यथा च सत्यस्थानां खद्योता इव, यथा च वैकुण्ठगतानामनेक ब्रह्माण्डेषु तादृक्क्रीडाण्डकोटी-वृतजलकुडवायस्य वैकुण्ठकुल्या इति किमप्याभासोऽपि न तदा यथा सर्वांशी श्रीकृष्णस्तथैव तद्धामापि सर्वधामांशो तत्रस्थितानां नासम्भाव्यम् । तथा श्लोक—

यत्रान्ये केऽपि नो यान्ति चेतोधामाश्रयानिशम् ।
भासन्ते यत्र लघवो लोकाः सर्वोत्तमाः ॥१२५॥

एवं स्वस्वामिनीमुखस्य निरतिशयछविप्रेमानन्दातिशयं निर्वर्ण्य अलमित्युपमानादिनेतिभङ्गया पुनस्तत्कल्पद्रुमकुञ्जकेलिवृन्दं परस्पर प्रेम च यथा दृष्टमनुभूय प्रस्तावयंस्त्याशिषमभिवदति ।

रसकलश

को देखकर इतना प्रेमोदय होता है कि अनन्त ब्रह्माण्डकोटियों में व्याप्त प्रेम ज्योतियों का पुञ्ज भी ग्राम समान लगता है वैसे वैकुण्ठादि धामों द्वारा जिसकी आरती उतारी जाती है, ऐसी सीमाओं वाले परमशोभा के कुञ्जों से मञ्जुल श्रीवृन्दावन स्थित सखीजनों का हृदय ही इसका साक्षी है। जैसे महर्लोक में रहने वालों को उदित सूर्य तारे जैसा दीखता है ओर सत्यलोक में रहने वालों को जुगनू सा। और जैसे वैकुण्ठ लोक में स्थित जनों को अनेक ब्रह्माण्डों में वैसे क्रीड़ा के कोटि अण्डकोषों से ढके हुए जल कुडवाय का वैकुण्ठकुल्या के रूप में भी कुछ आभास नहीं मिलता। तब जब सबके अंशी श्रीकृष्ण हैं वैसे ही उनका धाम भी सब धामों का अंशी है। वहां रहने वालों के लिए इतने बड़े ज्योति पुञ्ज की आभास मात्रके रूप में प्रतीति होना असम्भव नहीं है। ऐसा श्लोक भी है—जहां दूसरा कोई नहीं जाता। सभी आश्रमों से अधिक शान्ति वाला वह ऐसा चित्त प्रिय धाम है जहाँ पर सभी ग्राम से ग्राम लोक भी तुच्छ से तुच्छ प्रतीत होते हैं ॥१२५॥

इस प्रकार अपनी स्वामिनी के श्रीमुख के निरतिशय जिससे 'बढ़कर कोई भी नहीं हो' ऐसी, छवि, प्रेम, और आनन्द के अतिरेक का वर्णन करके इसके लिए उपमान आदि की कोई अपेक्षा नहीं ऐसा प्रकारान्तर से बताकर फिर उसी कल्पद्रम वाले कुञ्ज में के लिया क्रीड़ासमूह की ओर पारस्परिक प्रेम को जैसा देखा है वैसा ही अनुभव करके वर्णन करते हुए आशीर्वाद देते हैं—

कालिन्दीकूलकल्पद्रुमतलनिलयप्रोल्लसत्केलिकन्दा,
वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतररहो वल्लवीभावभव्या।
भक्तानां हृत्सरोजे मधुररससुधास्यन्दिपादारविन्दा,
सान्द्रानन्दाकृतिर्नः स्फुरतु नवनवप्रेम-
लक्ष्मीरमन्दा ॥१२६॥

न अस्माकं तु नवनवप्रेमलक्ष्मीः स्फुरत्वित्यन्वयः उपमाने स्मर्य्यमाणे-प्यन्यन्न स्फुरत्विति। यथा लक्ष्मी सम्पदधिष्ठात्री तथेयंनवनवप्रेमाधि-देवी यां दृष्ट्वा नवप्रेमोदयो भवति या च स्वप्रेमा- भिवर्षति। तत्र परिमितिशङ्कानिराशार्थं अमन्देति अनपायिनीत्यर्थः। नवनवत्वं बहुपरिचयवशसाधारण्याभावात्। यथा तथापि तस्यांघ्रियुगं नवं नवमितिवत्। अत्र प्रेम्णः अन्य सम्पद इवाधिभौतिकत्वं न शङ्क्यम्। तन्मयत्वादेतल्लक्ष्म्याः प्रेमास्पदतमस्यापि प्रेमास्पदत्वात्। अतएव सान्द्रानन्दा कृतिः। लोकेख्यातस्यारूपस्यव्यापकस्यानन्दस्यापि निविडधनीभूतं प्रिया-रूपम्। यद्वा आकृतिरेव सान्द्रानन्देतितादृशाकृते र्नित्यत्वात्, ननु क्व सा

रसकलश

श्रीयमुना जी के तट पर कल्पवृक्ष के नीचे के निवास स्थान भूत निकुञ्ज में प्रकृष्ट रूप में उल्लसित हो रही क्रीडाओं की मूल और श्रीवृन्दावन में सदा ही प्रकट रहने वाल एकान्त गोपीभाव से भव्य स्वरूपा, भक्तों के हृदय कमल में मधुरसमुधा का स्पन्दन करने वाल हैं पादारविन्द (चरण कमल) जिनके ऐसी सान्द्र आनन्द या घनानन्द रूपा कभी मन्द न पड़ने वाली नवीन अति नवीन प्रेम की लक्ष्मी श्रीराधा हमारे हृदय में स्फुरित हों ॥१२६॥

हमारे हृदव में तो नवोन अति नवीव प्रेम की लक्ष्मो स्फुरित हो यह अन्वय है। उपमान का स्मरण करने पर भी दूसरा कोई स्फुरित ही नहीं होता। जैमे लक्ष्मी सम्पत्तियों की अधिष्ठात्री है वैसे ही यह नवीन अतिनवीन प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं जिनको देखत ही नवीन प्रेम का उदय हो आता है। और जो अपने प्रेम की वर्षा करती है। उस प्रेम में परिमितता की शङ्का का निराकरण करने के लिये अमन्दा या अनपायिनी कहा। प्रेम में नवीनता यह है कि बहुत परिचय हो जाने पर जो साधारणता आ जाती है उस का यहाँ अभाब है। जैसाकि 'तो भी उनके चरणयुगल नये नये हैं।' इत्यादि में कहा गया है। यहाँ पर अन्य सम्पत्तियों के समान प्रेम के आधिभौतिक होने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। तन्मयता के कारण यह लक्ष्मी के प्रेमास्पद हैं। अतएव वे सान्द्र आनन्द आकृति हैं। संसार में विख्यात और रूपरहित होता हुआ भी जो व्यापक आनन्द है उस आनन्द का भी अत्यन्त धनीभूत प्रियाजी का रूप है।

वर्त्तते। कथं ज्ञेयास्यादित्यपेक्षायामाह—कान्दीकूलेति। त्रिविधसमीरकमल-नानाजलकेलिविलासानन्दसूचनं कालिन्दीति। सुषुम्णाख्यापरमानन्द-वाहिनीति वचनात्तल्लक्ष्म्याः केल्युपयोगिनी नद्यपि तादृश्येव ज्ञेया। तत्र कल्पद्रुमेति। तादृशसकलशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिवैचित्र्ययथेष्टपूरकत्व सूचनम्। तलेति शीतोष्णसुखनृपच्छत्रवत्सदनशोभार्थं निलयेति। समाधि-वन्निद्वन्द्वं विहाराधिकरणत्वं सूचितम्। यथा सुरतेच समाधौ च मनोयत्र न लीयते। किं तेन सुरतेनार्थः किं तेन च समाधिनेति। अतएव प्रकर्षेणो-ल्लसन्ति केलीनां कन्दान्यङ्कुराणि यस्याः द्वयोर्मिलनेकेल्यङ्कुररोहणं घटत एव। परन्तद्दीपास्थानसौष्ठववशादपि विशेषेण वैलक्षण्योल्लसनं भवति। यथा कदाचित्क्रीडिताप्याक्रीडवशः क्रीडतीति।

किञ्च पूर्वं श्यामसख्यापि यथेष्टसाधनार्थं कल्पद्रुमकुञ्जाश्रयोगृहीतो

रसकलश

अथवा आकृति ही सान्द्र आनन्द रूप है, क्योंकि ऐसी आकृति नित्य है। अब प्रश्न होता है कि वह कहाँ है ? उसे कैसे जाना जा सकता है। इस आकाङ्क्षा में कहते हैं। श्री यमुना जी के कूल पर अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध तीनों गुणों वाले पवन और श्वेत, रक्त, नील तीन रंगों वाले कमलों से युक्त अनेक प्रकार की जल क्रीड़ा के विलासों के आनन्द की सूचना देने वाले ऐसे यमुना तट पर। यहाँ पर कालिन्दी शब्द से सुषुम्णा नाम की परमानन्द वाहिनी है' इस वचन के अनुसार इस लक्ष्मी की क्रीडा का साधन भूत नदी भी वैसी ही जाननी चाहिए। उस कालिन्दी के कूल पर कल्पद्रुम के तले यहां कल्पद्रुम या कल्पवृक्ष का यह तात्पर्य है कि वे वैसे सभी शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध आदि की विचि-त्रता के यथेष्ट पूरक हैं इसकी सूचना दी गई है। कल्पवृक्ष का तल कहने से तात्पर्य है कि शीतकाल या ग्रीष्मकाल दोनों में सुखद, राजा के छत्र के समान हैं महल की शोभा को बढ़ाने वाला है। निलय शब्द से भी यह सूचित होता है कि समाधि के समान सुख दुःख आदिद्वन्द्वों से रहित विहार का अधिकरण या आधार है। जैसाकि कहा भी है--सुरत में और समाधि में जहाँ मन लीन नहीं होता उस सुरत से क्या लाभ और समाधि से क्या सिद्धि। अतएव प्रकृष्ट रूप में उल्लसित हो रहे हैं क्रीडा के अङ्कुर जिसके। दो के मिलन में क्रीडा के अङ्कुरों का उगना उचित है। परन्तु उद्दीपन स्थान के शोभन होने के कारण भी विशेष रूप से विलक्षणता के साथ उन क्रीडाओं का उल्लास होता है। जैसा कि कभी वे क्रीडिता होते हैं और कभी क्रीडा वश होकर क्रीडा करते हैं।

एक बात और भी है कि पहले सखीवेषधारीश्यामसुन्दर ने भी अपने मनोरथों की यथेष्ट सिद्धि के लिये कल्पद्रुम वाली कुञ्ज का आश्रय लिया था, जिससे

येन श्रीवनभूरुह एव श्रीमतीहृदये केल्यङ्कुरानुल्लासयतीवेति वृन्दाटव्यामिति पूर्व्वोक्तचन्द्रानन्त्याभासप्रभविष्णुस्थलस्य तादृशानिर्वचनीयोपमेयश्रीमुखप्रेमज्योत्स्नाप्रकाश्यत्वसूचनार्थमनुवादः । सदैवेति नित्यं प्रकटतरेण रहसि ववल्लवीषु भावेन भव्या प्राप्या वासौख्यं यस्या इति । श्यामसखी शृण्वतीं प्रति कटाक्षः । यथोक्तं 'यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकुवाणी नित्यमि'ति । सदैवेति पदं नित्यमित्यस्य सूचकं भावः सखी प्रकटपूर्णनत्युत्सव इति वल्लवीष्वस्मास्विति प्रकटतरेति पदं प्रकट पूर्णत्वस्य सूचकम् । अर्थादस्मत्साहाय्ये नैतादृशं भव्यं प्राप्तमिति, सदैव जानीहीति भावभङ्गी ।

अथवा वल्लवी भावो वल्लवीत्वं तेन प्राप्येति । यदा त्वं वल्लवीरूपो जातस्तदैवैतद्भव्यप्राप्तिरतोऽस्मादृशीदायमेवेदं सौख्यं, तदा श्यामं प्रति तरतमार्थमाह, मनसि तु भवतो वल्लवीत्वं सख्यं दास्यं प्रकटमेव बहिर्नायकत्वमपरिहार्य्यमतोरहो गोपनीयं दास्या प्रसम्भाव्यमिव दृष्टं

रसकलश

श्री वृन्दावन के वृक्ष ही श्रीमती जी के हृदय में क्रीड़ा के अङ्कुरों को उगाते हैं यह सिद्ध होता है यहाँ पर वृन्दाटवी में कहने से पहले कहे गये चन्द्रमाओं की अभिन्नता के आभास में समर्थ स्थल का वैसे अनिर्वचनीय, उपमेय भूत श्रीमुखरूपीचन्द्रमा की प्रेमरूपी ज्योत्सना या चन्द्रिका से प्रकाशित होना सूचित करने के लिये अनुवाद मात्र किया गया है । 'सदेव कहने से निरन्तर ही प्रकट रहने वाले एकान्त में वल्लवी या गोपी जनों' के भाव से भव्या अथवा लभ्या हैं । सुनती हुई श्याम सखी के प्रति यह कटाक्ष किया है । जैसा कहा भी गया हैं कि श्याम जिन श्यामा जी की किङ्करियों के सामने नित्य काकू वचन बोलते हैं। वहाँ का नित्य शब्द और यहाँ का सदैव शब्द इसी बात का सूचक है। यह भाव 'सखी जन में प्रकट है पूर्णनति ही उत्सव जिसका; में सखी शब्द से कही गई और यहां वल्लवीभाव भव्या में वल्लवो शब्द से कही गई हम ही तो सखी और वल्लवी हैं। हमारे प्रति ही श्याम सुन्दर को प्रकट रूप से नति करना उत्सव सा लगता हैं। यहां का प्रकट तर पद पूर्व पद्य के प्रकट पूर्ण के अर्थ में आया है। अर्थात हमारी सहायता से ही उन्हें ऐसा अवसर प्राप्त होता हैं ऐसा सदा ही जानों यहाँ यह भाव भङ्गी है। वल्लवी भाव का तात्पर्य है गोपीत्व या गोपी भाव, उसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है। जब तुम गोपी रूप हो गए तभी तुम्हें उस भव्य मूर्ति की प्राप्ति हुई है। अतः हम जैसी सखियों की ही यह सम्पत्ति है हमारा ही यह सुख साधन है। तब श्याम के प्रति तारतम्य बताते हैं। मन में तो आप के भी वल्लवी भाव सखी भाव और दासी भाव प्रकट ही है, हां बाहर अपने नायकत्व को भी नहीं

इदानीं तु भावातिशये बहिरपि प्रकटतर एवेत्यनेन प्रियां प्रति विज्ञप्ति साहाय्यम् । अन्यच्च अहोऽधुना कीदृशीनव वल्लवोसङ्गेन तव शोभा दर्शनीयैवेति भव्यतार्थः । तम प्रत्ययानुक्तिनायिकलीलापर्यवसायित्वात्सर्व सौख्यत्वात्तत्सुखमयी । अहो धन्येयं वृन्दाटवीं यत्र रहो भावोऽपि प्रकटतरो भवतीत्य सङ्कोचेन क्रीडास्थलप्रकाशनार्थमटवीपदप्रकट्पदनैकट्यं सदैव । ननु कादाचित्कं एतादृशं कौतुकं सदैव भवतीत्यर्थः एवं श्रुत्वा प्रियावेषेपि स्वासक्तशीलेन केलिश्रमदास्यम्मृत्वा श्रीमतीचरणमेव हृदय कमलेऽति प्रियतया संवाह्य निहितम् । तदा कृपाद्रवेण स रोमाञ्चितां प्रियोरःकृतयावकमुद्रास्तदनन्तरदत्तसौरतां च प्रियां दृष्ट्वा तस्य पूर्णानन्दं च दृष्ट्वा वदति भक्तानां भावोत्सवेन भजमानानां रसकामधेनुमिति । स्वपदपरागविरुदस्मारणार्थं मधुर रसः शृंगार एव सुधा तां स्यन्दि प्रश्रुति शीलं पादारविन्दम् यस्याः । मकरन्दश्रवणं कञ्जधर्म एव । अहो कञ्जे

रसकलश

छोड़ सकते । अतः एकान्त में छिपा रखने योग्य, दासी के लिये असम्भव सा देखा गया । अब भाव अतिशय या उद्रेक के होने पर तो बाहर भी यह प्रकटतर ही है इससे प्रिया जी के प्रति प्रार्थना करने में सहायता की गई है ।

कए बात और भी है अहो ! अब आप कैसी हैं, नई गोपी के संग से आपकी शोभा देखने ही योग्य हो गई है यह 'भव्या' कहने का तात्पर्य है । प्रियतम की लीला में पर्यवसान होने के कारण यहाँ तमप प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया गया । प्रियतम की लीला सबके लिये सुखद होने के कारण कारण तत्सुख से पूर्ण है अहो धन्य है यह वृन्दाटवी की जहाँ एकान्त भाव भी प्रकट तर हो जाता है । अतः बिना सेवकों के क्रीडास्थल को प्रकाशित करने के लिये अटवीपद-प्रकट पद की निकटता है । सदैव कहने का तात्पर्य है कि यह कौतुक कभी कभी नहीं होता । प्रत्युत सदा ही होता रहता है । ऐसा सुनकर प्रिया जी के वेश में भी अपने आसक्तशील के कारण केली या (क्रीडा) श्रम और दास्य का स्मरण आ जाने पर श्रीमती राधा जी के चरण कमलों को अति प्रिय होने के कारण संवाहन करके रखा तब कृपा से द्रवित हो जाने के कारण प्रिया जी रोमाञ्चित हो गयी और उन्होंने प्रियतम के वक्षः स्थल पर अपने चरणों के यावकरस (महावर) से मुद्रा (चिन्ह) कर दिया, फिर सूरत सुख भी दिया ऐसी प्रिया जी को देखकर और श्री श्याम सुन्दर को पूर्ण आनन्द मग्न देख कर कहते हैं ।'भक्तों के—भावोत्सव भजनसे करने वालों के लिये रस 'कामधेनु' इस अपने चरणों की धूलि की प्रशंसा का स्मरण कराने के लिये मधुर रस श्रृङ्गार रूपी सुधा का स्यन्दन या प्रस्रवण करने के स्वभाव वाले चरण कमल हैं जिनके, मकरन्द या

कञ्जश्रवणं तद्नूनतारसपूरणार्थमिवेति दर्शनीयमेव। अहह ! कञ्ज-जात्योरप्यनुग्राह्यानुग्राहकभेदइति भङ्गयन्तरोक्तिर्दर्शनान्दमयी भक्तानामिति बहुत्वम् सामान्यार्थे ताटस्थ्यवाक्यकटाक्षः। अहो ! भजनप्रभावो यत्स्पर्शोऽपि दुर्ल्लभस्तद्धृदयनिधानं सरोजेति तद्धृदये भावौदार्य्यं ध्वनितम्। तदर्हमेव निधानं न चित्रिमिति ध्वनिः। समजातौ पराप्रीतिरिति व्यङ्ग्‌-यमरविन्दपदं च मधुरेति सुधेति द्वयोरास्वादाप्यायनसाक्षिकं वक्तृसखी-हृदयं तत्सुखसुखित्वेन स्वहृदयद्रवणप्रेमविकारदर्शनान्तरोक्तिरपि भक्तानामस्माकमिति ज्ञेया। अतः सान्द्रानन्दाकृतिः । आनन्दाकृतिस्तु प्रियएव। परन्तु तस्याप्यानन्दपूरणात्सान्द्रेति । अतएव तस्यास्माकं च प्रतिक्षणनवनवप्रियतास्पदतया नवनवप्रेमलक्ष्मीः सर्व्वाभिलाषपूरणाद-मन्देति एवं रूपा नः स्फुरतित्वित्युक्तमेव। मुक्तकपक्षे योऽन्यत्राकथनीयरहस्यो

रसकलश

पुष्परस बहाना वह कमल आदि का धर्म है अहो कमल से कमल का बहना न्यूनरस की पूर्ति के लिये ही दर्शनीय है। अहो कमल जाति के दोनों को परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहक का भेद है यह प्रकारान्तर से कहा गया है जो दर्शन के आनन्द से परिपूर्ण है

'भक्तना' में बहुवचन सामान्य अर्थ में तट स्थता के वचन द्वारा कटाक्ष करने के लिये कहा गया है। अहो यह भजन का प्रभाव है कि जिसका स्पर्श पाना भी दुर्लभ था वह चरण हृदय पर रख दिया गया। सरोज शब्द से प्रिया जी के हृदय में भाव की उदारता ध्वनित होतो है, उसको अनुरूप ही निधान यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है यह व्यङ्ग्‌य है। सामान्य जाति में परम प्रेम हुआ करता है यह व्यङ्ग्‌य है, यहाँ अरविन्द, मधुर और सुधा शब्द से आस्वाद और आप्यायन व्यङ्ग्‌य है जिसका साक्षी व्यक्ता सखी का हृदय है, जो कि तन्सुख होने के कारण अपने हृदय के द्रवित होना और और विकारों के दर्शन के अन्तर कहना भीं हम भक्तों का हो है यह जानना चाहिये । अतः सान्दा-नन्दा कृति कहा गया । आनन्द कृति तो श्याम सुन्दर हैं ही ? परन्तु उनके भी आनन्द की पूर्ति करने के कारण सान्दा-नन्दा कृति श्री राधा हैं। इस-लिये उन श्याम सुन्दर और सखी जनों के प्रत्येक क्षम में नवीन-नवीन प्रीति पाच होने के कारण नवीन -नवीन प्रेम की लक्ष्मी हैं अभिलाषा पूर्ण करने के कारण वे अमन्दा भी कही गयी हैं इस इस स्वरूप की वे श्री राधा हमारे हृदय में स्फुरित हों। ऐसा पहले कहा ही जा चुका है।

इस श्लोक को अन्य श्लोकों से असंलग्न या मुक्तक माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि जो अन्य स्थानों पर अकथनीय रहस्य रूप वल्लवी या सखीभाव है वह

वल्लवीति सखीभावः । सोऽत्र वृन्दावने स्फुटतर एव । तेन भावेन प्राप्याम् प्राप्तौ तमप्रत्ययानुक्तिः । सखी वृन्दैरनालक्षितेति वा एकं सख्यापि नो लक्षितमिति । द्वितीयशतकपञ्चत्रिंशपद्योक्तस्वनिजदास्यन्यतमैकसम्वेद्यार्थं रक्षणार्थं ।

यद्वा प्रकटतरो निरावृतो निरूपाधिःशुद्धोज्ज्वलमाधुर्यतत्सुखमयोरहइति दम्पतिक्रीडादर्शनार्हो यो वल्लवीभावो ललितादिवद्दास्यभाव एव भव्यं मङ्गलं पुण्यं सुकृतं, तत्प्रापकं, यस्या इति तद्भव्यान्यथानुपपत्तिः । गोप्येकभावाश्रयेत्युक्तेःप्रकटउपासकरूपापेक्षया तर प्रत्ययेन सिद्धतादृशदेहत्वं ।

अद्वा अप्रकटे नित्यलीलायां तु प्रकट एव पश्चाल्लौकिककृपापात्रनिज परिजनार्थमतिशयेन लोके प्रकटो यो रहो गोप्यो वल्लवीभावो श्रीवृषभानुनन्दिनीत्वं तेन भव्या सुन्दरीकृपादत्त तादृशमाधुर्य्यदर्शनत्वात् । अन्यथा पूर्वमैश्वर्यापेक्षया ब्रह्माद्यैरपि परमगोप्यं यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानु गेहे ब्रह्मादिदुर्गमगतेरित्याद्युक्तेः । कल्पद्रुमेति मन्त्रमयीत्वान्नित्यलीलोक्ता

रसकलश

यहाँ श्रीवृन्दावन में स्फुटतर ही है, उस भाव से प्राप्त करने योग्य । यहाँ पर भू धातु प्राप्ति अर्थमें है, यहाँ तम् प्रत्यय नहीं कहा गया । ऐसे सखीवृन्दों से भी अनालक्षिता यह अर्थ है, अथवा एक सखी से भी न देखा गया । द्वितीय शतक के पैंतीसवें पद्य में कहा गया है कि अपनी दासियों में से किसी एक दासी से ही संवेद्या है गोप्य अर्थ की रक्षा के लिये अथवा प्रकटतर का अर्थ है अनावृत निरुपाधि, शुद्ध उज्जवल माधुर्य और तत्सुखसुखिता से पूर्ण । रहःया एकान्त अर्थात् प्रिया प्रियतम की क्रीडा के दर्शन के लिये अधिकारी जो वल्लवीभाव ललिता आदि के समान दासीभाव वही भव्य मंगल या पुण्य या सुकृत उसके प्रापक हैं । क्योंकि जिसके उस भव्य या पुण्य की अन्य किसी प्रकार से उपपत्ति नहीं बैठती । जैसाकि 'गोप्येकभावाश्रया' द्वारा भी कहा गया है । प्रकट उपासक रूप की अपेक्षा से तर प्रत्यय के द्वारा वैसा सिद्ध देह होना सूचित किया गया है । अथवा अप्रकट नित्य लीला में तो प्रकट ही है बाद में लौकिक कृपापात्र अपने परिजन के लिये विशेष रूप से लोक में प्रकट है जो एकान्त में गोप्यवल्लवीभाव अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनीरूप उससे भव्या सुन्दरी श्रीराधा हैं क्योंकि कृपा से ही उन्होंने ऐसे माधुर्यमय दर्शन दिये हैं । नहीं तो पहिले ऐश्वर्य की अपेक्षा से ब्रह्मा आदियों द्वारा भी परमगोप्य थी, अब जो वृषभानु जी के घर में प्रादुर्भूत हैं, ब्रह्मा आदि के लिए जिनकी प्राप्ति दुर्लभ है इत्यादि कहा गया है । कल्पद्रुम इत्यादि कहने का तात्पर्य है कि मन्त्रमयी होने के कारण

वल्लवीति स्वारसिकोत्वेन व्रजलीलोक्ता तथा चान्यदोभयां विना भक्तानां तादृशान्तरङ्गभावनानन्यतया रागानुगया सेवमानानां हृत्सरोजे माधुर्य्या-मृतस्त्रवच्चरणकञ्जेति । त्रिधा स्थितिर्द्दशिता । एवं सदैवास्माकं सिद्ध साध्यसाधकरूपाणां सान्द्रानन्दाकृतिः । सैव स्फुरतु । अनेन हिताल्याः सर्व्वत्रावस्थायां नवनवप्रेश्रमायतया स्वेष्टसङ्गस्थितिर्ज्ञेया साधकाचार्य-दशायामर्च्चास्वरूपे श्रीप्रियारूपे भावनायां च नित्यसेवास्थितिरिति ज्ञेयम् । नित्य नैमित्तिकलीलायां तु नित्यसङ्गीत्वमेव । अत्रापि तमानु-क्तिर्विगलितवेद्यान्तरदशायां प्रेमरसैकभासमानस्वरूपतासूचिनी यथा क्वयानं क्वस्थानमिति वैवश्यं श्लोके दृश्यम् । द्वितीय शतके नवतितमे । अथवा तमप् प्रत्ययः साधकभक्तरसिक महिमार्थमपि ज्ञेयः ।

किञ्च केलिकन्दं नित्यमुक्तं वल्लवीति नैमित्तिकमुक्तं मधुररससुधा स्त्रवणं तु भक्तानामेवोक्तम् । यथा नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारदेतिवत् । स्त्रवदनुभावोऽत्रैव ज्ञेयः ।

रसकलश

नित्यलीला कही गई, वल्लवी कहने के द्वारा स्वारसिकी होने से व्रजलीला कही गई तथा अन्यत्र इन दोनोंके अतिरिक्त भक्तोंके वैसे अन्तरङ्गभाव से अनन्यता के कारण रागानुगा भक्ति के द्वारा सेवा करने वालों के हृदय कमल में माधुर्य अमृत बह रहा है चरण कमलों से जिनके इस प्रकार तीन स्थितियाँ दिकाई गई हैं । इसी प्रकार सदा ही हम सिद्ध और साधक रूप दासियोंके लिए सान्द्र आनन्द स्वरूपा वे ही स्फुरित हों, इससे श्रीहितसखी के सभी अवस्था में नवीन नवीन प्रेम का आश्रय होने से अपने इष्ट के साथ स्थिति जाननी चाहिये । साधक आचार्य के रूप में अर्च्चाविग्रह में श्रीप्रिया के स्वरूप की भावना में नित्य सेवा में स्थिति है ऐसा जानना चाहिए । नित्य और नैमितिक लीला में तो नित्य सङ्गिनी होना सिद्ध ही है । यहाँ पर भीं तमप् प्रत्यय नहीं कहा गया जोकि वक्ता की विगलित वेद्यान्तर (अन्य सभीं ज्ञेयों का ज्ञान नष्ट हो जाने वाली) दशा में प्रेमरस के साथ प्रतीत हो रही एक रूपता का सूचक है जैसाकि-कहाँ जाना कहाँ रहना इत्यादि द्वितीय शतक के नव्वे पद्य में विवशता देखी जाती है । अथवा तमप् प्रत्यय का प्रयोग साधक भक्तों और रसिकों की महिमा के लिए जानना चाहिए ।

और भी एक बात है यहाँ केलिकन्द के रूप में तो नित्व लीला कही गयी और वल्लवी इत्यादि द्वारा नैमितिक लीला । मधुररसरूपी सुधा का बहना तो भक्तों क लिए ही कहा गया है जैसाकि-मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता योगियों के हृदय में नहीं रहता मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, हे नारद मैं वही रहता हूँ इत्यादि में कहा गया है । बहने का प्रभाव

पूर्वार्द्धोक्तदुर्ल्लभमपि तदनुभावकभक्तहृन्सरोजद्वारेव माधुर्यानन्दप्रेमलक्ष्मी-स्वरूपयाथार्थ्यं दृश्यमिति भावः ॥१२६॥

तदेवं भक्तानामिति प्रियप्रेमातिशय श्रुत्यनुभवपूर्वकजातकृपावैवश्ये प्रेमलक्ष्मीतिश्रुतिसाहसोद्दीप्तपूर्णप्रेमोष्णाकिरणसत्वरोदिततद्वैचित्येन विर-हाभासातङ्कमाह—

शुद्धप्रेमैकलीलानिधिरहह महातङ्कमङ्कस्थिते च,
प्रेष्ठे विभ्रत्यदभ्रस्फुरदतुलकृपास्नेहमाधुर्यमूर्त्तिः।
प्राणालीकोटिनीराजितपदसुषमामाधुरी माधवेन,
श्रीराधा मामगाधामृतरसभरितकर्हिदास्ये-
ऽभिषिञ्चयात् ॥१२७॥

प्रेम्णः शुद्धत्वं नाम सदासहजस्वसुखविस्मृतिपूर्वकप्रियसुखानुगति-स्ताहृशेप्रम्ण एवैका मुख्या केवला च लीला तस्या निधिः सिन्धुः। याव-देकवाम्यहठमानप्रत्याख्यानादिसर्वं रसपोषकमेवेति तत्सुखमेवायातम्। यथा याच मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिरितिप्राञ्चः। अतः प्रियरति-

रसकलश

यहाँ पर जानना चाहिये। पूर्वाध में कही कही गई दुर्लभ वस्तु भी इस बहने के प्रभाव वाले भक्तों के हृदय कमल के द्वारा ही माधुर्य और आनन्दमय प्रेम लक्ष्मी स्वरूप की यथार्थता देखी जा सकती है यह अभिप्राय है ॥१२६॥

इस प्रकार 'भक्तानाम्' इत्यादि पद्य द्वारा प्रियतम के प्रेमातिशय को श्रवण द्वारा अनुभव करने के साथ उत्पन्न हो आई कृपा की विवशता में प्रेम लक्ष्मी इस नाम के श्रवण से साहस के साथ उद्दीप्त हुये पूर्ण प्रेम रूपी सूर्य को शीघ्र ही उदय हो उठे श्रीराधा जी के वैचित्र्य से विरहाभास के आतङ्क या भय का वर्णन करते हैं—

शुद्ध प्रेमलीलाओं की एक मात्र निधि, अनल्प भाव से स्फुरित हो रही अतुल कृपा स्नेह और माधुर्य की मूर्ति, प्राणप्रिय कोटि कोटि सखियों द्वारा जिनके चरणों की परम शोभा के माधुर्य की आरती उतारी गई है ऐसी श्रीराधा अहह, प्रियतम के अङ्क में स्थित रहने पर भी महाआतङ्क को (वियोगभय को) धारण करती हुई अगाध अमृत रस से भरे हुए अपने दासीपद के अधिकार पर मेरा अभिषेक कब करेंगी ॥१२७॥

प्रेम की शुद्धता यही है कि सदा सहजभाव से अपने सुख को भूलने के साथ-साथ प्रियतम के सुख का अनुगमन करना ऐसे प्रेम की एकमात्र मुख्य और केवल लीला की नोधि या सिन्धु। क्योंकि जितने भी एकमात्र प्रतिकूलता हठ, मान और प्रत्याख्यान (अस्वीकृति या निषेध) आदि कार्य है सभी रस के पोषक ही हैं इसलिए इनसे भी प्रिय-

वर्द्धनोद्यमत्वाच्छुद्धत्वम्, न त्वेवमन्यत्रलोकेऽपि शुद्धत्वं शङ्क्यं, किञ्च यावत्कामसंवलितत्वान्मायाकालबाधिताभिलाषववैरस्यात्। दृश्यते ऽपि चात्र लोकानुकृतिः सापि शुद्धप्रेममय्येव, तत्साक्षिणीमहानुभावमनीषैव। यथा च "त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यता' मिति गोपीप्रेम। तदा तच्चूड़ामणौ कैमुत्यमित्येव परीक्षा नैतादृशप्रेमालोकतर्क्यो येनानुभूतेन, स्वरूपमुच्यते, तादृशशुद्धप्रेमसिन्धुरत्रश्रीमत्यां सदास्थाय्येव, परन्तु यदा तद्विरुदेन स्मर्य्यमाणे स्वरूपे उत्फणनं स्यात्तदा तस्यैव प्राधान्यात् स्वस्यसंयोगात्मकरसरूपविस्मृतिपूर्वकं प्रियस्यासक्तिप्रेमशीलतन्मयतायां प्राप्तायां स्वासज्याहंकारविस्मृतिस्तत्र द्वौ भेदौ। प्रियाहंकारमनने न क्वापि प्रिये कान्ते, इति। द्वितीये च उभयैक्याहंकारमननेन द्वितीयादर्शनात् स्वपूर्वाभ्यस्त प्रियात्ववाण्या, हा मोहन कान्तेति वाक्यम्।

ननु संयोगानन्दलीनतायां प्रियाऽभ्रान्तिः कथं स्यात्तत्रैवं ज्ञायते। अनिष्टशंकीनिबन्धुहृत्दयानीतिवत् निकटस्थितप्रेष्ठवस्तुनो गाढ़यातिगाढ़ग्रह-

रसकलश

तम का सुख ही परिणाम में आता है जैसा कि कहा भी गया है-जो परस्पर दुर्लभ होना है वह काम की परमरति या प्रीति है, ऐसा प्राचीन आचार्य मानते हैं। अतः यह सब प्रियतम की प्रीति बढ़ाने का उद्यम होने से प्रेम की शुद्धता प्रकट होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसे तो लोक में अन्य नायक नायिकाओं में भी प्रेम की शुद्धता शङ्कित हो सकती है दूसरी बात यह भी है कि जितनी भी बातें हैं सबमें काम से विवशित होने के कारण माया और काल से बाधितअभिलाषाओं के वश होने से विरसता ही विरसता है। फिर इस लीला में लोक का अनुकरण भी देखा जाता है। वह अनुकरण भी शुद्ध प्रेम से ही भरा हुआ हैं इसकी साक्षी महानुभावों की बुद्धि ही है। जैसाकि एक त्रुटि का समय भी हमारे लिये एक युग के समान हो जाता है। यह गोपी प्रेम की दशा है तब उन गोपीजन की चूड़ामणि का तो क्या कहना ? यही परीक्षा है। ऐसे प्रेम के प्रकाश में उसका तर्क या ऊह नहीं दिया जा सकता। जिसका अनुभव करके उसका स्वरूप कहा जा सकता है। ऐसा शुद्ध प्रेम का सिन्धु यहाँ श्रीमतीराधिकाजी में सदा ही स्थायी है। परन्तु जब उस प्रशंसा सूचक नाम से स्मरण करने पर इस शुद्धप्रेमसिन्धु स्वरूप में उभारआता है तब उसी को प्रधानता से अपने संयोगात्मक रसरूप की विस्मृति के साथ प्रियतम की आसक्ति प्रेमशीलता और तन्मयता के प्राप्त होने पर अपने आसज्यता के अहकार के मनन से दूसरा कोई न दीखने के कारण अपनी पहलीं अभ्यस्त प्रियाभाव की वाणी से 'हामोहन! हाकान्त इत्यादि वाक्य कहा जाता है।

अब प्रश्न होता है कि संयोगानन्द में लीन हो जाने पर प्रिय के अभाव का भ्रम कैसे होगा ? इस विषय में ऐसे जानना चाहिये। 'अनिष्ट शङ्का करने वाले होते हैं वन्धुजन के हृदय' इत्यादि के अनुसार निकट में स्थित प्रियतम वस्तु को गाढ से अतिगाढ-

णेऽतिप्रेमकरणे च परोक्षेति दुर्लभेति शंकैवहेतुः । अत्र तु उत्फणनदशायां मनसोऽपि सूक्ष्मान्तर्विचारे, हा हा यद्ययं परोक्षश्चेत्किंस्यादिति मनसैव वाचं वाचं गाढ़ालिङ्गनेऽपि शङ्कासङ्कल्पक्रियमाणदशायांकतिपयक्षणसंयोग-स्मृतिः पुनः संकल्पे वृद्धे च संयुज्यमानताविस्मृतिस्तदा प्रेमगाम्भीर्य्ये वियुज्यमानताहंकृतौ क्वासिकान्तेति प्रलपेदिति यथाच निद्रादौ । अत्या-वेश्यवस्तुस्मृतिर्निद्रागाढ़े च तस्यैव दौर्लभ्यस्वप्नं स्यात् । येन यत्र तत्र मृग्यन्नेव भ्रमतीति प्रसिद्धम् । यथा वैचित्यं अत्यावेश्य प्रेष्टत एव भवतीति दिक् तल्लक्षणम्, "संयोगेऽपि वियोगाभा रागोत्कंठानवस्थिता ।

असंबद्धं यदाचष्टे तद्वैचित्यमितीर्य्यते ।।" एवं निधिरपि ।

अहहेत्याश्चर्य्ये विचित्ता मज्जतीति वक्ष्यमाणातंकार्थं, प्रकर्षेण प्रिये अंकस्थिते महातंकंबिभ्रती । चकारः समुच्चये । अथवा अहहेतिद्विर्वाच्यं अहो आश्चर्य्यमयः प्रेमनिधिस्तत्रापि च पुनः पश्यताश्चर्य्येऽप्याश्चर्य्यं,यत्सिंधौ

रसकलश

आलिङ्गन करके अपने हृदय से लगा रखेने और अत्यन्त प्रेम करने पर वह परोक्ष है अति दुर्लभ है ऐसी प्रतीति ही इस शङ्का का कारण है। यहाँ पर तो प्रेम सिन्धु में उभार आने की दशा में मन के भी सूक्ष्म आन्तरिक विचार में मग्न हो जाने पर हा हा ! यदि यह प्रियतम आँखों से ओझल हो जायेंगे तो क्या होगा ऐसा मन से ही कह कहकर गाढ आलिङ्गन में भी शङ्का का संकल्प करने की अवस्था में कुछ क्षण तो संयोग की स्मृति रहेगी फिर संकल्प के बढ़ जाने पर मिलन की विस्मृति हो जाती है तब प्रेम की गम्भीरता में' मैं बिछुड़ रही हूँ' इस प्रकार के अहङ्कार में 'कान्त, क ाँ हो' ऐसा प्रलाप करती हैं जैसा कि निद्रा में अति आवेश में आकर वस्तु की स्मृति आती है किन्तु निद्रा की गाढता में उसकी ही दुर्लभता का स्वप्न आता है। जिससे प्रेमी जहाँ तहाँ ढूँढता हुआ ही घूमता है ऐसा प्रसिद्ध है। ऐसे ही वैचित्य अवस्था तो प्रियतम में अति आविष्ट होकर ही होती है, यह संक्षिप्त विचार है। उस वैचित्य का यह लक्षण है—संयोग में भी वियोग की सी प्रतीति, और अनवस्थित रागोत्कण्ठा, जिसमें असम्बद्ध प्रलाप आदि कार्य होते हैं वह अवस्था वैचित्य कहलाती है। ऐसे शुद्ध प्रेम को एकमात्र लीलाओं की एकमात्र निधि होती हुई भी। 'अहह' यह आश्चर्य बोधक है। विचित्तावस्था में मग्न हो जाती है यह जो आगे कहा जाने वाला आतङ्क है उसी के विषय में आश्चर्य है 'प्रेष्टे' प्रकृष्ट इष्ट अथवा 'प्रेष्ठे' प्रियतम के अङ्क में स्थित रहने पर भी महान् आतङ्क को धारण करती हुई। 'च' समुच्चय को बोधक है। अथवा अहह ! यह दोबारा पढ़ना चाहिये। अहो आश्चर्यमय प्रेम सागर है। उस पर भी देखो कि आश्चर्य में भी आश्चर्य यह है कि जिस सागर में प्रकृष्ट इष्ट परम प्रिय मग्न होता है आज उसी प्रेम

प्रेष्टो मज्जति, तत्रेदानीं तत्प्रेम्णि निर्मज्जत्येषेति । 'रुक्तापशंकास्वातंक' इत्यमरः । आतंकं प्रेमरुजं दौर्लभ्यतापं वा । एवमुक्तप्रकारेण प्रेमातिशयवशगाढांकालिंगिताया प्रियाया ऐक्यप्राप्तौ उभयैक्याहंकारे सचेतने सति द्वितीयादर्शनान्महाव्याकुला हा सोहनकान्तप्राणप्रियमदेकजीवनो क्वासीत्यासज्यात्वावरणभंगवाक्यमकस्मात् प्रललापेत्यर्थः । यथात्रैव पूर्वमुक्तम्, "अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं, हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्" इत्येतयोः पद्ययोरत्र द्विदलात्मकशृंगारे ईदृशविप्रलम्भनिष्पादकत्वं परिभाषायामुक्तमेव । न चान्यादृशविच्छेदपारतन्त्र्यं निलयनकुञ्जान्तरादिस्तदिच्छाकौतकमयः । भावुकान्तरैरन्योऽपि मन्यते चेद्रुचिभेदाल्लीलान्तरे ज्ञेयः ।

अत्र निकुञ्जे तु पदं सहेत् भ्रमरस्य कोमलं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिण इति मृदुकठिनयोरेव तारतम्यम् । ननु कथं शृंगारे विश्रंभाभाव-स्तत्रैवं ज्ञेयम्, सख्ये विश्रम्भः प्रेमास्ति शृंगारे त्वविश्रम्भ एव रसदायीति प्राञ्चः । अत एव वक्ष्यति कौस्तुभमणौ संभूतशोकक्रुधेति । पुनश्चतुः-

रसकलश

में यह राधा निमग्न हो रही हैं। आतंक शब्द रोग, सन्ताप, शंका अर्थ में है ऐसा अमर कोष का मत है । यहां आतंक प्रेम का रोग है जिसमें प्रियतम की दुर्लभता के अनुभव से सन्ताप हो रहा है । इस कथित प्रकार से प्रेमातिशय के कारण गाढ़ भाव से अङ्क में आलिङ्गित प्रिया जी के साथ प्रियतम को एकत्व प्राप्ति हो जाने, पर दोनों को एकत्व के अहङ्कार के सचेतन हो उठने पर दूसरे के न दीखने पर अत्यन्त व्याकुलता होकर 'मोहन, कान्त, प्राण प्रिय, मेरे एकमात्र जीवन तुम कहाँ हो' इस प्रकार के आसज्यात्व रूपी आवरण के भङ्ग से सम्बद्ध वाक्य अकस्मात् बोलने लगीं यह तात्पर्य है । जैसा कि यहाँ ही पहिले 'अकस्मात्' दयित के अङ्क में स्थित रहने पर 'हा मोहन' इस प्रकार कोई मधुर प्रलाप करती है ।' इत्यादि पद्यों में कहा जा चुका है ।

यहां द्विदलात्मक शृङ्गार में ऐसे विप्रलम्ब का विधान करना परिभाषा में पहले कहा ही जा चुका है । यहाँ पर अन्य किसी प्रकार के वियोग की अधीनता नहीं है । छिपने के निकुञ्ज आदि तो उनकी इच्छा से कौतुक करने के लिए हैं । अन्य भावुक अन्य प्रकार का भी वियोग मानते रहें उसे रुचि भेद के कारण अन्य लीलाओं में सङ्गत कर लेना चाहिये यहाँ निकुञ्ज में तो—'शिरीष का कोमल पुष्प भ्रमर के चरण स्पर्श को कभी सहन कर भी ले, पर वह पक्षी के चरण स्पर्श को कभी सहन नहीं कर सकता' इस उक्ति के अनुसार वैचित्त्य जनित ही वियोग है, निकुञ्ज लीला और व्रजलीला में यही कोमल कठोरों का तारतम्य या अन्तर है। अब प्रश्न होता है कि शृङ्गार में विश्रम्भ का अभाव क्यों है उसका यह उत्तर जानना चाहिए । सख्य में विश्रम्भ होता है किन्तु शृङ्गार में प्रेम अविश्रब्ध अर्थात् अविश्वस्त रहता हुआ रसदायक होता है ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है । इसीलिये आगे कहेंगे—कौस्तुभ मणि में उत्पन्न हो आया

षष्ठीकलाविदग्धापि मुग्धेति श्रीमती शीलमाधुर्यं महाशयैर्गीतम् । विरुद्धधर्माश्रयत्वमप्यद्भुतरसत्वाच्छोभनम् । अथवा प्रियानुकरणं लीलेतिपक्षे । तत्सुखसुखित्वेऽपि यदा तस्यातितृष्णालौल्यदोषोद्घोषः प्रिययाकृतस्तदा तेन सखी प्रतिभूः कृत्वा स्वासक्तिचिन्हं समर्थितं, तद्धारणे तस्याः प्रियानुकरणं लीलेति सिद्धम् । परस्वभावावेशेन नैवानुकूलं बहिरिति वाम्यध्रौव्यशीलं विस्मृत्यांतरंगमेवस्फुरितम् । अतस्तन्मनोरथ एव साधित इतिरीत्यापि तत्सुखं शुद्धप्रेम तत्र । अहहेति कष्टे लीलाकरोतु नाम परन्तु सत्यतया महातापं विभ्रतीति हा किं जातमिति सखीहृदयशंका करणे हर्षातिशये किं स्वरूपं वा साक्षादिति भ्रममात्र आतंकोऽस्तु, परन्तु महानिति प्रलापादिकर्त्तेति सूचितम् ।

अतोऽदभ्राण्यनल्पानि स्फुरन्ति अत्युज्वलचमत्कृतानि छविदायिनी वा दृष्टरोमाञ्चकम्पादिचमत्कारकराणि अतुलान्यसमोर्द्धानि निरूपमानि । कृपा च स्नेहश्च माधुर्य्यञ्च, तेषां मूर्त्तिस्तद्घटितैवेत्यर्थः । सर्वेषां सर्वविशेषणानि

रसकलश

है शोक और क्रोध जिनका । और फिर चौसठ कलाओं में निपुण होती हुई भी मुग्धा है यह श्री मती जो के शील स्वभाव का माधुर्य महानुभावों ने गया है परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना भी अद्भुत रस के कारण अच्छा लगता है । अथवा 'प्रिय के अनुकरण का नाम लोला है । इस पक्ष में तत्सुख-सुखी होने पर भी जब श्री श्यामसुन्दर का अति तृष्णा से चञ्चल हो उठने के दोष का प्रियाजी द्वारा वर्णन किया जाता है तब उनके द्वारा सखी को साक्षी करके अपने आसक्त होने के चिह्न का समर्थन किया गया है । अब उस चिह्न को श्री राधा जी ने धारण कर लिया तब प्रिय की अनुकरण लीला है सिद्ध हाता है । दूसरे के स्वभाव का आवेश होने पर 'बाहर बिलकुल अनुकूल नहीं है । इत्यादि में विपरीत स्वभाव की दृढ़ता को भुलाकर अन्तरंग ही स्फुरित हो गया । अतः प्रियाजी ने प्रियतम के मनोरथ को सिद्ध कर दिया इस रीति से भी तत्सुख हो शुद्ध प्रेम है यहां पर 'अहह' यह कष्ट का सूचक है' लीला करे, परन्तु यथार्थ में महाताप को धारण करती हुई 'हा ! क्या हो गया, इत्यादि सखीजन के हृदय की शंका है, 'चकार' के द्वारा हर्ष का अतिरेक हो जाने पर क्या स्वप्न देख रहा हूँ या साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ ऐसा भ्रम मात्र आतङ्क हो, परन्तु 'महान्' इत्यादि प्रलाप आदि के कर्ता हैं यह सूचित होते हैं ।

अतः अद्भुत अर्थात् अनल्प संख्या में स्फुरित हो रहे अत्युज्जवल चमत्कारों वाले या छविप्रद निकुञ्ज को देखने वालों को रोमाञ्च कम्प आदि चमत्कारों के करने वाले अतुल असम और अनतिशायी अर्थात् निरुपम जो कृपा, स्नेह और माधुयः उनकी मूर्ति अर्थात् उन्हीं के द्वारा बनाई गई प्रतिमा अथवा सबको क्रमशः सभी विशेषण लगाये

वा क्रमेण त्रयाणां त्रयमिति यथा सहृदयगम्यम् 'कृपास्यात् पोष्यवर्गे च स्नेहः सख्यरसे तथा । माधुर्य्यंविस्मृतैश्वर्य्येज्ञेयमेतन्मनीषिभिः' । दैन्यदर्शनेन मयानन्यासक्तपोषणमेव कार्य्यमिति स्वाम्ये न दानवीरत्वम् । कृपा । तद्रतिवशस्वान्तर्द्रवेण तदार्द्रीकरणं स्नेहः,आत्मैक्यं ततश्चैक्वण्येनक्षणान्तरजशुष्कतामात्रस्याप्यदर्शनं, एवं तैलजलयोरार्द्रत्वे भेदः । प्रियपक्षे दृश्यसौष्ठवेऽपि रसनास्वाद्यत्वं माधुर्य्यं यथा तथैव केवलासज्यात्वेप्यासक्तरसपोषणोन्मुखत्वम् । सखीनां तु दृशो लाम्पट्येन कदाचिदपि न परावर्त्तन्तेति दृग्भोग्यं माधुर्य्यम् । एवमिदानींतनम् कृपादित्रयम् युगपदुज्जृम्भितं लब्धबलं दृष्ट्वा श्रीहितालो वक्तीति ज्ञेयम् । प्रस्तुते तदेव दर्शयति, तत्प्रेमवैचित्यप्रलपनातंकं दृष्ट्वा माधवेन तन्मध्वासवास्वादमत्तेन स्वविषयिक प्रेमार्त्तित्वं ज्ञात्वा स्वभाग्यातिशयमननपूर्वकं प्राणराजीनीराजिता श्रीमती प्रतिस्वहृदयत उद्धरणानुकरणकर्त्तृकरभ्रमणपूर्वकमितस्ततो निक्षेपोनीराजनानुभावस्तन्निर्मूछनजीवनाः सख्यः इति युक्तिः ।

रसकलश

जाते हैं । अर्थात् तीनों के तीनों विशेषण हैं जैसा सहृदय के हृदय को प्रिय लगे । यहाँ कृपा पोष्य वर्ग में होती है, स्नेह सख्य रस में होता है तथा माधुर्य उसमें होता है जिसका ऐश्वर्य भुला दिया गया है । ऐसा बुद्धिमानों को जानना चाहिये ।' दैन्य दिखा कर श्रीराधाजी के द्वारा अनन्य भाव से आसक्त जन का पोषण करना ही कार्य है । ऐसा कहा गया है । स्वामित्व या अधिकार के साथ दानवीर होना कृपा कहलाता है, उस कृपा से द्रवित हो जाना स्नेह कहलाता है । आत्मा एक है तथा चिक्कण होने के कारण क्षण के अनन्तर ही उत्पन्न हुई शुष्कता मात्र का भी दर्शन न होना जैसा कि तेल और जल के समान दोनों की आर्द्रता में भेद है ।

प्रिय के पक्ष में दृश्य की शोभनता में भी जैसे रचना द्वारा आस्वाद्यता का नाम माधुर्य है वैसे ही केवल आसज्या होने से भी आसक्त के रस का पोसण करने के लिये उन्मुख होना भी प्राप्त होता है । सखियों को तो दृष्टि की लम्पटता से कभी भी दूर नहीं रह सकते अतः दृष्टि द्वारा भोग्य माधुर्य है । इसी प्रकार इस समय कृपा आदि तीन बातें एक साथ उमड़ पड़ी उन्हें सबल हुआ देख कर श्री हित सखी जी कहती है ऐसा जानना चाहिये । प्रस्तुत प्रसङ्ग में यही दिखाते हैं वह प्रेम वैचित्य से प्रलाप करना और डरना देखकर उनके अधर मधु के आस्वादन से मत्त हुए माधव ने अपने विषय की प्रेम विह्वलता जानकर अपना परमसौभाग्य मानते हुए प्राणावली से श्रीमती की आरती की, और उनके प्रति अपने हृदय से उद्धरण का अनुकरण करने वाले हाथ को उतारते हुए इधर उधर रखा यही आरती उतारना हुआ 'सखियाँ श्री राधा पर अपना जीवन निछावर करती हैं इसकी यही युक्ति या रीति है ।

किञ्च तदातंकेन तासां प्राणाभावे प्राणालीकोटिनीराज्यनिक्षेपरूप-दानेन ता जीविता इति जीवनं तच्चेतनकरणं वा स्वामिनी सौभाग्यो-त्कर्षाहर्षलाभ इति । अथवा करं भ्रामयित्वा स्वकपोलेऽङ्गुलिमोटनमित्यपि तस्यैवानुभावः, कोटीत्यनेकधा करेण मनसा वचसा बहुशश्चेति । यद्वा प्रियहृदि एवमुल्लासो जातः किमेकप्राणंनीराजयेत्तदानीमेवातिप्रसादा-विष्टेन सत्यभावेन मनसाकोटिप्राणान् प्रकल्प्य नीराजितम् । एवं बहुशः करादिभिः करणं आलीपंक्तिरिति । अन्यच्च हर्षास्वादातिशयस्य देहमन-सोरनुन्माने वाचा प्राणानन्त्यं वदति । यथा पृथुराज्ञाविधत्स्वकरणायुतमेष मे वर इति । यद्वा प्राणचेष्टायां धातुः यावन्मात्र सर्वावयवप्रतिरोमसु चेष्टनं प्राणस्यैव प्रतिरोमसुहर्षेण तेषु तादात्विकभिन्न-भिन्नाहंकारेण तावत् प्राण-त्वम्, अतः प्रणालीरोमराजिरित्यर्थः । तासां कोटिभि नीर्राजिता, पदयो सुषमाया माधुरी यस्या इति । अत्रान्यावयवनीराजनं किमुवाच्यम् ।

रसकलश

एक और बात भी है कि उनके आतङ्क से इनके प्राणों का ही अभाव होने लगता है अतः अपनी कोटि कोटि प्राण पंक्तियों को नीराजित करके निक्षेप रूपदानके द्वारा उनको जिवित करतो हैं अतः जीवन का अर्थ है उनको चेतन करना या स्वामिनी के सौभाग्य के उत्कर्ष से हर्ष का लाभ होना। अथवा हाथ को घुमाकर अपने कपोल पर अंगुली रखना यह भी उनका ही कार्य या अनुभाव है। कोटि कहने से तात्पर्य है कि अनेक प्रकार से हाथ से, मन से और तन से अनेक बार नीराजना की। अथवा प्रिय के हृदय में इस प्रकार से उल्लास हुआ। एक प्राण से क्या नीराजना करु। उसी समय अति प्रसन्नता से आविष्ट होकर प्रिततम ने सत्यभाव से कोटि प्राणों की कल्पना करके नीराजना की या आरती उतारी। इस प्रकार बहुत बार हाथ आदि के द्वारा करना ही आली या पङ्क्ति है।

एक बात और भी है कि हर्ष तथा आस्वाद के अतिशय क शरीर आर मन में न समाने पर वाणी से प्राणों की अनन्तता का वचन बोलते हैं जैसे राजा पृथु ने प्रार्थना की मेरे दश हजार कान बना दो यही मेरा अभीष्ट वरदान है। अथवा प्राणधातु का अर्थ चेष्टा है जितने भी शरीर के अवयव हैं प्रत्येक रोम तक उन सबसे शुभ चेष्टा करना प्राण की ही चेष्टा है। प्रत्येक रोम में हर्ष होने से उनमें उस समय के भिन्न भिन्न अहङ्कार से उतने ही प्राणत्व आगये हैं अतः प्रणाली शब्द का अर्थ रोमराजि हुआ। उनकी कोटियों द्वारा नीराजित हुई है चरणों की परम शोभा की माधुरी जिनकी। यहाँ पर अन्य अवयवों द्वारा नीराजना करने की क्या बात कहें। 'चरणो की परमशोभा'

पदसुषमेति कथनभंगीमाह । तदानीं पदयोः करस्पर्शः । हृत्सरोजेति पूर्वपद्ये उक्तमेव पदं हृदि निधायाधायनेत्राभ्यां च स्पृशंस्पृशं प्राणान्नीराजयतीति । अहहेत्यत्रापि संगमयितव्यम् । शिरोधुवनपूर्वकं किमियं परमशोभाया माधुरी, मादृक् परिजनजीवातुरित्युक्त्वा मुखेनापि चुम्बति तदानीं तस्या आतंके भाग्यातिशयमननेन स्वापकर्षवशदौर्लभ्यमननेन च दासोऽस्मीति सेवायामप्रमत्तोंऽगलग्नः स्थितोऽस्मि, न क्षणमपि दूरगो मन्निमित्तमेवतावदातंकं, किं श्रीमती करोति इति पदस्पर्शभंगी, धन्येऽयं मद्भाग्यमञ्जरी पल्लिविता पुष्पिता चेति, पूर्णकृपापात्रोऽस्मीति । यवान् कृपोदधिविजृम्भः श्रीमत्यास्तावन्तं किमहमकिञ्चित्करः प्राणैकं नीराजये इत्युक्तिपूर्वकमात्मविवेद्यस्थितिर्ज्ञेया सहृदयगम्या। एवं कृपास्नेहमाधुर्य्यां प्रियमुखोक्त्या सूचितम् । एतादृशी प्रियपरमसौभाग्यभूमिसंसिद्धिपरमकाष्ठा श्रीराधास्वामिनी, मां तादृगानन्दभोक्त्रीं दास्ये तदानींतनवैवश्यावधानपरिचरणेऽभिमतः सिंच्यात् । प्रेममत्तां विह्वलां कुर्य्यादित्यर्थः कीदृशदा-

रसकलश

कहने का एक प्रकार है । उस समय चरणों का हाथों से स्पर्श करना भी समझ लेना चाहिये । 'हृत्सरोजे' या हृदय कमल में वाले पूर्व पद्य में कहा ही है कि उनके चरण को हृदय पर रख रखकर और नेत्रों से छू छूकर अपने प्राण निछावर करते हैं । अहह; इसको यहां पर भी संगत कर लेना चाहिये । सिर हिलाते हुए कि यह चरणों की परम शोभा की माधुरी मेरे जैसे जनों को जीवन देने वाली है यह कहकर मुख से भी चूमती हैं । तब उनके आतङ्क से प्रियतम अपना भाग्यातिशय मानने के साथ अपने अपकर्ष के कारण उन्हें दुर्लभ मानते हैं और मैं तो दास हूं, सेवा में सावधान हूं, चरणों के साथ सदा संलग्न रहता हूं, क्षणभर भी दूर नहीं जाता । मेरे कारण इतना आतंक श्रीमती क्यों मानती हैं यह चरण स्पर्श का प्रकार है, धन्य है यह तो मेरे भाग्य की ही मँजरी पल्लवित और पुष्पित हुई है । मैं आपका पूर्ण कृपा पात्र हूं । श्रीमती के कृपासागर में जितना उभार आया है क्या मैं अकिञ्चन या अकिञ्चित्कर अपने एक प्राण को निछावर करूं यह कहते हुए आत्म निवेदन करते हैं । ऐसी स्थिति जाननी चाहिये जो कि सहृदयों के हृदय द्वारा गम्य है । इस प्रकार कृपा स्नेह और माधुर्य प्रियतम के मुख से कहने के द्वारा सूचित किया । इस प्रकार की प्रिय के परम सौभाग्य की भूमि में संसिद्धि की पराकाष्ठा रूपा श्री राधा स्वामिनी मुझको-जो कि वैसे आनन्द की भी भोक्त्री हूं ऐसी मुझ को दासी कर्म में जो कि विवशता में सावधान करने की परिचर्या के रूप में है-ऐसे दासी कर्म में मेरा अभिषेक कब करेंगी । मुझे सब ओर से कब सींचेंगी अर्थात् प्रेम से मत्त या विह्वल कब करेंगी ।

स्ये अगाधे इयल्लक्षणस्थायित्वाभावान्निरवधौ अमृतं माधुर्य्यं पूर्वोक्त-दम्पतिलीलावाक् श्रवणदर्शनं तदपिनिरवधित्वात् दिव्यभोग्योक्तित्वात् तदेव रस आस्वाद्योविगलितवेद्येतरानन्दस्तेन भरिते । न चात्र केवलदास्योक्त्या परिचर्य्याश्रमविद्धबुद्धित्वमेवेति भावः, अभिषिञ्च्यादिति साधकार्थे दास्याधिकारं दद्यादित्यभिषेकार्थसम्भावना । आन्तरेऽभिषेको युवराज्याभिषेकयज्ञान्ताभिषेकवत् । स्वभुक्तराज्यानन्दं युवराजाय राजा दद्यात्तथैव मद्विलसितानन्दं प्रसादं परिचर्य्यया दृग्द्वारास्वादयेति भंगिकस्तस्मिन् सिन्धुजलप्राशस्त्यमपिनिधिपदेनागतम्, यथा च मया प्रेमदेवयज्ञकृतस्तदवभृथे प्रेमानन्दनदे त्वमपि स्नाया इति भंगिकश्च हृन्नेत्राश्रुरोमाञ्चाद्यार्द्रीकरणं स्नानमिति स्वयं प्रेममत्ता प्रियं द्रावयित्वास्मान् द्रावयेदिति सहैव स्नानं यजमानपरिचारकाणामितिदिक् वर्त्तमानत्वेऽपि सम्भ्रमेण सम्भावना-

रसकलश

कैसे दासी कम ? जो अगाध है, जिससे का लिये 'इतने ही क्षण या समय की स्थयिता निश्चित नहीं है अर्थात् जो निरवधि है। अभृत माधुर्य है, जो कि प्रिया प्रियतम के पूर्वोक्त लीला, और वचनों के क्रमश: दर्शन श्रवण के रूप में है, वह भी निरवधि होने के कारण, दिव्यभोग कहा जाने के कारण अमत है। वही रस है आस्वाद है जिसके आस्वाद के समय अन्यज्ञेय का ज्ञान न रहने से आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है उससे भरे हुए दासी कर्म में। यहाँ पर केवल दास्य कहने से परिचर्या के श्रम से बिंधि हुई बुद्धि वाली होना न समझना चाहिये। अभिषेक करेगी यह अभिषेक के अर्थ की सम्भावना की गई है। आन्तरिक पक्ष में अभिषेक युवराज पद पर अभिषेक जैसे यज्ञ के अन्त में अभिषेक किया जाता है। अपने भोगे हुए राज्य का आनन्द राजा अपने युवराज को देता है वैसे ही जो विलासानन्द रूपी प्रसाद है उसे परिचर्या के द्वारा दृष्टि से आस्वादन करा दे इस तात्पर्य से अभिषेक कहा गया है। अभिषेक में नदियों और समुद्रों का प्रशस्त जल भी होता है वह यहां निधिपद के प्रयोग से आ गया। जैसे कि मैंने प्रेम देव का यज्ञ किया उस यज्ञ के अभृत स्नान में प्रेमानन्द नाम के नद में तुम भी स्नान कर लो इस अभिप्राय का यह कथन है। फिर हृदय, नेत्र, अश्र, रोमाञ्च आदि को आर्द्र कर देने वाला स्नान ही तो है। इस प्रकार प्रिया जी स्वयं प्रमत्ता हैं प्रिय को भी द्रवित कर के हमें भी द्रवित करे और इस प्रकार यजमान परिचारकों को सह स्नान (एक साथ स्नान) कराया गया, यह संक्षेप है।

ज्ञेया ननु निधेर्मज्जनं कथं घटते, तत्र समाधत्ते, सिन्धोरप्याधिदैविकात्मक-मूर्त्तिः श्रूयते, ततः स्नेहमाधुर्य्यमूर्त्तिरतः स्वप्रेम्णिस्वयमेव ममज्जेत्यपि न चित्रम्। माधवो मधुमत्तस्तद्रूपो वा ततः कोटिप्राणपंक्तिनीराजनं न चित्रम्। अतस्ताहृश्यादास्याभिषेकमाशंसे इति। जतु मदन भाषायां मोमनवनीतं हृदयद्रवणं क्रमेण सत्रिविधं प्रेमेंगुलसंयोगं कुरू प्रथमस्यराधिकेकृपया ॥१२७॥

ननु प्राणप्रेष्ट सखिमुख्याधिकारे सख्येऽभिषिक्तैव कथं तदपकर्षं दास्यमाभिलषसीत्याशंक्यसख्यादपि दास्योत्कर्षं वक्तुं प्रस्तुते प्रियबहुस्निग्धचाटु-वाक्यसमाहिता निकटमेव प्रेष्ठं विज्ञाय, तत्प्रेमाविष्टैव प्रियगाढातिगाढ-परिरम्भाधरमध्वासवास्वादद्विगुणितमत्ताबभूवेत्याह—

वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमसु सदा स्वानङ्गरङ्गोत्सवै-
र्माद्यत्यद्भुतमाधवाधरसुधामाध्वीकसंस्वादनैः।

रसकलश

वर्तमान में भी संभ्रमवश 'संभावना' जाननो चाहिये अब प्रश्न होता है कि निधि या सिन्धु का मज्जन स्नान करना कैसे संगत हो सकता है इसका समाधान करते हैं, सिन्धु की भी एक अधिदैविक मूर्त्ति होती है ऐसा सुना जाता है उसमें भी स्नेह और माधुर्य की मूर्त्ति हैं अतः अपने प्रेम में स्वयं मग्न हो गई हैं यह भी आश्चर्य की बात नहीं है। माधव मधुमत्त हैं या मधु (वसन्त) रूप हैं अतः उनके द्वारा कोटि-कोटि प्राणों के द्वारा नीराजन करना भी कोई आश्चर्य जनक नहीं है। अतः ऐसी स्वामिनी के दासी पद अभिषेक की मैं आशंका करती हूँ। हृदय का द्रवित होना लाख जैसा, मोम जसा और माखन जैसा होने से तीन प्रकार का है उनमें से मेरा हृदय द्रव लाख जैसा है। हे राधिके आप उस पर प्रेम की अँगूठी से मुद्रा लगा दो, जिससे वह प्रेम मुद्राङ्कित हुआ रहे! १२७।

अब प्रश्न होता है कि प्राणों की प्रकृष्ट इष्ट या प्रेष्ट अर्थात् प्रियतम सखी के मुख्य अधिकार वाले सखी पद पर श्री हित सखी अभिषिक्त ही हैं फिर किस लिये उससे अपकृष्ट दासी पद की अभिलाषा करती हैं यह आशंका करके सख्य से भी दास्य का उत्कर्ष बताने ने लिये प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्रियतम के प्रति स्नेह युक्त चाटु या प्रिय वचनों से अनुकूल की गई प्रियतम को निकट ही जानकर उसके प्रेम से आविष्ट होकर प्रियतम के गाढ से भी गाढ आलिङ्गन अधरमधु रूप आसव के आस्वादन से दुगुनी मत्त हो गईं इसी का वर्णन करते हैं—

वृन्दावन के निकुञ्जों की सीमाओं में गोविन्द के प्रिय भक्त वर्ग के लिए भी दुर्गम सखी वृन्दों से न देखी गई वृन्दावनाधीश्वरी सदा ही अपने अनङ्ग के रङ्गोत्सवों

गोविन्दप्रियवर्गदुर्गमसखीवृन्दैरनालक्षिता,
दास्यं दास्यति मे कदा नु कृपया
वृन्दावनाधीश्वरी ॥१२८॥

वृन्दावनीश्वरीत्वेप्याधिष्ठात्रीति यत्र यत्र मात्रस्यापि लालनपालनप्रीणन-प्रियतास्पदतया पोषणकर्त्री वात्सल्यस्नेहावधित्वं द्योतितं यथाह शतके षोडशे।

खगवृन्दं पशुवृन्दं द्रुमवल्लीवृन्दमुन्मदप्रेम्णा।
प्रीणयदमृतरसेन ख्यातं वृन्दावनं नमत ॥ इति ॥

तथा च तस्या प्रीणनकर्त्रित्वं आबाल्यं जलसेचनेनेति ज्ञेयम्। पुनश्च राधा वृन्दावने, वने, इत्यसाधारणमाधिदैविकत्वं प्रायो, इत्यादि स्फुटमेव। प्रस्तुते मादकस्थानस्याधीश्वरी मत्तैव वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणेति रूपक्रीडैकमाध्वीकनिपानाजिरमुत्तममित्यादेः कृपयेति श्रीमुखेनार्द्धवर्णोच्चारेण मामादिशेन। अहं त्वत्र सेवासावधानैव, परन्तु तन्मुखतादात्विकनिदेशमिच्छामीत्यान्तरोऽर्थः स्फुटे तु कृपयेति न मम

रसकलश

द्वारा अद्भुत माधव की अद्भुत अधर सुधा की माधुरी के सम्यक् आस्वादन से मत्त होती हुई कृपा करके मुझे अपना दास्य कब देंगी? १२८

वृन्दावन की अधिश्वरी या अधिष्ठात्री श्रीराधा वृन्दावन के पत्ते तक का लालन पालन और प्रीणन तथा प्रियता की आस्पद होने के कारण पोषण करने वाली-श्रीराधा इसके द्वारा वात्सल्य और स्नेह की अवधि बताया गया है जैसा कि सोलहवें शतक में कहा गया है—'पक्षिसमूह को, पशु समूह को और वृक्षलता समूह को उन्मत्त प्रेम से तथा अमृत रस से आप्यायित कर रहे श्री वृन्दावन को नमस्कार करो।' ऐसे ही उनका प्रीणन कर्त्री होना, बचपन से जल सींचना आदि से जानना चाहिये फिर श्री राधा वृन्दावन नामक वन में। इस कथन द्वारा पद्म पुराण में श्रीराधा का वृन्दावन की असाधारण अधिदेवता होना भी कहा गया है। इसी प्रकार की सभी बात स्पष्ट ही हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मादक स्थान की अधीश्वरी मत्ता ही है—'यह वृन्दावनस्थली परमरससुधा की माधुरियों की धुरीणा भारवाहिनी है, इत्यादि और रूप और क्रीडा की एक मधुरता रूपी मदिरा के पान का एक उत्तम आङ्गन है 'इत्यादि में वृन्दावन के मादक स्वरूप का वर्णन किया गया है। कृपा करके अर्थात श्री मुख से एक आधे वर्ण का उच्चारण करके मुझे आज्ञा दे। मैं तो यहाँ सदा के लिए सावधान ही हूँ परन्तु उनके मुख से उस समय के लिए आदेश चाहती हूँ यह आन्तरिक अर्थ है। स्फुट अर्थ में तो कृपा करके इसका यह अर्थ होना कि

प्रसादनबलं, निःसाधनफलात्मत्वात्तादृशदास्यमहैतुकमित्यर्थः।

नु इति वितर्के। दुर्ल्लभवस्तुयाचने सर्वेषामपि संशयापन्नं मनः स्यात्। आन्तरेऽर्थे तु वैवश्ये वचनसंशयः। मे मह्यं कृपाकृतदानपात्रत्वं किं न स्यात्। यद्वा तत्रत्याहमेवेतिहितालीत्वदर्पः। दास्यमिति दास्याभिषेके दासीत्वेऽपि चान्तरङ्गदास्यं मत्तः कारयेदिति कदेतिस्फुटेऽर्थे भाग्योदयेर्दौर्लभ्यो यद्वा निदेशप्रतीक्षायाम्। एवं भविष्यार्थश्च, स्फुटे तु दैन्योक्ति। अधुना न तादृशदास्यकारणं दृश्यते इति।

ननु हितसख्या किमशक्यं दास्यम्, तत्र सख्याधिकारादपि परत्वमाह। कीदृशी, वृन्दारण्येति। तावद्वृन्दावनमेव रहोहर्म्यम्, तत्रापि निकुञ्जेति परमगोप्यम्। सीमस्विति मर्यादया रसरक्षोक्तसीमानमनुल्लङ्घ्येत्यर्थः। नैतादृशरसो बहिर्द्दलेषु प्रकाशते, कर्णिकावद्भिन्नाभिन्नमध्योपरित्वात्। अर्थात्तदधिष्ठात्रीकृपां विना न तत्सीमाक्रमणं सम्भाव्यम्। सीमस्विति,

रसकलश

मुझ में श्री राधा जी को प्रसन्न करने की शक्ति नहीं है क्योंकि उनकी प्रसन्नता किसी साधन का फल नहीं है अतः इस प्रकार का दास्य बिना कारण का है या अहेतुक है, यह अर्थ है।

'नु' यह वितर्क दुर्लभ वस्तु की याचना करने में सभी का मन संशयापन्न हुआ करता है। आन्तरिक अर्थ में वचन का संदेह है है। मेरे लिए कृपा से की गई दान पात्रता क्या होगी। अथवा उस कृपा की पात्र मैं ही हूँ यह हित सखी होने का अभिमान है। दास्य शब्द दासी पद पर अभिषेक में या दासी भाव में प्रयुक्त है अर्थात् मुझसे अन्तरङ्ग दास्य कब करायेगी। 'कब' यह स्फुट अर्थ में है भाग्योदय होने पर या दुर्लभता रहने पर कब दास्य का आदेश देंगी। अथवा आदेश की प्रतीक्षा में भी हो सकता है। ऐसे ही भविष्य अर्थ भो इन्हीं धर्मों में है। स्फुट अर्थ में दीनता भव्य उक्ति है। अब वैसा दास्य मिलने का कारण नहीं दीखता।

अब प्रश्न होता है कि हित सखी के लिए यह दास्य अशक्य है। इस पर सख्य के अधिकार से भी दास्य के अधिकार की प्रधानता कहते हैं। वे श्री राधा कैसी हैं? सर्व प्रथम तो वृदावन ही एकान्त महल है उसमें भी निकुञ्ज परम गोपनीय है उसको भी सीमाओं में इस कथन से मर्यादा रस की रक्षा कही गई। उस सीमा को लांध कर नहीं तात्पर्य हैं। ऐसा रस बाहर के दलों में प्रकाशित नहीं होता। क्योंकि कर्णिका के समान भिन्न होते हुए भी अभिन्न मध्य भाग के ऊपर स्थित है। अर्थात् वृन्दावन की अधिष्ठात्री की कृपा के बिना उस निकुञ्ज की सीमा तक भी

पूर्वोक्तचन्द्रानन्त्यप्रेमज्योत्स्नाभासभावः स्मारितः । यद्वा यावन्मात्रदिव्य-पञ्चमात्रानन्दमयतरुवल्लीपुष्पफलपक्षीसमीरजलस्थलादीनां सुषमासीमत्वमेवासमोर्द्ध्वत्वात् । यथाह नवम शते—

भूर्भूरेवात्र येषां जलमपि च जलं शाखिवल्ल्यो द्रुवल्लयो,
ज्योत्स्नादि ज्योतिराद्यं खगपशु मनुजादीनि पक्ष्यादिकानि ।।
श्रीकृष्णः श्रीकृष्ण एवाखिलदनुजरिपूराधिकाराधिकेव,
व्यूह्यालं तेन वृन्दावनमनु मम काप्मस्तुदिव्यानुभूतिः । व्यूह्यालंविचार्य्या, अनेनानन्वयालङ्कारेण ममापि दिव्यानुभूतिरस्त्वित्यथः । बहुत्वं वस्तुबहुत्वात्, कुञ्जानाञ्च भिन्नभिन्नयथर्त्तुलीलास्थलत्वादुत्सवबहुत्वाच्च । किञ्च षोडशे, ताम्बूलपानकमनोहरमादकादिरम्ये लसन् मृदुलपल्लवचारुतल्पे द्वारस्थितालिभिरहो सुहृदावपेक्ष्यवृन्दावनं स्मरनिकुञ्जगृहैर्मनोज्ञम् क्वचिद्रतिविमर्दितं प्रसवतल्पकैः कुत्रचिद्रतोपकरणान्वितम्, प्रियमृदुप्रसूनास्तरैः । क्वचिचित्प्रमदराधिकामधुपतिप्रवृत्तोत्सवैः । सदा नवनिकुञ्जकैः स्मरसुमञ्जुवृन्दावनम् । अतः सर्वकुञ्जानामेव तादृशरहस्यत्वम् । सदा

रसकलश

जाने की सम्भावना नहीं की जा सकतीं । यहाँ सीमाओं में कहकर पूर्वोक्त श्लोक के अनन्त चन्द्रों की प्रेम रूपी चन्द्रिका के आभास का भाव भी स्मरण कराया गया है । अथवा जितने भी दिव्य पञ्चतन्मात्राओं और आनन्द से बने हुए वृक्षलताओं के पुष्प फल हैं, पवन, जल, स्थल आदि हैं उन सब का सुषमा की सीमा होना, जिनके समान कोई नहीं उससे बढ़कर कौन हो सकता है जैसा कि नवम शतक में कहा है—यहाँ भूमि ही भूलोक है, जल ही जल है वृक्षलताएँ ही वृक्षलताएँ हैं, चन्द्रिका आदि प्रकाश आदि हैं । पक्षी पशु मनुष्य आदि पक्षी पशु मनुष्य आदि ही हैं श्री कृष्ण समस्त दानवों के विनाशक कृष्ण ही हैं श्री राधिका राधिका ही हैं सब का विशेष रूप में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है मुझे तो श्रीवृन्दावन के विषय में दिव्य अनुभूति प्राप्त हो । विशेष ऊह या विचार मत करो यहाँ अनन्वय अलङ्कार के द्वारा मुझे भी दिव्य अनुभूति प्राप्त हो यह प्रार्थना की गई है ।' वृन्दारण्य निकुञ्ज सीमसु' में बहुवचन सीमा रूप वस्तु के बहुत होने से है । कुञ्ज भी भिन्न-भिन्न ऋतु के अनुरूप लीला स्थल होने से और उत्सवों के बहुत्व से अनेक हैं । एक और बात है कि सोलहवें शतक में लिखा है—

ताम्बूल, प्रमाणक, और मनोहर मादक (मदिरा) आदि से रमणीय, सुन्दर कोमल किसलयों से शोभनीय तल्प या शय्या पर प्रिया प्रियतम दोनों सुहृदों की, द्वार स्थितसखीवृन्द के साथ एकान्त में प्रतीक्षा करके निकुञ्जगृहों से रमणीय श्री वृन्दावन का स्मरण करो ।९१। कहीं कुचले गये पुष्पों वाली शय्याओं से कहीं सुरत के उपकरणों से, कहीं प्रिय और कोमल पुष्पस्तरणों से, कहीं मत्तराधिका और माधव के द्वारा प्रवर्तित उत्सवों से सदा स्मरण करो ।९२। इस लिए सभी निकुञ्जों

त्रिकालं निरवधिप्रस्तुतेप्रकरणे यथेदानीं माद्यति तथा सदैवेत्याशीर्गर्भितोऽर्थः। स्वो निजो ऽसाधारणो दिव्यो विहारार्होऽनङ्गः कामस्तस्य रंगो रङ्गभूमिसज्जितल्पं, तस्मिन्नुत्सवो येषां तैरद्भुतमाधवाधरसुधामाध्वीकसंस्वादनैर्म्माद्यती, तन्मद्यपानार्थमिव रङ्गस्थंल निर्मितमित्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः अथवोत्सवैरिति विशेष्यं, संम्वादनैरित विशेषणं रङ्गस्थलं सौरतमल्लक्रीडनोत्सवैर्यथा — उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैस्थापनैरपि— इत्यादिभिस्तत्र मध्ये मध्ये माधवाधरसंस्वादनम्। मादनेऽत्र मुख्यत्वं प्रियाया एव।

अत्र स्वशब्देनानङ्गस्य शिवदग्धत्वं निराकृतम्। यथा लीलापाङ्गतरङ्गितैरुद्भवन्निति तादृशकामस्याणिमादिसिद्धि वद्व्यापकत्वमङ्गेष्वभिलाषोत्कटत्वं, तद्रूपं प्रेमापरपर्य्यायो वा मनोवृत्तिरूप एव। यथा कृपास्नेमाधुर्य्यलावण्याद्यावृत्तिः। अतः साङ्गस्य नाधिकार इति। यद्वा विचित्र-

रसकलश

का उस प्रकार का रहस्य स्थल होना तथा त्रिकाल में अवधि रहित होना प्रस्तुत प्रकरण में कहा गया है। जैसी इस समय मत्त होती है वैसी सदा ही मत्त होती हैं यह आशीर्वाद गर्भित अर्थ है। अपने असाधारण बिहार के योग्य अनङ्ग या कामरंगभूमि भूत सजी हुई शय्या पर उत्सव है जिनका, उन अद्भुत माधव की अधर सुधा की माधुरी के समोचोन आस्वादन से मत्त होती हुई, उस मद्य के पान के लिये रङ्ग स्थल बना हुआ है यह उत्प्रेक्षा गर्भित अर्थ हैं।

अथवा उन्सव को विशेष्य और संस्वादन को विशेषण मान लेना चाहिये रङ्ग स्थल में सुरत सम्बन्धी मल्ल क्रीडा के उत्सवों के द्वारा जैसे-उठना, उपर ले जाना इधर-उधर चलना, एक स्थान पर ठहराना इत्यादि के द्वारा। उस मल्ल क्रिडा के उत्सवों में माधव की अधर सुधा का भली-भांति आस्वादन। मत्त कर देने की इस क्रियामें श्री प्रिय जी की प्रधानता माननी चाहिये। ७६५ यहाँ पर स्व-अनङ्ग अपने काम' इस कथन में स्व या अपने इस शब्द से अनङ्ग का शिव के द्वारा जलाये जाने का निषेध किया गया है। जैसे लोला सहित अपाङ्गों के तरङ्गितों से एक-एक से कोटि-कोटि कन्दर्प उत्पन्न हुए' इत्यादि में कहा गया है। वैसे काम का अणिमा आदि सिद्धि के समान व्यापकता, अङ्गों में अभिलाषा की उत्कटता ही स्वरूप है अथवा प्रेम नाम की मनोवृति का नाम ही यहां अनगङ या काम है। जिससे कृपा स्नेह, माधुर्य, लावण्य आदि को आवति होती है, अतः यहां साङ्ग का अधिकार न

रतिविक्रमं दधदनुक्रमादाकुलमित्युक्तक्रममुल्लंघ्यादावेव स्वानङ्गस्य रङ्ग सुखं, तस्य उत्सव औत्सुक्यम्—येभ्यस्तैः । यमास्वाद्य सर्वं शीलं विस्मृत्य-महास्नेहपारवश्यं जातमिति । यद्वा स्वस्यानङ्गः साक्षान्मन्मथमन्मथः कान्त-तस्य रङ्गस्तद्वत्कर्मपुरुषायितमिति । तस्यौत्सुक्योद्दीपकैरिति, यद्वा स्वस्या-मनङ्गस्य रङ्गो रञ्जनं वसने कौंकुमादिरागस्तद्वत्तदावेशस्तस्योत्सवरूपैः । प्रत्यङ्गनवीनोद्भवै तादात्विकानन्दरूपैर्विविधहावलीलाविलासादिभिर्माद्य-तीत्येकमदो, द्वितीयश्च माधवाधरमाध्वीकः । एवं द्विगुणमत्तता, अत्र चकारोऽध्याहार्य्यः । तिङन्तश्चेन्माद्यति वर्त्तमानस्तदानीमिति । अद्भुतेति तादृशधीरवीरलज्जालोरपि वैवश्योत्पादको माध्वीकः । यद्वानवनवास्वादे-दानेऽपि चित्रोत्पादकमद्भुतत्वं प्रियामनः साक्षिकमेव । किञ्च माधवो माद-कतारूपेणैव ख्यातनाम्नः मध्वेव माधवो मधुपानकुशलो वा । तस्याधर ओष्ठा-दप्यधिकरससम्भृतो निम्नमाप इव स्वयमिति वत् । निर्गलित सारामृतभूत-

रसकलश

होने के कारण उसे अनंग कहा गया है। अथवा, विचित्ररति' पराक्रम धारण करते हुए और क्रम-क्रम से अधिक-अधिक आकुल होते हुए, इस कहे गये क्रम का उल्लंघन करके आरम्भ में ही अपने अनंग के या सुखके उत्सव अर्थात् औत्सुक्य का आस्वादन करके सम्पूर्ण शील को भूल कर महास्नेह से विवश हो जाते हैं अथवा अपने अनंग यहां साक्षात् काम को मथित कर देने वाले प्रियतम हैं। उनके रंग अर्थात उनके जैसे कर्म पुरुषोचित चेष्टाएँ उनके प्रति उत्सुकता के उद्दीपकों के द्वारा, अपने प्रति अनंग के रंगों से वस्त्रों को कुंकुमादि के रंग से रंगने के समान अनंग-रंग के आवेश के उत्सवों से जो प्रत्येक अंग में नवीन, नवीन उत्पन्न हुए उस समय के आनन्द रूपों से, अपने प्रकार के हाव, भाव, लीला, विलास आदि से मत्त होती है यह एक मद है। दूसरा मद माधव की अधर सुधा रूपी माध्वीक है इस प्रकार दुगुनी मत्तता है। यहां परंच या और का अध्याहार कर लेना चाहिये। यदि माद्यती यह शत्रु प्रत्ययान्त सुवन्त रूपन होकर तिङन्त रूप हो तो अर्थ होगा कि मतवाली होती है। यहाँ वर्त-मान काल उस समय का बोधक है। अद्भुत शब्द उस समय धीर-वीर लज्जा शील की भी विवशता को उत्पन्न करने वाले माध्वीक का बोधक हे। अथवा नवीन-नवीन आस्वाद के देने पर भी आश्चर्य का उत्पादक होना अद्भुतता है, जिसका प्रिया जी का मन ही साक्षी है। एक बात और है कि माधव तो मादकता रूप से ही प्रसिद्ध नाम वाला हे, मधु ही माधव है या मधुपान में कुशल का नाम माधव है, उसका अधरोष्ठ उत्तरोष्ठ से भी अधिक रस भरा है क्योंकि जल स्वयं नीचे की ओर बहता है।

चषकस्तस्यसुधेति । सञ्जीवनमाधुर्यालौकिकनित्यत्वं, सैव माध्वीको मद्य, मत्तता वैवश्यधर्मत्वात्तस्य । सम्यक्स्वादनैरिति स्वावेशेन सकौतुकयथेष्टपानं निश्शंकसम्यक्त्वम् । स्वादनं स्वादविशारदतया स्वादं स्वादं साध्विति प्रशंस्य चुम्बनैरिति बहुत्वाशयः । प्रशंसनं मादकोपयोग्येव । यद्वा चुम्बनसंख्या-पर्णैविहारैः । आसवपात्रेऽपि मध्ये किञ्चिद्भक्षणं, तद्वद्विहारस्नेहवार्त्तादि-मध्यत्वम् ।

यद्वा सम्यग्निरन्तरं निष्प्रत्यूहं, यथा गीतगोविन्दे प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण निबिडाश्लेषे, निमेषेण च क्रीडाकूतविलोकितेधरसुधापाने कथानर्मभिरिति । अत्र देशसौष्ठवं मधुपानस्य निकुञ्जसीमस्विति तदर्हरङ्गस्थलं विना न यथावन्मादकसुखापादकत्वंस्यादिति कालः सदेतिसूचितः । अत्राक्षयित्वेन सौष्ठवम् । अद्भुतेत्यादि समस्तं पदं पाकसौष्ठवम्, पात्रसौष्ठवञ्च सदा

रसकलश

यह अध रोष्ट निकले हुए सारामृत से भरा हुआ प्याला हैं उसकी सुधा या अमृत संजीवन देने के साथ-साथ माधुर्य अलौकिकत्व तथा नित्यत्व से युक्त हैं । वही सुधा माध्वीक या मद्य हैं क्योंकि उनमें मतवालापन और विवशता आदि धर्म विद्यमान हैं। उसके भली-भांति आस्वादनों यह कहने का तात्पर्य हैं कि अपने आवेश से कौतुक के साथ इच्छा पूर्वक शंका रहित होकर पान करना ही भली-भांति आस्वादन हैं। आस्वादन का तात्पर्य हैं स्वाद भेदों का विशेषज्ञ होते हुए स्वाद लेते-लेते, साधु-साधु (वाहवाह) इत्यादि कह कर प्रशंसा करके चुम्बन करने के द्वारा ; बहुवचन का यही आशय हैं प्रशंसा, भी मत्त करने के लिये उपयोगी ही है। अथवा चुम्वन की संख्या की शर्तों वाले विहारों से, आसवपान में भी बीच-बीच में कुछ भक्षण करना भी आस्वादन कहलाता है। उसी प्रकार यहां विहार के मध्य में प्रेम भरी वार्ता आदि हैं । अथवा भली भांति निरन्तर निर्विघ्न से जैसे गतिगोविंद में, गाढ आलिगन में रोमाञ्च-अङ्कुर से भी विघ्न होता है, क्रिडा युक्त कटाक्षके देखने में पलक गिरने से भीं विघ्न होता है अधर सुधा पान में नर्म कथाओं से विघ्न होता है, इत्यादि । यहां पर देश की शोभनीयता निकुञ्ज सीमा में मधुपान से प्रतीत होती है अर्थात मधुपान के योग्य रंग स्थल के विना मधुपान नहीं किया गया है क्योंकि उसके बिना ठीक-ठीक मादक सुख की प्राप्ति नहीं होती। काल का सौष्ठव 'सदा' शब्द से सूचित होता है, यहां विहार के अक्षय होने के कारण सौष्ठव है । अद्भुत इत्यादि समस्त पद पाक की सुष्ठुता का बोधक है । पात्र की सुष्ठुता भी 'सदा मत्त होते हैं' इस कथन

माद्यतीति पूर्णव्यसनासक्ता, नत्संगोरमणेऽपि तादृग्माध्वीकं स्वाधर एव सदा रक्षति। अतोऽत्रप्रमत्ताक्रीडे, न बुद्धिमतामधिकारस्ततो विरोधिपरिहारमाह गोविन्देति। गां दृष्टिरूपासक्तां प्राप्नोति—इति केवल दृगुपजीवीप्रियोयासां तासां सखीनां वर्गः। सजातीयः संघस्तो ममताविष्टाः, हरौस्नेहाधिका मता। इति पूर्वोक्ता रसविशेषार्थतत्पक्षपातिन्यः। तादृशसखीवर्गैर्दुर्गमानि सखीवृन्दानि, प्रियापक्षस्थायीनि तैः सयूथश्रीललिताद्यैः अनालक्षिता। आ इति नं सामस्त्येन लक्षिता मह्यं दास्यं दास्यतीति यथाहशतके, एकं सख्यापि नो लक्षितमिति, यत्रप्रियाया मीमांसायां दिदृक्षायां शुश्रूषायां चिकीर्षायां च ललितादीनां स्थितिस्तत्र हरिप्रियवर्गस्य नाधिकारः। यत्र च तस्याः स्वीयप्रमादवैकल्यक्रीडनं, तत्र बहुमान्यत्वेऽपि न ललिताद्यधिकारिण्यः, तत्र हितालयेव दास्ये तिष्ठति। यथा न हि ललितादिक नारी इत्यादि वत्।

रसकलश

से श्री राधा जी के पूर्ण व्यसनासक्त होने से तथा उनके सङ्गरमण के भी मद्य को अपने अधर में ही सदा रखने से प्रतीत होती है। अतः यहाँ प्रमत्तों के आक्रीड में बुद्धिमानों का अधिकार नहीं हैं।

अब विरोधी तत्त्वों का परिहार बताते हैं। गोविंद अर्थात रूप में आसक्त गो रूप दृष्टी प्राप्त करने वाले, केवल देख देख कर जीने वाले हैं प्रिय जिनके, उन सखियों के वर्ग अर्थात सजातीय संघ। वे ममता स आविष्ट होकर श्री हरि में अधिक स्नेह रखने वाली मानी गई हैं। इस प्रकार जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है जो रक्षा विशेष के लिये गोविन्द की पक्ष पातिनी हैं। उस प्रकार के सखीवर्गों से दुर्गम सखीवृन्द जो प्रिया जी के पक्ष में रहने वाले हैं उन यूथसहित ललिता जी आदि द्वारा सम्पूर्ण रूप से न देखी गई अतः एव अनालक्षिता। वे मुझे कब दासीभाव देगीं। जैसा कि शतक में कहा है—एक रूप तो सखी द्वारा भी नहीं देखा गया है 'इत्यादि' जहाँ प्रिया जी कीखोज में, उनकी दर्शनेच्छा में, सेवा करने की इच्छा में, और कार्य करने की इच्छा में, ललिता आदि की स्थिति है वहां हरि के प्रिय भक्त वर्ग का अधिकार नहीं है। और जहां वे स्वयं प्रमादवश विकलता पूर्वक क्रीडा करते है वहां बहुत सम्मान्य होने पर भी ललिता आदि अधिकारिणी नहीं हैं। वहाँ तो एक श्री हित सखी ही दासी भाव से स्थित रहती है। जैसाकि, 'नहि' ललितादि नारी इत्यादि म कहा गया है। यहाँ पर ललिता आदि के बहिरंग होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये, उनकी सम्मति से ही यह सब हो रही है।

अत्र ललितादीनां बहिरङ्गत्वं न शङ्क्यम्, तत्सम्मतमेवेति ज्ञेयम्। किञ्च तासां तन्मयत्वेऽप्यगोपनीयत्वेऽपि श्रीमत्येव सख्यत्वात्तद्गौरवंरक्षति, अतस्तदसंकोचार्थंता अपि साक्षाद्द्रष्टुमनवधाना इव भूत्वा मनसैव चतद्विहारानन्दमभ्यवहरन्तीति। अथवा सखीत्युक्तेः सख्यरसवतीषु स्वप्रौढिसंघर्षो भवत्येव, तत्समक्षं यथा प्रियाह, अहमनल्पासवपानेऽपि समाहितैव स्थास्ये, प्रियं तु विह्वलयामि नाहं प्रमत्ता स्यामित्यादि तदा सख्योऽप्याहुः। तादृक्पानास्वादाभावसमय एव गर्जसि कतिवारान्वैवश्येनसनादि समीकुर्मो न स्वीयेषु प्रौढ़ि। प्रकाश्येत्यादिअथ यदा द्विगुणासवपानमत्ता तदा पारवश्याऽऽद्याऽवस्थायां तत्पूर्वं परिहासस्मृतौ भीतिवैलक्ष्यम्। तथा च वैपरीत्यादि मादनावस्थय्यां शङ्काभासस्तमप्य सहमाना श्रीहितालो वक्ति ता अत्रन सन्ति त्वं यथेष्टं पिबेत्यास्वादयेति भङ्ग यानालक्षितेत्युक्तिः। यथोक्तं सुहृदावपेक्ष्यद्वारस्थितालिभिरिति। मम तु तत्संघर्षाभावात् नित्यपार्श्वगत्वं वैवश्ये काचित्सहाय्यापेक्षा अतो दास्यं

रसकलश

एक बात और भी है। कि उन ललितादियों के तन्मय होने पर और गोपनीय न होने पर भी श्रीमती प्रिया जी ही सख्यभाव से उनके प्रति गुरुता या आदरभाव से उनके प्रति गुरुता या आदर भाव की रक्षा करती हैं। अतः उनके असंकोच के लिये ही वे भी साक्षात् देखने में ध्यान न देती हुई सी होकर मन में ही उस विहार के आनन्द का चवर्ण करती हैं। अथवा यहाँ 'सखी' यह कहा जाने के कारण सख्य रस वालियों में अपनी प्रौढि का सघर्ष हो ही जाता है। जैसा कि उन सखियों के समक्ष प्रियाजी ने कहा-मैं तो बहुत मदिरा पीकर सावधान रहूँगी, प्रियतम को तो विह्वल कर देती हूँ पर मैं प्रमत्ता नहीं होती। तब सखियों ने कहा—उस प्रकार के पान के आस्वाद के अभाव के समय में ही गर्जना करती हो कितनी बार विवशतामें हम तुम्हारे वस्त्र आदि ठीक करती हैं, अपने जनों के सामने अपनी प्रौढि प्रकाशित नहीं करनी चाहिये इत्यादि अब जब दुगुने मदिरा पान से मतवाली हो जाती हो तब तुम्हारी परवशता आदि की अवस्था में उनके पहले के परिहास का स्मरण आ जाने पर भय और लज्जा हुए, तथा वैपरीत्य आदि मादक अवस्था में शङ्कन का आभास होता है, उसको भी सहन न कर पाती हुई श्री हित सखी कहती हैं—अब यहां सखियाँ नहीं हैं तुम यथेष्ट पान करो; आस्वादन करो इत्यादि रूप से 'अनालक्षिता' नहीं देखी गई, यह कहा गया है। जैसा कि कहा भी गया है कि 'प्रिया प्रियतम दोनों सुहृदों की प्रतिज्ञा करके द्वार पर स्थित सखियों के द्वारा' इत्यादि। मुझे तो उनसे कोई संघर्ष नहीं है सदा ही पास में रहना भी है, विवशता की अवस्था में कोई सहायक भी अपेक्षित है अतः मुझे दास्य कब

कदा दास्यति। दासीनां केवल तत्सुखतेगिङतज्ञता सेवापरायणता च भावानुभावरसवैशारद्येऽपि मुग्धतयैवस्थितिस्तत्राही।

किञ्च विलासिप्रभ्रूणां निश्शंकत्वं तदैवस्यादिति। अतः सख्यादपि दास्योत्कर्ष इति भावःपरिभाषायामुक्तमेव। यथा षड्जः स्वरो ग्रामे नीचीनोपिनिषाद्गः, तथा दास्यं न्यूनमपि सख्यादुपरि वर्तत्ते इति मुक्तकस्फुट-पक्षे। गोविन्दस्तादृशरूपाशक्त्यर्थंकृतगिरिधारणदुर्घटविक्रमस्य प्रियवर्गे नर्मसखिभिः सुबलमधुमङ्गलादिभिर्दुर्गमाः। यत्र ललितादि सख्यस्तिष्ठन्ति तदन्तर्हर्म्ये तेषां नामापि न श्रूयते। यथा दूरेसृष्ट्यादीति न वेदैरित्यत्र च तयोर्दासीभूत्वेत्युक्तमेव। यद्वा रूपविमोहितश्रुतिमुनिरूपव्रजसुन्दरीभिरिति। मासूयितुं मार्हथतत्प्रियं प्रिया इति प्रियपदेन संस्तुताभिरपि दुर्गमैरस्पृश्यगम्भीरभावैः सखीनां ललितादीनां वृन्दैस्तद्यूथैरिति सखीदास्योऽपि दुर्गमभावास्तदा सखीनां मुख्यानांतु कावार्त्तेत्यर्थः ॥१२८॥

रसकलश

दोगी। दासी जन को केवल उनके सुख से सुखी होने और संकेत या इङ्गित को जानने और सेवा में तत्पर रहना स्वतः प्राप्त है। भाव और अनुभाव के विशेष होते हुए भी भोलेभाव से रहना उनका योग्य है।

एक बात और भी है कि विलासी प्रभुओं को निःशङ्कता भी तभी होती है जब उनके पास दासी जन तो हों पर सखी जन न हों अतः सख्य की अपेक्षा दास्य में उत्कर्ष है यह भाव है। परिभाषा प्रकरण में कहा भी है कि जैसे षड्ज स्वर ग्राम में नीचे का स्वर होते हुए भी निषाद गामी होता है वैसे ही दास्य सम्बन्ध न्यून होता हुआ भी सख्य से ऊपर रहता है। श्लोक को मुक्तक या स्फुट मानने पर गोविन्द का अर्थ है उस प्रकार की रूपासक्ति के लिये किये गये गोवर्धन धारण जैसे दुर्घट पराक्रम वाले के प्रिय वर्गनर्मसखाओं सुबल, मधुमङ्गल आदियों द्वारा दुर्गम ऐसी ललिता आदि सखियाँ जहाँ रहती हैं, उस अन्दर के महल में उनका नाम भी नहीं सुना जाता। जैसे सृष्टि आदि की बात तो दूर, इत्यादि पद्य में और 'न वेदों द्वारा' इत्यादि पद्य में और यहां पर 'उनकी दासी होकर' इत्यादि पद्य में भी कहा ही है। अथवा रूप से विमोहित हुई श्रुतिरूपा ब्रज सुन्दरियों के द्वारा। 'हे प्रियाओ, तुम मुझ प्रिय की असूया गुणों में दोष का आविष्कार करने के योग्य नहीं हो, इत्यादि प्रिय के वचनों से जिनकी स्तुति की गई हैं उनके लिये भी दुर्गम अस्पृश्य गम्भीर भावों वाली सखियों ललिता आदियों के वृन्दों अर्थात् यूथों द्वारा भी न देखी गई। अर्थात सखी और दासीजन भी दुर्गम भाव वाले हैं तब मुख्य सखियों की तो बात ही क्या है? ॥ १२८ ॥

मल्लीदामनिबद्धचारूकवरं सिन्दूररेखोल्लसत्,
सीमन्तं नवरत्नचित्रतिलकं गण्डोल्लसत्कुण्डलम् ।
निष्कग्रीवमुदारहारमरुणं बिभ्रद्दुकूलं नवम्,
विद्युत्कोटिनिभं स्मरोत्सवमयं राधा-
ख्यमीक्षे महः ॥१२९॥

एवं स्वामिनानङ्गावेशवैवश्ये यथाभिलषितप्राप्तदास्याधिकारा श्रीहिताली श्रीमतीं समाहितां कृत्वा महावेशभिया प्रियवेशं प्रियायै समर्प्य किञ्चिदयथावत्स्थितं समीकृत्य किञ्चिन्नवीनं विरचय्य सादरमवलोकयन्ती तद्रूपच्छविमाह—

अहं राधाख्यं महद्वीक्षे । मह उत्सवतेजसोत्यमरः । तेजोऽर्थे प्रत्यङ्गकान्तिच्छटामण्डलंदृष्ट्वोक्तिः । मल्लीत्यादि सविशेषं स्फुटमेव न तु सामान्यम् । उत्सवेऽर्थे मूर्त्तिमानुत्सव एवेति किं जातीयश्चेत्स्मरोत्सवप्रचुरम् । यद्वा स्वरूपे मयट् तद्रूपमेवेत्यर्थः । स्मर्य्यमाण एव विक्रामति तदा साक्षात्तदुत्सवे किं वक्तव्यम् ? प्रियस्य स्मरोत्सवदायीत्यर्थः । तदेव विशिनष्टि

रसकलश

इस प्रकार श्री स्वामिनी के अनङ्ग के आवेश की बिवशता में जैसा अभीष्ट था वैसा दास्य का अधिकार प्राप्त कर चुकी श्रीहितसखी जी श्रीराधा जी को समाहित या सावधान करके महान् आवेश के भय से प्रियतम का वेष प्रियाजी को सम्पर्ण करके जो कुछ ठीक नहीं था उसे बराबर करक तथा कुछ नवीन रचना करकेआदर के साथ प्रिया जी को देखती हुई उनकी रूप कान्ति का वर्णन करती है—

'मल्ली के पुष्पों की माला से बाँधा है सुन्दर कशपाश जिसने सिन्दूर की रेखा से उल्लसित है सीमन्त जिसका, नवान रत्नमय और विचित्र है तिलक जिसका गण्डस्थल पर उल्लसित हो रहे हैं कुण्डल जिसके, निष्क या कण्ठाभरण है कण्ठ में जिनके, ऐसे उदार(विशाल और उज्जवल) हर वाले, अरुण(लाल)और नवीन दूकूल वस्त्र को धारण करने वाले, कोटि कोटि बिजलियों के समान कान्ति वाले कामोत्सव से तन्मय हुए राधा नामक तेज का मैं दर्शन करूँ ॥१२९।

मैं राधा नामक तेज का दर्शन करूँ। महा शब्द आसव और तेज का वाचक है ऐसा अमर कोष का मत है। यहाँ पर महाशब्द तेजके अर्थ में है, प्रत्येक अङ्ग की कान्ति और छटा के माण्डल को देखकर यह वचन कहे गये हैं। मल्ली इत्यादि पदार्थ विशिष्ठ ही है सामान्य नहीं हैं। उत्सब अर्थ में—मूर्तिमान् उत्सव ही है। किस प्रकार का उत्सव है? इसमें स्महोत्सव या कामोत्सव की मात्रा अधिक है, अथवा स्मरोत्सवमय शब्द में स्वरूप अथ में ही मयट् प्रत्यय होगा अर्थात् कामोत्सव रूप ही है। स्मरण करने मात्र से जो इतना प्रभाव डालता है तव साक्षात् उस उत्सव में क्या कहा जाना चाहिये, जो प्रियतम को स्मरोत्सव देने वाला है। उसी का विशेषण कहते हैं कि मल्लिका की मालाओं से

मल्लीदामभिर्नितरां बद्धं कवरं यस्मिस्तद्यस्य वा पूर्वं स्वानङ्गरङ्ग स्थलोत्सवमाधवाधरासवास्वादमादनक्रीडावैवश्येन विकीर्णत्वं जातम् । तेन सीमन्ततिलकपत्रिकाकुण्डलादिशोभासमाच्छन्नाभूत् एवं चारुत्वदर्प्पमात्सर्य्येणवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः । तत एव सखी तं गर्विष्टं मल्लीदामभिरबध्नात् । परन्तु तदपि चारुत्वमपरिहार्यं सुन्दरे किं न सुन्दरमिति बद्धोऽपि दृष्टमनोबबन्ध मुक्तश्चेत्किमुवाच्यम् । नितरामिति पुर्नविहारक्षमतार्थं तद्बन्धने सति पूर्व्वं तत्परास्तास्तेसमुल्लासमापुरित्याह—सिन्दूररेखया उदधिकं लसत् सीमन्तो यत्र । तिलकं यत्र नवसंख्याकैर्हीरमाणिक्यपुष्परागमरकतवैडूर्य्यादिभिर्यथा स्वरूपवर्णक्रमखचितैरत्नैर्विचित्रं वाश्चर्य्योत्पादकं, तादृक् स्वतः कान्तिमद्भालशोभनभूषणत्वात् ।

यद्वा नवत्वं सद्यः परिष्कृतकुन्दनखचितानर्घ्यत्वादिच्छविचाकचिक्यमत्वं व्यस्तक्रमस्थानातिगतत्वात् वा प्रियवेषार्हकौङ्कुमादिरचितत्वात् । ततश्च गण्डयोरुदधिकं लसन्ती कुण्डले यत्र मकरिका पत्रिकयोर्मकराकृति

रसकलश

निरन्तर बँधा हुआ है केश भार जिसमें या जिसका, पहले अनङ्ग के रङ्ग स्थल के उत्सव में माधव के अधर सुधा रूप आसव के आस्वादन से मादन (मतवाला होने)की क्रीडा की परवशता से विकीर्णता हो गई थी अर्थात् केश बिखर गये थे और इससे सीमन्त, तिलक पत्रिका और कुण्डल आदि की शोभा ढक गई थी मानो कि अपनी सुन्दरता के दर्प के प्रति मात्सर्य से ऐसा हुआ हो यह उत्प्रेक्षा गर्भित अर्थ है। तभी तो सखी ने उस गर्वीले केश-पाश को मल्लिका की मालाओं से बाँध दिया। किन्तु वह सुन्दरता भी अनिवार्य है सुन्दर की क्या वस्तु सुन्दर नहीं होती इसलिए बँधने पर भी इस केश पाश ने दीखते ही मन को बांध लिया। यदि यह केश पाश बँधा हुआ न होकर खुला हुआ होता तो न जाने क्या करता। निबद्ध में नि का अर्थ हैं अच्छी तरह, जिससे इनमें फिर विहार की सामर्थ्य आ सके। इन केशों के बँधने पर पहले जो इनमें तत्पर थे वे सभी उल्लास को प्राप्त हुये थे यही भाव कहते हैं। सिन्दूर रेखा से अधिक लसित हो रहा है सीमन्त जहाँ पर तिलक जहाँ पर नौ संख्या के हीरा, माणिक्य, पद्मराग मरकत, वैदूर्य आदि द्वारा अपने अपने रंग के अनुरूप वर्ण और क्रम से जड़े हुए रत्नों से चित्र है, विचित्र या आश्चर्योत्पादक हैं ऐसे स्वयं कान्तिमान् मस्तक का सुन्दर भूषण होने के कारण, अथवा नवीनता है तत्काल परिष्कृत स्वर्ण में जड़े जाने से बहुमूल्य होना इत्यादि और शोभा से चमक दमक वाला होना, व्यस्त क्रम से स्थानातिगत होने से अथवा प्रियतम के वेष के योग्य केसर आदि से रचा गया होने से। फिर गण्डस्थल या कपोलों पर अधिक लसित हो रहे हैं कुण्डल जहाँ पर, मकरिका और पत्रिका में से मकर के आकार के कुण्डलों की परछाईं में अत्यन्त

कुण्डलप्रतिच्छायायामत्यन्तशोभनत्वाद्भास्वत एव गण्डनैर्मल्यात्पूर्वमलक-विकीर्णत्वाच्छादनादनुल्लासो वा ताटङ्काहत्वेऽपि प्रियवेषार्हकुण्डल एव रक्षिते सखी हृदये तच्छोभातिशयसाक्षित्वात्। अतोऽधिकोल्लासो ज्ञेयः। पूर्व्वविहारकौतुकसूचकत्वाद्दर्पणदर्शने च प्रियाया अपि सस्मितरसोल्लासदायित्वात्। ततो निष्कग्रीवायां यत्रेति पूर्ववेष एवायमुभयत्रवशोभनत्वात् सतोपि सद्भावकथनेन पूर्व्वकवराच्छादनमेव ज्ञेयम्। इदानीं यथास्थिता एव शोभनाः। तत उदारोहारो यत्र उदारो दातृमहतोरित्यमरः महत्वेर्थेनर्घ्यत्वं दात्रर्थे दृष्टयानन्दातिशयदायित्वम्। उदारश्रीवक्षोजसङ्गादस्याप्यौदार्य्यम्।

यद्वा विहारावेशत्रुटितहारलतानां झटिति योजननेन। तदानीं दैर्घ्यमेव जातं लम्बमानस्यैव परिधापनात् तदेव तत्तद्विलाससूचनान्मनोहरम्। यद्वा उदारं महावदान्यमपि हारयति याचकी करोतीति दानवीरत्वख्याता-

रसकलश

सुन्दर होने के कारण अथवा कपोलों की स्वभाविक निर्मलता से पहले अलकावली के बिखर जाने से ढका हुआ होने के कारण ऐसा उल्लास नहीं था। ताटङ्क के उचित होने पर भी प्रिय के वेष के योग्य कुण्डल ही धारण किये हैं सखी का हृदय इस शोभातिशय का साक्षी है। अतः अधिक उल्लास समझना चाहिये क्योंकि पूर्व मे बिहार के कौतुकों का सूचक है और दर्पण में दर्शन करने पर प्रियाजी को भी मुस्कान के साथ रस का उल्लास देने वाला है। फिर निष्क है ग्रीवा में जिनके इससे ज्ञात होता है कि यह पूर्व वेष ही है अथवा स्त्री पुरुष दोनों के बेष में निष्क शोभावह होता है। यहाँ पर पहले से ही विद्यमान निष्क के सद्भाव का वर्णन करने से जानना चाहिये कि सबसे पहले मल्लिका की माला से केश पाश का ही आच्छादन किया गया है। अब जो आभूषणादि श्री स्वामिनी के विग्रह में जैसे स्थित थे वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं। फिर उदार हार है जहाँ पर, उदार शब्द दाता और महान् दोनों अर्थो को बताता है ऐसा अमर कोष का मत है। उदार का जब महान् अर्थ करेंगे तब अमूल्य हार और जब दाता अर्थ करेंगे तब दर्शन मात्र से ही अत्यन्त आनन्द देने वाला हार समझा जायेगा। फिर उदार शोभा शाली वक्षोजों (कुचों) के संग से भी इस हार में उदारता आ गई। अथवा बिहार के आवेश से टूट गई हारलताओं की तत्काल योजना से, तब बड़े हो गये उस लम्बे हार के पहनिने के कारण उदार हार कहा गया है। वही उन उन विलासों का सूचक होने से मनोहर है। अथवा उदार या महावादान्य को भी हरा देता है याचक बना देता है इस प्रकार दानवीरता के

वृन्दावनाधीश्वर्य्यपि माधवाधरासवास्वादमादत्त इति । किमिदं व्युत्क्रमञ्जातम् ? महाचित्रमिति सूचकं हारपदम् । अत्र यथास्थित मेव भूषणम् । यद्वा पुम्वेषे मालाधुना नवीनोहार इति यथा भावगम्योऽर्थः । अरुणं नवं दुकूलं बिभ्रत् पूर्व्वं पीतमधुनारुणं ननु नीलं प्रेष्ठं ख्यातमिति चेत्प्रियवर्णावेशान्न परिधापितमित्यपि ध्वनिः । प्रियेऽनुराग एवायं त्वद्वलिरित्यारुण्य मङ्गिकध्वनिः । नवत्वं तात्कालिकरञ्जनकुञ्चनादिसंस्कृतत्वं यथा शोभं भावनीयं तत्र कञ्चुकवेषे दूरीकृते प्रत्यङ्गभूषणछटाचाकचिक्ये विद्युत्कोटिनिभं महोविशेषणत्वात् वा स्ववधूटीवेशन लज्जयाङ्गानां नमनं तद्वद्विलासविशिष्टाङ्गन्यासचाञ्चल्यम् । तेन विद्युच्चमत्कृतित्वं कान्तिस्तु वर्तत एव । अत्र प्रियस्यापि स्ववेशो रचित इति ज्ञेयः । तादृग्वधूं तादृग्वरोवीक्ष्य स्वनायकत्वप्रकृत्याविष्टः स्मरोत्सुको जात इत्याशयेनाह स्मरोत्सवमयमिति । अन्यत्रोत्सवस्यकृतिसाध्यता । अत्रायतनसाध्यत्वं उद्दीपनादि-

रसकलश

द्वारा विख्यात हुई श्रीवृन्दावनाधीश्वरी भी माधव के अधर से आसव का आस्वाद लेती हैं यह क्या व्युत्क्रम हुआ है अति विचित्र बात है इस भाव का सूचक यह उदार हार शब्द है । यहाँ सभी भूषण यथा पूर्व स्थित हैं । अथवा पुरुष वष में माला थी अब नया हार है इस प्रकार जैसा भाव हो उसके अनुसार तात्पर्य समझ लेना चाहिए । अरुण और नया दूकूल धारण करने वाला यह तेज है जो पहिले पीत दूकूल धारण करता था आज अरुण दूकूल धारण किये हुये हैं । कोई प्रश्न कर सकता है कि श्रीस्वामिनी जी को तो पीत दूकूल सबसे अधिक प्रिय है तो उसका उत्तर देना चाहिये कि पुरुष वष धारण करने पर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर के रंग का नीलाम्बर मन में प्रिय का आवेश उत्पन्न कर देगा तो वह पुरुष वेष के अनुकूल न होगा अतः यहाँ नील दूकूल धारण नहीं किया प्रियतम में अनुराग ही यह तुम्हारी पूजा है यह लाली का तात्पर्य व्यङ्ग्य हैं । नवीनता का तात्पर्य तत्काल रङ्गे जाने और तह करने आदि संस्कारों से है शोभा के अनुरूप नवीनता की भावना कर लेनी चाहिये यहाँ कञ्चुक वाला वेष दूर कर देने पर प्रत्येक अङ्ग में भूषणों की छटा की चका चौंध से श्रीराधा नामक तेज कोटि कोटि बिजलियों के समान विशेषित हो रहा है । अथवा अपने नवबधू वेश और लज्जा से अङ्गों का झुकना, उस उस विलास से विशिष्ठ अङ्गों के व्यास में चंचलता और उसके कारण बिजली का चमत्कार प्रतीत होता है,यहाँ कान्ति तो है ही ।

यहाँ पर प्रियतम को भी प्रिया जी ने अपना वेश धारण करवाया है ऐसा जानना चाहिये । वैसी वधू को वैसा वर देखकर अपनी नायकत्व प्रकृति से आविष्ट हो गया और काम से उत्सुक हो गया इस अभिप्राय से कहते हैं कि स्मरोत्सव मय है । अन्य

सद्भावेऽप्युद्दीपनजन्यत्वाभावादुत्सवस्येत्यर्थः। एवं यथा वत्सहजं शृङ्गारं निर्म्मायच्छविवीक्षणपरा श्रीहितालो नवोत्सवाविष्टैव जाताह—इदं मह ईक्षे वर्तमानं तादात्विकं स्पष्टमेव अत्र साहजिकः शृङ्गारः केवल-सौभाग्यचिह्नावश्यकसूचक एव सज्जितकवरससिन्दूरसीमन्तरत्नतिलक कुण्डलनिष्कहारारुणपटानि अवशिष्टानि च केयूरादि नूपुरान्तानि उन्मीलन्मुकुटेत्यत्रोक्तान्येव। अतो नवरचितनामान्येव वर्णितानि उत्सव-रूपकत्वाकाङ्क्षायामाह—लोके उत्सवस्वरूपं वितानवन्दनमालाचित्र-रत्नकुण्डलाद्याभूषणारुणवसनचमत्काराद्यतिशयारोपादेव सिध्यति। तद्वदत्र स्मरस्य लावण्याद्यधिदेवत्वात्तदुत्सवो लावण्याद्यतिशयमय एव ज्ञेयः। मल्लीदामबन्धनं कवरं श्यामवर्णशृङ्गाररूपेण वितानवदाचरितं सिन्दूररेखासौभाग्यमङ्गलध्वजरूपा। विविधचित्ररचना गोपुरद्वारेषु रत्नान्येव उत्सवे जनैश्चित्रतिलकान्यपि क्रियन्ते। तज्जनसमष्टिनिदर्शनया

रसकलश

स्थलों में उत्सव प्रयत्न साध्य होते हैं यहाँ पर विना यत्न के साध्य हैं क्योंकि उद्दीपन आदि के होते हुए भी उत्सव उद्दीपन जन्य नहीं है। इस प्रकार ठीक ठीक सहज शृङ्गार का निर्माण करके शोभा देखने में तत्पर हुई श्री हितसखी नवीन उत्सव से अविष्ट सी हो उठी और कहने लगीं। मैं इस तेज को देखती हूँ, वर्तमान काल के प्रयोग से तात्कालिक होना स्पष्ट ही है। यहां पर स्वाभाविक शृङ्गार केवल सौभाग्य के आवश्यक चिन्हों का सूचक है। सजा हुआ केश पाश, सिन्दूर युक्त सोमन्त, रत्न जटित तिलक, कुण्डल, ग्रैवेयक, हार और अरुण वस्त्र आदि। शेष केयूर से लेकर नूपुर पर्यन्त आभूषण भी 'उन्मोलन्मुकुट' इत्यादि पद्य में कह ही दिये गये हैं। अतएव यहाँ नवीन रचना वालों के ही नाम कहे गये हैं।

अब उत्सव के रूपक की आकांक्षा वा जिज्ञासा में व्याख्या करते हैं—लोक म उत्सव शामियाना, वन्दन वार, चित्र और गोलाकार में जमाये गये रत्न आदि आभूषण तथा लाल वस्त्रों की चमक आदि के अतिशय के आडम्बर से ही सिद्ध होता है। वैसे ही यहां काम के लावण्य आदि का अधिष्ठातृदेव होने के कारण उसका उत्सव लावण्य आदि के आधिक्य से पूर्ण ही है ऐसा जानना चाहिये। मल्लिका की मालाओं से बांधा हुआ केशपाश ही श्याम वर्ण के शृङ्गार स्वरूप होने के कारण इस उत्सव में शामियाना या वितान के जैसा बनाया गया है। उसमें सिन्दूर रेखा रूपी सौभाग्यमङ्गल की ध्वजा के रूप में है। (कपोल स्तनादिपर) अनेक प्रकार की चित्र रचना ही गोपुर और द्वारों पर रत्नों का जमाव है उत्सव में लोग चित्र-विचित्र प्रकार के तिलकों की भी रचना करते हैं यहाँ उस रचना को जन समूह का निदर्शन समझ लेना चाहिये इस प्रकार

ज्ञेयम् । एवं कुण्डलनिष्कहारारुणपटान्यपि समष्टयैव यथा स्थानं सहृदयै र्भावनीयं विद्युत्कोटीति श्रेष्टस्मररतिमय स्त्रीपुंभिः सचमत्कृतैरितस्ततो गायद्भिर्नृत्यद्भिश्चलद्भिश्चमत्कारसमष्टिदर्शनादिति॥

अथवा स्मरोत्सवो वसन्तस्तद्रूपके पुष्पवर्णाकृतिभेदा ज्ञेयाः । मल्लीति स्पष्टम् । कवरेति श्यामवर्ण पुष्पमयतरुनैकट्यम् । सिन्दूरेत्यरुणपुष्प-पंक्तिः सर्वोपरितरुशिखासु भासमाना तिलको वृक्ष विशेषः कुण्डाकृतिपुष्प-वृन्दं निष्कवत्शोभनचमत्कृतानि पुष्पाणि । क्वचिद्धारावलीवत्पंक्तिशोभि-तानि । अरुणेति किंशुकवनमभितो वा तादृग्भास्वरारुणपुष्पतरुवप्रं विद्युद्व-च्चमत्कृतिः श्रीवृन्दावनीयपुष्पाणां तादृश्येव । यथा चात्रैव श्रीवृन्दावन-रूपकमुक्तम् ।

'रोमाली मिहिरात्मजा सुललिते बन्धूकबन्धुप्रभा,
सर्व्वाङ्गेस्फुटचम्पकच्छविरहो नाभीसरः शोभना ।
वक्षोजस्तवकालसद्भुजलता शिञ्जापतज्झङ्कृतिः,
श्रीराधा हरते मनो मधुपतेरन्येव वृन्दाटवी ।' ॥

कुण्डल, ग्रैवेयक, हार और अरुण वस्त्र भी समष्टि के रूप में ही यथा स्थान सहृदयों द्वारा समझ लिये जाने चाहियें । विद्युत्कोटि का तात्पर्य है कि प्रसिद्ध काम और रति से श्रेष्ठ काम और रति रूप स्त्री पुरुषों से जो कि चमत्कार युक्त हैं उनसे—परिपूर्ण उत्सव है । ये सभी स्त्री पुरुष इधर उधर गाते हुए नाचते हुए चलते फिरते हुए उत्सव का स्वरूप बना रहे हैं । इन्हीं के चमत्कार की समष्टि का दर्शन होने के कारण उत्सव को 'विद्युत्कोटि निभ' कहा गया ।

अथवा स्मरोत्सव नाम वसन्त का है उसके रूपक में पुष्पों के वर्णों और आकृतियों के भेद जानने चाहिये । इस पक्ष में मल्लिका तो स्पष्ट रूप से उपस्थित है । 'कबर' से केशपाश के समान श्याम पुष्पों से पूर्ण वृक्ष के निकट मल्लिकाओं की माला पर आरोप समझना चाहिये । सिन्दूर से अरुण पुष्पों की पंक्ति लेनी चाहिये । जो सब से ऊपर वृक्षों की चोटियों पर चमक रही है । तिलक तो एक विशेष वृक्ष का नाम है हीं । कुण्डल शब्द से कुण्डल के आकार के पुष्प समूह और निष्क से उसी जैसे सुन्दर चमत्कार वाले पुष्प लेने चाहिये । कहीं पुष्प हारावली जैसी पंक्ति में विराजमान हैं । अरुण शब्द से किंशुक या पलाश पुष्पों का वन या उसी जैसे देदीप्यमान लाल पुष्पों वाले वृक्षों की दीवार सी समझनी चाहिये जो बिजली के समान चमकती हो । श्री वृन्दावन के पुष्पों का यह चमत्कृति या चमक प्रसिद्ध ही है, इसी स्तोत्र में 'रोमाली मिहिरात्मजा' इत्यादि पद्य में श्री वृन्दाटकी का रूपक कहा गया है—

'रोमावली तो यमुना है, अधरोष्ठ में बन्धूक जैसी शोभा है सभी अङ्गों में विकसित चम्पक की छवि है, अहो नाभि रूपी सरोवर से सुन्दर, स्तन ही पुष्पों के गुच्छे हैं, शोभा-शाली भुजाएँ ही लता है, शिञ्जारव ही पत्रों की झंकार है, इस प्रकार श्री राधा मानों दूसरी वृन्दाटवी हो श्री मधुसूदज के मन को हरती हैं ।'

तथा च प्रसङ्गानुप्रसक्त्या वृन्दाटव्यास्तद्रूपकं शतके—

'विभ्राजत्तिलका कलिन्दतनयानीरौघनीलाम्बरो—
दञ्चत्काञ्चनचछविरहो नानारसोल्लासिनी ।
कृष्णं प्रेक्ष्य पयोधरेण रसदेनास्यन्तसम्मोहनी,
गोपेन्द्रात्मजवल्लभा विजयते राधेव वृन्दाटवी ॥६१॥१२९॥

एवं प्रियारूपछविं निर्वर्ण्य हर्षातिशयेन प्रसद्यपूर्व्वपद्यार्थोक्तगुणा-नुपसंहरन्ती श्रीहिताली साञ्चलग्रहंजयेत्याशिषमभिवदति ।

प्रेमोल्लासैकसीमा परमरसचमत्कारवैचित्र्यसीमा,
सौन्दर्यस्यैकसीमा किमपि नववयो
रूपलावण्यसीमा ।
लीलामाधुर्य्यसीमा निजजनपरमौदार्य्यवात्सल्यसीमा,
सा राधा सौख्यसीमा जयति रतिकलाकेलि-
माधुर्य्यसीमा ॥१३०॥

रसकलश

ऐसे ही प्रसङ्ग के अनुसार वृन्दाटवी पर श्री राधा जी का रूपक शतक में किया गया है । जैसे—

सुशोभित तिलक (वृक्ष और टीका) हैं, यमुना का जल प्रवाह नीलाम्बर हैं, खिले हुए सुथर्णमय चम्पा की छवि ही गौर वर्ण हैं. अहो, अनेक प्रकार के रसों का उल्लास करने वाली, श्री कृष्ण को देखकर रसदायक पयोधर (स्तन और मेघ) से अत्यन्त सम्मोहित कर देने वाली श्रीगोपेन्द्र नन्द महाराज के सुपुत्र श्रीकृष्ण की प्रिया वृन्दाटवी श्री राधा के समान सब से उत्कृष्ट रूप से विराजमान हे ।।१२९।

इस प्रकार प्रियांजी की रूपगत छवि को देख देखकर अत्यन्त हर्ष से प्रफुल्लित होकर पूर्व पद्य में कहे गये गुणों का उपसंहार करती हुई श्री हितसखी अंचल ग्रहण पूर्वक 'जय हो' इस प्रकार की आशीर्वाद देती हैं —

प्रेम के उल्लास की एक सीमा, परम रस के चमत्कार की विचित्रता की सीमा, सौन्दर्य की एक सीमा, अनिर्वचनीय नवीन वय (यौवन) रूप और लावण्य की सीमा, लीला युक्त माधुर्य की सीमा, निजजन (सखीजन) के प्रति परम उदारता और निजजन (दासीजन) के प्रति वत्सलता की सीमा, सौख्य की सीमा, रतिकलाओं और केलियों के माधुर्य की सीमा श्री राधा की जय है, वे सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं।१३०।

अत्रोन्मीलन्मुकुटेत्यारभ्य कुमाग्रहश्चेत्सोऽपि घटते । परन्तु यथासभंवं व्युत्क्रमेण समीचीनं दृश्यते । ततो यादृच्छिकमाह—प्रेम्णः उत्कलितातिशय-जाग्रत्सूक्ष्मश्रृङ्गारदलात्मकविप्रलम्बस्फूर्त्तिद्रवरुपस्य उल्लास उत्फणनम् । तस्यैकसीमा वैचित्यएव । तदवधित्वं आत्मविस्मृतित्वात् । यदा विगलितवेद्यान्तरावस्थैव न स्यात्तदा कः प्रेमपराकाष्ठेति । सोऽतिशुद्ध प्रेमैकपद्य उक्तः ।

पुनश्च परमरसेति । परात्परो रसः श्रृङ्गारः संयोगात्मको रसराजेति-ख्यातस्तस्यचमत्कारस्य वैचित्र्यं नाना केलिषु स्वासज्यत्वविस्मृतिपूर्वकतदा-स्वादमादनावस्थत्वात्सीमेति । अत्र संयोगानन्दे विगलिवेद्यान्तरत्वम्; तदत्र वृन्दारण्येति 'पद्य माद्यत्यभ्‌दुतमाधवाधरसुधेति' ज्ञेयम् । मादनं विना सीमत्वं न स्यादिति । अन्यच्च काव्यदृष्टान्तेन चमत्कारवैचित्र्यस्वरूपं निर्दिश्यते, न तु दार्ष्टान्तिकस्वरूपमस्मन्मनोगम्यम् । सकलचित्रसद्गुणालङ्कारोक्तिरीति-

रसकलश

यहाँ पर 'उन्मीलन्मुकुट' इत्यादि पद्य से लेकर यदि क्रम का आग्रह हो तो वह भी संगत हो सकता है परन्तु जहाँ तक संभव है व्युत्क्रम से विचार अधिक संगत प्रतीत होता है । अतः आकस्मिक रूप से कहते हैं । प्रेम नाम है उत्कण्ठा की अधिकता से जागरित हो रहे सूक्ष्म श्रृङ्गार के एक दल के रूप में विद्यमान विप्रलम्भ या वियोग की स्फूर्ति के कारण हुआ हृदय का द्रवोभाव उसका उल्लास है उफान, उस प्रेम के उल्लास की एक सीमा, विचित्तावस्था में हो उस प्रमोल्लास की अन्तिम अवधि होती है क्योंकि उस समय आत्मविस्मृति की अवस्था आई रहती है । जब अन्य ज्ञेय के ज्ञान के विगलित हो जाने की अवस्था में ही नहीं होती तब प्रेम को कंसी पराकाष्ठा । यह प्रेम का उल्लास 'शुद्धप्रमैक' इत्यादि पद्य में कहा जा चुका है ।

फिर 'परम रस' का तात्पर्य है परास्पर रस श्रृङ्गार संयोगानन्द स्वरूप जो रसराज क नाम से विख्यात है उसके चमत्कार की विचित्रता अनेक प्रकार की केलियों में अपने विषय भाव या आसज्यभाव की विस्मृति के साथ उस रस के आस्वाद से मादन अवस्था में पहुँच जाना वही परम रस के चमत्कार को विचित्रता की सीमा है । यहाँ संयोगानन्द में भी अन्य ज्ञेय का ज्ञान विगलित हो जाता है, इसका वर्णन यहाँ वृन्दारण्य' इत्यादि पद्य में 'माद्यत्यद्भुत माधवाधर सुधा माध्वीक संस्वादनैः' अद्भुत माधव की अधर सुधा रूपी मदिरा के आस्वादन से मदमत्त हो जाती है, इत्यादि द्वारा किया गया है ऐसा जानना चाहिये । यहाँ परम मदमत्त हुए बिना सीमा नहीं होती ।

एक बात और भी है यहाँ काव्य के उदाहरण से चमत्कार की विचित्रता का स्वरूप बताते हैं न कि दार्ष्टान्तिक स्वरूप, क्यों कि दार्ष्टान्तिक स्वरूप तो केवल हमारे

विशिष्टशब्दार्थरूपं काव्यं, तत्स्थानीयः परमरसः, तत्रापि व्यंग्यप्रधानत्वं चमत्कारस्तत्रापितस्यध्वनिप्रतिध्वन्यनुध्वन्यादयोरनुरणनात्मिकाः । वैचित्र्यं भावानुभावेष्वपि भावान्तरंसूचकपरम्परत्वात्तदवधिरिति ।

पुनश्च सौन्दर्यैकसीमत्वम् । राकाचन्द्रोवराक इति राकानेकेत्यत्रचोक्तं प्रेमास्पदत्वं सौन्दर्यं एव भवति । अतिसौन्दर्यमपि प्रेमास्पदतम एव भवत्यतः परमप्रेमास्पदत्वं श्रीमत्यामेवेति । सीमत्वं पत्यावेव सर्वोक्तम् । अत्र तस्यापि तस्यामित्येकपदस्यमुख्यार्थः । पुनश्चैतत्कुतः किमपीत्यनिर्वचनीयम् । यद्वय इति वयः कैशोरकं ध्येयमिति । यत्तादृशमेवरूपमङ्गाकृतिपरमसौष्ठवम् । लावण्यमङ्गनैर्मल्यम् । नवमिति सर्वेषु सम्बध्यते, तेषां सीमात्रैवावधिस्ततत्रादृशपतिमोहनमेवानुमामिति सहृद्गम्यम् ।

श्यामामण्डलेत्यत्र मौलिपदेन कैमुत्येन यथासम्भवं सूचितम् । किमपीति

रसकलश

लिये मनोगम्य हो है । सम्पूर्ण चित्र, सद्गुण, अलङ्कार, उक्ति, रीति से विशिष्ट शब्दार्थ रूप काव्य होता है उसमें नित्य रहने वाला परम रस है, रस में भी व्यङ्ग्य की प्रधानता होती है और उसी का चमत्कार होता है । व्यङ्ग्य में भी ध्वनि, प्रतिध्वनि, अनुध्वनि आदि अनुरणनात्मक विचित्रताएं हैं । भाव और अनुभावों में भी भावान्तर को सूचित करने वाली परम्परा वाला होना उस विचित्रता की सीमा है । फिर सौन्दर्य की एक सीमा होना 'राका चन्द्रोवराकः' इत्यादि तथा 'राकानेक विचित्र चन्द्र उदितः' इत्यतदि पद्यों में कहा गया है । यहाँ पर कही गई प्रेमास्पदता सौन्दर्य के ही कारण है, अति सौन्दर्य प्रेमास्पदतम हुआ करता है अतएव परम प्रेम का आस्पद होना श्रीमती राधा जी को ही प्राप्त है । सौन्दर्य की सीमा होना अभी तक श्री श्यामसुन्दर में ही सभी ग्रन्थों द्वारा कहा गया है यहाँ पर उन श्यामसुन्दर के लिये भी श्री राधा में सौन्दर्य की सीमा या परम अवधि है 'एक' पद का यह मुख्य अर्थ है ।

फिर ऐसा क्यों है ? यह कहते हैं किमपि या कोई का अर्थ अनिर्वचनीय है, वय किशोर अवस्था का ही यहां ध्यान करना चाहिये फिर वैसा ही अनिर्वचनीय रूप अंगों की अकृति में परम शोभनता और लावण्य अंगों की नवीन निर्मलता । यहां किमपि या अनिर्वचनीय शब्द प्रत्येक के साथ लगता है इन सब को सीमा या अवधि यहां ही है, फिर पति भी इनके जैसे ही मोहन हैं यह सहृदयों के हृदय द्वारा किया जा सकने वाला अनुमान है । यह भी 'श्यामा मण्डलमौलिमण्डनमणिः' इत्यादि पद्य में कैमुतिकन्याय से मौलि शब्द द्वारा यथा सम्भव सूचित कर दिया गया है ।

नवेति समस्तैपदं सुपसुपेति समासः। वय आदीनां सदा नवत्वं प्रियेऽप्यस्ति, परन्तु तस्याप्याश्चर्य्यापादकत्वात्किमपीत्युक्तम् । तेन हितसखी स्वमनोगम्येऽपि वक्तुमशक्ता किमपीत्येव वक्ति, तदान्येषां का वार्त्तेति । अथ लीलेति प्रियानुकरणं सा च उन्मीलन्मुकटेत्यत्रोक्तम् । सलीलविलासोमाधुर्य्यञ्च आनम्रेत्योक्तेः ।

अथ सर्वपोषकगुणानाह । निजजनेषु परममत्यौदार्य्यदातृत्वं वात्सल्यञ्चेति । कालिन्दीति पद्ये भक्तानामिति सुधास्यन्दिपादारविन्दे सूचिते तादात्विकप्रियविषयिकपरमानुग्रहादौदार्य्योक्तिः । तादृशरहस्यसमय एव सख्यां दास्यदानवात्सल्यं तदनुभयहिताल्यावात्सल्योक्तिः। स्फुटेऽर्थेतु परमौदार्य्यम्, ब्रह्मादिदुर्गमरसस्यापिदानं शरणागतसाधारणजीवानामपि करोति । प्रिये तु मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्, इति किञ्चित् समीक्ष्यकारित्वम्,परमं वात्सल्यञ्च साधनानपेक्ष्यानुग्रहः। पत्यौ तदपेक्ष्यानुग्रह इतिदिक् ।

रसकलश

किमपिनववयोरूपलावण्यसीमा, शब्द में किमपि और नव शब्द का 'सुपसुपा' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार समास है अतः 'किमपिनव' यह एक समस्त पद है। वयं, रूप और लावण्य इन सब की नवीनता प्रियतम में भी है परन्तु वे भी आश्चर्य कारक हैं अतएव किमपि कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि श्री हितसखी जी के लिये वह मनोगम्य तो है पर वे उसका वर्णन करने में असमर्थ हैं इसलिये वे इसे किमपि या अनिर्वचनीय कहती हैं, तब दूसरों की क्या चर्चा।

अब लीला अर्थात् प्रियतम का अनुकर्ण और माधुर्य की सीमा इस लीला का वर्णन 'उन्मीलन्मुकुटच्छटा' इत्यादि पद्य में किया गया है। लीलायुक्त विलास और माधुर्य दोनों ही 'आनम्रानन' इत्यादि पद्य में कहे गये हैं' अब सबके पोषक गुणों का वर्णन करते हैं, निज जनों के प्रति अतिउदारता, दानशीलता और वत्सलता। इनका वर्णन 'कालिन्दो' इत्यादि पद्य में भक्तानाम्' इत्यादि द्वारा और 'सुधास्यान्दिपादार विन्द' इत्यादि द्वारा सूचित किया गया है। उस समय प्रियतम के विषय में परम अनुग्रह द्वारा उदारता कही गई है, उस रहस्यमय समय में ही सखी को दास्य का अवसर देना वत्सलता है। उसका अनुभव करके श्री हित सखी ने वातसल्य का वर्णन किया है। स्फुट अर्थ में परम उदारता ब्रह्म आदि के लिए दुर्गम रस का भी दान शरण में आये हुए साधारण जीवों को भी देती हैं। प्रियतम तो कभी मुक्ति दे देते हैं पर भक्ति योग नहीं देते, इत्यादि कथन के अनुसार कुछ विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं। परम वात्सल्य यही है कि साधन की अपेक्षा न करके अनुग्रह कर देना। पति या प्रियतम पर उसकी अपेक्षा करके अनुग्रह करना यह संक्षेप में परमत्व का तात्पर्य है।

परमत्वतात्पर्य्यार्थका, तत्कुत इत्याह सौख्येति । कालिन्दीत्यत्र सान्द्रानन्दाकृतिरिति तत्सीमत्वमुक्तम् । सुखस्य शब्दवृत्तिनिमित्तात्मकः सारस्तत्वम्, यदंशान्वयेन सर्वत्र सुखानुभवः सर्वैः क्रियत इति । यथा, "ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।" ति श्रीगीतायां परमसुखरूपस्यापि पत्युः सुखदत्वात् सौख्यसीमेति । अंशान्वयो यथाह शतके—

राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुर्नित्यं तयाश्यामल-,
श्चन्द्रो भूषितविग्रहो विलसिता तेनापि कुञ्जावली ।
वृन्दाटव्यनया तथा विलसितं श्री माथुरं मण्डलम्,
तेन श्रीलविकुण्ठधामसुभगस्तेनापि सर्वेश्वरः ॥ इति

एवं सौन्दर्य्यमाधुर्य्यौदार्य्यादीनि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तार्थे ज्ञेयानि । ततः सौख्यावधित्वादेव रतिकलावात्स्यायनाद्युक्तास्तासां कलेयः क्रीडनानि तासां माधुर्य्यं प्रियतास्पदत्वं सखीहृदयसाक्षिकम् । यथा कलाकेलिर्दृष्टा तस्यां तस्यां श्रीमत्येव शोभते, अहह विचित्रकलेयमत्रैव यथार्थशोभां प्राप्नोतीति भंग्या-

रसकलश

ऐसा किस प्रकार है ? इस पर कहते हैं कि सौख्य की सीमा । जैसा कि 'कालिन्दी इत्यादि' पद्य 'सान्द्रानन्दाकृति' इत्यादि द्वारा श्री राधाजी को सौख्य की सीमा कहा गया है । सुख शब्द में प्रवृति निमित्त का सार या तत्व जिस के अंश के सम्बन्धमात्र से सर्वत्र सबको सुख का अनुभव होता है उस का नाम सौख्य है 'ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्पच । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्ति कस्य च' । इस श्रीमद्भगवद्गोता केवचन द्वारा परमसुख रूप कहे गये प्रियतम के लिये भी सुखदायिनी होने के कारण श्री स्वामिनी सौख्य की सीमा हैं । इस सौख्य के एक अंश के विश्व सम्बन्ध का वर्णन शतक में किया गया है—

'श्री राधा तो प्रेम रूपी महासमृद्धि से भूषित श्री अङ्ग वाली हैं और श्यामचन्द्र उन श्री राधा से भूषित श्री अङ्ग वाले हैं, श्री श्याम चन्द्र से निकुञ्जावली सुशोभित है। निकुञ्जावली से वृन्दाटवी और वृन्दाटवी से मथुरामण्डल सुशोभित हैं। मथुरामण्डल से श्री वैकुण्ठधाम सुन्दर है तथा वैकुण्ठधाम से सर्वश्वर शोभायमान हैं।' इस प्रकार सौन्दर्य, माधुर्य, औदार्य आदि शब्द प्रवृत्ति भिन्न जानने चाहिये । अतः सौख्य की अवधि होने के कारण ही रतिकलाएँ जो वात्स्यायन आदि द्वारा कही गई हैं । उनकी केलियों या क्रीडाओं के, माधुर्य की प्रियता की पात्री होने की, सीमा श्रीराधा हैं । श्री राधा के प्रियता की पात्री होने के विषय में सखी का हृदय साक्षी है । जो जो रतिकलाकेलि देखी उसी उसी में श्रीमती शोभायमन लगीं । अहह, विचित्र कलाएँ इनमें ही यथार्थ शोभाएँ प्राप्त करती हैं इस ढंग से माधुर्य

शयेन माधुर्य्योक्तिः । स्वादौप्रियौ च मधुराविति । केलिषु माधुर्य्यञ्च विधुरमधुपति प्राणदान एव पर्य्यवस्यति, अतः श्यामामण्डलेत्यत्रपद्ये, अतीवोन्मदकामकेलितरलेत्युक्तम् । कलापूर्णत्वे औदार्य्यं स्यात्तेनैव दानतरलत्वं स्यादिति । ऐश्वर्य्यौदार्य्यं राकेतिपद्ययोरुक्तम् । माधुर्य्यौदार्य्यञ्च मल्लीदामेत्योक्तम् । अन्यदपि यथा सम्भवं सहृदयगम्यमेव । एवं सर्वासमोर्द्धगुणसीमाश्रीमती जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते इत्याशीः ॥१३०॥

एवं जयाशीभिरभिसंवर्ध्यं केलिविरुदेन स्तुवन्ती रतिश्रमापोहाय श्री यमुना कूलजलयन्त्रविशिष्टकुञ्जं नयितुं श्रीमच्चरणं प्रस्तौति—

यस्यास्तत्सुकुमारसुन्दरपदोन्मीलन्नखेन्दुच्छटा-
लावण्यैकलवोपजीवी सकलश्यामामणिमण्डलम् ।
शुद्धप्रेमविलासमूर्त्तिरधिकोन्मीलन्महामाधुरी-
धारासारधुरीणकेलिविभवा सा राधिका
मे गतिः ॥१३१॥

रसकलश

की प्रशंसा की गई। स्वादु और प्रिय का नाम मधुर है। क्रीडाओं में माधुर्य-'विधुर मधुपतिप्राणदाप्रीयतां नः' इत्यादि में कथित विधुरमधुपति को प्राण दान करने में ही पर्यवसित होता है। इसी लिए 'श्यामा मण्डल' इत्यादि पद्य में उन्हें 'अतीवोन्मादकामकेलितरला' कहा गया है। कलाओं की पूर्णता होने पर उदारता होगी उदारता से दान देने में तरलता चपलता या अतुरता होगी। ऐश्वर्य और औदार्य' 'राकान के विचित्र' इत्यादि और 'राका चद्रो वराको' इत्यादि पद्य में कहा गया है। माधुर्य और औदार्य 'मल्ली दाम' इत्यादि पद्य में भी कहा गया है और भी यथासम्भव सहृदयगम्य ही है। सभी असमान अतिशायी गुणों की सीमा श्रीमतीराधा सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं। यह आशीर्वचन कहा गया है। १३०।

इस प्रकार जय के आशीर्वादों से संवर्धन करके क्रीडा के सुयश से स्तुति करती हुई रतिश्रम को दूर करने के लिये श्री यमुना जी के तट पर जल यन्त्रों से युक्त कुञ्ज में ले जाने के लिये श्री चरणों से प्रस्ताव करती हैं—

जिसके उन सुकुमार और सुन्दर श्री चरणों में उघडती हुई नख रूपी चन्द्र की छटा और लावण्य के एक लवलेश से सम्पूर्ण श्यामाओं (षोडशियों) में शिरोमणि भूता सुन्दरियों का मण्डल उप जीवन प्राप्त करता है। शुद्ध प्रेम और उसके विलासों की साक्षात् मूर्ति, अधिक उघडती हुई महा माधुरी की धारा के सार से धुरी सर्वश्रेष्ठ है केलि रूपी विभव जिनका वे श्री राधिका मेरी गति या आश्रय हैं। १३१।

सा राधिका मे गतिरस्ति। गतिः प्राप्तिस्थानम्। तदेवाह, सा का यस्या नीराजितमाधवे, प्राणकोटिमाधुरीधुरीणपरमप्रेमसोभाग्यभूमेस्त-दिति तेन सुकुमारसुन्दरपदोन्मीलन्नखेन्दुच्छटालावण्यैकलवेनोपजीवितुं शीलं यस्य तत् तादृशं सकलश्यामामणीनां मण्डलं वर्त्तते। सौकुमार्य्यौदार्य्ये च पदयोरनुभूतार्थविशेषणत्वात्तदिति सर्वपदेषु सम्बध्यते। सौकुमार्य्यं यथा, कुञ्जान्निजकरसज्जित कुञ्जान्तरनयनार्थं मार्गे पटास्तरणम् वा सहजमृदु-मधुरस्थल्येव पुष्पपरागरञ्जिता, तस्यामपिनवकिशलयास्तरणनिर्मिति कौशलम्, तस्मिन्नपि कमलदलानि, तेष्वपि मनोदृगास्तरणम्, कोमलकर्कश भेदज्ञापनार्थम्। ततः प्रियचाटुविज्ञप्तिपूर्वकप्रियापदधारणं तत्र यद्दलेषु प्रियमनोदृशोस्तस्यामनो दृशोरेकसाक्षित्वाद्यथा यथा मनोभावास्तरणं तथा तथैव तन्मनसि ज्ञानम्।

रसकलश

वे श्री राधिका मेरी गति हैं। गति का अर्थ है प्राप्तिस्थान। मेरे ऐसे मनोरथों की प्राप्ति की पात्र भूता वही हैं। प्रत्यक्ष में परोक्ष का निर्देश अनुभूत अर्थ की विशेष रूप से विशिष्टता का सूचक है। उसी का वर्णन करते हैं। वे कौन सी राधिका, माधव के द्वारा समर्पित हुई प्राण कोटी की माधुरी से धुरीण परम प्रेम और सौभाग्य की भूमि भूता, जिनके उन सुकुमार और सुन्दर श्री चरणों से उघडती हुई नख रूपी चन्द्र की छटा और लावण्य के एक लवलेश से उपजीवत होने का जिनका है वैसा वह सम्पूर्ण श्यामाओं में शिरोमणियों का मण्डल है। यह सुकुमारता और सुन्दरता चरणों में अनुभूत पदार्थ का विशेषण होने के कारण यहाँ 'तद्' या 'उन' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यह तत् शब्द सुकुमारता, सुन्दरता श्री चरण, उनके नख चन्द्र और उनकी छटा तथा लावण्य प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होता है। इनमें सुकुमारता का अनुभव तब हुआ जब एक कुञ्ज से दूसरे अपने हाथों सजाये हुए कुञ्ज में ले जाने के लिये मार्ग पर वस्त्र बिछाये अथवा स्वभाव से ही कोमल और मधुर स्थली थी। फिर पुष्पों के पराग से रंगी हुई थी उस पर भी नवीन पल्लवों का आस्तरण बनाने का कौशल किया उस पर भी कमल दल फैलाये उन पर भी मन और आंखें बिछाईं जिससे कोमल और कर्कश के भेद का ज्ञान हो सके तब प्रिय का प्रियवचनयुक्त विज्ञप्तिपूर्वक प्रिया जी के श्री चरणों का धारण करना, वहाँ जिन पल्लवों पर प्रियतम के मन और दृष्टि बिछे थे उन पर श्री चरणों की सुकुमारता के प्रियतम के मन और नेत्र ही साक्षी हैं। जैसे-जैसे मन के आस्तरण या बिछाना हुआ वैसे वैसे उनके मन को सुकुमारता का ज्ञान हुआ। साभिलाषता के कारण कर्कशता के कारण साक्षी होने के कारण नासिकाओं को

साभिलाषत्वकार्कश्यसाक्षित्वेन नासासशीत्कारारोहणं तद्ज्ञातृप्रिय-कृतहाधिगिति भर्त्सनजातमार्द्दव मानसास्तरे सस्मितं सुखं गच्छति। तत्र गमने यद्यदङ्गविन्यासभंगीमयलीलाविलासाद्यनिर्वचनीयमेवेत्याद्यनन्तं सौकुमार्य्यं सौन्दर्य्यञ्च, तादात्विकन्यासे निजारुणप्रभाप्रसरेण सर्ववर्णान्तर-भूरपि प्रवालमय्येव जाता, तत्र नुपुराङ्गुलीयसप्ताष्टमणिभूषणशोभा-साहित्यमत्यन्तशोभनं किं भण्यते। प्राणालिकोटिनीराजितपदसुषमामाधुरी-माधवेनेति सौन्दर्य्यावधित्वम्। तादृशयोः पदयोरुन्मीलदुद्गच्छन्नखेन्दु-छटानां लावण्यम्। छटा, प्रसरत्प्रभापुञ्जमञ्जरीचमत्कारः। लावण्यं, शोभनमाधुर्य्यम्। नखेन्दुछटास्तु तत्र यथास्थितनित्या एव। नवनवोन्मीलनं लावण्यस्यैव घटते। वा छटा लावण्यस्येति, यद्धारणे यथा भावविन्यास-भङ्गी, तत्समानाकृतिर्लावण्यस्य सूक्ष्मतया सहृदयैर्गम्या, सापि प्रेमसूचकै-वेति ज्ञेया। प्रियप्रेमवातविसंष्टुल-(उच्चनीचविसंष्ठुलं इतिकोशात्) प्रिया-पदगतिर्दीपकलिकेव सूच्यमाना। प्रेमविलासमूर्त्तित्ववक्ष्यमाणत्वाल्लावण्येऽपि

रसकलश

शीतकार के साथ चढ़ाने, उस कर्कशता जानने वाले प्रियतम के द्वारा किये गये या कहे गये हा, धिक, कष्टम्, इत्यादि भर्त्सना के शब्दों से हुए सुकुमारता के मान-सिक आस्तरणों पर मुस्कराती हुई सुखपूर्वक चली जाती हैं उस गमन काल में जो-जो अङ्ग विन्यास, की चेष्टा से युक्त लीला विलास आदि किये जाते हैं। वे सब अनिर्वचनीय ही होते हैं, इत्यादि अनन्त सुकुमारता और सुन्दरता उस समय के चरणविन्यास में अपनी स्वाभाविक अरुण प्रभा के प्रसार से सभी अन्य वर्णों वाली भूमि भी नवीन पल्लवों वाली हो गई उस पर नूपुर और तथा अन्य शब्द करने वाले मणि जटितभूषणों की शोभा का सहभाव अत्यन्त सुन्दर लग रहा है, उसका क्या वर्णन किया जाए 'प्रणालीकोटिनीरजीतपदसुषमा माधुरीमाधवेन' इत्यादि द्वारा उनका सौन्दय की अवधि होना, उन श्री चरणों से उधड़ती या उमड़ती हुई नख चन्द्रों की छटाओं का लावण्य है। छटा फैलती हुई प्रभा पुंज को मंजरी के चमत्कार का नाम है, और लावण्य शोभा माधुर्य का नाम है, नख चन्द्र की छटाएँ वहाँ यथावत् नित्थस्थित हैं ही। नवीन रूप में उन्मीलित होना लावण्य के लिए ही होता है अथवा 'छटालावण्य' इस पद के रखने में भाव के अनुसार विन्यास की रचना उसके समान आकृति, लावण्य की सूक्ष्मता से सहृदयों द्वारा ही जानी जा सकती है। वह भी प्रेमसूचक ही है ऐसा जानना चाहिये। प्रियतम के प्रेमरूपी पवन से ऊँचे नीचे हो रहे प्रियाजीके चरणों की गति दीप शिखा के समान सूचित हो रही है। श्रीराधाजी का प्रेम-

तत्वमेव तस्य प्रवाहरूपपरम्परावन्नवनवोद्गच्छतो लावण्यस्यैको लवस्तेनो पजीवनशीलं श्यामानां यथोक्तश्रेष्ठवयोरूपसुभगानांमरगयः श्री ललिता- द्यास्तत्पदप्रभामहोदधिफेनस्तवकमयतनवस्तासां मण्डलम् । तदेकतानतया- परिवार्य्यस्थितत्वान्मण्डलाकृति । अर्थात् यदा यदा त्वं चलसि तदैव त्व- त्पदच्छविच्छटालावण्यस्य लवं लवं प्रति सशिरोधुवनसाध्विति प्रशंसनपूर्वक- साङ्गुलिमोटनं भूयः प्रशंसति । अयमेवास्माकं परमजीवनम्, तत्प्रेमसूक्ष्म- विशारदतयात्मानं धन्यं मन्यन्ते, यथा च शतके, श्रीराधापादपद्मछविमधुर- तरप्रेमविज्ज्योतिरेकाम्भोधेरुद्गतफेनस्तवकमयतनूः सर्ववैदग्ध्यपूर्णाः । कैशोरव्यञ्जितैतद्घनरुचिघनपद्यतश्रीचमत्कारभाजो, दिव्यालङ्कारवस्त्रा अनु- सरत सखे राधिका किंकरीस्ताः । अत्र मणि शब्देन चन्द्रकान्ता इव स्वेश्वरेन्दु- दीधितिसमावेशसम्भवेनापि घटते । नखेन्दुिति कथनात् । यद्वा श्यामसखीं

रसकलश

विलास मूर्ति होना यहाँ कहा जाने वाला है अतः लावण्य में भी प्रेम का अस्तित्व है ही उसी प्रेम की प्रवाह रूप परम्परा के समान नवीन नवीन रूप में उछलते हुए ला- वण्य के एक लवलेश से उपजीवन प्राप्त करने का जिनका स्वभाव है ऐसी श्यामाओं, जैसा कि कहा गया श्रेष्ठ कैशोर और रूप के कारण सुभग सुन्दरियों में शिरोमणि भूता श्री ललिता आदि, जो उस श्रीचरण की प्रभा के महासागर के फेनसमूह स्वरूप शरीर वाली हैं, उनका मण्डल ।सभी का उन श्रीराधा में ही एक मात्र ध्यान होने से उनको चारों ओर से घेर कर खड़े रहने के कारण श्यामामणिसमूह मण्डलाकार हो गया है। अर्थात् जब जब तुम चलती हो तब तब तुम्हारे चरणों की छटाओं के लावण्य के लेश लेश के प्रति सिर हिलाते हुए साधु साधु इस शब्द से प्रशंसा करते हुए हाथों की उंगलियां मरोड़ते हुए बार-बार बहुत बहुत प्रशंसा करते हैं। यही हमारा परम जीवन है उस प्रेम के सूक्ष्म मर्मज्ञ होने के कारण अपने आप को धन्य मानते हैं। जैसा कि शतक में कहा गया है—

'श्रीराधा जी के चरण कमलों की छवि के प्रति मधुरता प्रेमरूपी ज्योति के एक- मात्र सागर से उत्पन्न हुए फेनों के गुच्छों से ही बने हुये शरीरों वाली, सब चतुरताओं से परिपूर्ण, किशोरावस्था से व्यक्त हुये इस घनी कान्ति वाले अङ्गों की शोभा के चमत्कार को प्राप्त हुये दिव्य अलंकारों और वस्त्रों वाले श्रीराधिकाजी को किङ्करीजनों का हे मित्र, तुम अनुगमन करो। यहाँ पर मणि शब्द से चन्द्रकान्त मणियों के समान अपने स्वामी चन्द्र किरणों के समावेश की सम्भावना भी सङ्गत हो सकती है क्योंकि यहाँ श्रीचरणों के नखों को नख चन्द्र कहा गया है।

प्रति कटाक्षः । प्राणालिकोटिनीराजितेत्युक्तमेव । यस्याः पदछटैकलव एवं प्रभावस्तदातत्परमराशेः कैमुत्यम् ।

तदेवाह, स्वयन्तु शुद्धप्रेमविलासमूर्त्तिरिति । शुद्धत्वं तत्सुखित्वमसमोर्द्धोज्वलम् चोक्तमेव । प्रेममूर्त्तिरित्येव चरितार्थे विलासोक्तिर्याथाबीजात्स्कन्धशाखाप्रवालपुष्पफलद्विजघोषछायारससारेमादिसौष्ठवयुततरत्वम् । यथा च राजा स्वस्मृद्धिसाङ्गोपाङ्गतया सिंहासने सछत्रचामराप्रतिहतनिदेशसकलसामन्तपरिवारितो राजते । यथा च रागः । सकलतालतानश्रुतिस्वरग्रामादिसौष्ठवं प्रचरद्रूपस्तथाप्रेमा स्वसकलाङ्गवैभवस्फुरद्रूपसामयिकइत्यादि प्रेम्णोविशेषावस्था सूचिनीति ज्ञेया, अत एव प्रेमोपादानी भूताया लवोऽपि प्रेमैवेति ज्ञेयः । अत्र पदश्लाघायां कुञ्जान्तरगमनविज्ञापनं कृतम् । सर्वसखीमण्डलं श्रीमत्यागनम् प्रतीक्ष्येव वर्त्तते इति भावः ।

नन्वत्रस्थायाः किं विशेषचिकारयिषा, तत्रानुभूतश्लाघनभाविरुचिवर्द्धनेन केलिं प्रस्तौति । अधिकेति । यावत्प्रेममूर्त्तिस्ततोप्यधिकमुन्मीलन्त्यो

रसकलश

अथवा यहां श्याम सखी के प्रति कटाक्ष या व्यङ्गोक्ति की गई है । प्रणाली कोटि नीराजित, इत्यादि तो कहा ही गया है । अब जिनके श्रीचरणों की छटा के एवलव का ऐसा प्रभाव है तब उसको परमराशि का तो क्या कहना ? इसी बात को कहते हैं कि स्वयं तो शुद्ध प्रेम और विलास की मूर्ति हैं इस कथन द्वारा शुद्धता, तत्सुखसुखिता और जिसकी तुलना नहीं जिससे बढ़कर तो कोई ऐसा नहीं सकता ऐसी उज्जवलता यहां कही ही गयी है । प्रेममूर्त्ति इसके चरितार्थ होने पर विलासो कि जैसे बीज से स्कन्ध, शाखा, पल्लव, पुष्प, फल, पक्षियों के कलरव, छाया, रस, सुगन्धि आदि शोभनताओं से युक्त वृक्षत्व प्रकट होता है और जैसे अपनी स्मृद्धि की सांगोपांगता से सिंहासन पर छत्र चामर, अखण्डित आज्ञा और समस्त सामन्तों से परिवारित होकर विराजमान होता है जैसे राग सभी तालों, तानों श्रुतियों स्वरों और ग्रामों के सौष्ठव से प्रचलित स्वरूप वाला होता है । वैसे ही प्रेम अपने सभी अङ्गों और वैभवों से स्फूरित हो रहे रूप का समकालीन होता है । इत्यादि प्रेम की विशेष अवस्था को सूचित करने वाली वह विलासोक्त है । अतएव प्रेम के उपादान बने हुये भी प्रेम ही जाने चाहिये । यहां पर पद अर्थात् श्रीचरण की श्लाघा सो अन्य कुन्ज में जाने के लिये निवेदन किया गया है । समस्त सखी माण्डल श्रीमती के शुभागमन की प्रतीक्षा में ही है यह भाव हैं ।

अब प्रश्न होता है कि यहां स्थित श्रीमती क्या विशेष कृपा करना चाहती है वहां अनुभव किये गए कि द्वारा होने वाले विलास में रुचि बढ़ाने के द्वारा केलिका वर्णन प्रस्तुत करता है । जितनी वे प्रेम मूर्ति हैं उससे भी

महामाधुरीधाराः । माधुरी प्रियता महतीसर्वविस्मारका धारा अविच्छिन्न-परम्परास्तासमासारं सम्पातं वर्षणं सर्वतो प्लाव्यमानत्वं, तं धुरीणानां वहन्तीनां केलिनां विभवो वैभवं' यस्याः प्रेममूर्त्तेः । केलिवैभवमपि महा-प्रियतावर्षास्पदमेव । वृष्टयनाश्रया, श्रीमती तद्विषयकेलिः स्वेष्टचेष्टा । अतः केलि सम्पदं प्रकटय येनास्मत् पोषणं स्यात् । घनस्तु दर्शनहर्षदायी, तदुप-जीविनां सर्वेषामेव, परन्तु वर्षणमेवापेक्ष्यते सर्वैरिति स्वार्थो विज्ञापितः । साधु, अस्मत्स्वार्थायापि केल्यन्तरं प्रकाशय । अतएव विलासोक्तिः । अन्यथा प्रेमैवावक्ष्यत् ।

अधिकेति लोके वस्तु बाहुल्ये ईषत् प्रियतामानं दृश्यतेऽत्रतु नैवम् । वस्तुप्रमाणादधिक प्रियतोन्मीलनम् । तत्रापि धारा अनन्तास्तासां सप्रिय-सखीदृग्भूम्य एवसाक्षिण्यो यत्लवेन नवनवभावानन्दसस्याङ्कुरोद्गमः पोष-मेति । ननु मामेव किं न पश्यथेत्याशङ्कायाम् त्वत्तोऽपि त्वत्केलयोऽस्मान्महा-प्रिया लगन्ति, यत्र तवाप्यानन्द इति । तत्सुखमेव पर्यवसितम् । एवं भूत-लावण्यकारणा माधुरीबलाहककेलिसम्पदवती, मे तदेकजीवनाचातक्या गति-

रसकलश

अधिक उनमें महा माधुरी की धाराएँ उमड़ रही हैं । माधुरी उस प्रियता का नाम है जो और सब कुछ भुला देती है । धारा अविच्छिन्न परम्पराएँ हैं उनका आसार या बौछार या बरसना सब ओर आप्लावित कर देना उसकीधुरी का वहन करने वाली केलियों या क्रीड़ाओं का वैभव है जिसका ऐसी प्रेम मूर्त्ति का क्रीड़ा वैभव भी महा प्रियता की वर्षा का पात्र ही होगा । इस वृष्टि का आश्रय श्रीमती है और विषय केलि-या क्रीड़ा अथवा इष्ट चेष्टाएँ हैं । इसलिए केलिसम्पत्ति को प्रकट करें जिससे हमारा पोषण हो अपने सहारे जीवित रहने वालों के लिए घन या मेघ दर्शन से ही हर्ष देने वाला होता है, परन्तु वर्षा को अपेक्षा की जाती है, इस प्रकार यहां भी स्वार्थ सूचित कर दिया गया है । अच्छा हमारे स्वार्थ के लिए ही अन्य क्रीड़ा का प्रकाशन करें । इसलिये यहाँ विलासोक्ति अथवा विलास का वर्णन किया है । अन्यथा केवल प्रेम ही कहते । लोक में वस्तुओं का बाहुल्य होने पर प्रियता का मान थोड़ा देखा जाता है किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, वस्तुओं के प्रमाण से अधिक प्रियता उमड़ती है उनमें धाराएँ या परम्पराएँ अर्पित हैं उनकी प्रियतम सहित सखी जन के दृष्टि रूपी भूमि साक्षी हैं,जिन धाराओं के अप्लावन से नवीन २ भावों को आनन्द रूपी सस्य में अङ्कुरों का उद्गम पुष्टि पाता है, अरी मुझे ही क्यों नहीं देखतीं प्रिया जी की इस आशंका पर कहते हैं, प्रिया जी आप से भी आपकी क्रीड़ाएं हमें बहुत प्रिय लगती हैं जिन क्रीड़ाओ म आपको भी आनन्द आता है । इस प्रकार तत्सुखसुखिता में ही पर्यवसान हुआ इस प्रकार के लावण्य की परम कारण भूत माधुरी रुपी मेघ को क्रीड़ा सम्पत्तियों वाली

रस्तीति । तादृश वैभवे किमशक्यं मदर्थं साधनमिति भावः । स्फुटेऽर्थे व्रज-नवतरुणीकदम्बचूड़ामणित्वसूचनार्थं पदलवप्रयोगः । यथोक्तं, यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि—इति । लक्ष्मी-कोटिविलक्ष्यलक्षणलसल्लीलादि प्रशंस्य किशोरीशतान्यपि यत्पदच्छटालावण्य-लेशावेशप्राप्तितश्चन्द्रकान्ता इव सर्वश्लाघनीय प्रेमरूपवयः सौकुमार्य्य-सौन्दर्य्यादीनि जातानीति, स्वयं तु लावण्यादिसिन्धुरेवेत्यादि पदादिशब्देन तासां नमनं तेन तच्छटावेश इत्यपि ॥१३१॥

एवं हितप्रियसखीविज्ञप्तिं समाकर्ण्य परमविशारदेंदीवरलोचना तदिंगित-स्मृत्युद्दीप्त भावितत्तत्केलिसमुत्साहोद्यत्स्मितं सलीलं प्रियमभिमन्त्र्य रति-श्रमालसवशजृम्भितांगलताप्रियां सन्निहितभारास्खलद्गतिस्त्रुटितमुक्ता-वलीढा श्रीयमुनाकूलस्वच्छावतरणमवततार । तत्र द्वयोर्जलकेलिं तदनन्तरं तदुपकण्ठ एव पुष्पासवमत्तयुगलविरुदमुखरित भ्रमरवृन्द सेवित सर्वर्त्तुसुखद-निकुञ्जेस्थित्यानन्दमुपवर्णयति—

रसकलश

केवल वही एक जिसका जीवन साधन है ऐसी मुझ चातकी की एक मात्र गति है वैसे वैभव में मेरे प्रार्थित को पूरा करना क्या असम्भव या दुष्कर है यह भाव है स्फुट अर्थ में वृजनवतरुणीकदम्ब में चूड़ामणि होना सूचित करने के लिए पद और लव शब्द का प्रयोग किया गया है जैसा कि 'यत्पादपद्मनवचन्द्रमणिच्छाया विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूस्वदर्श', इत्यादि पद्य में कहा गया है, 'लक्ष्मीकोटिविलक्ष्यलक्षण-लसल्लीलाकिशोरीशतै' में वर्णित शत-शत किशोरी जिनके चरणों की छटा के लावण्य के लेश के आवेश की प्राप्ति से चन्द्रकान्त मणियों के समान सभी के लिये श्लाघनीय रुप अवस्था, सुकुमारता सुन्दरता आदि वाली हो गई । श्री प्रिया जी स्वयं तो लावण्य आदि की सिन्धु ही हैं पद अर्थात् श्री चरण आदि शब्द से उन किशोरि किशोरीगणों को नमस्कार करना और उस समय उनमें इन श्रीचरणों की धटा का आवेश हो जाना भी प्रतीत होता है ॥१३१॥

इस प्रकार प्रियहितसखी की प्रार्थना सुनकर परम-विशारदा, शरत्कालीन नीलकमल के ससान लोचनों वाली श्री राधा उस इङ्गित की स्मृति से उद्दीपित हो गए वा होने वाली उन इन क्रिड़ाओं के उत्साह से उदित हुई मुस्कान द्वारा लीला के साथ प्रियतम को अभिमन्त्रित करके रतिश्रम और आलस्य के कारण जिनकी अङ्गलता शिथिल हो रही है, जो प्रियतम के अंस (कन्धे) पर अपना सारा भार डाले हुए हैं, जिनकी गति स्खलित हो रही है (चरण उलटे-सीधे पड़ रहे हैं) जिनकी मुक्तामाला टूट गई है, स्वेद या पसीने की नयी मुक्तावली जिन्होंने धारण कर रखी है, श्री यमुना जी के तट पर स्वच्छ अवतार या घाट पर उतरीं, वहाँ प्रियाप्रियतम दोनों की जल क्रीड़ा और उसके बाद उसके निकट ही पुष्पों के आसव से मदमत्त युगल के विरूदुगान में मुखरित भ्रमरवृन्द से सेवित हुए समस्त ऋतुओं में सुख देने वाली निकुञ्ज में स्थित होने से आनन्द का वर्णन करते हैं—

कलिन्दगिरिनन्दिनी सलिलबिन्दु सन्दोहभृन्
मृदूद्गतिरतिश्रमं मिथुनमद्भुत क्रीडया ।
अमन्दरस तुन्दिल भ्रमरवृन्दवृन्दाटवी,
निकुञ्ज वरमन्दिरे किमपि सुन्दरं नन्दति ॥१३२॥

किमपि सुन्दरं मृदुमिथुनं भ्रमरेत्याविशिष्टमन्दिरे नन्दतीत्यन्वयः । कीदृशं कलिन्देति । कालिन्दीत्यनेनैव चरितार्थत्वात् कलिन्दपदं प्रसिद्ध-महिमव्याख्यापनार्थम्, तत्पुत्र्या महानदीत्वार्थञ्च । गिरीति विवेकीजनार्थम् । स्वान्तर्निगीर्णसकलधातुरसादिगुणगणाढ्यतया, तज्जन्येऽपि तादृशगौरवा-क्षोभस्वेष्टयथेष्टस्तंभितजलकुञ्जकञ्जयन्त्रपुलिनतीर्थधैर्य्यवहनादिगुणज्ञापना-र्थम् । नन्दिनीति, तादृशमहान्तं जनकमपि स्वगुणातिशयेनाहलदयति पितृ-नामसम्बन्धेन परमवात्सल्यस्नेहोपलालन प्रीणनानुभवज्ञानेन स्वप्राणप्रियतम-योरपि तद्वत्सौकुमार्य्यबहुविधोपलालनप्रीणनकर्तृत्वं ज्ञेयम् । तस्याः सलिलस्य बिन्दूनां सन्दोहं समूहं बिभर्त्तीति तत् । अत्र जलकेलिः । परस्परं

रसकलश

कलिन्दगिरिनन्दिनी (श्रीयमुना जी) के जलविन्दुओं के समूह को धारण करने वाले, सुकुमार, प्राप्त हुआ है रतिश्रम जिनको, अनिर्बचायसुन्दरयुगल जो अद्भुत क्रीड़ाओं द्वारा अमन्दरस से तुन्दिल या तत्कालतप्त हैं भ्रमर वृन्द से संवलित वृन्दाटवी के निकुञ्जरूपी श्रेष्ठ मन्दिर में आनन्द प्राप्त करते हैं । १३२।

कोई सुन्दर सुकुमार युगलभ्रमरवृन्द इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट मन्दिर में आनन्द प्राप्त करते हैं यह अन्वय है । वें युगल कैसे हैं ? कालिन्दी कहने से ही काम चल सकता था फिर कलिन्दपद प्रसिद्ध महिमा को ख्यापित करने के लिये प्रयोग किया गया है और उसकी पूत्री के महानदीत्व का प्रतिपादन करने के लिये विवेकिजनों के लिये अपने अन्दर छिपाकर रखे हुए समस्त धातु रस आदि गुण गणों से परिपूर्ण होने के कारण उस गिरि की जन्या कालिन्दी में भी उसी प्रकार के गौरव के कारण अक्षोभ से अपने इष्ट के लिये यथेष्ट भाव से जल, कुञ्ज, कमल, जलयन्त्र, पुलिन, घाट को स्तम्भित रखना और धैर्यपूर्वक बहना आदि गुणों के ज्ञापन के लिये गिरि शब्द का प्रयोग किया गया है । नन्दिनी कहने का यह यात्पर्य है कि वैसे महान् जनक को भी अपने गुणोत्कर्ष के द्वारा आह्लादित करती हैं । पिता के नाम के सम्बन्ध से परमवात्सल्य और परम स्नेह से उपलालन और प्रसादन के अनुभवात्मक ज्ञान से अपने प्राणप्रिय-तमों-श्यामाकुश्याम को भी उसी प्रकार के सौकुमार्य के साथ अनेक प्रकार का उपलालन और प्रसादन करती है यह भी जानना चाहिये । उस कालिन्दी के जल की बूंदों के समूह को धारण करते हैं वे युगल । यहाँ पर जल क्रीड़ा का वर्णन है, कौतुक से

कौतुकेन कराञ्जलिभिः सेचनं, किं वा यन्त्रवत् पीडनेन धाराचालनं, तेन सुगन्धस्निग्धाङ्गेषु बिन्दुराजानां प्रकाशमानतया सन्दोहभृदिति । किञ्चाद्भुतक्रीडया, जलमय्या, उदधिकंगतो रतिश्रमो यस्य तत् । क्रीडायामद्भुतत्वं यथाह शतके—

जलक्रीडाकाले कनककमलिन्येकविपिने,
निलीना श्रीराधा यदधिकमलं चुम्बति हरौ ।
स्ववक्त्राब्जभ्रान्त्याहसितमथनालं स्थगयितुं,
हसित्वाकान्तेनाध्रियतहसितालीपरिकरा ॥६८॥

श्रीराधा हसितं स्थगयितुं नालं बभूवेत्यर्थः । तदा कान्तेन हसित्वा सा अध्रियत, धृतेत्यर्थः ।

विदूरं सिन्दूरं गतमपिविलेपाञ्जनमभूत्,
स्रजोऽत्रुटचन् मुक्तावलिरपि दृशोर्द्वन्दमरुणम् ।
विहारैः कालिन्द्यांभसि यदपि वृन्दावनवने,
तथाप्यासीद्राधा हरिवपुषि काप्येषसुषमा ॥६९॥
सिञ्चन्नुच्चैः स्वयं श्रीव्रजनृपतिसुतो बल्लभांस्वप्रियाली-,
वृन्दैः संभूय तत्सेचनभरमसहं मन्यमानः समग्नः ।

रसकलश

एक दूसरे पर जलाञ्जलियों से सेचन करना अथवा यन्त्र के समान हाथों के द्वारा दबाकर धाराएँ चलाना, उसके सुगन्धित और चिक्कण श्रीअङ्गों पर बूँदों की पंक्तियों के समूह को प्रकाशमान रूप में धारण करना इत्यादि जल क्रीड़ा ही अद्‌भुत क्रीड़ा है। उद्‌गत रतिश्रम का का अर्थ है अधिक चला गया है रतिश्रम जिनका वे । जलक्रीड़ा की अद्भुतता का शतक में वर्णन किया गया है—

'जलक्रीड़ा के समय में स्वर्ण कमलिनी-सी श्री राधा वन में छिपगई तब हरि कमल में उनको चूमने लगे । श्री राधा तब अपने मुख कमल की भ्रान्ति से हँसी, और उस हँसी को रोकने में समर्थ न होसकी तब प्रियतम ने हँसती हुई श्री राधा को पकड़ लिया, इस पर श्रीराधा के सखीपरिकर हँसने लगे ।' श्री राधा अपनी हँसी को रोकने या छिपाने में समर्थ न हो सकीं तब प्रियतम ने हँसकर उन्हें पकड़ लिया । इसी प्रकार—

'सिन्दूर दूर हुआ विलेपन और अञ्जन भी चले गये, पुष्पमालाएँ टूट गईं, मुक्तावली भी खण्डित हो गई, नेत्र युगल लाल हो गये । कालिन्दी के जल में विहारों से यद्यपि ये सब बातें हुईं तथापि श्री वृन्दावन में श्री राधा और श्री हरि के शरीर में कोई एक परम शोभा हुई । 'श्री व्रजराजनन्दन स्वयं प्राणवल्लभा श्रीराधा जी पर वेग से जल फेंकने लगे, श्री प्रिया जी भी सखी समाज के साथ मिलकर उन्हें सींचने लगीं, इनके सींचने के वेग को अस्वाद्यमान कर उन्होंने गोता लगा लिया और स्वच्छ

स्फीतश्रोण्यूरुजंघाचरणयुगपरामर्शलब्ध्याति हर्षः,
कालिन्द्यामिन्दुकोटिछविबहुहसितो दूर उन्मज्यरेजे ॥७०॥
राधाकृष्णावतिरतिरसोत्सुक्यमग्नौ सहैव,
कालिन्द्यापाकृतनिजजले देश आस्तीर्णपद्मे,
दीर्घं कालं सुरतसमावेशतस्तौ यदास्तां,
चक्रुः प्राणद्वयविचयनं कातरास्तर्हि सख्यः ॥७१॥

अगाधजले तौ सहैव मग्नौ तदा कालिन्द्या स्वं जलमपाकृतं, पुलिनमेव कारितं तत्र पद्मास्तरणो देशः कृत इत्यर्थः ।

मिथः कमलकैरवाद्य् इतहासमङ्गे क्षिपन्,
मुखे दृशि च मुद्रणायुजिकृताम्बुगण्डूषकम् ।
समुत्यजितकाशितत्वचनमग्नमुत्थापयद्द्वयम्,
तरणिजाम्भसिस्फुरति गौर नीलं महः ॥७२॥
हैमाद्यम्बुजकोरकादिसलिलं पीयूषसारैक्षवद्,
द्राक्षाक्षीररसादिमत्तटयुगं नानामणीनिर्मितम् ।
खेलद्दिव्यसुरत्नमीननिकरा स्फालेनचित्रायितम्,
नानारत्नविचित्रतीर्थविलसत्सोपानमत्यद्भुतम् ॥७३॥

रसकलश

श्रोणी, उरु, जंघा, तथा चरण युगल के परामर्श या स्पर्श के लाभ से अति हर्षित हुए इस प्रकार कालिन्दी में कोटि-कोटि चन्द्रमाओं की छटा से बहुत बहुत हँसे गये वे दूर पानी में से निकल कर सुशोभित हुए ।।' श्री राधा और श्री कृष्ण (व्रजराजनन्दन) अत्यन्त रति रस में औत्सुक्य से मग्न होकर एक साथ ही कालिन्दी के जल से छोड़े हुए प्रदेश में जहाँ कमल बिछे हुए थे वहाँ पर दीर्घ काल तक सुरतसमर के आदेश से वे दोनों बैठे रहे, तब डरी हुई सखियाँ अपने दोनों प्राणों को ढूँढने लगीं' : जब दोनों एक साथ यमुना नदी के जल में गोता लगाने लगे यमुना जी ने अपना जल हटाकर रेतीला तट बना दिया, और उस रेतीले तट पर कमलों से आस्तीर्ण एक स्थल बना दिया यह तात्पर्य है । परस्पर एक दूसरे पर कमल कैरव आदि को हँसते हुए फैंक रहे हैं बन्द किये हुए मुख पर और नेत्रों पर जल के गण्डूष करने लगे, इस प्रकार एक दूसरे को सींचकर जीतने के अभिमान के साथ फिर दोनों जल में डूबे हुए उन कमल कैरव आदियों को निकालते हुए गौर और नील तेज के रूप में श्रीयमुना जी के जल में स्फुरित हो रहे हैं । दोनों तट सुवर्णादि रंगों वाले कमलों,कलियों से युक्त जल वाले हैं,अमृत के सार,गन्ने के विकार, द्राक्षा और दूध के रस आदि से युक्त हैं और अनेक प्रकार की मणियों के बने हुए हैं ।' खेलते हुए दिव्य और सुन्दर रत्नों तथा मछलियों के समूह श्री यमुना जी के आस्फालन या ताडन से चित्र रचना से युक्त से हैं, अनेक प्रकार के रत्नों से विचित्रित घाटों पर सुन्दर

नानाऽऽश्चर्य्यसुपुष्पितद्रुमलता कुञ्जैर्महामञ्जुलम्,
कर्पूरोज्वलबालुकञ्चपुलिनं विस्तारसत्सौरभम् ।
तीरे तीर इतस्ततः सचकितोन्मीलन् मृगीयूथकम्,
दिव्यानेककदम्बचम्पकवनामोदः प्रसृप्तोऽभितः ।।७४।।
अत्युच्चैः प्रसरत्परागपटलं प्रोड्डीयमानद्विजम्,
व्रातोन्नादमितस्ततोऽतिमधुरोदारान्तरीयोज्वलम् ।
यस्यागाधमगाधमन्तरुदयत्कुञ्जाम्बु साराधिका,
कृष्णानन्दविवर्द्धिनी बहुसुखं कृष्णा प्रपुष्णातु वः ।।७५।।

इत्याद्यष्टश्लोक्या यथा सम्भवमद्भुतं वैचित्र्यं भावनीयम् । यद्वा उद्गत उत्थितो रतिश्रमो यस्येति । राधाकृष्णावतिरतिरसौत्सुक्येत्यत्र ज्ञेयम्, तेन जलश्रमयोर्बिन्दुसाहचर्य्यमपि ज्ञेयम् । आद्येऽर्थे जलक्रीडया रतिश्रमो गतस्तर्हि जलक्रीडयापि तु श्रमकार्श्यं घटेत तत्राह स्वयं तु अमन्दरसेन तुन्दिलं पुष्टम् । रसास्वादस्तु न श्रान्तो जात इत्यर्थः । यद्वा रतिः प्रीति-

रसकलश

सीढ़ियाँ सुशोभित हैं जिनके कारण दोनों तट अति आश्चर्य जनक हैं ।' अनेक आश्चर्यमय भली-भाँति पुष्पित वृक्षों लताओं और कुञ्जों से परम मंजुल, कपूर के समान स्वच्छ बालुका वाला पुलिन तीर-तीर पर सुगन्धि को फैला रहा है, इधर-उधर चकित हुए मृगीसमूह आँखें खोलते हैं, और चारों ओर दिव्य अनेक कदम्बों व चम्पकों के वन की सुगन्ध फैल रही है ।' जहाँ अति तीव्र भाव से पराग समूह इधर-उधर फैल रहा है, उड़ते हुए पक्षियों के कलख वाले 'इधर-उधर अति मधुर और विशाल अन्तरीपों से उज्जवल है' जिसके अगाध से अगाध अन्तर में कमल उत्पन्न हो रहे हैं ऐसे श्रेष्ठ जल से परिपूर्ण, श्री राधा कृष्ण युगल के आनन्द को बढ़ाने वाली, श्री यमुना आप लोगों के बहुत सुखों को पुष्ट करे ।' इत्यादि आठ श्लोकों के द्वारा यथासम्भव अद्भुत विचित्रता की भावना कर लेनी चाहिये ।

अथवा उद्गत अर्थात् उत्थित हुआ है रतिश्रम जिनको जैसा कि 'राधाकृष्णावतिरतिरसौत्सुक्य' इत्यादि पूर्व पद्य में कहा गया है वैसा ही यहाँ जानना चाहिये । इससे जल और श्रम दोनों के साथ बिन्दु का सम्बन्ध भी जानना चाहिये, जल बिन्दु और श्रम बिन्दु । पहिले अर्थ में जलक्रीडा से रतिश्रम दूर हो गया पर जलक्रीडा से भी तो श्रम के कारण कृशता सम्भव है 'उस पर कहते हैं—स्वयं तो अमन्दरस से तुन्दिल या पुष्ट हैं । अर्थात् रसास्वाद तो श्रमित नहीं हुआ । अथवा रति प्रीति है प्रेम इत्यादि उसी के अभिप्राय हैं, सुरत भी

प्रेमेति पर्य्यायात् । सुरतस्याप्यत्र प्रेममयत्वात् । उभयोः प्रेमदेव एवेष्टः । परस्परं रतिं मृदुमृदुतयैवाराधयतो विलसतश्च स्वोपमया सखीसेव्यया मृदुतयेति । तदासौकुमार्य्यं रतौ निहितम् । स्वयंत्वखण्डितरुचिप्राबल्येन सकलकेलिस्मरसमरसहाविति शूरता सूचिता । तदपि मृदुरतेर्भोगो मृदुतयैवाह्यते यथा, "देवो भूत्वा देवं यजेत, नादेवो देवमर्चयेदिति ।" अतः स्वयमपि मृदु सुकुमारं, तस्या मृद्व्या स्वाङ्गेषु धारणात् तन्मयतया तच्छ्रमसंक्रान्तिः । किञ्च परस्य रतिः, परस्परविषये, तत्सुखितयातिष्ठत्यतः, स तच्छ्रमशङ्कयति, सा च तच्छ्रमम्, इति । परममाधुर्य्यं रति श्रम इति दिक् । सूक्ष्मदृष्टयावधेया । तदानीं जलकेलौ गायका अप्यर्हन्ते, यथा । 'गन्धर्वपालिभिरनुआविशद्वा', इति नृपदम्पतिकेलौ गायकावश्यकं परमास्वाददमित्याह, भ्रमरवृन्दानि यत्र । तस्मिन् वृन्दाटवी श्रेष्ठमन्दिरे द्वयं नन्दति ।

किञ्च ततो जलादुत्तीर्य्य शीकरसहितावेव मधुपहुङ्कृतकुञ्जे, आग-

रसकलश

यहाँ प्रेममय ही है । दोनों को प्रेमदेव ही इष्ट है । परस्पर रति की सुकुमार भावना से ही आराधना करते हैं, और सुशोभित होते हैं । इनकी मृदुता की उपमा इन्हीं की मृदुता से की जा सकती है, जिसकी सखीजन सेवा करते हैं । तब सौकुमार्य रति में विद्यमान अखण्डित रुचि के प्राबल्य से सम्पूर्ण क्रीडा और स्मरसमर को सहन करने वाले हैं इत्यादि वचनों में युगल स्वरूप की शूरता सूचित की गई है, तो भी 'सुकुमार गति का भोग सुकुमारता से ही वाहित या चालित होता है,' जैसा कि 'देव होकर देव का पूजन करे, देव हुए विना देव का अर्चन न करे' इत्यादि में कहा गया है । अतः स्वयं भी मृदु या सुकुमार हैं फिर उन मृद्वी या सुकुमारी के निज अंगों में धारण किये जाने से तन्मयता के कारण उनके श्रम की संक्रान्ति हो गई है । एक बात और भी है कि परस्पर रति एक दूसरे के विजय में तत्सुखसुखिता के भाव से ही रहती है अतः प्रियतम श्रीराधा के श्रम को आशङ्का करते हैं, इसीलिये यहाँ परममाधुर्य है । रतिश्रम तो एक दिङ्मात्र निर्देश है अतः इसका सूक्ष्म दृष्टि से निश्चय कर लेना चाहिये । उस समय जलक्रीडा में गायकों की भी आवश्यकता होती हैं जैसा कि 'गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वा' इत्यादि के अनुसार राजा रानी की क्रीडा में गायकों का होना आवश्यक भी हैं और परमास्वाद देने वाला भी है इसी का वर्णन करते हैं । भ्रमरवृन्द हैं जहाँ पर ऐसे वृन्दाटवी के श्रेष्ठ मन्दिर में युगल सरकार आनन्दित होते हैं ।

प्रिय-प्रियतम दोनों जल से निकलकर जल बिन्दुओं के समूह के सहित ही भ्रमरों से झंकृत निकुञ्ज में आकर उस झंकार को सुनने के आनन्द और कौतुक से

त्येति तज्झङ्कृतिश्रुत्यानन्दकौतुकवैवश्येन नववेशरचनानपेक्षकाविति मत्त-विलासिप्रभुत्वं सूचितम् । तदीय भ्रमराणां सच्चिदानन्दमयत्वाद्दम्पतिरति-श्रमाद्भुतक्रीडारसतुन्दिलतादिगानसम्भाव्यत्वाद्यथा पश्यन्ति, तथा गाय-न्त्येवेत्यनुक्तमपि तद्गानं ज्ञेयम् । भ्रमन् सन् रौतीति निरुक्त्या, यदा जले-इतस्ततस्तत्क्रीडनं तदा तदनुगमनं गानञ्च, अङ्गसुगन्धासवलाम्पट्यात् यदा कुञ्जागमनम्, तत्रापि गानम् । यदा च कश्चिद्विलासविशेषस्तदास्थगितत्व-मित्यपि गुञ्जितानुक्तेर्व्यङ्ग्यम् । अन्यगायकाभावाद्रहस्यस्थलं सूचितम् । अतएव वरं न वा, न तत्र हिताली समीपस्था ।

अहह कीदृग्बिन्दुसहितमपि द्वयं सुन्दरं लगतीति सुन्दरोक्तिस्ततोऽपि हृदये वात्सल्यदास्यस्नेहाधिक्यान्मृद्विति चेति तद् हृदयं साक्षि । मुक्तकपक्षे प्रकरणान्तरे, मृदु ईषदुत्थितरतिश्रमेति व्याख्यायां श्रमजन्यबिन्दूपमामाह, कालिन्दीसलिलवत् श्यामवर्ण इत्यर्थः । बिन्दुसमूहस्तं बिभर्त्तीति । प्रियेऽतु श्रमाम्बुश्यामवर्णमेव दृश्यते, तत्प्रतिच्छायया श्रीमत्यङ्गेऽपि तद्वर्णसङ्क्रान्त-त्वात् श्यामम् । अतः कालिन्दीत्युत्प्रेक्षागर्भितविशेषणं भिन्नपदम् । यद्वा कालिन्दीत्यादिश्रमान्तमेकपदञ्चापि ज्ञेयम्, तदा रतिविहार एव प्राकरणि-

रसकलश

विवश होकर नवीन वेष रचना की भी कोई अपेक्षा न रखते हुए आनन्दित होते हैं। यहां पर युगल का और विलासी होने के साथ-साथ प्रभुत्व सूचित होता है । उस वृन्दा-टवी के भ्रमरों के सच्चिदानन्दमय होने से प्रिया प्रियतम के रतिश्रम, अद्भुत क्रीडा और रस से तुन्दिल होने आदि का गान करने की सम्भावना हो सकने से जैसा देखते हैं वैसा गाते ही हैं यह समझकर न कहा हुआ उनका गान भी जान ही लेना चाहिये। भ्रमर भ्रमण करता हुआ रव करना है इस निर्वचन के अनुसार इधर उधर क्रीडा करना तब प्रियाप्रियतम का अनुगमन करना और गान, अंगों की सुगन्ध रूपी आसव के प्रति लम्पट होने से जब कुन्ज में आगमन हुआ तब वहाँ भी गान किया और जब कोई विशेष विलास किया गया तब भी हृदय में वात्सल्य,दास्य और स्नेह की अधिकता से युगल मृदु या सुकुमार हैं इसके लिये उनका हृदय ही साक्षी है । मुक्तक पद्य होने के पक्षमें अथवा अन्य प्रसङ्ग में सुकुमार और कुछ उत्थित हो गया है रतिश्रम जिन का, इस व्याख्या में श्रम से उत्पन्न बिन्दुओं की उपमा कहते हैं—कालिन्दी के जल के समान श्रमबिन्दु श्याम हैं यह भाव है । उस बिन्दुसमूह को धारण करते हैं यहाँ प्रियतम के श्रीअङ्गों पर श्रमबिन्दु श्याम ही दीखते हैं उनकी परछाईं से श्रीमती प्रिया जी के श्रीअङ्ग भी उस वर्ण की संक्रान्ति हो जाने से श्याम ही हैं अतः कालिन्दी यह उत्प्रेक्षागर्भित विशेषण है और भिन्न पद है अथवा कालिन्दी से श्रम पर्यन्त एक पद जान लेना चाहिये। तब रति बिहार ही प्रासङ्गिक अर्थ होगा। फिर पूर्व से पूर्वतर पद्यों में 'रतिकलाकेलि

कोऽर्थः । किञ्च पूर्वं पूर्वतरपद्ययोः रतिकलाकेलिमाधुर्य्यसीमेति । ततोऽपि केलिविभवेत्युक्तेश्च यथा भावगम्यः ।।१३२।।

एवं भ्रमरवृन्दवन्दिवैतालिकगीतपरस्परानुरागसौभाग्यस्मरसमर-रसप्राबल्यवर्द्धितसमुत्साहौ, स्वतो वृन्दालीपष्क्रिततल्पे भूयः समुदितस्वान्त-वृत्तिमयरति कामौजस्तेजःप्रभावं, तौ तौ समीक्ष्य तादात्विकसेवनपरा प्रसह्य श्रीहिताली स्वमनो रूपां सखीं प्रत्याह ।

व्याकोशेन्दीवरविकसितामन्दहेमारविन्द-
श्रीमन्निस्यन्दनरतिरसान्दोलिकन्दर्पकेलि ।
वृन्दारण्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्दम्,
ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति ।।१३३।।

वृन्दारण्ये किमपि ज्योतिर्द्वन्द्वं चकास्तीत्यन्वयः । पुनर्वृन्दारण्योक्ति-रत्रानन्दज्योतिरादिपदसम्बन्धात् । कामबीजात्मकज्योतिर्द्वितीयान्तः स्थत्व-सूचिनी, यथा शतके;

त्रैगुण्यातीतपूर्णोज्वलविमलमहाकामबीजात्मदिव्य—
ज्योतिः स्वानन्दसिन्धौ किमपि सुमधुरं द्वीपमाश्चर्य्यमस्ति ।

रसकलश

माधुर्य सीमा' और 'केलिबिभवा' इस उक्ति का भी तात्पर्य भाव के अनुसार समझा जा सकता है ।१३२।

इस प्रकार भ्रमरवृन्दरूपो वन्दी और वैतालिकों के गीत से परस्पर अनुराग, सौभाग्य, स्मरसमर के रस की प्रबलता से बढ़ा हुआ है उत्साह जिनका, स्वयं वृन्दा-सखी के द्वारा परिष्क्रततल्प (बिस्तर) पर फिर उदय हुआ है, अपनी मनोवृत्ति से ही बने हुए रति और काम के ओज या प्रभाव जिनका, उन दोनों को देखकर उस समय की सेवा में तत्पर श्रीहितसखी जी प्रसन्न होकर अपने मन रूपी सखी के प्रति कहती हैं।

खिले हुए नील कमल और विकसित अमन्द स्वर्ण कमल की शोभा वाले, बहते हुए रति रस में झूम रही हैं काम क्रीडाएँ जिनके, श्री वृन्दावन में नवीन रस सुधा को बहाने वाले हैं चरण-कमल जिनके ऐसे कोई परमानन्दकन्दज्योतिद्वन्द्व (दो ज्योति) सुशोभित हो रहे हैं ।१३३।

श्री वृन्दावन में कोई दो ज्योतियाँ सुशोभित हैं यह अन्वय है। फिर से आनन्द और ज्योति आदि पदों के सम्बन्ध से श्री वृन्दारण्य का कथन हुआ है। जो काम बीजा-त्मकज्योतिदीप के अन्दर स्थायी होने की सूचना देने वाली है जैसा कि शतक में लिखा है—त्रिगुणातीत, पूर्ण, उज्ज्वल और विमल, महाकामबीजात्मकदिव्यज्योति के स्वानन्दसिन्धु में कोई अति मधुर आश्चर्यमयद्वीप है, उसमें वह श्रीवृन्दावन हैं

तस्मिन् वृन्दावनं तद्रहसि रसभरैर्मञ्जुलाकुञ्जवाटी,
काचित्तत्रातिभावाद्भज सुरतिनिधी राधिका कृष्णचन्द्रौ ।।१२।।

ज्योतिरित्यैश्वर्य्यद्योतनेऽपि परमानन्दमिति महामाधुर्य्यमयत्वं सूचितम् । अङ्गलावण्यकान्त्याडम्बरेणादौ ज्योतिरिति भासमानत्वात्, पश्चाद्दत्तदृष्टितया वर्णादिसविशेषमाह । व्याकोशं प्रफुल्लमिन्दीवरं नीलकञ्जं विकसितं च तदमन्दमम्लानं हेमारविन्दं, तयोः श्रीरिवश्रीर्गौरश्यामशोभा यस्यास्तीति तत् । अमन्दमित्यासज्यात्वकृपा प्रभविष्णुत्वाददीनलीलानित्यत्वम् । श्यामस्य त्वासक्तिकंकणबद्धत्वात् सदाभिलाषचाटुकाकुवादित्वान्नामन्दत्वम्, अतो मन्दपदं हेमारविन्दे दत्तम् ।

अत्रेदानीं प्रियविषयिककृपानुकूल्यबाहुल्योज्जृम्भो ममतापक्षविशेषाश्रयसेवमानहितालीहृदयसाक्षिकः । व्याकोशः विकशितपुनरुक्तिर्विकशनविशेषौ ज्ञापयति । आद्यं दुर्लभप्राप्त्यनुग्राह्यहर्षजम्, परं स्वानन्ददानवीररसजञ्चेति व्यावृत्तः कोशः संकोचोऽस्मात् तालव्यान्तो मूर्द्धन्यान्तो वा

रसकलश

जिसके एकान्त में रसभरों से मञ्जुल कोई कुञ्जवाटिका है, उसमें बडे भाव के साथ सुरति के निधि श्रीराधा और कृष्णचन्द्र का भजन करो ।' यहाँ ज्योति शब्द से ऐश्वर्य द्योतित होने पर भी परम आनन्द स्वरूप हैं और महामाधुर्यमय हैं ऐसा सूचित होता हैं । श्री अङ्गों के लावण्य की कान्ति के आडम्बर से आरम्भ में ज्योति से प्रतीत होते थे और बाद में दृष्टि लगा कर देखने पर उनमें रंग आदि की जो विशेषता दिखाई दी उसका वर्णन करते हैं । व्याकोश का अर्थ है प्रफुल्ल या खिला हुआ इन्दीवर अर्थात् नील कमल, विकसित और अम्लान स्वर्णमय कमल उन दोनों की श्री के जैसी श्री है गौर और श्याम शोभा है जिनको । आनन्द शब्द का तात्पर्य है । श्री राधा जी का आसज्याभाव और कृपा करने की प्रभुता के कारण नित्य अदीन लीला वाला होना किन्तु श्याम आसक्ति का कङ्कण बाँधे हुए होने के कारण सदा अभिलाषा के कारण प्रिय और दीन वचन बोलना, अमन्द होना संगत नहीं होता, अतः अमन्द को युगल का विशेषण न मानकर हेमारबिन्दस्वर्णकमल का विशेषण मनाना चाहिये ।

यहाँ इस समय प्रिय के विषय में कृपा और अनुकूलता की बहुलता के उमड़ पड़ने का ममता से विशेष रूप में राधा पक्ष का आश्रय लेकर सेवा कर रही श्री हितसखी जी का हृदय ही साक्षी है । व्याकोश और विकसित शब्दों में अर्थ की पुनरुक्ति विकास विशेष को ज्ञापित करती है । पहला विकास यह है कि दुर्लभ की प्राप्ति अनुग्रह पात्र को हर्ष से विकास प्राप्त होना है और दूसरा अपने आनन्द के दान से दानवीर रस को विकास मिलता है अतः व्यावृत्त हो गया है कोश या संकोच जिसका, इस अर्थ में ताल-

व्यकासीत्, कस् गतौत्यर्थोक्तः । दन्त्यमध्यइत्यमररामाश्रमीटीकायाम् । अत्र दासस्य स्वामिनो वागमेङ्गितसंदिहानतया सहसा संकोच एवासीत् । यदा च क्षणेप्रफुल्लत्वमुदीक्ष्य सोऽपि व्यावृत्तः । हेमारविन्दे त्वादावेव विकसनं परम-कृपाशीलत्वात्, अतो व्यकासीत्, तदा संदिहानत्वं कथञ्चेत्, साधुदास्य धर्मत्वात् । यथा च कस्यापि रीतिरेवं दातृमुखेङ्गितानुगतेङ्गित्वं इति सूक्ष्म भेदः । एवं हर्षाधिक्ये उभयविहारानन्दमाह; निर्गतं स्पन्दनं किञ्चिच्चलन-मपि यस्मिस्ताहृशो निवातस्थदीप इवेत्यनेन रसजड़िमा सूचितः । "हृदिते रसेन जड़िमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः" इत्युक्तमेव, गोचर इत्युक्तमेव । एता-हृशो रतिरसो यत्रेति तस्यापि रतिरूत्वात् गौरेतेजः शीलं सूचितम् । तथा चान्दोलिन्यः कन्दर्पस्य केलयो यत्रेति श्यामशीलं कन्दर्पोत्तरलमिति शील-ध्रौव्योक्तेः । तच्च तच्चेति समासः, तथा च शतके—

रतिः साक्षाद्राधा सकलजडचिल्लोकपरमा,
रमाद्यत्यश्चर्य्याम्बुजहृगनिशं प्रार्य्यहृगणुः ।

रसकलश

व्यान्त या सूर्धन्यान्त प्रयोग है । ऐसे ही व्यकासीत् के गत्यर्थक कस् धातु से क्त प्रत्यय करने पर विकसित शब्द बनता है जिस के मध्य में दन्त्य सकार है ऐसा अमर कोष की रामाश्रमी टीका में कहा गया है । यहाँ पर दास को स्वामिनो के प्रतिकूल इङ्गित में सन्देह करने का कारण सहसा संकोच ही था किन्तु जिस क्षण में प्रफुल्लता देखी तब वह भी व्यावृत्तसंकोच हो गया । हेमाराविन्द में तो पहले ही विकास हो गया था, क्योंकि कृपाशील था, अ्रतः विकसित हो गया, तब सन्देह शीलता क्यों है ? यह प्रश्न हो तो कहना चाहिये कि ठीक है दास्य धर्म ही ऐसा है जिसमें स्वामी की अ्रनुकूलता प्रतिकूलता का सन्देह बना रहता है । याचक को रीति भी ऐसी है कि दाता के मुख के इंगित के अ्रनुसार इंगित करना यह सूक्ष्म भेद है । इस प्रकार हर्ष की अधिकता की एकता में दोनों के विहारानन्द का वर्णन करते हैं । निकल गया है स्पन्दन अ्रर्थात् किञ्चिच्चलन भी जिसमें से वैसे वायु रहित स्थान पर स्थित दीपक के समान इसके द्वारा रस से जडिमा या स्तब्धता सूचित की गई है 'हृदिते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु में गोचरः' इत्यादि कहा ही गया है । ऐसा रति रस है जहाँ पर, क्योंकि वे भी रति रूप हैं । इससे गौर तेज के स्वभाव की सूचना दी गई है । इस प्रकार अ्रान्दोलिनी है कन्दर्प की केलियाँ या क्रीडाएं जहाँ पर इससे श्याम के स्वभाव की सूचना दी गई है जैसा कि 'कन्दर्पोत्तरलं तथैकम्' इत्यादि में कहा गया है इस प्रकार स्वभाव की ध्रुवता के कहे जाने से दोनों विशेषण क्रमशः दोनों से सम्बद्ध हैं, इन दोनों विशेषणों में द्वन्द्व समास हो जाता है । जैसा कि शतक में वर्णन किया गया है—रति तो साक्षात् राधा है जो समस्त जड और चेतन लोक की परम गति है, जो कमल के समान दृष्टि वाली और अहर्निशप्रार्थनीय है दृष्टि का लेश जिनका, ऐसी रमा आदि के लिये भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है । ऐसे ही कामदेव साक्षात् कृष्ण हैं जिनकी रति

स्मरः साक्षात्कृष्णोऽनवधिरतितृष्णोऽखिलपरः,
परेशोन्मीलद्रुचिवद्ध्र्यैकरुगणुः ॥४६॥

परेशस्यापि प्रियोन्मीलत्कान्तिसिन्धुर्वर्द्धि एको रुचः कान्तेर्लवोयस्येति। यद्वा निःप्रत्यूहरतिरसवशेनान्दोलिन्य इति दृढ़स्तम्भरश्मादिसद्भाव एव जनाप्रान्दोलयन्ति, न तु तदभावे, एवं निर्द्वन्द्वरस एव कन्दर्पकेलिहर्षतारल्यम्। यद्वा, अचञ्चलरसेन कन्दर्पचाञ्चल्यमिति विरोधाभासोऽलङ्कारः। रसशब्देन कञ्जोक्तौ मकरन्दश्रवणं ज्ञेयम्, तच्च परस्परस्वाद्यम्।

अथ हितालो स्वसजातोयास्वाद्यमधुश्रुतिमाह; नवरससुधां प्रेमामृतं स्यन्दनशोलं पदारविन्दं यत्र। तयोस्तु रतिरस अस्माकं प्रेमरस इति कञ्ज-मकरन्देऽपि भेदः। निस्पन्दनेत्यत्र पवर्गमध्यः, स्यन्दनेत्यत्रान्तःस्थमध्यः। स्पदिकिञ्चिच्चलने, स्यन्द प्रश्रवणे इति। अन्यच्च परस्परोच्चनीचेतस्ततः समविहारपारावतीयोल्लण्ठनादिदर्शनेनान्दोलनोक्तिः सहृदयगम्या। अन्यच्च निम्नमाप इव स्वयमिति वत्। तयोर्नाना स्वसम्वेद्यास्वाद्यरतिरसविलसना-नन्दनिकृष्टो रस सारोऽस्मद्वेद्य आस्वाद्य एवेति सूचिनी स्यन्दनशोलपादार-

रसकलश

तृष्णा की कोई अवधि नहीं है, और जो सबसे परात्पर हैं, परमेश्वर की प्रोन्मीलित होती हुई रुचि के सागर को बढ़ाने वाला है रुचि का लेश जिनका अर्थात् परमेश्वर की भी प्रोन्मीलित होती हुई कान्ति के सिन्धु को बढ़ाने वाली है रुचि का एक कान्ति लव जिनका ऐसे हैं। अथवा निर्विघ्न रूप से रति रस के कारण आन्दोलित हो रही हैं स्मर केलि जिनमें। दो दृढ़ स्तम्भों और रस्सी आदियों का सद्भाव होने पर ही लोग झूला झूलते हैं उनके अभाव में नहीं। ऐसे ही निर्द्वन्द्व रस में ही कन्दर्प केलियों को हर्ष के कारण तरलता या चञ्चलता प्राप्त हो सकती है। अथवा अचञ्चल रस से ही कन्दर्प में चञ्चलता आती है ऐसा विरोधाभास अलंकार है। रस शब्द से कमल के सम्बन्ध में मकरन्द या पुष्परस समझना चाहिये, वह पुष्परस परस्पर आस्वादनोय है। अब श्रीहितसखो जी अपने सजातीय जनों के लिये आस्वादनोय मधु की स्तुति का वर्णन करतो हैं—नवीन रस सुधा अर्थात् प्रेमामृत को स्यन्दन करने के शील वाला है चरणाविन्द जहाँ पर उन दोनों का रति रस में ही हमारा प्रेम रस है, ऐसा कमल और मकरन्द जैसा अन्तर है। 'निस्पन्दन' शब्द में मध्य का अक्षर पवर्गीय है और स्यन्दि शब्द में मध्य का अक्षर अन्तस्थ है। किञ्चि-च्चलनार्थक स्पदि धातु है और प्रवसणार्थक स्यन्दु धातु है। और भी परस्पर ऊँच-नीच, इधर-उधर, समान विहार, पारावतीय उल्लुंठन (कबूतर सा लोटना पोटना) आदि देखकर आन्दोलन कहा गया है जो सहृदयों द्वारा जाना जा सकता है।

और भी एक बात है कि पानो स्वयं नीचे की ओर बहता है। इसके अनुसार प्रिया प्रियतम दोनों के अनेक स्वमात्र संवेद्य और आस्वाद्य रति रस, विलास आनन्द

विन्दोक्तिः। पूर्वं निस्यन्दनोक्तेश्च । अतएव नव इति स्वप्रौढिज्ञापकः। नायकादपि नटादपि च सममत्ववासनसहृदयसामाजिकेषु रसविशेषानुभव इति साहित्यकाराः । तादात्विकपदसेवासामीप्ये नवरससुधास्वादस्य मद्-हृदयभृङ्ग एव साक्षीति भावः। पदसुधाज्ञानं दासीनामेवेति ज्योतिररविन्द-पदाभ्यां परस्परारविन्दयोः परस्परमेव विकशनहेतु भानुमत्वम् ॥१३३॥

एवं तादात्विकरसविहारे वर्त्तमाने क्रियमाणस्वद्दास्यमाह;

ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ सम्वाहयामि क्वचित्,
मालाद्यैः परिमण्डये क्वचिदहो सम्बीजयामि क्वचित्।
कर्पूरादिसुवासितं क्वच पुनः सुस्वादुमम्भोऽमृतम्,
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिका-
माधवौ ॥१३४॥

अहं श्रीराधिकामाधवौ गृहे कदा खलु भजे । अहं पूर्वोक्तपदारविन्द-नवरससुधासवमत्तेंदिदिरा अनिर्वचनोयतत्तत्सेवावहितपार्श्वगा श्रीराधिकां

रसकलश

का निकर्ष रूप रस सार ही हमारे लिये वेद्य और आस्वाद्य है इसकी सूचना देने वाली चरणारविन्द को स्यन्दन शील कहने वाली उक्ति है। पहले निस्पन्दन कहा गया अत-एव यहाँ 'नव' शब्द से अपनी प्रौढि का ज्ञापक है। नायक से भी और नट से भी ममता सहित वासना वाले सहृदय सामाजिकों में रस विशेष का अनुभव होता हे ऐसा साहित्यकार मानते हैं। उस समय की चरण सेवा के कारण समापता में नवीन रस सुधा के आस्वाद का मेरा हृदय रूपी भ्रमर ही साक्षो है। यह भाव है। चरणसुधा का ज्ञान दासी जनों को ही हो सकता है। ज्योति और अरविन्द पदों से यह सूचित किया गया हे कि परस्पर दोनों कमलों के परस्पर ही दोनो विकास का कारणभूत भानुमान् अर्थात् सूर्य भी हैं ॥१६३॥

इस प्रकार उस समय के रस विहार के वर्तमान होने पर किये जा रहे अपने दास्य या सेवासर का वणन करती हैं —

कहीं ताम्बूल अर्पण करती हूँ, कहीं चरण संवाहन करती हूं कहीं माला आदियों से शृङ्गार रचना करती हूं, अहो, कहीं व्यजन से पवन देती हूँ और कहीं कपूर आदि। सुवासित सुस्वादु जलरूपी अमृत पिलाती हूं इस प्रकार कब घर में ही श्री राधिका और माधव का भजन या उनकी सेवा करती हूँ। १३४।

मैं श्री राधिका और माधव की घर में कब भजन करती हूँ या सेवा कब करूँगी ? मैं पूर्वोक्त चरणारविन्द की नवीन रस सुधा रूपी आसव से मत्तभ्रमरी हूँ, अनिवचनीय उस सेवा में सावधान पार्श्वचरी हूं। अपनी कृपा की पराधीनता से उत्पन्न अनेक प्रकार

निजकृपापारवश्यजविविधरसविलासदानवीरत्वेनान्येव विभाव्यमानां अज्ञातार्थेकः। माधवञ्च मधुकुशलतया तदधरासवास्वादघूर्णायमानं गृह इति पूर्वपद्यस्थारण्यपदेन स्थानविस्तारवाचके नैकदेशानवस्थानत्वापरितोषात् कस्मिंश्चित्कुञ्जगृहे पूर्णममतया गृहमेधिगृहवदुपादत्तो । न च केवल रहो वनमात्रार्थमेवेति । अयं तु कुञ्जनिकुञ्जादिषु मुख्यनिवासहर्म्यो ज्ञेय इति । यथा च वनविहारं कृत्वा तत्रागच्छेदेवेति ज्ञेयः। अत एव सम्वाहयामीत्यत्र वक्ष्येवेति खलिवती जिज्ञासायां, "निषेधवाक्यालङ्कार जिज्ञासानुनये खलु" इत्यमरः। सेवां कुर्वाणाया अपि हिताल्यास्तद्विहारावलोकानन्दप्रेमवैचित्र्येन कदा खल्विति सम्भावना सूच्यते। जिज्ञासार्थेन किमहं खलु सेवां कुर्व्वे मनसैव तर्क्कयति पृच्छति च यथा स्वप्नो वा साक्षादिति। भजे इति वर्त्तमानेन क्रियमाणतैव सूच्यते। तामेव सेवां दर्शयति, ताम्बूलं नवचन्द्रलवङ्गजातीफलैलाकस्तूरीक्वाथचूर्णादियथारुचिसौष्ठवसम्भृतवीटिकां रचयित्वा

रसकलश

से रस विलास दान करने के लिये दानवीरता के कारण कुछ और सी प्रतीत हो रही श्री राधिका का (अज्ञात अर्थ में कप्रत्यय है) और माधव का, जो मधुपान में कुशल होने के कारण श्री राधिका के अधरमधु रूप असव के आस्वादन से झूम रहे हैं, गृह में, पूर्व पद्य में स्थित अरण्यपद से स्थान का विस्तार कहा गया था। किसी एक स्थान मे न रहने से असन्तोष प्रकट होता है, इसलिए यहाँ किसी अन्य कुँज गृह में, जो कि ममता के कारण गृहस्थियों के घर के समान स्वीकार किया गया है, केवल एकान्त वन मात्र होने के कारण नहीं, अपितु कुँज निकुँज आदियों में मुख्य निवासस्थान भूत हर्म्य या महल को ही यहाँ गृह जानना चाहिये। इसलिये भी इस स्थान को गृह कहा गया है, क्योंकि वन विहार करके प्रिया प्रियतम यहाँ आएँगे ही, ऐसा जानना चाहिये, अतएव चरणों का संवाहन करूँगी, यह भी यहाँ कहा गया है। 'कदा खलु भजे' भला कब सेवा करूंगी, इस वाक्य में 'खलु' या भला जिज्ञासा अथ में कहा गया है। क्योंकि निषेध वाक्यालंकार, जिज्ञासा और अनुनय में 'खलु' का प्रयोग होता है, ऐसा अमरकोष का मत है। यद्यपि श्रीहितसखी पहले से ही यह सब सेवा कर रही हैं, तो भी आज प्रियतम के विहार दर्शन के आनन्द और प्रेम के कारण वैचित्य वेभान सी अवस्था हो जाने पर भल कब इत्यादि शब्दों द्वारा सम्भावना सूचित की गई है। जिज्ञसा अर्थ होने के कारण भला क्या मैं सेवा करूंगी, ऐसा मनसे तर्क करते हैं, और प्रश्न करते हैं। जैसा कि स्वप्न है या साक्षात् है इत्यादि वाक्यों में तर्क किया जाता है। यहां पर भजे' क्रिया पद में वर्तमान काल के कारण सेवा की जा रही है यही सूचित होता है।

अब उसी सेवा का उल्लेख करते हैं मैं कहीं ताम्बूल अर्पण करती हूँ। ताम्बूल पद से नवीन कपूर, लौंग, जयफल, इलायची, कस्तूरी, कत्था, चूना आदि प्रियाप्रियम की रुचि के अनुसार इन सभी वस्तुओं से भली भान्ति भरकर बीड़ा बना कर, कब

क्वचिदहमर्प्पयामि । अत्र क्वचिदिति कालान्तरार्थो ग्राह्यो, न स्थानान्तरार्थः । एकस्थानस्थितिविलाससमयसेवानवच्छेदार्थपक्षत्वात् कदाचिदित्यर्थः ।

कस्मिन् समये सम्पुटात्ताम्बूलमर्पयामि । मुखशोधनमनस्तोषविहारक्षमताप्राप्त्यर्थम् विलासिप्रभूणां सहजव्यसनमपि च दृश्यते । अत्र क्वचिदिति प्रतिविलासान्तावसरे तत्तत्सेवा ज्ञेया । तत्र परस्परकौतुके भावनीयम्, सखी प्रियायायर्यति, स च श्रीमतीं सम्भोजयति । तत्र तत्प्रसादापेक्षी, अर्द्धखण्डितमेवाछिद्यस्वयमत्ति, कदाचित्सा तं वञ्चयित्वा स्वयमत्तीत्यादिहासमयं ताम्बूलसामयिकम् । अथ कदाचित् शय्याशयानयोर्विलासश्रान्तयोश्चर्णौ सम्वाहयामीति । अत्र कथमहहमिथोऽङ्गाङ्गसंयोजनपूर्व्वकशयने दृग्वचनलास्यचातुरीहास्यक्रीडास्वारस्यंवरीर्वाततद्धितालीहृदयगम्यमेव,तत्सुखं हृदि न्यस्य वक्ति चरणाविति । अतएव पूर्वपद्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्देत्युक्तम् । तदत्र स्वसंविदितं विवृतम् । अहो कथञ्चेन्दीवरहेमारविन्दश्रीमत्-

रसकलश

कहाँ अर्पण करूंगी, यह कहा गया है । इस वाक्य में कब कालान्तर के अर्थ में समझना चाहिये, स्थानान्तर के अर्थ में नहीं । एक स्थान पर बैठे होने के कारण, 'क्वचित्' का अर्थ 'कदाचित्' या कभी ही किया गया है । किस समय सम्पुट में से पान देती हूं, जससे मुखशोधन हो मन को सन्तोष हो, और विहार को क्षमता प्राप्त हो । वैसे विलासी प्रभुओं का ताम्बूल सेवन करना स्वाभाविक व्यसन भी देखा गया है । यहां क्वचित् कहने का अर्थ यह है, कि प्रत्येक विलास के अन्त में इस सेवा का अवसर जाना जाता है । वहाँ पर परस्पर कौतुक की भी भावना करनी चाहिये । सखी ताम्बूल आदि प्रियतम को देती हैं, और प्रियतम श्री राधा जी को खिलाते हैं । स्वयं प्रसाद की अपेक्षा रखते हुए आधे चबाये गये को ही लेकर स्वयं पा लेते हैं । कभी श्री राधा श्यामसुन्दर से वञ्चना करके ताम्बूल आदि स्वयं ही पा लेती हैं । ताम्बूल के समय प्रायः यह परिहास होता है ।

अब किसी समय विलास से श्रान्त हो कर प्रियाप्रियतम शय्या पर शयन करते हैं, उस समय उनके चरण दबाती हूँ यहा अहह !! परस्पर श्री अङ्ग मिला शयन करने के समय इस प्रकार के वचन विलास, चतुराई, हास्य और क्रीड़ा आदि की स्वरसता या स्वतन्त्रता है । इसको श्रीहित सखी जी का हृदय ही जानता है, उस सुख को हृदय में रख कर यहां कहती हैं कि मैं चरणों का संवाहन करती हूं । इसीलिये पूर्व पद्य ने नवीन रसरूपी सुधा को बहाने वाले, चरण कमलों वाली, इत्यादि कहा था । उसी को यहां पर जैसा अनुभव किया था, वैसा ही वर्णन करते हैं । अहो ! कैसे नील

पदसम्वेष्टनसंघद्‌टनसञ्चालनादिशोभा, तत्प्रतिक्षणानन्दासवस्वादातिमत्ता वक्ति, कदा खलु किसम्वाहयामि। साक्षाद्वा स्वप्नमिति। क्वचित् कतिपय-क्षणान्तरे तत्रैव तल्पे आसीनौ मालाद्यैः परिमण्डये। आदिशब्देनाभूषण-वसनाङ्गरागसौरभाद्यैस्तैर्नवीनैर्वा तद्विहारवशत्रुटितव्यत्यस्तशिथिलानि यथ योग्यं संयोज्य परितोमण्डये, तन्मण्डनसमये। तत्तद्विलासज्ञानोद्दीपितप्रेम-चमत्कारविह्वलाङ्गी, कदा किमिति पूर्ववत्। पुनश्चाहो क्वचित्पुनर्विलास-विक्रमसाहसनिः सहश्रान्तसुकुमाराङ्गौ वीक्ष्य संवीजयामीति। समिति यथा रुचं, मृदुमधुरं सदात्रिविधपवनसेवितदेशेऽपि स्वसेवासातत्यं वक्ति। अत्रापि तादात्विकानन्दासवमादकतैव ज्ञेया। किञ्च करगतशैथिल्यं चाप्यनुभूयाहो किं संवीजयामीति। पुनश्च क्व कदेति रतिक्रीडावीररसोष्मशमनार्थं कर्पूरा-

रसकलश

कमल और सुवर्ण कमल की शोभा वाले चरणों के आच्छादन (ढकने) संघट्टन (मिलाने) चालन आदि की शोभा के द्वारा प्रतिक्षण आन्दरूपी मदिरा के आस्वादन से अत्यन्त मदमत्त होकर कहती हैं कि भला कब इन चरणों का संवाहन करूंगी। साक्षात् कर पाऊँगी या स्वप्न में। फिर कुछ क्षणों के बाद उसी तल्प (बिस्तर) पर विराज-मान प्रिया प्रियतम का माला आदि द्वारा शृगार निर्माण करूंगी। माला आदि में आदि शब्द से आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग और सुगन्धित इत्र फुलेल आदि जो, सर्वथा नवीन हैं, अथवा यहां पूर्व विहार के कारण टूट गये हैं, अस्त-व्यस्त हो गये हैं, या शिथिल हो गये हैं, उनको यथायोग्य संयोजन करके प्रिया प्रियतम को चारों ओर से मण्डित या शृंगारित करूंगी उस मण्डन या शृंगार के समय में, उन उन विलासों के ज्ञान से उद्दीपित हुए प्रेम के कारण चमत्कार से विह्वल अङ्गों वाली मैं कब क्या इत्यादि पूर्ववत् जिज्ञासा करती हुई, अहो किसी समय विलास के पराक्रम और साहस को न सहकर शान्त हो गये सुकुमार अङ्गों वाले प्रिया प्रियतम को देखकर पङ्खा झलकती हूँ। 'संवीजयामि' में 'सम' उपसर्ग प्रिया प्रियतम की रुचि के थनुसार धीमे-धीमे पवन से उनकी सेवा करूंगी, इस तात्पर्य से रखा गया है। यद्यपि यहां का देश सदा ही शीतल मन्द सुगन्ध तीनों गुणों वाले पवन से सेवित है तो भी अपनी सेवा की निरन्तरता कही गई है। यहां पर भी समय की आनन्दरुपी आसव की मादकता ही जाननी चाहिये। एक और बात भी है। उस आनन्दसव से मन्त होकर अपने हाथों में शिथिलता का अनुभव करके भी, अहो संवीजन करूंगी फिर कहां, कब, इत्यादि जिज्ञासा पूर्ववत् समझनी चाहिये। सुरत क्रीड़ा के वीररस की ऊष्मा को शान्त

कोऽर्थः। किञ्च पूर्वं पूर्वतरपद्ययोः रतिकलाकेलिमाधुर्य्यसीमेति। ततोऽपि केलिविभवेत्युक्तेश्च यथा भावगम्यः ॥१३२॥

एवं भ्रमरवृन्दवन्दिवैतालिकगीतपरस्परानुरागसौभाग्यस्मरसमर-रसप्राबल्यवर्द्धितसमुत्साहौ, स्वतो वृन्दालीपष्क्रितततल्पे भूयः समुदितस्वान्त-वृत्तिमयरति कामौजस्तेजःप्रभावं, तौ तौ समीक्ष्य तादात्विकसेवनपरा प्रसह्य श्रीहितालो स्वमनो रूपां सखीं प्रत्याह।

व्याकोशेन्दीवरविकसितामन्दहेमारविन्द-
श्रीमन्निस्यन्दनरतिरसान्दोलिकन्दर्पकेलि।
वृन्दारण्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्दम्,
ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति॥१३३॥

वृन्दारण्ये किमपि ज्योतिर्द्वन्द्वं चकास्तीत्यन्वयः। पुनर्वृन्दारण्योक्ति-रत्रानन्दज्योतिरादिपदसम्बन्धात्। कामबीजात्मकज्योतिर्द्वितीयान्तः स्थत्व-सूचिनी, यथा शतके;

त्रैगुण्यातीतपूर्णोज्वलविमलमहाकामबीजात्मदिव्य—
ज्योतिः स्वानन्दसिन्धौ किमपि सुमधुरं द्वीपमाश्चर्य्यमस्ति।

रसकलश

माधुर्य सीमा' और 'केलिबिभवा' इस उक्ति का भी तात्पर्य भाव के अनुसार समझा जा सकता है।१३२।

इस प्रकार भ्रमरवृन्दरूपो वन्दी और वैतालिकों के गीत से परस्पर अनुराग, सौभाग्य, स्मरसमर के रस की प्रबलता से बढ़ा हुआ है उत्साह जिनका, स्वयं वृन्दा-सखी के द्वारा परिष्कृतततल्प (बिस्तर) पर फिर उदय हुआ हैं, अपनी मनोवृत्ति से ही बने हुए रति और काम के ओज या प्रभाव जिनका, उन दोनों को देखकर उस समय की सेवा में तत्पर श्रीहितसखी जी प्रसन्न होकर अपने मन रूपी सखी के प्रति कहती हैं।

खिले हुए नील कमल और विकसित अमन्द स्वर्ण कमल की शोभा वाले, बहते हुए रति रस में झूम रही हैं काम क्रीडाएँ जिनके, श्री वृन्दावन में नवीन रस सुधा को बहाने वाले हैं चरण-कमल जिनके ऐसे कोई परमानन्दकन्दज्योतिद्वन्द्व (दो ज्योति) सुशोभित हो रहे हैं।१३३।

श्री वृन्दावन में कोई दो ज्योतियाँ सुशोभित हैं यह अन्वय है। फिर से आनन्द और ज्योति आदि पदों के सम्बन्ध से श्री वृन्दारण्य का कथन हुआ है। जो काम बीजा-त्मकज्योतिदीप के अन्दर स्थायी होने की सूचना देने वाली है जैसा कि शतक में लिखा है—त्रिगुणातीत, पूर्ण, उज्ज्वल और विमल, महाकामबीजात्मकदिव्यज्योति के स्वानन्दसिन्धु में कोई अति मधुर आश्चर्यमयद्वीप है, उसमें वह श्रीवृन्दावन हैं

स्मरः साक्षात्कृष्णोऽनवधिरतितृष्णोऽखिलपरः,
परेशोन्मीलद्रुचिवद्‌र्ध्येकरुगणुः ॥४६॥

परेशस्यापि प्रियोन्मीलत्कान्तिसिन्धुर्वर्द्धि एको रुचः कान्तेर्लवोयस्येति। यद्वा निःप्रत्यूहरतिरसवशेनान्दोलिन्य इति दृढ़स्तम्भरश्मादिसद्भाव एव जनाप्रान्दोलयन्ति, न तु तदभावे, एवं निर्द्वन्द्वरस एव कन्दर्पकेलिहर्षतारल्यम्। यद्वा, अचञ्चलरसेन कन्दर्पचाञ्चल्यमिति विरोधाभासोऽलङ्कारः। रसशब्देन कञ्जोक्तौ मकरन्दश्रवणं ज्ञेयम्, तच्च परस्परस्वाद्यम्।

अथ हितालो स्वसजातोयास्वाद्यमधुश्रुतिमाह; नवरससुधां प्रेमामृतं स्यन्दनशीलं पदारविन्दं यत्र। तयोस्तु रतिरस अस्माकं प्रेमरस इति कञ्ज-मकरन्देऽपि भेदः। निस्पन्दनेत्यत्र पवर्गमध्यः, स्यन्दनेत्यत्रान्तःस्थमध्यः। स्यदिकिञ्चिच्चलने, स्यन्द प्रश्रवणे इति। अन्यच्च परस्परोच्चनीचेतस्ततः समविहारपारावतीयोल्लण्ठनादिदर्शनेनान्दोलनोक्तिः सहृदयगम्या। अन्यच्च निम्नमाप इव स्वयमिति वत्। तयोर्नाना स्वसम्वेद्यास्वाद्यरतिरसविलसना-नन्दनिकुष्टो रस सारोऽस्मद्वेद्य आस्वाद्य एवेति सूचिनी स्यन्दनशोलपादार-

रसकलश

तृष्णा की कोई अवधि नहीं है, और जो सबसे परात्पर हैं, परमेश्वर की प्रोन्मीलित होती हुई रुचि के सागर को बढ़ाने वाला है रुचि का लेश जिनका अर्थात् परमेश्वर की भी प्रोन्मीलित होती हुई कान्ति के सिन्धु को बढ़ाने वाली है रुचि का एक कान्ति लव जिनका ऐसे हैं। अथवा निर्विघ्न रूप से रति रस के कारण आन्दोलित हो रही हैं स्मर केलि जिनमें। दो दृढ़ स्तम्भों और रस्सी आदियों का सद्भाव होने पर ही लोग झूला झूलते हैं उनके अभाव में नहीं। ऐसे ही निर्द्वन्द्व रस में ही कन्दर्प केलियों को हर्ष के कारण तरलता या चञ्चलता प्राप्त हो सकती है। अथवा अचञ्चल रस से ही कन्दर्प में चञ्चलता आती है ऐसा विरोधाभास अलंकार है। रस शब्द से कमल के सम्बन्ध में मकरन्द या पुष्परस समझना चाहिये, वह पुष्परस परस्पर आस्वादनीय है। अब श्रीहितसखी जी अपने सजातीय जनों के लिये आस्वादनीय मधु की स्तुति का वर्णन करती हैं—नवीन रस सुधा अर्थात् प्रेमामृत को स्यन्दन करने के शील वाला है चरणाविन्द जहाँ पर उन दोनों का रति रस में ही हमारा प्रेम रस है, ऐसा कमल और मकरन्द जैसा अन्तर है। 'निस्पन्दन' शब्द में मध्य का अक्षर पवर्गीय है और स्यन्दि शब्द में मध्य का अक्षर अन्तस्थ है। किञ्चिच्चलनार्थक स्पदि धातु है और प्रवसणार्थक स्यन्दु धातु है। और भी परस्पर ऊँच-नीच, इधर-उधर, समान विहार, पारावतीय उल्लुंठन (कबूतर सा लोटना पोटना) आदि देखकर आन्दोलन कहा गया है जो सहृदयों द्वारा जाना जा सकता है।

और भी एक बात है कि पानी स्वयं नीचे की ओर बहता है। इसके अनुसार प्रिया प्रियतम दोनों के अनेक स्वमात्र संवेद्य और आस्वाद्य रति रस, विलास आनन्द

विन्दोक्तिः। पूर्वं निस्यन्दनोक्तेश्च । अतएव नव इति स्वप्रौढिज्ञापकः। नायकादपि नटादपि च सममत्ववासनसहृदयसामाजिकेषु रसविशेषानुभव इति साहित्यकाराः । तादात्विकपदसेवासामीप्ये नवरससुधास्वादस्य मद्-हृदयभृङ्ग एव साक्षीति भावः। पदसुधाज्ञानं दासीनामेवेति ज्योतिररविन्द-पदाभ्यां परस्परारविन्दयोः परस्परमेव विकशनहेतु भानुमत्वम् ॥१३३॥

एवं तादात्विकरसविहारे वर्त्तमाने क्रियमाणस्वद्दास्यमाह;

ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ सम्वाहयामि क्वचित्,
मालाद्यैः परिमण्डये क्वचिदहो सम्बीजयामि क्वचित्।
कर्पूरादिसुवासितं क्वच पुनः सुस्वादुमम्भोऽमृतम्,
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिका-
माधवौ ॥१३४॥

अहं श्रीराधिकामाधवौ गृहे कदा खलु भजे । अहं पूर्वोक्तपदारविन्द-नवरससुधासवमत्तेंदिंदिरा अनिर्वचनीयतत्तत्सेवावहितपार्श्वगा श्रीराधिकां

रसकलश

का निकर्ष रूप रस सार ही हमारे लिये वेद्य और आस्वाद्य है इसकी सूचना देने वाली चरणारविन्द को स्यन्दन शील कहने वाली उक्ति हैं। पहले निस्पन्दन कहा गया अत-एव यहाँ 'नव' शब्द से अपनी प्रौढि का ज्ञापक है। नायक से भी और नट से भी ममता सहित वासना वाले सहृदय सामाजिकों में रस विशेष का अनुभव होता हे ऐसा साहित्यकार मानते हैं। उस समय की चरण सेवा के कारण समीपता में नवीन रस सुधा के आस्वाद का मेरा हृदय रूपी भ्रमर ही साक्षी हैं। यह भाव है। चरणसुधा का ज्ञान दासी जनों को ही हो सकता है। ज्योति और अरविन्द पदों से यह सूचित किया गया हे कि परस्पर दोनों कमलों के परस्पर ही दोनो विकास का कारणभूत भानुमान् अर्थात् सूर्य भी हैं ॥१६३॥

इस प्रकार उस समय के रस विहार के वर्तमान होने पर किये जा रहे अपने दास्य या सेवासर का वणन करती हैं —

कहीं ताम्बूल अर्पण करती हूँ, कहीं चरण संवाहन करती हूं कहीं माला आदियों से शृङ्गार रचना करती हूं, अहो, कहीं व्यजन से पवन देती हूँ और कहीं कपूर आदि से सुवासित सुस्वादु जलरूपी अमृत पिलाती हूं इस प्रकार कब घर में ही श्री राधिका और माधव का भजन या उनकी सेवा करती हूँ। १३४।

मैं श्री राधिका और माधव की घर में कब भजन करती हूँ या सेवा कब करूँगी ? मैं पूर्वोक्त चरणारविन्द की नवीन रस सुधा रूपी आसव से मत्तभ्रमरी हूँ, अनिवचनीय उस सेवा में सावधान पार्श्वचरी हूं। अपनी कृपा की पराधीनता से उत्पन्न अनेक प्रकार

पदसम्वेष्टनसंघट्टनसञ्चालनादिशोभा, तत्प्रतिक्षणानन्दासवस्वादातिमत्ता वक्ति, कदा खलु किंसम्वाहयामि । साक्षाद्वा स्वप्नमिति । क्वचित् कतिपयक्षणान्तरे तत्रैव तल्पे आसीनौ मालाद्यैः परिमण्डये । आदिशब्देनाभूषणवसनाङ्गरागसौरभाद्यैस्तैर्नवीनैर्वा तद्विहारवशत्रुटितव्यत्यस्तशिथिलानि यथ योग्यं संयोज्य परितोमण्डये, तन्मण्डनसमये । तत्तद्विलासज्ञानोद्दीपितप्रेमचमत्कारविह्वलाङ्गी, कदा किमिति पूर्ववत् । पुनश्चाहो क्वचित्पुनर्विलासविक्रमसाहसनिः सहश्रान्तसुकुमाराङ्गौ वीक्ष्य संवीजयामीति । समिति यथा रुचं, मृदुमधुरं सदात्रिविधपवनसेवितदेशेऽपि स्वसेवासातत्यं वक्ति । अत्रापि तादात्विकानन्दासवमादकतैव ज्ञेया । किञ्च करगतशैथिल्यं चाप्यनुभूयाहो किं संवीजयामीति । पुनश्च क्व कदेति रतिक्रीडावीररसोश्मशमनार्थं कर्पूरा-

रसकलश

कमल और सुवर्ण कमल की शोभा वाले चरणों के आच्छादन (ढकने) संघट्टन (मिलाने) चालन आदि की शोभा के द्वारा प्रतिक्षण आन्दरूपी मदिरा के आस्वादन से अत्यन्त मदमत्त होकर कहती हैं कि भला कब इन चरणों का संवाहन करूंगी । साक्षात् कर पाऊँगी या स्वप्न में । फिर कुछ क्षणों के बाद उसी तल्प (बिस्तर) पर विराजमान प्रिया प्रियतम का माला आदि द्वारा शृगार निर्माण करूंगी । माला आदि में आदि शब्द से आभूषण, वस्त्र , अङ्ग राग और सुगन्धित इत्र फुलेल आदि जो, सर्वथा नवीन हैं, अथवा यहां पूर्व विहार के कारण टूट गये हैं, अस्त-व्यस्त हो गये हैं, या शिथिल हो गये हैं, उनको यथायोग्य संयोजन करके प्रिया प्रियतम को चारों ओर से मण्डित या शृंगारित करूंगी उस मण्डन या शृंगार के समय में, उन उन विलासों के ज्ञान से उद्दीपित हुए प्रेम के कारण चमत्कार से विह्वल अङ्गों वाली मैं कब क्या इत्यादि पूर्ववत् जिज्ञासा करती हुई, अहो किसी समय विलास के पराक्रम और साहस को न सहकर शान्त हो गये सुकुमार अङ्गों वाले प्रिया प्रियतम को देखकर पङ्खा झलकती हूँ । 'संवीजयामि' में 'सम' उपसर्ग प्रिया प्रियतम की रुचि के थनुसार धीमे-धीमे पवन से उनको सेवा करूंगी, इस तात्पर्य से रखा गया है । यद्यपि यहां का देश सदा ही शीतल मन्द सुगन्ध तीनों गुणों वाले पवन से सेवित है तो भी अपनी सेवा की निरन्तरता कही गई है। यहां पर भी समय की आनन्दरूपी आसव की मादकता ही जाननी चाहिये । एक और बात भी है । उस आनन्दसव से मन्त होकर अपने हाथों में शिथिलता का अनुभव करके भी, अहो संवीजन करूंगी फिर कहां, कब, इत्यादि जिज्ञासा पूर्ववत् समझनी चाहिये । सुरत क्रीड़ा के वीररस की ऊष्मा को शान्त

दिसुवासितं सुस्वाद ममृतं सिताजलं मधुरं पायामि । च शब्देन किं वा अम्भ एव सुस्वादं शीतलमिति यद्वा अमृतं विलासि भोग्यासवम् यथा चतुरशीतौ, "भाजनकनकविविधमधुपूरित धरेधरनिपरहेज" इति । कर्पूरा शीतलस्तदादित्वादेलादीनां शिशिरवस्तूनामेवग्रहणम् । सुस्वादमित्यनेन केवलमुपचारमात्रम् । अमृतमित्यनेन मधुसामान्यतानिरस्ता । पुनश्चेत्येताभ्यां पदाभ्यां क्रीडासमये पानपौनः पुन्यं सूचितम् । दम्पती अपि मत्ततया कियत्पानं कार्यमिति न वित्तः, अहमपितत्पानलीलानन्दासवमत्ता न वेद्मि,अतएवैवकारो दत्तः। यदा वैचित्यानन्तरं सुचित्ता भवामि तदैव पान पात्रं मम हस्त एव पश्यामि, तस्मात् पायाम्येवेति ।

एवं गृहे ग्राम्यसुखोपादेये सुप्रयत्नरक्षितेदेशे निभृते कदा भजे । अत्रात्मनेपदमात्मगामिफलं, परस्मैपदं दम्पतिगामि चेति । यद्यपि सखीनां तत्सुखमेव, तदपि अर्प्पयामि संवाहयामीत्यादीनां भज इतिमुख्यक्रियान्तर्भावे-

रसकलश

करने के लिये कपूर आदि से सुवासित, सुस्वादु, मधुर, (मिशरी का शरबत) सिताजल पिलाऊँगी। यहां पर 'च' शब्द के द्वारा जल ही स्वयं सुस्वादु, शीतल अमृत रूप है, यह सूचित किया गया अथवा अमृत का अर्थ, विलासी जनों के द्वारा भोग्य आसव है, जैसा कि श्रीचतुरासी जी के पद में, 'भाजन कनकविविधमधु पूरित घरे-घरनि पर हेज' इत्यादि पद में कहा गया है। कपूरादि सुवासित' शब्दों में कपूर शीतल है, अतः आदि शब्द से एला आदि शीतल वस्तुओं का ही ग्रहण किया जायेगा 'सुस्वादु' इस शब्द से केवल उपचार प्रकट किया गया है, और 'अमृत' शब्द से इस पेय को मधु रूप बताकर उसकी समान्यता का निरास किया गया है। पुनः और 'च' इन दो पदों द्वारा क्रीडा के समय में पान की पुनः पुनः आवृत्ति सूचित की गई है । प्रिया प्रियतम तो मद-मत्तता के कारण जानते ही नहीं, कितना पान करना चाहिये, मैं भी उनकी पान लीला के आनन्द रूपी आसव से मत्त होकर इस बात को नहीं जान पाती, इसी लिये पायाम्येव में 'एव' लिखा गया है अर्थात् पिलाती ही जाती हूं और जब वैचत्य या बेभान अवस्था में सुचित्ता या सावधान होती हूँ तब भी पान पात्र को अपने हाथ में ही देखती हूं समझती हूँ, कि मैं पिलाती ही रही हूं इस प्रकार गृह में, अर्थात् ग्राम्य सुखों के लिये उपयुक्त और प्रयत्न पूर्वक सुरक्षित एकान्त देश में प्रिया-प्रियतम की सेवा कब करूँगी।

'कदा खलु भजे' यहाँ पर 'भजे' क्रिया पद में आत्मने पद का प्रयोग किया गया है, जिससे भजन या सेवा की क्रिया का फल आत्मगामी प्रतीत होता है। जहाँ परस्मैपद का प्रयोग होता है, वहाँ क्रिया फल प्रिया प्रियतम को होता है, ऐसा समझा जाता है। यद्यपि सखी जन तत्सुख सुखी हैं, तो भी, अपयामी, संवाहयामि, इत्यादि परस्मैपदी

न आत्मगामितैव पर्य्यवसितातस्तत्सुखाख्यमेवस्वसुखमासामिति दर्शितम्। परिमण्डय इत्यत्रापि निजकरमण्डनतादात्विकशोभादर्शनानन्दोऽप्यात्मगाम्येवेति ।

अथ केचिदाचार्य्यरीत्या गृह इत्यनेन आश्रमार्थं कुर्व्वन्ति, सोऽपि संगच्छते। अत्रापि श्रीराधावल्लभस्य नित्यसांनिध्यात् सेवाकरणेऽपरोक्षतया ताम्बूलार्पणपदसंवाहनपरिमण्डनसंवीजनाशनपानादीनां साक्षात्प्राप्त्यानन्दवैचित्येन कथयति, खलु कदा भजे । गृह इत्यनेन देववनान्निर्विद्यागतस्य मार्गे भगवदाज्ञयया भार्य्याद्वयविवाहो जातो । निजेष्टप्रभुरपि तत्रैव पारिबर्हागतस्ततोवृन्दावनागतस्य श्रीमतः सकलपरिजनबहुविधसेवातत्परतादर्शनेन स्वस्यापिसेवनापरोक्षसिद्ध्यासहर्षं कथयतीत्यत्र;

कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा,
गूढाश्चर्यरसाः स्रगादिविषयान् गृहणन्तु मुञ्चन्तु वा ।
कर्वा भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः,
किञ्चिज्ज्ञैरनुयुज्यतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि ।।

रसकलश

क्रिया पदों का भी, 'भजे' इस मुख्य आत्मनेपदीक्रिया में अन्तर भाव हो जाने के कारणा सेवा के फल का आत्मगामी होना ही पर्यवसित होता है । और इसके द्वारा यह दिखाया गया है, कि इन सखियों का अपना सुख भी तत्सुख ही है । परिमण्डये इस क्रिया में भी आत्मनेपद हाथों से मण्डन करके उस समय की शोभा के दर्शन के आनन्द का आत्मगामी होना ही बताता है।

यहाँ कुछ भावुक जन आचार्यों की रीति का अनुसरण करते हुए, गृह शब्द का आश्रम अर्थ करते हैं। वह अर्थ भी संगत है। यहाँ पर भी श्रीराधावल्लभ जी के नित्य सन्निधान के कारण सेवा करने में परोक्षता नहीं है, अपितु प्रत्यक्षता ही है, और प्रत्यक्ष रूप से ताम्बूल अर्पण, चरण संवाहन,परिमण्डन, संवीजन तथा आसव पान आदि सेवाओं के साक्षत् प्राप्त होने के आनन्द के कारण वैचित्य या बेभान सी अवस्था प्राप्त करके कहते हैं, कि भला आश्रम में कब सेवा करूंगी। इससे देववन से विरक्त होकर वृन्दावन को आते हुए मार्ग में प्रभु आज्ञा से दो पत्नि से विवाह हुआ अपने इष्ट प्रभु भो उस विवाह में दहेज में आये। तब वृन्दावन में आये हुए श्रीहितमहाप्रभु ने समस्त परिजन की अनेक प्रकार से सेवा में तत्परता देखी । अपने आपको भी सेवा की प्रत्यक्ष सिद्धि प्राप्त हुई, इससे हर्ष युक्त होकर कहते हैं, कि मैं उक्त सेवाएं करता हूँ। यहां पर "वेद शास्त्रों के द्वारा बताए हुए कर्म भलीं भाँति करें या न करें गूढ और आश्चर्यमय रसके रसिक माला आदि विषयों को ग्रहण करें या त्याग दें। श्री राधावल्लभ के भाव रहस्य के विषयों में पारङ्गतबुद्धि वाले रसिक को, कोई कुछ जानने वाले, भावुक अथवा बाहर भ्रमण करने वाले, अन्य विद्वान क्या अनुयोग करें, क्या कहकर रोके

इत्युक्तं गम्यते । किञ्च सेवामार्गसिद्धौ पूर्णभावनैश्चाल्पेविरागाविरागेन विधिनिषेधतात्पर्य्यमिति दिक् पायाम्येवेत्यज सैवकारः सर्वत्र संगच्छते अर्प्पयाम्येव संवाहयाम्येव प्रत्यक्षं करोमि निश्चयेनेत्यर्थः । अतः अपरोक्षा-नन्दाश्चर्य्येण वक्ति किमहो आश्चर्य्ये गृहे खलु भजे, यन्निर्विण्णानामप्यात्म-तत्वापरोक्षता दुर्लभा, सा च गृहे तिष्ठतः कुतः परमतत्वापरोक्षतेत्येवम-चिन्त्यप्रभावोदर्शितः । अत्र पद्ये क्वचित् सुस्वादुरम्भोऽमृतमिति पाठोऽसंगते-रुपेक्ष्यः, सुस्वादमित्यकारान्तक्लीबवाचिपदं संगतम् ।।१३४।।

एवमुभयसेवामृतमत्ताहितालो सहर्षं कान्तानुशीलिततत्तदिंगितायाः श्रीमत्याः स्वरूपे यद्यद्रसप्रेमलावण्यकृपावात्सल्यमाधुर्य्याद्युत्कर्षो नेत्रगोचरी-कृतस्तमेव वर्णयन्त्याशिषानिवर्द्धयति;

रसकलश

टोकें। ये भी श्रीहितमहाप्रभु द्वारा कहा गया श्री मुख्य वचन जाना ही जाता है ।
एक बात और भी हैं कि सेवा मार्ग की सिद्धि में पूर्ण भावना की ही अपेक्षा है । थोड़े
से भी विराग या अविराग और विधि निषेध में तात्पर्य नहीं है । 'पायम्येव' में जिस
एवकार अर्थात 'ही' का प्रयोग किया है, वह प्रत्येक क्रिया पद के साथ संगत होता
है अर्पण करता ही हुँ, संवाहन करता ही हुं निश्चित रूप से प्रत्यक्ष रूप से करता हूँ,
यह उस एवकार का अर्थ है, इसी लिये प्रत्यक्ष आनन्द और आश्चर्य से कहते हैं, कि
क्या मैं, अहो ! आश्चर्य है, कि घर में सेवा करता हूँ । घर से निर्विण्ण हुए पुरुषों को
को भी आत्म तत्व का साक्षात्कार दुर्लभ है, वही परम तत्व का साक्षात्कार गृह में
रहते हुए मुझे कहाँ से प्राप्त हो गया, इसके द्वारा श्रीप्रियाजी की कृपा का अचिन्त्य-
प्रभाव दिखाया गया हैं । इस पद्य में कहीं-कहीं सुस्वादुरम्भोऽमृतम् ऐसा पाठ देखा
जाता है, जो असङ्गत होने के कारण उपेक्षीणय है, सुस्वादमम्भोऽमृतम्' ऐसा अकारा-
न्त सुस्वाद शब्द, जो अम्भस् का विशेषण होने के कारण नपुंसक लिङ्ग अकारान्त है,
शुद्ध और संगत है ।१३४।

इस प्रकार प्रिया प्रियातम की सेवा के अमृत से मत्त हुई हित सखी हर्ष के साथ प्रियतम के द्वारा जिनके वे इङ्गित अनुशीलित हुए हैं, उन श्रीराधा जी के स्वरूप में जो-जो रस प्रेम, लावण्य, कृपा वात्सल्य, माधुर्य, आदि का उत्कर्ष अपने नेत्रों का विषय बनाया था अर्थात प्रत्यक्ष किया था, उसी का वर्णन करती हुई आशीर्वाद द्वारा उनका संवर्धन करती हैं —

प्रत्यङ्गोच्छलदुज्ज्वलामृतरसप्रेमैकपूर्णाम्बुधि-
र्लावण्यैकसुधानिधिपुरुकृपावात्सल्यसाराम्बुधिः ।
तारुण्यप्रथमप्रवेशविलसन् माधुर्य्यसाम्राज्यभू-
र्गुप्तः कोऽपिमहानिधिर्विजयते राधा
रसैकावधिः ॥१३५॥

एवं विशिष्टा श्रीराधा विजयते, सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । किं वा समानद्वन्द्वेऽपि गुणैः प्रियं विजयते मत्स्वामिनीत्यर्थः । राधेति तादृश प्रेमरसलावण्यादिसिन्धुरपि कान्तो यामाराधयति, तत्तत्केलिषु च प्राप्तविजयसंसिद्धिरिति नाम्ना किमुच्यते तस्या विजय इति । तान्येव विशेषणान्याह । प्रत्यङ्गेषूच्छलन् य उज्ज्वलामृतरसश्च प्रेमाश्च; तयोरेको मुख्यः पूर्णाम्बुधिः । प्रत्यङ्गोच्छलत्तरङ्गा अङ्गिनं समाश्रयन्तीति, अतः श्रीराधा रसप्रेमसागररूपा । उज्ज्वलः शृङ्गाररसः, अमृतो रसः अमृतो दिव्यः । प्रियस्यास्माकञ्च परमाप्यायनकर्तृ तादृश एव शुद्धः सञ्जीवनः प्रेमा प्रियत्वं प्रत्यङ्गेषूच्छलतस्तयोर्महद्दृष्टिरेवात्र साक्षिणी । अत्र रसप्रेम्णोराश्रयविषयत्वोभयरीत्यैवपूर्णता ज्ञेया प्रियस्य रसः प्रत्यङ्गं दृष्ट्वोदेति । तदा तद्रसविषया एवं

रसकलश

प्रत्येक अङ्ग में उछलते हुए उज्जवल अमृतरस और प्रेम की एकमात्र पूर्वसिन्धु, लावन्य की एकमात्र सुधानिधि, अत्यन्त कृपा और वात्सल्य सार की सागर, तरुणावस्था के प्रथम प्रवेश से विलसित हो रहे माधुर्य की साम्राज्य भूमि, रस की एकमात्र अवधि, कोई अनिर्वचनीय गुप्तमहानिधिभूतश्रीराधा सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं । १३५ ।

इन विशेषणों से विशिष्ट श्रीराधा सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं । अथवा प्रिया प्रियतम दोनों समान हैं तथापि मेरी स्वामिनी श्रीराधा अपने गुणों से प्रियतम को जीत लेती हैं । यह अर्थ है यहाँ राधा नाम से यह तात्पर्य है कि वैसे प्रेम और रस तथा लावण्य आदि के सिन्धु होते हुए भी प्रियतम जिनकी आराधना करते हैं उन क्रीड़ाओं में जिन्होंने विजयसिद्धि प्राप्त की है इसलिये संद्धि यर्थक राधा नाम से पुकारी जाती हैं इनकी विजय का क्या वर्णन कर । अब उन्हीं विशेषणों को कहते हैं । प्रत्येक अङ्ग में उछलता हुआ जो उज्जवल अमृत रस और प्रेम उन दोनों की एक मुख्य और पूव सिन्धु । प्रत्येक अङ्ग में उछलती हुई तरङ्गें अङ्गिभूत श्रीविग्रह का आश्रय लेते हैं अतएव श्रीराधा रस और प्रेम के सागर के रूप में हैं । उज्जवल का अर्थ शृंगार रस है जो अमृत अर्थात् दिव्य है प्रिय के लिये और हमारे लिए परमतृप्तिदायक है, वसा ही शुद्ध 'संजीवन' जीवन देने वाला प्रेम या प्रिय है । प्रत्येक अङ्ग में उछलते हुए उन दोनों के लिए यहाँ मेरी दृष्टि ही साक्षी है । यहाँ पर रस और प्रेम को आश्रय और विषय दोनों की रीति से ही पूर्णता जानना

प्रेमास्पदापि, यदा च प्रियं रसेन पोषयति, कृपया स्वमासक्तीभूय यदा च प्रीत्यतिशयेन सर्वाङ्गाङ्गानां प्रियोन्मुखता तदा रसप्रेमाश्रया, इत्येवमुभयथा तत्राप्यम्बुधिस्तु जलाधिकरणं तस्माद्विषयत्वस्यैव मुख्यतेतिमर्मा । अतएवा-त्रैकशब्दप्रयोगः नैवानुकूलमिति शीलध्रौव्योक्तेः । तदेव निर्दिशति । लावण्यरूपामृतस्यैकनिधिः । पूर्ववत् प्रत्यङ्गोच्छलिततरङ्गाधारसागरा तदा रसप्रेमास्पदतायाः कैमुत्यम् । एवं स्वरूभूताङ्गगुणाम्बुधी उत्कान्तरंगा-नाह । कृपा च वात्सल्यञ्च त एव सारेऽमृतरूपे प्रत्यम्बुधि । अमृतेति सुधेति प्रयोगादत्रापि सारस्यामृतार्थत्वं, तत्रापि पुर्वितिद्वयोर्बाहुल्यतमत्वं, किञ्चाम्बुधिशब्देनैवबहुत्वमगाधत्वमागतमेव । परन्तु पूर्वाम्बुधिन्योऽपि विशेषद्योतनार्थं अम्बुधिसाधारण्यात् समानत्वेऽपि कृपावात्सल्ययोः स्वहृदया-नुभवसाक्षितया मानं कृत्वा मत्स्वामिन्यां यावद्रसप्रेमलावण्यानि तेभ्योऽपि कृपावात्सल्येतिरिच्येत, इति निश्चित्य पुर्वित्युक्तिः । एवं सर्वपूर्णतायामपि

रसकलश

चाहिये प्रिय के हृदय में प्रत्येक अङ्ग के दर्शन से रस उदय होता तब उस रस की विषय एवं प्रेम की आस्पद थी श्रीप्रिया जी ही हैं । और जब प्रियतम का रस के द्वारा पोषण करती है कृपा से स्वयं आसक्ता बनकर और जब प्रीति के अतिशय से सब श्रीअङ्गों की प्रियतम के प्रति उन्मुखता होती है तब श्रीप्रिया जी रस और प्रेम की आश्रय हैं । इस भाँति दोनों प्रकार से रस और प्रेम की वे एक पूर्ण सिन्धु हैं इसमें भी अम्बुधि तो जल का अधिकरण होता है इस लिये प्रिय का भी रस और प्रेम का विषय होने की ही मुख्यता है यह मर्म है । इसी लिये यहाँ एक शब्द का प्रयोग किया गया है । बाहर प्रियाजी अनुकूल नहीं होती जो यह स्वभाव की ध्रुवता कही गई है अब उसी का निर्देश करते हैं । लावण्य रुपी अमृत की भी वे एक निधि या निधान हैं पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक अङ्ग में उछलती तरङ्गों के आधार भूत सागर हैं तब वे रस और प्रेम की आस्पद हैं यह कोई कहने की बात नहीं है । इस प्रकार के स्वरूप वाले अङ्ग रूपी गुणसागरों को कहकर अब अन्तरङ्ग गुणों को कहते हैं कृपा और वात्सल्य वे दोनों ही सारभूत अमृत रूप हैं । और उनमें से प्रत्येक सागर है अमृत और सुधा शब्द के प्रयोग से सार शब्द का अर्थ भी अमृत ही समझना चाहिये । पुरुकृपावात्सल्यसराम्बुधि शब्द में पुरु का सम्बन्ध कृपा और वात्सल्य दोनों के साथ होने से दोनों की बहुलता और अम्बुधि शब्द से बहुलता के साथ अगाधता भी आ जाती है किन्तु पहले कहे गये रसाम्बुधी प्रेमाम्बुधि की अपेक्षा बताने के लिये अम्बुधि शब्द साधारण होने के कारण समानता होने पर भी कृपा और वात्सल्य के अनुभव में अपने हृदय की साक्षी से उसका परिमाण करके मेरी स्वामिनी में जितना रस जितना प्रेम और जितना लावण्य है उससे कृपा और वात्सल्य बहुत अधिक है ऐसा निश्चय करके ही उन्हें पुरु कहा गया इस प्रकार सब गुणों की पूर्णता

द्वयातिरेकेण सर्वगुणरमणीयतोक्ता कृपा, सद्यः प्रसादो वात्सल्यं सकारुण्य-पोषणं, यद्वा प्रियतमे कृपा, सखीषु वात्सल्यं यतो दुर्ल्लभरहस्यास्वादमपि प्रसह्य दद्यादिति ।

एवं रसप्रेमलावण्यानुभवेन वात्सल्योक्ति सेवासातत्येङ्गितज्ञतयाश्रीमुख-श्लाघेति कृपा । तत्र हर्षोत्फणनेन विजयत इत्युक्तिः । अथ वयोगुणसौष्ठव-धारत्वमाह । तारुण्यस्य यौवनस्य प्रथमप्रवेशः कैशोरे, तदागममात्र एव, न तु प्रौढत्वं पंचदशाब्दत्वमिति दृश्यते । यद्वा श्री राजकुमार्य्याः पौगण्ड एव कैशोरं, कैशोर एव तारुण्यमानं दृश्यते, इत्यपि यथा भावुकगम्योऽर्थः । तत्प्रवेशेन, विशेषेणलसद्यन्माधुर्य्यं तस्य सम्राट्त्वं, तस्य भूविषयाधारेति । माधुर्य्यं तु तन्मयमूर्त्तौ तारुण्यानागतावप्यासीत् । परन्तु युवराज्याभिषेको-ऽद्यैवप्राप्तस्तेन राज्यवैभवाप्रतिहतनिदेशता प्राप्ता, साम्राज्यमपि भूमावेव तिष्ठति, तद्वृद्धिकारणमपि सैवास्त्यतो भूरिति प्रभूतयथेष्टमाधुर्य्यशस्य-

रसकलश

होने पर भी इन दो गुणों की विशेषता से अन्य सब गुणों की रमणीय होना कहा गया है। कृपा का अर्थ है शीघ्र प्रसन्न होना और वात्सल्य का अर्थ है, दया पूर्वक पोषण करना अथवा प्रियतम पर कृपा और सखी जन पर वात्सल्य है क्योंकि इन्हें प्रसन्न होकर दुर्लभ रस का भी आस्वाद दे देती है इस प्रकार रस प्रेम और लावण्य के अनुभव से वात्सल्य कहा गया है। सेवा की निरन्तरता और मनोभाव के जानने के कारण श्री श्री स्वामिनीमुख से इन सखी (हित सखी) की प्रशंसा करती हैं अत कृपा कही गयी। और इस कृपा तथा वात्सल्य से हर्ष उमड़ पड़ने के कारण विजयते सबसे अधिक उत्कर्ष से विराजमान हैं यह कहा गया।

अब तरुण अवस्था और गुणों की रमणीयता का आधार होना कहते हैं तारुण्य अथवा नवीनयौवन के प्रथम प्रवेश में या किशोरावस्था के आगमन मात्र में न कि प्रौढता केवल पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जैसा देखा जाता है। वैसी वयस् में अथवा श्रीराज-कुमारी की प्रौगण्ड अवस्था में ही किशोरावस्था की और किशोरावस्था में ही तारुण्य अथवा नवयौवन की सी कान्ति देखी जाती है।

यह भी भावुकों द्वारा अपने मनसे जानने योग्य वस्तु है। उसके यौविन के प्रवेश से विशेष रूप से सुशोभित हो वहां जो माधुर्य्य उस माधुर्य के साम्राज्य या सम्राट्पने की भूमि अर्थात् विषयभूत आधार श्री प्रिया जी हैं। इसका तात्पर्य्य यह है, कि प्रियाजो माधुर्यमय मूर्ति हैं, उसमें माधुर्य के सामाज्य पर उनका युवराज पद पर अभिषेक आज ही हुआ है। इससे माधुर्यसाम्राज्य का वैभव तथा अनुल्लङ्घनीय आज्ञाकारिता प्राप्त हो गयी है। साम्राज्य भी भूमि पर ही रहता है, साम्राज्य की वृद्धि का कारण भी भूमि ही है, अतः श्री प्रिया जी को यहाँ 'माधुर्य साम्राज्य' कहा गया है जिसका अर्थ है कि बहुत अधिक और यथेष्ट माधुर्य रूपी शस्य सम्पत्ति से सन्तोष न होवे के कारण पब

सम्पद्वतीत्यर्थः । अत्राप्युपरितनसंपदपरितोषान्निधानरूपतामाह, गुप्तः कोऽपि महानिधिरिति । दुर्ल्लभानिर्वचनीयाद्वितीयनिधिरित्यर्थः । तारुण्य-माधुर्य्याधारोक्तौ, ततोऽप्यग्रेसरगूढप्रभावदर्शनान्निधित्वम् । किञ्च तारुण्य-माधुर्य्यसाम्राज्यत्वमनन्यगामिनास्तीत्यतोऽपरितोषादसमोर्द्धत्वात् तादृश भूमावपि निधिरूपत्वमुक्तम् । तस्मिन् काञ्चनमण्यादिद्रव्यसाधारण्य-प्रतीतिश्चेत्तत्राह, रसैकावधिर्नातः, परं रसोऽस्तीत्यतो रससीमा । किञ्च 'परात्परो रसोवैस' इति तस्यापि 'ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाह मितिघनीभूतरसमूर्त्तेः कान्तस्यापि रसाभिलाषपोषत्वात् किमुच्यतेऽवधित्वम् । रसोपादानकारणमे-वेति । अन्यमण्यादीनामन्यतत्वे पर्यवसानम्, अस्य तु रस इति ।

एवमुपक्रमोपसंहारविशेषणाभ्यां रसैकावधित्वं निष्टंकितम्, तारुण्य-प्रवेशो वयः, सन्धिः पूर्वमुक्तः ।

लज्जान्तः पटमारचय्य रचितस्मायप्रसूनाञ्जलौ,
राधाङ्गे नवरङ्गधाम्निललितप्रस्तावने यौवने ।
श्रोणीहेमवरासने स्मरनृपेणाध्यासिते मोहनम्,
लीलापाङ्गविचित्रताण्डवकला पाण्डित्यमुन्मीलति ।।

रसकलश

प्रिया जी की निधि रूपता का वर्णन करते हैं। गुप्त कोई महानिधि कहने का तात्पर्य है कि वे दुर्लभ, अनिर्वचनीय और अद्वितीय निधि हैं। श्री प्रिया जी को तारुण्य और माधुर्य का आधार कहने पर, उनसे भी आगे बढ़ते हुए गूढ़ प्रभाव को देख कर उन्हें निधि कहा गया है।

एक बात और भी है कि तारुण्य और माधुर्य का साम्राज्य अन्यगामी न हो ऐसा नहीं है । अतः उनका साम्राज्य कह कर भी सन्तोष न होने से उनके समान कोई नहीं, उनसे बढकर तो कहां हो सकता है, यह सोचकर उस साम्राज्य की भूमि में भी निधिरूपता का वर्णन करते हैं। निधि में भी स्वर्ण मणि आदि साधारण द्रव्यों की प्रतीति हो सकती है, अतः कहते हैं कि ये निधि तो रसैकानिधि है, अर्थात् इससे परे रस नहीं है,ये रस की सीमा हैं। फिर 'परात्परो रसोवैसः' इस श्रुति द्वारा जिन्हें परा-त्पररसस्वरूप कहा गया है, वे श्री कृष्ण "मैं अमृत और अव्यय ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूँ" इत्यादि गीतोक्त वचन के अनुसार घनीभूत रस मूर्त्ति हैं, उन प्रियतम को भी रस की अभिलाषा पोषण करने के कारण इनके रसावधि होने का भला क्या वर्णन किया जा सकता है। ये तो रस की अवधि ही नहीं, अपितु रस का उपादान कारण ही हैं। अन्यमणि इत्यादि निधियां अन्य तत्व में पर्यवसित होती हैं, किन्तु ये निधि तो रसरूप में ही परिणित होती है, इस प्रकार उपक्रम (प्रत्ङ्गोच्छ्दुज्वलामृतरस प्रेमैकपूर्णा-म्बुधि, इत्यादि विशेषण)द्वारा और उपसंहार(रसैकावधिः,इत्यादिविशेण) द्वारा रस की एकमात्र अवधि होना ही उट्टङ्कित किया गया है। तारुण्य या नवयौवन का प्रवेश रूपी वयः सन्धि पहले कही गई है। "लज्जा को परदा बनाकर, मुस्कान की पुष्पाञ्जलि रचकर, श्रीराधा के अङ्ग को नवीन रङ्गधाम या रङ्गशाला बनाकर, यौवन रूपी

पुनश्च, लीलापाङ्गतरङ्गितैरुद्भवन्नैकैकशः कोटिशः,
कन्दर्पापुरुदर्पटङ्कृतमहाकोदण्डविस्फारणः ।
तारुण्यप्रथमप्रवेशसमये यस्या महामाधुरी,
धारानन्त चमत्कृता भवतु नः श्रीराधिका स्वामिनी ।। इत्यादि ।

अथवा निधिर्विशेष्यं पदं, तद्रूपेण राधा विशिष्टा । अन्येसिन्धुभूम्यादयोऽचिन्त्यशक्तिप्रभावेण निधिविशेषणानीत्यर्थसंगतिर्ज्ञेया । तदा कोऽपि गुप्तो महानिधि राधा विजयते । कीदृशो निधिः प्रसंगेत्यादि रसैकावधिरिति। किञ्च पूर्वगृहे इत्युक्तेर्गोप्यतयाराधानीयमाराधये इति भावः । उज्वलेत्यत्ररसमात्रोगृहीतो न तुश्यामतेति गौरवर्णत्वादिति । माधुर्य्यसाम्राज्योक्तौ प्रियमाधुर्य्यादि गुणानां सेवकतेत्यायातम् । सर्वे सम्राजोनिदेशं वहन्तीति प्रसिद्धमितिदिक् । अतएव पूर्वं राधामाधवभजनिदेशे, पश्चाद्राधैव विजयते इति कथनाशयोऽप्येवमेव । सम्राजः समीपे नान्यजयशब्दोघटत इति । अत एवैकशब्दोऽपि विजयं सूचयति ।।१३५।।

रसकलश

सूत्रधार, ललित प्रस्तावना करता है। और श्रोणी रूपी सुवर्ण सिंहासन पर कामरूपी राजा के आसीन हो जाने पर, लीलायुक्त अपाङ्गरूपी नट का विचित्र ताण्डव कला में दर्शकों को मोहित कर देने वाला, पाण्डित्य उन्मीलित या प्रकट हो रहा है" इत्यादि में, और जिनके "लीलायुक्तअपाङ्गों की तरङ्गों में से, एक एक में से कोटि कोटि कन्दर्प उद्भूत हुए, जिन्होंने बड़े दर्प के साथ अपने महाकोदण्डों, विशाल धनुषों को, टङ्कारा, और ताना। तारुण्य या नवयौवन के प्रथम प्रवेश के समय में, जिनके महामाधुर्य की धारा अनन्त चमत्कार करती है, वे श्रीराधिका हमारी स्वामिनी हों, इत्यादि पद्यों में उस तारुण्य या नवयौवन के प्रथम प्रवेश का निर्देश किया गया है।

अथवा निधि विशेष्य पद है, और निधिरूप में राधा विशेषित हुई है। अन्य सिन्धु और भूमि आदि के रूपक अचिन्त्यशक्तिप्रभाव वाली, इस निधि के विशेषण हैं। इस प्रकार अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये और ऐसा करने पर कोई गुप्त महानिधि श्रीराधा सबसे बढ़कर उत्कर्ष से विराजमान हैं, यह अन्वय होगा वह निधि कसी है, इसका वर्णन 'प्रत्यङ्गच्छोलत" इत्यादि से लेकर 'रसकावधि' इत्यादि विशेषण तक किया गया है। एक बात और भी कि पूर्व पद्य में 'गृहे' कहकर गोप्य रूप में अपने आराधनीय की आराधना करता हूं, यह कहा गया था, किन्तु इस पद्य में 'उज्वल' शब्द से केवल रस लिया गया है, श्यामता नहीं ली गई, क्योंकि यहां का उज्वल रस गौरवर्ण है। प्रिया जी में माधुर्य के साम्राज्य का वर्णन होने के कारण प्रियतम के माधुर्य आदि गुणों में सेवकभाव स्वयं आ जाता है। क्योंकि हर कोई सम्राट् की आज्ञा का पालन करता है। इसी लिये पूर्व श्लोक में राधा माधव दोनों की सेवा करने की उत्सुकता बता कर बाद में इस श्लोक में श्रीराधा ही सबसे बढ़कर विराजमान हैं, यह कहा गया है, और इसका यही आशय भी है। सम्राट के समीप अन्य किसी की जय नहीं बोली जाती, अतः एव एक शब्द भी श्री राधा की ही विजय को सूचित करता है।

श्री :

प्राप्ति स्थान

श्यामाकुञ्ज, वृन्दावन

[ज़िला मथुरा (उत्तर प्रदेश)]